079515

COMPILED

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

COMPILED

Acc ~~RF 079~~
~~079515~~

079515

अजन्ता

वर्ष ९ अंक १

जनवरी १९५७

अलमारी **सेफ़** **सोफ़ा सेट**

सुन्दर और टिकाऊ

सब प्रकार का

स्टील का फ़र्नीचर

घरों और कार्यालयों के लिए

आलविन मैटल वर्क्स

हैदराबाद

आन्ध्र प्रदेश

तेलुगु हिन्दी अंग्रेज़ी

सब प्रकार की
उत्तम, शुद्ध और आकर्षक
मुद्रण के लिए

★

अजन्ता प्रिण्टर्स

७११२, महाकाली रोड, सिकन्दराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

फोन नं० ६८१६

तार : फैन्सी पेपर फोन : ७३३२

सब प्रकार के काग़ज़
तथा
छपाई एवं स्टेशनरी सामान के

थोक व्यापारी

गौली ईश्वरय्या

जनरल बाज़ार, सिकन्दाबाद (आन्ध्र प्रदेश)

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक सांस्कृतिक
हिन्दी मासिक

'प्रेरणा'

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ, एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है।

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :
अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गति-विधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**
सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर, सुभाष मार्ग
लखनऊ

फोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर

प्रकाशक :

- साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
- नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
- कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्टू छात्रालय, बनारस

फोन नं० १४२ [वसुधा]

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई
परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी। प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ। पृष्ठ संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक
[मासिक]

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

●

वार्षिक मूल्य ३) रु.] [एक प्रति ५ आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ
नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३१६
तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३
तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व-ज्योति

का

वार्षिक अंक

२८ फरवरी '५७ को प्रकाशित होगा

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी होंगे और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

वार्षिक का मूल्य १।।) होगा, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होश्यारपुर—पंजाब

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र
श्रेष्ठ साहित्य की प्रतिनिधि मासिक

संपादक
महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे!

* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है!!

* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक!!!

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए!!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

मुख्य विषय :

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।।।)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए
"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

६४, बेयर्ड रोड, नई देहली

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

प्रधान सम्पादक
डा० देवराज, एम. ए., डी. फिल.

सम्पादक
कमलापति मिश्र डा० प्रेमशंकर
प्रतापनारायण टण्डन

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रहा है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

'युग-चेतना' कार्यालय, चौक
लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी में ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन कर्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य १०-८-०।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य ४-०-०।

३. **सबरस :** गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी गद्य की सब से पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य ६-०-०।

४. **मुहावरा कोश :** पृष्ठ संख्या २९८। रघुवरिशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापूर। मूल्य ३-०-०।

५. **चाबुक** (कहानी संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए हैं। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। कौन १/१६, पृष्ठ संख्या १३९। मूल्य सजिल्द १-१२-०।

६. **मीरा** (तेलुगु) : लेखक रामचन्द्र कौण्डिन्य। मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद।
मूल्य १-४-०।

७. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। नाटक रंगमंच के उपयुक्त है मूल्य १-२-०।

८. **शकुन्तला-ए ट्रेजडी (एण्ड अदर ऐसेज़) :** श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। मूल्य ४-०-०।

व्यवस्थापक : पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचार

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज़, सचित्र छपाई। आकर्षक मुख पृष्ठ।

१. **बालपद :** ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर आचार्य श्री पं० वंशीधर विद्यालङ्कार। ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ :** उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—श्री पं० रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए. पी; एच. डी.। ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १ :** दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ :** बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. **दो एकांकी :** ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए. ०-८-०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** अजन्ता से लेकर हैदराबाद की चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. **दक्षिण के महापुरुष भाग २ :** लेखिका—श्री विमला लूथरा। ०-६-०

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१ हिन्दी बोध प्रवेशिका	०	१०	०	१२ रचना बोध भाग १	०	५	०
२ हिन्दी बोध भाग १	०	८	०	१३ रचना बोध भाग २	०	६	०
३ हिन्दी बोध भाग २	०	१२	०	१४ इतिहास की कहानियाँ भाग १	०	८	०
४ हिन्दी बोध भाग ३	०	१३	०	१५ इतिहास की कहानियाँ भाग २	०	१२	०
५ हिन्दी बोध भाग ४	०	१४	०	१६ विज्ञान सोपान भाग १	०	१०	०
६ गद्यसोपान भाग २	१	०	०	१७ विज्ञान सोपान भाग २	०	१२	०
७ सरल गणित भाग २	०	१०	०	१८ चार एकांकी	०	१२	०
८ सरल गणित भाग ३	०	१२	०	१९ मणियाँ	०	१०	०
९ पद्य पारिजात भाग १	०	१२	०	२० सरल व्याकरण भाग १	०	६	०
१० पद्य पारिजात भाग २	१	५	०	२१ कहानी संग्रह	१	२	०
११ कथाकुञ्ज भाग १	१	८	०	२२ सरल भूगोल	१	०	०

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श–समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
भूतपूर्व वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा विभाग हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप'

१९५० से १९५६ ई. तक के प्रत्येक वर्ष की 'अजन्ता' की पुरानी फ़ाइलें जिल्द बन कर तैयार हो गई हैं।

'अजन्ता' का प्रकाशन अक्तूबर १९४९ से आरम्भ हुआ। विगत सात वर्षों में 'अजन्ता' ने हिन्दी साहित्य के भण्डार को बहुमूल्य रचनाओं से पूर्ण किया। गत वर्षों के यह अंक हिन्दी साहित्य की प्रगति को जानने के लिए नितान्त संग्रहणीय हैं।

अंकों का मूल्य वार्षिक रु. ६–०–० होते हुए, जिल्द के साथ और भी अधिक बढ़ जाता है किन्तु नीजि और सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए रु. ७-०-० में इन फाइलों को देने की सुविधा प्रदान की गई है।

शीघ्र आर्डर भेजिए : रु. ७–०–० का मनिआर्डर प्राप्त होते ही जिल्द तुरन्त भेज दी जाएगी इन जिल्दों को वी. पी. द्वारा नहीं भेजा जाएगा।

'अजन्ता'

हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद
(आन्ध्र प्रदेश)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ९ जनवरी १९५७ अङ्क १

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

तार : हिन्दी फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और

मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

ध्रुवपद
    प्रवासी १
हेमन्त की पूर्णिमा
    कुंतल मेघ २
बिदा
    वीरेन्द्रकुमार जैन ३
आया है हेमन्त काल
    अनु० याज्ञवल्क्य गुरु ४
आओ बैठो
    हरिनारायण मिश्र ८
भारत और चीन में सहकारिता
    गोवर्द्धनदास मेहता ६
संस्कृत साहित्य में मृगया वर्णन
    प्रभुदयाल अग्निहोत्री १४
विन्ध्य-प्रदेश के नरेश कवि
    श्रीचन्द्र जैन १८
सूरदास की राधा
    डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी २६
खाक और खमीर
    जे० आर० साहानी ३०
ये पट्टे : जहीरीले कुत्ते : ये दमदार आदमी
    लक्ष्मीकान्त वर्मा ३८
राजस्थानी कहावतों में नारी भावना
    मनोहर प्रभाकर ५०
मेक्सिको में भारतीय संस्कृति
    हरिहरनाथ त्रिपाठी ५२
बुद्ध-काल में ग्रामीण जीवन
    भिक्षु धर्मरक्षित ५६
बूढ़े की आँखें
    हिमकुमार ५८
कला-चर्चा ६३
    होवर की कलाकृति, आस्ट्रेलिया के आदिवासी चित्रकार
चिट्ठी-पत्री ६५
    संस्कृत साहित्य के हास-परिहास में शिवजी : जुगलकिशोर जरगर 'विशारद' अजन्ता के संबन्ध में : महावीर सिंहल पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न : सकल-मंगल शर्मा
नीर-क्षीर ६६
    किरातार्जुनीय (हिन्दी में) : हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास : वंशीधर विद्यालंकार; कालिदास : नई चेतना, प्रेमचन्द घर में : विनयमोहन शर्मा
सामयिक ७४
    भारतीय मुद्रण कला का अग्रणी : विलियम केरी
सम्पादकीय ७८
    वंशीधर विद्यालंकार

: चित्र :

हस्तरेखा प्रदर्शन : चित्रकार : मधुसुदनराव
चोर साधु : चित्रकार : मधुसुदनराव

वार्षिक मूल्य : ९)

एक प्रति का मूल्य : १) रु.

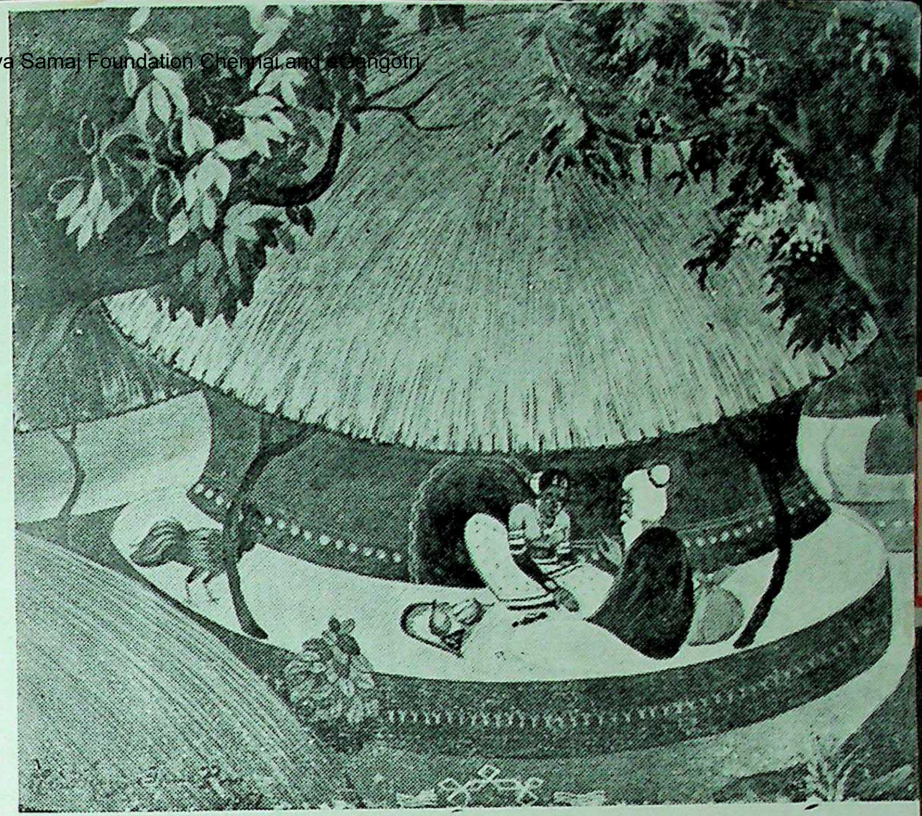

हस्त-रेखा प्रदर्शन

चित्रकार : मधुसूदन राव

अजन्ता
जनवरी, १९५७

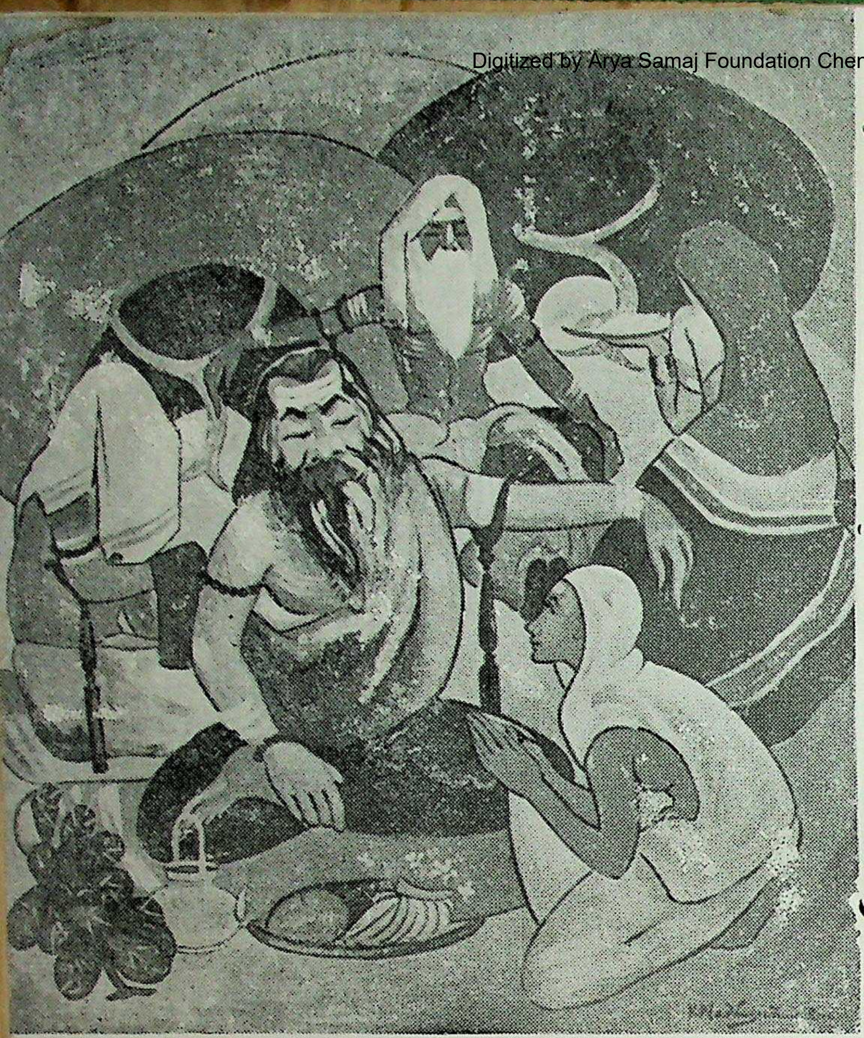

चोर-साधु

चित्रकार : मधुसूदन राव

Digitized by eGangotri

• वर्ष ९ जनवरी १९५७ अङ्क १

ध्रुव-पद

लघुता की मेरी यह कंथा—
सती की लाज सी अछूत
निरखो मत, परखो मत
उधेड़ो मत सीवनों को
कण्ठ फूटे नहीं, स्वर सधे नहीं
पंख अभी तुले नहीं
थोड़ा धीरज धरो मित्र !
वामन के पगों का विस्तार लेकर
किरणों की गति का संचार लेकर
लेकर अणु के बल की गरिमा
शीघ्र ही उड़ेंगे—
गीतों के जटायु मेरे—
नाप लेने तीन ही डगों में—
शून्य की अछोर सीमा
देखता रह जाएगा—
यह कुबड़ा सूरज
यह बौना चाँद

द्वारा—अवधनारायण मिश्र,
इशाकचक, भागलपुर—१

—'प्रवासी'

हेमन्त की पूर्णिमा

नृत्य-मत्त वनमोरों जैसी नील-चन्द्रिका यह अगहन की !

नीले पंखों वाला नभ है
काजल-नयनों वाली धरती,
पाल उड़ा कर, लो ! कुहरे ने—
अलका मेरे सम्मुख रख दी:
मौन यक्ष-सा देख रहा मैं : कमरे में हँस गई चाँदनी
मेघ-दूत मिथिला में खोए, अंगों में आभा दरपन की !!

पंखों को मीलों फैलाए
शहर रजत घर छज्जों वाला
चक्रवाक जैसा लगता है;
बूँद-सदृश-शशि पीने वाला !
कूकी बन निकली जातीं लो ! काँस-खेत में रेल-गाड़ियाँ
घायल दिल-सा मैं धक् धक् कर रटन हो गया हूँ गुंजन की !!

ऊँची उजली मेरी छत है—
शतरंजी सड़कों की पाँसें;
"ऊँच अटारी, मधुर बतासें,
घाघ कहैं घर ही कैलासें"
इससे मैं कहता : मेरा मन, घाघ, तुम्हारे तन मन जैसा
आधी रात, पूर्णिमा मद्धिम, नींद हुई बावरि लोचन की !!

ऐसे सरल भाव छा जाते
मन बेहद तन्मय हो जाता,
कृष्ण-शुक्ल पक्षों का जीवन
आग और पानी बन जाता,
सोने मुझे नहीं देता है जाने कौन अपरिचित साथी
लगता कानपूर में सोयी ज्वाला एक अशान्त जलन की !!
नृत्य-मत्त वनमोरों जैसी नील-चन्द्रिका यह अगहन की !!

१०४।४३३, पी. रोड, सीसामऊ
कानपुर (उत्तर प्रदेश)

—कुंतल मेघ

बिदा

[मेरे किशोर कवि की एक अब तक अप्रकाशित कविता : सरला की याद में : क्योंकि उसे यह बहुत प्यारी थी ।]

स्वागत गैरिक वसना सन्ध्या, केशर-कुकुंम के प्रात बिदा
उमड़ो सावन की भरी घटा, कोयल वाले मधुमास बिदा

भूलूँ दुलार से भरी गोद, स्वागत जीवन के सूनेपन
भूलूँ वह मोहभरा आँचल, आँसू पोंछो, लो, शून्य गगन
बिछुड़न-घड़ियों के महा मिलन की मौन समर्पण-ज्वाल अमर
वह ओस-धुली शेफाली-सी आँसू-भींगी मुस्कान अमर

चिर पहचाने पायल-शिंजन के अनियारे मोह बिदा
भरी हुई-सी उन बाँहों की वह दुलार-पुचकार बिदा
भूलूँ मान-गर्व के वे दिन, 'मैं' के भोले मान बिदा
'उनके' हो जग में रहने के लाड़भरे सम्मान बिदा

परिचित-सी चितवन से टोंके जाने के अनुमान बिदा
धीमी-सी पद-आहट सुन जग उठने के दिनमान बिदा
कोमल हथेलियों से आश्वासन पाने के वे दिन भूलूँ
'हाँ' कहलाने की ज़िद करने का अल्हड़ बचपन भूलूँ

किसी ऊष्म सीने पर सो, रोने के ओ विश्वास, बिदा
सिसकी-सिसकी पर मृदु थपकी के ममतामय आश्वास बिदा
संयोगी प्राणों के सुख की सिहरन भरी मिठास बिदा
झड़ियों की रात तुम्हारी गोदी में मिटने की साध बिदा

उन कनक-कुमार प्रभातों की पहली वासन्ती वय भूलूँ
भूलूँ वह भोला बालापन, भूलों के वे मधु दिन भूलूँ

'धर्मयुग', फोर्ट,
बम्बई-१

—वीरेन्द्रकुमार जैन

आया है हेमन्तकाल

महाकवि कालिदास कृत ऋतु संहार से

लगते हैं रमणीय
मस्य के नव प्रवाल
खिल रहे लोध्र
पक रहे शालि,
हैं म्लान कमल
पड़ता तुषार—
आया है हेमन्त काल

मन हरते हैं
रंगे केसर के रंग से
तुषार से शीतल,
कुन्द-से, इन्दु-से
मोती के हार
करती हैं—
उन्नत-उरोज ललनाएँ
जिनसे उर का सिंगार

विलासिनियों के
सूने हैं हाथ-
कड़ों से, केयूरों से
है कहाँ रेशमी साड़ी
वर्तुल नितम्ब पर ?
कहाँ ढक रहा
झीना अंचल
पीन पयोधर ?

नहीं घेरता
प्रमदा-कटि को
स्वर्ण-रचित
औ' रत्नखचित
रशना का बन्धन
कमल कान्तियुत
पदपद्मों में
हंसों के रव-से

नहीं बोलते
नूपुर छम-छम
रति-विहार हित
आज, मधुर महिलाएँ
करती केशों को
कृष्ण अगुरु से सुरभित
जायक से रचतीं गात
कमल से कोमल मुख पर
करतूरी से
चित्रित करतीं पात
रात की रति क्रीडा से श्रान्त
मधुर आनन पर
किंचित् कृशता
और पीतता की छवि
प्रिय दशनों से आहत
अधर देख कर
पीड़ा से
कहाँ मुक्त हो
हँस पाती ललना अब ?
पीन पुष्ट उरजों से
वक्षःस्थल शोभित
जिसे निपीड़ित देख
खिन्न हो
पड़ी घास पर
ओस बिन्दुओं के मिस
प्रभात में
रोता है देखो, शीतकाल
रहती है संचित
जहाँ धान्य की महाराशि
विचरते हैं
शोभा-युत मृगियों के झुण्ड
बोलते क्रौंच मनोहर
ऐसे सीमा प्रान्तों में
रमने को मन रहता उत्सुक
खिले नीले नीले उत्पल
उन्मद हंसों से शोभायुत

स्वच्छ शीत जल
रम्य सरोवर
आज मनुज का मन हरते हैं

पकती
पाले की शीतलता में
सदा हवा से कँपती रहती
लता पियाल की प्रिये !
प्रिय-रहित प्रिया-सी
पीली पड़ती जाती है

पुष्पासव से
आमोदित मुख
उच्छ्वासों से है तन सुरभित
एक दूसरे में प्रविष्ट
सुखरस में डूबे
नर-नारी निद्रा लेते हैं

सुकुमारी सुन्दरियों के
दशनों से विक्षत दन्तच्छद
अभिलिखित
नखों से वक्षःस्थल
निर्भर हो रस के सागर में
उर्मी-चुमी-सी लगती हैं

कोई वनिता
कर में थामे दर्पण
सजा रही है
खिले कमल-से निज आनन को
बाल सूर्य के मृदु-आतप में
और, पिया से पिए
दशन से आहत
निज अधरों को खींच
देख कर लजा रही है

जी भर शय्या सुख से थकी
खिन्न देह ले
चंचल आकुल केश पाश को
कन्धों पर छिटकाए

रात-जगे से
नयन उनींदे, लाल कमल-से
सूर्य की मृदु आतप में
कोई नारी सुख निद्रा में सोती है
काले कुंचित सघन केश
नमित हैं गात
पीन यौवन का उद्गत भार
हटातीं मस्तक से
सूखी, सुरभि हीन माला को
कुछ अन्य तरुणियाँ
रचती हैं अपना केश पाश
उड़ रहे सुन्दर काले केश
नखों से विक्षत वक्ष
मिंचे हैं नयन
देखतीं ललनाएँ
प्रियतम से मर्दित देह
अधर पर ले मोहक-स्मित
चोली पहन रही हैं
और अन्य वनिताएँ
रस-विलास से श्रान्त, खिन्न
शिथिल-सी देहलता का
पुलकों से हर्षित
उर का उरुओं का
अभ्यंजन करती हैं
गुणों से अति रमणीय
नारियों का मन-हरता
पके धान्य से पूर्ण
ग्राम की सीमा चंचल करता
क्रौंचों से शोभित
मोद मन में अतिशय भरता
सदा सब को ही सुख दायी हेमन्त काल

जयपुर

अनु० : याज्ञवल्क्य गुरु

आओ बैठो !

आओ, बैठो
बहुत दिनों के बाद पधारीं...
कैसे टूटा ध्यान, याद फिर कैसे आई ?
कैसी ममता जगी कि तुम मुझ तक आ पाई ?
आओ, बैठो !
गुमसुम क्यों हो ?
तख़्त पोश पर बिखरे इन पन्नों को क्या तुम देख रही हो ?
क्यों हो गई मुखाकृति अति गम्भीर तुम्हारी
क्या मुझको यह कहने आई हो कि तुम्हें मैं भूल चलूँ अब ?
अथवा डाँटोगी कि पत्र भी नहीं लिखूँ मैं ?
धीरज और सान्त्वना दोगी ?
नए सिरे से जीवन कर दूँ शुरू कहोगी ?
कोरी भावुकता से पाऊँ मुक्ति
व्यर्थ आँसू न बहाऊँ
बीती बातें सोच-सोच
निजको न घुलाऊँ
ऐसा ही कुछ या इतना ही कुछ दोगी उपदेश मुझे क्या
जो कुछ कहना हो
कह देना
लेकिन अभी खड़ी तुम क्यों हो ?
आओ, बैठो.........

शोकहरा पो० बरौनी,
जिला मुंगेर (बिहार)

—हरिनारायण मिश्र

भारत और चीन में सहकारिता

संसार में डेन्मार्क और स्वीडन के सहकारी आन्दोलनों की ख्याति तो बहुत पहले से है, लेकिन अपनी मुक्ति के पश्चात् हमारे पड़ौसी राष्ट्र चीन ने सहकारिता के क्षेत्र में जो आशातीत उन्नति की, उसकी ओर भी लोगों का ध्यान बरबस आकर्षित हुआ। चीन के संयुक्त-कार्य क्रम की धारा २६ से ४० तक वहाँ की अर्थ-नीति के जो मूलाधार निर्धारित किए गए हैं, उनमें सहकारिता के बारे में कहा गया है : "स्वावलम्बन के आधार पर श्रमिक वर्ग को सहकारिता के लिए प्रोत्साहित करके सहायता प्रदान की जाएगी, रसद अथवा बाज़ार सहकरिता, उपभोक्ता सहकारिता, ऋण सहकारिता, उत्पादक सहकारिता और यातायात सहकारिता को नगरों अथवा ग्रामों में स्थापित किया जाएगा।" सहकारिता के अन्य अंशों को छोड़ कर यदि हम चीन के केवल कृषि उत्पादक सहकारी आन्दोलन को ही लें तो विदित होगा कि वहाँ ग्राम की अर्थ व्यवस्था में इसने कितनी ज़बर्दस्त तब्दीली कर दी है; वहाँ के गाँवों के सर्वांगीण विवरण में योग देकर उनकी काया पलट कर दी है।

भारत का उद्देश्य : भारत एक कल्याणकारी राज्य है और समाज को समाजवादी ढाँचे में ढालना चाहता है। इसके लिए कृषि तथा उद्योग दोनों के क्षेत्र में विकेंद्रीकृत बहु संस्कार संस्थाओं का निर्माण आवश्यक है। वैसे तो सहकारिता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू हो सकती है, लेकिन जहाँ तक ग्राम-समाज के उत्थान में सहकारिता का प्रश्न है; जिन क्षेत्रों के लिए संगठन की सहकारी पद्धति विशेष रूप से उपयुक्त है, वे हैं— कृषि सम्बन्धी ऋण, माल की बिक्री तथा वस्तु शोध, ग्रामीण क्षेत्रों में सब प्रकार का उत्पादन, उपभोक्ता सहकारी स्टोर, कारीगरों की सहकारी संस्थाएँ तथा सहकारी निर्माण समितियाँ इसका तात्पर्य यह कि ग्रामों की नई आर्थिक गतिविधियाँ सहकारी आधार पर संगठित हों।

अभी तक हमने सहकारिता का अधिकांश विकास ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण की व्यवस्था के रूप में ही किया है और उसमें भी हमें आंशिक सफलता ही मिली है। भारत के ग्रामों में सहकारिता आन्दोलन कम सफ़ल हुआ, इसे शासन ने अनुभव किया और अब वह यह जान गया है कि ऋण व्यवस्था सहकारिता का आरम्भ मात्र है; इसके आगे बहुत-सी मंज़िलें अभी उसे पार करती है। सहकारिता विशेषज्ञ इसे स्वीकार करने में संकोच नहीं करते कि भारत में सहकारिता आन्दोलन असफल हुआ है, लेकिन इससे आगे वे यह भी कहते हैं कि इसे सफल होना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रख कर भारत के द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन में सहकारिता का क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया है। उसमें स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि : "सहकारिता का यह अर्थ होना चाहिए कि वह ग्राम समाज के सब परिवारों के प्रति कर्तव्य निभाए और समस्त ग्राम के सार्वजनिक हित में भूमि तथा अन्य साधन-स्रोतों और सामाजिक सेवाओं का विकास करे......सहकारिता के आधार पर ग्राम के पुनर्निर्माण का अर्थ प्रथमतः तो यह है कि इस प्रकार के एक सम रूप सामाजिक ढाँचे का निर्माण हो जिसमें समाज के सब वर्गों को समान अवसर प्राप्त हों और दूसरे यह कि ग्रामीण जीवन वे आर्थिक आधार को खूब व्यापक और मज़बूत बनाया जाय।" फिर हम भविष्य में जिस प्रकार की ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था के विकास की स्वर्णिक कल्पना कर रहे हैं, "उससे भूमि सुधार की योजना, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में ग्रामोद्योगों का स्थान, सहकारी आन्दोलन का संगठन, ग्रामीण तथा क्षेत्रों के बीच सम्बन्ध, औद्योगीकरण के कार्य-क्रम में छोटे उद्योगों का भाग और संतुलित आँचलिक विकास वे विचार के प्रयोग का बहुत निकट का सम्बन्ध है।"

आयोजन में यह भी स्वीकर किया गया है कि "समाज इस बात का ज़िम्मा लेता है कि वह कृषि तथा कृषि से भिन्न क्षेत्रों में उन सब लोगों के लिए लाभ-जनक काम की व्यवस्था करेगा, जो काम की तलाश में हैं और जो कोई भी काम मिले, उसे करने को तैयार हैं ?"

इस तरह इस बार शासन ने सहकारिता के व्यापक-स्वरूप को समझा है और इन्हीं आधारों पर

अपने लक्ष्य निर्धारित किए हैं; यह बात दूसरी है कि शासन की कमज़ोर मशीनरी के कारण उसमें उतनी सफ़लता न मिले, जितने की उससे अपेक्षा की जाती है। जहाँ शासकीय कर्मचारियों के काम के वर्तमान रवैए में परिवर्तन जरूरी हैं, वहीं पंचायतों एवं अन्य सार्वजनिक के कार्यकर्त्ताओं में भी ईमानदारी आवश्यक है।

द्वितीय आयोजन में लक्ष्य : भारत के द्वितीय आयोजन में सहकारिता के जो लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं, वे इस प्रकार है :

ऋण :

बड़ी सोसाइटियों की संख्या	१२०००
अधिकतम अल्पकालिक ऋण	१५० करोड़
अधिकतम मध्यकालिक ऋण	५० करोड़
अधिकतम दीर्घकालिक ऋण	२५ करोड़

बिक्री और वस्तु शोध :

संगठित की जानेवाली बिक्री संस्थाओं की संख्या	१७००
चीनी मिलें	३६
रुई ओटने के कारखाने	७७
अन्य संस्थाएँ	११२

भण्डार तथा गोदाम :

केन्द्रीय तथा एक कार्पोरेशनों के भण्डार	३५०
बिक्री संस्थाओं के गोदाम	१७००
बड़ी सोसाइटियों के गोदाम	५०००

यहाँ यह जान लेना भी ज्ञानवर्द्धक होगा कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में ऋण के मामले में महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएँ की गई। इस समय सहकारी आन्दोलन में २२ राज्यीय सहकारी बैंक, ४६६ सेण्ट्रल बैंक और बैंक यूनीयनें, १२६४५४ प्राथमिक ऋण सोसाइटियाँ और ६ सेण्ट्रल तथा २६१ भूमि बंधक बैंक सम्मिलित हैं। कृषि सम्बन्धी ऋण सोसाइटियों के अतिरिक्त प्राथमिक स्तर पर काम करनेवाली ३०३०६ ऋण संस्थाएँ ऐसी हैं, जो कृषि-कार्य के लिए तथा ८३८६ संस्थाएँ ऐसी हैं, जो कृषि भिन्न कार्यों के लिए ऋण देती हैं। प्राथमिक कृषि ऋण संस्थाओं की सदस्य संख्या ५८ लाख और कृषि संस्थाओं की २७ लाख है।

कृष्णप्पा-शिष्ट मण्डल का प्रतिवेदन : सहकारिता आन्दोलन के विषय में चीन की रफ़्तार तेज़ क्यों है और हमारी धीमी क्यों तथा हमारा पड़ौसी देश इस सम्बन्ध में किन उपायों का अवलम्बन कर रहा है, इसके लिए भारत सरकार के उप-खाद्य मन्त्री श्री एम. वी. कृष्णप्पा के नेतृत्व में एक भारतीय शिष्टमण्डल चीन के दौरे पर गया था, जिसकी रिपोर्ट २२ नवम्बर '५६ के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुई है इस प्रतिवेदन में चीन के सहकारिता आन्दोलन का मुख्य रहस्य यह बताया गया है कि जिस प्रकार वहाँ के साम्यवादी दल के प्रत्येक कार्यकर्ता ने भूमि-सुधार आन्दोलन में सक्रिय योग-दान किया, उसी प्रकार अब सहकारिता आन्दोलन में भी पूर्ण रूपेण भाग ले रहे हैं। दल १०.७ मिलियन (१ मिलियम=१० लाख) सुसंगठित, अनुशासित और परिश्रमी कार्यकर्ताओं द्वारा दूरस्थ ग्रामों तक में कार्य करने का ही यह सुपरिणाम है कि सात वर्षों के अन्दर चीन की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में ऐसा मूलभूत परिवर्तन हो गया। उन्होंने सहकारी कार्यों के संगठित करने में क्रियात्मक सहयोग दिया, जिससे ग्रामवासी आकर्षित हुए, ग्रामों की जन-शक्ति जागृत हुई और ठोस स्थानीय नेतृत्व उत्पन्न हुआ। इन्होंने उत्पादन-वृद्धि और लक्ष्य-पूर्ति के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया, आज इसी का परिणाम है कि चीन के ग्रामों में कृषि उत्पादक रूपक समितियों का, जो वहाँ की कृषि का आधार स्तम्भ है, जाल-सा बिछा हुआ है।

दूसरी ओर भारत की सबसे बड़ी संस्था कांग्रेस के कार्यकर्ताओं की दशा पर विचार कीजिए; आकाश पाताल का अन्तर है। इन्हें पदों की दौड़, चुनाव, मन्त्रिपद, राजनीतिक तिकड़मों से कहाँ फ़ुरसत कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को उन्नत बनाने में अपना योग दें।

आगे प्रतिवेदन में चीन के अनुभव के आधार पर बताया गया है कि सहकारिता से ग्रामों की जन-शक्ति को संगठित करके उन्हें काम मुहय्या किया जा सकता है; जिनमें भूमिहीन मजदूर भी शामिल हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात भारत के लिए शिक्षा लेने की यह है कि हमें ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिएँ जिनसे किसान आज की अपेक्षा अधिक श्रम सके, सर्वजनहितादि प्रत्येक स्थानीय समुदाय की जनशक्ति और साधनों को संगठित किया जाए, ग्राम-समुदाय में अपने सदस्यों के लाभार्थ नेतृत्व और उत्तरदायित्व की भावना का विकास हो, ग्राम-विकास में पर्याप्त संख्या में ग़ैर-सरकारी लोग भाग लें और शासन जनता की प्रभावशाली सेवा के

लिए प्रस्तुत रहे। किसानों के लिए बिक्री की व्यवस्था हो, मूल्यों की गारण्टी हो, अधिक ऋण लिए जाएँ, उचित विस्तार सेवाएँ उपलब्ध हों और देशी खाद्यों को बढ़ावा दिया जाए।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन में भूमि-सुधार में जो कार्यक्रम निर्धारित किए गए हैं, वे तेज़ी से कार्यान्वित हों, जिससे कृषि का तीव्र गति से विकास संभव हो। कृषि-उत्पादन-वृद्धि तभी संभव है जब कि मज़बूत बहु उद्देशीय सहकारिता पनपे। सामुदायिक योजनाओं और राष्ट्रीय सेवाओं में सहकारिता को मुख्य स्थान दिया जाए।

सहकारी संस्थाओं द्वारा ऋण देने में जो विलम्ब किया जाता है, उसकी ओर इशारा करते हुए उक्त प्रतिवेदन में सुझाव दिया गया है कि इस सिलसिले में शासकीय नियमों में ढिलाई हो ताकि किसान एक सप्ताह या ज़्यादा से ज़्यादा दो सप्ताह में आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकें। हम समझते हैं कि केवल इसी एक सिफ़ारिश पर अमल हो जाए तो किसानों को न जाने कितनी राहत मिल जाए; अन्यथा आज तो छोटे-छोटे अधिकारी वर्ग तक जिस ढर्रे से काम करते हैं, वह सर्व-विदित है। ऋण समय पर तो मिलता ही नहीं, साथ ही ज़रूरतमन्द उससे वंचित ही रहते हैं। बीज-खाद आदि के अतिरिक्त प्रतिवेदन में अन्य कई महत्वपूर्ण सिफ़ारिशें की गई हैं और चीन की सफ़लता के कारण बताए गए हैं।

चीन की सहकारी संस्थाएँ : पाठक स्वभावतः यहाँ यह जानने को उत्सुक होंगे कि चीन की कृषि उत्पादक सहकारी संस्थाएँ आख़िर क्या हैं, उनके उद्देश्य और कार्य विधियाँ किस ढंग की हैं? संक्षेप में हम उन्हें समझने का प्रयत्न करें।

कृषि उत्पादक सहकारी संघों के सम्बन्ध में चीन की नेशनल प्यूपिल्स ने १७ मार्च, १९५६ को अपनी ३३ वीं बैठक में आदर्श नियमों को पास किया है, जिनके अनुसार उन संघों का संचालन किया जाता है। इन नियमों में १२ अध्याय हैं और ८२ धाराएँ हैं। प्रथम अध्याय में सामान्य सिद्धान्त, द्वितीय में सदस्यता, तृतीय में भूमि, चतुर्थ में भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के मुख्य साधन, पंचम में चेयर कोष षष्ठम में उत्पादन, सप्तम में मजदूर संगठन और मजदूरों में अनुशासन, अष्टम में मजदूरी, नवम में वित्तीय प्रबन्ध और आय-वितरण, दशम में राजनीतिक कार्य, संस्कृति एवं कल्याण एकादश में व्यवस्था और द्वादश में पूरक नियमों का विवेचन है। जो लोग चीन की सहकारिता की सिद्धान्तिक जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इन नियमों का विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए।

१० लाख कृषि उत्पादक सहकारी संघ : अक्तूबर १९५५ में ही चीन में १० लाख से अधिक कृषि उत्पादन सहकारी संघ थे, जिन की संख्या अब और भी बढ़ जाना निश्चित है। चीन की ८५ प्रतिशत से अधिक जन संख्या इन सहकारी संघों के अन्तर्गत आ चुकी है। इन सहकारी संघों से जहाँ नव जागरण पैदा हुआ, वहाँ कृषि-उत्पादन में भी १० से ३० प्रतिशत तक वृद्धि हुई और सदस्यों की आय में भी वृद्धि हुई। एक स्थान या प्रान्त की सफ़लता ने दूसरे स्थान या प्रान्त को प्रभावित किया और इस तरह देश भर में सहकारी संघों का विस्तार हो गया।

सिद्धान्त : चीन के कृषि उत्पादक सहकारी संघ कृषक वर्ग द्वारा पारस्परिक लाभदायक आधार पर स्थापित सामूहिक आर्थिक संघ हैं। इस प्रकार के सहकारी संघों में निजी स्वामित्व के कृषि उत्पादन के मुख्य साधन, जैसे भूमि पशु और खेती के औज़ार, एक केन्द्रीकृत व्यवस्था के अन्तर्गत रखे गए हैं और उन्हें फिर समान सम्पत्ति में परिवर्तित कर दिया जाता है; सदस्य सामूहिक कार्य के लिए संगठित किए जाते हैं और उनके परिश्रम के फल समान योजनानुसार वितरित किए जाते हैं।

सामूहिक स्वामित्व : कृषि उत्पादक सहकारी संघ के विकास का मुख्य ध्येय क्रमशः देहातों में पूँजीवादी शोषण का अन्त करना है; छोटे काश्तकार की खेती के पिछड़ेपन का अन्त करना है और समाजवादी कृषि का विकास करना है, जो राष्ट्र के समाजवादी औद्योगीकरण की ज़रूरतों को पूरी कर सके। इसका तात्पर्य यह है कि इस क़िस्म के क़दम उठाए जाएँ जिस से उत्पादन के निजी स्वामित्व के स्थान पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित हो सके और छोटे पैमाने पर उत्पादन का स्थान बड़े पैमाने पर और मशीनी उत्पादन ले सके ताकि उच्च विकसित कृषि का विकास हो सके, जिससे आम किसानों की समृद्धि हो और समाज की कृषि उत्पादन की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति की जा सके।

ग़रीबी और शोषण का अंत : सहकारी संघ देहातों में ग़रीबी और शोषण का अन्त करके समाजवाद की स्थापना करने का एक मात्र साधन हैं। इनसे श्रमजीवी कृषकों के ग़रीबी और मध्य श्रेणी के वर्गों को पारस्पारिक लाभ पहुँचेगा। प्रारंभ में ग़रीब किसानों पर अधिक जोर दिया गया है। जब सहकारिता विकसित दशा में हो जाएगी और उत्पादन के मुख्य साधन समान सम्पत्ति बन जाएँगी और किसान समूह हो जाएँगे तब ग़रीब और मध्य श्रेणी के किसान वर्गों का भेद भी खत्म हो जाएगा।

दो अवस्थाएँ : कृषि उत्पादक सहकारी संघ दो अवस्थाओं से गुज़रेंगे। प्रथम अवस्था प्रारंभिक होगी और दूसरी विकसित। प्रारंभिक अवस्था में सहकारी संघ अर्द्ध-समाजवादी होंगे। इस अवस्था में उत्पादन के साधनों के कुछ अंशों पर जैसे भूमि, कुछ अवधि तक स्वामित्व सदस्यों का रहेगा, लेकिन जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ेगा और सदस्यों में समाजवादी भावना बढ़ेगी, सहकारी संघ पूर्ण समाजवादी बन जाएँगे; तब सब सदस्यों की भूमि और उत्पादन के सामूहिक सम्पत्ति बन जाएँगे ! लेकिन दोनों अवस्थाओं में सदस्यों को घरेलू सामान, घर की पास की ज़मीन के छोटे भाग वृक्ष मुर्गी पालन, घरेलू पशु, खेती के छोटे औज़ार और घरेलू उद्योग धन्धों के छोटे औज़ार आदि समान सम्पत्ति नहीं बनाए जाएँगे,

उत्पादन वृद्धि : सहकारी संघ उत्पादन गति विधियों में तेज़ी लाएँगे, कृषि उत्पादन के स्तर को ऊँचा बनाएँगे और सदस्यों को आत्म-निर्भर बनाते हुए उत्पादन/वृद्धि करेंगे ये संघ उत्पादन और उत्पादित वस्तुओं की बिक्री का योजनानुसार प्रबन्ध करेंगे। धीरे-धीरे कृषि के यंत्री करण और विद्युती करण पर जोर दिया जाएगा और उत्पादन के सभी वैज्ञानिक साधन अपनाए जाएँगे। अधिक श्रम करने "अधिक काम, अधिक मज़दूरी" पर अधिक बल दिया गया है। अधिक अवधि तक लोग मज़दूरी पर नहीं रखे जाएँगे; आवश्यकता पड़ने पर थोड़े समय के लिए कुछ श्रमिक मज़दूरी पर लगाए जा सकते हैं।

इन सहकारी संघों का लोकतांत्रिक आधार पर किया गया है। सब सदस्य और अधिकारी पारस्परिक सद्भावना रखेंगे और आन्तरिक एकता को दृढ़ बना देंगे।

शिक्षा और सांस्कृतिक उन्नति : चीन के सहकारी संघ वहाँ की शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक उन्नति में बड़े सहायक सिद्ध हो रहे हैं। नियमों की धारा ६९ से ७२ तक बताया गया है कि सदस्यों को गृह एवं विदेश नीति का ज्ञान करने के लिए भाषणों का प्रबन्ध किया जाएगा। सदस्यों में देशभक्ति की भावना भरी जाएगी और शासन के कानूनों के प्रति आस्था रखना सिखाया जाएगा। लोगों में यह भावना भी पैदा की जाएगी कि वे सहकारी संघों से उतना ही प्रेम करें जितना कि अपने घरों से करते हैं। देश भर के सहकारी संघों और विभिन्न जातियों में एकता पारस्परिक सहायता और एक दूसरे की आदतों और रस्म-रिवाजों के प्रति सम्मान का पाठ भी पढ़ाया जाएगा।

सहकारी संघ निरक्षरता निवारण वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि और ग्राम शिक्षा स्तर को ऊँचा उठाने में मदद पहुँचाएँगे। ये संघ सांस्कृतिक, मनोरंजनात्मक और व्यायाम सम्बन्धी गतिविधियों को बढ़ावा देंगे और सदस्यों, में सांस्कृतिक जीवन का विकास करेंगे। जो सदस्य काम करते हुए घायल होंगे, उन्हें डाक्टरी सहायता पहुँचाई जाएगी और जो सदस्य काम करते हुए मर जाएँगे, उनके परिवारों को पेंशन दी जाएगी।

सार्वजनिक सफ़ाई की ओर ध्यान दिया जाएगा। महिलाओं के लिए कल्याण-केन्द्र खोले जाएँगे और उन्हें बच्चा होने से पूर्व और बाद में आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी। जो सदस्य किसी दुर्भाग्य के कारण कठिनाइयों के शिकार होंगे, उन्हें आर्थिक सहायता दी जाएगी।

गाँवों की काया पलट : एक उदाहरण : इन सहकारी संघों से चीन के गाँवों की कायापलट हो रही है। उदाहरण स्वरूप हम यहाँ हेलुनक्यांग प्रान्त के चिंगकुंग गाँव को ही ले लें। यह गाँव श्वांग चेंग काउण्टी के २३८ गाँवों में से एक है, जिसमें २५१ परिवार हैं और जन संख्या १३०० है। यहाँ के दो तिहाई समाजवादी कृषि उत्पादक संघ आपस में विलीन गए हैं और उन्होंने १९५४ में सुखी सामूहिक फ़ार्म बना लिया है। तब से लेकर अब तक यह गाँव अनेक परिवर्तनों को पार करता हुआ समृद्धि की ओर बढ़ रहा है, गाँव के टूटे मकानों की मरम्मत हो चुकी है; उनमें काँच

की खिडकियाँ लग गई है, जिन पर लकड़ी का बढ़िया काम है। गाँव में कई सार्वजनिक इमारतें बन चुकी हैं। वहाँ के लोगों ने अपने श्रम से प्राथमिक शाला क़ायम कर ली है। गाँव में चूं कि कोई सार्वजनिक भवन नहीं है, अतः स्कूल की बीज की दीवारें ऐसी बनाई गई हैं, जिन्हें हटा कर एक भवन के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है, जिसमें गाँव के नाटक, फ़िल्म शो, सभाएँ आदि होती हैं। गाँव में सहकारी संघ का अपना कार्यालय है, जो वहाँ की समस्त गतिविधियों का केन्द्र स्थल है। गल्ले के गोदाम और घोड़ों के लिए अस्तबल बन गए हैं तथा क्लब वाचनालय और नाट्य मण्डल आदि की स्थापना हो चुकी है।

लोगों में समाचार जानने की रुचि बढ़ रही है। ब्लेक बोर्ड पर मुख्य समाचार लिख दिए जाते हैं। सहकारी दूकानें खुल गई हैं। लोग फ़र-हेट बहुत ख़रीदते हैं। जब दूकान से एक ग्रामवासी ने एक फ़र-हेट ख़रीदा तो दूसरे ने व्यंगपूर्वक कहा : "तुम एक ज़मींदार की प्रतिमूर्ति प्रतीत होते हो।" निस्सन्देह पहले फ़र-हेट ज़मींदार ही ख़रीद सकते थे। आज हर गाँव-वाले के पास एक फ़र-हेट है। दूकान पर सबसे अधिक बिक्री फ़र-हेटों, चमड़े के जूतों, सरज और छपे हुए सूती कपड़ों की है। प्रति दिन की बिक्री लगभग ३०० युआन है, जो २५१ परिवार वाले गाँव को दृष्टि में रखते हुए पर्याप्त है।

गाँव की सप्त वर्षीय योजना : गांव के सामूहिक कार्य की उन्नति के लिए एक सप्त वर्षीय योजना बनाई गई है। १९६२ तक इस गाँव का रूप काफ़ी बदल जाएगा। गाँव में वृक्षों की दस पंक्तियाँ लगाई जाएँगी। पक्की सड़कें होंगी, जिनके दोनों ओर छायादार वृक्ष होंगे। कच्चे मकानों के स्थान पर ईंटों के पक्के मकान हो जाएँगे। इस वर्ष वहाँ ईंटें बनाने का काम भी शुरू हो रहा है। उस समय तक गाँव में बिजली भी पहुँच जाएगी।

सामूहिक फ़ार्म के चेयरमेन श्री वांग का कथन है कि १९६२ तक गाँव की ८० प्रतिशत भूमि मशीनों से जोत दी जाएगी और २० प्रतिशत घोड़ों द्वारा चालित विकसित हलों से। लकड़ी के पुराने हल अब किसी अजायबघर में रख दिए जाएंगे। उत्पादन भी दुगुने से अधिक बढ़ जाएगा। हर कार्य दिन का मूल्य ६.२० युआन होगा। एक अच्छा श्रमिक किसान १६०० युआन प्रति वर्ष कमा लेगा। औसत किसान भी १३०० युआन कमाएगा। इन कोशिशों का परिणाम यह होगा कि इस रक़म से एक किसान ९८४ हण्डरवेट अनाज, ३ हण्डरवेट सुअर का माँस, १००० अण्डे १ हण्डरवेट कछली, २ हण्डरवेट फल, २ टन कोयला ३३ फीट फांउन अमी वस्त्र, ३ बोल्ट फाउन सूती कपड़ा, ५ जोड़ी चमड़े के जूते, २० जोड़ी मोजे, १ रेडियो, १ बाइसिकिल और २ फाउण्टेनपेन ख़रीद सकेगा और फिर भी उसके पास २५० युआन बैंक में जमा करने के लिए शेष रह जाएँगे।

यदि १९६२ तक चीन का एक किसान उक्त स्थिति तक पहुँच जाए तो वास्तव में यह एक भारी परिवर्तन होगा और वहाँ के किसानों का जीवन-स्तर निश्चित रूप से ऊँचा हो जाएगा।

इतवारा रोड,
भोपाल

—गोवर्द्धनदास मेहता

धन

मैं धनी रहना चाहती हूँ। संसार में इससे बढ़ कर और कोई अच्छी बात नहीं है कि मनुष्य इस योग्य हो कि वह किसी को कुछ दे सके। मैं चाहती हूँ कि प्रशासन हम से इतना अधिक रुपया न वसूल करे जितना कि वह वसूल करता है। प्रशासन जिस प्रकार मेरे धन का व्यय करता है—मैं उसे उससे अच्छे रूप में व्यय कर सकती हूँ।

—लेडी एस्टर

संस्कृत साहित्य में मृगया-वर्णन

मृगया भारत का अत्यन्त प्राचीन मनोविनोद है। यह वैदिक काल से लोगों के मनोरंजन का साधन रहा है। पाणिनीय अष्टाध्यायी का "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति" सूत्र इस बात का प्रमाण है। उस समय आखेट या मृगया को "लुब्ध योग,' कहते थे और शिकारी को मार्गिक। पक्षियों का शिकार खेलने वाले लोग पाक्षिक या शाकुन्तिक कहे जाते थे। मृगया शब्द स्वयं 'मृग' के शिकार का द्योतक है और मृग केवल हिरन का ही नहीं शिकार के योग्य समस्त पशुओं का बोधक। वृत्ति में जंगली सुअर को भी मृगों के ही अन्तर्गत माना है। प्राचीन साहित्य में विभिन्न पक्षियों का शिकार करने वाले उनसे) सम्बन्धित नामों से पुकारे गये हैं यथा मायूरिक (मयूर का शिकार करने वाले) और तैत्तिरिक (तीतर का शिकार करने वाले) आदि। शिकार धनुष वाण से किया जाता था। वाणों में तीक्ष्ण 'पत्र' या नोंकें रहती थीं। पाणिनि ने इन नोकदार वाणों को 'अतिव्यथन' अर्थात् अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने वाले कहा है। पत्री वाण भी दो प्रकार के होते थे। एक सपत्र जो शिकार के शिकार में छिद कर रह जाते थे और दूसरे निष्पत्र जो वार पार छेद करते हुये चले जाते थे। लुब्ध योग की बोलचाल में शिकार को दाहिनी ओर घायल कर देना 'दक्षिणेर्म' कहा जाता था। "'ईर्म', शब्द ऋग्वेद कालीन है जिसका अर्थ है पक्ष, बाजू कटि आदि। दक्षिण की ओर वाण लगना उतना घातक नहीं होता जितना बायीं ओर लगना। इसीलिए अखेट की भाषा में इस शब्द का महत्व था। कई बार शिकारी लोग बड़े पशुओं को बाहर निकालने या घबराने के लिए एक साथ शोर मचाते थे जैसा कि आज भी शिकारी लोग करते हैं। इस प्रकार के आखेट-पशु "व्याहृति मृग" कहलाते थे। पाणिनि ने समय-भेद के अनुसार 'व्याहृति' के भी 'प्रादेशिक, नैशिक' आदि भेद बताये हैं। कर्ण पर्व में भी कहा है : "क्रव्यादा व्याहरन्त्येते मृगा कुर्वन्ति भैरवम्।" कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में इस बात का उल्लेख है कि शिकारी अपने साथ कुत्ते रखते थे जो जंगली पशुओं पर आक्रमण करने में प्रवीण होते थे। इस प्रकार के कुत्ते पालने वाले श्वगणिक या श्वागणिक कहलाते थे। श्वगणी लोग राज्य की ओर से खेतों की जंगली पशुओं और चोरों से रक्षा करने के लिए नौकर भी रखे जाते थे। वरहुत के चित्रों में भी एक चित्र ऐसा है जिसमें शिकारी कुत्तों के साथ मृग पर अक्रमण कर रहा है।

प्राचीन भारत में परती जमीन अधिक होने के कारण उस पर झाड़ झंखाड़ निर्बाध पनपते थे। यों भी जन संख्या कम होने के कारण भारत में सघन वन अधिक थे जिनमें शिकार योग्य पशु सरलता से मिल जाते थे। निर्धन निम्न वर्ग के लोगों के लिए मृगया जीविका का साधन थी और अभिजात वर्ग के लिए मनोविनोद। शासक वर्ग के लिए मृगया में निपुण होना आवश्यक भी था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' ही दुष्यन्त का सेनापति कहता है।

"मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः,
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले,
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ?

लोग व्यर्थ ही मृगया को दोष देते हैं। इससे तो अनेकों लाभ है। पहले तो तोंद की चर्बी छँट कर शरीर हल्का, सुडौल और उठने लायक बन जाता है। दूसरे भय और क्रोध की अवस्था में प्राणियों के विकृत मन की प्रतिक्रिया का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता है। अस्थिर निशाने पर बाण ठीक लगने का अभ्यास बढ़ाने से धनुर्धारी की उन्नति और प्रशंसा होती है और कोई खेल इतना मनोरंजक नहीं है।

ऐसा लगता है कि राजा लोग कभी-कभी मृगया में इतने संलग्न हो जाते थे कि उन्हें राज-काज की सुधि ही न रहती थी। इससे शासन-प्रबन्ध अव्यवस्थित हो जाता होगा। इसिलिए स्मृतियों ने "स्त्रियोऽक्षा मृगया पानम्" और "न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरम्" आदि वाक्यों द्वारा जुआ, विलास और शराब के साथ मृगया को भी निषिद्ध कर दिया पर यदि उसका सेवन समयानुसार किया

जाए तो वह बड़ा दोष नहीं माना जाता था। यह बात अनेक प्रसंगों पर स्पष्ट की गई है। दुष्यन्त का सेनापति मृगया को सामान्यतया दुर्व्यसन स्वीकार करते हुए भी इसलिए उसका समर्थन करथा है। वह कहता है :

दृष्टदोषाऽपि स्वामिनि मृगया केवलं गुणा एवं संवृत्ता।
तथाहि देव :
अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणासहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं विभर्ति।

यद्यपि मृगया में दोष है तो भी आप में वह गुण बन गई है। बार बार प्रत्यञ्चा चढ़ाने से आप के हाथ मज़बूत हो गए हैं। सूर्य की तेज़ किरणों को सहने की आदत पड़ गई है। अब ज़रा-सा परिश्रम करते ही पसीना नहीं आने लगता शरीर दुबला अवश्य हो गया है पर यह दुबलापन खटकता नहीं। जैसे जंगल का हाथी राजहस्ती के समान बढ़िया आहार न पाने के कारण अपेक्षाकृत कृश अवश्य हो जाता है किन्तु उसमें जो शक्ति होती है वह पालतू हाथी में कहाँ ?

महर्षि वाल्मीकि के राम भी मृगया-पटु थे। मृगया पटुता शायद राजकुमारों के लिए आवश्यक थी। इसीलिए राम सीता के आग्रहह पर स्वर्णमृग का शिकार करने चल देते हैं। महर्षि के ही शब्दों में राम का मृगया-वर्णन सुनिए :

"तथा तु तं समादिश्य भारतं रघुनन्दनः
बबन्धासिं महातेजा जाम्बूनदमयत्सरुम्।
ततस्त्र्यवनतं चापमादायात्मविभूषणम्
अवाध्य च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः।
अवेद्यावेद्य धावन्तं धनुष्पाणिं महावने
अतिवृत्तमिषोः पाताल्लोमयानं कदाचन।
शङ्कितं तु समुद्भ्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरे
दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित।"

लक्ष्मण को समझा बुझा कर राम सोने की मूठ वाली तलवार कमर में कस कर और तीन जगह से झुका हुआ धनुष लेकर तथा दो तरकस पीठ पर बान्ध कर चल दिए। मृग धनुर्धारी राम को बार बार देखता महावन में दौड़ लगाया था। वह कभी कुलाँचे मार कर दूर हो जाता और कभी अति निकट आकर उनको लुभाता। कभी शंकित होकर और घबरा कर इतनी ऊँची छलाँग मारता मानो आकाश में चला जाएगा। कभी देखते ही देखते अदृश्य हो जाता और कभी वन में दूर जा निकलता।

"भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः
सूर्यरश्मि प्रतीकाशं ज्वलन्तमरिमर्दनः
सन्धाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद्बली
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम्
मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम्
शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य मृगोत्तमः
मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसन्निभः
तालमात्र मथोत्प्लुत्यन्यपतत्स शरातुरः

उन्होंने रोष में भर कर बड़ी फुर्ती के साथ सूर्य की तरह चमचमाता बाण निकाला और उसे अपने मज़बूत धनुष पर चढ़ा, एवं बलपूर्वक खींच मृग को निशान बनाते हुए फुफकारते साँप की तरह छोड़ दिया। ब्रह्मा के बनाए हुए चमचमाते बाण ने जाकर मृग के शरीर को विदीर्ण कर डाला। तब वह ताड़ के वृक्ष के बराबर उछल कर बाण की चोट से व्यथित हो जमीन पर गिर पड़ा।

और शिकारी के आगे आगे भागते हुए मृग का यह दृश्य शाकुन्तल में कितना भव्य और यथार्थ बन पड़ा है। दुष्यन्त का रथ पीछे पीछे दौड़ रहा है और मृग आगे आगे—

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोक मुर्व्यां प्रयाति"

एक ओर मृग गर्दन को मोड़ मोड़ कर पीछे आते हुए रथ में नज़र गड़ाए हैं। दूसरी ओर वह बाण लगने के डर से शरीर का पिछला भाग सिकोड़ कर मानों अगले भाग में घुसाए दे रहा है। दौड़ते दौड़ते थकावट के मारे उसका मुँह फैल गया है, इसीलिए अधचबाई डाभ मुँह से गिर गिर कर मार्ग में बिखर रही है। छलाँगें इतनी ऊँची भर रहा कि जमीन पर कम चलता और आकाश में उड़ता अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है।

इतना स्वाभाविक, मनोरम और करुणोत्तेजक चित्र कविकुलगुरु को छोड़ कर और कौन उपस्थित करता ? उन्होंने 'रघुवंश' के नवम सर्ग में दशरथ की मृगया का प्रत्यक्षीकृत-सा रूप उपस्थित किया है। यह वर्णन जितना यथार्थ है उतना ही मानवीय भी। शिकार पर जाने के पहले महाराज दशरथ इस प्रकार का वेष धारण करते हैं जो "मृगवनोपगमनक्षमम्" हो अर्थात् जिसे देख कर वन्य पशु चौंक न उठें। वे सिर पर वन-पुष्पों की पगगड़ी-सी बाँधते हैं और शरीर पर वृक्ष-पत्रों से मिलता जुलता कवच पहनते हैं। उसके बाद—

"श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं,
व्यपगतानलदस्यु विशेश सः
स्थिरतुरंगम भूमिनिपानवन्मृगवयो,
गवयोपचितं वनम्"

इसके बाद वे वन में प्रविष्ट हुए। जिस स्थान में उन्हें शिकार खेलना था वहाँ शिकारी कुत्ते तथा मृग फाँसने वाले जाल लिए "श्वगणी" और 'वागुरिक' पहले ही जाकर जम गए थे। इस बात की जाँच कर ली गई थी कि वह स्थान दावाग्नि तथा लुटेरों के भय से मुक्त है तथा वहाँ की भूमि दलदल-रहित और घोड़ों के चलने के योग्य है। कुएँ या तालाब भी वहाँ हैं जिससे पीने के योग्य पानी मिल सके। यह भी पता लगा लिया गया था कि उस स्थान में शिकार के पशु, पक्षी तथा गवय पर्याप्त संख्या में है जिससे निष्फल लौटने की आशंका न हो। कामन्दकीय नीतिशास्त्र में भी कहा है—"कारयेद्वनविशोधनमादौ मातुरन्तिकमपि प्रविविक्षुः—आप्त शास्त्र्यनुगतः प्रविशेद्वा संकटे च गहने च न तिष्ठेत्।"

वन में जाते समय दशरथ ने मृगों का दल देखा जिसके आगे आगे गर्वीले कृष्ण सार जाति के मृग चल रहे थे। मृग और मृगियाँ मुख में कुश दबाए हुए थे। नन्हें नन्हें शावक दूध पीने के कारण मृगियों के चलने में बाधक हो रहे थे। राजा ने ज्यों ही तरकस से बाण खींचा कि वे झुण्ड छोड़ कर अस्त-व्यस्त भागने लगे। जब दशरथ ने एक मृग पर बाण छोड़ने की चेष्टा की तो उसकी सहचरी ने झट से सामने आकर अपने प्यारे मृग की देह को अपनी देह की ओर कर लिया। यह देख कर राजा का मन द्रवित हो उठा और वे बाण न चला सके। जंगली सुअर राजा को देख कर पोखरों से उठ भागे। उनके अध खुले मुखों से माथे की जड़ें बिखरने लगीं। राजा ने उन पर बाण छोड़ने की चेष्टा की तो वे भी बदले में प्रहार करने को उचके। इसी बीच राजा ने सफ़ाई से जो बाण मारा वह उनकी जंघा को चीरता वक्ष में घुस गया। पर वराहों को इसका भान तक न हुआ। अगने भैंसे को मारा तीर उसकी आँख से होकर शरीर के पार निकल गया। उस बाण में खून नहीं लग पाया और भैंसा पहले गिरा किन्तु बाण पीछे। तीक्ष्ण बाण मार कर उसने गेड़ों के सींग तोड़ दिए, उनकी जान नहीं ली। हाथ की सफ़ाई से उसने गुफ़ाओं से निकले सिंहों के मुख बाणों से भरे तरकस बना दिए। चमरमृगों की पूँछ के बाल काट लिए किन्तु घोड़े के पास से ही जमीन पर उतरते सुन्दर पंखों वाले मोर पर बाण नहीं चलाया और इस प्रकार शिकार करते करते—

"स ललित कुसुम प्रवाल शय्यां ज्वलित,
महौषधि दीपिका सनाथाम्
नरपतिरतिवाहयांबभूव क्वचिदसमेत,
परिच्छदस्त्रियामाम्"

इन्होंने फूलों और पल्लवों को बिछा कर चमकती वनस्पतियों के प्रकाश में परिजनों से रहित स्थान में रात बिताई।

राजाओं की मृगया मनोविनोद के लिए थी। इसलिए उसमें निर्घृणता का अंश उतना अधिक नहीं था। वे प्रायः हिंसक पशुओं का शिकार करते थे। आश्रमों के समीप मृगया वर्जित थी। इसीलिए हम संस्कृत नाटकों में "आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यों न हन्तव्यः" जैसे उद्गार पाते हैं। जिनकी आजीविका ही माँस-भक्षण से चलती थी वे दल के दल पशुपक्षियों के शिकार के लिए निकालते थे। उनके प्रवेश करते ही वनों, वृक्षों में तूफ़ान-सा उठ खड़ा होता है। कादम्बरीकार ने ऐसी ही एक भीषण वेला का हृदयद्रावक वर्णन किया है :

"अनन्तरं च सरभसमितो गजयूथपतिलुलित कमलिनी परिमलः इतः क्रोडकुलदश्यमानभद्रमुस्ता रसामोदः, इतः करिकलभ भज्यमान सल्लकीकषाय गन्धः

इतोऽपि पतितशुष्कपत्रमर्मरध्वनिः, इतो वनमहिष विशाण-कोटिकुलिशभिद्यमानवल्मीकधूलिः, इतो मृग कदम्बकम्, इतो वनगजकुलम्, इतो वनवराहयूथम्, इतो वनमहिष वृन्दम्......चमरीपंङ्क्तिरियमनुगम्यताम्, उच्छुष्कमृग-करीषपांसुला त्वरितमध्यास्यतामियं वनस्थली, तरुशिखर मारुह्यतामालोक्यतां दिगियम्, आकर्ण्यतायं शब्दः, गृह्यतां धनुरवहितं स्थीयतां, विमुच्यन्तां श्वान इत्य-न्योन्यमभिवदतो मृगयासक्तस्य महतो जनसमूहस्य तरु गहनान्तरित विग्रहस्य शोभित काननं कोलाहल-मश्रृणवम्।"

चारों ओर शोर मच गया। कोई कहता, देखो इधर से गजराज द्वारा मर्दित कमलों की गन्ध आ रही है। कोई कहता इधर तो देखो। इस ओर सुअरों के चबाए हुए माथे की महक मालूम होती है। कोई चिल्लाता, अरे इधर सल्लकी की कसैली खुशबू फैल रही है। शायद हाथियों के बच्चों ने सल्लकी लता की तोड़-फाड़ की है। इधर सूखे पत्तों का मर्मर शब्द सुनाई दे रहा है। शायद इधर भैंसा सींग से बाँबी तोड़ फोड़ कर धूल उड़ा रहा है। अरे ये रहे मृग-यूथ, ये हैं हाथी, ये देखो भैंसे, ये गए सुअर। चमरियों के पीछे दौड़ो। पेड़ पर चढ़ जाओ। इस दिशा पर नज़र रखो, ज़रा यह आवाज़ तो सुनो। धनुष सम्हाल लो, सावधान होकर बैठ जाओ, कुत्ते छोड़ दो।" इस प्रकार पेड़ों के पीछे छिपे हुए शिकारी एक दूसरे को सावधान कर रहे थे।

'कादम्बरी' में मृगया का यह वर्णन बहुत विस्तृत एवं सजीव है। इस प्रकार के वर्णन संस्कृत साहित्य में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। मृगया के इतने अधिक प्रचार के कारण संस्कृत में न केवल उसकी अपनी विशिष्ट शब्दा-वली ही बन गई थी अपितु मृगयाशास्त्र का भी निर्माण हो गया था।

संस्कृत-विभाग, महाकोशल,
महाविद्यालय, जबलपुर

—प्रभुदयाल अग्निहोत्री

अल्जीरिया के देशभक्तों के विचार

हम केवल एक बार ही मर सकते हैं। क्यों न हम अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए युद्ध करते हुए मरें।

× × × ×

हम तीन युद्ध हार सकते हैं; हम बीस युद्ध हार सकते हैं परन्तु फ्रान्स को तो यहाँ एक ही युद्ध हारना पड़ेगा।

× × × ×

हम एकमात्र अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए नहीं लड़ रहे हैं यद्यपि इस समय यही उद्देश्य हमारे मन में सर्वोपरि है और जिसे कि प्राप्त करने में हमने अपनी समस्त शक्ति को लगा रक्खा है।...हमें तो अपने देश की समस्त राज्य-प्रणाली में आमूल चूल परिवर्तन करना है। वर्तमान राज्य-प्रणाली हमारे देश की जनता को न रोटी दे सकती है न कार्य। फ्रान्स इस कार्य को नहीं कर सकता। उपनिवेशवाद इस कार्य को नहीं कर सकता। इस कार्य को हम ही कर सकते हैं। या तो हम विजयी होंगे और या फिर हमें भूखा मरना पड़ेगा। हम अवश्य विजयी होंगे।

× × × ×

अरब-संसार एक विशाल नगाड़े की तरह है। इसे एक जगह से बजाइए—इसकी गूँज सर्वत्र सुनाई देगी।

विन्ध्य-प्रदेश के नरेश कवि

एक परिचय

संगीत-साहित्य एवं कला की साधना-स्थली विन्ध्य-भूमि की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक गरिमा चिर-स्मरणीय है। विन्ध्य के उच्च शिखर यहाँ के साहित्यकारों की समुन्नत कल्पना गम्भीर अनुभूति और मौलिक प्रतिभा के प्रतीक हैं। शाश्वत प्रणम्य इस गौरवमयी वसुन्धरा की हृदय-भूमि विन्ध्य-धरित्री ने अनेक कवि-कुल-कलाधरों की काव्य-कौमुदी को सहस्र रूपों में प्रभासमन्वित किया है।

सन्त कबीर, आचार्य केशवदास, श्री सीताराम के अनन्योपासक तथा प्रथम हिन्दी नाटक के प्रणेता श्री महाराजा विश्वनाथसिंह, भक्त शिरोमणि हरिराम ब्यास, महाकवि पद्माकर, श्री राधाकृष्ण के कृपापात्राधिकारी, काव्य कला-मर्मज्ञ, महाराजा श्री रघुराजसिंह, गायक रामभक्त महात्मा मधुर अली, रसिक-मणि, कविवर रसनिधि, ज्ञानी सन्त-कवि महात्मा अक्षर अनन्य, रस-भूषण भूषण-अवर कवि-भूषण वीरकाव्य के प्रतिभावान सुकवि लाल, कविरत्न दुर्गादास, सुकवि ठाकुर लोक-कवि ईसुरी तथा हरिदास आदि महान् सहित्यकारों ने इसी प्रकृति-सुषमा-मनोरमा रत्नगर्भा विन्ध्य-भू की सुखद क्रोड़ में आल्हादित होकर वीणा-पुस्तक धारिणी, हंस-वाहिनी कमलासना भारती की अमर-साधना की है! निश्चयतः यह विन्ध्य-भूमि साहित्य-भूमि है। इस पावन धारिणी को साहित्यिक बनाने में यहाँ से नरेशों की पूरा सहयोग रहा है—

"तुलसी, केशव, लाल, बिहारी, श्रीपति, गिरधर
रसनिधि, रायप्रवीन भजन, ठाकुर, पद्माकर
कविता-मन्दिर-कलश सुकवि कितने उपजाए
कौन गिनावे नाम जाएँ किससे गुण गाए
यह कमनीया काव्य-कला की नित्य भूमि है
सदा सरस बुन्देलखण्ड साहित्य भूमि है"

(श्री मुन्शी अजमेरी जी)

कलाकारों एवं कवियों यों प्रश्रय देकर विन्ध्य के नरेशों ने काव्य के समुत्थान में जो योग दिया है, उसका अलग इतिहास है। यदि इन नरपतियों की काव्यकोश के प्रति उदारता न होती तो संभव है कि काव्य-सर्जना अधूरी ही रहती।

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कवियों को येन केन प्रकारेण इन जन-पालकों का ही सहारा मिला है, अन्यथा न वे सहित्यकार बन पाते और न उनकी इतनी प्रसिद्धि हो पाती! धन्य है उन नरेशों को, जिन्होंने मुक्तहस्त से इन सरस्वती सेवकों की आर्थिक सहायता की, प्रमुदित होकर इन्हें सम्मानित किया, विनीत बन कर इन सत्कवियों की सेवा की और भक्त होकर इनकी आराधना की! महाराजा इन्द्रजीत (ओरछेश) महाकवि केशवदास को अपना मित्र और गुरु मानते थे। २१ गाँव जागीर में देकर उन्होंने आचार्य केशव के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की थी:

"गुरु कीर मान्यो इन्द्रजित, तन-मन कृपा विचारि
ग्राम दए इकबीस तब, ताके पांय पखारि
इन्द्रजीत के हेतु पुनि, राजा राम सुजान
मान्यो मंत्री मित्र कै केशवदास प्रमान"

महादानी महाराजा रामचन्द्र ने तानसेन को उसकी एक ही तान पर एक करोड़ मुहरों का पुरस्कार दिया था। अपने दुर्दिनों से पीड़ित एक कवि की कुछ पंक्तियों को सुनकर ही रीवां नरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह जू देव ने चार सहस्र मुद्राएँ देकर अपने काव्य-प्रेम को प्रकट किया था:

"मेरे भाल विधि ने लिख्यौ है तू सुकवि है
पैहै न कौड़ी कहूँ जाँचे चारि पाँचो है
आयो विश्वनाथ सिंह आज मैं परिच्छा लैन,
तेरो भाल साँचो है कि मेरो भाल साँचो है..."

स्वाभिमानी एवं महाप्रतापी महाराजा छत्रसाल ने वीर-रस के यशस्वी कवि भूषण की पालकी का डण्डा (विदाई के समय) स्वयं अपने कंधों पर रख कर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया था। कवि-जगत् में

पन्ना-नरेश महाराजा छत्रसाल की यह कवि-भक्ति चिरस्मरणीय है। ऐसे गुणज्ञ तथा कलाकार-प्रेमी के प्रति लिखा गया अमर कवि भूषण का यह कवित्त कितना भावपूर्ण है :

"राजत अखण्ड तेज छाजत सुजसु बड़ो,
गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को
जाहि के प्रताप सों मलीन आफ़ताब होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को
साज सजि गज तुरी पैदर कतार पीने,
भूषन भनत, ऐसो दीन प्रतिपाल को
और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब
साहू कों सराहौं के सराहौं छत्रसाल को"

सत्य बात तो यह है कि हमारे भारतीय नरेशों ने प्राचीन काल से काव्य को अपने मनोविनोद का साधन बनाया है। उसी पुरातन परम्परा को जीवित रख कर इन जन-पालकों ने काव्य और कवि को आज भी राज-गरिमा का अंश माना है। स्पष्ट ही मालूम होता है कि राज-दरबार के मुख्य विनोदों में काव्य-कला सबसे प्रमुख थी। वस्तुतः राजसभा में सात अंगों का होना परम आवश्यक माना जाता था। ये सात अंग हैं—(१) विद्वान् (२) कवि (३) भाट (४) गायक (५) मसखरे (६) इतिहासज्ञ और (७) पुराणज्ञ—

"विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः
इतिहास पुराणज्ञाः सभा सप्तांग संयुता... ..."

राजा कवि सभाओं का नियमित आयोजन करते थे। इन सभाओं में कवियों की परीक्षा हुआ करती थी। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि राजाओं ने इस विशाल परम्परा को चलाया था और बहुत काल तक सभी यशोऽभिलाषी भारतीय नरेश इस परम्परा का पोषण करते आए हैं।[1]

इस निबन्ध में मैंने विन्ध्य के कतिपय नरेश कवियों का परिचय मात्र देने का प्रयास किया है। इन विद्वान् कलाकारों की काव्य साधना पर विशेष अध्ययन की आवश्यकता है। निश्चयतः इन मनीषी साहित्यकारों की प्रतिभा बहुमुखी थी जिसके बल पर उन्होंने मौलिक साहित्य की रचना की और काव्य-मर्मज्ञों के सामने एक पुनीत आदर्श उपस्थित किया।

लक्ष्मी और सरस्वती का स्वाभाविक वैर है; लेकिन इन नरपतियों की काव्य-सृष्टि ने श्री और विद्या का समुज्वल एकीकरण कर दिखाया है।

बघेलखण्ड के नरेश-कवि

महाराजा वीरभद्र : आप महाराजा बांधवेश रामचन्द्र के सुपुत्र थे। आपका जन्म वि. सं. १६१० है और वि. सं. १६५४ में आप स्वर्गवासी हुए।

महाराजा वीरभद्र महान पराक्रमी और प्रतापी शासक थे। राजनीति में ये परम कुशल थे।...आप स्वयं विद्वान् और विद्वानों के आश्रय दाता थे। उन्होंने संस्कृत में 'कन्दर्पचूड़ामणि' नामक एक अच्छा ग्रन्थ कामशास्त्र पर लिखा है, जिसके अध्ययन से इनकी विद्वत्ता और प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं गम्भीर मनन का पता मिलता है। इस ग्रन्थ की समाप्ति का समय इसमें १६३३ लिखा है।[2] महाराजा वेंकटरमण सिंह की आज्ञा से पं. सरजूप्रसाद पाण्डेय ने इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया था :

"संवत् नव नर नव धरणि, कातिक बदि तिथि दूज
कन्दर्प चूड़ामणि तिलक, वेंकट रहस सुपूज"

इसके अतिरिक्त वीरभद्र ने 'दशकुमार-पूर्व-कथासार' भी लिखा है।

महाराजा जयसिंह : जन्म वि. सं. १८२२। स्वर्गवास वि. सं. १८६१। आप एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थे। संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के विद्वान् होने से इनकी काव्य-साधना सरस, पाण्डित्यपूर्ण तथा महान् है।

आपने हिन्दी में ही ग्रन्थों की रचना की है। धार्मिक होने के कारण आपने अनेक पौराणिक कथाओं को छन्दोबद्ध किया था। आपके राजकवि शिवनाथराम शर्मा महापात्र थे। 'गंगा-लहरी' नामक काव्य ग्रन्थ की रचना आपने विश्व-पावनी गंगा के तट पर ही की थी।

---

[1] प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—(आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० ११७। [2] विन्ध्य-प्रदेश का इतिहास—(लेखक साहित्यरत्न प. गुरुरामप्यारे अग्निहोत्री) पृ. १९०।

कहा जाता है कि आपकी भक्ति से प्रसन्न होकर गंगा माता ने आगे बढ़ कर आपका स्वागत किया था :

> "धर्मवान् जयसिंह सो, भला नृपति को आन
> जेहि गवनत गोविन्दपुर, गंग लियो अगवान"

गत वर्ष मैंने श्रीयुत राजीवलोचन अग्निहोत्री के सहयोग से राजकीय पुस्तकालय—'सरस्वती भण्डार' में श्री बान्धवेश महाराजाओं के ग्रन्थों का कुछ काल तक अध्ययन किया था। इस अध्ययन का संक्षिप्त रूप मेरी पुस्तक "विन्ध्य के नरेश-कवि" में देखने को मिलेगा। महाराजा श्री जयसिंह जूदेव के ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :

चतुःश्लोकी भागवत २ बाजनामा, ३ गंगालहरी, ४ हरिचरित्र चन्द्रिका ५ कृष्ण सिंगार तरंगिनी ६ अनुभव प्रकाश ७ भागवत ८ स्वयंभू मनु कथा ९ ऋषभदेव की कथा १० बलदेव जी कथा ११ हयग्रीव कथा १२ मत्स्यकच्छप के कथा १३ रामाश्वमेध १४ रामावतार कथा १५ चार अवतार कथा, १६ बाराहजी कथा १७ बौद्ध भगवान् कथा १८ पाँच अवतार कथा १९ नृसिंह कथा २० वामन की कथा २१ नरनारायण कथा, २२ व्यासदेव कथा, २३ हरि अवतार कथा २४ कपिलदेव कथा २५ दत्तात्रेय कथा २६ नारद सनाकुमार कथा २७ पशुमहाराज कथा २८ परशुराम कथा।

आपके 'कृष्ण श्रृंगार तरंगिनी' एवं हरि चरित्र चन्द्रिका नामक काव्य ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें कवित्व, काव्य सौष्ठव, अनुभूति तथा सरसता पूर्णरूपेण विद्यमान है। अपनी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए महाराजा जयसिंह जी ने 'कृष्ण श्रृंगार तरंगिनी' में लिखा है—

> "तासुत अजित अजीत सिंघ भो नृप बखत बलन्द
> प्रणत पाल दातानिमनि कियौ दिलीश पसन्द
> तासु तनय जैसिंघ भै मतिमानी मतिमन्द
> रति सिकार वनितानि को रसिकनि पुनि छलछन्द"

उक्त दो ग्रन्थों से कुछ उदारण यहाँ दिए जा रहे हैं। जो कवि की भावुकता तथा प्राकृतिक प्रेम के समर्थन में पर्याप्त हैं—

> "रितु वसन्त कामिनि सुखदाई
> कीनी वन समाज सुखदाई
> नवदल जुत वेली नव जाती
> फूले विमल कूल बहु भाँती
> मंजु रसाल मंजीन कुंजै
> ठौर ठौर गुंजै अलिपुंजै"
> (कृष्ण श्रृंगार तरंगिणी)

> "सरसी सहसों सरिसी अँखियाँ,
> पखियाँ सिरमोरनि की फहरैं
> खुर रेणुभरी अलकैं झलकैं,
> छवि कुण्डल गोल कपोल भरैं
> हँसि हेरनि बाँसुरि टेरनि त्यों,
> मरसें सुरताननि सों निकरैं
> बनते बृज आवत यों नन्दनन्दन,
> ऊधो बिसारे नहीं बिसरैं"
> (हरि चरित्र चन्द्रिका)

महाराजा विश्वनाथसिंह : जन्म वि. संवत् १८४६ स्वर्गवास वि. संवत् १९११।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में महाराजा विश्वनाथ सिंह देव की साहित्य-सर्जना का विशिष्ट स्थान है। आपके रचे हुए संस्कृत एवं हिन्दी ग्रन्थों की सूची विशाल है। योग्य शासक होने के साथ साथ आप एक प्रतिभा-संपन्न काव्यकार थे। आपका 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक हिन्दी की नाट्य कला का प्रथम रूप है और इसीलिए आप हिन्दी के प्रथम नाटककार माने जाते हैं। "आप जैसे भक्त थे वैसे ही विद्याव्यसनी तथा कावयों और विद्वानों के आश्रयदाता थे। काव्य रचना में भी ये सिद्ध-हस्त थे इनकी कविता अधिकतर या तो वर्णनात्मक है अथवा उपदेशात्मक। भाषा स्पष्ट और परिमार्जित है।[३] इनकी रचनाओं से कुछ उद्धरण यहाँ दिए जा रहे है—

> "उठे कुँवर दोउ प्रान पियारे
> हिम रितु प्रात पाय सब मिटिगे,
> नभ सर पसरे पहुकर तारे
> जग बन महं निकस्पो, हरषित हिय,

---

[३] हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० ३४०

079.S.T.S.

विचरन हेत दिवसमनियारे
विश्वनाथ यह कौतुक निरखहु,
रवि मनि दसहुँ दिसिन उजियारे''

''जो विन कामहिं चाकर राखत,
ऐन अनेक वृथा बनवावै
आमद ते अधिकै करै खर्च,
रिनै करि व्योहरै व्याज बढ़ावै
बूझत लेखा नहीं कछुएँ,
नहिं नीति की रीति प्रजानि चलावै
भाषत है 'विसुनाथ' ध्रुवै,
वहि भूपति के घर दारिद आवै''

आपके ग्रन्थों की तालिका निम्नस्थ है :

संस्कृत ग्रन्थ : १ आनन्द रघुनन्दनम् २ रामगीता की टीका, ३ भक्ति मुक्ति सदानन्द सन्दोह ४ सुमार्ग स्तोत्र की टीका ५ अध्यात्म रामायण का तिलक ६ तत्व सरपर्थ सिद्धान्त भाष्य ७ संगीत रघुनन्दन ८ राधावल्लभीय मूल भाष्य ९ रामचन्द्रान्तिक सतिलक १० सर्वसिद्धान्त ११ रामपरत्व १२ राम मन्त्रार्थ निर्णय १३ राम रहस्य त्रयार्थ १४ वाल्मीकि रामायण सन्दर्भ १५ भागवत वेदस्तुति की टीका १६ तीर्थ राजाष्टक १७ हनुमनाष्टक १८ धनुर्विद्या १९ वासुदेव सहस्रनाम २० राग सागराह्निक २१ धर्मशास्त्र त्रिंशत्श्लोकी ।

हिन्दी ग्रन्थ : (१) आनन्द रघुनन्दन नाटक (२) धनुर्विद्या (३) मृगया शनक (४) कबीर बीजक की टीका (५) व्यंग्य प्रकाश (६) ध्रुवाष्टक (७) साकेत महिमा (८) शांतशतक (९) परमतत्व (१०) उत्तम काव्य प्रकाश (११) अष्टयाम आह्निक (१२) विश्वनाथ प्रकाश (१३) दानसपूख (१४) विनयमाल (१५) आनन्द रामायण (१६) गीतावली (१७) कृष्णावली (१८) कृष्णाह्निक (१९) गीत रघुनन्दन (२०) तत्व प्रकाश (२१) विश्व भोजन प्रकाश (२२) धर्मशास्त्र (२३) राजनीति बड़ी छोटी (२४) हनुमत पैंतीसी (२५) विचार सार (२६) रामपूजन विधि (२७) शालहोत्र (२८) सुखसार (२९) गंगाष्टक (३०) कुण्डलिया (३१) वसन्त चौंतीसी (३२) जलाशय अथवा बाग लगाने की विधि (३३) बिच्छू सर्प के मन्त्र (३४) बृज जीवन (३५) पाक विलास (३६) भुशुंडि रामायण (३७) भजनावली (३८) विनय पत्रिका की टीका (३९) रामचन्द्र की रुवाशी (४०) पदार्थ (४१) परमधर्म निधि (४२) उत्तम नीति चन्द्रिका (४३) अबोध नीति (४४) आदि मंगल (४५) चौरासी रमैनी (४६) ककहरा (४७) शब्द (४८) ध्यान मंजरी (४९) अमोघा माहातम (५०) अवध नगर वर्णन (५१) मेघराग (५२) शिकार के कवित्त (५३) चित्रकूट महिमा (५४) रमधुनि (५५) अमी ध्वनि अष्टक (५६) वेदान्त चौंतीसी (५७) वेदान्त पंचक शतिका (५८) फुटकर छन्द ।

महाराजा रघुराजसिंह : जन्म संवत् १८८० । स्वर्गवास सं. १९३६ । साहित्य-संगीत-कला के आश्रय दाता तथा कवियों के काव्य-साधना को सबल बनाने वाले महाराज रघुराजसिंह ने सरस्वती के कोष में अनेक सुन्दर ग्रन्थ रत्नों को भरा है । आप एक मौलिक विचारक तथा कर्मठ साहित्यकार थे । आपकी संस्कृत और हिन्दी की रचनाएँ निश्चयतः साहित्य मनीषियों के लिए एक विशिष्ट मान्यता की ओर संकेत करती है । कविवर जुगलदास ने लिखा है :

''महाराज जयसिंह जग में सिंह के समान
निरयान समय जासु गंग लीन्ही अगदान
तासु तनय विश्वनाथ महाराज विश्वनाथ सम
सीयनाथ को अनन्य साँचो भक्तिमान
ज्ञानवान, गुणवान, यशवान, धर्मवान
जाहिर प्रतापवान भो न सरिजा के आन
तासु पूत महाराज रघुराज मृगराज,
कहै जुगलेश भो सवाई ताहुतें जहान''

साहित्य-निर्माता तथा जन-पालक महाराज रघुराजसिंह के परिचय में ये पंक्तियाँ हैं :

''दीन्हे हैं द्विजान पंडितान हेम महादान,
रघुराजसिंह वृन्दा कानन मँझारी है
सुयश महान शीत भानु सों प्रकाशमान,
सुकवि प्रधान में वखान जासु भारी है
मानिन अमान है अमानिन को मान दान
ज्ञानिन प्रदान सान दीन त्राणकारी है
दान सनमान में जहान में न आन ऐसो,
भानुवंश में निशान ज्ञान ध्यान धारी है''

आपने निम्न लिखित संस्कृत हिन्दी ग्रन्थों की रचना की है :

संस्कृत रचनाएँ : (१) व्यंग्यार्थ चन्द्रिका (श्रीमद्-भागवत् की ब्रजभाषा की टीका), (२) जगदीश शतक (३) रघुराज मंगल चन्द्रावली (४) सुधर्मा विलास (५) शंभु शतक (६) नर्मदाष्टक (७) रघुपति शतक (८) गद्य शतक (९) विनयमाला (१०) विनयप्रकाश (११) रामाष्टयाम (१२) राजरंजन (१३) स्फुट श्लोक।

हिन्दी रचनाएँ : (१) भक्तमाला (२) आनन्दाम्बुनिधि (३) राम स्वयंवर (४) यदुराज विलास (५) सुन्दर शतक (६) जगन्नाथ शतक (७) रुक्मिणी परिणय (८) भ्रमर गीत (९) विनय पत्रिका (१०) भक्तिविलास (११) रघुराज विलास (१२) रहस पंचाध्यायी (१३) गंगा शतक (१४) परम प्रबोध (१५) पदावली (१६) हनुमान चरित (१७) शिकार के कवित्त मुख्यतया आपकी वीर रस विषयक, प्रकृति, भक्ति एवं नीति सम्बन्धी कविताएँ मर्मस्पर्शिनी हैं। आपकी शैली प्रवाहमयी है और भाषा में विषय प्रतिपादन की क्षमता है। भगवान् कृष्ण की भक्ति में आपकी अनन्यता तथा तन्मयता महान् है :

"कुटिल अलकवारो मन्द मुसकानि वारो
कोटि कोटि चन्द्र जाके मुख पर वारो है
मुरली लकुट वारो पीतपट कटि वारो
ललित त्रिभंग वारो सब सुख कारो है
रघुराज रसिक सुजानन को प्राण प्यारो
करुणा समुद्र कोटि अधम उधारो है
नन्द को पुकारो वृन्दाविपिन विहार वारो
मोर पंख वारो सो हमारो रखवारो है"

बघेलखण्ड के नरेशों के समान महारानियों ने भी साहित्य सेवा की है। महारानी शिवदानि कुँवरि (रघुराजसिंह की महारानी) का 'सिया स्वयंवर' ग्रन्थ अपने रूप में पूर्ण है। 'पद मुक्तावली' एवं 'श्याम आनन्दिनी' को लिख कर महारानी विष्णुकुमारी (रघुराजसिंह की कन्या, बून्दी की महारानी) ने अपनी साहित्य-साधना को प्रशस्त बनाया है। महारानी कीर्ति कुमारी जू (व्यंकटरमण सिंह की छोटी महारानी) के रचित २५ ग्रन्थ हैं। जिनमें ज्ञान भक्ति और सूक्तियों का सुन्दर समन्वय है। महारानी सुदर्शन कुमारी जू (महाराज गुलाब सिंह की बहन) की अनेक स्फुट कविताएँ यहाँ के साहित्य प्रेमियों को कण्ठस्थ हैं। आपके कई कविता संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। आपका काव्यानुराग, कवियों के प्रति उदारता तथा साहित्यानुशीलन वंश परम्परागत है।

गद्य साहित्य में रीवाँ के महाराजा कर्णदेव (महाराजा व्याघ्रदेव के सुपुत्र) का स्थान प्रमुख है। आप संस्कृत भाषाविद् थे। 'सारावली' नामक आपका ज्योतिष ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है। महाराजा श्री गुलाब सिंह जू देव एक प्रभावशाली वक्ता तथा लेखक थे। सुना जाता है कि आपने कुछ कविताएँ भी लिखी हैं। 'समाज की बातें' नामक पुस्तक में आपके सुन्दर लेखों का संग्रह है।

बुन्देलखण्ड के नरेश कवि

ओरछा के अधिपति महाराजा मधुकर शाह : महाराज भारतीचन्द्र के लघु भ्राता थे। आपका जन्म संवत् १६०० (लगभग) कहा जाता है। आप एक धर्मनिष्ठ न्यायवान् तथा प्रजावत्सल नरेश थे। टिकैत मधुकर शाह सदैव माला और तिलक को धारण करते थे। सम्राट् अकबर ने तिलक लगा कर दरबार में आने का विरोध किया और अपने दरबारियों को एक समय आज्ञा दी कि तिलक लगा कर दरबार में आने वाले व्यक्ति का सिर उतार लिया जाएगा। रामकृष्ण के परमोपासक महाराज मधुकर शाह ने इसी शाही हुक्म के विरोध में लम्बा तिलक लगाया था और दरबार में जाकर अकबर को अपनी दृढ़ धार्मिक भावना का परिचय दिया था। आपके अदम्य साहस की प्रशंसा में किसी कवि ने कहा था :

"हुकुम दियौ है बादशाह ने महीपन कौं
मानौं रावराजन प्रभात लेखियतु है
चन्दन चढ़ायौ कहूं देव पद वन्दन कौं
दैहौं सिर दाग जहाँ रेखा रेखियतु है
सूनौ कर गए भाल छोड़ छोड़ कण्ठमाल
दूसरो दिनेस तहाँ कौन पेखियतु है
सोहत टिकैत मधुसाह अनियारो जिनि
नागन के बीच मनियारौ देखियतु है"

आपके प्राप्त स्फुट पदों से ज्ञात होता है कि आप एक भक्त कवि थे। ओरछे की वृन्दावन से तुलना करते हुए आपने लिखा था :

"ओड़छौ वृन्दावन सो गाँव
गोवरधन सुख सील पहरिया जहाँ चरत तृन गाय
जिनकी पदरज उड़त सीस पर मुक्ति मुक्त हो जाए
सप्त धार मिल बहत बेतवा, जमुना जल उनमान
नारी नर पावन ह्वै जावत, कर कर के स्नान
जो थल तुंगारण्य बखानौ, ब्रह्मा वेदन गायौं
सो थल दियो नृपति मधुकर कौं,
श्री स्वामी हरिदास बतायौ"

ओरछा सदैव से काव्यस्थली रही है। महाराजा रामशाह, महाराजा जसवन्त सिंह और महाराजा उदोतसिंह आदि नरेशों ने कवियों को समय-समय पर आश्रय देकर अपना काव्य प्रेम प्रकट किया और स्वयं कविता करके सरस्वती माता के पावन चरणों की पूजा की।

ओरछा नरेश महाराजा श्री इन्द्रजीत : आपका नाम हिन्दी साहित्य प्रेमियों को आज भी याद है। आप आचार्य केशवदास के आश्रयदाता थे। आपने 'धीरज नरिन्द' उपनाम से भी अनेक कविताएँ कीं जिनमें अनुप्रास एवं अर्थालंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

"चहचही चटकीली चुनि चुनि चातुरी सों
चोखी चारु चाँदनी की रंगी रंग गहरे
कंचन किनारी तापै लागी घोर लो हैं खुली
दामिनी सी गोरे गाल प्यारी सारी पहरे"

(बुन्देल वैभव पृ० २०३,४)

राजा पृथ्वीसिंह उपनाम 'रसनिधि' : सेंवढा के शासक राजा पृथ्वीसिंह का कविता काल संवत् १७४० से १७६० तक कहा जाता है। आपके रचित ग्रन्थ हैं : (१) रतन हजारा (२) विष्णुपद (३) स्फुट दोहा (४) हिंडोरा (५) अरिल्ल (६) रसनिधि की कविता (७) रसनिधि सागर (८) रसनिधि के दोहे (९) रतन हजारा।

आप भगवान् कृष्ण के भक्त थे और इनका वेदान्त विषयक अध्ययन गम्भीर था। श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव एम. ए. के शब्दों में अरिल्ल छन्द पर भी रसनिधि का पूरा अधिकार था। इनकी अरिल्लें बहुत ही ललित और सरस बन पड़ी है। रीतिकालीन कवियों की भाँति रसनिधि के साहित्य में यद्यपि कृष्ण की मंजुल मूर्ति का तथा गोपीवल्लभ मूर्ति का सुन्दर चित्र अंकित किया गया है तथापि वे अश्लीलता से दूर ही मिलते हैं। सरसता की दृष्टि से रसनिधि किसी कवि से पीछे नहीं। (साहित्य संकलन पृ. १७८, १७९)

इश्क (प्रेम) की महिमा में रसनिधि के ये छन्द बड़े ही मार्मिक हैं :

"आए इश्क लपेट में लागी चसम लपेट
कोई आया जगत में और भरे सब पेट
कहनावत में यह सुनी, पोषत तनु को नेह
नेह लगाए अब लगी, सूखन सिगरी देह" इत्यादि

महाराजा छत्रसाल : जन्म संवत् वि. १७०६, स्वर्गवास १७८८ पन्ता-नरेश महाराजा छत्रसाल का कवि रूप भी अत्यधिक प्रभावपूर्ण हैं। कांव-जगत् में उनकी प्रशस्ति स्मरणीय है। अपने सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था :

"ध्यानिन में धानी और ज्ञानिन में ज्ञानी अहौं
पण्डित पुरानी प्रेम-वाली-अरथाने का
साहब सों सच्चा कूर कर्मनि में कच्चा छत्ता
चम्पत कौ बच्चा सेर सूरबीर बाने का
मित्रन कों छत्ता दीह सत्रुन कों कत्ता सदा
ब्रह्म-रसरत्ता एक कायम ठिकाने का
नहिं परवाही, न्यारा नौकिया सिपाही में तौ
नेही चाट चाही एक स्यामा-स्याम पाने का"

आपकी रचनाएँ निम्नस्थ हैं : (१) श्रीराधाकृष्ण पचीसी (२) कृष्णावतार के कवित्त (३) रामावतार के कवित्त (४) राम ध्वजाष्टक (५) हनुमान पचीसी (६) महाराज छत्रमाला के प्रति अक्षर अनन्य के प्रश्न (७) दृष्टान्ती और फुट कर कवित्त (८) दृष्टान्ती तथा राजनैतिक दोहा-समूह (८) छत्रविलास (१०) नीति मंजरी (११) महाराज छत्रमाल जू की काव्य।

आपके काव्य में भक्ति की प्रधानता है व्रजभाषा का प्राधान्य होने पर भी अवधी, बुन्देलखण्डी, फ़ारसी आदि भाषाओं को भी आपके काव्य में स्थान मिला है। शब्दों की तोड़ मरोड़ बहुत कम की गई है। श्री वियोगी हरि ने आपके काव्य के सम्बन्ध में लिखा है—

"महाराज छत्रमाल एक ऊँचे कवि थे। प्रेम और भक्ति इनकी रचना में कूट-कूट कर भरी है। इनकी

दृष्टि निस्सन्देह कवि-दृष्टि थी। राजनीति पर इन्होंने जो पद्य रचे हैं, वे आज भी हमारे पथ-प्रदर्शक कहे जा सकते हैं। काव्य कला की ओर यद्यपि इन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया, तथापि उसका सर्वथा अभाव नहीं है। व्रजभाषा के साहित्य में महाराज छत्रमाला की रचनाएँ भी प्रेम और आदर की दृष्टि से देखी जाएँगी ऐसा मेरा विश्वास है। महाराज ने कवित्त अधिक लिखे हैं। 'हनुमत् विनय' में विविध छन्द पाए जाते हैं। उन्हें पढ़ते हुए केशव की 'रामचन्द्रिका' का स्मरण आ जाता है। यतिभंग दोष अन्य कवियों की अपेक्षा इन्होंने बहुत कम किया है। प्रतीत होता है—इन्हें छन्दः शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। भक्ति में आस्था का प्रमुख स्थान है। भगवान् की कृपा ही भक्तोद्धार में सब कुछ है—

"सुदामा तन हेरे सो रंक ते राव कीनौ
बिदुर तन हेरे राजा किए चेरे तें
कुबरी तन हेरे सुन्दर स्वरूप दीनौं,
द्रौपदी तन हेरे तो चीर बढ़्यो हेरे तें
कहें 'छत्रसाल' प्रह्लाद की प्रतिज्ञा राखी
हिरनाकुश मारयो नैक नज़र के फेरे तें
हारे अभिमानी नर ज्ञानी भए कहा भयौ
नामी नर होत गरुड़गामी के हेरे तें"

महाराजा श्री विक्रमाजीत सिंह 'लघु' : जन्म—वि. सं. १८००। स्वर्गवास संवत अज्ञात, राज्यकाल संवत् १८३३—१८७४।

आपकी रचनाएँ (१) लघु सतसइ (२) माधवलीला (३) स्फुट पदावली। आपकी कविताओं में प्रयुक्त आपका उपनाम 'लघु' आपकी नम्रता का द्योतक है। आपने एक भावुक हृदय पाया था। आपके ये दोहे काव्य एवं भाव सौन्दर्य के सुन्दर उदाहरण हैं :

"हिय विदार विरहीन के, बैठे हो कृत काज
पहुप पलास लखो नये, लख बसन्त मृगराज
तू मोहन उर बस रही, मोहन उर बंस कीन
सब लीने तो में रहें, तू उनही बिचलीन"४

अजयगढ़ के नरेश महाराजा श्री माधव सिंह जू देव : रीवा सरस्वती भण्डार में बाँधव-नरेशों के ग्रन्थों के अध्ययन में मुझे 'विवेक पचीसी' प्राप्त हुई। इसके अन्तिम पृष्ठ पर लिखा है : इति श्रीमद् बुन्देलवंशावतस श्री महाराजाधिराज श्री सवाई बहादुर माधवसिंह विरचिते माधव विवेक पचीसी सम्पूर्णम्। शुभ चैत्र सुदी ? संवत् १६०३ मुकाम अजयगढ़। महाराजा माधवसिंह, राजा बख़्तसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे। धार्मिक प्रवृत्ति के कारण आपकी कविताओं में ज्ञान-भक्ति का सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है। धर्म की व्याख्या करते हुए आपने लिखा है :

"जग में धर्म एक धन जानौ
साधवृत्त साधन कौं चाहौ छत्री सूर बखानौ
नारिन कौ इक धर्म पतिव्रत
दान जगत अनुमानौ
स्वाम धर्म सुभ कारज जन को
सोई दृढ़ उर आनौ।
वेद धर्म सागर सम भारी
असमृति सरिता मानौ
आन धर्म पोहर कर लेखौ
माधौ नृप हिय ठानौ"

स्व० राजा श्री चन्द्रभानुसिंह जू देव : बुन्देलखण्ड के गरैली राज्य के शासक राजा श्री चन्द्रभानुसिंह जू देव ने काव्य रचना 'रज' उपनाम से की है। भगवान् राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक श्री 'रज' ने अनेक ग्रन्थों की रचना करके काव्य जगत् में अच्छी ख्याति प्राप्त की। आपके प्रमुख ग्रन्थ ये हैं : (१) प्रेम सतसई (२) नेह-निकुञ्ज (३) भ्रममान।

यहाँ आपकी रचनाओं के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं :

"अरी प्रीति की रीति 'रज', मो पै वनति न कात
रहत स्याम संग बनत नहिं, उन बिन रह्यो न जात
स्याम स्वयं तुम प्रेम हौ, रहत प्रेम बिच आय
'रज' मुनि प्रेमी संग तजि, बसत दूर किमि जाय"

'नेह-निकुञ्ज' में संगृहीत आपके पद बड़े ही सरस हैं।

दीवान कम्मोदसिंह : आप 'बड़ी बड़ौनी' (दतिया)

---

४ यशस्थली ओरछा—श्री मायारानी शील (ओरछा)

के शासक एवं साहित्य प्रेमी थे। साहित्यिक प्रतिभा सम्पन्न यह कवि अल्पायु में ही स्वर्गवासी हुआ। प्राप्त स्फुट छन्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि सरस्वती के सेवक इस नवयुक साहित्यकार में कल्पना और अनुभूति का सरस मिश्रण था। निम्नस्थ छन्द आपकी सरस शैली का परिचायक है :

"जानत हैं पर मानत हैं न,
बिलोकत बार हीं बार निकाई
हौं बहुबार कही तुम सों,
यह हेरन में हिय जात हिराई
रोकत लाल लखे तब ही,
अब निंदत नैनन आतुरताई
आपनौ तौ मन हाथ नहीं,
अँखियान को दोष कहा कहुनाई"

दीवान श्री कम्मोदसिंह जी की धर्मपत्नी श्री राजकुँवरि एक भावुक कवयित्री थीं। आपका 'प्रेम सागर' नामकी ग्रन्थ वस्तुतः एक साहित्यिक रचना है। जिसमें विरह की पीर का मर्मस्पर्शी चित्रण है।

मुझे ज्ञात हुआ है महाराजा मलखान सिंह, विजावर नरेश महाराज भानुप्रताप सिंह, दतिया के महाराजा शत्रुजित सिंह एवं धनरपुर नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने भी कविताएँ लिखीं हैं, जिनमें विशेष रूप से भगवद्भक्ति का ही प्रतिपादन हुआ है। इन काव्य-प्रेमी शासकों की रचनाओं के संग्रह के लिए मैं प्रयत्नशील हूँ। टीकमगढ़ नरेश महेन्द्र महाराजा श्री प्रताप सिंह जू देव की सुपुत्री श्रीमती कमला कुमारी देवी। इनका उपनाम जुगलप्रिया। धन्नपुर के महाराजा विश्वनाथ सिंह जू देव की महारानी थी। आपका जन्म संवत् १९२८ है और संवत् १९७८ में आप स्वर्गवासिनी हुई थीं। आपके पदों में तन्मयता और विरह विह्वलता पूर्णरूपेण विद्यमान् है। इनकी कविता पर मीरा की छाप स्पष्ट है :

"भाई! मोकों जुगल नाम निधि भाई
सुख संपदा जगत् की झूठी आई संग न जाई
लोभी को धन काम न आवै अन्तकाल दुखदाई
जो जोरे धन अधम करम तें सर्वस चले नसाई
कुल के धरम कहा लै कीजै, भक्ति न मन में आई
'जुगलप्रिया' सब तजौ भजौ हरि चरन कमल मन लाई"

पन्ना की महारानी श्री सुजान कुँवरि ने कई ग्रन्थ लिखे हैं। उनका 'रसिक विहार भक्तिप्रधान काव्य है। इसमें समन्वय भावना के द्वारा श्री महावीर ने रामकृष्ण की उपासना का एकत्व दिखाया है। भाषा सरल एवं शैली सरस है :

"चार दिना को नातो मन तू,
निहचें सोच समझ लेरे
ई तन में दुख दुख सुख ही लागों है
जो रह ले तो सह ले रे। मन तू......
अधमन दीन अधीन भई हों
नाम सरन को गहि ले रे। मन तू......
रानी सुजान चेरी रघुवर की
वे ही पार लगा देंय रे।
मन तू निहचे सोच समझ ले रे"

चरखारी की महारानी श्री रूप कुँवारी जी के भजन बुंदेलखण्ड में विशेष लोकप्रिय हैं। आपने भजनों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी उपासना में भगवान् राम और गोपीवल्लभ कृष्ण की प्रधानता है। भजनों में संसार दुःख से पीड़ित भक्त की पुकार है।

"हमारे प्रभु कब मिल हैं घनश्याम
तुम बिन व्याकुल फिरत चहूँ दिशि
मन न लहै विश्राम। हमारे प्रभु...
दिन नहीं चैन रैन नहीं निंदिया
कल न परे वसु याम। हमारे मन...
जैसे मिले प्रभु विप्र सुदामहि
दीन्हें कंचन धाभ। हमारे मन...
रूप कुँवरि रानी शरणागत
पूरण कीजे काम। हमारे प्रभु...

इस प्रकार के विन्ध्य प्रदेश के काव्य प्रेमी नरपतियों की साहित्यिक सेवाओं का इतिहास प्रशस्त है।

दरबार कालेज,
रीवा

—श्रीचन्द्र जैन

सूरदास की राधा

देवताओं के साथ उनकी शक्तिरूपा पत्नियाँ भारतीय उपासना पद्धति की प्राचीन परम्परा है। इसमें त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश मुख्य थे। त्रिदेवों में विष्णु और महेश (शिव) को विशेष महत्व प्रदान किया गया।

विक्रम की पांचवीं शताब्दी में शिव और पार्वती में मानवीय इच्छाओं की कल्पना की गई। धर्म के साथ शृङ्गार का सम्मिश्रण हुआ। साहित्य में शिव और पार्वती नायक नायिका के रूप में ग्रहण कर लिए गए। कालिदास ने 'कुमार संभव' में शिव और पार्वती के शृंगार का वर्णन निःसंकोच भाव से खुल कर किया है। इसके बाद धर्म और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में शिव और पार्वती का व्यापक प्रभुत्व हो गया।

विक्रम की ११ वीं शताब्दी के आस पास दक्षिण में विष्णु भक्ति का पुनरुत्थान हुआ। वह धारा उत्तर की ओर भी आई। इस बार राम और कृष्ण के अवतार स्वरूप विष्णु उपस्थित किए गए।

विष्णु भक्ति के इस पुनरुत्थान में कृष्णोपासना को विशेष प्रधानता प्रदान की गई। चूं कि देवता शिव के साथ शक्ति की परम्परा चल निकलनी थी, अतएव कृष्ण की शक्ति की भी आवश्यकता हुई। प्रथम तो यह स्थान रुक्मिणी सत्यभामा को दिया गया, परन्तु सरसता लाने के विचार से कृष्ण के साथ राधा का समावेश कर दिया गया।

कृष्ण जीवन का सांगोपांग चित्रण सर्वप्रथम 'महाभारत' में मिलता है। 'महाभारत' में श्रीकृष्ण का जीवन अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु वहाँ उनके गोप-जीवन की छाया और उनके अलौकिक कृत्यों की कथा नहीं है। गोप-जीवन के अभाव में राधा और गोपियों का अभाव होना स्वभाविक ही है।

'महाभारत' के पश्चात् हरिवंश, विष्णु पुराण, ब्रह्मपुराण आदि पुराणों की रचना हुई, किन्तु उनमें कहीं भी राधा का उल्लेख नहीं है। पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की लीलाओं का सबसे अधिक वर्णन 'भागवत' पुराण में हुआ। इसके आधार पर 'नारद–भक्ति–सूत्र और शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र'[1] का निर्माण हुआ। इनमें भक्ति का पूर्ण विकास होने पर भी भक्ति की मूर्ति-रूपा राधा का निर्देश नहीं है।

'भागवत' में श्रीकृष्ण के साथ गोपियाँ अवश्य दिखाई देती हैं, परन्तु राधा का नाम कहीं नहीं है। श्रीकृष्ण के साथ रास-विलास करने वाली अनेक गोपियों में राधा का भी होना सम्भव है, किन्तु उनकी सहचरी और एकमात्र प्रेमिका के रूप में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि श्रीकृष्ण के साथ एकान्त में विचरण करने वाली एक गोपी का वर्णन अवश्य है। अन्य गोपियाँ उस गोपी की यह कह कर प्रशंसा करती हैं कि उसने पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण की अवश्य ही आराधना की है, तभी तो वह उन्हें इतनी प्रिय है। इसी आराधना शब्द से संभवतः 'राधा' की उत्पत्ति हुई है। राधा शब्द संस्कृत धातु 'राध्' से बना है जिसका अर्थ 'सेवा करना' अथवा प्रसन्न करना है। अनुमानतः श्रीकृष्ण की आराधना करने वाली अथवा उनको विशेष रूप से प्रसन्न करके प्रिय होने वाली, इस विशिष्ट गोपी को ही आगे चल कर 'राधा' मान लिया गया है।

यद्यपि राधा के उस रूप का, जो रूप हमने आज कल मान रखा है, उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है, तथापि राधा के नाम का नितान्त अभाव न था। 'अमरकोश' में 'विशाखा' नक्षत्र का दूसरा नाम 'राधा' दिया गया है। हाल की 'सप्तशती'[2] में भी एक श्लोक में राधा की चर्चा मिलती है। 'ध्वन्यालोक'[3] में भी एक स्थान पर राधा का उल्लेख मिलता है।

---

[1] रचना-काल ईसा की १० वीं शताब्दी

[2] मुखमारुतेन त्वं कृष्णगोरजो राधिकाया अपनय
एतानां वल्लभीना मन्यासमपि गौरवं हरसि

[3] तेषां गोपवधू विलास सुखिनां राधारहः साक्षिणां
क्षेमः भद्रकलिन्द शैलतनयातीरे लतावेश्यमाम्

धार्मिक ग्रन्थों में 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण में सर्व प्रथम राधा की चर्चा मिलती है।[४] इसके पश्चात् 'गोपालतापनी' उपनिषद् में राधा का वर्णन स्पष्टतया कृष्ण की प्रयसी के रूप में मिलता है। 'गोपालतापनी' उपनिषद् की रचना मध्वाचार्य के 'भाष्य' और अनुख्यान[५] के पश्चात् हुई होगी, क्योंकि मध्वाचार्य ने राधा का उल्लेख नहीं किया है।

वैष्णव आचार्यों में सबसे पहले निम्बार्काचार्य ने राधा की उपासना को महत्व प्रदान किया। उनसे प्रभावित होकर बंगाल के कवि जयदेव ने राधा कृष्ण के विहार से सम्बन्धित 'गीतगोविन्द'[६] की रचना की। जयदेव से विद्यापति प्रभावित हुए। बाद में वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि आचार्यों ने राधा को और भी अधिक व्यापक बना दिया। सारांश यह है कि धार्मिक क्षेत्र में निम्बार्काचार्य को और काव्य-जगत् में जयदेव को राधा की प्रतिष्ठा का श्रेय प्राप्त है।

राधाकृष्ण की भक्ति के प्रसार एवं प्रचार करने वालों में सबसे पहले मध्वाचार्य[७] का नाम आता है, इनके बाद निम्बार्काचार्य और विष्णुस्वामी[८] के सिद्धान्तों ने इस ओर विशेष महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। कृष्ण के साथ राधा की उपासना का समावेश निम्बार्क-सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है। इनके मतानुसार कृष्ण परब्रह्म हैं। उन्हीं से राधा और गोपियों की उत्पत्ति हुई है। सब लोकों से परे गोलोक में कृष्ण के साथ राधा का निवास स्थान है। राधा-कृष्ण के अतिरिक्त निम्बार्काचार्य अन्य किसी देवी देवता को नहीं मानते।

विष्णुस्वामी ने १४ वीं शताब्दी के मध्य में शुद्ध द्वैत की प्रतिष्ठा की थी। श्री वल्लभाचार्य ने आगे चलकर १६ वीं शताब्दी में इसकी पूर्णतया स्थापना की, तथा राधाकृष्ण की उपासना को विशेष बल प्रदान कर दिया।

जयदेव के 'गीतगोविन्द' से मैथिल कोकिल विद्यापति प्रभावित हुए, और उन्हीं के द्वारा हिन्दी साहित्य में राधा-कृष्ण विषयक साहित्य की परम्परा आई। जयदेव तथा विद्यापति दोनों के द्वारा सूरदास भी प्रभावित हुए, तथा कालान्तर में इस साहित्य की इस परंपरा का पूर्ण विकास हुआ। कहना न होगा कि इन भक्त कवियों ने जहाँ राधा-कृष्ण के सम्भोग श्रृंगार सम्बन्धी वर्णन लिखे हैं, वहाँ परोक्ष रूप से कामुकता की गन्ध आ गई है। आगे चल कर रीतिकाल में कृष्ण और राधा को सामान्य नायक-नायिका के रूप में ग्रहण किया जाने लगा और इनसे सम्बन्धित वर्णनों में लौकिक श्रृंगार का प्राधान्य हो गया तथा राधा-कृष्ण विषयक साहित्य किसी हद तक विकृत हो गया। आधुनिक काल में नई-नई मान्यताएँ गृहीत हुई, देश में राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर के साथ देश-प्रेम, देश-सेवा, आत्मोत्सर्ग आदि की भावनाओं का जन्म हुआ। राधा के रूप में भी परिवर्तन हुआ। 'हरिऔध' के 'प्रिय-प्रवास' में राधा को विश्व-प्रेमिका और लोक सेविका महिला (कृष्ण की प्रेमिका) के रूप में चित्रित किया गया है।

राधा के विकास की इस पृष्ठभूमि में अब हमें यह देखना है कि सूरदास ने राधा को किस रूप में ग्रहण किया है।

जयदेव से प्रभावित होकर हिन्दी में गीत-काव्य शैली पर पद साहित्य में भक्तिपूर्ण श्रृंगारिक रचना प्रारम्भ करने का श्रेय विद्यापति को है। विद्यापति ने राधा को कृष्ण की परकीया के रूप में चित्रित किया है। उनके वर्णनों में वासना का संयोग स्पष्ट है। यथा :

"थर थरि कांपल लहु लहु भास
लाजे न बचन करमे परकास
आज घनि पेखल बड़ विपरीत
छन अनुमति छन मानइ भीत
सुरतक नामे मुंदइ दुइ आंखी,
या ओल मदन महोदधि साखी
चुम्बन बेरि करइ मुख बंका,
मिललह चांद सरोसह अंका
निविबंध परस चमकि उठि गोरी,
जानल मदन भंडारक चोरी"

सूरदास ने राधा को स्वकीया नायिका के रूप में ग्रहण किया है। वे भी जयदेव तथा विद्यापति से प्रभावित थे, अतः उनके द्वारा किए गए श्रृंगार वर्णन में भी

---

[४] रचनाकाल ईसा की १० वीं शताब्दी। [५] यह ग्रन्थ राधा सम्प्रदाय वालों को बहुत मान्य है। [६] यह ग्रन्थ संस्कृत में है। [७] समय १३ वीं शताब्दी। [८] समय १४ वीं शताब्दी।

वासना की गन्ध आ गई है ।

वल्लभ-संप्रदाय के अन्तर्गत रस-रूप ईश्वर की आदि रस-शक्ति और भक्ति में सिद्ध भक्ता, ये दो रूप राधा नाम की गोपी के हैं। सूरदास ने राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष कहा है—

"ब्रजहि बसे आपहु बिसरायो
प्रकृति पुरुष एकै करि जानों बातनि भेद करायो
जल थल जहँाँ रहो तुम बिन नहिं भेद उपनिषद गायो
× × ×
ब्रह्मरूप द्वितीया नहिं कोई तब मन त्रिया जनाओ
(दशम स्कन्ध)

एक अन्य पद में उन्होंने राधा को भगवान् की जगत्-उत्पादिका शक्ति कहा है और इस शक्ति-स्वरूपा राधा की कृष्ण-भक्ति पाने के लिए कई स्थलों पर वन्दना की है। यथा—

नीलांबर पहिरे वनु भामिनि जनु घन में दमकत है दामिनी
× × ×
जग नायक जगदीश पियारी जगत जननि नगरानी
नित बिहार गोपाल लाल संग वृन्दावन रजधानी
× × ×
अशरण शरनी भव भय हरनी वेद पुरान बखानी
× × ×
कृष्ण भक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहारी
(दशम स्कन्ध)

सूरदास ने राधा को अनन्य पूर्वा स्वकीया नायिका के रूप में चित्रित किया है, उन्होंने रास के आरम्भ में ही राधा और कृष्ण विवाह करा दिया है। यथा—

"जाको व्यास वर्णित रास
है गन्धर्व विवाह चित दै सुनों विविध विलास
कियो प्रथम कुमारि यह व्रत धर्यो हृदय निवास
नन्द सुत पति देव देवी पूजैं मन की आस"
(दशम स्कन्ध)

जैसा कि हम अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं कि विभिन्न प्रभावों के कारण सूरदास द्वारा किए गए राधा-कृष्ण के श्रृंगार वर्णन भी यथास्थान वासनामय हो गए हैं उन्होंने कृष्ण के साथ राधा का नाम जोड़ा तो इसलिए था कि उनके वर्णन सरस एवं मार्मिक बन जाएँ, परन्तु समय के प्रभाव के कारण उनके श्रृंगार-वर्णन भी बाल-क्रीड़ा-कौतुक की परिधि का उल्लंघन कर गए। यथा—

"नीबी ललित गही हरि राई
जबहिं सरोज धरो श्रीफल पर तब जसुमति गइ आई
तत छन रुदन करत मन मोहन मन में बुधि उपजाई
देखो डीठ देत नहि माता राखी गेंद चुराई
काहे को धकधोरत नोखे, चलहु न देउ बताई
देखि विनोद बालसुत की, तब महरि चली मुसकाई
'सूरदास' के प्रभु की लीला को जाने इहि भाई"

तथा

"विविलोचन सुविमाल दोउन के
चितवन चित्त हरे
भामिनि मिले परम सुख पायो
मंगल प्रथम करे
करसों करज करयो कंचन ज्यों
अम्बुज उरज धरे
आलिंगन दे अधर पान कर
खंजन खंज लरे
हठ करि मान कियो नव भासिनी
तय गहि पांइ परे
ले गए पुलिन मध्य कालिन्दी
रस बस अनंग अरे
पुहुप मंजरी मुक्तनि माला
अंग अनुराग भरे
सुरति नाद मुख बेनु सुधा सुनि
तप अनताप हरे"

कहीं कहीं तो सूरदास ने जयदेव के छन्दों का रूपान्तर मात्र ही कर डाला है। वस्तुतः ऐसे ही छन्दों में वासना की विशेष गन्ध आ गई है।

गगन गरजि घहराइ जुटी घटा कारी
× × ×
"कहौ वृषभानु की कुँवरि सो बौलि कै
राधिका कान्ह घर लिए जारी
दौड़ घर जाहु संग, नभ भयो स्याम रंग
कुँवर गह्यो वृषभान बारी

गय बनघन ओर, नवल नन्द किशोर
नवल राधा नए कुंज भारी
अंग पुलकित भए, मदन तिन तन जए
सूर प्रभु स्याम विहारी"

सूरदास का यह छन्द 'गीतगोविन्द' के निम्न लिखित मंगलाचरण का छायानुवाद सा प्रतीत होता है :

"मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय
इत्थं नन्दनिर्देशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः"

सूरदास के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से समझ लेनी चाहिए। वह अश्लीलता के वर्णन के अभिप्राय से काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त नहीं हुए। उनकी काव्य रचना का उद्देश्य भगवान् के लीला माधुर्य का आस्वादन करना और कराना था। उनके वर्णनों में यदि कहीं मर्यादा का अतिक्रमण हो गया है, तो हम इसे केवल काल और उनकी परिस्थितियों का प्रभाव ही कहेंगे।

शीतला गली,
आगरा

—डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

राजाओं की सनक

बड़े आदमियों, लेखकों, कवियों और राजा महराजाओं के स्वभाव में कुछ-न-कुछ विचित्रता होती है। अंग्रेज़ी में इसे 'ईडिओसिनक्रेसी' कहते हैं। कहते हैं। हिन्दी में इसे हम 'सनक' कह सकते हैं।

छतरपुर के भूतपूर्व राजा स्व. श्री विश्वनाथ सिंह जी की एक अजीब सनक थी और यह सनक ही उनकी शान थी। उनकी आयु लगभग साठ वर्ष की थी। वे एक कुरते को केवल एक बार ही पहनते थे। जिस कुरते को उन्होंने उतार दिया फिर वे उसे नहीं पहनते थे। सिर्फ़ इतना ही नहीं, वे कुरते को गले से न उतार कर उसे फाड कर उतारते थे। इस प्रकार प्रतिदिन वे एक नया कुरता पहनते थे और जब वे उसे उतारते थे तो उसे फाड देते थे।

उनकी एक और विचित्र आदत थी। जब बादल गरजते तो वे कई बोरे नारियल फुड़वा डालते। उनका विश्वास था कि इस प्रकार करने से बिजली महल पर नहीं गिरेगी।

जब महल में रास होता तो वे भी नृत्य करते। वे नृत्य करते समय स्त्रियों की पोशाक पहन लेते और रास में नृत्य करते। उनकी ६० वर्ष की आयु में इस प्रकार नृत्य करना विचित्र-सा प्रतीत होता था परन्तु उन्हें इसी में आनन्द अनुभव होता था।

"धर्मयुग" से

—शक्तिप्रताप परमार 'पंकज'

ख़ाक और ख़मीर

पात्र परिचय

सुमन : एक लेखक। आयु ३५ वर्ष
कल्पना : सुमन की पत्नी। आयु २७ वर्ष
अमृतलाल : कल्पना का चचेरा भाई। आयु ३२ वर्ष
अनिलकुमार : सुमन का लड़का। आयु ५ वर्ष
सुनिता : सुमन की लड़की। आयु २ वर्ष
आया, रसोइया और नौकर

स्थान : लखनऊ में सुमन की कोठी

समय : फरवरी की एक रात के साढ़े आठ बजे

[उच्च मध्य-वर्ग की बस्ती में इस कोठी की सुसज्जित बैठक के दो द्वार हैं। सामने का द्वार बाहर के बरामदे में खुलता है और दाहिनी ओर का अन्दर की गैलरी में और इसके ठीक सामने शयन-कक्ष का द्वार है। शयन-कक्ष की बगल में डाइनिंग कमरा है जिसका एक द्वार गैलरी में खुलता है और दूसरा शयन कक्ष में। तीनों द्वारों पर हलके नीले रंग के पर्दे लगे हैं। बैठक के सामने की दीवार में बिजली से चलने वाली गोल घड़ी है और नीचे अंगीठी है जिसकी कार्निस पर बीच में ताज़े फूलों से भरा हुआ फूलदान है, बाईं ओर के एक फ़ोटो में सुमन, कल्पना और उनके बीच अनिल बैठा है। दाईं ओर फ़ोटो में सुमन एक समारोह में स्वास्थ्य मन्त्री के हाथों से स्वर्ण पदक ग्रहण कर रहा है। इसी दीवार की बाईं ओर कोने में एक मेज़ पर रेडियोग्राम रखा है और दाईं ओर दीवार से सटा हुआ एक बड़ा सा लकड़ी का रैक है जिसमें सुन्दर जिल्दवाली पुस्तकें क़रीने से रखी हैं। रैक के ऊपर बीच में शिव की तांडव मुद्रा में कांसे की प्रतिमा है जिसके अगल-बगल प्रेमचन्द और टागोर के चित्र रखे हैं। दाहिनी और बाइं दीवारों से लगे हुए आधुनिक ढंग के दो सोफ़ा सेट पड़े हैं। बीच में एक सुन्दर गोल मेज़ है जिस पर ऐश ट्रे पड़ी है। दीवारों पर प्राकृतिक दृश्यों के चित्र टंगे हैं।

पर्दा उठते समय अमृतलाल बाहर का फाटक खोल रहा होता है। वह दुबला-पतला एकहरे शरीर का युवक है। विशाल तेजस्वी मस्तक, सतेज नेत्र और संगतरे की फांक की तरह नाक। रंग सांवला और बाल कुछ बड़े और रूखे। श्वेत कैम्ब्रिक का कुरता, लट्ठे का पाजामा; कुरते पर गरम जवाहर बण्डी और ऊपर साधारण गरम शाल। पैरों में गांधी चप्पल और हाथ में चमड़े का पुराना-सा थैला जो काग़ज़-पत्रों से फूला हुआ है।]

कल्पना : (फाटक के खुलने की चरमराहट सुन कर शयन-कक्ष से बरामदे में आती है और वहीं से फाटक की ओर आश्चर्य से घूर कर देखती हुई) कौन?

अमृत : (फाटक को अन्दर से बन्द करते हुए कल्पना के ही स्वर में) मैं मौन।

(कल्पना आँखें छोटी कर अमृत की पीठ को विटर विटर देखती है।)

अमृत : (कल्पना की ओर दो तीन क़दम चल कर) हाँ भई अब आप लोग हमें काहे को और कैसे पहचान पाओगे? आप विचरें आकाश में और मैं ठहरा धरती का प्राणी। मेल...

कल्पना : (पहचान कर हर्ष से दौड़ते हुए) अरे...रे...रे...रे..., भैया आ गए। (पास जाकर) क्षमा करना, आप का आना तो एकदम...

अमृत : (झट से कल्पना का वाक्य पूरा करते हुए) अवांछनीय है। हैं न?

कल्पना : (हँसते हुए अमृत के गले लिपट कर) नहीं, नहीं, नहीं...मैं कह रही थी एकदम; अकस्मात. बिलकुल अन्एक्सपैक्टेड।

अमृत : (स्नेह से कल्पना की पीठ सहलाते हुए) मानों चींटियों के घर नारायण पधारे हों, हैं?

कल्पना : (ठहाका मार कर अमृत को अपने आलिंगन से छोड़ते हुए) बिलकुल, बिलकुल।

अमृत : केवल तुम्हारे लिए (सहसा कोई घटना स्मरण कर फुसफुसाते हुए) जीजा जी अन्दर ही हैं न?

कल्पना : (अमृत के हाथ से बैग लेने का उपक्रम करते हुए व्यंग्य स्वर में) हुंह, इतने सवेरे! अभी न ग्यारह बजे हैं और न बारह।

अमृत : (कल्पना का हाथ रोकते हुए आश्चर्य से) क्यों ? हर रोज़ वे इतनी देर से घर लौटते हैं ? (आगे बढ़ता है ।)

कल्पना : (पूर्ववत् स्वर में) बहुत व्यस्त व्यक्ति हैं । पता भी है अब वे स्टेशन डाइरेक्टर हैं, कोई मामूली आदमी थोड़े ही हैं ।

अमृत : (विनय प्रदर्शन करने का अभिनय करते हुए) सो तो इस खाकसार को कल ही मालूम हो गया था, पर...

कल्पना : वह कैसे ?

अमृत : (आश्वासन देने के स्वर में) बताऊँगा, बताऊँगा । पर कल्पना वे हर रोज़ इतनी देर से आते हैं ? भई कुछ तो हद होनी चाहिए । यह भी...

कल्पना : हद और लेखक ! आप भी कमाल करते हैं । भैया जी, लेखक किसी हद को स्वीकार नहीं करता । वह सब हदबन्दियों से परे है ।

अमृत : या यों कहिए कि लेखक एक बेनकेल ऊँट है, या फिर सरकारी सांड जिस खेत में जी चाहा मुँह मार लिया । इसे किसी कांजी हाउस का भय नही ।

(कल्पना अट्टहास करती है और अमृत के होठों पर व्यापक मुस्कराहट फैल जाती है ।)

अमृत : (प्रशंसा की याचना के भाव में) क्यों ग़लत कहा है ?

कल्पना : सवा सोलह आने ठीक । आप भी तो आखिर लेखक ठहरे न ?

अमृत : क्षमा कीजिएगा । मैं निम्न स्तर का एक प्रूफ़ रीडर हूँ । हाँ एमेच्योर एवं इम्मेच्योर लेखक भी अवश्य हूँ; या दूसरे शब्दों में एक क़लम-घसीट ।

(वे बरामदे में पहुँच जाते हैं, उसी समय डाइनिंग कमरे से अनिल कुमार तौलिए से हाथ पोंछता निकलता है ।)

कल्पना : (अनिल की ओर उन्मुख होकर, लाड़ के स्वर में) अनिल बेटे ! मामू जी आ...(किंचित् चौंक कर) अंकल आए हैं । (दाहिना हाथ अनिल की ओर फैलाए हुए बाईं ओर अमृत को सम्बोधित करते हुए) सैंट मैथ्यू स्कूल में पढ़ता है जहाँ हिन्दी अभी तक निषिद्ध भाषा है । मैं तो अब एक हिन्दी का मास्टर लगाऊँगी या स्वयं...

अनिल : (अमृत पर एक दृष्टि-भर डाल कर सीधा माँ की टाँगों से चिमट कर) ममी...ई...ई...ई ।

कल्पना : देखा ! बस ममी, डैडी ही इसे सिखाया गया है ।

अमृत : (अनिल की ओर बाहें फैलाते हुए) आओ मेरे पास नेफ़्यु सहिब । दो साल में मुझे भुला दिया ? (अनिल को पकड़ने की चेष्टा करता है, परन्तु अनिल भाग कर शयन-कक्ष की ओर भाग जाता है और अन्दर आया के पास जा खड़ा होता है । अमृत भी उसके पीछे पीछे जाता है । शयन-कक्ष में आया बेबी-कॉट में सुनीता को थपक थपक और लोरी गुनगुनाते हुए सुला रही है ।

अमृत : (चौंक कर) अ...हैं । यह नवागन्तुक कब से ?

कल्पना : (ज़रा लजाते हुए) नवागन्तुक नहीं, नवागन्तुका । आप बम्बई गए और यह पधारीं ।

अमृत : (बेबी-कॉट पर झुक कर) निरी तुम्हारा अवतार है । पतली काना-सी । पहले तो सुमन जी भी पतले-पतले हुआ करते थे, पर कल मैंने देखा, अब तो पहलवान-से लगते हैं ।

कल्पना : (खीसें निपोर कर) कहाँ मिले वे आप से ?

अमृत : दबे पाओं कमरे से बाहर जाते हुए धीमे स्वर में) अरे मिले कहाँ थे, देखे थे बस ।

कल्पना : (उत्सुकता से) पर कहाँ ?

अमृत : हेली हाल में एक नाटक गोष्ठी में । देश के विभिन्न भागों से आए हुए नाटककारों का अच्छा खासा जमाव था.. तुम जानती हो न साहित्य में थोड़ी बहुत टाँग मैं भी अड़ाता हूँ । सो हम भी वहाँ पहुँच गए । एक...

कल्पना : आप डेलीगेट हो कर आए हैं ?

अमृत : कृत्रिम ढंग से (कुढ़ कर) अरे नहीं । मैं तो आल इंडिया प्रेस वरकर्ज़ फ़ेडरेशन के सम्मेलन में भाग लेने आया हूँ ।

कल्पना : (आश्चर्य से) अरे हाँ पेपर में पढ़ा था । पर वह तो दो तीन दिन से चल रहा है ! और आप ने आज दर्शन दिया ।

अमृत : सच कहता हूँ कल्पना, सिर खुजलाने की भी फ़ुरसत नहीं थी । नाटक गोष्ठी में तभी जा सका जब हमारा सम्मेलन समाप्त हो गया । पहले कैसे

जा सकता था (ज़रा अकड़ कर अपने सीने की ओर दाँए हाथ के अंगूठे से संकेत करते हुए) बम्बई कमेटी का सेक्रेटरी जो ठहरा।

कल्पना : (बैठक में सोफ़े की कुर्सी पर बैठते हुए) अच्छा तो उनसे मिलने...नहीं, देखने की बात कर रहे थे।

अमृत : (बैठ कर इधर देखते हुए) हाँ तो कह रहा था...वहाँ एक कोने में मैं भी जा बैठा। कुछ देर बाद मैंने देखा कि जीजा जी मेरे आगे दो-तीन कुर्सियाँ छोड़ कर विराज रहे हैं। उन के अगल-बगल कुर्सियाँ ख़ाली थीं। उन्हें देखते ही मैं उत्सुकता से उठा और उन के पास जा कर बैठ गया। मैंने दबी आवाज़ में उन का अभिवादन किया। जब मैंने उन्हें बताया कि मैं आल इण्डिया प्रेस वरकर्ज़ कांग्रेस में भाग लेने आया हूँ तो वह सुन कर घबरा गए। मैंने देखा उनका चेहरा एक दम उतर गया था और वे कुछ उखड़े से लग रहे थे। मेरी आँखे बचा कर कौए की नाईं इधर-उधर सतर्क और भयभीत नेत्रों से देखने लगे। अन्त में मेरे से पीछा छुड़ाने के लिए वे यह कह कर वहाँ से खिसक गए—'अच्छा मेरा एक बड़ा ज़रूरी काम है; आओगे न आप घर पर ? वहीं मिलेंगे।' बहुत कुछ तो मैं समझ गया था उन के इस व्यवहार से, परन्तु फिर भी उन के इस विलक्षण बरताव का कारण पूरी तरह न समझ पाया। बाद में एक मित्र द्वारा ज्ञात हुआ कि श्रीमान् जी स्टेशन डायरेक्टर हो गए हैं। (सिर हिला-हिला कर) तब समझा जा कर असली कारण। (गम्भीर हो कर) स्पष्ट है वे वहाँ बैठे कई सरकारी अधिकारियों और विशेष कर श्वेत कपड़ों में सी. आई. डी. के आदमियों के सामने मेरे साथ अपने सम्बन्ध...नहीं-नहीं जान-पहचान तक प्रकट नहीं होने देना चाहिए थे। (चुप हो कर सिर नीचा कर लेता है।)

कल्पना : (चिन्तित होकर गोल-मेज के एक पाए को टिकटिकी लगाए देखते हुए) हूँ ऊँ...ऊँ।

(क्षण भर के लिए कमरे में निस्तब्धता छा जाती है)

अमृत : (दुःख के भाव से) पहले सोचा आप लोगों से मिले बिना वापस चला जाऊँ। फिर ख़याल आया, तुम बहुत नाराज़ होओगी और फिर तुम्हें मिले दो वर्ष भी तो हो गए हैं, स्वयं भी तुम्हें मिलने का मोह न तज सका।

कल्पना : (लज्जा से कोनों तक लाल होते हुए) क्या कहूँ भैया ! यह उलाहना भी सुनना बाकी रह गया था। (हाथों से तोते उड़ाने का अभिनय कर कन्धे उचकाते हुए) पता नहीं और क्या-क्या देखना सुनना पड़ेगा।...ओफ़ ! पद और लक्ष्मी के मोह ने उन्हें क्या से क्या कर छोड़ा है। अपने सम्बन्धियों से भी भय और घृणा। (दोनों हथेलियों में माथा टिकाते हुए) हे राम ये दिन देखने भी भाग्य में लिखे थे !

अमृत : (सहानुभूति से अभिभूत होकर) उनमें यह परिवर्तन आया कब से ? पहले तो वे ऐसे कदापि...

कल्पना : (घृणा से नाक सिकोड़ते हुए) जब से जीविका के लिए ट्यूशनें करना छोड़ कर निगोड़े रेडियो की नौकरी ग्रहण की है। दिन-प्रति-दिन बस पतन की ओर ही बहते चले जा रहे हैं। यह मुई कुर्सी होती ही ऐसी है।

अमृत : (मुस्कराते हुए) इसमें कुर्सी या कुर्सी भेंट करने वाले का क्या दोष है ? यह तो स्वयं हर व्यक्ति को देखना चाहिए कि किस प्रकार की कुर्सी पर बैठने से उसकी मानस-उन्नति में बाधा नहीं पड़ती। आख़िर मैं भी तो एक कुर्सी पर ही बैठ कर प्रूफ़ पढ़ता हूँ।...और कभी-कभार लिखता...

कल्पना : आपकी और बात है।

अमृत : क्यों ? मेरी क्या और बात है ? मुझे कोई सुरख़ाब के पर थोड़े ही लगे हैं। हाँ अन्तर केवल इतना है कि मैं रूखी-सूखी खा कर भी अपनी सृजनात्मक शक्ति को यदि उन्नत न भी कर पाऊँ, कम से कम इसे जीवित रखना अवश्य चाहता हूँ। (एकाएक गम्भीर मुख-मुद्रा से) कल्पना यह बड़ नहीं हाँक रहा कि अनेक बार मुझे भी एक ऐसी ही कुर्सी की आफ़र होती रही है जिसमें बैठते ही अमृतलाल की मृत्यु हो जाती; हाँ अमृतलाल लेखक की। पर यह भी सत्य है कि (हाथ फैला कर कमरे की चारों ओर संकेत करते हुए) मैं इस ठाट-बाट से वंचित हूँ; परन्तु सच जानो कल्पना, मुझे ज़रा भर अफ़सोस नहीं इस अभाव का। मैं........

कल्पना : (प्रशंसा के स्वर में) वह तो जानती हूँ। मैं धर्म से कहती हूँ कि हम से कोई यह ठाट-बाट ले ले और हमें पहले सा आनन्द दिला दे। आह ! क्या दिन थे वे ! घर में प्रेम की गंगा बह रही थी......और अब

घर मरुभूमि के समान है। वे तो रहते ही आफ़िस में या होटलों में हैं। (निःश्वास छोड़ती है)

अमृत : शायद ऐसे ही लोगों के लिए स्वर्गीय अकबर इलाहाबादी कह गए हैं : "रहे होटलों में मरे हस्पताल में।"

कल्पना : (दृढ़ अनुमोदन के स्वर में) बिलकुल ऐसे ही लोगों के लिए।

नौकर : (अन्दर झांकते हुए) बीबी जी खाना तैयार है।

कल्पना : (अन्यमनस्कता पूर्वक) अच्छा।

अमृत : (घड़ी को देख कर उठते हुए) अच्छा अब मैं जाता हूँ।

कल्पना : (आग्रह पूर्ण स्वर में) ठहरिए, अभी आए और अभी चल दिए। अब खाना खा कर ही जाइएगा......रात यहीं ठहरना होगा।

अमृत : नहीं नहीं, एक प्रेस वर्कर के यहाँ खाने जाना है...(चलकर कार्निस के पास जाकर खड़ा हो जाता है और क्षण भर कार्निस पर दाईं ओर रखे फ़ोटो पर आँख गाड़ते हुए) यह कब का फ़ोटो है?

कल्पना : (उपेक्षित भाव में) हां है यह भी एक स्मृति फ़ोटो।

अमृत : हैं...एँ...एँ? कैसा फ़ोटो?

कल्पना : (पूर्ववत् भाव में ही) वे स्वास्थ्य मन्त्री के हाथों विश्व स्वास्थ्य संघ का पुरस्कार ग्रहण कर रहे हैं।

अमृत : किस बात का पुरस्कार?

कल्पना : सन्ततिनिरोध के पक्ष में लिखे एक नाटक पर।

अमृत : (भौंह चढ़ा कर तिरछी मुस्कान से) आपको क्या आपत्ति है इसमें?

कल्पना : (आवेश में) मुझे, मुझे सख़्त आपत्ति है। कहने और करने में धरती और आकाश के अन्तर को मैं नैतिक पतन समझती हूँ।

अमृत : (जान-बूझ कर बात कुरेदते हुए) आपका मतलब नहीं समझा।

कल्पना : मतलब नहीं समझे? आप भी तो लेखक हैं।

अमृत : (कृत्रिम ढंग से आँखें झपकाते हुए) सच नहीं समझा।

कल्पना : यही कि कई बार वे मेरे सामने सन्ततिनिरोध आन्दोलन का मज़ाक़ उड़ा चुके हैं। वे कहा करते हैं 'यह माल्थस थ्यूरी साम्राज्यवादियों और पूंजीपतियों की घड़ी हुई है।

अमृत : आप भी इस आन्दोलन के विरुद्ध है?

कल्पना : मैं इस विषय में गान्धी जी की अनुयायी हूँ। पर मैं तो इनके पुरस्कार लेने को एक दूसरे ढंग से सोचती हूँ। यह ठीक है कि पुरस्कार और पदक लेना कोई बुराई नहीं। लेकिन देखना तो यह है कि किस मोल पर यह प्राप्त किया गया है।

अमृत : (अनुमोदन में सिर हिला हिला कर) हूँ। तुम तो बड़ी सयानी हो गई हो कल्पना। तुम बिलकुल सही कह रही हो। तुम्हारे इन्हीं विचारों को कवि इक़बाल ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

"वफ़ादारी बशर्ते उस्त वारी ऐन ईमाँ है
मरे बुतख़ाना में तो गाढ़ दो काबा में बिरहमन को"

कल्पना : (गर्व और हर्ष के मिश्रित भाव से) क्या अर्थ है इन पंक्तियों का?

अमृत : सरल भाषा में यही कि सच्चे मन से वफ़ादारी ही धर्म है, कवि कहता है कि ऐसी वफ़ादारी रखने वाला ब्राह्मण यदि मर जाए तो वह काबे में गाड़ने के योग्य है। अर्थात् बात सच्चे दिल की है।

कल्पना : बिलकुल, बिलकुल। इसी बात पर मेरा इन से झगड़ा रहता है।

अमृत : अच्छा करती हो। इसी संघर्ष को जारी रखो। अभी वे नए नए पथ-भ्रष्ट हुए हैं।...शायद तुम्हें सफलता मिल ही जाए। (कुर्सी पर बैठ जाता है)

कल्पना : नहीं, उनमें एक बात मैं बराबर देख रही हूँ। उनके मस्तिष्क में एक अन्तर्द्वंद्व चल रहा है जिसके कारण वे कभी-कभी बहुत क्लेश अनुभव करते हैं।

अमृत : मेरा भी यही विचार है। वास्तव में वे अपराधी नहीं, वे बीमार हैं। बीमारी, सन्निपात में रोगी क्या कुछ नहीं करता। वह नहीं जानता कौन-सा काम उसके लिए हितकर है और कौन-सा हानिकर। इस तरह वह हमारी सहानुभूति का पात्र है। इसीलिए उन पर क्रोध करने, क्षुब्ध होकर उनकी कड़ी भर्त्सना करने से भी कोई विशेष लाभ नहीं।

कल्पना : आप सत्य कहते हैं वे लोग विवश हैं।

अमृत : खैर मैं इतनी हद तक आप से सहमत नहीं। मैं मानता हूँ कि वे बीमार हैं पर मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं कि वे विवश हैं। आखिर विवशता किस बात की? कौन उन्हें मजबूर करता है? मत जाएँ ऐसी नौकरियों में जहाँ उन्हें रचना के अपने शाश्वत सिद्धान्तों को किसी भी मूल्य पर तिलांजलि देनी पड़ती है। किसने लीला जी को विवश कर दिया कि वे इस प्रकार अपनी रचना शक्ति का दुरुपयोग करें? आखिर यह ठाठ-बाट कहाँ से हो? मैं तो इसे सांसारिक सुख-सुविधा का लोभ कहूँगा। ओफ़! इस लोभ में वे कितने पंगु हो गए हैं। विदेशी शासन के दिनों में उन्होंने कितने कष्ट झेले हैं। अपने देश, अपनी क़लम की रक्षा में अनेक त्याग किए हैं, अपने देशवासियों के कन्धे से कन्धा मिला कर संघर्ष किया है; जेल गए हैं, भूखों मरे। लेकिन उन्होंने अपने ईमान का, अपनी रचनात्मक शक्ति का व्यापार करना, जनता के दुश्मनों के सामने अपना मस्तक नीचा करना, अथवा रचना की अपनी स्वतंत्रता को त्यागना स्वीकार नहीं किया। नौकरी अथवा अपनी रचनात्मक स्वतन्त्रता का उनके सामने कई बार प्रश्न आया। लेकिन वे नहीं डगमगाए। समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में उन्हें कभी हिचकिचाहट नहीं हुई। उन्होंने थोथी सद्य प्रतिष्ठा और भौतिक सुखों के लिए अपने को राजनीतिज्ञों के दुष्प्रभाव से कलुषित नहीं होने दिया और अपने प्राचीन गौरव का अस्तित्व बनाए रखा।...मैं कैसे कह सकता हूँ कि वे कायर हो गए हैं। स्वयं जीजा जी के उच्च और सादा जीवन के उदाहरण ने मुझे एक समय शक्ति प्रदान की थी। और अब......(घड़ी को देख कर) अरे...रे...रे, बहुत देर हुई जा रही है। प्रवचन की लहर में बह गया। (फिर उठ खड़ा होता है)

कल्पना : (विचार निमग्न मुख मुद्रा लेकर उठते हुए) नहीं आप का प्रवचन एक ठोस यथार्थ है। इसका एक-एक अक्षर सत्य है। पर मैं फिर भी कह सकती हूँ कि विशेष कर ये इन दिनों बड़े परेशान रहते हैं। एक तो उनका सरकार के साथ एक पुस्तक के छपने पर झगड़ा चल रहा है और......

अमृत : (बात काट कर) कैसी पुस्तक? झगड़ा कैसा?

कल्कना : आप जानते हैं कि कुछ सालों से लिखा ही नहीं। अगर लिखा है तो...प्रापे...

अमृत : प्रचारात्मक साहित्य।

कल्पना : हाँ...। पर वे भी अपने अन्तःकरण और विचारों के प्रतिकूल।...फिर मेरे बहुत कोसते रहने पर उन्होंने एक उपन्यास लिखा। तीन-चार महीने से तैय्यार पड़ा है छपने के लिए। अब सरकार ने इस में काट-छाँट करने को कहा है। बात चल रही है।...

अमृत : (कौतूहल से) विषय क्या है उपन्यास का?

कल्पना : पूरी तरह तो नहीं जानती...कुछ... (सहसा बाहर मोटर के हार्न बजने की आवाज़ आती है।) शायद वे आ गए। वे स्वयं बताएँगे। (लपक कर बाहर जाती है,)

(अमृत भी कुछ अनमना-सा कल्पना के पीछे-पीछे आता है और बरामदे में आकर ठहर जाता है। उधर नौकर दौड़ कर फाटक खोलता है और मोटर अन्दर बरामदे के सामने प्रांगण में आकर रुकती है। ख़ाकी वर्दी पहने ड्राइवर बाहर निकल कर पिछली सीट का दरवाजा खोलता है जिससे सुमन निकलता दिखाई देता है। सुमन हृष्ट-पुष्ट, गोरा-चिट्टा रंग, बाल घुंघराले, कद दरम्याना। वे करघे का तैय्यार किया हुआ ऊनी कपड़े का बन्द गले का कोट और पतलून पहने है। पाँव में पेशावरी चप्पल। मदिरा में धुत्त, चेहरा तिमतिमाया हुआ, मुँह में पान। कल्पना पास आ पहुँचती है। ड्राइवर सुमन को बाँह से पकड़ कर ले जाना चाहता है पर सुमन प्रतिरोध करता है।)

सुमन : (ड्राइवर से बाँह छुड़ाते हुआ फटे बाँस के-से स्वर में) हटो भी...मैं स्वयं जा सकता हूँ। ड्राइवर परे हट जाता है। सुमन जब लड़खड़ाने लगता है तो कल्पना उसकी बाँह थाम लेती है.।)

अमृत : (बरामदे में खड़े-खड़े स्वतः) बाप रे बाप। क्या हालत बना रखी है स्वतंत्र भारत के प्रख्यात लेखक ने। (तिरस्कार पूर्ण मुस्कान की वक्रता होंठो पर फैल जाती है।)

कल्पना : (हतप्रभ और बौखला कर) इनका मोटर साईकिल बाबू बाँके बिहारीलाल के ही हाँ पड़ा है?

ड्राइवर : जी। मैं सुबह पहुँचा जाऊँगा।

(कल्पना चुप हो जाती है। ड्राइवर मोटर वापस ले जाता है।)

सुमन : (लड़खड़ाता हुआ गुनगुनाता है) ज़िन्दगी... ई...ई...ई ख़्वाब है......ख़्वाब में झूठ क्या—और भला सच है क्या ?......(बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ कर एकाएक अमृत को देख कर) हैं ? तुम यहाँ भी आगए ? तुम मेरा पीछा नहीं छोड़ोगे, (अमृत के निकट आकर स्वप्निल आँखें उस पर गाढ़ कर तर्जनी उसके आगे नचाते हुए) मेरा तुम लोगों से क्या सम्बन्ध है ? जाओ...ओ...ओ। ही, ही, ही।

कल्पना : (लज्जा और रोष से लाल अंगारा होकर) चलो चलो अन्दर।

(नौकर और कल्पना सुमन को बिस्तरे पर लिटाते हैं पर वह फिर उद्विग्नता से उठ बैठता है और क्षण भर बाद छाती मलते हुए, पीकदान में मुँह से पानी थूकता है)

सुमन : (अमृत को सम्बोधित करते हुए अस्फुट स्वर में) तुम अपने आपको एक महान् लेखक समझते हो। हैं न ? हूँ।

कल्पना : (धीरे से केवल अमृत को सुनाने के लिए) आप स्वयं ही तो उस दिन 'अजन्ता' में छपी इनकी कहानी की खूब प्रशंसा कर रहे थे।

अमृत : कौन सी कहानी ?

कल्पना : यह तो मुझे याद नहीं। यह कह रहे थे : "प्रतिभावान् है आपका भाई। बड़ी पैनी दृष्टि है इस साले की। पाठक तलमला उठता है उनके व्यंग की कटुता से।"

अमृत : पर वह कहानी तो स्वयं इन जैसे लेखकों के विरुद्ध बैठती है।

कल्पना : इस से भी मेरी बात की पुष्टि होती है कि इनके अन्दर द्वन्द्व चल रहा है।

अमृत : (सहमती में सिर हलाते हुए हूँ।

सुमन : (हड़बड़ा कर उठता है और एक हाथ से छाती मलते हुए थूकने के बाद) हाय, जी मचलता है।

अमृत : (कल्पना की ओर देखते हुए) कोई खट्टी वस्तु इन्हें चाहिए।...निम्बू है ?

(नौकर निम्बू लेने जाता है। पर उसके लौट कर आने से पहले सुमन हो हो करता दरी पर ही क़ै कर देता है।)

सुमन : (विस्मित हो कर) अरे...ए...ए...

कल्पना : (शीत स्वभाव से) घबराइए मत। यह कोई नई बात नहीं।

(दोनों सुमन को बिस्तर पर लिटा देते हैं। कल्पना सुमन के पास ही बैठ जाती है और अमृत पास पड़े स्कूल पर बैठ जाता है। क्षण भर निस्तब्धता रहती है। नौकर लौटता है।)

कल्पना : (नौकर से) हैरान मत होओ। दरी साफ़ करो।

(नौकर दरी साफ़ करने लगता है।)

सुमन : (होश में अमृत के पास बैठे देख कर संभ्रान्त-सा क्षमा याचना के स्वर में) अमृत तुम कब आए भई ? आओ इधर मेरे पास बैठो।

(अमृत पांयती की ओर बैठ जाता है।)

सुमन : (खिसियाना-सा) एज्युकेशन सेक्रेटरी के हाँ था, कम्बख़्त ने बहुत पिला दी बहुतेरा न न करता रहा पर वह मानने में ही न आता था।

अमृत : (व्यंग्य से) कोई हर्ज नहीं, इससे लिखने के लिए इन्स्पिरेशन मिलता है ?

सुमन : क्या ख़ाक इन्स्पिरेशन मिलता है ? जो इसके प्रभाव के अन्तर्गत लिखते हैं वे लिखते भी तो ऐसा ही हैं।

अमृत : क्यों ? ऐसी ही रचनाओं पर तो वे पुरस्कार पाते हैं।

(सुमन निःशब्द होकर चुप हो जाता है। एक फीकी मुस्कान उसके ओठों पर सिसकने लगती है।)

सुमन : (विषय बदलने की चेष्टा से कल्पना की ओर उन्मुख होकर) इन्हें खाना खिलाया है आपने ?

कल्पना : (स्पष्ट भाव में) अभी तक किसी ने नहीं खाया। और भैया तो जा रहे थे—

सुमन : क्यों ? चलो हम सब साथ खाएँगे। अमृत अब नहीं जा सकता।

अमृत : नहीं मेरा खाना एक मित्र के यहाँ है।

सुमन : रहने भी दो। हम क्या आपके दुश्मन हैं जो यहाँ नहीं खाते ?

अमृत : नहीं यह बात नहीं...परन्तु...

सुमन : (आदेशात्मक स्वर से) परन्तु वरन्तु कुछ नहीं। आपको यहीं खाना होगा। बहुत निकट का मित्र है वह तो, उसके यहाँ भी खा आना। समझे ?

अमृत : (क्षीण स्वर और भाव में) नहीं...नहीं।

(सुमन सुनी अनसुनी कर देता है।)

सुमन : (नौकर से) जाओ खाना लगाओ। अमृत को बाँह से पकड़ कर ले जाना चाहता है)

अमृत : (बाँह छुड़ाते हुए) जाता हूँ भई जाता हूँ। बाँह तो छोड़ों, मैं पिए हुए थोड़ा ही हूँ जो थामे...

(तीनों ठहाका मार कर हँस पड़ते हैं)

(डाईनिंग कमरे में सभी एक बड़ी मेज के इर्द-गिर्द कुर्सियों पर बैठे जाते हैं)

सुमन : (पहला कौर निगल कर) भई क्षमा करना कल में आप से अधिक बात न कर पाया, एक जरूरी काम था। मुझे आशा थी आप अवश्य यहाँ आएँगे।

अमृत : बात कर नहीं पाए या करना नहीं चाहते थे ?

सुमन : (खिसियान-सा हो कर) नहीं-नहीं ऐसी बात नहीं है।

अमृत : बात तो अवश्य ऐसी ही है।

सुमन : (निस्सहाय हो कर) अब मैं कैसे आपको आश्वासन दूँ...

अमृत : जब आश्वासन के लिए आपके पास कोई आधार हो जब।

सुमन : (हतप्रभ हो कर) क्या कहूँ आप मानते जो नहीं।

अमृत : आपके पास कहने को रहा ही क्या है!

सुमन : (विवश हो कर अनुमोदन के भाव में सिर हिलाता है) हूँ...आप सही कहते हैं। (गम्भीर हो कर) मेरे पास अब कहने को कुछ नहीं या कह नहीं सकता।

अमृत : क्षमा कीजिएगा। सत्य कहना जान-जोखिम का काम है।

सुमन : तो क्या मैं जोखिम से भयभीत हूँ ?

अमृत : जोखिम से भयभीत से न सही, पर इस तथाकथित सुखमयी जीवन के प्रलोभन को छोड़ने के लिए आप में साहस नहीं रहा।

सुमन : अच्छा, आप को शीघ्र मालूम हो जाएगा कि मुझ में यह साहस है या नहीं।

(कल्पना जो अभी तक चुप-चाप खाना खा रही थी, सहसा सिर उठा कर आश्चर्य से आँखें पति पर गाढ़ देती है।)

अमृत : (प्रश्न सूचक दृष्टि से) अच्छा ? क्या बात है ?

कल्पना : कोई विशेष घटना घटी है क्या ?

सुमन : वही उपन्यास के छापने का मामला। (निश्चित भाव से) मैं बिना काँट-छाँट इसे छपवाऊँगा।

कल्पना : (हर्ष और आश्चर्य से) अच्छा ?

अमृत : पर यह निर्णय हुआ कैसे ?

सुमन : अमृत, भई बात यह है कि छः सात महीने हुए मैंने एक लघु-उपन्यास सम्पूर्ण किया। तुम्हें शायद मालूम हो कि एक सरकारी नौकर होने के कारण मैं इस बात के लिए बाध्य हूँ कि किसी प्रकार की रचना को छपाने से पूर्व सरकार की अनुमति ले लूँ। सो अपने उपन्यास के प्रकाशन की अनुमति के लिए मैंने अपने विभाग द्वारा, सरकार को इसकी पाण्डुलिपि के संग एक प्रार्थना-पत्र भेजा। उत्तर में मेरे पास एक प्रश्नावली आई, जिसमें रचना के सम्बन्ध में दूसरे अनेक प्रश्नों के अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी था कि इससे मुझे कितनी आय होगी। मैंने सभी प्रश्नों के पूरी सचाई के साथ यथाशक्ति उत्तर दिए। आय वाले प्रश्न के उत्तर में मैंने लिखा कि जब तक मुझे प्रकाशन की अनुमति न दी जाए और मैं प्रकाशकों से रायलटी की बातें निश्चित न कर लूँ, तब तक मैं इस प्रश्न का समुचित उत्तर देने में असमर्थ हूँ।...तब लगभग दो महीने बाद मेरे पास उत्तर आया कि चूँकि मैं प्रश्नावली के सभी प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ हूँ, इसलिए मुझे उपन्यास के प्रकाशन की स्वीकृति नहीं दी जा सकती। मैंने अपने मित्रों और कल्पना से परामर्श किया, सब ने यही सलाह दी कि जो प्रकाशक इसे छपने के लिए तैयार है, उसी से बातचीत करके सरकार को मोटा-मोटा हिसाब भेज दिया जाए। मैंने दौड़-धूप करके इस प्रश्न का भी उत्तर दे दिया। फिर कोई महीने-डेढ़ तक सरकार ने चुप्पी साध ली। जब उत्तर आया तो उसके साथ उपन्यास की पांडुलिपि भी थी। उत्तर में लिखा था : "रेखांकित (अन्डर लाइएड) अंशों में समुचित परिवर्तन की आवश्यकता है" अब मैं जनाब पड़ गया चक्कर में कि इस समुचित परिवर्तन शब्दों का क्या अर्थ है। खैर यह तो स्पष्ट था ही कि सरकार आज के समाज के स्पष्ट अन्तर्विरोधों का उद्घाटन सहन नहीं कर पा रही। पर

फिर भी मैंने इसी में औचित्य और सामयिक उपयोगिता समझी कि सम्बद्ध अधिकारी से स्वयं मिला जाए। जब मिला तो उन्होंने मेरे साथ सहानुभूति जताते हुए सलाह दी कि मैं उचित परिवर्तन कर दूँ। मेरे पूछने पर कि उचित परिवर्तन से उनका क्या तात्पर्य है वे बोले : “संक्षिप्त में यही कि इस में किसी भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से सरकार की निंदा नहीं होनी चाहिए।” मैंने सनम्र पूछा कि “क्या जो कुछ मैंने लिखा है वह सत्य नहीं है?” वे बोले : “सत्य तो है पर......यह परिवर्तन तो आपको करना ही होगा, यदि आप इसे प्रकाशित करना चाहते हैं।...दूसरा कोई रास्ता नहीं।” मैं यह कह कर चला आया—अच्छा अब सोचूँगा।

अमृत : तो फिर क्या इरादा है?

सुमन : आपका क्या विचार है, मुझे क्या करना चाहिए?

अमृत : आपने आख़िर कुछ निर्णय तो अवश्य किया होगा।

सुमन : हाँ अवश्य किया है।

अमृत और कल्पना : (एक साथ) क्या?

सुमन : सरकारी नौकरी से मुक्त होकर इसे अब छपवाऊँगा। मैं अब वापस अपने हलके में आना चाहता हूँ। मेरे साहित्यिक जीवन के अस्तित्व के लिए यही एक मात्र मार्ग है।

अमृत : (आश्चर्य चकित होकर) सच?

कल्पना : (हर्ष से बाछें खिला कर) हैं?

सुमन : (स्फुर्ति से उठते हुए) अच्छा ज़रा ठहरिए, मैं अभी आप लोगों को अपनी वापसी और पहला क़दम ले कर दिखाता हूँ।

(लम्बे-लम्बे डग भरता बैठक की ओर बढ़ता है)

(क्षण भर बाद छनाक से शीशा टूटने की आवाज़ आती है।)

कल्पना : (फ़टे-फटे नेत्रों से) हैं, यह क्या हुआ?

(अमृत कौतुक भरी दृष्टि से कल्पना का मुँह ताकने लगता है।)

कल्पना : चलो देखें क्या कर रहे हैं वे।

(दोनों बैठक की ओर जाते हैं। बैठक में दरी पर सुमन की पुरस्कार वाली फ़ोटो चकनाचूर देखते हैं।)

कल्पना : (प्रफुल्लता में सुमन के साथ चिमट कर) बहुत अच्छा किया आपने। मैं तो यही चाहती थी।

अमृत : (विजय के उल्लास में चिल्ला कर) लेखक सुमन ज़िन्दाबाद! (नाचने के से ढंग से लय के संग)। पहुँची वहीं ये ख़ाक जहाँ का ख़मीर था।

(पर्दा गिरता है)

३४४, न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली

—जे. आर. साहानी

दखनी की कहावतें

सदा चंगे
तेवार नंगे

भात खाय खिसके
जोगी यार किसके

सुई टूटी
कसीदे से छूटी

ऐरी गैरी पचकल्यानी

बातों घर उजड़े
चुल्ले दलिद्दर आये

हैदराबाद

—ललिता देवी

ये पट्टे : ज़हरीले कुत्ते : ये दमदार आदमी

सुबह-सुबह नींद खुली तो कुछ अजीब-सा लगा। गली में एक हंगामा मचा हुआ था। चारों तरफ़ शोर था...हाँ राम...राम...क्यों इन कुत्तों को पकड़ा जा रहा है...क्या करते हैं ये बेचारे...माना बेकार भौंकते हैं लेकिन इस बेकार भौंकने से भी तो फ़ायदा ही होता है...रात भर हम सब इतमीनान से सोते हैं...इनकी बेवक़्त, आदतन भौंकने की प्रवृत्ति भी चोरों को मुहल्ले से भगा देने में सहायक होती है...फिर इन्हें क्यों पकड़ा जा रहा है...क्यों...आख़िर क्यों ?

कमरे से निकल कर छत पर आ खड़ा हुआ। देखा म्युनिसिपल बोर्ड की गाड़ी खड़ी थी...एक कुत्ते के गले में तार का फन्दा पड़ा हुआ था। कुत्ता अब भौंक नहीं रहा था। उसका विद्रोह रिरियाने में बदल चुका था...मोहल्ले वाले ठीक उसी तरफ़ राम राम कह रहे थे...काल भैरव के मन्दिर का पुजारी आरती का थाल लिए द्वार पर खड़ा था। जो कुत्ता पकड़ा गया था वह काले रंग का था और मैं ने अक्सर देखा था कि पुजारी उसे काल भैरव का गण समझ कर प्रसाद दिया करता था। कल रात जब मैं सिविल लाइन्स से वापस आ रहा था तो यही काल भैरव का गण आम सड़क पर रास रचाए घूम रहा था...उसके भौंकने में सारा पुंस्त्व फ़ौलाद की खनक बन कर उभर रहा था...किन्तु आज इस क्षण...उसका सारा पुंस्त्व केवल रिरियाने में बदल गया था...डोम खींच रहा था...वह घसीट रहा था...मोहल्ले वाले राम राम कह रहे थे, काल भैरव के मन्दिर का पुजारी ख़ामोश था...बच्चे सन्तप्त थे...स्त्रियाँ झरोखे से झाँक रही थीं...गंगा नहाने वालों का कारवाँ निरपेक्ष था...मैं नींद से उठा था...रात एक अधूरी कविता लिख कर सोया था...इस समय भी प्रतीकों में डूबा हुआ था...

यह गाड़ी...
यह डोम...
यह कुत्ता...
यह शोर...

कुछ विचार आगे बढ़ रहे थे कि श्री चटर्जी के पालतू कुत्ते ने ज़रा विरोध किया...डोम के ऊपर झपटा किन्तु फिर वापस बरामदे में आकर खड़ा हो गया...उसके गले में पट्टी थी...ताला था...गले में लटकते हुए तमग़े के समान म्युनिसिपल लाइसेन्स था...नम्बर था...नम्बर के साथ साथ हेल्थ आफ़िसर, एक्ज़िक्यूटिव आफ़िसर और एडमिनिस्ट्रेटर तक के दस्तख़त थे...इसलिए...वह डोम भी मजबूर था क्योंकि वह तो केवल लावारिसों को पकड़ रहा था...ऐसे लावारिस जिनका कोई नहीं होता...फिर क्या ? जिनका कोई नहीं उनकी सरकार हावी ही है...म्युनिसिपैल्टियाँ होती ही हैं...

लेकिन शायद इस कुत्ते ने एक गुस्ताख़ी की थी...लावारिस होकर भी उसने उस गाड़ी में बन्द कुत्तों की स्वतन्त्रता के लिए आवाज़ उठाई थी, डोम पर आक्रमण किया था...एक कड़ा विद्रोह किया था...शायद इस यथार्थ से परिचित नहीं था कि वह दोनों यथार्थ से निरपेक्ष हैं...न तो उसके गले में तमग़ा है, न पट्टा न ताला, न दस्तख़त...साथ ही वह उस तार से भी अपरिचित था जो लावारिसों के लिए डोम के हाथ में दे दिया गया था...और साथ में एक ऐक्ट द्वारा उसे यह शक्ति भी दे दी गई थी कि ऐसे कुत्ते जो गले में पट्टी नहीं रखते...तमग़े नहीं रखते, ताले नहीं बाँधते और फिर भी भौंकते हैं, पुंस्त्व का परिचय देते हैं, विरोध का स्वर उठाते हैं, उन्हें खींचो, उन्हें बाँधो, उन्हें गाड़ी में क़ैद करो...उन्हें निर्जन में ले जाकर मार डालो...उनकी जबान काट लो, हृदय फ्रैक्चर कर दो...भेजा अलग कर दो...क्योंकि वे किसी के नहीं हैं, उनकी आवाज़ नियमित नहीं है, उनके शब्दों में विद्रोह है...वे तमग़े नहीं लटकाते...उन्हें इस तार का जयमाल पहनाओ...पहनाओ...पहनाओ और एक दूसरा प्रतीक सामने उभरा—

ये पट्टे...
ये जहरीले कुत्ते...
ये दमदार आदमी...
ये तमग़े...
ये भावे...

ये फन्दे...

ये सब के सब...

कोई कह रहा था...अरे जाने दो इसे...यह मोहल्ले का है...सबका...सब इसे चाहते हैं.. हमें छोड़ दो और वह डोम कह रहा था...“मैं कैसे छोड़ूँ...इसके गले में पट्टी कहाँ हैं ? तमग़ा कहाँ हैं...ताला कहाँ हैं...

और कुत्ता अब तक घसीट कर गाड़ी में बन्द हो चुका था...जो कुत्ते पहले से गाड़ी में बन्द थे इनकी आवाज़ें भी बन्द थीं...यह कुत्ता भी जैसे ही गाड़ी में बन्द हुआ...इसकी रिरियाने की भी आवाज़ ख़त्म हो गई...तब तक कोई गंगा नहाने वाला बोला...

राम हम होबे तोहार कुक्कुर...

राम हम होबे तोहार कुक्कुर

प्रतीकों का करवाँ जैसे समाप्त हो गया ! मैं अवाक् सा इस पंक्ति की ओर उलझ पड़ा राम और कुकुर... राम और कुकुर... राम और आदमी...आदमी और कुत्ते की परिणति

डोम कुत्ते को बन्द कर चुकने के बाद कुएँ की जगत पर बैठ कर बीड़ी पी रहा था। श्री चटर्जी का कुत्ता भूँक रहा था। डोम के हाथ में जो एक्ट की धारा थी उसमें यह तमग़े वाला कुत्ता नहीं आता था...वह जानता था इन तमग़ों, इन पट्टों और तालों में बन्धी हुई आवाज़ चाहे जितनी तेज़ हो...चाहे जितनी सख़्त हो...यह ख़तरनाक नहीं होती क्योंकि उनका एक मालिक है, क्योंकि उनके गले में तख़्ती है, उस पर नम्बर है, हस्ताक्षर है, सील है, मुहर है...

विचारों के तूफ़ान से उठ रहे थे...ऊपर से उतर कर सामने बग़ीचे में घूमने लगा। अनगिनत गुलाब की कलियाँ उभर पड़ी थीं, गेन्दे की कोयलों में सोहाग की चुटकी थी। जूनियर अक्तूबर में मुरझाने लगते हैं लेकिन फिर भी एक कली न जाने कैसी उग आई थी, गुलाबी से लेकर केने और हर शृंगार तक भीगे थे... ओस में, शबनम में शीत...तब तक पीयूष ने कहा...

“पापा यह कुत्ता पकड़ने वाले बड़े ख़राब होते है न...

मैंने पूछा “क्यों...”—बोला : ये इन कुत्तों को पकड़ कर ले जाते हैं...उनकी ज़बान काट डालते हैं...उसकी दवा बनाते हैं...”

श्रीमती जी ने स्वेटर के धागे को उंगली में लपेटते हुए कहा : “नहीं बेटे कल शहर में कोई बड़ा आदमी आने वाला है...इसीलिए ये कुत्ते पकड़े जा रहे हैं..”

मैं सारे दृश्य को प्रतीकों में सोच चुका था इसलिए थोड़ा खीझ कर बोला...कौन बड़ा आदमी ? आदमी कोई बड़ा छोटा नहीं होता...सब आदमी बराबर होते हैं...कैसी बातें सिखाती हो इन बच्चों को... नहीं बेटे...तुम्हारी माँ ग़लत कहती है...आदमी सब के सब बराबर होते हैं।”

श्रीमती जी एक व्यंग्य से कह पड़ीं : “आदमी सब बराबर होते हैं...क्यों ?”

मैं प्रतीकों में सोच रहा था। कुत्ते सब बराबर होते हैं। आदमी और कुत्ते में अन्तर इतना ही रहता है कि कुत्तों की बराबरी म्युनिसिपाल्टी नहीं मानती मगर आदमी की बराबरी मानती है। लेकिन कुत्ते को पकड़ने के लिए उसने भी एक्ट बनाए हैं...आदमी को पकड़ने वाले ऐक्ट हैं...कौन बराबर है...? शायद दोनों ही समान रूप से शासित हैं...

...जाने क्या क्या सोचने लगा था

...दूर से आवाज़ आई...“चलते हो...आठ बजे ट्रक आ जाएगी...महान् व्यक्ति है...देवपुत्र तुल्य है...दर्शन नहीं करोगे...उन...का स्वागत...आज दस बजे...होगा...हमने ट्रकों का प्रबन्ध कर दिया है...हर शहर के हर चौरास्ते पर...ये ट्रकें मुफ़्त मिलेगी...

आवाज़ पड़ोसी की थी। ईसा ने कहा है पड़ोसी को दुश्मन मत बनाओ इस लिए मैं ख़ामोश हूँ...मैंने कुछ नहीं कहाँ...लेकिन प्रतीकवादी दिमाग़...सोच ही गया...

कुत्ते और डोम की गाड़ी...
आदमी और ट्रक...
सभी चीज़ मुक्त
राम हम होबे तोहार कुक्कुर
राम हम होबे तोहार कुक्कुर...

—कुत्ते की बराबरी सरकार नहीं मानती हम मानती है।

—आदमी की बराबरी हम सरकार किताबों में मानती है... आप सड़क पर नहीं मानती...

कल सुबह जब मैं भारती के यहाँ जा रहा था तो मैंने अनुभव किया था...आदमी की बराबरी

सरकार, म्यूनिस्पैल्टी किताब में मानती है...आम सड़क पर नहीं मानती...वरन् पिछले आठ महीनों से खन्दक और खायों वाली यह फ़ोर्ट रोड यों क्यों पड़ी रहती। सुबह-सुबह किसी मित्रके यहाँ जाते समय एक दम अगर पिघला हुआ तारकोल का शीरा जूतों में चिपकने लगे और काले इंजन में उबलते हुए तारकोल का धुआँ नाक से लेकर दिमाग तक में छा जाए, रोज़ जिस सड़क पर चलते-चलते कार्टून की आकृति बना कर हर ठोकर, हर कँकड़, पत्थर से टकरा कर डनलिपो पिलो के स्प्रिंग का निरपेक्ष उछाल अनुभव न हो, सड़कों के हाशिए पर चूने की लकीरें पड़ गई हों, सहसा यह बोध हो कि म्यूनिस्पैल्टी मेहतरों से शून्य नहीं है हज़ार दो हज़ार मेहतर म्यूनिस्पैल्टी से तनख़ाह पाते हैं, पुलिस वालों का काम सिर्फ़ रिक्शे वालों से बेगार लेना नहीं हैं वरन् किसी बड़े आदमी को रास्ता दिखाना भी तो है शायद मजबूर हो कर यह मानना पड़ेगा कि म्यूनिस्पैल्टी से लेकर सरकार तक आदमी को किताब में बराबर मनाती हैं...आप सड़क पर सब अपने वर्ग के हैं...बड़े छोटे, नाटे बौने, लम्बे चौड़े, गोरे काले,...और क्या-क्या नहीं है...जो...वे कुछ नहीं है...वे महज़ रेंगते हैं...चलते हैं...

"सहसा श्रीमती जी का व्यंग्य
और तीखा हो कर उभर आया।
शहर में बड़े आदमी आये हैं। स्वागत होगा।
कुत्ते कुत्ते-गाड़ी में लादे जाएँगे...
आदमी ट्रकों में लादे जाएँगे ...
सड़कों का ऊँच नीच मिटाया जाएगा
आदमी ऊँच नीच होते ही हैं...
छोटे आदमी सड़कों पर रोज़ चलते हैं...
बड़े आदमी सड़कों पर कभी-कभी चलते हैं...
सामने बाँध टूट रहा है...
जमुना की लहरें क़िले से टकरा रही हैं...
धारा को मोड़ने के लिए पत्थर जमा दिए जा रहे हैं...
तारों में कुत्तों के गले बाँधे जाते हैं...
तारों में पत्थर बाँध कर गंगा की धार मोड़ी जाती है।
तार...कोल से सड़क के घाव भरे जाते हैं...
तार...बेतार के भी चलते हैं।"

काश, ये बड़े आदमी बरसात में आये होते...यह फ़ोर्ट रोड बरसात में बन गया होता तो मेरा एक पेयर लोफ़र शू कीच में सनने से बच जाता...रिक्शे वालों के पहिए टूटने से बच जाते...पैदल चलने वालों को थकावट न आती...थोड़ी शक्ति बचती...थोड़ा आराम मिलता...थोड़ी सुविधा होती...थोड़ा विश्वास जमता...लेकिन नहीं ये बड़े आदमी बरसात में सड़क पर नहीं निकलते...ये कीचड़ से सनना नहीं जानते...ये केवल चलते हैं...ये केवल उड़ते हैं...ये केवल अच्छी सड़कें चाहते हैं...अगर मेरे जूते की ज़िन्दगी बच जाती तो दस महीने घी की मात्रा कम न करनी पड़ती। बच्चों को हमेशा के समान घी मिलता...उनके टिशूस् कुछ और पनपते...शक्ति और उभरती...लेकिन यह सब क्यों होता? शक्ति से स्वतंत्रता आती है...गले में पट्टियाँ बँधवाए बग़ैर जीने को जी चाहता है, तमग़े से घृणा होती है, हस्ताक्षर से विद्रोह होता है, सील मोहर के बग़ैर भी जीने की इच्छा होती है...इसलिए पिता के लोफ़र शू को सड़ना ही चाहिए...ताकि संतान घी न खा सके...ताकि...उनके टिशूस् पनप न सकें... ताकि म्यूनिस्पैल्टी का वह ख़र्च बचे जो उसे मजबूरन डोम रख कर करना पड़ता है...कितना बड़ा निर्माण है...कितनी बड़ी योजना है...कितना बड़ा सत्य है . कितना बड़ा भ्रम है...सभी बड़े-बड़े हैं। छोटा कोई नहीं है।

बात बहुत पुरानी नही है १४ वर्ष के वनवास के बाद तो राम भी वापस आए थे। आज अगर ये विचार वापस आ गए तो बुरा क्या है। ४२ का ज़माना था। तब मैं पिता नहीं था। एक विशुद्ध राष्ट्रीय युवक था, अंग्रेज़ों से घृणा थी—मैं घृणा ही कहूँगा यद्यपि उस समय यह कहना फ़ैशन नहीं था। शहर कोतवाल अब्दुल रशीद थे...गवर्नर सर मारिस हैलेट थे। गवर्नर बहादुर इलाहाबाद तशरीफ़ लाए थे। सड़कें जो ४२ के आन्दोलन में तोड़ दी गई थीं उन्हें उस वक़्त की म्यूनिस्पैल्टी ने उस समय तक नहीं बनवाई थीं जब तक कि मारिस हैलेट के आने के दिन नज़दीक नहीं आए थे। आज भी सड़कें उस समय तक नहीं बनवाई जातीं, जब तक नगर में कोई बड़ा आदमी आने वाला नहीं होता...तब मारिस हैलेट यही चाहते थे, आज का बड़ा आदमी शायद यह नहीं मानता। म्यूनिस्पैल्टी उस वक़्त भी वही करती थी जो आज कर रही है। उसके लिए न तो कुत्ते का महत्व है न पट्टी का, न ज़हर का

न विद्रोह का न क्रान्ति का, न सड़क का न खन्दक का ...उसके लिए तो महत्व है बड़े आदमी का...बड़े नाम का बड़े काम का...तब भी जब बड़े आदमी आते सड़कें बनती थीं...आज भी जब बड़े आदमी आते हैं तो सड़कें बनती हैं...खन्दक पाटे जाते हैं, कुत्ते पकड़े जाते हैं...धाराओं को मोड़ने का प्रदर्शन होता है।

विचारों का ताँता जब लगता है तब नींद हराम हो जाती है। रोज़ सुबह उठने पर चाय न मिले तो क्रोध आता था। किन्तु आज चाय की भी याद न रही...पीयूष ने कई बार कहा...श्रीमती जी ने कई बार याद दिलाया। लेकिन बड़े आदमियों का चक्कर होता ही ख़राब है। तीसरे मर्तबे जब श्रीमती जी ने झल्ला कर आदेश दिया...तो बड़े आदमियों का चका चौंध आँखों के सामने से हटा...एक बार फिर मैं ने...क्यारियों में उभरती हुई कलियाँ देखीं, जूनियर की एक मात्र एनिमिक कली पर दृष्टि पड़ी...ओस और शबनम से भीगे केने और हर श्रृङ्गार पर दृष्टि गई...तितलियाँ रंगीन मालूम होने लगीं...और चाय की याद आई...

× × ×

बात फिर बड़े आदमी से पट्टों पर पहुँचती है। ब्रिटिश शासन ने अपना डेरा कूच किया लेकिन अजायब घरों में कुछ पट्टे, कुछ तमगे, कुछ हस्ताक्षर, कुछ सील और कुछ मोहरें छोड़ दी थीं। उनका विचार था कि पुरातत्व विभाग के कुछ उत्साही अन्वेषण करने वालों के काम आएँगी...लेकिन उन्होंने जिसे अजायब घर में छोड़ा था वह देव मन्दिर में तक चले आए...उनका आना स्वाभाविक था क्योंकि हमने अंग्रेज़ों से धर्मयुद्ध किया था...जब लन्दन पर बम गिर रहे थे तो हमने अंग्रेज़ों का साथ नहीं दिया था वरन् वक्तव्य दिए थे...अपना नैतिक बल दिया था...हम ने उनके विजय की कामना की थी...पर साथ ही हम ने उन से लड़ना भी स्वीकार किया था...इस लिए इन सब की परिणति इन पट्टों में होनी अनिवार्य थी। वे पट्टे अजायब घर में रह नहीं सकते थे...वे तमगे दिव्य हो गए थे इसलिए वे खिसक कर देव मन्दिर तक चले आ सकते थे और तब सहसा देव वाणी ने यह घोषित किया था कि नवधा-भक्ति की परम्परा में ये पट्टे आते हैं...कलियुग में केवल नाम आधार नहीं हो सकता नाम के साथ गले में कण्ठी का होना आवश्यक है...राम नामी अंगोछे अभी नीलाम नहीं हुए हैं उन्हें धराऊ रख छोड़ा गया है...तिलक त्रिपुण्ड से ही वर्णाश्रम संभव है...विप्र की पूजा होनी आवश्यक है...इन्द्र को अहिल्या का सतीत्व नष्ट ही करना होगा...और वह हुआ...जो पट्टे कल तक कुत्तों के गले में शोभा दे रहे थे...आज वे देव मन्दिर में शुद्ध होने के बाद विशिष्टता का द्योतक हो गए...ये हुए...क्योंकि उन्हें होना था...

किन्तु वे गले जो जन्म से ही पट्टे के अधीन थे उनको मुक्ति मिलने के बाद भी उनका भास रहता ही है। इन तमगों, इन पट्टों, इन सीलों और मोहरों का जादू ही कुछ ऐसा होता है...मि० चटर्जी के कुत्ते के समान वे डोम के हण्टर तक दौड़ते हुए विरोध करने जाते हैं किन्तु फिर बरामदे में आकर ख़ामोश खड़े हो जाते हैं...इनमें आत्म रक्षा की प्रवृत्ति सर्वोपरि होती है...उनमें ज्ञान नहीं होता है...ये महज़ सूँघ कर चलते हैं...और अधिक नहीं कहूँगा नहीं तो बात प्रतीकों की सीमा के परे चले जाएगी...इन्हें प्रतीकों में ही बँधा रहने दें...ये केवल प्रतीक हैं...बस...

...पड़ोस का क्लर्क अपनी मोटी भद्दी बीबी पर नाराज़ हो रहा था...ख़ुद भी कोई ख़ूब सूरत नहीं था लेकिन उसे डाइन चुड़ैल कह कर सम्बोधित कर रहा था...बाहर से देखने में यह लड़ाई अजीब मालूम होती है थी किन्तु...भीतर से इस लड़ाई का कोई महत्व ही नहीं था...जब दोनों ही नशे में होते हैं तो लड़ाई होती ...जब दोनों नशे में नहीं होते तो लड़ाई नहीं होती...सारा झगड़ा शायद एक बात का है...क्लर्क कहता है देश स्वतन्त्र हो गया है...हर पहली तारीख़ को उसकी पत्नी भी यही अनुभव करती है...लेकिन दूसरे ही दिन से स्थिति बदल जाती है...उसके बाद जब क्लर्क कहता है तो वह समझती है यह 'हिज मास्टर्स वायस' वाला राग है...वह नहीं मानती...क्योंकि वह देखती है .. महज़ एक दिन की स्वतन्त्रता......महज़ एक दिन की स्वतन्त्रता और बस...यह एक भावार्थ है......

...वह जो कुत्ता पकड़ता है वह भी एक ही दिन स्वतंत्र अनुभव करता है—जब कोई बड़ा आदमी आने वाला होता है......

.. ऐडमिनिस्ट्रेटर और एक्ज़िक्यूटिव आफ़िसर भी एक ही दिन अनुभव करता है—जब उसे फ़ोर्ट रोड की मरम्मत करवानी होती है......

...मैं भी एक ही दिन अनुभव कर पाता हूँ जब सड़क के गड्ढ़े समाप्त हो जाते हैं, उसके ठोकर बराबर हो जाते हैं......

...पता नहीं उन सबों को अटपटा लगता है या नहीं पर मुझे तो काफ़ी दिनों तक उस सड़क पर चलना खलता है...क्योंकि क़दम सधे नहीं हैं...उन ठोकरों में सधना संभव भी नहीं है...

× × ×

पीयूष की बात फिर घूम कर दिमाग़ में आ गई। उसने कहा था जिनके गले में पट्टे नहीं हैं उनकी ज़बान काट ली जायगी...ज़बान काटने की प्रवृत्ति...रोग की उपचार की नियुक्ति...कभी-कभी अपने से भी मज़ाक करने को जी चाहता है...यानी यह जी चाहता है कि ज़बान यदि कट जाती तो शायद नए पुराने बड़े छोटें सब प्रसन्न रहते...बुरा लगता तो लगता...कह न सकने की असमर्थता उसे ढके लेती...ये ज़हरीली बातें न फैलती...यह फजूल की किचकिच न होती...

..लेकिन तभी मेरा ध्यान सामने की दीवार पर कैलेण्डर में छपी भरत-नाट्यम् की मुद्रा पर पड़ी...आदमी भी क्या है...एक ओर ज़बान कटवाता है दूसरी ओर मुद्राएँ अंकित करता है...अपनी मौनता को अर्थ देने के लिए उसे मौनता की मुद्राओं में अंकित करने का प्रयास किया...यह विद्रोह है...बहुत बड़ा विद्रोह...

और यदि मान भी लिया कि ज़बान कट गई मुद्राएँ शून्य हो गईं...तब...तब भी बुद्धि कहाँ जाएगी विचार और चिन्तन कहाँ जाएँगे...लेकिन आज इस चिन्तन और विचार के गले में भी पट्टे बाँधने का प्रयास हो रहा है...विचार और चिन्तन पर जब पट्टे लग जाएँगे तो आदमी कहाँ रहेगा...क्योंकि आदमी ज़बान कटने के बाद भी ज़िन्दा रह सकता है...मुद्राओं को बेचने के बाद भी ज़िन्दा रह सकता है। किन्तु जब वह विचार बेच देगा, दिमाग़ बेच देगा, चिन्तन शक्ति बेच देगा, तब उसके पास बचेगा क्या? क्या है जो उसे रीढ़ देगी? क्या है जिसके बल पर वह खड़ा रहेगा...ये पट्टे मौत से भी भयानक हैं? ये तमग़े संक्रामक कीटाणुओं से भी कठोर हैं......

किन्तु आज मेला लगा है...हर विचार की एक क़ीमत है...हर आवाज़, नीलाम की बोली पर चढ़ती हैं...हर डुगडुगी के पीछे एक भाव है...हर शोहरत का एक बाज़ारी भाव है...म्यूनिसिपैलिटियाँ ख़रीदती हैं...एडमिन्स्ट्रेटर ख़रीदते हैं, एक्ज़ीक्यूटिव आफ़िसर ख़रीदते हैं...विचारों के गले में पट्टे लगाने के नियम बनते हैं...और नियमों में आदमी के भाव की सूची छापी जाती है...जो नहीं बिकेंगे जो नहीं पट्टे पहनेंगे उन्हें उस लम्बे तार वाले फन्दे से जूझना पड़ेगा...मौत की आख़िरी साँस तक उन्हें घसिटना पड़ेगा...यह घसिटना कैसा यह जूझना क्यों? यह नाटक किसलिए...ये बातें किस से.....?

अभी उस दिन किसी से बात हो रही थी......

किसी कार्यालय का एक कर्मचारी . बारह साल से नौकरी कर रहा है...स्वप्न है ऐक्टर बनने का। बोला......"साहब आपको मैं बराबर देखता रहता हूँ...आपकी चीज़ें भी पढ़ी हैं...मैं कवि भी हूँ...गीत लिखता हूँ...ग़ज़लों से ख़ास दिलचस्पी है...सुरैय्या से ख़त किताबत करता हूँ...एक्टिंग का बेहद शौक़ है...बताइए न...कैसे करूँ? क्या करूँ...मुझे तो यह समाज नहीं अच्छा लगता...साधारण लोग समझते नहीं..."

और बस एक ग़ज़ल बिना फ़र्माइश के सुना डाली। उच्चारण में सीन, क़ाफ़ काफ़ की तमीज नहीं ग़ज़ल भी ग़ज़ल होकर रह गई। लगा वह घोर असंतोष में पड़ा है...वह कमा कर खाने में भी संकोच करने वाली प्रवृत्ति, लेखक और कवि के साथ साधारण जन से पृथक् बड़ा बनने की प्रवृत्ति, वह विशेष उत्कंठा...यह सब मिल कर उसे विक्षिप्त बनाए थी...रोग भयानक था...लेकिन छोटे पैमाने पर था इसलिए वह कार्यालय की चहार दीवारी में सिमटा था...ज़रा बड़ा पैमाना होता . मेले बाज़ार तक पहुँच होती तो फिर उसकी क़ीमत लगती...कुछ मोल भाव होता...आवाज़ के गले में पट्टे पड़ते...मुहरें और तमग़े लगते और फिर वह आवाज़ स्वतन्त्रता का अभिनय करने के लिए छोड़ दी जाती...डोम के तार वाले फन्दे से वह बचती ज़हर लेकिन शायद उस आवाज़ में शक्ति न होती...गूँजने की क्षमता न होती वह केवल बरामदे से निकलती...पोर्टिको तक गूँज कर रह जाती......

लगता है इस शायरी के शौक़ से लेकर ऐक्टिंग के शौक़ के बीच में ही कहीं बड़ा भयानक विस्फोट घुट रहा है...मैं नहीं जानता इसका भविष्य क्या होगा..यदि यह विस्फोट टिक गया तो राष्ट्र को, देश को बड़ी

हानि होगी...किन्तु यह अगर घुट कर ही रह गया तो यह और भी बुरा होगा...शायर भी साधारण जन है ? उसे विशेष बनने की इच्छा क्यों होती है ? विशेष उसकी कृति है उसकी रचना है न कि वह स्वयम्...जब कृति की विशेषता पर आक्षेप हो, उसकी स्वतन्त्रता पर पट्टे बाँधने की योजना हो तो उसे उठना चाहिए...उसे बोलना चाहिए...किन्तु शायद वह लेखक जो सुरैय्या के पत्र से लेकर गजल तक की दो मुखी धारा में बहता है...वह न शायर है...न ऐक्टर उसे केवल लोकप्रियता चाहिए उसे एक कुर्सी चाहिए...उसे एक पट्टा चाहिए...उसका विशेष मात्र इतने ही से सन्तुष्ट हो जाएगा...कौन जाने इस लम्बी यात्रा में कौन-कौन सेनानी हैं ? किन-किन को पट्टे मिल गए हैं...किन किन की इच्छाएँ दबी है...यह तमग़े भी क्या हैं ? शायद यही एक दिन विशेष बना देंगे...कौन जाने......?

और तब बड़ा आदमी छोटों पर व्यंग्य करेगा...छोटे उनको प्रणाम नहीं करेंगे तो वह खीझेगा...छोटे जब विशेष की आलोचना करेंगे तो वह श्रद्धा के नाम पर इधर उधर भीख माँगता लोकप्रियता को अपने सेफ़ बाक्स से निकालेगा...उस पर कलई करवाएगा...उसे फिर से पालिश से चमकाने की कोशिश करेगा...लेकिन जंग लगी लोकप्रियता क्या करेगी...सेफ़ में रहने वाली मखमल से झाड़ कर चमकाने वाली लोकप्रियता आज के यथार्थ से क्या लोहा लेगी...क्योंकि वह तो बैंक में गिरवी रक्खे जेवर के समान है...जिसे देखने के लिए आपको ऐजेन्ट से प्रार्थना करनी पड़ेगी...वह देखने वाले को साथ एक अंधेरी कोठरी में टार्च की रोशनी में वह सब थोक में दिखला देगा...वह वापस नहीं देगा क्योंकि वह गिरवी है...बिक चुकी है...उसका तेज समाप्त हो चुका है। स्वतन्त्र लोकप्रियता न तो म्यूनिस्पैल्टी को पसन्द है और न ऐडमिन्स्ट्रेटर को...वे जो छुट्टा घूमते हैं वे पकड़े जाएँगे...क्योंकि वे निष्प्रयोजन हैं...बेकार हैं...वे क़ीमत हैं......

× × ×

आज दोपहर में जाने क्यों कई आदमियों से झिक-झिक हो गई। अख़बार वाले से लेकर दूध वाले तक को मैंने अपनी लोकप्रियता की धाक में लाकर उनके पैसे नहीं देना चाहता था। वे मेरी लोकप्रियता के क़ायल नहीं थे...वे जानते थे...“बाबू जी अगर शायर होंगे तो अपने घर के...उसका न तो अख़बार के पैसों से कोई सम्बन्ध है और न दूध के दाम से। लेकिन वे शरीफ़ थे चले गए......

श्रीमती जी को केवल अपने बच्चों की चिन्ता है। उनसे मैं लाख कहूँ मैं लेखक हूँ, कवि हूँ, शायर हूँ, रेडियो आर्टिस्ट हूँ लेकिन इसके बदले में वह साफ़ साफ़ कह देती है...यह सब सही है लेकिन आप किसी के पिता भी हैं, किसी के पति भी हैं, आपको खाना भी खाना है और जीवित भी रहना है...ऊन की सलाई से लेकर दियासलाई तक की यह फ़िहरिस्त है...गेहूँ दस सेर रह गए हैं...चावल पाँच सेर...नमक ख़तम है...महीना भर बिताना है...यही ज़िन्दगी है...

मैं कहता हूँ मेरी ज़िन्दगी...कविता है...शायरी है।

वह कहती हैं, आपकी ज़िन्दगी बच्चे हैं, नून हैं, तेल है, लकड़ी है।

और इन दोनों वाक्यों के बीच में ही वह स्वेज़ कैनाल है, जिस पर ख़तरे हैं, गोले हैं, बारुद है, शान्ति है...युद्ध है, मान है अपमान है...मेरे घर में भी राष्ट्रीय समस्याएँ हैं। मैं अन्तराष्ट्रीय रूप में स्वेज कैनाल को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। एक खाई ही सही वह सत्य है मैं उसे पाटना नहीं चाहता लेकिन मैं उस पर विदेशी नियन्त्रण में देना भी नहीं चाहता...सवाल है...पट्टे की जयमाला के बीच और अपनी रक्षा के अस्तित्व के बीच...पट्टे तो सैकड़ों हैं लेकिन मैं तार के फन्दे को पसन्द करता हूँ...लेकिन दूध वाला, अख़बार वाला, श्रीमती जी, और नून तेल लकड़ी की समस्याएँ बार-बार टकराती हैं...स्वेज़ नहर पट नहीं सकती मैं मजबूर हूँ...इसे पाटना भी नहीं चाहता...जिस दिन यह पटेगी शायद उस दिन मैं नहीं हूँगा...

लेकिन वे जो इन से कतराते हैं...इन से पलायन करते हैं वे भी जीते हैं...आज एक गुरुजन ने संतोष देते हुए कहा था...साहित्य का चक्कर अब छोड़ो...यह अमीरों के साए में पलती हैं...जिसके पास होती है वह पनपता नहीं......

पनपने के अर्थ अलग अलग हैं।

वे जो पट्टियाँ बेचते हैं वे तो एक किस्म की खाद बनाते हैं जिसमें साहित्यकार पनपता है...साहित्य के पौधे पनपते हैं...जैसे अल्ट्रा वायलट रेज में किसी वोटि

निकल रिसर्च गार्डेन में 'चना का' पौधा ।

......१०–५६

आज पैसों की खासी कमी रही ? बड़ी मुश्किल से इतने पैसे जुटा पाया कि दिन भर के बाद में शाम को सिविल लाइन्स जा पाता । लोग समझते हैं हम सब जो काफ़ी हाउस जाते हैं वह राजनीति की बहस करने जाते हैं । षडयन्त्र करने जाते हैं...हर उगलने जाते हैं । मेरा ख़्याल है वे ठीक समझते हैं । राजनीति को घर से दूर रख कर हम अपने घर को बचाते हैं । आज का युग साधना और तपस्या का युग नहीं रहा । तपस्वी तो स्वर्ग पहुँच गए...वही स्वर्ग जहाँ गुलाम वंश से लेकर लार्ड माउन्ट बेटन तक के सिक्के चलते हैं । हम उस युग में भी रहे हैं जब राजनीति को घर में लाने की आवश्यकता थी .....जब घरों में बम बना कर हम एक शासन सत्ता को उड़ा देना चाहते थे...जब हम अपने चौके में दस-बीस विद्रोहियों के साथ नमक रोटी खा कर विद्रोह की योजनाएँ बनाते थे...हम ने, 'भारत में अंग्रेज़ी राज्य' और इन्डियन वार आफ़ इण्डेपेन्डस' इस से भी आगे 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव, हरिजन के ज़प्त अंक घरों में मिट्टी के चिरागों तले पड़े थे । हमने वह भी दिन देखे हैं जब मेरे पिता ने मुझे कोतवाल के सामने पेश करते हुए कहा था—मैं अपने इस पुत्र को डिसओन कर सकता हूँ...लेकिन नहीं करूँगा...मेरा घर वह घर भी रहा है जहाँ मैं ने आज की प्रत्येक विकृति प्रतिष्ठिता प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया था । जवाहरलाल की जीवनी को मैं ने टेक्स्ट बुक्स की किताब छोड़ कर पढ़ी है...मुझे विद्रोह जहाहरलाल ने सिखाया है, अनुचित का कभी भी समर्थन न करना; मुझे मेरी प्रतिष्ठित मूर्तियों ने सिखाया था...लेकिन मैं आज उनकी प्रतिमाओं को केवल अपनी ड्राइंग रूम की शोभा के लिए रखता हूँ...आज की राजनीति से मुझे अरुचि है इसलिए मैं उसे काफ़ी हाउस तक सीमित रखता हूँ । मैं षडयन्त्र भी करता हूँ...लेकिन अपने स्वतन्त्र देश के प्रति नहीं वरन् उनके प्रति जो एक ओर तमगे लटकाते हैं और दूसरी ओर सरकार को गालियाँ देते हैं । हम षडयन्त्र करते हैं उनके प्रति जो पिछले १४ साल से कुछ न लिख कर भी संसार के सामने साहित्यिक बनने का ढोंग रखते हैं । हम षडयन्त्र करते हैं उनके प्रति जिनके व्यक्तित्व में रीढ़ नहीं है...जो हर पल छिन पर मुखौटे बदलते हैं । हम षडयन्त्र करते हैं उनके प्रति जो हमें साधना की शिक्षा देते हैं और स्वयम् संस्कारच्युत जीवन व्यतीत करते हैं । षडयन्त्र हमारे विद्रोह का एक अंश था । उस समय अंग्रेज़ों के प्रति हमारा विद्रोह था आज ग़लत मूल्यों के प्रति है...कल तक शासन व्यवस्था के साथ था...आज पूरी सामाजिक व्यवस्था के प्रति । षड्यन्त्र मैंने उस समय भी किए थे और आज भी आवश्यकता पड़ने पर करने में मुझे संकोच नहीं है । उपेक्षा हमारे भाग्य में है । तब दूसरों के द्वारा उपेक्षित था आज अपनों द्वारा उपेक्षित रहूँगा । लेकिन तब और अब में अन्तर है । तब मैं षड्यन्त्र छुप कर भी करता था क्योंकि मैं विदेशियों के हाथ से मरना भी नहीं चाहता था । आज मैं षड्यन्त्र खुले आम करूँगा क्योंकि मैं अपनी जान भी देकर सही बात कहने की क्षमता अपनाना चाहता हूँ । कल विदेशियों के हाथ से मरने में मुझे अपमान मालूम पड़ता था । आज यदि तुम मुझे षड्यन्त्रकारी कहके मुझे फाँसी दोगे तो मुझे गर्व होगा...आखिर इतना परिवर्तन तो हुआ...कल तुम दूसरे के कहने पर मारते थे...आज तुम को ख़ुद निर्णय करने का अवसर तो मिला...हाँ हम ज़हर उगलते हैं—उगल देना हम अनिवार्य समझते हैं क्योंकि इसे पालने से यह हमारा रक्त दूषित करेगा और मेरी आनेवाली संतान को विकृत बना देगा । जिस दुर्भाग्य से मैं स्वयम् पीडित हूँ उसे मैं अपनी संतान को नहीं देना चाहता । तुम जो हमारे ऊपर लांछनल गाते हो सोचो तो कितना विष तुमने अपने पेट में रख छोड़ा है । यह तुम्हारा ही विष है जिससे हम सब विक्षिप्त हैं...काश तुम में इतना साहस होता कि तुम भी अपना विष उगल देते...तुम आधुनिकता से डरते हो...तुम प्रकाश से डरते हो...तुम तर्क से डरते हो...तुम विवेक से डरते हो...तुम चाहते क्या हो ? गोबर की प्रतिमाएँ हम से नहीं पूजी जाएँगी और अगर पुजवाना चाहते हो तो यह स्वीकार करो कि तुम मात्र गोबर की प्रतिमाएँ हो...मैं गणेश भी पूज लूँगा...कलश भी...लेकिन अगर तुम्हारे अन्दर ईमानदारी हो तो...तुम हमारी पीड़ा क्या समझोगे... ? उस समय भी तुम निष्क्रिय थे...आज भी हो । उस समय तुम ने छाया में पलायन किया था...आज इसी लिए यथार्थ के प्रकाश में तुम्हें कुछ दिखाई नहीं पड़ता...यह सब इसलिए होता है क्योंकि तुम बड़े आदमी हो...कौन कहता है राजनीति में

ही बड़े आदमी होते हैं...साहित्य में भी होते हैं.. लेकिन रीढ़ किसी में भी नहीं होती...रीढ़ बड़ा होने से रोकती है...इसे निकलवा ही देना पड़ता है।

× × ×

रात को पैदल सिविल लाइन्स से घर आया। घर का भी नक़्शा क्या है ? कोई बीमार है कोई महज असंन्तुष्ट...किसी के मन में मेरे साहित्यिक होने के प्रति दोष है किसी के मन में महज एक क्षोभ...कोई निकम्मा समझता है कोई निष्प्रयोजन.. मेरी स्थिति में कोई अन्तर नहीं है...यहीं मैं पहले भी समझा जाता था... वही मैं आज भी समझा जाता हूँ...तुम जो पुरानी पीढ़ी के हो उस समय भी मुझे मूर्ख समझते थे। आज भी समझते हो...तुम ने उस समय भी सौदा किया था आज भी सौदा कर रहे हो...मैं उस समय भी यथार्थ से लड़ा था और आज भी लड़ रहा हूँ...कल तक मैंने संघर्ष किया था...आज भी कर रहा हूँ...कल मैं अपने बाह्य से लड़ रहा था...आज बाह्य और अन्तर दोनों से लड़ रहा हूँ...लेकिन किस से लड़ना...केंचुओं से ? बिना रीढ़ वालों से ? समन्वय से ? समझौते से ? दलालों से...इन से क्या लड़ना ? इन को क्या कहना ? मैं ने अपनी संचित शक्ति इसलिए नहीं रख छोड़ी है कि वह व्यर्थ हो जाए...तुम से लड़ कर भी हम क्या पाएँगे प्रभु...

नींद नहीं आ रही है...शायद दिन भर की दौड़ धूप की प्रतिक्रिया दिमाग़ में दौड़ रही है...छायाचित्र से एक एक करके दृश्य सामने आ रहे हैं...झण्डों की लड़ाई हो रही है...पताकों के प्रदर्शन हो रहे हैं...वे जो कल तक जनता के थे...आज उनके और जनता के बीच कई अफ़सर है...कई सीढ़ियाँ हैं...कई चक्कर हैं। वे आए और मोटर से निकल गए...सैकड़ों झण्डे विरोध में झुके रहे...सैकड़ों स्वागत में नतशिर रहे... न तो उनमें ताक़त थी कि वह बड़े आदमी को रोकते... न इन में ताक़त थी कि ये बड़े आदमी से कहते ठहरो ये पूजा फूल लिए जाओ...कितने निष्क्रिय हैं ये पताके... कितना निष्प्रयोजन है इनका अस्तित्व...लगता था जैसे यह सारी भीड़ चींटियाँ हैं...किंग सालमन के रथ के सामने आ गई है...यदि रास्ता न छोड़ती तो कुचल दी जाती...यदि पंक्ति-बद्ध न होती तो मिट जाती...

फिर यह पंक्ति बद्ध प्रदर्शन कैसा ?
यह पंक्ति बद्ध स्वागत कैसा ?
यह पंक्ति बद्ध पताके कैसे ?
यह पंक्ति बद्ध सिपाही क्यों ?

कभी कभी पंक्तियों को भी टूटना चाहिए। कभी कभी नियम भी तोड़े जाने चाहिए...कभी कभी अराजकता भी अच्छी होती है...कभी कभी ग़लत बात पर भी ज़ोर देना चाहिए। हमेशा सही बोलने से शायद भाषा मूल्य रहित हो जाती है। हमेशा स्वागत करने से स्वागत का महत्व गिर जाता है। हमेशा लीक पर चलने से लीक में भी दरारें पड़ जाती हैं...क़दम रुकते हैं...पहिये धँसते हैं...रथ का बोझ उतना सही नहीं होना चाहिए कि महाप्रभु की मूर्ति उस पर न टिक सके... रास्तों को इतना मत शोधो कि अन्य रास्ते ही बन्द जाएँ...ग़लत अँकुरों को भी पनपने दो...सही, उनके विरोध में स्वस्थ होकर विकसित होगा...इतनी योजनाएँ मत बनाओ कि आदमी ही निष्प्रयोजन हो जाए... इतनी पंक्तिबद्धता मत लादो कि माले के एक दाने दूसरे से दबे रहें...कुछ तो अवकाश दो...कुछ तो शून्य रहने दो। निष्प्राण इकाईयों को लेकर क्या करोगे... इनको शून्य से सम्बद्ध होने दो...ये अपना मूल्य दस गुना बढ़ा लेंगे...पंक्तियों का टूटना प्रयोग है। नियमों को तोड़ कर बढ़ना विकास भी हो सकता है...अराजकता की टकराहट में अनुभव भी नए हो सकते हैं... प्रकृति अनन्त है.. जिज्ञासा अनन्त है, दृष्टि असीम है... इनको अनुभूतियों की ईमानदारी दो...नहीं दोगे तो प्रकृति में विकृति आएगी...जिज्ञासा में संत्रस्ता आएगी ...दृष्टि में अन्धापन पनपेगा...अनुभूतियाँ ज़ख़्म पर पपड़ी की तरह चिपकी रहेंगी...आदमी पड़ेगा केवल सड़ेगा...फिर पंक्तिबद्धता का मतलब ? उसकी सार्थकता ? उसका उद्देश्य......

मैं जानता हूँ ये मेरे डायरी के पन्ने हैं...आज इनमें भी ज़हर ही उगल रहा हूँ...ज़हर के अस्तित्व को वे क्या जानेंगे जो अमृत से तो वंचित हैं ही...लेकिन साधारण जल भी जिनके गले नहीं उतरता। पानी उतर जाने पर कभी कभी साधारण बातें भी ज़हर लाने लगती है...उसी पंक्तिबद्धता का विरोध में साहित्य में भी करता हूँ...आख़िर हुआ था वही...भावना द्वन्द

में सड़ने लगी थी...कल्पना को जब तुमने पंक्तिबद्ध किया था तो वह लुँज हो गई थी...विचारों को जब तुमने ग्रन्थियों में ढाला था तो वे कुरूप हो गए थे...शब्दों को बेध कर जब तुमने माला बनाई थी तब वे शब्द भी सड़ गए थे...निष्प्राण हो गए थे......

× × ×

......१०–५६ ...

...आज एक बार फिर अख़बार में हंगरी पोलैण्ड की कथा भी पढ़ी। रूसी टैंक नगर में घुस आए हैं। यह भी सुना कि गोलियाँ चली हैं...शायद पट्टियाँ टूट गई हैं...इसीलिए ये तार के फ़न्दे गले पड़े हैं। लेकिन अजीब बात है। वे रिरियाते नहीं हैं...वे अब भी इन टैंकों को काट खाना चाहते हैं...वहाँ की सड़कें हमवार है...मुमकिन हैं टैंक के चेन और उनके दान्तें वहाँ फिसल जाएँ...हो सकता है वहाँ के निवासी गलत सोच रहे हों कभी कभी गलत सोचना भी सत्य को उभार देता है। पंक्ति का टूटना कभी जीवन का प्रतीक बन जाता है......

लेकिन फिर बार बार ये पंक्तियाँ बनाई क्यों जाती हैं...? क्या बिना पंक्ति के आदमी नहीं जी सकता...क्या बिना क़दम से क़दम मिलाए आदमी नहीं चल सकता...?

× × ×

......१०–५६

आज एक दमदार आदमी से मुलाक़ात हुई...साहित्यकार हैं...समझता था अब यह शायद बोल नहीं पावेंगे...लेकिन शायद बोलने का लगातार अभ्यास करने से वह अधिक बोलने लगे हैं...उनका दावा है वह खुल कर बोलेंगे...दिल्ली में रहेंगे...बे खटके खाएँगे...आराम से सोएँगे। बाक़ी समय में वह बोलते रहेंगे...जैसे लाउडस्पीकर...जैसे मिल का सडिरेयन...जैसे मन्दिर के घन्टे...जैसे पादरी का प्रवचन......

बोले जीवन 'कोहिज़न' में है...

मैंने कहा जीवन डिसइन्टेग्रेशन में ज्यादा सशक्त है...टूट कर बनने में स्वतन्त्र सत्ता का विशेष महत्व है...टूटे हुओं को जोड़ने में शक्ति का अभाव है...समझौता है......

बोले कैसे......

मैंने कहा—'कोहिज़न' 'डिफ़ेंडेन्स' का भी द्योतक है...?

डिसइन्टेग्रेशन लिविग सेल्स का भी हो सकता है...विस्फोट भी जीवन का द्योतक है नए की खोज है...पुराने का बहिष्कार है...जो पुराने हैं उनके 'कोहिज़न' नए को विकृत करते हैं...जो नए हैं उनको पुराने से डिसइन्टीग्रेट करना उचित है...वस्तुतः नए तत्व भी डिसइन्टीग्रेट नहीं करते...वे जो पुराने हैं, सड़े गले हैं, डिसडिरएट्रेगेट वे ही होते हैं...डिके वे ही करते हैं...

वह चुप हो गए...बात वहीं समाप्त हो गई। और इसके बाद कुछ हँसी ठहाके हुए...घर वापस आया...वही स्वेज की खाई...कला, कविता और यथार्थ......

... ..१०–५६

आज फिर उसी दमदार आदमी से एक मित्र के यहाँ भेंट हुई। बात चलती थी...स्टालिन, ख़ुश्चेव, पोलैण्ड, रूसी टूकों, जन विद्रोह, अमरीकी षडयन्त्र और विदेशी शासन का आधिपत्य आदि विषयों से टक्करें थीं...आज भी एक मत यह है कि पोलैण्ड में जो कुछ हो रहा है वह अमरीकी षडयन्त्र है...हो सकता है...लेकिन न जाने क्यों लोग—ख़ास कर वे लोग जो अपने को जनवादी मानते हैं वह जनता को मूर्ख मानने में ही क्यों तुले हुए हैं...क्या जनता इतनी मूर्ख होती है कि वह अमरीकी षडयन्त्र से भड़क कर इस सीमा तक विद्रोह कर बैठेगी? क्या जनता के पास स्वतः यह विवेक नहीं जागृत हो सकता कि वह स्वयं विदेशी शासन सत्ता के विरुद्ध अपने स्वाभिमान का प्रदर्शन करे? और तो और जब जनवादी चिन्तक और जनता में विश्वास रखने वाले लोग भी यह मानने से संकोच नहीं करेंगे तो फिर इस अविश्वास का परिणाम भी क्या होगा...आज शायद ऐसे दमदार आदमी जो अभी तक रूस और स्टालिन को ही सत्य मानते थे...ऐसी दुविधा में हैं कि साँप-छछूँदर की सी गति है और तब ऐसी दशा में पक्ष लेकर बात करने के बजाए वे निष्पक्ष होकर बात करना अधिक पसन्द करते हैं...दुर्दशा यह होती है कि न तो वह पक्ष ही ले पाते हैं न निष्पक्ष ही रह पाते हैं...और तब वह एक विचित्र प्रकार की दिमाग़ी उलझन में उलझ उलझ कर नए रहस्यवादी वाक्यों की रचना करके स्थिति से उबरना चाहते हैं...यह उबरना भी किस काम का...यह सत्य भी किस मूल्य का......

सिविल लाइन्स में काफ़ी हाऊस में फिर बातें चलीं...दमदार आदमी ने घोषित किया कि अगर 'मंन' के 'म' अक्षर ने साहित्यिक उपाधि ले लिया है तो कोई बुरा नहीं किया। उपाधि टैगोर ने भी लिया था किन्तु ऐसे समय वापस किया था कि अंग्रेज़ों के दाँत खट्टे हो गए थे। ध्वनि इस बात की थी कि यदि 'म' ने उपाधि ली है तो वह ऐसे समय की प्रतीक्षा में है कि कोई घटना जलियानवाला बाग़ की तरह हो ताकि वह सरकार को वापस करके उसके दांत खट्टे कर दे...! तर्क बहुत अच्छा था। दोष 'म' का नहीं है...दोष तो है सारे राष्ट्र की चेतना का, जिसमें इतना भी दम नहीं कि एक जलियानवाला बाग़ की घटना दुहराए। वे बोले यदि 'म' उदासीन है तो फिर आपको शिकायत क्यों है... बात ज़रा उलझाव की थी...। वस्तुतः यदि 'म' सरकारी उपाधि लेकर सरकार की बात ईमानदारी से करे तो ठीक है...किन्तु यह दोहरा मुखौटा ग़लत है। एक ओर सरकार को गाली...दूसरी ओर उपाधि की स्वीकृति...एक ओर सरकार की प्रशस्ति दूसरी ओर साधना का ढोंग...एक ओर आग का नृत्य...दूसरी ओर पानी का घड़ा...एक ओर टैगोर की नक़ल दूसरी ओर एक दूसरे जलियानवाला बाग़ की तलाश...इन सबसे बढ़ कर उदासीनता का ढोंग...क्या मतलब है इस सारे का...क्या आशय है इन बातों का...शायद यह उदासीनता भी वही बैंक में गिरवी रक्खी लोकप्रियता की सुनहली झलक है...ऐजेन्ट उसके दर्शन तो करा देता है लेकिन क्या करे...वह देता नहीं...वह वापस मिलता नहीं...भगवान् जाने यह कैसी विडंबना है। भगवान् भी क्या जानेगा, शायद वह भी उस दिन तक सोता है जब तक गो रूप धारण करके पृथ्वी त्राहि नहीं करती. शायद भगवान् पशुओं की ही वाणी समझता है...आदमी ने तो उदासीनता से लेकर जलियानवाला बाग़ तक की सारी शब्दावली खो दी है, भ्रष्ट कर दी है......

भारती का लेख 'घुरीहीनता' आज फिर पढ़ गया। दमदार आदियों का उसमें नाम लेना खला है। उनको यह भी लगता है कि लेख में डींगे ज्यादा बोल गई है। वह लेख भी तो बोलने और बोलाने के लिए था। यदि डींग बोल गया तो बुरा क्या हुआ। कब बात कहनी चाहिए किससे कहनी चाहिए...क्यों कहनी चाहिए...इस प्रकार के प्रश्न उठाने वालों से मैं केवल यह पूछना चाहता हूँ क्या वह प्रश्न झूठा है? क्या इन महर्षियों की श्रद्धा इतनी कागज़ी ही कि सत्य की आँच लगते ही जल जाएगी? क्या होगी ऐसी श्रद्धा जो इतना सत्य भी न सहन कर सके।

भारतीय संस्कृति के नाम पर शील का बड़ा गुण गाया जाता है। लेकिन इस शील का क्या आशय है जो केवल मुँह में ताला लगा दे...अनीति का विद्रोह करने की क्षमता न दे। मोहम्मद इस्माइल द्वारा संपादित एक टेक्स्ट बुक में पढ़ा था—

जो बात कहो साफ़ हो सुथरी हो भली हो—
कड़ुवी न हो खट्टी न हो, मिश्री की डली हो......

आज हर आदमी 'घुरीहीनता' के विरोध में यही एक पंक्ति न जाने कितने तरीकों से कहता सुनाई पड़ता है। लेकिन उपर्युक्त पंक्ति में 'सच' को जान बूझ कर हटा दिया गया है क्योंकि जो बात सच होगी वह कड़वी भी होगी, खट्टी भी होगी और इसलिए वह मिश्री की डली तो हो ही नहीं सकती। लेकिन तब क्या सच बात नहीं कहनी चाहिए। जो सच से घबराएँगे, वह हमेशा रोशनी से दूर रहेंगे। मैं समझता हूँ वह संस्कृति, वह सत्य, जो भयभीत होकर व्यक्त होगा वह सत्य नहीं होगा, और चाहे जो हो।

......१०-५६

आज सुबह सुबह सोकर उठा तो ध्यान आया कि गुलाब के पौदों की जड़ें खोद कर खोल देना चाहिए ताकि उसमें धूप लगे, रोशनी मिले और बरसात के वे कीड़े जो जड़ में घुस गए हैं उनको निकल जाने का अवसर मिले। खुरपी लेकर इस काम में जुटा ही था कि श्रीमती जी ने विरोध किया। बोलीं—अभी उस दिन आप ने इनका क़लम कर दिया है और आज जड़ें खोले दे रहे हैं पौदे सूख जाएँगे...मुझे लगा यह भी तर्क केवल एक मोह का ही है। जो खोल देने से रोशनी मिलेगी... भीतर जो कुछ सड़ रहा है, वह नष्ट हो जाएगा, शायद इसका मोह उन्हें नहीं है जो केवल ऊपरी सतह से चीज़ों को देखते हैं! क़लम करना भी उन्हें बुरा लगा था क्योंकि वह इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी कि क़लम करने के बाद नए कोंपल निकलेंगे ही... मोह जानेत बुद्धि का यह भी एक अजीब मज़ाक़ है। मैं

ने कहा अगर पौदे से रोग भयंकर है तो इस को पाल कर क्या करोगी। बेहतर है कि यह मुर्दा यहाँ न रहे। रही जड़ें खोद कर खाद और रोशनी देना, यह तो एक साधारण बात है! लेकिन उस बुद्धि को क्या कीजिएगा जो रोशनी और धूप के लिए ज़रा खोदने को जड़ काटना समझता हो। ऐसी बुद्धि से सुन्दरता की रक्षा और विकास तो नहीं ही हो सकता और कुछ भले ही हो... लेकिन वे जो केवल मोह रखते हैं उनके सामने न तो तर्क का महत्व है न विवेक का। वे केवल मोह से ही द्रवित होते हैं......शायद बेवकूफ़ी इसीलिए करते हैं...

रविवार का दिन हमेशा विभिन्न होता है। कुछ छुट्टियों का मूड संस्कार में पिरो उठा है लेकिन अखबार वाले इस छुट्टी के दिन को विशेष महत्व देते हैं। ख़ास करके वे जो ब्रिटिश नौकरशाही से लेकर पत्रकारिता की दौड़ में साहित्य की फाईल भी बगल दबाये फिरते हैं। ब्रिटिश नौकरशाही की देन अब तक इस मामले में चली आ रही है कि नौकर फ़ाईल पर दस्तखत करके मेज़ से सरकाने में अधिक विश्राम करता है...उसके सामने विषय की अहमियत का कोई भी सवाल उठता ही नहीं। दोष उस प्रवृत्ति में पले हुए दिमाग़ का नहीं है प्रत्युत उस आदत का है जिसमें 'दमदार' बनने की प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक ज़ोर मारती है। गुलाब की जड़ें खोदने के बाद अख़बार उठाया एक सिरे से देख गया। साहित्यिक दृश्य के नटबाज़ों को भी देखा। वही नौकरशाही की बू से भरा हुआ लेख। सलाह मशवरा देने की प्रवृत्ति...एक ऊँचे रंगमंच पर से बोलने की आदत। फ़ाइलस पर मात्र दस्तखत करने की प्रवृत्ति...अहमियत को न समझ सकने की प्रकृति...तेज़ बात से चिढ़ने की झुंझलाहट...यह सब का सब भरा पड़ा था.. लेकिन इसी के बीच से वह सलाह भी दी गई थी जो बेमानी थी. जिसका केवल दस्तखत ही मन्तव्य था।

सलाह मेरी श्रीमती जी मुझे देती हैं। जैसे झाड़ू मंगल को नहीं मंगाना चाहिए। बाबू जी जब थे तब नौकरों को जाड़े के कपड़े मिलते थे..:हमें उस परम्परा को ध्यान में रखना चाहिए...बीबी जी को भैय्या दूज में पल्लू पायपिंग की साड़ी न देकर टीशू की साड़ी देनी चाहिए...राजीव का एडाक्सलीन टानिक ख़त्म हो गया है......मंगा लेना ज़रूरी है......अम्माजी का कत्था सुपारी ख़ातमे पर है अब कि मुझे किसी थोक फ़रोख्त के यहाँ से ले आना चाहिए ताकि सुपारियाँ अधिक सड़ी न निकलें...वगैरह वगैरह... मैं यह मशवरे सुन लेता हूँ...जो उचित होता है, उसे करने की कोशिश करता हूँ। लेकिन कभी कभी जब वह यह बतलाने की कोशिश करती हैं कि मुझे गद्य लिखना चाहिए ताकि पैसा अधिक मिले...कविता नहीं लिखनी चाहिए क्योंकि इसमें पैसा कम मिलता है या मैं कहानियाँ क्यों नहीं लिखता या कविता अतुकान्त क्यों लिखता हूँ तब मैं उनसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ—देखिए श्रीमती जी...आप अपनी गृहस्थी लीजिए और पैसे लीजिए। गलती तो कर ही बैठा हूँ। जहाँ कहिए दौड़ आऊँ...कहिए तो थोक फ़रोश के दूकान से सामान लाऊँ या फुटकर विक्रेता से, मेरे लिए दोनों बराबर हैं लेकिन भगवान् के लिए इस क्षेत्र में आप न आएँ... क्योंकि यह दूसरा मैदान है...यहाँ अगर आपका झाड़ू चला तो अनर्थ हो जाएगा बस...बस बस...

लेकिन कौन मानता है? सलाह देने वाले और निशुल्क सेवा करने वालों की इतनी भरमार है इस देश में कि जान ऊब जाती है। प्राकृतिक चिकित्सा वालों से कुछ आशा थी कि कम से कम ये प्रकृति पर विश्वास करेंगे किन्तु उन्होंने भी औषधालय खोल लिए हैं... कभी कभी तो वे बिना बुलाये भी सलाह दे जाते है... उनको अफ़वाह भर सुनने में आ जाय कि कहीं किसी को तकलीफ़ है। ऐसे ही कुछ हरिजन-सेवक से लेकर पददलित वर्ग के सेवकों की परम्परा है। साहित्य अभी तक इन सेवकों से बचा था लेकिन अब तो दिल्ली से लेकर कलकत्ते तक इन सेवकों की इतनी लम्बी कतार खड़ी हो गई है...आप चाहें या न चाहें...सलाह यह देकर रहेंगे ठीक उसी तरह धर्मार्थ जैसे माघ मेले में नुमाइश में, अनाथालयों में, विधवाश्रमों में...

आज रविवार का दिन. जड़ खोदने से लेकर सलाह तक पहुँचते पहुँचते कई भयंकर दुर्घटनाओं से बच निकला। तुंगश्रृङ्ग के लिए एक लेख देना था सो लिख नहीं पाया। तक़ाज़े पर तकाज़े आ रहे थे...आज कोई नहीं आया शायद सम्पादक महोदय नाराज़ हो गए है...उन्हें कैसे बताऊँ कि गुलाब की जड़ खोदने से लेकर सलाह के दो चार घूँट पीने तक में हास्य ग़ायब

हो गया था। बची थी केवल एक चिन्ता—"साहित्य और नौकरशाही" के ख़तरे...एक...दो...तीन...से "नौकरशाही ख़तरे और साहित्य" साहित्य और नौकर, नौकर और साहित्य...साहित्य का नौकर...नौकर का साहित्य ..नौकरी और साहित्य...

......१०-५६

पोस्ट आफ़िस से लौट रहा था तो ठीक कास्मोपोलिटन 'होटल' के सामने आज फिर वह गाड़ी मिली जिसमें पट्टे न रहने पर कुत्ते क़ैद किए जाते हैं। आज वह गाड़ी चली जा रही थी...। डोम गाड़ी पर बैठा बैठा ऊँघ रहा था...अभी म्युनिस्पैलटी एडमिनीस्ट्रेटर या एक्ज़िक्यूटिव आफ़िसर ने उसे यह आदेश नहीं दिया था कि बड़े आदमी आए भी और गए भी ख़तम फ़साना हो गया। वह समझता है अभी बड़े आदमी आए ही नहीं...उसका समझना भी वाजिब है...दरअसल बड़े आदमी के जाने के बाद न तो एक्ज़िक्यूटिव आफ़िसर को ही छुट्टी मिली और न एडमिनिस्ट्रेटर को।

मेज़ पर फ़ाइलें बेहद पड़ी होंगी...कौन जाने उन पर दस्तख़त करने में ही व्यस्त हो।

थोड़ी दूर ही बढ़ा था कि सहसा सामने से भुवनेश्वर जी आते दिखलाई पड़े। अच्छे ख़ासे नाटककार थे जो अब स्वयं अपने ही नाटकों के पात्र बने फिर रहे हैं। लाख नाटककारों को लेख अपने ऊपर ही लिखने को उकसाते हैं लेकिन वे लिखते ही नहीं। मुझे देख कर बोले : "Well Mr. Varma, have you one Rupee" मैंने कहा : "दवा का रुपया मेरे पास है। बोले : "You give it to me." मैंने फिर कहा : "दवा लेना ज़रूरी है भुवनेश्वर जी, घर में मरीज़ है। बोले : "No No....You can arrange for that." मैंने वह भी उनके हवाले कर दिया। जेब में पैसे रख कर चल दिये। मै घर वापस आया। श्रीमती जी से झूठ बोलने की हिम्मत नहीं पड़ी। साफ़ साफ़ कह दिया—भुवनेश्वर मिल गये थे...रुपया उन्हें दे दिया...पता नहीं दवा मंगाई गई या नहीं।

सरयू कुटीर,
भघवापुर, इलाहाबाद

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

स्वर्गीय डा० अम्बेडकर

डा० अम्बेडकर क़ानून के असाधारण विद्वान् थे। साथ ही आर्य धर्म-शास्त्रों के गम्भीर मनन-कर्ता थे। वे श्रद्धा और अन्ध विश्वास के झमेले से पाक साफ़ रह कर उन सांस्कृतिक बुराइयों को झट-पट ताड़ लेते थे; जिनके कारण जातियों का उत्थान पतन होता है। उनमें यह विवेचना शक्ति उनके पाण्डित्य और अध्ययन के कारण नहीं उत्पन्न हुई थीं। बल्कि उस प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुई थीं; जो उनमें अभिजात्य हिन्दुओं के हाथों मिलने वाले तिरस्कार के फल-स्वरूप आई थी। हिन्दुत्व पर उनका असाधारण अधिकार था। अछूतों के हितों के लिए उनके हृदय में केवल हमदर्दी ही न थी; वे केवल उनके कोरे हिमायती न थे, बल्कि उनके साथी और अंग थे। वे आजन्म उनके अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ते रहे। उनकी यह लड़ाई केवल दलितों की सहायता और हिमायत के ही लिए नहीं थी बल्कि आत्म-निष्ठा और आत्मोद्धार के लिए थीं। इसी लिए वे इतने सबल; दृढ़ और अचल रहे कि उन्हें न कोई प्रलोभन डिगा सका, न भय।

—साप्ताहिक हिन्दुस्तान से

राजस्थानी कहावतों में नारी-भावना

लोक-प्रचलित कहावतें, मौखिक वाङ्मय अथवा लोक-साहित्य का महत्वपूर्ण अंग होती हैं । इनमें जनता की समवेत अभिज्ञता एवं किसी निश्चित सिद्धान्त या मान्यता को सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है। राजस्थानी कहावतों में यहाँ के सामाजिक जीवन के विविध पक्षों की इन्द्रधनुषी झाँकी प्रतिविम्बित होती है । इन कहावतों में कहीं मध्यकालीन सामन्तीयुग के राजदरबार की ऐश्वर्यमयी झाँकी मिलती है तो कहीं झोंपड़ी में रहने वाले किसान का कारुणिक चित्र । कहीं समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों की ओर संकेत मिलता है तो कहीं नारी सम्बन्धी युगीय भावना का प्रतिबिम्ब । प्रस्तुत लेख में इन लोकोक्तियों में प्रतिबिम्बित नारी भावना की चर्चा ही अभीष्ट है ।

सर्व प्रथम हम नारी के जन्म विषयक दृष्टिकोण पर ही विचार करें। राजस्थान में लड़की का जन्म दुर्भाग्यपूर्ण समझा जाता है । उसके जन्म-अवसर पर कोई आनन्द-उत्सव नहीं मनाया जाता और न उसका लालन-पालन इतने प्यार से किया जाता है, जितना लड़के का। लड़की के जन्म के सम्बन्ध में प्रचलित एक कहावत इस प्रकार है :

"बेटी जायी रे जगन्नाथ !
ज्याँरो हेठै आयो हाथ"

अर्थात् जिसके बेटी हुई उसका हाथ नीचे आ गया ।

सामान्यतः नारी-हृदय के बारे में यह धारणा रही है कि वह अपने अन्तर में किसी भी बात को गोपनीय नहीं रख सकती। राजस्थानी समाज में तो यह धारणा और भी प्रबल रूप में अपना स्थान बनाए हुए है। फलतः उसे लोकोक्ति के रूप में इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की गई है :

"लुगाई रा पेट में टाबर खटा जाए,
पण बात कोनी खटावै"

अर्थात् औरत के पेट में बच्चा रह सकता है किन्तु कोई बात नहीं ठहर सकती ।

नारी का रूप और श्रृंगार रात्रि के समय पूर्ण निखार पर आता है, इस सम्बन्ध में एक राजस्थानी लोकोक्ति बड़ी ही दिलचस्प है :

"खाँड अर राँड रो जोबन रात रो"
"शक्कर और सुन्दरी का यौवन रात का ।"

इसी अनुभूति को एक अंग्रेजी कहावत में इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

"When candles are out
every woman is fair"

इसी प्रकार स्त्री और पुरुष की विवाह योग्य आयु के बारे में यह लोकोक्ति अत्यन्त लोकप्रिय है :

"तिरिया तेरह मरद अठारह"

अर्थात् स्त्री तेरह वर्ष की और पुरुष अठारह वर्ष का । यह जोड़ा बिलकुल उपयुक्त रहता है ।

महाकवि अब्दुल रहीम खानखाना ने "मन रुचिकर तिय सोय" कह कर जिस भावना को व्यक्त किया था, उसी भावना की एक राजस्थानी लोकोक्ति में इस प्रकार अवतारणा हुई है :

"राजा मानै जकी ही राणी,
और भरै पाणी"

अर्थात्—जो राजा को रुचिकर है वही रानी है, शेष पानी भरने वाली हैं ।

सामन्ती युग में राजस्थान, ज़मीन और स्त्री के झगड़ों के लिए प्रसिद्ध रहा है । स्त्री के लिए बड़े-बड़े घमासान युद्ध हुए हैं और इस प्रसंग में जीत उसी की हुई है जिसकी शक्ति अपराजेय हो। सम्भवतः उसी ज़माने से यह कहावत चली आ रही है :

"जभी जोरू जोर की ।
जोर घट्याँ सूँ और की"

अर्थात्—'ज़मीन और स्त्री जब तक शक्ति का प्रमाद प्राप्त रहता है, तभी तक अधिकार में रहती हैं, उसके कम होते ही वे दूसरे के अधिकार में चली जाती हैं।'

इसी के समानान्तर कमजोर पुरुष की स्त्री के बारे में यह कहावत प्रचलित है :

"कमजोर री जोरू सगलाँरी भाभी"

अर्थात्—कमजोर की स्त्री सबकी होती है।

समाज की प्रचलित परम्परा के अनुसार विवाह के लिए प्रस्तुत युवती के तेल चढ़ाने की प्रथा है। इस परिपाटी का पालन परिणय से ठीक पहले होता है और यह माना जाता है कि यह संस्कार स्त्री के जीवन में केवल एक बार ही किया जाता है। क्योंकि पतिव्रत धर्मानुसारी स्त्री, जीवन में कभी दूसरा परिणय रचाए, इसकी संभावनाएँ कम ही होती हैं। इस सम्बन्ध में जो लोकोक्ति प्रचलित है उसमें न केवल स्त्री के एक बार परिणय होने की भावना को चित्रित किया गया है, प्रत्युत यहाँ की वैवाहिक प्रथा की ओर भी संकेत मिलता है :

"तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार"

प्राचीन परम्पराओं से प्रशासित राजस्थानी समाज में विधवा स्त्री का बनाव-शृंगार सदा सन्देह की दृष्टि से देखा जाता रहा है। उसे खतरे की घण्टी अथवा विनाश की भूमिका के सदृश समझा जाता है। प्रस्तुत लोकोक्ति में इसी सामाजिक दृष्टि-कोण की प्रतिच्छाया है :

तीतर पंखी बादली, विधवा काजल रेख।
या बरसै वा घर करै इण में मीन न मेख ॥

अर्थात्—तीतर पंख के वर्ण की बदली और विधवा स्त्री की आँखों में कज्जल की रेखा इस बात की द्योतक है कि बदली निश्चित रूप से बरसेगी और विधवा स्त्री पथ-भ्रष्ट होगी।"

अंग्रेज़ी साहित्यकार थामस फुलर ने एक स्थान पर लिखा है :

A woman, a dog and a walnut tree,
the more you beat'em the better, they be.

उक्त कथन में किस अंश तक सार्थकता है, यह तो अनुभव का विषय है, किन्तु राजस्थानी में भी इसीसे मिलती-जुलती एक कहावत स्त्री के स्वभाव के बारे में इस प्रकार सुनी जाती है :

"लुगाई से रो माजनो मार रो"

अर्थात् औरत का स्वभाव मार खाने का होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामचरित मानस में इस बात की पुष्टि की थी :

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

आज समाज के ढाँचे में आमूल क्रान्ति हो रही है और वर्तमान परिस्थितियाँ में उक्त मान्यताएँ मूर्खता पूर्ण ही कही जा सकती हैं, तथापि इन कहावतों में एक युगीय दृष्टिकोण इंगित किया गया है।

स्त्री-चरित्र की रहस्यमयता सदैव अध्ययन की वस्तु रही है। उसकी जीवन-पुस्तिका का हर पृष्ठ नवीन और पहेली की भाँति पाया गया है। ज्यों-ज्यों उसे समझने की चेष्टा की गई है, त्यों-त्यों ही उलझन बढ़ती गई है। भर्तृहरि ने अपने इस अनुभव को संभवतः तभी सूत्रबद्ध किया होगा :

स्त्री चरितम् पुरुषस्य भाग्यम्
न जानाति दैवोऽपि कुतो मनुष्यः।

राजस्थानी लोकोक्ति में इसका रूपान्तरित स्वरूप इस प्रकार मिलता है :

तिरिया चरितन जाणै कोय।
मिनष मार के सत्ती होय ॥

अर्थात् स्त्री के चरित्र को कोई नहीं जान सकता। अपने पति को स्वयं अपने हाथों से मारकर वह सती हो सकती है। अंग्रेज़ी में भी इस आशय की एक उक्ति है :

Believe a woman or an epitah,
or any other thing that's false.

इस प्रकार राजस्थानी लोकोक्तियों में समाज में प्रचलित नारी विषयक भावना के विविध रूपों का एक सार पूर्ण चित्र उपलब्ध होता है।

—मनोहर प्रभाकर

द्वारा 'अमरज्योति' साप्ताहिक
जयपुर (राज)

मेक्सिको में भारतीय संस्कृति

मेक्सिको के निवासी 'एस्टेक' लोगों के विषय में कोरावाकर ने लिखा था, "जब यूरोप जंगली बना हुआ था, तब एस्टेक संगमरमर के महलों में रहते थे। उनके विशाल मन्दिर बने थे; उनके पास सरोवर भी थे। जब यहूदी असभ्य अवस्था में इधर उधर घूम रहे थे, उस समय एस्टिक लोगों में कला कौशल की उन्नति हो चुकी थी।" प्रसिद्ध विद्वान् ड्रेकर ने भी लिखा है, "मेक्सिको की सभ्यता यूरोप वालों को शिक्षा दी होती, परन्तु स्पेन वालों ने उसे नष्ट कर दिया।" इतनी सभ्य जाति के विषय में स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि उनका मूल निवास कहाँ था ?

कुछ समय पूर्व यह कहावत प्रसिद्ध थी कि अतलान्तिक समुद्र के विनष्ट टापुओं के लोग, जो कि 'प्रलयंकारी बाढ़' से बचे, अमेरिका में बस गए थे। लार्ड किंगबारो ने आठ बड़े बड़े जिल्दों में पुस्तक लिख कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि इजरायल की जनजातियों ने ही अमेरिका में अपना प्रसार किया। डार्विन की विकासवादी परम्परा के लोगों का विश्वास है कि वहाँ पर मनुष्य स्वतन्त्र रूप से पैदा हुए। आज के पुराणवस्तुवेत्ता (Archaeologist) इन मतों के विरुद्ध यह सिद्ध करते हैं कि अमेरिका में मनुष्य पूर्वोत्तर एशिया के पुल के द्वारा बेहरिंग और एल्युशियन भूभाग में पहुँच सके थे। इन विद्वानों ने इनके दो भाग माने हैं; बड़े सिर वाले और छोटे सिर वाले। पुराणवस्तुवेत्ताओं की दूसरी शाखा के लोग इस विचार के विरुद्ध यह सिद्ध करते हैं कि अत्यन्त आरम्भ काल में पोलिनेशियन और मेलिबोरीयन ही दक्षिण अमेरिका में बसे। उनके क़ाफ़िलों का जाना क्रमशः जारी रहा, और वे एलास्का से लेकर पेटोगोनिया तक पूर्ण रूप में फैल गए।[1]

इस विषय में विद्वानों का एक दूसरा भी पक्ष है। इनके अनुसार भारतीय ही दक्षिण अमेरिका में बसे हैं। हेविट, मेकेन्जी, टाड, पोकाक तथा श्रीमती नटल आदि पश्चिमी विद्वानों की धारणा इसी पक्ष में है। भारतीय विद्वानों में सर्व प्रथम श्रीकेदारनाथ बसु का ध्यान इस तरफ़ गया। इस विषय में उनकी पुस्तक "प्राचीन अमेरिका में हिन्दू सभ्यता" (Hindu civilisation in Ancient America) सन् १८८८ में कलकत्ता से प्रकाशित हुई। इसके बहुत दिनों बाद दूसरी प्रामाणिक पुस्तक दीवान चमन लाल जी की "हिन्दू अमेरिका" (अंग्रेज़ी) बम्बई से १९४० में प्रकाशित की गई। पुनः १९४१ में बम्बई से ही "Early and Ancieut Indian terracottas by Archaic and sternbach" प्रकाशित हुई। इन पुस्तकों में अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ सिद्ध किया गया है कि भारतीय ही अपना सांस्कृतिक प्रसार दक्षिण अमेरिका में कर सके थे।

पुराण वस्तु-वेत्ता जिन पोलिनेशियनों के विषय में यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उनका प्रसार दक्षिण अमेरिका में हुआ, वे तो स्वयं वैदिक संस्कृति के अंग थे। इस बात को मिस्टर किंग ने इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स में बड़ी विद्वत्ता से सिद्ध किया है। उनके अनुसार "प्राचीन पोलिनोशियन गाथाओं में वैदिक मन्त्रों का पूर्णभाव मिलता है। स्वर्ग-नरक, पृथ्वी-आकाश, लोक-परलोक के सम्बन्ध में इन लोगों के विचार पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है कि मानो वहाँ के द्वीप-द्वीप से प्रशान्त महा सागर के जल में वैदिक मन्त्र प्रतिध्वनित हो रहे हैं।[2] डाक्टर रैण्डी ने अपने 'पोलिशियन रिलिजन' नामक ग्रन्थ में कितनी वैदिक गाथाओं का उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि वहाँ की गाथाएँ वैदिक भावों पर ही अवलम्बित हैं। इस प्रकार दक्षिण अमेरिका के विषय में द्वितीय पक्ष ही उपयुक्त तथा प्रामाणिक कहा जा सकता है।

यद्यपि केदारनाथ बसु तथा दीवान चमनलाल जी

---

[1] Spinden : Ancient civilisation of maxico and central America.

[2] इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स भाग ७ जिल्दी २

ने अपने पक्ष का समर्थन पूर्ण वैज्ञानिक ढंग पर किया है, फिर भी समाज के ऐसे कितने विषय अभी अछूते पड़े हैं, जिनसे उनके पक्ष का समर्थन किया जा सकता है

हम मेक्सिको की प्राचीन संस्कृति का जब अध्ययन करते हैं, तो वहाँ के आचार तथा परम्पराओं, नैतिक, वैधानिक तथा सामाजिक नियमों एवं संस्थाओं का मूल, भारतीय धर्मशास्त्रों में प्राप्त करते हैं। यहाँ पर इसी विवरणको प्रस्तुत किया जाता है।

भारतवर्ष में बहुपत्नी विवाह वैध था। ज़िम्मर (Gimmer), केगी, डेलब्रुक इत्यादि जर्मन विद्वानों ने इसका मूल वेदों में भी माना है। राजाओं की अन्यान्य रानियों के इतिहास से तो सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य भरा पड़ा है। उनमें एक महिषी होती थीं। उनको ही सर्व प्रमुखता तथा राज्याधिकार सम्बन्ध प्राप्त था। पत्नियों में भी 'धर्म पत्नी' और 'रखैल' दो कोटियाँ होती थीं। धर्म पत्नियों और महिषियों के पुत्रों को ही उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त था।[3] प्राचीन मेक्सिको में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी।[४] बेनक्राफ्ट नें माया, पेरुषियन जातियों का इतिहास देते हुए लिखा है कि बहुपत्नी विवाह इन जातियों में था, किन्तु धनी लोग ही इसे करने में समर्थ थे।[५] इतना और है कि प्रधान स्त्री और स्त्रियों से सेवित होती थी। पुरुष की वे ही "वैधानिक स्त्री" होती थीं। और उन्हीं का पुत्र उत्तराधिकारी होता था।[६] बेनक्राफ्ट के अनुसार रेडइण्डियन, एजटेक्स, और माया जातियों में पुत्र विहीन विधवा का पुनर्विवाह वैध था।[७] भारतीयशास्त्रों में भी यह नियम, किसी न किसी प्रकार से, स्वीकृत है।[८] वेदों में भी नियोग का वर्णन आता है।[९] प्रसिद्ध समाज शास्त्री विद्वान वेस्टरमार्क के अनुसार इस प्रकार के सम्बन्ध 'बहुपति विवाह' के प्रमाण होते हैं।[१०] इस प्रकार प्राचीन मेक्सिको में बहु-पति विवाह अवश्य था। भारत की जन जातियों में यह प्रथा अब भी पायी जाती है। द्रौपदी का विवाह एक ऐतिहासिक सत्य है। चाहे इसके पीछे कोई भी रहस्य रहा हो। धर्मशास्त्रों में इसके सूत्र पाए जाते हैं।[११] इतना अवश्य है कि 'बहु स्त्री विवाह' की अपेक्षा 'बहु पुरुष विवाह' भारत वर्ष में विकसित न हो सका जैसा कि प्राचीन मेक्सिको में हो पाया था।

मनुके अनुसार 'असपिण्डा' और असगोत्रा के साथ ही विवाह उत्तम माना गया है।[१२] एक ही गोत्र और प्रवर में विवाह सम्भव ही नहीं था।[१३] बेनक्राफ्ट ने भी इसी प्रकार की प्रथा का, मेक्सिको की प्राचीन जातियों में, विश्लेषण किया है। उनके अनुसार यह व्यवस्था कबीलों पर आधारित थी उनमें रक्त-सम्बन्ध के विषय में बड़े विचार चलते थे। अपने कुटुम्ब, कबीले तथा निश्चित समुदाय से विवाह सम्बन्ध नहीं हो सकते थे।[१४] भारतीय शास्त्रों के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध है। यह सर्व मान्य हो सकता है। लेकिन युगान्तर में अनुलोभ विवाह अवश्य मान्य था। इसके अनुसार द्विजातियों में क्रमानुसार कन्या ग्रहण की विधि थी। शूद्र कन्या का ग्रहण निषिद्ध था। जैसा पूर्ण निश्चित है कि भारतीय समाज की तरह अन्यदेशों में, पूर्व कथित कारणों से, वर्ण व्यवस्था सम्भव न हो सकी। फलतः स्वामी और दास, दो वर्गों का प्रादुर्भाव हो गया। इस प्रकार का वर्ग संगठन प्राचीन मेक्सिको में भी हुआ था। बेनक्राफ्ट के अनुसार स्वामी और दास का विवाह परस्पर निषिद्ध था। यदि स्वामी दासकन्या

---

३. मनु० ३।१२; ५।१४९—१५१—१५३। वृ० १।८,१६।; २।५ यम (वारिस्कार पृ० ७४७) याज्ञ० १।५१।; २।१२५। वसिष्ठ १।२४;२५।; १७।४१,५०।

४. Histroy of Maxico P. 322 vol I By clavigero

5. Native races of the pacific states of North America II 671.

६. वही पृष्ठ २६५।

७. वही २।१२५।; १।७३०।;

८. मनु० ४।५ इत्यादि। याज्ञ० १।६८,६९।; नारद ८।८०।; गौ० १८।४।१; २८।२२। वशिष्ठ ११।५६।; आप०— २।२१; २।४। वृ० २५।१२—१४। इत्यादि।

९. ऋग्वेद १०।४०।२।

10. The Histroy of Human marriage II 208 IV.

११. वशिष्ठ—११।१०।; विष्णु० १५।४२।; मनु ४।१८२।; वृ० २५।६०।; कालि का पुराण (वीर-संस्करण पृ० २१२) आगे—वृ० परा०, (वी० सं. पृ० २१३) सामुदायिक विवाह के लिए वृहस्पति स्मृ० २६।२०।; आप० २।२६।२।;

१२. मनु० ३।५।;

१३. मनु० ३।५। विष्णु० २४।९—१०।; शतातप—२ (वीर संस्करण—पृ० ६८३ और ५९०); सुमन्त—(वी० सं. पृ० ६८३) कथक गृ० सू० (वी० सं.—पृ० ६८३) या० १।३।; वशिष्ठ—८।१—२।; देवल (वी० सं. ३७ पृ०) इत्यादि।

१४. वही २।२५१।;

से अपना वैवाहिक सम्बन्ध कर ले, तो स्वामी की स्वतन्त्रता समाप्त समझी जाति थी; और वह भी दास समझा जाने लगता था।[१]

धर्मशास्त्रों में विवाह की अवस्था में स्थान भेद के अनुसार कुछ भिन्नता मिलती है। लेकिन सभी इस बात से सहमत हैं कि ऋतुमती होने के पूर्व विवाह हो जाना चाहिए।[२] महाभारत के मत से कन्या का विवाह १६ वर्ष में होना चाहिए।[३] उनके अनुसार युवक की अवस्था २१-३० हो। ७ वर्ष की कन्या, जिसे 'शैशवी' कहा जाता है, उसकी भी शादी हो सकती है।[४] १० वर्ष की कन्या और २१ वर्ष का युवक विवाह योग्य महाभारतकार भी मानते थे। मनु ने १२ वर्ष की कन्या और ३० वर्ष का युवक यही उत्तम माना है।[५] क्लेविगरो के अनुसार प्राचीन मेक्सिको में २० या २२ वर्ष के युवक के साथ ११ वर्ष की कन्या का विवाह यही उत्तम विवाह माना जाता था।[६] मेक्सिको में भी रजस्वला के पूर्व विवाह अनिवार्य था।

भारतीय विवाह में कन्याएँ 'पितृवशा' मानी जाती थीं। यद्यपि उनकी इच्छा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। युवकों के विषय में भी, कुछ सामान्य परिस्थितियों को छोड़ कर, यही नियम था।[७] इस विषय में कन्या के लिए एक अपवाद था। यदि तीन बार रजस्वला होने तक उसका विवाह उसके माता पिता नहीं करते हैं तो कन्या को अधिकार था कि चाहे वह इस विषय में राज्याश्रय ले, या अपने मनोनुकूल स्वयं अपना विवाह कर ले।[८] क्लेविगरो और बेनकाफ़्ट के अनुसार अमेरिका में युवक और युवती अपने विवाह के सम्बन्ध के लिए अधिक स्वतन्त्र थे; किन्तु अभिभावकों की स्वीकृति अनिवार्य थी। कन्या को स्वयंवरण की स्वतन्त्रता रजस्वला के बाद ही वैध मानी जा सकती थी। इसके पूर्व कोई अधिकार नहीं था।[९]

धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के विवाह विहित हैं। उनमें ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव उत्तरोत्तर क्रम से श्रेष्ठ माने गए हैं। ब्राह्म विवाह सर्वाधिक श्रेष्ठ है। आसुर, गान्धर्व—राक्षस और पैशाच विवाह निकृष्ट माने गए हैं। इनकी भी व्यवस्था वर्णानुरूप हो जाती है; और प्रायश्चित विधान होता है। राक्षस और पैशाच विवाह विक्रीत होते थे।[१०] इतना अवश्य था कि लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से द्रव्य को लौटा देते थे।[११] श्री लुबाक, एजटेक्स जाति के विवाह के विषय में लिखते हैं, "एजटेक्स लोगों में विवाह का माध्यम विक्रय था। वे कन्या को हरण करते थे। बाद में रुपया देकर उसके अभिभावकों को सन्तुष्ट करते थे।[१२] वेत्ज (Waitz) का विचार है कि "एज़्टेक्स कन्या का विक्रय नहीं करते थे। इतना अवश्य था कि वे कन्या के बदले में कुछ उपहार अवश्य स्वीकार करते थे।"[१३]

कौटिल्य ही एक ऐसे अर्थशास्त्री हैं जिन्होंने खुल कर लिखा है "परस्परद्वेषान्मोक्षः" अर्थात् पति-पत्नी का आपस में यदि वैरभाव हो तो वे अलग हो सकते हैं। लेकिन कौटिल्य दो प्रकार का विवाह मानते थे, धर्म तथा अधर्म। यह व्यवस्था अधर्म विवाह के विषय में ही थी। धर्म विवाह में वे विलगाव नहीं मानते। "अमोक्षो हि धर्म विवाहानाम्"। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी थी जिनमें पुरुष स्त्री को त्याग सकता था।[१४] इन सबों को यहाँ पर स्थानाभाव से नहीं लिखा जा सकता।

---

१. बेनक्राफ्ट—वही २।६५६। २. मनु ४।४८—४६; बौ० ४।१।११; गौ० १८।२१। वशिष्ठ—१७।७०। ३. महाभारत—१३।४४—१४ ४. आपस्तम्ब और आश्वलायन गृह्यसूत्र। ५. मनु पृ० ६४। ६. Histroy of Maxico I, 3,9. ७. मनु ३।२७—३१; मौ० ४।४।११; औ० १।११।२।-—१।११।७; आप० २।११।१८७; २।१२।१; वशिष्ठ—१।३१।३५, वि० २४।२०।—२४, या० १।५६।६१; ८. मनु ४८६-६०; महाभारत १३।४४—४५। बौ० पृ०।१०—१४।—१८२०। वशिष्ठ १७।६७—६८। विष्णु०—२४।४०। या० १।६४। ना० १२।२२-२३। ६. Histroy of Maxico by Clavigero I 360 and Native races—Baneraft II 25 १०. मनु ३।३६,३३,३४; याज्ञवल्क्य १।१६,५८,६१। आप० २।५,११,१२,१८। इत्यादि ११. Hindu social organisation, by Pandheri Nath Prubhu & A social study of the forms of Marriag in Ancient India by Sternbach. १२. Oring P. G. १३. Anthropology IVP. 104 १४. मनु ६।८०।८१। या० १।७३। ना० १२।६२। बौ० २।४,६। इत्यादि.

उनका निष्कर्ष यही है कि यद्यपि स्त्री त्याग के लिए नियम थे; किन्तु वे इतने कठोर थे कि त्याग सम्भव बहुत कम था। यदि उन नियमों की अवहेलना करके कोई स्त्री त्याग करता था, तो उसे चोरों के लिए विहित दण्ड दिया जाता था।[1] बेनक्राफ़्ट ने इस विषय पर (एजटेक्सों के तलाक पर) बड़ा सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है।[2] उसके अनुसार "यद्यपि इन लोगों में तलाक का सूत्र था, फिर भी सामान्यतया सरल नहीं था। तलाक के लिए पति-पत्नी को न्यायालय में आवेदन पत्र देना पड़ता था।" आगे बेनक्राफ़्ट लिखता है "जो रखैल स्त्रियाँ होती थीं उनको भी तलाक देना साधारण नहीं था।" वहीं पर गोमरा का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि "जो वैधानिक स्त्री होती थी उसे अपराधों के कारण तलाक नहीं दिया जा सकता था, बल्कि कठिन से कठिन दण्ड, यहाँ तक कि मृत्यु दण्ड दिया जा सकता था।" टार्कुमेड़ा के अनुसार "धर्मपत्नी को कुछ खास दोषों के कारण जो कि न्यायालय में बड़ी ही कठिनाई से सिद्ध किए जा सकते थे—ही तलाक सम्भव हो सकता था।"[3] निष्कर्ष यह कि तलाक सामान्यतया व्यवहार्य नहीं बनाया गया था।

इन वैवाहिक नियमों की समानता के अतिरिक्त बहुत और सम्बन्ध हैं जो कि भारतीय प्रभाव को पूर्णतया स्पष्ट करते हैं। प्रमाण के लिए हम चोरों के लिए दोनों देशों में विहित दण्डों को देख सकते हैं। स्त्रियों के व्यभिचार तथा अन्य दण्ड भी इसी प्रकार की समानता रखते हैं। चोर को शारीरिक दण्ड (हाथ, जिह्वा इत्यादि काट लेना) दोनों देशों में वैध था।[4] मेक्सिको के दण्ड भारत की अपेक्षा अधिक कड़े थे। स्त्रियों को जिन साधारण अपराधों पर मेक्सिको में शारीरिक दण्ड दिया जाता था;[5] उन पर भारतीय धर्मशास्त्रों में मात्र आर्थिक दण्ड दिया जाता था।[6] माया और इनके जातियों में जादू, सम्मोहन के अभियोग में शरीर भंग का व्यवहार वैध था।[7] लेकिन इसके लिए मनु तथा कौटिल्य ने मात्र आर्थिक दण्ड माना है।[8] जैसा कि तलाक़ के विषय में हमने दिखाया है कि स्त्री वध भी मैक्सिको में वैध था। लेकिन भारतीय धर्मशास्त्रों में स्त्री वध सर्वथा निषिद्ध था। उपरोक्त स्थिति में तो उसका त्याग ही किया जाता था। कुछ व्यवहारों में अङ्गच्छेद ही सम्भव था।[9]

इन सम्पूर्ण बातों को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय ही दक्षिण अमेरिका में बस सके थे। यह भी सम्भव है कि हमारा विश्वास, सत्य से दूर मात्र विश्वास ही हो। लेकिन इसके लिए हमें वास्तविक समाज-शास्त्र के विद्यार्थी के रूप में खोज करनी चाहिए। इसके लिए पूर्वनिश्चित कोई विचार मस्तिष्क में नहीं होना चाहिए। दक्षिण अमेरिका ही क्यों, सामाजिक नियम, उपासना इत्यादि के क्रमों का सावधानी पूर्वक तथा तुलनात्मक रूप में अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। भगवान् की कृपा से हम आज ऐसी स्थिति में हैं कि अपनी बात विश्व के सम्मुख रख सकते हैं। अतएव विद्वानों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

धर्म संघ, शिक्षा मण्डल,
दुर्गाकुण्ड, काशी

—हरिहरनाथ त्रिपाठी

"'जो कुछ करे वह मुझे अर्पण करके मेरे निमित्त कर'—गीता का यह वाक्य मैं हर क्षण प्रत्यक्ष अनुभव किया करता हूँ और रस के घूँट पिया करता हूँ—महात्मा गांधी

---

[1] विष्णुस्मृति ५। १६३। याज्ञ० १।६६।;२।२३६। मनु० ८।३८६। [2] Native Race II P. 265. [3] Monarehia Madiana (यहाँ पर Madiana से तात्पर्य रेड इण्डियनों से है) [4] Waitz : Anthropology; और मनु ८।३२२।; विष्णु० १५।८१-८२। [5] Waitz-Anthropology IV-48 [6] मनु ८।३७२। [7] Waitz—do—IV 85 [8] मनु ४।२५८, २६०। कौ० ४।१३ [9] स्मृतिच II पृ० २४६ वहीं पर, परा० मा० III ४७७।

बुद्ध-काल में ग्रामीण जीवन

बुद्ध-काल में ग्रामीण जनता का जीवन-स्तर कैसा था, इसे जानने के लिए हमें तत्कालीन साहित्य, शिल्पकला तथा प्राप्त पुरातत्वीय सामग्रियों पर ध्यान देना चाहिए। पाली साहित्य तथा बौद्ध तीर्थों में प्राप्त कलाकृतियों से इस सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी होती है। सारनाथ, कुशीनगर, नालन्दा, साँची, भरहुत, अजन्ता, बाघ आदि स्थानों की प्रतिमाओं तथा चित्रकलाओं से हम जानते हैं कि उस समय भारतीय ग्रामीण-जीवन बहुत विकसित था।

बुद्ध काल में भारत अनेक जनपदों में विभक्त था। उन जनपदों में कुछ में गणतन्त्र शासन व्यवस्था थी, और कुछ राजसत्तात्मक थे। उस समय उत्तर भारत में श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह और चम्पा प्रमुख तथा बड़े नगर थे। शेष निगम, कस्बा एवं ग्राम थे। ग्रामों में जो लोग रहते थे, उनके घरों का निर्माण कैसा होता था और वे कैसे जीवन यापन करते थे, इस सम्बन्ध में हम यहाँ विचार करेंगे।

भगवान् बुद्ध के सम्पर्क में धनी, निर्धन, नगरवासी और ग्रामीण सभी प्रकार की जनता आई थी, तथागत ने सब को समान रूप से धर्म का उपदेश दिया था। किन्तु सर्वप्रथम नगरवासियों ने ही उनके उपदेश को सुना और लाभ उठाया। ग्रामीण जनता को तथागत के वचन पीछे सुनने को मिले। तथागत ने पहले वाराणसी, राजगृह, श्रावस्ती आदि नगरों के पास ही निवास किये और वहीं प्रवचन किए। पीछे उन्होंने ग्रामों में विचरण किया अतः पाली साहित्य में ग्रामों का वैसा उल्लेख नहीं है जैसा कि नगरों का। फिर भी विनय पिटक आदि ग्रन्थों से तत्कालीन ग्रामों के निर्माण के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भिक्षुओं के लिए बने हुए विहारों से भी उनकी व्यवस्था एवं निर्माणशैली का ज्ञान होता है।

उस समय ग्रामों की अपनी एक व्यवस्था होती थी। प्रत्येक ग्राम में एक मुखिया होता था, जिसे ग्राम प्रमुख अथवा 'ग्रामपामोक्ख' कहा जाता था। वह ग्राम की हर परिस्थिति का ध्यान रखता था। उससे परामर्श करके ही घर आदि बनाए जाते थे। घर के निर्माण में ईंट, लकड़ी, मिट्टी, चूना और गारा का प्रयोग होता था। गाँवों के अधिकांश घर मिट्टी और छप्पर के बनते थे, घरों के बीच में प्रांगण होता था। चारों ओर से घेर कर कोठरियाँ हुआ करती थीं। रसोई घर, पनाले आदि की भी व्यवस्था रहती थी। निर्धन लोगों के घर प्रायः झोंपड़ियाँ हुआ करती थीं। अनाथों के लिए अनाथालय भी बने होते थे। बड़े नगरों में अनाथालय प्रायः नगरद्वार पर बने होते थे। इन अनाथालयों में असमय में आए लोग भी द्वार बन्द हो जाने के बाद विश्राम किया करते थे। कोशल-नरेश प्रसेनजित की मृत्यु वैसे ही राजगृह के अनाथालय में हुई थी।

ग्रामीण लोग नदी, नाले, जलाशय तथा कुओं के पानी पिया करते थे। कुएँ प्राचीन ढंग के होते थे। उनकी जगतें ऊँची होती थीं। कुओं पर स्नान करने के स्थान बने होते थे। कुओं से पानी लेने की रोक किसी के लिए भी नहीं थी। समाज में वर्ण व्यवस्था थी, किन्तु छुआछूत जैसी प्रथा नहीं थी। पाली साहित्य में कहीं भी ऐसा वर्णन उपलब्ध नहीं है, जिससे यह ज्ञात हो कि उस समय एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों से घृणा करें या छुआछूत की भावना रखें। संस्कृत भाषा के ग्रन्थ दिव्यावदान में भिक्षु आनन्द और चाण्डाल कन्या की जो कथा आई है, वह पीछे की है, उसकी रचना छुआछूत के प्रचार होने के बाद हुई अतः वह कथा पश्चात्कालीन समाज की वर्ण व्यवस्था की भयानकता की द्योतक है। उन दिनों ग्रामों में प्याऊ की भी व्यवस्था थी। प्याऊ स्थापित करने में बहुत पुण्य समझा जाता था। भगवान् बुद्ध ने भी लोगों को सार्वजनिक सेवा का महत्व बतलाते हुए कहा था।

"बगीचे और उपवन लगाने वाले
पुल बँधवाने वाले
प्याऊ बैठाने वाले, कुँआ खोदवाने वाले
राहगीरों को शरण देने वाले
पुरुषों के दिन रात सदा पुण्य बढ़ते रहते हैं

धर्म पर दृढ़ रहने वाले, शील से सम्पन्न
वे ही स्वर्ग जाने वाले हैं"

—(संयुक्त निकाय १।५।७)

ग्रामीण जनता से राजकीय कार्यों में निःशुल्क सेवा भी ली जाती थी। बड़े माने जाने वाले लोगों के यहाँ भी निर्धनों को बेगार में काम करना पड़ता था। कभी-कभी काम न करने से शारीरिक अथवा आर्थिक दण्ड तक दिया जाता था। मठ-मन्दिर के काम प्रायः निःशुल्क ही हुआ करते थे। इस बात के अपवाद गणतन्त्रीय जनपदों के ग्राम भी नहीं थे। ग्रामों में ऋण लेने की भी प्रथा थी। लिए हुए ऋण का एक निर्धारित ब्याज देना होता था। चरिया पिटक की एक कथा से ज्ञात होता है कि कितने ही व्यक्ति धनिकों से पीड़ित होकर आत्महत्या तक कर लेते थे। धनिकों द्वारा निर्धय लोगों का शोषण हुआ करता था। ग्रामीण जनता की कमाई से राजाओं एवं राजमहामात्यों का खजाना तो भरता ही था, उनकी प्रेयसियों का भी सौन्दर्य प्रसाधन निर्मित होता था।

विवाहों में अधिक धन व्यय करने की प्रथा थी। नाच-तमाशे में भी बहुत धन नष्ट होता था। यज्ञ, हवन, बलि, पूजा आदि में उनका विश्वास था, जिसके लिए असंख्य पशुओं की हिंसा हुआ करती थी। घर की बहू-बेटियों को सभी गृह कार्यों में निपुण होना आवश्यक था। धार्मिक कार्यों में महिलाएँ समान भाव से सम्मिलित होती थीं। समाज में महिलाओं के लिए वैसा सम्मानित स्थान नहीं था, फिर भी तथागत के उपदेशों का जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। बुद्ध-शासन का भिक्षुणी समाज इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है।

पुरुष धोती और अंगरखा पहनते थे। ऊपर से सदा एक उपरनी ओढ़े रहने की चलन थी। कोई-कोई सिर पर पगड़ी भी बाँधते थे। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। कंचुकी की प्रथा महिलाओं में थी, जिससे केवल वक्षस्थल ही ढके होते थे। महिलाओं का सिर नाना प्रकार के आभूषणों से सुशोभित रहता था। उनके केश अष्टपद आदि अनेक केश-विन्यासों से सजे होते थे। ललाट पर बिन्दी, पैरों में महावर तथा कटि में करधनी आदि भी होते थे। इन सब बातों की जानकारी पुरातत्व सामग्रियों से की जा सकती है।

ग्रामों के लोग श्रद्धालु एवं धार्मिक होते थे। श्रमण—सन्यासियों में उनका विश्वास था। इसीलिए वे श्रद्धापूर्वक उन्हें दान दिया करते थे। बुद्ध-कालीन ग्रामीणों का जीवन सादा तथा सन्तोषी था। ग्रामीण जनता सदा प्रसन्न रहती थी। बुद्ध-कालीन ग्रामीण जीवन पर तथागत के उपदेशों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि बुद्ध-धर्म कुछ काल के लिए उसकी नसों में रम गया।

सारनाथ,
वाराणसी

—भिक्षु धर्मरक्षित

अमरीका की एक कंपनी ने एक ऐसी स्याही तैयार की है; जिसके द्वारा लिखे गए शब्द या अंक किसी प्रकार मिटाए नहीं जा सकते। इस स्याही में एक प्रकार के चमकीले पदार्थों का सम्मिश्रण रहता है। यह पदार्थ कागज को बड़ी गहराई से पकड़ लेता रबड़ अथवा पानी द्वारा चाहे उसका ऊपरी भाग नष्ट भले ही हो जाय किन्तु स्याही द्वारा अंकित समस्त चिह्न मूल रूप में विद्यमान रहते हैं। अल्ट्रा वायलेट प्रकाश के सम्मुख उक्त प्रकाशमान पदार्थ चमकने लगता है और पुनः संपूर्ण अक्षर अपने असली रूप में प्रकट हो जाते हैं। इस स्याही का आविष्कार बैंक के चेकों और अन्य बहुमूल्य रेकार्डों और कागजों को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने में पर्याप्त सहायता प्रदान करेगा।

बूढ़े की आँखें

कलेक्टर सोकल हमारे जिले में अभी हाल में ही बैतूल से स्थानतरित होकर आए हैं। इसके पहले आप बैतूल में डिप्टी कलेक्टर ही थे किन्तु तीन साल की अल्पावधि में ही आपको कलेक्टर के पद को सुशोभित करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। यह बात आश्चर्य की नहीं तो भी महत्वपूर्ण अवश्य थी। क्योंकि आई. ए. एस. करने के बाद इतनी जल्दी कलेक्टरी का पद प्राप्त होना अपवाद ही है। तीन साल का अल्प समय और तरुणावस्था में कलेक्टर हो जाने के पीछे किसी की सिफारिश होना चाहिए अथवा उस व्यक्ति में कोई असाधारण प्रतिभा हो। और फिर ठहरा आज का युग जब कि हज़ारों बी. ए., एम. ए. और डाक्टर, गजेटेड आफ़िसर होने के लिए गली की ख़ाक छानते फिरते हैं परन्तु उन्हें कोई नहीं पूछता भले वे कितने ही विद्वान् हों!

में पत्रकार और चित्रकार दोनों हूँ। पत्रकार होने के नाते मुझे प्रायः जीवन में होने वाली प्रत्येक बातों और घटनाओं से परिचित होना आवश्यक है। और साथ हीं साथ एक पत्र "नव-चेतना" का संपादन भी करता हूँ। अतः मुझे श्री सोकल जी के सम्बन्ध में कि वे क्यों इतने जल्दी कलेक्टर हो गए बहुत कुछ मालूम हो चुका था। उसका कारण उनका मधुर स्वभाव, कार्य-क्षमता और असाधारण प्रतिभा ही थी। यथार्थ यह है कि सोकल साहब के विनम्र स्वभाव ने उन सब पर अपनी योग्यता की छाप लगा दी जो उनके सम्पर्क में आए। किसान से लेकर मिनिस्टर तक उनके सुझावों की दाद देते हैं। जब आपकी नियुक्ति बैतूल में हुई उस समय वहाँ विकास योजनाओं का कार्य चल रहा था। सरकार ने आपको जिले की विकास योजनाओं की देखरेख का कार्य सौंपा, उस समय आपसे यह आशा नहीं थी कि आप कुछ कर दिखावेंगे। आपने जो कार्य किए उनसे मैं अपने संवाददाता के द्वारा भली भाँति समय समय पर परिचित होता रहता था। बैतूल जिले के किसान वर्ग आपके मधुर स्वभाव और साहबी की बू से रहित व्यवहार से आपकी भक्त बन बैठी थी। आप किसानों को साथ लेकर विकास के कार्य स्वयं अपने हाथों से करते थे। यदि किसान गड्ढा खोदते तो आप भी उनके साथ कुदाली चलाते, किसान सड़क पर मिट्टी डालते तो आप भी डलिया उठा कर उन्हें देते, किसान पैदल चलते तो आप भी उनके साथ दस-बारह मील पैदल चल देते। आप की ही प्रेरणा और सहयोग से पिंजारा और चिंचोली के बीच पंद्रह मील लम्बा कच्चा रास्ता आज पक्की सड़क बन गया है। पूरगाँव के तालाब का जीर्णोद्धर किया गया जिससे आज तीन हजार एकड़ बंजर ज़मीन में फ़सल लहलहाने लगी है। आपने एक विशेष कार्य और किया। वह है जंगली इलाकों में स्कूल खुलवाना और मुफ़्त शिक्षा की व्यवस्था करना।

यद्यपि आप जाति के कुम्हार हैं किन्तु फिर भी आप में अभिजातवंशीय गुण और लक्षण मौजूद हैं। यहाँ तक की बैतूल जिले के गाँवों के कट्टर ब्राह्मण तक आपके साथ खाने में कोई हिचक नहीं करते थे। आप कह सकते हैं कि सत्ता के आगे सब पानी भरते हैं। आपके कथन पर मैं सहमत हूँ किन्तु यदि सत्ताधारी व्यक्ति के पास प्रेम और हृदय नाम की वस्तु हो तो हर व्यक्ति उसका भक्त बन सकता है। यों तो गाँव के भोले भाले और उच्चके लोग भी कलेक्टर को अपना राजा समझते हैं। जिस गाँव के रास्ते उसकी कार निकल गइ उधर सन्नाटा छा जाता है। अंग्रेज़ों का राज्य था उस समय तो और भी कलेक्टर का नाम जपा जाता था। बहुधा गाँवों में लड़ाई झगड़े होने पर 'बड़ा आया कलक्टर' कह कर अपने प्रतिद्वंदी के प्रति व्यंग कसते हैं। यदि कलेक्टर किसी से दो शब्द भी बोल ले तो वह व्यक्ति अपने आपको बड़ा भाग्यशाली समझता है। जब श्री सोकल साहब ने पिंजारा गाँव के किसानों की एक सभा में 'आपका सेवक हूँ' कहा तो किसके हृदय में उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम की भावना न प्रकट हुई होगी। हृदय की सन्निकटता ही महान कार्यों का उद्गम है।

इस प्रकार उनके कार्यों से बैतूल जिले की ग्रामीण जनता बड़ी प्रसन्न थी। जब उनका तबादला हुआ उस

समय कुछ मुख्य मुख्य ग्रामीण नेताओं ने उनके आकस्मिक स्थान्तरण को रुकवाने की कोशिश भी की थी। ऐसा विरला ही दिन जाता होगा जब उनके सम्बन्ध में अपने संवददाता से प्रकाशनार्थ कुछ न पाता होऊँ। मैंने उनकी पदोन्नति और अपने ही नगर में कलक्टर हो कर आने का समाचार 'जिले के लिए गौरव और भाग्य की बात है' शीर्षक देकर प्रकाशित किया था।

उनको मेरे नगर में आए लगभग छै महीने हो गए थे। मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि किसी दिन बंगले पर पहुँच कर इस व्यक्ति से जान पहिचान करना चाहिए और साथ ही साथ उनका थोड़ा जीवन परिचय भी प्राप्त किया जाए। किन्तु बीमार पड़ने के कारण उनसे न मिल सका। आज जब उन्होंने 'भारत आर्ट्स स्कूल में, जिसे खुलवाने और उद्घाटन करने का श्रेय भी उनको ही मिला, चित्रकारी एवं ललित कला पर एक बड़ा ही विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित भाषण दिया तो मैं उनसे मिलने का लोभ संवरण न कर सका। उनके भाषण से मैंने जान लिया कि वे भी चित्रकारी में कुछ न कुछ दखल अवश्य रखते हैं। मैं भी जैसा कि मैंने पहले ही घोषित कर दिया है कि एक चित्रकार हूँ। अतः मैंने समारोह समाप्त होने पर उनसे बातचीत करने की अनुमति माँगी। मैंने अपना परिचय 'नव-चेतना' के सम्पादक के रूप में दिया। वे स्वयं ही मेरे उद्देश्य को समझ गए और बोले—"आपसे मिल कर मैं बहुत खुश हुआ। मैं चाहता हूँ अतः निवेदन करता हूँ कि आप मेरे यहाँ पाँच बजे शाम को चाय में अवश्य शरीक हों।"

"जी, अच्छा," मैंने कहा।

"भूलिएगा नहीं, नहीं तो आपको ठण्डी चाय पिलवाऊँगा। वे मुस्कराए मैं भी उनकी मुस्कराहट में शरीक हो गया। मैं भी यही चाहता था क्योंकि इस समय दूसरे अन्य अफ़सरों के समक्ष किसी के जीवन से सम्बन्धित बातें पूछना असभ्यता ही थी। इतना कह कर वे अपनी कार में बैठ गए। मैं उनके व्यक्तित्व से बड़ा ही प्रभावित हुआ। ऊँचा पूरा हसीन नौजवान जिसके मुख पर तेजपूर्ण आभा नेत्रों में किसी को भी आकर्षित करने की शक्ति। सचमुच वह हृदय और मस्तिष्क का सन्धिस्थल है। मैं सोच रहा था।

ठीक पाँच बजने के दस मिनिट पूर्व ही मैं उनके बंगले पर जा धमका। मुझे देखते ही एक चपरासी मेरे पास आया और मुझसे पूछा—क्या आप 'नवचेतना' के सम्पादक महोदय हैं?

"हाँ, वही हूँ, क्यों क्या साहब बंगले पर नहीं हैं? मैंने एकदम पूछा।

"हैं क्यों नहीं, उन्होंने आपको ड्राइंग रूम में बैठाने का आदेश दिया है।

"ओह! ठीक है।" और मैं चपरासी के पीछे पीछे कमरे में प्रविष्ट हुआ।

साहब पाँच मिनिट बाद आते हैं, आप बैठिए यह कह कर चपरासी बाहर चला गया और मैं कमरे में अकेला रह गया। कमरा बड़ा अच्छा सजा था। बड़ी आलमारी में अंग्रेज़ी और हिन्दी के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ सजे थे। दीवालों पर कुछ चित्र और कलैण्डर टंगे थे। मेरे विचार से कुछ चित्र शायद कलक्टर साहब ने अपने ही हाथों से बनाए थे। मुझे सब चित्रों में से एक बूढ़े का चित्र बहुत पसन्द आया। इस चित्र में जीवन का यथार्थ और कल्पना साकार हो उठी थी। रंगों का चुनाव भी कितना सुन्दर हुआ था। बूढ़ा, कमर झुकी हुई, सिर के ऊपर लकड़ियों का गट्ठा और एक हाथ से लकड़ी टेकता हुआ नंगे पैरों लकड़ियाँ बेच रहा है। वह नहीं जानता कि लकड़ियों की उसे स्वयं आवश्यकता है। वह मृत्यु के बिलकुल पास पहुँच गया है किन्तु उसके झुर्रियों भरे पोपले चेहरे पर न जाने क्यों एक तीव्र आशा की झलक दिखाई दे रही है। उस तसवीर के नीचे छोटे छोटे शब्दों में 'जीवन का रहस्य' यह पंक्ति उद्धृत थी। मैं इस पंक्ति को ठीक ठीक नहीं समझ सका। मैंने बहुत से अर्थ लगाए परन्तु मैं उनसे सन्तुष्ट नहीं हुआ। कुछ बच्चों की तसवीरें भी वहाँ थीं। मुझे एक दस बारह वर्ष के बच्चे का चित्र जो शायद कलेक्टर के कुशल हाथों का ही निर्माण था, काफ़ी पसन्द आया। लड़का बड़े ही भावुकता से डूबते हुए सूरज को खजूर के पेड़ों की पृष्ठभूमि में रेत पर खड़ा खड़ा देख रहा है। उसकी बड़ी बड़ी आँखों से एक असीम कौतूहल और दृढ़ता टपक रही थी। इतने में किसी के पैरों की आहट से मेरा ध्यान भंग हुआ। "कहिए साहब, किसे देख रहें हैं?" कलक्टर साहब ने कमरे में प्रवेश करते ही मुझसे पूछा।

"नमस्ते" मैंने मुस्कराते हुए कहा और उन्होंने भी नमस्ते कह कर मेरा अभिवादन किया।

"क्या यह चित्र आपके हाथों का ही कौशल है ?" मैंने उन चित्रों की ओर तर्जनी से संकेत करते हुए कहा ।

"जी हाँ मेरे ही समझ लीजिए ।" कलेक्टर साहब ने सोफ़े पर बैठते हुए कहा ।

"बहुत ख़ूब क्या कमाल ढाया है आपने, जी चाहता है आपके हाथ चूम लूँ । कितनी ऊँची कला है ।"

"आपने तो मुझ नाचीज़ को न जाने क्या समझ लिया है ।"

"निसन्देह, मैं आपकी साधना के सम्मुख नतमस्तक हूँ ।" मैंने श्रद्धा का भाव चेहरे पर लाते हुए कहा । मैंने आगे पूछा "क्या आपने अपने चित्रों को किसी पत्र में प्रकाशित करवाये हैं ?"

"जी नहीं प्रकाशन के सम्बन्ध में मैंने ऐसी कोई बात नहीं सोची । क्योंकि मैं नहीं समझता कि वे प्रकाशित हो सकते हैं । और आपके विचार से वे प्रकाशन के योग्य हैं तो भी मैं नहीं चाहता कि वे प्रकाशित हों । मैंने अपने आपको कभी कलाकार नहीं समझा और न ही इस क्षेत्र में मैं कलाकारिता का दावा कर सकता हूँ । जहाँ तक साधना का सम्बन्ध है मैं समझता हूँ कि मैंने इस कला में कोई साधना भी नहीं की । जब मैं पढ़ता था उस समय मुझे इस कला से रुचि अवश्य हो गई थी और उस रुचि का एक कारण था । इतना कह कर वे रुक गए और नौकर को पुकारा उसके आने पर उन्होंने चाय तैयार करने का आदेश दिया ।

"हीरा अपने आपको कोयला ही समझता है किन्तु पारखियों की दृष्टि में आने पर वह कोयला नहीं रहता ।" मैंने प्रशंसा का पुल बाँधा । मेरे अतिशयोक्ति वाक्य को वे समझ गए अतः उन्होंने कुछ नहीं कहा ।

"क्या, अभी भी आप इस कला की पूजा करते हैं ?" मैंने बात को आगे बढ़ाते हुए पूछा ।

"जी, करता हूँ किन्तु अब मैं सच्ची पूजा करता हूँ ।" उन्होंने गांधीजी के चित्र की ओर दृष्टि डालते हुए कहा ।

"क्षमा कीजिए, मैं आपके कथन को समझ नहीं सका ।"

"मैं कला की उपासना सेवा से समझता हूँ । मैं अपनी कला को मूर्त रूप देना चाहता हूँ । मैं कागज़ पर की गई कला की उपासना को बुरा नहीं समझता किन्तु मानव की सन्तुष्टि फिर भी अधूरी ही रह जाती है । प्रकृति की बनाई हुई जीती जागती तस्वीर मनुष्य है, वह आज अपने कार्यों और विचारों से कितनी भद्दी और अपंग होती जा रही है । उसके विकृत स्वरूप को सौन्दर्य और आनन्द प्रदान करने के लिए हमें उसे प्रेम और विश्वास की कूची से सुधारना है । मैं अपना जीवन इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु लगा देना चाहता हूँ । मेरी साधना यही होगी । और मुझे मेरे मनोनुकूल कार्य करने का अवसर भी मिला है ।" इस समय उनका चेहरा भावुक हो गया था । उनकी आँखों में सचमुच में एक प्यास थी । "यह तो सर्वश्रेष्ठ तरीक़ा है ।" गांधीजी भी यही कहा करते थे । मैंने उनके विचार का आदर करते हुए कहा ।

इस समय वे फिर मुस्कराने लगे । मुझे ऐसा लगा कि वे मेरे मन की बातों से पहले ही परिचित हो गए । वे बोले, "मैंने अपने अध्ययन काल में कुछ चित्र बनाए थे । वे चित्र एक कहानी प्रस्तुत करते हैं । आपको सम्भव है पसन्द आएँ । क्या आप उन्हें देखने का कष्ट करेंगे ?" "अवश्य मैं तो इस कला का बहुत बड़ा पुजारी हूँ । विशेषकर मैं आपकी इस कला को देखने ही आया था । मैंने अपनी उत्सुकता बतलाते हुए कहा । और कलेक्टर साहब ने आलमारी में से एक मैला-सा अलबम जो शायद काफ़ी पुराना हो चुका था, निकाला और मेरे सामने टेबिल पर फैला दिया । वे मेरी बगल में खड़े होकर अलबम को खोलने लगे ।

प्रथम चित्र वही बूढ़े का चित्र था जो मैंने अभी दीवार पर लगा हुआ देखा था । किन्तु आकार में यह उससे छोटा था । अलबम का चित्र दीवार पर टँगे हुए चित्र से काफ़ी पहले का बना हुआ दिखता था । फिर भी काफ़ी अच्छा था । मैंने फिर तारीफ़ की—'बहुत सुन्दर', "यहाँ से एक कहानी प्रारम्भ होती है ।" कलेक्टर साहब ने कहा और उन्होंने दूसरा चित्र खोला इस चित्र में एक गंदे और फटे पुराने कपड़े पहने एक दस-बारह साल का लड़का बस स्टैंड के क्यू में खड़ा हुआ किसी सज्जन की जेब काट रहा था ।

'प्रथम चित्र और इस चित्र से क्या सम्बन्ध ?' मैंने पूछा । और कलेक्टर साहब बोले—"वह बूढ़ा इस बदमाश लड़के का बाप है । बूढ़े की उम्र चालीस पैंतालीस के लगभग है किन्तु क्षय ने उसे जर्जर कर दिया है । बूढ़े के मन में एक तीव्र इच्छा थी कि वह भी और

लोगों जैसा पढ़े किन्तु उसकी तूफ़ानी परिस्थितियों ने उसे पढ़ने नहीं दिया। बुढ़ापे में बच्चा हुआ और माँ को खा गया। परन्तु बाप अपनी जवानी और जवानी के अधूरे संकल्पों एवं अधूरी इच्छाओं की पूर्ति अपने लड़के में देखना चाहता है। सुयोग्य लड़के में पिता मोक्ष की कल्पना करता है। किन्तु इस बूढ़े की आकांक्षा फलीभूत होते नहीं दिखती फिर भी इस बूढ़े में एक अदम्य आत्मिक शक्ति है। देखिए उसके मुख पर यह प्रकाश की चमक है।"

"किन्तु लड़का तो अयोग्य है। आपको तो उसके मुख पर निराशा और थकान के भाव अंकित करना था।" मैंने अपना मत और शंका व्यक्त की।

"मृत्यु के निकट व्यक्ति में निराशा और आशा के बीच का भाव आ जाता है। व्यक्ति की उद्दाम आशाएँ निराशा में बदलती जाती हैं किन्तु एक ऐसा भी क्षण आता है जब आशा और निराशा के प्रति तटस्थता का भाव आ जाता है। उसका उद्देश्य स्थिर हो जाता है। तूफ़ान शान्त होने पर जिस तरह वातावरण में स्वच्छता और शोभा आ जाती है उसी तरह इस बूढ़े के हृदय में भी एक स्थितप्रज्ञता जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई है। जो उसके प्रफुल्लित चेहरे से छुप नहीं सकती। उसके सम्मुख कर्तव्य ही शेष है।" कलेक्टर साहब ने गम्भीर होकर कहा। और तुरन्त ही तीसरा चित्र खोला—इसमें उस बूढ़े को एक फूस के चौपाल में खटिया पर लेटे हुए दिखलाया था। बूढ़ा मृत्यु का आलिंगन कर रहा था परन्तु उसका चेहरा उसके लड़के की ओर था जो उसके पास खड़ा खड़ा आँसू बहा रहा था। दोनों की आँखें एक हो रहीं थीं। बूढ़े की आँखों में एक मूक याचना थी। जिसे लड़का समझ रहा था, अथवा नहीं?

"आप शायद इस चित्र का भाव अवश्य समझ गए होंगे?" कलेक्टर साहब ने मेरी ओर देखते हुए पूछा।

"अच्छी तरह" मैंने बनावटी विश्वास के साथ कहा। अब कलक्टर साहब ने चौथा पृष्ठ खोला। इसमें भी उसी लड़के का चित्र था। लड़का चुपचाप एकान्त में नदी के किनारे खड़ा होकर डूबते हुए सूरज की लाल परछाईं से रंगी हुई नदी की चंचल और असंख्य लहरों को बनते और बिगड़ते देख रहा था। उसकी शरारत भरी आँखों में एक कौतूहल और जीवन का सत्य अंकित हो रहा था। वह उस शान्त और सात्विक प्रकृति के अंचल में शायद बूढ़े की आँखों का लेख पढ़ रहा था।

मैंने भी इस कहानी में रस लिया और इसकी गहराई को समझने का यत्न करने लगा। अवश्य इसमें एक महान् रहस्य है, मैंने सोचा। इतने में नौकर चाय लेकर आ गया और कलेक्टर साहब अपने सोफ़े पर चाय बनाने के निमित्त पुनः जाकर बैठ गये। उन्होंने चाय की प्याली मेरे हाथ में देते हुए कहा—"चाय पीजिए।" किन्तु मैं उस चित्रमय कहानी के बारे में ही सोच रहा था। मैंने चाय की एक चुस्की लेकर पाँचवें चित्र को और भी कुछ समझने' के लिए खोला। पाँचवें चित्र में लड़का एक झोंपड़ी के भीतर बैठा हुआ बड़े मनोयोग से दीपक के मन्द प्रकाश में एक पुस्तक को पढ़ रहा था। उसके मुख से एक दृढ़ता और लगन टपक रही थी। उसमें शायद किसी उद्देश्य की भावना निहित थी। अब मैं उस कहानी का प्रायः ठीक से अर्थ लगाने में समर्थ हो गया था। वह गन्दगी में पैदा हुआ पुष्प था जो एक कालिमामय वातावरण में पनप रहा था किन्तु अब उसने जीवन का शाश्वत स्पर्श पा लिया था। अब वह पूर्णतः फूलेगा और फलेगा।

यद्यपि चित्र बहुत सादे और कला विहीन थे परन्तु उनमें एक महान् भाव और जीवन के सत्य का प्रादुर्भाव हो रहा था। मैंने एलबम बन्द करके रख दिया और उसके बनाने वाले की प्रतिभा की मन ही मन सराहना करने लगा। "तो कलक्टर साहब में साहित्यिक रुचि भी है?" मैंने उनकी ओर वक्र दृष्टि से देखा।

"आप जो कुछ समझें पर मैंने कभी ऐसा नहीं सोचा कि मैं कभी साहित्य से प्रेम करूँगा। यह तो एक चित्र है जिसमें एक साधारण कहानी है। मुझे प्रसन्नता केवल इसी बात की है कि आपको मेरा यह प्रयास अच्छा लगा अथवा पसन्द आया।" कलेक्टर साहब मुस्कराए।

मैं पुनः उस व्यक्ति के सम्बन्ध में सोचने लगा कलेक्टर साहब का भविष्य बड़ा उज्जवल है। इस समय उनकी उम्र यही लगभग उन्नतीस, तीस की ही होगी। यदि इनके कार्यों और गुणों को सरकार बराबर समझती रही तो एक न एक दिन जरूर केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत किसी महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होंगे। सम्भव है कहीं राजदूत अथवा मन्त्री हो जाएँ। एकाएक मुझे एक मेरे हित की बात याद आई जो शायद मस्तिष्क

के किसी कोने में बड़ी देर से चिपकी थी। मैंने मौन भंग करते हुए पूछा—क्या आप अपने ये चित्र मेरे पत्र के दीपावली विशेषांक में प्रकाशन के लिए दे सकते हैं? और साथ ही साथ अपना थोड़ा जीवन परिचय भी।"

मेरी बात सुन कर वे कुछ हँसे और बोले—"प्रकाशन के लिए! आप भी कैसी बात करते हैं। इन कलाविहीन चित्रों के प्रकाशन से आप के पत्र की कद्र कम हो सकती है। कहानी पसंद आने से क्या होता है। यह वस्तु वास्तव में अधूरी है।

"आप जो कुछ समझें परन्तु एक चित्रकार होने के नाते मेरा भी स्वयं का कुछ दृष्टिकोण अवश्य है। इन चित्रों के प्रकाशन से पत्र की शान घटेगी नहीं वरन् बढ़ेगी।"

मैंने मुस्कराहट बिखेरते हुए एवं विश्वास दिलाते हुए कहा।

"जैसा आप उचित समझें।" उन्होंने कहा।

बातचीत करते-करते छः बजे उठे। मैं कलेक्टर साहब का अधिक समय नहीं लेना चाहता था अतः विदा होने से पूर्व मैं अपने अन्तिम प्रश्न का उत्तर और पाना चाहता था।

"क्षमा कीजिए मैंने आपका काफी अमूल्य समय नष्ट किया मैं केवल एक बात और जानना चाहता हूँ जैसा कि मैंने कुछ देर पूर्व पूछा था।"

"अवश्य पूछिए इसमें क्षमा करने की क्या बात है।" उन्होंने मेरी बात बीच में ही भंग करते हुए कहा।

"क्या आप संक्षिप्त में अपने जीवन पर थोड़ा प्रकाश डालेंगे? जैसा कि मैंने अभी कहा था कि इन चित्रों के साथ ही मैं आपका थोड़ा जीवन परिचय भी देना चाहता हूँ।" मैंने संकोच करते हुए कहा यद्यपि मुझे पहले ही ज्ञात हो चुका था कि सोकल साहब जाति के कुम्हार हैं और मेरी ऐसी धारणा है कि यह जाति भी अन्य जातियों के समान पिछड़ी और निर्धन है। फिर भी इस जाति में ऐसी असाधारण प्रतिभा कैसे पनपी!

"जीवन परिचय!" उन्होंने मेरे शब्दों पर जोर दिया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैंने उनकी किसी अमूल्य वस्तु को छीनने का प्रयत्न किया हो। वे कुछ देर तक कुछ विचारों में खोए रहे फिर उस बूढ़े के चित्र की ओर देख कर बड़ी गम्भीरता से बोले—"अच्छा हो कि आप मेरा नाम ही प्रकाशित कर दें। मेरा परिचय देने की आवश्यकता मैं नहीं समझता।" वे कुछ रुके और पुनः बोले—"मेरे सम्बन्ध में यदि आप जानना ही चाहते हैं तो इस एलबम के शेष चित्र जिन्हें आपने अभी नहीं देखा है, देख लीजिए...और बहुत कुछ तो आपको ज्ञात हो ही चुका है।

उनके इस वाक्य के समाप्त होते ही मैंने कुर्सी छोड़ दी। मैंने स्पष्ट देखा कि कलेक्टर साहब की आँखों में कुछ मोती जैसे कण उभर आए थे। वे छिपी हुई दृष्टि से 'उस चित्र' को देख रहे थे। उस समय उनका हृदय शायद अतीत की किसी मर्मस्पर्शी घटना से भर आया था। वे और आगे कुछ नहीं कह सके। मैंने शान्ति भंग करते कहा—"क्षमा कीजिए, अब आज्ञा चाहता हूँ।" मैंने इस तरह कहा जैसे दो प्रेमी न चाहते हुए भी अलग होने के लिए मजबूर हों।

"अच्छा, लेकिन हमेशा आते रहिएगा। इसे अपना ही घर समझिए।" कलेक्टर साहब ने संयत होकर कहा।

मैं सड़क पर चुपचाप चला जा रहा था। आस-पास नीरवता थी ऊपर नीले आकाश में दो तीन तारे चिटक पड़े थे। ठण्डा पवन मेरे मस्तिष्क को दोलायित कर रहा था। मैं बहुत कुछ समझ चुका था लेकिन समझने को फिर भी बहुत कुछ शेष था। वह क्या था? इस समय तो नहीं बतला सकता। मेरे मस्तिष्क में बूढ़े का चित्र और उसकी चमकती हुई दोनों आँखें! लड़का! कलाकार! अन्य दम्भी सरकारी कर्मचारी और यह व्यक्ति! उसको किस वस्तु के अभाव ने उस समय दुखित कर दिया था? प्रेम! नहीं...तो क्या...! क्या उसने उन दो चमकते हुए नेत्रों से ज्योति पाई थी! क्या उन्हीं के स्पर्श से यह दीपक जल सका! क्या वह उन नेत्रों के शरीर से एक क्षण भर के लिए मिलना चाहता था! हो सकता हो यही अतृप्ति हो!

मेरे मस्तिष्क में ये सब बातें गरम पानी के समान उबल रहीं थीं और मैं अन्धकार को बिजली के लट्टुओं की सहायता से चीरता हुआ, बगल में अलबम दाबे आगे बढ़ रहा था।

डायरेक्टरेट, पंचायत राज,
भोपाल

—हिमकुमार

कला-चर्चा

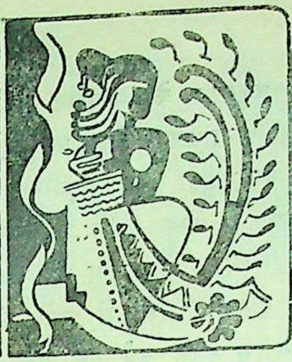

होबर की कलाकृति

काफ़ूस के कौतुक-भण्डार में जहाँ अन्य कलाकारों की रचनाएँ दर्शनीय हैं वहाँ "होबर की कलाकृति" भी अपनी विशेषता का अद्भुत चित्र है और उसमें छिपी हुई कहानी भी अत्यधिक आश्चर्यपूर्ण है। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाए कि सानून के सौन्दर्य और मधुर सम्भाषण, बरनान की वचन एवं कर्तव्य-परायणता, एस्मालूकी की मूर्तिकला और होबर के तूलिका चित्रों में जो कला बिखरी हुई थी वह उनके समय का उचित निरूपक और महान् विश्वास की चरम-सीमा का दर्पण थी तो यह रहस्य भी प्रकट हो जाता है कि होबर का बनाया हुआ चित्र जब भूकम्प में राजा अतलानुस के कमरे में गिर कर टूट गया था तो बरनान की कनपटी और आँखों के गड्डों पर मिटे-से निशानों की, जो टूटे हुए शीशे की किरचों से पैदा हो गए थे, मरम्मत और सुधारने का काम जिस चित्रकार ने गुप्त-रूप से, राजा अतलानुस की निगाहों से बच कर, किया था वह वास्तव में राजा अतलानुस का सईस था और वही होबर भी था जो उस रात के बाद फिर कभी दिखाई न दिया और राजा अतलानुस उसकी याद में तड़प तड़प कर मर गए।

राजा अतलानुस अपने जीवन के अन्तिम क्षण राज सिंहासन त्याग कर महल की एक शान्त कोठरी में व्यतीत कर रहे थे। यहाँ उनका कोई विश्वासपात्र न था। केवल एक बूढ़ा सईस था जो आज्ञा पाते ही उसे बजा लाता था। इस कमरे में होबर का बनाया हुआ हाथी दाँत की चिकनी पट्टियों के चौकटे में सुरक्षित यह चित्र था। इस चित्र को सईस ने लाकर दिया था और बताया था कि "होबर" मर चुका है। राजा एकान्त में इस चित्र के सामने रोया करते और अपने हाथों किए गए अन्यायों और बीते पापों की क्षमा-याचना के लिए गिड़गिड़ाया करते थे, किन्तु सईस जब उनसे इस चित्र में अलंकृत कलाकारों की बातचीत चलाता तो राजा का यह कथन होता था कि होबर यदि मिल जाए तो मैं उसे जान से मार दूँ और इस चित्र को ऐसे स्थान पर गाड़ दूँ जहाँ से फिर कभी न निकल सके।

यह तैल-चित्र रंगों के मिश्रण से बनाया गया था जिसके बीच में राजा अतलानुस की पुत्री राजकुमारी सानून की बहुरंगी आकृति चित्रित थी। गले में उसके प्रेमी दार्शनिक बरनान के मुड़े हाथों की हड्डियाँ हैं जो बड़े-छोटे सफ़ेद फूलों के एक कण्ठहार की भाँति लटक रही हैं और इसी ढंग में बाईं छाती और राज कुमारी की ठोढ़ी से सटा हुआ दाँत, कनपटी और सिर की हड्डियाँ और नीचे की ओर लटका हुआ शेष हड्डियों का समूचा ढाँचा है। किन्तु सूखी हुई आँखों की गोलाई सानून की आँखों में ऐसी जँचती है मानो वह उसमें घुल गई हो। पार्श्व में बरनान का शत्रु एस्मालूकी खड़ा हुआ फूलों के एक ढेर से धीरे-धीरे फूलों की पँखुड़ियाँ उन पर छिटक रहा है, आँसुओं से उसकी डाढ़ी भीग रही है और मूर्ति-निर्माण के औज़ार राजकुमारी सानून के चरणों से कुछ हट कर बरनान के पैरों की हड्डियों के निकट रखे हुए हैं। वातावरण क़ब्रिस्तान का है, उषा-लालिमा से अलंकृत, तीन दिशाओं से धूल धप्पड़ में चमकते हुए राजा अतलानुस के सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र (बर्छी, भाले, तलवारें, बन्दूकें) दीख रहे हैं। एस्मालूकी का मित्र होबर एक कोने में बैठा हुआ यह चित्र बना रहा है। ध्यान से देखने पर चित्र के लुभावने दृश्य कुछ उलझे से होने के बाद धीरे-धीरे मिटते जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है जैसे राजा अतलानुस की सेना सानून की आकृति के साथ सारे क़ब्रिस्तान को घोड़ों की टापों से रौंद कर लौट रही है। इस चित्र के पृष्ठ दृश्य में खिंची रेखाओं से राजकीय अन्याय, प्रजा की दुर्दशा, प्रेमियों की बेबसी, प्रेमिकाओं का अपमान, मित्रों का कपट, समाज, जीवन और कला के सारे अंग दीप्तिमान हो जाते हैं।

राजकुमारी सानून को वस्तुतः दार्शनिक बरनान से सच्चा प्यार था किन्तु एस्मालूकी राजा का निकट सम्पर्क पाने के कारण सौभाग्यशाली रहा। इस कारण राजाज्ञा के अनुसार बिना राजकुमारी को सूचित किए बग़ैर उसका विवाह सानून के साथ होने वाला था कि राजकुमारी ने विष-पान करके आत्महत्या कर ली।

राजकीय क़बरिस्तान में गड़ी हुई सानून की समूची मूर्ति एस्मालूकी की मूर्तिकला की अमर कृति है जो उसने सौभाग्यवश सानून को अपनी सम्पूर्ण भावनाओं से प्रेम करने के संकल्प में राजा अतलानुस की इच्छा पूरी करने के लिए बनाई थी, जिसकी एक-एक रेखा के उतार चढ़ाव में ज़िन्दगी झूमती हुई प्रतीत होती है।

राजा अतलानुस ने उसे यह ज्ञात न होने दिया कि राजकुमारी की आत्महत्या के विषय में उस पर आरोप लगाकर उसे कारागार में डाल देगा। यदि उसे यह मालूम हो जाता तो वह कभी उस मूर्ति में अपना जीवन न गँवा बैठता। मूर्ति-निर्माण के बाद ही राजा ने एस्मालूकी को कारागार की भारी छड़ों में बंद कर दिया। जब वह बंदीगृह की अवधि पूरी करके स्वतंत्र हुआ तो अतलानुस की दशा ही बदल चुकी थी। अब कोई भी उसका मित्र अथवा हितैषी न बचा था। वह सीधा अपने कलाकार के स्वागत को गया और वहीं का हो रहा।

सानून की आँखों से हो कर बरनान की आत्मा उसमें प्रवेश पा चुकी थी। राजकीय क़बरिस्तान अब जन शून्य-स्थान से भी अधिक घृणित हो गया था। राजकुमारी की बदनामी सारी प्रजा में साधारण विजय थी। जन-साधारण की राजभवन और तत्सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति घृणा चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी, किन्तु बरनान इधर से गुजरते हुए इस मूर्ति के हावभाव पहचान गया। उसे अपने अनुभव और अपनी कला पर इतना आत्म विश्वास था कि वह कुछ क्षण देखने के बाद ऐसा आभास करने लगा था कि यह आँखें, यह दाग, यह शरीर और ये लक्षण एक ऐसी आत्मा के प्रतीक हैं, जिसका सम्बन्ध केवल उसी के व्यक्तित्व से रहा है और जो केवल मौखिक प्रेम करने के लिए जन्मा था। किन्तु मूर्तिकार ने आँखों का वह मूक-आकर्षण एक अनावश्यक रेखा से इतना भिन्न कर दिया है, जिस से ज्ञात होता है कि मृतक से मूर्तिकार को वास्तविक प्रेम था और यह बात बरनान के अनुभव के विरुद्ध थी। वह मूर्तिकार की इस अनाधिकार चेष्टा पर क्रुद्ध नहीं हुआ। उसने एक पत्थर का टुकड़ा उठाया और सानून की आँखों की उन रेखाओं को घिस दिया जो मूर्तिकार से प्रेम का इशारा कर रही थीं। अब क्या था, सानून उसकी थी। आँखों के दृष्टिगत वृत्त में वही घटना गूँजने लगी, जो राजभवन में साठ वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय उसकी आयु पच्चीस वर्ष की थी। सानून आँखों में आँसू भरे कह रही थी "मैं आपसे उद्दाम प्रेम करती हूँ। आपका प्रेम मेरा धर्म है। एस्मालूकी का राजा से निकट सम्पर्क और सभासदों का कपट आपको मिटा देगा। वे नहीं चाहते कि हम आपस में प्रेम करें, अतः मैं चाहती हूँ कि हम एक दूसरे से प्रेम करें और कोई यह जान भी न सके।" इस पर उसने कहा थाः "तुम सच कहती हो। इसलिए मैं भी वचन देता हूँ कि तुम मेरे प्रेम का विश्वास करना। अच्छा—अब प्रेम के लिए मैं जाता हूँ, आँसू पोंछ लो।"

ऐत्मादपुर, —समाली अल्पाकी
आगरा, (उ० प्र०) —अनु० : प्रेमकिशोर

(२)

आस्ट्रेलिया के आदिवासी चित्रकार

१६७ वर्ष हुए जब कि पहले पहल आस्ट्रेलिया में यूरोप के लोग उपनिवेश बनाने के लिए गए थे। उस समय आस्ट्रेलिया में ३००,००० आदिवासी थे। अब उनमें से कुल १००,००० आदिवासी रह गए हैं। इसका कारण यह है कि ये आदिवासी जीवन के पाश्चात्य ढंग और शैली को बिलकुल पसन्द नहीं करते और इसीलिए शहरों को छोड़ कर जंगलों में और निर्जन स्थानों में रहने के लिए चले गए हैं। कहा जाता है कि "विश्व के ये प्राचीनतम मनुष्य" हैं। सम्भवतः भारतवर्ष के आदिवासियों का इनसे निकटतम सम्बन्ध है। आस्ट्रेलिया की भाषा की बहुत-सी संज्ञाएँ भारतीय आदिवासी भाषाओं से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। आस्ट्रेलिया आदिवासियों में कुछ तो बहुत कुशल खिलाड़ी हैं और कुछ बहुत अच्छे चित्रकार हैं। इन चित्रकारों ने बहुत से तैल-चित्र, जलीय रंगों के चित्र और अन्य शैलियों में अत्यन्त सुन्दर चित्र बनाए हैं जिन्हें कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई है।

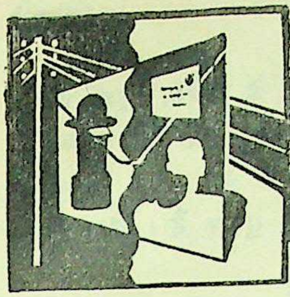

चिट्ठी-पत्री

(१)

संस्कृत साहित्य के हास-परिहास में शिवजी

लोक-कथाएँ मनोरंजन की दृष्टि से रोचक तो होती ही हैं, किन्तु उनमें आधुनिक इतिहास और शोध के लिए गम्भीर विषय होता है।

महर्षि अगस्त्य मुनि के समय की तमिल भाषा में प्राप्त पौराणिक कथाओं में संक्षेप में यह दर्शाया गया है कि शिवजी तमिल भाषा के एक प्रकाण्ड पंडित थे। संस्कृत साहित्य में जो एक हास्य के रूप में लेकर उक्त बात उत्पन्न हुई उसका सार मूल इस प्रकार है :

परम्परागत अगस्त्य शिव तथा पार्वती के विवाह के समय दक्षिण पहुँचे थे। उन्होंने इस समारोह में भाग लिया और शिवजी को प्रसन्न किया। शिव ने उन्हें तमिल भाषा सिखाई; जिसे सीख कर अगस्त्य ने तमिलनाड में तमिल का व्याकरण बनाया। इस घटना से सिद्ध होता है कि इसके पूर्व तमिल में व्याकरण नहीं था और उसकी भाषा भी अव्यवस्थित रही होगी और यह इस बात का द्योतक है कि संस्कृत और तमिल दोनों पुरानी सभ्यताएँ हैं। इसके बाद ही अगस्त्य पाण्ड्य राजाओं के कुलगुरु कहलाए जो शिव के वंशज थे। वशिष्ठ जी ने इस प्रकार कहा था कि गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया।

इस घटना से यह भी प्रतीत होता है कि शिवजी न केवल उत्तर में कैलाश में रहते थे वरन् दक्षिण में भी उनका निवास रहा है।

एक और कहावत है कि भगवान् मनु ने वाङ्मय विराट साहित्य 'शक्ति पूजा' की परमात्मा शक्ति से संसार की उत्पत्ति की ओर स्पष्ट कहा है कि :

"द्विधा कृत्वात्मनो देहम्
अर्धेन पुरुषोऽभवत्
अर्धेन नारी तस्मात सो
विराजमसृजत् प्रभुः"

अर्थात् भगवान् ने अपने ही शरीर को दो भागों में बाँट कर आधे से पुरुष और आधे से नारी बने थे और उस नारी रूप में विराट् का सृजन किया था। इस पर भगवान् शिव ने भी देखा था कि :

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति
शक्तः प्रभवितुम्:"

अर्थात् शक्ति को योग होने पर ही शिव सृजन में समर्थ हो पाता है। इससे ज्ञात होता है कि शिव एक चतुर राजनीतिक थे जिन्होंने मनु की नीति के साथ अपनी नीति को चलाया, साथ ही साथ वे युगस्रष्टा भी थे। निस्संदेह द्विधाभूत शंकर "सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्" की अन्वीक्षाओं में खरे निकले।

पुराणों में ही नहीं वरन् भारत के कई धार्मिक ग्रन्थों में भी भिन्न-भिन्न कथाएँ प्रचलित हैं। शिवजी के सम्बन्ध में इतनी कथाएँ है कि उनमें एकसूत्रता नहीं मिलती।

प्राचीन काल में देवता इन्द्र और महिषासुर में सौ वर्ष तक लगातार युद्ध हुआ था और उसमें देवताओं का घोर पराभव हुआ। तब इन्द्र महाराज घबड़ाए हुए भगवान् शिव की शरण में पहुँचे। इन्द्र ने महिषासुर के अत्याचारों और अपनी असफलता का सारा वृत्तान्त उन देवेश्वरों से कह सुनाया। उनकी दुःख गाथा सुनकर ज्यों ही शिव के मुख से तेज निकला कि सभी देवताओं के मुख से भी वही प्रकट हुआ। वह समस्त तेज एक राशि में परिवर्तित हो गया और उसकी चकाचौंध तीनों लोक में व्याप्त हो गई। तथा देवताओं को ब्रह्मा ने शूल, विष्णु ने चक्र, शिव ने त्रिशूल, वरुण ने पाश और इन्द्र ने व्रज दिए। इसको देख कर कैलाश पर्वत ने वाहन के लिए सिंह दे दिए। इस प्रकार संघ शक्ति से उन्होंने महिषासुर का नाश किया। कहना न होगा कि ऐसी संघशक्ति के उन्नायक श्रीशिव को प्रचीन देवताओं का राष्ट्र नायक कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।

इन संस्कृत साहित्य के हास-परिहास के प्रकरणों में एक उदाहरण लक्ष्मी-पार्वती का लीजिए।

लक्ष्मी जी सदा पार्वती जी को और उनके पति शिव को नीचा दिखाने के लिए प्रयत्नशील रहती थीं। इससे ज्ञात होता है कि न केवल प्राचीन देवताओं में हास-परिहास होता था वरन् उनकी धर्मपत्नियाँ, देवियाँ भी उनसे कम न थीं। उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

एक दिन लक्ष्मी जी ने शिव जी का उपहास उड़ाना शुरू किया। पार्वती जी भी वहीं थी।

लक्ष्मी : कहो सखि ! आजकल तुम्हारा भिक्षुक कहाँ है ! लक्ष्मी जी ने 'भिक्षुक' शब्द का सम्बोधन देकर पार्वती को चिढ़ाना चाहा। किन्तु पार्वती भी बड़ी चतुर थीं। उन्होंने अविलम्ब पाँसा पलटते हुए कहा :

राजा बलि के दरबार पर।

सभी जानते हैं कि राजा बलि के दरबार में स्वयं लक्ष्मी के पति विष्णु भीख माँगने गए थे।

लक्ष्मी ने देखा कि पार्वती ने उल्टा मुझ पर ही व्यंग किया है तो उन्होंने फिर स्पष्ट करते हुए कहा। अरे ! नहीं सखि, मैं तो भस्मांगी को पूछ रही थी।

वृन्दा के घर—पार्वती ने चट उत्तर दिया।

वृन्दा की चिता की भस्म भगवान् विष्णु ने अपने शरीर में मली थी। इस प्रकार पार्वती जी ही विजयी रहीं।

हास-परिहास के साथ शब्दों का चयन, मन को बुरा न लगने वाले सुन्दरतम ढंग से हृदयग्राही ये शब्द आज साहित्य से लोप होते जा रहे हैं। इनसे नीति तथा मनोवैज्ञानिक तथ्य तो प्रगट होते ही हैं वरन् भाषा की सम्पन्नता का पता भी चलता है।

संस्कृत साहित्य पर्याप्त लोकप्रिय साहित्य है और इस कारण इसमें भी मनोरंजक प्रसंगों का भण्डार भरा पड़ा है। अतः ऐसे समृद्ध साहित्य का अधिक से अधिक अध्ययन करना हम सबका कर्तव्य होना चाहिए।

१४१ दलहाई,
जबलपुर (म. प्र.) —जुगलकिशोर जरगर 'विशारद'

(२)

अजन्ता के सम्बन्ध में

'अजन्ता' दिसम्बर की प्राप्त हुई, धन्यवाद स्वीकार करें। समय की कम बचत के कारण कुछ ही पढ़ पाया। "राष्ट्रभाषा हिन्दी" पर श्री रेड्डी ने अच्छा लिखा है।

'अजन्ता' का सम्पादन सुन्दर है। लेख अच्छे हैं। बधाई स्वीकार करें।

झूमर बाग, स्टेशन रोड,
जयपुर —महावीर सिंहल

(३)

'अजन्ता' (दिसम्बर '५६) में मेरा जो लेख छपा है, उसमें 'निराला' की पंक्ति (गिडवानी की उक्ति के रूप में) इस प्रकार छप गई है : "प्रिय स्नेहमयी श्यामा, मुझे प्रेम है।" इसके स्थान पर "प्रिय असनेहमयी श्यमा मुझे प्रेम है" होना चाहिए। मुद्रण सम्बन्धी असावधानता के कारण ही ऐसा हुआ है। मेरे ही लेख में और भी बहुत सारी अशुद्धियाँ रह गई हैं। आप जैसे जागरूक सम्पादकाचार्य की देख-रेख में निकलने वाले पत्र में ऐसी भूलों पर विस्मय होता है।

श्री रामप्रसाद के लेख में प्रगतिवादी लेखकों के बीच धर्मवीर भारती, इलाचन्द्र जी और जैनेन्द्र के नाम भी विस्मय में ही डालने वाले हैं। यों हर लेखक 'प्रगति' का समर्थक होता है, मगर जिस वाद का लेखक ने विवेचन किया है उसमें तो ये लोग क़तई नहीं आते। सबसे ज्यादा हँसी तब आती है, जब लेखक अन्य विचारकों का मत अविकल रूप में अथवा किंचित् रूपान्तर करके प्रस्तुत करता चलता है और अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहता। पांच लेख पढ़ कर तत्काल छठा लेख तैयार करने वाले ऐसे चिन्तनविमुख और उद्धरणजीवी आलोचक बढ़ते जा रहे हैं, दुर्भाग्य की बात है।

अन्य सभी दृष्टियों से अंक विलक्षण है। कविताओं का चुनाव भी काफ़ी अच्छा किया आपने। परशुराम चतुर्वेदी, घनश्याम सेठी आदि के लेख, मन्मथ जी की कहानी और इन्दिरा का एकांकी काफ़ी दिलचस्प है।

सम्पादकीय के विषय में क्या कहूँ ? सामयिक समस्याओं पर मौलिक ढंग से विचार करने वालों में आप शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं और इसी कारण कुछ साधारण स्तर की रचनाएँ आ जाने पर भी

'अजन्ता' के प्रति पाठकों के आकर्षण में कोई कमी नहीं आती।

शोकहरा, पो. बरौनी
जिला मुँगेर (बिहार) —हरिनारायण मिश्र

(४)

सम्प्रति मैं हूँ कवि, एतदर्थ कुछ रेखाएँ "अजन्ता" के शिल्प में उत्कीर्णित स्वरलहरियों पर ही वक्रिम-ऋजु किंवा तिर्यक् सहज भावेन दे रहा हूँ: 'सत्यं और प्रिय' का निकष कदाचित् न निभ पाए, संभाव्य है। दण्डी और मम्मट का कनफूँक चेला नहीं—मेरा प्रेय तो 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्य-वद्यम्' ही है।

नवम्बर की 'अजन्ता' पलक-पाँखों से छन कर सरकी है बुरा तो नहीं होगा अगर अक्तूबर की दो तीन कविताओं पर भी इसके संग नज़रसानी कर ली जाए गुस्ताख़ी मुआफ़ हो!

प्रिय श्री रामदरश मिश्र की कविता (अक्तूबर '५६) 'खिरकियाँ मन की खुली रखिए, न जाने कौन कब आ जाए' मांसल प्रणय के स्वस्थ, गदराए महमहाते सौरभ की सिंदूरी लकीर थी। आस्था का स्वर भी गहरा पैठता लगा है बनारस से बड़ौदा की हवा ताज़ी है ऐसा लगता है। हर नए आघात में कुछ दर्द ऐसे मौन छन जाते हैं जो प्राण के भीतर समाकर अमर संगीत बन जाते हैं—अनुभूति के प्रति ऐसी ईमानदारी का क़द्रदाँ हूँ तहेदिल से! "हम तो सखुन-फ़हम हैं ग़ालिब के तरफ़दार नहीं..." और जब मधुशाला के स्वर-नायक नटवर नागर हरिवंश राय 'बच्चन' की 'चेतावनी' सद्यः पढ़ी तो मन लहक कर भी मुरझा गया पिटी पिटायी व्यंजनाएँ नए पॉलिश में है भाई मेरे कलई तो घिस ही जाएगी अपने उसी रूप में आओ ना! 'गण्डूष जलमात्रेण शफरी फर्फरायते' की याद आती है।

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के बनारसी पानी की धार आप नन्दकिशोर राय के दोनों गीतों 'शरद् साँझ' (अक्तूबर) और 'रेशमी बन्धन' (नवम्बर) में चमचमाती और पैनी पा सकते हैं। तारुण्य का उफान, मदिरिक्त ऊष्मा, तन्द्रिल पीड़ा, एक कचोट सब कुछ एक साथ टाँक दी गई है। पिछला गीत सर्जनात्मक कल्पना और कोमलतर व्यंजना की दृष्टि से स्पृहणीय है। बुर्जूआपन की गंध तो है ही पर जो कुछ है वह सुन्दर है। शिव भी है भले ही नग्न सत्य न हो। रेशमी बन्धन की तड़पन तो ज़िन्दगी के नसों में भिन सकती है पर अकेलापन ज़िन्दगी की परिभाषा है यह संदेहपूर्ण है। कुमारी रमा सिंह के पिछले गीत पर जैसे मुहर लगायी हो; ठीक कहती हो कल्याणी!

भाई वीरेन्द्रकुमार जैन की कविता 'देह और देहातीत' (Image) प्रतिमा की दृष्टि से अनुपम है! 'कटि से फिसलती करधौनी से गहन चुप्पी के घूँघुर महुआ-वन के फूलों में चू पड़े' की Absolute creative fancy कितनी सुन्दर है? आत्मा के रंध्र-रंध्र में जो आत्म-रति अर्धनारीश्वर रूप में रमण करती है उसी काम का अकाम, शाश्वत रूप यहाँ उर्ज्वसित है। रावीन्द्रिक छाया अन्तिम पाँतो में भासित होती है। सेक्स का इतना निथार इतनी सुघराई इधर तो नहीं पाई है मैंने - यौनाकर्षण हमारे रक्त-मांस अस्थि-चर्म मज्जा में सना हुआ है यह गोपनीय और अवांछनीय नहीं है यह तो जीवन ईप्सा है: 'एकोऽहं बहु स्याम्' का मूर्त प्रतीक! रूप-नगरी मोहमयी (बम्बई) में वास करते हुए भी भाई वीरेन्द्र 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' सदृश हैं।

रवीन्द्र भ्रमर का निबन्ध 'पद्मावत में षट्ऋतु और बारहमास' खोजपूर्ण है। चतुर्दिक् दृष्टि सराहनीय है।

और सब अच्छा ही है। 'अजन्ता' का तराश उभरता ही जाए: कांक्षा है।

संस्कृत विभाग,
कलकत्ता यूनिवर्सिटी, कलकत्ता —रंगनाथ राकेश

(५)

सुदूर दक्षिण के अहिन्दी भाषी प्रान्त से निकल कर भी 'अजन्ता' जो हिन्दी की सेवा कर रही है—वह प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है। इसका बहुत दिनों का पाठक होने से यदि मुझ पर पक्षपात का आरोप न लगाया जाए तो मैं यही कहूँगा कि 'अजन्ता' अकेले ही अनेक पत्रिकाओं के बराबर है तथा इसके सम्पादक श्री वंशीधर विद्यालंकार 'नए अंकुरों' के उगाने में अनेक सुहृदय सम्पादकों के बराबर।

नवम्बर अंक की बच्चन की 'चेतावनी' चेतने लायक थी। श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी ने जो तीन उदीयमान कहानीकारों की रचनाओं का जो मूल्यांकन किया

है, महत्वपूर्ण है। इस कार्य को उन्हें तथा अन्य साहित्यकारों को आगे बढ़ाना चाहिए। सम्पादकीय ठोस है।

भाई नन्दकिशोर राय की कविता अच्छी लगी, विशेषतः यह पङ्क्तियाँ :

> छले जाते हुए भी देख कर भोले मुकुल कुल को,
> रहा है भ्रमर के संग भाँवरी को फूल ललचाता।

मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि श्री राय ने, कुमारी रमा सिंह के अक्टूबर अंक का गीत 'अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन, यही है ठीक ज़िन्दगी की एक परिभाषा' के उत्तर में यह गीत लिखा है। अपनी व्यक्तिगत जीवनी तथा उससे प्रभावित धारणा के कारण मैं कुमारी जी के विचारों का ही पोषक हूँ।

इसकी पुष्टि में ही (शायद राय जी के गीत के उत्तर में भी, यद्यपि मैं ऐसा करना नहीं चहता था) अपना एक गीत भेज रहा हूँ। आशा है 'अन्जता' में स्थान देकर इन दो गीतकारों के बाद मुझे अपनी राय भी अपने सहपाठकों के सम्मुख रखने अवसर देगें।

द्वारा डा० रामसुभग दूबे
डालमिया गेट हाउस (नागवा) —**अवध किशोर**
वाराणसी (बनारस)

(६)

'अजन्ता' ने आपके सम्पादकत्व में अल्पकाल में ही स्पृहणीय वृद्धि की है। बधाइयाँ लीजिए। मुख्यतः 'अजन्ता' के सम्पादकीय अत्यन्त प्रमाणिक, परिचयात्मक एवं गवेषणात्मक होने के साथ-साथ सामयिक भी होते हैं। सम्पादकीय गम्भीर होने के साथ निष्पक्ष भी है।

साहित्य जगत् के समक्ष उपस्थित जटिल प्रश्नों का निदान और निराकरण करना इस समय अत्यन्त आवश्यक है। उसकी पूर्ति 'अजन्ता' कर रही है। हिन्दी के भविष्य और पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में आपने जो सुझाव दिए और जो मत प्रकट किया, वह सर्वथा स्तुत्य है।

'अजन्ता' में विभिन्न रुचि के लेख, कहानियाँ, स्केच और कविताएँ भी छपती हैं। दूसरी विशेषता यह है कि आप सभी समृद्ध भाषा एवं साहित्यों का परिचय हिन्दी माध्यम द्वारा पाठकों को सुलभ बना रहे हैं। उसे अच्छे लेखकों का सहयोग प्राप्त है। और उसका स्तर भी अपने ढंग का है। छपाई, सफाई, गेट अप की दृष्टि से भी वह हिन्दी के उच्च कोटि के पत्रों में से है। पर कहीं-कहीं छपाई की गलतियाँ रह जाती हैं। कृपया उन पर ध्यान देने का कष्ट करें।

हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास--१७ —बालशौरि रेड्डी

(७)

पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न

दिसम्बर, १९५६ की 'अजन्ता' के सम्पादकीय में पारिभाषिक शब्दावली के प्रश्न पर विचार किया गया है। भारतीय प्रशासन ने जो कमेटियाँ नियुक्त की हैं वे जिस पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कर रही हैं वे तो केन्द्रीय भाषा हिन्दी के लिए हैं संभवतः यही शब्दावली समस्त भारतीय भाषाओं में प्रचलित की जाएगी। यदि ऐसा ही है तो इन्हें इस शब्दावली को इन समस्त भाषाओं में भी प्रकाशित किया जाना चाहिए था। प्रादेशिक राज्यों में इस बात के तो प्रयत्न हो रहे हैं कि प्रादेशिक भाषाओं को समस्त प्रकार की शिक्षा का माध्यम शीघ्र से शीघ्र बना दिया जाए—परन्तु ये समस्त राज्य पारिभाषिक शब्दावली को प्रादेशिक भाषाओं में बनाने के लिए क्या प्रयत्न कर रहे हैं और इस सम्बन्ध में प्रादेशिक भाषाओं में क्या स्थिति है—इस पर किसी दिशा से भी कुछ प्रकाश नहीं डाला जा रहा है। जैसा कि आपने 'सम्पादकीय' में लिखा है कि शब्दावली का प्रश्न शून्यता में नहीं लटका रह सकता और यदि इस ओर राज्यों और केन्द्र द्वारा कार्य नहीं किया जाएगा तो कार्य व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा होगा। दुःख की बात तो यह है कि ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तक जैसे यह सारा मामला वाद-विवाद की स्थिति पर ही सीमित है—क्रियात्मक क्षेत्र की तो किसी शिक्षाशास्त्री को विशेष चिन्ता नहीं है। भारत की अन्य भाषाओं में टि स्कूल की कक्षाओं में विज्ञान आदि को पढ़ाने के लिए कुछ-न-कुछ शब्दावली तो चल ही रही है और वह एक प्रदेश की शब्दावली दूसरे प्रदेश की शब्दावली से भिन्न हो सकती है? यदि प्रादेशिक राज्यों और केन्द्र की ओर से इस सम्बन्ध में सम्मिलित और संगठित प्रयत्न न किए गए तो इस शब्दावली में एकरूपता को रखना कठिन हो जाएगा।

—**सकलमंगल शर्मा**

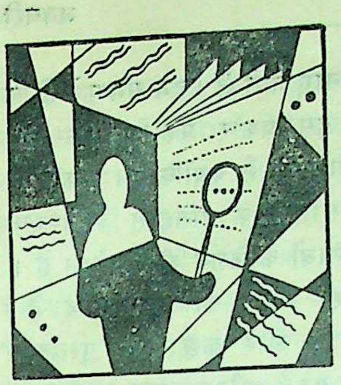

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिए]

किरातार्जुनीय (हिन्दी में)

भाषान्तरकार : इन्द्र विद्यावाचस्पति
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट,
दिल्ली
मूल्य : दो रुपया आठ आना

संस्कृत के महाकवियों में कालिदास के पश्चात् महाकवि भारवि का नाम आता है। विषय और शैली में भारवि सर्वथा मौलिक है। भारवि का "किरातार्जुनीय" महाकाव्य कई दृष्टियों से समस्त संस्कृत के महाकाव्यों में एक अद्वितीय स्थान रखता है यद्यपि उसकी शैली में अर्थ—गम्भीरता के कारण दुरूहता और जटिलता है। "किरातार्जुनीय" एक राजनैतिक महाकाव्य है और राजनीति विषय स्वभावतः ही पेचीदा और जटिल होता है। मल्लिनाथ ने भारवि के काव्य को "नारिकेल के फल के समान" कहा है जिसके अन्दर के अमृतमय रस का आनन्द लेने के लिए उसे तोड़ना पड़ता है। यद्यपि यह काव्य जनता में जागृति और उत्साह को उत्पन्न करनेवाला है तो भी संभवतः अपनी 'अर्थगंभीरता' के कारण यह उस लोकप्रियता को प्राप्त नहीं कर सका जो कि इसे प्राप्त होनी चाहिए थी। 'किरातार्जुनीय' के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और ग्यारहवाँ सर्ग भावना और साहित्य की दृष्टि से इतने विलक्षण, अद्वितीय और अप्रतिम हैं कि उनके कारण 'किरातार्जुनीय' को विश्व के महाकाव्यों में उच्च स्थान प्राप्त होना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने अपनी प्रस्तावना में 'किरातार्जुनीय' के सम्बन्ध में लिखा है : "यदि मुझ में कविता करने की शक्ति आ जाए और फिर कहा जाए कि समयानुकूल कविता करो तो मैं 'किरातार्जुनीय' के बहुत से सर्गों का हिन्दी में अनुवाद करने का प्रयत्न करूँगा। यदि कोई जातीय विश्वविद्यालय हो और उसमें पढ़ाने के लिए संस्कृत की पाठविधि बनाने को मुझ से कहा जाए तो मैं 'वाल्मीकि रामायण' से दूसरे दर्जे पर 'किरातार्जुनीय' को स्थान दूँगा।" 'किरातार्जुनीय' को पढ़ने से जहाँ नवीन उत्साह और स्फूर्ति प्राप्त होती है—वहाँ इसको पढ़ने से भारतवर्ष की राजनैतिक कुशलता, सभ्यता और संस्कृति से भी परिचय प्राप्त होता है। हम समझते हैं कि 'किरातार्जुनीय' भारतवर्ष और विश्व के साहित्य में एक महान् क्रान्तिकारी काव्य है। इस प्रकार के काव्य भारतवर्ष और विश्व के साहित्य में कम ही लिखे गए हैं। प्रायः कहा जाता है कि भारतवर्ष का साहित्य संसार की नश्वरता, मोह-माया के त्याग, वैराग्य और मुक्ति के मार्ग को प्रदर्शित करता है। परन्तु भारवि ने अपने 'किरातार्जुनीय' में जिस मुक्ति के मार्ग को अपनाया है वह मुक्ति, वैराग्य और निर्वाण से बनी हुई नहीं है। वह तो "रक्त पिपासा जयश्री और सफलता" पर आधारित है। सम्भवतः अर्जुन के द्वारा कवि स्वयं कहता है :

"उपहस्येऽथवा सद्भिः, प्रमादो वास्तु मे धियः
अस्थानविहितायासः, कामं जिहेतु मा भवान्
वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य, समुच्छेदेन विद्विषाम्,
निर्वाणमपि मन्येऽह, मन्तरायं जयश्रियः"

—आप मुझ पर हँस सकते हैं, आप मुझे पागल कह सकते हैं और हो सकता है कि आप मुझे अच्छा न समझें। मैं तो ब्रह्मा का पद नहीं चाहता। मुझे मुक्ति नहीं चाहिए—मैं मुक्ति और निर्वाण को लात मारता हूँ। मेरी मुक्ति शत्रुओं से अपने देश को सर्वथा स्वतन्त्र

कराने और विजय प्राप्त करने में है।" जो अर्जुन 'भगवद्गीता' में कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि में लड़ने से इनकार कर देता है और धनुष को फेंकने के लिए तैयार हो जाता है -- वही अर्जुन 'किरातार्जुनीय' में खून से स्नान कर के शत्रुओं के रोदन और चीत्कार में अपनी मुक्ति का अनुभव करना चाहता है।

भारवि के जन्मस्थान के विषय में लेखक ने लिखा है "जन्मस्थान के सम्बन्ध में केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि 'किरातार्जुनीय' का निर्माता चाहे भारत के किसी भाग में उत्पन्न हुआ हो, उसने देश के मध्य और दक्षिण भाग की यात्रा अवश्य की थी।" कर्नाटक में भारवि के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं और उनके जीवन आदि के सम्बन्ध में जितनी सामग्री इस प्रदेश में प्राप्त होती है सम्भवतः उतनी भारतवर्ष के किसी अन्य प्रदेश में नहीं। कर्नाटक के अनेक विद्वान् इन्हें कर्नाटक का ही मानते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि उनके काव्यों में दक्षिण का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत पुस्तक द्वारा लेखक ने 'किरातार्जुनीय' का इतना सरल और सरस अनुवाद प्रस्तुत किया है कि इस महाकाव्य के महत्व को सुगमता से समझा जा सकता है। हम इस पुस्तक को प्रत्येक राष्ट्र प्रेमी से पढ़ने का अनुरोध और आग्रह करते हैं।

हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास

लेखक : राजेन्द्रसिंह गौड़
प्रकाशक : साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड,
इलाहाबाद
मूल्य : पाँच रुपया

आजकल हिन्दी में कविता और गद्य के जिस प्रकार अनेक संग्रह प्रकाशित किए जा रहे हैं उसी प्रकार साहित्य के इतिहास की पुस्तकें भी प्रकाशित की जा रही हैं। सत्य तो यह है कि साहित्य के इतिहास की ये पुस्तकें भी अधिकांश में एक प्रकार की संग्रह-पुस्तकें ही हैं। इनमें न तो प्रामाणिकता है, न मौलिकता और न किसी प्रकार की विशेषता। कुछ इस पुस्तक से और कुछ उस पुस्तक से ले कर और कुछ अपनी ओर से कच्चा-पक्का जोड़ कर इस प्रकार की पुस्तकें तैयार कर ली जाती हैं। ये पुस्तकें स्कूल, और कालेज तथा अन्य विद्यार्थियों के लिए लिखी जाती हैं—इसलिए ये इतिहास अधिकतर सस्ती क़िस्म के और बाज़ारी बनाए जाते हैं। हम समझते हैं कि इतिहास की पुस्तकों को इस प्रकार प्रकाशित करने से हिन्दी-साहित्य की असेवा होती है क्योंकि इस प्रकार की कच्ची-पक्की पुस्तकों से साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों के फैलने की आशंका है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी प्रकार का एक संग्रह है। उसमें कुछ एक पुस्तक से और कुछ दूसरी पुस्तक से सामग्री एकत्रित कर ली गई है और जो कुछ इसमें लेखक ने संभवतः अपनी ओर से जोड़ दिया है उसके लिए किसी प्रकार के प्रमाणों को देने की आवश्यकता को अनुभव नहीं किया गया है। 'हिन्दी' शब्द को लेखक ने सिन्धी से बना कर सन्तोष कर लिया है परन्तु साहित्य में अपभ्रंश, देसी भाषा और भाषा शब्दों के पश्चात् हिन्दी शब्द का प्रयोग किस प्रकार होने लगा इस पर लेखक ने किसी प्रकार का कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के विषय में लेखक ने केवल इतना लिख दिया है : "शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी आदि का जन्म हुआ है। अवहट्ट के विषय में लिखा गया है : "पुरानी हिन्दी अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच की भाषा है। इसे "अवहट्ट" नाम दिया गया है।" लेखक लिखता है : "महाराष्ट्री अपभ्रंश से महाराष्ट्री (?) का जन्म हुआ है ? यहाँ लेखक का 'महाराष्ट्री' से क्या तात्पर्य है कुछ समझ में नहीं आता। महाराष्ट्र की भाषा को इस समय महाराष्ट्री नहीं कहा जाता। उसका नाम मराठी है। 'डिंगल' के विषय में लिखा गया है : "मारवाड़ी का पुराना साहित्य (?) डिंगल कहलाता है।" पिंगल के विषय में लिखा गया है : "व्रजभाषा शौरसेनी अथवा (?) नागर अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसका एक नाम पिंगल भी है। हिन्दी भाषा के साहित्यिक रूपों में इसका विशेष स्थान है।" खूब, डिंगल तो साहित्य का नाम है और पिंगल को भाषा स्वीकार कर लिया गया है। लेखक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि पिंगल का "हिन्दी भाषा के किन साहित्यिक रूपों (?) में कौन-सा विशेष (?) स्थान है। लेखक ने अवधी के दो रूप माने हैं : (१) बोलचाल की अवधी (२) साहित्यिक अवधी। बोलचाल की अवधी के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी और साहित्यिक अवधी के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं।" लेखक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि बोलचाल की और साहित्यिक

अवधी में क्या भेद है? क्या इस प्रकार बोलचाल और साहित्यिक भाषा में भेद एकमात्र अवधी में ही हैं। यदि ये भेद अन्य बोलियों में भी हैं तो केवल इन्हें अवधी में ही क्यों प्रदर्शित किया गया है?

लेखक खड़ी बोली के सम्बन्ध में लिखता है: "हिन्दी साहित्य में यह नाम पहले पहल लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' की भूमिका में मिलता है। मुसलमानों ने जब (कब ?) इसे अपनाया तब इसका नाम 'रेख़्ता' हो गया। रेख़्ता शब्द का अर्थ गिरता या पड़ता है। उस समय (किस समय (?) की। यह भी (?) गिरी या पड़ी हुई (?) भाषा थी। संभव है: रेख़्ता नाम के विरोधियों (ये विरोधी कौन थे ?) ने इस भाषा को गौरव प्रदान करने के लिए "खड़ी बोली" कहना उचित समझा हो।" "संभव है की खूब रही? न प्रमाण की आवश्यकता है और न तर्क की। लेखक ने रेख़्ता का अर्थ "गिरता या पड़ता" किस आधार पर लिखा है? उन्हें प्रमाण की आवश्यकता नहीं है? 'खड़ी बोली' को खड़ा करने या 'विरोधियों' द्वारा 'गौरव' (?) प्रदान करने के लिए 'रेख़्ता' शब्द का अर्थ "गिरा पड़ा" कर दिया गया है। रेख़्ता शब्द फ़ारसी है। डा० फैलन ने दो शब्दों को अपने कोश में लिखा है: 'रेख़्ता' और 'रेख़्ती'। 'रेख़्ता' का अर्थ वे लिखते हैं: "पुरुषों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी भाषा" 'रेख़्ती' के विषय में डा० फैलन लिखते हैं: "हिन्दुस्तानी कविता जिसमें स्त्रियों की भावनाएँ उनकी बोली और मुहावरों में लिखी जाती है। रंगिन रेख़्ती का प्रथम कवि था और इसके पश्चात् लखनऊ के जान साहब ने रेख़्ती में अपनी कविताएँ लिखीं थीं।" एक अन्य कोशकार ने 'रेख़्ता' "शब्द का अर्थ मिली-जुली हुई भाषा से किया है। रेख़्ता के विषय में आगे लेखक लिखता है:" अमीर खुसरो (१३१०-८२) से लेकर लल्लूलाल (१८२०-८२) आदि की रचनाओं में इसके प्रारम्भिक रूप (?) मिलते हैं। क्या कई सौ वर्षों की लम्बी अवधि तक 'रेख़्ता' के 'प्रारम्भिक रूप ही प्रचलित हो? फिर इस सम्बन्ध में यह भी एक प्रश्न उठता है कि मुसलमानों के आने से पहले इस बोली का क्या नाम था?

उर्दू के विषय में लेखक लिखता है: "अलाउद्दीन, खिलजी के शासन काल (सं० १३५३–८३) में जब मुसलमानों का प्रवेश दक्षिण भारत में हुआ तब वे अपने साथ अपनी नई भाषा को भी ले गए। दक्षिण भारत में जनता की भाषाएँ द्रविड़ वंश की थीं। इसलिए मुसलमानों की नई भाषा उर्दू का वहाँ आदर हुआ और उसमें रचनाएँ होने लगीं।" अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि (दौलताबाद) पर आक्रमण किया था और वहाँ की भाषा 'द्रविड़ वंश' की नहीं थी। इसी प्रकार लेखक का उस समय की "मुसलमानों की नई भाषा" को 'उर्दू' कहना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है क्योंकि अलाउद्दीन खिलजी के समय इस भाषा को 'उर्दू' नाम प्राप्त नहीं हुआ था। उस समय के दक्षिण के किसी लेखक ने इस भाषा का 'उर्दू' नाम से उल्लेख नहीं किया है।

लेखक ने "वीसल देव रासो' (सं० १२१२)" के सम्बन्ध में लिखा है: "प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा में सूफ़ियों ने ही नहीं, अपितु हिन्दुओं ने भी रचनाएँ की हैं। खोज से पता चला है कि इस परम्परा के प्रवर्तक हिन्दू ही थे। चारण काल में नरपति नाल्ह ने 'वीसल देव रासो' (सं० १२१२) की रचना इसी परम्परा में की थी। यह हिन्दी का प्रथम प्रेमकाव्य है।" जब 'वीसल देव रासो' प्रथम (?) काव्य था तो इसकी रचना इसकी 'परम्परा' में कैसे हो सकती थी। प्रत्येक प्रेमकाव्य को सूफ़ियों का या प्रेमाख्यानक काव्य कहना महज़ हिमाक़त है।

लेखक ने इस पुस्तक को लिखने में जितना श्रम किया है उतना विवेक से काम नहीं लिया है। पुस्तक के आधुनिक काल में उन्होंने इतने लेखकों और उनकी पुस्तकों का सरसरी तौर पर उल्लेख किया है कि वह एक सूचीपत्र-सा बन गया है।

४५१, हिमायतनगर,
हैदराबाद

—**वंशीधर विद्यालंकार**

कालिदास

लेखक : महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी एम.ए.
अध्यक्ष संस्कृत, पाली और प्राकृत विभाग तथा
विद्या परिषद् (फैकल्टी आफ आर्ट्स)
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर
प्रकाशक : हिन्दी रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेट, बम्बई
मूल्य : चार रुपए

प्रस्तुत कृति में विद्वान् लेखक ने कालिदास संबन्धी शोध-सामग्री का गहन अध्ययन कर अपने मौलिक

निष्कर्षों को समाविष्ट कर स्तुत्य कार्य किया है। कालिदास की बहुमुखी प्रतिभा ने देश के विभिन्न क्षेत्रों के प्राकृतिक दृश्यों स्थानों आदि का इतना यथार्थ चित्रण किया है कि सामान्य व्यक्ति के लिए यह जानना कठिन हो जाता है कि वे वास्तव में किस स्थान पर उत्पन्न हुए थे। जन्मस्थान के अतिरिक्त उनका काल भी विवादास्पद है। कोई इनके समय को ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी की, कोई ईसा पूर्व की पहली शताब्दी की, कोई ईसा की तीसरी, कोई चौथी, कोई पाँचवी और कोई छठी शताब्दी में निर्धारित करते हैं। लेखक ने अन्तर्साक्ष और बहिर्साक्ष के आधार पर उनका समय चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा पांचवी शताब्दी का पूर्वार्ध माना है। उन्होंने उज्जैन को उनका जन्मस्थान निर्धारित किया है। 'चरित्र विषयक अनुमान' शीर्षक अध्याय में दन्तकथाओं के आधार पर कवि के जीवन पर किंचित् प्रकाश डाला गया है। कालिदास ने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया इसमें सन्देह नहीं। पर कौन ब्राह्मण थे यह कहना कठिन है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री उन्हें दसोरा ब्राह्मण कहते हैं क्योंकि उनके मत से वे मन्दसौर के रहने वाले थे और मन्दसौर में दसोरा ब्राह्मणों की संख्या अधिक है। पर लेखक ने उन्हें उज्जैन वाले बतलाया है। इसे हम 'अनुमान' ही मान सकते हैं। ईसा की चौथी-पाँचवी शताब्दी से आज तक मन्दसौर में दासोरा ब्राह्मण ही रहते आ रहे हैं, यह धारणा निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती। जीवन चरित्र आदि के सम्बन्ध में प्राप्य सामग्री की छानबीन करने के उपरान्त लेखक ने कवि के काव्य ग्रन्थों का आलोचनात्मक परिचय भी दिया है। 'मेघदूत' में वर्णित रामगिरि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कोई सरगरजा के अन्तर्गत रामगढ़ को रामगिरी मानते हैं पर महामहोपाध्याय जी नागपुर के सन्निकट रामटेक को रामगिरि निर्धारित करते हैं। इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक तथा स्वयं कवि के ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री के आधार पर कालिदास के जीवन और उनके कृतित्व पर प्रथम बार गहन विवेचनात्मक सामग्री हिन्दी में प्रस्तुत हो रही है। लेखन शैली तर्कपूर्ण एवं सरल है। एतदर्थ लेखक बधाई के पात्र हैं। पुस्तक का गेट अप और छपाई भी आकर्षक है।

नई चेतना

लेखक : महेन्द्र भटनागर
प्रकाशक : श्री अजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लि०
पटना—४
मूल्य : दो रुपए

भटनागर जी हिन्दी के तरुण पीढ़ी के कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपकी रचनाओं में युग के भाव, अभाव और आकांक्षा का मार्मिक चित्रण होता है। आप में किसी 'वाद' विशेष का आग्रह नहीं पाया जाता। 'नई कविता' भाव विच्छिन्नता, गद्यात्मकता और दुरूह उपमान सृष्टि के लिए अस्तुत्य हो रही है। उसमें विषय का विस्तार तो हो रहा है। उपमानों का नवीनीकरण भी हो रहा है। पर प्रेक्षणीयता कम होती जा रही है। यह सत्य है कि उनमें भी कुछ सिद्ध कवि हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि भाव-वैभव और कला-कौशल में उन्होंने छायावादी मूर्धन्य कवियों को पीछे छोड़ दिया है। 'प्रसाद' की कामायनी के पश्चात् आधुनिक हिन्दी कविता में खड़ी बोली की कोई गौरव पूर्ण कृति प्रकाशित नहीं हुई। कई कवि जिन्दा रहने के लिए ही पुरानी शराब को नई बोतलों में उँडेलते जा रहे हैं। उनमें न तो 'कला' का शृङ्गार होता है और न भावों की अभिनवता! 'छन्द' या 'लय' से कविता को बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति ने भी नई कविता के प्रचार में बहुत अंश में बाधा पहुँचाई है। गेय रचना कण्ठ में आसानी से बस जाती है। इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। 'नई चेतना' की रचनाएँ गेय-अगेय (पाठ्य) दोनों हैं। पर उसकी पाठ्य रचनाओं में गीति तत्व न रहने पर भी पर्याप्त प्रवाह है। उनमें जीवन को उद्बुद्ध करने वाले की प्रचुरता है। वह कहता है :

"जिन्दगी का कारवाँ रुकता नहीं, रुकता नहीं
ये क्षणिक तूफ़ान तो आते गुजर जाते
केश केवल कुछ हवा में उड़ बिखर जाते!
पर सतत गतिमय क़दम इन्सान के कब डगमगाए?
और ताक़त से इसी क्षण पैर जनबल ने उठाए?
जिन्दगी की कारवाँ यह
आफ़तों के सामने झुकता नहीं, झुकता नहीं!
जिन्दगी का कारवाँ रुकता नहीं, रुकता नहीं।"

मानव जीवन में हमेशा न दुःख ही रहता है और

न सुख ही। वह तो दोनों का समन्वय है। कवि का विश्वास है :

"रह नहीं सकती हमेशा यामिनी काली,
रोज़ फूटेगी नई आकाश से लाली !"

और भी—

"तुम्हारी ज़िन्दगी की आग बन अंगार चमकेगी,
अन्धेरी सब दिशाएँ रोशनी में डूब दमकेंगी,
तुम्हारे दुश्मनों का गर्व चकना चूर होएगा !
बढ़ो विश्वास ले, अवरोध पथ का दूर होएगा।"

कवि की अतीत में श्रद्धा नहीं है। टी. एस. ईलियट जो आधुनिक कविता का अग्रणी रहा है, अतीत के प्रति सर्वथा अश्रद्धा प्रकट नहीं करता स्पेण्डर भी आज के कवि को परम्परा से बहुत दूर हटने का उपदेश नहीं देता !

'नई चेतना' का कवि अतीत के सांस्कृतिक इतिहास को भले ही विस्मृत करने का उपदेश दे, पर वह काव्य परम्परा से सर्वथा विमुख नहीं हो पाया। यह शुभ लक्षण है। 'मेघ गीत' की रवानी दर्शनीय है :

"उमड़ते गरजते चले आ रहे घन
घिरा कोप सारा कि बहता प्रभंजन,
अँधेरी उभरती अवनि पर निशा-सी
घटाएँ सुहानी उड़ी ऐ निमन्त्रण"

नई ज़िन्दगी के भोर में मानव को अपने रूप को संवारने की आवश्यकता है—

"इंसान लेता नई आज करवट,
सम्मुख नयन के उठा है नया पट,
गूँजी जगत में युगान्तर की आहट,
ललकार यह तो समय की है।"

नई चेतना में कवि की दृष्टि स्वस्थ है। उसकी भाषा में स्वाभाविकता है, गति है और विचारों में युग के तारुण्य की प्रतिक्रियाएँ। इन में मनुष्य को भाग्य के भरोसे न रह कर स्वबल को पहचानने का संदेश है। अतीत पर गर्व करके निश्चेष्ट बैठ कर मनुष्य के बाहुओं की रक्त-परिभ्रमण-क्रिया अवरुद्ध हो सकती है और वह असामयिक धराशायी हो सकता है। इसी लिए वह उसे सचेष्ट रखने के लिए अपने नेत्रों के सामने आविर्भूत प्रकाश की आराधना करने की प्रेरणा देता है। 'नई चेतना' में कवि की चेतना के दर्शन होते हैं। आशा है, 'नई कविता' प्रेमियों द्वारा यह समादृत होगी।

प्रेमचन्द घर में

लेखिका : शिवरानी देवी प्रेमचन्द
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६

प्रेमचन्द अब हिन्दी संसार का ही प्रिय नाम नहीं है वह संसार के सभी समृद्ध साहित्य में संचरित हो गया है। चीन, जापान, रूस, इंग्लैण्ड, जर्मन, फ्रान्स, इटली आदि कई देशों के साहित्यकार प्रेमचन्द्र की कृतियों को अपनी भाषाओं में अनुवादित कर उनका आनन्द ले रहे हैं। अतः प्रेमचन्द के जीवन के सम्बन्ध में सभी की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है और प्रेमचन्द पर लिखने का अधिकारी रूप उनकी जीवन संगिनी के अतिरिक्त कौन हो सकता है ? व्यक्ति का सार्वजनिक जीवन में रूप कुछ परिष्कृत या अकृत्रिम भी हो सकता है। पर घर में तो वह प्रकृत रूप में ही रहता है—विशेष कर अपनी पत्नी के सामने उसका कौनसा रूप अप्रकट रह सकता है। 'प्रेमचन्द घर में' पढ़ने पर हम प्रेमचन्द को उनके प्रकृत रूप में देखते हैं। हमें प्रसन्नता है कि श्रीमती प्रेमचन्द ने इस पुस्तक में अपने पति के गुण दोषों का बड़ी निष्कपटता के साथ अंकन किया है। हिन्दी संसार में इस प्रकार का आत्म-अनात्म भावपूरित चरित्र प्रथम बार ही चित्रित हुआ है। व्यक्ति का महत्व घरेलू जीवन की सामान्य घटनाओं में ही प्रकट होता है। यद्यपि शिवरानी जी ने लिखा है कि मैं न कोई लेखिका हूँ, न कोई कलाकार पर उनका यह लिखना तुलसीदास के "कवि न होऊँ न चतुर कहाऊँ" जैसा ही सार्थक सिद्ध हुआ है। यह कृति एक यशस्वी कलाकार की कलाकार पत्नी के अनुरूप ही गौरवपूर्ण है और प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और उनके साहित्य की आत्मा को समझने के लिए सदैव 'सन्दर्भ ग्रन्थ' के रूप में पढ़ी जाएगी। इसकी भाषा बड़ी ही मधुर और घरेलू है जिसमें लेखिका के हृदय का सारस्य करुण भाव के साथ उमड़ रहा है।

जबलपुर —विनय मोहन शर्मा

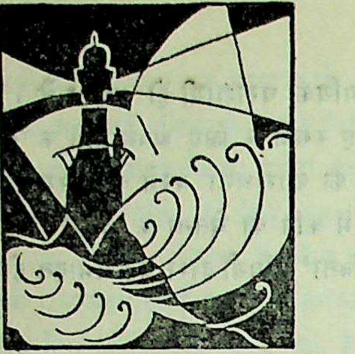

सामयिक

॥

भारतीय मुद्रण कला का अग्रणी : विलियम केरी

गुजराती के प्रसिद्ध मासिक पत्र "कुमार" में भारतीय मुद्रण कला के अग्रणी श्रीयुत विलियम केरी पर श्रीयुत रतिलाल मेहता का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"भारत की मुद्रण कला के इतिहास में पश्चिम बंगाल में कलकत्ता से १६ मील दूर हुगली नदी के किनारे सीरामपुर नगर का नाम प्रसिद्ध है। इसी स्थान पर सबसे पूर्व ईसाई मिशनरियों ने छापाखाना स्थापित कर भारतवर्ष में मुद्रणकला का श्रीगणेश किया था। भारतीय मुद्रण-कला की उन्नति का श्रेय इन मिशनरियों को ही दिया जाना चाहिए। यह छापाखाना था तो एक छोटे से कोने में और एक छोटे से मकान में परन्तु यह छोटा-सा मकान अनेक भाषाओं का केन्द्र बन गया था। लैटिन, ग्रीक, हिब्रू, अरबी, सीरियाक, संस्कृत, फ़ारसी, बंगाली, हिन्दी, उड़िया, गुजराती, तेलुगु, मराठी, आर्मीनियन, पोर्चुगीज, चीनी, बर्मी—इतनी भाषाओं में मिशन के लोग लिखते, पढ़ते और अनुवाद करते थे। उन्होंने ३१ भाषाओं में बाइबल का अनुवाद किया। छोटे-से सीरामपुर में ये मिशनरी टाइप बनाते और ढालते। एशिया के एक कोने में, १८वीं सदी में विलियम केरी, जे. सी. मार्शमैन आदि मिशनरियों के कारण भारतीय मुद्रणकला का उद्भव और विकास हुआ। भारतीय मुद्रल-कला के सम्बन्ध में श्रीयुत विलियम केरी का नाम चिर-स्मरणीय रहेगा।

विलियम केरी का जन्म नौर्थम्पटन में १७६१ ई. में हुआ था। उसके माता-पिता साधारण थे। उसके पिता पहले बुनकर का कार्य करते थे, फिर शिक्षक हुए और उसके पश्चात् गिरजे में काम करने लगे। केरी की शिक्षा यहीं हुई। विदेश-यात्रा की पुस्तकों को पढ़ने का उसे विशेष शौक़ था। कोलम्बस और ईस्टन कुक की समुद्र यात्राओं का पढ़ते हुए वह रोमांचित हो जाता था। पाठशाला को छोड़ने के पश्चात् वह किसान या माली का काम करना चाहता था। खेतों में काम करने से उसे कष्ट होता था—इस कारण केरी के पिता ने उसे मोची की एक दुकान में काम दिलवा दिया। इस मोची की दुकान में एक और नवयुवक काम करता था। वह प्रोटेस्टेंट ईसाई विचारों का था। उसने विलियम केरी को प्रोटेस्टेंट विचार धाराओं से परिचित कराया। उसके हृदय में आध्यात्मिक जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि वह १७८३ ई. में बाक़ायदा पादरी बन गया। इसके पश्चात् उसका विवाह हो गया।

१७६२ ई. में एशिया और अमेरिका में मिशनरियों को भेजने के लिए बैप्टिस्टों की एक संस्था की स्थापना हुई। इसमें कैरी भी सम्मिलित हो गया। पहले उसने पैसेफ़िक महासागर के टाहिटी द्वीप में जाने का विचार किया। तत्पश्चात जब जान टामस ने बंगाल का आकर्षक वर्णन किया तो उसने बंगाल जाने का निर्णय किया। इस समय भारत में आने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी से इजाज़त लेनी पड़ती थी। कम्पनी के संचालक धर्म प्रचारकों को सुगमता से आज्ञा नहीं प्रदान करते थे। केरी और टामस को पहले तो कम्पनी ने आज्ञा नहीं दी परन्तु इन दोनों ने अपना आग्रह न छोड़ा। अन्त में एक डेनिश जहाज़ में अपने बाल-बच्चों के साथ ई. १७६३ में नवम्बर की ११ वीं तारीख को वे बंगाल पहुँचे।

कलकत्ता पहुँच कर टामस तो अपने पूर्व से निश्चित डाक्टरी के काम में लग गया। जान टामस को रामराम बसु नामक एक बंगाली पंडित संस्कृत और बंगाली सिखाता था। केरी ने बसु को अपना मुंशी बनाया। यह कलकत्ता में माणिकतल्ला स्ट्रीट में नीलदत्त के बगीचे के एक घर में रहने लगा। केरी को जो पैसा

एक वर्ष के लिए मिला था वह दो महीने के अन्दर समाप्त हो गया। पैसे की भीषण तंगी के कारण केरी की पत्नी बहुत परेशान रहने लगी। रामराम बसु के चाचा ने केरी के रहने के लिए सुन्दरबन में बिना भाड़े की एक जगह दे दी। सुन्दरबन का प्रदेश ज़हरीले साँपों और सिंहों से भरा हुआ था परन्तु अपने कुटुम्ब के व्यय को चलाने के लिए केरी के लिए उस समय और कोई मार्ग न था।

पीछे से टामस ने केरी को माल्दा में मदनावती के एक कारखाने में कार्य दिलाया और इसलिए १७९४ की १५ वीं जून को केरी वहाँ गया। इस बीच में वार्ड और मार्शमैन नाम के केरी के दो मित्र इंगलैण्ड से सीरामपुर आए। ये लोग कलकत्ता में मिशन की स्थापना करने आए हैं—जब इस बात की खबर ब्रिटिश अधिकारियों को लगी तो उन्होंने इन्हें वापस अपने देश को जाने का हुक्म दिया। उन दिनों सीरामपुर डेनिश लोगों के हाथ में था और डेनिश गवर्नर ने उन्हें आश्रय प्रदान किया। इस सम्बन्ध में इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि उस समय के ईस्ट इंडिया कम्पनी के गवर्नर जनरल ने यह आज्ञा दी थी कि ब्रिटिश बंगाल में कलकत्ता को छोड़ कर अन्यत्र किसी स्थान में छापाखाना न खोला जाए। इसलिए वार्ड ने केरी से सीरामपुर आने का आग्रह किया। केरी १८०० की १० वीं जनवरी को अपने परिवार के साथ सीरामपुर पहुँच गया।

केरी, वार्ड और मार्शमैन तीनों बड़े साहसी और पुरुषार्थी थे। वे किसी कठिन कार्य को करने में घबराते न थे। तीनों एक दूसरे का पूरक बन कर एक दूसरे की सहायता से काम करने लगे। केरी की महान् अभिलाषा थी कि किसी प्रकार बाइबल का यहाँ की भाषाओं में अनुवाद हो जाए। जब वह मदनावती में पाँच वर्ष रहा था तो इस बीच में उसने समस्त बाइबल का बंगली में अनुवाद कर लिया था : परन्तु प्रश्न यह था कि उसे किस तरह छापा जाए। इसके लिए टाइप की जरूरत थी और इसके लिए मूल अड़ी (Punches) को इंग्लैंड से मंगवाना पड़ता था। पूछने पर ज्ञात हुआ कि इस प्रकार की एक अड़ी का मूल्य १ गिनी जितना होगा क्योंकि कलकत्ता में १०,००० प्रतियाँ छपवाने में ४३,७५० रुपए व्यय होता था। १७९७ दिसम्बर मास में केरी को पता लगा कि कलकत्ता में देशी भाषाओं का टाइप बनाने के लिए एक फ़ाउण्ड्री स्थापित की गई है। कुछ महीने के पश्चात् इंग्लैण्ड से आया हुआ एक प्रेस केवल ४३ पाउंड में बिका। श्री उद नाम के एक कारखाने के मालिक ने उसे खरीद कर केरी को भेंट में दे दिया। १७९८ के सितम्बर में इस प्रेस को खड़ा किया गया, पीछे से वह इस प्रेस को अपने साथ सीरामपुर ले आया। इस प्रकार सीरामपुर के ऐतिहासिक मुद्रणालय का प्रारम्भ हुआ।

प्रेस तो आ गया परन्तु इसे किस प्रकार चलाया जाए! इसके व्यय के सम्बन्ध में क्या होगा? छापने की सामग्री को तैयार करना और प्रूफ़ सुधारने का काम केरी और फाउण्टन मिल कर करते थे। वार्ड छापने का काम करता था। ब्राण्डसन और फेलिग्स उसकी सहायता करते थे। छापे के खर्च को पूरा करने के लिए मार्शमैन और उसकी पत्नी ने छात्र और छात्राओं के के लिए एक बोर्डिङ्ग स्कूल चलाया। सीरामपुर में दो मास व्यतीत करने के पश्चात् केरी को समाचार मिला कि कलकत्ता में पंचानन कर्मकार नामक एक विद्वान् कारीगर ने देशी भाषाओं में अड़ी और टाइप को बनाया है। वह पहले त्रिवेणी में रहता था और देशी भाषाओं के आदि मुद्रक महाविद्वान् चार्ल्स विल्किन्स के साथ काम करता था। उसने अड़ी और टाइप बनाने की कला को उससे सीखा था। इसके पश्चात् वह संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् कोलब्रुक के पास कार्य करता रहा। वह गार्डन रीच के एक मकान में रहता था। उसके साथ उसका भतीजा मनोहर भी रहता था और वह भी टाइप बनाना सीख गया था। केरी ने प्रयत्न किया कि किसी प्रकार पंचानन को कोलब्रुक के पास से छीन लिया जाए। उसने पंचानन को अधिक वेतन का लालच दिया परन्तु इसमें उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसने कुछ दिन के लिए पंचानन को सीरामपुर बुलाया। कोलब्रुक ने उसे इजाजत दे दी। बाद में केरी ने पंचानन को रोक लिया। कोलब्रुक ने पंचानन को वापस बुलाने के लिए कम्पनी सरकार को बहुत कुछ लिखा परन्तु डेनिश सरकार की सहायता से वह पंचानन को सीरामपुर रखने में सफल हो गया।

पंचानन और उसके भतीजे मनोहर की सहायता से केरी ने सीरामपुर मिशन में अपने और बाहर के काम के लिए पूर्व के समस्त देशों की भाषाओं के सुन्दर टाइप

बनाने का एक कारखाना खोला। बंगाली में बाइबल को पहले १८०० ई० के मई महीने में छापा गया। इससे प्रोत्साहित होकर १८०१ की ७ वीं फरवरी को हिन्दुस्तान की समस्त मुख्य मुख्य भाषाओं में बाइबल के अनुवादों को प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। छापाखाने को विस्तृत करने के सिवाय इस कार्य को करना कठिन था। पंचानन और मनोहर की सहायता सेउसने पूर्व की समस्त भाषाओं में टाइप बनाने की फाउण्ड्री को स्थापित किया। पंचानन ने देवनागरी अक्षरों की ७०० अड़ियाँ बनाईं। पीछे से इस समस्त कार्य को पंचानन ने अपने भतीजे मनोहर को दे दिया। उसने केरी के छापाखाने में ४० वर्ष पर्यन्त कार्य किया और बंगाली, अरबी, फ़ारसी और इसी प्रकार अन्य अनेक भाषाओं में ऐसे टाइप बनाए जिन्हें बाद में अन्य प्रेस भी प्रयोग में लाने लगे। इन भाषाओं का टाइप बनाने के लिए ये भाषाएँ उनकी परम ऋणी हैं।

सीरामपुर छापाख़ाना ने १८०१ ई० से १८३२ ई० तक ४० भिन्न-भिन्न भाषाओं में दो लाख बारह हज़ार ग्रन्थों को प्रकाशित किया। इन ग्रन्थों के लिए टाइप पहली बार ही बनाए गए थे—आज की दृष्टि से भी यह एक विलक्षण कार्य था। ये समस्त पुस्तकें केवल बाइबल का ही अनुवाद नहीं थीं। इसमें मौलिक पुस्तकें भी थीं। इस मुद्रणालय ने भारत की अनेक भाषाओं के मुद्रण को स्थिरता प्रदान की और उनको छापने की एक निश्चित पद्धति प्रदान की। मराठी और आसामी जैसी भाषाओं की पुस्तकें सबसे पूर्व इसी प्रेस से प्रकाशित हुईं। यह प्रेस किस प्रकार का था इसका पता वार्ड के एक पत्र से लगता है जो कि उसने १८११ ई. में लिखा था—"प्रेस में प्रवेश करते ही तुम देखोगे कि तुम्हारा भाई (वार्ड) एक छोटे से स्थान में बैठा पढ़ और लिख रहा है। उसके सामने १७० फुट लम्बा एक आफ़िस है जिसमें बैठे हुए अनेक भारतीय विद्वान् या तो भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवाद कर रहे हैं और या फिर प्रूफ़ों को शुद्ध कर रहे हैं। प्रेस में अनेक खानों में अरबी, फ़ारसी, नागरी, तेलुगु, पंजाबी, बंगाली, मराठी, चीनी, उड़िया, बर्मी, कन्नड़, ग्रीक, हिब्रू और अंग्रेज़ी के टाइप पड़े हुए हैं और अनेक हिन्दू, मुसलमान और ईसाई टाइपों को जोड़ने का या प्रूफ़ ठीक करने का और या टाइपों को अलग करने का कार्य कर रहे हैं। आफ़िस के दूसरी ओर टाइप ढालने वाले यन्त्र हैं और स्याही बनाने का कार्य हो रहा है। इसके बाद खुली और विशाल दीवारों से घिरी जगह में हमारी अपनी कागज़ की मिल है क्योंकि हम अपना कागज़ स्वयं तैयार करते हैं।"

सीरामपुर के छापाखाने की स्थापना के एक वर्ष पश्चात् कलकत्ता में ब्रिटिश कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं को सिखाने के लिए 'फ़ोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना की गई। कालेज के अधिकारियों को कालेज में शिक्षा प्रदान करने के लिए हिन्दुस्तान की भाषाओं में लिखी और छपी पुस्तकों की आवश्यकता अनुभव हुई। कालेज की इस प्रवृत्ति का केन्द्र भी केरी ही था। सीरामपुर मिशन छापाखाना की स्थापना के एक वर्ष पश्चात् १८०१ ई० में इस कालेज में बंगाली पढ़ाने के लिए इसे आमन्त्रित किया गया जिसको उसने स्वीकार कर लिया। अनेक बंगाली विद्वानों को उसके उत्साह और परिश्रम से प्रोत्साहन और प्रेरणा प्राप्त हुई। केरी ने बंगाली भाषा में लिखने की प्रवृत्ति को नई शक्ति प्रदान की। बंगाली साहित्य के समुत्थान में केरी और उसके साथियों ने जो सेवाएँ की हैं वे बहुत महत्वपूर्ण हैं।

सीरामपुर में जीवन अब वैसा सुखी नहीं रह गया था। १८१२ में सीरामपुर छापाख़ाने पर एक अचिन्तित मुसीबत आगई। छापाख़ाना में आग लग गई। यन्त्रों और टाइपों को किसी प्रकार बचा लिया गया परन्तु समस्त हस्तलिखित पुस्तकें और हज़ारों पुस्तकें जल कर भस्म हो गईं। "रामायण" और "संस्कृत शब्दकोश" नष्ट हो गए। इतने पर भी केरी और उसके साथी हिम्मत नहीं हारे। इन्होंने एक नया स्थान प्राप्त किया। लोगों को पूरा वेतन दिया। इतना ही नहीं उन्हें उसने एक महीने की साधिकार छुट्टी दी। जले हुए अवशेष में से ४ टन पिघले हुए सीसे को उसने बाहर निकाला और पुनः मुद्रण-यंत्र को प्रारंभ किया। रात दिन काम करके एक महीने के अन्दर उसने प्रेस को पुनः खड़ा करने का प्रयत्न किया। आठ महीने के पश्चात् प्रेस पहले जैसा फिर काम करने लग गया। इसमें १० यन्त्र थे और २०० कार्यकर्ता।

१८१४ और १८१७ ई० में चार और युवक इंग्लैण्ड से आए। १८१८ ई० में वे केरी से अलग हो गए और उन्होंने एक अपने मिशन की पृथक् स्थापना

की। इस मतभेद से केरी को बहुत दुःख हुआ। केरी की पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी। इस समय केरी की आयु ७० वर्ष की थी। १८३४ ई० की ९ वीं जून को भारतीय मुद्रणालय के इस अग्रणी की मृत्यु हो गई।

केरी की मृत्यु के पश्चात् कम्पनी और मिशन का मतभेद समाप्त हो गया। मिशन ने सीरामपुर के छापेखाने को बन्द कर दिया और समस्त सामग्री और सम्पत्ति दूसरे मिशन के छापाखाने को दे दी। यह दूसरा छापखाना 'बैप्टिस्ट मिशन छापखाना' के नाम से कलकत्ते के लोअर सर्कुलर रोड पर १८३४ में स्थापित किया गया। आज भी यह मुद्रणालय उसी स्थान पर अवस्थित है। इस समय इस प्रेस के संचालक श्रीयुत नार्मन एलिस हैं। सीरामपुर छापाखाना में जो टाइप पहले पहल बनाए गए थे वे इस प्रेस में संगृहीत हैं।"

॥

लद्दाख़ : सहारा और ऐल्प्स का सम्मिलन

१ कलकत्ता के 'मार्डन रिव्यू' में श्रीमती सरोजिनी सिन्हा का 'लद्दाख़' के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जाता है:

लद्दाख में हमें सहारा के मरुस्थल और ऐल्प्स पर्वत के दृश्य एक साथ दिखाई देते हैं। यहाँ की मरुभूमि के क्षेत्र में हमें न जंगल और न शस्यागार नजर आते हैं और न यहाँ घास उगती है। यहाँ कृत्रिम रूप से वृक्षों को उगाया गया है और जंगल बनाए गए हैं। यहाँ गर्मी और सर्दी का भी अद्भुत सम्मिश्रण है। शिलाओं पर सूर्य की किरणें पड़ने से वे तप जाती हैं और छाया में सख़्त सर्दी पड़ती है। दिन में या तो गर्मी और या फिर सर्दी खा जाने का डर रहता है। लद्दाख़ की लम्बाई चौड़ाई ३७,००० वर्ग मील है और यहाँ की आबादी ८०,००० है। लद्दाख़ी चाय में मक्खन और नमक डाला जाता है। उसमें दूध और शक्कर नहीं डाली जाती। वहाँ की चाय झोल की तरह पतली और पर्याप्त स्वादिष्ट होती है।

लद्दाख़ एक धार्मिक प्रवृत्ति का देश है। यहाँ के प्रत्येक ग्राम में मठ और लामा हैं। यहाँ मठों को 'गुम्प' कहा जाता है और इन्हें पर्वतों की चोटियों पर बनाया जाता है। इन मठों पर 'प्रार्थना के झण्डे' अर्थात् ऐसे झण्डे जिन पर प्रार्थना लिखी रहती है—लगाए जाते हैं। कहा जाता है कि लद्दाख़ की १/६ आबादी मठों और मन्दिरों में है। प्रत्येक घर में से एक व्यक्ति को लामा बनने के लिए दे दिया जाता है। प्रत्येक लामा को आवश्यक शिक्षा प्रदान की जाती है जो कि ३ से १५ वर्ष तक होती है। दो तरह के लामा होते हैं: एक तो वे जो कि इन मठों के कारबार को संभालते हैं और दूसरे धार्मिक कार्यों में लग जाते हैं। प्रत्येक 'गुम्प' में बौद्ध हस्तलिखित पुस्तकें रहती हैं। इनमें कई पुस्तकें अत्यन्त प्राचीन हैं। लद्दाख़ के प्रत्येक गाँव से कुछ दूर ऐसी दीवारें हैं जिनमें प्रार्थना के पत्थर लगे हुए हैं—इन्हें "मानतंग" कहा जाता है। इन पर यह तिब्बती प्रार्थना खुदी रहती है: "ओं मणिपद्मे ओं"। प्रार्थना के इन शब्दों को कई बार दुहराया जाता है। जिन पत्थरों पर यह प्रार्थना खुदी रहती है उन्हें "मणि पत्थर" कहा जाता है। लद्दाख़ में समाधि को 'चोर्टेम' कहा जाता है। किसी पवित्र लामा के मर जाने पर उसे जला दिया जाता है और उसकी भस्मी पर 'चोर्टेम' का निर्माण किया जाता है। जैसे माला होती है—वैसे ही यहाँ 'प्रार्थना-चक्र' होता है। इसमें प्रार्थनाएँ लगी रहती हैं और उन्हें हाथ से घुमाया जाता है। किसी समय लद्दाख़ में इन प्रार्थना-चक्रों का बड़ा रिवाज़ था—परन्तु अब यह रिवाज़ नष्टप्राय हो गया है। कई 'प्रार्थना-चक्र' इतने बड़े होते हैं कि उन्हें जलीय शक्ति के द्वारा चलाया जाता है। यह एक आश्चर्य की बात है कि जहाँ लद्दाख़ के पहाड़ भयानक और कठोर हैं—वहाँ लद्दाख़ के लोग बड़े हँस-मुख और अच्छे स्वभाव के हैं। किसी अपरिचित व्यक्ति को भी वे देखते ही बड़ी प्रसन्नता और आदर के साथ "जूले" करते हैं। 'जूले' तिब्बती भाषा में नमस्कार को कहते हैं। जहाँ तक जाति का प्रश्न है तिब्बत के लोग मंगोलियन जाति के हैं और उनका धर्म अधिकांश में बौद्ध है। कुछ मुसलमान भी हैं परन्तु उनकी भाषा और पोशाक बिलकुल एक ही है और दोनों में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं किया जा सकता। लद्दाख़ में स्त्री और पुरुष की पोशाक बहुत कुछ मिलती जुलती है। पुरुष एक प्रकार का अंगरखा पहनते हैं जिसे कि यहाँ "गुंचा" कहा जाता है। स्त्रियाँ एक प्रकार का गाउन पहनती हैं। इसके साथ पुरुष और स्त्रियाँ दोनों पजामा, भारी बूट तथा गर्मियों और सर्दियों में एक ही प्रकार की पोशाक पहनते हैं।"

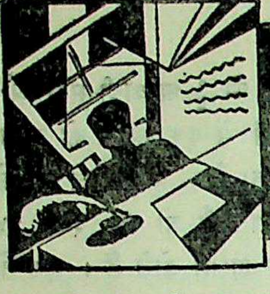

सम्पादकीय

केन्द्रीय प्रशासन और हिन्दी

केन्द्रीय प्रशासन ने समाचार-पत्रों में गत वर्षों की भाँति एक विज्ञप्ति प्रकाशित की है जिसके द्वारा इस बात की सूचना देने का प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए केन्द्रीय प्रशासन के द्वारा क्या कार्य किया जा रहा है। हमें दुःख है कि इस विज्ञप्ति को पढ़ कर यह ठीक तरह ज्ञात नहीं होता कि केन्द्रीय प्रशासन के परिणामस्वरूप हमारे देश में हिन्दी का कार्य किस वेग से प्रगति कर रहा है। हम 'अजन्ता' में इस बात का आग्रह करते रहे हैं कि भारतीय प्रशासन के द्वारा प्रति वर्ष हिन्दी के सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित की जानी चाहिए जिससे समस्त देश में हिन्दी की गतिविधि के विषय में आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो सके। इस पुस्तक में अन्य भारतीय भाषाओं की प्रगति के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला जाना चाहिए। जो विज्ञप्ति समाचार-पत्रों में भारतीय प्रशासन द्वारा प्रकाशित की गई है—वह हिन्दी के कार्य की रूप-रेखा को भी समुचित रीति से प्रस्तुत नहीं करती—प्रगति के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? यह विज्ञप्ति न केवल अपर्याप्त है अपितु कुशलता से तैयार की गई है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे केवल इसलिए प्रसारित किया गया है कि जिससे यह अनुभव न हो कि केन्द्रीय प्रशासन हिन्दी के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण नहीं कर रहा है।

इस विज्ञप्ति में सबसे पूर्व "केन्द्रीय सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय" का उल्लेख किया गया है और हिन्दी के सम्बन्ध में उसके "महत्वपूर्ण योग" की प्रशंसा की गई है। इस विज्ञप्ति में लिखा गया है: "इसके विभिन्न विभागों में तेज़ी से हिन्दी की प्रगति हो रही है।" इसके किन विभिन्न विभागों में हिन्दी की क्या प्रगति हुई है—इसका कुछ विवरण प्रदान नहीं किया गया है। इसके सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है वह यह है: "सूचना मंत्रालय के प्रकाशन विभाग के हिन्दी प्रकाशनों में 'भारत' नामक पुस्तक उल्लेखनीय है।" 'भारत' पुस्तक में केन्द्रीय सरकार द्वारा भारत सम्बन्धी विवरण प्रकाशित किए जाते हैं। यह एक प्रकार की संदर्भ पुस्तक है। पहले इसे एकमात्र अंग्रेज़ी में प्रकाशित किया जाता था—अब हिन्दी में भी प्रकाशित किया जाने लगा है। यह एक "महत्वपूर्ण पुस्तक" अवश्य हो सकती है परन्तु इस पुस्तक से देश में हिन्दी के कार्य की प्रगति हुई है—ऐसा हम नहीं कह सकते। इस 'भारत' पुस्तक में भारतीय भाषाओं और हिन्दी की प्रगति के सम्बन्ध में कोई पृथक् अध्याय नहीं है, जिससे हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं की प्रगति के सम्बन्ध में उचित जानकारी प्राप्त हो सके। इसके पश्चात् इस विज्ञप्ति में कहा गया है: "अखिल भारतीय रेडियो द्वारा हिन्दी की जो सेवा हो रही है वह सर्व-विदित है।" परन्तु 'सर्व-विदित' होने पर भी इतने से यह पता नहीं लगता कि पिछले वर्षों में अखिल भारतीय रेडियो ने हिन्दी की प्रगति के लिए क्या विशेष योजनाएँ बनाईं और हिन्दी के कार्य को किस प्रकार और कितना आगे बढ़ाया। हम इस बात को जानते हैं कि अ-हिन्दी प्रदेशों में अखिल भारतीय रेडियो हिन्दी के कार्य को समुचित रीति से आगे नहीं बढ़ा रहा है। बहुत से अ-हिन्दी प्रदेशों के रेडियो पर हिन्दी प्रोग्रामों को न स्थान दिया जाता है और न उन्हें विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। अखिल भारतीय रेडियो को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि अ-हिन्दी प्रदेशों के रेडियो के प्रोग्रामों में हिन्दी को नियमपूर्वक उचित स्थान दिया जाए।

इसके पश्चात् प्रशासन की विज्ञप्ति में "केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों" को हिन्दी सिखाने के लिए जो उपक्रम किए जा रहे हैं उनका उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में लिखा गया है: "केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों को सिखाने के लिए कक्षाएँ १९५२ में ही शुरू की गई थीं। ये कक्षाएँ दफ़्तर के समय के बाद शाम को लगती थीं और पाठ्यक्रम पूरा होने पर 'हिन्दी प्रबोध" नामक परीक्षा होती थी। १९५२ से १९५५ तक इसमें १,०५३ विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए।" इस विवरण में उत्तीर्ण कर्मचारियों की संख्या तो दी गई है

परन्तु इस बात पर प्रकाश नहीं डाला गया कि इन कक्षाओं और परीक्षाओं में कितने कर्मचारी सम्मिलित हुए। इसके पश्चात् इस सम्बन्ध में 'तीन प्रकार के पाठ्य-क्रमों का" उल्लेख किया गया है और फिर यह सूचना दी गई है : "शुरू में ये कक्षाएँ केवल दिल्ली में लगाई गईं परन्तु यह नई योजना इतनी सर्वप्रिय (?) हुई कि शीघ्र ही दिल्ली के बाहर स्थित केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों ने भी हिन्दी कक्षाएँ चलाने की माँग की। फलतः मई, १९५६ में शिमला, कलकत्ता, बर्मा, मद्रास और बंगलौर पाँच नगरों में भी हिन्दी कक्षाएँ खोल दी गईं। महीने के अन्दर ही ११ और नगरों में भी हिन्दी कक्षाएँ खोल दी गईं।" उपर्युक्त विवरण में "नई योजना" की "सर्वप्रियता" का उल्लेख है और पाँच नगरों और फिर ११ और नगरों (उनका नाम नहीं दिया गया है) में "कक्षाओं के खोलने" का उल्लेख है परन्तु इससे यह ज्ञात नहीं होता कि कितने कर्मचारी इस योजना की सर्वप्रियता (?) से लाभ उठा रहे हैं, कितने कर्मचारी इन योजनाओं में सम्मिलित होते हैं और इसके द्वारा हिन्दी का कार्य कितना आगे बढ़ रहा है। १९५५ में "१,०५३ विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए" परन्तु इस नई योजना के आने के पश्चात् कितने विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए इसका इस विवरण में कुछ भी उल्लेख नहीं है।

इसके पश्चात् इस विज्ञप्ति में "ग़ैर-हिन्दी भाषी राज्यों" में हिन्दी के प्रचार का उल्लेख किया गया है। हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में "१९५४ में हिन्दी शिक्षा समिति" नियुक्त की गई। जुलाई १९५६ की बैठक में समिति ने सिफ़ारिश की कि हरेक राज्य में एक हिन्दी शिक्षण अधिकारी नियुक्त किया जाए जो अपने राज्य में हिन्दी-शिक्षण और प्रचार के काम को बढ़ावा दे। प्रत्येक राज्य में एक हिन्दी-शिक्षक-ट्रेनिंग कालेज खोलने की योजना बनाई गई।"—"हिन्दी-शिक्षा-समिति" नियुक्त की गई १९५४ में और १९५६ में उसने 'हिन्दी-शिक्षक अधिकारी के नियुक्ति' की सिफ़ारिश की। १९५४ से जुलाई १९५६ तक 'हिन्दी-शिक्षा-समिति' ने क्या कार्य किया इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया। 'हिन्दी-शिक्षा-समिति' की कितनी बैठकें हुईं उनमें किन महत्वपूर्ण विषयों पर विचार हुआ इसके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। इस सम्बन्ध में केवल इतना उल्लेख किया गया है कि समिति ने 'हरेक राज्य में एक हिन्दी-शिक्षण-अधिकारी' नियुक्त करने की और हिन्दी ट्रेनिंग कालेज खोलने की सिफ़ारिश की।' परन्तु इस सिफ़ारिश के पश्चात् क्या हुआ और क्या इस सिफ़ारिश को भारतीय प्रशासन क्रियान्वित करना चाहता है और यदि करना चाहता है तो कब में—और किस प्रकार—इस पर इस विज्ञप्ति में किसी प्रकार का कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। इसलिए यह कहना कठिन है कि भारतीय प्रशासन हिन्दी-शिक्षा-समिति की इन सिफ़ारिशों को क्रियात्मक रूप में परिणत करेगा या नहीं। अच्छा होता कि यदि इस विज्ञप्ति में भारतीय प्रशासन इस बात की सूचना प्रदान कर सकता कि वह इन सिफ़ारिशों के सम्बन्ध में क्या क़दम उठाना चाहता है।

इसके पश्चात् इस विज्ञप्ति में कहा गया है : "एक और महत्वपूर्ण निश्चय यह किया गया है कि २,००० मूलभूत शब्दों की सूची बनाई जाए—जिनको लेकर हिन्दी की पाठ्य-पोथियाँ तैयार की जाएँ। यह सूची तैयार हो गई है। ५०० शब्दों की एक और सूची भी बनाई जाएगी—जिससे अन्य भाषाभाषी लोगों को काम चलाने लायक हिन्दी-ज्ञान हो जाएगा।" इस सूचना में इस बात को स्पष्ट नहीं किया गया है कि "हिन्दी की ये पाठ्य-पोथियाँ" अहिन्दी भाषी प्रदेशों के विद्यार्थियों के लिए होंगी या उनके लिए जो कि हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं और यदि विद्यार्थियों के लिए होंगी तो किस कक्षा से किस कक्षा तक ये "पाठ्य-पोथियाँ" पढ़ाई जाएँगी। जब तक इन २,००० शब्दों की सूची को देख न लिया जाए—हम उसके विषय में कुछ नहीं कह सकते। पता नहीं इन २,००० शब्दों को किस प्रकार हिन्दी के मूलभूत शब्द कहा जा सकता है। अभी तो '५०० शब्दों की एक और सूची बनाई जाएगी और तब कहीं इनके आधार पर आवश्यक "पाठ्य-पोथियाँ" तैयार की जा सकेंगी। अच्छा होता कि यदि भारतीय प्रशासन का शिक्षा-मन्त्रालय इस विषय पर कुछ और अधिक प्रकाश डाल सकता। अभी तक बेसिक इंग्लिश द्वारा हमारे देश में न तो अंग्रेज़ी की शिक्षा प्रदान की जाती है और न बेसिक इंग्लिश में पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गई हैं—यद्यपि बेसिक अंग्रेज़ी के प्रसार के लिए पर्याप्त प्रयत्न किए जा चुके हैं। कहा जाता है कि अंग्रेज़ी की बड़ी-से-बड़ी डिक्शनरी में पाँच लाख

शब्द प्राप्त होते हैं। इनमें बीस हज़ार शब्द ही ऐसे हैं जिन्हें कि साधारणतया प्रयोग में लाया जाता है; इन बीस हज़ार शब्दों में सात या आठ हज़ार शब्द ही इस प्रकार के हैं जो कि प्रति दिन के उपयोग में आते हैं। १० वर्षों से अधिक समय के अनुसन्धान और विश्लेषण से यह पता लगा कि समस्त कार्य को ८०० या ६०० शब्दों से चलाया जा सकता है। अन्त में ८५० शब्द बेसिक शब्द मान लिए गए। इन्हें Key words (कुंजी शब्द) कहा जाता है। इन ८५० कुंजी-शब्दों में ६०० शब्द संज्ञाओं के हैं, १५० विशेषण हैं और १०० शब्द इस प्रकार के हैं जो कि इन संज्ञाओं और विशेषणों को प्रयोग में चलाते हैं। जब बेसिक अंग्रेज़ी के शब्दों को छाँटने में १० वर्ष से ऊपर का समय लगा और पाँच लाख अंग्रेज़ी के शब्दों में से केवल ८५० शब्दों को लिया गया—तब पता नहीं किस प्रकार एक-आध वर्ष के स्वल्प समय में हिन्दी के २५०० शब्दों को मूलभूत घोषित कर दिया गया और अब यह कहा जा रहा है कि इन २५०० हिन्दी के मूलभूत शब्दों के आधार पर हिन्दी की पाठ्य पुस्तकें तैयार की जाएँगी। हम नहीं कह सकते कि इससे हिन्दी के प्रसार और उसके कार्य को बढ़ाने में कहाँ तक सहायता प्राप्त हो सकेगी।

इसके पश्चात् इस विज्ञप्ति में "पारिभाषिक शब्दावली' के विषय में कहा गया है : "हिन्दी में पारिभाषिक संकलनों का कार्य शिक्षा-मन्त्रालय के तत्वावधान में तेज़ी से चल रहा है। अब तक ७५ हज़ार से अधिक शब्द संकलित किए जा चुके हैं। इसके लिए सन् १९५० में 'पारिभाषिक शब्द परिषद्' स्थापित की गई थी जिसके अन्तर्गत इस समय विभिन्न विषयों की २० विशेषज्ञ-समितियाँ काम कर रही हैं।" इस विज्ञप्ति से यह ज्ञात होता है कि लगभग ७ वर्ष से पारिभाषिक शब्दावली का कार्य हो रहा है और यद्यपि "इस समय विभिन्न विषयों की २० विशेषज्ञ -- समितियाँ कार्य कर रही हैं" तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि पारिभाषिक-शब्दावली का यह कार्य कब पूर्ण हो जाएगा और इस पारिभाषिक-शब्दावली के आधार पर विभिन्न विषयों में कब तक पुस्तकें तैयार हो सकेंगी। इधर तो शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा यह अनेक वर्ष-साध्य और व्यय-साध्य शब्दावलियाँ तैयार की जा रही हैं और दूसरी ओर शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा आयोजित शिक्षा-परिषदों में इस बात को बलपूर्वक कहा जा रहा है कि समस्त विज्ञान और यन्त्रज्ञान आदि की शिक्षा अनिश्चित काल तक अंग्रेज़ी के द्वारा ही प्रदान की जानी चाहिए। हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार के वातावरण में "पारिभाषिक शब्दावली' का कार्य कितने समय में समाप्त हो सकेगा और समाप्त हो जाने के पश्चात् भी इसका क्या मूल्य होगा? विज्ञप्ति में कहा गया है कि यह कार्य "तेज़ी से चल रहा है।" अच्छा होता यदि केन्द्रीय प्रशासन द्वारा इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित अवधि को निर्धारित किया जा सकता।

इसके पश्चात् इस विज्ञप्ति में 'केन्द्रीय कानूनों या विधियों' के हिन्दी-भाषान्तर के कार्य के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। इस विषय में कहा गया है : "विधि-मन्त्रालय का अनुवाद-विभाग इस कार्य में लगा हुआ है और अब तक इन क़ानूनों के ८ हज़ार छपे पृष्ठों में से लगभग ३॥ हज़ार का अनुवाद कर चुका है। इसमें से काफ़ी प्रकाशित भी हो गए हैं।" आगे इस विज्ञप्ति में कहा गया है : "केन्द्रीय सरकार के सब विभागों में उत्तरोत्तर हिन्दी के अधिक प्रयोग पर ज़ोर दिया जा रहा है।" अच्छा होता कि यदि इस पर भी कुछ प्रकाश डाल दिया जाता कि इन सब विभागों में उत्तरोत्तर हिन्दी का प्रयोग कितना अधिक बढ़ता जा रहा है। इसके पश्चात् विज्ञप्ति में संसद् में "हिन्दी में उत्तर देने की व्यवस्था, हिन्दी में प्रतिवेदन और विवरण तैयार करना और रेलवे बजट आदि के हिन्दी में प्रस्तुत करने का" उल्लेख किया गया है। फिर 'सेनाओं में हिन्दी' के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा गया है कि "अब तक ८,८६० अफ़सर हिन्दी परीक्षाओं में बैठ चुके हैं।" रेलवे में हिन्दी के सम्बन्ध में इतना कहा गया है कि "रेलों में काम आने वाले कागज़ पत्रों, फ़ारमों और शब्दों के हिन्दी प्रतिरूप तैयार करने की योजना बनाई है।" इस योजना के सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा गया है। अन्त में इस विज्ञप्ति में "डाक-तार में हिन्दी" पर प्रकाश डाला गया है।

क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि केन्द्रीय प्रशासन की ओर से प्रत्येक वर्ष हिन्दी के कार्य के सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित की जाए जिससे हमें पूर्ण विवरणों के साथ यह ज्ञात हो सके कि हिन्दी का कार्य हमारे देश के विभिन्न भागों और क्षेत्रों में किन रूपों में और किस प्रकार प्रगति कर रहा है?

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बडी सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वामी सन्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

प्रकाशक : माणिकलाल कौल—मुद्रक : हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, है. द.

रजिस्टर्ड नं. H. ५९९ अजन्ता, जनवरी १९५७ Regd. No. H. 599

टेलीफ़ोन : ४५५५३
तार : एक्ज़िबिशन

अखिल भारतीय
औद्योगिक प्रदर्शिनी
हैदराबाद आन्ध्र प्रदेश,
दिनांक : १ जनवरी, १९५७ से १० फरवरी, १९५७ तक
आन्ध्र प्रदेश के तत्वावधान में

आन्ध्र प्रदेश तथा अन्य
राज्य शासनों के विभाग
व्यापार मेले
प्रतियोगिता विभाग
सांस्कृतिक विभाग
आमोद, उद्यान

भारत की अधिकतम विभिन्नताओं से परिपूर्ण प्रदर्शिनी

इस प्रदर्शिनी को सन् १९५६ में शानदार सफलता प्राप्त हुई तथा
११०० स्टालों में लगभग २०,००० दर्शकों की भारी उपस्थिति रही

औद्योगिकों, व्यापारियों, व्यवसायियों के लिए अपनी-अपनी
वस्तुओं के विक्रय और विज्ञापन का स्वर्ण अवसर

आवश्यक विवरण और जानकारी के लिए लिखिए या मिलिए :

अखिल भारतीय औद्योगिक प्रदर्शिनी
मुकर्रमजाही रोड, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

वर्ष ९ अंक २

अजन्ता

फरवरी १९५७

सबसे सस्ता

किताब-घर

पुरोहित एण्ड कम्पनी

पुस्तक-विक्रेता और पुस्तक-प्रकाशक

हमारे यहाँ

स्कूलों, कालेजों और अन्य सब प्रकार की

पुस्तकें प्राप्त होती हैं

■

हेड आफिस
सुलतान बाज़ार
हैदराबाद

ब्राञ्च आफिस
गन फाउण्डरी
हैदराबाद

तेलुगु हिन्दी अंग्रेज़ी

सब प्रकार की
उत्तम, शुद्ध और आकर्षक
मुद्रण के लिए

★

अजन्ता प्रिण्टर्स

७११२, महाकाली रोड, सिकन्दराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

फोन नं० ६८१६

तार : फैन्सी पेपर फोन : ७३३२

सब प्रकार के काग़ज़
तथा
छपाई एवं स्टेशनरी सामान के

थोक व्यापारी

गौली ईश्वरय्या

जनरल बाज़ार, सिकन्दराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक सांस्कृतिक
हिन्दी मासिक

'प्रेरणा'

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर
कहानियाँ, एवं राजस्थानी कला और
संस्कृति के परिचय के लिए
प्रेरणा
सर्वोत्तम साधन है।

प्रधान सम्पादक : **देवनारायण व्यास**

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध
सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :
अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गति-विधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए
आठ आने का टिकट भेजिए ।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक
अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**
सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए
अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए
अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर, सुभाष मार्ग
लखनऊ

फोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर
प्रकाशक :

* साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
* नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
* कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्टू छात्रालय, बनारस

फोन नं० १४२ [वसुधा]
साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई
परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी। प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।
पृष्ठ संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक
[मासिक]

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

●

वार्षिक मूल्य ३) रु.] [एक प्रति ५ आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ
नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३१६ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व-ज्योति

का

वार्षिक अंक

२८ फरवरी '५७ को प्रकाशित होगा

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी होंगे और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

वार्षिक का मूल्य १॥) होगा, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'

साधु आश्रम, होशयारपुर—पंजाब

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र
श्रेष्ठ साहित्य की प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे!

* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है!!

* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक!!!

वार्षिक शुल्क १०) ❋ एक प्रति १)

कार्यालय

साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए!!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

मुख्य विषय :

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।॥)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए
"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं।
अवश्य पढ़िए।

६४, बेयर्ड रोड, नई देहली

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

प्रधान सम्पादक

डा० देवराज, एम. ए., डी. फिल.

सम्पादक

कमलापति मिश्र डा० प्रेमशंकर
प्रतापनारायण टण्डन

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रहा है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

'युग-चेतना' कार्यालय, चौक
लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबा

१. दक्खिनी का पद्य और गद्य : व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी मे ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन कर्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य १०-८-०।

२. पञ्चामृत (तेलुगु) **:** तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य ४-०-०।

३. सबरस : गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी गद्य की सब से पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य ६-०-०।

४. मुहावरा कोश : पृष्ठ संख्या २९८। रघुवरिशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापूर। मूल्य ३-०-०।

५. चाबुक (कहानी संग्रह) **:** श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। क्रौन १/१६, पृष्ठ संख्या १३९। मूल्य सजिल्द १-१२-०।

६. मीरा (तेलुगु) **:** लेखक रामचन्द्र कौण्डिन्य। मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद। मूल्य १-४-०।

७. तुलसीदास (नाटक) **:** गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। नाटक रंगमंच के उपयुक्त है मूल्य १-२-०।

८. शकुन्तला-ए ट्रेजड़ी (एण्ड अदर ऐसेज़) : श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। मूल्य ४-०-०

व्यवस्थापक : पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचार

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज़, सचित्र छपाई। आकर्षक मुख पृष्ठ।

१. बालपद : ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर आचार्य श्री पं० वंशीधर विद्यालङ्कार। ०-८-०

२. गाँवों की कहानियाँ : उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—श्री पं० रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए. पी; एच. डी.। ०-८-०

३. दक्षिण के महापुरुष भाग १ : दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

४. बालकों की कहानियाँ : बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. दो एकांकी : ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए. ०-८-०

६. हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल : अजन्ता से लेकर हैदराबाद की चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. दक्षिण के महापुरुष भाग २ : लेखिका—श्री विमला लूथरा। ०-६-०

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१ हिन्दी बोध प्रवेशिका	०	१०	०	१२ रचना बोध भाग १	०	५	०
२ हिन्दी बोध भाग १	०	८	०	१३ रचना बोध भाग २	०	६	०
३ हिन्दी बोध भाग २	०	१२	०	१४ इतिहास की कहानियाँ भाग १	०	८	०
४ हिन्दी बोध भाग ३	०	१३	०	१५ इतिहास की कहानियाँ भाग २	०	१२	०
५ हिन्दी बोध भाग ४	०	१४	०	१६ विज्ञान सोपान भाग १	०	१०	०
६ गद्यसोपान भाग २	१	०	०	१७ विज्ञान सोपान भाग २	०	१२	०
७ सरल गणित भाग २	०	१०	०	१८ चार एकांकी	०	१२	०
८ सरल गणित भाग ३	०	१२	०	१९ मणियाँ	०	१०	०
९ पद्य पारिजात भाग १	०	१२	०	२० सरल व्याकरण भाग १	०	६	०
१० पद्य पारिजात भाग २	१	५	०	२१ कहानी संग्रह	१	२	०
११ कथाकुञ्ज भाग १	१	८	०	२२ सरल भूगोल	१	०	०

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श–समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
भूतपूर्व वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा विभाग हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप'

१९५० से १९५६ ई. तक के प्रत्येक वर्ष की 'अजन्ता' की पुरानी फ़ाइलें जिल्द बन कर तैयार हो गई हैं।

'अजन्ता' का प्रकाशन अक्तूबर १९४९ से आरम्भ हुआ। विगत सात वर्षों में 'अजन्ता' ने हिन्दी साहित्य के भण्डार को बहुमूल्य रचनाओं से पूर्ण किया। गत वर्षों के यह अंक हिन्दी साहित्य की प्रगति को जानने के लिए नितान्त संग्रहणीय हैं।

अंकों का मूल्य वार्षिक रु. ९–०–० होते हुए, जिल्द के साथ और भी अधिक बढ़ जाता है किन्तु नीजि और सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए रु. ७-०-० में इन फाइलों को देने की सुविधा प्रदान की गई है।

शीघ्र आर्डर भेजिए : रु. ७-०-० का मनिआर्डर प्राप्त होते ही जिल्द तुरन्त भेज दी जाएगी इन जिल्दों को वी. पी. द्वारा नहीं भेजा जाएगा।

'अजन्ता'

हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद
(आन्ध्र प्रदेश)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ९ फरवरी १९५७ अङ्क २

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

तार : हिन्दी
फोन : ५४५.

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

कसौटी
रमा सिंह १
दो गीत
पाण्डेय कपिल २
गीत
नन्दकिशोर राय ३
शरद् चन्द्रिका
सूबेदार राय ४
लहक उठी यौवन की ज्वाल है
देवनाथ पाण्डेय "रसाल" ५
अकेले दीप से
जगदीशचन्द्र ६
आशा
लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी "चन्द्र" ७
हेमन्त परी
रसिक बिहारी मंजुल ८
ध्वनि के स्वरूप
सूर्यमणि शास्त्री ९
आल्वर्ट आइन्स्टीन : बीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ विज्ञान-वेता
लक्ष्मीनारायण शर्मा १२
यूरोपीय पुनर्जागरण-उसकी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
विश्वनाथ त्रिपाठी २०
प्राचीन आन्ध्र के हीरे
सखाराम वानखड़े २३
कन्नड़ के प्राचीन कवि
एन. रंगनाथ "कुमुद प्रिय" २७
रेल की दुर्घनाना
वंशीधर विद्यालंकार ३१
घूम रॉक
कुमारी दुर्गा मेहरोत्रा ३४
गीत गोविन्दकार : पं. जयदेव का वसन्त-वर्णन
श्यामविमल शास्त्री ३५
दो अमर बलिदानी महापुरुष
सत्यदेव विद्यालंकार ३७
आखिर इस दर्द की दवा क्या है
रामदरश मिश्र ४१
पश्चिमी देशों की विवाह प्रणाली
डा० पृथ्वीराम सेठी ४६
बाघ का बच्चा
शरदेन्दु बन्ध्योपाध्याय ४९
बापू की अहिंसा
जगदीशकृष्ण "शमिन" ५६
नाटक के विलम्बित होने पर दर्शकों पर काबू पाना : एक कला
पुरुषोत्तम जोशी ६०
राजस्थानी लोक-गीतों में कर्ज़
दीनदयाल ओझा ६२
कला-चर्चा ६४
फ्रान्सीसी कलाकार एडगर डगास, क्लाट मौनेट, इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार : रामचन्द्र शुल्क
चिट्ठी-पत्री ६७
मृगया साहित्य : एड मृगया साहित्य-प्रेमी
नीर-क्षीर ६९
धम्मपद (बुद्ध गीता) : सरदार पूर्णसिंह, अध्यापक के निबन्ध परम्परा (गोरा हरजा) बच्चों का स्वास्थ्य और उनके रोग : वंशीधर विद्यालंकार धूलि धूसरिन मणियाँ अथवा लोक-गीतों पर एक विवेचन गौरीशंकर द्विवेदी "शंकर"
सामयिक ७४
भारतीय मुद्रण कला का विकास; सत्य और विवेक
सम्पादकीय
वंशीधर विद्यालंकार

चित्र : बैल और गाय; चित्रकार, टी. काशीनाथ (आर्ट कालेज हैदराबाद के सौजन्य से)
शरारत; चित्रकार, एस. एल. दवे (आर्ट कालेज हैदराबाद के सौजन्य से)

वार्षिक मूल्य : ९)
एक प्रति का मूल्य : १) रु.

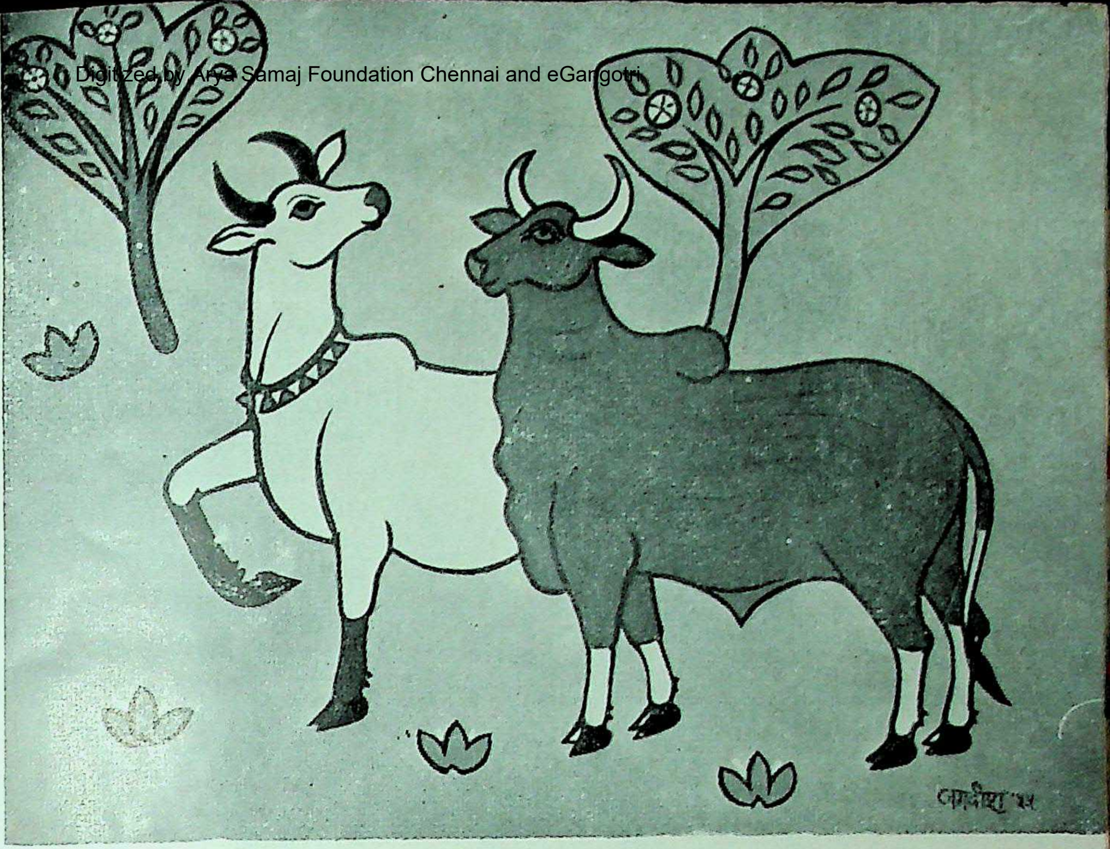

बैल और गाय

चित्रकार : टी. काशीनाथ
आर्ट कालेज हैदराबाद
के
सौजन्य से

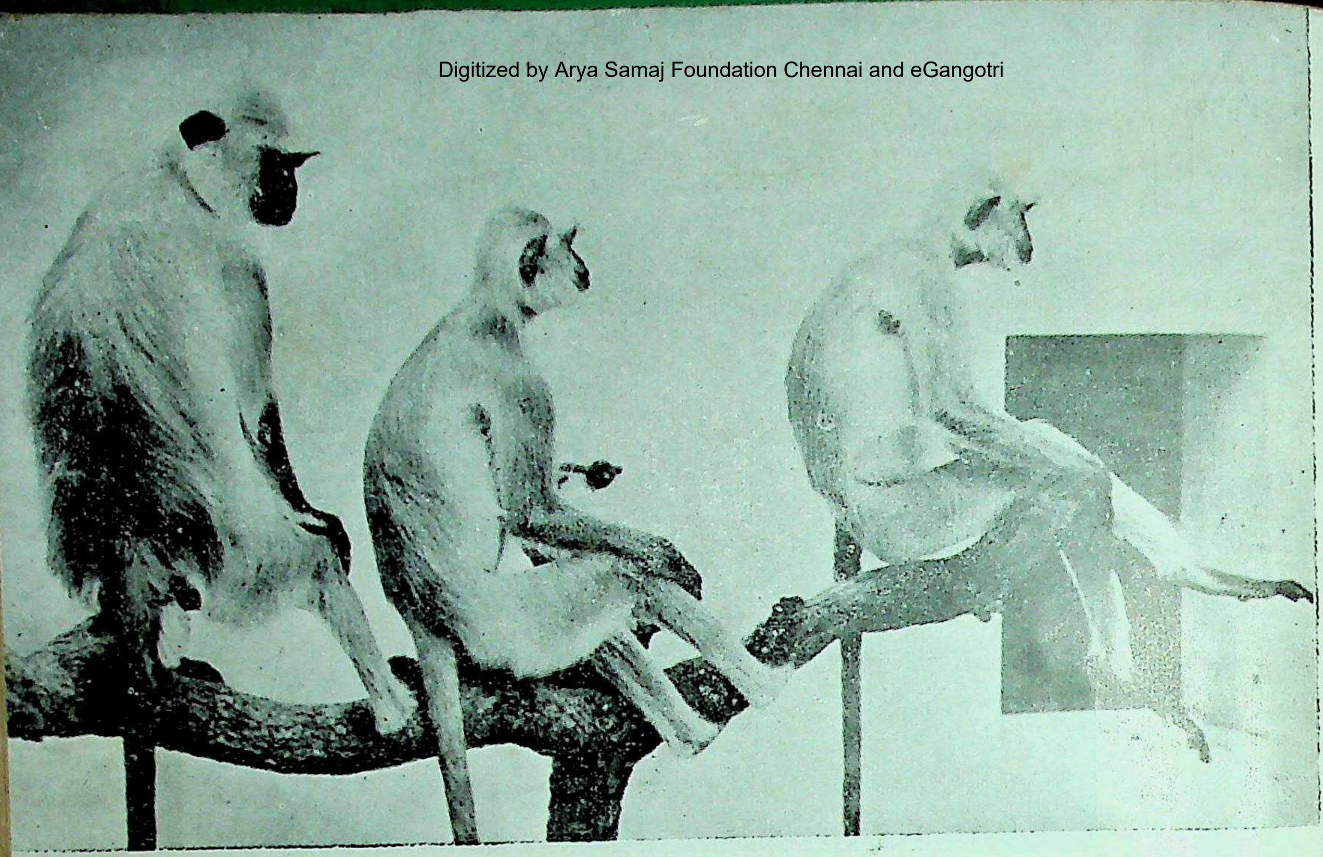

शरारत

चित्रकार : एस. एल. दवे
आर्ट कालेज हैदराबाद
के
सौजन्य से

वर्ष ९ फरवरी १९५७ अङ्क २

कसौटी

काली कसौटी यह
बहुत बहुत छोटी यह
गहने सब तोलती
सोने को टटोलती
छू कर बताती है
चीज़ खरी-खोटी यह

परख बतलाती है
बहुत काम आती है
भला-बुरा जानती
असलियत पहचानती
सही माल देख कर
तुरत मुस्कुराती है

चीज़ों को जाँचना
मिलावट को भाँपना
बहुत बड़ा काम है
कसौटी ही नाम है
पर है सचाई तो
किसी से क्या काँपना ?

सिंह लॉज, हसन गंज, लखनऊ

—रमा सिंह

दो गीत

(१)

आज रह-रह के तुम्हारी याद आती है !

सृष्टि के संगीत में हर श्वास के आलाप मेरे
वेदना की रागिनी को बाँध अपने में न पाते !
ताल-छन्दों में नहीं सन्धान स्वर का हो रहा है
प्राण लय की साधना को साध अपने में न पाते !

ज़िन्दगी के साज ही सब बेसुरे-से हो रहे हैं,
सुध इन्हें नाहक जगाती है !

आज रह-रह के तुम्हारी याद आती है !!

(२)

विलग हुआ मन उन्मन-उन्मन आज नहीं लगता है !
मन आज नहीं लगता है !

आतीं याद बहुत-सी बातें
वे बीते दिन बीती रातें
सुधि में डूबा आकुल अन्तर बेसुधि में पगता है !
मन आज नहीं लगता है !!

आँखें प्यासी हैं पानी में
जी अकुलाता है वाणी में
जाने कौन हृदय में मेरे रह-रह कर जगता है !
मन आज नहीं लगता है !!

अपनेपन की बात पराई
पतझर में डूबी अमराई
अपना मन अपने जादू से अपने को ठगता है !
मन आज नहीं लगता है !!

—पाण्डेय कपिल

हिन्दी-विशेषज्ञ,
बिहार-विधान-परिषद्, पटना

गीत

मैं अकेला दूर कोई गा रहा है

बोल फूटे हैं कहीं दुलहिन निशा के
गगन से मधु निर्झरी निकली कहीं है
बन गयीं हैं बावरी राधा दिशाएँ
कृष्ण की बंशी मधुर मचली कहीं है
यक्ष का संदेश लेकर मेघ गाता
फिर किसी अलकापुरी को जा रहा है

चाँदनी छिटकी कुँवारी कामना सी
रश्मियों के सँग थिरकते गीत मन के
मंजरी की हो गई हर साँस गीली
गन्ध बोझिल पाँव अलसाए पवन के
रागिनी के स्वाति बदली से मचल कर
प्राण चातक प्यास को दुहरा रहा है

स्वप्न की मुस्कान का मेला सजा है
रूप रस भीगे सरोवर के किनारे
डबडबाए मौन अंगूरी नयन से
बो रहे सुधि के सजल मोती सितारे
ले किसी बीते मिलन की मौन सरगम
स्वर किसी का प्राण-मन बहला रहा है

कल नहीं पाती हृदय की धड़कने हैं
नींद के पंछी न ले पाते बसेरा
लग रही आवाज़ पहचानी हुई सी
गीत की हर गूँज में है प्यार मेरा
आज आधी रात को किसने पुकारा
दूर मुझको कौन आज बुला रहा है
मैं अकेला दूर कोई गा रहा है

अमेठी राजभवन लंका,
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

— नन्दकिशोर राय

शरद्-चन्द्रिका

बिखरी प्रिय के मधुर हास-सी, आज शरद् की चाँदनी

ढूँढ़ रही धरती का कण-कण, जाने कैसी आशा
वातायन से झाँक पड़ रही सपनों की परिभाषा
निष्ठुर-हवा छेड़ती है कुछ, लोरी-सी ही रागिनी

नहीं कृष्ण जो यमुना तट पर, उन्मादक स्वर टेरें
नहीं गोपिकाएँ व्याकुल-सी, उस छलिया को हेरें
दिला रही है याद किसी की, आज यही उन्मादिनी

बेसुध-से हैं खड़े वृक्ष, इस गहन शीत के मारे
छिड़क रहा है सुधा-बिन्दु, कोई सुर-लोक किनारे
प्रिय की सुधि में किन्तु किसी की, है यह जगी सुहागिनी

है विश्वास इसी बेला में शायद प्रिय आ जाएँ
आँखों का संदेश चन्द्रिका, उनके घर पहुँचाए
जमती यह पागलपन समझे बनी इडा-अनुगामिनी !

नगवा, लंका
बनारस

—सूबेदार राय

"लहक उठी यौवन की ज्वाल है"

थिरके उन्मत्त ग्वाल
गूँजा चौपाल
और लहक उठी यौवन की ज्वाल है !!

'चैता' की लहरों पर चाँद उतर आया
झुकी नरम डाली पर धुन को दुहराया
आँखों में आँख डाल
चाँदनी हुई निहाल
रेशम के पातों का घूँघट सरकाया
फूल गए फूल डाल-डाल हैं !!

बजते करताल, ढोल, डफ़ उमंग छाई
ग्वालिनियाँ गोकुल की दिए ताल गाईं
छेड़ रहे मोहन क्यों
जादू सम्मोहन क्यों
बीच डगर हम अकेल, कह कर शरमाईं
मौसम ही रंग रहा डाल है !!

नींबू के बाग का पराग पी अलस बयार
बेला की कलियों का साजने लगी सिंगार
महुवा के फूल झरे
टप-टप रस-बुन्द ढरे
हियरा हो गए हरे पी-पी कर मधु अपार
उड़ रहा अबीर औ' गुलाल है !!

मिट्टी के दियरा की सौ-सौ है साध रे
झिलमिल बाती तन-मन को देती बाँध रे
रात बँधी बाँहों में
सपने निगाहों में
आँगन की मैना का स्नेह है अगाध रे
गोरी या साँवरी निहाल हैं !!

रसाल-कुञ्ज;
सारनाथ वाराणसी

—देवनाथ पाण्डेय 'रसाल'

अकेले दीप से

तुम अकेले दीप हो,
काँपते मेरे सिरहाने
स्नेह के आँचल से मुझे ढक लेते हो
करुणा से ओत-प्रोत, ममता भरी दृष्टि से

चाहते हो
शेष है अब तक तुम्हारी लौ
तुम्हारी अर्चना
मृत्यु की छाया न छू पाए मुझे !

मृत्यु निश्चित है, इसी से—
जो तुम्हारा मोह है मेरे लिए,
वह तुम्हें शोभा नहीं देता है
स्नेह का अंचल तुम्हारा

जो भटक जाएँ कभी, उन राहगीरों के लिए
प्रेमियों के लिए हो अवलम्ब
वह तुम्हारी स्निग्ध, कोमल आड़ में, पावन बने
तुम उन्हें आशीष दो

सार्थक उनका मिलन हो
और तुम्हारे क्षण, युगों तक रोशनी दे
नए जीवन नई आकांक्षाओं को
व्यर्थ क्यों मेरे लिए तुम राख होते हो

तुम अकेले दीप हो
और मत काँपो सिरहाने
जो शरण आएँ, उन्हें आतिथ्य दो

३४।५ जार्ज टाउन,
इलाहाबाद

—जगदीश चन्द्र

आशा

तुम गाती हो !
अन्तरतम की
शीतल आभा बरसाती हो !

दीपित होता जीवन शोभन,
उर की तन्द्रा बनती चेतन,
बढ़ती सकाम निश्छल बाँहें—
खुल कर भर लेतीं आलिंगन !
तुम गाती हो !
भूले मन को
स्वप्नों का पथ बतलाती हो !

मिल जाते सुख-दुख के अनुक्षण,
लय में बँध जाते विरह-मिलन,
मिट्टी की मांसल ममता में—
देती करुणा शीतल चुम्बन !
तुम गाती हो !
छाया-वन की
मीठी ज्वाला सुलगाती हो !

हँस देते वैभव के बन्धन,
बिखराकर सतरंग सम्मोहन,
शोभा से चकित उरोजों पर—
बुनते-से सुखमय संवेदन !
तुम गाती हो !
जड़-चेतन के
जीवन का स्वर्ग बसाती हो !
तुम गाती हो !!

ग्राम-प्रत्रालय, टेढ़ा,
ज़िला उन्नाव

—लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

हेमन्तपरी

वह हेमन्तपरी
हृत्तन्त्री
झंकृत करती
वह सुधा बनी शशिकिरणों में
नव-गन्ध प्रसन्न-प्रसूनों में—
वह चंचल-जल की धारा बन
यह कोमल कान्त
हृदय हरती

उसका अँचल
—है नील-निलय
आँखें कुवलय हैं
नित्य गीत गाती छिप कर वह अलियों में
वह नित नवीन कल्पना
हृदय में
भरती

सौन्दर्य-शिला साकार हृदय
बाहें कोमल गोरी-गोरी
थी खुली कंचुकी की डोरी

धर स्वप्नों के
पंखों पर वह
शशिवर्ण-स्मित
मधु
मुस्काती

छवि में ही छिप छिप रह जाती
रोमांचित-सी भी हो जाती
गाती उसके स्वर-अन्ध
कल्पना की
धरती

५७, राइट गंज, (उ० प्र०)
गाजियाबाद

—रसिक बिहारी 'मंजुल

ध्वनि के स्वरूप

यह बात प्रायः निर्विवाद है कि विश्व की सभी जीवित भाषाओं में साहित्य के सभी अंगों के सम्बन्ध में, प्राचीनतम आलोचना सामग्री हमें संस्कृत के रीति ग्रन्थों में मिलती है। ध्वनि के स्वरूप की सम्यक् विवेचना संस्कृत के जिन रीति ग्रन्थों में उपलब्ध है उनमें क्रमशः 'ध्वन्यालोक', 'ध्वन्यालोचन' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनमें यद्यपि मुख्य रूप से ध्वनि के स्वरूप की विवेचना तो नहीं, किन्तु उनमें की गई इतर विषयक चर्चा से ध्वनि के स्वरूप पर छाया पड़ती है। ऐसे ग्रन्थों में पाणिनि कृत व्याकरण एवं मम्मट कृत 'काव्य-प्रकाश' और कविराज विश्वनाथ कृत, 'साहित्य-दर्पण' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इस प्रकार अन्य सम्प्रदायों की भाँति ध्वनि सम्प्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक के जन्म से अत्यन्त पूर्व ही हुआ था। वास्तव में इस सिद्धान्त का मूल-संकेत ध्वनिकार के समय से बहुत पहले वैयाकरणों के सूत्रों में, स्फोट आदि के विवेचन में मिलते हैं।

ध्वनिकार से पूर्व रस, अलंकार और रीतिवादी आचार्य, अपने-अपने सिद्धान्तों का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे और यद्यपि वे ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित नहीं थे, फिर भी आनन्द वर्धन ने स्वयं स्वीकार किया है कि, वे लोग कम से कम उसके सीमान्त तक अवश्य पहुँच गए थे।

अभिनव गुप्त ने उद्भट और वामन को साक्षी माना है। उद्भट का ग्रन्थ भामह-विवरण आज यद्यपि उपलब्ध नहीं है, अतएव हमें सबसे पहले ध्वनि-संकेत, वामन के ही 'वक्रोक्ति विवेचन' में मिलता है।

अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थे, वे प्रायः सभी एकाङ्गी थे, अलंकार और रीति तो काव्य के बहिरंग को ही छूकर रह जाते थे, रस सिद्धान्त भी ऐन्द्रिय, आनन्द को ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पना के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध तो ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दों के विषय में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का सर्वत्र सम्बल न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदों को भी उचित गौरव न मिल पाता था।

ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यञ्जना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।

> "काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्व
> स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये
> केचिद्वाचां स्थितमविषये, तत्वमूचुस्तदीयं,
> तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१॥"

ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं: (१) ध्वनि सिद्धान्त की निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना करना तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धान्त के अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। (२) रस, अलंकार, रीति, गुण और दोष विषयक सिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना और इस प्रकार काव्य के एक सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त की स्थापना एवं रूपरेखा बाँधना।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में ध्वनिकार सर्वथा सफल हुए हैं।

इन सब के होते हुए भी ध्वनि सम्प्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनव गुप्त की प्रतिभा का वरदान उसे न मिलता। उसके 'लोचन' का वही गौरव है जो 'महाभाष्य' का।

इन सारी बातों के होते हुए भी ध्वनि के निरूपण में, विकल्पों की भरमार है। ध्वनिकार ने तीन प्रकार के विरोधियों की कल्पना की थी। (१) अभाववादी, (२) लक्षणा में ध्वनि (व्यञ्जना) का अन्तर्भाव करने वाले और तीसरा वे, जो ध्वनि का अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसकी परिभाषा को असम्भव मानते हैं।

सबसे पहले अभाववादियों को लीजिए उनका विकल्प इस प्रकार है: "ध्वनि को आप काव्य की

आत्मा मानते हैं, पर काव्य, शब्द, अर्थ का सम्बन्ध तो शरीर से है ही नहीं, फिर काव्य की आत्मा ध्वनि कैसे हो सकती है ? (२) अभाववादी का कहना है कि "ध्वनि की चर्चा से भी पहले तो काव्य का आस्वादन होता था, तो क्या ! अब तक आस्वादन करने वाले लोग मूर्ख थे, जो अभाव में, भाव की कल्पना किया करते थे ।"

सम्भवतः यही सारे बाद, दार्शनिकों की पृष्ठभूमि रहे होंगे ? इस प्रकार ध्वनि के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में गहरा मतभेद है । पर अगर संसार के प्रत्येक भाषा के साहित्य को उठा कर देखा जाए तो पता लगता है कि कम से कम व्यवहार में 'ध्वनि' दार्शनिकों से अत्यन्त पूर्व हुई है । इस प्रकार विशिष्टिकरण बहुमुखी और अविभक्त काव्य के अध्ययन में दार्शनिकों ने आरम्भ से ही गलती की है । बहुत जरूरी है कि हम ध्वनि सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान के लिए अपनी दृष्टि 'ध्वन्यालोक' के प्रथम श्लोक 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' पर कायम रखें । इस प्रकार हम दार्शनिकों के गूढ़ रहस्य को जानने पर भी कह सकते हैं कि ध्वनि के दार्शनिक काव्यगत रूप केवल व्यर्थ वितण्डा मात्र है ।

ध्वनि की व्याख्या के लिए निसर्गतः सब से उपयुक्त ध्वनिकार के ही शब्द हो सकते हैं :

"यत्रार्थशब्दो वातमर्थमुपमर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिःकथितः ॥"

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्ति-अर्थों से भी यह पाँच भेद सिद्ध हो सकते हैं ।

(१) "ध्वनति यः सः व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः"
(२) "ध्वनति ध्वनयति वायः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः"
(३) "ध्वन्यते इति ध्वनिः"
(४) "ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः"
(५) "ध्वन्यतेऽस्मिन् इति ध्वनिः"

इस प्रकार ध्वनि की परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न रूप में दी गई हैं । इसके सम्बन्ध में संस्कृत के पण्डितों में गहरा मत भेद है ।

प्रस्तुत लेख का मन्तव्य इन सारे मत-भेदों में प्राप्त ध्वनि के स्वरूप सम्बन्धी विवेचना को एक सरसरी रूप में देखना ही है, उसका विस्तृत विश्लेषण करना नहीं ।

निःसन्देह आनन्दवर्धन की प्रतिभा बहुमुखी थी, काव्य-शास्त्र के अपूर्व मेधावी आचार्य होने के अतिरिक्त वे कवि और दार्शनिक भी थे । इनकी अलंकारिक-योजना काव्य-शास्त्र में विशेष महत्व रखती है । इसके विषय में, मैं, एक उदाहरण का उल्लेख करता हूँ जो ध्वनिकार ने स्वयं लिखा है ।

"रसोपक्षिप्तया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृगथयत्न निर्वत्यः सोलंकारो ध्वनिर्मतः ॥"

अर्थात्—ध्वनि में, जिस अलंकार की रचना रस से आक्षिप्त रूप में बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके वही अलंकार मान्य होगा । यथा—

"कपोले पत्राली करतल निरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधंररसः
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलतिहि वाष्पस्तनतटी
प्रियो मन्युर्जातस्तत्र निरनुरोधेन तु वयम् ।"

इस प्रकार जहाँ किसी शब्द के होने पर अलंकारादि है और उस शब्द को बदल कर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी वह अलंकारादि ज्यों के त्यों बना रहे तो, वह गुण, दोष तथा अलंकारादि में नहीं बल्कि अर्थ से सम्बन्ध, या अर्थ निष्ठ माना जाएगा । यद्यपि काव्य-लक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके गुण-वृत्ति या अन्य कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है, फिर भी काव्यों में गुण-वृत्ति से व्यवहार दिखाने वालों ने ध्वनि मार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी लक्षण नहीं किया, इसलिए अर्थात् उनके मत में गुण-वृत्ति ही ध्वनि है ऐसी कल्पना करके 'भाक्त माहुरत मन्ये' यह कहा है । इस प्रकार काव्य के विभिन्न निकायों ने भी ध्वनि को घनीभूत किया है या करता रहा है ।

'ध्वन्यालोक' का प्रतिपाद्य विषय मूलतः ध्वनि सिद्धान्त है । आनन्द बर्धन ने इस सिद्धान्त का अत्यन्त सांगोपाँग वर्णन करते हुए काव्य के एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रति-पादन किया है । अन्त में हम उपसंहार रूप में ध्वनिकार का समय समय पर विवेचना करते हैं :

आनन्द बर्धन का समय-निर्धारण कठिन नहीं है राजतरङ्गिनी में स्पष्ट लिखा है कि वे अवन्तिवर्मा के राज्य में ख्याति लब्ध कवियों में से थे :

"मुक्ताकरणः शिव स्वामी कविरानन्दबर्धनः
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ।"

अवन्ति वर्मा या वर्मन काश्मीर के महाराज थे और उनका राज्यकाल सन् ८५५ ई. से ८८३ ई. तक माना जाता है। दूसरे सूत्रों में भी इसका निर्णय किया गया है कि उनका आविर्भाव कब हुआ था। उदाहरण के लिए आनन्दवर्धन ने उद्भट का मत उद्धृत किया है और दूसरी ओर राजशेखर ने आनन्द बर्धन का मत उद्धृत किया है इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे उद्भट के समय अर्थात् ८०० ई० के पश्चात् और राजशेखर के समय अर्थात् ६०० ई० के पूर्व हुए थे।

अतएव आनन्दबर्धन का समय ६ वीं शताब्दी ईसा का मध्य भाग अर्थात् ८५०० ई० के आस-पास माना जा सकता है। इनके विषय में और कोई उपादेय तथ्य उपलब्ध नहीं है। 'देवीशतक' श्लोक संख्या १०१ से यह ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम नोण, था।

बिहार संस्कृत महाविद्यालय,
बिहार शरीफ़ (पटना)

—सूर्यमणि शास्त्री

पुस्तकों के सम्बन्ध में

पुस्तक का क्या लक्षण है? आयलैंण्ड में उस प्रकाशन को पुस्तक के नाम से कहा जाता है जिसके कम-से-कम १०० पृष्ठ हों। इटली में भी यही विचार प्रचलित है। इसके विपरीत आइसलैण्ड में यह समझा जाता है कि पुस्तक वही है जिसके पृष्ठों की संख्या कम-से-कम १७ हो। जेचोस्लोवेकिया में एक पुस्तक में ३२ पृष्ठों का होना आवश्यक समझा जाता है। पुस्तक के आकार और प्रकार आदि के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त अभी तक नहीं बन सका है।

विश्व में लगभग ३००० भाषाएँ बोली जाती हैं परन्तु इन समस्त भाषाओं में पुस्तकें नहीं लिखी जातीं। इन भाषाओं में लगभग ४० भाषाएँ ही ऐसी हैं जिनमें कि पुस्तकें लिखी जाती हैं। विश्व में अधिकाँश पुस्तकें ६ भाषाओं में लिखी जाती हैं: अंग्रेज़ी, फ्रेंच, स्पेनिश, इतालवी और रूसी।

यूनेस्को की गणना के अनुसार संसार में प्रति वर्ष ५ अरब पुस्तकें लिखी जाती हैं। जापान में पुस्तक-विक्रेताओं की दुकानें बहुत अधिक हैं जब कि कैनडा में पुस्तकों की दुकानें डेन्मार्क से भी कम हैं। प्रति वर्ष कैनाडा में अमरीका से पुस्तकों का जो निर्यात होता है वह विश्व में सब से अधिक है। पुस्तकों का व्यापार विश्व के महान् व्यापारों में से है। पिछले २० वर्षों में पुस्तकों के प्रकाशन में अद्भुत प्रगति हुई है।

अल्बर्ट आइन्स्टीन : बीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ विज्ञान-वेत्ता

"आइन्स्टीन ने भौतिक विज्ञान के साथ ही आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन किया है। ऐसे महापुरुषों को भारतीय परम्परा के अनुसार 'मनीषी' अथवा भगवान् कहते हैं। अतएव मैं उन्हें भगवान आइन्स्टीन कहना अधिक पसन्द करूँगा, मिस्टर आइन्स्टीन नहीं।"—प्रसिद्ध भारतीय विज्ञान-वेत्ता सर सी. वी. रमण।

आइन्स्टीन का जन्म जर्मनी के उल्म (बुरेंटमबुर्ग) नामक स्थान पर एक यहूदी परिवार में १४ मार्च, १८७६ ई० में हुआ था। उनके पिता हरमान आइन्स्टीन एक विफल 'इलेक्ट्रिक इंजीनियर' थे और विद्युत-रसायन की एक 'फैक्ट्री' के अधिकारी थे। अलबर्ट आइन्स्टीन के जन्म के एक वर्षोंपरान्त उद्योग के कारण उनके पिता म्युनिक में बस गए। म्युनिक की पाठशाला में ही अलबर्ट आइन्स्टीन का अक्षरारम्भ हुआ। जब वे दस वर्ष के हुए तो उन्हें लुइतपोल्ड जिम्नाज़ियम में प्रविष्ट कराया गया किन्तु वहाँ के कठोर अनुशासनमय वातावरण में उनका मन नहीं रम सका। बारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने गणित और विज्ञान का अध्ययन आरम्भ किया। वे स्कूल में मन्द बुद्धि के छात्र माने जाते थे और दो बार परीक्षा में विफल भी हो गए थे। १८६४ ई० में व्यावसायिक परेशानी के कारण वे मिलान चले गए। किन्तु उनकी बद-किस्मती ने उनका साथ नहीं छोड़ा—वहाँ भी उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। तब उन्होंने पाविया में शरण लेने का विचार किया जहाँ पारिवारिक व्यय पूरा करने के लिए उन्हें नौकरी की तलाश करनी पड़ी। किन्तु नौकरी के योग्य सामान्य योग्यता का भी उनमें नितान्त अभाव था। इस लिए अराऊ के स्कूल से येनकेन प्रकारेण उन्होंने भाषा और प्राणि-शास्त्र का 'डिप्लोमा' प्राप्त किया और ज़्यूरिच के स्विस फ़ेडरल पोलीटेकनील स्कूल में अध्यापन कार्य की शिक्षा ग्रहण करने को प्रविष्ट हुए। पाँच वर्षों के कठोर परिश्रम और स्वाध्याय के बल पर उन्होंने गणित और भौतिक विज्ञान का अध्यापन-प्रमाण-पत्र प्राप्त किया किन्तु लाख प्रयत्नों के बावजूद उन्हें कहीं भी अध्यापक का पद नहीं मिला क्योंकि वे जाति से यहूदी—जिस यहूदी के समान दुनिया में कोई भी बदनसीब जाति नहीं—थे। अन्त में एक साथी के प्रयत्न से बर्न के स्विसपेटेण्ट आफिस में वे एक टेकनिकल असिस्टेण्ट के पद पर १६०२ ई० नियुक्त किए गए। लेकिन उन्हें अपने इस कार्य से न सन्तोष होता था और न इससे उचित रूपसे उनका जीवन-निर्वाह होता था। १६०३ ई० में उन्होंने अपनी सहपाठिनी मिलेवा मारित्श से विवाह किया जिससे उनके दो पुत्र हुए—अल्बर्ट और एडुअर्ट, किन्तु पति-पत्नी के बीच मतैक्य नहीं रहने के कारण दोनों का सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

आइन्स्टीन स्वाध्याय के सहारे शोध-कार्य में लीन रहे और ज़्यूरिच विश्व-विद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। सर्वप्रथम १६०५ ई० में, जब उन की अवस्था छब्बीस वर्ष की थी, विशेष सापेक्षवाद पर उनका गवेषणात्मक लेख प्रकाशित हुआ जिसने विज्ञान-विशारदों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। १६०८ ई० में उन्हें बर्न में अध्यापन-कार्य मिला, १६०६ ई० ज्यूरिच विश्व-विद्यालय में असाधारण प्राध्यापक के पद पर वे नियुक्त किए गए और १६११ ई० में वे प्राहा (जेकोस्लोवाकिया) में भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक पद पर बहाल किए गए। १६१२ ई० में पुनः ज़्यूरिच लौट गए। १६१३ ई० तक उनकी इतनी प्रसिद्धि हो गई कि बर्लिन के कैसर विलियम फिज़िकल इन्स्टीट्यूट में उनके लिए निर्देशक का एक विशेष पद बनाया गया और वे उस पर नियुक्त किए गए और अध्यापन—कार्य का भी उन पर बन्धन नहीं लगाया गया। १६१३ ई० में ही जर्मन विज्ञानवेत्ता प्लानख और नर्न्स्ट के अनुरोध पर प्रशन विज्ञान-परिषद के सदस्य हुए और १८३३ ई० तक बर्लिन में रहे।

आइन्स्टीन के शोध-कार्यों की ख्याति सर्वत्र फैल चुकी थी इस लिए उन्हें अपने विषयों पर भाषण देने के लिए अन्यान्य देशों से निमन्त्रित किया जाने लगा; फलस्वरूप उन्होंने हालैण्ड, जेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि की यात्राएँ कीं और यरूशलम

में यहूदियों के लिए एक विश्व-विद्यालय की स्थापना के लिए धन-संग्रह किया। केण्टरबरी के आर्च बिशप को उन्होंने यह विश्वास दिलाया कि ईश्वरवाद से सापेक्षवाद का न कोई सम्बन्ध है और न कोई विरोध है। १९२२ ई० में वे पेरिस, शंघाइ, कोबे, फिलिस्तीन और स्पेन गए। और उसी वर्ष 'क्वाण्टम थ्योरी' पर उन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ तथा सापेक्षवाद के सिद्धान्त के बारे में किए गए कार्य के लिए कोपले पदक मिला। १९२५ ई० में वे दक्षिण अमेरिका और १९३०-३२ ई० में केलेफोर्निया गए और १९३२ ई० में आक्सफ़ोर्ड विश्व विद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर आफ साइन्स' की उपाधि दी। बर्लिन के बाद वे बेलिजियम के लाकोशे स्थान पर रहे और पुनः अमरीकी विज्ञानवेत्ता फ्लेक्सनर के अनुरोध पर प्रिन्स्टन के उच्च विज्ञान-विद्यालय में गणित और भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक-पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा १९४५ ई० तक इसी पद पर रहे।

रेखा-रंग : प्रिन्स्टन के एकान्त कमरे में, सौम्य-सजग-स्वप्निल आँखें, सघन भ्रू-पंक्तियाँ, विशाल रेखांकित ललाट, रजत-सी श्वेत अस्तव्यस्त केश राशि, दृढ़ चिबुक, स्थिर नासिका, अथक परिश्रम और लगन के प्रतीक श्वेत श्मश्रु, चेहरे पर विचारों की सहचरी झुर्रियाँ, ढीली नेकटाइ, साधारण काला कोट—इस रूप में अलबर्ट आइन्स्टीन को आराम कुर्सी पर झुका हुआ बैठा देखा जा सकता था जब घुटने पर रखे बिलकुल साधारण पैड पर पेन्सिल से वे कुछ लिखते होते थे, बीच-बीच में पेन्सिल कागज़ से उठ कर ठुड्डी पर चली जाया करती थी और वे ध्यानावस्थता में कागज़ पर लिखे अक्षरों को ध्यान से देखने लग जाया करते थे तथा कुछ क्षणों के उपरान्त कलम ठुड्डी से पुनः कागज़ पर चली आया करती थी। स्वभावतः वे एकान्तप्रिय थे। उनकी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी थीं, बहिर्मुखी नहीं। यही कारण था, उनका विशेष सम्पर्क न किसी संघ या दल से रहा न अधिक व्यक्तियों से। उनकी यह एकान्तिकता उनके अध्ययन, चिन्तन और मनन का परिणाम नहीं थी वरन् इस का मूल उनके बचपन में ही सन्निहित था। मैं कहूँगा, उनके बचपन की एकान्तिकता का मूल आँशिक रूप में उनकी हीन भावनाएँ रही हों तो कोई विस्मय की बात नहीं क्योंकि एक ओर यदि उनकी लज्जालु और शान्त प्रकृति के कारण उनके सहपाठी उनसे खिंचे रहते थे तो दूसरी ओर अध्यापक भी उन्हें एक अयोग्य विद्यार्थी मानते थे और उनके माता-पिता भी उन्हें सामान्य लड़कों से भी गया गुज़रा समझते थे। इस लिए यदि आइन्स्टीन के मित्रों की संख्या बहुत कम थी तो यह आश्चर्य का विषय नहीं है। यही कारण था, उनकी अभिरुचि खेल या व्यायाम के प्रति नहीं थी और उनके मनोरंजन का साधन था भजन लिखना और उन्हें गुन गुनाते रहना।

उन्होंने धन, कीर्ति और प्रचार की सर्वदा उपेक्षा की थी। यही कारण था, जब इजरायल के अध्यक्ष होने का उन्हें निमन्त्रण मिला था तो उन्होंने उसे नहीं स्वीकारा और उत्तर दिया—"मैं अयोग्य व्यक्ति हूँ क्योंकि मुझे मनुष्य की प्रवृत्तियों का ज्ञान नहीं है। मैं भौतिक विज्ञान का ही अध्ययन करता हूँ—उसका भी मुझे अल्प ज्ञान है।" उनका यह उत्तर उनकी निर्लोभता, निःस्पृहता और विनम्रता का परिचायक है। इसमें सन्देह नहीं कि वे साधुता, शिष्टता, व्यवहार कुशलता, सुशीलता, दयालुता और आतिथेय भावना की प्रतिमूर्ति थे। अपने शोध-कार्यों की तारीफ़ सुन कर वे संकोच में पड़ जाते और कहते थे—"मैंने वैयक्तिक रूप से जो किया है, उसे लोग चढ़ा-बढ़ा कर बतलाते हैं। जो सुन्दर है, वह सभी विज्ञान है। इस लिए यदि कोई सारी उम्र विज्ञान की सेवा में व्यतीत कर सके, तो यह उसके लिए एक बहुत बड़ा वरदान है।" इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने वरदान का पर्याप्त उपयोग किया। उनका जीवन-दर्शन था इस लोक में मानव-जीवन की श्रेष्ठता।

वे मानवीय व्यक्तित्व और मास्तिष्किक स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के वे जबर्दस्त कायल थे। यही कारण था, प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने पर जर्मनी के ९२ बुद्धि जीवियों ने जब एक घोषणा-पत्र निकाल कर जर्मन संस्कृति और सैनिक सत्तावाद को एक प्रमाणित किया था तो आइन्स्टीन ने न केवल उस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार किया वरन् उनका प्रत्यक्षतः विरोध भी किया था,—भले ही उनके इस कार्य ने उन्हें जर्मन अधिकारियों और बुद्धि-जीवियों की आँखों के काँटे बना दिया हो। वें प्रजातन्त्र-वादी थे हालाँकि कतिपय व्यक्तियों का विचार है कि वे बॉलशेविक थे और कतिपय व्यक्तियों की धारणा है कि वे पूँजीवादी थे। वे

'सन्तोषं परमं सुखम्' के अनुयायी थे। उन्होंने एक स्थल पर कहा है कि मुझे इसी में प्रसन्नता है कि मैं किसी से कुछ नहीं चाहता हूँ और मुझे इसी में आनन्द है कि मेरे सहयोगी ही मेरे कार्यों की प्रशंसा करते हैं। उनका विचार था— "जब तक मेरे निर्णय करने की गुंजाइश है तब तक मैं उसी देश में रहना पसन्द करूँगा, जहाँ राजनीतिक स्वतंत्रता, सहिष्णुता और सब नागरिकों की समानता तथा कानून का राज्य है।"

आइन्स्टीन उन व्यक्तियों में थे जो ज्ञान की प्राप्ति निरुद्देश्य करते हैं और ज्ञान की प्राप्ति से सन्तुष्ट नहीं होते वरन् उसकी वेदी पर अपना जीवन सहर्ष होमते हैं हैं। उनका रहन-सहन आडम्बरहीन था प्रत्येक दिन जब वे साढ़े दस बजे अपने दफ़्तर जाते तो इसी वेश में—एक आकार हीन काला कोट और ऊनी टोपी या टोप। एक बार उनके स्वागत में एक प्रीति-भोज का आयोजन हुआ जिस में उनकी पोशाक की साधारणता पर चर्चा हुई। आइन्स्टीन, यद्यपि स्वभावतः नम्र और शर्मीले थे, उनको यह सहन नहीं हुआ और वे इतने आवेश में आ गए कि अध्यक्ष को जमीन पर खींच कर बोले कि तुम नहीं जानते कि मैं मौजे कभी नहीं पहनता हूँ।

जब वे चिन्तन की मुद्रा में होते या किसी समस्या के समाधान में तो उनके मुख-मण्डल पर गम्भीर शान्ति छा जाती थी—वे सन्तुलित हो जाते थे; प्रायः उँगलियों में बाल लपेट लेते थे, बालों में कमल खोंस लेते थे और कभी समस्या में इतने उलझते थे कि सुबह चार बजे तक दोनों हाथों को पीछे बाँधे घूमते रहते थे। भौतिक रहस्यों के विश्लेषण के लिए वे किसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला में नहीं जाते थे। उनकी प्रयोगशाला थी उनका मस्तिष्क और उनके साधन थे काग़ज़ और एक नुकीली क़लम।

गणित के माध्यम से ही वे समग्र ब्रह्माण्ड की मापतोल करते थे। उन्होंने अपने जीवन में कितनी बार कागज़ों पर 'अंक-ब्रह्म' की पूजा की होगी यह कौन कह सकता है? ये काग़ज़ और पुर्जे बहुत महत्वपूर्ण होते थे जिन्हें प्रायः उनके सहयोगी चुरा लिया करते थे। लेकिन आइन्स्टीन की आदत थी, जहाँ उन्हें ये अनावश्यक प्रतीत हुए, वहीं वे इन्हें शीघ्र फाड़ फेंकते थे। एक बार राकफ़ेलर फाउण्डेशन से आए हुए १५०० डालर के एक चेक पर वे कई दिनों तक लिखते रहे और बाद में अनावश्यक पा कर उसे फाड़ डाला था।

यद्यपि वे मेधा के वरद पुत्र थे, सामान्य व्यक्तियों की भाँति वे भी ग़लत परिणामों पर पहुँचते थे, भटकते थे किन्तु आशा का दामन नहीं त्यागते थे क्योंकि वे जानते थे—

"कितना भी गोताखोर कुशल,
        हर बार न मोती मिलता है
लेकिन हर एक विफलता भी
        लाती है नूतन समझ-बूझ,
हर अगला क़दम जमाने को
        देती नवीन बल, नई सूझ;
कितना भी माली चतुर, शूल से
        उसका भी पग छिलता है
फूलों के पाने की खातिर
        है उसे उलझना शूलों से,
कोई चेष्टाएँ लाख करे
        क्या बच सकता है भूलों से?
कितना भी ध्यानी सजग रहे,
        दो एक बार मन हिलता है
ज़िन्दगी कोठरी काजल की
        बिरला बेदाग निकलता है,
दागों से बचने की खातिर
        बाहर रहना निर्बलता है;
कोयला खान में कहीं कहीं
        हीरक नीलोत्पल खिलता है"

वे मध्याह्न काल के बाद पत्रों के उत्तर लिखते थे, रात में अध्ययन कक्ष में रहते थे और अर्धरात्रि तक कार्यलीन रहते थे। सन्ध्याकाल में वे अपने मित्रों के साथ राजनीति, संगीत, सिनेमा या नाटक के विषय में बातें करते थे और बातों के सिलसिले में विनोद भी करते थे तथा दिल खोल कर हँसते थे। वे कभी बालकों के साथ खेलते-कूदते, घूमते-फिरते, लिखते पढ़ते और कभी ताश और शतरंज खेलने में या नृत्य देखने में घण्टों व्यतीत कर देते थे। वे वायलिन और पियानो के वादन में निष्णात थे जिसका प्रदर्शन उन्होंने निर्धनों के लिए धन जमा करने में कई बार किया था क्योंकि :

"परमारथ के कारने मोहि न आवै लाज"

आइन्स्टीन "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है। "मैं वही कार्य करता हूँ जिसको करने के लिए मेरी निजी प्रकृति मुझे प्रेरित करती है। अतः मैंने जो कुछ किया है, उसके लिए इतना समादर और स्नेह मुझे वास्तव में संकोच में डाल देता है!... हाँ, नफ़रत के तीर भी मुझ पर छोड़े गए हैं, लेकिन उन्होंने कभी मुझे ज़ख्म नहीं पहुँचाया। कारण कि वे तीर उस दुनिया के थे, जिससे मेरा कभी कोई सरोकार नहीं रहा है। अतएव उनके प्रहार बिलकुल निरर्थक ही रहे।"

सापेक्षवाद का सिद्धान्त : आइन्स्टीन एक गणितज्ञ थे और चूँकि गणित एक तर्क प्रणाली है, उन्होंने तर्क को गणित रूप में परिणत किया और इसके बल पर १९०५ ई० में सापेक्षवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका अर्थ है किसी भी पदार्थ की गति की अनुभूति सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। यह सिद्धान्त जितना सरल प्रतीत होता है, उतना ही जटिल है और स्वयं आइन्स्टीन का कथन है कि, इसे अच्छी तरह समझने वाले अब तक केवल बारह व्यक्ति ही हुए हैं हालांकि इस समीकरण की व्याख्या में नौ सौ से भी अधिक ग्रन्थ लिखे गए हैं और विवेचनात्मक निबन्धों की संख्या प्रायः चार हज़ार से अधिक ही होगी।

सापेक्षवाद के सिद्धान्त के पूर्व भौतिक जगत् के भिन्न पदार्थों और घटनाओं का विश्लेषण न्यूटन के त्रिविमा-सिद्धान्त (Theory of three dimetions) के आधार पर किया जाता था। न्यूटन का सिद्धान्त था कि किसी स्थान (Space) के तीन ही परिणाम होते हैं (क) लम्बाई, (ख) चौड़ाई और (ग) मोटाई। आइन्स्टीन ने उपर्युक्त विमाओं में एक और विमा—यानी काल को भी सम्बद्ध किया और सिद्ध किया कि किसी भी भौतिक पदार्थ या घटना की पूर्ण व्याख्या काल की सम्बद्धता में ही हो सकती है।

उन्होंने यह भी प्रमाणित किया कि काल भी निरपेक्ष नहीं है, सापेक्ष ही है क्योंकि काल का भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है और अपने अस्तित्व के लिए अन्य पदार्थ पर वह भी निर्भर है या अन्य पदार्थ की उसे भी अपेक्षा रखनी पड़ती है।

आइन्स्टीन के पूर्व विज्ञानवेत्ताओं की धारणा थी कि प्रकाश का माध्यम व्योम (Ether) है। लेकिन उन्होंने सिद्ध कर दिया कि प्रकाश की गति सदैव समान होती है और उसे किसी माध्यम के द्वारा गुजरना नहीं पड़ता है।

निष्कर्ष यह कि किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्थान के साथ-साथ समय का भी विचार करना अनिवार्य है क्योंकि समय के साथ प्रकाश और उसकी गतिका घनिष्ट सम्बन्ध है। कोई घटना हमें तब दृष्टि-गोचर होती है जब उससे चली हुई प्रकाश किरणें हमारी आँखों में चित्र खींचती हैं और यदि प्रकाश-किरणें घटना से हमारी आँखों तक आने में एक सौ वर्ष लगाएँ तो घटना घटित होने के एक सौ वर्ष पश्चात् हमें दृष्टि-गोचर होगी।

आइन्स्टीन ने सिद्ध किया कि ऊर्जा (Energy) भूतद्रव्य में और भूत-द्रव्य (Mass) ऊर्जा में परिवर्तन शील हैं। इस सिद्धान्त ने न्यूटन के इस सिद्धान्तका कि भूतद्रव्य और ऊर्जा दोनों पूर्णतः विभिन्न अस्तित्व रखते हैं, खण्डन कर दिया और प्रतिपादित किया कि भूतद्रव्य और ऊर्जा दोनों में आन्तरिक एकता है। यह सिद्धान्त विज्ञान का प्रसिद्ध समीकरण माना जाता है—ऊर्जा=भूतद्रव्य×प्रकाश की गति २। अभिप्राय यह है कि ऊर्जा बराबर है भूतद्रव्य से गुणित प्रकाश की गति के वर्ग के। इसी सत्य को आइन्टीन ने व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा यों व्यक्त किया है :

एक सेर कोयला लीजिए और उसके प्रत्येक अणु को ऊर्जा में परिणत कीजिए। इस प्रकार जो ऊर्जा उत्पन्न होगी, उससे दो दिनों तक सारे अमेरिका को बिजली दी जा सकती है अर्थात् बीस करोड़ किलोवाट बिजली। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि यदि एक ग्राम भूतद्रव्य को, जो लगभग एक माशे के तुल्य होता है, ऊर्जा में पूर्ण रूपेण परिणत किया जाए तो इससे तीन हज़ार मन पानी को वाष्प बनाया जा सकता है। इस निष्कर्ष की सचाई का परीक्षण १९३२ ई. में वैज्ञानिक क्षेत्र में किया गया था।

इस समीकरण के अनुसार यह परिणाम स्थिर हो सकता है कि जड़ और चेतन में कोई विभेद नहीं है और जड़, चेतन का ही सूक्ष्मतम तत्व है। इसी सत्य को प्रायोगिक विधियों के द्वारा सिद्ध किया गया है कि किसी

भी आधे पौण्ड ठोस भूतद्रव्य में जो ऊर्जा सन्निहित है, उसका विस्फ़ोट १९६० लाख मन की विस्फोट-क्षमता के तुल्य है।

इस सिद्धान्त के आधार पर आइन्स्टीन ने यह भी सिद्ध किया कि किसी भी वेगमय भूतद्रव्य की ऊर्जा में उसके वेग के अनुपात से अभिवृद्धि होती है जिससे न्यूटन का यह सिद्धान्त खण्डित हो गया कि किसी भी भूतद्रव्य की ऊर्जा, वेगमय हो या स्थिर, सर्वदा समान परिमाण में विद्यमान होती है।

उन्होंने प्रमाणित किया कि कोई भूतद्रव्य प्रकाश के ९।१० वेग से घूर्णित हो तो उसका आकार ढ़ाई गुना बढ़ जाएगा और वह भूतद्रव्य ९९।१०० वेग से घूर्णित हो तो उसका आकार सात गुना ज्यादा बढ़ जायेगा। वेग-वृद्धि के कारण भूतद्रव्य, जो ऊर्जा का ही दूसरा नाम है, भीतर से प्रसरण का प्रयत्न करता है।

देश-काल का प्रवाह : आइन्स्टीन ने गणित के माध्यम से इस नवीन तथ्य का प्रतिपादन किया कि इस विश्व की सभी घटनाएँ देश-काल-प्रवाह के अन्तर्गत ही होती हैं। देश और काल निरपेक्ष नहीं हैं, सापेक्ष हैं—दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। देशीय विभिन्नता कालिक विभिन्नता का कारण होती है और कालिक परिवर्तन से देशीय परिवर्तन हो जाता है। तात्विक दृष्टि से यदि देखें तो ज्ञात होगा कि देश के हरएक अवयव में काल के साथ-साथ प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। श्री प्रेमसागर वर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है कि जब हम सामूहिक रूप से समस्त सृष्टि पर दृष्टिपात करते हैं, तब हमें बृहत् देश और बृहत् काल की अनुभूति होती है। इस बृहत्ता के अन्तर्गत भूत और भविष्य का अन्तर ही लुप्त हो जाता है। विभिन्न देश काल उस बृहत् काल-प्रवाह के विभिन्न कक्ष मात्र दृष्टिगोचर होते है जिनमें भिन्न-भिन्न सांसारिक घटनाएँ हो रही हैं। आइन्स्टीन ने इसीलिए कहा था कि यदि हम प्रकाश की गति से दौड़ सकें तो शताब्दियों पहले की घटनाओं के हम प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं—यह ऐसा रहस्य है जो सहसा बोधगम्य प्रतीत नहीं होता। सापेक्षवाद के अनुसार घटनाएँ वस्तुतः घटित नहीं होती, वरन् उनमें से होकर हम गुज़रते हैं, जैसे गाड़ी में बैठ कर हम स्टेशनों से होकर गुज़रते हैं। हम देश-काल के विभिन्न वाहन पर सवार हैं।

व्योम (Ether) सम्बन्धी भ्रान्ति का निराकरण : पृथिवी जब अपने अक्ष पर घूर्णित होती है तो उससे सम्बद्ध व्योम भी घूर्णित होता है या नहीं, वेगवान् भूतद्रव्यों के साथ व्योम घूर्णित होता है या नहीं अथवा भूतद्रव्यों की गतिशीलता का उस पर कोई प्रभाव पड़ता है या नहीं अथवा वह स्थिर है, इस सम्बन्ध में टामस, यंग, मैक्सप्लांक, सर जार्ज स्टोक्स, लौरेन्ज़, मिकिल्सन, मुर्ले, सर ओलीवर लौज़ आदि विज्ञान-वेत्ताओं का मतैक्य नहीं था। आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के आधार पर इस समस्या को हल कर दिया कि सक्रिय विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा सर्वत्र स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करती है। इसलिए उसके द्वारा यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता है कि अमुक भूतद्रव्य वेगमय है या स्थिर। विद्युत्-चुम्बकीय नियम के अन्तर्गत समान वेग से चलती गाड़ी में, अबाध रूप से चलती घड़ी पर दृष्टिपात कर यह नहीं बतलाया जा सकता है कि गाड़ी चलती है या खड़ी है अक्ष पर घूर्णित पृथिवी के समानान्तर समवेग से चालित वायुयान में विद्युत-चुम्बकीय ऊर्जा के सक्रियता सम्बन्धित परीक्षणों के फल और पृथिवी पर किए गए परीक्षणों के फल में अन्तर नहीं होगा। पृथिवी और वायुयान की विद्यमान पारस्परिक सापेक्षता कितनी थी, इसे किसी भी नियम से जाना नहीं जा सकता है। इसलिए घूर्णित पृथिवी पर जितने परीक्षण हुए, यह बतलाने में असमर्थ रहे कि पृथिवी घूर्णित होती है या व्योम अथवा पृथिवी और व्योम दोनों। सापेक्षवाद की मान्यता है कि किसी संघटन में स्थिर यन्त्र भी वेगमय भूतद्रव्य की संकोचन प्रतिक्रिया से उसके आनुपातिक वेग से प्रभावित होता है और फिर यान्त्रिक वेग की सापेक्षता से क्रियाशील हो उसी फल की सर्जना करता है जो उस समय अस्तित्व में आता है जब वह यन्त्र किसी अचल संघटन में कार्य करता होता है।

प्रकाश का वेग : वैज्ञानिक क्षेत्र में मैक्सवेल की मान्यता थी कि प्रकाश एक विद्युत-चुम्बकीय घटना है किन्तु आइन्स्टीन के सिद्धान्तानुसार चूँकि विद्युत-चुम्बकीय क्रिया वेगमय भूतद्रव्यों और संघटनों में एक ही तरह से, एक ही तरह के परिणामों की सृष्टि करती हुई प्रकृत रूप से क्रियाशील रहती है, उन्होंने सिद्ध किया कि वेगमय और स्थिर दोनों प्रकारों के भूतद्रव्यों

उद्भूत प्रकाश का वेग समान होता है।

आणविक ऊर्जा का आधार : आइन्स्टीन ने विशेष सापेक्षवाद के द्वारा इसका स्थिरीकरण किया कि प्रकार-विशेष से भूतद्रव्य का वेगगत प्रभाव गणित के द्वारा मापा जा सकता है और इसी के द्वारा सिद्ध किया कि भूतद्रव्य और ऊर्जा आनुपातिक हैं।

आणविक ऊर्जा के उत्पादन और उपयोग का जहाँ तक प्रश्न है, आइन्स्टीन प्रत्यक्षतः इस से सम्बद्ध नहीं थे, लेकिन अप्रत्यक्षतः उन्हें ही आणविक ऊर्जा का सर्जक कहा जाएगा क्योंकि यह उनके भूत-द्रव्य और ऊर्जा के अनुपातिक सम्बन्ध के अन्वेषण का ही परिणाम था और उन्होंने ही सर्व-प्रथम डी० रूजवेल्ट को एक पत्र जो ऐतिहासिक महत्व पा चुका है, लिखा था—"वर्त्तमान कार्यों के द्वारा मैं अनुमान करता हूँ कि यूरेनियम के तत्त्व को निकट भविष्य में एक नवीन और महत्वपूर्ण अणु-शक्ति के केन्द्र में परिवर्तित किया जा सकता है... इस नई योजना के द्वारा बमों का निर्माण भी किया जा सकेगा।" यही कारण था, रूजवेल्ट ने 'मनहटम प्रोजेक्ट' के निर्माण के लिए अविलम्ब आदेश प्रसारित किया और मई, १९४६ ई. में आइन्स्टीन की अध्यक्षता में आणविक विज्ञान वेत्ताओं की एक विशेष समिति नियुक्त की गई, जिसका लक्ष्य आणविक शक्ति का जन-कल्याण के लिए उपयोग में लाना घोषित हुआ। जब हिरोशिमा और नागासाकी पर अणु-बम गिराए गए तो, कहते हैं, त्रस्त मानवता के चीत्कार से आइन्स्टीन ने मर्माहत हो कर कहा था—"इस समय अणु-शक्ति मानवता के लिए वरदान के बजाय एक अभिशाप ही सिद्ध हो रही हैं......मैं चाहता हूँ कि मेरे विचारों और अविष्कारों का लाभ हर गाँव को, हर जन साधारण को पहुँचे।" इस विचार को उन्होंने कार्य-रूप में भी परिणत किया—१९४६ में अणु-शक्ति के प्रलयकारी असर से संसार को अवगत और सावधान करने के लिए एक संस्था की स्थापना की और उसके लिए चौंतीस लाख रुपए एकत्र किए एवं पत्र-पत्रिकाओं में राज-नेताओं को कड़ी चेतावनियाँ दीं। उनके इस कार्य से, कहा जाता है, वे मानवतावादी थे, शान्तिवादी थे। लेकिन जब मैं गहराई में पहुँच कर सोचता हूँ तो यह कहने को विवश हो उठता हूँ कि उनके मन में नाजियों के प्रति भयंकर ईर्ष्या-ज्वाला प्रज्वलित थी और उन्होंने स्वयं स्वीकारा था कि वे आणविक शक्ति का प्रयोग नाजियों और धुरी राष्ट्रों के खिलाफ़ करना चाहते थे तथा उनका यह प्रयोग जब उनकी इच्छा के खिलाफ़ हुआ तब उन्होंने उसे दुरुपयोग बतलाया। दूसरी बात जो मेरे मन में स्वतः उठती है वह यह है कि वे आंशिक रूप से ही सही प्रेम से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति और सुव्यवस्था लाने के पक्षपाती नहीं थे वरन् हिटलर की भाँति डर से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति और सुव्यवस्था लाने के क़ायल थे, जैसा कि क्रुद्ध लक्ष्मण ने समुद्र से कहा था—

"बिनु भय हो हि न प्रीत"

मैं अपने मत की पुष्टि के लिए आइन्स्टीन का एक वाक्य उद्धृत करना चाहूँगा—"फिर भी इससे एक परोक्ष आशा भी बँधती है कि शायद इसी के डर से मानवता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कुछ शान्ति और व्यवस्था ला सके।"

यह सिद्धान्त आज के युग में अपना मूल्य खो चुका है, इसमें सन्देह नहीं और कम-से-कम भारत का ऐसा जीवनदर्शन नहीं रहा है। इसलिए मै कहूँगा चूँकि हिटलर ने यहूदियों का बुरी तरह से दमन किया था और स्वयं आइन्स्टीन को जब वे जर्मनी से बाहर थे, यहूदी होने के कारण कैसर विलियम इन्स्टीट्यूट के निर्देशक पद से च्युत कर दिया गया या, आइन्स्टीन के हृदय में नाजियों के प्रति प्रतिशोध की भावना बद्धमूल हो गई थी। इस दृष्टिकोण से मैं कहूँगा आइन्स्टीन मानवीय दुर्बलता से ऊपर नहीं उठ सके थे।

'अणु ही ब्रह्माण्ड की मूल सत्ता है।' इस तथ्य की घोषणा सैंकड़ों वर्ष पूर्व हमारे महर्षि कणादि ने की थी जिसे आइन्स्टीन ने अपने प्रयोगों के द्वारा प्रमाणित कर दिया। इसलिए कणाद और आइन्स्टीन एक सत्य के दो छोर बन गए, इसमें सन्देह नहीं। आइन्स्टीन के विचारानुसार घनीभूत ऊर्जा ही भूतद्रव्य है। इसलिए वे कहते हैं कि ऊर्जा में भी भार है और गमता भी। यही कारण है, ऊर्जा या ऊर्जा-स्वरूप प्रकाश जिस भूतद्रव्य पर पड़ता है, उसे अवश्य प्रभावित करता है। आइन्स्टीन ने ऐसे ही तथ्यों की विस्तृत व्याख्या को ऊर्जाणुवाद की संज्ञा से अभिहित किया है।

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का खण्डन : सापेक्षवाद के सिद्धान्त के जन्म तक विश्व के सभी क्रिया-कलापों

की सामञ्जस्य स्थापना भौतिक विज्ञान-वेत्ता न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के आधार पर की जाती थी किन्तु आइन्स्टीन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए प्रमाणित किया है कि आधार के परिणाम के अनुपात से ही उस पर स्थिर भूतद्रव्य का परिणाम भी न्यून या अधिक होगा, जैसे मंगलग्रह का घनत्व पृथिवी के घनत्व का तिहाई है; परिणामतः पृथिवी पर जिस भूतद्रव्य का वज़न तीन मन है, मंगलग्रह में उसका वज़न एक ही मन होगा। इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि इन्हीं नए आपेक्षिक नियमों के स्थिरीकरण ने आज मनुष्य को विभिन्न ग्रहलोकों के पर्यटन की प्रेरणा और सब प्रकारों की सुविधाएँ दी हैं।

सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने वैज्ञानिक मान्यताओं में एक अभूतपूर्व क्रान्ति की है। १९१६ ई. में आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के एक सामान्य सिद्धान्त के सहारे सिद्ध किया कि जब दूर-दूर के नक्षत्रों का मुख सूर्य की ओर होता है तब उनकी प्रकाश-किरणें पृथिवी तक पहुँचती हैं। १९१९ ई. में ब्रिटेन के नक्षत्र विज्ञान-वेत्ताओं ने इस सिद्धान्त की जाँच की और इसे अक्षरशः सत्य पाया। यह भी प्रमाणित हुआ कि बड़े नक्षत्रों से आने वाली प्रकाश किरणें लाल हो जाती हैं।

भौतिक 'कास्मोलोजी' के विकास और उसके प्रभाव के फलों के आकलन में आइन्स्टीन की देन न्यूटन के बजाय बहुत विपुल है, यह निर्विवाद है। एक लेखक ने लिखा है—"यदि न्यूटन ने शक्ति के सिद्धान्त को व्यापक और समग्रता का रूप देकर स्पष्ट किया, तो आइन्स्टीन ने उसके प्रभाव के परिणाम को विश्व-ज्यामिति की अभिव्यक्ति के रूप में सरल और सिद्धान्त पक्ष के रूप में रख कर भौतिक विज्ञान को काफ़ी आगे बढ़ाया।"

भारतीय दर्शन, दिक् और काल की असीमता मूलक अभिन्नता में आस्था रखता आया है, अर्थात् जब दिक् और काल सीमातीत हो जाते हैं तो वे एक रूप हो जाते हैं। आइन्स्टीन ने इसी दार्शनिक तथ्य को वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित कर दिया। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि उनकी आत्मा हमारे मनीषियों की आत्मा से भिन्न नहीं थी।

आइन्स्टीन के सापेक्षवाद से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि हम स्थान (Space) और काल से आबद्ध ऐसी दुनिया में रहते हैं जहाँ स्थान और काल का पारस्परिक सम्बन्ध इतना नपा-तुला है कि वेग की अन्तिम सीमा प्रति सेकेण्ड १,८६,००० मील है।

प्रकाश और पदार्थ का दोहरा व्यक्तित्व : डाक्टर आइन्स्टीन ने मुख्यतः भौतिक विज्ञान और उससे सम्बद्ध सिद्धान्तों और आविष्कारों के क्षेत्र में ही शोध-कार्य किया। १९०२ ई० में उन्होंने वोल्ट्ज़मान के गैस परमाणुओं के अनिश्चित वेगक्रम के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया और १९०५ ई० में इसे परमाणुओं के तीव्र और अनियमित वेग क्रम पर लागू कर इस क्रिया से उत्पन्न विस्फोट की गणना का स्थिरीकरण भी किया। १९०५ ई० में ही उन्होंने प्रकाश की 'क्वाण्टम थ्योरी' पर पड़ने वाले फोटो इलेक्ट्रिक प्रभाव के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का आविष्कार किया। श्री भग्नदूत लिखते हैं "इसी के अनुसार किसी भी धातु पर पड़ने वाली अल्ट्रा वायलेट किरणों से जो एलेक्ट्रोन निकलते हैं वे चमक पर नहीं, बल्कि प्रकाश के रंग के अनुरूप ही होते हैं और उन्हीं से शक्ति प्राप्त करते हैं। ये वातावरण में लगातार नहीं फैलते बल्कि फोटोन नामक प्रतिबिम्बित शक्ति की इकाइयों के रूप में होते है, जिनका प्रकाश शक्ति के अनुपात में ही होता है। १९०० ई० तक प्लानेख ने 'श्वेत प्रकाश की क्वांट थ्योरी' का जो सिद्धान्त स्थिर किया था, उपर्युक्त खोज से उसका भौतिक पक्ष अत्यधिक स्पष्ट हो गया और इससे फोटो एलेक्ट्रनों की गति के सम्बन्ध में अधिक ठीक अनुमान लगाया जाना सम्भव हो गया। इससे भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं को यह भी पता चला कि प्रकाश का दोहरा रूप होता है—पहला एक के बाद एक आने वाली लहर का रूप और दूसरा एक के बाद एक छूटने वाली चिनगारियों का समूह। इसी के आधार पर १९२४ ई० में द' ब्रोगली ने पदार्थ का भी दोहरा व्यक्तित्व तय किया और बाद में तो समूचे विज्ञान जगत में प्रकाश और पदार्थ के 'क्वांटम सिद्धान्त' का आधार ही यह दोहरा व्यक्तित्व बन गया।"

एकीकृत क्षेत्र का सिद्धान्त : आइन्स्टीन अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ऊर्जाणुवाद और सापेक्षवाद के बीच की खाई पाटने के लिए एक नवीन सिद्धान्त 'एकीकृत क्षेत्र का सिद्धान्त' का अनुसन्धान कर रहे थे, जिसका प्रकाशन उन्होंने १९२९ ई. में किया था,

सापेक्षवाद के प्रकाशन के चौबीस वर्षों के उपरान्त इस सिद्धान्त के द्वारा वे ब्रह्माण्ड में स्थित प्रत्येक ग्रह, उपग्रह, प्रत्येक भौतिक तत्त्व और पदार्थ को सैद्धान्तिक एक रूपता देना चाहते थे, अतीन्द्रिय द्रव्य एलेक्ट्रोन से लेकर सृष्टि पर्यन्त पदार्थों की व्याख्या एक ही सिद्धान्त के प्रकाश में करना चाहते थे, आंशिक रूप में सफल भी हो गए थे किन्तु उनकी मृत्यु ने इस सिद्धान्त को अधूरा ही रक्खा।

आइन्स्टीन का विचार था कि ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु की सर्जना एक सुसम्बद्ध योजना के अनुसार हुई है। उन्होंने लिखा था—"मैं यह नहीं मानता कि ईश्वर ने इस असीम ब्रह्माण्ड का निर्माण बिना किसी सुनिश्चित योजना के ही इस तरह कर दिया है जैसे कोई जुआड़ी पासा फेंकता है। मैं इसे कभी नहीं मान सकता कि ईश्वर दुनिया के साथ खिलवाड़ करता है।" उन्हें विश्वास था कि मानव को प्रत्येक नैसर्गिक प्रश्न का उत्तर मिलेगा क्योंकि ईश्वर गूढ़ और चतुर है, चालाक नहीं है। इस अर्थ में कहा जाएगा कि आइन्स्टीन आस्तिक थे हालाँकि कतिपय व्यक्तियों की धारणा है कि वे नास्तिक थे।

उनका विचार था कि मनुष्य को लगन से कार्य करना चाहिए और जिस अनुपात से कार्य करता है उसी अनुपात से खेलना चाहिए और उतना ही मौन भी रहना चाहिए—इसी में जीवन की पूर्ण आनन्द-मूलक उपयोगिता सन्निहित है। उन्होंने अपने इस सिद्धान्त को गणितीय समीकरण के रूप में यों रक्खा है—

"ए (A)=एक्स (X) + वाई (Y) + जेड़ (Z)।"

अर्थात् ए = सफलता; एक्स=काम; वाई=खेल और जेड़=मौन।

उन्होंने अपने सभी लेख और ग्रन्थ जर्मन भाषा में लिखे थे, जो इस बात का परिचायक है कि जर्मन भाषा के प्रति उनके हृदय में अगाध प्रेम था। उनके अधिकतर ग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेज़ी और अन्यान्य यूरोपीय भाषाओं में हो चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि ये ग्रन्थ उनकी जीवन-व्यापी वैज्ञानिक साधना और अनुभूतियों के दर्पण हैं।

उन्होंने वेदान्त को विज्ञान में सिद्ध किया और न केवल अपने युग-जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया वरन् मानवता के साहित्य, दर्शन और विज्ञान को एक नई दिशा की ओर उन्मुख किया। वे गाँधी, रवीन्द्र और नेहरू के समर्थक ही नहीं थे, वरन् भारतीय-स्वाधीनता-संग्राम के भी समर्थक थे। गाँधीजी के निधन पर उन्होंने कहा था कि—आनेवाली पीढ़ियाँ आश्चर्य के साथ याद करेंगी कि ऐसा मनुष्य भी कभी इस पृथिवी पर विचरता था भारत की अपढ़ जनता भी उनके नाम से परिचित हो गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय विद्यार्थियों के लिए उनका द्वार सर्वदा खुला रहता था। श्री सत्येन्द्रनाथ बसु के रेडियेशन के आँकड़ों के सिद्धान्त की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और उनके उत्साह को द्विगुणित करने के लिए उन्हें एक लम्बा पत्र भी लिखा था। वाण्डुङ्ग सम्मेलन के अवसर पर उसकी सफलता की शुभ कामनाएँ करते हुए उन्होंने नेहरू को हार्दिक बधाइयाँ दी थीं।

उनका निधन विगत अठारह अप्रैल, १६५५ ई. में हो गया। वे वसीयत कर गए कि उनका मस्तिष्क और प्रमुख अंग न्यूयार्क के माण्टीफ्योर अस्पताल को डा० हेरी जिमरमान और उनके सहयोगियों के द्वारा अनुसन्धान-परीक्षण के लिए सौंपे जाएँ और शेष देह की दाह-क्रिया हो। आइन्स्टीन किसी भी मत या जाति से परे थे। इसी लिए उन्होंने वसीयत में अपनी यह इच्छा भी व्यक्त की कि उनकी दाह-क्रिया के अवसर पर किसी भी मत की कोई प्रार्थना न हो। यह निर्विवाद है कि उनका निधन विज्ञान-जगत् की ही नहीं, समग्र जगत् की एक अपौरुषेय क्षति है।

निपनिया,
पो० बरौनी (मुंगेर)
विहार

—लक्ष्मीनारायण शर्मा

जिस प्रकार ईश्वर के सामने दान हजारों पापों को भी ढक लेता है, मनुष्य की नम्रता उसकी बुराइयों को छिपा लेती है।

—ग्रेविली

यूरोपीय पुनर्जागरण—उसकी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

मध्ययुग के अन्तिम और वैज्ञानिक युग के प्रारंभिक काल के बीच वाले समय को यूरोपीय पुनर्जागरण का काल समझा जाता है। इस काल में कई विचारधाराओं ने मिल कर एक नवीन युग को जन्म दिया। पुनर्जागरण की एक मुख्य प्रवृत्ति अतीतोन्मुखी होती है। भारतीय पुनर्जागरण भी किस प्रकार अतीत-गौरव की भावना के साथ-साथ आया था, यह हम सभी जानते हैं। वस्तुतः फ्रेंच शब्द 'रेनेंसां' का अर्थ ही होता है 'पुनर्जन्म'। सामाजिक पक्ष में इस पुनर्जन्म का अर्थ है अतीत प्रेम की भावना का उदय। यह और बात है कि अपेक्षाकृत संकीर्ण मनोवृत्ति के लोग केवल अतीत के ही व्यामोह में ही पड़े रहते हैं जबकि इतिहास निर्मात्री-शक्तियाँ अपने उद्योगों से मानवता को नई दिशाओं का संकेत देती हैं। भारतीय पुनर्जागरण के प्रारंभिक काल में एक ऐसी लहर आई थी जिसमें भारत के प्राचीन परम्परागत रस्म-रिवाजों को अन्धाधुन्ध तौर पर तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता था। यूरोप में भी बहुत कुछ इसी प्रकार के प्रयत्न 'स्कालैस्टिक' विचारक करते थे। वे तर्क बुद्धि का आश्रय लेकर चर्च की आज्ञाओं और मान्यताओं की उपयोगिता सिद्ध करते थे। फिर भी मध्ययुगीन अन्धविश्वासों और मजहब परस्ती को हटाने में 'स्कालैस्टिक' विचारधारा का नाम सबसे पहले लिया जाता है, क्योंकि तर्क का सहारा लेकर किसी वस्तु की उपयोगिता परखना ही उस समय अपने आप में एक नई बात थी।

विज्ञान की प्रगति के इतिहास को धर्म के ह्रास का इतिहास भी कहा जा सकता है। संसार का इतिहास विगत कई शताब्दियों से धर्म और विज्ञान का संघर्ष देख रहा है। बात यह है कि स्वतन्त्र चिन्ता ने सर्व प्रथम आक्रमण धर्म पर किया अथवा यों कहा जाए कि मजहब विज्ञान को उसके शैशव काल से ही समाप्त करने का प्रयत्न करता रहा है। हम आगे लगातार देखेंगे कि विचारधाराएँ उत्तरोत्तर विज्ञान की ही उँगली पकड़ कर आगे बढ़ती रही हैं। यह विज्ञान का इशारा था जिसे पाते ही मनुष्य ने अपनी बुद्धि और संस्कारों पर लदे हुए अनावश्यक बोझों को फेंकना प्रारम्भ कर दिया। कुतुबनुमे के उपयोग ने यूरोपीय इतिहास को बदलने में अद्भुत योग दिया है। चीन में यद्यपि इस यन्त्र का आविष्कार ईसा से भी एक सहस्र वर्ष पूर्व ही हो गया था किन्तु यह यूरोप में ईसा की प्रथम सहस्राब्दी समाप्त होते होते पहुँचा। कुतुबनुमे की सहायता से यूरोप शेष सुदूर भूखण्डों के सम्पर्क में आने लगा। १३वीं शताब्दी के अन्त तक मार्कोपोलो ने एशिया के यथेष्ट भूदेश पर भ्रमण कर लिया था। इसके बाद कोलम्बस और 'वास्को-डि गामा' की सफल यात्राओं ने तो यूरोपीय देशों को व्यापारिक होड़ लगाने की मानों चुनौती दी। इन्हें धन तो प्रचुर मिला ही, नए नए देशों के भ्रमण और अनेक रीति-रिवाजों के परिचय से, समझ भी मिली। इन लोगों ने अनेक मत-मतान्तरों को देखा जिससे इन्हें यह विचारने का अवसर मिला कि ईसाइयत के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक धर्म हैं जिनके अनुयायी अपने मतों पर उतनी ही दृढ़ आस्था रखते हैं जितनी कि वे ईसाई धर्म पर। यही कारण है कि यद्यपि 'जान विक्लिफ़' और उनके अनुयायियों ने १४वीं शताब्दी के मध्य में ही चर्च के पाप-क्षमा-विक्रय[1] और पादरियों के ब्रह्मचारी जीवन आदि रीतियों पर आपत्ति की थी और 'जान आफ़ गान्ट' जैसे व्यक्तियों ने चर्च की अतुल सम्पत्ति लार्डों को लौटा देने की बात सामने रखी थी, किन्तु चर्च ने इन आवाजों को अनायास ही दबा दिया था। लेकिन जब १५२० ई. में मार्टिन लूथर ने 'कैनन-ला' को सार्वजनिक रूप में जलाया तब चर्च की दृढ़ स्थिति में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य आ गया था। तात्पर्य यह कि नई दुनिया के दर्शन ने यूरोपियों के धार्मिक आग्रह को क्रमशः ढीला करना प्रारम्भ कर दिया।

किन्तु जिस वैज्ञानिक खोज ने धर्म पर सर्वप्रथम संघातक प्रहार किया वह कोपरनिकस का यह सिद्धान्त

---

[1] Sale of Indulgence.

था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। १५४३ ई. में उसकी एक पुस्तक[2] निकली। सापेक्ष्यवाद के युग में हमें आज चाहे इस खोज की महत्ता आँकने में कठिनाई हो किन्तु १५४३ ई. के यूरोप को यह बताना कि विश्व का केन्द्र पृथ्वी नहीं है, सनसनी खेज़ ही नहीं, ख़तरनाक भी था। पृथ्वी के घूमने का अर्थ होता था कि पृथ्वी के ऊपर स्वर्ग में रहने वाला ईश्वर भी चक्कर काटता रहता है। इस खोज करने वाले को चर्च, शैतान नहीं तो और क्या कहता? जो हो चर्च को उसी समय वैज्ञानिक क्षेत्र से अपना नाता तोड़ लेना चाहिए था। किन्तु उसने अन्यथा निर्णय किया। फलतः कालान्तर में उसे क़दम क़दम पर भौतिक विज्ञान के सामने शर्मिन्दगी उठानी पड़ी।

कोपरनिकस के बाद ही विज्ञान ने लम्बे लम्बे हाथ मारना शुरू किया। उनकी मृत्यु के १५० वर्षों में ही गिल्बर्ट ने चुम्बकत्व और हार्वे ने रक्तचक्र का सिद्धान्त खोज निकाला। किन्तु इन सबको गैलीलियो और न्यूटन के वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने पीछे छोड़ दिया। कोपरनिकस इतना बड़ा वैज्ञानिक होने पर भी विचारों में मध्ययुगीन ही था। वह और उसके सहयोगी इस बात पर सदैव विश्वास करते रहे कि विश्वचक्र किसी दैवी शक्ति के ही सहारे चलता है। गैलीलियों ने विज्ञान को सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं से मुक्त किया। उसकी देन, विचार जगत में इतनी महत्वपूर्ण इसलिए है कि उसने विचारकों को 'क्यों' के गड्ढे से निकाला। उसने 'क्यों' की अपेक्षा 'कैसे' की आवश्यकता पर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उसने बताया कि हमें यह जानने की आवश्यकता नहीं है कि 'कोई बात', 'क्यों होती है।' "कोई बात, 'कैसे' होती है" का पता लगाने का प्रयत्न करना ही विज्ञान के लिए उचित है, क्योंकि 'कैसे' का प्रश्न हल किए बिना 'क्यों' का चक्कर व्यर्थ है। इस प्रकार गैलीलियो ने प्रथम बार वैज्ञानिकों को अपना वास्तविक कर्तव्य सुझाया। उसने प्रथम बार इस बात की घोषणा की कि, सच्चाई का पता लगाने के लिए किसी विचार को आप्त मानना ठीक नहीं। इन्हीं प्रगतिशील विचारों के कारण गैलीलियो को प्रथम आधुनिक वैज्ञानिक कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ।

न्यूटन ने अपने अभूतपूर्व अनुसंधानों से विज्ञान के लिए राजमार्ग तैयार किया। विचार-जगत में गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अत्यन्त प्रगतिशील सिद्ध हुआ। इस सिद्धान्त द्वारा यह बात खुले रूप में सिद्ध हो गई कि क्या पृथ्वी और क्या आकाश सभी एक ही नियम में बँधे हैं। जिस कारण से सब पृथ्वी पर गिरता है, उसी कारणवश चन्द्रमा अपने स्थान से च्युत नहीं होता और अपनी कक्षा में घूमता रहता है। इस प्रकार न्यूटन के सिद्धान्त ने ब्रह्माण्ड के एक विशाल ग्रहपिण्ड और पृथ्वी की नाचीज़ कंकड़ में एक सूत्रता स्थापित की। प्रथम बार पृथ्वी को आकाश की उच्चता की भावना से मुक्ति मिली। यही नहीं पूरा संसार अचिन्त्य विस्तार में रखा हुआ एक विशाल मशीन जैसा लगा जिसमें कोई बात अकारण नहीं होती और जिसकी प्रत्येक गति नियमित होती है।

इन वैज्ञानिक अनुसन्धानों और आविष्कारों ने बौद्धिक क्रान्ति को तो व्यापक बनाया ही, मनुष्य में अडिग आत्म-विश्वास की भावना का भी संचार किया। मनुष्य ने पहली बार अपनी सभी समस्याओं को स्वयं हल कर पाने की शक्ति का अनुभव किया। उसे लगा कि वह विश्व में सर्वोपरि जाति का प्राणी है। जब प्रकृति को वह अपने अतुल पराक्रम से वशीभूत कर सकता है। इसके पहले प्रकृति और मनुष्य के द्वन्द्व में मनुष्य के उद्योग सुरक्षात्मक होते थे। अपने में यथेष्ट शक्ति का अनुभव करते ही मनुष्य ने प्रकृति पर आक्रमणात्मक कारवाइयाँ प्रारम्भ कर दीं। क्रान्तिद्रष्टा विचारक वालतेयर ने इस विषय में अपने उद्गारों को इस प्रकार व्यक्त किया "आश्चर्य की बात है कि सारी प्रकृति सभी ग्रह शाश्वत नियमों का पालन करें और पाँच फ़ीट का एक बौना पशु इन नियमों की अवहेलना करते हुए अपनी इच्छानुसार बिल्कुल मनमानी कर सके।"[3] न्यूटन के सयय तक आधुनिक विचारों की जड़ें

---

[2] De Revolutionibus coelstium orbium.

[3] It would be very surprising if all nature. all planets, should obey eternal laws, and yet there should be a little animal, five feet high, who, in contempt of these laws, could act as he pleased, solely according to his caprice.

—'बैक ग्राउण्ड टू माडर्न थाट' से

मजबूत हो गई थीं।

१७ वीं और १८ वीं शताब्दी का योरोप, आधुनिक मानवता को जन्म देने के लिए छटपटा रहा था। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड जैसे राजभक्त और रूढ़िप्रिय देश ने निरंकुशतावाद को अविस्मरणीय पाठ पढ़ाया। न्यूटन के जीवित रहते ही फ्रान्स में वाल्तेयर और रूसो जैसे मानवतावादी विचारकों का जन्म हो चुका था। इन विचारकों की लेखनी में इतनी ईमानदारी और व्यापक संवेदनशीलता थी कि उनके बाद वाली पीढ़ी के फ्रान्स ने 'समानता, स्वतन्त्रता और भातृत्व' की उद्देश्य-पूर्ति के लिए अमोघ रक्तदान किया। रूसी बोल्शेविक क्रान्ति को छोड़ कर इतनी व्यापक और सुदूर प्रभाव शालिनी क्रान्ति योरोप में नहीं हुई।

किन्तु किसी राजनैतिक अथवा बौद्धिक क्रान्ति का प्रभाव केवल राजनीति और मस्तिष्क पर ही नहीं पड़ता। क्रान्ति का सब से अधिक प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है। वह मनुष्य की अनुभूति प्रणाली को बुरी तरह झकझोरती है। न्यूटन की "प्रिंसीपिया" और फ्रान्सीसी क्रान्ति ने विचार-क्षेत्र और राजनैतिक क्षेत्र में तो अपना कार्य किया ही, साहित्यिक क्षेत्र में भी उनकी देन अपूर्व है। जिस प्रकार बुद्धि को उनसे, अपने क्रीड़ा के लिए अमित विस्तार मिला उसी प्रकार कल्पना को भी उड़ने के लिए अनन्त आकाश मिला। परिणामस्वरूप साहित्य में उस महान रौमैण्टिक युग का प्रारम्भ हुआ जिसने मानवता के हृदय और संवेदना के क्षेत्र को अमित विस्तार दिया। कुछ लोग अभी तक वर्ड्सवर्थ और टेनीसन को यह कह कर पलायनवादी मानते हैं कि वे सांसारिकता और दुनिया के झमेलों से दूर प्रकृति की शरण में जाने को आतुर थे। किन्तु पलायनवादी प्रवृत्ति इतना स्वस्थ साहित्य कभी नहीं दे सकती। ये कवि समसामयिक समाज की विषमताओं से व्यग्र हैं संसार से नहीं। शैली, कीट्स और बायरन की कविताओं को केवल कल्पना की ही शक्ति नहीं प्राप्त थी। उनकी कल्पना का आधार उनका सुदृढ़ दर्शन है जो तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के मनन और विचार से बना है। इन कवियों को सामाजिक रूढ़ियों तथा अन्य विषमताओं से जूझना पड़ा था। शैली को तो नास्तिकता की हिमायत करने पर आक्सफ़ोर्ड की शिक्षा से वंचित होना पड़ा था। इन कवियों के विषय में यह कहना उतना ठीक नहीं है कि वे जीवन से पलायन करके काल्पनिक उड़ानें भर रहे थे जितना यह कि वे तत्कालीन समाज से विद्रोह करके कविता के माध्यम से भावी आदर्श जीवन का निर्माण कर रहे थे। विश्व-विज्ञान, कविता को वस्तु और शैली दोनों देता है।

विज्ञान आज भी कविता को प्रभावित कर रहा है आइन्स्टीन का कितना प्रभाव आज के साहित्य पर पड़ा है और पड़ रहा है, इस पर विचार किया जा सकता है किन्तु उसके लिए अध्ययन और एक नए प्रारम्भ की आवश्यकता होगी।

४४, गुर्टू छात्रालय,
वाराणसी—५

—विश्वनाथ त्रिपाठी

जार्ज बर्नार्ड शा

शा का जीवन इस बात का उदाहरण है कि साहित्यिक भी जनता के हृदय में उस ऊँचाई तक पहुँच सकता है, जहाँ जाने का साहस बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ तक नहीं कर सकते। 'शा' की बचनावली दुनियाँ के अखबारों में चंचल लहरी की तरह नाचा करती थी। उन्होंने व्यंग्य विद्रूप को कला की चरम-सीमा तक पहुँचा दिया था और जब वे वर्तमान समाज का आपरेशन करते तो एक कुशल सर्जन की चतुराई उनकी उँगलियों में अठखेलियाँ करती थीं। मौलिकता उनकी चेरी थी और विचारों का नवनीत प्रस्तुत करना उनके साहित्य की एक महान् बौद्धिक परम्परा थी।

—'नयी चेतना से,

प्राचीन आन्ध्र के हीरे

बुनियादी तौर पर पारदर्शक स्फटिक के रूप में हीरा कार्बन कोयले का ही एक प्रकार है। हीरे हरे, पीले, ऊदे, धूसर आदि रंगों के होते हैं। इसका आपेक्षिक भार अर्थात् स्पेसिफ़िक ग्रेविटी ३·५२ है और भुजायन-देशना अर्थात् इन्डेक्स आफ़ रिफ़्रैक्शन २·४२ है। हीरा सब खनिज पदार्थों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् तथा सख़्त होता है। मूल्य में सरकार की दूसरी कोई नैसर्गिक वस्तु इसकी बराबरी नहीं करती। इसको वज्र भी कहते हैं। ऊदे, हरे तथा रंगहीन और पानी की भाँति विमल हीरे आभूषणों के काम में आते हैं। और जो छोटे तथा कनिष्ठ दर्जे के होते हैं, उनका उपयोग घर्षण-यन्त्रों में, हीर-कर्तन, काच-कर्तन तथा व्यधन यन्त्रों अर्थात् ड्रिलिंग मशीनों के लिए होता है। आधुनिक विज्ञान युग में प्रयोग द्वारा कृत्रिम रीति से भी हीरे तैयार किए गए हैं, जिनका दर्जा प्राकृतिक हीरों से कम नहीं है।

ई० स० १७२८ तक पूरे संसार के हीरों का स्रोत हमारा भारत ही एकमात्र देश था। प्राचीन आन्ध्र में भारत के सब भागों से अधिक हीरों की खानें थीं। और संसार की सुविख्यात हीरे इसी प्रदेश में प्राप्त हुए थे। इसके सिवा मध्य-भारत, गोंड़वाना, उड़ीसा तथा बंगाल में भी हीरों की खानें थीं परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि अब मध्य-भारत स्थित पन्ना के सिवा भारत के दूसरे किसी भी स्थान में हीरे की खान चालू नहीं है।

हीरे हर स्थान पर नहीं पाये जाते। इनका अपना एक विशिष्ट प्रदेश होता है। इन स्थानों के भूगर्भ में अतीव उष्णता के कारण ये बन जाते हैं और बनते समय इनमें कई रंग भी आ जाते हैं। 'बृहत् संहिता' में लिखा है कि हिमालय प्रदेश के हीरे, ताम्बे के वर्ण के समान आरक्त, कलिंग देश के आपीत, पौण्ड्र के धूसर तथा मातंग अर्थात् आन्ध्र के गेहूँ के फूल के से पीत होते हैं।

प्राचीन आन्ध्र देश पुराने गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यों तक ही सीमित न था वरन् और भी प्रदेश उसमें सम्मिलित थे। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गोलकुण्डा राज्य में २३ तथा बीजापुर राज्य में १५ हीरों की खानें थीं। और आन्ध्र के दूसरे भागों में लगभग ४५ खानों से हीरे निकाले जा रहे थे। ये सब खानें लगभग २१० मील लम्बे और ६५ मील चौड़े प्रदेश में बिखरी हुई थीं।

इस प्रदेश की हीरों की खानें (१) जल पत्थरों, (२) आद्य-कल्प-पत्थरों तथा (३) नदियों की जलोढ़ भूमि में बाँटी गई थीं। इनका वृत्तान्त संक्षेप में इस प्रकार है :

बत्तीस खानें जल-पत्थरों के प्रदेशों में थीं और वे कर्नूल तथा गुन्तूर ज़िलों में फैली हुई थीं।

आद्य-कल्प-पत्थरों के प्रदेश में लगभग अठारह खानों से कर्नूल तथा अनन्तपुर ज़िलों में नगीनें निकाले जाते थे।

तेंतीस खानें कुण्डेरू, कृष्णा, गोदावरी, तुङ्गभद्रा, पन्नेर, मुनेरू, गोली-वागू और हन्द्री नदियों की जलोढ़ भूमि में स्थित थीं और वे कर्नूल, कड़प्पा, कृष्णा, पूर्वी गोदावरी, तथा गुन्तूर ज़िलों में बिखरी हुई थीं।

कर्नूल ज़िले के रामल्ला कोटा में जलोढ़ भूमि तथा जल-पत्थरों की खानें थीं।

कभी कभी वर्षा के बाद द्रोणाचलम तथा कोइल-कुण्टला विभागों में बिना मेहनत से भूमि के ऊपर ही हीरे पाए जाते थे।

कर्नूल ज़िले में सब से अधिक अर्थात् ५५ हीरों की खानें थीं और सब से कम अर्थात् केवल एक खान पूर्वी गोदावरी ज़िले में थी।

गोलकुण्डा राज्य में जो हीरे प्राप्त होते थे वे प्रायः दूसरे प्रदेशों के हीरों की अपेक्षा आकार में बड़े होते थे। ये हीरे आद्य-कल्प-पत्थरों ही में पाए जाते थे। जलोढ़ भूमि तथा जल-पत्थरों में प्रायः छोटे-छोटे और निकम्मे हीरे प्राप्त होते थे। इससे यह अनुमान किया जाता है कि प्रथमतः हीरों का जन्म आद्य-कल्प-पत्थरों ही में हुआ था।

संसार के कई प्रसिद्ध हीरे गोलकुण्डा और बीजापुर की खानों में पाए गए थे। उदाहरणार्थ कोहेनूर

हीरा गोलकुण्डा राज्य के कोल्लूर में प्राप्त हुआ था। यह हीरा कब पाया गया इसके विषय में विश्वस्त रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। अनुमान करते हैं कि वह ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मिला होगा। नैसर्गिक अवस्था में इसका वज़न ६०० रत्ती से कुछ अधिक था। इसकी एक कहानी है। इसको कई बार काटा गया। अंग्रेज़ों ने आख़री बार इसको काटा तब वह केवल १२१ रत्ती भर रह गया। अब वह इंग्लैण्ड के राजमुकुट में स्थित है।

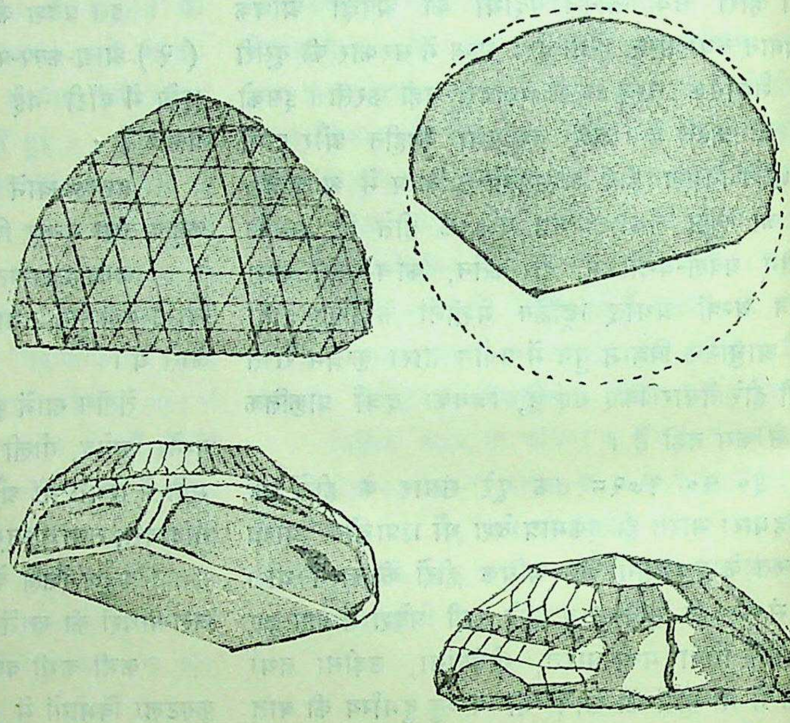

कोहिनूर की आकृतियां
(टैवर्नियर के ट्रैवल्स इन इण्डिया से उद्धृत.)

१६४२ ई. में इसी कोल्लूर खान में एक ७७ रत्ती वज़न का हीरा मिला। उसको 'होप डायमंड' कहते हैं। उसके तीन टुकड़े हो गए। बड़े टुकड़े का वज़न ५० रत्ती है। वह नगीना जिसके पास गया उसकी हानि ही होती रही।

इनके सिवा कोल्लूर में दूसरा एक ७० रत्ती वज़न का हीरा प्राप्त हुआ। उसको कोल्लूर डायमंड कहते हैं।

यह कोल्लूर खान गोलकुण्डा राज्य की पहली खान थी। परन्तु वज्र करूर की खान इस प्रदेश की सब खानों की अपेक्षा प्राचीन थी। इस खान को कर्नाटक प्रान्त के साथ मीर जुमला ने वहाँ के हिन्दू राजा से जीत लिया था। यह मीर जुमला ईरान के रत्नों का एक प्रसिद्ध व्यापारी था। वह गोलकुण्डे में व्यापार के लिए आया और अपनी ईश्वर-प्रदत्त योग्यता से उन्नति करके यहाँ का मन्त्री और सेनापति बन गया। इसी ने कोहेनूर हीरा शहाजहाँ बादशाह को सन् १६५५ में भेंट किया था। उस समय इस हीरे को मुग़ल महान् कहते थे। सन् १७३६ में ईरान के बाद शाह नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया। मुहम्मद शाह को परास्त करके यह हीरा लूट में ले गया। और उसको कोहेनूर अर्थात् "प्रकाश का पर्वत" उपाधि दे दी।

वज्र करूर खान बड़े आकार के हीरों के लिए प्रसिद्ध थी। यहाँ केवल बड़े ही हीरे मिलते थे। ऐसा कहते हैं कि यहाँ एक लगभग ११५२ रत्ती वज़न का हीरा पाया गया था। इस हीरे का क्या हुआ इसका कुछ भी पता न चला।

गोलकुण्डा राज्य में किसी भाग्यवान् को ही हीरे प्राप्त होते थे। और कइयों का दिवालिया भी निकल जाता था। सन् १६०१ के लगभग एक पुर्तुगीज ने वज्र करूर में साढ़े तीन लाख रुपए व्यय किये। फिर भी उसको एक भी हीरा प्राप्त न हुआ। आख़िर में उसने विष पीने का निश्चय किया। परन्तु उसी दिन उसको लगभग ३६८ रत्ती वज़न का एक हीरा मिल गया। उसने वहाँ एक शिलालेख तेलुगु भाषा में उत्कीर्ण करके रक्खा है जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है:

"पत्नी बेचो, बच्चे बेचो, बेचो अपना सर्वस्व
कुछ भी न छोड़ो, बनो दिगंबर और मान लो दासत्व
पैसा मिलता किन्तु दौड़ो करूर के जंगलों में
ढूँढो वहाँ खानें और पुरस्कार पाओ आखिर में'

निज़ाम नाम का हीरा गोलकुण्डा राज्य के कौनसी खदान में प्राप्त हुआ इसका ठीक पता नहीं चला। इसका वज़न ३१६ रत्ती है। यह उस बड़े हीरे हीरे का केवल एक टुकड़ा है जिसका भार ५०३ रत्ती था। और ऐसा कहते हैं कि १८३५ ई० के पहले यह एक काश्तकार के बच्चे का खिलौना था।

पिट्ट अथवा रिजेंट हीरा कृष्णा ज़िले की परिताला खान में १७०१ ईस्वी में पाया गया। इसका सर्वप्रथम वज़न ४६८½ रत्ती था। काटने के बाद यह १५७½ रत्ती का रह गया गया। यह अब फ्रान्स में है।

'नस्साक' हीरा दक्खन की कौनसे खान में पाया गया इसका भी पता नहीं चला। इसका प्रथम वज़न १०२½ रत्ती था। इसको त्रिकोण के आकार में काटा गया है। और इसका वर्तमान वज़न ६० रत्ती है। यह ड्यूक आफ वेस्ट मिनिस्टर इंग्लैण्ड के कब्ज़े में है।

इनके अतिरिक्त संसार के दूसरे प्रसिद्ध हीरों में से बहुत से हीरे गोलकुण्डा तथा बीजापुर राज्यों में पाए गए थे। किन्तु उन के शुद्ध इतिहास का पता नहीं चला। इनमें से एक हीरा गोलकुण्डे में देखने में आया था जिसका वज़न लगभग २७७ रत्ती था।

भारतीय हीरों पर पश्चिमी तथा अरबों ने कई मनोरंजक कहानियाँ लिख रक्खी हैं जो इन हीरों के महत्व पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं।

जलोढ़ भूमि के प्रदेशों में खाने प्रायः २४-२५ फुट से अधिक गहरी न होती थीं। क्योंकि उसके नीचे पानी था और काम बन्द कर देना पड़ता था। खुदाई के लिए एक निश्चित करने के पश्चात् उसके समीप उससे किंचित् बड़ी दूसरी जगह साफ़ क्रर लेते थे जिसकी चारों ओर से दो फुट की ऊँचाई की एक दीवाल बाँधी जाती थी। इस दीवार में भूमि से लग कर दो दो फुट के फ़ासले पर छेद बनाए जाते थे।

प्रारंभिक पूजा, भोज आदि के बाद खुदाई का काम शुरू होता था। भूगर्भ में पानी के लगने तक वे खोदते थे। खोदी हुई मिट्टी उस दीवाल के खुले बाड़े में ले जा कर उसमें उसी खान में निकला हुआ पानी मिलाते थे। अर्थात् दीवार के वे छेद पहले बन्द करते थे। एक-दो दिनों में वहाँ पतला कीचड़ बन जाता था। फिर उन छिद्रों द्वारा पानी बाहर निकलवाते थे। इसी प्रकार दो-तीन बार करने के पश्चात् वहाँ छोटे-छोटे पत्थरों तथा रेती के सिवा और कुछ भी न रहता था। उनको सूखने देते थे। सूर्य की चमकदार धूप से वे जल्दी सूख जाते थे। उनको सूपों से पछोड़ते थे। हलकी रेती को फेंक कर बड़ी-बड़ी रेती तथा कंकड़ों को लकड़ी से पीटते थे और दुबारा उसको पछोड़ते थे। हलकी तथा बारीक रेती फेंकने के बाद जो मसाला बचता उसे दूसरी जगह पर फैला कर उसमें से खदानियों की स्त्रियाँ तथा बच्चे थोड़ी-थोड़ी रेती हथेली पर लेकर उसमें हीरे देखते थे। यह काम दिन के दस बजे से लेकर ३ बजे तक होता था। क्योंकि इस समय के चमकदार प्रकाश में हीरे आसानी से देखे जाते थे।

पत्थर-खानों में पत्थरों को फोड़ कर छोटे-छोटे टुकड़े करते थे। और उनको चलनी से भी छान लेते थे। फिर उन्हें दो-तीन बार धुलवाते थे। पश्चात् उसमें हीरे दिखाई पड़ते थे। कुछ खानों में दो-तीन दिनों तक लकड़ियाँ जला कर वहाँ के पत्थरों को उष्ण करते थे और उन पर पानी डालते थे जिसके कारण वे फूटते थे। इस रीति से पत्थरों को फोड़ना आसान हो जाता था। वज्रगिरि तथा मुनिमड़गू की खानें तीन सौ फुट तक भी गहरी थीं।

गोलकुण्डा राज्य में वहाँ का राजा खानों के ठेकेदारों से स्वामित्व अर्थात् रायल्टी लेता था जो दस लाख रुपए से भी अधिक होती थी। इसके सिवा बीस मांगेलिनों अर्थात् लगभग २८ रत्ती से अधिक भार के सब हीरे राजा ही के होते थे। इनके अतिरिक्त दो प्रतिशत के हिसाब से बिक्री-कर अर्थात् सेल्स टैक्स भी था। इतना ही नहीं वरन् वहाँ के गवर्नर तम्बाकू आदि आवश्यक वस्तुओं के भाव बढ़ा देते थे और खदान वालों को चारों ओर से कष्ट देते थे। ठेकेदार लोग ऋण लेकर खानें चलाते थे। और वे लोग इतने तंग आ जाते थे कि आखिर में खाने ही बन्द कर देते थे।

बीजापुर राज्य में भी रायल्टी, टेक्स आदि थे किन्तु वहाँ के लोगों को सरकार की ओर से कुछ भी कष्ट नहीं दिया जाता था। इसी के कारण वहाँ की खानों में बहुत

लोग काम करते थे। वहाँ छोटे-छोटे किन्तु प्रचुर हीरे प्राप्त होते थे। और दीवाला निकलने की बहुत ही कम सम्भावना थी।

कर्नूल जिले की रामल्लाकोटा खान में अतीव सुन्दर और उच्च कोटि के हीरे प्राप्त होते थे। किन्तु वे आकार में छोटे होते थे।

गोलकुण्डा तथा बीजापुर के राजाओं को यदि कोई व्यापारी बहुत बड़ा हीरा गुप्त रूप से लाकर देता तो वे उसको विपुल संपत्ति ही नहीं वरन् सम्मान की पोशाक दी जाती थी।

गोलकुण्डा राज्य में खानों के ठेकेदार तथा मजदूर बहुत गरीब थे। मजदूरों को लगभग एक रुपया प्रतिमाह के हिसाब से मजदूरी मिलती थी। और वे अर्धनग्न अवस्था में रहते थे। ये लोग हीरे को इरी तथा इरा कहते थे जो हीरा शब्द के अपभ्रंश हैं।

जब खान में हीरों की प्राप्ति कम होती थी तब उस खान की लगान भी कम होती जाती थी—इतनी कि आठ आने प्रति माह!

ईसा की सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में यहाँ पानीदार, बिमल और उत्तम हीरे का बिक्री-मूल्य एक रत्ती का लगभग सौ रुपए था। और दस रत्ती के हीरे का मूल्य दस हज़ार रुपए होता था। यह हिसाब कुछ और ही था। अब एक रत्ती वजन के हीरे का मूल्य एक हज़ार रुपए से भी अधिक है।

गोलकुण्डा तथा बीजापुर नगरों में हीरों का व्यापार बेरोक-टोक तथा भरोसे पर चलता था। और दस से सोलह वर्षों तक के बच्चे भी दो-दो हजार रुपए का लेन-देन किया करते थे। दिल्ली, आगरा, सूरत आदि दूर के गुजराती व्यापारियों को यहाँ के गुजराती व्यापारी उधार भी हीरे बेचते थे। ये व्यापारी परदेशी व्यापारियों का बहुत आदर सम्मान करते थे और बिक्री के पहले बत्तीस हज़ार रुपए तक मूल्य के हीरे अच्छी 'जानकारी' के लिए उनके पास एक सप्ताह तक रख छोड़ते थे। हीरों का लेन-देन जहाँ होता था ऐसे स्थानों में सरकारी धर्म-काँटे थे, जिनके कारण हीरे के सही वजन में जनता को धोखा नहीं होता था।

हीरों को काटने तथा पालिश करने का काम कोल्लूर, रामल्लाकोटा तथा हैदराबाद के उपवन में जो कि कारवान में था। यहाँ के कारीगर इतने प्रवीण थे कि उनकी कोई बराबरी न कर सकता था। हीरे में यदि कुछ रेखा (नुक़्स) हुई तो वे कारीगर उसको इस प्रकार से काटते थे कि उस रेखा पर उसकी एक कोर आ जाए। और यदि लाल दाग़ रहा तो उसको अग्नि में भूनते थे जिससे लाल का काला दाग़ हो जाता था जिसे लाल से अधिक पसन्द किया जाता था।

अनन्तपुर ज़िला स्थित वज्र करूर के समीप हीरे निकालने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु असफल हुआ। इसका अर्थ यह नहीं कि इस प्रदेश में हीरे नहीं हैं।

प्राचीन खदान वाले हीरों के पत्थरों तथा मिट्टी की दिशा देखकर खुदाई करते थे। यदि इस दिशा में कोई बस्ती आ जाती तो उस वगाँ की भूमि के नीचे वे नहीं खोदते थे। इस समय उस जगर पर हीरे मिलने की बड़ी सम्भावना है। वज्र करूर, रामल्लाकोटा, बंगनपल्ली तथा रामावरम् के आस पास .कभी-कभी वर्षा के बाद भूमि पर ही हीरे पाए जाते हैं। इस से प्रतीत होता है कि इस प्रदेश के भूमि-गर्भ में तथा जलोढ़ भूमि में और भी हीरे हैं।

सन् १८६० में हैदराबाद दक्खन कम्पनी ने परिताला में पुराने ख़ानों की मिट्टी को आधुनिक यन्त्रों से धुलवाया और २३८० रत्ती वज़न के ३४४४ छोटे-छोटे हीरे प्राप्त किए। ये हीरे प्राचीन खदानिओं की दृष्टि से छुटे हुए थे। इस कम्पनी ने नए स्थानों पर प्रयत्न किए ही नहीं। हानि होने के कारण यह योजना १८६४ में बन्द कर दी गई। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि आधुनिक यन्त्रों की सहायता से नए स्थानों पर प्रयत्न करने से और भी हीरे प्राप्त हो सकेंगे।

भारतीय भूतात्विक समीक्षा अर्थात जिआलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया इन प्रदेशों में हीरों के लिए आधुनिक यन्त्रों की सहायता से भली-भाँति पूर्वेक्षण अर्थात प्रासपेक्टिंग करने वाली है। आशा है कि इस योजना में सफलता प्राप्त हो जाएगी और निकट भविष्य ही में प्राचीन-का-सा अभिनव आन्ध्र प्रदेश भी हीरों के द्वारा समृद्ध हो जाएगा।

हैदराबाद

—सखाराम वानखड़े

कन्नड़ के प्राचीन कवि

[१]

लक्ष्मीश

यद्यपि नृपतुंग के काल से ही कन्नड़ साहित्य की उन्नति के लिए सतत एवं निरंतर प्रयत्न हो रहे थे, फिर भी ये प्रयत्न पर्याप्त न थे। कन्नड़ पर संस्कृत भाषा का प्रभाव तो पड़ा ही था—परन्तु उसके साथ मराठी साहित्य का भी प्रभाव पड़ा। इतना ही नहीं—मुसलमानी शासकों की भाषाएँ फ़ारसी, अरबी आदि का भी कन्नड़ पर प्रभाव अभिलक्षित होता है। सत्रहवीं शताब्दी तक कुछ ऐसी ही अवस्था थी।

इन्हीं दिनों लक्ष्मीश का जन्म हुआ। कन्नड़ साहित्य के ये एक अमूल्य रत्न समझे जाते हैं। कन्नड़ साहित्य के क्षेत्र की भूमि लक्ष्मीश के जन्म होते ही लहलहा उठी और दिव्यतम पवन बहने लगा।

लक्ष्मीश का जन्म कर्नाटक की मलेनाडु भूमि में हुआ। 'कडूर' उनका जन्मस्थान है। प्रकृति सुन्दरता के लिए सम्पूर्ण कर्नाटक में कडूर आदि प्रसिद्ध हैं और कडूर के पास वाले एक गाँव "देवनूर" तो प्रकृति नटी का नृत्यागार है जहाँ लक्ष्मीश का जन्म हुआ। उनके जन्म संवत् और तारीख़ के बारे में अन्य अनेकानेक कन्नड़ प्राचीन कवियों की तरह ही, कन्नड़ साहित्य अनभिज्ञ है। इस सम्बन्ध में हम कन्नड़ के कई अनुसन्धानकर्ताओं की सम्मतियों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं क्योंकि उनके आधार प्रामाणिक नहीं प्रतीत होते। इस बात के प्रमाण हैं कि लक्ष्मीश का जन्म सत्रहवीं शती के अंतिम भाग में हुआ—और हम इसी बात को स्वीकार कर लेते हैं।

लक्ष्मीश का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। विद्याभ्यास आदि सत्संग में ही सम्पन्न हुए थे। अतः लक्ष्मीश देव भक्त हो गए। उनकी श्री विष्णु के प्रति भक्ति भावना का ज्वलन्त उदाहरण; उनके द्वारा रचित "कन्नड़ जैमिनी भारत" महाकाव्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत का ही अनुवाद है। पर कवि की प्रतिभा इस पुस्तक में इस प्रकार आविर्भूत हुई है कि पढ़नेवाले उसको अनुवाद मान ही नहीं सकते। लक्ष्मीश ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त किसी अन्य कृति की रचना नहीं की। यह स्पष्ट ही है, फिर भी संशोधक वर्षों से उनकी अन्य कृतियों को ढूँढ़ रहे हैं पर वे अपने प्रयत्नों में अब तक असफल ही रहे हैं।

"कन्नड़ जैमिनी भारत" का विषय वही है जो संस्कृत की पुस्तक का है। कुरुक्षेत्र के उपरान्त धर्मराज अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करते हैं। यज्ञाश्व को ले आने के लिए भीम चलते हैं। वह सालवानुज द्वारा चुराया जाता है। श्रीकृष्ण-सालव दोनों में युद्ध होता है, अनन्तर अश्व दिग्विजय के लिए छोड़ा जाता है। उसका नीलध्वज सामना करता है और अर्जुन उससे लड़ते हैं, घनघोर लड़ाई के उपरांत नीलध्वज हार जाता है। इत्यादि इत्यादि! 'संस्कृत जैमिनी भारत' का ही विषय इस पुस्तक में पूर्णतया लिया गया है। वर्णन चातुर्य, शब्द सौन्दर्य, छन्दोबद्ध पद्य, रसयुक्त स्फूर्ति इत्यादि विशेषताओं से "कन्नड़ जैमिनी भारत" संस्कृत से भी अधिक सुन्दरतम बन गया है। साहित्यिक दृष्टि से देखा जाए तो 'कन्नड़ जैमिनी भारत', कन्नड़ के अन्य काव्यों से उन्नत ठहरता है और सामान्य जनता के लिए वह एक अमर रस-अंबुधि है।

कवि देव-भक्त थे। देवपुर में इनका जन्म हुआ था। वहाँ लक्ष्मीनारायण का एक मंदिर था। वहीं लक्ष्मीश का निवास स्थान भी था। अतः लक्ष्मीनारायणजी के ये परम भक्त बन गए। 'कन्नड़ जैमिनी भारत' की रचना भी लक्ष्मीनारायण जी के नाम पर ही हुई है। काव्य के प्रारम्भ में कवि ने, अपने इष्टार्थ देव की प्रार्थना, इस प्रकार की है :

"श्री वधु विनंबक चकोरकं पोरेये भ-
क्ता वलिय हृत्कु मुदकोरकं बिरिये जग-
तीवलयदमल सौभाग्य रत्ना-करं पेचिनीं मेरेवरिए।
आवगं भरस करुणामृतद कलेगलि
ती विदेळनगेच बेळ्दिंगळं पसरिसुव
देवपुर निलय लक्ष्मीरमण नास्य चन्द्रानंदमेमगीयली॥"

अर्थ : श्री वधु विनंबक चकोर रूपी श्री लक्ष्मीनारायण जी की कृपा से सब लोग सुख प्राप्त करें और भक्तों के हृदय कमल उनकी कृपा से खिल उठें और जगती वलय

के अमल सौभाग्य रत्नाकर का ही सुख सब लोगों का सुख हो। सर्वत्र और सर्व कालों में सरस करुणामृतादि कलाओं से पूरित और मुस्कान रूपी चाँदनी का प्रसार करने वाले श्री देवपुर स्थित लक्ष्मीरमण हम पर चन्द्रानन्द्र की कृपा करें।

(यहाँ रूपक, शृंगार, त्रोटक, समास आदि समावेश हुए हैं। संगीत का सरस सरल निर्झरिणी बह पड़ी है। पर लय के बारे में पंडितों में मत भेद है)

इनकी भक्ति भावना सगुण थी। उन दिनों यद्यपि हिन्दुस्तान में निर्गुण संप्रदाय का प्रचार अधिक मात्रा में था फिर भी सगुणोपासक भी कम नहीं थे। भक्त कवि होने के नाते इनकी विनय-शीलता अत्यन्त अभिनन्दनीय है। देखिए, अत्यन्त विद्वान् होते हुए भी; काव्य के प्रचण्ड पाण्डित्य के होते हुए भी, उन्होंने अपने काव्य के बारे में अपने विषय में किस प्रकार नम्रता पूर्वक लिखा है :

"छन्दस्सु लक्षणमलंकार भाव रस
मांदि कलेवेत्त सत्कृति चमत्कृति युक्ति
चांदुमिल्लद काव्यमश्राव्यमहुदेंदरियदे
कवितेयनु बरिदे।
दंदुगक्कोळत्रात्रि पेळ्देनेंदेन्ननगु—
वंदमं माडदेनगोलिदित्तुनमलमति —
यं देवपुरद लक्ष्मीरमणनेंदरिदु केळ्वुदे-ल्ला सुजनरु ॥"

अर्थ : मैंने छन्द, लक्षण, अलंकार, भाव, रस, आदि से रहित, सत्कृति, चमत्कारपूर्ण युक्ति, आदि से भी रहित काव्य, को यह न जान कर कि इस प्रकार का काव्य, साहित्यिक दृष्टि में काव्य नहीं हो सकता; लिखा है मैंने इन सब द्वंद्वों से पूर्ण हो कर इसको लिखा है। इसके लिए पाठक कृपा करके मेरी हँसी न उड़ाएँ। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि पाठक इसको देवपुर के स्वामी श्री लक्ष्मीनारायण ने कहा है ऐसा समझ कर ही इस काव्य को सुना करें।

(इसमें कवि की विनयशीलता, गाम्भीर्य, और उसकी विचारपरता का हमें अच्छी तरह ज्ञात होता है।)

ये सरल-हृदय और रसिक थे। संभवतः यही कारण है कि उनका काव्य भी सरलता और रस से परिपूर्ण है। सरलता के कारण उनका काव्य सर्वसाधारण जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। अपने काव्य की सरसता के बारे में इन्होंने कहा है :

"जाणरं तले दूगिसदे नुडिदोडापद
क्कूणेयं बहुदेंदु सरसोक्तिचिन्द गी
वणि पुरनिलय लक्ष्मीवरं ताने संगीत सुकला निपुणनु।
वीगेयिम् गानमं नुडिसुवंददे लोक
वाणिचिम् कवितेयं पेळिसिदनेंदरिदु
केणमम् तोरेदु पुरुडिसुवरं जरिदु कि विदेरेदु
केळ्वुदु सुजनरु ॥"

अर्थ : विद्वज्जनों को यह काव्य अच्छा लगे; और ऐसे वाक्य इसमें न हों जिनसे काव्य खराब हो जाता है— इस को दृष्टि में रख कर स्वयं देवपुर स्वामी श्री लक्ष्मीनारायण जी ने (जो संगीत के प्रधान आचार्य हैं) मेरी वाणी के द्वारा इस काव्यमय 'भारत' को गाया। ऐसा समझ कर सदय लोग इस को प्रेम से सुनें और ईर्ष्या करने वाले की उपेक्षा करें।

(इन पंक्तियों से उनके काव्य की विशेषता प्रकट होती है)

लक्ष्मीश ने अपने कुल के बारे में तो हमें संदेह में नहीं डाला है। अपना परिचय देते हुए उन्होंने स्पष्टतया कहा है कि वे "भारद्वाज" गोत्र के थे। देखिए :

"विद्वत्सभावलय मरिले विरचिभिन्द भरद्वारगोत्र—
रद्वाज गोत्रभवनरणमाँकन सुतं ल
स द्विनुत कनीट कविचूत वन चैत्र लक्ष्मीशनेंबोर्वनु।
ह्लद्बनजदोळ्देव पुरंदर सियरसन
दद्वयवनवगम् ध्यानिसुवरडिगळम्
सद्विनयदिं भजिप बलि पन्द विमल
जैमिनि भारतद कथेयनु ॥"

अर्थ : भारद्वाज गोत्र में मेरा जन्म हुआ है मेरे पिता अणमय्या है। मैं विद्वानों से सम्मानित एवं "कर्णाटक आयु वन चैत्र" नामक पदावली से सुशोभित हूँ। मैं हमेशा लक्ष्मीनारायण के प्रति भक्ति रखता हूँ। अतः उस भावना को मैंने इस संस्कृत जैमिनी भारत को सम्बन्धित इतिहास को पद्य में गाया है। आशा करता हूँ कि इससे भक्त मण्डली जरूर प्रभावित होगी।

(यहाँ कवि की जीवन कथा का प्रस्ताव है और काव्य का उद्देश प्रकट हुआ है।)

इस तरह वे विनय, गाम्भीर्य, सरस, सरल व्यक्तित्व के महाकवि थे। इनका काव्य ध्वनियुक्त होकर, संगीतमय है। शृंगार रस प्रधान होकर भी, काव्य में भक्ति रस स्रोत बह निकला है। साथ साथ करुण रस

की भी अधिकता इस काव्य में पाई जाती है। नख-शिख वर्णन में हिन्दी के श्रेष्ठ रीतिकालीन कवियों को भी इन्होंने परास्त कर दिया है ऐसा हम बिना किसी संकोच के कह सकते हैं। उदाहरण के लिए उनके ये चार पद्य हम प्रस्तुत करते हैं। (ये सिर्फ उदाहरण के लिए हैं। ऐसे अनगिणत पद्य इनके काव्य में पाते हैं।)

"घनकुच द्वय के लोचन युग के सोगयिसुव
तनुमध्य किंपाद नुणदोडेगे पडिगट्टु
वनितु सोबगुळ्ळ वस्तुगळनं भुजभवं भुवनदोळ् काणेनेंदु
जनमरिये पेर्गवते सेरे पिंतिकर भंग
ळे निपिवरोळ भिनयिसि तो रिसल् मृदु पाणि
वनजममृसृष्टिसिदनेंब चेल्विन कोमलेयरळि कमूगेसेदरु"

"गुरुकुचदे भरणि सुंदर गजारोहिणि म
धुर कामकेळी रसार्द्रे सन्मोहनो
त्तरे सुरतंत्र विरचितहस्त चित्ते स्वतिवर्तुळ सुकंठे
वरबाहु मूले मणि भूषण श्रवणे वि
स्तर गुणापूर्वे येनिसुव बलिके यरळि
परिशोभिसिदरे सेव नक्षत्रगणदंते मोगससिय सेरुवेयोळु"

"मोळे मोलेयोळेसेव ससि वदन दोळ्कुदिनोट
दोळे पर्वु तोळ्गळोळ्बेळेदुब्बु जघन दोळ
सेळे नडुविनोळ् सुळि करुळ्गळोळ्सोगयिसुव मडलिडिद-
सौन्दरदोळु
ताळिरडिगरोळ् मुगुळ्नगेयोळलरळि यो
ळ्तळेदु सले राजिसुव तनु लतेयोळोप्पिर्द
रेळवेण्गळच्च पोसजौवन दोळावगं विटपोयराश्रयदोळ्"

"कैगे मोलेगळ बिंपु कण्गे चेल्विन सोंपु
बाय्गे जेंदुतियिंपु किविगे नुडिगळ नुण्पु
सुय्गे तनुविन कंपु सों कि गणपिन तंपुचित्त के
सौगसिन लंपु
मैगूट दोळ्समनिपेळवेणगळेमर्दिर्द
रे गणेगळिसुगे गळुकद योगिकर ममृ
सेगेडप लेंदु अंगजं पूजेगैव सम्मोहनो स्त्रंगळेनलु"

अर्थ : (१) द्वारका नगर की स्त्रियाँ बहुत सुन्दर थीं। उनके स्तन-युग्म हृष्टपुष्ट थे। उनकी आँखें, क्षीणकटि, जंघा आदि उपमान रहित थीं। उन वेश्या स्त्रियों की सुन्दरता अवर्णनीय है इसीलिए ब्रह्म ने उनके लिए ऐसे आभरणों की सृष्टि की जिनके द्वारा उनकी सुन्दरता का अनुमान तो कर सके।

(यहाँ कवि की वर्णना शक्ति दर्शनीय है)

(२) स्थूल और पुष्ट स्तनों से भूषित, हरिणी जैसी चाल वाली। मन्मथ क्रीड़ा रस से भरपूर्ण, विटों को भूल में डालने वाली चंचला, इति व्यापार में हमेशा तल्लीन, गोलकण्ठों से सुशोभित, रत्न खचित स्वर्णाभरणों से सुन्दर अपूर्व गुणवतियाँ, उस वेश्यावटी में नक्षत्र के समान दीख पड़ीं। ज्योतिष में कहा जाता है कि चन्द्र एक-एक नक्षत्र में एक-एक दिन रहता है। अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र चन्द्र के संसर्ग से प्रभावित होने की रीति नक्षत्र सम बालाएँ, चन्द्र सम मुखों से सुशोभित थीं।

(यह नख शिख वर्णन है)

(३) लताएँ पहले पहल छोटी अवस्था में रहती हैं, उगती हैं। पहली स्थिति से दूसरी स्थिति को पहुँच कर बढ़ती हुई तीसरी स्थिति को पहुँचती है। इसी तरह लता सदृश अंगों से परिपूर्ण सुन्दर बालिकाएँ विट पुरुषों के आलिंगन सुख में रत थीं।

(संयोग श्रृंगार वर्णन)

(४) काम कलापूर्ण मर्दन के योग्य स्तनयुग्म थे और करों को सुख पहुँचाते थे। आँखें सुन्दरता की प्रतिमूर्ति थीं। मुँह के लिए लालायित ओष्ठ सुन्दरता के प्रतीक थे। नासिका को उनकी देहों से लिप्त सुगंध सुख पहुँचा रही थी। सम्भोग सुख के लिए उनकी मृदुल-देह कातर थीं और उनको देख कर बड़े-बड़े योगियों के भी विचलित हो जाने में कोई संदेह नहीं था।

(नख शिख वर्णन)

करुण रस के पद्य तो काव्य में भरे पड़े हैं। सीता परित्याग का प्रसंग आँसुओं की लड़ी है। इस काव्य के उस भाग को पढ़नेवाला कोई भी क्यों न हो, जरूर द्रवित हो उठेगा।

इस महा कवि का काव्य कर्नाटक के घर घर में गाया जाता है। ये और महाकवि कुमार व्यास कन्नड़ भाषा और साहित्य के रत्न माने गए हैं। काव्य का आद्योपाँत वर्णन और उसकी समीक्षा इस छोटे से लेख में साध्य नहीं है। इस लेख में इस कवि का छोटा-सा परिचय देने का प्रयत्न किया गया है।

इस कवि की मृत्यु कब और किस प्रकार हुई—इस विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। इनकी जीवनी के अन्य वृत्तान्त भी अभी तक कुछ विशेष रूप से प्रकाश में नहीं आ सके हैं। इनके लिए अनुशीलन और अनुसन्धान हो रहा है। अब क्योंकि भारतीय भाषाओं की ओर विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है और भारतीय भाषाओं के अध्ययन के प्रति शिक्षित जनता की रुचि की भी अभिवृद्धि हो रही है—इसलिए हमें विश्वास है कि अब इनके सम्बन्ध में उल्लेख-योग्य अनुसन्धान का कार्य शीघ्र हो सकेगा।

तुलसी विहार, त्यागराजनगर,
बेंगलूर—४

एन० रंगनाथ 'कुमुदप्रिय'

मोटरों की अधिकता : परिवार की पृथक्ता

न्यूयार्क शहर में इतनी अधिक मोटरें हैं कि उन्हें सार्वजनिक स्थानों में खड़ी करने की एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। विश्व की तीन चौथाई मोटरें अमरीका में हैं। किसी वस्तु की अति भी हानिकारक होती है। एक अमरीकी महिला ने मुझे बतलाया कि किस प्रकार मोटरों की अधिकता से परिवार का एक जगह मिलना कठिन हो गया है। उसके पति दफ़्तर से आने के पश्चात् अपनी मोटर में अपने मित्रों से मिलने चले जाते हैं। मेरे पास भी अपनी मोटर है और मैं भी अपने मित्रों और सहेलियों से मिलने चली जाती हूँ। मेरे पुत्र और पुत्रियों के पास भी अलग अलग अपनी मोटरें हैं। इसलिए वे भी सब अलग अलग चले जाते हैं। प्रत्येक दिन किसी-न-किसी को खाने का निमन्त्रण रहता है। इसलिए खाने की मेज़ पर भी सब कभी एकत्रित नहीं होते। परिणाम यह हुआ है कि मोटरों की अधिकता के कारण उनका पारिवारिक जीवन नीरस और छिन्न-भिन्न हो गया है।

—डा० प्रफुल्लचन्द्र घोष

रेल की दुर्घटना

परसों की बात है। हैदराबाद में परसों का अर्थ बरसों भी होता है। इस घटना को हुए अब कुछ वर्ष हो चुके हैं।

हमारे साथ के मकान में वेंकटेश अय्यर रहते हैं। गत वर्ष मद्रास में उनका विवाह हुआ था। वेंकटेश बिचले क़द के हैं। आँखों पर ऐनक लगी हुई है। किसी दफ्तर में कार्य करते हैं। हँसमुख हैं। उनकी पत्नी का क़द कुछ ठिगना है। उनकी आँखों पर भी ऐनक लगी हुई है। वेंकटेश के घर में दोस्तों का तांता लगा रहता है। रात में काफ़ी देर तक ब्रिज का खेल चलता है। दोस्तों के कहकहे देर तक रात को सुनाई देते रहते हैं।

वेंकटेश के श्वसुर मद्रास में रहते थे। उनकी एक होटल अच्छी चलती है। इस होटल से उन्होंने लाखों रुपया कमाया। अपनी बेटी का विवाह बड़ी धूमधाम से किया—पहली बेटी का विवाह। एक तो रुपया पास और दूसरा घर में यह पहला विवाह था। इसलिए उन्होंने खूब दिल खोल कर खर्च किया। विवाह को हुए अभी पूरा वर्ष भी नहीं हुआ था कि दसहरा आ गया। तमिलनाड में दसहरे का त्योहार धूमधाम से मनाया जाता है। नव रातों में घरों को खूब सजाया जाता है। प्रत्येक घर में गुड़ियों और खिलौनों को सजा कर रखा जाता है। इस सजावट में अनेक प्रकार के प्रदर्शन किए जाते हैं। इस अवसर पर एक दूसरे के घर पर मिलने को, पधारने के लिए महिलाएँ पास-पड़ोस सम्बन्धी और इष्टमित्रों को निमन्त्रण देने के लिए जाती हैं और इन निमन्त्रणों को स्वीकार कर जो लोग घरों पर पधारते हैं, उनका नारियल, केला और पान सुपारी आदि से सम्मान किया जाता है।

वेंकटेश अय्यर के विवाह के बाद यह प्रथम दसहरा था; इसलिए उनके श्वसुर महोदय ने हैदराबाद आने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी लड़की के घर को दसहरे के समय सजाने के लिए लगभग एक हजार रुपए के खिलौनों, गुड़ियों और विविध प्रकार की प्रदर्शन के योग्य नई वस्तुओं को ख़रीदा। इन्हें एक सुन्दर पैकेट में उन्होंने हवाई जहाज़ द्वारा अपने साथ ले जाने के लिए बँधवा लिया। हवाई जहाज़ से इनका किराया इतना अधिक पड़ा कि उससे और भी बहुत-से खिलौने ख़रीदे जा सकते थे। इस सब सामान को लेकर वे बहुत उत्साह और उमंगों भरे हृदय से हैदराबाद के लिए चल पड़े। यद्यपि हवाई जहाज़ से मद्रास से हैदराबाद, लगभग दो घंटे का समय लगता है, तो भी उन्हें यह समय बहुत अधिक लगा क्योंकि वे अपनी लड़की के पास जल्दी-से-जल्दी पहुँच जाना चाहते थे और जल्दी में थोड़ा समय भी बहुत अधिक प्रतीत होता है। हवाई जहाज की यात्रा वैसे भी कुछ सूखी-सी होती है। कानों में हवाई जहाज़ के इंजन की घर्र घर्र आवाज़ गूँजती रहती है। हवाई जहाज़ ज्यों-ज्यों ऊपर उड़ता जाता है, त्यों-त्यों आकाश में बादलों के सिवाय अन्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता और पृथ्वी भी इतनी दूर हो जाती है कि उसकी शस्य-श्यामलता, एक स्वप्न के समान ही प्रतीत होने लगती है। आकाश में उड़ कर मनुष्य को इस बात का अनुभव होता है कि उसे धरती से कितनी अधिक मुहब्बत और ममता है। ज्यों-त्यों करके यह समय कटा और वे हैदराबाद के बेगमपेट के हवाई अड्डे पर उतरे। बेगमपेट का हवापोर्ट काफ़ी बड़ा और विस्तृत है। उन्हें लेने के लिए हवाई जहाज़ के पोर्ट पर वेंकटेश अपनी पत्नी के साथ किराए की मोटर करके आए हुए थे। श्वसुर ने हवापोर्ट पर जब अपनी लड़की और दामाद को देखा तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। हवापोर्ट से वे सीधे घर पर आए। सारा घर प्रसन्नता से भर गया। खिलौने और गुड़ियाँ इतने प्रकार की थीं कि देखते ही बनता था। घर को सजाया गया और उसमें इन गुड़ियों और खिलौनों को ऐसी व्यवस्था के साथ सजाया गया कि जो कोई इस प्रदर्शन को देखता था, वह कहता था कि सारे हैदराबाद में इस दसहरे पर गुड़ियों और खिलौनों का ऐसा आयोजन और प्रदर्शन कहीं नहीं हुआ—जैसा कि श्री वेंकटेश के घर में। यह पहला ही दसहरा था जब कि उसके घर में इतनी धूमधाम हुई थी। आख़िर दसहरा समाप्त हुआ और उसके साथ गुड़ियों का यह खेल भी समाप्त हुआ।

वेंकटेश के श्वसुर ने मद्रास वापस जाने का निर्णय किया। लड़की ने बहुत अनुरोध किया कि वे अभी कुछ दिन और दीवाली तक उनके पास हैदराबाद में ही रहें परन्तु मद्रास में उनके कार्य को देखते हुए वे जितने दिन अपनी लड़की के घर में ठहर गए थे, वे ही बहुत अधिक थे। इस बार उन्होंने हैदराबाद से मद्रास रेल-मार्ग से जाने की सोची और वे रात की एक्सप्रेस से हैदराबाद से चल पड़े। जिस दिन वे हैदराबाद से चले, उस दिन से कुछ दिन पूर्व से ही हैदराबाद में वर्षा पड़ रही थी और पानी का पड़ना अच्छा नहीं प्रतीत हो रहा था। उस दिन उस गाड़ी से यात्रा करने वालों में किसी को क्या पता था कि आज की यह रेल-यात्रा अत्यन्त भयंकर होगी। यदि किसी भी यात्री को इसका ज़रा-सा भी आभास प्राप्त हो जाता तो उस दिन एक भी यात्री उस गाड़ी से यात्रा न करता परन्तु भावी को कौन टाल सकता है? वैसे तो जीवन में प्रतिदिन ही कोई-न-कोई घटना घटित होती ही रहती है—तो भी विश्व में ऐसी घटनाएँ कभी-कभी ही होती हैं, जो सब का ध्यान एकदम अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।

उस दिन की रात की रेल की दुर्घटना का कौन वर्णन कर सकता है? हैदराबाद से पचास मील दूर यशवन्तपुर एक नदी है। नदी क्या है, एक नाला है। उस रात नाले में जल की बाढ़ आई हुई थी। कहते हैं कि एक बाँध नदी से ऊपरी की ओर वर्षा के पानी से टूट गया था और उसका पानी भी तेज़ी से इस नदी की ओर बह रहा था। अँधेरी रात में जब रेलगाड़ी पूरी गति के साथ नदी के इस पुल पर से गुजर—पानी के वेग से पुल के एक थम्भे ने जवाब दे दिया। इंजन तो कूद कर पार निकल गया—पास का डब्बा भी रेल की पटरी से उतर कर किसी तरह तिरछा हो कर किनारे के पास ठहर गया और आखिर के डब्बे भी किसी प्रकार बच गए परन्तु बीच के सब डब्बे पानी में जा गिरे और अन्धकारपूर्ण रात्रि में पानी ने सैकड़ों यात्रियों को जल-समाधि प्रदान की। अगले दिन जब यह समाचार हैदराबाद निवासियों को मिला और लोग वहाँ मोटरों द्वारा गए, उस समय जो भयानक दृश्य उन्होंने देखे, वे सदा उनकी स्मृति में अंकित रहेंगे। किसी का बिस्तरा बहता हुआ किसी पेड़ से अटका है; किसी का कटा हुआ हाथ पड़ा है; किसी का सारा शरीर रेत में गड़ा हुआ है—केवल ऊपर बाल दिखाई दे रहे हैं। किसी का सामान बिखरा पड़ा हुआ है; कोई छोटा बच्चा बहता हुआ किनारे आ लगा है और वह पैरों में जुराबों के साथ-छोटे-छोटे बूट पहने हुए है, कोई एक अप्रत्याशित रूप में पड़ा है और दूसरा किसी और अनपेक्षित रूप में। छोटा-सा नाला केवल एक रात्रि में इतना बढ़ कर ऐसा प्रलय मचा देगा और फिर शीघ्रता से सूख जाएगा, इसकी कौन कल्पना कर सकता था! कवियों की अतिशयोक्ति हास्य को उत्पन्न करती है परन्तु प्रकृति की—जल, वायु और अग्नि आदि की अतिशयता सदा दुःखमय और करुणा-जनक स्थिति को उत्पन्न करती है। जिस प्रकार जीवन के रूप असंख्य हैं, उसी प्रकार मृत्यु के रूप भी असंख्य हैं। जिसकी मृत्यु जिस रूप में होनी होती है, उसी रूप में होती है। भाग्य के कुछ ऐसे ही खेल होते हैं। जीव लाचार स्थिति में उत्पन्न होता है और अन्त में फिर उसी प्रकार लाचार हो कर इस संसार से चला जाता है।

शवों को एकत्रित किया जा रहा था और हस्पताल आदि स्थानों में पहुँचाया जा रहा था। जिन जिन घरों से कोई व्यक्ति उस रात्रि को यात्री बन कर गया था, उसके शव की खोज हो रही थी। पानी और मट्टी ने शवों की कुछ ऐसी अवस्था कर दी थी कि प्रति दिन के जानने वाले लोग, मृत व्यक्ति को, हज़ार कोशिशें करने पर भी पहचान नहीं पा रहे थे। जिनका शव पहचाना जाता था, उन्हें अपने घर ले जाया जाता था और उनकी अन्तिम क्रिया कर दी जाती थी। कई दिनों की खोज के पश्चात् भी कइयों के शव का तो कहीं पता ही न चल सका।

वेंकटेश, अपनी पत्नी और इष्ट सम्बन्धियों के साथ तीन दिन तक अपने श्वसुर के शव को ढूँढ़ता रहा। बड़ी कठिनाई से उसके श्वसुर को पहचाना जा सका। उनका मुख मट्टी जैसा काला पड़ गया था। चोट लगने से उनका सिर फट गया था।

उसी कमरे में जहाँ खिलौने और गुड़ियों को सजाया गया था—आज उनका शव पड़ा हुआ था। लोग जिस प्रकार नव रात्रों में गुड़ियों और खिलौनों को देखने के लिए आ रहे थे, उसी प्रकार उस शव को देखने के लिए आ रहे थे। गुड़ियों और खिलौनों को देख कर मनुष्य हँसता और प्रसन्न होता है—जब कि वे शव को देखकर रो उठते थे। उस दिन उस शव

को देख कर यह अनुभव होता था कि जीव से बड़ा भाग्य का और खिलौना कौन-सा है ?

जहाँ चार दिन पहले प्रसन्नता के चहचहे और कहकहे थे, आज वहाँ शोक, मातम रोना-धोना हो रहा था। सिसकियाँ बँधी हुई थी। रोने का तार नहीं टूटता था।

वेंकटेश ने अन्तिम क्रिया करने के लिए मद्रास तार दिया। सारी रात शव घर में पड़ा रहा और रोना चलता रहा। पास-पड़ौस के लोग, इष्ट-बन्धु-बान्धव और सगे सम्बन्धियों का आना जाना होता रहा। अगले दिन प्रातःकाल हवाई जहाज़ से वेंकटेश की पत्नी के दो भाई आए। दुपहर को कहीं दो बजे उनके शव को श्मशान ले जाया जा सका। शव में दुर्गन्ध बढ़ती जा रही थी। शरीर जगह-जगह से फटता जाता था। शव के साथ कुछ लोग श्मशान तक गए और वहाँ वेदमन्त्र आदि पढ़ कर उनका अन्तिम संस्कार किया गया। अगले ही दिन परिवार के सब लोग मद्रास के लिए प्रस्थान कर गए।

एक पखवाड़े के पश्चात्। वेंकटेश और उनकी पत्नी मद्रास से वापस आ गए थे। निश्चय ही रोने-धोने का जो वातावरण हैदराबाद में था, वह मद्रास में कैसे हो सकता था। मनुष्य का प्रतिदिन का कार्य उसे इन दुःखों से दूर हटा कर व्यस्त कर देता है और यही अपने कार्य में विस्मृति उसे यह भी अनुभव नहीं होने देती कि न जाने किस समय उसकी महायात्रा का वारंट आ पहुँचता है। कार्य, कार्य, कार्य...अगर मनुष्य कार्य नहीं करेगा तो क्या प्रतिदिन इन दुःखप्रद और भयानक घटनाओं का स्मरण करता रहेगा। लोग इन घटनाओं को अन्य साधनों से भी भूलने का प्रयत्न करते हैं। भयानक और दुःखप्रद घटना को न बहुत समय तक देखा जा सकता है, न सुना जा सकता है और न ही स्मरण रखा जा सकता है। मानों वह वस्तु न देखने योग्य है, न सुनने और न स्मरण रखने योग्य। मनुष्य जीवन के प्रवाह में मृत्यु को भूल जाना चाहता है पर मृत्यु उसको कब भूलती है। वह तो सदा उसके साथ-साथ छाया की भाँति लगी रहती है।

वेंकटेश के घर में आज रेडियो से गाने चलते रहते हैं। उसी कमरे में जहाँ पहले दसहरे के दिनों में गुड़ियों और खिलौनों को रखा गया था पुनः वेंकटेश की मित्र-मण्डली एकत्रित होने लगी है और वहाँ रातों में ब्रिज का खेल खेला जाने लगा है। रात्रि के निस्तब्ध सन्नाटे में कभी-कभी उनके कहकहों की आवाज़ अब फिर दूर-दूर तक सुनाई देती रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन ही एकमात्र बुलबुले के समान नहीं है—ये भयंकर घटनाएँ भी जैसे बुलबुलों के समान ही हैं। जैसे जीवन का अस्तित्व क्षणभर में मिट जाता है, उसी प्रकार ये भयानक घटनाएँ भी जीवन के प्रवाह में बह जाती हैं और जीवन सदा उसी प्रकार निर्बाध गति से प्रवाहित होता रहता है।

अगले वर्ष दसहरे के अवसर पर नव रात्रों में फिर उन्हीं गुड़ियों और खिलौनों को सजाया जाएगा, जिन्हें कि श्री वेंकटेश के श्वसुर मद्रास से हवाई जहाज़ में लाए थे और इन्हें फिर उसी प्रकार पास-पड़ौस के लोग, सम्बन्धी और इष्ट-मित्र देखने के लिए उसी कमरे में आएँगे।

४५१, हिमायतनगर,
हार्डिकर बाग़, हैदराबाद

—वंशीधर विद्यालंकार

शत्रु और मित्र

एक दिन एक मनुष्य अपने शत्रुओं को ढूँढने निकला। उसे संसार में एक भी मित्र नहीं मिला।

एक दिन एक मनुष्य अपने मित्रों को ढूँढने निकला। उसे संसार में एक भी शत्रु नहीं मिला।

—"इंगलिश डाजेस्ट" से

घूम रॉक

दार्जीलिंग की एक लोक कथा

दार्जीलिंग में एक अत्यन्त रमणीक पिकनिक स्थल है—घूम रॉक (Ghum Rock)। ७,४०७ फ़ीट की ऊँचाई पर स्थित घूम, रेलवे स्टेशन से चार मील दूर, पश्चिम की ओर नेपाल की सीमा की ओर जानेवाली सड़क पर यह मनोहर स्थल पड़ता है। लगभग १०० फ़ीट ऊँची, चारों ओर लुभावने दृश्यों से युक्त यह चट्टान कुछ ऐसी आकृति की है कि लगता है पहाड़ में से एक टुकड़ा काट कर अलग फेंक दिया गया हो। इसके शिखर से, बलसुन (Balasun) घाटी और नेपाल की झाँकी मिलती है। चोटी पर पाँच अलग अलग चट्टानें हैं—एक दूसरे से कटी हुई-सी पर पास पास और किनारे पर एक खुरदुरी पथरीली दीवार-सी बनी है। कहा जाता है, ब्रिटिश शासन के पहले जब यहाँ पर जंगली जातियों का राज्य था, अपराधियों को दण्ड देने के लिए इसी चट्टान से नीचे पटक दिया जाता था। घूम रॉक के नीचे, बाँई ओर एक पगडण्डी है, जो घुमावदार रास्ते से ऊपर तक पहुँचती है। इस चट्टान के नीचे, और बहुत-सी छोटी मोटी चट्टानें हैं। कहते हैं, पहले यह चट्टान, कांचनजंघा पर्वत का ही एक भाग थी। अपनी दो चोटियों से युक्त कांचनजंघा की सुन्दर झलक, दार्जीलिंग से दिखाई पड़ती हैं। कांचनजंघा से सम्बन्धित इस चट्टान के जन्म का इतिहास, वहाँ प्रचलित एक लोक कथा में इस प्रकार वर्णित हैं।

पाँच चोटियों वाले कांचनजंघा पर्वत की प्रत्येक चोटी, अपार धन राशि से भरी थी। ये चोटियाँ पाँच दानवों से रक्षित थीं। छोटे दानवों ने, बड़े दानवों से, असन्तुष्ट होकर, गुप्त मन्त्रणा की और सबसे क़ीमती खज़ाना ले जाने का निश्चय किया। ये पाँच संरक्षक थे—सबसे बड़ा बाघ (Uger Lion), दूसरा था शेर (Lew), और बाक़ी तीनों थे हाथी, घोड़ा और गरुड़ या Roc bird। जिस चोटी के नीचे सबसे क़ीमती खज़ाना गड़ा था, उसका पता केवल सबसे बड़े दानव को ही था। हाथी, घोड़ा और गरुड़ ने इस क़ीमती खज़ाने को ले जाने के लिए षड्यन्त्र रचा। किसी प्रकार Mount Everest के अधिकारी दानव को इस षड़यन्त्र का पता लग गया और उसने एक भयंकर तूफ़ान और भूकम्प पैदा कर दिया। परिणाम स्वरूप कांचनजंघा का एक भारी अंश टूट कर अलग हो गया।

उसी रात, ये तीनों षड्यन्त्रकारी, गुप्त रूप से फिर मिले। हाथी ने बताया कि तूफ़ान में उसकी चोटी टूट गई है और सम्भवतः उसमें ही सबसे बड़ा खज़ाना था। उसने सलाह दी कि इसी चोटी को ले चलें। हाथी ने अपनी शक्ति पर, घोड़े ने अपने पैरों पर, गरुड़ (Roc-bird) ने अपने पंखों पर, गर्व प्रकट किया और तीनों ने तय किया कि टूटी हुई चोटी को ले चलें और नई राजधानी बनाएँ। गरुड़ (Roc bird) ने चोटी उठाई, हाथी ने सहारा दिया और घोड़े ने उसे घसीटना शुरू किया। इस प्रकार घोर रात्रि में वे तीनों, चोटी को अन्धकार में ले चले। कुछ देर बाद, तीनों कहने लगे कि काम का बोझ एक पर ही पड़ रहा है। प्रत्येक ने कहना आरम्भ किया कि दूसरे मदद नहीं दे रहे थे। हाथी ने जताया कि सारा बौझ वही ढो रहा है, घोड़े ने भार वहन का श्रेय अपने ही ऊपर लेने का प्रयत्न किया, गरुड़ (Rock bird) ने कहना शुरू किया कि वही सारे बोझ को उठाए था। धीरे धीरे, बात बढ़ी और उनमें झगड़ा हो गया। इतनी गरमागरम बहस हुई कि चोटी छूट कर नीचे गिर पड़ी। जिस स्थान पर यह चोटी गिर कर आई. वही प्रसिद्ध घूम रॉक (Ghum Rock) है।

घूम रॉक (Ghum Rock) के समान ही, यह लोककथा भी अत्यन्त आकर्षक और रोचक है।

—कुमारी दुर्गा मेहरोत्रा

१७-बी, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

गीत गोविन्दकार : पं. जयदेव का वसन्त-वर्णन

वसन्त ऋतु हमारे पवित्र भारत भू पर उतर रही है, हमें उसका स्वागत करना चाहिए। किस प्रकार ? हमारे देश की प्रथा रही है अतिथि का फूलों से स्वागत करने की, पर यह तो स्वयं कुसुमाकर है। दूसरी प्रथा है उसके स्वागत में उसको अभिनन्दन पत्र भेंट करना।

तो हम अपने संस्कृत-कवि पं. जयदेव विरचित प्रसिद्ध गीति-काव्य गीतगोविन्द का आश्रय लेते हैं। उन्हीं के भावों में उसकी आभा, उसके प्रभाव का वर्णन करते हैं। इसमें श्रृंगार रसकी इतनी अति कर दी है कि आज का समाजवादी युग इस प्रकार की रचनाओं को उपयोगी स्वीकार न भी करे, तो भी गोपी-जन-वल्लभ श्रीकृष्ण की लीलाओं के अनुरूप और रसिक संस्कृत-कवियों की मानसिक तृप्ति का साधन और आलंकारिक चमत्कार तो इन्हें माना ही जायगा। कुसुमाकर के प्रभाव की यथार्थता का चित्रण उसके स्वागतार्थ किया ही जायगा।

एक वसन्त काल में, मदन-बाणाहत श्रीकृष्ण के दर्शनों को स्वयं राधा भी अनंग-पीडित हो कर पुष्पों भरे उपवन में पहुँची। उस समय एक सहचरी ने देखा कि राधा की व्यथित दशा तो सरसता से यूं बोली---कटे पर नमक के समान लगी वह बोली :

अयि सखि, इस सरस वसन्त में कोमल लवंग-लताओं को ललकते हुए इस मन्द और ठण्डे-ठण्डे मलय-समीर में, भ्रमर-समूहों से गुंजायमान और काली कोयलों से कूजित उस कुञ्ज कुटीर में कृष्ण विहार कर रहा है, वह तो युवति-जनों में रास कर रहा है ! हाय, कितना दुःखदायी है यह वसन्त विरही-जनों के लिए !

इस ऋतु में उन्मादक मदन के मनोरथ पूर्ण न होने पर पथिक-वधुएँ विलाप किया करती हैं। और बकुल पर जब भँवरों का दल आ जमा होता है तो फूल कलाप कर उठता है।

मृगमद सौरभ अर्थात् कस्तूरी की सुगन्धि समान सुरभि धारण करने वाले नवदली तमालवृक्षों से घिरे कुंज सुगन्धित हो रहे हैं। और किंशुक-समूह की तिरछी चोंचें ऐसे लग रही हैं जैसे काम देव ने युवकों के हृदय विदीर्ण करने के लिए अपने नाखून बढ़ा लिए हों।

कहीं-कहीं केसर के पीले पीले फूल क्या खिल रहे हैं मानो मदनराज ने स्वर्णच्छत्र धारण कर रखा हो और इन पाटली फूलों पर गुंजार करने वाले भँवरों का गुंजन ऐसे लग रहा है जैसे कामदेव के बाणों के छूटने का शब्द हो।

हे सखी, इस वसन्त को देख कर सारा जगत् विलज्जित लग रहा है, इसी कारण ये फूल भी फूलने के व्याज से हँसी ही कर रहे हैं। और देख तो सही ये भाले के सदृश तीखे केतकी के फूल विरही जनों के दिलों को कितना बींध रहे हैं !

यह वसन्त काल चमेली के परिणाम से ललित और नव मल्लिका के फूलों से सुगन्धित हो रहा है। मुनियों तक के मन को मोह लेता है; तरुण-तरुणियों का अकारण बन्धु बना हुआ है।

अब तो आम्र वृक्ष भी स्फुरण शील और छितराई हुई चमेली लता से आवेष्टित होकर सुन्दर हो रहा है, यमुना-जल पवित्र हो रहा है, यह देख कर लगता है कृष्ण यमुना में अवगाहन कर अब वृन्दावन के किसी कुञ्ज में युवतिजनों से रास कर रहे होंगे।

कवि इस प्रकार वसन्त की आभा का वर्णन कर अब वसन्त-प्रभावित कुञ्ज की शोभा और विरहणी की वेदना का वर्णन करता है।

सखी राधा से कह रही है :

सखि राधे, खिले पत्तोंवाली मल्लिका लता पर पड़ी हुई सुगन्धित धूलि को साथ ले कर और कहीं-कहीं केतकी की गन्ध को लेकर बहते हुए इस पवन से काम-बाणों से विद्ध विरहियों के हृदय-सम्मान हमारे हृदय बिंध जाते हैं—दग्ध हुए जाते हैं।

खिले हुए पुष्प के मधुर रस के लोभी भँवरों और मधुमक्खियों द्वारा कम्पाए जाते हुए आम के बूर पर खेलती हुई कोयल जो कुहू-कुहू कर उठती है उससे विरही पथिकों के कानों में चुभन हो-हो उठती है, ऐसे समय उन्हें अपनी प्राण-प्रिया की याद क्षणिक ही तो उल्लास दे पाती है, बाक़ी समय तो जैसे-तैसे क्लेश में

ही बीतता है ।

एक अन्य स्थान पर सुन्दर कल्पना की गई है ।

हे राधे ! आज वसन्त रूप में जो यह मलयानिल हिमालय की ओर बढ़ा जा रहा है, जानती हो क्यों ? साँप वायु का भक्षण करते हैं न; इसी डर से यह बर्फ़ में अपने को छिपाने जा रहा है, कोयल का मधु स्वर आम्र के कोमल पत्तों को देख कर आनन्द में और ऊँचा उठ रहा है ।

ऐसी ऋतु में विरहिणी राधा को जब कृष्ण ने देखा तो उन्होंने उससे रास क्रीड़ा कर उसके विरहानल को शान्त कर दिया ।

विमलकुटीर, १-बी/२२,
लाजपतनगर, नई दिल्ली १४

—श्याम विमल शास्त्री

वार्तालाप के सुवर्ण-नियम

डिजराइलि कहता है : "यदि आप किसी मनुष्य से उसी के सम्बन्ध में बातचीत करें तो वह घण्टों आपकी बातें सुनता रहेगा ।" वर्तालाप के लिए यह एक सुवर्ण-नियम है ।

रूज़वैल्ट का भी वार्तालाप की कला के सम्बन्ध में इसी प्रकार का नियम है : "हमें एक मनुष्य से उन वस्तुओं के सम्बन्ध में बातें करनी चाहिएँ जिनका कि वह सबसे अधिक मूल्य करता है ।"

डेल कार्नेगी ने एक ऐसे नवयुवक के विषय में लिखा है जो नावों में बहुत दिलचस्पी लेता था । एक दिन वह अपनी चाची के घर ठहरा हुआ था । एक संभ्रान्त व्यक्ति आया और वह उस नवयुवक से बड़े उत्साह के साथ बहुत देर तक नावों के सम्बन्ध में वार्तालाप करता रहा । जब वह चला गया तब नवयुवक ने अपनी चाची से कहा : "कैसा अच्छा आदमी है ।" वह नावों में कितनी दिलचस्पी रखता है । उसकी चाची ने कहा : "यह व्यक्ति एक वकील है, और उसे नावों में किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं है ।" नवयुवक ने पूछा : "तो वह इतनी देर तक मुझ से नावों के विषय में ही क्यों बातचीत करता रहा ?"

उसकी चाची ने उत्तर दिया : "क्योंकि वह एक सज्जन और भद्र पुरुष है । उसने देखा कि तुम नावों में बहुत दिलचस्पी रखते हो । इस कारण वह उन्हीं वस्तुओं के विषय में वार्तालाप करता रहा—जिसमें तुम्हारी दिलचस्पी है और जिनसे कि तुम्हारे मन को प्रसन्नता प्राप्त होती है ।"

—"साइकौलोजिस्ट मेगज़ीन" से

दो अमर बलिदानी महापुरुष

दिल्ली बलिदानों की नगरी है। इसके गर्वीले इतिहास के सुनहरी पन्नों और पुरातत्व के पुराने स्मारकों पर उन बलिदानों की अमर कहानी अंकित है। महाभारत के समय से आज तक का जो लम्बा इतिहास इसके साथ जुड़ा हुआ है वह ज्ञात, अज्ञात वीर पुरुषों और महापुरुषों की शहादत से रंगा हुआ है। आधुनिक युग में वर्तमान पीढ़ी की आँखों के सामने भी वैसे ही दो महान् बलिदान हो गए। उनका नैतिक सबक़ हमारे सामने सदा ही बना रहना चाहिए।

ये दोनों बलिदानी महापुरुष अपने समय और अपने क्षेत्र में अपना ही स्थान रखते थे। १९२० सन् हमारे देश के इतिहास में संक्रमण का वर्ष कहा जा सकता है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों पर उस संक्रमण का अद्भुत प्रभाव पड़ा। महात्मा गांधी का अभ्युदय अद्भुत ढंग से उस बालरवि के समान हुआ जिसके प्रकाश में बाक़ी सब प्रकाश समा गए और वे एक छत्र नेता के रूप में सारे देश पर छा गए। उनके अद्भुत तेज और अलौकिक वर्चस्व से देश का कोना-कोना व्याप गया। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने सार्वजनिक जीवन में आर्य समाज के द्वारा प्रवेश किया था। वे जीवन भर आर्य समाज के एक छत्र-नेता बने रहे। उनका तेज और वर्चस्व आर्य जगत पर छाया रहा। १९०३ के लगभग उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में तब गुरुकुल के रूप में एक स्वतन्त्र परीक्षण का सूत्रपात किया था, जब देश की राजनीति नई करवट ले रही थी और स्वदेशी के साथ-साथ स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता सबसे अधिक अनुभव की जा रही थी। एक मत से यह स्वीकार किया गया है कि १८३४ में लार्ड मेकाले द्वारा प्रारम्भ की गई अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध सक्रिय विद्रोह के रूप में जो पहला क़दम उठाया गया था वह गुरुकुल की स्थापना था। यह गुरुकुल ही वह संगम था, जिस पर स्वामी जी और गांधी जी के रूप में गंगा और यमुना का मिलन हुआ था। दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के लिए गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने भोजन में कमी और मेहनत मज़दूरी करके पन्द्रह सौ रुपया जमा किए थे। राजर्षि गोखले की मार्फ़त वह धनराशि गांधी जी को भेजी गई थी। तब २१ अक्तूबर, १९१४ को फ़ोनिक्स आश्रम से गांधी जी ने निम्न पत्र स्वामी जी को भेजा था :

प्रिय महात्मा जी,

मि० एंड्रूज़ ने आपके नाम और काम का परिचय मुझको दिया है। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मैं किसी अजनबी को पत्र नहीं लिख रहा हूँ। इसलिए आशा है कि आप मुझे आपको 'महात्मा' जी लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और मि० एंड्रूज़ आपकी और आपके काम की चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। मि० एंड्रूज़ ने मुझ को यह भी बताया है कि आप, गुरुदेव और मि० रुद्र से किस प्रकार प्रभावान्वित हुए हैं, आपके शिष्यों ने सत्याग्रहियों के लिए जो काम किया है, उसका वर्णन भी उन्होंने मुझ से किया है। गुरुकुल के जीवन का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उससे मैं यह पत्र लिखते हुए अपने को गुरुकुल में ही बैठा हुआ समझता हूँ। निस्सन्देह उन्होंने मुझे तीनों संस्थाओं को देखने के लिए अधीर बना दिया है और मैं उन संस्थाओं के संचालकों, भारत के तीनों सपूतों, के प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूँ।

आपका
मोहनदास के. गांधी

दोनों महापुरुषों के परस्पर परिचित होने का सूचक यह पहला पत्र है। इसके बाद यह परिचय उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया और दोनों में भाइयों का सा सम्बन्ध क़ायम हो गया। साबरमती में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना के पहले गांधी जी के फ़ोनिक्स आश्रम के विद्यार्थी गुरुकुल में आकर रहे थे और दक्षिण आफ्रिका से लौटने पर गांधी जी १९१५ में एकाएक बिना किसी पूर्व सूचना के गुरुकुल पधारे थे। तब हरिद्वार और कनखल के बीच गुरुकुल की अपनी वाटिका मायापुर में महाकुम्भ के अवसर पर ८ अप्रैल १९१५ को गांधी जी

के अभिनन्दन का भव्य आयोजन गुरुकुल की ओर से किया गया था।

वह आयोजन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक ही था कि उसमें दिए गए अभिनन्दन पत्र में पहली बार गांधी जी के लिए "महात्मा" शब्द का प्रयोग किया गया था। गुरुकुल के महात्मा जी बाद में सारे देश और सारे विश्व के महात्मा जी बन गए। गुरुकुल की स्थापना के कारण स्वामी जी को पहले ही से महात्मा कहा जाता था। इस अवसर पर महात्मा जी ने जो भाषण दिया था वह भी दोनों महात्माओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है। महात्मा जी ने कहा था कि, "मैं हरिद्वार केवल महात्मा जी के दर्शन के लिए आया हूँ। मैं उनके प्रेम के लिए कृतज्ञ हूँ, मि० एण्ड्रूज़ ने मुझको भारत में अवश्य मिलने योग्य जिन तीन महापुरुषों का नाम बताया था, उनमें महात्मा जी एक हैं। ब्रह्मचारियों की दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के लिए की गई सहायता के लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ, उन्होंने फ़ोनिक्स के विद्यार्थियों के प्रति जो प्रेम दिखाया है, उसको मैं कभी नहीं भूलूँगा, मुझे अभिमान है कि महात्मा जी मुझे भाई कह कर पुकारते हैं।

इसके बाद महात्मा जी गुरुकुल के वार्षिकोत्सवों पर कई बार पधारे और स्वामी जी के बलिदान के बाद गुरुकुल के रजत-जयन्ती उत्सव पर भी पधारे थे। एक उत्सव पर गांधी जी ने कहा था कि "महात्मा जी मेरे बड़े भाई हैं। जब मैं विदेश में था तब मेरे लड़के यहाँ रहे थे। महात्मा जी उनके पिता और ब्रह्मचारी उनके भाई हैं। अब भी मेरे लड़के मुझे महात्मा जी के पितृवत् व्यवहार और ब्रह्मचारियों के भ्रातृवत् व्यवहार के विषय में प्रायः कहा करते हैं। मैंने देखा है कि आर्यों में स्वार्थ त्याग, शिक्षा और भारत के हित का भाव है। मैं उनका सत्संग करना चाहता हूँ।"

स्वामी जी और गांधी जी में इस प्रकार जो स्नेह सम्बन्ध क़ायम हुआ, उसी के कारण स्वामी जी गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन की ओर आकर्षित हुए थे और उन्होंने उसके लिए गुरुकुल के काम को भी छोड़ दिया था। गुरुकुल की प्रबन्ध सभा के प्रधान को गुरुकुल छोड़ते हुए आपने २५ सितम्बर १९२० को एक पत्र में लिखा था कि "इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि का भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृत-कार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन मृत्यु का प्रश्न है। इसलिए मैं इस काम में शीघ्र ही लग जाऊँगा।"

स्वामी जी गुरुकुल से आकर दिल्ली में सत्याग्रह और असहयोग के आन्दोलन को सफल बनाने में लग गए। स्वामी जी का प्रस्ताव यह था कि कुछ जिले लगान बन्दी का सत्याग्रह करने के लिए तैयार किए जाने चाहिएँ। पंजाब में कुछ जिले तैयार करने की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेने के लिए उन्होंने गांधी जी को एक पत्र भी लिखा था। दिल्ली में सत्याग्रह आन्दोलन के संचालन, रामराज्य की स्थापना, हिन्दू-मुस्लिम एकता के अपूर्व दृश्य घंटाघर के नीचे गोरखों की नंगी क्रिचों के सामने हजारों के जलूस का नेतृत्व करते हुए छाती तान कर खड़े होना और ऐतिहासिक जामा मसजिद के मिम्बर पर से भाषण देना कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिनको दिल्लीवासी कभी भी भूल नहीं सकते। फ़ौजी शासन से आहत पंजाब की सुधि लेने के लिए सबसे पहले वहाँ जाना, जलियान वाला बाग़ के नृशंस हत्याकाण्ड सरीखे अत्याचारों को प्रकाश में लाना कांग्रेस की ओर से जाँच समिति का नियुक्त करवाना और अमृतसर में कांग्रेस के अधिवेशन को सफल बनाना, और गुरु का बाग़ के सिक्खों के सत्याग्रह के सिलसिले में जेल जाना आदि कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जो कभी भी भुलाई नहीं जा सकती। केवल गांधीजी का समर्थन करने के लिए ही स्वामी जी कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन तथा नागपुर और अहमदाबाद के अधिवेशनों में सम्मिलित हुए थे।

दोनों महात्मा अथवा महापुरुषों के इस मिलन का निभ न सकना और स्वामी जी का कांग्रेस से अलग हो जाना हमारी दृष्टि में उन दिनों की सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना थी। उस मिलन का सबसे बड़ा सौन्दर्य यह था कि दोनों के महान् जीवन की पृष्ठभूमि वह धार्मिकता अथवा सात्विकता थी, जिसको भारतीय जीवन और संस्कृति का निचोड़ कहा जा सकता है। गांधी जी के राजनीति में सत्य और अहिंसा के प्रयोग का उपहास करने वाले और उसको सन्देह की

दृष्टि से देखने वाले राजनीतिज्ञों की देश में तब कमी न थी। स्वामी जी गांधी जी के आन्दोलन को धर्मयुद्ध कहा करते थे। स्वामी जी का गांधी जी के साथ ऐसा कोई विशेष मतभेद नहीं था। मतभेद उन नेताओं से आरम्भ हुआ था जो राजनीतिक कार्यक्रम में अछूतोद्धार को सम्मिलित नहीं करना चाहते थे। गांधी जी के साथ भी वे इस बात पर सहमत नहीं थे कि सारे देश की अहिंसा और कहीं भी कोई हिंसा काण्ड हो जाने पर उसका दायित्व अपने सिर पर ओढ़ लिया जाए। कांग्रेस से वे तब अलग हुए जब १ करोड़ की तिलक स्वराज्य निधि में से पाँच लाख रुपए अछूतोद्धार के लिए अलग रख देने का उनका प्रस्ताव लखनऊ में १९२२ में कांग्रेस महासमिति के अधिवेशन में स्वीकार नहीं किया गया।

स्वामी जी धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। राजनीतिक दाव पेंच का खेल खेलना वे नहीं जानते थे। उन्होंने वर्षों से अपने को समाज सुधार के रचनात्मक कार्यक्रम में लगाया हुआ था। गुरुकुल की स्थापना का उद्देश्य भी वही कार्यक्रम था। अमृतसर में कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पद से दिए गए अपने संक्षिप्त ओजस्वी भाषण में वही कार्यक्रम उन्होंने उसके सम्मुख उपस्थित किया था। राष्ट्रीय चरित्र निर्माण, ब्रह्मचर्य प्रधान शिक्षा प्रणाली, जात-पाँत के भेदभाव का उन्मूलन, अछूतोद्धार और राष्ट्रभाषा के आसन पर हिन्दी को स्थापित करना आदि उस कार्यक्रम के मुख्य अङ्ग थे। कांग्रेस के मंच पर से सम्भवतः पहली ही बार इस कार्यक्रम की चर्चा की गई थी। गांधी जी ने १९३१ में हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने के अंग्रेज राजनीतिज्ञों के साम्प्रदायिक बटवारे के विरुद्ध आमरण अनशन किया था। स्वामी जी ने अंग्रेज राजनीतिज्ञों की इस चाल के विरुद्ध अपने उस भाषण में एक स्पष्ट चेतावनी दी थी और उनकी उस चाल को विफल बनाने के लिए ही हरिजनों को अपनाने पर जोर दिया था। उनका आग्रह तो यह था कि कांग्रेस जनों को निजी नौकरों के रूप में हरिजनों को ही अपने यहाँ नियुक्त करना चाहिए। जब उन्होंने यह अनुभव किया कि उनका कार्यक्रम कांग्रेस को स्वीकार नहीं हो सकता और तिलक स्वराज्य निधि में से ५ लाख रुपए अछूतोद्धार के लिए नहीं दिए जा सकते तब वे कांग्रेस से अलग हो गए।

इसके बाद जब वे हिन्दू महासभा में गए तब उसके सामने भी उन्होंने अपना यही कार्यक्रम उपस्थित किया। लगातार तीन वर्षों तक वे उसके लिए आग्रह करते रहे। उनके दलितोद्धार, शुद्धि और संगठन का आधार भी यही कार्यक्रम था। उसको स्वीकार न कर हिन्दू महासभा ने जब १९२६ में कांग्रेस के चुनावों में विरोध करने का निश्चय किया, तब वे उससे भी अलग हो गए। उन्होंने अपने त्यागपत्र में लिखा था कि मालवीय जी का यह खयाल है कि समाज सुधार के कार्यक्रम को अपनाने से हिन्दू महासभा टूट जाएगी। मैं केवल समाज सुधार के काम के लिए ही उसमें सम्मिलित हुआ था। कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव लड़ने के लिए उसको कोरी साम्प्रदायिक संस्था बनाने के मैं विरुद्ध हूँ इसलिए उसका साथ मैं नहीं दे सकता। हिन्दू महासभा से अलग होकर और कांग्रेस से भी निराश होकर उन्होंने एक बार फिर आर्य समाज के ही द्वारा अपने कार्यक्रम को पूरा करने का निश्चय किया !

महात्मा गांधी का ध्यान इस अवसर पर एक बार फिर स्वामी जी की ओर आकर्षित हुआ। बेलगांव कांग्रेस के अध्यक्ष के नाते उन्होंने स्वामी जी को उसमें सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित किया और मंच पर अपने पास उनको बिठाया। अपने भाषण में स्वामी जी और गुरुकुल की चर्चा करते हुए उन्होंने कांग्रेस से देहातों में अपने अधिवेशन करने और गुरुकुल के उत्सवों के ढंग पर सारी व्यवस्था करने का अनुरोध किया। यदि दोनों महापुरुषों का यह पुनर्मिलन अथवा भरत-मिलाप निभ जाता तो निश्चय ही वह देश के लिए एक वरदान सिद्ध होता। लेकिन, ये राजनीतिक घटनाएँ जिनको न मिला सकीं उनको उनकी मृत्यु ने मिला दिया। दोनों का बलिदान इस युग की एक अमर कहानी बन गया है। यह भी एक ऐसा संयोग है कि ये दोनों बलिदान राजधानी में ही हुए।

दोनों की यह शहादत अथवा अमर बलिदान एक ऐसी चेतावनी है जो साम्प्रदायिक संकीर्णता और धर्मान्धता के विरुद्ध, हमेशा हमारे सामने बनी रहनी चाहिए। हमारे देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य साम्प्रदायिक संकीर्णता अथवा धर्मान्धता ही है, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, नानक, कबीर, दादू तथा ऐसे ही अन्य अनेक संत पुरुषों के महान् आदर्श और संदेश को हमने

साम्प्रदायिकता अथवा धर्मान्धता की संकीर्णता का शिकार बना डाला और उनकी महानता को हमने भुला दिया। अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने हमारी राजनीतिक चेतना को कुंठित बनाने के लिए इस साम्प्रदायिकता तथा धर्मान्धता को निरन्तर बढ़ावा दिया और उसी का यह दुष्परिणाम हुआ कि हमारे देश और समाज में अब्दुल रशीद और गोड़से सरीखे धर्मान्ध पैदा हुए। इस संकीर्णता तथा धर्मान्धता का सम्बन्ध न धर्म के साथ है, न जाति के साथ और न किसी समाज विशेष के साथ। वह एक ऐसा विष है जो सबको समान रूप से दूषित कर सकता है और जिसका दुष्परिणाम सभी क्षेत्रों में एक-सा होता है। एक मुसलमान के स्वामी जी को और एक हिन्दू के गांधी जी को अपनी गोली का निशाना बनाने का यही नैतिक सबक है जो हमें कभी भी भुलाना नहीं चाहिए। हमारे सार्वजनिक जीवन को खोखला बनाने वाला यह सबसे बड़ा अभिशाप है जिससे हमें यतनपूर्वक बचना ही चाहिए।

—सत्यदेव विद्यालंकार

४०-ए, हनुमान रोड,
नई दिल्ली

दान से समृद्धि

यदि आप के पास एक रुपया हो और मेरे पास भी एक रुपया और आप अपना रुपया मुझे दे दें और मैं आपको अपना तो आपके पास एक रहेगा और मेरे पास भी एक रुपया रहेगा। हमारी स्थिति में कुछ परिवर्तन नहीं होगा।

परन्तु यदि आपके पास एक विचार हो और मेरे पास भी एक विचार और हम इसका एक दूसरे को प्रदान करें तो आपके पास दो विचार हो जाएँगे और मेरे पास भी दो विचार हो जाएँगे। दोनों को लाभ होगा।

हम देने से समृद्ध होते हैं और यदि उसे एक मात्र अपने पास ही रखें तो हम उसे गँवा बैठते हैं।

हमारे पास जो कुछ भी श्रेष्ठतम निधि है यदि हम उसे दूसरों को बाँट देते हैं तो उससे हमें ही शक्ति प्राप्त होती है। एक वृक्ष की जितनी शाखाएँ विस्तृत होती जाती हैं उतनी ही अधिक उसकी जड़ें गहरी होती चली जाती हैं।

आख़िर इस दर्द की दवा क्या है ?

जी हाँ, मैं बीमार हूँ।

"तो दवा क्यों नहीं करते।" आप पूछ रहे हैं। किन्तु मैं आप से पूछता हूँ साहब कि—

"आख़िर इस दर्द की दवा क्या है ?"

यह एक ऐसा दर्द है जो साफ़-सुथरों और संवेदनशीलों को ही अधिक पकड़ता है। जो इस दर्द के प्रति असावधान हैं या जैसे तैसे रह लेने के आदी हैं, उनसे यह दर्द डरता है। बल्कि यों कहिए कि वे लोग स्वयं इस दर्द से दोस्ती गांठ कर दूसरों के लिए दर्द बन जाया करते हैं। यह एक ऐसा दर्द है भाई कि इससे बच कर भाग निकलना हँसी-खेल नहीं। चाहे जिस किसी रास्ते से छिप कर निकलिए, चाहे जिस किसी निभृत कुंज में अपने को छिपाइए, चाहे जिस किसी आकाश-मार्ग से बच निकलने की कोशिश कीजिए, यह दर्द आपको हर अगले मोड़ पर इन्तज़ार करता मिल ही जाएगा। आपको बड़े प्रेम से गले लगा कर कहेगा—बहुत दिनों बाद मिले दोस्त! (यद्यपि वह अभी अभी पिछले मोड़ पर दूसरे रूप में मिल चुका था)। कभी आते जाते नहीं हो। और आप (चूँकि साफ़-सुथरे आदमी हैं) अपने मन की सारी ऐंठन को पीते हुए बड़े संकोच के साथ जवाब देंगे: "क्या कहें दोस्त! इन दिनों पुस्तक ही नहीं—मिलती।" किन्तु दर्द आपको इतनी आसानी से छोड़ने वाला नहीं। वह कहेगा: "अजी कोई बात नहीं जनाब! मैं तो आपका ताबेदार हूँ, जब कहिए ख़िदमत में हाज़िर होऊँ।" आप अपनी निकम्मी भलमनसाहत से दब कर, ओठों पर मुस्कराहट लाने का प्रयत्न करते हुए जवाब देंगे: "आओ भाई घर तो तुम्हारा ही है। जब जी चाहे आओ।"

"अच्छा तो कल सुबह की चाय भाभी के हाथों।"

प्यारी प्यारी सुबह की निर्मम हत्या की कल्पना से आप एक बार सिहर उठेंगे और एक भारी सा 'अच्छा' कह कर अपनी ही सज़ा के आज्ञा-पत्र पर मानो हस्ताक्षर करेंगे। दर्द हँसता हुआ चला जाएगा।

इस दर्द की सत्ता सार्वकालिक और सार्वभौम है। कहीं जासूसों की तरह और कहीं सिविल पुलिस की तरह यह आपको हर चौराहे पर, हर मोड़ पर मिल जाएगा। यह हमेशा बाज़ारों, गलियों मेलों, पुस्तकालयों, विद्यालयों, पार्टियों, बाग़-बग़ीचों का चक्कर लगाया ही करता है। आप कहाँ तक बचिएगा? कहाँ तक भागिएगा? क्षुद्रबुद्धि बीमारों ने इस विराट् सत्ताधारी दर्द के विभिन्न नामकरण करने के प्रयत्न किए हैं किन्तु सभी लोग अन्धों के समान इस महाऐरावत की अंग-सत्ताओं की जानकारी तक ही सीमित रह गए और कोई भी नाम पूर्ण है या कि इस दर्द की सार्वभौम सत्ता का पूर्णतः ज्ञापक है, ऐसा हम नहीं कह सकते। तो भी इन अनेक नामों में से मुझे ज़ायका नाम अधिक व्यंजक प्रतीत होता है। इस शब्द की उत्पत्ति और विकास का वर्णन कर मैं इसकी व्यंजकता नष्ट करने का अपराध नहीं करूँगा। संक्षेप में इतना ही समझ लीजिए कि ये लोग ज़ायका बदल देते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अच्छी चाय पीते-पीते उसमें मक्खी पड़ जाए। या आपकी कविता सुनते-सुनते कोई मुँह से ताल देने लगा या दिव्य बनारसी पान खाने के बाद कोई आपके मुँह में एक बुक चीनी ठूँस दे; या गंगा-स्नान के बाद रास्ते में भैंसा गाड़ी की एक ज़ोरदार झोंक आपकी नाक से टकरा जाए।

प्रकृति सत्य के अनुसार ज़ायका-ज़ायका में भी भेद होता है। यह भेद जाति-मूलक भी है और माला मूलक भी। ज़ायका शास्त्र का अध्ययन करने वाले कुछ लघु आचार्यों ने सभी जातियों में उच्च पद पर प्रतिष्ठित ज़ायकाओं को जिस गौरवपूर्ण नाम से अलंकृत किया है वह है—त्रैलोक्य विजयी विश्व-मित्र परम भट्टारक महाराजाधिराज ज़ायकाधीश जी चक्रवर्ती। इस सम्मानित पद से लेकर एक मामूली सिपाही तक ज़ायकाओं की अनेक श्रेणियाँ बनी हुई हैं। यह ज़ायका शास्त्र अपने लक्ष्य के अनुकूल ही प्रगतिशील है। आप भी अपने अनुभव और चिन्तन मनन से उसमें नया जोड़ सकते हैं।

आइए मैं आपका कुछ से परिचय कराऊँ। यों तो साहित्य, राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, क्लर्की, साहबी,

प्रोफ़ेसरी, चपरासगीरी, किसानी, मज़दूरी गरज़ कि सभी क्षेत्रों में ज़ायका धर्म का संप्रसारण और समुन्नति दृष्टिगत होती है किन्तु मैं आपकी मुलाक़ात केवल कुछ नए साहित्यकारों से ही कराऊँगा।

ये हैं मि० प्रफुल्लचन्द्र राय, शहर के बड़े रईसज़ादे। मगर अब तो रईसी क्या रही साहब, केवल उसकी पैरोडी रह गई है। और यह भी अच्छा हुआ नहीं तो प्रफुल्लचन्द्र राय के हृदय में वेदना की तीव्र अनुभूति कैसे उत्पन्न होती और अनुभूति बिना कविता ही कैसे बनती? मि० प्रफुल्ल कविता के लिए सब कुछ छोड़ सकते थे, यह तो ख़ुदा का शुक्र कहिए कि सब कुछ पहले से ही छोड़ा छोड़ाया मिल गया। उन्हें यह विश्वास है (और दूसरों की निगाह में वहम) कि वे स्वाभाविक कवि हैं। जब वे अपनी दो दो इंच लम्बी आँखें बन्द कर बड़े बड़े बालों को एक झटका दे कर बड़ा-सा सिर थोड़ा-थोड़ा हिला कर गुनगुनाने लगते हैं तब उन्हें ऐसा मालूम पड़ता है कि स्वयं वीणापाणि बड़े वेग से उनके कण्ठ से फूट पड़ने के लिए उनकी छाती में बार बार हूल मारती हैं। ख़ैर यदि बात यहीं तक होती तो कोई बात नहीं होती (यह रायसाहब का पर्सनल मामला है) किन्तु जब वे वीणापाणि के कच्चे पक्के डँकार को अपने मित्रों और मुलाकातियों के कानों में फेंकने लगते हैं तब मामला सामाजिक हो उठता है और सहृदय लोग इस रसमयता की दाद दिए बिना नहीं रहते। किन्तु मुसीबत यह है कि राय साहब यह नहीं पहचान पाते कि यह दाद गले के नीचे से निकल रही है या ऊपर से। और बिना किसी इन्टरवल के एक पर एक जमाते जाते हैं जिससे किसी को यह कहने का मौक़ा ही न मिले कि बस अब बन्द। और मुलाक़ाती, लोग इस तरह अभिधा की जगह...व्यंजना में दाद देने की सज़ा भोगते जाते हैं। यह अच्छा ही है।

पहले ये दीक्षा-मार्ग पर चलते थे, कइयों से दीक्षा ली। बाद में अपनी शक्ति की स्वच्छन्दता देख कर खुद प्रयोग करने लगे हैं। और कुछ सम्प्रदायों के बरद हस्त का अपनी पीठ पर अनुभव कर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी-रेखाओं को उत्तम काव्य का पर्याय मानने लगे हैं। सीधी रेखाओं को प्रगतिशील और कलाहीन कह कर हँस देते हैं। अब आप गोष्ठियों में बैठ कर कुछ पाश्चात्य महाकवियों और आलोचकों का नाम ले लेकर बड़े बड़े साहित्यिक और कलात्मक फ़तवे दे डालते हैं (यद्यपि शिक्षा के नाम पर सातवीं कक्षा से ही इनकी आख़िरी मुलाक़ात रही है)।

तो ये हैं मि० प्रफुल्लचन्द्र राय जो अपने अगाध पाण्डित्य और अनुपम कला मर्मज्ञता को अपनी पलकों में बन्द किए हर शाम सड़कों पर घूमते घामते मिल जाते हैं। मित्रों को घर आने का निमन्त्रण देकर उनके आने के पहले ही खुद उनके घर पहुँच जाते हैं। यों ये सड़क को भी अपना ही घर समझते हैं और रेस्तराँ में बैठकर आपको कविताएँ पिलाते हैं और आपसे चाय पीते हैं। खाली दिमाग़ को भरने के लिए तो कुछ चाहिए ही। ये आपको बहुत सम्मान दे रहे हैं न! परन्तु सावधान राय साहब मित्रों को लगाम देने में बहुत कुशल हैं। आज आप कल दूसरा। मगर हाँ उनकी कविताओं की बाढ़ अपनी छाती पर छोड़ते जाइए और आँख मूँद कर तारीफ़ करते जाइए, घर बुला बुला कर चाय पिलाते जाइए तब तक तलाक़ का कोई भी ख़तरा नहीं।

ये हैं आचार्य दुर्मुख निहाल गुप्त। रूप और नाम का ऐसा मणिकांचन संयोग बड़े पुण्य से ही देखने को मिलता है। लेकिन खुदाई करिश्मे का कहीं इन्तहा नहीं। इस नाम और रूप की गंगा-यमुना में हृदय की शारदा भी मिल गई हैं। तो दुर्मुख जी अपने आप में प्रयाग हैं, रूप के तीर्थ। दुर्मुख जी २५-३० वर्ष के एक दुबले पतले युवक कवि हैं जिनकी खुदा की दी हुई ख़ूबसूरत आँख और नाक पर मोटा-सा चश्मा टुटा रहता है। यदि आप कभी उनके बिना घुटे हुए चेहरे को सुबह सुबह या बुखार की हालत में देखें तो मैं आपसे सच कहता हूँ आप एक बार अवश्य किसी शिव जी के भ्रम से दो क़दम पीछे हट जाएँगे।

'इतनी छोटी' अवस्था में इन्हें आचार्यत्व कैसे प्राप्त हो गया? यही प्रश्न आपके मन में उठ रहा है न। मगर इस नगर में बड़े-बड़े मुश्किल काम आसान हो जाते हैं और बड़े-बड़े आसान मुश्किल। अभिधा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि ये ज़ायकाचार्य हैं। ऐसे महापुरुष का पड़ोसी और दोस्त होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है।

देखिए इनके परमप्रिय मित्र (कम से कम मेरी निगाह में तो ऐसा ही है) सपत्नीक आये हैं इनके यहाँ। घण्टों "ही ही हा हा के साथ काव्यपान और चायपान

का दौर चल रहा (मुसीबत में मैं हूँ इन सारे आघातों को झेलता हुआ)। मित्र जी जा रहे हैं। दुर्मुख जी प्यासी निगाहों से मित्र-पत्नी को देख रहे हैं। जाने के बाद लपकते हुए मेरे पास आते हैं। पूछता हूँ—कहो भाई क्या है' दुर्मुख जी अपने सुन्दर चेहरे को सिकोड़ कर और सुन्दर बनाते हुए तथा 'च' पर विशेष बल देते हुए कहते हैं'—चूतिया है साला। रोज़ आकर चाय पीता है और बोर करता है।' मैं मन में हँसता हूँ कि अच्छा इनको भी कोई बोर कर सकता है ? यह शब्द मेरे लिए नया नहीं है, मैं दिन में कई बार मित्रों के लिए इनके मुख से समुच्चरित यह शब्द सुनता हूँ परन्तु मुझे ताज्जुब होता है कि आप जनाब (दुर्मुख जी) छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए इन मित्रों के पीछे दुम हिलाते घूमते रहते हैं। छोटा-सा भी स्वार्थ पूरा होने पर खीस निपोर कर सामने झुक जाते हैं और स्वार्थ पर अल्प आघात होने पर छिप-छिप कर उनके नाम पर गालियों के पटाखें छोड़ते हैं।

दुर्मुख जी को अपनी खूबसूरती के बारे में एक वहम है। यानी कि मित्रों के घरों की सारी बहू-बेटियाँ उन पर फ़िदा होती चलती हैं। यह तो उनकी (दुर्मुख जी की) शराफ़त समझिए कि उनकी असमत पर हाथ नहीं लगाते हैं। वे इस आकर्षण से आजिज़ आ गए हैं और उनकी इस शिकायतों को सुनते सुनते मैं आजिज़ आ गया हूँ। दुर्मुख जी बाँड़े हैं, उन्होंने एक बाँड़ी नौकरानी रख छोड़ी है। आज दो पहर को मैंने अपने कमरे में से बगल में ही स्थित दुर्मुख जी के कमरे से आवाज़ सुनी तो दंग रह गया 'हट नपुंसक कहीं का, क्यों रोज रोज तंग करता है जब कुछ है ही नहीं तो ?' बाँड़ी नौकरानी का स्वर था। दुर्मुख जी धीरे धीरे 'हें हें' कर रहे थे। मगर ताज्जुब है साहब कि शाम को वे फिर वही पुरानी शिकायत खोल कर मेरे सामने बैठ गए और दो घण्टे तक बाँचते रहे।

छोड़िए दुर्मुख जी को। ये देखिए एक नए कहानीकार जा रहे हैं किसी शिकार को खोजते खोजते। और दुर्भाग्य का मारा मैं मिल ही गया। ये मेरे बी. ए. के छात्र हैं, तो भी क्या हुआ ? ये मुझे मेरे नाम से ही पुकारेंगे। उनका चेहरा खिला हुआ है। अरे अरे...... जी ! आपने मेरी कहानी नहीं पढ़ी, लपट में आई है। आप लोग भी क्या नए आलोचक बनते हैं ? नए कलाकारों की चीज़ें तो पढ़ते ही नहीं आपको ज़रूर पढ़नी चाहिए। बड़ी 'अच्छी' कहानी है. संपादक ने बड़ी तारीफ़ की है। बात यह है साहब कि हमीं लोगों में से नये प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र निकलेंगे। हम लोगों की उपेक्षा करके आप लोग साहित्य के नए विकास की उपेक्षा करते हैं। मैं एक विराट् उपन्यास लिखने जा रहा हूँ साहब, तमाम अंग्रेज़ी कविताएँ इकट्ठी कर ली हैं।

आप साहस के साथ इस युवक कहानीकार के उपदेशामृत का एक एक घूँट पीते हुए इधर उधर भागने की कोशिश कर रहे हैं परन्तु कहानीकार का मुँह हमेशा आपके मुँह को घेरे हुए है। 'जी हाँ चलिए मैं आपके साथ घर चलता हूँ, या किसी रेस्तराँ में बैठ जाइए आपको कहानी सुना दूँ।' कहानियाँ उनकी जेब में भरी होती हैं ताकि कोई शिकार मिल जाने पर निशाना खाली न जाए।

तो ये आपको अपनी कहानी सुना रहे हैं—बासी प्लाट, बासी चरित्र, बासी भाषा। मगर दो घंटों को फूँकने वाली इस कहानी को सुने बिना आपका निस्तार नहीं। आप मुँह बनाइए, बगलें झाँकिए, पान खाने के बहाने अन्दर जाइए मगर सुनना तो आपको है ही। किन्तु मुसीबत का अन्त यहीं नहीं है। कहानी सुना लेने के बाद कहानीकार आप से राय माँग रहा है। यह तो आपका फ़र्ज़ है आलोचक जो ठहरे। आप सोच रहे हैं कि प्रोत्साहन दें तो एकाध और सिर पर लद जाएगी या रोज़ का तांता बँध जाएगा। अगर कहानी के दोष स्पष्ट रूप से कह दें तो कल से सड़क से निकलना आफ़त हो जाएगा। गालियाँ जो मिलेंगी।

अन्दर आपका बच्चा बीमारी से रो रहा है, उसकी दवा रक्खी है। पत्नी खाना बना कर परेशानी से आपका इन्तजार कर रही है। कल पढ़ाने के लिए आपको आलोचना तैयार करनी है। किताब का अधूरा अध्याय आपकी लेखिनी की राह देख रहा है। परन्तु आप तो कहानीकार के व्यक्तित्व से बोझिल हो कर उठ नहीं पा रहे हैं। बीच-बीच में आप कई बार 'अच्छा अब' कहते-कहते रुक जाते हैं (आप संकोची जो हैं) मगर कहानीकार जी कुर्सी पर डट कर बैठे हैं सो बैठे हैं। बेटे की दवा के लिए कहिएगा तो ये भी आपके साथ हो लेंगे। खाने की बात कहिएगा तो खाना खा कर ये भी नहीं आए हैं साथ दे देंगे। पढ़ने लिखने की

बात कहिएगा तो कहेंगे अरे हटाइए इसमें क्या रखा है।

जब तक कहानीकार जी डट कर बैठे हुए हैं तब तक आइए मैं आपका मुकाबला प्रगतिशील कवि किंशुक जी से कराऊँ। ये पहले रोमानी कवि थे अब प्रगतिशील हो गए हैं। ये अपने दर्दीले गले, नाज़ो अन्दाज़ तथा बेहयाई भरे व्यवहार को लेकर कविसम्मेलन विजय करते घूमते हैं। लड़कों की जमात में प्रगतिशील कविताएँ और लड़कियों की जमात में शृंगारिक कविताएँ बड़ी अदायगी से पेश करते हैं। इन्हें यह अनोखा भ्रम होता है कि मजलिस की सारी लड़कियाँ इनके स्वर पर उड़ती उड़ती इनके पास पहुँचना चाहती हैं। मंच पर बैठे कवियों से आप बार-बार कवि सम्मेलनी मज़ाक़ कर दिया करते हैं। जी हाँ, कवि सम्मेलनी मज़ाक़ का भी एक खास लहजा है। यदि शरम नाम की चीज़ आप में बाक़ी नहीं है तो आप से इसकी पटनी ही होगी। माइक पकड़ कर एक ख़ास पिटे पिटाए लहजे में कवियों का परिचय देना तथा कमेन्टरी करना इनका जन्मसिद्ध शौक़ मालूम पड़ता है। मुझे ऐसा लगता है कि सामन्त-युग की यह विभूति भूल से बीसवीं शताब्दी में आ टपकी है।

किंशुक जी पढ़े लिखे आदमी हैं किन्तु अधिकतर ये अपनी ही चीज़ पढ़ते हैं। गम्भीर गोष्ठियों में भी जाते हैं और वहाँ साहित्यिक विवादों में मुँह चुनिया चुनिया कर ऐसी सौम्य और पवित्र शब्द-राशियाँ बिखेरते चले जाते है जिनसे अर्थ का कोई नाता रिश्ता नहीं होता।

किंशुक जी एक जागरूक कवि हैं इसलिए कविता के विकास के लिए वे चतुर्मुख प्रयास करते हैं। कवि सम्मेलनों की विराट् जनता इतनी वाहवाही बरसाती है मगर ये साहित्यकार सब तो कुछ समझते ही नहीं है। शायद इसलिए कि ज़माना प्रयोगवाद और गद्य की ओर बढ़ रहा है। तो लीजिए प्रयोगवादी कविताएँ, स्केच, डायरी, निबन्ध भी पेश हैं। और ऐ सम्पादको, जाओगे कहाँ बच कर ? चिट्ठियों पर चिट्ठियाँ लिख कर तुम्हारी नाकों दम कर दूँगा। खुशामद करूँगा, धमकाऊँगा, गालिआँ दूँगा। कहाँ तक भागोगे ? तुम्हें छापना ही होगा। ऐ दोस्तो, आओ मेरे यहाँ चाय पियो, मैं तुम्हें गीतों की लोरियाँ सुनाऊँगा, निबन्धों की सेज पर सुलाऊँगा, प्रयोगवादी कविताओं की थपकियाँ सिर पर लगाऊँगा। तुम यहाँ से जाओगे तो सिर दर्द ले कर या गुनगुनाहट लेकर यह मैं नहीं जानता। गुरुदेवो, मैं तुम्हारी चरणरज आँखों आँजूगा, बाज़ार से तरकारी लाऊँगा, बच्चा खेलाऊँगा, डाँटोगे तो दुम हिलाऊँगा, पसीजोगे कैसे नहीं ?

उस दिन मेरे मित्र मुझसे मिलने आये थे थोड़ी देर के लिए। दो घंटे बाद उन्हें गाड़ी पकड़नी थी। संयोग से किंशुक जी मिल गए और उन्होंने देखते ही देखते मेरे मित्र को किडनैप कर लिया। बन्धुवर मैंने इतनी कविताएँ लिखी हैं। दीवाली अंक के लिए आपकी पत्रिका के लिए एक बड़ी अच्छी, कविता लिखी है। आपने देखी होगी मेरी कविताएँ, अरे तमाम पत्रिकाओं में निकली हैं। अच्छा बन्धुवर मैं एक निबन्ध लिख रहा हूँ उसमें आपकी बड़ी तारीफ़ कर रहा हूँ, उसे आपके पत्र में प्रकाशनार्थ भेजूँगा।'

मैं जल में कमल दल के समान निस्संग रूप से इनके संग था। जब मुझे अधिक असह्य हो गया तो मैंने अपने मित्र से कहा कि भाई ज़रा पुस्तकालय चलो मुझे एक ज़रूरी किताब लेनी है। मित्र मेरी बात समझ गए। लेकिन मित्र के बोलने के पहले ही किंशुक जी ने झपट कर कहा—अरे खूब कही आपने, मैं तो भूल ही गया था। मुझे भी पुस्तकालय से एक पुस्तक लेनी है।'

हाय तब नहीं तो अब बनी। मैं अपने ही बनाए हुए चक्रव्यूह में फँस गया। हे महारथी किंशुक जी महाराज ! तुम सहस्रबाहु हो, तुम सहस्र मुख हो। तुम से जीतना मज़ाक नहीं। लो मैं दो घंटों के लिए अपने को तुम्हारे सामने सरेन्डर करता हूँ। जहाँ चाहे ले चलो, जैसे चाहो रखो।

आप तो एक ही दिन में इनसे ऊब गए। मगर ये हैं मेरे रोज के मुलाकाती। किन्तु ये तो दो चार मीलों के दो ही चार पत्थर हैं। ज़िन्दगी की सड़क तो बहुत लम्बी और घुमावदार है। इन अनेक पत्थरों से रोज़ का साबिका है। जहाँ कहीं जाता हूँ, जिस किसी वेश में रहता हूँ ये मुझ से लिपट कर कहते हैं : "हम सरावरी कहाइ है।' और मैं अपनी निकम्मी शराफ़त लेकर इनसे हर बार यही कहता हूँ अरे भाई मैं तो तुम्हारा ही हूँ। किन्तु मैं अपनी संवेदनशीलता को क्या कहूँ जो हर मुलाक़ात के बाद दर्द से छटपटा उठती है।

मुझे विश्वास है (और इसलिए सहानुभूति थी)

कि आप लोग भी इस दर्द से मेरे ही समान पीड़ित हैं। इसीलिए आपसे मेरा निवेदन है कि यदि आपकी समझ में आ जाए तो मुझे भी बताइएगा कि "आखिर इस दर्द की दवा क्या है ?" मेरे ब्रह्माण्ड में तो इसका यही अनहद नाद गूँजता रहता है :

"मैं दर्द जिन्दगी हूँ, दर्द ला दवा हूँ"

फेकल्टी ऑफ आर्ट्स विश्वविद्यालय,
बड़ोदा

—रामदरश मिश्र

सिंह

एक सिंह ७०० पौंड भारी जेब्रा को अपने जबड़ों उठाकर चल सकता है। एक मनुष्य तो शेर के मुख में एक 'लेमन ड्राप' की तरह है। उसे अपने मुख में दबाकर वह पंदरह फुट की छलांग भी लगा लेता है। सिंह के दाँत छेनी की तरह पैने और पंजे कटार की तरह आगे की ओर मुड़े होते हैं। अगले पंजों में एक नाखून होता है जो आक्रमण के समय फैल जाता है। इससे वह बड़े-से-बड़े शिकार को चीर डालता है। उसमें अपार शक्ति होती है और वह बिजली की तेजी से उछलता है।

सिंह क्रोधित अवस्था में कभी नहीं दहाड़ता। या तो रात गीली या ठण्डी हो या आकाश में पूर्ण चन्द्रमा जगमगा रहा हो या वह प्रीति-विह्वल हो या वह भूखा हो तभी वह दहाड़ता है। प्रायः सिंह बड़बड़ाता रहता है। शिकायत करते रहना उसकी आदत है। चोट लगने पर वह चिल्लाता है और घायल होने पर उसकी आवाज़ अत्यन्त भयानक होती है।

अधिक-से-अधिक २१ सिंहों को मैंने एक साथ देखा है। एक दिन ऐसा आता है कि सबसे बड़ा बच्चा बूढ़े सिंह को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारता है। इसमें जिसकी विजय होती है वही परिवार का मुखिया होता है।

कुछ सिंह एक पत्नी-व्रत रखते हैं और जीवन पर्यन्त उसे निभाते हैं लेकिन कुछ ऐसी भी हैं जो राजा-महाराजाओं की तरह पूरा जनानखाना ही अपने साथ रखते हैं। मज़े की बात यह है कि सिंहिनी अपने सौत के बच्चे की भी देख-भाल और रक्षा करती है। साधारणतया एक सिंहिनी एक साथ दो बच्चे देती है और कई बार चार भी देती है। सिंह का बच्चा अठारह महीने का होने के पश्चात् अपनी रक्षा करने का भार अपने ऊपर स्वयं ले लेता है।

—रौबर्ट रूयार्क

पश्चिमी देशों की विवाह प्रणाली

पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करनेवाली और समानता का दावा करने वाली बहुत-सी स्त्रियों को शायद यह नहीं मालूम कि पश्चिम की नारी की क्या कठिनाइयाँ हैं। हमारे यहाँ कुरूप, निर्धन, कानी, खुतरी और लंगड़ी लूली हर लड़की को उसके प्रयत्न के बिना पति प्राप्त हो जाता है। भारत में अविवाहित स्त्री कहीं अपवाद रूप में ही नजर आती है। परन्तु यूरोप में और दूसरे तथाकथित सभ्य देशों में ऐसी बात नहीं। वहाँ बड़ी उम्र की कुँवारी औरतों—स्पिन्टर्स की संख्या बहुत अधिक है। ये स्वेच्छा से एकाकी जीवन नहीं व्यतीत करतीं अपितु अधिकांश को युवा होते ही अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी वर नहीं मिलते। वहाँ हर लड़की को खुद पति चुनना होता है और इसके लिए विशेष गुण, रूप और धन चाहिए। इन में कुछ भी न होने पर लड़की को कुँवारी रह जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में वह दुकानों, घरों, कारखानों और दफ़्तरों में नौकरी करके अपना जीवन उस जंगली फूल की तरह बिता देती हैं, जिसमें न गन्ध होती है, न सुन्दरता और झाड़ी में लगा लगा ही जो मुरझा कर गिर पड़ता है।

प्रायःकर पाश्चात्य देशों में इक्कीस वर्ष की उम्र होने पर लड़की बालिग मानी जाती है। इससे पूर्व विवाह के लिए कन्या को माता पिता या अभिभावक की स्वीकृति लेनी पड़ती है। आम तौर पर माँ बाप इन मामलों में दस्तंदाज़ी नहीं करते और लड़के लड़कियों को पूरी छूट दी जाती है। कन्या के जवान होते ही उसके माता पिता अपने विचारानुसार अच्छे विवाह योग्य लड़कों को घर में आमन्त्रित करना शुरू करते हैं और उन्हें एकान्त में लड़की से बातचीत करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती है। बड़े घरानों में एक खास उम्र प्राप्त होने पर पहले पहल लड़की को किसी नाच या पार्टी में विधि पूर्वक पेश किया जाता है जिसे ''प्रैज़ेण्ट'' करना कहा जाता है अर्थात् उस समय से विवाह की मार्केट में वह भी शामिल हो गई है। इस बात की घोषणा हो जाती है। जाति भेद न होने पर भी वहाँ वर्गभेद अवश्य है। धनी और निर्धन का सम्बन्ध कम हो पाता है यद्यपि सिद्धान्त रूप से इसमें कोई रुकावट नहीं।

इस प्रकार आपस में जीवन साथी की जाँच परख करने को 'कोर्टशिप' कहा जाता है। इसमें भाव यह है कि नर ही नारी को 'कोर्ट' करता है अर्थात् रिझाता है और अपने प्रति आकृष्ट करता है। वहाँ की लड़कियाँ पुरुष की दृष्टि मात्र से छुई मुई की भान्ति सिकुड़ सिमट नहीं जाती, उन्हें यह कहने पर कि ''मैं तुम से प्रेम करता हूँ,'' वे गर्व अनुभव करती हैं, अपने रूप और अन्य गुणों की प्रशंसा पुरुष जाति से सुनने के लिए वे लालायित रहती हैं। जब कुछ समय तक यह मिलना जुलना हो चुकता है और एक दूसरे की जाँच परख हो जाती है तो लड़का कन्या को पसन्द करने के बाद उस पर अपना प्रेम प्रकट करता है और उसे अपनी पत्नी बनाने की इच्छा प्रकट करता है। ऐसे समय यदि लड़की जैसा शिकार फँसाना चाहती थी वैसा न हुआ तो वह इस प्रकार कहेगी, ''तुमने मुझे बहुत सम्मान दिया है—प्रेम प्रकट करके—पर......''वह किसी भी तरह टालने के लिए कुछ बहाने बना देगी। होता यह है कि लड़की को अनेकों युवकों की परख का मौका मिलता है, इसी प्रकार युवक भी भिन्न भिन्न लड़कियों की एक साथ ही जाँच कर रहे होते हैं। विशेष प्रबन्ध न होने पर भी एक वहाँ का यह भी रिवाज़ है कि चचेरे, ममेरे, फुफेरे भाई बहनों—कानून—में ही विवाह कर लेने को प्राथमिकता दी जाती है, क्योंकि वे पहले से ही परिचित होते हैं।

यदि प्रस्तावक कन्या की आशा के अनुकूल हुआ तो झट से वह इस प्रेम को स्वीकार कर लेती है और युवक पर भी अपना प्रेम प्रकट करती है। तब वे दोनों आलिंगन में बँध कर इसकी मोहर स्वरूप चुम्बनों का आदान प्रदान करते हैं। सभ्य कहे जाने वाले देशों में चुम्बन करना प्रायः कर हाथ मिलाने की तरह का ही घनिष्ट सम्बन्ध का द्योतक अभिवादन है। माँ पुत्र, बहिन भाई, पिता पुत्री आपस में मिलते या बिछुड़ते, प्रातः उठ कर या सोने से पूर्व चुम्बन करते हैं। कन्या की स्वीकृति लेने के बाद लड़का उसके माता पिता की

अनुमति भी प्राप्त करता है और इसके बाद यह समाचार सबको सुनाया जाता है। ज़रा हैसियत होने पर अख़बार में भी छप जाता है। कुछ लोग पैसा देकर विज्ञापन की तरह छपाते हैं और बहुत ऊँची स्थिति वालों का समाचार पत्र खुद विज्ञापन करता है। हमारे मँगनी या वाग्दान शब्दों की तरह इसके लिए अंग्रेज़ी में "इंगेजमैंट" और "बिट्रोथल" शब्द व्यवहरित होते है और वाग्दत्ता के लिए "फायन्सी" शब्द। युवक युवती के बाएँ हाथ की अनामिका अंगुली में एक अंगूठी पहनाता है और उसके बाद यह सभी देख सकते हैं कि मार्केट में आई वस्तु का ख़रीदार निकल आया है, इस पर लेबिल लग गया है। बाएँ हाथ की अनामिका अंगुली में पड़ी अंगूठी कुँवारी या ब्याही या मंगेतर की भेदक निशानी है।

मंगनी और विवाह के बीच का समय सुविधानुसार आपस में निर्धारित किया जाता है। इस बीच में दोनों को मिलने जुलने की अबाध रूप से छुट्टी रहती है, लेकिन एकान्त घर में केवल उनका अकेला रहना ठीक नहीं समझा जाता। वैसे वहाँ के रिवाज़ के अनुसार आलिंगन चुम्बन वगैरह से कोई उन्हें नहीं रोकता। ये काम माँ, बाप, छोटे बच्चों या मित्रों के सामने करने में ज़रा भी शर्म नहीं की जाती।

मंगनी टूट भी सकती है। इसके लिए कोई भी ऐसा कारण चाहिए जिससे यह प्रकट होता हो कि प्रेम का अभाव है या विचारों की असमानता है या ऐसी कोई अन्य बात है जिससे वे समझें कि उनका वैवाहिक जीवन ठीक नहीं निभेगा।

विवाह की तिथि निश्चित हो जाने पर जिसका निर्णय पूरी तरह कन्या के हाथ में होता है, इसकी घोषणा हो जाती है। इसके लिए निमन्त्रणादि भेजे जाते हैं और निश्चित तिथि से पहले इसके लिए राजकीय अनुमति अर्थात् लाइसैन्स प्राप्त किया जाता है। विवाह की तैयारी में लड़का तो रहने की जगह और गृहस्थी का सामान लड़की के साथ मिल कर चुनता है और लड़की अपने विवाह की पोशाक तथा अपनी बहनों और सहेलियों को वधू परिचारिका बनाने के काम में व्यस्त रहती है। आम तौर पर यह पोशाक किराए पर भी मिल जाती है। यह एक बढ़िया कपड़े की सफ़ेद रंग की झालरदार और चुन्नटों वाला घाघरा सा होता है जिसकी लम्बाई पीछे की ओर इतनी होती है कि वह ज़मीन पर पीछे पीछे घिसटता चले।

वधू की कुछ अन्तरंग सखियाँ या बहनें ही वधू परिचारिका बनती हैं और इनकी संख्या कितनी भी हो सकती हैं। सम्बन्ध के अनुसार इनकी क्रम संख्या भी निश्चित हो जाती हैं। ये सब कुमारियाँ होती हैं और इस प्रकार वधू के साथ होने के लिए लालायित रहती हैं। इसमें शायद यह भाव भी है कि शीघ्र ही उनको भी वधू का स्थान मिलेगा। इसी प्रकार वर का भी एक साथी होता है जिसे "बैस्ट मैन" कहते हैं। पंजाब में भी वर के साथ हर समय एक रिश्तेदार आमतौर पर बहनोई रहता है जिसे सुमाला कहते हैं।

विवाह के लिए गिर्जे में जाना आवश्यक नहीं। कहीं भी कोई पादरी विवाह करा सकता है। पादरी विवाह न कराए तो भी कोई हर्ज नहीं, विवाह की रजिस्ट्री के दफ़्तर में फ़ार्म भर कर गवाहियों के सामने हस्ताक्षर आदि करने पर ही विवाह सम्पन्न हो जाता है। विवाह की रजिस्ट्री हर हालत में होनी अनिवार्य है।

आम तौर पर अधिकांश विवाह इस प्रकार सम्पन्न होते हैं। विवाह के दिन निश्चित समय पर अपने अपने घरों से अपने रिश्तेदारों और मित्रों के साथ वर और वधू गिर्जाघर में पहुँचते हैं। वधू अपनी लम्बी पोशाक पहने होती है और उसके पीछे उसकी परिचारिकाएँ चल रही होती हैं और वर के साथ "बैस्ट मैन" या सुमाला। वेदी पर पहुँच कर पादरी उनसे प्रतिज्ञाएँ कराता है, एक को दूसरे का हाथ पकड़ा कर विवाह सूत्र में आबद्ध कर देता है। हमारे यहाँ की कन्यादान की ही तरह उनमें भी लड़की की माता या उसके पिता अथवा उनके न होने पर अन्य कोई सम्बन्धी या मित्र उसे दान करता है। इस विवाह के फ़ौरन बाद ही इसके फ़ार्म आदि भर कर इसकी रजिस्ट्री करवा ली जाती है।

इसके बाद लड़की के अभिभावकों के खर्च पर या तो उनके घर पर या किसी होटल आदि में एक भोज होता है, जिसे स्वागत 'रिसैप्शन' कहा जाता है। इस अवसर पर बहूभात की तरह एक प्रथा है, जिसमें एक बड़ा केक, जो विशेष कर इसी उत्सव के लिए बनवाया जाता है और इसी नाम से पुकारा जाता है अर्थात् वैडिंग केक, वधू को स्वयं काटना होता है। इस केक की कतलियाँ अभ्यागतों में वितरित की जाती

हैं। इस भोज के समय ही वर-वधू को जो उपहार मिलते हैं उनका सम्मिलित प्रदर्शन होता है। भोज के समय कई व्याख्यान होते हैं, जिनमें युगल दम्पति को बधाई, शुभकामना और मार्ग प्रदर्शन आदि का संदेश दिया जाता है। अन्त में वर उत्तर देता है और सबका धन्यवाद करता है।

भोज के बाद बिदाई का समय आता है। यद्यपि हमारे देश की तरह लड़की इस समय जोर से रोने का ढोंग नहीं करती, न उसकी देखा देखी घर वाले रोते नजर आते हैं और न ही द्वार पर कारुणिक स्वर में शहनाई बज रही होती है। फिर भी कई बार "बाबुल मेरा पीहर छूटो जाय" के विचार से स्वाभाविकतया वधू का दिल भर आता है और इस कारण उसके सम्बन्धियों के नेत्र भी आर्द्र हो जाते हैं। धनी, निर्धन सभी नव-विवाहित दम्पति हैसियत के अनुसार कम अधिक समय कहीं दूर अपने शहर के बाहर किसी अन्य अच्छे स्थान पर या विदेश जाकर अकेले में बिताते हैं। इसे 'हनीमून' कहा जाता है। गाड़ी वर-वधू की यात्रा के सामान के साथ द्वार पर तैयार खड़ी होती है और पहले सभी उपस्थित पुरुष नव-वधू का चुम्बन करते हैं और फिर वर से हाथ मिलाते हैं। तब वे दोनों गाड़ी पर सवार हो जाते हैं। गाड़ी जिस समय चलने लगती है उस समय पीछे से उपस्थित लोग उस पर फटे स्लीपर और चावलों की वर्षा करते हैं।

हनीमून के बाद लौट कर नव-दम्पति अपना अलग ही रैन बसेरा बसाते हैं। आम तौर पर उनके साथ और कोई नहीं रहता, वह केवल उनका घर होता है। यदि निकट सम्बन्धी कुछ समय रहने के लिए आता है या उसे बुलाते हैं तो वह मेहमान होता है। प्रथम व्यक्ति को निमन्त्रित करके यह दिखाया जाता है कि नव-दम्पति का उससे बहुत स्नेह है। कहना व्यर्थ है कि इस स्वार्थमय संसार में अक्सर वही व्यक्ति इस अवसर के लिए चुना जाता है जिससे वे सबसे अधिक लाभ की आशा रखते हैं। कन्या पक्ष का प्रत्येक व्यक्ति इनका मेहमान रह सकता है और अपनी लड़की के घर खाने पीने से वहाँ कोई परहेज नहीं होता।

दहीरपुर क्वार्टर्स, किंग्स्वे
देहली—९

—डा० पृथ्वीराज से

परिहास

मनोविज्ञान के अध्ययन से पता चलता है कि अच्छा हँसी-मजाक वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जो अपने जीवन में अत्यन्त सन्तुलित होते हैं। कई विश्वविद्यालयों में इस बात के परीक्षण किए गए हैं जिनसे इस बात का पता चलता है कि हँसी-मजाक में वे ही सफल होते हैं जिनकी बुद्धि विकसित और कुशाग्र होती है।

साधारणतया बात बात पर जो लोग देर तक और जोर से हँसते हैं उनमें हँसी या व्यंग्य का आनन्द उठाने की शक्ति नहीं होती। यद्यपि वह स्वयं अपनी इस कमजोरी को अनुभव नहीं करता। साधारण या असाधारण किसी प्रकार की हँसी हो वह खुल कर अट्टहास कर उठता है। सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि जिनमें हँसी-मजाक की क्षमता होती है वे स्वयं अधिक और जोर से नहीं हँसते।

—जौम गिवनस

बाघ का बच्चा

पूना ग्राम से लगभग सात-आठ कोस दक्षिण—पश्चिम की ओर उपत्यका से बहुत ऊर्द्ध गिरिसङ्कट के बीच से दो सवार नीचे की ओर उतर रहे थे। चारों ओर उच्च नीच छोटे बड़े पहाड़ों की श्रेणियाँ थीं—जैसे क्रुद्ध अतिकाय कुम्भीर एक दूसरे से सँट कर इस हेमन्त के अपराह्न की सुनहली धूप में लेटे हों। उन्हीं के बीच पिपीलिका की तरह दोनों प्राणी सूर्य्य को पीछे की ओर रख कर, क्रमशः दीर्घायमान छाया सामने डालते हुए धीरे-धीरे उतर रहे थे।

यहाँ से उपत्य का दृष्टिगोचर नहीं होती, मार्ग का कोई भी चिह्न कहीं भी विद्यमान नहीं। चारों ओर केवल उत्तुंग कर्कश पहाड़ और कहीं कहीं दो एक खर्वाकृति तृणगुल्म। इन सब चिह्नों के अतिरिक्त पथिक को बहुदूरस्थ जनपद की ओर परिचालित करने का कोई निदर्शन नहीं,—अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए ऐसे स्थान में दिक्भ्रान्त होने की संभावना अत्यन्त अधिक है।

दोनों अश्वारोही जिस मार्ग से उतर रहे थे, उसे मार्ग नहीं कहा जा सकता; वर्षा का जल पर्वत-शिखर से उतरते समय पर्वत-गात्र पर जिस उपलपिच्छल प्रणाली की रचना करता है, यह भी वैसी ही एक प्रणाली जो पर्वत-शीर्ष से पादमूल तक कार्यतः ऋजुरेखा में नीचे की ओर उतर गई थी।

दोनों सवार घोड़े की लगाम ढीली छोड़ कर, परस्पर बातचीत कर रहे थे; खर्वदेह, रोमश पहाड़ी घोड़े स्वेच्छया उस ढालू विपज्जनक मार्ग पर सावधानी से उतर रहे थे। इस स्थान पर रास्ता इतना अधिक ढालू था, कि एक बार अश्व का पदस्खलन होने से आरोही की मृत्यु अनिवार्य थी। लेकिन उस ओर आरोहियों की दृष्टि न थी।

आरोहियों में एक प्राचीन वयस्क था; सर के बाल और मूँछें सफ़ेद थीं, वर्ण इस वृद्धावस्था में भी तप्तकञ्चन जैसा था। ललाट के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक श्वेत-चन्दन की दो रेखाओं ने कदाचित् जराजनित ललाट-रेखा को ढक रखा था। मस्तक पर था शुभ्र कार्पासवस्त्र का उष्णीष; देह पर अंगरखा के बीच वामस्कन्ध पर उपवीत का एकांश दिखाई दे रहा था। मुख पर थी दृढ़ अचंचल बुद्धि की प्रभा। देखते ही पता चल जाता था कि ये शास्त्राध्यायी अभिजातवंशीय ब्राह्मण हैं। इनके हाथ में कोई अस्त्र नहीं, परन्तु जैसी निश्चिन्तता के साथ अवतरणशील प्रश्न के पृष्ठ पर अटल होकर बैठे हैं, उससे प्रतीत होता है कि केवल ब्रह्मविद्या का अनुशीलन करके ही इन्होंने जीवन अतिवाहित नहीं किया।

द्वितीय आरोही इनके सम्पूर्ण विपरीत है। आयु सम्भवतः सोलह वर्ष की भी न होगी; देह-वर्ण है श्याम, लेकिन मुख है आर्योचित। मृदङ्ग—सदृश मुख के मध्य-स्थल पर श्येनचंचु जैसी नासिका ने इस तरुणावस्था में ही उसके मुख पर शिकारी जैसी शाणित तीव्रता की छाप लगा दी है। बड़ी बड़ी दो आँखों की पुतलियाँ हैं निविड़ कृष्णवर्ण; बालक—सुलभ चपलता के होते हुए भी दृष्टि है अतिशय तीक्ष्ण और मर्मभेदी। ओष्ठ के ऊपर और चिबुक के नीचे ईषन्मात्र रोमरेखा निकली है, वह भी वर्ण की मलीनता के कारण स्पष्ट प्रतीयमान नहीं। दोनों भौंहें सूक्ष्म और सुदूर—प्रसारित हैं। सहसा इस बालक का मुख देखने से मन में एक अपूर्व विभ्रम जाग उठता है, ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे एक तीक्ष्ण-धार, वक्र कृपाण सूर्यालोक में दमक रहा हो। मुख से दृष्टि हटा कर निम्नांग की ओर देखने से और भी अधिक विस्मय होता है। मुख की तरह देह में सौष्ठव नहीं, प्रस्थ की तुलना में दैर्घ्य में देह अत्यन्त खर्व है। देखते ही प्रतीत होता है कि अत्यन्त बलशाली है।—कटि से पैर के सूँडदार 'नागरा' जूता तक अत्यन्त प्राणवन्त परन्तु क्षीण, जैसे मृगचरण की तरह अत्यन्त द्रुत दौड़ने के लिए ही इन चरणों की सृष्टि हुई हो। किन्तु कटि से ऊर्द्ध की ओर देह ने क्रमशः प्रशस्त होकर वक्षःस्थल पर ऐसा विशाल आकार धारण किया है कि देख कर विस्मित होना पड़ता है। और भी अद्भुत है—उसकी दोनों भुजाएँ!—आजानुलम्बित कहना भी पर्याप्त नहीं—सन्देह होता है कि घोड़े की पीठ पर बैठ कर हाथ बढ़ा कर वह ज़मीन से उपलखण्ड बीन सकता है!—इसके

अतिरिक्त भुजाएँ जैसी पुष्प हैं वैसी ही पेशिबहुल, दोनों भुजाओं से अगर किसी को जकड़ ले तो उसके अस्थि-पंजर टूट जाना भी असंभव नहीं। यह बालक हँसते-हँसते चारों ओर चंचल दृष्टि डालता हुआ उतर रहा था। घोड़े की रकन नहीं, लाल रेशम की ज़रीदार लगाम भी छोड़ रखी है; लेकिन कम्बल की ज़ीन पर ऐसे बैठा है कि अश्व और वह जैसे पृथक् नहीं—किसी प्रकार भी दोनों को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। बाएँ हाथ से समूचा लोहे का बल्लम ऐसी लापरवाही से पकड़ रखा है कि जैसे पकड़ी पर बालसुलभ क्रीड़ावश रोपित शुकपुच्छ से भी वह हल्का हो!

दोनों घोड़े पहाड़ के पादमूल पर आ खड़े हुए। सामने लगभग पचास गज़ दूर एक और पहाड़ आरम्भ हुआ है, अबकी बार उसी पर चढ़ना था। सूर्य ने पीछे के उच्च पर्वत का शिखर स्पर्श किया, अब शीघ्र ही उसके पीछे ओझल होने को है।

बालक चतुर्दिक् देख कर जैसे प्राणशक्ति के अतिशापवश ही उच्चकण्ठ से हँस उठा, फिर बोला, "दादो, प्रतिध्वनि सुनोगे? होया हो-- हो—हो--हो! चुप! अब सुनो!"

कुछ मूहूर्त्त पश्चात् ही तीन दिशाओं से भौतिक शब्द लौट आया, "होया! हो हो हो!"

बालक ने अंगुलि निर्देश करके उत्तर की ओर एक उच्च पर्वत शृंग दिखा कर कहा, "वही सबसे दूर है! आवाज़ लौट कर आने में कितनी देर हुई, देखा? किन्तु आँखों से देखने से पता नहीं चल पाता कि कौन-सा पास है, कौन सा दूर! अँधेरी रात में रास्ता खो जाने से प्रतिध्वनि बड़े काम की चीज़ है—है न दादो?"

वृद्ध ने मृदु हास्य के साथ उत्तर दिया: "हाँ, सो तो है! लेकिन अंधेरी रात में ऐसी जगह तुम्हारे रास्ता खो जाने की कोई संभावना है क्या?"

बालक बोला: "सो तो नहीं है। तुम मेरी आँखें बाँध दो, देख लेना मैं ठीक-ठीक पूना लौट सकता हूँ।"

वृद्ध बोले: "सो तो मैं जानता हूँ। पढ़ने लिखने में तुम्हारा मन बिलकुल नहीं लगता, दिन रात पहाड़ जंगलों में घूमना ही तुम्हें अच्छा लगता है। तुम्हारे पिता जब मुझ से कैफ़ियत माँगेंगे तो मैं क्या कैफ़ियत दूँगा; मेरी समझ में नहीं आता।"

बालक के मुख पर एक नटखटपन की हँसी झलक उठी, उसने वृद्ध की ओर कटाक्ष-सा करते हुए पूछा: "अच्छा दादो, 'अलिफ़' अच्छा है या 'अ'? बाँए से दाँए लिखना अच्छा है, या दाँए से बाँए?"

वृद्ध ने झुँझला कर उत्तर दिया: "यह तुम नहीं समझ सकते। सोलह साल के हो गए, अभी तक अपना हस्ताक्षर करना नहीं सीखा। तुम्हारे लिए तो पढ़ने लिखने की कोशिश करना ही व्यर्थ है। लेकिन देखता हूँ शिकार में भी तो तुम्हारा मन नहीं लगता। आज दिन भर घूम कर भी एक खरगोश भी न मार सके।"

बालक साक्षेप हस्त उत्क्षिप्त करके बोला: "खरगोश मैं नहीं मार सकता, मेरे हृदय में बड़ी दया उत्पन्न होती है। इतना-सा तो जानवर, तिस पर शरीर में हिंसा का लेशमात्र भी नहीं—बस सिर्फ़ बेतहाशा भागना जानता है।"

वृद्ध ने पूछा: "तो फिर कौन-सा जानवर मारना चाहते हो, सुनूँ—बाघ!"

उत्साह-प्रदीप्त नेत्रों से किशोर बोला: "हाँ बाघ! इन पहाड़ों में बाघ नहीं मिलता, दादो?"

वृद्ध ने सर हिला कर उत्तर दिया: "नहीं, सुना है और दक्षिण के पहाड़ की गुफ़ा में बाघ है। लेकिन तुम बाघ मारोगे कैसे?"

किशोर ने कहा: "क्यों, इसी बल्लम से मारूँगा। ज़मीन पर आमने-सामने खड़े होकर।"

"डर नहीं लगेगा?"

"भय!"—बालक का उच्च हास्य फिर चारों ओर गूँज उठा।

"अच्छा दादो, 'भय' क्या वस्तु है मुझे समझा सकते हो? सभी के मुँह से यह शब्द सुनता हूँ, लेकिन वह है क्या चीज़, अब तक न समझा। क्या भय क्षुधा की तरह कोई प्रवृत्ति है?"

दादो ने कहा: "भय क्या है, यह तब समझोगे जब युद्ध के लिए जाओगे, जिस दिन हथियार बन्द शत्रु को सामने देखोगे।"

बालक ने कुछ कहने का उपक्रम किया, लेकिन दूसरे ही पल अपने को संवरण करके, चुपचाप कुछ सोचने लगा।

दादो बोले: "मैंने बड़े-बड़े वीरों के मुँह से सुना

हैं कि पहली बार शत्रु के सम्मुखीन होते समय उन्हें भी डर लगा था। इसमें लज्जा की कोई बात नहीं, उस भय को जीतना ही है प्रकृत वीरत्व।"

सूर्य गिरिशृंग के अन्तराल में अदृश्य हो गया, साथ ही साथ निम्न भूमि पर छाया की एक सूक्ष्म यवनिका आ पड़ी। केवल ऊपर नग्न गिरिकूट एवं और ऊपर नील आकाश में एक बादल की टुकड़ी सिन्दूर वर्ण धारण करके चमकने लगीं।

दादो ने अश्व सामने की ओर चालित करके कहा: "अब देर मत करो। शाम हो गई, अभी दो पहाड़ और पार करने हैं। पूना पहुँचते पहुँचते रात हो जाएगी।"

बालक ने उनका अनुगामी होकर कहा: "तो क्या हुआ? तुम्हें रास्ता दिखा कर ठीक-ठीक ले चलूँगा।"

दादों ने कहा: "रात को ये स्थान निरापद नहीं। नहीं सुना, इधर के गाँव-बस्तियों में आजकल बहुधा डाके पड़ रहे हैं?"

बालक ने विस्मय प्रगट करते हुए कहा: "अच्छा! मैंने तो नहीं सुना। कौन लोग लूट-खसोट करते हैं?"

दादो ने कहा: "सो तो कोई नहीं जानता। ऐसा प्रतीत होता है कि इधर के जंगली पहाड़ी मवाली लोग डकैती कर रहे हैं। बीजापुर इलाके के तीन बड़े-बड़े गाँवों में पिछले चार महीनों में डाके पड़ चुके है। सुनते हैं उनका सरदार कोई छोकरा है, लोहे का बख़्तर बन्द और मुखस पहन कर घोड़े पर सवार हो लुटेरों को डकैती के लिए साथ ले जाता है। सुना है छोकरा बहुत ही काला, नाटा और तगड़ा है।"

बालक ने अपने हाथ का बल्लम चपलतावश घुमाते हुए पूछा: "अच्छा! तुम्हें इतनी बातें कहाँ से मालूम हुईं, दादो?"

दादो ने पहाड़ पर घोड़ा चढ़ाते हुए उत्तर दिया, "उस इलाके के देशमुख लोग दरबार में नालिश करने आए थे। उनका विश्वास है कि डाकुओं का सरदार पूना का कोई आदमी है।"

दादो के पीछे-पीछे स्वयं भी पहाड़ पर चढ़ते हुए बालक ने पूछा: "तुम लोगों ने दरबार की ओर से क्या प्रबन्ध किया?"

दादो ने उत्तर दिया: "कुछ नहीं। देशमुखों को तुम्हारे पिता के पास बीजापुर भेज दिया है।"

बालक पीछे रह कर मन्द-मन्द मुस्कुरा रहा था, दादो ने नहीं देखा। कुछ देर तक कोई बातचीत न हुई। पहाड़ के शिखर पर पहुँच कर दोनों पलभर के लिए एक दूसरे के पार्श्ववर्त्ती हुए। यहाँ फिर सूर्य किरणों ने बालक के बल्लम की नौक में जैसे आग लगा दी।

सामने की उपत्यका में धुँधला अंधकार छा चुका था; नीचे की ओर देख कर बालक ने पूछा: "अच्छा दादो, अब अगर हम दोनों पर डाकू हमला करें तो तुम क्या करोगे?"

दादो ने क्षिप्रदृष्टि से चारों ओर देख कर कहा: "करूँगा क्या! उनसे लड़ूँगा।"

"अगर वे पचास हों?"

"तब भी लड़ूँगा।"

बालक ने कहा: "लेकिन यह तो बड़ी भारी मूर्खता होगी, दादो। पचास आदमियों के साथ तुम अकेले कैसे जूझ सकते हो?"

दादो ने कहा: "तो क्या हुआ? और कुछ न हो तो उनसे लड़ते-लड़ते ही मरूँगा।"

बालक ने विस्मित हो कर कहा: "लेकिन इस तरह मरने से क्या लाभ है, दादो?" फिर सर हिला कर कहा "मगर मैं तो नहीं लड़ूँगा, तीर की तरह इस किनारे से भाग निकलूँगा। इतनी तीव्र गति से भागूँगा कि डकैतों के भाले मुझे छू भी नहीं सकते।"

क्षुब्ध विस्मय के स्वर में दादो ने कहा: "क्षत्रिय के लड़के हो तुम, शत्रु के सामने से भागोगे? अभी कह नहीं रहे थे कि डर किसे कहते हैं, तुम नहीं जानते?"

बालक ने उत्तर दिया: "भय! भागने के साथ भय का क्या सम्बन्ध? भागूँगा, इसलिए कि भागने में मेरी सुविधा है, बाद में डाकुओं की खबर ले सकूँगा। और अगर लड़कर मर ही गया तब तो डकैतों की ही जीत हुई।"

दादों ने सिर हिला कर कहा: "नहीं, नहीं शिक्षा तुम्हें कहाँ से मिल रही है? युद्ध न करके भाग जाना भयंकर कायरता है। जो वीर है, वह कभी नहीं भागता। राजपूत वीरों की कहानियाँ नहीं सुनीं तुमने?"

बालक बोला: "राजपूतों की कहानियाँ सुनने से मेरे बदन में जैसे आग लग जाती है। वे लोग सिर्फ़

युद्ध करना ही जानते हैं उनमें बुद्धि रत्ती भर भी नहीं । जो जितना बड़ा वीर है वह उतना ही भारी मूर्ख ।''

"दादो ने चुटकी लेते हुए कहा : "तुम भी तो राजपूत हो । माँ की तरफ़ से तुम्हारे शरीर में भी यदुवंशियों का रक्त है ।''

बालक ने सवेग शिरःसंचालन करके कहा : "नहीं मैं राजपूत होना नहीं चाहता, मैं मरहठा हूँ ।'' बालक का ललाट कुंचित हो उठा, लेकिन दूसरे ही क्षण वह हँस पड़ा, बोला : "अच्छा दादो, तुम से मैंने बड़े-बड़े युद्धों की कहानियाँ सुनी, है परन्तु एक बात किसी प्रकार भी समझ न सका ।'' सम्मुख-युद्ध करने का क्या अर्थ है ?'

दादो सहसा इस प्रश्न का उत्तर न दे सके, ज़रा सोच कर बोले, "सम्मुख-युद्ध का अर्थ है आमने-सामने शक्ति-परीक्षा । जिसकी शक्ति अधिक है, वही जीतेगा ।''

"वह तो धर्म-युद्ध नहीं रहा !''

"न हुआ तो क्या ? युद्धमें असली चीज़ है हार-जीत-धर्म-युद्ध हुआ या नहीं, यह विचारने से क्या लाभ ?''

दादो बहुत देर तक बालक के जिज्ञासु मुख की ओर देखते रहे, फिर दुःखित भाव से सर हिलाकर अपने मन ही मन अस्फुट स्वर में बोले, इसे अपने बाप का स्वभाव सोलहों आने मिला है, जैसा धूर्त है वैसा ही होशियार-हर वक़्त नफ़ा-नुकसान पर नज़र रहती है । सिर्फ़ बाप ही क्यों, कारणवंश ही धूर्त है । मालोजी भोंसले अगर छल करके यदुवंशी कन्या को अपने घर न ला पाता तो भोंसले वंश को जानता कौन ?—शाहू ही इतना बड़ा जागीरदार बनता कैसे ?''

पल भर में बालक के संशयपूर्ण मुख भाव में परिवर्तन हुआ । बालकोचित कुतूहल के साथ दादो के समीप खिसककर सानुनय बोला, "दादो, तुमने कहा था कि मुझे मेरी माँ के विवाह की कहानी सुनाओगे, अब तक नहीं सुनाई । बताओ ना, दादो, बाबा यदुवंशी लड़की को कैसे अपने घर लाए ।''

वृद्ध दीर्घश्वास मोचन करके थोड़ी देर निस्तब्ध रहे फिर अपने मन ही मन बोले, "वंश की धारा बदली नहीं जा सकती; बाघ का बच्चा बाघ ही होता है, शृगाल नहीं होता, ईश्वर का यही विधान है । कौन जानता है, कदाचित् इसी में मंगल का बीज निहित हो ।'' बालक ने उन्हें दीर्घकाल चिन्ता का अवकाश न दे कर पुनश्च कहा, "कहो न, दादो !''

दादो ने फिर एक दीर्घश्वास लेकर कहना शुरू किया । "कहानी बहुत छोटी-सी ही है । परन्तु तुम्हारे पितामह मालोजी भोंसले कैसे चतुर थे, इस कहानी से उसका पता चलता है ।''

तुम्हारे मातुल वंश जैसा इतना बड़ा यशस्वी वंश दाक्षिणात्य में बहुत कम ही है । आज से नहीं, चार सौ वर्ष पहले अलाउद्दीन खिलजी के समय से देवगिरि के यदुवंश का नाम दाक्षिणात्य के पत्थर-पत्थर पर तलवार से खुदा हुआ है ।

"अतीत के किस युग में हम यदुवंश ने राजपूताने से आकर देवगिरि में राज्य-प्रतिष्ठा की थी, वह कहानी लुप्त हो चुकी है । देवगिरि का राज्य भी अब नहीं है । किन्तु वीरत्व, धर्मनिष्ठा, महानुभावता में यह वंश आजतक प्रत्येक भारतीय का आदर्श बना हुआ है ।'' ऐसे वंश में तुम्हारे नाना लखुजी यदुराव एक पराक्रमशाली महातेजस्वी पुरुष थे । दस हजार सिपाही नित्य उनके यहाँ पलते थे । बीजापुर-गोलकुण्डा उनसे यम की तरह डरते थे, अहमदनगर राज्य के वे थे प्रधान स्तम्भ । मालिक अंबर यदि उनसे कपटाचारिता न करता—लेकिन और ही कथा है । अब असली कहानी शुरू करूँ ।

"यह बहुत दिन पहले की घटना है, तब मेरी उम्र दस-ग्यारह वर्ष से अधिक न थी । लेकिन उस दिन की प्रत्येक घटना मुझे स्पष्ट याद है । उस दिन थी फाल्गुनी पूर्णिमा, राजपूतों के महोत्सव का दिन । दाक्षिणात्य में होली-पूर्णिमा के दिन, अबीर खेलने की प्रथा का इसी यदुवंश ने प्रचार किया था । उस दिन देश के समस्त गण्यमान्य व्यक्ति, यहाँ तक कि बीजापुर गोलकुण्डा, अहमदनगर दरबारों के बड़े बड़े हिन्दू अमीर उमराव आकर लखुजी की क़िले जैसी विशाल इमारत में जमा होते थे । समस्त रात्रि-दिनव्यापी उत्सव चलता था, फाग, रंग और सुरा की नदी-सी बहने लगती थी ।

"उस बार भी लखुजी के विशाल प्रासाद के दरबार कक्ष में सभा जुड़ी थी । फर्श पर ईरानी ग़ालीचा बिछा हुआ था, उस पर बहुत से बैठे हुए थे, दरबार में लोगों की अपार भीड़ थी । सिपाही से सरदार तक

सभी को अबाध यातायात की अनुमति दे दी गई थी। साधारण सैनिक पांच हज़ार सरदार के मुख पर अबीर रगड़ रहा है, मनसबदार सिपाही को भूमि पर गिराकर उसके मुँह में शराब की बोतल उँडेल रहा है। चारों तरफ़ हँसी के फव्वारे छूट रहे हैं। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं, इस एक दिन के लिए सभी समान हैं। सभी आमोद-प्रमोद में मस्त हैं।

सभा के बीचोंबीच बहुत बड़े चाँदी के थाल में अबीर रखा हुआ है, और उसी की चारों ओर प्रधान-प्रधान अतिथिवृन्द बैठे हैं। स्वयं लखुजी यहाँ आसीन हैं; तुम्हारे बाबा मालोजी भी यहीं हैं। मालोजी उस समय लखुजी के अनुगृहीत साधारण सरदार मात्र थे। किन्तु उनकी कूटबुद्धि तथा रणनैपुण्य के कारण लखुजी का उन पर बड़ा स्नेह था, इसीलिए मालोजी ने भी इस सभा में आकर बैठने का साहस किया था। सभी के मुखों पर अबीर का प्रलेप था, देह के वस्त्र एवं मिरज़ई रंग से रक्तवर्ण, आँखें उनींदी। यहाँ संगीत की महफ़िल जमी हुई है, और भी बहुत-से लोग चारों तरफ़ खड़े गाना सुन रहे हैं।

गाना गा रहे हैं अहमदनगर के एक बूढ़े उमराव, उनका नाम मैं भूल गया। बहुत बड़े उस्ताद के नाते उनकी ख्याति थी। फ़र्शी पीते-पीते उन्होंने यकायक बसन्त राग की तान ली—स्वरलहरी से सफ़ेद मूँछों पर जमी हुई अबीर की तह उड़ गई। तुम्हारे पितामह मालोजी सितार हाथ में लिए पीछे बैठे थे, उन्होंने साथ साथ संगत शुरू की। लखुजी स्वयं मृदंग बजाने लगे।

गाना रुकते ही चारों तरफ़ की प्रशंसा ध्वनि गूँज उठी, लखुजी ने पखावज हटाकर क़रीब एक तोला अम्बुरी इत्र श्वेतकेश गायक की मूँछों पर रगड़ उनकी दाढ़ी हिला कर कहा : "क़त्ल किया बीबी! एक और फ़रमाओ!

वृद्ध ने दन्तहीन हास्य के साथ आँख मार कर फिर गाना आरम्भ किया, "चोली में छिपाऊँ कैसे जोबना मोरा।"

"चारों ओर ज़ोरदार हँसी गूँज उठी। लखुजी ने उस्ताद को गोद में उठा कर नाचना शुरू कर दिया। क्या ही आनन्द के दिन थे वे! अब सपने की तरह प्रतीत होते हैं!"

दादो ने दीर्घश्वास मोचन किया।

दोनों घोड़े पर्वत पार होकर, उपत्यका पर आ उतरे थे, किन्तु मार्ग अब भी शिला संकुल था आस पास की ज़मीन फट कर बड़े-बड़े खाद बन गए थे। शुष्क प्राय प्रणाली की तरह ये खाद अंधकार में बड़े ही विपज्जनक थे; घोड़ा एक बार पैर फ़िसल कर उनमें गिरने से कहाँ जा पड़ेगा, इसकी कोई स्थिरता न थी। इधर दिवा-दीप्ति भी पूर्णतया बुझ चुकी थी, केवल सामने बहुत दूर पूना के दीप टिमटिमा रहे थे।

बालक एकाग्र हो कहानी सुन रहा था, दादो के रुकते ही साग्रह उनकी ओर झुक कर बोला, "इसके बाद?"

दादो ने कहा : "होशियार होकर रास्ता चलो, सड़क बड़ी ख़राब है।" फिर उन्होंने कहना आरम्भ किया :

"दो छोटे-छोटे बालक-बालिका इस कक्ष की चारों ओर खेलते हुए घूम रहे थे; दोनों ने लाल बनारसी 'चेली' पहन रखी थी, कानों में कुण्डल, हाथों में कंगन और गले में हार थे। लड़का था पाँच वर्ष का, लड़की थी तीन वर्ष की। इनकी ओर किसी की दृष्टि न थी, दोनों अपनी मस्ती में डूबे हुए कमरे में खेलते फिर रहे थे इसी बीच लड़की ने दूर से लड़के को देख कर, उसके समीप आ कर उसे आपादमस्तक निरीक्षण करके गम्भीर मुद्रा बना कर अर्द्ध स्फुट स्वर में पूछा :

"तुम कौन हो?"

लड़के ने भी लड़की की ओर गम्भीर मुद्रा बना कर देख कर कहा : "मैं शाहू हूँ। मैं तीर चलाना जानता हूँ। तुम कौन हो?"

लड़की की दोनों आँखों में सम्भ्रम झलक उठा, अपने फूल जैसे दोनों ओंठ खोल कर थोड़ी देर तक बालक की ओर देख कर उसने धीरे धीरे उत्तर दिया, "मैं हूँ दिदा।"—फिर ज़रा सोच कर उसने फिर कहा, "मेरे पिताजी भी तीर चलाना जानते हैं।"

तदनन्तर इस वीर एवं वीर कन्या में मैत्री होने में देर न लगी। शाहू ने आगे बढ़ कर लड़की के गले में हाथ डाल दिया, लड़की ने भी शाहू की कमर में हाथ डाल दिया। इसी प्रकार बहुत देर तक दोनों दरबार कक्ष में इधर-उधर घूमते रहे। उनमें चुपचाप क्या बातचीत हुई, वही जानें। सम्भवतः शाहू ने अपने

असाधारण शौर्य-वीर्य की विस्तृत व्याख्या करके लड़की के छोटे-से हृदय को जीत लिया था। और लड़की ने भी कदाचित् निःसंशय सहानुभूति एवं प्रशंसा द्वारा शाहू के वीर-हृदय को पूर्णतया जीत लिया था!

"इधर संगीत की महफ़िल शिथिल हो चुकी थी; वृद्ध गायक तीन पात्र गुलाबी शरबत पीकर किमख़ाब के तकिए के सहारे बैठ कर हाँप रहे थे। ऐसे वक़्त दोनों बालक-बालिका एक दूसरे के गले में हाथ डाले, उन लोगों के बीच आ खड़े हुए। इतने लोग चारों ओर खड़े हुए थे, किन्तु उस ओर उनका ध्यान ही न था, आपस की बातचीत में ही दोनों मशगूल थे। सभा में जो लोग बैठे थे उनकी मुग्ध दृष्टि एक साथ दोनों पर जा पड़ी। ये कैसा अपूर्व आविर्भाव! आज फाग (होली) के दिन क्या सचमुच ही वृन्दावन-लीला उनकी आँखों के सामने अभिनीत हो रही है? सबने आँखें रगड़ कर देखा—सचमुच ही तो! बालक का वर्ण है नवजल-धरश्याम और बालिका है विद्युल्लता जैसी गौरी!

"लड़की को एकाएक क्या सूझा, उसने इत्रदान में अपनी चम्पा-कली जैसी उँगली डुबोकर शाहू की नाक के नीचे इत्र लगाया। शाहू भी आदर-सत्कार करने में कम नहीं था; उसने भी चाँदी के थाल से मुट्ठी भर अबीर उठाकर सस्नेह लड़की के चेहरे पर मल दिया।" सबने सानन्द जयध्वनि की, "राधा-गोविन्द की जय!"

लखुजी और मालोजी के अतिरिक्त कोई नहीं जानता था कि ये दोनों बालक-बालिका कौन हैं। लखुजी ज़ोर से हँस पड़े, फिर दोनों को समीप खींचकर अपनी गोद में बिठाकर बोले, "राधा-गोविन्द नहीं, ये हैं मेरी लड़की और मालोजी का लड़का। मित्रगण, इन दोनों का विवाह होने से, इनकी जोड़ी कैसी रहेगी?"

"लखुजी ने बात परिहास के अभिप्राय से ही कही थी, इसके अतिरिक्त गुलाबी शरबत का नशा भी थोड़ा-बहुत उनपर था। उनकी बात सुन कर सब लोग हँस पड़े, परन्तु मालोजी ने तत्क्षण ही खड़े हो कर हाथ जोड़ कर सबको संबोधन करते हुए कहा" महाशय गण, आप लोग साक्षी रहिए, लखुजी ने अपनी कन्या को मेरे पुत्र के साथ वाग्दत्ता किया।"

सब लोग अवाक् हो रहे, लखुजी का नशा छूट गया। अबीर-प्रलेप के आवरण को भेद कर उनका चेहरा क्रोध मे काला पड़ गया। उनकी कन्या को—देवगिरि के राजवंश की कन्या को मालोजी जैसा एक साधारण प्राणी अपनी पुत्रवधू बनाने की स्पर्धा कर सकता है, यह बात उनकी कल्पना से भी परे थी। लेकिन बात उनके मुँह से निकल गई है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। मालोजी की ओर क्रोध से घूर कर बोले, "मालोजी, तुम पागलों जैसी बात कर रहे हो। मेरी पुत्री राजा के घर ब्याही जाएगी।"

मालोजी ने पूर्ववत् हाथ जोड़ कर कहा, मेरे लड़के ने आपकी लड़की के मुँह पर अबीर लगाया है, आपकी लड़की ने मेरे लड़के के मुख पर इत्र लगाया है। फिर आपने दोनों को अपनी गोद में बिठा कर जो कुछ कहा है, वह उपस्थित सभी लोगों ने सुना है। धर्मतः आपकी लड़की मेरे पुत्र की वाग्दत्ता है। अब यदि आप अपनी बात प्रत्याहार करना चाहते हैं, कीजिए, मुझे कोई आपत्ति नहीं।

"क्रोध के मारे लखुजी कूद कर अपने आसन से उठ खड़े हुए, किन्तु उनके मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। एक बार सबकी ओर देखा परन्तु उनके मनोभाव समझने में विलम्ब न हुआ; सभी लोग नीरव हो कर मालोजी की बात का समर्थन कर रहे थे। लखुजी अपनी लड़की को गोद में उठा कर आँधी की तरह अन्तःपुर की ओर चले गए।"

"मालोजी भी लड़के को लेकर घर लौट आए। चारों ओर बात फैल गई कि प्रकाश्य दरबार में लखुजी की लड़की मालोजी के लड़के की वाग्दत्ता घोषित की गई है। वैसे बात तो अधिक दिनों तक दबी न रह सकती थी, परन्तु ऐसी थी तुम्हारे पितामह की तत्परता एवं उद्यम कि एक सप्ताह के अन्दर महाराष्ट्र में सर्वत्र यह सुसंवाद पहुँच गया, प्रत्येक व्यक्ति को यह संवाद मिल गया।"

"लखुजी निष्फल क्रोध से फूलने लगे। मालोजी के साथ उनका झगड़ा हो गया, यहाँ तक कि एक दूसरे का मुँह देखना भी बन्द हो गया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मालोजी जैसे धूर्त्त, अकृतज्ञ व्यक्ति को वे अब कोई सहायता न करेंगे, इसके विपरीत उसे अनिष्ट पहुँचाने का ही सदैव प्रयास करेंगे।

"परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ न रह सके। जैसे जैसे वर्ष बीतते गए, वैसे वैसे वे समझते गए कि

चतुर मालोजी ने उन्हें कैसे भयंकर फन्दे में फाँस लिया है! वे समझ गए कि अन्यत्र पुत्री का विवाह करने से वह सुखी नहीं होगी; जैसे जैसे उसकी उम्र बढ़ती जा रही है, वैसे वैसे उसके मन में यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि शाहू के अतिरिक्त कोई और उसका स्वामी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त दूसरे की वाग्दत्ता कन्या को जान बूझ कर कोई विवाह नहीं करना चाहता था, दो-चार ऊँचे घरानों में सम्बन्ध भेज कर लखुजी को लज्जित होना पड़ा था। निदान उन्होंने देख लिया कि शाहू के अतिरिक्त जीजा की कोई और गति नहीं।

इसी प्रकार नौ-दस वर्ष बीत गए। सौभाग्य एवं बुद्धिबल से मालोजी ने काफ़ी उन्नति कर ली थी, विषय सम्पत्ति भी बना ली थी। लखुजी का विद्वेष और अनिच्छा क्रमशः घटती गई। उसके बाद "एक दिन मालोजी को अपने घर बुलवा कर उनका आलिंगन करके कहा, "भाई, मेरी ही भूल थी; जीजा को तुम अपने लड़के के लिए ले जाओ।"

"बस, फिर क्या था? कहानी यहीं समाप्त होती है। मालोजी का अभिप्राय सिद्ध हो गया। बड़ी धूम-धाम के साथ तुम्हारी माँ और तुम्हारे पिता का विवाह हो गया। तब तुम्हारी माँ थी तेरह वर्ष की और शाहू पन्द्रह वर्ष के। विवाह की रात को तुम्हारी माँ का गर्वोज्ज्वल हँसमुख चेहरा मुझे अब तक याद है।

"लेकिन इतना निश्चित है कि जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध न होने से इतने विघ्नबाधाओं को अतिक्रम करके, इतना बड़ा सामाजिक पार्थक्य उल्लंघन करके, यह विवाह हो ही न सकता था। तुम्हारे माता-पिता पूर्व जन्म में भी पति-पत्नी थे।"

वृद्ध दादो मौन हुए। कुछ देर तक दोनों में कोई बात चीत न हुई, नीरव रास्ता चलते रहे। अन्धकार काफ़ी गाढ़ा हो चुका था, बगल का आदमी भी दिखाई न देता था। दादो ने देखा कि बालक दोनों हाथ जोड़ कर ललाट से स्पर्श करते हुए बारंबार किसी को नमस्कार कर रहा है। दादो बोले नहीं, अपूर्व आवेग से उनका शरीर रोमांचित हो उठा।

थोड़ी देर बाद एक दीर्घ श्वास त्याग करके अस्फुट स्वर में बालक ने कहा: "कितनी सुन्दर कहानी है! मेरी माँ जैसी माँ संसार में किसी और की नहीं है—है न, दादो?"

दादो ने संयत स्वर में उत्तर दिया: "हाँ! तुम्हारी माँ जैसी असामान्य नारी भी दूसरी नहीं है। इस तीन वर्ष की आयु से उसे देख रहा हूँ, ऐसी कोई और नहीं देखी।"

पूर्ण हृदय लिए दोनों नीरव रहे। क्रमशः पूना के आलोक निकटवर्ती होने लगे, पथ समतल और प्रशस्त हुआ। अश्वद्वय आशु घर पहुँचने की आशा से द्रुत चलने लगे।

पूना पहुँचने में जब केवल पाव कोस बाकी था, तब किसी ने सामने के अंधकार से उच्च स्वर में पुकारा, "हो शिवा हो! हो दादो जी!"

बालक शिवा चौंक कर सानन्द चिल्लाया, "ताना! ताना!" फिर उसने अपना घोड़ा तीर की तरह सामने की ओर दौड़ाया। अन्धकार में तानाजी मालेश्वर घोड़े पर बैठा था, शिवा करीब करीब उसके ऊपर जा पड़ा। तानाजी ने तिरस्कार के स्वर में कहा: "आज घर नहीं लौटना है? कहाँ थे अब तक? माताजी कितनी चिन्तित हैं; जब उनसे रहा नहीं गया तो मुझे भेजा।"

शिवा ने घोड़े पर बैठे-बैठे ही तानाजी के गले में हाथ डाल कर पूछा: "माँ कहाँ हैं रे, ताना?"

तानाजी बोला: "हैं कहाँ—घर में! द्वार पर खड़ी राह तक रही हैं। तुम्हारे लौटने में इतनी देर क्यों हुई?"

शिवा ने व्यग्रता पूर्वक कहा: "चल ताना, जल्दी घर लौटें। माँको दिन भर नहीं देखा, मन बड़ा उदास हो रहा है।"

दोनों किशोर मित्र नीड़ प्रतिगामी पक्षियों की तरह द्रुत घर की ओर अग्रसर हुए।

वृद्ध दादोजी कोण्डू बहुत दूर पीछे छूट गए।

—शरदिन्दु बन्द्योपाध्याय

—अनु॰ जयन्तप्रसाद बागची

१८५, मौरिस रोड,
अलीगढ़

महान् वस्तुओं का एकमात्र सरलता से कहने में ही प्रभाव पड़ता है। बल देकर कहने में उनका प्रभाव नहीं पड़ता।

बापू की अहिंसा

आज के युग में अहिंसा शब्द कोई नया नहीं है ? इससे भारत ही नहीं विश्व का प्रायः प्रत्येक देश पूर्ण रूपेण परिचित है । क्योंकि संसार में प्रचलित कोई भी धर्म अथवा समुदाय ऐसा नहीं है जिसने इस शब्द का महिमा गान न किया हो । प्राणी मात्र पर दया करने के आदेश से कोई भी धार्मिक ग्रन्थ अथवा पुस्तक शून्य नहीं है । जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यहाँ तो इस शब्द की महिमा उपनिषद्, स्मृति युग से लेकर सन्तों के युग तक सुदृढ़ रूप से स्थापित रही है । जिस अहिंसा के पालन का उपदेश इस देश के ऋषि, विचारक, सन्त, आदिकाल से अबाध रूप से देते आ रहे हैं उस अहिंसा की कल्पना, साधना तथा आदर्श क्या भारत के लिए नवीन था या है ? सम्भवतः नहीं ।

अहिंसा शब्द नया नहीं है, इसी मत के आधार पर प्रश्न उठता है कि जब इसमें कोई नवीनता नहीं तब बापू ने ही अगर इसका और प्रचार कर दिया तब विशेष बात क्या हुई ? आदि से लेकर अद्य तक भारत के विकास की जो आलोकमय शृंखला चली आ रही थी, बापू उसकी कड़ी मात्र ही तो थे ? बापू के रूप में भारत की संस्कृति तथा युगों से उपलब्ध उज्ज्वल अनुभूतियों के सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अभिव्यक्ति ही तो हुई ? फिर यदि उन्होंने एक बार पुनः अहिंसा शब्द का प्रचार तथा उसके गौरव और आदर्श की प्रतिष्ठापना कर दी तो क्या नवीन बात हुई ?

इस प्रकार के प्रश्न आज ही नहीं, स्वयं बापू के काल में भी प्रायः जन साधारण में उठते रहे हैं । जिनके मन में यह प्रश्न उठे और जिन्होंने इनका समाधान पाने का प्रयत्न किया, वे ही बापू की, उनकी कल्पना और आदर्श की, उपदेश की विशेषता खोज सके हैं । इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने बापू के अहिंसा शब्द की नवीनता उसकी विशेषता पा ली है । कबीर की इस उक्ति की भाँति "जे बूड़े तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ" के अनुसार बापू के अहिंसा सम्बन्धी विचारों का मन्थन करने के बाद आप भी इन प्रश्नों का उत्तर पा सकते हैं ।

गांधी जी जिस समय तथा जिस संसार में जन्मे, वह उनके सामने था । उनके साथ ही तत्कालीन समस्याएँ एवं गुत्थियाँ भी थीं । प्रचलित गुण तथा विकार, सर्वव्यापी वैषम्य और विफलताएँ, समाधान पाने की आवश्यकता और कठिनाइयाँ सभी कुछ उनके समक्ष थे । उन्हें प्रस्तुत करना था, एक पथ जिस पर चलकर जगत् की इन समस्याओं का समाधान किया जा सकता । इसी लक्ष्य को सामने रख कर उनके विचार एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख हुए । उन्होंने एक पथ, प्रवाह की एक नवीन दिशा ग्रहण की । उनके द्वारा व्यक्ति के लिए साथ ही सामाजिक जीवन व्यापार के लिए जिस आधार का, मूल का प्रतिपादन किया गया, वह उनके द्वारा पुनः प्रतिष्ठापित अहिंसा में ही समाया है । उनकी अहिंसा साधुओं और सन्तों की अहिंसा मात्र न रही अपितु उन्होंने इस अहिंसा को आधार बनाया, व्यक्ति तथा समष्टि मात्र के लिए, जो उनकी जगत् की समस्याओं के हल का एकमात्र और अनूठा उपाय, समाधान था ।

बापू की मान्यता थी कि मनुष्य की प्रगति और विकास का एक निश्चित पथ है और वह है पशुभावों तथा प्रवृत्तियो से ऊँचा उठते जाना । मानव जीवन के साथ लगी लोभ, हिंसा, द्वेष, प्रभुता, अहं आदि वृत्तियाँ पाशविक धर्म के सामान ही हैं । इनसे जो ऊँचा उठ सके, इनकी सीमा बांध जो संतुलन स्थापित कर सके, वही विकासोन्मुख है । उसके जीवन का गौरव, बड़प्पन इसी में है कि वह अपने अहं और ममत्व से ऊँचा उठता चले । उसके अहं के त्याग पर ही उसके परिवार की, समाज की, जगत् की सुन्दर कल्पना आधारित है ।

उनकी इस मान्यता का आधार था । उन्होंने देखा आज बड़ी समस्या यही है कि मनुष्य पूर्णज्ञान का ज्ञाता होते हुए, सब कुछ का मालिक होते हुए भी मनुष्यता को खो चुका है । क्यों ? इसीलिए कि वह निज अहं का विसर्जन कर अनन्त विराट् में अपने को लय कर देने पथ का त्याग कर अहं की पूजा में रत है। यही कारण है कि विश्व मनुष्य के पीड़न से, मानव

१६५७

द्वारा मानव के दोहन, शोषण से, शासन और दलन से पीड़ित है। मानव स्वयं अपने रक्त से धरती को सींच रहा हैं। मानवता की कराह व्याप्त है। संस्कृति पतनोन्मुख हो लोपप्राय है। इसी भयंकर स्थिति का परिचार बापू ने खोजा अहं विसर्जन में, इसी कारण तो बापू की अहिंसा-कल्पना में जीव-दया मात्र न होकर निज अहं के त्याग की शर्त निहित है। वे कहते हैं :

"अहिंसा एक पूर्ण स्थिति है। सारी मनुष्य जाति इसी एक लक्ष्य की ओर संभवतः परन्तु अनजान में जा रही है। मनुष्य जब अपने लिए साक्षात् निर्दोषिता की मूर्ति बन जाता है तब वह दैवी पुरुष नहीं हो जाता। वह तो कुछ अंशों में मनुष्य और कुछ अंशों में पशु हैं। हम घूँसे के बदले घूँसा जमाते हैं और हमारे क्रोध का पारा चढ़ जाता है। इसे हम कहते हैं हमने मनुष्य जाति के उद्देश्य की पूर्ति की है, कर्त्तव्य का पालन किया है। यह तो अज्ञान नहीं अहंकार है। यह प्रतिहिंसा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हम उसके कायल हैं परन्तु इसके विपरीत धर्मशास्त्रों में तो हम देखते हैं कि प्रतिहिंसा कहीं भी आवश्यक कर्त्तव्य नहीं। बल्कि सिर्फ़ वह जायज़ मानी गई है। आवश्यक कर्त्तव्य है संयम। संयम हमारे जीवन का नियम है क्योंकि बिना पूर्ण संयम के मनुष्य पूरी पूर्णावस्था को पहुँच ही नहीं सकता।"

बापू ने उस सभी को हिंसा कहा है। जिसका उन्मेष अहं से होता, है। स्वार्थ, प्रभुता की भावना, विद्वेष, भौतिकता की पूजा, व्यक्ति तथा वर्गगत स्वार्थों का अंध साधन, शक्ति द्वारा कामनाओं की तृप्ति, स्वाधिकार बनाए रखने के लिए तथा पराधिकारों का हरण करने निमित्त शक्ति प्रयोग आदि सभी हिंसा की श्रेणी में आते हैं। उनकी अहिंसा मन की वह स्थिति है जिसके द्वारा मानव इन भावपाशों से मुक्त हो अपने व्यक्तित्व का विसर्जन करने हेतु तत्पर हो जाए।

अहिंसा की इस सजीव कल्पना करनेवाले बापू जो कर्मशील थे, एक दार्शनिक की भांति कल्पना कर चुप न बैठे रहे। वे जानते थे कि आदर्श जिनका व्यवहार न हो सके, जो वास्तविकता से परिचित न हो सके, वे व्यर्थ सिद्ध होते हैं अथवा रहते हैं। कोरे आदर्श का कोई मूल्य नहीं इसीलिए उन्होंने अपनी अहिंसा कल्पना को, आदर्श को सक्रियता प्रदान की। युग का दिग्दर्शन कर उनके मुख से निकला "यह युग पशुबल का युग है। इस युग में सहसा किसी को यह विश्वास नहीं होता कि कोई भी पशुबल की प्रधानता को किसी भी उपाय से जीत सकता है।" उन्होंने देखा, "संसार में पशुता का पशुता से, हिंसा का हिंसा से और शस्त्र का शस्त्र से सामना किया जाता है जिसके फलस्वरूप निर्बल पशुता पर सशक्त पशुता विजयी होती रही है और शस्त्रों के आधार पर ही सबल शस्त्रों की सत्ता की स्थापना वृद्धि पर है। तब मानव विकास के लक्ष्य की प्राप्ति क्यों कर होती। वह तो तभी संभव है जब पशुता मनुष्यता से, भौतिकता आत्मबल से पराजित हो। अपने इसी पवित्र आदर्श की प्राप्ति और पथ पर आगे बढ़ चलने के लिए उन्होंने निर्जीव अहिंसा की नहीं, सक्रिय तथा सजीव अहिंसा की स्थापना की। अहिंसा के इस प्राचीन शब्द की पुनः प्रतिष्ठापना की। क्योंकि उन्हीं के शब्दों में देखिए "भारत के समक्ष आत्म त्याग के इस प्राचीन नियम को रखने का साहस मैंने इसलिए किया है क्योंकि इसी तपस्या या आत्मत्याग का दूसरा नाम सत्याग्रह, असहयोग या निष्क्रिय प्रतिरोध है। जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच में से अहिंसा का मंत्र निकाला उनमें न्यूटन से कहीं अधिक क्षमता थी। उनकी वीरता और साहसिक शक्ति वेलिंगटन से कम नहीं थी। शस्त्र शक्ति से प्रयोग को भली भाँति समझ कर उन्होंने उसकी निःसारता देख ली। और इसलिए उन्होंने खिन्न और श्रांत संसार को सिखलाया कि मोक्ष या उद्धार अहिंसा के द्वारा जिस तरह हो सकता है, हिंसा के द्वारा उस तरह नहीं हो सकता।"

बापू ने अहिंसा को वह प्रचण्ड शक्ति प्रदान की कि उसके सामने समस्त पशुता और अजेयास्त्र भी कुण्ठित हो गए। उनके इसी अस्त्र के सामने ब्रिटिश सिंह भी अपनी कुछ न चला सका, चुपचाप अपनी गुफ़ा की ओर चला गया। इसका उद्भाव उन्होंने उस शक्ति के रूप में किया जो महान् विद्रोह तथा व्यापक गतिशीलता का प्रयोजन करने में समर्थ हुई। उसको व्यवहार में ला कर, प्राणी मात्र को सर्व सुलभ बनाया क्योंकि उनका विचार था "अहिंसा धर्म केवल ऋषि-मुनि और तपस्वियों के लिए नहीं है। जनसाधारण के लिए भी वह उतना ही उपयोगी है और स्वीकार करने योग्य है। जिस तरह पशुधर्म हिंसा है मानव-धर्म अहिंसा है।"

अहिंसा की इस कल्पना, व्यवहारिकता और सर्व-सुलभता द्वारा ही बापू ने व्यक्ति के, समाज के जीवन पथ में उसे प्रस्तुत कर वह कर दिखाया अहिंसा नहीं जो अब तक कोई नहीं कर सका।

कायरता अहिंसा नहीं : अहिंसा के प्रति लोगों में एक भ्रान्ति भी है और वह है कि शस्त्र न उठाने को ही बापू ने अहिंसा की संज्ञा प्रदान की है। मगर यह विचार भी उन्हीं का है जिन्होंने उनके विचारों की गूढ़ता में प्रवेश नहीं किया। जिन्होंने किया है वे जानते हैं कि बापू की अहिंसा इतनी संकुचित नहीं है। उसका रूप ही दूसरा है, पहले से बिलकुल नवीन। बापू के अनुसार हिंसक कार्य भी अहिंसा की सीमा में आ जाते हैं। और विशेष मनःस्थिति के कारण अहिंसक कार्य भी हिंसा के मूल जनक हो जाते हैं। मूल मन की स्थिति है जिसके अनुसार कार्य विशेष किया जाए। इसीलिए तो शस्त्रधारी शत्रु के सामने से पलायन करने को उन्होंने कायरता कहा है। इससे बड़ी हिंसा उनकी दृष्टि में है ही नहीं। वे कहते हैं : "जहाँ कायरता और हिंसा का सवाल है, वहाँ मैं हिंसा की योजना करूँगा और इसी की राय दूँगा।... इसीलिए शस्त्रशिक्षा का परामर्श उनको देता हूँ जो हिंसा में विश्वास करते हैं। दूसरी युक्ति न होती तो मैं भारत के लिए भी यही सलाह देता कि इस तरह कायरों की भाँति पड़े-पड़े अपने अपमान और अप्रतिष्ठा के दृश्य देखने से शस्त्र ग्रहण करके मर मिटना ही अच्छा है।"

बापू की दृष्टि में निर्भय होकर बिना किसी शस्त्र के शस्त्र का मुक़ाबला करने में अपना अहंकार त्याग कर जीवन अर्पित कर देना ही विशुद्ध अहिंसा है। परन्तु प्राण भय से पलायन करने वाला कायर हिंसक न होते हुए भी सबसे बड़ा हिंसक है, क्योंकि उसे अहं से प्यार है। सत्य की अपेक्षा उसे प्राणों का मोह है।

यह भी हो सकता है कि कोई अनुचित काम तथा चोरी, डाकाज़नी न करके दूसरे का माल आदि हड़पने के लिए किसी के द्वार पर जा कर अनशन आरंभ कर दें तो क्या उसको अहिंसक कहा जाएगा? बापू के अहिंसा शब्दार्थ में इसका उत्तर 'नहीं' है। क्योंकि उनकी विचारधारानुसार अहिंसक साधन ग्रहण करके भी अनुचित कार्यों का करने वाला सबसे बड़ा हिंसक है। इसके दूसरी ओर शस्त्र लेकर किसी विषाक्त घाव को चीरने वाला डाक्टर हिंसक नहीं है, भले ही उसका कार्य हिंसात्मक हो। यही नहीं अगर किसी को असाध्य रोग हो, मृत्यु निश्चित हो, रोगी बेसुध हो महादुःखी हो तो उसके प्राण हरण में भी वे कोई दोष नहीं मानते। इसीलिए एक बार गो-सेवा-संघ की ओर से सत्याग्रह आश्रम आदर्श दुग्धालय में पीड़ा से कराहते हुए बछड़े को सुँई के द्वारा दवा दिला, बापू ने स्वयं उसका प्राण हरण करवाया था। इसी प्रसंग में वे कहते हैं : "यदि आवश्यकता पड़े तो मनुष्य के सम्बन्ध में भी ऐसा करने को तैयार हो जाऊँगा।" क्यों? कहते हैं, "प्राण लेकर और चीर फाड़ करने वाले डाक्टर द्वारा शरीर में रहने वाली आत्मा को दुःख मुक्त करने की सामान्य धारणा है। शरीर में चीर फाड़ करके सुख शरीर को नहीं किन्तु आत्मा को पहुँचता है। आत्मरहित शरीर में दुःख भोगने की शक्ति ही नहीं।" और भी वे कहते है, "केवल मरण से ही आदमी को या पशु को थोड़े समय के लिए बचा लेने में अहिंसा ज़रूर है। यह मान्यता वहम है और इससे देश में घोर हिंसा होती हुई देखता हूँ। एक दुःखी, महा पीड़ित पशु के प्राण लेने से जो आघात पहुँचता है उसके साथ मैं असंख्य प्रकार की चलती हुई निर्दयता के सम्बन्ध में उदासीनता का जब मिलान करता हूँ तब यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो जाता है कि हम अहिंसा-धर्मी हैं या अहिंसा के नाम पर जान बूझ कर या अनजाने में अधर्म का आचरण करने वाले हैं।" इसलिए इस विषय में उनकी मान्यता है कि स्वार्थ के वश या क्रोध में किसी भी जीव को जो कष्ट दिया जाए या प्राण हरण किया जाए तो वह हिंसा है। निस्वार्थ बुद्धि से, शान्त-चित्त से किसी भी जीव की भौतिक या आध्यात्मिक भलाई के लिए उसको जो दुःख दिया जाए, या प्राण हरण किया जाए वह शुद्ध अहिंसा हो सकती है।" इस प्रकार का था बापू का अहिंसा सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण वह केवल शस्त्र न उठाने के संज्ञा मात्र ही न था।

अहिंसा शब्द को पुनः उठा कर, एक बार पुनः उच्चारित कर बापू ने विश्व को वह बल प्रदान किया जिसकी उसे अपेक्षा थी। खोई हुई मनुष्यता को प्राप्त करने के लिए भूले पथ पर मानव को पुनः ला खड़ा कर उसके सांस्कृतिक पथ को प्रशस्त कर दिया। 'एकला चालो रे' के प्रेमी इस महात्मा ने जो कहा, जो किया

जिस तरह चला, वह भिन्न था। उनका स्वर, दृष्टि, पथ, भिन्न-भिन्न था। जगत की प्रचलित पद्धतियों से भिन्न महान् आत्मा बापू ने संसार की गुत्थियों को एक नवीन दृष्टिकोण से देखा और एक नवीन ढंग से ही उनके हल का उपाय प्रस्तुत किया। यही उनकी अहिंसा कल्पना की नवीनता तथा भिन्नता है। काश हम उनके दिव्य सन्देश की पवित्रता, गुरुता और सुन्दरता पर चल सकें। यही हमारी कामना है।

२४३७, नाइवाड़ा,
चावड़ी बाज़ार, दिल्ली

—जगदीशकृष्ण 'शमित'

नन्दू की नोट बुक से

बूट पालिश

दो बरस हुए, भारतीय संगीतकारों का एक दल चीन गया था। पीकिंग में भारतीय कलाकार एक आलीशान होटल में ठहराए गए। एक कमरे में प्रख्यात सितार-वादक हलीम ज़ाफर और तबला-वादक उस्ताद मुन्नेखां भी थे। एक दिन बहुत तड़के ही उनके कमरे में एक चीनी युवती आई और कमरे की झाड़ पोंछ करने लगी।

कलाकारों ने सोचा होटल की परिचारिका होगी और उस पर कोई खास ध्यान नहीं दिया। देखने में वह निहायत हसीन और तालीमयाफ़्ता ज़रूर जान पड़ती थी। कमरे का कायाकल्प करने के पश्चात उसने उस्ताद मुन्नेखां की जूतियाँ साफ़ करना शुरू किया। देखते ही ये चौंके। भारतीय कलाकार इसके आदी न थे। युवती को उन्होंने मना किया, किन्तु उसके आग्रह के सम्मुख बेचारों की न चली।

उसी दिन शाम को सांस्कृतिक समारोह में उन्होंने उसी महिला को फिर देखा और इस बार वह पूरी शानशौकत के साथ आई थी। उस्ताद मुन्नेखां का कौतूहल जागा, बोले: "ये आफत की पुड़िया यहाँ भी आ गई।" फनकारों से बड़ी उन्सियत है इसे। मगर है कौन ये बला—खूबसूरत बला।"

पता चला वह पीकिंग विश्वविद्यालय की एक रिसर्च स्कालर है और भारतीय कलाकारों की देखरेख के लिए उसने स्वयं सेविकाओं में अपना नाम लिखाया है।

रात को जब वे लौटे तो भारतीय कलाकार मंड़प में उसी की ची चर्चा चल पड़ी। चीनी युवती की ऐसी उदात्त भावना से वे बड़े प्रभावित हुए। पर साथ ही उन्हें उन भारतीय युवक युवतियों का भी स्मरण हो आया जो कला के अच्छे से अच्छे कलाकार को भी, हुट करने में अपनी शानी नहीं रखते और जूते, चप्पल या सड़े अंडों का उपहार भी प्रस्तुत करने में नहीं हिचकिचाते।

आर्यसमाज मन्दिर रोड़,
गणेशगंज, लखनऊ (उ. प्र.)

—नन्दराम चतुर्वेदी

नाटक के विलम्बित होने पर दर्शकों पर काबू पाना : एक कला

यदि किन्हीं आकस्मिक कारणों से नाटक का प्रदर्शन समय पर न हो पाए तो नाट्य-गृह में एकत्रित दर्शक बेचैन हो शोर मचाते हैं और कभी-कभी तो वहाँ उपद्रव भी प्रारंभ कर देते हैं। ऐसे अवसरों पर दर्शकों पर काबू पाना भी एक कला है। ऐसे ही कुछ मनोरंजक उदाहरण पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ दिए जा रहे हैं।

एक बार यूरोप के एक बड़े शहर में "दि रोमन राय" नामक नाटक का प्रदर्शन किया जानेवाला था। बहु-प्रशंसित इस नाटक को देखने के लिए अपार दर्शकों से नाट्य-गृह खचाखच भरा हुआ था। खेल आरंभ करने का समय पास आता जा रहा था, किन्तु मुख्य अभिनेता वहाँ अभी तक नहीं पहुँचा था। नाट्य-मण्डली के सदस्यों में भारी चिन्ता फैल गई और किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाए। आपस में वे विचार-विनिमय कर ही रहे थे कि इतने में उस मुख्य अभिनेता का तार आ पहुँचा जिसमें लिखा था : "पहली गाड़ी छूट जाने से अब मैं दूसरी गाड़ी से आ रहा हूँ और ठीक सवा नौ बजे तक पहुँच सकूँगा।"

तार पाकर कुछ अंशों में व्याप्त बेचैनी तो शान्त हुई, किन्तु फिर भी उन्हें दर्शकों द्वारा गड़बड़ फैलाए जाने की आशंका सता ही रही थी। क्योंकि खेल आरंभ करने का समय हो चला था। पास अन्य कोई ऐसा व्यक्ति भी न था जिससे मुख्य अभिनेता का काम लिया जा सके। इतने में उनमें से एक व्यक्ति के मस्तिष्क में तत्काल एक नवीन युक्ति सूझी और उसी समय उठ कर वह मंच पर पर्दे के बाहर दर्शकों के सम्मुख जा खड़ा हुआ। सर्वप्रथम तो हाथ उठा कर उसने उत्सुक समुदाय को शान्त किया और फिर तार पढ़ कर सुनाया और सारी स्थिति उनके समक्ष रख दी। फिर उसने कहा : "हमने निश्चय किया है कि जब तक हमारे ये महाशय यहाँ आते हैं, तब तक आपमें से ही किसी एक व्यक्ति को शिक्षा देकर मंच पर काम लिया जाय।" यह सुनते ही दर्शकों में से दो-चार मन-चले युवक उठे और मंच पर पहुँच गए। उक्त व्यक्ति ने इनमें से एक को छाँट लिया। ठीक नौ बजते ही पर्दा उठा और नवागन्तुक ने पुस्तक के सहारे अंक का अभिनय आरंभ किया। इतने दर्शकों के सामने अभिनय करने का उसे यह प्रथम बार ही काम पड़ा था। उसके पैर लड़खड़ा रहे थे और संवाद भी काँपते स्वरों में और अस्पष्ट से थे। अच्छा खासा मनोरंजक दृश्य था वह। दर्शकों का ध्यान नाटक में हुए विलम्ब से हटा कर उस ओर केन्द्रित कर दिया था। युक्ति बड़ी ही मौलिक और प्रभावशाली सिद्ध हुई। बड़ी देर तक हास्यमय वातावरण बना रहा और इस प्रकार मुख्य अभिनेता के आने तक दर्शक उस दृश्य को देखते रहे। नगर के समाचार-पत्रों में भी कई दिनों तक इसकी चर्चा होती रही।

इसी प्रकार की एक मनोरंजक घटना इंडियानो पोलिस नामक नगर में उस समय घटी जब कि वहाँ ओपेरा में "इटर्नल सिटी' नामक एक नाटक खेला जाने वाला था। सदैव की तरह इस खेल का प्रचार सारे नगर में एक सप्ताह पूर्व से ही किया जा रहा था। स्थान-स्थान पर बोर्ड और पोस्टर लगे हुए थे। परन्तु किन्हीं आकस्मिक कारणों से मंच की साज-सज्जा की सामग्री प्रदर्शन के दिन भी वहाँ न पहुँच सकी। खेल रात के नौ बजे से आरंभ होने को था और शाम तक भी सामान का पता नहीं था। नाट्य-गृह खचाखच भरा हुआ था और दर्शकों का शोर बढ़ता जा रहा था। सामग्री से भरा ट्रक ठीक पौने नौ बजे आकर नाट्य-गृह के पीछे खड़ा हुआ। नियमानुसार खेल की पहली घंटी समय से दस मिनट पूर्व ही बजा देनी चाहिए थी। किन्तु उस समय के निकलते ही दर्शक हुल्लड़ मचाने लगे। प्रदर्शन गृह तालियों, सीटियों और उनके शोर से गूँज रहा था। ऐसे संकट के समय नाटक के व्यवस्थापक ने उन लोगों को शान्त करने का बड़ा सुन्दर मार्ग खोज निकाला। वह मुख्य पर्दे से बाहर मंच पर जा खड़ा हुआ और बोला :

"भाइयों, आज आप सब लोग 'इटर्नल सिटी' देखने यहाँ उपस्थित हुए हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश इस 'इटर्नल-सिटी' (शाश्वत नगरी) हेतु आवश्यक अशा

श्यक सामग्री यहाँ समय पर न आकर अभी-अभी पहुँची है। इसी वजह से खेल आरम्भ करने में हमें थोड़ा विलम्ब हुआ है। अब उस सामग्री को मंच पर सजाने में व्यर्थ समय नष्ट न हो, इस दृष्टि से हमने निश्चय किया है कि वह सामान 'ड्राप' उठा कर आपके समक्ष ही मंच पर लगाया जाए। आशा है, आप शान्ति-पूर्वक इसे ही खेल का एक भाग समझ कर आनन्द लेंगे। इस प्रकार मुख्य खेल को आरम्भ करने में पन्द्रह मिनिट से अधिक समय नहीं लगेगा।"

निश्चित समय पर यानी ठीक नौ बजे पर्दा उठ गया और सामान के गट्ठे मंच पर लाकर पटकना शुरू कर दिया। मंच पर बनाए जाने वाली दीवार के हिस्से, घर के भाग, कोर्ट का दृश्य और अपराधी के लिए बनाए जाने वाले कटघरे के टुकड़े आदि सामान निकाल दर्शकों के सामने ही सेट्स तैयार करना आरम्भ हो गया। पर्दे के पीछे की बातें जानने की दर्शकों को भी जिज्ञासा रहती है। वे शान्ति-पूर्वक यह सब देखते रहे। सब सामान यथा स्थान जमा कर मंच को थोड़ी ही देर में सजा दिया गया और मुख्य खेल आरम्भ हो गया। प्रेक्षक प्रसन्न थे और कई दिनों तक इस घटना की चर्चा होती रही। दर्शकों पर काबू पाने की यह युक्ति भी बड़ी मौलिक और अनोखी थी।

केथवाली गली,
लश्कर, (म. प्र.)

— पुरुषोत्तम जोशी

विचित्र वसीयतनामा

स्पेन का एक विद्यार्थी था जिसका नाम था विदो मैती। कुछ वर्ष हुए उसने मैड्रिड विश्व विद्यालय में डिग्री प्राप्त करने के लिए प्रवेश प्राप्त कर अपना अध्ययन प्रारम्भ किया। एक दिन उसने एक अप्रसिद्ध दार्शनिक और तत्ववेत्ता की पुस्तक को विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से ले कर खोला, इस तत्ववेत्ता का नाम हीरो था और वह १८ वीं शताब्दी का था। पुस्तक पर धूल पड़ी हुई थी और ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे वर्षों से वह ऐसी ही पड़ी हुई है और उसे किसी ने हाथ नहीं लगाया था। विद्यार्थी ने पुस्तक को मेज़ पर रख कर साफ़ करके उसे ज्यों ही खोलना प्रारम्भ किया उसमें से एक पतला सा कागज़ नीचे गिर गया। यह कागज़ उस दार्शनिक और तत्ववेत्ता का अन्तिम वसीयतनामा था जिसमें लिखा था—जो व्यक्ति इस पुस्तक को सब से पहले खोले उसे मेरा समस्त धन दिया जाए। १५० वर्ष से यह पुस्तक मैड्रिड विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में थी और इसे किसी ने खोला नहीं था। अन्त में इस वसीयतनामे के अनुसार भाग्यवान् विद्यार्थी मैटी को ५०,००० पाउण्ड को वसीयत प्राप्त हुई।

—'इलस्ट्रेटेड वीक्ली' से

राजस्थानी लोकगीतों में कर्ज़

हमारा देश गाँवों का देश हैं। इसके अधिकतर निवासी ग्रामवासी हैं। आज से कुछ समय पूर्व हमारे गाँवों में घी-दूध की नदियाँ बहती थी। देवलोक में निवास करने वाले देवता यहाँ जन्म लेने को लालायित रहते थे। परन्तु आज वह सम्पूर्ण सुख राशि ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती। आज हमारे गाँवों में वह खुशहाली नहीं, घी-दूध की नदियाँ नहीं। आज हमारा किसान दिन भर बैल की तरह श्रम करने के उपरान्त भी अपना पेट नहीं भर पाता है। इन्हीं किसानों के सुख-दुःख की मर्मस्पर्शी कथा से भरे करुण-गीत प्रत्येक ग्राम में गाए जाते हैं, जिनमें उल्लास है, दुःख है, हास है, रुदन है और जिनमें है भारतीय किसान के जीवन की सत्य गाथा, जो हमारे लोक-साहित्य की अनुपम निधि है।

वैसे तो भारत के किसान की दशा अच्छी नहीं कही जा सकती, परन्तु अन्य भागों की तुलना में राजस्थान का किसान तो अत्यन्त गरीब है। यहाँ पर खेती केवल वर्षा पर निर्भर होने और अति वृष्टि, अनावृष्टि एवं टिड्डी आदि विविध प्राकृतिक प्रकोपों के कारण यहाँ के किसान को प्रायः प्रति तीन वर्ष में एक बार अकाल का सामना करना ही पड़ता है। यहाँ के गाँवों में शिक्षा का अभाव होने के कारण अन्य भागों के किसानों की तरह यहाँ के किसान शीघ्रता से विविध कार्यों में कुशल नहीं बन पाते। अतः आय का अन्य साधन न होने से उन्हें प्रति वर्ष खेतों का लगान, बैलों की कंघोली, और जमींदार को दुगुना अनाज देने के साथ ही साथ उसे अपना घर खर्च चलाने के लिए भी सदैव महाजन का आश्रय ले कर्ज़ लेना पड़ता है। वास्तव में यह कर्ज़ ही हमारे देश के किसान का सबसे बड़ा शत्रु है। इसी कर्ज़ ने न जाने कितने खुशहाल किसानों की प्रसन्नता को छीन, उन्हें उदासी में बदला है। कितने प्राणवान किसानों को अल्पायु में निष्प्राण बना कर परलोक भेजा है— यह किसी भी व्यक्ति से छिपा नहीं है।

इसी कर्ज़ में डूबा किसान पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्नति नहीं कर पाता, सुख से बैठ भोजन नहीं कर पाता; क्योंकि उसे सदैव कर्ज़ की चिन्ता दबाए रहती है। हर वक्त उसे यही ख़याल रहता है कि किस तरह कर्ज़ समाप्त हो। अतः वह एक दिन कर्ज़ पूरा करने के लिए महाजन को अपने समस्त परिवार के श्रम से उत्पन्न सम्पूर्ण अनाज दे देता है, गाय-बछिया दे देता है, भैंस दे देता है, और यहाँ तक कि अपने दोनों हाथ बैलों को दे डालता है—फिर भी कर्ज़ पूरा नहीं होता। इसी कर्ज़ से दुःखी हो राजस्थान की ग्रामवासिनी स्त्री अपने पति से कहती है :

> "थे करजो सिर मत करियो, ओ मन भरिया
> यों करजो भोत बुरो छे, ओ मन भरिया
> ओ बोरो सिर मूँडैलो, ओ मन भरिया
> यो करजो सिर मत करियो, ओ मन भरिया"

अर्थात् हे प्यारे पति! आप कर्ज़ा सिर न करना, यह कर्ज़ बहुत बुरा है। यह महाजन सिर मूँड़ लेगा। न तो कभी तुम कर्ज़ लेना, न कभी उधार लाना।

कितने सीधे-सादे शब्दों में एक ग्रामीण नारी अपने पति को कर्ज़ न लेने के लिए कहती है—वह साहित्य में वर्णित कान्ता का उपदेश से किसी भी प्रकार कम नहीं। इस कथन में जहाँ विनय है, निवेदन है, उपदेश है, वहाँ सत्य की अनुभूति भी मुखरित होती हुई दृष्टिगोचर होती है।

अब कर्ज़ देने वाला महाजन किस तरह पौना देकर सवाया वसूल करता है— उसका भी चित्र देखिए :

> "कदेय ना तो थे बोरो करजो,
> कदेय न लाज्यो उधार
> देवतड़ा यू पूणो दैला
> लेवतड़ा सवायो, सरदार ओ मन भरिया
> यो करजो सिर मत करजो, ओ मन भरिया
> सवाई बाढ़ी में लै लो,
> आनो रुपियो ब्याज
> मूल रा अे दूणा माँड़ैं
> इसड़ो करजो भुगत्यो न जाए ओ मन भरिया
> यो करजो सिर मत करियो, ओ मन भरिया"

अर्थात् हे प्रिय! आप कभी भी महाजन न करना और न कभी भी उधार लाना। ये महाजन देते समय पौना देगा और लेते समय सवाया वसूल कर लेगा। हे प्रिय! आप कर्ज मत करना।

हे प्रिय! यह महाजन सवाई तो (चौथा हिस्सा) पहले ही काट लेगा। आना रुपया ब्याज लेगा। साथ ही मूल रकम से दुगुनी खाते में लिखेगा। ऐसा कर्जा नहीं चुकाया जा सकता। अतः हे प्रिय ऐसा कर्ज आप मत करना।

इतना कहने के पश्चात् भी प्रिय ने विकट परिस्थितियों के कारण कर्ज कर ही लिया। अब कर्ज को भरने के लिए उसे किस तरह नवोत्पन्न अनाज, गाय, बछड़े, भैंस आदि देने पड़ते हैं और इन समस्त वस्तुओं के देने के उपरान्त भी कर्ज पूरा नहीं होता। इसी भाव को व्यक्त करने वाली गीत की निम्न लिखित पंक्तियों में छिपा सत्य और कटु अनुभव प्रत्येक किसान को कर्ज से बचाने के लिए कितना मधुर उपदेश देने वाला है वह देखते ही बनता है :

"चार मास चौमासे पचिया,
जद उपज्या म्हां रे दाणा
दाणा दुणाका सारा दीना,
तो भी मांगत नाय चुकाय, ओ मन भरिया
यो करजो सिर मत करियो, ओ मन भरिया

गाय बछड़ी करजे माँड़ी,
करजे माँड़ी भैंस, बलद बेच करजे में दीना
तो भी भरयो यन खातो ओ मन भरिया
यो करजो सिर मत करियो, ओ मन भरिया"

अर्थात् चौमासे में चार महीने तक पचे तब कहीं हमारे अन्न उत्पन्न हुआ। वे दाने दूने सारे कर्जे में दे दिए तो भी कर्जा नहीं चुका। हे मन भावने प्रिय! आप कर्जा सिर पर न करना।

गाय बछिया भी कर्जे में लिखा दो, भैंस भी कर्जे में लिखा दो। बैल भी बेच कर के कर्ज में दे दिए तो भी खाता नहीं भरा। हे प्रिय! यह कर्जा आप (कभी भी) सिर पर न करना।"

वस्तुतः यह गीत केवल राजस्थान के ही कर्ज पीड़ित किसान की करुण पुकार को प्रकट करने वाला नहीं अपितु समस्त भारत के किसान की दुःख भरी गाथा को हाथ पकड़ कर बताने वाला है। जब तक हमारे किसान को कर्ज से मुक्ति नहीं मिलती तब तक उसका उद्धार होना असम्भव है। और उसके उद्धार बिना देश का उद्धार होना नितान्त असम्भव है। अतः आज हमें देश के कर्णधार किसान की करुणार्द्र पुकार सुन कर उसे विविध साधनों से सम्पन्न बना, उसके दुःख दूर करके उसे नव रागिनी आलापने का अवसर प्रदान करना पड़ेगा, तभी हमारा स्वतन्त्र भारत सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र और सुखी हो सकेगा।

आचार्यों का चौक,
बीकानेर

—दीनदयाल ओझा

सरदार वल्लभभाई पटेल की स्मृति

मैंने श्रीयुत सरदार वल्लभभाई पटेल के निर्देशन में ३½ वर्ष तक कार्य किया। जब कोई व्यक्ति उनसे मिलने के लिए उनके कमरे में प्रवेश करता था—तब वह यह अनुभव करता था कि वह कितना छोटा और क्षुद्र व्यक्ति है परन्तु जब वह उनके कमरे से बाहर आता था तब वह अनुभव करता था कि वह कितना वीर और बुद्धिमान् हो गया है। मैं श्री सरदार वल्लभभाई पटेल को इसी रूप में जानता हूँ और इसी रूप में उनकी स्मृति चिर काल तक मेरे हृदय पर अंकित बनी रहेगी।

'इंडियन रिव्यू' से

—वी. पी. मेनन

कला-चर्चा

फ्रान्सीसी कलाकार : एडगर डेगास

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप की चित्रकला यथार्थता तथा स्वाभाविकता की चरम सीमा पर आरूढ़ होने का सफल प्रयत्न कर रही थी। चित्रकार अपनी सफलता इसी में समझता था कि वह कहाँ तक यथार्थता तथा स्वाभाविकता के साथ वस्तुओं का चित्रण कर सकता है कि देखने वाला धोखे में पड़ जाए। वह वस्तुओं का हूबहू ऐसा चित्र बनाता था जैसा उसे आँखों से दिखाई पड़ता था इसी समय कैमरा या फोटोग्राफी का आविष्कार हुआ। अब सरलता से कम दाम में कम समय में किसी भी आकृति की हूबहू प्रति छाया उतारी जा सकती थी। स्वाभाविक चित्रण करनेवाले चित्रकारों को काम मिलना बन्द हो गया वे बेकार होने लगे। स्वाभाविक चित्रण की परिपाटी को एक गहरा धक्का लगा। कैमरे के द्वारा जितना यथार्थ चित्रण संभव हो गया चित्रकला के द्वारा कठिन था। यही कारण था कि चित्रकला के क्षेत्र में एक महान् क्रान्ति हुई जिसने कला के लक्ष्य को ही बदल दिया। स्वाभाविकता प्राप्त करने के स्थान में चित्रकार ने अपने चित्रों को अतिकाल्पनिक तथा व्यक्तिगत बनाना आरम्भ कर दिया जो आज आधुनिक कला के नाम से सारे संसार में फैल गई है। काल्पनिक चित्रकला आज अपनी चरम सीमा पर है।

यह सच है कि कैमरे के आविष्कार से स्वाभाविक चित्रण करने वाले चित्रकारों की बड़ी हानि हुई परन्तु कलाकार डेगास ने कैमरे से हुई हानि को स्वीकार न किया बल्कि फोटोग्राफी के एक विशेष गुण स्नैप शाट टेकनिक के आधार पर एक अत्यन्त प्रभावशाली तथा गतिवान् चित्रकला शैली का आविष्कार किया जिसने उनकी कला में एक नवीनता तथा मौलिकता उत्पन्न कर दी और यह शैली अपनी विलक्षणता के कारण आज भी सर्वप्रिय है। कैमरे का एक अजीब गुण यह है कि वह अति तीव्रता से वेग से चलने वाली वस्तुओं को भी अपने पट पर अंकित कर सकता है। जैसे चलती गाड़ी, उड़ता पक्षी, दौड़ता फिरता मनुष्य। एक ही क्षण में बटन दबाते किसी भी गति-शील वस्तु का चित्र कैमरे के पट

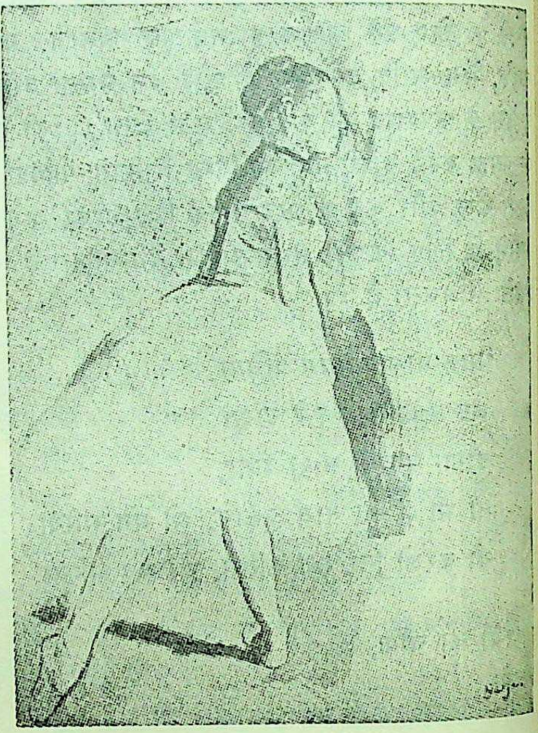

अभिनेत्री

अंकित हो सकता है और विशेषता यह है कि उस में वस्तु जिस भी परिस्थिति में है, हूबहू वैसी ही के पट पर उतर आती है। जैसे कोई मनुष्य ऊपर से रहा हो तो उसका ऐसा भी फोटो अंकित किया सकता है जब वह कूद चुका है और आकाश में हुआ है। ऐसी परिस्थिति में शरीर का एक रूप बन जाता है जिसे देखने का या भली भाँति क्षण करने का मौक़ा नहीं मिल पाता क्योंकि कूदने कार्य एक ही दो क्षण में हो जाता है। ऐसे चित्र कैमरे के ही द्वारा पकड़े जा सकते हैं और

बड़ी रोचकता होती है क्योंकि साधारण आँखों से ऐसे क्षणों की परिस्थितियों का आनन्द लेना असम्भव सा है। वैसे तो चित्रकार भी एक कूदते हुए व्यक्ति का चित्र बना सकता है और साधारण तौर पर वह काफ़ी सही मालूम पड़ेगा परन्तु कूदने की क्रिया इतनी तीव्रता से होती है कि किसी कलाकार को भली भाँति मौक़ा नहीं मिल पाता कि वह उसका पूर्ण रूप से चित्र उतार सके। इस प्रकार की गतिशील क्रियाओं का चित्रण कैमरे से स्नैपशाट ले कर बड़ी आसानी तथा सुन्दरता से हो सकता है। कलाकार डेगास ने कैमरे के इस विलक्षण गुण को समझा और उससे लाभ उठाया। गति-शीलता का जैसा सुन्दर चित्रण डेगास ने किया है संसार का कोई दूसरा कलाकार न कर सका। सच कहा जाए तो

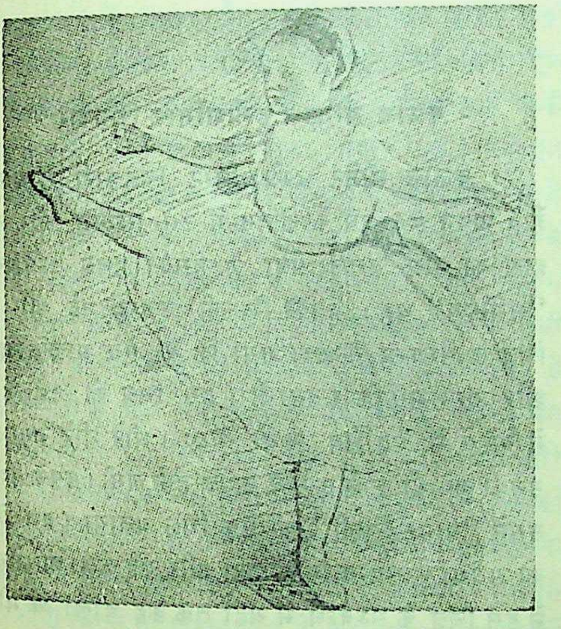

नृत्य अभ्यास

यूरोप में इम्प्रेशनिज़्म नाम की चित्रकला के क्षेत्र में जो आन्दोलन हुआ उसका मूल कारण कैमरा ही था। इम्प्रेशनिरिटक चित्रकला का सबसे महत्वपूर्ण रहस्य यही है कि चित्रकारों ने कैमरे के स्नैपशाट की भान्ति अपने चित्रों में गति तथा प्रकाश को अंकित करने का बड़ा सुन्दर प्रयास किया जैसा पहिले के चित्रकार न कर सके थे। चित्रकार की शैली गतिशील बन गई। मन में भाव आते ही वस्तु के विलक्षण प्रभावों या परिस्थितियों का चित्रण तीव्रता से चित्रकार उपयुक्त शैलियों में करने लगा। इस प्रकार चित्रकला में ऐसी नई नई तथा विलक्षण परिस्थितियों का चित्रण होने लगा जिसका आनन्द लेने का मौका साधारण तौर पर नहीं लग पाता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इस प्रकार की कला का महत्व है क्योंकि मनुष्य के हृदय में क्षण क्षण पर नाना प्रकार के भाव तथा उद्वेग उठा करते हैं जिनका यदि चित्र में समावेश करना हो तो बड़ी तीव्र चित्र-कला टेकनिक का प्रयोग करना पड़ता है कि वे शुद्धता के साथ फ़ौरन चित्रित हो सकें।

फोटोग्राफी में प्रकाश और छाया के ही सामंजस्य से चित्र बनता है। कैमरा रूप के स्थान पर प्रकाश और छाया के द्वारा ही रूप का बोध कराता है। इसलिए एक कुशल फोटोग्राफ़र को छाया तथा प्रकाश का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। और इसी आधार पर हीं वह सुन्दर फ़ोटो तैयार कर सकता है। इसी प्रकार इम्प्रेशनिरिटक चित्रकारों ने भी प्रकाश और छाया के महत्व को समझ और रूप अंकित करने के बजाय वे भी अपने चित्र को प्रकाश से संयोजित करने लगे। प्रकाश का जितना ही कुशल चित्र या विलक्षण चित्रण कलाकार कर पाता उतना ही कुशल चित्रकार वह कहलाने

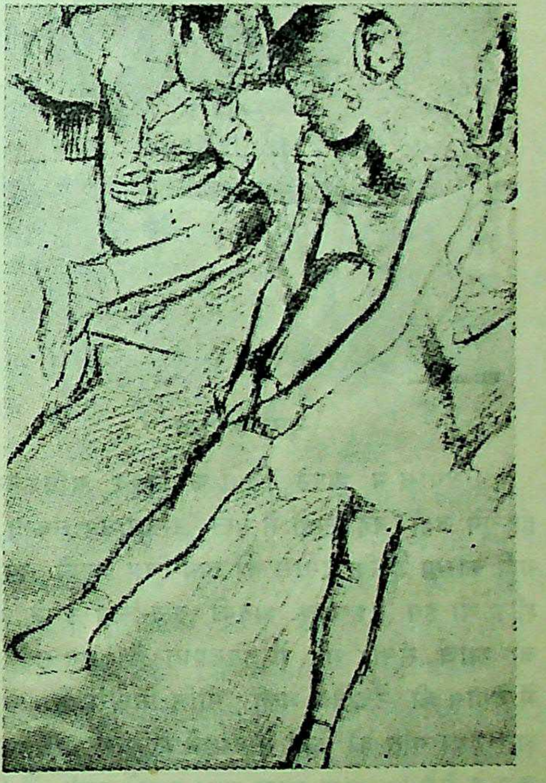

नृत्य की तैयारी

लगा। कलाकार डेगास ने प्रकाश का चित्रण बड़ी ही विलक्षणता से किया। प्रकाश के द्वारा केवल चित्र संयोजन ही नहीं किया बल्कि इतनी कुशलता से प्रकाश का प्रयोग भी अपने चित्रों के निर्माण में किया कि चित्र में गति-शीलता उत्पन्न हो गई। चित्र के पात्र चलते-फिरते नाचते से प्रतीत होने लगे। चित्र के पात्र-मूर्ति के समान अचल न प्रतीत होते बल्कि उनमें गति उत्पन्न हो गई जैसे वे चित्र से बाहर हो गए हों।

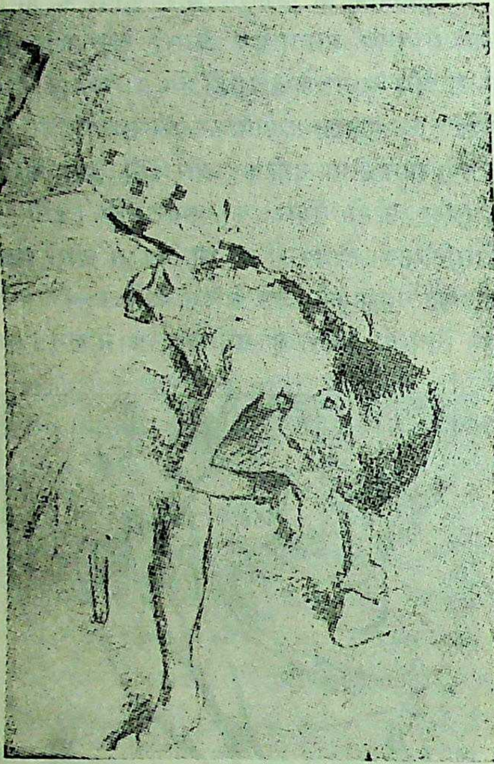

नृत्य नायिका

डेगास ने अपने चित्रों के विषय अधिकतर ऐसे ही चुने जहाँ वह चित्रों में गति उत्पन्न कर सकता था। यही कारण है कि डेगास को नृत्य-चित्र बनाने का बड़ा शौक था इस प्रकार के अनेकों नृत्य-चित्र उसने बनाए जो आज संसार भर में विख्यात हैं। उन नृत्य चित्रों में डेगास की टेकनिक भली भांति निखरी है। नृत्य में लय तथा गति को चित्र में बांधने के लिए चित्रकार ने नृत्य के ऐसे विलक्षण स्थल तथा मुद्रायें चुनी हैं जिनसे चित्रों में जान आ गई है। रंगों के हल्के रंग-बिरंगे आवरणों का प्रयोग बड़ी ही मिठास के साथ हुआ है। चित्र में रंग शरीर का रूप गढ़ने के लिए नहीं बल्कि भाँति-भाँति के प्रकाश संयोजन करने के लिए प्रयोग हुए हैं। चित्रों के पात्रों को स्वाभाविक तथा सुन्दर रूप देने का प्रयत्न चित्रकार ने इसलिए नहीं किया कि चित्र की गतिशीलता में कमी न आ जाय। रूप तथा आकार धुंधले दिखाई देते हैं फिर भी चित्रों के नाचते हुए काम-काज करते हुए पात्रों में एक अजीब चमक तथा गतिशीलता दिखाई पड़ती है।

डेगास अपनी शैली के एक बेजोड़ फ्रांसीसी कलाकार थे जिनकी कला से संसार का प्रत्येक कला-रसिक तथा कलाकार प्रभावित हुआ और प्रेरणा ली है।

टीचर्स ट्रेनिंग, कालेज,
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, —रामचन्द्र शुक्ल
बनारस

(२)

क्लाड मौनेट : इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार

क्लाड मौनेट इम्प्रेशनिस्ट चित्रकारों में अग्रणी है। अपने ८६ वर्ष के जीवन में उसे खिल्ली और उपहास का पात्र बनना पड़ा। उसका प्रथम इम्प्रेशन: "सूर्योदय" था। इसकी खिल्ली उड़ाई गई और इस चित्र के सम्बन्ध में कहा गया कि यह एक आकृतिविहीन और अस्वाभाविक रचना है। इस चित्र को १८७४ ई. में पेरिस में प्रदर्शित किया गया। धीरे धीरे जनता में उनकी कृतियों के लिए रुचि उत्पन्न होने लगी। इसके पश्चात उसने "वाटर-लिली" का एक चित्र बनाया। इस चित्र को सर्वथा नापसन्द किया गया और कई कला आलोचकों ने इस चित्र के सम्बन्ध में यहाँ तक कह डाला कि मौनेट इम्प्रेनिस्ट चित्रण-कला की क़बर खोदनेवाला है। अब मौनेट का सितारा फिर चमकने लगा है और उसके 'वाटर लिली' के चित्र का उत्साह-पूर्वक अध्ययन किया गया है। इस वर्ष अमरिका के आधे दर्जन संग्रहालयों ने मौनेट के चित्रों का प्रदर्शन किया है। बोस्टन के ललित-कला-संग्रहालय ने मौनेट के ३३ चित्रों को खरीद कर उन्हें इस संग्रहालय में सम्मानपूर्ण स्थान दिया है। मौडर्न आर्ट म्यूजियम के डाइरेक्टर अलफ्रेड बोर ने उनके चित्रों के विषय में कहा है : "पहले मैं उन्हें अच्छा नहीं समझता था परन्तु अब मैं उनके चित्रों का प्रशंसक बन गया हूँ।"

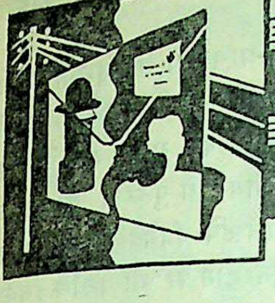

चिट्ठी-पत्री

(१)

मृगया-साहित्य

मुझे शिकार के वर्णनों और क़िस्सों को पढ़ने का बहुत शौक़ है। इसलिए 'अजन्ता' के जनवरी १९५७ में प्रकाशित लेख "संस्कृत-साहित्य में 'मृगया वर्णन" लेख को पढ़ गया। कालिदास ने "अभिज्ञान शाकुन्तल" में लिखा है: "ईदृग्विनोद: कुत:" ऐसा मनोविनोद अन्यत्र कहाँ है। परन्तु क्या मृगया एक मात्र मनोविनोद का साधन है? जिस विनोद में किसी को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता हो, उसे हम विनोद कहाँ तक कह सकते हैं और यदि यह विनोद भी है तो "सेनापति" जैसे लोगों या राजा-महाराजाओं के लिए जिनके कि मुख से कालिदास ने इस वाक्य को कहलवाया है। प्राय: राजा, महाराजा और इसी प्रकार के लोगों की चरबी शिकार में भाग-दौड़ करने से छँट सकती है और यह उन्हीं के मनोविनोद का साधन भी हो सकता है। रह गया प्रश्न प्राणियों के भय और क्रोध की अवस्थाओं के अध्ययन और अचूक निशाने का तो—इनमें इतना मनोविनोद नहीं जितनी कि कुशलता की आवश्यकता है। अपने इस लेख में लेखक ने मृगया-सम्बन्धी जितने उदाहरण दिए हैं वे अधिकतर मृग के ही शिकार के हैं। उन्होंने 'रघुवंश' के आधार पर कुछ जंगली सुअर, भैंसे और चमरमृग के शिकार का उल्लेख किया है। बाण की "कादम्बरी" से भी जो उदाहरण उन्होंने दिए हैं उनमें भी "भैंसे, मृगयूथ, सुअर, चमरियाँ और हाथी आदि का वर्णन है। लेखक ने अपने लेख में लिखा है: "राजाओं की मृगया मनोविनोद के लिए थी। इसलिए उनमें निर्घृणता का अंश उतना अधिक नहीं था। वे प्राय: हिंसक पशुओं का शिकार खेलते थे।" हम पूछना चाहते हैं कि क्या संस्कृत साहित्य के किसी काव्य या आख्यायिका आदि में कहीं सिंह आदि हिंस्र पशुओं के शिकार का वर्णन किया गया है? यदि वे संस्कृत के साहित्य में सिंह, चीता, व्याघ्र आदि के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर सकते तो यह ज्ञात हो सकता था कि हिंस्र पशुओं का शिकार उस समय किस प्रकार किया जाता था। हिंस्र पशुओं के शिकार में बड़ा ख़तरा रहता है और इसीलिए हिंस्र पशुओं के शिकार को "मनोविनोद" नहीं कहा जा सकता। हाँ—मृग, भैंसे, चमरी, वराह आदि के शिकार में मनोविनोद हो सकता है। "कुमार-सम्भव" में कालिदास ने हिमालय के वर्णन में लिखा है कि किरात लोग केसरी का पता लगाते फिरते हैं—परन्तु यहाँ उन्होंने शिकार का वास्तविक वर्णन नहीं किया। वे लिखते हैं:

> "विन्दन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तै:
> मुक्ताफलै: केसरिणां किराता:"

किरात लोग यहाँ वहाँ बिखरे हुए हाथी के मोतियों से केसरियों के स्थान का पता लगाते हैं। हाथी के मोती इसलिए बिखरे पड़े हैं क्योंकि उस स्थान पर सिंहों ने हाथियों को मारा है। ख़ूब! सिंह की तलाश में मोती हाथ लगे। स्पष्ट ही यह वर्णन काल्पनिक अधिक प्रतीत होता है क्योंकि गज-मुक्ता कितने हाथियों में हो सकती है। लिखा ही है: "मौक्तिकं न गजे गजे"—प्रत्येक हाथी में मुक्ता नहीं होती।

कालिदास ने "शकुन्तला" नाटक में जिस प्रकार शिकार का वर्णन किया है—उसमें मृग के भागने का वर्णन बड़ा सजीव और फ़ोटोग्राफ़िक है और दूसरी ओर रथ के भागने का भी। रथ क्या भाग रहा है: मोटर भी संभवत: उस तेज़ी से न दौड़ सकेगी और फिर ज्यों ही दुष्यन्त अपने शर का सन्धान करने लगते हैं त्यों ही यह आवाज़ उठ खड़ी होती है: "आश्रम-मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यो न हन्तव्य:" यह आश्रम का मृग है। इसे मत मारो, मत मारो, मत मारो,।" यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि वह आश्रम का मृग था, तो वह पालतू होगा और पालतू इतनी तेज़ी से

चौकड़ियाँ भर सकेगा या नहीं इसमें कुछ सन्देह सा प्रतीत होता है।

कुछ भी हो मृग के सम्बन्ध में यह जो तीन बार कहा गया है। "न हन्तव्यो न हन्तव्यो न हन्तव्यः" इससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास मृग के शिकार में उसके भागने और पीछा करने तक तो दिलचस्पी ले रहे थे परन्तु जहाँ उसके मारने को तीर छूटने लगा कि उन्होंने उस तीर को वहीं रुकवा दिया। कालिदास भला अपने सामने हरिण को मरता हुआ कैसे देख सकते हैं! उनकी समस्त कवित्व प्रतिभा और सेन्सिबिलिटी उसको तीर मारने के विरोध में खड़ी हो जाती है और वह हरिण को बचा लेती है। कालिदास ने "रघुवंश" में भी हरिण को मारने नहीं दिया है। जब दशरथ उसे मारने लगते हैं तो उनकी आँख हरिण की आँख से मिल जाती है और झट उनको हरिणी के समान आँखों वाली अपनी प्रियतमा की याद हो आती है और उनका हाथ रुक जाता है तीर नहीं छूटता। "रघुवंश" में जिस हरिण का वर्णन किया गया है वह तो आश्रम का नहीं था—तो भी कालिदास ने उस पर तीर छोड़ने नहीं दिया। हरिणों का एक यूथ चला जा रहा है उसके आगे कृष्णमार हरिण गर्दन उठाए चला जा रहा है। कालिदास ने उसका कैसा सजीव वर्णन किया है :

"यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्"

इसी प्रकार कालिदास हाथी पर भी तीर नहीं चलाने देते क्योंकि हाथी की चाल पर वे मस्त हैं। वह चाल न केवल "गजगामिनियों" का स्मरण दिलाती है अपितु उसमें एक ऐसी लटक है जिस पर कालिदास मुग्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि कोई शिकार में भी इन प्राणियों की हत्या करता तो शायद कालिदास उसे क्षमा न कर सकते और कवि के रूप में उसे कोई श्राप दे बैठते। हमें कालिदास के मृगया का वर्णन इस दृष्टि से अत्यन्त रोचक प्रतीत होता है क्योंकि इसको पढ़ने से हमें कालिदास के व्यक्तित्व का कुछ आभास-सा प्राप्त होता है। कालिदास दशरथ को मोर पर भी तीर नहीं चलाने देते क्योंकि मोर के पंखों की सुन्दरता पर वे मुग्ध हैं। कालिदास उन जानवरों पर पूरे वेग से तीर छोड़ने देते हैं जो कि उन्हें भद्दे प्रतीत होते हैं और उन पर तीर छोड़े जाने पर उनके हृदय में किसी प्रकार की दया-माया या सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि वे जिन प्राणियों पर मुग्ध हैं उनके सब अपराधों को माफ़ कर देने के लिए तैयार हैं। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा कोयल के विषय में कहता है : "एवंगतेऽपि प्रियेव मे मंजुस्वना इति न कोपोऽस्याम्"—इतना होने पर भी क्योंकि इसकी आवाज़ मेरी प्रियतमा जैसी मधुर है इसलिए मैं इस पर क्रोध नहीं कर सकता।

शिकार में एक प्रकार का साहस होता है और प्रत्येक शिकार एक नए अनुभव को प्रस्तुत करता है। इस नवीनता और साहस के कारण शिकार के साहित्य में भी एक अद्भुत आकर्षण होता है। जिस प्रकार जासूसी कहानियों में अपना एक विशेष आकर्षण होता है—इसी प्रकार मृगया के साहित्य में भी अपना ही एक विशेष आकर्षण होता है। अंग्रेज़ी में न केवल मृगया या शिकार की अपनी एक विशिष्ट शब्दावली ही है अपितु उसका अपना एक विस्तृत साहित्य भी है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई अनुसन्धानकार संस्कृत साहित्य के मृगया-सम्बन्धी विवरणों को एक पुस्तक में संगृहीत कर दें। इसमें पक्षियों और जलचरों के शिकार को पृथक् स्थान दिया जासकता है। इसके साथ साथ मृगया की समस्त पारिभाषिक शब्दावली को भी प्रमाणों के साथ पुस्तक में संगृहीत किया जाना चाहिए और उसमें उनका पूरा विवरण उनके इतिहास और आशय के साथ दिया जाना चाहिए।

मृगया के सम्बन्ध में "ईदृग्विनोदः कुतः" कहने में संभवतः कुछ सन्देह हो परन्तु जहाँ तक मृगया के साहित्य का सम्बन्ध है उसके विषय में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है : "ईदृग्विनोदः कुतः" संस्कृत में जो अद्भुत रस है वह इसी प्रकार के साहित्य के लिए है। इस अद्भुत रस में अनेक रसों का मिश्रण हो जाता है क्योंकि इनमें भय, साहस, वीरता आदि सब का मेल तो होता ही है परन्तु इन सब के ऊपर इसमें एक विचित्रता रहती है जिससे अद्भुत रस का अनुभव होता है। हिन्दी में भी मृगया साहित्य पर बहुत कुछ लिखा गया है और लिखा जा रहा है। हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य को अपना एक पृथक् और विशिष्ट स्थान प्राप्त होना चाहिए।

—"एक मृगया-साहित्य का प्रेमी"

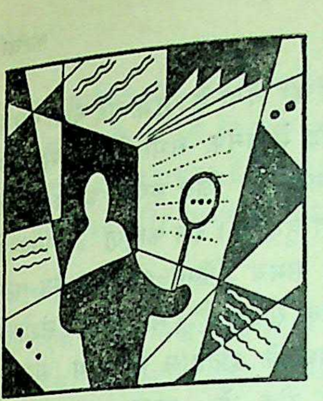

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ।]

धम्मपद : श्रीमद्भगवद् (बुद्ध) गीता
लेखक : प्रो. इन्द्र, एम. ए.
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स
कश्मीर गेट, दिल्ली
मूल्य : तीन रुपए

बौद्ध साहित्य ही क्यों भारतीय और विश्व के साहित्य में 'धम्मपद' एक अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जिस प्रकार 'भगवद्गीता' 'महाभारत' का एक अंग है उसी प्रकार 'धम्मपद' भी 'सुत्तपिटक' के 'खुद्दकनिकाय' का एक अंग है। 'धम्मपद' में २६ वग्ग (वर्ग अथवा अध्याय) हैं और ४२३ श्लोक हैं। इसमें भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं का संग्रह है। बौद्ध धर्म के सुप्रसिद्ध पंचशील (प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, सुरापानविरमण, कामेषु मिथ्याचारविरमणम्) का विशद वर्णन भी 'धम्मपद' में ही प्राप्त होता है। 'धम्मपद' के श्लोक 'सुत्तपिटक' के भिन्न-भिन्न निकायों में तथा अन्य थेरगाथा ग्रन्थों में पाए जाते हैं। भिन्न भिन्न स्थानों से लेकर इन श्लोकों का पुष्प-संचय की तरह संग्रह कर लिया गया है। चीनी विद्वान् 'धम्मपद' का अनुवाद 'धर्मग्रन्थ-संग्रह' करते हैं क्योंकि इसमें भिन्न भिन्न धर्म-ग्रन्थों की सूक्तियों का संकलन है। वे इस संकलन करनेवाले का नाम धर्मत्राता बतलाते हैं जिनके सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है।'' 'धम्मपद' में वर्ग, विषय के आधार पर बनाए गए हैं। 'धम्मपद' के विषयों को देखते हुए हमें कुछ ऐसा अनुभव होता है कि हिन्दी में जो सन्तों की वाणी प्राप्त होती है उसका भी 'धम्मपद' और उसकी परम्परा से सम्बन्ध है क्योंकि सन्तों की वाणी 'साखी' और 'शबद' आदि में जो विषय हैं वे प्रायः यही हैं और उनमें जो बातें कही गई हैं वे भी प्रायः यही हैं। इनमें अमृतत्व, मृत्यु, मानापमान, सत्य, मन, सदाचार, ऊँच-नीच की भावना का विरोध, आत्म-प्राप्ति और चिन्तन आदि हैं। 'धम्मपद' में जो कुछ कहा गया है वह अनुभूति के आधार पर है और सन्त साहित्य की वाणी का आधार भी अनुभूति है। लोक जीवन से उपमाएँ और बहुत से प्रतीक आदि भी दोनों में एक समान है। सन्त साहित्य का 'निरंजन' प्रस्तुत पुस्तक में 'अनंजन' है। 'धम्मपद' को पढ़ कर बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है—इसके श्लोकों में मनुष्य जीवन को उच्च और महान् बनाने की क्षमता है।

'धम्मपद' में लिखा है :

"नोच्चावचं पंडिता दर्शयन्ति"

पंडित लोगों में ऊँच और नीच का विचार नहीं होता। कबीर लिखते हैं :

"कोई नहीं ऊँचा कोई नहीं नीचा"

× × ×

जब लग ऊँच नीच कर जाना
ते पसुआ भूले भ्रम नाना

'धम्मपद' में :

"कुम्भोपमं कायमिदं विदित्वा"

मनुष्य इस शरीर को कुम्भ के समान जान कर और कबीर कहते हैं :

"यह तन काचा कुम्भ है"

इसी प्रकार अन्य बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं।

"पुत्रं मेऽस्ति धनं मेऽस्ति, इति बालो विहन्यते
आत्मैव ह्यात्मनो नास्ति, कुतः पुत्रः कुतो धनम्"

इस पुस्तक में 'विहन्यते' शब्द का अर्थ किया गया है : 'दुःखी होता है न' संभव है कि मूल में भी ऐसा ही कुछ शब्द हो—परन्तु 'विहन्यते' शब्द का यह अर्थ नहीं होता। इसी प्रकार प्रसन्न शब्द के लिए भी अनेक स्थान पर 'विप्रसन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है जो कि इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। अन्य भी कुछ इस प्रकार के शब्द होते हैं। लेखक ने सम्भवतः मूल के आधार पर ही इन शब्दो का प्रयोग किया है।

लेखक ने महात्मा बुद्ध की २५०० वर्ष-जयन्ती पर 'धम्मपद' का यह रूपान्तर 'पत्र-पुष्पमय श्रद्धांजलि' के रूप में प्रस्तुत किया है। इस कृति की विशेषता यह है : "यह पालि 'धम्मपद' का संस्कृत में छायानुवाद है इस छायानुवाद में पालि तद्भव शब्दों को संस्कृत मूल-शब्दों में परिणत किया गया है.. छन्द को भी अविकृत रखा गया है। पालि के अनेक शब्द जो परिभाषा के रूप में परिवर्तित हो गए हैं—इन्हीं रूपों में रहने दिए गए हैं। लेखक ने 'धम्मपद' को संस्कृत और हिन्दी में लिख कर महात्मा बुद्ध की २५०० वर्ष की जयन्ती पर जो भेंट प्रस्तुत की है वह अनेक दृष्टियों से अत्यन्त मूल्यवान् है। लेखक का यह प्रयत्न और परिश्रम स्तुत्य और अभिनन्दनीय है। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक प्रेमी को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध
सम्पादक : प्रभात शास्त्री
प्रकाशक : कौशाम्बी प्रकाशन
मूल्य : दो रुपए

प्रस्तुत पुस्तक में सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों का सम्पादन योग्यता और कुशलतापूर्वक किया गया है। पूर्णसिंह जी के हिन्दी में जो थोड़े-से निबन्ध प्राप्त हैं—उन्हीं के आधार पर उन्होंने हिन्दी के निबन्ध लेखकों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। हिन्दी में पूर्णसिंह जी के निबन्धों को इस पुस्तक में संगृहीत और सम्पादित कर सम्पादक ने अभाव की पूर्ति की है। इन निबन्धों को संगृहीत करने के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक अपनी भूमिका में लिखते हैं : "पाठ्य पुस्तक के सम्पादकों ने इनके (पूर्णसिंह जी के) निबन्धों को स्थान देते समय उनके मूल रूप में काफ़ी परिवर्तन और परिवर्धन कर दिया है। मुझे यह नीति पसन्द नहीं है। मैंने इस संग्रह में उनके सभी निबन्ध संकलित किए हैं निबन्ध उसी रूप में है जिस रूप में आज से ४६ वर्ष पूर्व पत्रों में प्रकाशित हुए थे। इस कारण इन निबन्धों में विद्वानों को पढ़ते समय लिंग और वाक्य-गठन सम्बन्धी अशुद्धियाँ मिल सकती हैं। मैंने उसका संशोधन करना लेखक और भाषा के इतिहास के साथ अन्याय समझा।"...यह तो ठीक है परन्तु हम मानते हैं कि प्रत्येक लेखक को उसी के यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए परन्तु पूर्णसिंह जी के निबन्धों में लिंग और वाक्य-गठन को छोड़ कर भी मुहावरों और शब्दों का इस प्रकार प्रयोग किया गया है जिससे उनका आशय और अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यदि श्रीयुत पूर्णसिंह के समय उन मुहावरों का इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया जाता था तब तो भाषा के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से उसका कुछ मूल्य हो सकता है और यदि इस प्रकार के प्रयोग व्यक्तिगत रूप से किए गए हैं और उनमें कोई विशेषता है तो उन्हें उसी रूप में रखना चाहिए परन्तु यदि वे प्रयोग इस प्रकार के हैं जो भाषा अनभिज्ञता से हो गए हैं तो उन्हें बामुहावरा और परिष्कृत कर देना चाहिए। उदाहरण के लिए : "भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मज़दूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना है।" यहाँ "काल का डंका बजाना" मुहावरा कुछ हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार "सच्ची वीरता" के निबन्ध में : "उनका जीवन अन्तर ही अन्तर होता है।" प्रयोग ठीक नहीं है। ऐसे स्थानों पर जरा सा परिवर्तन कर देने में कुछ हानि नहीं है। इसी प्रकार के कई अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। सम्पादकों को कुछ परिष्कृति करनी ही पड़ती है और क्योंकि ये निबन्ध 'प्रकाशित पत्रों' से संगृहीत किए गए हैं इसीलिए यह सम्भव है कि सम्पादक महोदयों ने इन्हें कुछ-न-कुछ संवारा हो। श्रीयुत पूर्णसिंह जी के निबन्ध पाठ्यपुस्तकों में संगृहीत होते रहे हैं। सम्पादक महोदय ने इन निबंधों का सम्पादन इस प्रकार किया है कि यह पुस्तक पाठ्यपुस्तक के रूप में उपयोगी सिद्ध हो सके। हमें विश्वास है कि पूर्णसिंह के निबन्धों के इस संग्रह को पाठ्यपुस्तकों में उचित स्थान दिया जाएगा। पूर्णसिंह के इन निबन्धों में न केवल उनके विचार, भावनाएँ अपितु उनका

समस्त व्यक्तित्व पूर्ण रूप से मूर्तिमान् हो गया है और यही कारण है कि इन निबन्धों का पढ़ने वालों के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इन निबन्धों में समस्त राष्ट्र का उद्बोधन और मार्गदर्शन किया गया है।

परम्परा (गोरा हट जा)

सम्पादक : नारायण सिंह भाटी
प्रकाशक : राजस्थानी शोध संस्थान,
चौपासनी, जोधपुर
मूल्य : तीन रुपए

'परम्परा' त्रैमासिक पत्रिका है। इसके प्रत्येक अंक में लोक सम्बन्धी साहित्य को प्रकाशित किया जाता है। प्रस्तुत अंक का नाम 'गोरा हट जा' रक्खा गया है क्योंकि इसमें "अंग्रेज़ी साम्राज्य-विरोधी राजस्थानी कविताएँ" जो कि डिंगल भाषा में है—प्रकाशित की गई हैं। कविताएँ मूल रूप में दी गई हैं और साथ ही उनका भावार्थ भी दिया गया है। इन कविताओं से जहाँ अंग्रेज़ों की राज्य की स्थापना और विस्तार की ऐतिहासिक घटनाओं का पता चलता है वहाँ इनसे यह भी ज्ञात होता है कि लोक-कल्पना पर इन घटनाओं की किस प्रकार प्रतिक्रिया होती है और यह किस प्रकार काव्य और साहित्य में परिणत हो जाती है। यह सचमुच एक आश्चर्य की बात है कि अंग्रेज़ी राज्य जिस प्रकार हमारे देश में स्थापित हुआ उसके विरोध में हमारी भाषाओं में बहुत कम साहित्य प्राप्त होता है। उसका एक कारण तो यह है कि अंग्रेज़ों ने इस प्रकार के साहित्य को कभी प्रकाश में आने नहीं दिया और दूसरा शहरों में इसी प्रकार का साहित्य प्रकाशित हो सकता था जो कि स्कूलों और कालेजों तथा शिक्षित वर्ग में अंग्रेज़ों की प्रतिष्ठा की वृद्धि करने वाला हो। राजस्थानी शोध-संस्थान ने इन गीतों को प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य की महान् सेवा की है। इन गीतों में मौलिकता और स्वाभाविकता है और इनको पढ़ने से यह भी अनुभव होता है कि भारतवर्ष में अंग्रेज़ों और उनके राज्य के प्रति क्रान्ति की भावना प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। इन कविताओं और गीतों को पढ़ने से इस बात का अनुभव होता है कि भारतवर्ष की आत्मा कितनी महान् और कितनी अदम्य है।

"गोरा हट जा" में जिन गीतों और कविताओं को स्थान दिया गया है उनमें किसी में अपने देशवासियों की दयनीय अवस्था का वर्णन किया गया है; किसी में अंग्रेज़ों से युद्ध का वर्णन किया गया है और किसी में वीर-रस पूर्ण उक्तियाँ हैं। यद्यपि इन कविताओं और गीतों को लिखे हुए पर्याप्त समय हो चुका तो भी इन कविताओं में खून की ताज़गी का अनुभव होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे राजस्थान की ही नहीं समस्त देश के इतिहास की आत्मा इन गीतों में बोल रही है। निम्न पंक्तियाँ कैसी वीर-रस से पूर्ण हैं :

> "पाछा घर मत झाँक ज्यो, पग मत दीज्यो टार,
> फेट भलं जाज्यो रेत में, पण मत आज्यो हार
> ओ सुहाग खारो लगै, जद कायर भरतार
> रंडापो लागै भलो, होय सूर सिरदार

'गोरा हट जा' गीत में :

> "यूँ मत जाणी रै गोरा लड़ै रे बेटो जाट को
> ओ कँवर लड़ै रे राजा दसरथ को रे
> गोरा हट जा,
> राजा भरतपुर को रै गोरा हट जा
> भरतपुर गढ़ बाँको, किलो रे बाँको
> गोरा हट जा"

अंग्रेज़ों से युद्ध का वर्णन :

> "झड़क्का खणकैं बाजै सेल रा घमोड़ा झाट
> रड़क्का गुरजाँ गाजै घमोड़ा रढ़न्त
> आवधां वैरियाँ वाला माथा रा चटक्का उडै
> बटक्का चैन रा काच सीसी ज्यूँ बढ़न्त"

—इतना विकराल युद्ध हो रहा है कि तलवारों के टकराने और भालों के प्रहार की आवाज़ दूर-दूर तक सुनाई देती है। शत्रुओं के सिर गाजर मूली की तरह कट-कट कर गिर रहे हैं। तलवार की धार पर खेलने वाले वीर चैनसिंह के शरीर के टुकड़े तो काच के शीशे के टुकड़ों की तरह असंख्य हो गए।"

पुस्तक में समस्त गीतों और कविताओं को सुसम्पादित किया गया है तथा उनको समझने के लिए भावार्थ, आवश्यक नोट और टिप्पणियाँ दी गई हैं। हमें यह देख कर प्रसन्नता होती है कि हिन्दी का साहित्य इस प्रकार के मौलिक साहित्य की पुस्तकों से समृद्ध हो

रहा है। इसका प्रत्येक पृष्ठ वीरता की हुँकार, क्रान्ति की भावना और ओजस्वी युद्ध के वर्णनों से ओत-प्रोत है। अंग्रेजों ने हमारे देश में किस प्रकार विजयप्राप्त की—उसके इतिहास की झलक हमें इन गीतों और कविताओं में प्राप्त होती है।

बच्चों का स्वास्थ्य और उनके रोग

(आरोग्य ग्रन्थमाला १०)

सम्पादक : विठ्ठलदास मोदी
प्रकाशक : आरोग्य मन्दिर, गोरखपुर
मूल्य : तीन रुपए

गोरखपुर का आरोग्य-मन्दिर जिस प्रकार देश के स्वास्थ्य और आरोग्य को समुन्नत करने का प्रयत्न कर रहा है—उसे देख कर हृदय प्रफुल्लित होता है। हिन्दी में स्वास्थ्य आरोग्य के साहित्य का जैसा प्रकाशन आरोग्य मन्दिर ने किया है वैसा प्रकाशन भारत की किसी अन्य भाषा में भी प्राप्त नहीं होता। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' के अनुसार शरीर और स्वास्थ्य की उन्नति में समस्त राष्ट्र और देश की उन्नति सन्निहित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में बच्चों के स्वास्थ्य और आरोग्य पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। बच्चों के स्वाथ्य का प्रश्न जितना आवश्यक और ध्यान देने के योग्य है उतना ही वह उपेक्षित-सा भी है—अन्यथा बच्चों के सम्बन्ध में गण्डे तावीज आदि में अन्ध विश्वास और अन्ध-प्रथाएँ इतनी अधिक प्रचलित न होतीं। बच्चे ही समस्त राष्ट्र की सब से प्रधान और विकासशील सम्पत्ति हैं। यदि उनके स्वास्थ्य के विषय में प्रारम्भ से ही ध्यान दिया जाए तो उनके स्वास्थ्य का प्रश्न आगे के जीवन में बहुत कुछ स्वयमेव हल हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में लिखा गया है : "साधारणतः बच्चे अयुक्त अति आहार के कारण ही रोगों के चंगुल में फँसते हैं और आहार सम्बन्धी यह दोष गर्भावस्था में ही आरम्भ हो जाता है बच्चों को मोटा-ताज़ा देखने की इच्छा, आवश्यकता न होने पर दूध पिलाते रहने या तरह तरह के कृत्रिम आहार देने से ही बच्चे की पाचन शक्ति खराब हो जाती है और—सर्दी और मसूरिका आदि रोगों का आक्रमण होने लगता है।'' बच्चे किस प्रकार हठी और हतोत्साह हो जाते हैं; बच्चों के प्रति किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए और बच्चों की समस्याओं को किस प्रकार हल किया जाना चाहिए आदि विषयों पर प्रस्तुत पुस्तक में सरलतापूर्वक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी है और प्रत्येक घर में इसको ध्यानपूर्वक पढ़ा जाना चाहिए।

हैदराबाद —वंशीधर विद्यालंकार

धूलि-धूसरित मणियाँ अथवा लोकगीतों पर एक विवेचन

लेखिकाएँ : श्रीमती सीता बी. ए.
कु० दमयन्ती एम. ए.
कु० लीला प्रभाकर
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली
मूल्य : पन्द्रह रुपये

भारतवर्ष ग्रामों का देश है, हमारे ८५ प्रतिशत लोगों का निकटतम सम्पर्क ही ग्रामों से रहता है।

भारतीय संस्कृति का वास्तविक आभास हमको गाँव-गाँव और समाज-समाज में प्रचलित प्रथाओं तथा परम्परागत जन-श्रुतियों से ही मिल सकता है। आज उनका स्वरूप हमारी दृष्टि में भले ही विकृत जान पड़े, किन्तु शोध करने वाले उनसे बहुत कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

लोक साहित्य, जैसे कहानियाँ, कहावतें और गीतों को प्रकाश में लाने का कार्य विगत तीस पैंतीस वर्षों से हिन्दी-संसार में चल रहा है। फलस्वरूप कितने ही प्रदेशों के गीतों से जानकारी हो गई है, इस दिशा में वैसे तो अनेक लेखकों ने कार्य किया किन्तु सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी और स्व० ओरछेश श्री वीरसिंह जूदेव की सेवाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

लोक-गीतों का संकलन करने के लिए श्री रामनरेश त्रिपाठी और श्री सत्यार्थी जी ने अधिक परिश्रम किया, उन्होंने इस निमित्त गाँव-गाँव की खाक छानी। टीकमगढ़ में जो कुछ कार्य हुआ उसका श्रेय मुख्यतया स्व० ओरछेश को ही मिलना चाहिए। 'मधुकर' तथा ''लोकवार्ता'' का प्रकाशन उन्हीं के संरक्षण में हुआ।

अवधी भाषा में श्री बलभद्र प्रसाद दीक्षित बी. ए. 'पढ़ीस' ने कितने ही गीत लिखे, उनका एक संग्रह 'चकल्लस' नामक पुस्तक द्वारा प्रकाश में भी आया था।

राजपूताना और मारवाड़ के लोक-गीतों का भी संग्रह देखने को मिला है। श्री काकेश जी ने मैथिली ग्राम गीतों पर काफ़ी लिखा है और साहित्य सम्मेलन ने भोजपुरी ग्राम गीतों पर पुस्तक छापी है। यद्यपि हमारे ये प्रयत्न उज्ज्वल भविष्य के सूचक हैं, किन्तु यह निस्संकोच स्वीकार करना पड़ता है कि दूसरे देश-वासियों के मुक़ाबिले इस दिशा में हम बहुत-कुछ पिछड़े हुए हैं।

यह सन्तोषजनक है कि स्त्री-लेखिकाएँ लोक गीतों की उपयोगिता स्वीकार कर उनकी ओर अग्रसर हुई हैं, लोक-गीतों को जीवित रखने में उनका ही विशेष योग रहा है। पीढ़ी दर पीढ़ी से वे ही उन्हें सुरक्षित रख सकी है। अतएव अपनी इस निधि को परिष्कृत रूप में रखने का अधिकांश श्रेय भी उन्हीं को है।

प्रस्तुत संग्रह में लेखिकाओं ने ३५० लोक-गीतों की विवेचना निम्नलिखित खण्डों में की है :

लोक-गीतों में भक्ति-रस
सोहर तथा विवाह के गीत
नृत्य के गीत तथा हास्यरस व्यंग के गीत
सावन के गीत
लोक-गीत में करुण-रस
विविध गीत तथा ग्राम दोहे

इसके अतिरिक्त परिशिष्ट में लोक-भाषा के विशिष्ट शब्दों का अर्थ भी दे दिया गया है। भूमिका-भाग में लोक-गीतों की उत्पत्ति, उनमें वर्णित रस और अलंकार आदि कितने ही ज्ञातव्य विषयों पर परिश्रम पूर्वक प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत संग्रह में अधिकांश गीत पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब के हैं, कुछ गीत पूर्वी उत्तर प्रदेश के भी सम्मिलित किए गए हैं।

प्रत्येक खण्ड में गीतों की विवेचना के पूर्व परिचयात्मक विवरण दिया गया है जिससे पाठकों को सुगमता हो, वे लोक-गीतों का रसास्वादन सरलतापूर्वक कर सकें और भावों की गूढ़ता अनुभव कर सकें। यह शैली सचमुच ही सराहनीय है।

यद्यपि लोक-गीतों में पिंगल शास्त्र का बन्धन नहीं होता फिर भी उनमें रस, अलंकार और भावों की कमी नहीं रहती उनमें सरसता के साथ सजीवता, सुकुमारता और सुन्दर अभिव्यंजना देख कर हृदय गद्गद हो जाता है।

इसी प्रकार लोक-गीत इतिहास के बन्धन में भी नहीं बंधते, किन्तु उनमें इतिहास की झलक मिल अवश्य जाती है। वैसे उनके वर्णन राधा कृष्ण और सीता राम से आरम्भ हो कर इधर-उधर की व्याख्या भी दे देते हैं, जिनमें सामाजिक-जीवन की झांकी प्रतिबिम्बित हो उठती है।

लोक-गीतों में प्रेम विरह, संयोग-वियोग और सुख-दुख चित्र-पट की भाँति मूर्त्तिमान् हो उठते हैं बनावट, कपट और दम्भ लेश मात्र भी नहीं होता। उनमें पशुपक्षी प्रश्नोत्तर करते हैं, पहेलियाँ बुझाते हैं और मार्मिक विवरण दे देते हैं।

उनमें वर्णित राधा रसोई बनाती हैं, गंगा नहाती हैं, पानी भरती हैं और इधर-उधर की चर्चा भी करती है।

बुद्धिवादी वर्ग तर्क कर सकता है कि क्या यह भी संभव है। इसका उत्तर सरल पंचतंत्र आदि अनेकानेक पुस्तकों में मिल सकता है। प्रस्तुत संग्रह में भी इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक में वर्णित कितने ही गीत थोड़े-बहुत हेर फेर के साथ भारतवर्ष के अन्य भागों में भी गाए जाते हैं, जिससे विविधता में एकत्व भावना का परिचय मिलता है।

लोक गीतों के चयन में जहाँ लेखिकाओं ने काव्य-पटुता का परिचय दिया है वहाँ साथ ही साथ उनकी तुलनात्मक विवेचना करके ग्रंथ की उपादेयता को कितने ही अंशों में बढ़ा दिया है।

हिन्दी संसार में इस प्रकार के साहित्य की नितान्त आवश्यकता है। अतएव आशा है कि पुस्तक सर्वत्र आदर पाकर राष्ट्रीय नव-निर्माण की दिशा में नई चेतना दे सकेगी।

प्रायः चार सौ पृष्ठ के ग्रंथ का दाम पन्द्रह रुपए अधिक है। प्रचार की दृष्टि से ऐसे ग्रंथों का दाम कम से कम होना चाहिए। प्रूफ की साधारण भूलें रह गई है, किन्तु उनसे ग्रन्थों की उपादेयता में कमी नहीं आती। गेट अप आकर्षक और सुन्दर है।

उत्तर प्रदेश की जन प्रिय सरकार धन्यवाद की पात्र है जिसकी सहायता के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन में आ सका।

डिप्टी पोस्ट मास्टर,
कानपुर

— गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

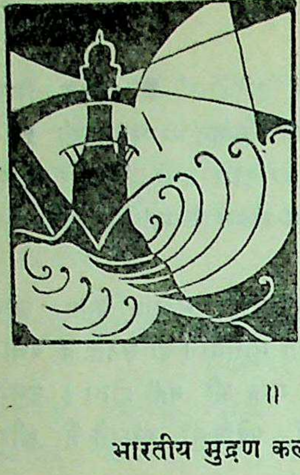

सामयिक

॥

भारतीय मुद्रण कला का विकास

गुजराती के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'कुमार' में श्रीयुत रतिलाल मेहता ने मुद्रण कला के विकास पर एक लेख प्रकाशित किया है। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"भारत में सब से पहला मुद्रणालय १५५६ ई० के सितम्बर की ६ठी तारीख़ को गोआ में सेण्ट पाल कालेज में स्पेनिश पादरी जेआन बुस्तमेनो ने खोला। इसके दूसरे ही महीने अक्तूबर की १६वीं तारीख़ को इस प्रेस में पुर्तगीज़ भाषा में concluses कौनक्ल्यूसोंस नामक पुस्तक प्रकाशित की गई परन्तु अब यह पुस्तक कहीं प्राप्त नहीं होती। यह पुस्तक फ़िलासफ़ी की थी। कालेज के विद्यार्थी वाद-विवाद इत्यादि में इस पुस्तक का उपयोग करते थे।

इसके पश्चात् दूसरे वर्ष १६५७ में सन्त फ्रांसिस ज़ेवियर के द्वारा क्रिश्चियन धर्म पर लिखी हुई एक अन्य पुस्तक इसी प्रेस से प्रकाशित की गई। मुद्रण के इस कार्य में कैथोलिक पादरी-कारीगरों के साथ कई भारतीय कारीगर भी थे जिनका कि नाम ज्ञात नहीं हो सका। इस दूसरी पोर्तुगीज़ भाषा की पुस्तक का तमिल भाषा में अनुवाद १६५७ ई० में गोवा में प्रकाशित किया गया। इस पुस्तक की एकमात्र प्रति आज पेरिस के राष्ट्रीय ग्रन्थालय 'बिबलियोथाल नास्यानाल' में सुरक्षित रूप से रखी हुई है।

इस सफलता से प्रोत्साहित होकर ई० १५७७ में में कोचीन और त्रिचूर के पास अम्बलकोट ग्राम में एक मुद्रणालय स्थापित किया गया और एक ईसाई पादरी जेहान्स गौन्साल्वीस ने सब से प्रथम मालाबारी टाइप तैयार किए। इस समय मलयालम और इसी प्रकार तमिल दोनों लिपियों के टाइप एक ही मालबारी टाइप के नाम से कहे जाते थे। ई० १५७६ की १४ वीं नवम्बर को इस प्रेस में एक धर्मपुस्तक प्रकाशित की गई। हिन्द की धरती पर प्रकाशित की गई यह पहली पुस्तक थी। इस प्रेस में छापी गई पुस्तकों की एक सूची रोम में प्राप्त होती है परन्तु दुर्भाग्य से आज इन पुस्तकों में से एक पुस्तक भी प्राप्त नहीं होती। इसका एक कारण यह है कि टीपू सुलतान ने मालाबार पर जो आक्रमण किया था उसमें उसने सेण्ट पास कालेज की और अन्य समस्त हिन्दू और ईसाई धर्म की पुस्तकों को जला कर भस्म कर दिया था।

प्रारम्भ में तमिल की पुस्तकें भी मलयालम लिपि में ही प्रकाशित की जाती थीं परन्तु तमिल जनता इन अक्षरों को नहीं पढ़ सकती थी। इस कारण इग्नेशियस ऐचम नाम के एक तमिल पादरी कारीगर ने लकड़ी के तमिल टाइप को बनाया और इस में एक तमिल-पोर्तुगीज़ कोश को प्रकाशित किया।

अंग्रेज़ों ने पाण्डीचरी की लूट में एक मुद्रणालय पर भी कब्ज़ा कर लिया। इस प्रेस को उन्होंने वेपेरी ग्राम के फ़ैब्रीशियस नाम के तमिल विद्वान् को दिया। इसी में से बाद में डायोसीन प्रेम का विकास हुआ जो आज भी मद्रास के वौरी लजा में है।

अब तक भारतवर्ष में मुद्रण कला गोआ से प्रारम्भ होकर कोचीन, त्रिचूर और श्रावणकोर (तिरु-आंकुर) से मद्रास पहुँच गई; वहाँ से यह कलकत्ता चली गई। कलकत्ता में मुद्रणालयों का जैसा विकास हुआ उसका इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण है और सोने के अक्षरों में लिखा जाना चाहिए।

मैथेनियल ब्रासी हालहेड नामक एक विद्वान् ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासकों के लिए बंगाली व्याकरण के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के लिए अंग्रेज़ी के साथ बंगाली टाइपों की आवश्यकता पड़ी। हालहेड ने इस सम्बन्ध मे श्रीयुत चार्ल्स विल्किन्सन को लिखा। चार्ल्स विल्किन्सन संस्कृत के अच्छे

विद्वान् थे उन्होंने सिर्फ़ अपने शौक़ के लिए कई बंगाली अक्षरों का टाइप तैयार किया था। इसलिए उन्होंने अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी इस पुस्तक के लिए बंगाली के टाइपों के लिए लोहे की अड़ियों को बनाया। प्राचीन संस्कृत साहित्य के उद्धार के लिए विलिकन्सन ने जो प्रयत्न किया था उससे तो विद्वान् परिचित हैं परन्तु बंगाली में मुद्रण के लिए उन्होंने सबसे पूर्व प्रयत्न किया था—यह बात पहले अनेक व्यक्तियों को ज्ञात न थी। और इसके साथ एक बंगाली कारीगर का नाम भी उल्लेख के योग्य है। इसका नाम पंचानन कर्मकार था। यह एक लुहार था। विलिकन्सन ने इसको अपने कार्य की सहायता के लिए नियुक्त किया था और इसको अडी को कोरने और टाइप को ढालने की शिक्षा प्रदान की थी। इस पंचानन कर्मकार ने बाद में अपने कई साथियों को यह कार्य सिखलाया।

इसके पश्चात् १८ वीं सदी का अन्त हुआ और १९ वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में भारतवर्ष में मुद्रणकला के इतिहास को एक ज्वलन्त प्रकरण प्राप्त हुआ। इस समय विलियम केरी अपने देश से भारतवर्ष में आए और भारत की विभिन्न भाषाओं में मुद्रण के लिए उन्होंने महान् प्रयत्न किया।

बंगाल में पहले स्थापित सीरामपुर और फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुद्रणालयों की देखा देखी कलकत्ता में अनेक संख्या में ख़ानगी मुद्रणालय स्थापित होने लगे। कलकत्ता के मुद्रणालयों ने बंगाली और देवनागरी दोनों लिपियों के टाइपों का निर्माण किया।

कन्नड़ भाषा की प्रथम पुस्तक बेलारी के मिशन प्रेस में १८३३ में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक जौन बनियन की "पिलिग्रम्स प्रोग्रेस" का अनुवाद "देसन्तरीय प्रयानावु" थी। इसमें समस्त टाइप कन्नड़ नहीं है—इसमें तेलुगु और कन्नड़ के टाइप मिले हुए हैं।

यूरोपीय पादरियों ने मराठी भाषा में बाइबल के अनुवाद को प्रकाशित किया। मराठी के टाइप सबसे पूर्व लैटिन पुस्तक "होर्टीस ईडीसीस मालाबारी तीरु" (१६७८ ई.) पुस्तक में देखे जा सकते हैं। इसके पश्चात् बम्बई में १७९२ में "बॉम्बे कैरीअर" नाम का पत्र प्रकाशित हुआ। यह पत्र मराठी और गुजराती भाषा में प्रकाशित होता था।

इसी प्रकार प्रारंभ में गुजराती मुद्रण के नमूने भी कुछ इसी प्रकार के थे। रौबर्ट ड्रमंड की "इलस्ट्रेशन्स आफ़ दि ग्रामेटिकल पार्ट्स औफ़ दि गुजराती, मराठी एण्ड इंग्लिश लैंग्वेजेज़" पुस्तक बम्बई के कैरीयर प्रेस में १८०८ में प्रकाशित हुई। गुजराती भाषा का यह पहला व्याकरण था जो कि प्रकाशित हुआ था। इस व्याकरण की पुस्तक में गुजराती शब्दों के अंग्रेज़ी अर्थ दिए गए हैं। इसके पश्चात् दूसरी पुस्तक "ईसप की फ़ेबल्स" का गुजराती में अनुवाद बम्बई के शिक्षा-मण्डल प्रेस में १८१८ ई. में प्रकाशित किया गया। तीसरी पुस्तक १८२८ में गणित की पुस्तक थी जो कि लिथोग्राफ़ी में प्रकाशित की गई। चौथी पुस्तक श्रीयुत ऐदलजी बरजोरजी पटेल की "सूरत नी तवारीख़" सूरत अख़बार प्रेस में १८३३ ई. में प्रकाशित की गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में मुद्रणालय को स्थापित करने का विचार सबसे पूर्व छत्रपति श्री शिवाजी महाराज के हृदय में उत्पन्न हुआ था। उन्होंने एक मुद्रणालय प्राप्त किया था जिसे कि उन्होंने गुजरात के भीमजी पारेख को १६७४ ई. में बेच दिया था। भीमजी पारेख ने एक विज्ञ अंग्रेज़ की सहायता से इस प्रेस को चलाया।

बम्बई में सबसे पूर्व मुद्रण किसने प्रारम्भ किया और किस जगह पर—इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ऐसा अनुमान होता है कि रुस्तमजी खरसेतजी नामक पारसी ने १७८० ई. में सबसे पहले 'पंचांग' को प्रकाशित किया। बम्बई में जो पुस्तक सबसे पहले छापी गई वह थी "रिमार्क्स एण्ड रिफ़रेन्सेज़ ऑफ़ मिस्टर हैनरी ड्यूरिंग हिज़ इम्प्रिज़नमैण्ट ऑफ़ टू एण्ड हाफ़ इयर्स इन टीपूज़ जेल ह्वेअरफ्राम ही एस्केप्ड" इस पुस्तक के ६४ पृष्ठ हैं और यह पुस्तक १७९३ ई. में प्रकाशित की गई।

गुजराती टाइप सबसे पूर्व बेहराम जीजीभाई मुद्रक ने ई. १७९७ में तैयार किया। यह मुद्रक "बॉम्बे कैरीयर" प्रेस में कार्य करता था। इस अख़बार में गुजराती लिपि में समाचार प्रकाशित किए जाते थे। इस कारण गुजराती टाइप की आवश्यकता पड़ती थी। उसने गुजराती टाइप को ढालना शुरू किया। यह तो अख़बार सम्बन्धी मुद्रण के विषय है। गुजराती में सबसे पहले जो पुस्तक प्रकाशित हुई थी वह तो ड्रमंड की उपर्युक्त व्याकरण की पुस्तक थी।

आज तो मुद्रण के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति हो गई है। अब तो लाइनो टाइप और मोनो टाइप का जमाना है। टाइप टाइप-राइटर के द्वारा स्वयं बनते चले जाते हैं। फ़ोटो-टाइप सेटिंग और इलक्ट्रोनिक ब्लाक मेकिंग जैसे छापने के यन्त्रों के इस युग में मुद्रण के प्रारंभिक दिनों की बात चाहे हमें विशेष आकर्षक न प्रतीत हों तो भी इतिहास की दृष्टि से इसका मूल्य है।''

॥

लावनी : व्युत्पत्ति

लावनी शब्द एक प्रकार के छन्द है जो गाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्या यह शब्द मूल रूप से देसी भाषा का है और या इसका सम्बन्ध संस्कृत के किसी शब्द से है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत ना. ग. जोशी का महाराष्ट्र-साहित्य-परिषद्, पूना की मराठी त्रैमासिक पत्रिका में एक पत्र प्रकाशित हुआ है। इस पत्र में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

''तुकाराम ने अपने एक अभंग में ''लापणिक'' शब्द का प्रयोग किया है परन्तु जिस संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है उससे इसका अर्थ ''प्रेम के बोल'' होता है। तुकाराम के 'सलगीचे अभंग' प्रसिद्ध ही हैं। यह शब्द पुरानी प्राकृत में ''छन्द'' या ''पद्य'' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। इसी आधार पर समझा जाता है 'लावनी' शब्द देसी भाषा का शब्द है। सम्भवतः 'लापणिक' शब्द के रूप में 'लावनी' शब्द का संस्कृतीकरण किया गया है। परन्तु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती।

जैन प्राकृत में ''उल्लावण'' शब्द प्राप्त होता है, इस शब्द का संस्कृत रूप ''उल्लापन'' होता है। जैन आगम ग्रन्थों में एक ग्रन्थ 'सूयगड़' (सूचकबन्ध) है। इस ग्रन्थ की एक संस्कृत टीका आचार्य शीलांक सूरि ने लिखी है। इस टीका में एक स्थल की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है : ''अनेकप्रकारैः उल्लापनैः''। यही 'उल्लापन' शब्द का प्राचीन उल्लेख है। यह टीका संस्कृत की टीकाओं में प्राचीनतम है। यह टीका ६वीं शताब्दी में लिखी गई थी। प्रकरण के अनुसार यहाँ उल्लापन का अर्थ किया गया है : ''बालकों को समझाने का गीत आदि का प्रकार''। इस प्रकार का अर्थ हमें आचार्य की टीका से ज्ञात होता है। इसके साथ-साथ इस 'उल्लापन' शब्द की व्याख्या में उन्होंने उदाहरण के तौर पर प्राकृत के एक पद्य को उद्धृत किया है और इससे 'उल्लापन' की गीतात्मकता भी सिद्ध होती है। इससे यह पता लगता है कि 'उल्लापन' शब्द से उपसर्ग के निकल जाने पर 'लापन' या 'लावण' शब्द अवशिष्ट रह गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उल्लापन' शब्द गीत के अर्थ में प्राचीन काल से प्रयुक्त होता था।''

॥

बर्टरैण्ड रसेल का आकृति-चित्र

अंग्रेज़ी के पत्र 'ह्यूमैनिस्ट' में श्रीयुत हम्फ़्री स्केलटन ने ''बर्टरैण्ड रसेल के आकृति-चित्र'' को अपने एक लेख में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

''जब एक अंग्रेज़ ८० वर्ष का हो जाता है—तब उसकी प्रत्येक चीज़ को माफ़ कर दिया जाता है। बर्नार्ड शा को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह देख कर कुछ चिढ़ सी होती थी कि वह लोगों के हृदयों में उथल-पुथल पैदा नहीं कर सकता था। रसेल का भी यही हाल हुआ। उसके विचारों में इस आयु में भी कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है; वह अब भी एक नास्तिक है; उसकी हास्यपूर्ण फबतियों से वह व्यक्ति भी प्रसन्न होता है जिसके ख़िलाफ़ कि वे कसी जाती हैं।

यह अब कुछ विचित्र सी बात प्रतीत होती है कि एक समय वह हृदयों में भीषण तूफ़ान को उत्पन्न कर देता था। उसको एक बार कैम्ब्रिज से निकाल दिया गया था। प्रथम विश्व-युद्ध में एक बार क्रुद्ध जन-समूह ने उस पर बुरी तरह आक्रमण कर दिया था जिससे कि उसे बड़ी कठिनाई से पुलिस बचा सकी थी। इसके पश्चात् उसने शान्ति के प्रोपेगैण्डा के लिए पैम्फलेट वितीर्ण किए थे और इसके लिए उसे जेल में डाल दिया गया था।

''कई दृष्टियों से जेल मुझे बहुत अच्छा लगा। मुझे किसी से मिलना जुलना नहीं पड़ता था; मुझे यह डर नहीं था कि मेरे पास कोई व्यक्ति आएगा—इस कारण मैं अपने कार्य को लगातार बिना किसी रुकावट के कर सकता था। मैं खूब पढ़ता था। मैंने वहाँ 'गणित की फ़िलासफ़ी' के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी''—रसेल ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है।

उसके चरित्र में कई बातें विचित्र हैं। शान्तिवादी यह नहीं कह सकते कि वह शान्तिवादी है। वह लिखता है : "न तब और बाद में मैं यह समझता था कि युद्ध प्रत्येक अवस्था में अवांछनीय है। मैं समझता हूँ कि द्वितीय विश्व-युद्ध आवश्यक था—इसलिए नहीं क्योंकि युद्ध के विषय में मेरे विचार बदल गए हैं परन्तु इसलिए क्योंकि उस समय अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न थीं।"

उसका अब भी यही विचार है कि बहुत अच्छा होता कि यदि ब्रिटेन १९१४ में तटस्थ रहता। "आज विश्व में जो अस्त-व्यस्तता दृष्टिगोचर होती है वह उसके विचारों में प्रथम युद्ध का परिणाम हैं। हमें तीसरे विश्व-युद्ध का भय है। यूरोप, एशिया, आफ्रिका सर्वत्र विक्षोभ है"—वह लिखता है।

किसी वैज्ञानिक या गणित शास्त्री के विषय में यह कहना ठीक नहीं है कि उसमें एकमात्र बुद्धि होती है—हृदय नहीं। यह बात रसेल या उसके साथियों के विषय में भी सत्य नहीं है। वह कहता है कि विटगैनस्टीन जो कि एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था कैम्ब्रिज में प्रतिदिन रात को उसके कमरे में आता था और घण्टों चुपचाप वहाँ उधर से इधर और इधर से उधर टहलता रहता था और कहा करता था कि जब वह वहाँ से जाने के पश्चात् आत्म-हत्या कर लेगा। आज के कई दार्शनिकों का विचार है कि विटगैनस्टीन रसेल से कई दृष्टियों से बड़ा दार्शनिक है। रसेल ने गणित के क्षेत्र में महान् कार्य किया है। अपने जीवन के प्रारम्भ में राजनीति और दर्शन इन दोनों विषयों में से किसी एक विषय को वह चुनना चाहता था। उस पर ह्वाइटहैड का बहुत प्रभाव पड़ा। अपनी पुस्तक "पोर्टेट्स फ्राम मैमरी" में ह्वाइटहैड की प्रशंसा करता हुआ वह लिखता है : "तुम समझते हो कि संसार वैसी सुन्दर ऋतु के समान है जैसी कि वह हमें दुपहर के समय प्रतीत होती है। मैं समझता हूँ कि विश्व प्रातःकाल के समान है जब कि हम गहरी नींद से उठते हैं।" रसेल के निबन्ध "प्रिन्सिपिआ मैथेमैटिका" में प्रकाशित किए गए हैं।

यह कहा जाता है कि रसेल प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार देखता है कि मानों वह गणित का एक प्रश्न या प्रतीक हो। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। पिछले कई वर्षों से रसेल अणु-युद्ध के विरोध में आवाज उठा रहा है और इस सम्बन्ध में लोक-मत को जागृत कर रहा है। अणु-युद्ध के विषय में वह पर्याप्त चिन्तित है। इस वृद्ध अवस्था में वह उसी प्रकार शान्त, अक्षुब्ध, विचारशील और गम्भीर है जैसा कि वह पहली आयु में था। उसने मनुष्य के ज्ञान, चिन्तन और विचार को समृद्ध किया है। रसेल के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भय से त्रस्त और क्षुब्ध विश्व को उसने जो सबसे मूल्यवान् भेंट दी है वह है आशा की। आशा के बिना, और साहस के बिना जो कि आशा जागृत करता है—यह विश्व अन्धकार में मग्न हो जाएगा।"

॥

सत्य और विवेक

महात्मा बुद्ध के सत्य और विवेक के सम्बन्ध में कुछ विचारों को नीचे दिया जा रहा है :

> "किसी बात को इसीलिए सत्य मत मान लो
> क्योंकि लोगों में वह प्रचलित हो गई है।
>
> किसी बात को इसीलिए सत्य मत मान लो
> क्योंकि महान् ग्रन्थों में वह लिखी हुई है।
>
> किसी बात को इसीलिए सत्य मत मान लो
> क्योंकि तुम्हारी आदतें तुम्हें उसे मानने के लिए
> मजबूर करती हैं।
>
> किसी बात को इसीलिए सत्य मत मान लो
> क्योंकि तुम्हारे अध्यापक या गुरु ने उसे सत्य
> कह दिया है।
>
> तुम स्वतन्त्र रीति से स्वयं सत्य की खोज करो।
> यदि खोज और विश्लेषण के पश्चात् तुम्हें यह
> अनुभव हो कि यह वस्तु सत्य है तो उसे तुरन्त
> मान लो और उसके अनुसार अपने आचरण
> और जीवन को बनाओ।
>
> मौन रहने से कोई मुनि नहीं होता
> अविद्वान् और मूर्ख भी मौन रहते हैं;
> मुनि उसे कहा जाना चाहिए जो कि
> तुला के समान अच्छे और बुरे को
> तोलता है और अच्छे को ग्रहण कर लेता है
> इस संसार में जो व्यक्ति
> अच्छे और बुरे का विवेकपूर्वक मनन
> करता है वही वास्तव में मुनि है।"

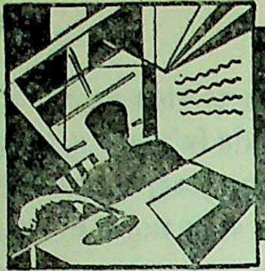

सम्पादकीय

पारिभाषिक शब्दावली

पिछले दिनों हमें भारतीय प्रशासन के शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से प्रकाशित पारिभाषिक शब्दावली की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इन पारिभाषिक शब्दावली की पुस्तकों में कौमर्स, मैथामैटिक्स, मेडिसिन, रेलवेज़, ट्रान्सपोर्ट (शिपिंग), डिप्लोमेसी, इन्फर्मेशन और ब्रौडकास्टिंग और जनरल एडमिनिस्ट्रेशन आदि की पुस्तकें हैं। इन पारिभाषिक शब्दावलियों को तैयार करने में पर्याप्त समय लगाया गया है और इनको भिन्न भिन्न विशेषज्ञ समितियों ने तैयार किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इन पारिभाषिक शब्दावलियों का निर्माण करने में पर्याप्त परिश्रम किया गया है परन्तु शब्दावलियों को सरसरी तौर पर देखने से तो यह अनुभव होता है कि इन शब्दावलियों के बनाने में जिस सावधानी और Accuracy उपयुक्तता की आवश्यकता है वह हमें अनेक शब्दों में अनुभव नहीं हुई। हम मानते हैं कि शब्दावली के निर्माण का कार्य सुगम नहीं है परन्तु जब तक किसी शब्द के अर्थ को ठीक तरह हृदयंगम न कर लिया जाए तब तक उसके लिए जिन शब्दों का चयन या निर्माण किया जाएगा वे उस अर्थ को नहीं दे सकेंगे जिनके लिए कि उनका निर्माण किया गया है। शब्दों के अर्थ इतने मिलते-जुलते हैं और उनमें जो भेद होता है वह इतना बारीक और सूक्ष्म होता है कि थोड़े-से में अर्थ कुछ-का-कुछ हो जाता है। शब्दावलियों के निर्माण के सम्बन्ध में सिद्धान्तों को बनाना सुगम है परन्तु उनके आधार पर जो शब्द चुने या बनाए जाते हैं वे चुनने या बनानेवाले की रुचि, प्रकृति और विवेक पर निर्भर करते हैं। इन पारिभाषिक शब्दावलियों में से जो कि शब्द मैडिसिन और गणित आदि के विषय में बनाए गए हैं उनके विषय में तो उन्हीं विषयों के विशेषज्ञ ही अपनी सम्मति दे सकते हैं। हम कुछ ऐसे शब्दों के विषय में जिन्हें पूर्णतया पारिभाषिक नहीं कहा जा सकता और जिन शब्दों का प्रायः व्यवहार होता रहता है अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। हम पहले Diplomacy डिप्लोमेसी की शब्दावली को लेते हैं। शब्दावली के निर्माण के सम्बन्ध में भूमिका में कहा गया है : "हमने इस बात का ध्यान रक्खा है कि शब्द सरलता से समझ में आ जाएँ और ठीक-ठीक अर्थ दें।" इस शब्दावली में अनेक शब्द ऐसे हैं जो न तो 'सरलता' से समझ में आते हैं और न हमारी सम्मति में "ठीक-ठीक अर्थ देते" हैं। पहले पहल आप 'डिप्लोमेसी' शब्द को लीजिए। डिप्लोमेसी के लिए जो शब्द दिया गया है वह है : "राजनय"। ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी में डिप्लोमेसी के निम्न अर्थ दिए गए हैं: Management of, Skill in managing international relations; Adroitness; Artful management; Tact : अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था या व्यवस्था करने में पटुता चतुराई या निपुणता; चालाकी या कूटता या धूर्तता टैक्ट या दक्षता। डिप्लोमेसी के लिए 'राजनय' शब्द से न डिप्लोमेसी शब्द के अर्थों का सरलता पूर्वक या ठीक-ठीक अवबोध होता है। डिप्लोमेसी के लिए प्रायः कूटनीति का प्रयोग होता है और यह शब्द "राजनय" से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इस शब्दावली में 'को-ओर्डिनेशन' शब्द के लिए 'समन्वय' शब्द दिया गया है। 'समन्वय' शब्द से 'को-ओर्डिनेशन' शब्द का अर्थ ठीक ठीक समझ में नहीं आता। 'को-ओर्डिनेशन' शब्द का अर्थ 'वेब्स्टर डिक्शनरी' में निम्न प्रकार दिया गया है : Harmonius adjustment of functioning; State of being Co-ordinate और Co-ordinate शब्द के अर्थ दिए गए हैं: 1. Equal in rank and order, 2. To bring into comman action, condition etc. इस प्रकार 'को-ओर्डिनेशन' के अर्थ होंगे : एकसदृशता या समीकरण। वैसे भी 'समन्वय' शब्द के अपने ही अर्थ हैं और वह स्वयं एक पारिभाषिक शब्द है। अंग्रेज़ी में समन्वय शब्द का अनुवाद करना सुगम नहीं है। यह शब्द 'को-आर्डिनेशन' के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। 'स्टेटस' शब्द के लिए 'परिष्ठा' शब्द कुछ

भारी-सा प्रतीत होता है। 'स्टेटस' शब्द का अर्थ 'वेब्स्टर डिक्शनरी' में दिया गया है : (अ) State or condition of a person (ब) Position of affairs एक व्यक्ति की अवस्था या स्थिति या हालात। स्टेटस के लिए स्थिति शब्द सरल भी है और समझ में भी आता है। पता नहीं इसके लिए 'परिष्ठा' शब्द क्यों चुना गया है। 'डिपोर्टेशन' के लिए 'देश-निकाला' और 'निर्वासन' शब्द प्रसिद्ध है और इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होते हैं परन्तु इसके लिए "विपत्तन" शब्द दिया गया है जो कि क्लिष्ट है और प्रयोग में भी नहीं आता। 'एलियन' शब्द के लिए "अदेशी" शब्द दिया गया है। 'एलियन' शब्द का अर्थ कोश में निम्न प्रकार दिया गया है : Forigen; Strange, Wholly different in nature अर्थात् विदेशी, अपरिचित या प्रकृति में सर्वथा भिन्न या विपरीत। यह समझ में नहीं आया कि 'एलियन' के लिए 'अदेशी' शब्द क्यों बनाया गया है? इसी प्रकार 'एटैची' के लिए 'सहचारी' 'एजेण्डा' के लिए 'कार्यसूची', 'इअर-बुक' के लिए 'वर्ष-बोध' 'वर्किङ्ग लेंग्वेज' के लिए 'व्यवहार-भाषा', और हैडक्वार्टर के लिए 'प्रधान केन्द्र' कुछ ठीक नहीं जँचते। इसी प्रकार अन्य कई शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। प्रस्तुत शब्दावली की भूमिका के अन्तिम पैरे में लिखा गया है : "हम एक बार और कह दें कि हमने हिन्दी के जो समानार्थ शब्द सुझाए हैं उनमें उनके ठीक-ठीक अर्थ को बाँधने (?) का प्रयास करके सम्बद्ध शब्दों के सूक्ष्म भेद को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः अदेशी (Alien), विदेशी (Forigen); विपत्तन (Deportation)...आदि।" इसमें 'एलियन' और 'फ़ारेन' के लिए दो शब्द अवश्य दिए गए हैं परन्तु दोनों में भेद कुछ स्पष्ट नहीं होता। रह गया 'विपत्तन' यह शब्द नया अवश्य है परन्तु इस शब्द के लिए 'देश-निकाला' और 'निर्वासन' शब्द पर्याप्त समय से प्रचलित हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक में 'डिप्लोमेसी' के जिन शब्दों को चुना गया है उनकी संख्या बहुत सीमित है। इसमें अनेक शब्द प्राप्त नहीं होते। 'पोलिटिकल' के लिए 'राजनीतिक' और 'डिप्लोमैटिक' के लिए 'राजनयिक' दोनों में कुछ विशेष भेद अभिलक्षित नहीं होता जब कि दोनों के अर्थों में महान् भेद है।

इसके पश्चात् जनरल एडमिनिस्ट्रेशन (General Administration) की शब्दावली को लीजिए। इस शब्दावली के 'प्राक्कथन' में लिखा गया है : "...समिति ने शब्द-निर्माण की सुनिश्चित प्रणाली का विवेकपूर्वक अनुसरण किया है..." यह कौन-सी सुनिश्चित प्रणाली है इस पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। आगे चल कर इस 'प्राक्कथन' में लिखा गया है : "यह ठीक-ठीक बता सकना कठिन है कि हिन्दी पर्याय किस तरह निश्चित किए गए हैं।" जब प्रणाली 'सुनिश्चित' है तब उसको बता सकना क्यों कठिन है—कुछ समझ में नहीं आया। समिति ने कुछ शब्दों को अन्य भारतीय भाषाओं से लिया है और यह आवश्यक भी है परन्तु जिन शब्दों को लिया जाए वे इस प्रकार के होने चाहिएँ कि हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल हों। कोई भी शब्द किसी भी भाषा से चाहे वह भारतीय हो या अभारतीय किसी भी भाषा में उसी अवस्था में लिया जाना चाहिए जब कि वह उसकी प्रकृति के अनुकूल हो या उस शब्द की कुछ ऐसी विशेषताएँ हों जिनसे यह अनुभव हो कि उसको अपनी भाषा में लेने से भाषा की समृद्धि होगी। समिति ने गुजराती, मराठी, तेलुगु और कन्नड़ से इस प्रकार के शब्दों को लिया है जो कि हमें हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं प्रतीत होते। उदाहरण के लिए गुजराती से "Fixture" (फिक्सचर) के लिए 'जुड़नार', तेलुगु से "Binding" (बाइंडिंग) के लिए 'बाध्यक' और "Establishment" (एस्टैब्लिशमैण्ट) के लिए 'सिब्बन्दी', कन्नड़ से "Retrospective" (रिट्रोस्पैक्टिव) के लिए 'पूर्वव्याप्ति' और "Refresher Course" (रिफ्रेशर कोर्स) के लिए 'पुनश्चर्या' और पंजाबी से "Data" के लिए 'दित्ता' शब्द हमें कुछ ठीक नहीं जँचे। 'दित्ता' से तो 'डेटा' लेना ही उपयुक्त है। क्योंकि इन शब्दों का उन भाषाओं में प्रयोग हो रहा है इसी कारण हमें उन्हें हिन्दी में ले लेना चाहिए—यह तर्क हमें उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। "Establihment" के लिए 'सिब्बन्दी' शब्द का हिन्दी में चलना कठिन है क्योंकि यह शब्द प्रयोग करनेवालों की समझ में आना कठिन है और यह शब्द ऐसा नहीं है जिसके लिए हिन्दी में आसानी से शब्द प्राप्त न होता हो या न बनाया जा सकता हो। "Retrospective" के लिए 'पूर्वव्याप्ति' शब्द भी इसी प्रकार का है और "Data"

के लिए 'दित्ता' शब्द भी इसी प्रकार का है।

इस शब्दावली में 'एब्सर्ड' (Absurd) शब्द के लिए 'अनर्थक' शब्द दिया गया है जो कि ठीक नहीं है। "Absurd" शब्द के अर्थ कोश में निम्न प्रकार दिए गए हैं : Incongruous, Unreasonable, Rediculous, Silly, और इस शब्द के लिए समिति ने जो शब्द दिए हैं वे निम्न प्रकार है : "अनर्थक, ऊलजलूल, वाहियात, बेतुका" हमारी सम्मति में "Absurd" शब्द का अर्थ 'अनर्थक' ठीक नहीं है। हम समझते हैं कि इसके लिए निम्न शब्द होने चाहिएँ थे : "असम्बद्ध, ऊलजलूल, बेहूदा, अयुक्तियुक्त, उपहासास्पद आदि।" "Accuraty" शब्द के लिए 'यथार्थ' शब्द ठीक नहीं है। "Accuraty" का अर्थ कोश में निम्न प्रकार दिया गया है। "Careful, Precise, in exact conformity with a standard or truth" इसका अर्थ "ठीक, बिलकुल ठीक" होना चाहिए। "Apprenticeship" के लिए 'शिक्षुता' शब्द भी हमें ठीक नहीं प्रतीत हुआ क्योंकि इस शब्द में अंग्रेज़ी शब्द का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। "Bonafide" के लिए "वास्तविक" और 'असली' शब्द ठीक नहीं है। इस शब्द को यदि ऐसे ही ले लिया जाता तो कोई हर्ज नहीं था। "Cadre" के लिए 'संवर्ग' शब्द भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। "Academic" शब्द के लिए "शिक्षा सम्बन्धी' दिया गया है। 'शिक्षा' शब्द "Education" के लिए भी प्रयुक्त होता है। "Academy" के लिए तो "अकादमी" शब्द ले लिया गया है। "Academic" शब्द के कोश में निम्न अर्थ दिए गए हैं : "Pertaining to an academy, College or University or to Colleges" यदि अकैदमी के आधार पर 'एकैडमिक' शब्द के लिए 'अकेदमिया' या इसी प्रकार का कोई शब्द बना लिया जाता तो उपयुक्त होता। इस शब्दावली में "Corrspondence" के लिए 'पत्र-व्यवहार' और 'पत्राचार' शब्द दिए गए हैं। इनमें से 'पत्र-व्यवहार' शब्द का तो प्रयोग होता है परन्तु 'पत्राचार' शब्द का प्रयोग नहीं होता और न यह शब्द व्यवहारयोग्य प्रतीत होता है। "Counter" के लिए 'व्यवहार-पटल' शब्द भी अव्यवहार्य प्रतीत होता है। प्रस्तुत शब्दावली में 'Designation' के लिए 'पद संज्ञा' शब्द दिया गया है। पद संज्ञा संस्कृत के व्याकरण में अन्य अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस शब्द का Designation शब्द के लिए प्रयोग उपयुक्त नहीं प्रतीत होता; 'Decision' शब्द के लिए 'निर्णय' शब्द का प्रयोग होता है—'निश्चय' का नहीं। शब्दावली समिति ने इस शब्द के लिए 'निश्चय' शब्द रखा है। 'Digest' के लिए 'निचय' शब्द को दिया गया है। 'निचय' शब्द का अर्थ संस्कृत में 'समूह' होता है परन्तु 'Digest' शब्द का अर्थ कोशों में निम्न प्रकार दिया गया है : "Methodical Compendium or summery"—पता नहीं किस आधार पर Digest के लिए 'निचय' शब्द सुझाया गया है। इसी प्रकार 'ग्रेड' के लिए 'पदक्रम', 'इमीजिएट ऑफ़िसर' के लिए 'समक्ष अफ़सर', 'डिसक्वालिफ़िकेशन' के लिए 'अयोग्यता' 'इनवैलिड' के लिए 'निबल' 'रिप्रजेण्टेशन' के लिए 'प्रतिनिधान' और 'कनसाइज़' के लिए 'मिताक्षर' आदि अनेक शब्द हैं जो अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं। कई शब्दों को शाब्दिक के आधार पर बनाने का प्रयत्न किया गया है।

हमने दो विषयों की 'पारिभाषिक शब्दावली' के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर लिखा है। इसी प्रकार अन्य शब्दावलियों के सम्बन्ध में भी लिखा जा सकता है। और प्रयोग करने से इन शब्दावलियों की उपयुक्तता का भी पता चल सकेगा।

स्वर्गीय श्री रामगोपाल संघी

स्वर्गीय श्री रामगोपाल संघी हिन्दी प्रचार-सभा हैदराबाद के संस्थापकों में से एक थे। जिस समय हैदराबाद में हिन्दी का नाम लेना भी एक अपराध से कम नहीं था—उस समय उन्होंने सर्वथा निःस्वार्थ भाव से हिन्दी के प्रचार कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। वे स्वभाव से ही बड़े शान्त और मिलनसार थे। हम जब ये पंक्तियाँ लिख रहे हैं तो हमारे मन में उनकी अनेक स्मृतियाँ आँखों में आँसुओं के साथ उमड़ती चली आती हैं। वे कुछ समय महात्मा गान्धी जी के आश्रम में भी रहे थे। उनकी मृत्यु से हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद का एक स्तम्भ टूट गया। हम उनके निधन पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और उनके सम्बन्धियों इष्ट-मित्रों और बन्धुओं से समवेदना अभिव्यक्त करते हैं।

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बडी सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वामी सन्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

प्रकाशक : माणिकलाल कौल—मुद्रक : हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, है. द.

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
सा
हि
त्य
की
प्राप्ति के लिए एकमात्र
स्थान

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

नामपल्ली रोड़, हैदराबाद (दक्षिण)

टेलीफोन नं. : ५४[illegible]० तार : “

वर्ष ९

अंक ३

अजन्ता

मार्च १९५७

विक्रेता
रेशमी, बनारसी और
चन्देरी साड़ियां तथा
मिश्र की कपास के सूती कपड़े

सिल्क होम

पी० एल्० ब्रदर्स
आबिद रोड़
हैदराबाद द. १

टेलीफोन नं. { शोरूम ५२४१
घर ४८८८८

प्रगतिशील महिलाओं की चर्चा का मुख्य विषय

"निलोन साड़ियाँ"

लखनऊ तथा बम्बई की ज़री बूटेदार साड़ियाँ
जो विवाह तथा अन्य समारोहों के योग

सुन्दर, आकर्षक छपी तथा सादी अनेक
नमूने की साड़ियाँ

बूलचन्द एण्ड को०

सिल्क पैलेस

आबिदरोड हैदराबाद आन्ध्र प्रदेश

गाँधी स्मारक निधि

प्रकाशन विभाग

मणि भुवन, लेबरनम रोड, बम्बई—७

"गांधी मार्ग"

(गांधी विचारधारा का त्रैमासिक पत्र)

प्रधान संपादक : एस. के. जार्ज, सपादक : रामकिशोर

गांधी स्मारक निधि का प्रकाशन विभाग जनवरी १९५७ से "गांधी मार्ग' नामक एक त्रैमासिक पत्र हिन्दी और अंग्रेज़ी में अलग अलग प्रकाशित कर रहा है। इसका उद्देश्य आम जनता के सामने गांधीजी के विचारों, और कार्य प्रणाली को रखना तथा इन पर देशी विदेशी विद्वानों और विचारकों के लेख तथा टिप्पणियाँ प्रकाशित करना है। लेखकों को उचित पारिश्रमिक दिया जाता है।

	वार्षिक मूल्य	एक प्रति
अंग्रेज़ी संस्करण :	५-०-० रुपए	१-८-० रुपया
हिन्दी संस्करण :	२-०-० रुपए	०-१२-० आने

एक प्रति की कीमत मनीआर्डर से या डाक टिकट के रूप में भेजने पर नमूना अंक मिल सकेगा।

सिर्फ खास खास सर्व हितकारी संस्थाओं के विज्ञापन ही इसमें स्वीकार किए जाते हैं।

प्रबन्धक : "गांधी मार्ग"
मणि भुवन, लेबरनम रोड, बम्बई—७

५२४१
४८८८८

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक सांस्कृतिक
हिन्दी मासिक

'प्रेरणा'

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ, एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है।

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :
अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गति-विधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—
वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर

प्रकाशक :
* साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
* नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
* कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्टू छात्रालय, बनारस

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत,
शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक

[मासिक]

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

●

वार्षिक मूल्य ४) रु.] [एक प्रति ६ आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ
नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर, सुभाष मार्ग
लखनऊ

फोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

फोन नं० १४२ [वसुधा]

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी। प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ। पृष्ठ संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३२६

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्खे तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

का

वार्षिक अंक

२८ फरवरी '५७ को प्रकाशित हो चुका है

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी है और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

वार्षिक का मूल्य १।।) है, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :—
व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशियारपुर—पंजाब

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र
श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिनिधि मासिक

संपादक
महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !

* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!

* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

मुख्य विषय :
१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए
चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।।।)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए
"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

९४, बेयर्ड रोड, नई देहली

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

सम्पादक समिति
प्रतापनारायण टण्डन
डा० देवराज कुंवर नारायण
कृष्ण नारायण कक्कड

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रहा है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

वार्षिक शुल्क ८), अर्ध वार्षिक ४), एक प्रति ।।।)

'युग-चेतना' कार्यालय
स्पीड बिल्डिंग ला प्लास, लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** *ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली ह । खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है । दक्खिनी ने ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है । हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है । संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है । यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी* जोड़ने वाला है । पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने *लिखी है । संकलन कर्ता हैं श्रीराम शर्मा । पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ । मूल्य १०-८-० ।*

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट *रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी अर्थ दिया गया है । इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग* तेलुगु के *काव्य का आनन्द ले सकते हैं । लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी । मूल्य ४-०-० ।*

३. **सबरस :** *गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना । शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका ।* यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले *लिखी गई थी ।* प्रस्तुतकर्त्ता—*श्रीराम शर्मा ।* पृष्ठ सख्या *लगभग* २५०, डेमी साइज़ । *मूल्य ६-०-० ।*

४. **मुहावरा कोश :** पृष्ठ सख्या २९८ । रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज *मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त,* बी. ए. *प्राध्यापक विजय कालेज बीजापुर । मूल्य ३-०-० ।*

५. **चाबुक** *(कहानी संग्रह)* : *श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन । प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है । इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी* के *कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है ।* कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित *हुआ है ।* कोन है पृष्ठ *संख्या १३९ । मूल्य सजिल्द १-१२-० ।*

६. **मीरा** *(तेलुगु)* : *लेखक रामचन्द्र कौण्डिन्य । मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद ।*
मूल्य १-४-० ।

७. **तुलसीदास** *(नाटक)* : *गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक । नाटक रंगमंच के उपयुक्त है । मूल्य १-२-० ।*

८. **शकुन्तला-ए-ट्रेजड़ी (एण्ड अदर ऐसेज़)** : *श्री वंशीधर विद्यालङ्कार । मूल्य ४-०-० ।*

व्यवस्थापकः—**पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचार**

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज, सचित्र छपाई। आकर्षक मुखपृष्ठ।

१. बालपद : ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर आचार्य श्री पं० वंशीधर विद्यालङ्कार। ०-८-०

२. गाँवों की कहानियाँ : उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—श्री पं० रामानिरंजन पाण्डेय एम. ए., पी. एच. डी.। ०-८-०

३. दक्षिण के महापुरुष भाग १ : दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

४. बालकों की कहानियाँ : बच्चों के लिए मनोरंजन कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. दो एकांकी : ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए.। ०-८-०

६. हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल : अजन्ता से लेकर हैदराबाद की चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. दक्षिण के महापुरुष भाग २ : लेखिका—श्री विमला लूथरा। ०-६-०

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१ हिन्दी बोध प्रवेशिका	०	१०	०	१२ रचना बोध भाग १	०	५	०
२ हिन्दी बोध भाग १	०	८	०	१३ रचना बोध भाग २	०	६	०
३ हिन्दी बोध भाग २	०	१२	०	१४ इतिहास की कहानियाँ भाग १	०	८	०
४ हिन्दी बोध भाग ३	०	१३	०	१५ इतिहास की कहानियाँ भाग २	०	१२	०
५ हिन्दी बोध भाग ४	०	१४	०	१६ विज्ञान सोपान भाग १	०	१०	०
६ गद्यसोपान भाग २	१	०	०	१७ विज्ञान सोपान भाग २	०	१२	०
७ सरल गणित भाग २	०	१०	०	१८ चार एकांकी	०	१२	०
८ सरल गणित भाग ३	०	१२	०	१९ मणियाँ	०	१०	०
९ पद्य पारिजात भाग १	०	१२	०	२० सरल व्याकरण भाग १	०	६	०
१० पद्य पारिजात भाग २	१	५	०	२१ कहानी संग्रह	१	२	०
११ कथाकुञ्ज भाग १	१	८	८	२२ सरल भूगोल	१	०	०

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श–समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
भूतपूर्व वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा विभाग हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप'

१९५० से १९५६ ई. तक के प्रत्येक वर्ष की 'अजन्ता' की पुरानी फ़ाइलें जिल्द बन कर तैयार हो गई हैं।

'अजन्ता' का प्रकाशन अक्तूबर १९४९ से आरम्भ हुआ। विगत सात वर्षों में 'अजन्ता' ने हिन्दी साहित्य के भण्डार को बहुमूल्य रचनाओं से पूर्ण किया। गत वर्षों के यह अंक हिन्दी साहित्य की प्रगति को जानने के लिए नितान्त संग्रहणीय हैं।

अंकों का मूल्य वार्षिक रु. ९–०–० होते हुए, जिल्द के साथ और भी अधिक बढ़ जाता है किन्तु नीजि और सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए रु. ७-०-० में इन फाइलों को देने, की सुविधा प्रदान की गई है।

शीघ्र आर्डर भेजिए : रु. ७–०–० का मनिआर्डर प्राप्त होते ही जिल्द तुरन्त भेज दी जाएगी इन जिल्दों को वी. पी. द्वारा नहीं भेजा जाएगा।

'अजन्ता'
हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद
(आन्ध्र प्रदेश)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ९

मार्च १९५७

अङ्क ३

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

तार : हिन्दी

फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और

मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

तनहाई की कविता
बेचन एम. ए. १
गीत
विद्यानन्दन 'राजीव' २
पुराने सरोवर से
नटवरलाल 'स्नेही' ३
किरण की नारंगियाँ
देवनाथ पाण्डेय 'रसाल' ४
सौन्दर्य : आदिम अनुभूति : अधूना
रंगनाथ 'राकेश' ५
भारतीय मूर्तिकला में लाक्षणिकता
कृष्णकुमार आसावा ६
ईरान और भारत
लल्लन प्रसाद व्यास १७
भारत में फ्रेंच सत्ता का उदय और अस्त
अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार १६
पत्थर का पैग़ाम
डी. मंजुलता २५
भारतीय साहित्य पर विदेशी पंडितों का अनुशीलन
वाचस्पति गैरोला ३०
सम्पादक का कमरा
कैलाश कल्पित ३४
मेरे पत्रकारिता के अनुभव
इन्द्र विद्यावाचस्पति ४३
तेलुगु रंगमंच
बालशौरी रेड्डी ४६
ख़्वाजा अहमद की काव्य-साधना
रघुनाथ शास्त्री ४६
उड़िसा और उसके प्राचीन देव मंदिर
चिरंजीलाल पाराशर ५२
दादा-बाप-बेटा
श्याम विमल शास्त्री ५६
वसुधैव कुटुम्बकम्
लक्ष्मी प्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र' ५८
शिव की प्रतिमा
श्रीहरि ६०
कला-चर्चा ६५
आधुनिक कला और काशी शैली, महेन्द्रसिंह
चिठ्ठी-पत्री ६६
अजन्ता के सम्बन्ध में, रमानाथ शर्मा 'परिमल' भ्रमर, राम, ठाकुर तेनसिंह निर्भय, अवधकिशोर, नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी
नीर-क्षीर ७१
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, जंजीरें और दीवारे, काश्मीर में पन्द्रह दिन, उर्दू साहित्य का सरल इतिहास, शिक्षा की कुछ समस्याएँ —वंशीधर विद्यालंकार
सामयिक ७६
कनफ़्यूशस, मनुष्य की आयु, ईजिप्त की कला और संस्कृति
सम्पादकीय ८०
वंशीधर विद्यालंकार

चित्र

आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल श्रीयुत सी. एम. त्रिवेदी : राजा दीनदयाल के सौजन्य से
सीगा प्रकाश : श्रीयुत् विद्याव्रत, अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी के सौजन्य से

वार्षिक मूल्य : ९) **एक प्रति का मूल्य : १) रु.**

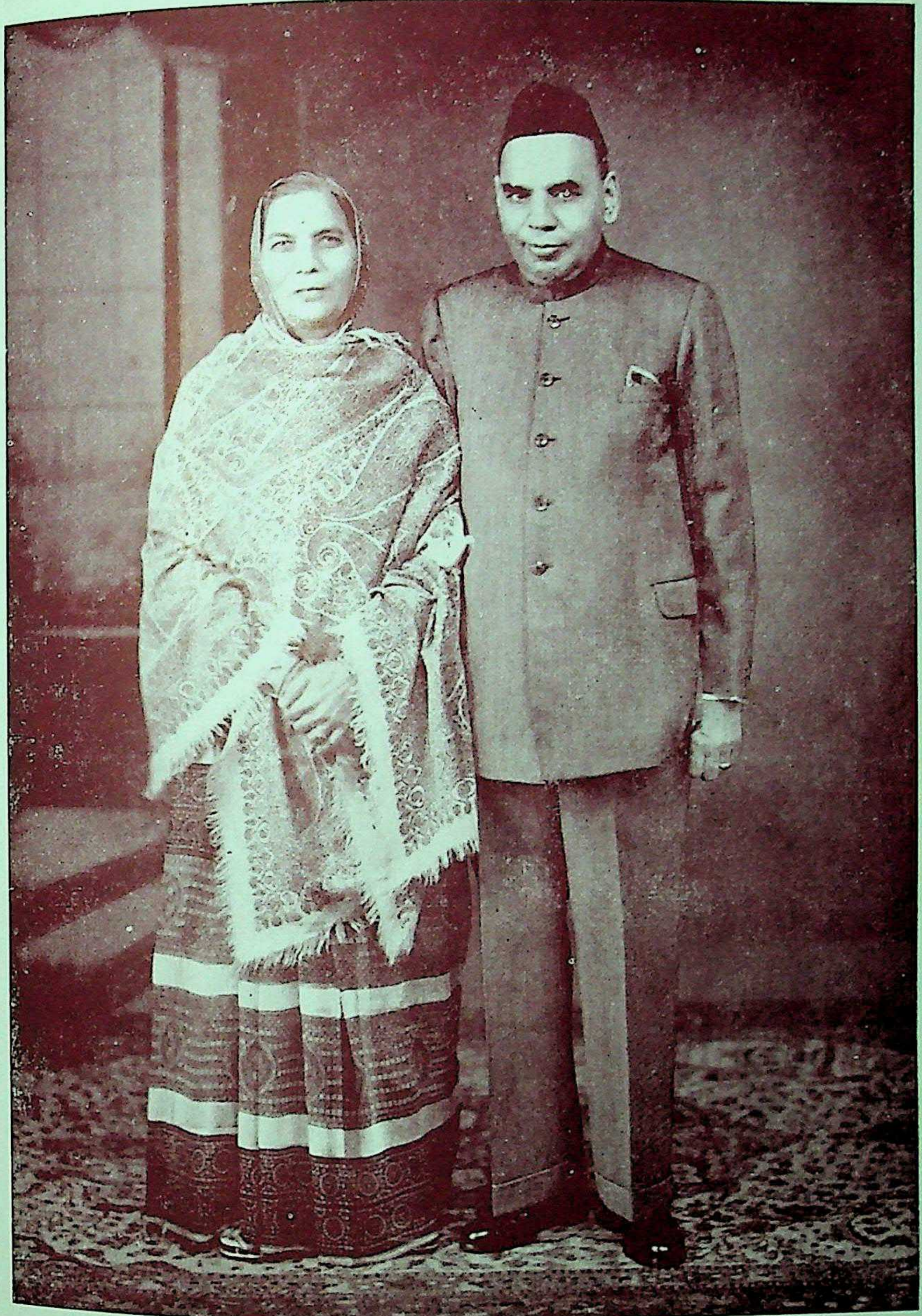

आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल श्रीयुत सी. एम. त्रिवेदी
और उनकी पत्नी श्रीमती कुसुम त्रिवेदी

राजा दीनदयाल
के
सौजन्य से

भीगा प्रकाश

श्रीयुत विद्याव्रत, अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी के सौजन्य से

वर्ष ६ मार्च १९५७ अङ्क ३

तनहाई की कविता

जी चाहता है
केवल अपने कमरे में बन्द रहूँ
कभी सोचता, कभी पढ़ता
कभी उदास और गम्भीर रहूँ
इतनी छोटी उम्र में ही
जीवन का क्रम दुहरा दूँ
क्योंकि आगे बढ़ने को जी नहीं चाहता
केवल जीवन का इतिहास लिखूँ
इतनी अधिक सामग्री जीवन की एकत्रित है
ज़िन्दगी एक नाटक है
अन्तिम दृश्य जिसका अधूरा है,
अधूरा है

—त्रेघन, एम. ए.

गीत

आज धरा के ऋण-कण का श्रम से शृंगार करो
मन-वीणा के सप्त-स्वरों में नव-उद्गार भरो !

(१)

नभ का शुभ सन्देश किरण बन, धरती पर उतरे
माँटी की मुसकान प्रभा बन अम्बर में बिखरे
हरे हृदय के ताप पिकी की रसवन्ती बोली
उपवन के आँगन में डोले बासन्ती डोली
चन्द्र, सुधा बरसो नित नव-जीवन संचार करो
आज धरा के कण-कण का श्रम से शृङ्गार करो !

(२)

चातक उर की पीर सदा ऐसे स्वर में गाए
पंछी को तृण-निर्मित गृह बन्दी न बना पाए
सुख का मोहन वेणु लिए मेड़ों पर कुछ गाए
जिसको सुन, हरियाली की राधा मन मुसकाए
तारक-कुसुम, हरित-वसुधा के अंचल में विहरो
आज धरा के कण-कण का श्रम से शृङ्गार करो !

(३)

मलय पवन करता आए मधु ऋतु की अगवानी
शरमाई सी धरा-वधू पहने चूनर धानी
निर्माणों के बोल मुखर हो खग-मृग के स्वर में
शहनाई बज उठे ख़ुशी की श्रम-जीवी घर में
नई प्रगति के केतु, श्रमिक के मस्तक पर फहरो
आज धरा के कण-कण का श्रम से शृङ्गार करो !

टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज,
भिण्ड (मध्य प्रदेश)

—विद्यानन्दन 'राजीव'

पुराने सरोवर से

अहो सरोवर! बहुत पुराने हो
कल्पांतों से रहे लहर लहरा
कल्पांतों से रुद्ध तटों में ही
मित्र! तुम्हारा हृदय अमित गहरा

कल्पांतों से कमल खिलाते हो
रहता जिनमें मधुप-समूह रमा
अमित पुरातन जिनकी मुसकानें
अमित पुरातन है जिनकी उपमा

जिस स्वरूप में युगों पूर्व तुम थे
वह ही तुम को अब भी भाता है
युगों पूर्ववत् प्यासे प्राणों की—
नीर आज भी तृष्णा बुझाता है

युगों पूर्ववत् तट के तरुओं पर
विहगों के दल गीत सुनाते हैं
युगों पूर्ववत् भूखे हंसों को
ये तट मुक्ता-कोश लुटाते हैं

जड़ीभूत तुम जड़वत् नियमों में
लहरें केवल हास खिलाती हैं
छन्दमयी संस्कृति की कविता-सी
केवल रस ही रस बरसाती हैं

इस रस से परितृप्त हुए कविजन
उनको है अब प्यास नयेपन की
नये करों की नई लेखनी की—
नई प्यास को चाह नए घन की

नव कवि से यदि कीर्ति कामना है
'प्रगति हीनता' से तुम तनिक डरो
आज काव्य की गति 'प्रयोग शीला'
मित्र! अतः कुछ नव्य प्रयोग करो

—नटवरलाल 'स्नेही'

किरण की नारंगियाँ

गुलाबी रंग
बादलों की टोकरी में
लाल किरनों की
भरे नारंगियाँ
द्वार से पूरब दिशा के
सुबह बोली
"गगन-वन में
तिमिर के सब तोड़ पत्ते
लाल किरनों की लिए नारंगियाँ
आई हूँ बेचने अनमोल
दिन के पहर रस से भरे
इन नारंगियों की फाँकियाँ।"

. . .

कनक पंकज कली-सा मुख
मुसकराई धरा
छिटकी प्रभा
दिशि रे अरुण
अधरों पर जरा
उठ सुमन के सेज से
चढ़ तरु-शिखर के सौध पर
नारंगियाँ सारी खरीदीं
पलछिलों के छीलती छिलके
कि रस बहने लगा आलोक का उज्ज्वल
धरा पीने लगी रस
दिशाओं के अधर से
लहलहाए नए अंकुर
खिलीं फूलों की निगाहें
मृत्तिका का तन सुनहला
धूप-छाया नरम बाँहें
पल्लवों के करतलों में
मेहदी का रंग रहा खिल
चरण नूपुर में झलकता
पुलक सागर हुआ उर्म्मिल
रस पिए नारंगियों का नाचती जाती
पहाड़ों पर चढ़ समुन्दर भापती जाती
रेत पर भी लहर की छवि आँकती जाती
भोर में भैरवी का स्वर साधती जाती
लाल रंग की फसल की
चुनरी उड़ी फर-फर
द्रुमों की डाल से झूले कि मौसम पालने में
झूलती औ' गा रही स्वर भर

. . .

दिन लगा ढलने गई हो शाम
आया ध्यान
देना किरन की नारंगियों का दाम
उसने लुटाए हीरे, प्रचुर मोती
चमकने जो लगे आकाश में
देखो पहाड़ों के उधर पीछे
रही कर कौन है आराम?

. . .

रसाल-कुञ्ज; सारनाथ
वाराणसी, (उत्तर प्रदेश)

—देवनाथ पाण्डेय 'रसाल

१९५७

सौन्दर्य : आदिम-अनुभूति : अधुना

आदिम-अनुभूति :

कैसे रहूँ अकेला मैं, बोलो ना !
यह उमसन भरी लहकती सँझा
बकुलों की यह श्वेत पाँत लख
संगमर्मरी उघरे वक्षस्थल पर—
सहज लाज का कुंचित-वल्कल-अंचल
याद आ रहा, रह-रह कर याद आ रहा !
मन मसोसता—
तुम श्येन सदृश उड़ जाती हो
साँझ सरकती है—
सूनापन छाता जाता है;
तिल-तिल करता यह सरिता-जल
मानो हँस-हँस कहता है :
यह त्वष्टा की अनुपम कृति है मनु के बेटे,
चन्दा की सुघराई-गोलाई जिसमें
माधवी लता का बाँकापन;
वल्लरी-सुलभ-आलिंगन
दूर्वा सा सहज-सरल-कम्पन;
नरकुल सा मांसल चिकनापन
सुरभित कलिका सा खिलता उभार—
फुनगी सा पेशल हल्कापन;
गदरायी जाँघे दो कदली सी
हरिणी सी वह मदिरिल-चितवन
अलिकुल संकुल मंजुल केशी
पृथुक नितम्बा परिमल बहुला
कजरारी आँखों में सावन—
वाणी में कच्ची शहद-घुलन
दावानल सी सहज मंजु लौ—
पल में प्रस्तर पल में माखन
ओ मनु के बेटे !......

●

मंजु श्री ओ ! श्येन सदृश तुम
कहाँ चली जाती हो ? बोलो ना !
यहाँ परुष्णी के पुलिन-जघन पर
सूर्यदेव भी श्लथ होकर—

कभी सो गए, रात हो गई;
तुम्हें याद है ? मैं सोया था
उस गोधूली को लहुलुहान हो तेरी जंघा पर !
कितना भारी वाराह विंधा था मेरे नाराचों से
तुमने सोम पिला कर थपकी दी थी—
बस यही याद है !
तुमने मरहम पट्टी की थी—
बस यही याद है !
वह गुंजा का ग्रैवेयक गोरे उभार पर
दोलित होकर कितना सुन्दर लगता था ?
मुझे याद है : मैं बोला था सोते-सोते
यौवन-मणि की रक्षा में तक्षक लहराता है !
'आँखें मूँदो, सो जाओ !' तुमने झिड़की दी थी
मैं सोया सुमुखि अवश्य किन्तु
प्रान में रूप तुम्हारा आँजे
तभी द्वार पर बछड़ा हाँफा, कुक्कुट किलका
बाँह पसारे तुमने पूछा तन्द्रिल वाणी में :
प्रत्यूष हो गया ? ऊँऽऽऊँऽऽअँगड़ायी टूटी—
नहीं, नहीं री शुक्र अभी ही उदित हुआ है !
फिर निंदिया में पलकें डूबीं !!

●

ओ अश्वारोही, पल भर को रुको जरा
प्यासे हो ? यह लो पुरोडाश खा लो, जल पी लो
घोड़े को मौलश्री—मूले बाँध रही मैं;
आश्वस्त ज़रा हो लो,
यह कृष्णाजिन है : थकन मिटा लो
कहाँ जा रहे बंग-देश को ? एक बात है—
मेरे पति का पता लगाना अश्वारोही
मेरा छोटा बेटा साथ तुम्हारे यमुना तट तक जाएगा;
धनुर्वेद में पारंगत है वह—
महा अथर्वण ऋचीक की विद्या उसके रग-रग में है !
चापमान की धन्वा का टंकार तुम्हें अब भी
पत्थर की पसली-पसली में गूँजता मिलेगा !
मैं तृत्सु वंश की नारी हूँ
दिवोदास का दर्प हमारी रन्ध्रों में है
जाओ, पवन शान्त है, पथ स्वयं तुम्हें पाथेय बनेगा
तरकस में नाराच ठीक हैं न ? तब जाओ
वल्गा पकड़ो, चलो साथ मैं भी कुछ दूर चल रही
पता नहीं आतिथ्य लाभ फिर पाऊँगी ?

१९५७

सन्देश, अरे हाँ कह देना—
तुहिन पात था पड़ा भयावह
देखो, तुम्हीं स्वयं : वल्लरियों के कपिश गाल ये—
कैसे मुरझाए हैं मल्लिका झुलस सी गयी तभी
कह देना—
वह मृग शावक बड़ा हो गया है
जिसने जाते समय तुम्हारा मग रोका था !
कह देना—
प्रावृट् समीप है !......

◆

रुको तनिक : मैं शाटी तो संयत कर लूँ
आओ देवी, नयनों में काजल रेखा मत डालो, मत कजरारो !!
वाण सरीखे कोर स्वयं घातक हैं फिर विष का लेपन भी क्यों ?
मदनोत्सव आरम्भ हो गया होगा री, कुरु सत्वर
लोध्र नहीं है, आ जाएगा पर चलो आज अब,
पारिजात के पेशल प्रसून ये इन्हें खोंस लो जूड़े में—
कल शिकार में टूट गई वह एकावली तुम्हारी
पर जाने दो मनहर तो मनहर है
हार हीन भी वक्ष तुम्हारा भरा-भरा लगता है !
तेरी सखियों के अधर प्रवाली जोह रहे होंगे—
मधुरिम वाणी—'आगतोऽस्मि प्राणोपरि प्रेयसि !'
तेज़ चलो अब, वृद्ध पितामह का आक्रोश न हो जिससे !
देखो, दूजो का चन्द्र उग गया;
यह सेमर का पेड़ सो गया : घनीभूत तम में—
मेरा दृढ़-स्कन्ध थाम्ह लो, चढ़ती आओ
वह देखो, रसाल पाँते, उससे परे नातिदूरे
विकसित युवजन मण्डलाकार बैठे हैं !

◆

अधुना :

हाँ, हड्डी का इतिहास सुरक्षित करता मानव
ये फरते कुदाल गाँती खोद रहे हैं—
मथुरा-पाटन—मोहन-जो-दरो के अतीत को !
सभ्यता वधू की घूँघट उघर रही है !!
आत्म-प्रवंचन घोर किन्तु व्यवहारो में
रेस्तराँ, काफ़े, होटल और सिनेमा कक्षों की—
हलचल, काँटे छुरी की टिन-टिन, प्याले की चाय :
जैसे जीवन का अंग नहीं अंगी !......
पालिशदार—मक्खन लगे टोस्ट-सी बातें, और

ज़िन्दगी से झूठा अभिनय
हो रहा सभ्यता का सूर्योदय !
शान्ति-कपोत उड़ रहे विवश हो पंख समेटे
लिप्साओं का धूम उड़ रहा मिश्र और हंगरी में !
बीसवीं शती है यह ! मुख में राम बगल में छुरी !!

◆

—मेरा मूड नहीं है......
सारे के सारे स्नेहिल बंधन टँके हुए हैं—
वैयक्तिक कांक्षा की सूची से !
शिल्प उसी का टांक सका जो बारीकी से :
साँप मरे लाठी ना टूटे !

—आज चलो पिकनिक है, हूँ, अच्छा !
मूड नहीं था फिर भी तुम जो हो प्यारे,
गंगा के उस पार नारिकेल गाछों के पीछे—
कैम्प लगा है : सभी भद्र हैं वहाँ जुटे

◆

ट्राम चल रही, तरुणी पति-पत्नी सट कर बैठे हैं :
चलती जाती ट्राम : सरक रहीं स्वेटर पर सलाइयाँ शनैः शनैः
सामने युवक फाइल दाबे चश्मे के आड़े ताक रहा !
मन के पन्ने पतले सिगरेटी कागज से फड़क रहे,
संयम की फाइल ढीली है !
घंटी खिनकी, तनी पीठ : कुछ चढ़े और कुछ उतरे :
जैसे महाकाल की अंगुलियाँ ट्रामों के मिस दौड़ रही हैं !
दर्पण निकाल गालों को लाली दी, होठों को लाली दी—
नाखूनों से आँचल गठियाते हौले-हौले तन्वी बोली :
हलो डियर ! तुम कहाँ चल रहे ? आँखें उतरीं आँखों में—
बातें निथरीं : अधर हँसे कुछ : यह धोखा फिर क्यों ?

◆

मैं बाणभट्ट पर सोच रहा हूँ : पैर कुचल उठता है, वाणी मीठी :
वाणी कुछ नमकीन तैर जाती है : मार्जना !
वही सलाई स्वेटर वाली तरुणी !
पास उतर जाता हूँ : मन के धागे तैरह सौ वर्षों से—
टूट-टूट इस युग की कादम्बरी तले रोते हैं;
हन्त ! हन्त !! ओ मंजु माँ कवि होना अभिशाप यहाँ !......

२० महर्षि देवेन्द्र रोड,
कलकत्ता—७

—ईशनाथ राकेश

भारतीय मूर्तिकला में लाक्षणिकता

प्रकृति के वाह्य रूप से अन्तः रूप की ओर उन्मुख हो, कवि ने अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रतिभा के वातायन से, संसृति के सुन्दर तत्वों को भावनामय रूप दे डाला। उनके प्रशस्ति-स्वर उसकी वाणी में मुखरित हो उठे। कुसुम के अलौकिक सौन्दर्य को देख उसे किसी विराट् शक्ति का आभास हुआ। उसकी दृष्टि भौतिक सौन्दर्य की ओर उन्मुख हुई। हृदय में भावों का ज्वार उठने लगा और भावोत्पादक वे तत्व ही भावों के प्रतीक बन गए। कवि की मधुर वाणी ने जिन तत्वों की आराधना की, मूर्तिकार के कला कुशल हाथों ने उन्हीं तत्वों को साकार अभिव्यक्ति दी। अर्चना के क्षणों में दोनों के मानस-चक्षुओं के सम्मुख आराध्य का एक ही रूप मूर्तिमान् हो उठा। पर कवि की कल्पना को साकार कर ही शिल्पी के हाथ न रुके। उसने कला और दर्शन का समन्वय कर, उन प्रबल भावों को लाक्षणिक रूप भी दिया।

प्रत्येक राष्ट्र में कला का दार्शनिक आधार यही है कि कला प्रकृति और उसके कार्यकलापों का केवल दर्शन, प्रदर्शन और चित्रण ही नहीं है वरन् उन कार्य-कलापों द्वारा उत्पन्न मानवीय भावों का आलेखन और प्रकृति के रहस्यों को समझने का मानव प्रयत्न भी है। भारतीय दर्शन के अनुसार प्रकृति के समस्त कार्य क्षणभंगुर हैं,+ केवल आत्मा ही अमर है और ब्रह्म एकमेव सत्य है। अतः भारतीय कलाकारों ने प्राकृतिक या शारीरिक सौन्दर्य की चरम सीमा पर पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया वरन् वे सामान्य शारीरिक सौन्दर्य से उच्च दैवी सौन्दर्य को समझने का प्रयत्न करते रहे। इसी कारण केवल शारीरिक शक्ति और सौन्दर्य कभी भी भारतीय कला के आराध्य न बन सके। भारतीय कला सदैव किसी असीम और अनंत को अंकित करने का यत्न करती रही और इसी कारण वह प्रतीकात्मक कला बन गई।

भारतीय कलाकारों ने मानवीय सौन्दर्य और शौर्य को राजपूत योद्धाओं के रूप में नहीं वरन् बुद्ध, कृष्ण और शिव के रूप में मूर्तरूप किया। जिस प्रकार भारतीय कला के पुरुष रूप शारीरिक सौन्दर्य के आदर्श न थे वरन् सार्वलौकिक प्रकाश के भौतिक प्रकाशक थे, उसी प्रकार नारी रूप सौन्दर्य के स्थान पर आत्मा की उच्चता एवँ शक्ति के उदाहरण थे। नारी सौन्दर्य के आदर्श रूप में उन्होंने सुन्दरतम भारतीय नारी को नहीं वरन् दैवी ज्ञान की प्रतीक सरस्वती, पतिव्रता की मूर्तिरूप पार्वती और अनन्त दया की प्रतीक देवी तारा को स्वीकार किया। उनके लिए सौन्दर्य, प्रेम और आराधना हेतु था मनोरंजन और आनन्द प्राप्ति के लिए नहीं। उन कलाकारों के पास वह अन्तर्दृष्टि थी जो शारीरिक और भौतिक सौन्दर्य उच्च असीम आत्मीय सौन्दर्य के अनन्त भण्डार को देख सकती थी।

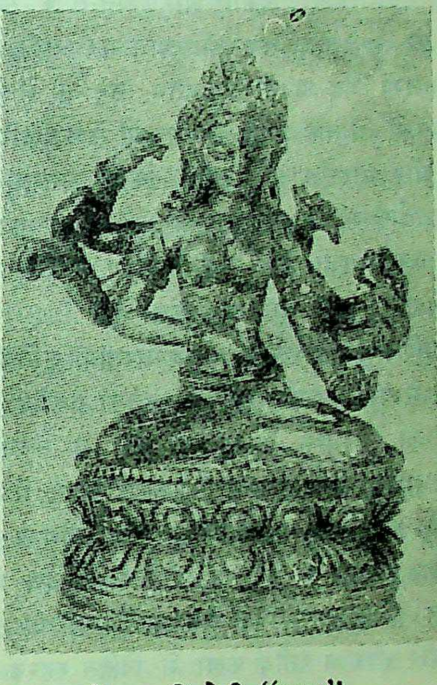

नेपाल की देवी "तारा"

इसके विपरीत ग्रीक और यूनानी कलाकारों ने सर्वोत्तम भौतिक सौन्दर्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रकृति और मानवीय सौन्दर्य के श्रेष्ठतम उदाहरणों को अपना आदर्श बना उनका चित्रण अत्यन्त कुशलता से किया। भौतिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा ही उनकी विशेषता थी। ग्रीक शिल्पकारों ने मानव को अपना आदर्श बना, उसे दैवी सम्मान प्रदान कर अपनी

कला का विकास किया। उन्होंने ईश्वर को पृथ्वी पर उतार उसे श्रेष्ठ मानव सौन्दर्य से विभूषित किया। दूसरी ओर भारतीय कलाकारों ने मानव को स्वर्ग के प्रदेश में ले जाकर उसे ईश्वर के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया। और यही भारतीय और पश्चिमी कला में अन्तर है। जहाँ भारतीय कलाकार ब्रह्म और आत्मा को समझाने का प्रयत्न करते रहे वहाँ ग्रीक कलाकार श्रेष्ठ मानव सौन्दर्य को मूर्तिमय करते रहे। इसी कारण भारतीय कला में लाक्षणिकता का प्राबल्य है और पश्चिमी कला में भौतिक सौन्दर्य का। पश्चिमी कला असीम और अनन्त के स्थान पर प्रकृति की यथार्थता तक ही उड़ान भर सकी है और इसी कारण वह अपनी उच्चतम उड़ानों में भी भाव और रूप में भौतिक जगत् की वस्तुओं से आलिंगित है। दूसरी ओर भारतीय कला सदैव किसी अनन्त, असीम और सार्वलौकिक वस्तु की अनुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करती रही है। इसी कारण भारतीय कला लाक्षणिकता से पूर्व भावात्मक कला है।

पश्चिमी लोग सर्व प्रथम भारतीय मूर्तिकला को समझने में पूर्ण असफल रहे थे। उनका एकमेव उद्देश्य सौन्दर्य का उपभोग करना था अतः वे उच्च भावों पर आधारित प्रतीकात्मक भारतीय कला में निहित भावनाओं को न समझ सके थे। वे भारतीय कला को, ग्रीक कला के समान समझ, भौतिक सौन्दर्य में ग्रीक से बहुत पीछे पा, बर्बर युग की कला कहते थे। परन्तु धीरे धीरे भारतीय कला में निहित रहस्य पश्चिम को विदित हुआ और फिर तो भारतीय कला प्राचीन विश्व की श्रेष्ठतम कला मानी जाने लगी। ई. बी हैवेल अपनी पुस्तक 'इंडियन स्कलपचर एन्ड पेंटिंग' में लिखते हैं :

"भारतीय और पश्चिमी कलाकारों के प्रारंभिक आदर्श बिन्दु में विशाल अन्तर है। अपने जीवन के अधिकांश समय को भारत में व्यतीत करने वाले यूरोपवासियों में से भी न्यूनतम व्यक्तियों ने उन दार्शनिक, पौराणिक, धार्मिक एवं एतिहासिक भावनाओं को समझने का न्यूनतम प्रयास किया है जिनकी भारतीय कला मूर्तरूप है और इन्हें बिना समझे एक शिक्षित कलापारखी भी भारतीय कला का निष्पक्ष आलोचक न हो सकेगा।"

आगे श्री हैवेल भारतीय एवं यूरोपीय कला में अन्तर बतलाते हुए लिखते हैं—

"यूरोपीय कला एक पंख कटे पक्षी के सदृश है। वह भौतिक सौन्दर्य से ही परिचित है। इसके विपरीत भारतीय कला अत्यधिक ऊँचाई पर उड़ान भरती हुई, अनन्त गगन के अदृश्य सौन्दर्य को पृथ्वी पर लाने का प्रयत्न करती है।"

भारतीय कला पूर्ण रूप से आध्यात्मिक और भावात्मक रही है। कलाकार कवि और सन्त दोनों थे। इसी कारण भारतीय कला में काव्यमय भावात्मकता और आध्यात्मिकता—दोनों का पुट है। भारतीय कला यूरोप की गॉथ-इक (Gothic) कला के अनुरूप है और यथार्थ में 'गॉथ-इक' कला पश्चिम आवरण में ढंकी भारतीय कला ही है। डा० सुमनलता के अनुसार मध्ययुग की क्रिश्चयन कला मानवीय विषादों को चित्रित करनेवाली भावपूर्ण कला है। भारतीय कला काल्पनिक रही और आत्मा एवं उच्चलौकिक वृत्त में आनेवाली बाधाओं को समझने का यत्न करती रही।

राष्ट्र के आध्यात्मिक विचार ही कला के उच्चतम भाव होते हैं। भारतीय शास्त्रों के अनुसार किसी पूर्णतः प्राकृतिक या मानवीय रूप में ईश्वर का आरोपण करना, उस असीम शक्ति का अनादर करना था। शुक्राचार्य के अनुसार कलाकार को केवल ब्रह्म के चिन्तन के द्वारा ही ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मिक आभास ही उसके लिए परम सत्य एवं सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। उसे केवल इसी पर निर्भर रहना चाहिए न कि भौतिक जगत् के पदार्थों पर। एक कलाकार के लिए ईश्वर की काल्पनिक मूर्ति का निर्माण करना ही उचित और उत्तम है। किसी मानव रूप की प्रतिमूर्ति करना अधार्मिक कार्य है। किसी देवता के काल्पनिक चित्र को, चाहे वह सुन्दर न हो, प्रस्तुत करना किसी सुन्दरतम मानव रूप की प्रतिमूर्ति करने से अच्छा है।

अतः स्पष्ट है कि क्यों भारतीय कलाकारों ने अपनी कला में भौतिक सौन्दर्य को कोई स्थान ही नहीं दिया। यह ईश्वरीय या आत्मीय सौन्दर्य का भाव ही भारतीय कला का आधार स्तंभ है। भारतीय कलाकारों का आदर्श रूप धार्मिक क्रियाओं में रत ब्रह्म को समझानेवाला, उच्च भावनाओं से पूर्ण 'वसुधैव कुटुंबकम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादक योगी था। परन्तु फिर भी

कलाकारों ने योगी का भौतिक रूप चित्रित नहीं किया। उन्होंने उच्च आत्मा का चित्रण करना ही उचित समझा था। उनके भाव साधारण मिट्टी के बने न थे। उन्होंने शुद्धतम एवं शांत आत्मा के रूप को मूर्तिरूप करने का प्रयत्न कर निराकार को साकार बनाया था। अतः लाक्षणिकता का प्रयोग सम्भव और आवश्यक दोनों था।

भारतीय कलाकारों के उच्च भावों की आश्चर्य-जनक अनुभूति जावा में प्राप्त प्रजा-परिमिता की मूर्ति है।

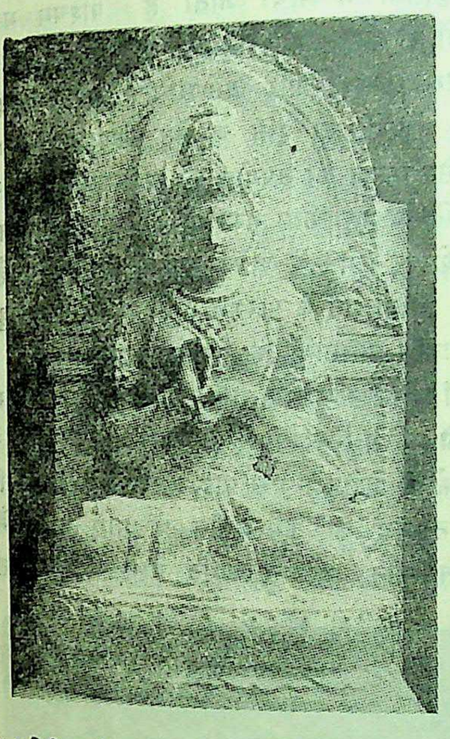

'प्रजा-परिमिता' : आध्यात्मिक कला की सर्वश्रेष्ठ मूर्ति

लेडन के एथोनोग्राफिक संग्रहालय में सुरक्षित यह मूर्ति विश्व की आध्यात्मिक कला का श्रेष्ठतम नमूना है। कमल प्रसून पर एक योगनी के रूप में विराजमान, दैवी उत्पत्ति एवं पवित्रता की प्रतीक प्रजा-परिमिता अपने एक हाथ से आध्यात्मिक आदर्शों की लाक्षणिक मुद्रा का निर्माण कर रही हैं। उनके चेहरे पर स्वर्गीय भावों की अनुपम गरिमा है। कमल कुसुम की मृणाल देवी के हाथों से लिपटी हुई और कमल प्रसून पर एक पवित्र पुस्तक रखी हुई है। इस अद्वितीय कलाकृति की यथार्थ निर्माण तिथि अभी तक अन्धकार में है परन्तु फिर भी इसे बौद्धकालीन माना गया है। ई. बी. हैवेल और डा० सुमनलता के अनुसार यह मूर्ति जावा में बौद्ध धर्म के प्रारंभिक प्रसार युग की है। जो भी हो इस मूर्ति में लाक्षणिकता और शारीरिक सौन्दर्य दोनों की पराकाष्ठा है। प्रजा-परिमिता के चेहरे की अलौकिक गरिमा को देख प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता फरगुसन ने लिखा है :

"उसका चेहरा उस स्वर्गीय गरिमा से ओतप्रोत है जिसे इटली के सर्वश्रेष्ठ कलाकार गिओवन्नी बेलिनी (Giovanni Bellini) ने अपनी प्रसिद्ध मैडोनास (Madonnas) को दिया था।"

और डाक्टर सुमनलता के अनुसार तो सौन्दर्य और लाक्षणिकता की पराकाष्ठा का ऐसा नमूना अन्यत्र प्राप्त नहीं।

"आत्मिक चिन्तन" ही भारतीय कला की लाक्षणिकता का रहस्य है। इन्हीं दो शब्दों में भारतीय कला का सम्पूर्ण दर्शन निहित है और वे ही भारतीय कला के सच्चे दिग्दर्शक हैं। भारतीय कलाकारों ने अनेक वस्तुओं को प्रतीक रूप में ग्रहण किया और यथार्थ में ये प्रतीक भारतीय कला के अर्थ-पूर्ण सूत्र हैं। इन प्रतीकों में कमल, दीपक, जलपूर्ण घट और स्वस्तिक प्रमुख हैं।

भारतीय मूर्तिकला में कमल का विशेष स्थान है। वह अयुत वत्सर पूर्व से उच्च मानवीय एवं दैवी गुणों का प्रतीक माना जाता रहा है। भारतीय उसे निर्माणकारणी शक्ति का संकेत समझते थे। कमल जीवन का वह आदर्श प्रतीक है जो कीचड़ में जन्म लेकर भी उसके ऊपर खिला रहता है। सरोवर का पंक उसकी पंखुड़ियों पर अपनी कालिमा की छाप नहीं लगा पाता। जल में रह कर भी वह उससे निर्लिप्त रहता है। सम्पूर्ण दिवस वह प्रकाश की ओर अपना मुख किए रहता है और अन्धकार के आते ही अपने नेत्र बन्द कर लेता है। जीवन का भी यही आदर्श है कि वह इसी प्रकार सत्य और ज्ञान के प्रकाश की ओर उन्मुख होकर उन्नत स्थिति की प्रेरणा प्राप्त करे। कमल का प्रयोग इतने अधिक भावों को व्यक्त करने के लिए किया गया है कि आश्चर्य होने लगता है। भारतीय कला-कारों को कमल में सौन्दर्य, सौरभ, सत्य, शांति, पवित्रता, आध्यात्मिकता और सम्पूर्ण जीवन दर्शन—सभी कुछ मिला था।

ब्रह्मा कमल से उत्पन्न हुए, विष्णु कमलासीन हुए, लक्ष्मी कमल से सुशोभित हुईं—कमल आध्यात्मिकता का प्रतीक बना।

ऋषियों ने देवाराधना के पूर्व कमल की स्तुति की :

“समुत्पत्तिः स्वच्छे सरसि हरि हस्ते निवसनं
निवासः पद्मायाः सुर हृदयहारी परिमलः
गुणैरेतैरस्थापि च ललित श्यामाम्बुज तव
द्विजोत्तसे हंसे यदि रति रतीवोन्नतिरयम्”

अर्थात् हे कमल ! सुन्दर स्वच्छ सरोवर में तुमने जन्म लिया। तुम सदैव भगवान् विष्णु के हाथों में रहते हो और लक्ष्मी जी तुम पर निवास करती हैं। हृदयहारी सौरभ तुम्हें प्राप्त है। इतने अधिक ललित गुणों के कारण तुम्हारे प्रति आकर्षित पक्षीश्रेष्ठ हंस का प्रेम भी यदि तुम्हें प्राप्त हो गया तो तुम समझो कि तुहारी कीर्ति का विस्तार दिन प्रतिदिन हो रहा है।”

शकुन्तला ने कमल से अपने को सजाया। दुष्यंत ने शकुन्तला के सौन्दर्य की तुलना कमल से की। कालिदास ने ऋतु-संहार में लिखा : “लाल कमल से स्वरूप वाली, खिले नील कमल सदृश्य नेत्रवाली, कमलसम माधुर्यपूर्ण हास्य वाली, कमल के अनुरूप सौन्दर्य वाली नारी की भाँति यह शरद् ऋतु है।”

इस समय कमल सौन्दर्य का प्रतीक था !

विजन में खड़े दार्शनिक ने प्रकाश की ओर उन्मुख कमल को देखा। वह जीवन-दर्शन का प्रतीक बना !

इस प्रकार कमल अनेक भावों का लाक्षणिक बनता गया और तब उन भावों के दिग्दर्शन हेतु कमल का प्रयोग आवश्यक था ही। भारतीय शिल्प-भित्तिचित्र और अलंकरण में कमल का प्रभुत्व है। अजन्ता के कला-मंडप तो कमल के बिना अधूरे ही रहते। बोधिसत्व पद्मपाणि गहन चिन्ता की मुद्रा में खड़े बतलाये गए हैं। प्रशस्त वक्ष मोतियों की माला से शोभित है। अर्ध विकसित कमल वन उन्मीलित नेत्र हैं। उनके बाएँ हाथ में भिक्षापात्र है और दाहिने हाथ में श्वेत कमल।

सित्तन्नवासल के जैन-भित्ति-चित्रों में कमलमय सरोवर और बाल सहित कमल कुसुम लिए गन्धर्व गण बतलाए गए हैं। मथुरा की जैन कृतियों में भी कमल पाया जाता है। यह छठवें दिनका प्रतीक भी है।

धार्मिक कला-कृतियों में कमल का प्रयोग भारत में धार्मिक कला की उत्पत्ति के साथ होने लगा और विकास के साथ बढ़ता गया। देश के विभिन्न भागों में २०० ईसा पूर्व के लगभग निर्मित समस्त बौद्ध स्मारकों में कमल का प्रयोग पाया जाता है। अपने सामान्यतम रूप में पूर्ण विकसित कमल तृतीय आभूषण के रूप में सांची, भरत, अमरावती और बौद्ध गया की बौद्धकालीन शिल्पकृतियों में पाया जाता है। पश्चिम भारत के चट्टानों को काट कर बनाये गए देवालयों में कमल का उपयोग, सजावट और आध्यात्मिक भावों के दिग्दर्शन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु किया गया है। अर्ध-विकसित कमल का उपयोग भी इन्हीं अर्थों और उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु किया गया है। लंका के देवालयों की सीढ़ियों पर कमल के अनेक रेखाचित्र पाए जाते हैं।

ईसवी सन् के प्रारम्भ से, जब से भगवान् बुद्ध की कमलासीन प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ, उनकी अनेकों कमलासीन प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। इस रूप में बुद्ध की प्रतिमाएँ राजगिर, कानहरी गुफ़ाओं और गांधार स्मारकों में विशेष रूप से पाई जाती हैं। इसके सिवाय भगवान् बुद्ध की कमलासीन प्रतिमाएँ जावा, नैपाल, तिब्बत, चीन, जापान आदि देशों में पाई जाती है।

भगवान बुद्ध : लाक्षणिकता का सौंदर्य

में नेपाल में प्राप्त भगवान् बुद्ध की एक प्रतिमा बतलाई गई है। भगवान् बुद्ध ज्ञान के लाक्षणिक पीपल के पत्तों से घिरे, कमलासन पर विराजमान हैं। उनके चेहरे पर अलौकिक शान्ति छाई है। एक हाथ में भिक्षापात्र लिए हुए हैं और दूसरा हाथ अभय-मुद्रा में उठा विश्व-कल्याण का प्रतीक है। इसी मूर्ति में प्रयुक्त लाक्षणिकता पर थोड़ा विचार कीजिए। कमलासन बुद्ध के दैवी जन्म और पवित्रता का स्वामी होने का संकेत है। कमल की पंखुड़ियों को नीचे झुका बतलाया गया है। इससे मूर्तिकार स्वर्गीय गगन का निर्देश करता है, जिसे पवित्र पर्वत अवलम्ब किए हैं। भिक्षापात्र बुद्ध के पूर्ण अनासक्त होने का प्रतीक है और पीपल के पत्ते उनके अपार ज्ञान और गरिमा के द्योतक हैं। कमलासन के नीचे गरजते सिंहों का बतलाना इस बात का प्रतीक है कि दया और अहिंसा क्रूरता और हिंसा से बहुत ऊँची है। सिंह क्रूरता, हिंसा और शक्ति का प्रतीक हैं और बुद्ध दया, अहिंसा और शान्ति के।

पुरातन काल से कमल-दैवी आसन के रूप में प्रयुक्त होता आया है। इसका प्राचीनतम और श्रेष्ठतम उदाहरण देवी लक्ष्मी का सांची, भरतपुर और उदयागिरी की कलाकृतियों में प्राप्त चित्र है। यह चित्र आज भी समस्त भारत में पाया जाता है। लंका की प्राचीन पोलोन्नरुवा की कृतियों में भी यही चित्र पाया जाता है। इस चित्र में देवी लक्ष्मी कमलासीन दिखलाई गई हैं। उनके हाथ में दो कमल कुसुम हैं जिन्हें दो हाथी अपनी सूंड से उठाये गये कलशों के जल से सींच रहे हैं।

कमलासन का प्रयोग बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ दूर दूर के देशों तक फैलता गया। मंजुश्री की कमलासीन प्रतिमा सारनाथ में ही नहीं वरन् जावा और तिब्बत में भी पाई गई है। हिन्दु धर्म से सम्बन्धित चित्रों में तो कमल का उपयोग आधार एवं आसन हेतु सदैव किया गया है। हिन्दु धर्म के तीन प्रमुख देव ब्रह्म, विष्णु और महेश अपनी पत्नियों क्रमशः सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती के साथ कमल पर विराजमान बतलाये गये है। इनके सिवाय अग्नि, पवन, इन्द्र, गणेश, राम और राक्षसराज रावण सभी कमलासीन हैं।

अशोक कालीन कला कृतियाँ तो कमल के प्रभुत्व की आधार स्तम्भ ही हैं। अशोक द्वारा निर्मित समस्त स्मारकों में कमल का प्रयोग हुआ है। रामपुरवा के स्तम्भ पर उल्टा कमल और शेर की मूर्ति है। रुमिनिन्दी के स्तम्भ के सिरे पर उल्टा कमल बना है। अशोक कालीन स्तम्भों की प्रमुख विशेषता उनके एनेकस की सजावट है जिस पर कमल, हनिसकल, चक्र और पशु क्रम से अंकित हैं। कहीं कहीं स्तम्भों पर घण्टाकार मौली के स्थान पर नीला कमल बना हुआ है। यह कमल भगवान् बुद्ध के उद्भव एवं उत्पत्ति का लाक्षणिक है।

उल्टे कमलों के प्रयोग का रहस्य योग शास्त्रों में भी मिलता है। योग शास्त्रों के अनुसार मानव शरीर में षट् चक्र हैं और प्रत्येक चक्र में कमल का निवास है। जब तक उस चक्र के देव प्रसुप्त रहते हैं तब तक उस चक्र के कमल उल्टे रहते हैं। और जब मनुष्य योगाभ्यास के द्वारा प्राणवायु को वश में कर लेता है तब चक्र के अधिष्ठाता देव जाग उठते हैं और कमल सीधे हो जाते हैं। इसी भाव को अंकित करने के लिए बौद्ध काल एवं उसके पूर्व निर्मित देवालयों में भी उल्टे कमल बने मिलते हैं। ये नाल पर इस प्रकार झुके होते हैं कि घण्टाकार मौली और इनमें कोई अन्तर ही दृष्टिगत नहीं होता। इसी कारण अनेक पश्चिमी विद्वान् इन्हें पर्शियन घण्टाकार सिरे की प्रति मूर्ति बतलाते हैं। परन्तु, जैसा कि उपरोक्त भारतीय भाव से स्पष्ट है, यह विचार भ्रम पूर्ण है। सांची स्तूप की एक शलाका पर अशोक की पताका चित्रित है जिसके सिरे पर के एनेकस से प्रस्फुटित होती हुई दो कमल कलियाँ स्पष्ट दृष्टिगत होती हैं। इन कारणों से स्पष्ट है कि घण्टाकार भाग कमल की नीचे मुड़ी पंखुड़ियाँ ही हैं। कमल अशोक का राज्य चिह्न एवं विश्व साम्राज्य का प्रतीक भी था। अतः कमल का प्रयोग ही संभव था। इस विषय पर अपना मत प्रगट करती हुई डा० सुमनलता 'एनसिमेंट इंडियन आर्ट' में लिखती है—

"भारतीय कलाकारों ने कमल कुसुम को नीचे झुकी हुई पुष्प पत्तियों में ही अधिकांशतः दिखलाया है क्योंकि इससे वे स्वर्गीय गगन का निर्देश करना चाहते थे जिसे पवित्र शैलश्रृंग अवलम्ब किए थे।"

बौद्धकालीन कला में दैवी जन्म के संकेत के रूप में कमल को अपनाया गया है। महायान बौद्धों के उद्देश्य—नारी शून्य सखावत में प्रत्येक व्यक्ति कमल से उत्पन्न माना गया है। कमल खाने का पश्चिमी भाव अतीत की दैवी उत्पत्ति की किंवदंती का एक स्मृति-चिन्ह

ही है। पाली के आदि ग्रन्थों के अनुसार भगवान् बुद्ध के प्रत्येक क़दम से, कमल कुसुम का बिम्ब पृथ्वी पर पड़ता था।

सूर्य के साथ भी कमल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'विष्णु धर्मोत्तरम्' के अनुसार शिल्पी को सूर्य की मूर्ति का निर्माण करते समय उनके दोनों हाथों में नाल सहित कमल कुसुम बतलाना चाहिए। सूर्य की अधिकांश मूर्तियों में यह प्राप्त भी होता है। कमल अरुण रश्मि के आते ही अपने नेत्र खोल देता है और सम्पूर्ण दिवस रश्मियों के साथ मुस्काता रहता है। जब निशा के पंखों से तम निर्झर सा झरने लगता है, वह अपने नेत्र बन्द कर लेता है। कमल की इस क्रिया से आदि भारतीयों ने यही समझा कि कमल सूर्य प्रदेश का ही निवासी है। सम्पूर्ण दिवस सूर्य के साथ वह भी पृथ्वी पर रहता है और रात्रि में पुनः सूर्य प्रदेश में चला जाता है। भारतीय उसे सूर्य-प्रकाश को पृथ्वी पर लाने वाली शक्ति भी मानते थे। इसी कारण कमल प्रकाश का प्रतीक माना जाने लगा। प्रकाश ज्ञान का लाक्षणिक रूप बना। अतः कमल भी ज्ञान और सत्य का प्रतीक बन गया। बुद्ध के पदों से कमल का बिम्ब पृथ्वी पर पड़ता था इसका साधारण अर्थ यही है कि बुद्ध जहाँ जाते थे वहीं ज्ञान का अभ्युदय होता था।

कमल का जितना अधिक प्रयोग बौद्धकालीन कलाकृतियों में हुआ है उतना अन्य कालों में निर्मित कलाकृतियों में न हो सका। इसका कारण यही हो सकता है कि बौद्धकाल में ही भारतीय कला का विकास और प्रसार हुआ था। जो भी हो बौद्धों ने कमल को लाक्षणिकता के लिए सनातन धर्म से ग्रहण किया था। अयुत वत्सर पूर्व से कमल कुसुम आर्यों द्वारा निर्माण-कारिणी शक्ति, दैवी जन्म और अमरत्व का प्रतीक माना जाता रहा है। सनातन एवं बौद्ध धर्मावलंबियों के अनुसार इसका कारण यह है कि गौरवमय कुसुम जल की सरह से निकलता प्रतीत होता है और सदैव स्वच्छ रहता है चाहे सरोवर का जल कितना भी अस्वच्छ क्यों न हो। दैवी-विशुद्धता के चिन्ह रूप में "भगवद् गीता" में भी कमल को अपनाया गया है।

देव-प्रतिमाओं के हाथों में कमल दर्शाना केवल दैवी-जन्म और पवित्रता का प्रतीक ही नहीं है वरन् अनन्त जीवन शक्ति एवं अमरत्व के स्वामित्व का लाक्षणिक प्रदर्शन भी है। इस भाव को हम देवी श्री और उनके बौद्ध रूप—देवी तारा की प्रतिमाओं में स्पष्ट देखते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार कमल गर्भ स्थान और कन्दरा का संकेत भी है। 'ओम् मीन पद्मःम्" के सूत्र में भी हमें कमल का यही रूप दृष्टिगत होता है। शायद अवलोकिता की प्रस्तर-प्रतिमा के हाथों में कमल कुसुम दर्शाए जाने का भी यही कारण हो।

बुद्ध के पश्चात् उनके अवतार माने जाने वाले मैत्रेय और अन्य बौद्धों की प्रतिमाओं में उन्हें हाथों में कमल प्रसून लिए बतलाया गया है। यहाँ कमल आत्म-तत्वज्ञान का लाक्षणिक दृष्टिगत होता है और बौद्ध-सिद्धान्तों के अनुसार जीवन को व्यतीत करने का संकेत है। शायद इसी भाव को व्यक्त करने के लिए बुद्ध और अनेक श्रेष्ठ बौद्धों की प्रतिमाओं में कमल का प्रयोग किया गया है क्योंकि वे सभी मानव गर्भ से उत्पन्न हुए थे और किसी प्रकार भी दैवी-जन्म की प्रतिष्ठा के स्वामी नहीं हो सकते थे। फिर भी वे अपने उच्च भावों और विशुद्ध जीवनयापन के कारण देवताओं से भी ऊँचे उठ गए थे। अतः उनके हाथों में कमल दिया जाना उनके आत्म-तत्व-ज्ञान और पवित्र जीवन को बतलाना ही अधिक संभव दृष्टिगत होता है। यथार्थ में कमल अपने विभिन्न रूपों में विभिन्न भावों और दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतीक है। वह उन सभी भावों का प्रतिनिधित्व करता है जो आदिकाल से मानव हृदय में रत्नाकर की लहरों के सदृश्य उठते आ रहे हैं और यथार्थ में वे भाव ही भारतीय मूर्तिकला की उच्चता के आधार स्तम्भ हैं।

दीपक भारतीय कला का दूसरा भावपूर्ण प्रतीक है। आत्मदीप की ज्योति से असीम की आरती उतारना और स्नेह की अंतिम आलोक रश्मि से, जीवन के अंतिम क्षण तक, तिमिरमय संस्कृति को आलोकित करने का प्रयत्न करना और फिर उसी प्रयत्न में जीवन का उत्सर्ग कर देना ही दीपक के अस्तित्व की सार्थकता है। अज्ञान के अन्धकार से आच्छादित अखिल विश्व में आलोक विकीर्ण कर अनन्त और असीम की आराधना करना ही यथार्थ मानव धर्म है। दीपक इसी उच्च भाव का प्रतीक है। जावा की बौद्धकालीन कृतियों में अनेक स्थलों पर दीपक का प्रयोग किया गया है। ७५० और ८०० ई० में बने जावा के बोरबुधर बौद्ध स्मारक एशिया की सर्वोत्तम बौद्ध कृतियाँ माने गए हैं। इनमें अनेक स्थानों पर

दीपक का प्रयोग किया गया है। आज भी भारत में सब शुभ कार्यों में दीपक का उपयोग होता है। दीपक ज्ञान का प्रतीक भी है। अन्धकार रूपी अज्ञान में वह आलोक रूपी ज्ञान फैलाने का प्रयत्न करता है। समस्त संसृति में फैले अन्धकार को दूर करने का प्रयत्न करने वाला नन्हा दीपक, परोपकार और असीम की यथार्थ आराधना में लीन भारतीय कला का भावनामय प्रतीक, यथार्थ में भारतीय-जीवन-दर्शन का श्रेष्ठ लाक्षणिक है।

मंगल-घट भी ऐसा ही भावनामय प्रतीक है। देह जीवन रूपी जल से भरी एक घट के समान है। इस घट की जलधारा सांसारिक दुःखों की ज्वालाओं से तप्त प्राणी मात्र की पिपासा को शान्त करती हुई, विश्वदेव के चरण कमलों में अपने अस्तित्व का समर्पण करती रहे—इसी में इसकी सार्थकता है। जीवन के इस दर्शन को बतलाने के लिए भारतीय कलाकारों ने मंगलघट को अपनाया है। मानव कहीं भूल न जाए :

''भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग
कंकर मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग
बह जा बन करुणा की तरंग
जलता है यह जीवन पतंग''

जीवन भी घट में भरे उस जल के अनुरूप है जिसका एकमेव कर्त्तव्य प्यासे को जीवन दान देना है। मंगलघट से भारतीय कलाकारों ने जीवन की उस उच्च स्थिति का दिग्दर्शन किया है जहाँ पहुँच मानव सामान्य मानव से ऊँचा उठ यथार्थ मानव बन जाता है।

स्वस्तिक भी भारतीय दर्शन के उच्च सिद्धान्तों का मूर्तिमय रूप है। मानव द्वारा किया गया कार्य शुभ हो एवं प्रभु को अर्पित हो—यही स्वस्तिक का भाव है।

भारतीय भावों का एक सुन्दरतम प्रतीक मद्रास म्यूजियम में सुरक्षित नटराज शिव की अलौकिक प्रतिमा है। भारतीय नृत्यकला का स्रोत शिव से ही उद्गम पाता है। 'ताण्डव' में शिव आत्म-विस्मृत हो भैरव रूप में नृत्य करते हैं। 'सान्ध्य-प्रदोष' में वे देवी उमा के सम्मुख स्वर्गिक संगीत की ताल और लय के साथ भावमय नृत्य करते हैं। परन्तु इस प्रतिमा में वे भाव-विभोर हो 'नादंत-नृत्य' करते हुए दृष्टिगत होते हैं। उसे देख प्रतीत होता है कि आदि विश्व-कलाकार की प्रत्येक मुद्रा संसृति के रहस्य और सत्य की ग्रंथि खोल रही है। शिव के घुंघराले बालों की उन्मुक्त लटें लहरा रही हैं। जटाएँ कुंडली मार कर बैठे सर्प से शोभित हैं। ये सर्प शिव की संहारक शक्ति के प्रतीक हैं। नवोदित चन्द्र और भागीरथी उनके मस्तक की शोभा हैं। शिव एक हाथ में डमरू लिए हैं। उनका दूसरा हाथ अभय मुद्रा में ऊपर उठा है। तीसरे हाथ में वे अग्नि-ज्वाला लिए हैं और चौथे हाथ से मृत राक्षस मुद्रालक की देह की ओर संकेत कर रहे हैं।

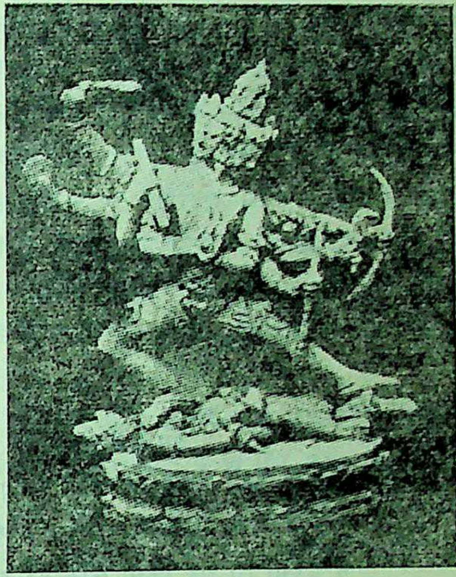
धर्मपाल : भावात्मल प्रतिमा

शिव का यह नृत्य उनकी पंच क्रियाओं—सृष्टि, संहार, स्थिति, तिरोभाव और अनुग्रह का प्रतिनिधित्व करता है। डमरू का नाद सृष्टि के प्रारम्भ का द्योतक है। हाथ की अभय मुद्रा विश्व के प्राणियों के अभय-दान की प्रतीक है। अग्नि संहार की लाक्षणिक है और चौथा हाथ अज्ञान रूपी राक्षस मुदालक के विनाश की ओर संकेत कर रहा है।

इस प्रकार भारतीय मूर्तिकला भावना-प्रधान है, सौन्दर्य प्रधान नहीं। भारतीय कलाकार सौन्दर्य और भाव दोनों का समन्वय कर सकते थे परन्तु धार्मिक विचार उनके इस कार्य में बाधक थे। अयुत वत्सर पूर्व से मानव हृदय में रत्नाकर की लहरों के सदृश उठते

भावों में से उच्च एवं लोक-मंगलकारी भावों को चुन भारतीय कलाकारों ने अपनी कला का विकास किया। परन्तु शिल्पी के कुशल हाथ उच्च एवं स्वर्गीय भावों को भूमण्डल पर उतार कर ही नहीं रुक गए। अपनी मौलिक सृजन-शक्ति से, दर्शन और कला का अलौकि समन्वय कर, उसने उन भावों को प्रतीक रूप भी दि और इस कारण भारतीय कला लाक्षणिकता के स पंख पा, सामान्य धरातल छोड़, ऊँची उडानें भरने लगी

३४२ प्रेमनगर,
जबलपुर (म. प्र.)

—कृष्णकुमार अस

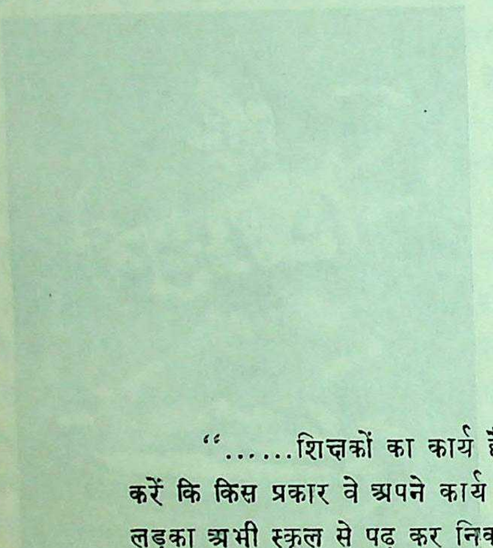

असफलता

"......शिक्षकों का कार्य है कि वे लोगों को इस बात की शिक्षा प्रदान करें कि किस प्रकार वे अपने कार्य में बुद्धिमत्ता पूर्वक असफल हो सकते हैं। जो लड़का अभी स्कूल से पढ़ कर निकलता है—यदि वह अपने कार्य में असफलता से डरेगा तो वह किसी कार्य को कर ही नहीं सकेगा। एक अनुसन्धानकार या अन्वेषक इस बात को अच्छी तरह जानता है कि बिना असफल हुए वह किसी बात की तह में नहीं पहुँच सकता। यह संभव है कि वह अपने प्रयत्नों में ९९९ बार असफल हो जाए परन्तु यदि वह हजारवीं बार सफल हो जाता है तो वह विजयी हो जाता है। एक ही बार है जब कि हम असफल नहीं होना चाहते और वह तभी होता है जब कि हम अन्तिम बार प्रयत्न करते हैं।"

—चार्लर्स कैटरिंग

× × ×

"प्रारम्भिक जीवन में कुछ असफलताओं से अपने जीवन में महान् क्रियात्मक लाभ होता है।"

—टौमस हेनरी हैक्सले

× × ×

"असफलता से ही हमें ज्ञात होता है कि हम क्या नहीं जानते और हमें किस वस्तु को जानने की आवश्यकता है। हमें असफलता से जो सबसे बड़ी शिक्षा प्राप्त होती है वह यह है कि मनुष्य की आत्मा में कुछ ऐसी वस्तु है जिसे संकटों के द्वारा और भी अधिक बल प्राप्त होता है।"

—ब्लेअर जानस्टन

ईरान और भारत

ईरान और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों की कहानी नई नहीं है—वह युगों से चली आ रही है। भाषा विज्ञानवेताओं का तो यह कहना है कि भारतवर्ष में आने के पूर्व आर्य और ईरानी एक ही स्थान पर रहते थे क्योंकि दोनों देशों की भाषा में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने भी अपनी पुस्तक “हिन्दुस्तान की कहानी” में यही मत व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य विद्वानों का मत यह है कि ईरान वस्तुतः कभी भारत का ही उपनिवेश था। इस मतानुसार भारतवर्ष के मद्र प्रदेश (वर्तमान पाकिस्तान जिसमें पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और पश्चिमी पंजाब का भाग है) के एक परशुवंशीय नरेश ने स्थल मार्ग से ईरान में जा कर वहाँ “पर्शु” अथवा “परशु” नामक राज्य स्थापित किया जो कालान्तर में “फ़ार्स” अथवा “फ़ारस” हो गया। पर्शु लोग भारतीय देवी-देवताओं के ही उपासक थे, अतएव वहाँ भारतीय उपासना पद्धति का प्रचार होना स्वाभाविक था। धीरे धीरे उनके राज्य का पर्याप्त विस्तार हुआ। और कहा तो यहाँ तक जाता है कि विश्व इतिहास में प्रसिद्ध मीडियन साम्राज्य के अधिष्ठाता यही पर्शुगण थे जिन्होंने इसका नामकरण अपने प्रदेश “मद्र” के नाम के आधार पर किया था।

इस सम्बन्ध में विद्वानों के अपने अपने जो भी मत हों किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि ईरान और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन हैं और आज भी दोनों देशों की सस्कृति, धर्म, साहित्य, भाषा, स्थापत्यकला आदि में पर्याप्त साम्य विद्यमान है।

भारत-ईरानी सम्बन्ध की प्राचीनता : भारत और ईरानी के बीच सम्बन्ध ऋग्वैदिक काल से भी पूर्व का रहा है इसीलिए ऋग्वेद में ईरान (फ़ारस) देश का उल्लेख आया है। पुरातत्ववेत्ताओं का कथन है कि सिन्ध घाटी की सभ्यता का सम्पर्क ईरान की तत्कालीन सभ्यता से था। ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी में ईरान और भारत के बीच व्यापारिक सम्बन्ध बने हुए थे जिनका समर्थन प्रो० विलियम जैक्सन ने अपनी पुस्तक “दि कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ़ इंडिया” में भी किया है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ईरान का बादशाह दारा था जिसका राज्य उत्तरी भारत तक फैला था और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त का कुछ भाग उसके राज्य में सम्मिलित था। प्रसिद्ध इतिहासकार हीरोडोटस ने दारा द्वारा विजित भारतवर्ष के भाग तथा वहाँ से प्राप्त कर के सम्बन्ध में लिखा है—“हिन्दुस्तानियों की आबादी, जितने लोगों को हम जानते हैं उनसे ज्यादा हैं, और इसी औसत से वह औरों से ज्यादा कर भी देते हैं—सोने के चूरे की ३६० टैलेन्ट।” “हीरोडोटस के उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि ईरानी फ़ौज में भारती योद्धा भी सम्मिलित थे। मौर्य और गुप्त सम्राटों के शासनकाल में भी दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध बने हुए थे।

ईरान और भारत एक दूसरे से निकट, सबसे अधिक मुगल सम्राटों के शासन काल में आए। अकबर के राज्य काल में केवल रामायण, महाभारत आदि धार्मिक ग्रन्थों का ही नहीं बल्कि भास्कराचार्य कृत ‘लीलावती’ नामक ग्रन्थ का भी फ़ारसी भाषा में अनुवाद हुआ। युद्ध में हारने वाले हुमायूँ का पीछा जब शेरशाह ने किया तो उसे भाग कर ईरान के शाह के यहाँ ही पनाह लेनी पड़ी थी। कहा जाता है कि ईरान के शाह द्वारा उत्तम आतिथ्य सत्कार से प्रसन्न होकर हुमायूँ ने भारत का विश्व प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा शाहंशाह को भेंट कर दिया था। अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह के शासन काल में फ़ारस के बादशाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया था और इस प्रकार भारत वासियों के हृदय पर चिरंतन काल के लिए अपनी नादिरशाही की अमिट छाप लगा दी थी। सन् १९३२ में रजाशाह पहलवी के निमन्त्रण पर विश्वकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ईरान गए थे और इस प्रकार उनके द्वारा दोनों देशों के प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों में एक और महत्वपूर्ण कड़ी जुड़ सकी थी।

धार्मिक सम्बन्ध : भारतीयों और ईरानियों के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ क्रमशः ‘ऋग्वेद’ और ‘अवेस्ता’ में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। ऋग्वेद में फ़ारस का

उल्लेख आया है तथा 'अवेस्ता' में भारतवर्ष का। इसमें उत्तरी भारत के कुछ स्थलों का वर्णन भी है। वेदों में यम वैवस्वत के पुत्र तथा नरक के स्वामी माने गए हैं। इसके अतिरिक्त गोवंश के पूजन के प्रश्न दोनों देशों के बीच अत्यन्त साम्य है। हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की तरह ईरान के 'जरथुस्त्र' धर्म में भी पृथ्वी की कल्पना गोरूप में ही की गई है और जिस प्रकार हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार पृथ्वी जब अत्यधिक अनाचार, अत्याचार और अधर्म के भार से दबने लगती है। तो वह गोरूप में विष्णु भगवान् के पास जाकर अपने परित्राण की प्रार्थना करती है उसी प्रकार अवेस्ता में के यश्न २६।१ की गाथाओं से स्पष्ट विदित होता है कि अत्याचार, अधर्म आदि की वृद्धि होने पर गौरूप पृथ्वी ईश्वर से पैगम्बर भेजने की प्रार्थना करती है। इस प्रकार पैग़म्बर जरथुस्त्र का अवतार होता है। इसके साथ ही एक उदाहरण द्वारा यह पूर्णतः विदित हो जाएगा कि भारत की भाँति ईरान के धार्मिक जीवन में भी गौ का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। ईरानियों की "अदाविराफ़नामा" नामक पुस्तक में स्वर्ग और नरक सम्बन्धी विभिन्न बातों का उल्लेख आया है। इसमें नरक के एक दृश्य का वर्णन है कि एक मनुष्य जो अपने पापों के कारण अग्नि द्वारा तप्त किया जा रहा किन्तु उसका एक पैर उस कष्ट से सर्वथा मुक्त है। इस सम्बन्ध में नरक का स्वामी बतलाता है कि इस मनुष्य ने पृथ्वी पर अगणित पाप किए हैं किन्तु एक बार इसने अपने इसी पैर से एक घास के गट्ठर को भूखी गाय के समक्ष कर दिया था।

स्थापत्य कला में साम्य : ईरान और भारत के सांस्कृतिक ऐक्य के पश्चात् वहाँ की स्थापत्य कला भी बिना उससे प्रभावित हुए कैसे रह सकती थी? विद्वानों का कथन है कि अशोक कालीन भवनों पर पार्सपोलिस की निर्माण शैली का प्रभाव था। मुग़ल बादशाहों ने भारत में जितनी मुख्य मुख्य इमारतें बनवाई, उन सभी पर ईरानी स्थापत्यकला का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनमें आगरा और दिल्ली की इमारतें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। आगरे में स्थित विश्व की सुन्दरतम इमारत ताजमहल को देख कर एक फ्रांसीसी विद्वान् श्री यम० ग्रूस ने अपने उद्गार प्रकट किए थे कि ताजमहल को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के शरीर में मानों ईरान की आत्मा प्रवेश कर गई है।"

ईरान में भी यत्र तत्र भारतीय संस्कृति तथा स्थापत्यकला का प्रभाव दिखाई पड़ता है। वहाँ की कुछ प्राचीन इमारतों की दीवारों पर बेलों के चित्र अंकित हैं। वहाँ एक शिवमंदिर भी है जो बिलकुल भारतीय शैली के आधार पर निर्मित है।

भाषा की दृष्टि से भी वेद और ज़िन्दावेस्ता की भाषा में पर्याप्त साम्य है। ज़िन्दावेस्ता की भाषा संस्कृत की ही अपभ्रंश मानी जाती है। "अवेस्ता" में राम के लिए "राम हुवासु" शब्द आया है।

वर्तमान सम्बन्ध : स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने विश्व के सभी देशों से—विशेष कर एशियाई देशों से—अपने सांस्कृतिक सम्बन्ध पूर्ववत दृढ़ करने का सफ़ल प्रयास किया है। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व ईरान से एक सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डल भारत आया था जिसके नेता ने कहा था—"ईरानी और हिन्दुस्तानी दो भाई की तरह हैं जो फ़ारसी किस्से के बमूजिब, एक दूसरे से छूट गए थे, एक पूरब चला गया था और दूसरा पश्चिम। उनके खानदान वाले भी एक दूसरे को भुला बैठे थे। दोनों के बीच जो बात समान रह गई थी वह कुछ पुराने गीतों की धुनें थीं, जिन्हें दोनों अब भी अपनी अपनी बांसुरियों पर निकाला करते थे। इन धुनों के ज़रिए से ही खानदान वालों ने सदियों बाद एक दूसरे को पहचाना और फिर मिल गए। इसी तरह हम भी हिन्दुस्तान में आए हैं, अपनी युगों पुरानी तानों को अपनी बाँसुरियों पर गाने के लिए जिससे कि उन्हें सुन कर हमारे हिन्दुस्तानी भाई हमें पहचान सकें अपना ही समझें और फिर वह अपने ईरानी भाइयों से मिल जाएँ।" इसके बाद भारत ने भी ईरान के कतिपय प्रमुख कवि, इतिहासकार तथा वैज्ञानिकों की जयन्तियाँ मना कर ईरान के प्रति अपनी सद्भावना का परिचय दिया।

—ललनप्रसाद व्यास

'स्वतन्त्र भारत' दैनिक,
लखनऊ

भारत में फ्रेंच सत्ता का उदय और अस्त

सोमवार, १ नवम्बर १९५४ और सोमवार २८ मई १९५६ भारतीय इतिहास के तिथिक्रम में ये दो तिथियाँ चिरकाल तक स्मरण रहेंगी।

सोमवार १ नवम्बर १९५४ को पांडीचेरी आदि फ्रेंच बस्तियों पर फ्रेंच पताका की जगह सूर्य की किरणों के फैलने के साथ अशोक चक्राङ्कित भारतीय पुण्य पताका फहराई गई। यह सत्ता हस्तान्तरण का कार्य लगभग उन्नीस मास के बाद कानूनी रूप से और विधि पूर्वक दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने एक संधि-पत्र पर दस्तखत करके पूर्ण किया। सत्ता का यह परिवर्तन कितनी शान्ति और निश्चित कार्यक्रम के अनुसार हुआ यह एक विस्मय और कौतुक की बात है। खून का एक बिन्दु भी नहीं गिराया गया, एक भी गोली नहीं चलाई गई, और सत्ता का हस्तान्तरण हो गया। क्या इतिहास में यह एक अनोखी घटना नहीं ?

ब्रिटिश यूनियन जैक की जगह भारत की पताका भी शान्ति के साथ फहराई गई। किन्तु उसके पीछे लम्बी लड़ाई, चिरकाल का संघर्ष और जद्दो-जहद है : पार्श्व भूमि में रक्त-रंजित भूमि है, यह नहीं भुलाया जा सकता। किन्तु फ्रेंचों ने जिस तरह अपना राज्याधिकार छोड़ा है, वह उससे भिन्न है। यह बुद्धि पाने के लिए उन्होंने अलग भारी गुरु दक्षिणा दी है। हिन्द-चीन में उन्होंने हज़ारों फ्रेंच तरुणों और युवकों की बलि दी। किन्तु भारत में उन्होंने यह गलती नहीं की। एक भी रक्त-कण गिराए बिना उन्होंने भारत में अपनी बस्तियाँ छोड़ दी और काल के ध्येय को सुना। प्रतिमास जिसको सुनने से आज भी इन्कार कर रहा है। इस कारण फ्रेंचों की उचित प्रशंसा होनी चाहिए।

दो सौ वर्ष पहले : पाण्डीचेरी पर आज से दो सौ साल पहले घनघोर संग्रामों का केंद्र स्थान था कुछ लड़ाइयाँ तो पाण्डीचेरी के चारों ओर ही लड़ी गई और अनेक युद्धों की यहाँ योजनाएँ बनाई गई। किन्तु पिछले डेढ़ सौ वर्षों में फ्रेंचों की पाँच भारतीय बस्तियाँ या थानों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँची और न इनकी रक्षा के वास्ते उनको युद्ध करने और अपने वीर युवाओं का बलिदान करने की जरूरत हुई। पिछली छः सात पीढ़ियों से फ्रेंचों ने यहाँ अपनी सत्ता शान्ति के साथ क़ायम रखी और अन्त में शान्ति के साथ ही उसका त्याग कर दिया।

भारत में फ्रेंच सत्ता का अन्त शान्ति के साथ हुआ, पर इसका उदय रक्त-रंजित था। और यह अनिवार्य था। क्योंकि तात्कालिक राजनीति केवल एक भाषा जनित थी, तलवार की तेज़ धार या बन्दूक की गोली। मुत्सद्दी भाषा का व्यवहार उस समय न था और न वह एक प्रभावकारी शस्त्र था।

पाँच चढ़ाइयाँ : प्राचीनकाल को यदि छोड़ दें और मध्य-युग से ही भारतीय इतिहास को देखें तो मालूम होगा कि इस काल में भारत पर पाँच चढ़ाइयाँ हुईं। इन में सबसे पहले अरबों ने हमला किया। इसके बाद मुगल आक्रान्ता आए। ये लोग धर्म से मुसलमान थे। इनके बीच पठानों का शासन देश के कुछ भाग पर रहा। पर पठान विदेशी नहीं थे। वे इस देश के थे और वे इस देश से बाहर से नहीं आए थे। केवल उन्होंने हिन्दू और बौद्ध धर्म का परित्याग कर इस्लाम ग्रहण कर लिया था। इसके बाद पोर्तुगीज़ लोग इस देश में आए। इनके बाद डच अंग्रेज़ और सबसे अन्त में फ्रेंच आए। इन सबने देश के विभिन्न भागों को अपने अधिकार में लाने का यत्न किया।

आक्रमण का उद्देश्य : भारत में सब आक्रान्ता एक विचार और एक ध्येय से नहीं आए। भारत की समृद्धि उनको खींच कर लाई, यह तो सत्य है। किन्तु उनका उद्देश्य व्यापार, धर्म प्रसार और राज्य विस्तार भी रहा। अरबों के आक्रमण का मुख्य उद्देश्य व्यापार का प्रसार या राज्याधिकार नहीं था। उनका लक्ष्य धर्म प्रसार था। पर मुगल इस देश में राज्य सत्ता की स्थापना के लिए ही आए थे। पठान लूट मार कर अपने को धनी बनाने के उद्देश्य से आए थे। धर्म-प्रसार इनका गौण उद्देश्य था। इसके विपरीत पोर्तुगीज़ों का मुख्य उद्देश्य व्यापार प्रसार और व्यापार वृद्धि था। व्यापार बढ़ाने में राज्य सत्ता सहायक थी, अतः उन्होंने

राज्य सत्ता यहाँ स्थापित की। इस राज्य सत्ता को दृढ़ करने के विचार से उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार करने का बीड़ा उठाया किन्तु 'क्रास' का प्रचार करने के लिए उन्होंने जिन अत्याचार पूर्ण और आतंकपूर्ण उपायों का अवलम्बन किया उसका उल्टा फल होते देख कर उन्होंने धर्म-प्रचार से अपना हाथ खींच लिया। क्योंकि इसके कारण उनकी राज्य सत्ता ही ख़तरे में नहीं पड़ गई, बल्कि उनका व्यापार भी नष्ट हो रहा था। पोर्चुगीज़ का व्यापार अंग्रेज़ों ने छीन लिया इसके बाद पोर्चुगीज़ों ने रही-सही राज्य सत्ता पर सन्तोष किया और आज भी उस भू-भाग पर डटे हुए हैं और उसको फ्रेंचों के समान छोड़ने का नाम नहीं लेते।

पोर्चुगीज़ों के बाद डच आए। पर उनकी नज़र ईस्ट इण्डिया द्वीप समूह की ओर थी। बंगाल में यद्यपि उन्होंने कुछ थाने बनाए थे, पर अंग्रेज़ों द्वारा वे हस्तगम कर लिए गए और डचों ने उसके बाद फिर भारत में व्यापार वृद्धि करने की ओर ध्यान नहीं दिया। डचों के बाद भारत में अंग्रेज़ व्यापारी आए। धर्म प्रचार का पागलपन अंग्रेज़ों ने कभी नहीं दिखाया। राज्य सत्ता प्राप्त करने के लिए भी इन्होंने जालसाज़ी से काम नहीं लिया। इनका प्रमुख ध्येय भी व्यापार बढ़ाना रहा। यदि इन्होंने पहले लड़ाइयाँ लड़ीं तो इस लिए कि उनके व्यापार की रक्षा हो और उनका व्यापार बढ़े। व्यापार की सुरक्षा के लिए उन्होंने जो उपाय किए उससे ही ब्रिटिश राज्य सत्ता का उदय हुआ। वामनावतार की त्रिपाद भूमि के समान ब्रिटिश राज्य सत्ता बढ़ते-बढ़ते प्रायः करके सारी भारत भूमि पर व्याप्त हो गई। किन्तु अंग्रेज़ों की व्यापारिक वृत्ति अन्त तक बनी रही। और जब राज्य सत्ता और व्यापार इन दोनों के मध्य एक को चुनने का प्रसंग आया, तो अंग्रेज़ों ने राज्य सभा को नहीं, व्यापार को चुना और राज्य सत्ता का इस देश से परित्याग कर दिया।

सबसे अन्त में फ्रेंच इस देश में आए। इनका एकमात्र उद्देश्य यहाँ व्यापार करना था। किन्तु यहाँ की राजनीतिक परिस्थितियों को देख कर ये पथ-भ्रष्ट हो गए और राज्य सत्ता की स्थापना के कार्य में प्रवृत्त हुए। कर्णाटक और निज़ाम की ओर से उन्होंने अंग्रेज़ों के साथ लड़ाई लड़ी। इस झगड़े के कारण उनका व्यापार नष्ट हो गया और व्यापार का बल न रहने से सम्पत्ति भी उनकी ही जमी गई और इसके कारण उन पर राजनीतिक आपत्ति भी आई। इसका फल यह हुआ कि फ्रेंच एक समय समूचे दक्खन भारत का स्वामी होने का मनोरथ रखते थे और स्वप्न देखते थे वे एक कोने में किसी तरह जीवित रहने को बाध्य हुए। अन्त में उन्होंने १ नवम्बर १९५४ को इस देश से ही सदा के लिए विदाई ले ली।

दो कम्पनियों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा : वास्को द गामा दक्षिण अफ्रीका का चक्कर काट कर भारत पहुँचा। इसके साथ पूर्वीय गोलार्ध और पश्चिमी गोलार्ध के बीच व्यापार-मार्ग खुल गया। इसका लाभ उठाने के लिए यूरोप के विभिन्न देशों में अनेक व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित हुईं। किन्तु उनका दिवाला शीघ्र निकल गया। इनमें अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ही अकेली २५० वर्षों से भी अधिक समय तक टिकी रही। अन्त में रानी विक्टोरिया के हाथ भारत का राज्य सौंप कर कम्पनी ने ससम्मान आत्म-विसर्जन कर लिया। ऐसा सौभाग्य और किसी कम्पनी को प्राप्त नहीं हुआ। प्रति मास में व्यापारी कम्पनी और सरकार के मध्य कोई भेद नहीं था। इसके उलट ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जीवन ब्रिटिश सरकार से 'परवाना' मिलने पर आश्रित था। किन्तु कम्पनी को व्यापार करने का परवाना देने के बाद सरकार उसके कारोबार और कारभार में हस्तक्षेप नहीं करती थी। कम्पनी को अपना कार्य चलाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। दूसरी बात यह थी कि अंग्रेज़ों में राष्ट्राभिमान प्रखर था। उस कम्पनी पर यदि कोई आपत्ति आती तो ब्रिटिश सरकार उसकी सहायता करने के वास्ते सदा तत्पर रहती थी।

फ्रेंच कम्पनी की स्थिति इससे सर्वथा विपरीत थी। फ्रेंच कम्पनी की पूँजी में अधिकांश हिस्से फ्रेंच सरकार के थे। अतः फ्रान्स में फ्रेंच कम्पनी सरकारी क़ायदे-क़ानूनों से जकड़ी हुई थी। फलतः जब तक फ्रान्स में रिशल्यू कोलबर्ट सरीखे कुशल मन्त्रियों के हाथ में राज्य-सूत्र रहा व्यापारिक नीति में एक सूत्रता रही। किन्तु फ्रान्स में जब सरकार दुर्बल हुई और अदूरदर्शी हुई तो उसका परिणाम उसको भारत में भोगना पड़ता था। फ्रेंच कम्पनी के उच्च अधिकारियों को फ्रान्स के सत्तारूढ़ पक्ष को प्रसन्न करना पड़ता था और उनकी नीति का अनुसरण करना पड़ता था

१६५७

अनेक बार इस कारण फ्रेंच कम्पनी को कम खर्च की नीति का त्याग करके अपव्यय का मार्ग पकड़ना पड़ा। फिर फ्रेंच कम्पनी धन के लिए फ्रेंच सरकार के चारों ओर चक्कर लगाती थी। दूसरी ओर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटिश सरकार को क़र्ज़ देने का सामर्थ्य रखती थी और अपनी नीति सरकार से स्वतन्त्र रूप से चलाती थी। पर विपत्ति के समय सरकारी सहायता की वह साधिकार योग कर सकती थी और सरकार ने भी उसको कभी देने से इनकार नहीं किया। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि इस देश में अंग्रेज़ क्यों सफल हुए और फ्रेंच क्यों विफल रहे।

१६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में : १६४३ में लुई १४ वां राजगद्दी पर बैठा। इसका प्रधान मन्त्री कोलबर्ट था। कोलबर्ट की सलाह से भारत से व्यापार करने के लिए नई फ्रेंच कम्पनी की स्थापना १६६४ में की गई। फ्रांसेस कारोन उस कम्पनी का एक मुख्य अधिकारी था। वह १६६२ में रूस पहुँचा और वहाँ फ्रेंचों की पहली कोठी खुली। एक साल बाद १६६९ में गोलकुण्डा के सुलतान की परवानगी लेकर मकोरा ने मछलीपट्टम में फ्रेंच कोठी स्थापित की। कारोन के नीचे फ्रांसेस मार्टिन नामक एक अधिकारी था। इसने मद्रास के समीप का सेंटटॉए नामक थाना डचों से छीन लिया। पर १६७५ में डचों ने इस पर आक्रमण किया और सेंटटॉए पर पुनः अधिकार कर लिया, फ्रेंच यहाँ से निकलने के बाद और दक्षिण की ओर आगे बढ़ गए और पुलिचेरी में जाकर उन्होंने अपनी कोठी बनाई। यह पुलिचेरी ही बाद में पांडीचेरी हो गया। १६७५ से १६९३ तक इस स्थान के लिए डचों और फ्रेंचों के बीच संघर्ष चलता रहा। डचों ने पुलिचेरी पर अधिकार भी कर लिया। परन्तु १६९७ में यूरोप में 'रिस्विक-संधि' हुई। इसके फलस्वरूप १६९९ में फ्रेंच बस्तियाँ फ्रेंचों को वापस मिल गई। इस समय फ्रांसिस मार्टिन फ्रेंच कम्पनी का मुख्य डाइरेक्टर था। १७०६ तक वह इस पद पर रहा। इस काल में कम्पनी और पांडीचेरी की समृद्धि में बहुत वृद्धि हुई। मार्टिन का देहान्त १७०६ में पांडीचेरी में ही हुआ। इसके बाद लॅवार आया। इसकी नीति थी कि भारतीयों के साथ मैत्री रख कर फ्रेंच व्यापार को बढ़ाया जाए। १७१४ में कम्पनी के पट्टे की अवधि और दस साल के लिए बढ़ा दी गई। किन्तु १७२३ में फ्रेंच सरकार ने इस व्यापारिक कम्पनी के साथ सम्बन्ध तोड़ लिया। इससे ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी और फ्रेंच कम्पनी की स्थिति एक समान हो गई। किन्तु यह स्वतन्त्रता फ्रेंच कम्पनी के लिए घातक सिद्ध हुई। क्योंकि फ्रेंच कम्पनी को सेना और नौ सेना का समर्थन अब प्राप्त नहीं रहा।

१७२६ में लम्बार पांडीचेरी का मुख्य अधिकारी था। उसने शहर के चारों ओर मज़बूत किलेबन्दी की। फ्रेंचों के मन में इस समय आया कि पश्चिमी तट पर भी एक बन्दरगाह उनके अधिकार में रहना चाहिए। यह विचार कर लाबूर्डो के सेनापतित्व में एक लड़ाकू जहाज़ माहे बन्दर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा गया। लाबूर्डो का पराक्रम फल लाया और माहे बन्दरगाह पर फ्रेंचों का अधिकार हो गया। लाबूर्डो दस साल की उमर से समुद्र की यात्रा कर रहा था और वह सच्चे अर्थों में समुद्री जीव हो गया था।

डूप्ले की नीति : १७२० में प्रसिद्ध फ्रेंच राजनीतिज्ञ डूप्ले पांडीचेरी आया उसने किनारे-किनारे का व्यापार कर कम्पनी के काम को खूब आगे बढ़ाया। पर कम्पनी के डाइरेक्टरों को यह नीति पसन्द नहीं आई। १७२६ में उसको वापस फ्रांस बुला लिया गया। डूप्ले फ्रांस लौटने के बाद डाइरेक्टरों से मिला। उनको अपनी नीति का लाभ समझाया। डाइरेक्टरों को उसका काम अब पसन्द आया और १७३० में उसको चन्द्रनगर थाने का प्रमुख अधिकारी नियुक्त कर भारत वापस भेजा गया।

फ्रेंच कम्पनी ने हुगली नदी के किनारे का चन्द्रनगर गाँव १६७६ में खरीदा था। औरंगज़ेब की परवानगी लेकर १६८८ में इसकी किलेबन्दी की गई। डूप्ले ने यहाँ रह कर इसका व्यापार खूब बढ़ाया। १७३५ में पांडीचेरी का गवर्नर ड्यूमास बनाया गया। भारतीय नरेशों के साथ दोस्ती कर फ्रेंच कम्पनी को लाभान्वित बनाने की नीति का श्रीगणेश इसने ही किया। कर्नाटक का नवाब दोस्तअली उसका बड़ा मित्र था। ड्यूमास ने उसकी मारफ़त दिल्ली के सम्राट महम्मद शाह से पांडीचेरी में टकसाल खोलने की अनुमति प्राप्त कर ली। टकसाल खुल जाने से पांडीचेरी का व्यापारिक महत्व बढ़ गया।

कर्नाटक युद्ध की भूमिका : ड्यूमास १७३५ से

१७४१ तक पांडीचेरी का गवर्नर रहा। इन ६ वर्षों में कर्नाटक के युद्धों की भूमिका लिखी गई। कर्नाटक का नवाब सादतुल्ला १७३२ में मर गया। उसने दोस्तअली को गोद लिया और उसको कर्नाटक का नवाब बनाया। चन्दा साहब उसका जमाई था और वह कर्नाटक का भी काम काज देखता था। चन्दा साहब महत्वकांक्षी था। वह स्वतः कर्नाटक का नवाब होना चाहता था। इसके लिए वह किसी सहायक की खोज करने लगा। उसकी फ्रेंचों पर जाकर नजर टिकी। पांडीचेरी के गवर्नर ड्यूमास से दोस्ती करने का उपक्रम चन्दा साहब ने शुरू कर दिया। विदेशी व्यापारी कम्पनियों को भारत की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर इस प्रकार अनायास ही मिल गया और इसका बीज बोया चन्दा साहब ने। मीरजाफ़र के समान चन्दा साहब का नाम भी भारतीय इतिहास में सदा घृणा के साथ लिया जाएगा।

तंजौर का राजा तुकोजी १७३५ में मर गया। उसका लड़का शाहूजी गद्दी पर बैठा। परन्तु सेनापति सय्यदखान ने शाहूजी को गद्दी से हटा कर सिद्धोजी को गद्दी पर बिठाया। शाहूजी भाग कर पांडीचेरी पहुँचा। शाहूजी ने फ्रेंच गवर्नर के साथ एक करार किया कि यदि फ्रेंच उसको गद्दी पर बिठाएँगे तो पूर्वी किनारे पर कारिकल बन्दर, उसके पास की करकन गढ़ी और उसके आस-पास के गांव वह उनको दे देगा। यह करार हो जाने के बाद ड्यूमास ने फ्रेंच जहाज को कर्मरकल भेजा। परन्तु इसी बीच शाहूजी की विवेक बुद्धि जाग उठी और उन्होंने सय्यदखान से समझौता कर लिया और पुनः तंजौर की गद्दी पर आसीन हो गए। तुकोजी ने फ्रेंचों के साथ किया करार फाड़ कर फेंक दिया। पर फ्रेंचों के मुँह इस समय ऊँचे थे। स्व. राजा तुकोजी का अनौरस पुत्र प्रतापसिंह तंजोर का राजा हो गया। यद्यपि यह शाहूजी के करार से बंधा हुआ नहीं था। पर फिर भी उसने कर्मरकल बन्दर, करकन गढ़ी और ३०-४० हजार रु. की आमदनी के आस-पास के गाँव फ्रेंचों को दे दिए। यह भूमिदान वस्तुतः अनुपम है और इसका दूसरा उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

दमल चेरी का रण संग्राम : इसी समय इतिहास को नया मोड़ देने वाली अत्यन्त प्रभावकारी और परिणामकारक घटना घटी। कर्नाटक के नवाब की बढ़ती शक्ति देख कर मराठों को चिन्ता हुई। सतारा के शाहू महाराज के आदेश से रघुजी भोंसले ने कर्नाटक पर हमला बोल दिया। यह लड़ाई दमालचेरी की घाटी हुई। कर्णाटक का नवाब दोस्त अली और उसका लड़का हसन अली दोनों इस लड़ाई में मारे गए। इस घटना ने कर्नाटक की राजनीति ने अकल्पित रूप धारण किया। फ्रेंचों का वैभव और प्रभाव बराबर बढ़ता जा रहा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को यह कैसे सहन हो सकता था ? अतः अंग्रेज़ भी अब राजनीतिक अखाड़े में कूद पड़े इस प्रकार फ्रेंचों और अंग्रेज़ों के मध्य लड़ाई भारत में भी छिड़ गई। जिसका पर्यवसान अंग्रेज़ों की विजय के साथ हुआ।

ड्यूमास इस समय फ्रान्स लौट गया था। नाटक का सूत्रधार इस समय डूप्ले था। १६५१ तक तो स्थिति फ्रेंचों के अनुकूल रही। लगता था फ्रेंचों का मनोरथ सफल होगा। किन्तु इसका अन्त उनके लिए दुःखान्त हुआ। १६४१ से १६६१ के मध्य प्रथम द्वितीय और तृतीय कर्नाटक युद्ध हुए। वस्तुतः ये युद्ध यूरोप में छिड़े "आस्ट्रेलिया के उत्तराधिकार का युद्ध" जो १६८० से १६८२ तक चला; और जो यूरोप के सप्त वर्षीय युद्ध (१६५६–१६६४) के अंश थे। इन युद्धों में १६८६ में फ्रेंचों ने मद्रास जीत लिया। डूप्ले ने इसमें कर्णाटक के नवाब अनवरुद्दीन से मदद ली थी और उसको इस सहायता के बदले मद्रास देने का वचन दिया था। पर मद्रास-विजय के बाद डूप्ले अपने वचन को भूल गया। अनवरुद्दीन ने इस पर मद्रास को विजय करने के लिए कूच किया। डूप्ले ने पाण्डीचेरी और मद्रास से सेना भेज कर अनवरुद्दीन पर दोहरी मार की। यह युद्ध 'सेंट टाम' में हुआ। कर्णाटक का नवाब भाग गया। इस विजय ने डूप्ले का साहस बहुत बढ़ा दिया। पोड़ी पर कवादवाली यूरोपियन सैनिक बिन कवायद की भारतीय सैनिकों से श्रेष्ठ हैं, यह इस लड़ाई ने सिद्ध कर दिया।

यूरोप में सुलह हो जाने पर अंग्रेज़ों के शहर उनको वापस कर दिए गए। किन्तु भारतीय नरेशों के मन में यह भावना घर कर गई कि अंग्रेज़ों से फ्रेंच प्रबल है। इस धारणा को जिंजी ने दृढ़ कर दिया। बुसी ने थोड़े ही समय में जिंजी दुर्ग को हस्तगत कर लिया। इस क़िले को लेने के लिए आई हुई विशाल भारतीय सेना को

मुट्ठी भर फ्रेंच और फ्रेंचों द्वारा सिखाए गए भारतीय सैनिकों ने मार भगाया इससे यह सिद्ध हो गया कि यदि भारतीय सैनिकों को कवायद सिखाई जाए तो यूरोपियन सैनिकों के समान वे भी लड़ाई में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। डूप्ले की इस नीति का बाद में अंग्रेज़ों ने उपयोग किया।

तैनाती फौज : जिंजी विजय की प्रसन्नता में मुजफ्फरजंग (हैदराबाद का निज़ाम) डूप्ले से मिलने पाण्डीचेरी गया। वहाँ बड़ा भारी दरबार लगा। इस मौके पर चीनान, कारिकल, मच्छली पट्टन आदि बन्दगाह और इनके चारों ओर का एक लाख रुपए की आय का प्रदेश फ्रेंचों को मिला।

इसके बाद मुजफ्फ़रजंग औरंगाबाद गया। उसने अपनी रक्षार्थ फ्रेंच सेना को भी उसका खर्च देना स्वीकार किया। भारत के विभिन्न नरेशों की राजधानी में तैनाती फौज रखने की यह पूर्व पीठिका थी। पर तैनाती फ़ौज रखने का उपक्रम करने का श्रेय अंग्रेज़ों को नहीं फ्रेंचों को है। उन्होंने तो केवल उसकी नक़ल ही की।

तैनाती फौज़ का सेनापति होकर बुसी मुजफ़्फ़रजंग के साथ गया। हैदराबाद में उसने फ्रेंचों का प्रभाव और उनकी धाक भली भाँति जमा दी। निज़ाम से उसने फ्रेंचों के वास्ते उत्तरी सागर (समुद्र तटवर्ती आन्ध्र का अत्यन्त उपजाऊ प्रदेश) प्राप्त किया। फ्रेंचों का भाग्य-सूर्य इस समय मध्यान्ह में था। वे अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गए थे। इसके बाद फ्रेंचों का अधः पतन शुरू हो गया।

डूप्ले का स्वप्न नष्ट हो गया : फ्रेंचों के भाग्य-सूर्य के लिए क्लाइव केतु सिद्ध हुआ। अर्काट का घेरा सफल कर उसने ब्रिटिश सेना की धाक जमा दी। फिर कावेरी प्रान्त में राजा साहब (चन्दा साहब का लड़का) और फ्रेंचों की संयुक्त सेना को भारी पराजय दी। क्लाइव अर्काट जाते हुए डूप्ले का विजय स्तम्भ भूमिसात् करता गया और इसके साथ डूप्ले के मनोरथों का राज्य भी खत्म हो गया। इसने यह भी प्रकट कर दिया कि भारत का भावी शासक कौन होगा, फ्रेंच या अंग्रेज़।

फ्रेंचों पर पाबन्दी : कर्णाटक के तीसरे युद्ध में अंग्रेज़ी सेना का सेनापति सर आयर कूट था। फ्रेंचों का सेनापति लाली था। पर वह १७५८ में भारत पहुँचा। इस समय तक अंग्रेज़ अपना प्रभाव स्थापित कर चुके थे। दूसरी बात यह कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश सरकार दोनों एक मत और एक उद्देश्य से काम कर रहे थे। ब्रिटिश बेड़ा भारत के अंग्रेज़ों को हर प्रकार सहायता कर रहा था। हिन्द महासागर पर ब्रिटिश बेड़ें का प्रभुत्व था। कम्पनी और फ्रेंच सरकार की नीति में अन्तर रहता था। फ्रेंच सरकार और कम्पनी के बीच एकात्मता न होने के कारण कम्पनी सदा लूली लंगड़ी रही। १७७८ में एक भी फौज़ी थाना फ्रेंचों के अधिकार में नहीं रहा। इंग्लैण्ड और फ्रांस में संधि हो जाने पर फ्रांस की बस्तियाँ उसको वापस मिल गईं। परन्तु उन बस्तियों की किलेबन्दी करने और वहाँ सेना रखने की उनको अनुमति नहीं थी। इसके साथ फ्रेंचों की तैनाती फौज़ों को भंग कर दिया गया। भारतीय नरेशों से की गई संधियों में अंग्रेज़ों ने यह शर्त भी रखी कि वे अपनी नौकरी में फ्रेंच सैनिक न रखेंगे। इस प्रकार फ्रेंचों के वास्ते कहीं भी पाँव टिकाने की जगह नहीं रही।

नैपोलियन ने मिश्र पर चढ़ाई की। नैपोलियन ने टीपू सुल्तान के साथ कोई बातचीत चलाई थी, इसका दृढ़ प्रमाण कोई नहीं मिलता। किन्तु अंग्रेज़ों ने इसको सच माना और टीपू पर उन्होंने चढ़ाई कर दी। टीपू उनको शल्य के समान चुभता था। अंग्रेज़ों ने उस कांटे को निकलने का यह अच्छा अवसर माना। नेपोलियन के दमन के बाद फ्रेंचों और अंग्रेज़ों के बीच संधि हो गई। पांडीचेरी फ्रेंचों को वापस कर दिया गया एंग्लो-फ्रेंच मैत्री के कारण भारत की फ्रेंच बस्तियाँ इसके बाद बराबर सुरक्षित रही। १८१५ से अब तक फ्रांस और ब्रिटेन के बीच कभी कोई लड़ाई नहीं हुई।

चन्द्रनगर : अंग्रेज़ों के भारत छोड़ जाने के बाद फ्रेंच बस्तियाँ असुरक्षित हो गईं। अतः भारत की बस्तियाँ फ्रेंच छोड़ने को बाध्य थे। इसका आरम्भ १९ जनवरी १९४९ से हुआ। इस दिन चन्द्रनगर में जनमत लिया गया। इसमें ७४७३ मत विलीनीकरण के पक्ष में पड़े और विरोध में ११४ वोट आए। अतः मई १९५० में चन्द्रनगर का शासन भारत सरकार के पास आ गया। इस नए सम्बन्ध के बारे में २ फरवरी १९५१ को दोनों देशों में संधि हुई। यह संधि ९ जून

१९५२ को सम्पुष्ट की गई और चन्द्रनगर का पूर्णतः भारत में विलीनीकरण हो गया, इस प्रकार फ्रेंच वासियों का भारत में विलीनी करण प्रारम्भ हुआ। इसका अन्त २८ मई १९५५ को हुआ।

१६६८ में फ्रेंचों ने सूरत में पैर रखा और वहाँ अपनी कोठी बनाई। २८६ वर्ष फ्रेंचों का भारत के साथ गहरा सम्बन्ध रहा। १५ जनवरी १६६१ को सर आयर कूट ने पाण्डीचेरी पर आक्रमण किया और उसको जीत लिया। फ्रेंच सेनापति लाली ने आत्म समर्पण कर दिया। पाण्डीचेरी की क़िलेबन्दी ढाह दी गई। इस प्रकार भारत में फ्रेंच राज्य सत्ता का अन्त हो गया।

भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध में चन्द्रनगर और पाण्डीचेरी का बड़ा हाथ रहा है। बंगाल के क्रान्तिकारियों का चन्द्रनगर एक अड्डा रहा। योगी अरविन्द घोष १९१० से मृत्यु पर्यन्त (१९३०) पाण्डीचेरी में ही रहे।

अंग्रेज़ों और फ्रेंचों को मुगलों की शक्ति से मुक़ाबला नहीं करना पड़ा। पोर्चुगीजों के समय मुग़ल सत्ता उत्कर्ष पर थी। अतः वे गोआ में सिमट कर रहे। जब उन्होंने बढ़ने की कोशिश की तो मराठों ने वसई के संग्राम में उनके दाँत खट्टे कर दिए और उनको गोआ से आगे न बढ़ने के लिए विवश किया। फ्रेंचों और अंग्रेज़ों की कुश्ती में फ्रेंच परास्त हुए क्यों कि उनमें राष्ट्राभिमान की कमी थी। वे अंग्रेज़ कर्मचारियों के समान मिल जुल कर काम करने की क्षमता नहीं रखते थे। डूप्ले और लाबूर्डों के बीच नाना फडनवीस और महादजी सिंधिया के समान झगड़ा था। डूप्ले राजनीतिज्ञ और मुत्सद्दी था, पर सेनापति नहीं था। इसके लिए वह दूसरों पर अवलम्बित था फ्रेंच नौ सेना भी ब्रिटिश नौ सेना से कमज़ोर थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी सम्पन्न थी और फ्रेंच कम्पनी दिवालिया थी। क्लाइव हेस्टिंग वेलज़्ली को समस्त ब्रिटिश राष्ट्र का समर्थन प्राप्त था। ये अंग्रेज़ों के 'वीर' थे। पर डूप्ले बुसी लाली आदि की फ्रान्स में जो दुरावस्था हुई वह यह बताने के लिए पर्याप्त है कि इनके कार्यों का आदर फ्रान्स में नहीं हुआ। लाली के शौर्य का सम्मान करने के बदले उसको फांसी पर चढ़ाया गया। फ्रेंचों की जब तक अंग्रेज़ों के साथ सीधी टक्कर नहीं हुई, फ्रेंच जय-लाभ करते रहे। पर जब दोनों की सीधी टक्कर हुई तब भारत में फ्रेंच उनके मुक़ाबले में न टिक सके।

इतिहास सदन, कनाट सर्कस,
नई दिल्ली

—अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

निन्दा या प्रशंसा

आज तक
भूत में,
भविष्य में,
वर्तमान में
कोई एक भी ऐसा व्यक्ति
न उत्पन्न हुआ है, न होगा और विद्यमान है
जिसकी सब एकमात्र निन्दा ही करें
या फिर जिसकी सब एकमात्र प्रशंसा ही करें

—"धम्मपद"

एक तेलुगु रूपक

पत्थर का पैग़ाम

पात्र

शिल्पी,
कवि,
करोड़पति,
मिस्त्री,
मज़दूर,
शिला,

प्रथम दृश्य

वृन्दगान :

"कांचीपुरम के ये मन्दिर
शिल्प कला के हैं आगार
महेन्द्र पल्लव राजाओं की
कला प्रियता के ये उद्गार"

महेन्द्र : शिल्पी ! उस प्रतिमा को गढ़ कर उस मन्दिर में प्रतिष्ठित करना चाहिए ।

शिल्पी : जी सरकार !

महेन्द्र : क्यों वह शिखर (गोपुर) भी पूरा हुआ ?

शिल्पी : जी हाँ, पूरा होने को आया है ।

दूसरा दृश्य

शिल्पी : ओह ! कितना सुन्दर सपना है ! कितने समय से मैं इस सपने की प्रतिमा-सुन्दरी के लिए तरसता रहा ! अब अपनी इस स्वप्न-सुन्दरी को आकार में परिवर्तित करना चाहिए । संगमरमर की चमक-दमक से अपनी भावनाओं को साकार बना कर प्रतिष्ठित करना चाहिए ।...अपनी शिला-प्रतिमा में मनोरम आकृति बनाई । मैं ही कला का उपासक हूँ । मेरे बिना इस शिला का आकार नहीं बन सकता ! मेरे बिना सारी मानव जाति निरानन्द और नीरस हो जाएगी ।

(सगर्व हँसना)

कवि : शिल्पी ! शिल्पी !!

शिल्पी : क्यों कवि जी ! इस समय यहाँ कैसे टपक पड़े ? हाँ, सुनिए तो—मेरी प्रतिमा-सुन्दरी की प्रतिष्ठापना के समय आपको एक कविता सुनानी पड़ेगी ! मैंने ऐसी प्रतिमा बनाई कि पूर्व और पश्चिम के किसी भी कवि ने अब तक न इसकी कल्पना की, और न इसका यश गाया ! वाह रे ! कैसी उसकी सुकुमारता है ? कैसा उसका अंग-विन्यास है ? मेरे निद्राहीन जीवन में गुदगुदी पैदा कर मेरे हाथों अपना रूप गढ़वा लिया है । यह मेरे सपनों की रानी हैं । अहा, हा !

कवि : (हँसकर) शिल्पी !

शिल्पी : (आग बबूला होकर) आप हँस क्यों रहे हैं ?

कवि : कला पर आपके घमंड को देख कर हँस रहा हूँ । क्यों, आप ही कला के शिरोमणि हैं ? आप ही सौन्दर्य में जान फूँकनेवाले हैं ? जिस तरह हम हवा के घोड़ों पर उड़ सकते हैं, वैसा ही आप भी कर सकते हैं ? फूलों से आँखमिचौनी खेल सकते हैं ? कवि से आप किस कदर प्रवीण हैं ? अपनी कला की आराधना के लिए आपको एक संकेत मात्र पर्याप्त है । आपकी कला की कसौटी एक चेतनाहीन शिला है । हमारी कला की कसौटी में तो स्पंदित होने और पिघलने की शक्ति है । जिस आकार को मैं बनाना चाहूँगा, उसके लिए कोई रूप का बंधन भी नहीं है । इसी लिए मेरे हृदय की रानी का कोई शरीर नहीं; और इसीलिए कोई सौंदर्य भी नहीं ।

शिल्पी : कवि जी ! काल्पनिक संसार और वास्तविक संसार के बीच की मैं एक सीमा हूँ । आप यह सच मानिए कि मानव एक संकेत मात्र चाहता है । सब भावना के गुलाम हैं । मैं तो भावना को लाँघकर आकृति बनाता हूँ । वह देखिए, करोड़पति महोदय कुछ कहना चाहते हैं !

करोड़पति : आप दोनों की बातें सुन कर मैं चकित हो रहा हूँ ।

कवि : क्यों, किस लिए ?

करोड़पति : मुझे भूलकर आप दोनों अपनी अपनी भावनाओं के घोड़ों पर आरूढ़ होकर अपने

बड़प्पन का बखान कर रहे हैं। आप लोग यह भूलते हैं कि यदि मैं न रहता, तो कोई कितना भी बड़ा कला का उपासक क्यों न हो, पांच इन्द्रियों के बाद छठी इन्द्रीय की गिनती में आनेवाली चीज़—रुपया कहाँ है ? किसी भी देश के इतिहास के पन्ने उलट कर देखिए; किसी भी देश की सभ्यता का अवलोकन कीजिए। कोने-कोने की मूर्तिकला के निर्माण देखिए। रुपए-पैसे ने सभी कलाओं को जीवित रखा। बुज़ुर्गों ने कहा ही है कि "धनं मूलमिदम् जगत्।"

शिल्पी : करोड़पति जी ! अपना वर्णन बन्द कर दीजिए। पैसे की कहीं नुमाइश की जा सकती है ? क्या रुपये-पैसे के रहने से कला की आराधना की जा सकती है ? यदि मेरी शिल्प-कला नहीं होती, तो आपके पैसे का क्या मूल्य होता ?

कवि : करोड़पति जी ! और शिल्पी ! फिर से आप दोनों अपनी तारीफ़ों के पुल बाँधने लगे ! यदि किसी व्यक्ति में मानवता का विकास नहीं हुआ, तो वह पत्थर के समान है। आप सब लोग, आप ही क्या, सारी मानव जाति ही मेरे अभाव में जानवरों की भाँति जीवन-यापन करती ! मैं एक ऋषि हूँ। यह कहावत आप लोग मत भूलिएगा कि "नान् ऋषि : कुरुते काव्यम्" मानव की जो प्रतिभा है, उसकी मैं कसौटी हूँ। हमारी हर बात उपनिषदों की वाणी है। कविता यदि नहीं रहती, तो आप लोगों के सपनों की क्या हस्ती होती ? सपनों का आधार काव्य का पठन-पाठन है। सभी कवियों को प्रोत्साहित करनेवाली एक मात्र वस्तु कविता ही है।

शिल्पी : कवि जी ! आप अपनी डींग हाँकना बन्द कीजिए। इस पत्थर में सजीवता लाकर दिखलाइए ? इसमें सौन्दर्य का संचार कर दीजिए ? अपनी-अपनी सुनाने मात्र से ही कोई पानीपत की जीत नहीं हुई। ताजमहल में मैंने प्रणय को साकार किया। शाहजहाँ और मुमताज का प्रणय अगर आज स्थायी रूप से जीवित है, तो इसका एक मात्र कारण ताजमहल को बनाने वाला शिल्पी ही है। अगर शिल्पी न रहता, तो यह सम्भव नहीं हो सकता कि शाहजहाँ और मुमताज़ का प्रणय आज के युवा हृदयों के लिए आदर्श बनता !

कवि : अरे, यह तो बताइए कि शिल्पी को कल्पना किसने प्रदान की ? कवि ने। यह बात आप भूल मत जाइए।

शिल्पी : (नाराजगी से) मैं नहीं मानूँगा। नहीं मानूँगा। मैं ही कला का सच्चा उपासक हूँ।

करोड़पति : शिल्पी और कवि ! मैं तो पहले ही बता चुका हूँ कि अगर मेरा पैसा नहीं होता, तो आप दोनों का कोई नामोनिशान भी नहीं होता। प्रत्येक कला की मैं जड़ हूँ। कला का मैं स्वामी हूँ।

कवि और शिल्पी : नहीं, मैं ! मैं ही !!... मैं ही ! मैं ही !!!

तीसरा दृश्य

मिस्त्री : (गम्भीरता के साथ—माइक से दूर खींचो। पत्थर जल्दी जल्दी ढोना। देखो, आगे को ज़रा झुक कर खींचना !)

पहला : कमर टूट रही है। (कुछ खींचने की आवाज़) हैय्या ! हय्या ! इश् ! दय्या रे !!

मिस्त्री : (चाबुक से धमकाते हुए) अरे, उस पत्थर को गढ़ दिया ? तो उस शिखर (गोपुर) के ऊपर चढ़ाओ। चढ़ाओ न, उस शिखर के ऊपर ! खड़े खड़े मुँह क्या ताक रहे हो ? आज उस शिखर (गोपुर) का काम पूरा हो जाना चाहिए। ऊपर उठाओ !

कुली लोग : (उठाने का एफ़ेक्ट)

पहला : (खीज कर) हमने पत्थरों को तोड़ तोड़ कर गाड़ दिया, चिकना किया, और उसमें आकृति लाकर इमारत खड़ी कर दी। पर इसका कोई श्रेय हमें नहीं मिलता। तिस पर हम लोगों को पेट भर भोजन भी नहीं मिलता।

दूसरा : कला की आराधना करने वाले हमीं लोग हैं। इतिहास के पृष्ठ उलट कर पढ़ लीजिएगा। किसी भी देश की, किसी भी समय की सभ्यता के अवशेषों के निर्माता हमीं हैं। जान की बाज़ी लगा कर ऐसी इमारतें किसने खड़ी कर दी, जो आज भी हमारी सभ्यता के उज्ज्वल नमूने हैं ? पर ! मज़दूर काल के गर्भ में विलीन होता जा रहा है। वह कुछ कह नहीं सकता ! अगर इतिहासकार और मज़दूर न होते, तो शिल्पी की गढ़ी हुई प्रतिमा में रूप सौन्दर्य की छटाएँ कहाँ से प्राप्त होती ?

पहला : मज़दूरों ! उठो ! गहरी नींद से जाग पड़ो। सभ्यता-सुन्दरी के हमीं लोग आभूषण हैं।

मज़दूरो, निद्रा से जागो ! उठो !

मिस्त्री : मज़दूरो ! यह सब क्या है ? पागल तो नहीं हुए ? काम-धाम छोड़ कर यह क्या तमाशा बना रखा है ? ये शोर क्या है ? इस इमारत का काम पूरा करना चाहिए । मज़दूरो, आनेवाली पीढ़ी के लोग इस इमारत को देख कर खुश होंगे और समझेंगे कि अपने बुजुर्ग बड़े सभ्य थे; कला के उपासक थे। बच्चे से लेकर बूढ़े तक इतिहास में मेरा नाम देख कर मेरी प्रशंसा करेंगे । चलो, शिखर (गोपुर) का काम पूरा करो । मोती जवाहरातों से गढ़ा हुआ सिंहासन वहाँ प्रतिष्ठित करो ।

पहला : मेहनत किसी दूसरे की है, तो उसका फल भोगनेवाले कोई और हैं । अनादि काल से अन्याय का यह क्रम चला आ रहा है । इस बेइन्साफ़ी के आगे सिर झुका कर मर मिटने वाला व्यक्ति मजदूर है । क्यों यह इमारत आपने खड़ी कर दी ? नाम तो आप ही लोगों का अमरता को प्राप्त करेगा ?

सब एक साथ : यह अन्याय है ! यह अन्याय है !

मिस्त्री : यह चीखना-चिल्लाना बन्द करो । अरे, याद रखना, मेरे ही कारण तुम लोगों के पत्थर जैसे हाथों में इतनी कोमलता आई । यदि मैं समय समय पर यह आदेश नहीं देता कि अमुक प्रकार से काम करो, तो तुम लोगों से यह काम संभव हो सकता था ? मेरा ही नाम इतिहास के पन्नों में सोने के अक्षरों में लिखा जाएगा । आगे बढ़ो । उस शिखर (गोपुर) के ऊपर पत्थर उठाओ ।

सब एक साथ : नहीं उठाएँगे ! नहीं उठाएँगे !! नहीं उठाएँगे !!!

मिस्त्री : नहीं उठाओगे ? देखूँगा, कैसे नहीं उठाओगे । (चाबुक से क्षमका कर) ऊँ ! मज़दूरो, उठाओ । यह मेरा हुकुम है । तुम सब लोग कला के, मानव-विज्ञान के विद्रोही हो और सभ्यता के विनाशक हो !

सब एक साथ : नहीं उठाएँगे, नहीं उठाएँगे ! यह काम हम नहीं करेंगे ।

पहला : एक के लिए हम क्यों अपनी जान जोखिम में डालें ?

दूसरा : हमें ऐसी सभ्यता नहीं चाहिए, जो आदमी के खून से रंगी हो ।

सब : मज़दूरो, उठो ! तुम लोग अपनी क़ीमत को पहचानो । यह संसार तुम्हीं लोगों का है । तुम लोगों के बिना सभ्यता नहीं हो सकती ।

मिस्त्री : यदि मैं न होता, तो सभ्यता न हो सकती और इस शिला की कोई आकृति न होती ।

शिल्पी : (दूर से आते हुए) यह क्या शोरगुल है ? क्यों भाई ? अभी तक इस शिखर (गोपुर) का काम पूरा नहीं हुआ ? क्यों कवि जी ! अब आपको मेरी प्रतिभा का पता लगा ? मोती जवाहरातों से गढ़ा हुआ वह सिंहासन देखिए । हा हा ! यदि मैं न रहता, तो इस सृष्टि को क़ाबू में लाने की ताक़त किसमें थी ?

मिस्त्री : शिल्पी ! इसका आप घमण्ड मत कीजिएगा कि शिल्प-कला का यह सारा सौन्दर्य आपकी प्रतिभा का द्योतक है । अगर यह सब इस रूप में पृथ्वी पर अमर रहा, तो इसका एक मात्र कारण...

शिल्पी : आप हैं !

मिस्त्री : हाँ, मैं ही हूँ । काग़ज़ पर लकीरें खींचने मात्र से ही आप कला के अधिकारी थोड़े ही हो जाते हैं ! यह मत भूलिए कि मैंने ही आपकी लकीरों को शरीर प्रदान किया ।

कवि : नहीं, आप नहीं हो सकते ! मैं तो पहले ही बता चुका हूँ कि इसका अधिकारी कवि ही हो सकता है । मेरे बिना तो आप लोगों के मन एकदम रेगिस्तान के समान है ।

करोड़पति : आप लोग यह मत भूलिए कि सब की जड़ में ही हूँ । मेरे बिना यह सब खेल बन्द हो जाएगा । मैं कला का पोषक हूँ । कला का जो पोषण करता है, वही कला का भार वहन कर सकता है और उसका रूप निर्धारित कर सकता है ।

पहला : महाशय ! यह सब झूठ है । आप में से कोई भी कला के पोषक नहीं । अपने धन के घमण्ड से अन्धे होकर करोड़पति जी कहते हैं कि कला का कर्ता-धर्ता मैं ही हूँ । करोड़पति जी ! इतना पैसा आपको कैसे मिला ? चोटी का पसीना एड़ी तक बहा कर मेहनत करनेवाले लोग हम हैं और हमारे मुँह का कौर छीन कर उसका फल भोगनेवाले आप हैं !

सब एक साथ : हम कला के पोषक हैं ! कला का भार वहन करने वाले हम ही हैं ।

शिल्पी : अरे, शिखर (गोपुर) गिर रहा है !

मिस्त्री : बड़ी खूबसूरती के साथ पत्थर गाड़ दिया था, सो भी गिर कर टूट गया।

कवि : शिल्पी जी! आपकी सारी शिल्प-कला चौपट होती जा रही है।

करोड़पति : अरे, मेरा कितना पैसा बेकार गया! चुप बैठा रहता, तो अच्छा होता! मुझ पर पागलपन सवार हो गया था!

पहला : मजदूरो! हमारी सब मेहनत बेकार गई। हमने कभी न दिन की परवाह की और न रात की, और न धूप की और न पानी की। इतनी तकलीफ़ उठाने के बाद भी हमारा बनाया हुआ शिखर (गोपुर) धराशायी हो रहा है, मानों किसी भारी तूफ़ान का वह शिकार हो गया हो।

सब एक साथ : (घबराते हुए हाहाकार मचाते हैं। उस हाहाकार में से एक कराह सुनाई पड़ती है, जो धीरे धीरे तेज हो जाती है।)

शिला : हूँ! हूँ!! हूँ!!!

शिल्पी : (चकित होकर) किसकी वह कराह है?

कवि : (घबड़ा कर) कहीं कोई इमारत के नीचे दब कर मर तो नहीं गया?

करोड़पति : खड़े खड़े क्या देख रहे हैं? कमर कस कर ढूँढ़िए न! बाहर निकालो उसे!

शिला : हे मानवो!

कवि : कौन बुला रहे हैं?

शिल्पी : वह गम्भीर वाणी किसकी है?

करोड़पति : कहीं किसी देवता का जन्म तो नहीं हुआ? (काँपता है)...माँ जी! कुछ कहिये माँ जी! आपको जो कुछ पसन्द है, वह हम आपको समर्पित करेंगे। हमारी गलती माफ़ हो! (और भी कांपता है।)

कवि : हूँ...करोड़पति के ये सब अंध विश्वास अभी छूटे नहीं।...अरे, वह क्या है! शिला हिल रही है। बाप रे बाप!...

शिल्पी : कहाँ?...हाँ हाँ...इस शिला में तो चेतना आ रही है!

शिला : हे मानव! डरना नहीं! भाग मत जाओ।

सब एक साथ : अरे, बाप रे, यह तो कोई भूत है।

शिला : भाई, मैं तो भूत नहीं हूँ। मेरी बात सुनो। मेरा आकार किसने बनाया?

शिल्पी : मैं! मेरा नाम शिल्पी है।

कवि : मैं! मैं हूँ कवि!

मिस्त्री : मैं! मिस्त्री हूँ!

करोड़पति : मैं! करोड़पति हूँ!

मज़दूर : हमने! हमने आपको रूप प्रदान किया!

शिला : (ज़ोर से हँसती है) ओह, यह बात है! तुम सब लोग अपने को कला के सच्चे उपासक समझते हो। अरे, यह तो बताओ कि यदि मैं तुम लोगों के वश में न आकर अचेतन ही बनी रहती, तो तुम लोगों का यह सब घमण्ड क्या हो जाता? क्योंकि मैं तो कोई सोना नहीं हूँ। संगमरमर की बनी हुई हूँ; मिट्टी की भी नहीं! तुम लोग जैसे चाहो, वैसे मैं तुम लोगों की बात सुनने वाली नहीं हूँ। तुम लोग तो मानव ठहरे! तुम में से किसी एक के लिए नहीं, बल्कि तुम सब लोगों के लिए मानव की सहज कमजोरियों के साथ इस शिला के आकार में पड़ी तकलीफ़ झेल रही हूँ। तुम लोग तो मेरी आकृति में चमक दमक लाने की चेष्टा करते हो। मेरे लिए आलीशान इमारतें खड़ी कर देते हो। पर, ये सब अपनी अहं भावना की तृप्ति के लिए ही तुम लोग करते हो। पर मैं तो सारी मानव जाति की सेवा में संलग्न हूँ।

सब : महाराज आ गए! महाराज!

करोड़पति : (दीन होकर) महाराज! शिखर (गोपुर) गिर गया!

शिल्पी : महाप्रभु! मेरे सब सपने मिट्टी में मिल गए।

महाराज : इश्! (निस्तब्ध) यह शिला कुछ कह रही है। सुनो!

शिला : मानवों का यह कर्तव्य है कि उन्हें अपने अपने धर्मों का उचित और अनुचित का ध्यान करते हुए पालन करना चाहिए। यह नहीं कहना चाहिए कि मैं यह काम कर सकता हूँ, मैं वह काम कर सकता हूँ। कोई भी मानव दूसरों पर अपना रोब नहीं जमा सकता। इस संसार में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है। सब बराबर हैं। मेहनत के आगे सब गुलाम हैं। इसलिए शिल्पी, कवि, करोड़पति, मिस्त्री, मज़दूर—तुम सब यदि

एक होंगे, तो जीवन कला से भरपूर हो जाएगा। इन लोगों में से यदि किसी एक की भी कमी होगी, तो मानव-सृष्टि ही अंग-विहीन हो जाएगी।...तुम में से एक भी ऐसा नहीं, जो कि जग का स्रष्टा कहला सके!...इस सृष्टि की रचना करने वाले एक भगवान् मात्र ही हैं।

सुषमा सिंडिकेट, १३ राजाबादर स्ट्रीट,
मद्रास—१७

महाराज : अहा हा! हे कला के उपासक! पत्थर का पैग़ाम तो तुम लोगों ने सुन ही लिया। अब होश में आओ और विनम्रता के साथ एक होकर काम करो, और जीवन के ऊँचे पथ को ग्रहण करो!

सब : हमारा बड़ा भाग्य है! हमारा बड़ा भाग्य है!

—रामकृष्ण

अनु० : डी. मंजुलता

कितना समय

एक भद्र पुरुष ग्रामों में पैदल यात्रा कर रहा था। एक दोपहर में वह एक ग्राम से गुज़र रहा था कि उसे ख़याल आया कि संभवतः उसे दूसरे ग्राम तक पहुँचने में रात हो जाएगी। उसे मालूम नहीं था कि दूसरा ग्राम कितनी दूरी पर है। उसने देखा कि एक खेत में एक बूढ़ा किसान काम कर रहा है। उसने उससे पूछा : "मुझे अगले ग्राम तक जाने में कितना समय लगेगा?"

बूढ़े किसान ने उत्तर दिया : "चलो"

"हाँ, मैं चलूँगा परन्तु समय कितना लगेगा?"

"चलो"—फिर वही उत्तर मिला।

"चलना तो मुझे है ही—परन्तु समय कितना लगेगा?"

बूढ़े किसान ने जब वही उत्तर फिर दिया तब यात्री ने सोचा कि बूढ़ा किसान या तो बहरा है और या फिर पागल। वह अपनी यात्रा पर चल पड़ा। वह अभी कुछ क़दम ही चला था कि बूढ़े किसान ने चिल्ला कर कहा : "आपको दूसरे ग्राम तक जाने में लगभग डेढ़ घण्टे का समय लगेगा।"

"तुमने मुझे यह पहले क्यों नहीं बतलाया?"

"मैं तुम्हें यह कैसे बतला सकता था जब तक कि मैं यह न देख लेता कि तुम किस रफ़्तार से चलते हो। इसीलिए मैं कह रहा था : "चलो।"

—"लिसनर" से

भारतीय साहित्य पर विदेशी पंडितों का अनुशीलन

भारत में संस्कृत भाषा की उन्नति और उसके सुधार के लिए सम्प्रति राष्ट्रीय शासन की ओर से जो कुछ भी कार्य किए जा रहे हैं साधारण जन भी उनसे परिचित हैं। इतना तो अकाट्य सत्य है कि संस्कृत ही भारत की मूल भाषा है और अपना कहे जाने वाला उसका सम्पूर्ण वाङ्मय एवं सारा गौरव संस्कृत भाषा में ही सुरक्षित है—फिर उसको हम मृत भाषा कहें या अनुन्नत भाषा, यह तो हमारी दूरदर्शी सूझ पर अवलम्बित है। उधर विदेशों में—रूस, अमेरिका और ब्रिटेन आदि में—आज भी संस्कृत के प्रति समाज की जिज्ञासा उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही है।

भारत में आज संस्कृत का अध्ययन करने वाला अधिकांश समाज धनहीन है। सम्पन्न परिवारों के बालक संस्कृत नहीं पढ़ते क्योंकि उन्हें भूखों नहीं मरना है। इसलिए संस्कृत भाषा का प्रचार आज भूखे रह कर और भविष्य में भी भूखा रहने वाले निर्धन समाज तक ही सीमित है। संस्कृत भाषा के महत्त्व को समझने वाले और उसका विश्व-व्यापी प्रचार करने वाले अभारतीय विद्वानों के सत्प्रयत्नों से संस्कृत भाषा की वास्तविक मान-वृद्धि हुई है। इस दृष्टि से उन विदेशी विद्वानों का भारत सदा ऋणी रहेगा।

विदेशों में संस्कृत भाषा के प्रति विद्वत्समाज की निष्ठा बहुत पहले से ही जम चुकी थी। धर्म प्रचारार्थ पहले पहल जब ईसाई मिशनरी भारत में आए तो वे भारतीय धर्म ग्रन्थों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। ईसाई पादरी संस्कृत के उदाहरण दे-दे कर अप्रत्यक्ष रूप से अपने धर्म का प्रचार करते रहे। अब्राहम रोजर नामक एक विद्वान् ने १६५१ ई. में भर्तृहरि के कतिपय ललित श्लोकों का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद किया जिसको देख कर विदेशियों का ध्यान संस्कृत के प्रति आकृष्ट हुआ। हेनरिच नामक एक जर्मन पंडित ने भारतीय पंडितों से शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से १६६४ ई. में संस्कृत का अध्ययन किया। १६९९ ई. में एक जर्मन पादरी भारत आया और संस्कृत का सम्यक् ज्ञान अर्जित करने के उपरान्त उसने सर्वप्रथम यूरोपीय भाषा में व्याकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसी प्रकार विद्वान् अर्थोलोमिया ने भी इसी समय व्याकरण की दो कृतियाँ रचीं। विद्याप्रेमी वारेन हेस्टिंग्स ने भारतीय पंडितों के द्वारा जिस "विवादर्पणसेतु" नामक धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ को संकलित करवाया, १७८५ ई. में वह "ए कोड आफ़ गेण्टोला" नाम से अंग्रेज़ी में प्रकाशित किया गया। चार्ल्स विल्किंस की गीता की जिस अनुदित कृति ने यूरोप भर में विस्मय पैदा कर दिया था, वह १७८५ ई. में इंग्लैण्ड में प्रकाशित हुई। 'हितोपदेश' और 'महाभारत' में वर्णित 'शकुन्तलोपाख्यान' का भी इस संस्कृत प्रेमी विद्वान् ने सफल अनुवाद किया।

संस्कृत भाषा के अनुरागी विद्वान् सर विलियम जोन्स का कार्य चिर स्मरणीय रहेगा। ११ वर्ष तक भारत में रह कर संस्कृत साहित्य की उन्होंने भरपूर सेवा की है। उन्हीं के सत्प्रयत्न से १७८४ ई. में एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल की स्थापना हुई। इस संस्था द्वारा जिन अमूल्य हस्तलिखित पोथियों का उद्धार कार्य हुआ और भारत में जिस अनुसंधान सम्बन्धी कार्य का श्रीगणेश हुआ उसका सम्पूर्ण श्रेय स्वर्गीय जोन्स को ही है। १७८९ ई. में जोन्स ने "अभिज्ञान शाकुन्तल" का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया और तदनंतर "मनुस्मृति" का और १६९२ ई. में "ऋतुसंहार" का। १७९४ ई. में उनका स्वर्गवास हुआ। जोन्स की अनुदित कृति को देख कर जर्मन विद्वान् ज्यार्ज फोर्स्टर ने १७९१ ई. में शकुन्तला नाटक का जर्मनी भाषा में अनुवाद किया, हर्वर्ट और गेटे जैसे विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की। इसी समय के आस पास थामस कोलब्रुक ने "ए डाइजेस्ट आफ़ हिन्दू-ला आफ़ कांट्रैक्ट्स" नामक संकलित ग्रन्थ के अतिरिक्त अमरकोष, हितोपदेश, अष्टाध्यायी और किरातार्जुनीय का अनुवाद प्रस्तुत किया।

अलकजेंडर हैमिल्टन ने भारत में रह कर वैदिक साहित्य का अच्छा ज्ञान अर्जित किया। यह आँग्ल विद्वान् जब १८०२ ई० में अपने सहयोगियों के साथ फ्रान्स होता हुआ स्वदेश इंग्लैण्ड लौट रहा था तो रास्ते

१६५७

में नैपोलियन ने फ्राँसीसियों सहित पेरिस में इन्हें क़ैद कर दिया। अपने इस बन्दी जीवन में हैमिल्टन ने जिन विद्वानों को भारतीय वाङ्मय का अध्ययन कराया उनमें श्लीगल का नाम उल्लेखनीय है। इन जर्मन विद्वान् ने १८०८ ई० में अपने पाण्डित्यपूर्ण लेखों द्वारा भारतीय ज्ञान की ओर वहाँ की पंडित-मण्डली का ध्यान आकृष्ट किया। इनके विद्वान् भाई आगस्ट डब्ल्यू० श्लीगल ने जर्मन में संस्कृत का अच्छा प्रचार किया। ये फ्रेंच विद्वान् शेजी के शिष्य थे। १८१८ ई० में वह वान के विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुआ। उसने भारतीय ज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के साथ-साथ कई संस्कृत ग्रन्थों का जर्मनी में भाषान्तर भी किया। इनके गुरु शेजी फ्रांस में संस्कृत के अध्यापक थे। शेजी ने भारतीय ग्रन्थों का सफल संपादन तो किया ही, साथ ही १८२३ ई० में उन्होंने एक 'इंडियन लाइब्रेरी' पत्रिका का प्रकाशन कर भारतीय भाषा विज्ञान पर भरपूर प्रकाश डाला। इसी वर्ष आगस्ट श्लीगल ने 'भगवद्-गीता' का एक सुन्दर संस्मरण निकाला। १८२६ ई० में उसने 'वाल्मीकि रामायण' का पहला भाग निकाला; किन्तु वह पूर्ण न हो सका।

श्लीगल के ही समकालीन फ्रेंच विद्वान् बौप हुए हैं। उनका जन्म १७६१ ई० में हुआ। १८१२ में पेरिस पहुँच कर उन्होंने शेजी के पास संस्कृत का अध्ययन किया। १८१६ ई० में बौप ने संस्कृत के तुलनात्मक भाषा विज्ञान पर निबन्ध लिख कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। 'नल-दमयन्ती' आख्यान को लैटिन भाषा में अनुवाद कर उन्होंने उसको प्रकाशित करवाया। १८२७ ई० में उन्होंने संस्कृत व्याकरण निकाला तथा एक कोश ग्रन्थ का भी प्रणयन किया। यूरोप भर में ये दोनों ग्रन्थ खूब विख्यात हुए। १८२१ में जर्मन विद्वान् वान हँबोल्ट ने और उनके भाई अलेक्ज़ेंडर हँबोल्ट ने भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया। गीता की व्यापक ज्ञान प्राप्ति इनके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य था। शेलिंग काँट और शिलर प्रभृति जर्मनों ने उपनिषदों का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। इसी प्रकार दूसरे जर्मन पण्डितों फ्रेडरिक रुकार्ट का काव्य सम्बन्धी ज्ञान भी प्रशंसनीय है।

फर्गुसन जेम्स एक सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद् शिल्पशास्त्री हुए हैं। १८४३ ई० में इन्होंने दक्षिण भारत के कतिपय खण्डहरों और देवालयों से पुरातत्व सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री का पता लगाया। १८४८ ई० के आसपास इन्होंने भारतीय वनस्पति विज्ञान पर प्रकाश डालने के लिए 'हिन्दू प्रिंसिपल आफ़ ब्यूटी इन् आर्ट' लिखा।

महापण्डित मैक्समूलर अपने महानतम कार्यों के कारण आज भी अमर हैं। उनका जन्म जर्मनी स्थित देसाऊ नामक एक छोटे से गाँव में ६ दिसम्बर १८२३ ई० में हुआ था। मैक्समूलर ने भारतीय ज्ञान का व्यापक प्रचार करने के लिए जो परिश्रम किया उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। अपने जीवन के ५८ वर्ष उन्होंने भारतीय साहित्य की एकान्त सेवा में लगाए। १८४६ से १८७५ ई० तक उन्होंने सायण भाष्य सहित ऋग्वेद को छः जिल्दों में संपादित और प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त १८७३ ई० में मूल ऋग्वेद के दसों मण्डलों को लन्दन से प्रकाशित किया। १८ अक्टूबर, १६०० ई० में मैक्समूलर दिवंगत हुए। इसी समय विलसन ने भी 'हिन्दू थिएटर' और 'विष्णु-पुराण' के अतिरिक्त ऋग्वेद का अंग्रेज़ी अनुवाद छः जिल्दों में प्रकाशित किया। वेदों का शब्दार्थ समझने के लिए जर्मन विद्वान् राथ कृत 'संस्कृत-जर्मन विश्वकोश' बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। १८७० के लगभग एच० ग्रासमैन और विलसन ने सायण-भाष्य के आधार पर ऋग्वेद का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया। ग्रासमैन कृत 'संस्कृत जर्मन कोश' भी उल्लेखनीय है। तदुपरान्त इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों में रुडोल्फ़, गेल्डनर, लुदविग, रैकए और पिशल का नाम उल्लेखनीय है। आर० पिशल जर्मन थे। बर्लिन, आक्सफ़ोर्ड और लन्दन में इनकी शिक्षा सम्पन्न हुई। १८७२ ई० में वे कील के विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए। १८८५ ई० में वे हेल के सैक्सन विश्वविद्यालय में गए और अन्त में इसी पद पर वे बर्लिन के विश्वविद्यालय में आजीवन संस्कृत की सेवा करते रहे। वेदों के अतिरिक्त कालिदास और हेमचन्द्र की कृतियों पर इन्होंने अच्छा प्रकाश डाला। इनका 'वैदिक स्टडीज़' ग्रन्थ बड़ा महत्वपूर्ण है।

संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित वेबर ने भारतीय साहित्य पर पहले पहल एक विवेचनात्मक इतिहास ग्रन्थ लिखा। इनका जन्म १८२५ में हुआ। इन्होंने

यजुर्वेद का भी सफल सम्पादन किया । बर्लिन के राजपुस्तकालय का हस्तलिखित पोथियों का सूची-पत्र बड़ी विद्वत्ता से इन्होंने संपादित किया । १८५० से १८८५ ई० तक ३५ वर्षों क घोर परिश्रम से इन्होंने Indischen stndien नामक ग्रन्थ १७ जिल्दों में प्रकाशिक किया । भारतीय साहित्य के इतिहास में इनके कार्य अविस्मरणीय रहेंगे । संस्कृत साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले विद्वानों में डा० आर्थर एँथनी मेक्डोनेल का नाम आदर के साथ लिया जाता हैं । इस प्रतिभाशाली विद्वान् का जन्म १८५४ ई० में भारत में ही हुआ । लिपिजिक विश्वविद्यालय से ऋग्वेद पर कात्यायन की सर्वानुक्रमणी का पाठशोध और उस पर थीसिस लिखने के फलस्वरूप इन्हें पी एच० डी की उपाधि मिली । इसके बाद ये आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए । अपना संपूर्ण जीवन इन्होंने संस्कृत की सेवा करते व्यतीत किया । वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में इनकी कृतियाँ हैं—वैदिक मेथोलोजी, वैदिक ग्रामर, वैदिक हैडैक्स आफ़ नेम्स ऐंड सबजेक्ट्स, ए वैदिक ग्रामर फ़ार स्टूडैंट्स और ए वैदिक रीडर फार स्टूडैंट्स । संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इनकी कृतियाँ है—संस्कृत ग्रामर फार स्टुडैंट्स, ए हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर, बृहद्देवता ।

वेबर और मेक्डोनेल के अतिरिक्त तीसरे इतिहासज्ञ विद्वान् है—डा० आर्थर बेरीडेल कीथ । इनका जन्म १८७९ ई. में हुआ । मेक्डोनेल को ये अपना गुरु मानते थे । १९०७ ई. में मेक्डोनेल जब भारतवर्ष की यात्रा पर गए तो उस स्थान पर इनकी नियुक्ति हुई । लगभग ३० वर्ष तक इन्होंने संस्कृत का अध्ययन और ज्ञानार्जन किया । 'वैदिक इंडेक्स आफ़ नेम्स एण्ड सब्जक्ट्स' नामक ग्रन्थ को तैयार करने में मेक्डोनेल के साथ इनका पूरा सहयोग रहा । वैदिक ज्ञान सम्बन्धी इनका दूसरा ग्रन्थ "रिलिजन एण्ड फिलास्फी आफ दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स" है । हिन्दू तत्वज्ञान पर इन्होंने सांख्य सिस्टम, कर्म मीमांसा और इंडियन लोजिक एण्ड अटोमिजम ग्रन्थ लिखे । लन्दन के इंडिया आफ़िस का बृहद् सूचीपत्र और आक्सफोर्ड की बोडलीयन लाइब्रेरी के सूची पत्र भी इन्होंने तैयार किए । इनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य है—'संस्कृत ड्रामा' और 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' । ये दो कृतियाँ इनकी अमर स्मारक हैं । इनकी मृत्यु १९४४ ई. को हुई । इतिहास लेखकों में फ़ेजर, गवेन और विंटरनित्स का नाम भी अविस्मरणीय रहेगा ।

जर्मन पंडित डा० टीवो मैक्समूलर के सहयोग से संस्कृत की ओर आकृष्ट हुए । १८८५ ई. में वे अध्यापक होकर बनारस आए और वहां १८८८ ई. तक वहीं रहे । इन्होंने 'पंचसिद्धांतिका' का और शंकर रामानुज भाष्य सहित वेदान्त सूत्रों का सुन्दर संस्करण निकाला । मीमांसा शास्त्र और ज्योतिष पर भी इन्होंने निबन्ध लिखे । एम. खेजी नामक एक फ्रांसीसी विद्वान् ने यूरोप में रह कर १८१४ से १८३२ ई. तक संस्कृत का अध्यापन और प्रचार किया । जैन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो० जैकोबी ने जैन सूत्रों का उत्तम अनुवाद प्रस्तुत किया । सर एडविन आर्नल्ड ने १८९६ ई. में "चौर-पंचाशिका" का पद्यबद्ध अनुवाद किया । सुप्रसिद्ध वैयाकरणी बोटलिंग ने पाणिनि-व्याकरण का विशुद्ध संस्करण और राथ के सहयोग से संस्कृत कोश का भी सम्पादन किया । पाणिनि के स्थिति-काल पर विशद प्रकाश डालने वाली गोल्डस्ट्कर की कृति अपने क्षेत्र का अद्भुत कार्य है ।

भारतीय वाङ्मय की विलुप्त-विशेषताओं को प्रकाश में लाने वाला डा० अफ्रेक्ट का बृहद् सूची-पत्र "केटेलोगस् केटेलोगोरम्" अपने क्षेत्र का अद्भुत प्रयास है । आंग्ल विद्वान् मुइर कृत "ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट" वैदिक जीवन पर व्यापक प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ है । यह पांच भागों में है । इस ग्रन्थ में वैदिक वाङ्मय, इतिहास और तत्कालीन जन-जीवन पर प्रामाणिक प्रकाश डाला गया है ।

आडफ्रेश्तको ने रोमन में ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण को लिखा । इसी प्रकार एदारुक नामक दूसरे विद्वान् ने भी ऋग्वेद पर रोमन भाषा में एक पुस्तक लिखी जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद निकल चुका है । प्रो० ह्विटनी कृत व्याकरण ग्रन्थ सभी पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थों का निष्यंद कहा जा सकता है । इसकी विशेषता यह है कि इसमें वैदिक और संस्कृत मुहावरों का विवेचनात्मक समन्वय बड़ी विद्वत्तापूर्ण ढंग से दर्शाया गया है । इस विद्वान् ने गार्वे के सहयोग से अथर्ववेद संहिता का ओरियंटल सीरीज़ के लिए एक उल्लेखनीय अनुवाद भी प्रस्तुत किया ।

प्रो० ओल्देनबर्ग ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का शोध

कर ऋग्वेद पर उदाहरणसहित संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखीं। 'विनय-पिटक' पर भी इन्होंने प्रकाश डाला। 'सांख्यायन गृहसूत्रों' का भी इन्होंने सम्पादन किया। इसी प्रकार प्रो० ब्लूमफील्ड का भी अथर्ववेद का अनुवाद प्रशंसनीय कार्य है। सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् हिलेब्रैण्ट ने 'शिखायन श्रौत सूत्रों' के सम्पादन के अतिरिक्त तीन भागों में 'वैदिक मैथोलोजी' ग्रन्थ लिखा। सुप्रसिद्ध तत्वज्ञ एवं वैयाकरणी विद्वान् बोथलिंग ने 'बृहदारण्य' और 'छान्दोग्य' उपनिषदों का पाठशोध तथा उनका सम्पादन किया। उन्होंने 'अष्टाध्यायी' के सफल संपादन कार्य के अतिरिक्त हेमचन्द्र कृत 'अभिधान चिन्तामणि' का भी विशुद्ध संस्करण प्रस्तुत किया।

इसी प्रकार बौद्ध-साहित्य पर प्रकाश डालने वाले यूरोपीय पण्डितों में राइज डेविड्स, मारिस हार्डी, स्पेयर प्रभृति का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इन विद्वानों के अतिरिक्त अन्य भी कई प्रतिभावान् व्यक्ति हुए हैं जिनके महत्वपूर्ण कार्यों से भारतीय साहित्य का महान् उपकार हुआ है। भारतीय वाङ्मय पर प्रकाश डालने वाले सभी विदेशी पंडितों के प्रति हम हृदय से साभार अनुगृहीत हैं।

३३१६, करेलाबाग कालोनी,
इलाहाबाद

—वाचस्पति गैरोला

मकड़ी : प्रकृति का इंजीनियर

मकड़ी किस प्रकार रेशमी तारों का जाल बुनती है—यह सचमुच प्रकृति का एक महान् चमत्कार है। वह ऐसा जाला बुनती है कि कभी कभी उसमें चूहे और छोटे साँप तक भी फँस जाते हैं। धूप के दिनों में छोटी-छोटी मकड़ियाँ ऐसा आश्चर्य-कारक जाल बुनती हैं जिसे कि बैलून बनाना कहा जा सकता है। छोटी छोटी मकड़ियाँ घास के सिरों पर इस प्रकार रेशमी जाल बुनती हैं कि जब उसे हवा उड़ा ले जाती है तो वे अपने इस जाल में बैलून जैसे लटक जाती हैं और दूसरे स्थानों पर पहुँच जाती हैं। मकड़ियाँ इस प्रकार २०० फुट से १४,००० फुट तक ऊपर अपने इस बैलून में उड़ कर अन्य देशों में चली जाती है।

कई मकड़ियों में तेज़ ज़हर होता है। यह विष ज़हरीले साँप के विष से पन्द्रह गुना अधिक तेज़ होता है परन्तु यह विष मात्रा में इतना कम होता है कि इसका प्रभाव घातक नहीं होता। मकड़ी के कारण मनुष्य इस प्रकार के कृमियों से बच जाता है जो कि बहुत हानिकारक होते हैं।

'अमेरिकन मर्करी' के
एक लेख से

—लीसेस्टर हेमिंगवे

सम्पादक का कमरा

[लकड़ी की दीवारों का एक केबिन-रूम । बीच में एक बड़ी-सी मेज़ । मेज़ के चारों ओर ५ कुर्सियाँ । एक-एक कुर्सी सम्पादक के दाहिने और बाएँ अंग पर और एक जिस ओर वे स्वयं बैठे हैं । दो कुर्सियाँ सम्पादक के सामने की ओर एक बुक-स्टैण्ड जिसमें आधुनिक राजनीति और दो-तीन प्रकार के शब्दकोश की मोटी पुस्तकें लगी हैं । मेज़ पर एक बड़ा-सा शीशा बिछा है । एक क़लमदान सामने की ओर रक्खा है जिसमें दो क़लमें और एक लाल पेन्सिल रक्खी है । सम्पादक के दाहिने हाथ पर एक टेबिल बेल और उसके बग़ल में ही टेबिल-डायरी रक्खी है । शीशे के ऊपर कई एक काग़ज़ रक्खे है जो पेपर वेट से दबे हैं । मेज़ के नीचे एक वेस्ट-पेपर बास्केट रक्खी है । यवनिका के खुलने के कुछ समय बाद सम्पादक का प्रवेश होता है और कुर्सी पर बैठते ही घड़ी के बारह घंटे बजते हुए सुनाई देते हैं । सम्पादक की वेशभूषा एक कांग्रेसी नेता से मिलती-जुलती है । चेहरा मूँछों से रहित और चिकना । आँख पर डियुरेक्प, डिलेक्स स्टाइल का शानदार चश्मा । मुँह में पान । हाथ में घड़ी और उंगलियों के बीच जलती हुई सिगरेट ।]

सम्पादक : (घड़ी के घंटे बजने पर अपनी रिस्ट-वाच को देखते हैं । सिगरेट के दो-चार कश खींच कर उसे पास में रखे सिगरेटदान में फेंकते हैं और कुर्सी पर बैठ कर पेपर वेट से दबे हुए काग़ज़ों को कुछ क्षण पढ़ने के बाद घण्टी बजाते हैं और ओठों को दबा कर क्रोध की मुद्रा में कहते हैं) रामदीन तुमने घण्टी नहीं सुनी ?

रामदीन : (प्रवेश करता हुआ) कहिए हुकुम ।

सम्पादक : कहाँ चले जाते हो, घण्टी बजते ही उपस्थित हुआ करो । यह हुकुम क्या बला है ? दस बार समझाया यह हिन्दी का युग है, मेरे कमरे में हिन्दी के शब्द बोला करो, आज्ञा भूल गए क्या ?

रामदीन : (घबड़ा कर) आज्ञा, आज्ञा ।

सम्पादक : जाओ प्रेस से पारस को बुला लाओ ।

रामदीन : बहुत अच्छा (प्रस्थान करता है)

(सम्पादक लाल पेन्सिल लेकर उन काग़ज़ों पर कुछ सुधार करने में व्यस्त होते ही हैं कि एक नवयुवक कमरे में प्रवेश करता है । यह बुश-शर्ट और पैण्ट पहने है । प्रवेश करते ही सम्पादक को नमस्कार करता है और एक कुर्सी पर बैठ जाता है ।)

सम्पादक : कहिए, आपका परिचय ।

युवक : जी, मुझे रामरतन रत्नेश कहते हैं, मैं यहाँ विश्वविद्यालय का विद्यार्थी हूँ । वैसे मेरा अपना विषय तो फ़िलासफ़ी, मेरे कहने का मतलब है दर्शन है किन्तु हिन्दी के साहित्य से भी थोड़ी रुचि है, मैंने आपको एक कविता भेजी थी 'मेरे गीत प्रेयसी तुम गाना।'

सम्पादक : अच्छा अच्छा समझा, वह कविता आपको अभी वापस किए देता हूँ, खेद है कि हम उसका उपयोग नहीं कर सकेंगे ।

रत्नेश : (मुँह दबा कर) क्यों, उसको ज़रा ध्यान से पढ़िए, उसमें देखिए तो कितने ऊँचे विचार हैं ।

सम्पादक : (मेज़ की दरार को खींच कर एक लम्बे काग़ज़ के टुकड़े को निकालते हैं और रत्नेश के हाथ में दे कर) मुझे दुःख है कि हमारे पाठक इन विचारों का आनन्द नहीं ले सकेंगे ।

रत्नेश : (कविता को हाथ में लेकर) अच्छा तो फिर बताइए कि कैसी कविता आप चाहते हैं ?

सम्पादक : आप 'अमृत वाणी' के अंक पढ़ें, तो स्वयं ही जान जाएँगे कि हम क्या चाहते हैं ।

(पारस का प्रवेश, हाथ में कई एक प्रूफ़ के काग़ज़ लिए हुए)

सम्पादक : (पारस की ओर देख कर) पारस, तुम्हें काम करना है या नहीं ।

पारस : करना है साहब, क्या भूल हुई ?

सम्पादक भूल ? तुम लोग हमारी नाक कटवाने पर लगे हो । हम तो करेक्शन करते करते मरे जा रहे हैं और तुम उसे सुधारते ही नहीं । दूसरी रीडिंग के बाद यह हाल है कि १० त्रुटियाँ दिखाई दे रही हैं। जो भी पढ़ेगा वह हँसेगा और कहेगा कि सम्पादक को

शब्दों का ज्ञान ही नहीं है। मेरे निजी लेख की यह दुर्दशा!

पारस : साहब, हमने तो सब करेक्शन कर दिया है, प्रूफ़ रीडर साहब की कापी देखें।

सम्पादक : (मेज़ पर रक्खे काग़ज़ों को उलट-पलट कर) हाँ देखें तो, वाह वाह, वाह। ये हाल है प्रूफ़ रीडर का। सब गलतियाँ छोड़ दी हैं, हिन्दी के विशारद हैं जनाब, एक शब्द का ज्ञान नहीं। ज़रा-सा घसीट कर मैंने क्या लिख दिया कि वे शब्द ही नहीं पकड़ पाए। क्या कहूँ......।

पारस : [बीच में ही] हम तो कहते हैं साहब हमने सब करेक्शन कर दिया है। अब जब रीडरैं साहब छोड़ दें तो हम का करैं?

सम्पादक : [शब्दों को रगड़ कर व्यंग से] ठीक है, ठीक है आप तो बड़े उस्ताद हैं जनाब [प्रूफ़ कापी पर इशारा करके] यह कापी में 'कृपा' लिखा है, आपने 'क्रिपा' क्यों कम्पोज़ किया। कापी में लिखा है 'विषय' और आप कम्पोज़ करते हैं 'विशय' यह क्या बात है?

पारस : साहब केस में टाइप ही नहीं है। कृ नहीं थी मैंने क में इ की पाई लगा दी और साहब सुर्धन षा नहीं बचा, इस कापी में सैंकड़न मुर्धन लगा है अब हुज़ूर दो-तीन के लिए मैटर रोक दें यह कैसे ठीक है हम तालब शा लगाय दिया।

सम्पादक : सारी विद्वत्ता तो अब आप ही ने समेट ली है। हम लोग तो हैं मूर्ख। दस बार समझाया अपनी अकल मत घुसेड़ा करो लेकिन...। इसी से हिन्दी के पत्रों की सत्यानाशी है। कुपढ़, मूर्ख।

पारस : साहब, गलती हुई। लाइए ठीक कर दें।

सम्पादक : ठीक क्या करोगे? टाइप समाप्त हो गया था तो फ़ोरमैन से कहते, छोटे मैनेजर से कहते। अपनी पण्डिताई क्यों दिखाई?

पारस : (चुप खड़ा रहा)

सम्पादक : (प्रूफ़ की कापियाँ फेंकते हुए) जाओ ले जाओ, सब टाइप बदलो।

(पारस सब काग़ज़ों को बटोर कर अन्दर चला जाता है)

सम्पादक : (युवक रत्नेश की ओर देख कर) देखा आपने इन प्रेस के भूतों को! तीसरी रीडिंग में ऐसा प्रूफ़ मिलता है।

रत्नेश : सचमुच बड़ा अनर्थ करते हैं यह लोग, किन्तु क्या करिएगा ये तो प्रेस इण्डस्ट्री के अनोनार्षित अंग हैं।

सम्पादक : अनोनार्षित नहीं, अन्योन्याश्रित।

रत्नेश : जी हाँ, जी हाँ जी मेरा मतलब इसी शब्द से था, अच्छा तो अब मैं फिर मिलूँगा (कुर्सी से उठ कर खड़ा होता है) आज्ञा दीजिए (हाथ जोड़ कर) नमस्ते।

सम्पादक : नमस्ते।

(सम्पादक जी मेज़ पर रक्खे कुछ अन्य पत्रों को देखने लगते हैं और टेबिल बेल बजाते हैं।)

रामदीन : (प्रवेश करता हुआ) आज्ञा।

सम्पादक : देखो, रमेश वर्मा को बुलाओ। वे आ गए हैं ना।

रामदीन : हाँ सरकार वे तो प्रेस में मेकअप करा रहे हैं। अभी बुलाता हूँ

सम्पादक : अच्छा उन्हें रहने दो, दीक्षित जी हैं?

रामदीन : उनकी तो डियुटू रात की रही सरकार।

सम्पादक : अच्छा पाण्डेय जी तो होंगे।

रामदीन : हाँ वे हैं। अभी बुलाता हूँ [प्रस्थान करता है]

सम्पादक : [मेज़ के बुक स्टैण्ड से एक मोटी पुस्तक निकाल कर उसे पलटना शुरू करते हैं और इसी क्षण पाण्डेय जी का प्रवेश होता है।]

पाण्डेय जी : [सफ़ेद धोती और कत्थयी खद्दर के कुर्ते में] कहिए, अभी आप आ रहे हैं क्या?

सम्पादक : [कुर्सी की ओर इशारा करते हुए] बैठिए, क्या कहूँ बड़ी देर हो गई। आज वह एक साहित्य गोष्ठी थी ना, तो वहाँ निश्चित समय से ठीक एक घण्टे बाद कार्य शुरू हुआ। मिनिस्टर साहब किसी लक्ष्य पर थे, बिना उनके आए उद्घाटन हो ही नहीं सकता था। जब वे आ गए तो हमारे नगर के नेता लोगों ने दूध से धो-धो कर लम्बे-चौड़े चाटुकारिक भाषण देना शुरू किए। अकारण पौन घंटा और बीत गया और तब हुआ उद्घाटन और फिर उद्घाटन भाषण। मैं तो ऊब कर भाग रहा था किन्तु क्या कहूँ कांग्रेस महिला मण्डल की सरला देवी को, उन्होंने मुझे आने ही नहीं दिया। जैसे तैसे मैंने अपना स्वागत भाषण देने का अवसर पाया और वहाँ से भागते-भागते १२

बज गए। ख़ैर यह बताओ कि कितना मैटर तैयार कर लिया है।

पाण्डेय जी : मैटर तो ३ फार्म का मेकअप हो चुका है। दो फार्म में सेटिंग दे रहा हूँ। आपकी प्रतीक्षा थी। जरा यह बता दें की किन लेखकों की चीजें पूरे पेज पर डिस्प्ले होंगी। अभी तो सभी मैटर क्लोजअप कम्पोज है। और हाँ, अपना सम्पादकीय...

सम्पादक : सम्पादकीय तो लिख कर मैंने दे दिया है। राजनीतिक टिप्पणियाँ कुछ लिखनी हैं। उसी को जरा इस पुस्तक से (हाथ में ली हुई पुस्तक की ओर इशारा करके) टटोल कर लिख देना है। और हाँ यह डिस्प्ले वाली बात मैं क्या बताऊँ, इतने दिनों से आप सहायक सम्पादक का कार्य कर रहे हैं, स्वयं ही समझ बूझ कर सब काम कर लें। हाँ सरला देवी वाला लेख डबल कलर से छपेगा इसका ध्यान रहे।

पाण्डेय जी : ब्लाक लगेगा कोई ?

सम्पादक : हाँ हाँ क्यों नहीं, उनका ब्लाक तो प्रेस में है उसी को लगा दो।

पाण्डेयजी : वह तो बहुत पुराना है, उनकी जवानी के समय का।

सम्पादक : ठीक है स्त्रियों के चित्र युवाकाल के ही छपने चाहिए। वे इसी से प्रसन्न रहती हैं (कुछ मुस्करा कर) जानते तो हैं हमारे व्यवस्थापकों की आर्थिक नीति को। वे इन सब बातों में पैसा खर्च करना पाप समझते हैं।

पाण्डेय जी : (सर हिला कर) ठीक है, हम लोग कर ही क्या सकते हैं और हिन्दी वाले स्वतन्त्र पत्रकारिता का मजा जानते भी नहीं।

सम्पादक : यह बात नहीं है। आज का हिन्दी का पाठक केवल हिन्दी के पत्रों का पाठक नहीं है वह कितनी ही अन्य भाषाओं के पत्रों का अवलोकन करता है। और जिस रूप-सज्जा और गठन से विदेशी पत्र पाता है, हमारा पाठक वैसी ही अपेक्षा हमसे भी रखता है लेकिन ख़ैर...। आपको मालूम है हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक संख्या अधिक न होने का कारण एक यह भी है ?

पाण्डेय जी : सब समझता हूँ कभी दिन पलटेंगे। अच्छा तो मैं अब आगे के दो फ़र्मे ठीक कराने जा रहा हूँ। आप अपनी सम्पादकीय टिप्पणियाँ शीघ्र ही लिख कर दें।

[पाण्डेय जी उठ कर अन्दर चले जाते हैं और मंच पर दूसरी ओर से एक प्रौढ़ लेखक महोदय पदार्पण करते हैं।]

सम्पादक : (अपनी कलम निकाल कर कुछ किताब में चिन्ह लगाने को होते ही हैं कि उनकी दृष्टि इन लेखक महोदय पर पड़ती है। कलम को मेज पर रख कर) आइए आइए करुणेश जी।

करुणेश जी : (हाथ जोड़ कर) नमस्ते।

सम्पादक : नमस्ते, कहिए क्या समाचार है ?

करुणेशजी : समाचार तो सम्पादक के पास ही रहते हैं।

सम्पादक : क्या लिख पढ़ रहे हैं ? आपका एक लेख तो आया है।

करुणेश जी : मैं उसी के लिए आया था, क्या आप उसे इस अंक में प्रकाशित कर रहे हैं।

सम्पादक : नहीं, इस अंक में तो नहीं, हाँ इस मास के चौथे सप्ताह वाले अंक में अवश्य निकल जायगा।

करुणेश जी : इतनी देर बाद ? कैसे काम चलेगा, मैं तो समझता था कि...।

सम्पादक : देर की कोई बात नहीं, मेरे पास साल भर के स्वीकृत लेख पड़े हैं किन्तु उनके प्रकाशन का अवसर ही नहीं आता।

करुणेश जी : तो आपने मुझे उन लेखकों में समझ रक्खा है।

सम्पादक : (सिगरेट की डिब्बी को जेब से निकालते हुए, उनकी ओर बढ़ा कर) रोष करने की बात नहीं है करुणेश जी (दिया—सलाई जलाकर) लीजिए सिगरेट जला लीजिए, हाँ मुझे तो स्वयं चिन्ता रहती है। हमारे पत्र के बहुत से सम्मानित लेखक हैं, मुझे सभी का ध्यान रखना पड़ता है।

करुणेश जी : सिगरेट का कश खींचते हुए) अच्छा तो ठीक है, मुझे अब जाने दीजिए और हाँ चौथे सप्ताह से आगे वह लेख न जाने पाए अच्छा, (उठकर खड़े होते हैं) नमस्ते।

सम्पादक : इतनी जल्दी ! बैठिएगा नहीं कुछ देर!

करुणेश जी : नहीं, कुछ बहुत से काम हैं।

सम्पादक : नमस्ते।

(सम्पादक सामने की खुली पुस्तक को बंद कर बुक-स्टैण्ड में लगाते हैं और दराज़ से कुछ सफ़ेद कागज़ निकाल कर लिखना शुरू करते हैं। इसी क्षण दो नवआगन्तुक दिखाई देते हैं। एक सफ़ेद कमीज़ और फुल पैन्ट में और दूसरा तन्ज़ेबी कुर्ते और जेम्स फिन्ले की बारीक धोती में। दोनों ही साथ-साथ हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं और सम्पादक के सामने वाली कुर्सियों पर बैठ जाते हैं)

सम्पादक : (कलम रख कर) कहिए आप लोगों का आना कैसे हुआ ? आपका परिचय।

एक : (अपनी कमीज़ की जेब से एक डायरी निकालते हुए) मुझे दलीप कुमार 'दीपक' कहते हैं और आप हैं मेरे मित्र भयंकर जासूस के ख्याति प्राप्त लेखक श्री प्रेम शंकर 'लकड़बग्घा।'

(लकड़ बग्घा जी हाथ जोड़ कर सम्पादक जी को नमस्ते करते हैं और अपने चेहरे पर मन्द मन्द मुस्कान बिखेरते हैं)

सम्पादक : नमस्ते, कहिए लकड़बग्घा जी मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।

लकबग्घा जी : जी, मैं केवल दर्शनार्थ चला आया आप तो जानते हैं कि मुझे जासूसी प्रकाशकों से ही फ़ुरसत नहीं मिलती, फिर भी चूँकि मैं आपके पत्र को सम्मान देता हूँ, इसलिए एक छोटी सी कहानी आपके पास भेजी थी। नाम था उसका 'ख़ूनी सुन्दरी' वह बिलकुल नई टेक्निक से लिखी गई है। हिन्दी साहित्य को बिल्कुल नई देन है। आपने तो पढ़ी होगी।

सम्पादक : जी नहीं, मैंने उसे नहीं पढ़ा। मुझे ऐसी सुन्दरियों से भय लगता है फलतः इन्हें मैं अपने पाठकों तक भी नहीं भेजता। आपकी कृपा के लिए आपको धन्यवाद। कहानी डाक से वापस भेज दी जायगी।

लकड़बग्घा जी : (दीपक की ओर देख कर) देखा आपने ये साहित्य के ठेकेदार बनने वाले सम्पादक कितनी नीची दृष्टि से हम लोगों को देखते हैं। मैं तो जानता था। तुम्हारी ही ज़िद से मैंने यहाँ कहानी भेजी और तुम्हारे ही कहने से मैं यहाँ आ……।

सम्पादक : लकड़बग्घा जी क्रोधित मत होइए (टेबिल-बेल बजा कर) प्रत्येक पत्र का अपना अपना सिद्धान्त होता है। (घंटी बजने पर रामदीन आता है और उससे तीन प्याली चाय लाने की आज्ञा देतें हैं) मैं कभी भी किसी का तिरस्कार नहीं कर सकता। लकड़-बग्घा जी आप क्षमा करें।

लकड़बग्घा जी : मैं आपको दोष नहीं दे रहा हूँ, मैं तो दीपक जी से कह रहा हूँ

दीपक जी : क्या दीपक जी से कह रहे हो (चेहरे पर मुस्कान बखेर कर) तुम तो यहाँ भी अपना पंजा मारने लगे। यह कोई काफ़ी हाऊज़ है क्या जो...

लकड़बग्घा जी : अच्छा भाई शान्ति शान्ति शान्ति।

सम्पादक : हाँ दीपक जी आप कहिए।

लकड़बाग्घा जी : बीच में (बोलकर) सम्पादक जी इनसे आप इस समय कुछ कविताएँ सुनिए। इतने सुन्दर प्रयोग किए हैं बस, आप वाह वाह कर उठेंगे।

सम्पादक : (लकड़बग्घा जी की ओर देख कर) आप तो अजीब फुलझड़ी हैं। बिना संकोच झड़ने लगते हैं।

लकड़बग्घा जी : तो क्या हुआ, कोई मैं नया नवेला लड़का हूँ ? संकोच की क्या बात है। हाँ (दीपक की ओर देख कर) दीपक जी सुनाइए दो चार सम्पादक जी को अपनी नवीन कविताएँ।

दीपक : (डायरी के पन्ने कुछ देर पलटने के बाद पढ़ना शुरू करता है और सम्पादक उन दोनों का मुँह ही ताकने लगते हैं)

कनाट प्लेस का गोल बाज़ार
नीले आकाश का घेरा है
बिजली के लट्टू यों बिखरे हुए जलते हैं
मानो धरती पर आकाश गंगा उतर आई है

लकड़बग्घा जी : (बीच में सर हिला कर) वाह बहुत अच्छे।

दीपक : (कुछ और तल्लीन होकर)

मोटर की लाईट जब इधर उधर चलती है
नभ की निहारिकाएँ सुप्त पड़ जाती हैं

लकड़बग्घा जी : (हाथों को उठा कर) नभ की निहारिकाएँ, वाह क्या अनुप्रास है। बिलकुल नई चीज प्रयोगवाद में अनुप्रास। दीपक जी ज़रा अपनी 'जुहू की लहरें' तो सुनाइए।

दीपक : जुहू की लहरें! वह तो बम्बई का स्वप्न है। अच्छा तो सुनिए, उसे भी सुनिए। (गा कर)

"जुहू के तट पर
लहरें यों उठती हैं
जैसे किसी षोडशी में
प्रेम लहराता है
नारियल का बड़ा पेड़ द्रवित हो जाता जब
चुपके से हृदय रूप डाब टपकाता है"

लकड़बग्घा जी : वाह, क्या प्रकृति का प्रेम दर्शाया है, बिलकुल छायावाद! आधुनिकतम छायावाद!! प्रगतिशील छायावाद!!!

[सम्पादक जी क्रोध और साथ ही मन्द हँसी की मुद्रा में। इसी समय चाय की ट्रे रामदीन लेकर आता है और सम्पादक जी लम्बी साँस छोड़ते हैं।]

सम्पादक : (खड़े होकर) बस, बस दीपक जी अधिक प्रेम की आग मत लगाइए। देखिए चाय आ गई अब इसे पीजिए और...

दीपक : और चलूँ यहाँ से, कोई बात नहीं!

सम्पादक : नहीं मेरा मतलब यह नहीं था, बात यह है कि यह मेरा कार्यालय है, यह स्थान कविता पाठ......

दीपक : ऑल राइट! समझ गया, अच्छा भाई लकड़बग्घा बनाओ तो फिर चाय (पैन्ट की जेब से कैप्सटन का डिब्बा निकाल कर सम्पादक के सामने रखता है। सम्पादक जी एक सिगरेट निकाल लेते हैं। फिर लकड़बग्घा के सामने डिब्बा ले जाता है। वे भी सिगरेट निकाल लेते हैं और अपने ओंठों में दाब लेते हैं। डिब्बे को बन्द कर दूसरी जेब में हाथ डाल कर दियासलाई निकालता है। खोलने पर वह खाली निकलती है। वह उसे फ़र्श पर फेंकता है और बोलता है) वेरी सारी, डियर एडिटर।

सम्पादक : (अपनी जेब से दियासलाई निकाल कर तुरन्त जलाते हैं) कोई बात नहीं। (वे अपनी और उन दोनों की सिगरेट जलाते हैं।)

[चाय बन कर तैयार हो चुकी है। लकड़बग्घा जी चाय की प्यालियाँ सम्पादक जी और दीपक के सामने रखते हैं।]

दीपक : (चाय की चुस्की लेते हुए) गुड फ्लेवर। सम्पादक जी! आपको मेरी कविता पसन्द तो आई होगी।

सम्पादक : (अनमने रूप से) हाँ...आँ, अच्छी है।

दीपक : शायद आपको पसन्द नहीं आई। कोई बात नहीं।

लकड़बग्घा जी : भई यह कोई जरूरी थोड़ी है कि आपकी यह शैली सबको पसन्द ही आए।

सम्पादक : दीपक जी आप अपनी कविता लिख कर दे जाइए मैं विचार करूँगा।

दीपक : वाह, आपने मेरा सम्मान कर लिया। लीजिए यह (अपनी जेब से एक कागज निकाल कर) प्रतिलिपि मेरे पास तैयार है।

लकड़बग्घा जी : (कुर्सी से खड़े होकर) ट्र इन्टेलीजेन्ट दीपक! हाँ, दे दो कविता, तुम तो बिलकुल रेडीमेड निकले।

[दीपक हँसता है और सम्पादक जी उस कागज को हाथ में लेकर नमस्ते करते हैं। दीपक और लकड़बग्घा जी दोनों ही पहले सम्पादक को देखते हैं फिर एक दूसरे को देखते हैं और फिर एक साथ सम्पादक को नमस्कार करके चल देते हैं।]

सम्पादक : (कुर्सी पर बैठ कर उन दोनों साहित्याचार्यों को घूर कर देखते रहते हैं और जैसे ही वे कमरे के बाहर होते हैं वे मेज़ पर दोनों हाथ पटक कर बोलते हैं) ऐसे ऐसे लकड़बग्घे और तेंदुए आ जाते हैं कि अपना काम ही नहीं होने पाता। विकट जीव... बिलकुल लकड़बग्घा।

[सम्पादक अपनी कलम उठा कर फिर लिखना शुरू करते हैं कुछ देर लिखने के बाद घंटी बजाते हैं।]

रामदीन : (प्रवेश करता हुआ) आज्ञा सरकार!

सम्पादक : देखो इस समय मैं बहुत ज़रूरी काम कर रहा हूँ। अब कोई मिलने आए तो कह देना कि वे फिर किसी दिन आएँ।

रामदीन : बहुत अच्छा सरकार (कमरे के बाहर जाता है)

[सम्पादक आँखों से चश्मा उतार कर अपने चेहरे पर हाथ फेरते हैं फिर चश्मे को लगा कर बाएँ हाथ मे अपना सर खुजलाते हैं और कलम उठा कर लिखना प्रारम्भ ही करते हैं कि नेपथ्य से उन्हें एक महिला की आवाज़ सुनाई देती है और साथ ही रामदीन का स्वर भी—मैं सम्पादक जी से मिलना चाहती हूँ।— लेकिन मुझे नहीं आज का टाइम खतम हो गया है।— लेकिन मुझे ज़रूरी काम है।—ज़रूरी काम तो आो भी कर रहे हैं।

आप कल आवें।—कल तो रविवार है।—तो परसों आवें।—कैसी बात करते हो? अन्दर जाकर कहो कि रजनीबाला आई हैं।

सम्पादक : (केवल अपने होठ चला कर रजनी बाला कहते हुए अपनी दृष्टि ऊपर उठाते हैं। घण्टी को बजा कर) रामदीन!

[नेपथ्य से—हाँ सरकार]

सम्पादक : आने दो, रजनीबाला जी को।

[तत्क्षण रजनीबाला का प्रवेश। सफ़ेद वायल की बढ़िया धोती। उल्टा पल्ला। दो चोटियाँ, एक आगे और एक पीठ पर। हाथों में दो-रंगी चूड़ियाँ। बायाँ हाथ वक्ष से लगा, जिसमें तीन मोटी मोटी किताबें। पैरों में ऊँची एड़ी की सैण्डल। गौर वर्ण। चाल में मस्ती]

सम्पादक : [कुर्सियों की ओर इशारा करके] आइए बैठिए।

रजनीबाला : [हाथ जोड़ कर] नमस्ते।

सम्पादक : नमस्ते। कहिए कैसे कष्ट किया।

रजनीबाला : [कुर्सी पर बैठते हुए] आपको धन्यवाद देने चली आई। आपने मेरी कविता सचमुच बड़े अच्छे ढंग से प्रकाशित की।

सम्पादक : कोई बात नहीं, उससे तो मेरे पत्र का ही गौरव बढ़ा है।

रजनीबाला : (कृतज्ञ मुद्रा में मुस्कराहट के साथ पुस्तकों को मेज़ पर रखते हुए) यह मेरा पहला काव्य संग्रह छपा है (पुस्तक को सम्पादक के हाथ में देकर) वह जो कविता आपने प्रकाशित की है न, वह इसमें संकलित है।

सम्पादक : (पुस्तक को हाथ में ले आवरण पृष्ठ को ध्यान से देख कर) 'शब्द-माला...अच्छा नाम है। कवर भी बढ़िया छपा है।

रजनीबाला : हाँ, अब जैसा कुछ बन पड़ा है अपना ही प्रयास है। आप तो जानते हैं आजकल कविता संग्रह के प्रकाशक ढूँढ़ना कितना कठिन है। पुस्तक मैंने स्वयं प्रकाशित की है।

सम्पादक : अच्छा प्रकाशन बन पड़ा है। आज कल तो बेचारे सभी कवि अपने प्रकाशक बनने को विवश होते दिखाई देते हैं।

रजनीबाला : यह एक बड़ी भारी समस्या है। आप तो जानते है साहित्यकारों की मित्र-मण्डली का हाल अभी पूरी प्रतियाँ छप कर घर पर आ नहीं पाई हैं और डेढ़ सौ बट चुकी हैं।

सम्पादक : चिन्ताजनक बात है।

रजनीबाला : और फिर जिसे भी न दीजिए वही गाल फुलाने को तैयार है। आलोचना, कटु आलोचना प्रकाशित करवाने का मार्ग ढूँढ़ता है।

सम्पादक : आलोचना की चिन्ता कवियों को नहीं करनी चाहिए। आलोचकों का आपको आवाहन करना चाहिए।

रजनीबाला : मैं आलोचना से नहीं डरती, किन्तु देखती यह हूँ कि पुस्तकें यदि नहीं बंटी तो लोग उसकी चर्चा भी नहीं करते। मैं आपको यह दो प्रतियाँ समालोचनार्थ दे रही हूँ और यह एक प्रति (तीनों पुस्तकों को सम्पादक की रख कर) आपको मेरी निजी भेंट है।

सम्पादक : धन्यवाद। आपकी पुस्तक की समीक्षा जल्दी ही प्रकाशित करवाऊँगा।

रजनीबाला : ज़रा अच्छे ढंग से निकलवाइएगा!

सम्पादक : बहुत बढ़िया, आप चिन्ता न करें। आजकल आप और क्या लिख रही हैं?

रजनीबाला : कुछ एकांकी लिखने प्रारम्भ किए हैं।

सम्पादक : एकांकी! बड़ी अच्छी बात है। महिलाओं के प्रयास इस ओर कम ही दिखाई दिए हैं। अच्छा क्षेत्र है।

रजनीबाला : देखिए सफलता मिलती है या नहीं। अच्छा तो अब मैं चलूँगी।

सम्पादक : कुछ चाय-पानी मंगाऊ?

रजनीबाला : नहीं, बड़ी कृपा है। आप इन पुस्तकों की आलोचना........

सम्पादक : हाँ, हाँ बहुत जल्दी।

रजनीबाला : [कुर्सी से उठ कर] अच्छा तो नमस्ते।

सम्पादक : नमस्ते।

[रजनीबाला का प्रसन्न मुद्रा में प्रस्थान]

सम्पादक : [घण्टी बजा कर अंगड़ाई लेते हुए स्वतः] किसका सम्मान किया जाए और किसका नहीं।

रामदीन (कमरे में प्रवेश करता हुआ) आज्ञा सरकार।

सम्पादक : देखो महिलाओं को कुछ विशेष छूट दिया करो।

रामदीन : सरकार तबियत तो कुछ हमारी भी रही, लेकिन फिर सरकार का हुकुम।

सम्पादक : (तिउरी चढ़ा कर) फिर हुकुम, हज़ार बार रटाया......।

रामदीन : (घबड़ा कर) आज्ञा, आज्ञा, आज्ञा।

सम्पादक : हाँ आज्ञा, तबियतदार साहब (व्यंगमय शब्द)

रामदीन : (जीभ निकाल कर कान खजुआता है। कुछ कहने का प्रयास करता है, फिर एकदम से पलट कर बाहर चल देता है।)

सम्पादक : (अपनी कलम को उठा कर फिर लिखना शुरू करते हुए) आज सम्पादकीय शिव का त्रिशूल ही आकर लिखे तो शायद पूरा हो जाए।

[कमरे में सहायक सम्पादक पाण्डेय जी का प्रवेश]

पाण्डेय जी : (कुर्सी के निकट आ कर) कहिए सम्पादकीय लिखा गया?

सम्पादक : चार पंक्ति भी नहीं लिख पाया। यह कार्यालय नहीं है शहर का चौराहा है। यहाँ तो हर दिशा का आदमी आता है और सभी को सिगनल देना पड़ता है।

पाण्डेय जी : (कुर्सी पर बैठते हुए) सचमुच सम्पादक की कुर्सी काँटों भरी सेज है।

सम्पादक : जी हाँ, जो आया वही विद्वान्, गुणवान, अन्जान पर अपना मेहमान और क्या कहूँ... कुछ एक तो ऐसे आते हैं जो जल्दी हटने का नाम नहीं लेते।

पाण्डेय जी : ऐसा भासित हो रहा है, यह अंक देर से निकलेगा। अभी पुस्तक समालोचनाएँ भी नहीं मिली हैं।

रामदीन : (प्रवेश करता हुआ) सरकार, डा० परमवीर सारथी आए हैं।

सम्पादक : (पाण्डेय जी की ओर देख कर) लीजिए आपकी समालोचनाएँ तो आ गईं (रामदीन से) भेजो, भेजो उन्हें।

[डा० परमवीर सारथी का प्रवेश। बन्द गले का कोट। अलीगढ़ी पायजामा। पैरों में काश्मीरी चप्पलें। आँखों पर धूप का चश्मा। रंग साँवला। इकहरा बदन। हाथ में कुछ किताबें और कागज़।]

डा० सारथी : (कुर्सी के निकट पहुँच कर) मैंने कहा नमस्ते (कुर्सी पर बैठते हैं)।

सम्पादक : नमस्ते, नमस्ते। इस बार तो आपने पर्याप्त देर कर दी। "अमृतवाणी" का अंक विलम्बित हो रहा है।

डा० सारथी : (हाथ के कागज़ों को पाण्डेय जी के हाथ में देते हुए) लीजिए अब छुन कर लीजिए (हँसते हैं) बात यह हुई कि यह पुस्तक (हाथ की पुस्तक दिखाते हुए) "चाँद का आठवाँ सवार" मेरी मेज़ से मेरे एक मित्र उठा ले गए और मुझे ज़रा कम के इस पुस्तक की आलोचना करनी थी, आज प्रातः यह पुनः हाथ में आई और मैं समालोचना लिख कर ले आया।

सम्पादक : कैसी है यह पुस्तक?

डा० सारथी : अजी कुछ नहीं (मुँह बिचका कर) लेखक ने वैज्ञानिकों की चाँद-यात्रा योजना को कथा की पृष्ठभूमि में रख कर एक रोमांटिक उपन्यास लिख मारा है। उपन्यास घटनाओं से भरा पूरा है। कहीं पर विचार और चिन्तन का नाम नहीं।

सम्पादक : वाह, वाह, वाह!...लेकिन एक बात तो पक्की है, लेखक का यह उपन्यास बिक जाएगा।

डा० सारथी : क्यों?

सम्पादक : अनुभव की बात कहता हूँ। जिन रोमांटिक उपन्यासों की, रोमान्स के कारण कटु आलोचना होती है वे उपन्यास खूब पढ़े जाते हैं।

डा० सारथी : बात तो पते की है (उन्मत होकर) बिके अच्छा है, मुझे किसी लेखक के हाथ से कलम थोड़े ही छीननी है। हाँ, एक बात कहूँगा, ऐसा साहित्य स्थायी नहीं होता।

[प्रेस का घण्टा टन् टन् करके पांच बार बजता है]

सम्पादक : (चौंक कर) अरे पांच बज गए।

डा० सारथी : क्यों क्या हुआ?

सम्पादक : सुबह से बैठा हूँ सम्पादकीय लिखने। पांच घण्टे बीत गए और पांच पंक्ति भी नहीं लिख पाया।

डा० सारथी : अच्छा मैं अब चलूँ, आप सम्पादकीय लिखिए। (चलने को उद्यत होते हैं)

सम्पादक : एक मिनट रुकिए। मैं भी चलता हूँ अब सम्पादकीय घर पर ही लिखने का प्रयास किया

जाएगा।

डा० सारथी : (कुर्सी पर पुनः जमते हुए) वस्तुतः यह घर पर ही बैठ कर लिखने की चीज़ है।

सम्पादक : मालूम होता है आपकी पत्नी अधिकतर मायके में रहती हैं। (डा० सारथी, पाण्डेय जी और सम्पादक तीनों ही हँसते हैं।)

रामदीन : [हाथ में १०, १५ पत्र और ३, ४ पैकट लिए हुए प्रवेश करता हुआ] सरकार डाक आई है।

सम्पादक : लाओ, इसी की तो प्रतीक्षा में था।

पाण्डेय जी : (पत्रों को हाथ में लेते हुए सम्पादक से) मैं तो समझता हूँ राजनीतिक टिप्पणियाँ अब न देकर दो चार बढ़िया पत्र सम्पादक के पृष्ठ पर छाप दिए जाएँ।

सम्पादक : ठीक, ठीक (सर हिला कर) बहुत ठीक। पढ़िए दो-चार पत्र (डा० सारथी की ओर देख कर) डा० साहब आप भी अपनी राय दीजिएगा।

(डा० सारथी स्वीकार बोधक सर हिला देते हैं)

पाण्डेय जी : (लिफ़ाफ़ों को फाड़ कर पत्र पढ़ते हैं) परम आदरणीय प्रातः स्मरणीय महामना सम्पादक जी, मैं एक नया लेखक हूँ। साहित्य की विस्तृत फुलवारी में इस बिखरे को फूलने-फलने का अवसर यदि आपके पत्र के द्वारा मिला तो यह आजीवन आपका ऋणी रहेगा। पत्र के साथ में एक कविता भेज रहा हूँ। मुझे पारिश्रमिक मिले या न मिले, मुझे चिन्ता नहीं है। मैं तो एक साहित्य सेवी हूँ और आजीवन साहित्य सेवा करना चाहता हूँ। आशा है......

सम्पादक : (बीच में ही बोल कर) अच्छा समझ गया। आप ज़रा दूसरा पत्र पढ़ो।

पाण्डेय जी : (दूसरा पत्र खोल कर) प्रिय महोदय, खेद की बात है कि आपने मेरी कहानी का पारिश्रमिक अभी तक नहीं भेजा और न मेरे पत्र का उत्तर ही दिया है। आपको विदित होना चाहिए कि मैं कोई नया लेखक नहीं हूँ। पिछले २ वर्षों से अनेकों पत्रों में लिख रहा हूँ। मेरे अब तक ५ लेख प्रकाशित हो चुके हैं। एक सप्ताह के अन्दर यदि मुझे रुपया नहीं प्राप्त हो गया तो मैं कानूनी कार्यवाई करने को विवश हो जाऊँगा।

सम्पादक : (ओठ और आँखों को निकाल कर) उँह हूँ......यह तो कोई दूसरा लकड़ बग्घा दिखाई देता है। बन्द करो इसे भी......

डा० सारथी : (व्यंग से) संपादक साहब आप तो पुराने लेखकों की भी क़दर नहीं करते (हँसते हुए) सचमुच बड़ी बुरी बात है। २ साल अर्थात् २४ महीने से वे लिख रहे हैं और आप उन्हें अब भी नया लेखक मानते हैं। कम से कम ५ लेखों के लेखक के नाते तो उनका सम्मान कर लिया होता।

सम्पादक : (हँस कर) क्यों नहीं। उनका बड़प्पन तो उनके पत्र से ही टपक रहा है। (पाण्डेय जी की ओर देख कर) हाँ भाई दो-चार पत्र और पढ़ो।

पाण्डेय जी : (तीसरा पत्र हाथ में लेकर) आदरणीय सम्पादक महोदय, आपका होली विशेषांक पढ़ा। इस अंक की सामग्री बहुत ही उच्च कोटि की दिखाई दी। पिछले ४, ५ महीने से 'अमृत वाणी' में जो सराहनीय परिवर्तन देखने में आए वे पत्रकारिता के इतिहास में एक नया मोड़ दे रहे हैं। आपने जिन सारगर्भित लेखों को विज्ञ समाज के समक्ष प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया है वे हिन्दी साहित्य के स्थायी निबन्ध होंगे, इसमें कोई भी अतिशयोक्ति नहीं। वस्तुतः आपकी पत्रिका अतिशयोपमा है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार......

सम्पादक : (फूलते हुए) वाह, वाह। यह पत्र आया है काम का। इसे अलग रक्खो। यह एंटिक टाइप में......

डा० सारथी : मोटे काले टाइप में? नहीं सम्पादक की गम्भीरता नष्ट होने का भय है। इसे......

सम्पादक : ठीक, ठीक, ठीक। मानता हूँ आपकी सम्मति। श्रीमान् को इसीलिए तो साथ रखना चाहता हूँ। (पाण्डेय जी की ओर देख कर) पाण्डेय जी इसे साधारण टाइप में दे देना। हाँ, आगे और पत्र पढ़िए।

डा० सारथी : (एकदम से खड़े होकर) अब मुझे चलने दीजिए। देर हो रही है।

सम्पादक : (उँगली दिखा कर) एक मिनट और रुकें बस......

[इसी क्षण कमरे में बिलकुल अंधेरा हो जाता है।

सारी बिजली फ़ेल हो जाती है। अँधेरे में ही ज़ोर से सुनाई देता है—यह क्या भाई यह अंधेरा क्यों ?—फ्यूज़ जल गया है। प्रेस में पावर लोड बढ़ गया।—अरे बाप रे पाण्डेय जी चलो यहाँ से जल्दी निकलें।

बिजली का मामला है। अब "अमृतवाणी" क आकर सजाऊँगा। चलो...चलो...चलो। बिज फिर जल उठती है और मंच पर कोई दिख नहीं देता।]

[परदा गिरता है]

६५ चक,
इलाहाबाद

—कैलाश कलि

असाधारण ध्यान-शक्ति

जितने भी महान् पुरुष या महान् महिलाएँ होती हैं उनकी ध्यान शक्ति असाधारण रूप से विकसित होती है।

जेन ऑस्टिन अंग्रेज़ी की प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका हैं। उनके विषय में कहा जाता है कि उनके ड्राइंग रूम में शोर-गुल और बातचीत होती रहती थी और ऐसी अवस्था में ही उन्होंने अपने श्रेष्ठ उपन्यासों को लिखा।

डी. एच. लौरेन्स से एक बार उनका एक मित्र मिलने के लिए गया। उसने देखा कि वे मेज़ के एक कोने पर बैठे हुए लिख रहे हैं जब कि उनके अतिथि उसी मेज़ पर उन्हीं के द्वारा पकाए हुए भोजन का आनन्द उठा रहे हैं।

थिओडोर रूज़वेल्ट एक चुनाव के समय अपनी होटल में पहुँचे और एक दम अपने कमरे में चले गए। होटल के बाहर भीड़ जमा हो गई और बार बार उच्च स्वर से पुकारने लगी : "हम टैडी (थिओडोर रूज़वेल्ट) के दर्शन चाहते हैं। परन्तु इसका कुछ भी परिणाम नहीं हुआ। उनके सैक्रेटरी ने देखा कि थिओडोर रूज़वेल्ट एक इतिहास की पुस्तक को पढ़ने में सब कुछ भूल गए हैं और उन्हें भीड़ का कुछ पता नहीं है।

नैपोलियन बोनापार्ट कहा करते थे कि उनके मन में कई दराज़ हैं। वे एक समय में एक दराज़ को खोलते थे और कार्य पूरा होने के पश्चात् फिर वे दूसरी दराज़ को खोलते थे।

'साइकौलोजिस्ट मेगज़ीन' से —विक्टर डायमंड

मेरे पत्रकारिता के अनुभव

शैशव : यह भी तो आकस्मिक घटना ही है कि जिस वर्ष मेरे पिता जी ने साप्ताहिक "सद्धर्म प्रचारक" पत्र का सम्पादन और प्रकाशन प्रारम्भ किया, उसी वर्ष मेरा जन्म हुआ, परन्तु शायद बचपन से ही मेरे मन में पत्रकार बनने की धुन होने का मुख्य कारण यही हो। मेरे अग्रज भाई हरिश्चन्द्र जी मुझ से दो वर्ष बड़े थे। घर से एक साप्ताहिक पत्र निकलने का संस्कार उनके मन पर पड़ ही रहा था। परिणाम यह हुआ कि जब हम दोनों भाई कुछ पढ़ने लिखने लगे तो हमने जो पहला सहोद्योग किया वह एक छोटे से हस्तलिखित पत्र के रूप में था, जिसका नाम "सत्य प्रकाशक" या "सत्य विचारक" रखा गया था। घर में बड़ी बहनों के लिए "सरस्वती" आया करती थी। उन दिनों की 'सरस्वती' नवागता वधू की तरह सब की लाडली और आकर्षक होती थी। हम दोनों भाई इकट्ठे बैठ कर उसके सुन्दर चित्र देखा करते और कहानियाँ पढ़ा करते थे। हमारे सहोद्योग से तैयार होने वाले उस हस्तलिखित असामयिक पत्र पर 'सद्धर्म प्रचारक' और 'सरस्वती' दोनों की छाया होती थी। हम दोनों ही उसके लेखक, सम्पादक तथा प्रकाशक थे, और दोनों ही पाठक थे। तीसरा कोई व्यक्ति हमारे रहस्य का जानकार नहीं था। वह सहोद्योग कितने दिनों चला, यह याद नहीं। जब अवसर मिल जाता तब प्रेस से कुछ कोरे काग़ज़ उड़ा लाते थे, और स्कूल से बचे हुए समय में लेख लिख लेते थे। उन दिनों पिता जी जालन्धर में वकालत करते थे। हम लोग द्वाबा हाई स्कूल में शिक्षा पाते थे। मेरी आयु ७ वर्ष की होगी और हरिश्चन्द्र जी की ६ वर्ष की। यह मेरा पत्रकारिता का पहला अनुभव था।

दोनों भाइयों का यह सहोद्योग बहुत समय तक नहीं चल सका। हम दोनों गुरुकुली शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुजरांवाला भेज दिए गए, जहाँ वातावरण और शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन के कारण पुराने सब सिलसिले और शौक़ टूट गए। गुरुकुल में हम दोनों संस्कृत वाङ्मय में डुबकी लगाने लगे।

छात्रावास : लगभग सात वर्ष कठोर विद्याध्ययन में व्यतीत हो गए। उन वर्षों में हम दोनों भाइयों का साहित्यिक विकास लगभग एक ही ढंग पर होता रहा। प्रारंभिक चार वर्ष केवल संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन में व्यतीत किए। उन वर्षों के साहित्यिक अवशेष मेरे पास संस्कृत श्लोकों के रूप में विद्यमान हैं। पुराने काग़ज़ों, कापियों और फाइलों को सम्हाल कर रखने की मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। संस्कृत-अध्ययन के उन प्रारंभिक वर्षों में मैंने और भाई हरिश्चन्द्र जी ने जो संस्कृत श्लोक बनाए, वे प्रायः सभी मेरे पास सुरक्षित हैं। उनका काफी बड़ा बस्ता बन गया है। उनमें से बहुत-से श्लोक छपे भी थे, शेष अनछपे पड़े हैं। वे छपने लायक हैं भी नहीं, क्योंकि उन्हें पढ़ेगा कौन? बस, मैं ही कभी-कभी पढ़ लेता हूँ और आनन्द ले लेता हूँ।

पाँच वर्ष की निरन्तर संस्कृत-शिक्षा के पश्चात् हम लोगों ने आधुनिक विषयों का अध्ययन प्रारम्भ किया। गणित, अंग्रेज़ी, इतिहास और विज्ञान सभी विषयों की शिक्षा मिलने लगी। उससे हमारे नए साहित्यिक जीवन का उद्भव हुआ। जब हम दोनों भाई गुरुकुल की नवीं श्रेणी में पढ़ते थे, तब हमारे अन्दर वही पुरानी पत्रकारिता की भावना फिर से उत्पन्न हो गई। हम दोनों अलग-अलग हस्तलिखित मासिक पत्र निकालने लगे। कार्य तो एक-सा ही था, परन्तु शायद आयु बढ़ जाने का यह प्रभाव हुआ कि इस बार सहोद्योग समिति नहीं बन सकी। उनके पत्र में मैं लिखता था और मेरे पत्र में वे; पर निकालते थे दो पत्र। गुरुकुल से अब भी अनेक हस्तलिखित मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। उनका रूप रंग और लेखों का धरातल भी बहुत उत्तम है। हमारी हस्तलिखित पत्रिकाओं की यही विशेषता थी कि वे गुरुकुल के जीवन में अपने ढंग की पहली पत्रिकाएँ थीं। यह स्वाभाविक भी था; क्योंकि हम दोनों भाई गुरुकुल के सबसे पहले छात्र थे।

गुरुबाण : कुछ वर्ष और व्यतीत हो गए। पिता जी ने 'सद्धर्म-प्रचारक' को उर्दू से हिन्दी में परिवर्तित कर दिया। पहले वह जालंधर से निकलता था, अब गुरुकुल कांगड़ी से निकलने लगा। यह पत्र उस समय आर्य

समाज का मुख्य प्रचारक माना जाता था। इसमें अग्रलेख प्रायः पिता जी की लेखनी से निकले हुए होते थे, जो आर्य समाजियों के लिए पथ-प्रदर्शन का काम देते थे।

जिन दिनों की बात मैं सुनाने लगा हूँ, उन दिनों पं. ब्रह्मानन्द जी (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) 'सद्धर्म-प्रचारक' के सहायक संपादक थे। पिता जी कहीं बाहर गए हुए थे। सम्पादन का कार्य मुख्य रूप से पं. ब्रह्मानन्द जी ही करते थे। आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् पं. शिवशंकर जी काव्य तीर्थ ने वैदिक साहित्य पर कुछ अन्वेषणात्मक ग्रन्थ लिखे थे। काव्यतीर्थ जी हमारे अध्यापक भी थे। उनके ग्रन्थों को पढ़ कर मेरे मन में, न जाने क्यों, कुछ विद्रोह-सा पैदा हुआ। उस समय मैं शायद गुरुकुल की तेरहवीं श्रेणी में पढ़ता था। एक दिन जोश जो आया तो काव्यतीर्थ जी के ग्रन्थों की आलोचना में एक लम्बा लेख लिख डाला; यद्यपि इसका कोई विशेष कारण नहीं था कि उस लेख में काव्यतीर्थ जी के और उनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में इतने व्यंगों और तीखे उपहास का प्रयोग किया जाता। पर संभवतः उस समय की हिन्दी समालोचना-प्रणाली का मेरे युवक-हृदय पर ऐसा असर हुआ कि उस लेख में तीव्रता के साथ रोचकता आ गई। वह लेख ले कर मैं उप-सम्पादक जी के पास पहुँचा और निवेदन किया कि आप इस लेख को 'सद्धर्म प्रचारक' में प्रकाशित कर दीजिए। वे दुविधा में पड़ गए। लेख उन्हें पसन्द आया, पर उसे छापें कैसे? गुरुकुल के एक छात्र का लिखा हुआ लेख और वह भी एक अध्यापक के ग्रन्थों की आलोचना! लेकिन उप-संपादक जी को लेख पसन्द आ चुका था। अतः परामर्श के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि लेख तो प्रकाशित किया जाए, परन्तु उसमें मेरा नाम न रहे। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि यह बात सर्वथा गुप्त रखी जाए कि लेख किसका है। प्रेस वालों को सर्वथा सावधान कर दिया जाए कि वे रहस्योद्भेद न होने दें। मैंने अपना उपनाम उस लेख के लिए 'च' रखा।

लेख प्रकाशित हो गया, तो आर्य जगत् में बहुत हलचल मच गई। काव्यतीर्थ जी आर्य-समाज के प्रमुख विद्वान् थे। उनके ग्रन्थों की तीव्र आलोचना से आर्य लोग असमंजस में पड़ गए और सोचने लगे कि क्या सचमुच काव्यतीर्थ जी ने सिद्धान्त-विरुद्ध बातें लिखी हैं? गुरुकुल में तो रात-दिन चर्चा ही उस लेख की होती थी। काव्यतीर्थ जी वहीं रहते थे और वेद पढ़ाते थे। का विशेष विषय यह था कि लेख का लेखक कौन है। पढ़ाई के समय श्रेणी चर्चा चली, तो काव्यतीर्थ जी स्वाभाविक रोष भरे शब्दों में कहा, "वह बड़ा धूर्त है जिसने अपना नाम छिपा लिया है। वह नास्ति मालूम होता है।'

सब लोगों ने 'च' के बारे में अपनी आशं कल्पना की। आर्य समाज में ऐसे विद्वान् तो अनेक थे जो सर्वथा कट्टरपन्थी होने के कारण उस लेख के छि लेखक समझे जा सकते थे, परन्तु वे संस्कृत के विद्वा नहीं थे और जो संस्कृत के विद्वान् थे, वे नवीन शै की हिन्दी के लेखक नहीं थे। लोग इसी चक्कर में प कर यह न समझ सके कि 'च' के आवरण में छि हुआ कौन व्यक्ति है।

काव्यतीर्थ जी ने 'च' के लेख का लम्बा औ युक्तिपूर्ण उत्तर लिख कर 'सद्धर्म प्रचारक' के उप-संपादक को भेज दिया। अगले सप्ताह वह भी छप गया। अ मेरे सामने यह प्रश्न उठा कि उस लेख का उत्तर दि जाए या नहीं? दूरदर्शिता कहती थी कि न दिया जा और इस वाग्विलास को समाप्त किया जाए, परन्तु ब पन का उत्साह उकसाता था कि प्रतिपक्षी के लेख उत्तर अवश्य दिया जाए। अन्त में बचपन की जीत हु और मैंने काव्यतीर्थ जी के लेख का उत्तर दूसरे सप्ताह 'सद्धर्म प्रचारक' में प्रकाशित करा दिया। लेख की भाषा पहले लेख की भाषा की अपेक्षा अधिक तीखी और व्यंग्यपूर्ण थी। उससे काव्यतीर्थ बहुत विचलित हो गए और यह खोज लगाने के लि कि लेखक कौन है, लाहौर चले गए। वहाँ पांच-चा दिन रह कर बहुत छान-बीन की, परन्तु कुछ हाथ लगा। गुरुकुल वापस आकर उन्होंने दूसरे लेख उत्तर भी प्रकाशित कराया। दूसरे लेख में काव्यतीर्थ ने अपना रोष काफ़ी उग्र शब्दों में प्रकट करते हु लेखक के लिए 'कायर' आदि अनेक विशेषणों प्रयोग किया।

मैं अब समझता हूँ कि मुझे तीसरा लेख बिल्कु नहीं लिखना चाहिए था, पर उस समय लेखनी खुजली को मैं न रोक सका और उस विवाद का तीस लेख लिख कर प्रकाशित करा दिया। उस लेख प्रकाशित होने के पश्चात् मुझे स्वयं बड़ा दुःख हुआ

क्योंकि काव्यतीर्थ जी बहुत दुःखी हो गए थे। उन्हें दुःख देना मुझे अभीष्ट नहीं था। मैंने तो केवल वाग्विलास समझ कर लिखना आरम्भ किया था; उससे काव्यतीर्थ जी खिन्न होकर रोगी हो जाएँगे, यह मुझे पता नहीं था। काव्यतीर्थ जी सुस्त और रोगी हो गए और वह लेख सान्मुख्य समाप्त हो गया।

ये तीन लेख पत्रकारिता के क्षेत्र में मेरे पहले पत्र थे। उनकी स्थायी उपयोगिता कुछ भी नहीं थी; तो भी मुझे यह अनुभव करके कुछ सन्तोष सा हुआ कि पाठकों ने उनकी स्तुति या निन्दा जो कुछ भी की, खूब जोर से की। मैंने समझा कि और कुछ बनूँ या न बनूँ, मैं लेखक अवश्य बन सकूँगा।

दैनिक पत्र के सम्पादन का पहला परीक्षण : मेरी पत्रकारिता की ओर प्रवृत्ति और लेखक बनने की महत्वाकांक्षा को पुष्टि देने का अवसर शीघ्र ही आ गया। इंग्लैण्ड के राजा, भारत के सम्राट्, भारतवासियों के हृदयों में राजभक्ति को जागृत करने के लिए भारतवर्ष में आए और दिल्ली में उनका दरबार हुआ। उस अवसर पर मेरे अत्यन्त आग्रह पर पिता जी ने निश्चय किया कि कुछ दिनों के लिए 'सद्धर्म-प्रचारक' का दैनिक संस्करण निकाला जाए। मैं अभी विद्यार्थी ही था, स्नातक नहीं बना था। दैनिक के सम्पादन का कार्य मैंने अपने जिम्मे लिया। गुरुकुल का प्रेस तो काफ़ी बड़ा था; परन्तु गंगा के पार उस वनस्थली में दैनिक पत्र के लिए सामग्री कहाँ से मिलती। तो भी बहुत प्रयत्न करके कुछ दिनों तक—शायद १० दिन तक—'सद्धर्म प्रचारक' का दैनिक संस्करण निकाला गया। आर्थिक दृष्टि से तो वह पूरी तरह घाटे का सौदा था—न स्थानीय बिक्री थी और न एजेंसियों का प्रबन्ध। बस इतनी ही सन्तोष की बात समझिए कि दैनिक संस्करण निकालने के कारण 'सद्धर्म प्रचारक' की ख्याति में वृद्धि हो गई और मैं यह अनुभव करने लगा कि मैं दैनिक पत्र निकाल सकता हूँ।

चन्द्रलोक, जवाहरनगर
दिल्ली

—इन्द्र विद्यावाचस्पति

आइन्स्टीन का जीवन

आइनस्टीन के जीवन के लिए दो नियम थे :

(१) किसी प्रकार का कोई नियम अपने जीवन के लिए मत बनाओ।

(२) दूसरों की सम्मति से सदा अपने आपको स्वतन्त्र रक्खो।

आइनस्टीन अपने में सदा प्रसन्न रहता था और इसका कारण यह था कि वह किसी से कुछ नहीं चाहता था। न तो वह धन चाहता था, न किसी प्रकार की उपाधियाँ या पदवियाँ और न प्रशंसा। वह साधारण वस्तुओं में प्रसन्नता को अनुभव करता था। आइनस्टीन को जीवन में सब से अधिक आनन्द वायलिन से प्राप्त होता था। वह संगीत में सोचता था और दिन के स्वप्न संगीत में लिया करता था।

—डेल कार्नेगी

तेलुगु रंगमंच

तेलुगु के नाटक साहित्य और रंगमंच का इतिहास आधुनिक है। आधुनिक पद्धति पर नाटक रचना और रंगमंच का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व आन्ध्र देश में देशी नाटक रूप कुरविंजो, यक्षगान, वीथी नाटक, वीथि भागवत विद्यमान थे। जिनके द्वारा जनता का मनोरंजन होता था। इस प्रकार इस युग में जनता को नाटक-तृष्णा की परिपूर्ति होती थी। इन देशों में रूपकों की जनप्रियता के कारण ही तेलुगु-नाटक संसार में यह जागृति देरी से दिखाई दी।

आन्ध्र देश में देशी नाटकों का अभिनय बहुत प्राचीन काल से होता आया है। कूचिपूडि अहारम के कुछ ब्राह्मण परिवार भागवत कथा के प्रह्लाद, कृष्ण-लीला इत्यादि का अभिनय करते थे। विशेष कर पर्व-त्योहार एवं मेलों में भामा कलाप, गोल्लकलापमु इत्यादि प्रदर्शन जनता के मनोरंज के साथ बने थे।

किन्तु सन् १८८१ में धारवाड़ कम्पनी ने आन्ध्र में भ्रमण कर अनेक नाटकों का प्रदर्शन किया। कुछ समय के उपरांत बम्बई से आलफ्रेड थियेटर की एक पारसी कम्पनी ने भी आन्ध्र देश में अपने नाटकों का अभिनय किया। उन्हें देखने पर आन्ध्र-प्रजा में नाटकों के प्रति अभिरुचि पैदा हुई। इससे प्रोत्साहित होकर मछली पट्टणम्, राजमहेन्द्री, गुंटूर आदि विभिन्न शहरों में नाटक समाज स्थापित हुए। फिर भी नाटकों का अभाव ही था। इसकी पूर्ति के लिए प्राचीन देशी रूपकों के आधार पर नाटक रचना प्रारम्भ हुई। कुछ लेखकों ने संस्कृत के नाटकों का तेलुगु अनुवाद प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया। श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम पन्तुलु के शाकुन्तल अनुवाद ने अन्य लेखकों को भी इस ओर प्रवृत्त किया। बल्लारी में श्री धर्मवरम कृष्णमाचार्युलु जी ने "सरस विनोद सभा" नामक एक नाटक समाज स्थापित किया। इस समाज की तरफ़ से अभिनय करने के लिए श्री आचार्युलु जी ने गद्य पद्य गेय नाटक २८ लिखे। इनके चौदह नाटकों पर संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। इनके अधिकांश नाटक पौराणिक होते हुए भी तत्कालीन समाज की राजनीति और सामाजिक घटनाओं का परिचय देते हैं। इनक "चित्रनलीयम" तेलुगु का प्रथम मौलिक नाटक मा जाता है। ये केवल नाटककार, एवं दर्शक ही नहीं अपि सफल अभिनेता भी थे। इनके नाटकों में 'चित्रनलीय 'विषाद सारंगधर' और 'चन्द्रहास' विशेष रूप उल्लेखनीय हैं। कई नाटक समाजों ने इन नाटकों सफलता पूर्वक अभिनय किया है। इस प्रकार रंगमंच परिवर्तन लाने का प्रयत्न एक ओर हुआ तो दूस तरफ़ श्री आचार्युलु जी ने प्रथम 'विषाद सारंगधर' दुःखान्त नाटक बना कर नाटक रचना में भी क्रान्ति पैदा की है।

अब तक सारे आन्ध्र में नाटक का प्रचार चुका था। नाटक रचना और अभिनय का कार्य से चलने लगा। प्रत्येक नगर एवं गाँवों में भी नाट्य कला-प्रेमी संघों की स्थापना हो चुकी थी। उत्साही न युवक नाट्य-कला का अभ्यास करने लगे। नाट्य-क के प्रति जो बुरी धारणा थी, वह जाती रही। प्रति सज्जनों के सहयोग से रंगमंच का विकास होने लगा।

इस प्रकार नाट्यकला में ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ गया, त्यों-त्यों रंगमंच के उपयुक्त आवश्यक परिव रंगमंच की सामग्री और नाट्य रचना में भी होने ल नेल्लूर नगर के श्री वेदम वेंकटराय शास्त्री जी ने प्रथ पात्रोचित भाषा का प्रयोग कर नाट्यरचना में एक न अध्याय प्रारम्भ किया। इन्होंने संस्कृत के भी नाटकों का अनुवाद किया और भौतिक ऐतिहासि नाटक प्रस्तुत किए। "प्रतापरुद्रीयम" उत्तमोत्तम है इनका वीररस प्रधान 'बोब्बिलियुद्ध' नाटक जो लोकग के आधार पर निर्मित है, काफ़ी विख्यात है। हाल में अखिल भारत नाटक कार्यक्रम में प्रतापरुद्रीयम रेडि द्वारा प्रसारित हुआ। इसी श्रेणी के नाटकों में पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंह के नाटक विशेष जनादर प्राप्त हुए हैं। इनके नाटकों में हास्यरस की प्रधान होती है। इन्होंने नाटक रचना में नए प्रयोग भावी पीढ़ी का मार्गदर्शन किया। इनके नाटकों

१९५७

विप्रनारायण, 'पादुका', 'राधाकृष्ण' और 'कण्ठाभरण' विशेष प्रसिद्ध हैं।

अब तक नाटकों का उद्देश्य केवल जनता का विनोद रहा है। समाज सुधार के लिए, रंगमंच कैसा एक जबर्दस्त साधन हो सकता है, इसका अनुभव हुआ। श्री वीरेशलिंगम पन्तुलु जी ने वृद्ध विवाह, विधवा विवाह, अनमेल विवाह इत्यादि सामाजिक दुराचारों को दूर करने के अभिप्राय से कई नाटक और प्रहसन लिखे। इस क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त करने वाला नाटक श्री गुरजाड अप्पाराव कृत 'कन्याशुल्कम' है। अप्पाराव जी ने (व्यावहारिक भाषा) में अपने नाटक की रचना करके रंगमंच के क्षेत्र में बड़ी क्रान्ति उपस्थित कर दी। वर्तमान तेलुगु रंगमंच का इसे, प्रथम नाटक कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। विशेष रूप से विजयनगर के एमच्यूर कम्पनी ने इसका अभिनय किया और आन्ध्र देश के अनेक शहरों में यह सफलतापूर्वक खेला गया। जनप्रिय पौराणिक नाटक प्रस्तुत कर विशेष ख्याति प्राप्त करनेवाले तिरुपति वेंकटेश्वर कविद्वय हैं। इन्होंने महाभारत की कथा को ग्रहण कर कई नाटक लिखे ये सब लोकप्रिय हुए। वे सब साहित्यिक महत्व रखते हुए भी रंगमंच पर सफल नहीं हुए।

इसी बीच में देश के राष्ट्रीय जागृति का आन्दोलन छिड़ा। उसका व्यापक प्रभाव तेलुगु रंगमंच पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। एक ओर सामाजिक धार्मिक समस्याएँ भी जटिल बन कर समाज के सम्मुख उपस्थित थीं। सहयोग आन्दोलन के समय गान्धी विजय, स्वराज्य रथ, नन्दनार, शौकत अली, पांचालो पराभय इत्यादि नाटक आए। इनमें कुछ नाटकों पर उस समय की सरकार ने अपना दमन भी चलाया। समाज के पुनरुद्धार के विचार से श्री काल्लकूटि नारायणराव ने 'चिन्तामणि', 'मधुसेवा' 'वरविक्रयम' इत्यादि सामाजिक नाटक प्रस्तुत किए। (ये नाटक काकिनाडा के 'आन्ध्र सेवा संघम', 'यंग मेन्स हापी क्लब' आदि नाटक समाजों द्वारा बहुत समय तक खेले गए। इसी समय तेनाली शहर के बालभारती नाटक समाज, रामविलास सभा, मैल वरम कम्पनी, येल्लूर के श्री सीतारामांजनेय नाटक समाज इत्यादि असंख्य नगरों के नाटक समाज जनता की अभिरुचि की पूर्ति करते रहे)।

इधर १९२९ में नाट्यकला परिषद की स्थापना हुई। नाटक-प्रतियोगिताएँ चला कर परिषद ने उत्तम नटों एवं नाटकों को पुरस्कृत सम्मेलोत करना प्रारम्भ किया। पुरस्कृत नाटकों का विशेष रूप से अभिनय होने लगा। रंगमंच के विकास में भी परिषद ने अथक परिश्रम कर नाटक प्रदर्शन पर से विनोद-शुल्क हटवाया।

इसी वर्ष, मद्रास राज्य के प्रधान न्यायाधीश श्री पी. रामजमन्नार द्वारा यथार्थवादी दृष्टिकोण पर रचित 'तप्पेवरिदि ?' (अपराध किसका ?) नाटक ने तेलुगु रंगमंच में एक नया अध्याय शुरू किया। वास्तविकता का चित्रण करने वाले इस नाटक का आन्ध्र के विख्यात नटशेखर श्री बल्लारि राघव ने मद्रास, बल्लारी आदि अनेक नगरों में प्रदर्शन कर एक नये युग का श्रीगणेश किया। 'तप्तेवरिदि ?' और 'सारि पडनि संगतुलु' ये ये दोनों नाटक विधवा विवाह समस्या पर रचे गए हैं। इन दोनों नाटकों में कथावस्तु और शिल्प में नए प्रयोग किए हैं जिनके प्रभाव से अनेक नवयुवकों ने कई नाटक प्रस्तुत किये।

अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के अध्ययन द्वारा भारत के नवयुवकों में नई चेतना पैदा हुई। युवकों ने भारत की जीर्णावस्था में स्थित आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था पर दृष्टि दौड़ाई जमींदारी प्रथा के कारण ग़रीब कृषक एवं मज़दूरों के बीच चलने वाले संघर्ष की ओर उनका ध्यान गया। इन्हीं घटनाओं को कथावस्तु बना कर कई लेखकों ने नाटक लिखे। उन प्रगतिशील नाटकों में रंगमंच पर श्री वासि रेड्डी, भास्कर राव और सुंकर सत्यनारायण कृत 'मा भूमि' और 'मुंदगुडु' अधिक सफल हुए। लाखों की संख्या में जनता ने इन नाटकों के प्रदर्शन देखे। आन्ध्र के कोने-कोने में इनका अभिनय हुआ। दोनों नाटकों के अभिनय पर सरकार ने रोक लगा दी। 'मुंदडुगु' जमींदारी समस्या पर और 'मा भूमि' तेलंगाने के किसानों की समस्याओं पर लिखे गये हैं।

इसी प्रकार की अन्य सामाजिक समस्याओं पर कइयों ने नाटक लिखे। इनमें शोषक और शोषित समस्या, मध्य वर्ग के लोगों की दैनिक समस्याओं के चित्रण कराने वाले अनेक नाटक आए। प्रजा नाट्य मण्डली (जननाट्य संघ) की समस्या ने इन नाटकों को और भी अधिक बल प्रदान किया। इस पीढ़ी के रंगमंच पर आचार्य आत्रेय के नाटक काफ़ी विख्यात हुए।

रंगमंच पर भी इनके नाटकों को सफलता प्राप्त हुई । श्री आत्रेय के नाटकों में 'परिवर्तन', 'एन. जो. ओ', 'अद्देकोंप', 'कक्कप्पलु' इत्यादि बहुत जनप्रिय हुए। इनके नाटक विशेष आदर प्राप्त करने में सफल सिद्ध हुए । इन्हीं की भांति सामयिक समस्याओं पर रचे गए श्री पिनिशेट्टी के 'कुलंलेनि पिल्ला', 'पल्लेपडुचु' और 'अन्नाचेल्लेलु' आदि नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेले गए ।

द्वितीय महा संग्राम के उपरान्त तेलुगु रंगमंच में काफ़ी परिवर्तन हुआ । धरती पर सर्वत्र शान्ति की पुकारें सुनाई देने लगीं । युग की इस वाणी को प्रतिबिम्बित करनेवाले कई नाटक तेलुगु साहित्य में आए । ये समस्याएँ तत्कालीन समाज की मांग थीं । शान्ति आन्दोलन को बल प्रदान करने वाले श्री अनिसेट्टी सुब्बाराव का 'शांति', श्री आत्रेय कृत 'विश्व शांति' श्री गिड्डतूरि सूर्यम् रचित 'चिरंजीव मानवुडु' और श्री पडाल का लिखा 'संदेश' रंगमंच पर विशेष सफल रहे, लाखों की संख्या में जनता ने इनके प्रदर्शन देखे और पसन्द भी किए ।

रंगमंच में अब तक प्राप्त अनुभव को आधार बना कर श्री अनिशेट्टी सुब्बाराव ने तेलुगु रंगमंच को एक नया रूप प्रदान किया । वही 'शांति' है । यह मूक नाटक है । मंच पर पात्र मूकाभिनय करते हैं और नेपथ्य में पात्रों के संभाषण पढ़े जाते हैं । व्याख्याता भी नेपथ्य में रह कर अभिनय कराता है । इस नाटक ने केवल आन्ध्र और मद्रास के प्रेक्षकों को ही नहीं अपितु रूस के कलाकारों को भी मुग्ध कर दिया । इस नाटक ने प्रदर्शन में भाग लेकर इसके कलाकारों ने उसका सिनेमा भी लिया ।

वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ मानव में विलक्षण बुद्धि का अधिक विकास हुआ । मानव की मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाले मनोवैज्ञानिक नाटक आए । उनमें श्री सत्यनारायण श्रीवात्सव कृत 'तीरनि कोरिकलु' और श्री अनिशेट्टी का 'गालिमेडलु' अधिक प्रचार में आए । स्वाप्निक जगत् का चित्रण करनेवाले इन नाटकों के बाद यथार्थ जीवन का चित्रण करनेवाले कई महत्वपूर्ण नाटक आए । लेकिन 'तीरनि कोरिकलु' और 'गालिमेडलु' के नाटककारों ने तेलुगु रंगमंच और नाटक साहित्य में एक नया प्रयोग किया । यह अ ढंग का है । इसके बाद कई छाया नाटक आए, उनमें श्री सुंकर सत्यनारायण का 'भूमि कोसम्' तथा अन्य नाटककारों के 'आसामी और निजानिजालु' उल्लेखनीय है । इसी समय के श्री डी. वी. नरसराजु के 'नाटक' श्री सुब्बाराव के 'इनप तेरलु' इत्यादि नाटक जनता के मनोरंजन में अपना अच्छा स्थान रखते हैं।

इनके साथ रेडियो श्रव्य रूपकों का प्रसार भी विशेष रूप से हो रहा है । अच्छे रूपकों का प्रदर्शन भी किया जा रहा है । रेडियो रूपकों में श्री मोरा शास्त्री जी का 'आशा खरीदु अणा' सेलवुल्लो काफी विख्यात हुए । ये रंगमंच पर भी खेले गए । रेडियो रूपकों में श्री कोडवटिगंटि कुटुंबराव, श्री पी. पद्मराजु, श्री आरुद्र, अनिशेट्टी के विशेष जनप्रिय हुए और इनका प्रदर्शन भी हुआ ।

विश्वविद्यालय और कालेजों द्वारा जो नाटक स्पर्धाएँ प्रतिवर्ष चलती हैं उनमें पुरस्कृत नाटक एकांकियों का प्रदर्शन होता रहता है ।

इस वर्ष संगीत नाटक एकेडमी द्वारा आयोजित नाटक प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए आन्ध्र से २५ नाटक समाजों ने प्रार्थना पत्र भेजे थे । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आन्ध्र देश में रंगमंच का कैसा विकास हुआ है । नाटक कला प्रेमी संघ उत्तम से उत्तम नाटकों के प्रदर्शन के लिए उत्सुक हैं ।

प्रजा की अभिरुचि के अनुरूप नाटक प्रदर्शन करने के लिए आन्ध्र की नाट्य संस्थाएँ प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार आन्ध्र देश में नाटक और रंगमंच के विकास के लिए जो बहुमुखी प्रयत्न हो रहे हैं उनसे हम आशा कर सकते हैं कि तेलुगु रंगमंच का भविष्य अत्यन्त उज्वल है ।†

—बालशौरि रे

हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास

---

† आकाशवाणी नागपुर के सौजन्य से

ख़्वाजा अहमद की काव्य साधना

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की रीवा खोज में नूरजहाँ नाम का सूफ़ी काव्य प्राप्त हुआ है। इसके बनाने का श्रेय ख्वाजा अहमद (प्रतापगढ़ यू. पी.) को है। ख्वाजा एक साधारण पढ़े लिखे अंसारी मुसलमान थे। इनको काव्य रस रीति अलंकार के ग्रन्थों से पाला नहीं पड़ा था। सारा जीवन देहात के रहन सहन में गुज़रा था। कपड़ा बुन कर गुज़ारा करना और खाली समय में झोंपड़ी में बैठ कर 'पद्मावत' गाने में ही सारा समय बीता था। स्वाभाविक प्रतिभा और 'पद्मावत' के अभ्यास ने ही उक्त ग्रन्थ बनाने में योग दिया। इस रचना में ख़्वाजा ने अपना थोड़ा परिचय दिया है :

"सुहुमीत अब जनम के ठाऊँ
बाबूगंज सुन्दर एक गाऊँ
जिला मोर परताबगढ़ जाना
ठाकुर मोर तेजगढ़ जाना
बेंचू है दादा मोर जानौ
पिता सो लाल मोहम्मद मानौ
नांउ छोटा मोर लिखत लजाऊँ
का मैं आपन नाम बताऊँ
खाजा अहमद नाम है छोटा
बुधि के हीन ग्यान के खोटा"

नूरजहाँ का परिचय : यह काव्य ग्रन्थ रीवा के प्राइमरी अध्यापक रामशरण सिंह के पास है। इसकी भाषा देहाती अवधी है। इसमें कुल ८४० दोहे ११७६० अर्द्धालियाँ हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर नीचे की ओर एक-एक दोहा और ऊपर १४ अर्द्धालियाँ हैं। देखने में कर्तार आदि अनेक खराडों में रचना की गई है। प्रारम्भ में पीर पैगम्बरों आदि की प्रशंसा की गई है। इसके पश्चात् प्रेमखराड द्वारा कथावस्तु का बीज रोपन किया गया है।

कथावस्तु : गढ़ ईरान में मलिकशाह नाम के राजा रहते थे। उनको कोई संतान नहीं थी। वृद्धावस्था में दस्तगीर नाम के एक फ़क़ीर की दुआ से एक खूबसूरत बेटा पैदा हुआ। बड़े पैमाने पर खुशी मनाई गई। उसका नाम खुरशैद आलम रखा गया। कुछ बड़ा होकर खुरशैद ने रात में विचित्र सपना देखा। तब से उस सपने की जोती को पाने के लिए पागल हो गया। सलाहकारों की राय से उसे जंगल में शिकार खेलने भेज दिया गया। वहाँ भी उसकी तबीयत नहीं सुधरी।

रात को सारी लश्कर सोई थी। वह चुपके से उठा और जोगी का भेष बनाकर जंगल में निकल गया जंगल में जाते-जाते राह भूल गया और ज़ार-ज़ार रोना शुरू कर दिया। इसी समय दस्तगीर फ़क़ीर वहाँ आ पहुँचा। उसने बहुत सा-वेदान्त का उपदेश देकर कहा "वह जोती बहुत दूर और पास भी है।" उपदेश देकर वह चला गया।

खुतन के राजा की एक खूबसूरत बेटी थी। उसका नाम नूरजहाँ था। एक दिन वह अपनी सखियों के साथ खुले आँगन में चौपड़ खेल रही थी। आसमान से एक परी ने उसे देखा और मोहित हो गई। वह स्त्री की वेश भूषा में आकर उसके पास रहने लगी थी। एक दिन नूरजहाँ ने नइहर के सुख का हाल बयान किया। परी ने बारीक लहजे में कहा नइहर का सुख सपना होता है। असली सुख तो ससुराल का ही होता है। तब से नूरजहाँ विवाह सुख के लिए तरसने लगी।

परी वहाँ से वर की तलाश में उड़ चली। वह दूर-दूर के देशों में घूम कर रूम पहुँची। रूम की राजकुमारी गुलबोस के पास एक मनमोहक चित्र था उसे जान कर वहाँ से परी उड़ गई। रास्ते में उसे खुरशैदआलम मिला। खुरशैद की खूबसूरती को देख कर वह दंग रह गई। रात को खुरशैद के बिछौने पर नूरजहाँ की तसवीर छोड़ कर वह उड़ गई। सवेरे उस तसवीर को पाकर खुरशैर दूना दीवाना बन गया। यही तसवीर उसके सपने की जोती और पागल होने का कारण थी।

परी ने नूरजहाँ के पास जाकर खुरशैद की लाजवाब खूबसूरती का हाल बयान किया। नूरजहाँ की सुलगती मुहब्बत की आग धधकने लगी और हवा मिलने के लिए पागल हो गई। उधर रूम की राजकुमारी भी न जाने

कब से खुरशैदआलम पर फिदा होकर दम तोड़ रही थी। एक बार परी फिर गुलबोस के पास गई और मौका पाकर खुरशैदआलम की तसवीर उठा लाई। गुलबोस तसवीर को गायब होते देख कर और भी पागल हो गई। वह आलम के साथ शादी करना चाहती थी।

उसकी दशा देख कर माता पिता ने जोगी आलम की खोज में सेना भेज दी। जोगी खुरशैद नील नदी के किनारे मिला और उसे राजा के हवाले किया गया। खुरशैदआलम ने जब शादी से इन्कार किया तो उसे जेल की सजा दी गई। परी के समझाने पर उसने शादी कर ली। आलम खुद सेना लेकर खुतन की ओर चला आया। बहुत दिनों तक आलम के न आने पर गुलबोस विरह की ज्वाला में झुलसने लगी। एक हुद-हुद नाम का परिंदा उसके पास आया और बोला :

"कवन सो देस बसै तोर पीऊ
सुनु घनि कसतै खोवसि जीऊ
धै मन धीर बउठु तै नारी
मै संदेस लै उड़ऊं संभारी
हेरऊं दीप समइ जग छानी
कहउं सदेस जाइ तोर रानी"

वही हुद-हुद आलम की तलाश में निकला। उसे रास्ते में चातक मिला। वह बोला आलम खुतन में नूरजहाँ के साथ रह रहा है। हुद-हुद वहाँ पहुँचा और आलम को एक फुलवारी में देख पाया। उसने सारे ईरान की बरबादी और गुलबोस की बेकरारी का हाल बयान किया :

"चात्रिक रटि निसु खोवहिं जीऊ
कोकिल कुहुकत हेरहिं पीऊ
चकई रटत करै भिनसारा
बिछुडि न मिलइ कंत वोहि पारा"

ईरान की हालत सुन कर आलम एक बार सिहर उठा। उसे गुलाबोस के साथ माता-पिता की भी याद सताने लगी। वह नूरजहाँ का गमन करा कर ईरान को चल पड़ा। रास्ते में समुद्र के तूफान में दोनों अलग-अलग बह गए और प्रभु की कृपा से दोनों ही दर्शनपुर घाट पर आ लगे। वहाँ से रूम गए। गुलबोस के साथ बहुत दिनों तक आलम ने समय गुजारा। गुलबोस का भी गमन करा कर ईरान आया। यहाँ खुरशैद आलम का भारी स्वागत हुआ। शाह मलिक बहुत दिनों के बिछुड़े बेटे को पा कर फूले न समाए। मलिक ने राजपाट आलम को सौंप कर बहिश्त का रास्ता लिया।

नूरजहाँ के पेट से मकसूद नाम का बेटा पैदा हुआ। नूरजहाँ के पेट में दर्द सा रहने लगा था। चिरकाल के पश्चात् एक जोगी की दवा से वह अच्छी हो गई।

जोगी उसे अच्छा करके उसकी खूबसूरती पर मोहित हो गया।...रानी को पाने के लिए जोगी ने शहर पर जादू चलाया और किले पर कब्जा कर लिया। जोगी रानी को पकड़ने गया। इस मौके पर खुरशैद आलम लश्कर लेकर जोगी का मुकाबला करते-करते शहीद हो गया। उसकी शहादत में दोनों रानियाँ भी काम आई। इनकी लाश वहीं एक सरसब्ज बाग़ में दफ़ना दी गई।

नूरजहाँ एक विमर्श : नूरजहाँ का ढांचा पद्मावत के अभ्यास पर खड़ा है। 'पद्मावत' की कथावस्तु ऐतिहासिक तथा सत्य है। पर नूरजहाँ की कथावस्तु कल्पित है। इसके साथ सभी पात्र मुसलमान हैं। गुलबोस तथा नूरजहाँ खुरशैद के लिए सती नहीं होतीं। पर लड़ कर शहीद हो जाती हैं। उनके साथ ही सुमती नाम की परी भी शहीद हो जाती है। सारा वातावरण इस्लाम का समर्थक है। हुद और चातक के बारे में अंतिम कोई चर्चा नहीं है। अन्त में कथावस्तु अन्योक्ति हो गई है :

"कवन सो देस वसै जहँ सूरी
जेहिके लखत होइ दुख दूरी
देखेउ यहि काया के माहीं
दूसर घाट अवर कहुँ नाहीं

काया माँझ नयनपुर घाटा
देखेउ सरनदीप के वाटा
रूम खुतन काया के माँझा
काया माँझ भोर औ' साँझा

सब गढ़पति काया के माहीं
दूसर गउँ लखौं कहुँ नाहीं
नूरजहाँ काया कै जोती
काया समुद्र सीप जहँ मोती"

इससे स्पष्ट है कि गढ़ ईरान रूम खुतन नयनपुर घाट शाह मलिक आदि शरीर के भीतर हैं। नूरजहाँ (संसार का प्रकाश) भी काया के भीतर हैं। जहाँ नागमती और पद्मावती का सती होना सही और परम्परानुकूल है वहाँ नूरजहाँ तथा गुलबोस का असली मुहब्बत की पहचान के लिए शहीद होना इस्लामी इतिहास के लिए गौरव की बात है। और सूफी काव्य परम्परा में यह एक नई देन है। यों तो नूरजहाँ के सभी खण्ड निराले हैं पर बारह मासा की रचना देखते ही बनती है :

"लाग असाढ़ गगन घहराने
कहाँ छाड़ि घर कंत भुलाने
धावाहि उमड़ि घटा घनघोरा
दादुर इटइंथ कुहुकइं मोरा
एकतउ विरह सोय पिउ केरा
दूजे गगन घटा घन-घेरा"

खुरशैद की जुदाई में गुलबोस पछाड़ खा खा कर सिसकती है। टीस, कराहट, कुहुक और बेजारी की हालत में वह घर से आंगन में आती जाती है। कल नहीं पड़ता; जुदाई की धधकती अन्तर्ज्वाला में मुहब्बत का मोम टघर टघर कर आँखों में आँसू के बहाने बह रहा है। आँखें सदा सावन की समा बाँधे रहती है। चारों ओर से काले-काले बादलों की घटा से अंधेरा छा गया है। बिजुली के धनुषबान रह रह कर छूट रहे हैं। सनसनाती पुरवइ बयार ने अलग से बहना शुरू कर दिया है। सब सखियाँ अपने पीव के संग रंग राग में मस्ती के साथ हिंडोलों में उभक-उभक कर झूम रही हैं। पर गुलबोस पर क्या गुजरती है :

"हथिया आइ सो पावन झकोरा
अंत मेह जस करइ बहोरा
एक तौ विरह कालकै जारी
देहि झकोरि औ बहइ बयारी
गगन धनुष लै खैंची कमाना
चहै लेइ अब मारि पराना
खन आँगन खन भीतर जाई
गा चौमास नारि पछिताई

× × ×

भयउ अन्त अब मास कुवारा
कातिक मास लाग उजियारा
निरमल गगन से छिटके तारा
डारे उबीज भूमि संसारा
जग आसा कै बीज बहावा
धनि आसा कै आस न लावा
सोग सम्हारि बइठि वह नारी
देखै निसुदिन पंथ जो हारी
चित्रा आइ लाग चित पीऊ
छाड़ि भोग धनि कलपै जीऊ
सीतल चुवइ से वाती नीरा
परत बुंद सब बाँधेउ धीरा
नाग पताल औ सीप समुंदा
थिर पपिहा भये पांवत बुंदा
सब थिर भएउ पाइकै पीऊ
पै थिर भयउन विरहिनि जीऊ
सीत सरद घर भए न नांहा
बूड़ेउ सुरुज विहंचल मांहा
धनि बूड़े विरहा दुपव देखी
फिरउन लवरि विदेसी भेखी
पठवँउ अब केहि हाथ संदेसा
प्रीतम अरुझि रहेउ केहि देसा"

वेंकट संस्कृत कालेज,
रीवा (मध्य प्रदेश)

—रघुनाथ शास्त्री

एक शिशु को थोड़ा-सा प्यार दो और आपको बहुत कुछ वापस मिल जाएगा।

—जौन रस्किन

उड़ीसा और उसके प्राचीन देव-मंदिर

उड़ीसा जितना प्राचीन देश है, उतने ही प्राचीन इसके मंदिर हैं। भारत के ही क्या विश्व के शायद ही किसी भाग में इतने प्राचीन मंदिर हों। भुवनेश्वर और जगन्नाथ पुरी के महाप्राचीन मन्दिर और उदयगिरि की प्राचीन गुफाएँ भी इसी प्रदेश में हैं।

उड़ीसा के मन्दिरों का हाल जानने से पहले उड़ीसा का प्राचीन इतिहास जानना भी आवश्यक है। भारतीय पुराणों में इस प्रदेश का इतिहास जानना भी आवश्यक है। भारतीय पुराणों में इस प्रदेश का नाम 'ओड़' प्रदेश अथवा उत्कल प्रदेश है और यह बलि नामक रानी सुदेष्णा के पांच पुत्रों में से एक कलिंग राज्य का एक भाग है। यहाँ की अनेक जातियाँ अभी तक भी बिल्कुल नंगी रहती थीं। पटुवा जाति की स्त्रियाँ यहाँ अपने आगे-पीछे पूनों के गुच्छे या पत्ते लटकाये रहती थीं। १८७१ ई० से इन्होंने कपड़े पहनना सीखा।

ताम्रपत्रों में उड़ीसा का इतिहास : ताम्रपत्रों के अनुसार उड़ीसा का इतिहास ईसा के १४०७ और १०३६ वर्ष पूर्व के काल से मिलना आरंभ होता है। यह समय अर्थात् उपर्युक्त समय के बीच का भाग शंकर देव उत्तराधिकारी राजा गौतम देव का समय है। उसी वंश के ६ राजा महेन्द्र देव ने राजा महेन्द्रो नामक नगर बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया। इस राजा का कार्यकाल ईसा से १०३७ और ८२२ वर्ष पूर्व के लगभग है। ईसा के ५०० वर्ष प्रथम यहाँ बौद्ध राज्य रहा। ईसा के ५० वर्ष प्रथम से ३१६ वर्ष बाद तक ठीक-ठीक इतिहास नहीं मिला। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि कि उड़ीसा के गुफा और मठ इसी काल में बने। अधिकतर खोजबीन से यही पता चलता है कि इसी के ३०० वर्ष पीछे तक भी यह प्रदेश बौद्ध राज्य का किसी रूप में अंग बनकर रहा। अशोक के कई एक लेखों से भी यही बात जानी जाती है।

सन् ५७४ ई० में ययाति यहाँ का राजा बना और कस्बे भुवनेश्वर को उसने अपने राजधानी बनाया। उसी ने भुवनेश्वर का विशाल मंदिर बनाया। सन् ६५३ ई० में इसी वंशी के एक राजा ने कटक शहर बसाया। सन् १६३२ ई० में केशरी राजवंश का अन् हो गया और गंगवंश का एक वैष्णव राजा इस शैव वं को हराकर राज्य करने लगा।

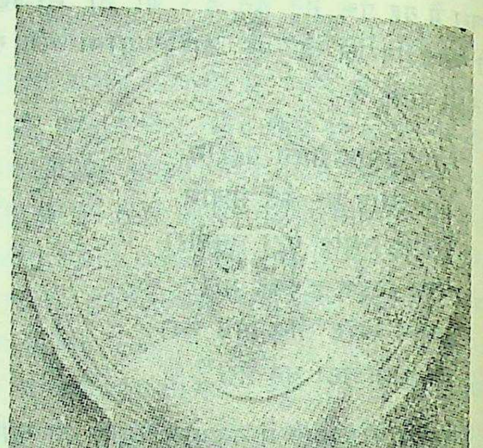

इसी वंश के पाँचवे राजा अनंग भीमदेव ने वर्तमान जगन्नाथ जी के मंदिर को बनाया। यह उड़ीसा का सबसे प्रतापी राजा माना जाता है। इसी वंश के राज्य काल में १३८० से १४२० तक कबीरदास ने और १४८७ ई० १५२५ चैतन्य महाप्रभु ने यहाँ धार्मिक शिक्षाएँ लोगों को दीं। १५३४ ई० में इस राज्य के

१९५७

दीवान ने राज्य परिवार के सारे लोगों को मार कर राज्य पर कब्ज़ा कर लिया।

सन् १५६८ ई० ने बंगाल के मुसलमान अफगान सुलेमान ने जाजपुर में हिंदू राजा को हरा कर पुरी तक पर अधिकार कर लिया। दाऊदखां अफ़गान जो सुलेमान का पुत्र था मुग़लों की आधीनता छोड़ कर यहाँ का राजा बन गया। १५७८ ई० में अकबर ने अफगानों को हरा कर इसे दिल्ली राज्य में मिला लिया।

भुवनेश्वर और उसका मंदिर : पुराणों में इसका नाम एकाम्रक्षेत्र लिखा है। एक समय यहाँ एक ही प्रकार के और एक ही श्रेणी के पत्थर के ७ हज़ार शिव मंदिर थे। इन मन्दिरो की कभी मरम्मत तक नहीं हुई। भारतीय वास्तुकला की सजीवता केवल यहीं देखने को मिलती है। यहाँ के मन्दिरों की मूर्तियाँ पत्थरों को खोद कर बनाई गई हैं।

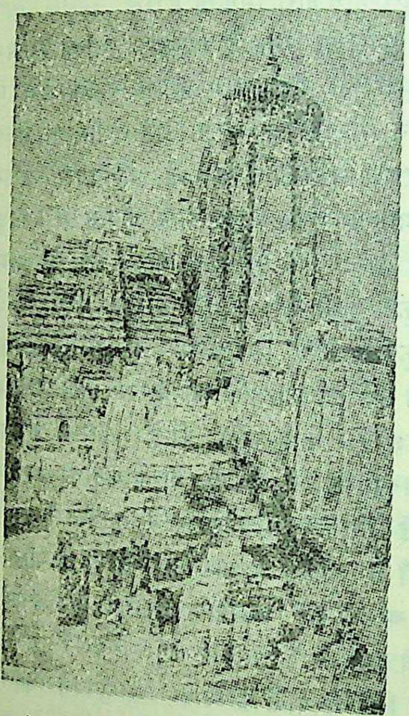

भुवनेश्वर का मन्दिर पुरी के जगन्नाथ मन्दिर से प्राचीन तो है ही, कारीगरी और बनावट की दृष्टि से भी पुरी के मन्दिर से अच्छा है। यह १६० फुट ऊँचा है और एक एक इंच स्थान नक़्क़ाशी से युक्त है। इसके भीतर आठ फीट व्यास के अर्धे पर लगभग आठ इंच पर भुवनेश्वर शिवलिंग स्थापित है। इसे पुजारी लोग हरिहरात्मक कहते हैं। पूर्व मुख के इस मन्दिर में अंधेरा रहता है। मन्दिर के आगे जगमोहन और उससे आगे नृत्य मण्डप तथा आगे भोग मन्दिर एक दूसरे से लगे हुए हैं। मन्दिर के चारों ओर ७ फुट ऊँची दीवार है। दीवार के घेरे में और भी कई मन्दिर हैं।

घेरे के बाहर : घेरे के बाहर भी अनेक छोटे-छोटे मन्दिर हैं। १०८ मन्दिरों से घिरा हुआ एक तालाब है। बड़े मन्दिर के दक्षिण की ओर एक जंगल है। कहते हैं कि ललित इन्द्र केशरी का महल इसी जंगल में था। यहां पुराने खण्डहरों के निशान अभी तक विद्यमान है।

बड़े मन्दिर के उत्तर में विन्दु सरोवर नामक तालाब है। तालाब के मध्य भी एक मन्दिर है। किनारे पर कृष्ण और बलदेव जी के मंदिर हैं। तालाब के पूर्व छोटे-छोटे कई मन्दिर भुवनेश्वर के मन्दिर जैसे बने हैं।

कृष्ण मन्दिर के कुछ दूर पर कोटितीर्थेश्वर का मंदिर और आधा मील आगे ९ वीं सदी का एक टीले बना ब्रह्मेश्वर शिव का मंदिर है। यहाँ पत्थर की नक़्क़ाशी अपने ढंग की निराली है। पश्चिम की ओर ब्रह्मकुण्ड नामक एक तालाब है।

मंदिरों के खंडहर : बड़े मंदिर के पूर्व की ओर मंदिरों के अनेक खंडहर मौजूद हैं। इन्हीं में ६ ठी शती का बना भास्करेश्वर शिव मंदिर है। इस मंदिर से आधा मील पश्चिम की ओर राजारानी का वह प्राचीन मंदिर है जिसके ताखों में ३-३ फुट ऊंची मूर्तियाँ चित्र हैं। यह एक समय सबसे सुन्दर मंदिर माना जाता था। इस मंदिर से ३०० गज आगे लगातार दूर तक पुराने टूटे-फूटे मन्दिरों का सिलसिला है। जिसमें २०-२२ मन्दिर अभी सीधे भी खड़े हैं। उनमें मुक्तेश्वर, केदारेश्वर, सिद्धेश्वर, परशुरामेश्वर के प्रसिद्ध मंदिर हैं।

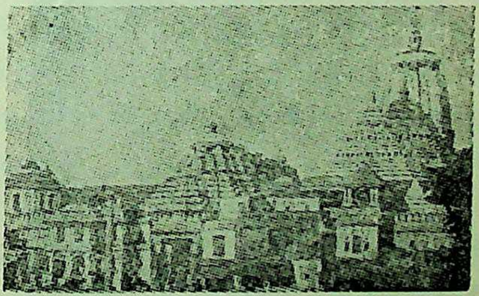

मुक्तेश्वर का मन्दिर ३५ फुट ऊँचा, कारीगरी से युक्त है। मन्दिर के पीछे गौरी कुण्ड नामक एक सरोवर है और उसके किनारे पर ४१ फुट ऊँचा केदारेश्वर का मन्दिर है। पास ही एक कोठड़ी में हनुमान् जी की ८ फुट ऊँची मूर्ति है। यह मन्दिर बहुत पुराना है। पश्चिम की ओर सिद्धेश्वर का प्राचीन मन्दिर अलम्बुकेश्वर का मन्दिर है। यह सब मन्दिर ६७७ ई० से प्रथम के बने हैं। केवल बैताल देवल पर स्थित ६ वीं शती का बना सोमेश्वर का मन्दिर है।

भुवनेश्वर के मन्दिर का आरम्भ ययाति केशरी ने एक प्राचीन मन्दिर पर ४७५ ई. में किया और जगमोहन से आगे ६५६ ई. में ययाति केशरी के परिवार के लोगों ने बनवाया। अन्तिम कुछ हिस्से अलम्बु केशरी आदि ने ११०० ई. तक बनवाए।

यात्री लोग यहाँ कच्ची रसोई को एक पंक्ति में मण्डप में बैठ कर खाते हैं।

उरिसा के गुफा मन्दिर : यहाँ से लगभग ५ मील पर उदयगिरि और खण्डगिरि नामक दो पहाड़ियाँ हैं। यहीं पर पत्थर काट-काट कर गुफ़ा और मन्दिर बनवाए गए हैं।

उदयगिरि की पहाड़ी ११० फुट ऊँची है। इसमें रानी नूर, गणेश गुफ़ा, स्वर्गद्वारी गुफा, जय विजय गुफ़ा, गोपाल पुरा, बैकुंठ, हाथी गुफ़ा, सर्प गुफा, व्याघ्र गुफा, पवन गुफ़ा आदि हैं। इन गुफ़ाओं में सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ और ईसा से ५०० वर्ष प्रथम तक के शिलालेख हैं। खण्डगिरि पहाड़ी १३३ फुट ऊँची है और खड़ा मार्ग है। इस पहाड़ी पर अनन्त गुफ़ा, वाला-चन्द्र गुफ़ा पारसनाथ मन्दिर आदि अनेक मन्दिर तथा गुफाएँ हैं। और उनके कमरों में जैन तथा बौद्ध मूर्तियाँ हैं। यहाँ कुटिल अक्षरों में लिखे शिलालेख बहुत हैं।

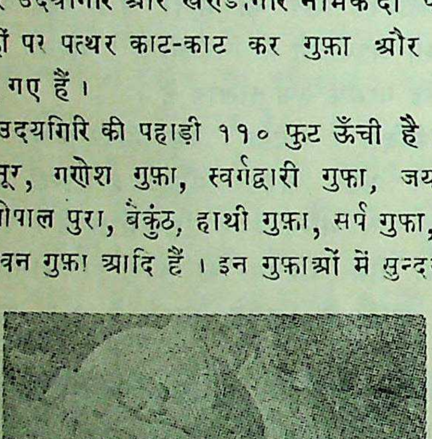

एक गुफ़ा के बाहर पत्थर खोद कर आकाश गंगा नामक एक तालाब बनाया गया है और तालाब के नीचे एक गुफ़ा बनाई गई है। कहा जाता है कि इस गुफ़ा के अन्दर ही उड़ीसा के राजा ललित इन्द्रकेशरी के शव की राख रखी गई है।

इन गुफ़ाओं की मूर्तियों और लेखों से इतिहास को बहुत जानकारी मिलती है।

पुरी का जगन्नाथ मन्दिर : भारत के चार धामों में से पुरी को एक धाम माना जाता है। पुरी का वर्तमान मन्दिर जिसे राजा अनंग भीमदेव ने १४ वर्ष के परिश्रम से सन् ११९८ ई. में तैयार कराया था, नीलगिरि नामक २० फुट ऊँची जमीन पर बना हुआ है।

मन्दिर का बाहर का घेरा ६६५ फुट लम्बा और ६४ फुट चौड़ा है। इसकी दीवार कंगूरेदार है और २६ फुट ऊँची है। दीवार में चारों तरफ़ फाटक हैं जिनमें पूर्व का फाटक सबसे सुन्दर है। उसकी चौखट नक़्क़ाशीदार काले पत्थर की है। फाटक के ऊपर भी एक मकान है जिसमें आदमी के कद की बराबर ऊँचाई की कई मूर्तियाँ हैं। दरवाज़े के दोनों तरफ़ सिंह की मूर्तियाँ हैं। उत्तर के फाटक पर दो हाथी और काठ के तीन सारथी हैं। दक्षिण फाटक पर पत्थर के दो घोड़े थे।

सिंह दरवाज़े के बाहर काले रंग का एक ही पत्थर का ३५ फुट ऊँचा १६ पहल का सुन्दर अरुण स्तम्भ खड़ा है। इसके शिखर पर सूर्य के सारथी अरुण की मूर्ति है। यह स्तम्भ पहले कोणार्क के सूर्य मन्दिर के बाहर था और इसे यहाँ पर मराठे लाए थे।

बड़े घेरे के भीतर एक और घेरा ४५० फुट लम्बा ३०० फुट चौडा है। इस घेरे के अन्दर ही पुरी का प्रसिद्ध मन्दिर तथा अन्य कई मन्दिर हैं।

जगन्नाथ जी के मन्दिर के आगे जगमोहन, जगमोहन के आगे नृत्य-मन्दिर और उसके आगे भोग मन्दिर है जिसे मराठों ने बनवाया था।

जगन्नाथ जी का मन्दिर १९२ फुट ऊँचा, ८० फुट लम्बा है। मन्दिर पर शिला-लेख तथा स्त्री-पुरुषों

की प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। मन्दिर के कटि भाग में दक्षिण की कोठरी में बलिराज, नृसिंह जी तथा कलियुग की प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। शिखर के ऊपर नीलचक्र और पताका है। मन्दिर के भीतर १६ फुट लम्बी ४ फुट ऊँची पत्थर की वेदी है। इस रत्नबेदी के उत्तर की तरफ़ सुदर्शन चक्र और दक्षिण की तरफ सुभद्रा, बलभद्र जी तथा जगन्नाथ जी की मूर्तियाँ हैं। एक तरफ़ लक्ष्मी जी तथा दूसरी तरफ सत्यभामा और आगे राजा इन्द्रद्युम्न की धातु-प्रतिमा है। कई मूर्तियों के मस्तक पर हीरे लगे हैं।

इस मन्दिर और इसके सहायक मन्दिरों में मूर्तियों की भरमार है। तथा दीवारों और पात्रों पर ज़रा-ज़रा सी जगह में मूर्तियाँ तथा चित्र खोद-खोद कर बनाए गए हैं।

मन्दिर के दक्षिण की ओर शास्त्रार्थ करने का स्थान तथा मुक्ति मण्डप है। उसके आगे अक्षयवट है और पास में ही प्रलयकाल के विष्णु की बालमूर्ति है। उसी ओर रोहिनी कुण्ड, पत्थर के चतुर्भुजी काक, विमला देवी, नृसिंह जी, लक्ष्मी जी, एकादशी आदि नामक मन्दिर हैं। इस अहाते में लगभग ५० मंदिर और हैं।

कोट के बाहर कई एक मंदिरों के साथ कपालमोचन और यमेश्वर मन्दिर हैं और दक्षिण की ओर गोपीनाथ का मंदिर है। जगन्नाथ मंदिर से दक्षिण स्वर्ग रास्ते के पास श्वेत गंगा नामक एक तालाब है जिस पर श्वेत केशव का मंदिर बना है। जगन्नाथ जी की मूर्ति की तरह यह मूर्ति भी काष्ठ की बनी है। मंदिर से १ मील पर स्वर्ग द्वार, आगे पानी से भरा रहने वाला लोकनाथ का मंदिर, मार्कण्डे तालाब, चन्दन तालाब, जनकपुर है। इसे पुराणों में गुड़िच क्षेत्र लिखा है और यहाँ पर काष्ठ मूर्तियाँ घड़ी गई थीं। जनकपुर के मंदिरों को भुवनेश्वर मंदिर से भी पुराना बताया जाता है। यहीं पर इन्द्रद्युम्न तालाब है। पुराणों के अनुसार यह कोची नामक पुरी थी और यहाँ राजा रत्नग्रीव का राज्य था।

कहा जाता है कि सन् ३१८ ई० में जगन्नाथ जी की मूर्ति यहाँ प्रकट हुई थी और फिर गायब हो गई। सन् ४७५ ई० में ययाति केशरी ने जंगल से मूर्ति खोज निकाली और पुरी में स्थापित की। बाद में अनंग भीमदेव ने एक ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त स्वरूप इस मन्दिर को बनवाया।

कोणार्क तीर्थ के मन्दिर : पुरी कस्बे से १८ मील पूर्वोत्तर कोणार्क का सूर्यनारायण का तीर्थ है। आम जनता इसे कनारक कहती है।

यहाँ पर सूर्य का विचित्र और अति प्राचीन मंदिर है। उड़ीसा के इतिहास के अनुसार १२ वर्ष की आमदनी से सन् १२३७ ई० में राजा नृसिंह देव लंगोरे ने इसे बनवाया। इसका शिखर गिर गया है। चित्रकारी से सुसज्जित यह मंदिर १२४ फ़ुट ऊँचा है। खाली पत्थरों से बनी इस मंदिर की दीवारें २०-२० फुट मोटी हैं। मन्दिर के पास जंगल लग गया है और दूर-दूर मन्दिरों के खण्डहर पड़े हुए हैं। यहाँ से पर्याप्त पत्थर पुरी चला गया। कहते हैं कि मन्दिर के ऊपर चुम्बक पत्थर की एक तह थी जो जहाज़ों को अपनी ओर खींच लेती थी। उस तह को तोड़ने के लिए एक मुसलमान मल्लाह मन्दिर पर चढ़ गया। तभी से मन्दिर की दुर्दशा आरम्भ हो गई। पुराणों में इसे सूर्य का प्रदेश या औण्ड्र प्रदेश लिखा है। इसके आसपास और भी कई मन्दिर हैं।

इसके अतिरिक्त उड़ीसा के जाजपुर कस्बे में भी अनेकों प्राचीन मन्दिर हैं। यहाँ पर ३२ फुट ऊँचा गरुड़ स्तम्भ है तथा वैतरणी नदी भी यहीं पर है जिसका हिन्दू जनता में बड़ा मान है। यहीं पर किरज क्षेत्र में पिण्डदान होता है। यदि उड़ीसा के समस्त मन्दिरों को गिना जाए तो उनकी संख्या लाखों में पहुँचती है। गंजाम के मन्दिर भी बहुत पुराने हैं। इनमें एक दो अधूरे भी पड़े हैं जिन्हें प्रारम्भ करने के बाद शायद पूरा नहीं किया गया।

१११, डासना गेट,
गाज़ियाबाद

—**चिरंजीलाल पाराशर**

सफलता मन की एक वृत्ति के रूप में प्रारम्भ होती है।

—**पीटर उस्टिनोल**

दादा-बाप-बेटा

१८५७ की भारतीय क्रान्ति में जो थोड़े-से नेता हथेली पर सिर रखकर आगे आए, और जिनके एक मरतबा ऐसे पौरुष जागे कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने अन्त काल को निकटतम समझ बैठी थी, उनमें से बिहार की जगदीशपुर रियासत का राजा कुँवर सिंह भी एक था। उसने आठ महीने लगातार अंग्रेजों के छक्के छुड़ाकर अन्त में उस बलिदान-यज्ञ में अपनी भी आहुति दे दी।

कुँवरसिंह बचपन से ही वीर, साहसी, शिकार-प्रिय था तथा उच्छृंखल घोड़ों पर सवारी करना पसन्द करता था। इतना साहस उसे पैतृक देन में प्राप्त था। उसके पिता साहबज़ादा सिंह व दादा उमराव सिंह दोनों की साहसिक घटनाएँ लोक प्रसिद्ध हैं।

(दादा) उमराव सिंह : एक बार लखनऊ के नवाब का गाजीपुर के नवाब शेख अब्दुल्ला के यहाँ आगमन हुआ। इस अवसर पर शेख़ ने अपने यहाँ एक बड़ा दरबार किया और उसमें आस-पास के राजा नवाबों को आमंत्रित किया। जगदीशपुर की ओर से उमराव सिंह भी वहाँ उपस्थित हुआ। दरबार बड़ी शान-शौक़त से लगा था। उस वातावरण पर गम्भीर व राजोचित रौब छाया हुआ था। उस समय घुटनों के बल बैठने की एक सभ्यता होती थी। उमराव सिंह भी घुटनों के बल बैठा था।

अचानक कहीं से एक साँप आया और बैठे हुए उमराव सिंह के चौड़े पैजामे में घुस गया। ऐसे अवसर पर केवल साँप के कारण व्यवस्था भंग करना उमराव ने गौरव की बात न समझी और जब कि दरबार हाल में गम्भीरता छायी हो। साहस से काम लेते हुए उमराव सिंह ने साँप के फन को पकड़ लिया। यह पकड़ इतनी गुप्त और मजबूत सिद्ध हुई कि पास बैठे राजाओं को पता भी न लगा और साँप छटपटा कर मर गया।

जब दरबार ख़ारिज हुआ, तो यह घटना न छिप सकी। मरे हुए साँप को देख कर सभी उपस्थित लोक दंग रह गए। उमराव सिंह के इस साहस व धैर्य की उपस्थित नवाब साहब ने भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

अब उमराव सिंह के लड़के यानी कुँवर सिंह के पि साहबज़ादा सिंह की एक साहसिक घटना सुनिए।

(बाप) साहबज़ादा सिंह : साहबज़ादा सिंह मुकदमा आरा की अदालत में चल रहा था। उन दि जगदीशपुर की रियासत पर साहबज़ादा सिंह का अधि कार न था, पर उसी अधिकार के लिए मुकदमा ल जा रहा था। उस मुकदमे में साहबज़ादा सिंह स्वयं पहुँचा। एक आदमी से उसकी बातें हुईं। परन्तु उ आदमी ने शिष्टाचार का ध्यान न रखा, तो क्रोध आकर साहबज़ादा सिंह ने झट अपनी तलवार से उ पर आक्रमण किया। परन्तु आदमी बच निकला। साह ज़ादा सिंह को इस अपराध में अदालत ने ६ मास कारावास का दण्ड दिया।

कारावास में कोई दो मास बीत होंगे कि उ समय एक शेर पटना ज़िले के जंगलों में आ घुसा था और उसने अपने आतंक से अधिकारियों तक को चक्क में डाल रखा था। किसी में उसको मारने की हिम्मत थी। इस बात का पता जेल में साहबज़ादा सिंह लगा। उसने जेल सुपरिंटेंडेण्ट से जो कि अंग्रेज था, कहा कि यदि उसे उस शेर को मारने का मौक दिया जाए तो वह उसे मार डालेगा और इसकी ऐवज उसे कारावास से तुरन्त मुक्ति भी दे देनी होगी। इ शर्त को स्वीकार कर लिया गया।

साहबज़ादा सिंह ढाल-तलवार से सुसज्जित कर जंगल में जा घुसा, घने जंगल में अकेला वह! कितना खौफ़नाक था वहाँ जाना! परन्तु इस साहसी इस बात की कहाँ चिन्ता थी। उसने जंगल में शेर गर्जना करके ललकारा। कहीं से शेर ने भी प्रतिक्रिया-स्वरूप गर्जना की। बस फिर क्या था; दोनों अपने-अप शब्द को लक्ष्य कर के मुड़ पड़े। आख़िर में दोनों वीरों का आमना-सामना हुआ। जंगल के बादशाह ने जग-दीशपुर के भावी राजा पर अपने पुष्ट पंजों से हमला किया। साहबज़ादा ने उसके इस बार को अपनी ढाल आगे कर के असफल कर दिया और तुरन्त ही दूस

हाथ की तलवार से जो भयंकर वार उस सिंह की गर्दन पर किया उससे तड़प कर मृत्यु के अट्टहास-सी गर्जना करता हुआ वह वनराज सिंह भूमि पर लोट गया।

जंगल के बाहर खड़े अनेक अंग्रेज़ी अधिकारियों ने और अन्य लोगों ने वहाँ आ कर यह दृश्य अपनी आँखों से देखा और उसकी वीरता पर प्रसन्न हो कर उसे मुक्त कर दिया गया, तब मुकदमे में भी अपनी विजय प्राप्त कर जगदीशपुर रियासत का राजा हो गया।

(बेटा) कुँवरसिंह : बिहार केसरी कुँवरसिंह इसी साहबजादा सिंह का बड़ा लड़का था। यह तो बताया ही जा चुका है कि वह उच्छृंखल घोड़ों पर भी काबू पा लेता था।

एक दिन की बात है। डुमरांव रियासत के महाराजा जयप्रकाश सिंह के पास कुँवरसिंह का जाना हुआ। उन्हीं दिनों जयप्रकाश सिंह के पास भी एक ऐसा हृष्ट-पुष्ट घोड़ा था, जिस पर बहुत दिनों तक सवारी न किए जाने के कारण वह मचल गया था। किसी को पास भी न भटकने देता। कोई यदि उस तक पहुँचने की कोशिश भी करता, या तो वह उसे अपनी दुलत्ती झाड़ देता या काट खाता। एक बार एक व्यक्ति कोशिश करके उस पर सवार हुआ था, पर घोड़े ने उसे ऐसा पटका कि फिर वह व्यक्ति स्वस्थ न हो सका।

ऐसे घातक घोड़े की बात-बात की बात में कुँवरसिंह को मालूम हुई। उसने उस पर सवारी करने की घोषणा कर दी। निश्चित समय में उस मैदान के आस पास लोग जमा हो गए, जहाँ से उन्हें यह देखना था कि ऐसे उच्छृंखल और घातक घोड़े पर कुँवरसिंह कैसे सवारी करेगा।

घोड़ा लाया गया। कुँवरसिंह उसके पास गया। घोड़े ने अपने हथियार चलाए। परन्तु कुँवरसिंह बच कर दाव लगा कर उस पर चढ़ गया। चढ़ना था कि घोड़े ने विद्युत-सी गति पकड़ी। देखते-देखते घोड़ा सवार को लेकर भीड़ की आँखों से ओझल हो गया। सब दंग थे और इसी प्रतीक्षा में खड़े रहे कि घोड़ा सवार सहित लौटता है या खाली लौटता है या लौटेगा भी नहीं?

उधर कुँवरसिंह घोड़े की पीठ पर जमा था, घोड़ा बेतहाशा भाग रहा था। दो तीन पांच मील, फिर दस मील तक भागता गया। तेरह मील तक भी इसी गति से दौड़ता गया, अब सामने से कुँवरसिंह को लगा कि कोई खाई आनेवाली है और घोड़ा ऐसा उड़ता ही रहा तो जान निश्चित खतरे में है। इतनी आंधी-सी दौड़ में भी कुँवरसिंह सचेत रहा। वह खतरे को पहचान गया और उसने कोड़े का एक भरपूर वार घोड़े के मुँह पर किया। घोड़ा भय से एकदम मुड़ पड़ा। उसे शायद यही लगा कि सामने एक बला थी, जिसने उसके मुँह पर चोट की, इसी भय ने उसे वापसी में भी उतनी ही तेज़ी से भागने को बाध्य किया।

पर आखिर कब तक? हाँपने लगा, होश ठिकाने आ लगे। थक कर चूर हो गया। और साधारण गति से आकर उसी मैदान में रुक गया, जहाँ भीड़ उसकी प्रतीक्षा में बेचैन थी।

इस घटना से जहाँ कुँवरसिंह का साहस बढ़ा, वहाँ घोड़ा अपनी स्वाभाविक दशा में पहुँच गया, उसके सभी ऐब एक साथ दूर हो गए।

ऐसे-ऐसे साहसिक काम करने वाला, बल्कि जिसके बाप-दादा भी साहसी वीर पराक्रमी रहे हों, उस १८५७ की क्रान्ति से लेकर आठ महीने लगातार भटकता भटकता अंग्रेज़ों को नाकों चने चबवाता रहा हो और युद्ध में दाहिनी भुजा कट जाने पर भी मुकाबले से न हटा हो तो उसके इस अद्वितीय शौर्य की उसके शत्रु भी प्रशंसा करें तो आश्चर्य नहीं, उचित ही था।

और ऐसे वीर पराक्रमी शहीद में उसके बाप-दादा की वीरता काम करती हो तो क्यों न उनके भी साहस की घड़ियाँ याद आएँ।

विमल कुटीर, १ बी-२२, लाजपतनगर,
नई दिल्ली १४

—श्याम विमल शास्त्री

तुम केवल एक बार ही जीते हो। यदि तुम अपने पत्ते ठीक तरह खेलो—तो एक बार जीना ही पर्याप्त है।

—जो. ई. ल्यूइस

वसुधैव कुटुम्बकम्

[प्रशान्त महासागर पर अमरीका जाने वाला एक जलयान। उसके द्वितीय श्रेणी के कक्ष में एक भारतीय संन्यासी और कई अमरीकन यात्रा कर रहे हैं। संन्यासी की साधारण वेषभूषा देख कर एक अमरीकन वार्तालाप की इच्छा से निकट आता है।]

अमरीकन : आप कहाँ जा रहे हैं ?

संन्यासी : अमरीका।

अमरीकन : आप अमरीका जा रहे हैं। क्या यही वेषभूषा अमरीका जैसे सभ्य और शिक्षित देश के लिए पर्याप्त है ?

संन्यासी : अवश्य।

अमरीकन : अमरीका जाकर आप क्या करेंगे ?

संन्यासी : जिसके लिए भगवान् ने मुझे संसार में भेजा है, वही करूँगा।

अमरीकन : आपके पास अमरीका में रहने के लिए कितनी पूँजी है ?

संन्यासी : सारे संसार की पूँजी मेरी है, सारे संसार के लोग अपने हैं।

अमरीकन : मैं सारे संसार के विषय में नहीं पूछ रहा हूँ; आपकी व्यक्तिगत सम्पत्ति जानना चाहता हूँ।

संन्यासी : जब सारा संसार मुझमें और मैं सारे संसार में हूँ, तब सारे संसार की पूँजी, ऐश्वर्य सब कुछ मेरा ही है।

अमरीकन : आपने अमरीका में ठहरने के लिए क्या प्रबन्ध किया है ?

संन्यासी : (मुस्करा कर) इतने बड़े देश में क्या एक व्यक्ति के लेटने के लिए दो गज जगह भी न मिलेगी ?

अमरीकन : (झुँझला कर) अजीब आदमी हो। जाते हो अमरीका ! एक सभ्य और शिक्षित देश में। परन्तु न तो वहाँ कहीं ठहरने का प्रबन्ध किया है, न रुपया पैसा ही साथ लेकर चले हो। वहाँ जा कर भूखों मरोगे। कोई एक पैसा भी न देगा।

संन्यासी : (खिलखिला कर हँसते हुए) मेरी समझ में यह नहीं आता कि सभ्य और शिक्षित देश में भूखों मरने का क्या कारण ? क्या सभ्यता और शिक्षा यही सिखलाती है ? यदि यही सिखलाती है, तो मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं।

अमरीकन : मैं आपके कहने का आशय नहीं समझ सका। स्पष्ट रूप से कहिए।

संन्यासी : आप मेरा आशय और मुझको कभी भी नहीं समझ सकेंगे। मैं सारे संसार का बादशाह हूँ। अमरीका क्या, संसार के किसी कोने में भी, मैं भूखा नहीं रह सकता।

अमरीकन : (विस्मय से विनम्र हो कर) कृपया मुझे यह बतलाइए, कि आप स्वामी रामतीर्थ तो नहीं हैं ? जिनके भाषणों को पढ़ कर अमरीका पागल-सा हो उठा है।

(संन्यासी उत्तर न दे कर मुस्कराता है।)

[पट परिवर्तन]

द्वितीय दृश्य

[अमरीका का एक जलपानगृह। प्रातःकाल कुछ व्यक्ति चाय पीते हुए बातचीत कर रहे हैं।]

एक व्यक्ति : सुना है, स्वामी रामतीर्थ नामक एक भारतीय संन्यासी जापान होते हुए हमारे देश में आ रहे हैं।

दूसरा व्यक्ति : कौन ! स्वामी रामतीर्थ ?

पहला व्यक्ति : भारतीय संन्यासी स्वामी रामतीर्थ ! और कौन ? जिनके भाषणों की आज से कुछ दिन पहले समाचारपत्रों में धूम मची हुई थी।

तीसरा व्यक्ति : (चाय पीते हुए) आप ठीक कहते हैं। मैंने भी कई दिन पहले उनका टोकियो में दिया गया भाषण पढ़ा था। सचमुच ही, उस भाषण में जादू का-सा प्रभाव था।

पहला व्यक्ति : जादू ही नहीं, विश्वप्रेम को, भाईचारे को और सरल शान्ति को जगाने में उनका भाषण संसार में अनोखा था।

दूसर व्यक्ति : (आश्चर्य से) ऐसी बात है। तब तो ऐसे महात्मा का दर्शन करके हम लोगों को अपनी भौतिक लालसा अवश्य शान्त करनी चाहिए।

तीसरा व्यक्ति : अजी साहब । आप कहते क्या हैं। जब आँखों से देखेंगे तब ठीक-ठीक समझ सकेंगे। मुझे तो बड़ा आश्चर्य तब होता है, जब उनकी जादूभरी बातें सुन कर......।

(सहसा एजेण्ट आ कर 'टाइम्स' दे जाता है)

पहला व्यक्ति : ('टाइम्स' पढ़ते हुए) देखिए, हम लोग अभी-अभी जिन स्वामी रामतीर्थ के विषय में बातचीत कर रहे थे, उनका आगमन कल सायंकाल के जलयान से हो रहा है। समाचारपत्र ने उनके स्वागत के लिए समुद्री तार से मिला-जुला एक सम्वाद छापा है।

तीसरा व्यक्ति : क्या छपा है ?

पहला व्यक्ति : लिखा है कि यह समाचार जलयान के द्वितीय श्रेणी के कक्ष से 'टाइम्स' के प्रमुख सम्वाददाता द्वारा भेजा गया है। वह सम्वाददाता स्वामी जी के साथ इस समय यात्रा कर रहा है।

दूसरा व्यक्ति : यदि ऐसी बात है, तो हम लोगों को कल बन्दरगाह पर चल कर स्वामी जी का स्वागत धूमधाम से करना चाहिए। आपकी क्या राय है ?

तीसरा व्यक्ति : अवश्य ! मैं आपके विचारों से सहमत हूँ।

पहला व्यक्ति : (उठते हुए) अच्छा, कल सायंकाल इसी स्थान पर हम लोग फिर मिलेंगे, और यहीं से साथ साथ चल कर बन्दरगाह पर स्वामी जी का स्वागत करेंगे।

दोनों व्यक्ति : (हाथ मिलाते हुए) स्वीकार है।

(एक एक करके तीनों जाते हैं)

[पट परिवर्तन]

तृतीय दृश्य

[अमरीका का बन्दरगाह। हजारों की संख्या में अमरीकी लोग स्वामी रामतीर्थ के स्वागत के लिए आए हैं। धीरे-धीरे जलयान निकट आकर लंगर डाल देता है, और यात्रियों के साथ स्वामी रामतीर्थ भी उतरते दिखाई देते हैं।]

उपस्थित भीड़ : (हाथ उठा कर हिलाते हुए) हर्ष ! हर्ष !! जय !!! स्वागत ! स्वागत !!

स्वामी रामतीर्थ : (मुसकराकर अपने साथ वाले अमरीकन से) क्यों साहब ! क्या अब भी मुझे भूखों मरना होगा ?

अमरीकन : (लज्जित होकर) क्षमा कीजिए, मुझे अपनी बातों पर बड़ी ग्लानि हो रही है।

स्वामी रामतीर्थ : क्षमा करने वाला मैं कौन हूँ ? ईश्वर कल्याण करेगा, वही क्षमा करेगा।

अमरीकन : (हाथ मिला कर) धन्य है ऐसा देश, जहाँ आप जैसे महात्मा का जन्म हुआ।

स्वामी रामतीर्थ : (अमरीकन के कन्धे पर हाथ रख कर) मेरे प्रिय बन्धु ! क्या अपने देश में अब भी दो गज़ स्थान नहीं दे सकते ?

अमरीकन : मैं अपने हृदय में आपके लिए बहुत स्थान रखता हूँ। देश की बात जाने दीजिए। चलिए, मेरे घर को पवित्र कीजिए, मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए।

(सहसा कुछ पत्रकार आकर स्वामी रामतीर्थ से कुछ कहने की प्रार्थना करते हैं, और उन्हें वेटिंग रूम में ले जाते हैं)

स्वामी रामतीर्थ : (वेटिंग रूम में पहुँच कर, उपस्थित लोगों को नमस्कार करके) अमरीका निवासियो ! तुम्हारे सुन्दर विचारों को ग्रहण करने में मैं अपना सौभाग्य समझूँगा, परन्तु मुझे देना ही है, लेना कुछ भी नहीं। मैं तुम्हारे देश में शस्त्रों से नहीं, शास्त्रों से, हाथों से नहीं, बुद्धि से लड़ने आया हूँ। मेरा एक हाथ खाली है, इसमें तुम्हारी पवित्र भावनाओं को भरता हुआ मैं अपने देश को जाऊँगा। मेरा दूसरा हाथ वेदांत की पुस्तक लिए हैं, यह तुम्हें बहुत कुछ देगा; तुम्हारी लालसाओं को शान्त कर देगा। बस, इससे अधिक कुछ नहीं कहना है—

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया

ईश्वर तुम सबका कल्याण करेगा। ॐ शान्तिः, शान्तिः

[पट परिवर्तन]

—लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

ग्राम-पत्रालय, टेढ़ा
जिला उन्नाव (उ. प्र.)

शिव की प्रतिमा

सीढ़ियों से उतरते हुए श्रीकान्त ने अपना नाम सुना और उत्सुकता-वश ठिठक गया। देखा कि मौसा जी तथा केशव घरेलू बातों में काफ़ी देर से लगे हुए हैं और उनकी बातें भी संभवतः शीघ्र समाप्त होने वाली नहीं मालूम होती। यद्यपि वह मौसा जी से कुछ कहने के लिए ही उतर रहा था, किन्तु, कहने की शीघ्रता का स्थान उत्सुकता ने ले लिया और उसने केशव का एक वाक्य सुन ही लिया—'क्या मौसा जी ने रुपए नहीं चुका दिए थे पिता जी!'

'नहीं बेटा, ऐसा होता तो मैं श्रीकान्त को क्यों कष्ट देता?'

'लेकिन, पिताजी, श्रीकान्त भइया इस स्थिति में तो नहीं हैं कि वे एक पाई भी बचा सकें और आप रुपयों की संख्या तो बड़ी है, उनके लिए और भी बड़ी। पूरे तीन सौ देने के बाद भी अभी डेढ़ सौ और हैं।"

"तो क्या हुआ, जैसे इतना दिया, डेढ़ सौ भी दे देगा। मैं तो उससे सूद भी नहीं मांग रहा हूँ। यही क्या कम है आज के ज़माने में?"

"कम तो नहीं है, फिर भी भइया काफ़ी तकलीफ़ से ख़र्च चलाते हैं। मौसा जी के गुज़र जाने के बाद तो आधे रह गए हैं।......हाँ, क्या मौसा जी ने मृत्यु के पूर्व आपको पाँच सौ रुपए नहीं दे दिए थे?"

"तुम्हें सन्देह क्यों होता है केशव!"

"सन्देह नहीं, पिता जी! पुलिस के एक ऐसे अफ़सर के लिए पांच सौ रुपए चुकाना कोई मुश्किल तो नहीं है। आप भूलते तो नहीं हैं?"

"भला ऐसी भी भूल होती है पगले! रिसर्च करते करते तेरा दिमाग़ गड़बड़ा गया है, जा, कुछ खा ले, बड़ी देर से बैठा है।"

"जाता हूँ, लेकिन......!" कुछ सोचते-सोचते केशव उठा और सीढ़ियों की ओर जैसे ही बढ़ा, श्रीकान्त ने भी डग बढ़ा दिए और उतरते उतरते मौसा जी को प्रणाम किया। 'ख़ुश रहो, जीते रहो।' की वर्षा करते और अपराधी की सी फीकी हँसी हँसते हुए रामनाथ जी ने श्रीकान्त को बैठने के लिए कहा। एक कुर्सी खींच कर और केशव को भी अपने पास बुलाते हुए श्रीकान्त गया। केशव आ कर एक बार अपने पिता जी देखता और फिर श्रीकान्त को! जी में आया कि चला जाए किन्तु श्रीकान्त के व्यक्तित्व के प्रति इतना श्रद्धालु है कि उसके पाँव सीढ़ियों पर नहीं और एक दूसरी कुर्सी खींच कर वह भी बैठ गया।

"उमेश कहाँ है भइया?"

"यूनिवर्सिटी में होगा।"

"उसको कोई काम क्यों नहीं दिला देते श्रीकान्त रामनाथ ने एक बार केशव की ओर देखते हुए और उससे समर्थन पाने की आशा की।

"यह भी कोई बात है!" श्रीकान्त के कुछ से पूर्व ही केशव बोला।

"क्यों नहीं? श्रीकान्त का बोझ काफ़ी हल हो जाएगा।" रामनाथ जी ने कहा।

"नहीं मौसा जी, वह तो अभी बच्चा है। मुझ तीन ही साल छोटा है तो क्या, लेकिन, बहुत भोला है मैं नहीं चाहता था कि उसका विकास मारा जाए उसे पिता जी का अभाव बुरी तरह खटके।"

"हाँ भइया जी! कम से कम एम. ए. तो कर लेना चाहिए उमेश को। अब तो केवल दो वर्ष लगेंगे, कट ही जाएँगे किसी न किसी तरह।"

"तुम छोकरों की बातें समझ में नहीं आतीं देखो श्रीकान्त, केशव जैसे चुटकियों में ही दो वर्ष लेगा! ख़ैर बेटा, जाने दो, यह सब तो चलता रहेगा। जाओ, केशव, ऊपर जाओ।"

"जाता हूँ।" केशव सीढ़ियों पर चढ़ने लगा रामनाथ जी ने अपनी कुर्सी श्रीकान्त की कुर्सी के खींच ली। श्रीकान्त बोला—

"मौसी जी तो कुछ न कहेंगी, अगर आप आपत्ति न हो तो।"

"बात यह है बेटा, तुम्हारी मौसी को तो घर रहना है। बाहर की सारी मुसीबत मैं झेलता हूँ जाने दो, मुझे सिर्फ़ सौ रुपयों का इन्तज़ाम और दो श्रीकान्त, मैं किसी तरह चला लूँगा। जानते हो

शादी का मामला है। रिसर्च स्कालर का विवाह, तुम्हारे मौसा जी की इज़्ज़त—मर्यादा!"

"सो तो है ही। मैं कोशिश भी करूँगा, लेकिन, अब जैसे कोई उपाय नहीं सूझता। मैं क्या करूँ? इसीलिए मौसी जी से मुहलत माँगने आया था।"

"मुहलत की क्या बात थी बेटा, यह तो तुम्हारे ही छोटे भाई की शादी की बात है। जैसी मुहलत तुम्हारी मौसी ने दी, वैसी ही मेरी ओर से भी समझो श्रीकान्त, लेकिन, तुम जानते हो कि बारात......।"

"हाँ, मैं पीछे तो नहीं हटता, लेकिन, मजबूर हो गया हूँ न, वर्ना जैसे उतना चुकाया, इतना भी दे ही दूँगा किसी न किसी तरह। कोई यह तो नहीं कहेगा कि रामेश्वर जी के लड़के निकम्मे हैं। मैं मर कर भी दूँगा मौसा जी, लेकिन, सिर्फ़ इतना कहने आया था कि इस रुपए के लिए मेरे ऊपर निर्भर मत रहिएगा, वैसे भगवान् जानता है कि मैं टालमटोल नहीं करता।"

"ठीक है श्रीकान्त, मैं तुम्हें केशव से कम नहीं चाहता बेटा, लेकिन, तुम्हें तकलीफ़ देने को मजबूर हूँ।"

"मौसा जी, मैं कैसे कहूँ आपसे? देखिए, सामने भगवान् शंकर की मूर्ति है, इनके सामने कोई भी झूठ बोलने का साहस नहीं कर सकता। मैं इनको साक्षी देकर कहता हूँ कि मैं प्रयत्न करूँगा।" इतना कह कर श्रीकान्त ने रामनाथ को बड़े आवेशपूर्ण नेत्रों से देखा और फिर बाहर की ओर आँखें फेर कर जैसे किसी शून्य परिधि में खो गया। यह दृष्टि निपट शून्य तो नहीं थी, किन्तु, अनेक विचारों की तीव्रता ने जैसे उसकी चेतनता को थका दिया था और वह बाहर की ओर देख कर भी कुछ देख नहीं पा रहा था। रामनाथ ने एक बार शिव की प्रतिमा की ओर और फिर श्रीकान्त की ओर देखा। उनमें एक विचित्र परिवर्तन-सा हुआ और सम्हलते हुए उन्होंने श्रीकान्त से कहा—'अच्छा बेटा, शाम को मिलना।' और यों ही अलमारी खोल कर निष्प्रयोजन ही कुछ खोजने लगे। श्रीकान्त के चले जाने पर वे कुछ प्रकृतिस्थ हुए और शिव की प्रतिमा की ओर भयभीत-से देखने लगे। द्वितीया के चन्द्रमा से सुशोभित जटा-जूट में लिपटी गंगा, गले में सर्प, हाथों में त्रिशूल और डमरू, व्याघ्राम्बर पहने त्रिलोचन के दो बड़े बड़े तेजों में जैसे कोई अभूतपूर्व ज्योति थी जो रामनाथ की दोनों आँखों को बँधती हुई उनके अन्तरतम में प्रविष्ट होने लगी। आज पहली बार इन दो नेत्रों को देख कर कुछ भय लगा और बहुत साहस बटोर कर भी रामनाथ इस प्रतिमा को निर्द्वन्द्व नहीं देख सकते थे। दोनों नेत्र जैसे व्यंग कर रहे हों—गरलपान करने वाले की प्रतिमा की परिक्रमा करके, निश्छल और निरीह सम्बन्धी का रक्त चूसने वाला ढोंगी! कितना क्रूर है तू! श्रीकान्त का अस्वस्थ-उदास चेहरा, आधा भूखा परिवार, सैकड़ों दुःखी परिवारों की सहायता करनेवाले रामेश्वर की सन्तानों का अभाव-ग्रस्त जीवन, उमेश की शिक्षा की समस्या, उसकी विधवा माँ की तेज़ी से ख़राब होती हुई दोनों आँखों, अपनी ससुराल से पीड़ित निर्दोष बहन तथा भानजे के भरण-पोषण का भार, मामूली क्लर्क सीधा, सरल और पिता के गौरव का प्रतीक, पिता-द्वारा चुकाए हुए रुपयों को दुबारा चुकाने का साहस और सब समझ कर भी मौन रहने वाले युवक का धैर्य, क्या इस सब का कोई अर्थ नहीं है? जैसे द्वितीया का चन्द्रमा भी मुस्कराया—बड़े चतुर हो रामनाथ! पाँच सौ रुपए की बेईमानी करने वाले आदमी क्या अपनी बुद्धि पर घमण्ड नहीं कर सकता? क्या हुआ अगर श्रीकान्त को खपना और तपना पड़ता है! केशव की दुलहन, धनी रिश्तेदार, लम्बा दान-दहेज पाने के लिए तैयारी भी तो करनी है और इस तैयारी के लिए कोई मूर्ख फँसता है तो बुरा क्या है रामनाथ! वह कम्बख़्त यह जानते हुए भी कि उसके पिता ने रुपए चुका दिए थे, केवल उनके हाथ का रुक़्क़ा देख कर यह रक़म दुबारा चुकाने के लिए तैयार हो गया।

ऐसे मूर्ख की मूर्खता से लाभ उठाने में क्या दोष है। सारी दुनिया लाभ उठाती है रामनाथ! फिर जैसे गले में लिपटा हुआ सर्प सरकने लगा और रामनाथ की ओर बढ़ने लगा—अभागा, विधवा के दो मासूम बेटों की शराफ़त का फ़ायदा उठा कर......' भगवान् भूतभावन की जटा में कम्पन-सा हुआ, त्रिशूल तमतमा गया, उनके नेत्रों का प्रकाश और तीखा हो गया, रामनाथ ने आँखें मूँद लीं, लेकिन, यह क्या, आँखें बन्द होने पर तो प्रतिमा और तेज़ी से घूरने लगी है। रामनाथ ने हाथ जोड़ दिए और अनचाहे बुदबुदाने लगे—"रक्षा करो नाथ, क्षमा करो नाथ, रास्ता दिखाओ भगवान्!" इस प्रकार के मन्द और श्लथ उच्चारणों को सुन कर केशव की माता जी ने ज़ोर से कहा—"दिन भर प्रार्थना पूजा ही होती रहेगी या कुछ खाओगे भी।"

रामनाथ जैसे अपनी दुनिया में लौट आए। "हाँ, अच्छा आता हूँ, परोसो, आ गया"...के साथ कमरे का किवाड़ बन्द कर दिया और शिव की प्रतिमा से मुक्ति मिल गई। रामनाथ धीरे-धीरे सीढ़ियों पर चढ़े और रसोई घर में आ गए।

"क्या सोच रहे हो?" थाली सरकाते हुए केशव की माँ ने कहा।

"कुछ नहीं।" रामनाथ भोजन करने लगे।

"कुछ तो है। श्रीकान्त आया था, मुझ से तो उसकी परेशानी नहीं देखी गई, कह दिया—बेटा जब चाहो दे जाना, बरात तो जाएगी ही और काम भी चल जाएगा। बेचारा रुआँसा हो रहा था, अगर जीजा जी जीवित होते तो इतना कष्ट नहीं होता न उसे। जीजा जी की भी क्या बात थी......।" केशव की माँ ने आँचल आँखों से लगा लिया और करुणा को छिपाने का व्यर्थ प्रयास करने लगीं। रामनाथ का संघर्ष और बढ़ गया और वे चौके से उठ गए। केशव के कमरे में जाकर उसका चित्र देखने लगे—बाईस वसन्तों को पार कर जैसे इन सारे वसन्तों की प्रफुल्लता और श्री लेकर केशव उनकी सारी आकांक्षाओं का केन्द्र बन गया है। रिसर्च स्कालर, फिर किसी यूनिवर्सिटी का प्रोफ़ेसर, डी. फ़िल. होगा तो लम्बा वेतन पाएगा ही, इतना दहेज भगवान् का दिया बहुत है रामनाथ के पास। भावी बहू का सुन्दर चित्र भी उठा कर रामनाथ ने केशव के चित्र के बाएँ रख दिया और सुन्दर जोड़ी को देख कर प्रसन्नता और अभिमान से भर उठे। सुन्दर दम्पति, सुशिक्षित, सुशील और सुखी। सुन्दर सन्तानों की किलकारियों से घर गूँजता रहेगा—"बाबा, हमको खिलौना ला दो, हम को मिठाई दे दो।" कितने सुन्दर होंगे वे दिन। फिर ध्यान आया कि बरात की तैयारियाँ हो रही हैं और उन्हें काफ़ी काम करना बाक़ी है, लेकिन रामनाथ का मन फिर इस सुन्दर जोड़ी को देखने तथा भविष्य की अनेक मोहक कल्पनाएँ करने में लग गया। अगले वर्ष केशव को डी. फ़िल. मिल जाएगा और कहीं न कहीं अच्छी जगह पर भी नियुक्त हो जाएगा। बरात शान से जाएगी, एक ही तो लड़का है, कोई अरमान क्यों बाक़ी रह जाए। काफ़ी रुपए लुटाऊँगा, कई संस्थाओं को दान भी दूँगा—५१ रुपए गोशाला को, १०१ रुपए बालिका विद्यालय को, २०१ रुपए जातीय संस्था को और......और इसी तरह, रुपए एकत्र कर ही लिए हैं। फिर रामनाथ को एक झटका-सा लगा और श्रीकान्त का पूरा व्यक्तित्व उनके सामने से गुज़र गया। अब जैसे कल्पनाओं के पंख शिथिल होने लगे, भविष्य के सुन्दर स्वप्नों के रंग फीके पड़ने लगे और वह शिव की प्रतिमा जैसे इन दो तसवीरों पर उभरने लगी। इन चित्रों की रेखाएँ और भंगिमाएँ दबने लगीं और सहसा शिव की पूरी प्रतिमा मुस्कराने लगी—जटा, चन्द्रमा, गंगा, सर्प, डमरू, त्रिशूल, बाघम्बर और न जाने क्या क्या, किन्तु सबसे अधिक भयानक हैं ये आँखें जो कलेजे में पैठ कर भीतरी चोर को बेधने लगती हैं। क्या भगवान् को धोखा दे रहा हूँ मैं? सारा संसार ही ऐसा करता है। नित्य प्रति मन्दिरों में जाने वाले लोग भी सब तरह से रुपए जमा करते ही हैं, मैंने क्या किया है। कभी श्रीकान्त को आवश्यकता पड़ी तो मैं क्या नहीं दे सकता? मैं गाढ़े दिनों में उसकी मदद कर सकता हूँ। केशव भी उसे बड़े भाई की तरह मानता ही है, लेकिन फिर दूसरे ही क्षण यह तर्क भी लुप्त हो गया और अपने कलुष की भयानकता से मुँह छिपाने का आवरण भी जाता रहा। उन्हें लगा कोई व्यंग कर रहा हो—श्रीकान्त को लूट कर उसी की सहायता करने का ढोंग किसलिए रामनाथ! बड़े प्रवीण हो तुम! यह ढोंग भी तो कोई नहीं देख पा रहा है—अपने आप से अपने आप को बचाने का यह प्रयास भी कितना हास्यास्पद है रामनाथ! और जैसे कोई अट्टहास कर उठा। फिर वही शिव-प्रतिमा! रामनाथ अन्दर से अपनी शक्ति समेटने लगे, किन्तु, कितनी विवशता थी कि यह शक्ति बार-बार बिखर जाती। रामनाथ के अन्दर ये दो व्यक्ति टकरा ही रहे थे कि आवाज़ आई—"मौसा जी, मौसा जी!" श्रीकान्त पुकार रहा था।

"आया बेटा!" सीढ़ियाँ उतरते हुए रामनाथ ने कहा।

"ये लीजिए पचास रुपए, बाकी लौट आइए तब दे दूँगा।"

"ऐसी भी जल्दी क्या थी श्रीकान्त, रुपए तो आ ही जाते।"

"उमेश को मिल गए थे और वह लेता आया सीधे मेरे पास।"

"अच्छा, तो ठीक है बेटा, अरे ओ केशव की

माँ! श्रीकान्त को नाश्ता तो करा दो। हाँ बेटा बरात में तो चल रहे हो न?"

"क्यों नहीं मौसा जी, ऐसे मौक़े बार-बार थोड़े ही आते हैं?"

"तो बेटा नाश्ता करो।" मिठाई की तश्तरी रखती हुई केशव की माँ बोली और पानी लेने के लिए अन्दर चली गई। श्रीकान्त ने एक मिठाई उठा कर मुँह में रख ली और फ़िक्र में पड़ गया कि बरात के लिए कपड़ों का प्रबन्ध कैसा होगा?

"क्या सोच रहे हो बेटा।"

"कुछ नहीं मौसा जी! अब चलूगा मुझे भी तो कुछ तैयारी करनी होगी।" श्रीकान्त उठने लगा। पानी पीने का ध्यान भी उसे न रहा।

"अच्छी बात है। शाम को बरात के समय आ जाना, साढ़े आठ में रवाना होंगे सब लोग।"

"अभी कहाँ चल दिए बेटा, पानी तो पी लो।" गिलास बढ़ाती हुई मौसी ने तश्तरी फिर श्रीकान्त के आगे कर दी। श्रीकान्त ने एक और मिठाई खा ली और पूरा गिलास उतार गया।

श्रीकान्त के चले जाने के बाद रामनाथ बरात की तैयारियों में लग गए। शाम कब हो गई, इसका पता उन्हें नहीं लगा। जब पड़ोस के मन्दिर में घण्टे बजे और स्त्रियों ने मंगल-गीत आरम्भ कर दिए तब उन्होंने केशव को पालकी में बैठाने का आदेश दिया तथा बरात के लोगों के रवाना होने से पूर्व चन्दन-टीका का आयोजन किया गया। सब ने शिव-प्रतिमा को प्रणाम किया और पालकी चल पड़ी। रामनाथ भी प्रतिमा की ओर बढ़े, किन्तु, क़दम डगमगाने लगे, चक्कर-सा आने लगा। किसी प्रकार चौखट तक पहुँचे और प्रतिमा की ओर देखे बिना ही सिर झुकाए हुए कुछ श्लोक पढ़े और आँखें मूँदे ही मुड़ गए, जैसे उनके मन में कोई बोल उठा—ख़ैर, जाओ, मंगल ही होगा, किन्तु अभी बहुत कुछ सोच कर कुछ निश्चय करना है—कुछ बड़ा अशोभन और अवांछनीय हो गया है उसका निराकरण करके आत्मा को मुक्त करना है। एकाएक रामनाथ की दृष्टि श्रीकान्त पर पड़ी और वे बड़बड़ा गए—"आत्मा को शुद्ध करना है, मुक्त करना है।"

"क्या मौसा जी! और लोग कहाँ हैं?"

बरात रवाना हो गई बेटा, तुमने कहाँ देर कर दी?' पूछते-पूछते रामनाथ का ध्यान श्रीकान्त के कुर्ते और धोती पर चला गया। वही कुर्ता, वही धोती—निश्चय ही, वही कुर्ता वही धोती, जो श्रीकान्त तीसरे पहर को पहने था—शायद इसी को साफ़ करके और लोहा करके पहन लिया। अपनी गम्भीरता और अनुताप को दबाते हुए रामनाथ श्रीकान्त के साथ बरात में जा कर व्यस्त हो गए— खो गए।

रामनाथ के घर में मंगल-गीतों तथा स्त्रियों के नृत्यों का बड़ा रंगीन समारोह निरन्तर चल रहा है। घर-भर में बड़ा उत्साह है, उमंग है। अभी-अभी लाला छदामी लाल पण्डित रामनाथ से यात्रा तथा व्यापार-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का समाधान कराने के लिए आए—अगर पत्रा ने किसी शुभ मुहूर्त की सूचना दी तो वे आज ही पाँच लाख रुपए सट्टे में लगा देंगे। पं० रामनाथ ने लाला जी को अनेक बातें बताईं और धन-संग्रह के सम्बन्ध में अनेक उपाय उनसे सीखे। लाला चले गए और रामनाथ अकेले विचार-मग्न हो गए। केशव का विवाह शान से हुआ, सुन्दर से सुन्दर और सुशील बहू मिली। भारी दहेज मिला, लेकिन रामनाथ को शान्ति क्यों नहीं मिल रही है? संभवतः श्रीकान्त से सम्बन्धित, उनके द्वारा ऐसा कुछ अवश्य हो गया है जिसके कारण वे अपराधी हैं, दोषी हैं, अतः इसका परिष्कार भी होना ही चाहिए। लेकिन, रामनाथ ने किया ही क्या? अभी-अभी लाला छदामी लाल आए थे। दो या तीन वर्षों में करोड़पति बन गए हैं। चोर-बाज़ार, काट-कपट, धोखा-धड़ी खुशामद और पचास तरह की 'चार सौ बीस' हरकतें—कितने प्रसन्न हैं लाला जी मैंने ही आख़िर क्या कर दिया है। अगर मुफ़्त में ५००) रुपए मिल गए तो क्या बुरा हो गया! माना श्रीकान्त से ये रुपए वसूल नहीं किए जाने चाहिए जब कि रामेश्वर भैया ने मृत्यु से पूर्व ही चुका दिए थे, किन्तु, उनके हाथ का लिखा हुआ रुक्का तो मेरे पास है। मैंने इस रुक्के से कुछ फ़ायदा उठा लिया तो क्या कर लिया! सारा जमाना यही करता है, कौन नहीं करता? आज श्रीकान्त से पाँच सौ रुपए ले रहा हूँ. कल उसे दे भी तो सकता हूँ! जब चाहेगा—जब भी उसे ज़रूरत होगी, दूँगा ही! मेरा भी रुपया उसका ही है! मैं रुपए देकर फिर उससे वसूल थोड़े ही कर पाऊँगा। नहीं, नहीं, कुछ नहीं, पाँच सौ रुपए छोड़ना आसान

नहीं है ! अब तो चार सौ रुपए ले ही चुका हूँ, सिर्फ़ सौ रुपयों की बात और है। अगर ये रुपए छोड़ भी दूँ तो श्रीकान्त का सन्देह बढ़ जाएगा और वह सचमुच समझ लेगा कि रुपए उसके पिता जी ने अवश्य चुका दिए होंगे। कम्बख़्त अब भी चुप है, सन्देह करता है और कहता भी नहीं।

अगर वह किसी दिन झगड़ जाता या देने से इनकार कर देता और मैं कह देता कि "भाई तुम भी तो अपने ही लड़के हो, क्या हुआ अगर रुपए तुम्हारे पास ही रहें, तो एक अच्छी बात होती, मन पर इतना बोझ तो न होता। अगर सौ रुपए छोड़ देने के अतिरिक्त ये चार सौ रुपए भी लौटा दूँ तो श्रीकान्त क्या सोचेगा ? माना कि वह प्रसन्न ही होगा, लेकिन मैं किसी को मुँह कैसे दिखा सकूँगा। जान-बूझ कर अपने पैर में कुल्हाड़ी क्यों मारूँ ? मैंने किया ही क्या है ? धरती पर अधिकतर लोग यही करते हैं—सभी यही करते हैं। मैं अपने हाथों अपने मुँह पर कालिख क्यों लगाऊँ ? कुछ नहीं जो किया, सब ठीक किया। रुपया और आएगा कैसे ? रुपए बिना काम भी तो नहीं चलता। रुपया ही भगवान् है आजकल। चार पैसे है तो सभी पूछते हैं, नहीं है तो कोई बात भी नहीं करता। सब ठीक, सब ठीक सब ठीक है। केशव का डी. फिल्, फिर नियुक्ति और फिर अच्छा वेतन और...न जाने क्या-क्या......। रामनाथ यह सब सोच ही रहे थे और अनेक कल्पनाओं में खोए ही हुए थे कि किसी ने कहा—'केशव को तेज़ बुख़ार है और ज़ोरों की कँपकपी छूट रही है।" रामनाथ सिर पर पैर रख कर दौड़े और केशव की नाड़ी टटोलने के बाद माथा, सीना और चेहरा अच्छी तरह देखा। डाक्टर घोष को बुलाया गया। डाक्टर घोष शहर के सब से बड़े, अनुभवी और प्रसिद्ध चिकित्सक हैं। एक दिन—दो दिन—दस दिन, मलेरिया, टाइफ़ाइड के लक्षण और फिर निमोनिया—आज इक्कीसवाँ दिन हो गया है। रामनाथ ने केशव के पास दिन रात एक कर दिया है। नवागता के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही हैं। केशव की माँ हज़ारों मनौतियाँ मान चुकी हैं—दौड़—दौड़ कर शिव की प्रतिमा के पास सैकड़ों बार जा चुकी हैं—सत्यनारायण की कथा करवाएँगी, काली माता के लिए बलि भी चढ़वा देंगी, गंगा माई को पियरी और कड़ाही भी कर दी जाएगी, महावीर—लेनवाले हनुमान् जी को पाँच सेर लड्डु भी चढ़ेंगे, कल्याणी माता के मंदि में भी पूजा—अनुष्ठान होगा, लेकिन केशव की हालत बिगाड़ती जा रही है। डा० घोष इन्हीं इक्कीस दिनों मे पचासों बार आ चुके हैं, नहीं, बार-बार बुलवाए गए हैं। रामनाथ और उनकी पत्नी की अधीरता पर उन्हें रहम तो आता है, किन्तु, चिढ़ भी जाते हैं। डा० घोष ने नींद की दवा दी है। केशव सो रहा है। कई दिनों बाद उसे ऐसी नींद आई है।

सोए-सोए अंट-संट बड़बड़ाता भी जाता है। रात के बारह बज गए हैं। रामनाथ को भी नींद नहीं आ रही है। कई दिनों से अख़बार नहीं देखा। आज का दैनिक 'भारत' मेज़ पर पड़ा है। एक पन्ना रामनाथ ने उठा लिया और......भयंकर समाचार—'एकलौते बेटे की मौत'—रामनाथ का दिल ज़ोरों से धड़का, पूरा समाचार पढ़ गए—"पहले मलेरिया, फिर टाइफ़ाइड और फिर निमोनिया—करोडपति सेठ बदलूराम पानी की तरह रुपया बहा कर भी अपने एकलौते लल्लू को नहीं बचा सके, नहीं बचा सके।" रामनाथ का माथा ठनका। दुर्भावनाओं और आशंकाओं ने उन्हें दबोच लिया—केशव भी एकलौता, मलेरिया फिर टाइफ़ाइड और फिर निमोनिया और......और..... नहीं, नहीं, ऐसा नहीं होगा। रामनाथ ने किसी प्रकार इन आशंकाओं को धकेला और मन की शक्ति संचित की, लेकिन अन्दर से मन को जितना समेटते हैं, उतना ही बिखर जाता है—'एकलौते बेटे की मौत' समाचार का शीर्षक है और जैसे इसका एक-एक अक्षर कोई वास्तविकता बनने के लिए बढ़ रहा है और समूचे वातावरण को घेर रहा है, ढक रहा है। केशव—अर्थी, चिता, लपटें, केशव की विधवा, केशव की निपूती माँ—नहीं, नहीं गलत, झूठ, कमज़ोरी है—नहीं होगा, ऐसा नहीं होगा—मैं इतनी अशुभ कल्पनाएँ क्यों कर रहा हूँ। रामनाथ ने 'भारत' की वह प्रति उठा कर मरोड़ी और फिर कई पुस्तकों से दबा कर रख दी। हठात् उनकी दृष्टि केशव और उनकी नववधू के चित्र पर पड़ी। केशव हलका मुस्करा रहा है, नववधू शीत और लज्जा—मिश्रित प्रफुल्लता लिए है। हँसो बेटा, जियो—फूलो—फलो। मैं भी कितना मूर्ख हूँ—वाहियात ख़ुराफ़ात—अनिष्ट की निराधार आशंका—तुम ठीक हो जाओ तो बेटा—जल्दी ठीक हो जाओ केशव, स्वस्थ हो जाओ और राम-

नाथ की निगाह केशव के रुग्ण—क्लान्त चेहरे पर पड़ी।—केशव सो रहा है—एक बज गया है। रामनाथ कुछ तो जागने और कुछ मानसिक अस्वस्थता के कारण जैसे टूट गए हैं, भारी हो गए हैं, शिथिल और श्लथ हैं। आशंकाओं से पीछा न छूटते देख रामनाथ शिव की प्रतिमा की ओर बढ़े, किन्तु, प्रतिमा को देखने का साहस नहीं हुआ। केशव की नींद खुली और उसने माँगा—'पानी!' रामनाथ तत्काल दौड़े और गिलास केशव के मुँह से लगाते हुए पूछा—

"कैसी तबीयत है बेटा!"

"जी घबरा रहा है।"

"ठीक हो जाओगे, पानी पी लो केशव!"

"तबीयत बहुत खराब लग रही है।"

"ठीक हो जाओगे बेटा! घबराओ नहीं, अब तो पहले से बहुत अच्छे हो।"

"मुझे न जाने कैसा लग रहा है।" कहता हुआ केशव लेट गया।

किसी तरह सबेरा हुआ और रामनाथ की जान में जान आई, लेकिन, कमरे में अब भी अँधेरा था, इसलिए बिजली की मन्द रोशनी रक्खी गई थी। अचानक केशव चीखा। 'पसलियों में दर्द, सीना फट रहा है। पिता जी, नहीं बचूँगा। हे शिव, हे जगदम्बे! ओह, माँ......ओह पिता जी दर्द......।' और केशव बेहोश हो गया। इतने में पड़ोस के शिवालय में घण्टे बजने लगे, आरती के गीतों के स्वर गूँजने लगे। पं० रामनाथ ने भी दुहराया—"ओं जय जगदीश हरे!" और उनका रोम-रोम प्रार्थना-मय हो उठा। उनको तल्लीन देख कर पत्नी ने कुछ नहीं कहा, शीघ्रता में आए हुए डाक्टर घोष की ओर कुर्सी बढ़ा दी। डाक्टर ने केशव की परीक्षा की और एकाएक चौंक उठे। उनका आशय समझ केशव की माँ फूट पड़ी और पति को झकझोर कर कहा—'मेरा लाल।......डाक्टर साहब बचा लीजिए मेरे लाल को......।' और उनकी सारी करुणा आँखों में घुल कर टप-टप चूने लगी। रामनाथ ध्यान से विचलित हो कर भी नहीं उठे। फिर अपनी मग्नता में एकाएक मुस्कुराए और दौड़ कर तिजोरी की ओर बढ़े, कुछ निकाला और 'श्रीकान्त! श्रीकान्त!' पुकारते हुए गली की पचास गज़ की लम्बाई एक साँस में पार कर गए। श्रीकान्त केशव को देखने के लिए आ रहा था। रामनाथ उससे लिपट गए—'क्षमा करो बेटा! ये लो अपने पाँच सौ। तुम्हारे पिता जी ने रुपए चुका दिए थे। यह मेरी भूल थी बेटा, नहीं, अपराध, नहीं, नहीं, पाप मेरा, पाप था बेटा!... क्षमा करो करुणाकर शंकर, क्षमा करो त्रिलोचन!' और हाँपते हुए केशव की ओर दौड़े। श्रीकान्त हक्का-बक्का-सा केशव की ओर बढ़ा और खिड़की की आड़ से डाक्टर को देखा।

डाक्टर घोष ने सन्तोष की साँस ली और मुस्कराए। केशव ने आँखें खोल लीं और पुकारा—'पिता जी।'—रामनाथ आतुर की भाँति केशव के सिरहाने बैठ गए और उसके सिर पर हाथ फेरने लगे—"खामोश रहो बेटा! डाक्टर ने मना किया है, मत बोलो।' डाक्टर घोष ने चलते हुए कहा—'अब चिन्ता की बात नहीं, खतरा टल गया।' रामनाथ शिव की प्रतिमा की ओर दौड़े और नत-मस्तक हो कर 'शिवापराध क्षमापन-स्तोत्र' का पाठ करने लगे। पाठ समाप्त होते ही शिव-मस्तक पर रक्खा हुआ कमल सरक कर रामनाथ के सिर पर गिर पड़ा और वे अचानक वेग से बहने वाली ठण्डी हवा के झोंके से अथवा भावना के आवेग से सिहर उठे।

रामनाथ ने प्रतिमा की ओर देखा—प्रतिमा मुस्करा रही थी, त्रिशूल चमक रहा था, गले का सर्प शान्त और निश्चल था। गंगा की धारा जटाओं से फिसल कर रामनाथ की आत्मा का कोना-कोना शीतल कर रही थी।

मजीदिया इस्लामिया कालेज,
इलाहाबाद, (यू० पी०)

—श्रीहरि

यदि आप यह जानना चाहते हैं कि भगवान् धन के विषय में क्या सोचते हैं तो उन लोगों को देखिए जिन्हें कि वह धन प्रदान करता है।

कला-चर्चा

आधुनिक कला और काशी शैली

यह तो हम सब को मालूम है कि स्वतन्त्रता के बाद भारतीय कला का विकास एक नये सिरे से तीव्र गति से हो रहा है। विशेष कर बम्बई की कला शैलियों में आज सभी मोड़ (ट्रेण्ड्स) देखने को मिल रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी कला के लिए इस प्रकार की नवीनतम कलागत प्रवृत्तियों का शुभागमन विशेष महत्व का है जब कि विश्व की कला धाराओं में यह लहर जोरों से दौड़ पड़ी है। इस वैज्ञानिक युग में यहाँ हम रोज़ बदलते रहते हैं वहाँ कला के क्षेत्र में आँख मूँद कर बैठे रहने से हमारा काम नहीं चलेगा। यदि जीवन से कला का कुछ भी सम्बन्ध है। जीवन को चिरस्थायी, सशक्त और प्राणवान बनाने के लिए ही मनुष्य आदि काल से कलाओं का आश्रय लेता आ रहा है। यह एक सत्य है जिसके लिए इन कलाओं की रचना आवश्यक हो जाती है। हमारे लिए कलात्मक जीवन का बहुत उपयोग है। उसे आनन्द और भोग की वस्तु मान कर हम अपने को ऊपर नहीं उठा सकते। कला का मुख्य कार्य और उद्देश्य वही है जो अन्य विद्याओं का होता है। एक वैज्ञानिक से कम महत्वपूर्ण कार्य कलाकार का नहीं है। कलाकार को भी अपनी कला द्वारा वही कार्य करना होता है जिससे समाज को अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो सके।

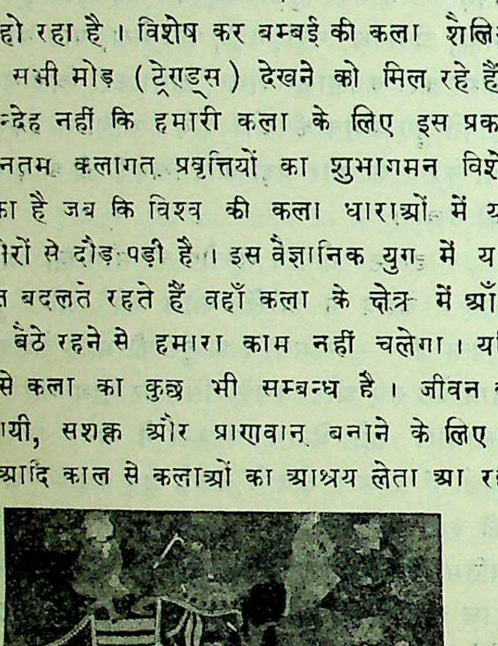

राजपूत बरात : काशी शैली

इस दृष्टि से आधुनिक कला का विकास भारत के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यहाँ प्रायः सभी 'इज़्मों का जन्म हो चुका है और आधुनिक चित्रों में इनका धड़ल्ले के साथ प्रयोग हो रहा है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें सफ़लता की कितनी आशा है, इसे हम आज की गतिविधि को देख कर ठीक अन्दाज़ नहीं लगा सकते। इसमें सर्व प्रथम एक मौलिक भेद है। जब तक हम इसे समझ बूझ कर न चलेंगे निःसन्देह हम इन 'इज़्मों' के शिकार होते रहेंगे। भारत जैसे विश्व विख्यात अध्यात्मवादी देश में हम भौतिकवादी प्रवृत्ति को अपना कर सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। यहाँ के साहित्य, संगीत और कलाओं में ही नहीं बल्कि ज़र्रे ज़र्रे में अध्यात्मवाद का वास सदियों से रहा है अतः उसे अलग कर हम अपने जीवन का वास्तविक विकास नहीं कर सकते। यहाँ की आधुनिकतम चित्रकलागत प्रवृतियों के सामने यही एक समस्या है और जिससे वह हमें आज उलझन के रूप में दीख पड़ती है। हमारे विचारकों को पग पग पर भ्रम का सामना करना पड़ता है और अन्त में हताश हो कर वह भी चुप-चाप बैठ जाते हैं। इन सब कठिनाइयों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि आज हमारे सामने कला के मार्ग में आगे क़दम बढ़ाने के लिए कोई अपना बनाया रास्ता नहीं है और न उसे बनाने में कोई प्रयत्नशील ही दीख पड़ते हैं बल्कि दूसरों के बने मार्ग पर चल कर सफलता का स्वप्न देख रहे हैं।

१९५७

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक समय में हमारे सामने क्यूबिज़्म, सूरियलिज़्म, इम्प्रेशनिज़्म आदि-आदि अनेक 'इज़्मों' का जन्म हो चुका है। यह समय की पुकार है। ऐसे परिवर्तनों और नवीन क्रान्तियों से कला में प्रगति आती है। अतः इस समय हमें इन प्रवृत्तियों का स्वागत कर अपनी परिस्थितियों और वातावरण के अनुकूल इनके उपयोग का एक अपना ढंग बनाना होगा। आज हमारा सम्बन्ध और सम्पर्क विश्व से दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है इसलिए हमारे उनके बीच कोई बाहरी भेद नहीं हो सकता परन्तु भीतरी मनोभावों में स्थानगत भेदभाव का होना स्वाभाविक ही है जहाँ से मौलिकता का जन्म होता है। इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो हर कला में जीवन का एक स्वतन्त्र प्रवाह पाते हैं। अतः जीवन और प्रवाह को गति देने के लिए हमें अध्यात्मवादी मार्ग अपनाना ही होगा। इस दृष्टि से अनेक कलागत गुत्थियों से गुजरती हुई भी काशी शैली आए दिन समस्त मुख्य प्रवृत्तियों का स्वागत करती है। यह भारत की प्राचीन चित्र शैलियों के प्रति विश्वास और आधुनिक के प्रति आशा रखती है। इस विश्वास और आशा के आधार पर ही यह शैली एक पूर्ण प्रगतिशील चित्र शैली के रूप में मौलिकता के साथ आती है।

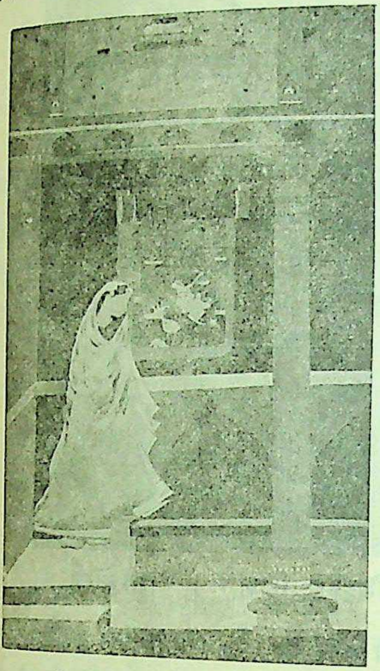

प्रेम प्रतीक : काशी शैली

आज हमारी क्या आवश्यकताएँ हैं? हमारे जीवन से चित्रकला का क्या सम्बन्ध है तथा उसकी उपयोगिता और उद्देश्य क्या है इसको ध्यान में रख कर इस शैली के चित्रकारों ने इसका विकास किया है। सम्भव है इस निर्णय को एकायक लोग स्वीकार न करें परन्तु जब इसका वे ध्यान पूर्वक अवलोकन करेंगे तो उन्हें निश्चय ही भारतीय कला में नए चरण के रूप में यह एक सही प्रयत्न जान पड़ेगा। इस चित्र शैली को

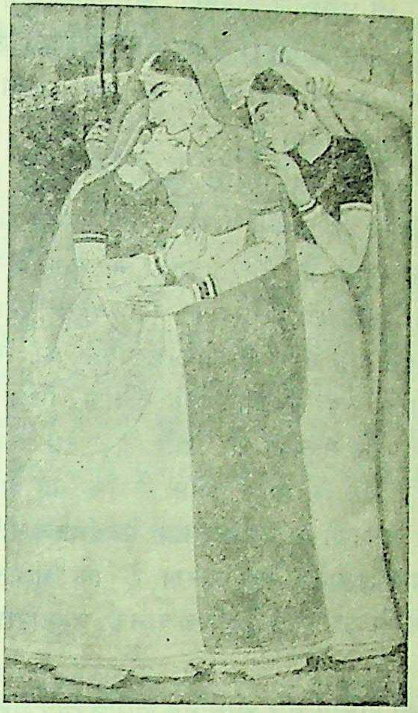

स्नेह की गोद में : काशी शैली

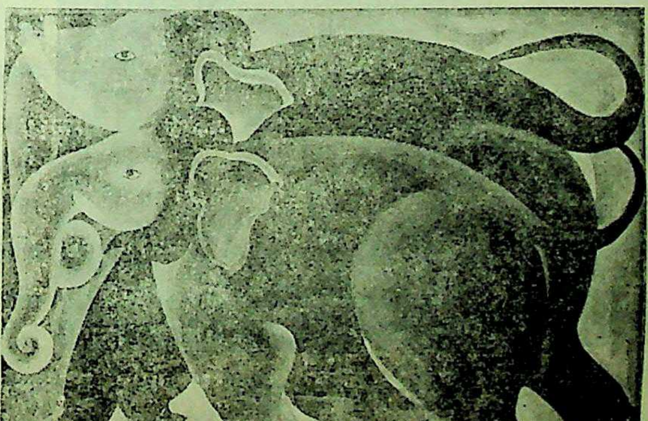

झूमते हाथी : काशी शैली

सवारने में यहाँ के प्रमुख चित्रकार श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री महेन्द्रनाथ सिंह, श्री कमल सिंह, श्री उमाशंकर पाण्डेय और श्री धर्मशील चतुर्वेदी आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन कलाकारों ने अपनी सूझबूझ और अध्ययन अभ्यास से इस कला शैली को आगे बढ़ने के लिए एक सही रास्ता दिया है।

अपनी आधार शिलान्यास करने के पहले यह बहुत जरूरी है कि हम अपनी परम्परा जो हमारे साथ छाया की तरह रहती है उसे एकदम न भूल जाय। कहना न होगा कि काशी में परम्परा का बहुत पुराना इतिहास है। इस दृष्टि से काशी लोक-कलाओं का केन्द्र है। चित्रकला के रूप में भी यहाँ दीवाल चित्रों की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही है। इस प्रकार काशी को ही यह सौभाग्य प्राप्त हैं कि वह अनेक विद्याओं और कलाओं के तीर्थ संगम से चित्रकला की एक नई धारा बहा सके। यही कारण है कि भारत के हृदय काशी से ही यह चित्र शैली अचानक प्रस्फुटित हो जाती है।

यह शैली प्राचीन और आधुनिक विभिन्न चित्र शैलियों और यहाँ की लोक कलाओं से प्रेरणा प्राप्त कर अपना एक प्रगतिशील स्वरूप लेकर हमारे सामने उतरती है। इस शैली के चित्रों में 'टेकनिक' (कार्य शैली) और विचारों का सौन्दर्य निराला मिलता है। इन चित्रों की शैली वर्णनात्मक ही है परन्तु उसमें दार्शनिक, आध्यात्मिक आदर्शवादी सभी प्रवृत्तियों को स्थान मिला है। आभासिक (इम्प्रेसनिष्ट) कला के आधार पर भी इस शैली में चित्र बने हुए प्राप्त होते हैं। इन चित्रों में सामाजिक जीवन के एक से एक सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं।

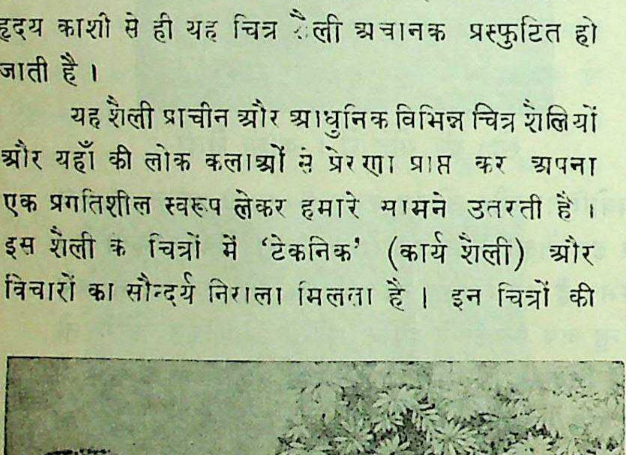

ग्वालिन : काशी शैली

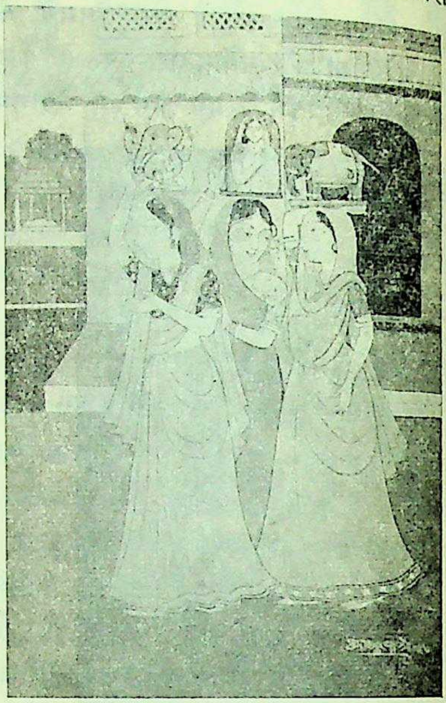

मिट्टी के खिलौने : काशी शैली

सामाजिक रीति-रिवाज, रहन-सहन, उत्सव-पर्व आदि के चित्रों में बड़ी सजीवता होती है। इस दृष्टि से श्री शुक्ल के बारात, प्रेम प्रसून, प्रतीक्षा, श्री महेन्द्रनाथ सिंह के गंगा पूजन, 'झूमते हाथी' वियोग 'स्नेह की गोद में बहिनें, श्रीकमलसिंह के झूला, श्री पाण्डेय के खिलौने और श्री धर्मशील चतुर्वेदी के वट सावित्री आदि चित्रों में सामाजिक जीवन के हर्ष उल्लास के क्षणों के अनुपम चित्र देखने को मिलते हैं। धार्मिक उत्सवों, त्योहारों के भी चित्र दर्शनीय है। इस शैली में हाथी, घोड़े, हिरन और सांडों के चित्रण की ओर भी इन चित्रकारों का ध्यान आकर्षित हुआ है।

ये चित्र आकार में बहुत बड़े होते हैं जिससे दूर से देख कर ही इन चित्रों का आनन्द प्राप्त हो जाता है। एक बड़े चित्र में कम-से-कम पात्रों और वस्तुओं का संयोजन होता है। इन चित्रों में बाहरी दृश्यों का बहुत कम उपयोग किया जाता है जिनके अभाव की पूर्ति चटकीले रंगों के विभिन्न प्रयोगों द्वारा की जाती है।

बी० १।६१, अस्सी,
बनारस

—महेन्द्रसिंह

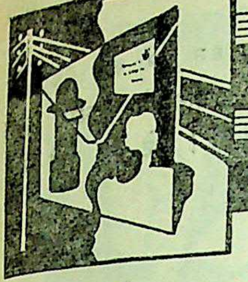

चिट्ठी-पत्री

(१)

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

बिजली की रोशनी—तिकोनी टेबिल—सामने 'अजन्ता' का फरवरी अंक। चेतना फरफराती है—भौंहों पर बल आ जाते हैं 'कसौटी' कसौटी पर खरी नहीं उतरी। बचकानी-सी लगती है। बीच की कविताएँ अच्छी हैं। यहाँ केवल दो के विषय में ही कुछ...

श्री नन्दकिशोर राय का गीत प्रवहमान संवेदन-शीलता की दृष्टि से सुन्दर बन पड़ा है।

"मंजरी की हो गई हर साँस गीली
× × ×
डब डबाए मौन अँगूरी नयन से..."

पंक्तियों में Imagery elimax पर है। पर आत्म पक्ष की कमी खटकती है। प्रतीक पूर्णता के प्रति सजगता वांछनीय है।

चैता की पृष्ठ भूमि, महुए की मधु और चौपालों के डफ ढोल के बीच 'लहक उठी यौवन की ज्वाल है' खूब रही।

कवि का चेला—गद्य को देख नाक भौं सिकोड़ने लगता हूँ, पर मीठी खुशबू बगराने का मोह नहीं छोड़ पाता। शायद कमज़ोरी है। बंशीधर जी की 'रेल दुर्घटना' पढ़ कर चौंक उठा। दुर्घटना की दृष्टि से दक्षिण की भूमि उर्वरा है—

साधारण बोलचाल की भाषा एवं नाटकीयता से दूर की शैली में जीवन के कटु सत्यों का यथार्थ चित्रण बरबस ही मन को मोह लेता है। देश काल के प्रति सजग लेखनी चूकती नहीं पर खिलौनों एवं शव के उपमानों से भूली हुई पीर कुरेदती-सी नज़र आती है—जो उसका गुण है, होना चाहिए। पर—आख़िर इस दर्द की दवा क्या है? विभिन्न बरसाती मेंढ़कों की तरह साहित्यिक दलों का प्रतिनिधित्व है। रामदरश जी रेखाचित्रों के योग्य शिल्पी हैं।

"खिड़कियाँ मन की खुली रखिए"—कहने वाले कवि जी! आपकी संवेदन-शीलता हर नई मुलाक़ात के बाद दर्द से क्यों छटपटा उठती है?

'गीत गोविन्द का वसन्त वर्णन' ऊँचा जरूर पर शास्त्री जी! निःशास्त्री भी इस तरह अनुवाद की पूँछ उखाड़ कर निबन्ध शास्त्री बन सकता है। मौलिकता से दामन बचाना बुद्धिमानी नहीं है। अन्य स्थायी स्तम्भों में 'कला-चर्चा' सर्वोत्तम रहा। जय हो कला देवी की...

कबीर विद्यालय, कबीर चौरा,
वाराणसी

रमानाथ शर्मा 'परिमल'

(२)

कवर-पृष्ठ की नवीन सज्जा के लिए बधाई स्वीकार करें। पिछलावाला भी बुरा नहीं था, किन्तु Pattern पुराना पड़ रहा था।

दो-एक को छोड़ कर शेष सभी रचनाएँ पठनीय हैं। गद्य भाग अधिक परिपुष्ट है; पर कविताएँ उतनी अच्छी नहीं हैं। इस नीति का भी क़ायल नहीं हूँ कि आरम्भ में ही कविताओं की ढेरी लगा दी जाए।

श्री कुन्तल मेघ की 'हेमन्त-पूर्णिमा' बहुत ही Lyrical है। कवि की नई सूझ मन में घर करती हैं। श्री वीरेन्द्र कुमार जैन की रचना पढ़ कर उनके 'किशोर-कवि' के प्रति आदर जगा। एक ऐसा ही 'बिदा-गीत' श्री गुरुभक्तसिंह 'भक्त' की 'नूरजहाँ' में भी याद पड़ता है पर यह रचना उससे एक दम भिन्न है।

'सूरदास की राधा' पर एक लेख डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बहुत पहले ही लिखा था। वह उनकी 'सूर-साहित्य' (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई) नामक पुस्तक में प्रकाशित है। 'अजन्ता' के इस अंक में प्रकाशित डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी के 'सूरदास की राधा' के साथ द्विवेदी जी का वह निबन्ध भी पढ़ा जाना चाहिए।

भाई लक्ष्मीकान्त वर्मा की डायरी के कुछ और

पृष्ठ पढ़ने को मिलें तो 'अजन्ता' का आभार स्वीकारूँ।

श्री रंगनाथ राकेश की चिट्ठी, चिट्ठी, नहीं, लघु-समीक्षा है। उनमें नीर-क्षीर-विवेकिनी प्रतिभा है। अस्तु, उन्हें आलोचना की ओर भी उन्मुख होना चाहिए।

'अजन्ता' के प्रति आदर और अपनी यत्किंचित् सेवाओं के साथ—

हिन्दी-रिचर्स-फ़ेलो
काशी विश्वविद्यालय —**रवीन्द्र भ्रमर**

(३)

'अजन्ता' का जनवरी अंक देखने मिला, अंक संजोने लायक साहित्य प्रस्तुत करता है। मुझे विशेष रुचिकर चिट्ठी-पत्री का स्तम्भ लगा। उसमें सर्वप्रथम प्रकाशित रचना संस्कृत साहित्य के हास्य परिहास में शिव जी अत्यन्त अच्छी लगी।

रचना के लेखक श्री जरगर जी को मेरी बधाई दीजिए।

इलाहाबाद —**राम**

(४)

अचानक जनवरी '५७ का 'अजन्ता' अंक मिला कार्यालय में। समयाभाव के कारण और गरीबी की चक्की से जूझते रहने के कारण भी इन दिनों साहित्य के रसास्वादन से वंचित-सा हूँ। फिर भी कभी-कभी अच्छा साहित्य हाथ लग ही जाता है। प्रस्तुत अंक में "ये पट्टे: जहरीले कुत्ते: ये दमदार आदमी" श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा द्वारा लिखित बेहद रुचा। 'बूढ़े की आँख' श्री हिमकुमार की जागरूक भावना का प्रतीक सी लगती है।

'सूरदास की राधा' पढ़ने के बाद ऐसा लगा मन को कि श्री वेंकटेश नारायण तिवारी की 'स्वकीय राधा' जो 'माधुरी' में लिखा गया लेख इधर उधर कर, डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ने 'अजन्ता' को दे मारा है! अच्छा तो यह होता डा० चतुर्वेदी अपनी 'खोज' के लिए श्रद्धेय तिवारी जी और 'माधुरी' को भी याद रखते। बड़े लोग हैं उन्हें कौन क्या कह सकता है। आप भी बड़े हैं इस क्षेत्र में इसलिए और क्या कहूँ?

आपके द्वारा लिखा गया सम्पादकीय शासन के सामने एक बड़ा प्रश्न चिन्ह बन कर अड़ सकता है अगर 'अजन्ता' परामर्श समिति के दिल्ली स्थि महानुभाव थोड़े जागरूक हों तो! छोटे मुँह बड़ी बा कहने की वृत्ति को क्षमा करेंगे।

तूफ़ान कार्यालय,
बिलासपुर (म. प्र.) —**ठा. तेजसिंह 'निर्भय'**

(५)

'अजन्ता' का जनवरी अंक अभी मिला, देर से आने के कारण जितनी निराशा नहीं हुई थी उतनी निराशा इसके पन्नो को उलटने के बाद हुई, कारण विश्वास था कि 'धर्मयुग' तथा 'सुप्रभात' में क्रमशः 'यौवन' और 'मृत्यु' तथा 'तुम और मैं' के बाद 'अजन्ता' में भी आपकी कोई रचना मिलेगी। अपने से इतनी निर्ममता क्यों?

'अजन्ता के बारे में राय क्या दूँ' जो कहना था इस अंक के छपे पत्र में कह चुका हूँ। 'अजन्ता' अपना यही स्वरूप बनाये रखे, कांक्षा है। इस अंक में कविताएँ मुझे बिलकुल नहीं रुची केवल भाई वीरेन्द्रकुमार जैन के 'विदा' के सिवा। भिक्षु धर्म रक्षित जी का लेख अच्छा था।

डालमिया गेस्ट हाउस
वाराणसी—५ —**अवधकिशो**

(६)

'अजन्ता' के जनवरी अंक के दर्शन हुए। वास्तव में 'अजन्ता' बड़ी ही ठोस सामग्री से अलंकृत हो क प्रकाशित हो रही है।

यह अंक भी अन्य सभी अंकों के समान सुन्दर निकला है। कविताओं में मुझे सर्वश्री वीरेन्द्रकुमार जै एवं हरिनारायण मिश्र की रचनाएँ विशेष पसन्द आईं। श्री वीरेन्द्र कुमार जैन की रचना तो बड़ी ही मनोमोहक है। बार बार पढ़ने को जी चाहता है। श्री हिमकुमार की कहानी, एकांकी और अन्य सभी लेख प्रशंसनीय हैं। श्री गोवर्द्धनदास मेहता का लेख पठनीय है। सम्पादकीय विद्वत्तापूर्ण तथा कला-चर्चा गम्भीर हैं।

सेंट्रल लायब्रेरी,
भूपाल —**नर्मदाप्रसाद त्रिपा**

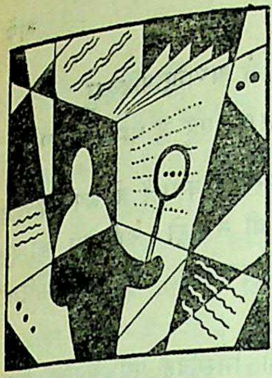

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिए]

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग

लेखक : नामवर सिंह

प्रकाशक : साहित्य भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद

मूल्य : चार रुपए

जिस प्रकार संस्कृत भाषा का प्रभाव भारतवर्ष की समस्त भाषाओं पर पड़ा है। उसी प्रकार उसके पश्चात् अपभ्रंश ही एक ऐसी भाषा है जिसका प्रभाव भारतवर्ष की प्रायः समस्त आधुनिक भाषाओं पर पड़ा है। हम समझते हैं कि जब तक अपभ्रंश के अध्ययन को भारतवर्ष की किसी एक ही भाषा के साथ सीमित करके किया जाएगा तब तक अपभ्रंश का अध्ययन न केवल सीमित ही रहेगा अपितु उसकी प्रकृति और विकास को भी ठीक तरह नहीं समझा जा सकेगा। प्राचीन भारतीय भाषाओं में संस्कृत के पश्चात् अपभ्रंश भाषा का साहित्य "बहुत विशाल है।" कुछ दशकों पूर्व अपभ्रंश साहित्य के विषय में बहुत कम ज्ञात था और डा० पिशेल को 'मैटेरियल्स फार दि नालेज आफ़ अपभ्रंश' नामक पुस्तक में अपभ्रंश के कुछ अंशों का उपयोग करके ही सन्तुष्ट होना पड़ा था।" यद्यपि अब अपभ्रंश साहित्य की अनेक पुस्तकें प्राप्त हो चुकी हैं तो भी अभी तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य के विकास के ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रगति नहीं हुई है।

अपभ्रंश क्या संस्कृत या प्राकृत का अपभ्रष्ट रूप है, या वह मूल रूप से भारतवर्ष से बाहर की जातियों द्वारा लाई हुई कोई भाषा है—इसके सम्बन्ध में विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं। अनेक विद्वान् इस भाषा को भरत के कथन के अनुसार 'उकार बहुला भाषा' कहते हैं परन्तु श्रीयुत पी. एल. वैद्य के अनुसार अन्य ग्रन्थों के अध्ययन से प्राकृत में भी उकार बहुल की प्रवृत्ति पाई जाती है। यह एकमात्र अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। रुद्रट ने अपभ्रंश को 'देश विशेष' की भाषा कहा था। वह भाषा किस प्रकार भारतवर्ष के किसी एक प्रदेश-विशेष की न रह कर भारतवर्ष के अनेक प्रदेशों की बन गई और उसका प्रभाव भारतवर्ष की अनेक आधुनिक भाषाओं पर इतनी गहराई से पड़ा—यह प्रश्न जहाँ मनोरंजक है वहाँ इसका वैज्ञानिक रूप से परिशीलन सरल नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध सामग्री के आधार पर श्रीयुत नामवर सिंह ने न केवल "हिन्दी के विकास में अपभ्रंश के योग" को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है अपितु अपभ्रंश के सम्बन्ध में भी उन्होंने पर्याप्त विस्तार से विचार करने का प्रयत्न किया है। अपभ्रंश का क्षेत्र और साहित्य पर्याप्त विस्तृत है और इसके साथ अनेक इस प्रकार के प्रश्न उलझे हुए हैं कि ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते हैं विषय का प्रतिपादन अस्पष्ट होता जाता है। लेखक ने अपभ्रंश के प्रारंभिक रूप पर जो कुछ प्रकाश डाला है वह इतना अल्प है कि उससे हमें प्रारंभिक अपभ्रंश का कुछ विशेष ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जब अपभ्रंश का प्रभाव बंगाली, आसामी और उड़िया आदि भाषाओं पर ऐसा अभिलक्षित होता है कि ये भाषाएँ अपभ्रंश से अभिन्न समझी जाती हैं तब यह स्पष्ट ही है कि यह भाषा पूर्व की भी वैसी ही है जैसी कि पश्चिम की। इन भाषाओं के साहित्यिकों को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि चाहे किसी समय अपभ्रंश "भौगोलिक दृष्टि से पश्चिमी भारत की बोली रही" हो, परन्तु अपने पूर्ण विकास काल में वह एकमात्र

'पश्चिमी भारत' की बोली ही नहीं रह गई थी। एक भाषा जब विस्तृत क्षेत्र की अभिन्न रूप से बन जाती है तब उसके विकास को एक सीमित क्षेत्र में नहीं प्रतिरूपित किया जा सकता और न उस अवस्था में उसे किसी एक विशेष प्रदेश की भाषा कहा जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने जहाँ अपभ्रंश का हिन्दी पर विस्तृत प्रभाव दिखाने का प्रयत्न किया है वहाँ पुस्तक के उपसंहार में यह भी लिखा है: "हिन्दी-साहित्य के मूल उत्स कई हैं। उसने अनेक स्रोतों से जीवन-धारा ग्रहण की है और अपभ्रंश भी उनमें से एक है। जिस हिन्दी साहित्य पर संस्कृत-साहित्य और ब्राह्मण-संस्कृति के पुनरुत्थान की गहरी छाप है, उसे एकमात्र जैन धर्मानुमोदित अपभ्रंश साहित्य से उत्पन्न हुआ बतलाना बहुत बड़े सत्य पर पर्दा डालना होगा।"

किसी भी भाषा या साहित्य का किसी धर्म-विशेष से ही एकमात्र सम्बन्ध नहीं होता। अपभ्रंश में जहाँ जैनियों और बौद्धों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं वहाँ विद्यापति की और यहाँ तक एक मुसलमान की रचना भी प्राप्त होती हैं। विश्व की कोई भी भाषा या साहित्य इस प्रकार का नहीं है जो कि "अनेक स्रोतों" से अपनी जीवन-धारा को ग्रहण नहीं करता। भाषा और साहित्य के विकास में इस प्रकार के प्रश्न को उठाना उचित नहीं कहा जा सकता। फिर क्या जैनियों, या बौद्धों के साहित्य को भी एकमात्र जैनियों या बौद्धों का साहित्य कहा जा सकता है ? क्या उसके प्रत्येक अंग पर भारतीय संस्कृति की छाप नहीं है और क्या उसने भी अपनी जीवन-धारा को 'अनेक स्रोतों' से ग्रहण नहीं किया है ? कर्नाटक साहित्य में आदि-काल को 'जैन-काल' कहा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई विद्वान् यह मानता है कि कन्नड़ भाषा का साहित्य 'एकमात्र जैन धर्मानुमोदित' है। जो भाषा जितनी विस्तृत होती है उसमें उतनी ही विविधता होती है। उसके बोलने वाले अनेक धर्मों और जातियों के होते हैं और यह स्वाभाविक ही है कि वे अपने धर्म और जाति आदि की विशेषताओं को भाषा और साहित्य में प्रतिपादित करते हैं और इससे भाषा और साहित्य के क्षेत्र की सीमाएँ विस्तृत होती हैं। लेखक ने परिशिष्ट में "अपभ्रंश दोहा-संग्रह" में देवसेन (सावयधम्म दोहा) का एक दोहा दिया है:

"काइँ बहु तइँ जंपिअइँ, जं अप्पणु पडिकूलु
काइँ मि परहु ण तं करहि, एहु जु धम्मह मूलु"

"बहुत जल्पना करने से क्या ? जो अपने प्रति हो उसे दूसरों के प्रति कभी न करो। यही धर्म का है।" क्या इस सत्य को एकमात्र "जैन धर्मानुमोदि ही कहा जा सकता है ?

प्रस्तुत पुस्तक को निस्संदेह परिश्रमपूर्वक लि गया है। आशा है कि लेखक के इस पुस्तक से 'अपभ्रं के साहित्य को गहराई से पढ़ने की प्रवृत्ति जागृत हो विषय विस्तृत है और उसके अनेक अंग ऐसे हैं जि पर जैसा गम्भीर प्रकाश पड़ना चाहिए था—साम अभाव में वैसा नहीं पड़ सका है। कई प्रश्नों को पुस्तक में एकमात्र उठा कर छोड़ दिया गया है। दोहों के अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। "अपभ्रंश दोहा-सं में कुछ दोहे बहुत सुन्दर हैं। उनसे अपभ्रंश के सा की विशेषता और सुन्दरता का आभास प्राप्त होता अच्छे मनुष्यों के बारे में एक दोहे में कहा गया है:

"सरिहिं न सरेहिं न सरवरेहिं, न वि उज्जाण-वणेहिं
देस रवरणा होति वढ़ निवसन्ते हिं सुअणेहिं

न नदियों से, न सरों से, न सरोवरों से, न उ से और न वनों से कोई देश सुन्दर होता है— मनुष्यों से ही कोई देश वास्तव में सुन्दर होता है।

इसी प्रकार एक और दोहा:

"तिलहिं तिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलन्ति
नेहि पणट्ठइ ते जि तिल तिल फिरवि खल होन्ति"

तिल तभी तक तिल है जब तक उनमें स्नेह है उनमें से जब स्नेह निकल जाता है तब वे खल (और दुष्ट) हो जाते हैं। इस दोहे में स्नेह को ही नता का आधार बड़ी खूबी से प्रतिपादित किया है। अपभ्रंश का साहित्य वीर, शृंगार, अन्योक्ति, कथा-साहित्य, मानवता आदि की दृष्टि से समृद्ध है। हिन्दी भाषा और उसके साहित्य पर गहरी छाप पड़ी है। यह सत्य है कि वर्तमान हि संस्कृत से अनुप्राणित है परन्तु हिन्दी भी एक भाषा है इसलिए अपभ्रंश की परम्पराओं से किसी प्रकार मुक्त नहीं किया जा सकता।

जंजीरें और दीवारें

लेखक : रामवृक्ष बेनीपुरी
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स,
दिल्ली
मूल्य : चार रुपए चार आने

रामवृक्ष बेनीपुरी हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने अपने जेल जीवन का बड़ी सजीव और समर्थ भाषा में चित्रण और वर्णन किया है। बिहार प्रदेश की संभवतः कोई ही जेल बची होगी जिसमें श्री बेनीपुरी जी ने अपना जीवन व्यतीत न किया हो। प्रस्तुत पुस्तक रेखाचित्र है, संस्मरण है, आप बीती है, दैनन्दिनी है और बिहार में सत्याग्रह का इतिहास है। लेखक में जहाँ अद्भुत पर्यवेक्षण शक्ति है वहाँ उसका हृदय इतना भावनाशील है कि ऐसा अनुभव होता है जैसे समस्त पुस्तक एक मधुर संगीत पूर्ण कविता हो। जेल-जीवन पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं परन्तु उन सब में इस कोटि की पुस्तक शायद ही कोई लिखी गई है। पुस्तक के प्रत्येक शब्द में स्फूर्ति है, साहस है, अदम्यता है, अन्यायकारी प्रभुसत्ता के विरुद्ध बग़ावत और विद्रोह है परन्तु साथ ही साथ उसमें इतनी कोमलता है कि अनेक स्थलों पर आँसुओं को रोकना कठिन हो जाता है। जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी में मौलिक साहित्य नहीं है उन्हें आँखें खोल कर इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए और वे अनुभव करेंगे कि हिन्दी साहित्य में एक जादू है—ऐसा जादू जो कि सिर पर चढ़ कर बोलता है।

काश्मीर में पन्द्रह दिन

लेखक : विठ्ठलदास मोदी
प्रकाशक : आरोग्य-मन्दिर-प्रकाशन
मूल्य : एक रुपया

श्रीयुत विठ्ठलदास मोदी ने अपनी १५ दिन की काश्मीर यात्रा के विवरण को प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाशित किया है। पहले ये विवरण उनके द्वारा सम्पादित मासिक पत्र "आरोग्य" में प्रकाशित हुए थे और अब उन्होंने उनका संग्रह कर पुस्तकाकार में प्रकाशित कर दिया। यात्रा पठानकोट से श्रीनगर होते हुए अमरनाथ तक की गई है और उसका वर्णन, स्वस्थ, सरल और सरस भाषा में किया गया है। काश्मीर की यात्रा के इन विवरणों में लेखक ने किसी भी प्रकार काश्मीर के राजनैतिक पहलू को स्पर्श नहीं किया है। काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने से लेखक के मन पर जो प्रभाव पड़ा है उसी की भाषा में एक छोटी-सी रील उन्होंने तैयार कर ली है जिसे देख कर दर्शकों के हृदय में प्रसन्नता होगी। लेखक ने अपनी भूमिका में लिखा है कि जो लोग काश्मीर हो आएँ हैं उनके लिए यह पुस्तक विशेष रुचिकर न होगी यद्यपि वे स्वयं काश्मीर होकर आए हैं और अपने विषय में लिखते हैं कि वे जितनी बार इस पुस्तक को पढ़ते है उनको ऐसा अनुभव होता है कि वे उतनी ही बार काश्मीर यात्रा कर आते हैं। जो लोग काश्मीर यात्रा कर आए हैं उनकी स्मृति भी इस यात्रा के विवरण को पढ़ कर ताज़ी हो जाएगी। बरसों हो गए—हम काश्मीर गए थे और हमने भी अमरनाथ तक पैदल यात्रा की थी। वह यात्रा अभी तक हमारी स्मृति में सुरक्षित है। पुस्तक को पढ़ने से वह ताज़ी हो गई और पहलगाँव से लेकर अमरनाथ तक की प्रकृति की दृश्यावली हमारे सम्मुख उपस्थित हो गई। अमरनाथ की यात्रा में स्वर्गीय श्रीयुत भाई परमानन्द भी हमारे साथ थे। भाई परमानन्द अमरनाथ के मार्ग की प्राकृतिक सुन्दरता को देख कर बार-बार कहते थे कि स्विट्ज़रलैण्ड को बहुत सुन्दर कहा जाता है और वह सुन्दर है भी परन्तु काश्मीर की इस पर्वतमाला का प्राकृतिक सौन्दर्य स्विट्ज़रलैण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य से किसी भी प्रकार कम नहीं है। पाठक यात्रा के इस विवरण से काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य का कुछ आभास प्राप्त कर सकेंगे।

उर्दू-साहित्य का सरल इतिहास

लेखक : प्रतापनारायण टंडन
प्रकाशक : विद्या मन्दिर, रानी कटरा
लखनऊ
मूल्य : ढाई रुपए

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने उर्दू-साहित्य के इतिहास को सरल रूप में लिखने का प्रयत्न किया है। उर्दू के सम्बन्ध में लेखक लिखता हैं : "हिन्दी का ही नाम उर्दू रख लिया गया है। अगर इसका नाम उर्दू न रख कर मुसलमानी हिन्दी रखा जाता तो अधिक सार्थक होता।" पुस्तक को पढ़ने से यह ज्ञात नहीं होता कि इस भाषा का नाम किस समय उर्दू रखा गया और उनके मुख्य

कारण क्या थे ? यह सत्य है कि उर्दू और हिन्दी भाषाएँ आधार रूप से एक हैं परन्तु लेखक तो उर्दू-साहित्य का इतिहास लिखने बैठे हैं और जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है—यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दी और उर्दू के साहित्यों के मुख्य प्रेरणा-स्रोतों में महान् अन्तर है। फिर आधार रूप से एक होते हुए भी दोनों भाषाओं का विकास इस प्रकार हुआ कि दोनों एक होती हुई भी एक दूसरे से पृथक् हो गईं। संभवतः इस भेद का कारण इतना इस्लाम नहीं था—जितना कि राजनैतिक कारण। हिन्दी और उर्दू के पृथक् विकास में जहाँ अन्य कारण हैं वहाँ इनमें भेद को बढ़ाने में अंग्रेज़ी प्रभुसत्ता का भी पर्याप्त हाथ है। उर्दू के सम्बन्ध में पुस्तक में लिखा गया है : "उर्दू भाषा के लिए प्रारम्भ में 'रेख़्ता' शब्द का प्रयोग किया जाता था। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इसे 'उर्दू' कहा जाने लगा।" यहाँ 'प्रारम्भ' और 'बाद' के साथ यदि लेखक समय का उल्लेख करते तो अधिक उपयुक्त होता। उर्दू साहित्य के प्रारम्भ के विषय में लेखक लिखता है : "उर्दू साहित्य का प्रारम्भ दक्षिण में हुआ। जब उर्दू नाम की हिन्दी दक्षिण में आई और साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण करने लगी तब द्राविड़ी भाषाएँ एकदम अजनबी-सी थीं। इस कारण उसने इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखा।" लेखक ने अपनी पुस्तक में कई जगह 'उर्दू नाम की हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया है जो कि विचित्र होने के साथ ठीक नहीं है। दक्षिण में प्रारम्भ में जब यह भाषा आई तो इसका नाम उर्दू नहीं था। यहाँ के साहित्य को दखनी का साहित्य कहा जाता है। उर्दू शब्द का प्रयोग तो बहुत बाद का है। पहले इसे हिन्दी या हिन्दवी कहा जाता था। फिर इस दखनी की प्रारम्भ दौलताबाद और औरंगाबाद से होता है जहाँ की बोली मराठी है और मराठी को द्राविड़ी बोली नहीं कहा जा सकता। धीरे-धीरे इस भाषा का सम्बन्ध कन्नड़ और तेलुगु से हुआ। दखनी पर इन भाषाओं का प्रभाव कई रूपों में पड़ा परन्तु इन सब प्रभावों के होते हुए भी दखनी ने फ़ारसी और अरबी के साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की और उसी ढंग के साहित्य को उसमें उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया। ग़ज़ल के विषय में लेखक ने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है : "ग़ज़ल शब्द अरबी भाषा का है जिसका साधारण अर्थ स्त्री से वार्तालाप करना है। इसमें शृंगार और प्रेम के अतिरिक्त अन्य विषयों आदि का भी समावेश रहता है" (पृ० सं. १०)। और आगे चल कर 'ग़ज़ल' के सम्बन्ध में लेखक पुनः लिखता है : "ग़ज़ल का अर्थ है जवानी का हाल बयान करना अथवा माशूक़ के संगीत और इश्क़ का ज़िक्र करना।......ग़ज़लों का जन्म चर्चा के लिए ही हुआ था। अरब में ग़ज़ल नाम का एक आदमी था। उसने अपनी सारी उम्र इश्क़ करने में बिता दी। वह सदा इश्क़ और हुस्न की बातें किया करता था। उन्हीं विषयों के शेर पढ़ा करता था। उसी समय से जिस कविता में इश्क़ और हुस्न का ज़िक्र हो उसे लोग ग़ज़ल की याद में ग़ज़ल कहने लगे।" लेखक ने ग़ज़ल के उपर्युक्त तात्पर्य को पुष्ट करने के लिए किसी प्रकार के प्रमाणों या उद्धरणों को नहीं दिया है। उर्दू में ग़ज़ल का विकास फ़ारसी से प्रेरणा प्राप्त करके भी अपने ही विशिष्ट ढंग पर हुआ है। लेखक ने उर्दू-साहित्य की इन शैलियों और परम्पराओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश नहीं डाला है। उर्दू-साहित्य के इस सरल इतिहास में लेखक ने अधिकतर उर्दू कविता के सम्बन्ध में लिखा है और उसकी शैलियों की व्याख्या का प्रयत्न किया है। परन्तु उर्दू के गद्य-साहित्य पर कुछ विशेष रूप से नहीं लिखा है। पुस्तक के अन्त में तीन चार पृष्ठों में उर्दू के कुछ गद्य-लेखकों की नामावली तथा उनकी कृतियों के सम्बन्ध में चर्चा मात्र कर दी गई है। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में उर्दू साहित्य के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है सरसरी तौर पर लिखा है। फिर भी इस पुस्तक से उर्दू के सम्बन्ध में विशेषतया उर्दू शायरी और उसकी शैलियों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। लेखक ने बहुत-से प्राचीन और अर्वाचीन उर्दू शायरों की कविता के नमूने भी दिए हैं जिनसे पुस्तक रोचक और आकर्षक बन गई है।

शिक्षा की कुछ समस्याएँ

लेखक : सर रिचर्ड लिविंग्स्टन

अनुवादक : रामप्रसाद 'प्रसाद'
सुरेशचन्द्र एच. माथुर

प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर
(प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई

मूल्य : दो रुपया

प्रस्तुत पुस्तक सर रिचर्ड लिविंग्स्टन के चार व्याख्यानों का हिन्दी में अनुवाद है जो कि उन्होंने भिन्न अवसरों पर टोरेण्टो विश्व विद्यालय, कनाडा में दिए थे। इन व्याख्यानों के द्वारा न केवल "शिक्षा-क्षेत्र की आधुनिक आवश्यकताओं पर सुन्दर प्रकाश" पड़ता है अपितु उनसे इस बात का भी ज्ञान होता है कि "जन-तन्त्र के लिए कैसी शिक्षा होनी चाहिए और चरित्र-निर्माण का शिक्षा के क्षेत्र में कितना महत्वपूर्ण स्थान" है। शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करता हुआ लेखक पूछता है: "यदि अर्थशास्त्र, विज्ञान, शिल्प और व्यवस्था ही सब कुछ थी तो जर्मनी में किस चीज़ का अभाव था? हमारी भौतिक सभ्यता दोषपूर्ण नहीं हैं; दोषपूर्ण हम हैं। वास्तविक समस्या यह है कि मनुष्य किसके द्वारा शासित हो? शक्ति, सुख और 'स्वनिर्मित नवीन खिलौनों'—यन्त्रों से अथवा शिव, सुन्दर और तर्क के द्वारा।...विश्व की वास्तविक समस्या मनुष्य को मनुष्य बनाने की है—उसे उन आध्यात्मिक आदर्शों का ज्ञान कराने की है जिनके बिना न सुख ही सच्चा और स्थायी है और न सफलता ही।" आजकल प्रायः विश्व के शिक्षणालयों में धर्म-पुस्तकों की शिक्षा की ओर विशेष दिलचस्पी नहीं प्रदर्शित की जाती और इसका एक कारण तो धर्मों की अनेकता है और दूसरा धर्मों का अनेक झगड़ों और फ़िसादों की जड़ बन जाना है। लेखक के अनुसार "बाइबल की शिक्षा अंग्रेज़ी भाषा-भाषी की शिक्षा की आधार-शिला होनी चाहिए।" परन्तु वे धर्म का अर्थ आगे चल कर "आध्यात्मिक दृष्टि और नैतिक शिक्षा" करते हैं और इन्हीं दोनों कारणों से वे धर्म को शिक्षा का एक आवश्यक अंग बनाना चाहते हैं। वे शिक्षा में उसी भारतीय आदर्श को प्रस्तुत करते हैं जो कि हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है। वे कहते हैं: "हमें हर सम्भव प्रयास से अमरता प्राप्त करनी चाहिए और जीवन में सर्वोच्च गुण लाने के लिए जी-तोड़ परिश्रम करना चाहिए।" उपनिषद् में गार्गी याज्ञवल्क्य से यही बात कहती है: 'किमहं तेन कुर्याम् येनाहं नामृता स्याम्'—उस वस्तु को लेकर मैं क्या करूँ जिससे मैं अमर न हो जाऊँ। चरित्र-निर्माण का तात्पर्य लेखक ने इस प्रकार समझाया है: "उन गुणों का विकास करना जो कि सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं।" जनतन्त्र के विषय में लेखक के विचार हैं: "जब हमने राजनैतिक जनतन्त्र उत्पन्न कर दिया है तो हमें एक और व्यवस्था उत्पन्न करनी है जो विश्व के इतिहास में केवल एक बार उत्पन्न हुई है और जो अभी तक ब्रिटेन और अमेरिका में भी पैदा नहीं हुई है—वह है जनतन्त्रिक सभ्यता। इस सभ्यता की सफलता द्वारा ही इतिहास हमारी परीक्षा करेगा।" राजनैतिक प्रश्नों से अधिक महत्व का प्रश्न वे यह समझते हैं: "क्या हम महान् सभ्यता के निर्माण करने के योग्य हैं?" हम समझते हैं कि ब्रिटेन में शिक्षा का स्तर ऊँचा है परन्तु प्रस्तुत पुस्तक का लेखक इस सम्बन्ध में लिखता है: "ब्रिटेन में जनता का अधिकांश भाग १४ वर्ष की अवस्था में अपनी शिक्षा समाप्त कर लेता है और उसके पश्चात् उसको शिक्षा का तनिक अंक भी प्राप्त नहीं होता जो कि संसार और जीवन को समझने के लिए आवश्यक होता है।" लेखक ने आलोचना का तात्पर्य बड़ी सुन्दरता से समझाया है: "जो कुछ भी अच्छा और महान् है उसकी प्रशंसा करना ही आलोचना का एकमात्र सही आधार है।...बात यह है कि एकांगी दृष्टिवाले सत्य को नहीं देख सकते। ...जो अच्छाई की अपेक्षा बुराई पर दृष्टि रखते हैं वे सत्य का दर्शन नहीं कर सकते।"...मैथ्यू आर्नोल्ड जब काव्य का अध्यापक हुआ तो उसे जोवट ने ठीक ही कहा था; "हमें आलोचना करना नहीं प्रशंसा करना सिखाओ।"

साधारणतया शिक्षा का प्रश्न हमारे देश में उपेक्षित-सा पड़ा हुआ है। अभी तक हमारी शिक्षा-प्रणाली में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। हमारे देश में शिक्षा का मूल्य आज वित्त-प्राप्ति से मापा जाता है। शिक्षा का वास्तविक अर्थ जीवन को अच्छा, सच्चा और महान् बनाना है। पुस्तक का अनुवाद साधारणतया अच्छा हुआ है। परन्तु कई स्थानों पर जहाँ शैली के लिए शाब्दिक अनुवाद कर दिया गया है वहाँ शब्द कुछ बोझिल और भारी हो गए हैं। अच्छा होता ऐसे स्थानों पर अनुवाद भाव को दृष्टि में रख कर किया जाता। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद दक्षिण

—वंशीधर विद्यालंकार

आज तो मुद्रण के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति हो गई है। अब तो लाइनो टाइप और मोनो टाइप का जमाना है। टाइप टाइप-राइटर के द्वारा स्वयं बनते चले जाते हैं। फ़ोटो-टाइप सेटिंग और इलक्ट्रोनिक ब्लाक मेकिंग जैसे छापने के यन्त्रों के इस युग में मुद्रण के प्रारंभिक दिनों की बात चाहे हमें विशेष आकर्षक न प्रतीत हों तो भी इतिहास की दृष्टि से इसका मूल्य है।''

॥

लावनी : व्युत्पत्ति

लावनी शब्द एक प्रकार के छन्द है जो गाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्या यह शब्द मूल रूप से देसी भाषा का है और या इसका सम्बन्ध संस्कृत के किसी शब्द से है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत ना. ग. जोशी का महाराष्ट्र-साहित्य-परिषद्, पूना की मराठी त्रैमासिक पत्रिका में एक पत्र प्रकाशित हुआ है। इस पत्र में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

''तुकाराम ने अपने एक अभंग में ''लापणिक'' शब्द का प्रयोग किया है परन्तु जिस संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है उससे इसका अर्थ ''प्रेम के बोल'' होता है। तुकाराम के 'सलगीचे अभंग'' प्रसिद्ध ही हैं। यह शब्द पुरानी प्राकृत में ''छन्द'' या ''पद्य'' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। इसी आधार पर समझा जाता है 'लावनी' शब्द देसी भाषा का शब्द है। सम्भवतः 'लापणिक' शब्द के रूप में 'लावनी' शब्द का संस्कृतीकरण किया गया है। परन्तु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती।

जैन प्राकृत में ''उल्लावण'' शब्द प्राप्त होता है, इस शब्द का संस्कृत रूप ''उल्लापन'' होता है। जैन आगम ग्रन्थों में एक ग्रन्थ 'सूयगड' (सूचकबन्ध) है। इस ग्रन्थ की एक संस्कृत टीका आचार्य शीलांक सूरि ने लिखी है। इस टीका में एक स्थल की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है : ''अनेकप्रकारैः उल्लापनैः''। यही 'उल्लापन' शब्द का प्राचीन उल्लेख है। यह टीका संस्कृत की टीकाओं में प्राचीनतम है। यह टीका ६वीं शताब्दी में लिखी गई थी। प्रकरण के अनुसार यहाँ उल्लापन का अर्थ किया गया है : ''बालकों को समझाने का गीत आदि का प्रकार''। इस प्रकार का अर्थ हमें आचार्य की टीका से ज्ञात होता है। इसके साथ इस 'उल्लापन' शब्द की व्याख्या में उन्हों उदाहरण के तौर पर प्राकृत के एक पद्य को उद्धृ किया है और इससे 'उल्लापन' की गीतात्मकता भी सि होती है। इससे यह पता लगता है कि 'उल्लापन शब्द से उपसर्ग के निकल जाने पर 'लापन' या 'लावण शब्द अवशिष्ट रह गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उल्लापन' शब्द गीत के अर्थ में प्राचीन काल मे प्रयुक्त होता था।''

॥

बर्टरैण्ड रसेल का आकृति-चित्र

अंग्रेज़ी के पत्र 'ह्यूमेनिस्ट' में श्रीयुत हम्फ्री स्केलटन ने ''बर्टरैण्ड रसेल के आकृति-चित्र'' को अपने एक लेख में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

''जब एक अंग्रेज़ ८० वर्ष का हो जाता है—त उसकी प्रत्येक चीज़ को माफ़ कर दिया जाता है बर्नार्ड शा को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह दे कर कुछ चिढ़ सी होती थी कि वह लोगों के हृदयों मे उथल-पुथल पैदा नहीं कर सकता था। रसेल का भी यही हाल हुआ। उसके विचारों में इस आयु में भी कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है; वह अब भी एक नास्तिक है; उसकी हास्यपूर्ण फबतियों से वह व्यक्ति भी प्रसन्न होत है जिसके खिलाफ़ कि वे कसी जाती है।

यह अब कुछ विचित्र सी बात प्रतीत होती है कि एक समय वह हृदयों में भीषण तूफ़ान को उत्पन्न क देता था। उसको एक बार कैम्ब्रिज से निकाल दिय गया था। प्रथम विश्व-युद्ध में एक बार क्रुद्ध जन-सम ने उस पर बुरी तरह आक्रमण कर दिया था जिस कि उसे बड़ी कठिनाई से पुलिस बचा सकी थी। इसके पश्चात् उसने शान्ति के प्रोपेगेण्डा के लिए पैम्फले वितीर्ण किए थे और इसके लिए उसे जेल में डाल दिया गया था।

''कई दृष्टियों से जेल मुझे बहुत अच्छा लगा। मुझे किसी से मिलना जुलना नहीं पड़ता था; मुझे यह ड नहीं था कि मेरे पास कोई व्यक्ति आएगा—इस कारण मैं अपने कार्य को लगातार बिना किसी रुकावट के क सकता था। मैं खूब पढ़ता था। मैंने वहाँ 'गणित की फ़िलासफ़ी' के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी''— रसेल ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है।

उसके चरित्र में कई बातें विचित्र हैं। शान्तिवादी यह नहीं कह सकते कि वह शान्तिवादी है। वह लिखता है : "न तब और बाद में मैं यह समझता था कि युद्ध प्रत्येक अवस्था में अवांछनीय है। मैं समझता हूँ कि द्वितीय विश्व-युद्ध आवश्यक था—इसलिए नहीं क्योंकि युद्ध के विषय में मेरे विचार बदल गए हैं परन्तु इसलिए क्योंकि उस समय अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न थीं।"

उसका अब भी यही विचार है कि बहुत अच्छा होता कि यदि ब्रिटेन १९१४ में तटस्थ रहता। "आज विश्व में जो अस्त-व्यस्तता दृष्टिगोचर होती है वह उसके विचारों में प्रथम युद्ध का परिणाम हैं। हमें तीसरे विश्व-युद्ध का भय है। यूरोप, एशिया, आफ्रिका सर्वत्र विक्षोभ है"—वह लिखता है।

किसी वैज्ञानिक या गणित शास्त्री के विषय में यह कहना ठीक नहीं है कि उसमें एकमात्र बुद्धि होती है—हृदय नहीं। यह बात रसेल या उसके साथियों के विषय में भी सत्य नहीं है। वह कहता है कि विटगैनस्टीन जो कि एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था कैम्ब्रिज में प्रतिदिन रात को उसके कमरे में आता था और घण्टों चुपचाप वहाँ उधर से इधर और इधर से उधर टहलता रहता था और कहा करता था कि जब वह वहाँ से जाने के पश्चात् आत्म-हत्या कर लेगा। आज के कई दार्शनिकों का विचार है कि विटगैनस्टीन रसेल से कई दृष्टियों से बड़ा दार्शनिक है। रसेल ने गणित के क्षेत्र में महान् कार्य किया है। अपने जीवन के प्रारम्भ में राजनीति और दर्शन इन दोनों विषयों में से किसी एक विषय को वह चुनना चाहता था। उस पर ह्वाइटहैड का बहुत प्रभाव पड़ा। अपनी पुस्तक "पोर्टेट्स फ्राम मैमरी" में ह्वाइटहैड की प्रशंसा करता हुआ वह लिखता है : "तुम समझते हो कि संसार वैसी सुन्दर ऋतु के समान है जैसी कि वह हमें दुपहर के समय प्रतीत होती है। मैं समझता हूँ कि विश्व प्रातःकाल के समान है जब कि हम गहरी नींद से उठते हैं।" रसेल के निबन्ध "प्रिन्सिपिआ मैथेमैटिका" में प्रकाशित किए गए हैं।

यह कहा जाता है कि रसेल प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार देखता है कि मानों वह गणित का एक प्रश्न या प्रतीक हो। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। पिछले कई वर्षों से रसेल अणु-युद्ध के विरोध में आवाज उठा रहा है और इस सम्बन्ध में लोक-मत को जागृत कर रहा है। अणु-युद्ध के विषय में वह पर्याप्त चिन्तित है। इस वृद्ध अवस्था में वह उसी प्रकार शान्त, अक्षुब्ध, विचारशील और गम्भीर है जैसा कि वह पहली आयु में था। उसने मनुष्य के ज्ञान, चिन्तन और विचार को समृद्ध किया है। रसेल के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भय से त्रस्त और क्षुब्ध विश्व को उसने जो सबसे मूल्यवान् भेंट दी है वह है आशा की। आशा के बिना, और साहस के बिना जो कि आशा जागृत करता है—यह विश्व अन्धकार में मग्न हो जाएगा।"

॥

सत्य और विवेक

महात्मा बुद्ध के सत्य और विवेक के सम्बन्ध में कुछ विचारों को नीचे दिया जा रहा है :

"किसी बात को इसीलिए सत्य मत मान लो
क्योंकि लोगों में वह प्रचलित हो गई है।

किसी बात को इसीलिए सत्य मत मान लो
क्योंकि महान् ग्रन्थों में वह लिखी हुई है।

किसी बात को इसीलिए सत्य मत मान लो
क्योंकि तुम्हारी आदतें तुम्हें उसे मानने के लिए
मजबूर करती हैं।

किसी बात को इसीलिए सत्य मत मान लो
क्योंकि तुम्हारे अध्यापक या गुरु ने उसे सत्य
कह दिया है।

तुम स्वतन्त्र रीति से स्वयं सत्य की खोज करो।
यदि खोज और विश्लेषण के पश्चात् तुम्हें यह
अनुभव हो कि यह वस्तु सत्य है तो उसे तुरन्त
मान लो और उसके अनुसार अपने आचरण
और जीवन को बनाओ।

मौन रहने से कोई मुनि नहीं होता
अविद्वान् और मूर्ख भी मौन रहते हैं;
मुनि उसे कहा जाना चाहिए जो कि
तुला के समान अच्छे और बुरे को
तोलता है और अच्छे को ग्रहण कर लेता है
इस संसार में जो व्यक्ति
अच्छे और बुरे का विवेकपूर्वक मनन
करता है वही वास्तव में मुनि है।"

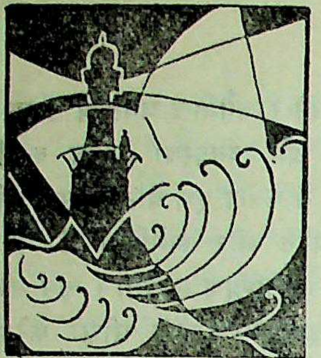

सामयिक

॥

कनफ्यूशस

क्योटो यूनिवर्सिटी के जापान के प्रो० शिगेकी कैज़ुका ने कनफ़्यूशस पर एक पुस्तक लिखी है जिसका कि अंग्रेज़ी में अनुवाद हो गया है। इस पुस्तक में कनफ्यूशस के विषय में विस्तार ने लिखा गया है। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"......कनफ़्यूशस का जन्म ५५२ ई० पू० में हुआ था। उसके पिता का नाम शु हू था। वह एक प्रतिष्ठित सैनिक था। उसके पास कुछ विशेष धन नहीं था। कनफ़्यूशस का बचपन ग़रीबी में कटा और इस कारण उसे पर्याप्त कष्ट उठाने पड़े। प्रारम्भ से ही वह विद्याप्रेमी था और उसे ज्ञान के उपार्जन की प्रबल अभिलाषा थी। उसका शरीर स्वस्थ और बलयुक्त था। कहा जाता है कि वह ६ फुट और ६ इंच लम्बा था। संभव है कि इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो परन्तु इससे यह ज्ञात होता है कि उसकी लम्बाई असाधारण थी। साधन न होने के कारण वह विधिपूर्वक अध्यापकों से शिक्षा को ग्रहण करने में असमर्थ था। वह इतना प्रतिभाशाली था कि उसने जहाँ से भी संभव हुआ शिक्षा को ग्रहण करने का प्रयत्न किया। उसने अपनी वृद्ध अवस्था में कहा था : "पन्द्रह वर्ष की आयु में मेरी समस्त शक्ति विद्या के उपार्जन में लगी हुई थी; ३० वर्ष की आयु में मैंने अपने आपको शिक्षा सम्बन्धी कामों में लगा दिया था; ४० वर्ष की आयु में मुझे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया था; ५० वर्ष की आयु में मुझे भगवान् की इच्छा का ज्ञान हो गया था; ६० वर्ष की आयु में मेरे कान मेरी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकते थे और ७० वर्ष की आयु में मैं अपने हृदय की कामनाओं का अनुसरण कर सकता था। कनफ्यूशस के समय जो शिक्षा प्रदान की जाती थी उसमें शिक्षा की अपेक्षा आचरण पर अधिक बल जाता था। समाज या बिरादरी में जो वृद्ध लोग थे धार्मिक आचार व्यवहार की शिक्षा प्रदान किया थे। कनफ़्यूशस अपने विषय में कहा करता था कि प्राचीनता से अत्यधिक प्रेम है और वह सदा ज्ञान खोज में रहता था।

शिक्षा को समाप्त करने के पश्चात् कनफ़्यूशस कई रूपों में सरकारी नौकरी की। उसने इस नौकरी समय कई प्रकार के सिद्धान्तों का विकास किया शासक और प्रजा दोनों को उन सिद्धान्तों से परि कराया। वह अपने आदर्श मनुष्य को 'राजा मनु कहा करता था। वह समझता था कि ऐसा व्यक्ति धन की परवाह करेगा और न आदर की; न वह से दुःख अनुभव करेगा और न हीनता से। वह शर्त पर भी मनुष्यता के साथ धोखा नहीं करे कनफ्यूशस के आदर्श का 'मनुष्यता' मन्त्र है। 'मनुष्यता' शब्द की व्याख्या प्रकार से की जाती है। 'मनुष्यता' के अर्थ समझने में कनफ़्यूशस के निम्न शब्द सहायक हो हैं : जो कि उसने एक बार कहे थे 'जिस मनुष्य मनुष्यता है वह अपने को ही नहीं दूसरों को भी देखना चाहेगा। मनुष्यता का मार्ग यह है कि अपने आपको दूसरे मनुष्यों से अभिन्न समझे।' ष्यता के साथ दो वस्तुओं का सम्बन्ध है एक रिकता का और दूसरा सत्यता का।

कनफ़्यूशस के निम्न कथन पर विचार कीजिए 'यदि आप लोगों के लिए क़ानून बनाएँगे और तोड़ने के अपराध में उन्हें दण्ड देंगे तो लोग से बचने का मार्ग निकालेंगे और इसके लिए वे प्रकार की लज्जा को नहीं अनुभव करेंगे। परन्तु आप सद्बुद्धि के द्वारा उनका मार्गदर्शन करेंगे आचरण से उनका नियन्त्रण करेंगे तो उनमें

साज-सज्जा के लिए प्रयत्नशील रहे। जब कि अनेक जातियाँ जो कि ईजिप्ट के समान थीं, सीधी-सादी कबरें, बनाने में सन्तुष्ट रहीं, ईजिप्ट के लोगों ने मृत व्यक्तियों के बड़े बड़े स्मारकों का निर्माण किया। हमें ईजिप्ट की कबरों के अन्दर जो अमूल्य रत्न और जवाहरात प्राप्त हुए हैं उनसे हमें ईजिप्ट के लोगों के जीवन और संस्कृति के विषय में कुछ अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। उनसे हमें इस बात का पता चलता है कि ५००० वर्ष पूर्व के ईजिप्ट के निवासी आज के ईजिप्ट के रहनेवालों से भिन्न नहीं थे।

बादशाह स्नेफरू के समय से लेकर एलेग्जेण्डर महान् के विजय के समय तक हमें ईजिप्ट में लेखों और स्मारकों की एक शृंखला प्राप्त होती है। हम इनके द्वारा ईजिप्ट देश की उस समय की अवस्था, धर्म, भाषा और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हमें तीन मुख्य साधनों से प्राचीन ईजिप्ट की सभ्यता के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। इनमें से प्रथम तो स्मारक हैं; दूसरा प्राचीन पुस्तकालय और संग्रहालय हैं और तीसरा साधन वे अनेक वस्तुएँ हैं जिनको उस समय के ईजिप्ट निवासी प्रति दिन उपयोग में लाते थे और जिनको कि मृतों के साथ दफ़ना दिया जाता था।

यह एक मनोरंजक बात है कि नैपोलियन के समय ईजिप्ट उज्वल प्रकाश में आया। ईजिप्ट की लिपि ध्वन्यात्मक है प्रतीकात्मक नहीं। यह ध्वनियों का नाम है विचारों का नहीं। यह लिपि मुख्यतया हमको कबरों में नज़र आती है। ईजिप्ट में विशाल मन्दिर हैं और उनके स्तम्भ इतने स्थूल और ऊँचे हैं कि देख कर आश्चर्य होता है। इतने विशाल मन्दिरों के सम्मुख मनुष्य कितना छोटा दिखाई देता है। इन मन्दिरों में ग्रीस की स्थापत्य की भव्यता नहीं है। ग्रीस की इमारतों में सम अनुपात है। उनको देखने से विशालकायता का अनुभव नहीं होता।

कबरों के अन्दर के भाग में भित्ति-चित्र हैं। इनमें से कुछ भित्ति-चित्र बहुत सुन्दर हैं। इन चित्रों से हमें ज्ञात होता है कि ईजिप्ट के लोग कितने सुन्दर कपड़े पहनते थे। सक्कारा में टि की क़ब्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें एक अत्यन्त सुन्दर भित्ति-चित्र है। इन चित्रों में एक चित्र दो चरवाहों का है जो कि अपनी गाय-भैंस के साथ नदी को पार कर रहे हैं। इनमें से एक चरवाहे ने अपने कन्धों पर एक बछड़े को उठा रखा है जो कि तैर नहीं सकता। बछड़े की पूँछ खड़ी है और वह बार बार अपनी माँ को टुकुर टुकुर देख रहा है। ईजिप्ट की चित्रकला १५००-१६०० ई. पू. प्राचीन है। थटमोसिस के राज्यकाल में कई थेबन कलाकार थे जिन्होंने प्रथम श्रेणी के चित्र बनाए हैं। चित्रों में जल-रंगों का प्रयोग किया गया है ईजिप्ट के कलाकार प्रकृति का अनुकरण करते हैं। ईजिप्ट के कलाकारों के रंग वास्तविक की अपेक्षा अधिक प्रेरणा प्रदान करते हैं। ईजिप्ट के कलाकार मनुष्यों की आकृतियों का भी बड़े सुन्दर ढंग से निर्माण करते हैं। ईजिप्ट में स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। वह अपने पति की संगिनी और सहधर्मिणी समझी जाती थी—दासी नहीं और उसका बहुत आदर किया जाता था। वह अपने पति के जीवन में आनन्द और सहधर्मिता को अनुभव करती थी। वह मछली के शिकार और मृगया में उसके साथ रहती थी। ईजिप्ट की एक प्राचीन पुस्तक में लिखा है: "वह पुरुष जो कि अपना मकान बनाता है और अपनी पत्नी को प्यार करता है-बुद्धिमान् है।"

क़बरों के कुछ भित्ति-चित्रों में उत्सवों और भोज आदि के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। इन भोजों में गायक उपस्थित रहते थे। अतिथि खा रहे हैं और पी रहे हैं और उनके सामने गायक गा रहे हैं और नर्तक नाच रहे हैं। अतिथियों को घरों में फूलों की माला पहनाई जाती है और उनके शरीर पर सुगन्धित लेप किए जाते हैं। प्रायः अतिथियों को कमल के फूल प्रदान किए जाते हैं। महिलाओं के काले बालों को प्रायः कमल के फूलों से सजाया जाता था। ईजिप्ट वालों के कपड़ों पर सुन्दर नक्काशी का काम किया जाता था। ईजिप्ट में एक महान् कलाकृति है और वह टट-एंन्च-अमन की कबर। यह विश्व में सुन्दर कला का अद्भुत नमूना है।

क़बरों में ईजिप्ट की प्राचीन चित्रकला आदि के नमूनों को देखने से हृदय पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है। ये कलाकृतियाँ उस समय के मनुष्यों के द्वारा बनाई गई हैं। उन मनुष्यों की आशाएँ, आकांक्षाएँ और सुख-दुःख हमारे ही समान थे। उनमें गम्भीर धार्मिकता थी। वे जीवन के मोह का परित्याग नहीं कर सके थे। वे जीवित विश्व का अंग बन कर रहना चाहते थे। वे हमारे ही समान मनुष्य थे जो कि दिव्यता के अभिलाषी थे।"

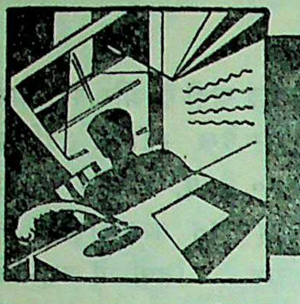

सम्पादकीय

अखिल भारतीय रेडियो से एक निवेदन

रेडियो का विभाग केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत है। इसके द्वारा भारतीय भाषाओं और उनके साहित्यों के प्रसार और उन्नति में विशेष सहायता प्राप्त होती है। रेडियो पर भारत की समस्त भाषाओं का सम्मिलन होता है। यहाँ से भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में समाचार और अन्य सूचनाएँ प्रसारित की जाती हैं। दिल्ली में समाचारों को भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में प्रसारित करने के लिए देश की समस्त भाषाओं को जानने वाले विद्वानों की नियुक्ति की जाती है। अखिल भारतीय रेडियो द्वारा यदि ज़रा-सा प्रयत्न किया जाए तो भारतवर्ष की भाषाओं में न केवल निकटता स्थापित की जा सकती है अपितु उनमें शब्दों की एकरूपता (Uniformity) आदि के लिए भी प्रयत्न किए जा सकते हैं। समस्त राष्ट्र-प्रेमियों की यह सम्मति है कि विज्ञान और इसी प्रकार अन्य शास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावली इन समस्त भाषाओं में एक ही होनी चाहिए। अभी पिछले दिनों हमने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि अखिल भारतीय प्रशासन के शिक्षा-विभाग द्वारा द्विभाषी-कोश इस उद्देश्य से तैयार कराए जा रहे हैं कि यह ज्ञात हो सके कि इस प्रकार के कौन-से शब्द हैं जिनका कि भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं में समान रूप से प्रयोग किया जाता है।

क्या यह सम्भव नहीं है कि अखिल भारतीय रेडियो के द्वारा भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं में जो समाचार प्रसारित किए जाते हैं उनमें जहाँ भी सम्भव हो एक समान शब्दों का व्यवहार किया जाए। इन समस्त भाषाओं में इस प्रकार के शब्द हैं जो कि एक समान प्रयुक्त किए जाते हैं और उन शब्दों के प्रयोग की ओर विशेषतया ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके सिवाय जो नए शब्द हैं उनके लिए इन भाषाओं में सुगमता से एक ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। कभी-कभी हम भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में समाचारों को सुना करते हैं। हमें यह देख कर दुःख होता है कि अखिल भारतीय रेडियो के अधिकारी बात की ओर कुछ विशेष ध्यान नहीं देते कि जहाँ सम्भव हो समाचारों को प्रसारित करने में भारत की समस्त भाषाओं में एकसमान शब्दावली का ही प्रयो किया जाए। इस समय तो यह अवस्था है कि भाषाओं में न केवल प्रतिदिन समान रूप से व्यवह होनेवाले शब्दों में भिन्नता है परन्तु व्यक्तियों, स्था और प्रान्तों के नामों को भी भिन्न-भिन्न रूपों में बो जाता है। यह सत्य है कि इन भाषाओं में शब्दों व्यवहार अभी तक इसी प्रकार होता रहा है और रहा है परन्तु जब हम इन भाषाओं को अखिल भा तीय स्तर पर ला रहे हैं, तब हमें शब्दों की समा रूपता की ओर भी ध्यान देना चाहिए जिससे भारती भाषाओं में एकात्म्यता स्थापित हो सके।

'बंगाल' शब्द को यदि हम रेडियो पर समाचारों में सुनें तो हमें ज्ञात होता है कि इस उच्चारण भारत की भाषाओं में भिन्न रूपों में कि जाता है। तेलुगु और कन्नड़ आदि दक्षिण भाषाओं बंगाल नहीं बोला जाता 'बंगाड़ या बंगाड़ा' बो जाता है। कई भाषाओं में 'बेंगाल' बोलने की प्रवृत्ति क्योंकि अंग्रेज़ी में इस शब्द के हिज्जे Bengal कि जाते हैं। 'बनारस' के हिज्जे अंग्रेज़ी में पहले Benar के रूप में थे और भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में बना को 'बेनारेस' बोला जाता था। अब इसके हिज्जों बदल कर Banaras कर दिया गया है परन्तु बंगा शब्द की ओर अभी ध्यान नहीं दिया गया है। यह सम्भव नहीं है कि भारतीय समस्त भाषाओं समाचारों के प्रसार में 'बंगाल' शब्द का ही प्रयोग कि जाए। 'बंगाड़', 'बंगाड़ा' या इसी प्रकार बंगाल खाड़ी को 'बंगाड़े या बंगाले' की खाड़ी नहीं बो जाना चाहिए। उसी प्रकार 'उड़ीसा' को इन भाषाओं समाचारों में कभी 'ओड़िस्सा' और कभी 'ओरि बोला जाता है। 'केरल' को 'केराला' बोला जाता और इसी प्रकार अन्य प्रान्तों और कई शहरों के

के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। प्रान्तों, शहरों और व्यक्तियों के नामों के उच्चारणों की समानता की ओर आसानी से ध्यान दिया जा सकता है। यदि अखिल भारतीय रेडियो भारत की समस्त भाषाओं में इन नामों को एक रूप से प्रयुक्त करेगा तो जहाँ तक भारत के प्रान्तों, शहरों और व्यक्तियों आदि के नामों का सम्बन्ध है इनमें तो एकरूपता उत्पन्न होने में बड़ी सहायता प्राप्त हो सकेगी।

इसी प्रकार अन्य शब्द हैं जिनका व्यवहार भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में एक समान होना चाहिए। जिस प्रकार प्रेज़ीडेण्ट के लिए राष्ट्रपति और House of Commons के लिए लोक-सभा और Council of State के लिए राज-सभा शब्द का भारत की समस्त भाषाओं में प्रयोग होने लगा है इसी प्रकार अन्य शब्दों के लिए इन समस्त भाषाओं में एक प्रकार के शब्दों का प्रयोग नहीं होता। राष्ट्रपति और लोक-सभा आदि शब्दों के एकसमान व्यवहार का सम्भवतः एक कारण यह भी है कि अंग्रेज़ी के पत्रों में भी इन शब्दों का प्रयोग होने लगा है और संसद् के सदस्य जिनमें कि भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों के प्रतिनिधि हैं—इन शब्दों का प्रयोग करते हैं।

‘प्राइम-मिनिस्टर’ शब्द के लिए हिन्दी के समाचारों के प्रसार में ‘प्रधान-मंत्री’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। क्या भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में प्रधान-मन्त्री शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता? गुजराती में ‘मिनिस्टर’ के लिए ‘प्रधान’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसीलिए गुजराती के समाचारों के बुलेटिन के प्रसारण में ‘प्राइम-मिनिस्टर’ शब्द के लिए ‘वड़ा-प्रधान’ शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अभी पिछले दिनों दक्षिण के एक राज्य के एक मन्त्री महोदय से इस सम्बन्ध में चर्चा हो रही थी। कहने लगे कि हम अपनी भाषा में ‘प्राइम·मिनिस्टर’ को ‘मुख्य-मन्त्री’ कहते हैं। मैंने उनसे कहा कि हिन्दी में ‘चीफ़-मिनिस्टर’ के लिए ‘मुख्य-मन्त्री’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। क्या यह वाञ्छनीय नहीं है कि इस प्रकार के समस्त शब्दों का प्रयोग भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में एक ही प्रकार से हो और इसमें कुछ विशेष कठिनता नहीं होगी। अखिल भारतीय रेडियो इस कार्य में बहुत सहायता कर सकता है। हम यह नहीं कहते कि इस सम्बन्ध में उन्हीं शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जिनका प्रयोग कि हिन्दी में किया जाता है। हम केवल यह चाहते हैं कि जिन शब्दों का भी प्रयोग हो—भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में एकसमान हो। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों के उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि इन समाचारों का प्रसार उन्हीं शब्दों के आधार पर किया जाता है जिनका प्रयोग उन भाषाओं के समाचार-पत्रों आदि में होता है और अनुवाद करने और सुननेवाले उन्हीं शब्दों से परिचित होते हैं। इसके लिए यह किया जा सकता है कि कुछ समय तक दोनों शब्दों का प्रयोग हो परन्तु धीरे-धीरे वही शब्द रह जाने चाहिएँ जिनका प्रयोग भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में एकसमान हो। इसका परिणाम यह होगा कि भारतवर्ष की सभी भाषाओं में समाचार-पत्र भी धीरे-धीरे उन्हीं शब्दों का प्रयोग करने लग जाएँगे और इस प्रकार इन शब्दों की सीमा तक तो इन समस्त भाषाओं में एकरूपता उत्पन्न हो जाएगी। अखिल भारतीय रेडियो एक अखिल भारतीय संस्था है और इसलिए वह इस कार्य को अखिल भारतीय स्तर पर सुगमतापूर्वक कर सकती है। अखिल भारतीय रेडियो जहाँ इन भाषाओं के प्रसार और उन्नति में सहायक हो सकता है वहाँ वह इन भाषाओं में निकटतम सम्बन्धों को और इसके साथ ही उनमें एकरूपता को भी स्थापित कर सकता है। हम अखिल भारतीय रेडियो के अधिकारियों से निवेदन करते हैं कि वे भारतवर्ष की भाषाओं में एकरूपता को उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार के आवश्यक क़दम उठाएँ जिससे इन सब भाषाओं में एकीकरण और हेल-मेल की भावना की अभिवृद्धि हो।

भाषा-आयोग की रिपोर्ट

अभी तक भारतीय प्रशासन ने भाषा-आयोग की रिपोर्ट को प्रकाशित नहीं किया है। पिछले दिनों हमने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि शीघ्र ही यह रिपोर्ट प्रकाशित होनेवाली है परन्तु अभी तक तो यह रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई। इस बीच में इस आयोग के अध्यक्ष श्रीयुत बी. जी. खेर का देहावसान हो गया। संभवतः श्रीयुत खेर ने भाषा-आयोग की अध्यक्षता के रूप में राष्ट्रभाषा और राष्ट्र की अन्तिम सेवा की है। अच्छा होता

कि यदि उनके जीवन-काल में ही भाषा-आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हो जाती। हमारे हृदय में अभी तक उन दिनों की स्मृति ताज़ी है जब कि भाषा-आयोग के सम्बन्ध में श्रीयुत बी. जी. खेर हैदराबाद पधारे थे। उनका और इस आयोग के अन्य सदस्यों का हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद की ओर से स्वागत और अभिनन्दन किया गया था। उस समय भी श्रीयुत खेर का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था और इसी कारण वे भाषण देने में सर्वथा असमर्थ थे। इस आयोग की अध्यक्षता के रूप में श्रीयुत बी. जी. खेर ने राष्ट्र की जो सेवा की है उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए आशा है कि भारतीय प्रशासन शीघ्र ही भाषा-आयोग की रिपोर्ट को प्रकाशित करेगा।

इस रिपोर्ट के प्रकाशित न होने से सर्व-साधारण में अनेक प्रकार की चर्चाएँ हो रही हैं। समाचार-पत्रों में प्रकाशित रिपोर्टों से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के एक-दो प्रान्त इस पक्ष में नहीं हैं कि १५ वर्षों के पश्चात् भी हिन्दी को वह स्थान प्रदान किया जाए जो कि भारतीय संविधान के आधार पर उसे प्राप्त होना चाहिए। सुनते हैं कुछ लोग इस सम्बन्ध में संविधान में भी परिवर्तन कराना चाहते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतवर्ष में जहाँ अन्य क्षेत्रों में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है वहाँ यह समझ में नहीं आता कि भाषा के क्षेत्र में ही क्यों हम पुनः पीछे की ओर जाना चाहते हैं? अंग्रेज़ी का हमारे हृदयों पर कुछ ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा है कि हमारे देश के अनेक विद्वान् यह समझते हैं कि यदि उसकी स्थिति में ज़रा-सा भी कुछ परिवर्तन हुआ तो हमारे देश की उन्नति रुक जाएगी। कुछ भी हो एक न-एक दिन हमें इस स्थिति का सामना करना ही पड़ेगा। आख़िर इस प्रश्न को कब तक टाला जा सकता है? आशा है कि भारतीय प्रशासन इस सम्बन्ध में शीघ्र ही आवश्यक कार्यवाही करेगा और भाषा-आयोग की रिपोर्ट सर्वसाधारण के सम्मुख आ जाएगी और जनता को उस पर विचार करने का अवसर प्राप्त होगा।

बेसिक अंग्रेज़ी और बेसिक हिन्दी

भारतीय प्रशासन बेसिक हिन्दी की योजनाएँ बना रहा है जब कि बेसिक अंग्रेज़ी के सम्बन्ध में अनेक गण-मान्य व्यक्तियों की जो धारणाएँ थीं वे पूरी नहीं हो सकीं। स्वर्गीय श्रीयुत एच. जी. वेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "The shape of things to come" में लिखा था : "२००० और २१०० ई. के बी में बेसिक अंग्रेज़ी समस्त राष्ट्रों की साधारण भाषा हो जाएगी।" बेसिक अंग्रेज़ी कुल ८५० शब्दों की है जिन्हें कि ४१४,००० कोश के शब्दों से चुना गया है। इसमें ६०० संज्ञाए हैं; १५० विशेषण हैं और १० अन्य शब्द हैं जो इन संज्ञाओं और विशेषणों को व्यवहार योग्य भाषा के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। बेसिक अंग्रेज़ी के सुगम होते हुए भी अभी तक वह उ लोकप्रियता को प्राप्त नहीं कर सकी जिसकी कि आश की जा रही थी। इसके अनेक कारण हैं। भाषा को एकमात्र सरल बनाने से ही कार्य नहीं चल सकता। भाषा की सरलता अवश्य एक वांछनीय वस्तु है परन्तु भाषा में सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है विचारों और भावों की यथासंभव पूर्ण रूप से समर्थ अभिव्यक्ति। इस अभिव्यक्ति के लिए प्रति दिन नए शब्द भाषा में प्रवे होते रहते हैं। भाषा को बेसिक बनाने से वह सरल तो हो सकती है परन्तु उससे अपने जीवन और ताज़गी के खोने का भय है।

अभी पिछले दिनों बेसिक अंग्रेज़ी का आविष्क करने वाले श्रीयुत सी. के. ओगडेन का देहावसान हो गया। बेसिक अंग्रेज़ी के आविष्कार को किसी समय ए महान् घटना और एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की वस्तु सम जाता था परन्तु दो तीन दशकों के व्यतीत होने पर उस महत्व को इतना भी अनुभव नहीं किया गया कि विश्व श्रीयुत ओगडेन की मृत्यु पर कुछ विशेष श्रद्धांजलि अर्पित न करे।

जब बेसिक अंग्रेज़ी को कुछ विशेष सफलता प्रा नहीं हुई तो क्या यह आशा की जा सकती है कि बेसि हिन्दी को सफलता प्राप्त हो सकेगी? अभी तो बेसि हिन्दी बहुत कुछ योजना के रूप में ही है और इस सम्बन्ध में भारतीय प्रशासन के शिक्षा-विभाग की ओ से आए दिन समाचार-पत्रों में घोषणाएँ प्रकाशित हो रहती हैं। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के सम्ब में पहले ही यह शिकायत है कि इन भाषाओं में शब्द वली प्रचुर मात्रा में नहीं है। भाषा को बेसिक बनाने तो वह और भी सीमित हो जाएगी। अभी तो भार भाषाओं का विकास हो रहा है और क्या इस अव में बेसिक का प्रश्न हिन्दी के विकास में बाधक नहीं हो

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बडी सावधानी से
तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

प्रकाशक : माणिकलाल कौल—मुद्रक : हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, है. द.

रजिस्टर्ड नं. ५९९ अजन्ता, मार्च १९५७ Regd. H. No. H. 5

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
सा
हि
त्य
की
प्राप्ति के लिए एकमात्र
स्थान

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

नामपल्ली स्टेशन रोड़, हैदराबाद (दक्षिण)

टेलीफोन नं. : ५४८० तार : "हि

13-5-57

गुरुकुल गड़ी

१

अंक ४

अजन्ता

अप्रैल १९५७

अलमारी सेफ़ सोफ़ा सेट

सुन्दर और टिकाऊ

सब प्रकार का

स्टील का फ़र्नीचर

घरों और कार्यालयों के लिए

★

आलविन मैटल वर्क्स

हैदराबाद

(आन्ध्र प्रदेश)

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल
आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण
फोन नं. : ५३५६ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल
अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण
फोन नं. : ४३९३ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल
चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१
अमर मेडिकल हॉल
स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्खे तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक सांस्कृतिक
हिन्दी मासिक

'प्रेरणा'

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ, एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है।

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :
अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.... के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गति-विधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

**शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—
वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए
आठ आने का टिकट भेजिए।**

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**
सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

**आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत**

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग

**अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.**

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर

प्रकाशक :

* साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
* नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
* कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच,
संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्दु छात्रालय, बनारस

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत,
शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-
पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक

[मासिक]

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

●

वार्षिक मूल्य ४) रु.] [एक प्रति ६ आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ
नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर, सुभाष मार्ग
लखनऊ

फोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

फोन नं० १४२ [वसुधा]

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई
परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।
प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी
की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की
जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन,
तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।
पृष्ठ संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बड़ी सावधानी से
तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

का

वार्षिक अंक

२८ फरवरी '५७ को प्रकाशित हो चुका है

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी है और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

वार्षिक का मूल्य १॥) है, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'

साधु आश्रम, होशयारपुर—पंजाब

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र

श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !

* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!

* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय

साहित्यकार-संसद,

५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

मुख्य विषय :

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।||)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए "सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

९४, बेयर्ड रोड, नई देहली

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

सम्पादक समिति

प्रतापनारायण टण्डन

डा० देवराज **कुंवर नारायण**

कृष्ण नारायण कक्कड़

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रहा है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

वार्षिक शुल्क ८) अर्ध वार्षिक ४), एक प्रति ।||)

'युग-चेतना' कार्यालय

स्पीड बिल्डिंग ला प्लास, लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबा

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खि भी हिन्दी की एक विशेष शैली ह । खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है । दक्खिनी ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है । हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सब पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है । संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं संग्रह है । यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई क जोड़ने वाला है । पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी लिखी है । संकलन कर्ता हैं श्रीराम शर्मा । पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ । मूल्य १०—८—० ।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) **:** तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत् रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी अर्थ दिया गया है । इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लो तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं । लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी । मूल्य ४—०—

३. **सबरस :** गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्‍ गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना । शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी । प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा । पृष्ठ सं लगभग २५०, डेमी साइज़ । मूल्य ६—०—० ।

४. **मुहावरा कोश :** पृष्ठ संख्या २९८ । रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन काले मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापुर । मूल्य ३—०—० ।

५. **चाबुक** (कहानी संग्रह) **:** श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है । इस कहानी-संग्रह ने हिं के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है । कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकि हुआ है । कौन १६ं पृष्ठ संख्या १३९ । मूल्य सजिल्द १—१२—० ।

६. **मीरा** (तेलुगु) **:** लेखक रामचन्द्र कौण्डिन्य । मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद
मूल्य १—४—

७. **तुलसीदास** (नाटक) **:** गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक । नाट रंगमंच के उपयुक्त है । मूल्य १—२—० ।

८. **शकुन्तला-ए-ट्रेजड़ी (एण्ड अदर ऐसेज़) :** श्री वंशीधर विद्यालङ्कार । मूल्य ४—०—० ।

व्यवस्थापक:—**पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचा**

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज, सचित्र छपाई। आकर्षक मुखपृष्ठ।

१. **बालपद :** ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर आचार्य श्री पं० वंशीधर विद्यालङ्कार। ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ :** उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—श्री पं० रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए., पी. एच. डी.। ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १ :** दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए. पी. एच. डी.। ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ :** बच्चों के लिए मनोरंजन कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. **दो एकांकी :** ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए.। ०-८-०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. **दक्षिण के महापुरुष भाग २ :** लेखिका—श्री विमला लूथरा। ०-६-०

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१ हिन्दी बोध प्रवेशिका	०	१०	०	१२ रचना बोध भाग १	०	५	०
२ हिन्दी बोध भाग १	०	८	०	१३ रचना बोध भाग २	०	६	०
३ हिन्दी बोध भाग २	०	१२	०	१४ इतिहास की कहानियाँ भाग १	०	८	०
४ हिन्दी बोध भाग ३	०	१३	०	१५ इतिहास की कहानियाँ भाग २	०	१२	०
५ हिन्दी बोध भाग ४	०	१४	०	१६ विज्ञान सोपान भाग १	०	१०	०
६ गद्यसोपान भाग २	१	०	०	१७ विज्ञान सोपान भाग २	०	१२	०
७ सरल गणित भाग २	०	१०	०	१८ चार एकांकी	०	१२	०
८ सरल गणित भाग ३	०	१२	०	१९ मणियाँ	०	१०	०
९ पद्य पारिजात भाग १	०	१२	०	२० सरल व्याकरण भाग १	०	६	०
१० पद्य पारिजात भाग २	१	५	०	२१ कहानी संग्रह	१	२	०
११ कथाकुञ्ज भाग १	१	८	०	२२ सरल भूगोल	१	०	०

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श–समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी., नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
भूतपूर्व वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा विभाग हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप'

१९५० से १९५६ ई. तक के प्रत्येक वर्ष की 'अजन्ता' की पुरानी फ़ाइलें जिल्द बन कर तैयार हो गई हैं।

'अजन्ता' का प्रकाशन अक्तूबर १९४९ से आरम्भ हुआ। विगत सात वर्षों में 'अजन्ता' ने हिन्दी साहित्य के भण्डार को बहुमूल्य रचनाओं से पूर्ण किया। गत वर्षों के यह अंक हिन्दी साहित्य की प्रगति को जानने के लिए नितान्त संग्रहणीय हैं।

अंकों का मूल्य वार्षिक रु. ६–०–० होते हुए, जिल्द के साथ और भी अधिक बढ़ जाता है किन्तु नीजि और सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए रु. ७-०-० में इन फाइलों को देने की सुविधा प्रदान की गई है।

शीघ्र आर्डर भेजिए : रु. ७–०–० का मनिआर्डर प्राप्त होते ही जिल्द तुरन्त भेज दी जाएगी इन जिल्दों को वी. पी. द्वारा नहीं भेजा जाएगा।

'अजन्ता'

हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद
(आन्ध्र प्रदेश)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ६ अप्रैल १९५७ अङ्क ४

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

तार : हिन्दी

फोन : ५५५.

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और

मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

कृति
आचार्य सर्वे १
इतिहास वेत्ता से
जगदीशचन्द्र २
है अडिग मगर विश्वास !
विश्वदेव शर्मा ३
फूल-हाट की चहल पहल में
रमेन्द्रनाथ श्रीवास्तव ४
वासन्ती रात
नन्दकिशोर राय ५
श्रीधर पाठक की रचनाओं को पढ़ने पर...
कुन्तल मेघ ६
अलग-अलग मतों का मेल
डाक्टर भगवानदास ८
पंचतन्त्र
हंसराज 'रहबर' १२
अतियथार्थवाद और अस्तित्ववाद
देवेन्द्र इस्सर १६
रवीन्द्रनाथ के उपन्यास
प्रबोधकुमार मजुमदार २२
कुमारिल दर्शन में अभाव (?)
डाक्टर गोवर्द्धन भट्ट २८
कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव
प्रो० गोपीनाथ तिवारी ३२
स्वर्गाश्रम की ओर
टीकमचन्द रांवका ३६
नए हाथ
प्रीतमसिंह पंछी ४०
भारतीय रेलवे की वित्तीय-अवस्था
अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार ४३
आत्म-निवेदन
जगदीशचन्द्र ४६
तेलुगु का लोकप्रिय कवि 'करुण श्री'
भीमसेन 'निर्मल' ५२
सूली ऊपर सेज हमारी
हाशिमा शाहीन ५७
भाई रामगोपाल संघी
बंकटलाल ओझा ६१
कला-चर्चा :
भगवानदास पुरोहित ६४
चिट्ठी-पत्री :
नई कविता में काव्य के स्वरूप : सत्यदेव ओझा; अजन्ता के सम्बन्ध में : दामोदर प्रसाद चौधरी, सन्तदासी सक्सेना, कश्चित् ६६
नीर-क्षीर :
१६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, हिन्दी शिक्षण कला, चिनगारी, अन्तर्द्वन्द्व, वाल्मीकि रामायण (सुगम हिन्दी रूपान्तर), महान् आविष्कारक ऐडीसन, सन्त विनोबा की आनन्द-यात्रा : वंशीधर विद्यालंकार ७१
सामयिक :
महाकवि उल्लूर (केरल का महाकवि), भारतवर्ष की मूर्तिकला, आसामी नाटक ७६
सम्पादकीय :
वंशीधर विद्यालंकार ८०

चित्र :

सूर्यमुखी के फूल : श्रीयुत विद्याव्रत, अरविन्द आश्रम पांडिचेरी के सौजन्य से

वार्षिक मूल्य : ९)

एक प्रति का मूल्य : १)ह.

सूर्यमुखी के फूल

श्रीयुत विद्याव्रत, अरविन्द आश्रम,

वर्ष ६ अप्रैल १९५७ अङ्क ४

"कृति"

अपनी धरती पर
जमा पग बढ़ा चल
सतत सत्वर निर्विकार
संवेदन-संश्लेषण-विश्लेषण से विरत
सोऽहं : अहंकार
उन्मेष-अचल अमल
मूर्तिमान सारल्य : मानव का महत्
अतिमानसिक अवतरण—
चैत्य-संज्ञाग्रस्त "दिव्य"
—अधर विश्वम्भर
अक्षरों में अकार

—आचार्य सर्वें

साहित्य-सेवा-सदन,
जयपुर

इतिहास वेत्ता से

हम सभी इतिहास की गहरी, अजानी खाइयों में,
एक दिन दब जाएँगे

मृत्यु की असीम छाया हमें ढक लेगी
अनागत को,
सभ्यता, साहित्य, दर्शन, प्रगति के आन्दोलनों की नींव
रास्ते, मंजिल, सभी कुछ
हम कुहासे की तरह धूमिल, भटकती आत्माओं को लिए
शून्य के आकार में,
डूब जाएँगे कि गोताखोर जैसे
डूब जाता है हमेशा के लिए
और नीचे, और नीचे, और नीचे !

फिर हजारों साल के उपरान्त
नई दुनिया के नए इतिहास में,
खण्डहरों की शक्ल में, भूगर्भ से, हमको निकाला जाएगा
राष्ट्र के संग्रहालयों में,
मन्दिरों में
अस्थियों को फिर प्रतिष्ठित कर, जिलाया जाएगा

और अन्धे लोग, अन्धी सभ्यता
पत्थरों की फिर वही पूजा करेंगे
जो कि उनके पूर्वजों ने की
यही है इतिहास मानव-जाति का
कर रहे हो गर्व जिस पर तुम कि ऐ इतिहास वेत्ता !

३४/५ जार्ज टाउन,
इलाहाबाद (उ. प्र.)

—जगदीशचन्द्र

है अडिग मगर विश्वास !

तुम मृग-मरीचिका बन कर मुझ को दौड़ाओ
है अडिग मगर विश्वास कभी तो पा ही लूँगा

तुम मुझे निराशा की काली सौगात न दो
यह तो मेरी जीवन-संगिनी सहेली है
यह घन-आँधी से भरी हुई बरसात न दो
यह तो मेरे बचपन से मुझ से खेली है
तुम आँख मिचौनी खेल कहीं भी छिप जाओ
यदि शेष रहेगी साँस कभी तो पा ही लूँगा

है अडिग मगर विश्वास कभी तो पा ही लूँगा

मैं कोटि जन्म से तुम्हें ढूँढ़ता आया हूँ
शत-कोटि मरण के द्वार खोल कर आऊँगा
यदि लौट गया मैं तट तक आ कर लहरों-सा
जयकार ज्वार की पुनः बोल कर आऊँगा
चन्दा की गागर ले नभ में तुम इठलाओ
है अमर अगर यह प्यास कभी तो पा ही लूँगा

है अडिग मगर विश्वास कभी तो पा ही लूँगा

मैं अंगारों पर चला, जिया हूँ मरु-थल में
मैं हिम-गिरि पर भी बर्फ़ बिछा कर सोया हूँ
मैं गरल-पान पर हँसा, सर्प से भी खेला
तूफ़ानी जलनिधि बीच युगों तक खोया हूँ
आँखों में हैं यदि स्वप्न, सत्य भी होंगे ही
है अगर कहीं मधुमास कभी तो पा ही लूँगा

है अडिग मगर विश्वास कभी तो पा ही लूँगा

गणेश लाइन, किशन गंज
दिल्ली—६

—विश्वदेव शर्मा

"फूल-हाट की चहल पहल में"

दूर बहुत हूँ
किन्तु यहाँ से देख रहा हूँ
ठण्डी सहमी बूँद ओस की
नई लजीली पंखुरियों से झरती
और वहीं तुम मुँह-अन्धियारे
हरसिंगार को बिनती

दूर बहुत हूँ
किन्तु यहाँ से देख रहा हूँ
नदी किनारे तुम डोंगी पर
फूल भरी टोकरियाँ रखती
और कभी माँझी से हंसकर
बातें रसमय करती

दूर बहुत हूँ
किन्तु यहां से देख रहा हूँ
फूल-हाट की चहल-पहल में
अलस भरे नयनों से कहती—
'दूर बहुत हूँ'
किन्तु यहां से देख रहा हूँ

नैशनल कालेज, बान्दरा,
बम्बई

—रमेन्द्रनाथ श्रीवास्तव

वासन्ती रात

नील सिन्धु में तिरता तिरता
ओझल होने लगा दिवस जलयान
साँझ ने लहराया रुमाल रेशमी
तप्त करतलों में अकुलाया मूक प्रणाम

हाँकते ताराओं की मेड़
चली आ रही पहाड़िन रात
क्षितिज ढालुआ, बिछलते पाँव
बिखरने लगी गीत के नूपुर की सौगात

हठी झोंके की बाहें
श्वेत घनों की नरम लता का कुंज
निठुरता से झकझोर गईं
झरे किरनों के सौ-सौ फूल
गन्ध-सी रजत चाँदनी उमड़
थके प्राणों को बोर गई

थकी निंदियारी तन्द्रा चली
उनींदे पलकों का पथ लीप
विसुधि के लहरों पर चुपचाप
उमगते चले सपन के दीप

पियरवा के स्वर वाले गीत
कहीं से बह बह आए री
"दूध से धुली वसन्ती रात
पिया परदेश भुलाए री"

अमेठी राजभवन,
लंका, वाराणसी

—नन्दकिशोर राय

श्रीधर पाठक की रचनाओं को पढ़ने पर...

(कवि की ८१ वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में)

व्याख्या :—श्रीधर पाठक हिन्दी के प्रथम स्वच्छन्दतावादी, प्रकृति-प्रेमी कवि थे। उनकी काव्य-धारा में कई उपधाराओं का संगम है। एक ओर तो वे भारतेन्दु की परम्परा में हैं, दूसरी ओर रीतिकालीन रसीलापन और कोमलता को ग्रहण करते हैं। तीसरी ओर संस्कृत के कालिदास के प्रकृति वर्णनों से प्रेरित हैं और चौथी ओर गोल्डस्मिथ से प्रेरित होकर प्रकृति और ग्राम्य जीवन की स्वच्छन्द मस्ती में घूमते हैं। इसीलिए भारती के गेह की उन्नीसवीं शताब्दी के एक कोहबर (वह कमरा जहाँ प्रथम वधू प्रथम रात्रि में आती है) से तुलना की गई है जहाँ श्रीधर पाठक नव-वर की तरह संस्कृत, ब्रजभाषा, अंग्रेज़ी और खड़ी बोली की वधुओं को क्रमशः लाते हैं। कविता में श्रीधर की काव्यात्मक विवेचना भी है।

—कुन्तल मेघ

श्रीधर पाठक की रचनाओं को पढ़ने पर
यूँ लगता है :
जैसे मैं लेटा हूँ आर्द्र-त्रिवेणी के टीले पर,
पीछे प्रतिष्ठानपूर के कलहंसों की
शत् शत् कूकें मुझे उड़ातीं,
अब तटस्थ-उल्लासों का गोरा-कुहरा सिहरा, लो !
अब अलंकार का मधुर मधुर गुन्जार उठा कोनों से !
अब लिए राग-रंजित-दक्षिण, हो चकित्-प्रेक्षणा,
प्रकृति-वधू झुक शरमाई, लो !
अभी घेर कर भारतेन्दु को
श्रीधर का जलधर घिर आया,
मुझे भिगाया उत्प्रेक्षाओं की झड़ियों ने,
पहले भावुक कवि का प्रेम-भरा चुम्बन लो, दमक रहा है !

प्रकृति-प्यार के ललक भरे नयनों की यमुना नीली नीली—
सजी हुई ऋतु-कामिनियों के ऋतु संहार रचा कर गंगा चन्दन-वर्णा—
ग्राम्य-तटों की, नव-स्वच्छंद-कला की शोभा रंगने वाली अरुण-सरस्वति—
ये तीनों सरिताएँ मिल कर—
कल, कल, कल, मिलने को कह कर बहती जातीं
इसीलिए मैं जगता स्वप्न देखता
आर्द्र-त्रिवेणी के टीलों पर

- १९५७

लो, ऊपर शशि एक पर्यटक-सा चलता है,
प्रेम-पथिक की मुग्ध-भावना
की आशा बन
हिन्दी करती मधुर प्रतीक्षा !
इतने नए नए प्रान्तों में घूम रहा मैं;
जैसे शायद होमर ने भी दिखलाए थे
प्रेमी मधुर कीट्स को सबसे पहले
विरले प्रान्त !

कल तो ऐसा लगा कि मानों
कला-भारती उनविंशवीं-शति की भूली-सी
एक बड़ा ग्रामीण-गेह है, चार-पाँच कमरे हैं जिसमें
हर कमरे में एक नवेली वधू सोई थी प्रथम रात में
किन्तु वही कमरे अब हुए सुहाग-भवन हैं
हाँ, वैसे ही
लो, श्रीधर ने व्रजभाषा की चतुर गोपिका उस कमरे में भेजी
किन्तु साथ जयदेव सजाते कोमल कान्त पदों के गहने आए;
लो, श्रीधर ने संस्कृत की मादक श्रृंगारिक लोक प्रकृति को
उस कमरे में भेजा
किन्तु साथ में कालिदास थे रस, सौन्दर्य सजाते;
लो, श्रीधर ने आंग्ल-सुन्दरी बुला ग्राम से वहाँ भेज दी
किन्तु गोल्डस्मिथ हैं स्वच्छन्द-भावना उसे सिखाते;
लो, श्रीधर हिन्दी की वधू को सोलह-सिंगारों से लाए
पन्थ-प्रदर्शन करते भारतेन्दु हैं;
वाह, हमारी कला-भारती का गृह
नूतन कोहबर आज बना है !

इसीलिए
देखो, काश्मीर-प्रकृति हँस
रूप सँवार रही वह !
देखो, वहाँ 'अंजलैना' आ
मुग्ध-युवतियों को सिखलाती प्रेम-मार्ग में सर्व-समर्पण !
देखो, मंसूरी की शैल-पंक्तियाँ
श्रीधर के चरणों के चिन्हों को
वसन्त में सजा रही हैं !!

भीड़ लग रही है दर्शन की:
ये हैं खड़े प्रसाद, निराला, पन्त,
हजारों जन जन देख रहे हैं
अभी अचानक मेरे द्वारों पर
अनजाने
किन हाथों की थाप पड़ी है !!
अरे, अचानक घूम भीड़ से बच कर आए
श्रीधर खड़े हुए हैं !
उनके पीछे दूज-चन्द्रमा लगा हुआ है !!

मुझ से बोले :
"देखो, मुझको ये सब देख रहे हैं,
कला-भारती का गृह देख रहे हैं,
देख रहा हूँ मैं भी सबको !
हिन्दी के पन्थों से चल कर मैं आया हूँ
सारे भारत में घूमूँगा
लेकिन क्यों यह
दूज-चन्द्रमा मेरे पीछे लगा हुआ है ?"

श्रद्धा से मैं झुक कर बोला :—
"अरे, प्रकृति के प्रथम मुग्ध कवि !
हिन्दी के पहले रोगी कवि !
ग्राम्य-लोचनों के नव अंजन
यह शशि तो आएगा पीछे-पीछे-पीछे-पीछे—
श्रान्त-पथिक तुम, यह तो कला-पथिक है
लेकिन,
चल दिन-प्रति-दिन यह बढ़ता जाएगा
हो जाएगा पूर्ण-चन्द्रमा।
तुम भी इसके साथ बढ़ोगे,
तुम भी इसके सुधा-अंश हो,
तुम भी हो पूर्ण-चन्द्रमा !!

१०४।४३३, पी-रोड, सीसामऊ
कानपुर

—कुन्तल मेघ

अलग-अलग मतों का मेल

अलग-अलग लोग अलग-अलग तरह से सोचते हैं। अक्सर उनकी अलग-अलग रायें एक दूसरे के खिलाफ़ भी मालूम होती हैं। अपनी-अपनी राय की बावत लोग अक्सर कहते हैं कि—'केवल यह राय ही ठीक है' ज़रूरत इस बात की है कि इनके 'केवल ही' की जगह हम 'भी' लगा दें। कहना चाहिए—'यह राय भी ठीक है' और फिर हमें यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि कौन-सी राय किन अर्थों में, किन हालतों में और किन सीमाओं के अन्दर ठीक है।

मिसाल के तौर पर एक ईश्वर की पूजा और अनेक देवी-देवताओं की पूजा, इन दो बातों को ही लीजिए। ईश्वर तो एक ही है और वही सब का ईश्वर अल्लाह है। पर इस दुनियाँ में अनगिनत तरह की हस्तियाँ हैं। उनके अनन्त छोटे-बड़े दरजे हैं, कुछ इनसान से नीचे और कुछ इनसान से भी ऊपर। इन्हीं दरजों के ज़रिए रूह यानी आत्मा का अनन्त विकास (इरतक़ा) पलता रहता है। इसका कुदरती नतीजा यह है कि जो रूहें, बहुत ऊँचे दरजे की और बड़ी शक्तिशाली हैं वह अलग-अलग दुनियाओं या अलग-अलग सौर जगतों (निज़ामे शम्सियों) के लिए अलग-अलग देवताओं का काम दे सकती हैं। यानी अलग-अलग ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सरस्वती, लक्ष्मी और गौरी हो सकती हैं, इन में भी ऊँचे नीचे दरजे हो सकते हैं। हिन्दू पुराणों में इन दरजों की चर्चा है। ऐसे ही दूसरे धर्मों में भी फ़रिश्तों, मलायक, एनजिल, आर्च एनजिल, इलोहिम, इलाहा वग़ैरह की चर्चा आती है। मामूली छोटी और मातहत रूहों के लिए वे पूजा की चीज़ भी हो सकते हैं। जो लोग यह समझते हैं कि इस दुनिया को किसी खालिक़ या स्रष्टा ने इस तरह बनाया है जिस तरह कुम्हार मट्टी के बरतन बनाता है; उनका विचार भी इस तरह एक हद तक ठीक हो सकता है। यही दुनिया के आम लोगों का विचार है।

इसके अलावा चूँकि 'मैं' और 'ग़ैर मैं' को, यानी रूह और मादे को हम एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते, इसलिए मोटे तौर पर यह भी कहा जा सकता है कि बिलकुल बेजान मादा नाम की कोई चीज़ है ही नहीं। हम कह सकते हैं कि "यह सारा विशाल विश्व एक एकाई है, प्रकृति यानी कुदरत इसका शरीर हैं और ईश्वर अल्लाह इसकी आत्मा है।" इन अर्थों में यह सिद्धान्त भी ठीक हो जाता है कि यह सारा विश्व ही ईश्वर है। हर चीज़ ईश्वर है। उसी को अंग्रेज़ी में 'पैंथीइज़्म' कहते हैं।

साइन्स जिस तरह इस सारे विश्व का पैदा होना मानती है उसके भी कई रूप हैं। एक रूप यह है कि हर चीज हर समय बदलती रहती है। दूसरा रूप यह है कि हर चीज का विकास होता रहता है और हर समय उसकी नए सिरे से रचना होती रहती है। इसी तरह के और विचार भी हैं, जैसे यह कि 'सूरज या आसमान के नीचे कोई चीज नई नहीं है' यह दुनिया नित्य नई है, यह कभी पुरानी नहीं होती। 'कोई चीज दुबारा नहीं होती' ऐसे ही दुनिया के अकस्मात यानी इत्तफ़ाक़िया बन जाने का सिद्धान्त और भाग्य यानी क़िस्मत का सिद्धान्त वग़ैरह वग़ैरह। वह अद्वैत यानी वहदतुलवजूद जो किसी दूसरी चीज के वजूद को ही नहीं मानता। इन सब तरह के अलग-अलग विचारों को मिला कर चलता है। आत्मा ही इस दुनिया को चलाता है। इसमें रूह ही रूह है और मादा ही मादा है दोनों सिद्धान्त आकर मिल गए। इन्हीं दोनों अलग-अलग सिद्धान्तों को अंग्रेज़ी में 'वाइटलइज़्म' और 'मीकैनिज़्म' कहते हैं। इन्हीं को 'हार्मिज़्म' और 'बिहेवियरइज़्म' भी कहते हैं।

दुनिया में जितने तरह के सिद्धान्त हैं उनमें से हर एक के दो सिरे होते हैं। हर नदी के दो किनारे होते हैं। हर सवाल के दो पहलू होते हैं। हर घटना और हर काम के दो रुख होते हैं। हर पहलू या रुख केवल आधी सचाई होता है। पूरी सचाई सब पहलुओं को मिला कर बनती है। इसलाम में कहा गया है—'ख़ैरलउमूर औसतहा' यानी सब कामों की भलाई या सचाई औसत यानी बीच ही में होती है। जैन धर्म में इसी को 'अनेकान्तवाद' या 'स्यादवाद' कहते हैं। थोड़ा

सा सोचने से हमें पता चल सकता है कि दुनिया में जितने वाद या सम्प्रदाय हैं सब दो-दो के जोड़ों में चलते हैं। यह सब सिद्धान्त शुरू की हुई यानी नर और मादा, आत्मवाद और प्रकृति-वाद के ही अलग-अलग रूप हैं। हर सिद्धान्त एक खास पहलू पर ज़ोर दे देता है और उसे बढ़ा-चढ़ा कर दुनिया के सामने रख देता है। इसीलिए दुनिया के विचारक, लेखक, उपदेशक, मुल्ला, पादरी, आचार्य और विद्वान सदा आपस में लड़ते झगड़ते रहते हैं। बेचारी जनता हैरान होकर उनकी तरफ़ देखती है, और यह नहीं समझ पाती कि क्या मानना चाहिए, क्या करना चाहिए और किसके पीछे चलना चाहिए।

फिर भी हम इन सब परस्पर विरोधी मतों को एक दूसरे के साथ मिला सकते हैं और इन सब बहसों और खेंचा-तानी को कम कर सकते हैं। यदि हम 'आत्मा' और 'ग़ैर-आत्मा' को मिला सकते हैं तो हम सब छोटे-छोटे विरोधों को आसानी से शान्त कर सकते हैं।

आत्मा और शरीर यानी रूह और जिस्म में जो सम्बन्ध है उसकी बाबत जितने सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं वह सब अर्ध सत्य यानी आधी सच्चाइयाँ हैं।

एक और मिसाल लीजिए मेरे सामने एक काग़ज़ का टुकड़ा है। उसके ऊपर कुछ काले काले निशान बने हैं जिन्हें लिखाई कहते हैं। मेरे मन के अन्दर कुछ विचार हैं। अब सोचिए उन काले निशानों और मेरे मन के अन्दर के विचारों में क्या सम्बन्ध हो सकता है। फिर भी उन काले निशानों से दूसरों के दिमाग़ों में मेरे विचार पहुँच जाते हैं। इन काले निशानों और मेरे विचारों में कोई मेल नज़र नहीं आता। पर क्या सचमुच इनमें कोई मेल नहीं है? क्या सचमुच दिमाग़ी चीज़ें और मादी चीज़ें बिलकुल एक दूसरे से अलग हैं? नहीं, हरगिज़ नहीं। हमारे विचार, हमारे भाव, हमारे इरादे सब हमेशा सीधे या घूम कर बाहर की मादी दुनिया से सम्बन्ध रखते हैं। "मैं" कभी 'ग़ैर-मैं' से जुदा नहीं हो सकता। 'मैं' सदा 'ग़ैर-मैं' की मदद से ही सोचता और अनुभव करता है। उसी से 'ग़ैर-मैं' के तरह तरह के रूप बनते हैं। सारी प्रकृति ख़याल ही तो है। ख़याल से बाहर और कुछ है ही नहीं। मेरा ख़याल सैकड़ों भाषाओं में लिखा जा सकता है, सैकड़ों वाक्यों में प्रगट किया जा सकता है। हर लेख और हर आवाज़ के पीछे कोई न कोई ख़याल है। दोनों में अटूट नाता है यही नाता हमारे शरीर के एक एक अंग और एक एक हिस्से में काम कर रहा है। अगर हम इतना समझ लें कि 'मैं' और 'ग़ैर-मैं' चेतन और जड़, नर और मादा सदा साथ साथ चलते हैं, तो हमारी सारी कठिनाई जाती रहे। यह कोई दो चीज़ें हैं ही नहीं। एक ही भावना (जज़बा), ध्यान, (मराक़बा) धारणा (याद) या कल्पना (तसव्वुर) है जो यह सब चला रहा है। मैं ही हूँ जो अनेक रूपों में अपने को ज़ाहिर कर रहा हूँ सच यह है कि इनकी अनेकता भी एक धोका है। मेरे अन्दर लिखाई, आवाज़ और ख़याल मिल कर एक हो जाते हैं। इनके सिवा मेरे 'मैं' के ज़हूर का कोई और साधन ही नहीं। आज कल का विज्ञान भी बड़ी सोच के बाद इन्हीं नतीजों पर पहुँचा है। असली पढ़ने वाला हर लेख से हर चीज़ पढ़ सकता है क्योंकि वही उन सब लेखों की जान है, ठीक जिस तरह एक तेज़ बच्चा अपने गुड्डे या खिलौने के अन्दर से तरह तरह की कहानियाँ निकालता और सुनता रहता है। वह गुड्डा उसीके हाथ का बना हुआ तो है।

तरह तरह के रूप जब एक दूसरे से मिलते हैं तो आत्मा के अन्दर प्रेम की एक लहर दौड़ती है और तरह तरह के रूप जब एक दूसरे से टकराते हैं तो यही लहर घृणा या नफ़रत की लहर हो जाती है। हमारे सपने हमारी ही इच्छाओं और भावनाओं के अक्स होते हैं। हमारे विचार और हमारा सारा विज्ञान हममें से ही निकलता है। एक ही लेखक अलग अलग नाटक लिख कर, अलग अलग रूपों को जन्म देता है। अनगिनत लेखक मिल कर अपनी रचनाओं में प्रेम और घृणा को अनगिनत रूप देते रहते हैं। जिसे हम इतिहास कहते हैं वह भी एक ही बड़ा नाटक है जो अलग अलग रूपों में हमारे सामने आता रहता है। एक ही 'परम-आत्मा' यानी 'रूहेकुल' इस सारे संसार को चला रही है और अपने अन्दर लिए हुए है।

भारत की सांख्य फ़िलासफ़ी कहती है कि हर आत्मा केवल एक दर्शक है जो अपने शरीर को और चारों तरफ़ की दुनिया को देखता है और दुनिया के रूप लगातार बदलते रहते हैं। वेदान्त फ़िलासफ़ी इससे

१९५७

आगे बढ़ कर कहती है कि सब अलग अलग आत्माएँ भी एक ही 'परम-आत्मा' यानी 'रूहेकुल' के अन्दर हैं और यह जो कुछ हम देख रहे हैं यह सब भी उसीके अन्दर है।

अद्वैत फ़िलासफ़ी (यानी वहदतुलवजूद) जिसमें 'मैं' और 'ग़ैर-मैं' दोनों मिल कर एक हो जाते हैं बाक़ी सब छोटे छोटे फ़रक़ों को भी ख़तम कर देती है। परम आत्मा, अल्लाह अकबर, विश्व-आत्मा, या रूहे कुल के अन्दर सब देवता और सब दानव यानी ग़ैर-देवता आकर समा जाते हैं। प्रेम और घृणा दोनों मेरे दिल के अन्दर की लहरें हैं। मेरा चेहरा तन भी सकता है और मुसकरा भी सकता है। एक दूसरी मिसाल लीजिए। कुछ लोग कहते हैं कि स्वर्ग और नरक, जन्नत और दोज़ख़ हमेशा के लिए है। दूसरे लोग कहते हैं ऐसा नहीं है। असल में स्वर्ग और नरक दोनों का वजूद उसी रूहेकुल के अन्दर है, इस लिए उनका हमेशा के लिए रहना ठीक ही है। पर कोई अलग आत्मा लगातार हमेशा के लिए स्वर्ग में या नरक में नहीं रह सकती। जवानी और बुढ़ापा दोनों साथ साथ और हमेशा के लिए हैं। हर जानदार दोनों में से निकलता है, पर एक साथ नहीं, एक दूसरे के बाद और कोई जानदार हमेशा के लिए एक हालत में नहीं रह सकता। 'ग़ैर-मैं' की हक़ीक़त ही यह है। उसका रूप हमेशा बदलता रहता है। यह 'रैलेटिविटी' का क़ानून है। हर विचार और हर भाव एक समय के लिए होता है। खुशियां आगे बढ़ कर फीकी पड़ जाती हैं। मुसीबतें नहीं रहतीं। आदत पड़ते ही उनका डंक निकल जाता है। सुख या दुख अगर बहुत देर तक रह जाए तो या तो आदमी को ख़तम कर देता है और या फिर आदमी का वह हिस ही नहीं जाता। हर शहर में बाग़ भी होते हैं और जेलख़ाने भी। लेकिन उनमें जानेवाले सदा बदलते रहते हैं। उनमें रहनेवालों की भी हालतें बदलती रहती हैं। सब कहीं, सब आत्माओं को सुख और दुःख पाप और पुण्य, जन्नत और दोज़ख़ के सब तजरबों में से निकलना पड़ता है क्योंकि सब रहें एक ही वजूद, एक ही रूहकुल में है। तजरबे अनगिनत होते हैं और दुनिया के एक तजरबे हमेशा के लिए 'परम-आत्मा' या 'रूहे कुल' में एक साथ मौजूद हैं। संस्कृत बोली में 'आत्मा' का अर्थ है 'खाने वाला', यानी सबको खा जाने वाला। यह आत्मा अनगिनत आत्माओं के जरिए, यानी अपने ही अनगिनत रूपों में, अलग अलग देश, काल और गति, मकान ज़मीन और हरकत से निकलता हुआ, जिन रूपों में इन सब सुखों, दुखों, पापों, पुण्यों, स्वर्गों और नरकों का तजरबा करता रहता है वह सब भी अनगिनत और अनन्त हैं।

—**डाक्टर भगवानदास**

जावा में रामायण की कथा

जावा में 'सेरत-काण्ड' नाम की एक पुस्तक उपलब्ध है, जिसमें रामायण की कथा का कुछ परिवर्तित रूप में वर्णन है। इस पुस्तक के अनुसार रावण और विष्णु दोनों ही स्थानीय राज्य-वंशों के नायक हैं, जिनमें अनेक बार युद्ध होता है। विष्णु रावण से हार जाते हैं और रावण को नीचा दिखाने के लिए दूसरे जन्म में राजा दशरथ के यहाँ राम के रूप में जन्म लेते हैं। इन्हीं की प्रेरणा से वासुकी लक्ष्मण के रूप में दशरथ के यहाँ पैदा होते हैं। विष्णु की पत्नी एक अण्डे का रूप धारण करती है। इस अण्डे को रावण खा जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप मन्दोदरी के गर्भ से सीता उत्पन्न होती है। अपनी जन्म-पत्री के दूषित नक्षत्रों के कारण सीता, समुद्र में फेंक दी जाती है। वह किसानों को प्राप्त होती है और उसका विवाह राम के साथ होता है।

पंचतन्त्र

वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों और पुराणों में बहुत सी कहानियाँ आई हैं जो मनुष्य ने अपने अनुभव से सीखी और रची हैं। लेकिन उस समय इतिहास, दर्शन, विज्ञान अथवा राजनीति ज्ञान की अलग-अलग किस्में नहीं थीं। मनुष्य अपना सारा ज्ञान एक ही पुस्तक में संकलित कर देता था। ज्ञान और साहित्य अलग-अलग किस्मों में तो सदियों के विकास के बाद विभाजित हुआ है और एक समय तक यह काम अनजाने ही होता रहा है। आज कहानी साहित्य का स्पष्ट और विशिष्ट रूप है। दुनियां के प्रत्येक देश में कहानियाँ और उपन्यास लिखे जाते हैं और मनुष्य की शिक्षा के साधन हैं।

कहानी का आरम्भ तो उसी समय हुआ, जब मनुष्य ने बोलना सीखा। लेकिन यह मानी हुई बात है कि 'पंचतन्त्र' दुनिया में कहानियों की सबसे पहली पुस्तक है। जब यह पुस्तक लिखी गई तो इसे कहानी संग्रह कहने के बजाय नीतिशास्त्र कहा जाता था। और इसके बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि विष्णु शर्मा ने राजा के मूर्ख लड़कों को राजनीति सिखाने के लिए ये कहानियाँ बयान की थीं। दर असल पंचतन्त्र का आरम्भ ही इस प्रकार होता है कि एक अमर शक्ति राजा के तीन लड़के बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति थे और तीनों मूर्ख थे। राजा को इस बात का बड़ा दुःख था। वह सोचता था कि जो बेटा न विद्वान् है और न सन्मार्ग पर चलता है उसके होने से क्या लाभ। उसका अस्तित्व बिना ज्योति की आँख के सदृश है, जो दुख तो सकती है पर देख नहीं सकती। अच्छा है कि बेटा उत्पन्न ही न हो अथवा हो कर मर जाए क्योंकि इन दोनों हालतों में एक बार रंज होता है, लेकिन मूर्ख बेटे का अस्तित्व तो स्थायी रंज का कारण है।

राजा ने अपने मन्त्री से मश्विरा करते हुए कहा कि मेरे दरबार में पांच सौ पंडित रहते हैं क्या उनमें से कोई भी मेरे मूर्ख बेटों को विद्वान् नहीं बना सकता? इन पंडितों में से सबसे अधिक अनुभवी और विद्वान् विष्णु शर्मा का नाम तजवीज़ हुआ और राजा ने उसे बुला कर कहा कि अगर वह उसके तीनों बेटों को राजनीति सिखा सके तो राजा उसको बहुत-सा धन देगा। विष्णु शर्मा ने विनीत उत्तर दिया कि मैं अस्सी वर्ष की आयु में धन लेकर क्या करूँगा। अलबत्ता मैं यह शर्त बदलता हूँ कि अगर तीनों लड़कों को छः महीने में राजनीति न सिखा सका तो मैं अपना नाम विष्णु शर्मा नहीं रखूँगा।

यों राजा के मूर्ख बेटों की शिक्षा का कार्य विष्णु शर्मा के सुपुर्द हुआ और उन्हें राजनीति सिखाने के लिए पंचतन्त्र की कहानियाँ बयान की गईं।

मगर यह बात कुछ अधिक विश्वसनीय नहीं कि एक राजा के मूर्ख लड़के महज़ कहानियाँ सुन कर विद्वान् बन गए हों। यह एक शैली है जो लेखक ने अपनी बात कहने के लिए अपनाई है। इसमें आश्चर्य भी क्या है। सामन्त युग की तरह पंचतन्त्र की कहानियाँ भी राजा से शुरू होती हैं। वरना राजा और उसके मूर्ख बेटे लेखक की कल्पना की उपज हैं। उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। इस विषय में दूसरा तर्क यह है कि हितोपदेश पंचतन्त्र का ही एक बदला हुआ संस्करण है। इन कहानियों को नारायण पंडित ने काफ़ी समय के बाद संगृहीत किया है। इसमें पंचतन्त्र के राजा अमर शक्ति का नाम सुदर्शन दर्ज है, जो गंगा के किनारे पाटलीपुत्र अथवा पटना में रहता था। इस किताब में यह भी दर्ज है कि सुना हुआ हितोपदेश और दूसरे नीतिशास्त्रों से लेकर लिखा गया है और इसे पढ़ कर मनुष्य में हर विषय को समझने और मित्रों से बातचीत करने की योग्यता उत्पन्न होती है।

पंचतन्त्र की कुछ कहानियाँ महाभारत से ली गई हैं, कुछ महाभारत से पहले की हैं और कुछ बाद की हैं। पंचतन्त्र में जिन पुस्तकों और लेखकों का जिक्र आया है उनमें रामायण, महाभारत, मनुस्मृति. मनु और चाणक्य उल्लेखनीय हैं। इससे सिद्ध होता है कि विष्णु शर्मा चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद हुए हैं। पुस्तक बुद्ध-भिक्षुओं का भी जिक्र करती है। उस समय बुद्ध धर्म राजधर्म

१६५७

था। इन सब बातों से पता चलता है कि विष्णु शर्मा पहली सदी पूर्व ईसा में कुशनों के राज्यकाल में उत्पन्न हुए। कुशन परिवार के तमाम राजा बुद्ध धर्म के अनुयायी थे और कनिश्क इस परिवार का सबसे प्रसिद्ध राजा था। उसका राज्य दक्षिण में बनारस और विंध्याचल तक, उत्तर में काश्गर, यारकंद और खुतन तक और पश्चिम में ईरान की सीमा तक फैला हुआ बताया जाता है। इसका मतलब है कि उत्तर प्रदेश, पंजाब, काश्मीर सहित सारे उत्तरी भारत और मध्य एशिया के काफ़ी बड़े भाग पर कुशनों का शासन था। पेशावर के निकट तक्षशिला उनकी राजधानी थी।

नौशेरवाँ के जमाने में पंचतन्त्र का फारसी अनुवाद अनवार सहेली के नाम से हुआ था और अब तक संसार की लगभग सभी भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। अंग्रेज़ी संस्करण के अनुवादक ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि विष्णु शर्मा पहली सदी पूर्व ईसा में काश्मीर के आस-पास उत्पन्न हुए।

पहली दूसरी सदी पूर्व ईसा में बौद्ध-विहार सांस्कृतिक वाद-विवाद के केन्द्र होते थे। दक्षिण और पश्चिम के नये विचारों और पुराणों को नई परिस्थिति में ढाल कर उनमें खूब प्रचार किया जाता था और इस प्रचार का बौद्ध सिद्धान्तों की सादगी पर असर पड़ रहा था। दिन-दिन बदल रही परिस्थितियों में मनुष्य नए सिरे से सीखने के लिए तैयार रहता था और विद्या को जीवन में विशेष महत्व प्राप्त था।

विष्णु शर्मा ने पुस्तक के आरम्भ में राजा के मूर्ख बेटों को विद्वान् बनाने की जो बात लिखी है, इससे उस युग में ज्ञान की जिज्ञासा और महत्व का पता चलता है। पुस्तक के एक श्लोक का अर्थ है कि विद्या संसार का सबसे श्रेष्ठ धन है क्योंकि वह न व्यय होता है और न नष्ट होता है और एक दूसरे श्लोक में कहा गया है कि विद्या मामूली से मामूली व्यक्ति को भी राज-दरबार तक पहुँचा देती है क्योंकि नीचे की ओर बहने वाली नदी भी तिनके के लिए समुद्र तक पहुँचने का कारण बनती है। विद्या के गुण वर्णन करते हुए लिखा है कि विद्या से मनुष्य में विनय और विनय से योग्यता उत्पन्न होती है। योग्यता से धन, धन से धर्म और फिर धर्म से सुख मिलता है।

विद्या दो प्रकार की बताई गई है—एक शस्त्र विद्या, और दूसरी शास्त्र विद्या। इनमें शास्त्र विद्या को श्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि शस्त्र विद्या बुढ़ापे में हास्य का कारण बनती है और शास्त्र विद्या का सदा आदर होता है। आगे चल कर शास्त्र विद्या को समस्त शंकाओं को दूर करने वाली और इन्द्रियों से अगम्य वस्तुओं का बोध कराने वाली सबकी आँख कहा गया है और जिस आदमी को यह आँख नहीं मिली वह अन्धा है।

जो विद्या लचक से खाली है, स्थिति के साथ बदलती नहीं, वह व्यर्थ है, लाभ की जगह नुक़सान पहुँचाती है। इसलिए विष्णु शर्मा ऐसे ज्ञान के पक्ष में नहीं हैं जो मनुष्य के विकास को रोक दे और उसे रूढ़िवादी बना दे। पुस्तक के अन्त में लिखा है कि जो सदा पूछता, सुनता और रात दिन ग्रहण करता है उसकी समझ सूरज की किरणों से बढ़ने वाले कमल के सदृश बढ़ती है।

उपमा सराहनीय है। बढ़ते हुए कमल की ताज़गी और सुन्दरता की कल्पना कीजिए। बुद्धिमान व्यक्ति को भी पूछते रहने और अपना ज्ञान ताज़ा करते रहने की कितनी आवश्यकता है।

यह ज्ञान और जिज्ञासा का युग था। ब्राह्मणों, राजा और राजा के लड़कों के लिए ही विद्वान् होना आवश्यक नहीं था, बल्कि विद्वान् चाहे कोई भी हो उसका सम्मान होता था और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सन्तान को विद्वान् और सुयोग्य बनाने का प्रयत्न करता था क्योंकि प्रत्येक पिता की यह उत्कट अभिलाषा होती है कि उसका बेटा उससे अधिक योग्य और विद्वान् हो। इसी उसूल के आधार पर पंचतन्त्र का रचयिता लिखता है कि योग्य पुत्र एक ही अच्छा और अयोग्य सौ भी व्यर्थ हैं क्योंकि एक चाँद अन्धेरे को दूर कर देता है और असंख्य तारे नहीं कर सकते। फिर लिखता है कि मनुष्य चाहे किसी भी कुल में उत्पन्न हो वह विद्वान् होने ही से सम्मान पाता है, अच्छे बांस की बनी हुई कमान बिना डोरी के व्यर्थ होती है।

सीखने की इच्छा हर एक आदमी को होती है लेकिन राजा अथवा दूसरे अभिजात वर्गों के पास विस्तृत साधन होते हैं। वे अपने लड़कों को आसानी से पढ़ा लेते हैं और दूसरे विद्या से वंचित रह जाते

हैं। पंचतन्त्र के राजा अमरशक्ति को किसी ऐसे पंडित की तलाश थी जो मनुष्य का सदियों का अनुभव और ज्ञान उसके मूर्ख बेटों के सामने संक्षेप में बयान कर दे। लिखा है कि जीवन-विद्या का कभी अन्त नहीं होता और बहुत से शब्द-शास्त्र बहुत दिनों में पढ़े जाते हैं। मगर जीवन थोड़ा है और उसमें भी बाधाएँ पड़ती रहती हैं, इसलिए मनुष्य शास्त्रों में वर्णित तथ्य को ग्रहण कर ले और बाहरी और फालतू घटनाओं को छोड़ दे, ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार हंस पानी में से दूध निकाल लेता है। विष्णु शर्मा इस कार्य में समर्थ थे, इसलिए राजा ने उन्हें बुलाया।

तात्पर्य यह कि पंचतन्त्र के रचयिता विष्णु शर्मा ने प्राचीन शास्त्रों का भली प्रकार अध्ययन और मनन किया था और उसने अपनी कृति में उस समय तक के मानवी ज्ञान और दर्शन का सार प्रस्तुत किया है।

यह बात काफी हद तक दुरुस्त भी मालूम होती है। लेकिन पुस्तकें ही ज्ञान प्राप्त करने का एक मात्र साधन नहीं होतीं, इसके लिए अनुभव की भी दरकार है। विष्णु शर्मा ने लिखा है कि मनुष्य विद्या, धन और शिल्प उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह देश-देश में घूम नहीं लेता। अर्थात् पंचतन्त्र के रचयिता ने पुस्तक ज्ञान के अतिरिक्त घूम-फिर कर व्यक्तिगत अनुभव से भी बहुत कुछ सीखा था। लिखा है कि जिस व्यक्ति ने देश-देश में घूम कर बहुत भाषा और भेस नहीं जाने उसने इस धारती पर जीवन व्यर्थ खोया है।

यह ज्ञान ही का नहीं कर्म का भी युग था। दरअसल कर्म के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना कर्म अधूरा रह जाता है, इन दोनों के समन्वय ही से मनुष्य का विकास सम्भव है और समन्वय से ही कोई युग इतिहास में अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाता है।

हिन्दुस्तान में यह कर्म और ज्ञान के समन्वय का युग था जो आठवीं सदी पूर्व ईसा से शुरू हुआ था। और आठवीं नवीं सदी ईसा के बाद तक जारी रहा। उस समय कुशनों के अतिरिक्त भारत में और भी छोटे बड़े राजा थे। विद्या, शिल्प और व्यापार की दृष्टि से दक्षिण भारत भी खूब तरक्की पर था। मगध में मौर्य राज्य के पतन के बाद बहुत से विद्वान, शिल्पी और व्यापारी दक्षिण में जा बसे थे। अशोक की मृत्यु के उपरान्त आन्ध्र देश फिर स्वतन्त्र हो गया था। और स्वतन्त्र होते ही उसकी शक्ति का खूब विकास हुआ और उसका राज्य एक दक्षिण तट से दूसरे तट तक फैल गया था। दक्षिणी भारत और यूरोप में काफ़ी व्यापार होता था। मोती, हाथी दांत, सोना, चावल, मिर्च और बन्दर तक सिरिया, मिस्र, यूनान और रोम आदि देशों में भेजे जाते थे। यह व्यापार हिन्दुस्तानी जहाजों द्वारा होता था, जिन्हें द्रविड़ चलाते थे। द्रविड़ आर्यों के आगमन से पहले ही विदेशों से व्यापार करते थे और वे बड़े ही निपुण नाविक थे। दक्षिणी भारत में रोमन सिक्के काफ़ी संख्या में मिले हैं। कनिष्क, रोम के सम्राट जूलियस सीजर का समकालीन था। उसने जूलियस के बेटे अगस्टस सीजर के दरबार में अपने दूत भेजे थे। इन दोनों देशों में भूमि और समुद्र के रास्ते खूब व्यापार होता था। हिन्दुस्तान से रोम को इतर मसाले, रेशम, जरी के कपड़े और जवाहरात जाते थे। एक रोमन लेखक पिलनी ने शिकायत की है कि रोम से हिन्दुस्तान को बहुत बड़ी मात्रा में सोना चला जाता है। उसका कहना है कि विलास की वस्तुओं पर हर साल रोमन राज्य के दस करोड़ सेस्टर सीजर (रोमन सिक्के) खर्च हो जाते हैं। यह रकम लगभग डेढ़ करोड़ रुपया के बराबर होगी।

गरज यह कि उस समय भारत व्यापार में बहुत उन्नत था। इसी लिए उस समय धन कमाना और धन का संचय करना जीवन का उद्देश्य निश्चित किया गया था। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं—प्रत्येक दर्शन भौतिक परिस्थितियों और लोगों के आर्थिक सम्बन्धों से जन्म लेता है।

पंचतन्त्र के रचयिता ने राजा के बाद दूसरे दर्जे पर व्यापारी को रखा है। दूसरी कहानी वर्द्धमान बनिये के बारे में है, जो व्यापार से धन कमाता है और लिखा है कि जिसके धन है उसके मित्र हैं, जिसके धन है उसके सम्बन्धी हैं, जिसके धन है वह मनुष्य है और जिसके धन है वहीं पण्डित है। इस संसार में धन वालों के घर पराए भी अपने बन जाते हैं और जो निर्धन है उसके अपने सम्बन्धी भी खिलाफ रहते हैं।

पंचतन्त्र का लेखक व्यापार से अधिक किसी चीज को महत्व नहीं देता और धन कमाने के लिए उसने व्यापार के सात उपाय बताए हैं— (१) सुगन्धित

१६५७

वस्तुओं का व्यापार, (२) रुपया जमा करके ब्याज पर देना, (३) दुधैले पशु पालना अर्थात् डेरी फार्म कायम करना, (४) ग्राहकों से मेल-जोल बढ़ाना और परिचय प्राप्त करना क्योंकि परिचित ग्राहक कीमत के बारे में तकरार नहीं करता, (५) अधिक कीमत बताना, (६) कम तोलना और (७) विदेशों से बर्तन आदि मंगवाना।

इस बयान से भी उस समय की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है और यह बात सिद्ध हो जाती है कि भारत से इतर आदि सुगन्धित वस्तुएँ बाहर भेजी जाती थीं और उनके एवज़ विदेशों से बर्तन आदि ला कर बेचे जाते थे।

लगता है कि अमानत में खयानत जायज़ नहीं थी। लेकिन लालची लोगों में अमानत को हड़प जाने की लालसा अवश्य पाई जाती थी क्योंकि विष्णु शर्मा ने लिखा है कि धरोहर घर में आने से सेठ अपने देवता की पूजा करता है कि अगर धरोहर रखने वाला मर जाए तो देवता को उसकी प्रिय वस्तु भेंट करेगा।

लेकिन कहावत है कि कौवों की प्रार्थना से पशु नहीं मरते। इसलिए विष्णु शर्मा ने देवता की पूजा से धन अर्जित करने के बजाए सक्रिय जीवन को सराहा है और पंचतन्त्र की कहानियों द्वारा मनुष्य को साहस, धैर्य और कर्म का सन्देश दिया है। एक श्लोक का अर्थ है—कार्य उद्योग से पूरे होते हैं, इच्छा से नहीं, सोए हुए शेर के मुँह में शिकार आप ही आप नहीं आ जाता।

पंचतन्त्र का लेखक भाग्यवादी दर्शन का प्रतिवाद करते हुए लिखता है कि जो बात नहीं होनी, सो नहीं होगी और जो होनी है उसे कोई टाल नहीं सकता—यह आलसी और निकम्मे लोगों का दर्शन है। धन तो सदा शेर के सदृश साहसी लोगों को प्राप्त होता है। भाग्य की बात नीच लोग करते हैं। आदमी को चाहिए कि भाग्य का विचार त्याग कर सामर्थ्य पर प्रयत्न करे। अगर प्रयत्न के बावजूद सफलता प्राप्त न हो, तो इसमें क्या बुराई है? असफलता का कारण मालूम करने के लिए मनुष्य अपने कृत्य का विश्लेषण करे।

और लिखा है कि जैसे एक पहिए से रथ नहीं चलता, वैसे ही प्रयत्न के बिना भाग्य नहीं खुलता। और भाग्य क्या है? पूर्व जन्म में किए हुए कार्य ही को भाग्य कहते हैं। इसलिए मनुष्य को आलस्य छोड़ कर मेहनत करनी चाहिए। अपने सामने खज़ाने को देख कर भी भाग्य उसे अपने आप प्राप्त नहीं कर सकता उसके लिए भी कोशिश की दरकार है।

भाग्यवाद को यों रद्द करने के बाद विष्णुशर्मा कहता है कि काम बिगड़ जाने पर भी हिम्मत नहीं हारनी चाहिए क्योंकि हिम्मत से बिगड़ा हुआ काम शायद फिर बन जाए। दमनक, करटक से कहता है कि बुद्धिमानों के लिए उचित है कि वह आपतकाल में भी न घबराएँ, बुद्धि का प्रयोग करें। किसी भी हालत में हिम्मत हारना मुनासिब नहीं। सम्भव है बिगड़ा हुआ काम बुद्धि से फिर संवर जाए।

अमल और अक़्ल का मेल ज़रूरी है। लिखा है कि जो व्यक्ति काम आ पड़ने पर सत्य बुद्धि को हाथ से नहीं जाने देता वह कठिनाइयों में से ऐसे गुज़र जाता है जैसे पानी में से बन्दर।

धैर्य के बिना भी कर्म की सफलता सम्भव नहीं है। लिखा है कि कायर व्यक्ति असफलता के भय से काम शुरू नहीं करते, और दूसरे दर्जे के लोग काम शुरू तो कर देते हैं, पर कठिनाई आ पड़ने पर बीच में छोड़ देते हैं। लेकिन श्रेष्ठतम गुणवान पुरुष हज़ार बाधाएँ पड़ने पर शुरू किए हुए काम को नहीं छोड़ता।

आगे लिखा है कि भय और हर्ष की दशा में भी जो सोचता है वह कभी दुःखी नहीं होता।

दरअसल संसार में जीना उसीका है, जो कर्मशील है और कर्म को सफल बनाने के लिए संघर्ष करता है उसी को आदर और सम्मान प्राप्त होता है। पंचतन्त्र का रचयिता लिखता है कि जो व्यक्ति क्षण भर भी मनुष्यों से सन्मान पा कर जीता है, वास्तव में वही जीवित है। जो विद्या वीरता और धनादि के गुणों से सम्पन्न है परिचित जन उसी को जीवित कहते हैं वरना कौआ भी बहुत अर्से तक जीता और मुर्दार माँस खाता है। वैसे तो जीने को बहुत से लोग जीते हैं, और पक्षी भी चोंच से पेट भरते हैं।

कर्म के महत्व को और अधिक समझना हो तो यह श्लोक देखिए जिसमें कहा गया है कि माँ ने उस बेटे को जन्म दे कर अपनी जवानी को व्यर्थ खोया है जो अपने कुल में पताका के सदृश नहीं लहराता है।

और लिखा है कि जो व्यक्ति बलवान् हो कर भी अपने बल को व्यक्त नहीं करता, उसे लोग घृणा से

देखते हैं क्योंकि लकड़ी के भीतर रहने वाली आग को हर कोई स्पर्श कर सकता है।

बाहरी और भीतरी जीवन का क्या सुन्दर सामंजस्य है। उपमायें कितनी सरल हैं। फिर भी लेखक के निरीक्षण और चिन्तन की द्योतक हैं और उस समय की भौतिक स्थिति को चित्रित करती हैं।

पंचतन्त्र के अध्ययन से उस समय के सामाजिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। यह सामन्ती युग था और राजा को समाज में सब से ऊँचा पद प्राप्त था। इसलिए विद्या को भी राजदरबार तक पहुँचने का साधन बताया गया है और यह उपदेश दिया गया है कि स्वामी और राजा की सेवा में प्राण त्याग करने वाला नौकर स्वर्ग में जाता है। चूँकि पुस्तक के आरम्भ में कहानियों का उद्देश्य राजा के बेटों को राजनीति सिखाना बताया गया है, इसलिए राजपाट के तरीकों और राजा के गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त वह सामन्ती युद्धों का ज़माना था, इसलिए युद्ध-नीति और शत्रु से बचाव के उपाय बयान किए गए हैं। उस समय राजा की रक्षा के लिए दुर्ग अत्यावश्यक था। इसलिए मजबूत दुर्ग बनाने पर बार-बार ज़ोर दिया गया है। उदाहरणतः विष्णु शर्मा लिखता है कि जैसे दाढ़ों के बिना साँप और उन्माद रहित हाथी उसी प्रकार दुर्ग के बिना राजा शीघ्र ही दूसरों के वश में हो जाता है। अतः दुर्ग में बैठ कर एक धनुषधारी सौ से लड़ सकता है इसलिए नीतिशास्त्र के ज्ञाता दुर्ग के महत्व पर ज़ोर देते हैं।

पंचतन्त्र भी चूँकि नीति शास्त्र है, इसलिए दुर्ग के महत्व को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि राजा, जो काम हजार हाथी और लाख घोड़ों से पूरा नहीं कर सकते, उनका वह काम एक दुर्ग से पूरा हो जाता है और फिर बताया गया है कि जो मन्त्री राज का भेद जाहिर करता है वह बिना शस्त्र के उसका बध करता है।

मगर पंचतन्त्र में जहाँ राजा की प्रशंसा की गई है, वहाँ उसकी कड़ी आलोचना भी मिलती है। कारण यह है कि भारतीय परम्परा में राजा स्वेच्छाचारी कभी नहीं हो सका। कई बार तो उसे सभा चुनती थी और राज्याभिषेक के समय उसे शपथ लेनी पड़ती थी कि मैं प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करूँगा और मन, वचन और कर्म से धर्म और नीति के अनुसार चलूँगा। एक विजेता को भी विजित प्रदेश की पुस्तकों में लिखित रीति रिवाज और नियमों का आदर करना होता था। राजा को नीति और धर्म पर चलाना मन्त्रियों और सभासदों का काम था। विष्णुशर्मा ने लिखा है कि जो व्यक्ति सभा में स्पष्ट बात नहीं कहता, उसे वहाँ से निकाल दिया जाए, वरना वह सच बोले। और यह भी कहा है कि जो व्यक्ति सम्मान, लोभ अथवा क्रोध के भय से न्याय के विपरीत बात कहता है, वह नरक में जाता है।

यह भी लिखा है कि जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, उसे प्रसन्न नहीं रख सकता उसका राज्य बकरी के गले के स्तन की भाँति बेकार है।

दुराचारी राजा से प्रजा कभी प्रसन्न नहीं होती क्योंकि गिद्धों से घिरा हुआ हंस श्रेष्ठ आचरण धारण नहीं कर सकता, जिस राजा से उसके नौकरों को कोई लाभ न हो, वह चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो नौकर उसे यों छोड़ कर चले जाते हैं, जैसे पक्षी शुष्क पेड़ को छोड़ जाते हैं।

और विद्वान् को राजा पर तरजीह देते हुए कहा है कि विद्या राजसिंहासन से श्रेष्ठ है क्योंकि राजा को सिर्फ अपने राज्य में महत्व प्राप्त है, लेकिन विद्वान् कहीं भी चला जाए वहीं आदर पाता है।

सामन्ती युग ने नारी के व्यक्तित्व को बिलकुल कुचल दिया था। इस युग में उसे पुरुष की दासी और भोग-विलास की वस्तु समझा गया। पंचतन्त्र के लेखक ने भी नारी को पुरुष की दासी बनानेवाली पतिभक्ति का उपदेश दिया है। लिखा है कि जो स्त्री अपने पति को प्रसन्न रखती है, उस पर तमाम देवता प्रसन्न रहते हैं। जो स्त्री अपने पति की पूजा करती है, मनुष्य के शरीर पर साढ़े तीन करोड़ रोयें होते हैं, वह उतने ही वर्ष स्वर्ग में निवास करती है।

पुराने आदमी शास्त्र के उल्लेख में यह बात कहा करते हैं कि स्त्री में पुरुष की अपेक्षा भोगेच्छा सौ गुना अधिक होती है। यह तर्क भी स्त्री को दास बनाए रखने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। पंचतन्त्र का लेखक भी इस मिथ्या तर्क का समर्थन करते हुए लिखता है कि आग ईंधन से, समुद्र नदियों से, मृत्यु सब प्राणियों से और स्त्री पुरुषों से तृप्त नहीं होती। और लिखा है कि

१६५७

जो शख्स स्त्री की अभिलाषा करता है, उसके निकट जाता है और थोड़ी-सी सेवा करता है स्त्री उसकी हो जाती है। स्त्री के चरित्र को संदिग्ध और अविश्वसनीय बताते हुए लिखा है कि नारद! स्त्री वही सती साध्वी रहती है, जिसे एकान्त, प्राप्त नहीं अवसर नहीं और कोई पुरुष जिससे प्रार्थना करने वाला नहीं।

परिणाम स्वरूप स्त्री पर अधिक से अधिक प्रतिबन्ध लगाए गए, उसे महलों और घरों की चार-दीवारी में बन्द करके रखा गया और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का ह्रास हुआ। विष्णु शर्मा ने नसीहत की है कि पुरुष स्त्रियों से अधिक मेलजोल न रखे, उसकी शक्ति न बढ़ने दे क्योंकि वश में आए पुरुष से वह पंखनुचे कौवे का व्यवहार करती है। यहीं पर बस नहीं। स्त्री से सलाह तक लेना शास्त्र के विरुद्ध है। पुरुष को चाहिए कि वह स्त्रियों को अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े और ज़ेवर दे और उपयुक्त समय प्रणय करे, लेकिन उनसे सलाह मशविरा न ले।

मर्द ही रीति-रिवाज और कायदे कानून बनाता था, शास्त्र रचता था, इसलिए उसने स्त्री की भोगेच्छा की तो निन्दा की ही, लेकिन अपनी काम-चेष्टा को पवित्र घोषित किया है। विष्णु शर्मा ने लिखा है कि स्त्रियाँ पहले सोम, गन्धर्व और अग्नि नाम के देवताओं से भोगी जाती हैं और फिर उन्हें मर्द भोगते हैं। इसमें कुछ दोष नहीं। देवता उन्हें पवित्र बना देते हैं। इसलिए स्त्रियों के पास जाने से कोई पाप नहीं लगता।

इन सब बातों के बावजूद औरतों के साथ नर्मी बरतने को भी कहा गया है। उदाहरण के लिए स्त्री, बालक और ब्राह्मण को मारना पाप समझा जाता था। लिखा है कि गाय, ब्राह्मण, स्त्री और स्वामी के लिए जो प्राण देता है, वह स्वर्ग में जाता है। इसीलिए ब्राह्मण, बालक, स्त्री, तपस्वी और रोगी की हत्या करने की मना ही है। उनसे अगर कोई अपराध भी हो जाए तो कोई अंग काट कर छोड़ देना उचित है।

इसका मतलब यह है कि उस ज़माने में अपराधियों को हाथ, नाक, कान और दूसरे अंग काटने का दण्ड भी मिलता था। पंचतन्त्र की कहानियों से यह भी पता चलता है कि बढ़ई, कलाल और दूसरी नीच जातियों की स्त्रियाँ अपने पतियों की आँखों में धूल झोंक कर दूसरे मर्दों से मेलजोल रखती थीं। घर में कोई मेहमान आ जाता था तो उसके साथ रात गुज़ारती थीं। स्त्री का व्यभिचार प्रकट होने पर पुरुष उसकी नाक या कान काट सकता था। इसके लिए पुरुष को राजदरबार से कोई दण्ड नहीं मिलता था।

पंचतन्त्र से यह भी पता चलता है कि अधिक सुन्दर स्त्रियाँ सामन्तों और उनके सरदारों ही के हिस्से में आती थीं। उन्हें महलों में बन्द रखा जाता था, जिन पर दास दासियों के पहरे रहते थे। निम्न वर्ग के लोगों में सौन्दर्योपासन का अभाव नहीं था। उनका मन सामन्तों की बहू-बेटियों से सम्बन्ध स्थापित करने को ललचाता रहता था और कई बार सम्बन्ध स्थापित भी हो जाते थे। मगर वे, आप मानें या न मानें, देवताओं का रूप धर कर राजकुमारियों और रानियों तक पहुँचते थे।

ऐसे सम्बन्धों को रोकने के लिए कानून तो था ही, इसके अतिरिक्त धर्म और नीति द्वारा भी मनाही की जाती थी। लिखा है कि गुरु, मित्र की पत्नी, स्वामी और नौकर की पत्नी, जो इनसे सम्बन्ध स्थापित करता है, वह ब्रह्मघाती है। उस समय सिर्फ राजा और व्यापारी ही नहीं थे, दरिद्र जनता भी थी। उनके बारे में लिखा है कि गरीबों की हसरतें उमड़-उमड़ कर रह जाती हैं अर्थात् विधवा की छातियों की भाँति गरीब आदमी के अरमान भी भीतर ही भीतर मर जाते हैं। उसके सम्बन्धी उसके नाम से लज्जित हैं और उससे अपने सम्बन्ध को छिपाते हैं। तात्पर्य यह कि जिसके पास कानी कौड़ी नहीं उसके मित्र भी मित्र नहीं रहते। दरिद्रता मृत्यु का दूसरा नाम है। गरीब आदमी अगर किसी के घर कुछ देने भी जाए तो लोग उसे भिखारी सा समझते हैं। इसलिए जो व्यक्ति प्राणों के भय से अपना धन चोरी होने देता है, पूर्वज उसकी अंजली (मृतकों को चढ़ाया हुआ जल) स्वीकार नहीं करते।

आगे लिखा है कि गरीब आदमी में सब गुण हों, पर उनकी कद्र नहीं होती। जिस प्रकार सूरज से चीज़ें रोशनी में आती हैं उसी प्रकार धन से गुण रोशन होते हैं।

पंचतन्त्र से उस समय के आचार-व्यवहार और संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ता है। लिखा है कि व्यर्थ लफ्फाजी से मनुष्य का अपना छिछलापन प्रकट होता है। और सिर्फ उपदेश से किसी का स्वभाव नहीं बदल जाता जैसे उबाला हुआ पानी फिर ठण्ढा हो जाता है।

कसम को झूठ का समर्थक बताते हुए लिखा है कि मुझे शपथ में विश्वास नहीं इसलिए शपथ से संधि करने वाले शत्रु का भरोसा नहीं करना चाहिए। सुना है कि शपथ के बावजूद इन्द्र ने दत्तातोसुर को मार डाला और भरोसा करने से इन्द्र ने दिति का गर्भपात किया।

पंचतन्त्र के लेखक ने अपनी कहानियों से जो परिणाम निकले हैं, वे मुहावरे और लोकोक्तियाँ बन चुके हैं। हज़ारों लोग उन्हें यह जाने बिना बोलते हैं कि उनका आरम्भ पंचतन्त्र की कहानियों से हुआ है। उदाहरणार्थ मूर्ख मित्र से विद्वान् शत्रु अच्छा, पढ़ने से गुनना बेहतर है। 'शिक्षा वा को दीजिए जाको सीख सुहाय'। लालची के सिर पर चक्कर घूमता है आदि आदि।

इन लोकोक्तियों की भाँति पंचतन्त्र की अक्सर कहानियाँ लोगों को कंठस्थ हैं और वे पीढ़ी दर-पीढ़ी चली आ रही हैं। उस समय छापे की सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं। हर प्रकार का ज्ञान लोगों में मौखिक ही फैलता था। इसलिए पंचतन्त्र से जो हितोपदेश निकला है उसे सुना हुआ हितोपदेश कहा गया है और उसके श्लोक पंचतन्त्र के श्लोकों से कुछ विभिन्न भी हो गए हैं। एक परिवर्तन तो यही है कि उसमें राजा का नाम अमर शक्ति के बजाय सुदर्शन है और वह पटना में रहता था जिसका मतलब है कि पंचतन्त्र की कहानियाँ सारे हिन्दुस्तान में फैल गई थीं और वह जनता की बपौती बन गई थीं। वे अब भी लोगों में प्रचलित हैं। मैंने पंचतन्त्र की बहुत सी कहानियाँ बचपन में अपने गाँव में देहातियों के ज़बानी सुनी थीं। इनमें सुनाने वालों ने काफ़ी रद्दोबदल भी कर लिया था, जिससे जनसाधारण की रचनाशक्ति का बोध होता है। और उनके मुख से यह कहानियाँ सुन कर यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि यद्यपि पंचतन्त्र की कहानियाँ राजा के मूर्ख बेटों को राजनीति समझाने के लिए ही कही गई थीं, उन्हें सुन कर राजा के मूर्ख बेटे शायद ही विद्वान बने हों, लेकिन जनसाधारण ने उनसे बहुत कुछ सीखा है और अब भी सीख रहे हैं।

अखबार मंज़िल, उर्दू बाज़ार,
देहली

हंसराज 'रहबर'

तिब्बत की मूर्तिकला

तिब्बत की मूर्तिकला पर बौद्ध कालीन भारतीय कला का बड़ा प्रभाव है। पहले पहल तिब्बत में बुद्ध देव की एक मूर्ति सातवीं शताब्दी में लाई गई थीं—एक नेपाल की राजकुमारी थीं दूसरी चीन की। इन रानियों की प्रेरणा से राजा ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। उस समय राजा ने बुद्ध की मूर्ति लाने के लिए अपने आदमी भारतवर्ष भेजे। उसके बाद तिब्बत में भारतीय मूर्तियों के ढंग पर बहुत-सी मूर्तियों का निर्माण हुआ। तिब्बत के देवी देवताओं की मूर्तियाँ सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा आदि धातुओं की बनाई जाती हैं। एक तो साधारण छेनी आदि यंत्रों द्वारा हाथ से और दूसरी साँचे में ढाल कर। साँचे में ढाली जाने वाली मूर्तियों को भी कलाकार अन्तिम रूप अपने हाथ से देते हैं। धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित आधार पर उनका निर्माण होता है और निर्माण के बाद उनकी विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है।

अतियथार्थवाद और अस्तित्ववाद

अतियथार्थवाद : साहित्य और कला में अतियथार्थवाद का आन्दोलन पेरिस में १९२०-२१ में आरम्भ हुआ। यद्यपि साहित्य में अतियथार्थवादी प्रवृत्तियाँ इससे बहुत पूर्व ही विद्यमान थीं। एपोलनेयर अतियथार्थवाद का अग्रगण्य था। उसकी कविताओं में अतियथार्थवाद के बीज नज़र आते हैं। यह ठीक है कि शब्दों और मूर्तों का स्वच्छन्द सम्बन्ध नया नहीं लेकिन एपोलनेयर की कविता में उसका निर्णयात्मक प्रयोग किया गया है। एपोलनेयर से पहले एलफ्रेड जैरी ने बुर्जुआ के विरोध में कई विध्वंसात्मक कविताएँ लिखीं। उसकी रचनाओं में सामाजिक और साहित्यिक विध्वंसवाद की भावना मिलती है। आन्द्र सलोभा ने रूसी क्रान्ति पर कई अतियथार्थवादी कविताएँ लिखी हैं। पालएल्योर और एरागान इस प्रवृत्ति के अग्रगण्यों में से थे। लेकिन बाद में मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण इससे अलग हो गए। यद्यपि पाल एल्योर ने अतियथार्थवाद को सम्पूर्ण रूप से नहीं त्याग दिया बल्कि उसका साधारणीकरण कर दिया है। अतियथार्थवाद का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक आन्द्रे ब्रिटेन है। इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने के लिए उसने कई पैम्फलेट लिखे हैं। इस धारा ने उपन्यास और कहानी की विषयवस्तु और शैली को अत्यधिक विस्तृत कर दिया है।

अतियथार्थवाद एक विशुद्ध मानसिक स्वगति है जिसके द्वारा विचार की वास्तविक क्रिया को बुद्धि या बाह्य जगत के समस्त सौन्दर्यात्मक और नैतिक विचारों के समस्त नियन्त्रण के अभाव में वाणी या लेख या किसी और तरह व्यक्त करना इच्छित है।

अतियथार्थवाद के अनुसार सर्वोच्च वास्तविकता अवचेतन में होती है। इसलिए पूर्व इसके कि चेतन शक्ति द्वारा वह कोई कृत्रिम रूप धारण कर ले उसको ग्रहण कर लेना चाहिए। किसी भी प्रवृत्ति को नैतिक या अनैतिक घोषित करना उस पर पुनर्विचार करना है जिसके कारण उसकी प्रकृति मिथ्या हो जाती है। किसी भी कलाकृति में धारणा या भावना को अस्वाभाविक विधि से सम्मिलित करने से वह विकृत हो जाती है।

अवचेतन का महत्व और उसे चेतन से पृथक् करने का विचार फ्रायड से प्रेरित है जिसके फलस्वरूप स्वप्नलोक और स्वगति कृतियों को बड़ा महत्व मिला। अतियथार्थवादी लेखकों का कथन है कि रचना अधिक से अधिक अवचेतन की प्रथम क्रिया के समान होनी चाहिए।

अतियथार्थवादी की प्रसिद्धि का कारण रूढ़िग्रस्त परम्परावाद के विरोध में उसका विद्रोह था। लेकिन इस धारा का उद्देश्य केवल विद्रोह और विध्वंस ही नहीं था। इसने मानव प्रकृति का सत्य और सजीव चित्रण करने में सहायता दी। अवचेतन की गहराइयों में डूबकर लिखी गई कई रचनाएँ हमारे साहित्य में अमूल्य वृद्धि हैं। लेकिन सौन्दर्यात्मक पक्ष का कड़ा विरोध करने के कारण अतियथार्थवाद रूप की समस्या का कोई सन्तोषजनक समाधान न कर सका। प्रत्येक साहित्य कृति का कोई न कोई रूप होना अनिवार्य है। रूप-रहित कृति असम्भव है। अधिक से अधिक उस कृति का रूप असंगठित और अव्यवस्थित हो सकता है। अतियथार्थवाद ने रूप की इस अव्यवस्था के कारण पद्य और गद्य के अन्तर को बहुत हद तक खत्म कर दिया। क्योंकि पाठक उपन्यास और कहानी को यथार्थवादी और बुद्धिगम्य समझते हैं इसलिए प्रतीक और मूर्त पर बल देने के कारण अतियथार्थवादी रचनाएँ प्रायः काव्यमय प्रतीत होती हैं। अतियथार्थवादी साहित्यकार बाह्य जीवन से पृथक् हो कर अपने अवचेतन में खो जाता है। वह अपनी सचेतन शक्ति को अधिक से अधिक कम करने का यत्न करता है, जिसके कारण उसका सामाजिक जीवन और उसका सामाजिक 'रोल' समाप्त हो जाता है और वह जीवन से पृथक् कृत्रिम व्यक्ति के रूप में अपने अवचेतन के तहखाने से अपने साहित्य-सृजन का विषय ढूँढ़ता है। साहित्यकार अपना कोई भी सामाजिक उत्तरदायित्व नहीं समझता। आन्द्रे ब्रिटेन ने यहाँ तक कह दिया है :

"हमारा सबसे पहला कर्तव्य अपने आध्यात्मिक दायरे को समाप्त करना है। यह उसी बात की प्रतिध्वनि

है कि हमारी प्रवृत्तियों पर सांस्कृतिक और आध्यात्मिक-दाय का बोझ है और जब तक हम इन्हें समाप्त नहीं करेंगे हम अपनी मूल प्रवृत्तियों के आग्रह के अनुसार जीवित नहीं रह सकते।"

अतियथार्थवादी कलाकार अपने आध्यात्मिक-दाय को बुर्जुवा घोषित कर के घृणा की दृष्टि से देखता है। वह सम्पूर्ण चित्र के अंशों को इस प्रकार पृथक् करके फिर नये सिरे से तारतम्य देता है, जिससे यथार्थता न केवल विकृत हो जाती है; अपितु वह सौन्दर्यानुभूति को भी सन्तुष्ट नहीं करती। सम्पूर्ण चित्र एक विशृंखल ऐक्य बन कर रह जाता है। इस प्रकार अतियथार्थवादी कलाकार देश-काल की सीमा से दूर होकर अपने आवरण में सिमिट जाता है। कला की सारी क्षमता इस बात पर व्यय हो जाती है कि मूर्तों और अनुभूतियों को इस तरह का संकर बना कर प्रस्तुत किया जाए कि देखने वाले पर रहस्य और विस्मय का प्रभाव पड़े। अतियथार्थवाद को देश कालातीत यथार्थवाद (Transcdental Realism) से गड़बड़ नहीं करना चाहिए, क्योंकि देश-कालातीत यथार्थवाद सचेतन की सीमाओं से परे उच्चता की ओर अग्रसर होता है और अतियथार्थवाद अवचेतन के अन्धकारमय तहखाने में गुम हो जाता है और आम तौर पर अतियथार्थवादी कलाकार कलारूप से विमुख होकर इस अवचेतन को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने में लीन रहता है। यह ठीक ही कहा गया है कि साहित्य और कला में "राजनीति के मनोविज्ञान की ओर मानसिक जीवन के समाज शास्त्र" की भी आवश्यकता है।

अस्तित्ववाद : अस्तित्ववाद द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यूरोप के युद्ध ग्रस्त लोगों की मनोस्थिति के अनुकूल सिद्ध हुआ। जान पाल सार्त्रे जैसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक के नेतृत्व में यह सिद्धान्त फ्रान्स और यूरोप के दूसरे देशों में प्रचलित हुआ। सार्त्रे ने जान येने के वास्तविक चरित्र के आधार पर सेंट येने (१९५२) में अस्तित्ववादी नायक को प्रस्तुत किया। सार्त्रे का यह अस्तित्ववादी नायक उस समाज से विद्रोह करता है जिसने कि उसे त्याग दिया है। सेंट येने को इस पर गर्व है कि इसके परिणाम-स्वरूप वह जेल में बन्द कर दिया जाता है। सार्त्रे के विचारनुसार सेंट येने सम्पत्ति-सम्पन्न वर्ग की मिथ्याचारी प्रतिष्ठा के मुकाबले में सचेत दुराचारी की निष्ठा को प्रस्तुत करता है। परन्तु सार्त्रे की अधिकतर रचनाएँ नास्त्यात्मक अस्तित्ववाद को व्यक्त करती हैं जिन में कि मनुष्य हताश दुविधा की परिस्थिति या अनेक जटिल मनोस्थितियों में जकड़ा रहता है।

वास्तव में अस्तित्ववाद की भी दो धाराएँ हैं। नास्त्यात्मक अस्तित्ववाद और निश्चयात्मक अस्तित्ववाद। नास्त्यात्मक अस्तित्ववाद के अनुसार अधिकतर व्यक्ति अर्थहीन और बेहूदा परिस्थिति में रहते हैं और निश्चयात्मक अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य में इच्छा स्वातन्त्र्य से प्रेरित क्रिया द्वारा अपने साधारण स्तर से ऊपर उठ जाने की क्षमता गतिमान रहती है।

अस्तित्ववाद के सिद्धान्तानुसार मानव इतिहास पहले से ही अपना अस्तित्व नहीं रखता; अपितु मानव के संकल्प और निश्चय उसको निर्मित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा हुआ है और वह अपने जीवन और उसके विकास पर पूर्ण अधिकार रखता है। मनुष्य की प्रकृति उसके निजी जीवन के निर्णयों की परम्परा और उसके सम्बन्ध द्वारा तारतम्य पाती है न कि मानव प्रकृति से, जिसका कि कोई वास्तविक रूप नहीं। उसके जीवन का वास्तविक समुच्चय (Totality) ही उसकी प्रकृति है। वह अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय करता है, बाह्य मूल्य के अनुसार नहीं।

प्रत्येक मनुष्य अपने 'आत्मन्' का चयन स्वयं करता है। जब कोई मनुष्य चयन करता है तो उसके सम्मुख कई प्रकार की संभावनाएँ होती हैं और जब वह उनमें से किसी एक का चयन करता है तो वह उसके मूल्य का अनुभव करता है; क्योंकि उसका ही चयन किया गया है। इसलिए वह मूल्य का अनुभव करता है। इस प्रकार की वेदना इसलिए होती है कि इस चयन की क्रिया के कारण जो दूसरे व्यक्ति शामिल होते हैं उनके प्रति उस मनुष्य का उत्तरदायित्व होता है। सार्त्रे के कथनानुसार उचित तर्क के पूर्ण अभाव और दूसरों के प्रति उत्तरदायित्व की अनुकूलता को वेदना कहते हैं। निराश्रय का अभिप्राय यह है कि हम स्वयं अपने अस्तित्व का चयन करते हैं इसलिए वेदना और निराश्रय दोनों साथ-साथ रहते हैं। और इसमें नैराश्य भी शामिल रहता है। अपनी इच्छानुकूल मनुष्य की रचना के साथ ही हमारी प्रत्येक क्रिया उस मनुष्य को मूर्त

१९५७

निर्मित करती है जैसा कि हम उसे चाहते है। क्योंकि हम अनिष्ट का चयन नहीं कर सकते। हमेशा शिव का चयन करते हैं। इसलिए क्रिया के चयन में हम उसके मूल्य का निर्धारण करते हैं और कोई क्रिया उस समय तक शिवकारी नहीं हो सकती जब तक कि वह दूसरों के लिए शुभ सिद्ध न हो। इस तरह मनुष्य अपने को निर्मित करता है। कोई भी मनुष्य जन्म से ही बना बनाया नहीं होता बल्कि अपने मूल्य के चयन में निर्मित होता है। यह भी स्मरण रहे कि जिन परिस्थितियों में मनुष्य रहता है उसमें यह चयन अनिवार्य है। मनुष्य को उसकी क्रियाओं की पूर्ण परम्परा के सम्बन्ध में ही देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि अस्तित्ववाद के सिद्धान्तानुसार मानव प्रकृति का कोई निश्चित रूप नहीं होता जिसके अन्तर्गत उसका विश्लेषण किया जा सके। बल्कि मनुष्य अपनी प्रकृति निर्मित करने में स्वतन्त्र है। अस्तित्ववाद इस प्रकार दैवी और मार्क्सवादी नियतिवाद का खण्डन करता है। यदि परमात्मा का कोई अस्तित्व नहीं तो हम अपनी किसी क्रिया को उसके आदेश या किसी दैवी मूल्य से नियत स्वीकार करके अपनी 'विवशता' का समर्थन प्राप्त नहीं कर सकते और न ही अपने निजी उत्तरदायित्व से बच सकते हैं। मनुष्य स्वयंसिद्ध है। हमें अपनी इच्छा या क्रिया को गतिशील बनाने वाली संभावनाओं के सामूहिक प्रभाव पर निर्भर करना होगा। हमारी क्रियाओं द्वारा जो संभावनाएँ पूरी तरह प्रभावित नहीं होतीं उनसे हमें अलग हो जाना चाहिए। क्योंकि परमात्मा या कोई योजना संसार और उसकी संभावनाओं को हमारी इच्छानुसार नियमित नहीं कर सकती।

सार्त्रे के कथनानुसार "मनुष्य अपनी योजना के अतिरिक्त कुछ नहीं। वह केवल अपनी पूर्ति की सीमा तक अस्तित्व रखता है। इसलिए वह अपनी क्रियाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं—अपने जीवन के अतिरिक्त कुछ नहीं—मनुष्य अपनी क्रियाओं द्वारा निर्मित सम्बन्धों का सामूहिक संगठन है।"

रे के शब्दों में "सार से पूर्व अस्तित्व है। मानव जीवन की प्रेरणा को पहले से निर्धारित करने के लिए कोई सार तत्व मौजूद नहीं। मनुष्य का शारीरिक और मानसिक व्यवहार ही उसके समूचे अस्तित्व की रचना करते हैं।"

अस्तित्ववाद भी दो प्रकार का है—कैथोलिक अस्तित्ववाद जो वर्तमान मानव की कृति को परमात्मा से प्रेरित मानता है। दूसरा प्रकार नास्तिक अस्तित्व है, जिसके मानने वाले मनुष्य के मानस को बिना किसी स्पष्टीकरण के प्रस्तुत आरंभ बिन्दु मानते हैं। कैथोलिक अस्तित्ववाद के मानने वालों के लिए मानव स्वतन्त्रता की वेदना दैवी होती है और नास्तिक अस्तित्ववाद को मानने वाले उसे मानवीय और अद्वितीय स्वीकार करते हैं। जान पाल्स सार्त्रे दूसरे वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं।

एच. ३१५, न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली

—देवेन्द्र इस्सर

हेमचन्द्र सूरि

प्राकृत और अपभ्रंश के महान् व्याकरणकार आचार्य हेमचन्द्र सूरि का का जन्म सं० ११४५ में खम्भात में धुन्धुका नाम के गाँव में हुआ। इनका बचपन का नाव चंगदेव था। जैनाचार्य देवेन्द्र सूरि से ६ वर्ष की आयु में दीक्षित होने पर इनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। २१ वर्ष की आयु में आचार्य पद से विभूषित होकर, सोमचन्द्र, हेमचन्द्र नाम से विख्यात हुए। प्राकृत और अपभ्रंश का व्याकरण लिखने के बाद इन्होंने 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्य संग्रह', और 'निघंटुशेष' नाम के चार कोष बनाए।

रवीन्द्रनाथ के उपन्यास

दुनिया में बिरले ही कोई महाकवि होंगे जो साथ ही साथ महान् उपन्यासकार भी हों। क्योंकि कविता और उपन्यास की रचना में दो अलग किस्म के मन का प्रयोजन है—एक तो अन्तर्मुखी होता है और दूसरा बहिर्मुखी। लेकिन मनुष्य का मन न तो सिर्फ अन्तर्मुखी होता और न बहिर्मुखी मात्र—मिला जुला होता है। मात्रा में कमी-वेशी होती है और उसी पर उसकी रचना की सफलता निर्भर करती है। प्रेमचन्द जी सफल उपन्यासकार थे पर कवि नहीं, सुमित्रानन्दन पन्त या मैथिलीशरण गुप्त सफल कवि हैं पर उपन्यासकार नहीं। कोई-कोई दोनों क्षेत्रों में अपना आलोक करते हैं। पर उनकी प्रवृत्ति एक ओर अधिक होती है। कोई तो कवि की प्रकृति लेकर उपन्यास लिखता जैसे अंग्रेज़ी साहित्य में डी-एच-लारेन्स और हिन्दी साहित्य में प्रसाद, निराला या नागार्जुन। और कुछ लेखक हैं जो बैठकी मिज़ाज लेकर कविता करते हैं पर अच्छे छन्दों की रचना करने पर भी कवियों की पंक्ति में उन्हें पीछे ही स्थान मिलता है। अंग्रेज़ी साहित्य में रुडियर्ड किपलिंग जिन्हें टी-एस-एलीयट "A great writer of verse" कहते हैं—यानी छन्दों की रचना में निपुण पर कवि नहीं थे। हिन्दी साहित्य में बहुत से कवियों की प्रवृत्तियों के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

तो कवि और कथाकार दोनों की प्रवृत्तियाँ लेकर जो लेखक दोनों क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा की ज्योति दिखाते हैं उनके उपन्यास काव्यात्मक होते हैं या उनकी कविताएँ भावमय होती हुई भी काव्यमय नहीं होती हैं।

काव्य या रूपक-नाटक विश्व-साहित्य के किसी भी पृष्ठभूमि पर लिखा जा सकता है किन्तु उपन्यास के लिए विशेष भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि चाहिए। काव्य में बंगला साहित्य की एक परम्परा थी जिसे रवीन्द्रनाथ अनुसरण कर सकते थे—वैष्णव और बाउल काव्य का प्रभाव तो था ही—संस्कृत काव्यों का भी गहरा प्रभाव था। किन्तु उपन्यास के क्षेत्र में सिवाय बंकिमचन्द के और कोई भी बंगला साहित्य में उनके पूर्व नहीं था जिनका प्रभाव उन पर हो। इसलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ इस क्षेत्र में नव पथनिर्देशक थे—उन्हें रास्ता खुद बनाना पड़ा। उन्होंने लिखते हुए नई भाषा बनाई, नए रूप, नई रीति, नवीन शैली का प्रवर्त्तन किया। पर ये सब उस जगह से जहाँ पर बंकिमचन्द्र छोड़ गए थे। कड़ी टूटने नहीं पाई।

किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में फर्क था। इश्तमरारी बन्दोबस्त के कारण टूटे हुए बड़े-बड़े सामन्त परिवार, छोटे-बड़े लुप्त राज-रजवाड़े और सद्य जन्म लिए हुए जमींदार सम्प्रदाय के समाज ने ही बंकिम के उपन्यास के लिए खुराक दी। उन्हें नए बनते हुए मध्यम वर्ग के जीवन से कोई उपादान नहीं मिला। बंकिम प्राचीन सामन्त समाज को अपने उपन्यासों का विषय वस्तु बनाए थे तो रवीन्द्र ने मध्यम वर्ग के समाज को। बंकिम घटनाओं के संघर्ष में दिलचस्पी लेते थे तो रवीन्द्र मनोजगत का रहस्य उद्घाटित करने में।

आधुनिक युग में महाकाव्य नहीं लिखे जाते। उपन्यास ही आधुनिक महाकाव्य है।

रवीन्द्रनाथ ने अपने समग्र जीवन में ग्यारह उपन्यास लिखे। उनका प्रथम उपन्यास 'करुणा' १८७७-७८ ई. में 'भारती' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। सोलह साल की उम्र में लिखा हुआ यह उपन्यास अप्रौढ़ रचना थी इसलिए यह पुस्तकाकार में प्रकाशित नहीं किया गया। दूसरा उपन्यास 'बउ ठाकुरानीर हाट' या 'बहुरानी का हाट' था, जिसमें रवीन्द्रनाथ की कलम गद्य लिखने में सधी हुई मालूम पड़ती है। पुस्तकाकार में यह उपन्यास १८८३ ई. में प्रकाशित हुआ और तीन साल बाद 'राजर्षि' उपन्यास प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास बहुत ही जनप्रिय रहा।

राजर्षि के प्रकाशन के बाद रवीन्द्रनाथ ने बहुत दिनों तक उपन्यास रचना में हाथ नहीं लगाया। इस समय में यानी १८६१ ई. से १६०१ ई. तक रवीन्द्रनाथ ने गद्य में असंख्य कहानियाँ और निबन्ध लिखे। इनका

१९५७

चौथा उपन्यास था 'आँख की किरकिरी' और पाँचवाँ 'नौका डूबी'। इनका छठा और श्रेष्ठ उपन्यास 'गोरा' प्रवासी पत्रिका में १९०७–१९०९ ई. में प्रकाशित हुआ। पहले के उपन्यासों की भाषा से 'गोरा' की भाषा अधिक सुथरी हुई थी उसमें हल्कापन आ गया था। १९१६ ई. में उनके दो उपन्यास 'घरे-बाइरे' और 'चतुरंग' प्रकाशित हुए। इनमें सिर्फ मनस्तत्व ही नहीं—राजनीतिक चेतना का भी प्रदर्शन मिलता है। इसके उपरान्त उन्होंने तीन उपन्यास लिखे—योगायोग (१९२९) शेषेर कविता (१९२९) और चार अध्याय (१९३४)। 'दुई बोन' और 'मालंच' नामक बड़ी कहानियाँ, जिनके आयतन उन्हें लघु उपन्यास का रूप देता किन्तु गुणगत रूप से वे कहानियाँ ही थीं, १९३३ ई. और १९३४ ई. में प्रकाशित हुईं।

'बउ ठाकुरानीर हाट' और 'राजर्षि' बंकिमचन्द्र की छत्र छाया में ऐतिहासिक उपन्यासों के आदर्श में लिखे हुए उपन्यास थे। दोनों में ही इतिहास के ढाँचे में घटनाओं का वर्णन हुआ है।

बंगला भाषा में हमें प्रथम मनस्तत्व मूलक उपन्यासों का रूप 'चोखेर बाली' या 'आँख की किरकिरी' में ही मिलता है। आज के आलोचकों को उसमें बहुत सी कमजोरियाँ मिलेंगी। लेकिन इन कमजोरियों के बावजूद वह उपन्यास प्रथम पथ-निर्देश था। 'आँख की किरकिरी' की समाप्ति ही इस उपन्यास की सबसे बड़ी दुर्बलता है। एक ओर तो उन्होंने विधवा प्रेमिका को उचित (?) सज़ा दी फिर उस समय के नियम के अनुसार कहानी को सुडौल रूप से अन्त करने की कोशिश भी की।

रवीन्द्रनाथ का श्रेष्ठ उपन्यास 'गोरा' उस समय लिखा गया था जिस समय देश में स्वदेशी आन्दोलन ज़ोरों पर था। हिन्दू और ब्राह्मों में विरोध, अंग्रेज़ और भारतीयों में संघर्ष इस उपन्यास में बहुत उभर कर आया है हालाँकि इस उपन्यास का विषय वस्तु सिर्फ यही नहीं था– देश के तत्कालीन परिवेश में एक प्रेम कथा इसमें रची गई थी। बहुत से चरित्र और असंख्य घटनाओं का वर्णन ले कर जीवन को समग्र रूप से सजीव चित्रित करने का इसमें सफल प्रयास था। गोरा का सबसे बड़ा गुण उसकी समसामयिकता था। सामयिक समस्या का विचार विमर्श ही इसमें प्रधान स्थान ग्रहण किए हुए है। हालाँकि एक सफल कलाकार की तरह पुस्तक में दिए व्याख्यानों में उनकी तरफ़दारी वह छिपाए रहते हैं। उन्होंने गोरा और हारानबाबू के चरित्र में सनातन धर्मी हिन्दूपन और संकीर्ण व कट्टर ब्रह्मपन दोनों को उधेड़ा है।

उपन्यास के आरम्भ में ही रवीन्द्रनाथ ने गोरा का जन्म रहस्य बता दिया है इसलिए उपन्यास भर में जितनी जगहों पर उसके धार्मिक कट्टरपन से पाला पड़ता है हमें आश्चर्य नहीं होता है—न तो हमें उसके आचरण में कुछ असाधारणता ही मिलती है। चरित्रों की भीड़ में हम हारानबाबू, अविनाश, सुधीर, महिम, कैलास, परेशबाबू, सुचरिता, वरदासुन्दरी हरिमोहिनी और आनन्दमयी सभी से टकराते हैं जो उस समय के समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की विशेषता लिए हुए हैं। परेशबाबू में हम एक अंग्रेज़ी शिक्षित, धार्मिक ब्राह्म धर्मावलम्बी को पाते हैं जो कि अपनी युक्ति परायणता और सत्यनिष्ठा से हमें मुग्ध करता है। 'गोरा' में गोरा के अलावा जो चरित्र हमें सब से महत्वपूर्ण मालूम पड़ता है वह आनन्दमयी का चरित्र है। आनन्दमयी जात पाँत के बाहर की जीव है—वह हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्म, ईसाई कुछ भी नहीं है, वह है परिपूर्ण मानवता की एक प्रतिमा, जिनमें धैर्य, क्षमा, प्रेम, आदर का समान रूप से समावेश है। वह और पाँच औरतों की तरह घर-गृहस्थी में लगी है, 'शिक्षिता' नहीं पर अशेष बुद्धिमती है। इस आदर्श चरित्र में कहीं पर भी अवास्तविकता नहीं आने पायी है।

बँगला उपन्यासों में नारी-चरित्र की प्रधानता ही हमें विशेष रूप से मिलती है चाहे वह बंकिम में हो चाहे शरत् में हो, यहाँ तक कि आधुनिक उपन्यासकार भी स्त्री चरित्र के चित्रण में ज्यादा दक्ष मालूम पड़ते हैं। यह पहला ही मौका था जब शक्तिशाली कलम से एक दृढ़ पुरुष-चरित्र का चित्रण गौरमोहन में हमें मिलता है। बहुत से आलोचकों का यह मत है कि गुलाम और लाचार देश में हिन्दू समाज के लाखों रीति-रिवाज़ बाधा-निषेध के जंजीरों में जकड़ा हुआ पुरुष-चरित्र पनपने नहीं पाता और सिर्फ कहानी जमाने के उद्देश्य से नहीं बल्कि अपने मन के अन्तरतम में बंगाली पुरुषों के सम्मुख उनसे पृथक एक दृढ़ चरित्र स्थापित करने के उद्देश्य से ही प्रेरित होकर रवीन्द्रनाथ ने गोरा को आइरिश का बेटा बनाया था। गोरा में उन्होंने एक कर्म

वीर, आदर्शानुरागी, सेवापरायण त्यागी और साथ ही साथ एक प्रेमी पुरुष का चित्र उपस्थित किया है। यह चित्र परस्पर-विरोधी नहीं है। गोरा में हमें एक ऐसे नर शार्दूल का दर्शन होता है जो भारतवर्ष के भविष्य के बारे में चिन्ताशील है। पुस्तक भर में गोरा को हम बहुत से व्याख्यान देते पाते हैं; जिसके बहुत से अभिमत से हम महमत न होते हुए भी, उसे बगैर प्यार किए, उसकी ओर बगैर आदर की भावना लिए नहीं रह पाते। यही गोरा के चरित्र की सफलता है। जिस हिन्दूपन में गोरा पागल था वह चकनाचूर हो जाता है जब गोरा अपने जन्म का इतिहास सुनता है। पर ऐसे समय वह अपनी शुभबुद्धि को बगैर खोए परेशबाबू के पास जा कर कहता है, "आप आज मुझे उसी देवता के मन्त्र में दीक्षा दीजिए, जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और ब्राह्म सभी के हों—जिनके मन्दिर का दरवाजा किसी जाति या व्यक्ति के सामने कभी भी बन्द नहीं हो जाता—जो सिर्फ हिन्दुओं के ही देवता नहीं—सम्पूर्ण भारतवर्ष के देवता हैं।"

इन वाक्यों में हमें रवीन्द्रनाथ के उदार मानव प्रेम का प्रत्यक्षीकरण होता है और उनके मानसलोक के विचित्र सुन्दर भारतवर्ष का दर्शन होता है।

गोरा प्रकाशित होने के ६ साल बाद १९१६ ई० में 'चतुरंग' और 'घरे-बाहरे' नामक रवीन्द्रनाथ के दो उपन्यास पुस्तकाकार में हमें मिलते हैं।

'चतुरंग' सबुज-पत्र नामक पत्रिका में १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ। इसका आख्यान यों है—शचीश और श्री विलास नई अंग्रेजी शिक्षा के कारण छात्र-जीवन में घोर नास्तिक बने रहते—उनका आदर्श शचीश के ताऊजी थे। ताऊजी की मृत्यु के बाद शचीश जो कि उच्च शिक्षित जन सेवा में लग्न एक नवयुवक था लीलानन्द नामक एक स्वामी जी के प्रभाव में आ गया और अपना पुराना अस्तित्व और आदर्श भूल कर गुरु सेवा और संकीर्त्तन में मस्त हो गया। यहीं पर दामिनी नाम की एक सुन्दरी विधवा से इसकी मुठभेड़ होती है—जिससे अन्त में श्री विलास शादी कर लेता है—पर दामिनी थोड़े ही दिनों में प्राण दे देती है।

कथा वस्तु में एक सुविन्यस्त प्लाट की कमी होने के बावजूद भी धर्म के ठेकेदारों का प्रकृत स्वरूप प्रस्तुत करने में रवीन्द्र को सफलता मिली है। १९१४ ई० के बंगला समाज के लिए यह पुस्तक विप्लवात्मक प्रयास थी।

'चतुरंग' बंगला साधु भाषा में लिखा रवीन्द्रनाथ का अन्तिम उपन्यास है—जिसमें चलती भाषा का आत्मिक गुण था। उनके अगले उपन्यासों में चलती भाषा की विजय ही हम देखते हैं। इसलिऐ 'चतुरंग' को बहुत से आलोचक साधु भाषा का मराल संगीत कहते हैं। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि बंगला की लिखित भाषा उस समय बोल-चाल की भाषा से पृथक थी। लिखित भाषा में व्याकरण की कठिन शृंखला, संस्कृतज शब्दों का अधिक प्रयोग और क्रियापदों का एक विशिष्ट रूप था। बोल-चाल की भाषा में देशज शब्दों की प्रधानता और क्रियापदों का ध्वनिमय रूपान्तर उल्लेख योग्य था। लिखित भाषा को साधु भाषा कहा जाता था और बोल-चाल की भाषा को असाधु।

'घरे-बाइरे' उपन्यास का कथानक यों हैं: निखिलेश एक शिक्षित और उच्च आदर्शानुरागी जमींदार है, जिसमें देशप्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ है, जो अपनी स्त्री को मेम शिक्षिका रख कर शिक्षित करता और नारियों की आज़ादी में विश्वास रखते हुए अपनी पत्नी से वाध्यतामूलक पति भक्ति न चाह कर मुक्त वातावरण में से निखरा हुआ उसका प्रेम चाहता है। स्त्री भी उसे हृदय से प्रेम करती है। इसी बीच निखिलेश का मित्र संदीप जो कि देश के मुक्ति-यज्ञ का प्रधान होता है रंग-मंच पर आता है और उसका मन अपनी अग्निवाणी से मोह लेता है। संदीप, निखिलेश से देश के काम के लिए जब तब अर्थ की सहायता लेता था। सन्दीप, निखिलेश की पत्नी निर्मला को बताता है कि उन्हीं में वह देश की आज़ादी की लड़ाई की शक्ति मूर्तिमती देखता है और विमला को भी इस बात पर विश्वास होने लगता है। सन्दीप के माँगने पर विमला घर के सन्दूक से ६ हजार रुपया चुरा कर उसे दे देती है—लेकिन अमूल्य नाम के एक देशप्रेमी किशोर के कारण उसके इस पाप का प्रायश्चित्त हो जाता है और सन्दीप के लोभ का स्वरूप देख कर विमला उसके मोहजाल से मुक्त हो जाती है। सन्दीप का देशप्रेम एक ग़लत रास्ते पर चल रहा है। जो कि 'वन्देमातरम्' मन्त्र से 'वन्दे-प्रियां' मन्त्र में आ कर ठोकर खा जाता। देश की आम जनता के दुख-दर्दों की ओर ध्यान न दे कर जबरन विदेशी वस्तु का

१९५७

नायनाट करना, उसे जलाना, नष्ट करना इन सब कार्यों से संदीप अपने को अन्त में देश के आम लोगों को अपना शत्रु बनाता और अन्त में उसे जान ले कर भागना पड़ता। मुसलमान प्रजा बिगड़ खड़ी हुई और उन्हें शान्त करने के लिए निहत्था जा कर निखिलेश घायल हो कर लौटता है और उसी संघर्ष में अमूल्य की मृत्यु होती है।

स्वदेशी आन्दोलन के बाल्यावस्था के ऊपर 'घरे-बाइरे' एक किस्म का दस्तावेज है। सिर्फ इसमें जो अन्तर्विरोध है वह है जमींदार का देश प्रेमी बनना। लेकिन यह अन्तर्विरोध भी सँभल गया है जब दूसरे जमींदारों का स्वार्थी तथा देशद्रोही चरित्र भी वह इसी पुस्तक में पेश करते हैं। विदेशी वस्तु बायकाट के आन्दोलन में गलत तरीका अख्तियार करके देश की आम और गरीब जनता की हमदर्दी खोने का वर्णन इसमें मर्मस्पर्शी है। निखिलेश के मास्टर जी देश सेवक कर्मियों से इस गलत तरीके के बारे में यों कहते हैं, "तुम लोगों के मन में गुस्सा है, जिद्द है; उसी उतावलेपन के नशे में तुम लोग जो खुशी सो कर पा रहे हो—तुम लोगों के पास पैसा है, तुम लोग दो पैसा ज्यादा खर्च कर स्वदेशी वस्तु खरीद रहे हो, तुम लोगों के इस काम में वे कोई रुकावट नहीं डाल रहे हैं। लेकिन उनसे जो तुम कराना चाहते हो वह सिर्फ ज़ोर-ज़बरन। वे हर रोज ज़िन्दगी और मौत के बीच के संघर्ष में आखिरी साँस तक सिर्फ जीने भर के लिए लड़ रहे हैं—उनके लिए दो पैसे का क्या दाम है यह तुम लोग कल्पना भी नहीं कर सकते हो,—उनके साथ तुम लोगों की कहाँ तुलना हो सकती है? ज़िन्दगी के महल में तुम लोग एक मंज़िल में और वे दूसरे मंज़िल में बराबर रहते आए हैं—और आज तुम लोग उनके कन्धे पर अपना बोझा लादना चाहते हो, अपना गुस्सा उन पर उतारोगे? मैं इसे कायरता मानता हूँ। तुम लोग खुद जितना कर सकते हो करो—मैं बूढ़ा हूँ, मृत्यु तक तुम लोगों को नेता मान कर नमस्कार कर तुम्हारे पीछे पीछे चलने को तैयार हूँ लेकिन उन गरीबों की आज़ादी को रौंद कर जब तुम आज़ादी का झंडा ऊँचा कर चलोगे तब मैं तुम लोगों के खिलाफ खड़ा हो जाऊँगा—उसमें मुझे मरना पड़े सो भी स्वीकार है।"

देश की आम गरीब जनता का एक प्रतिनिधि चरित्र पंचू के रोजमर्रे की ज़िन्दगी के बारे में लिखते हुए रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "ऐसी कड़ी मेहनत करने के बाद भी बालबच्चों को लेकर सालभर में सिर्फ चन्द ही महीने पंचू दोनो जून दो मुट्ठी भोजन कर पाता। उसके खाने का तरीका यों है कि खाने बैठ कर ही वह एक लोटा पानी पीकर पहले पेट भर लेता है और उसके भोजन में खास वस्तु बियावाले सस्ते केले होते हैं। साल भर में कम से कम चार महीने वह एक जून से ज्यादा खा नहीं पाता।"

निखिलेश अपने रुपए की सहायता से पंचू को मदद करना चाहता है लेकिन मास्टर जी उन्हें बताते हैं कि देश में पंचू ही अकेला गरीब नहीं है और सिर्फ उसको मदद करने से ही देश से गरीबी नहीं हटेगी। देश की दुर्दशा को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा।

इसी उपन्यास में रवीन्द्रनाथ ने यह कहा कि नर-नारी का प्रेम, उसका मिलन और विरह के अतिरिक्त भी दुनिया है। संकुचित दायरे से निकल कर मनुष्य के विस्तीर्ण जीवन के सुख दुख में हिस्सा लेना ही मानवता है।

निखिलेश की स्वगतोक्ति में ही इस उपन्यास का आत्मिक आदर्श का दर्शन होता है। वह कहता, "मेरा भारतवर्ष सिर्फ भद्रलोगों का भारतवर्ष नहीं है। मैं स्पष्ट रूप से जानता हूँ कि मेरे नीचेले तबक के लोग जितना ही नीचे उतरते जा रहे हैं भारतवर्ष उतना ही उतरता चला जा रहा है—वे जितना मरते जा रहे हैं—भारतवर्ष उतना ही मरता जा रहा है।"

इस उपन्यास में रवीन्द्रनाथ ने सर्व प्रथम बंगला में चलती भाषा या बोलचाल की भाषा का उपयोग किया। हालांकि इससे कई वर्ष पूर्व लिखे हुए उनके पत्रों में हमें यही सुन्दर मिठास भरी बोलचाल की भाषा देखने को मिलती है किन्तु वे तो व्यक्तिगत पत्र थे। साहित्य-रचना के क्षेत्र में उन्होंने इस विप्लवात्मक प्रयास के लिए समय लिया। साधु-भाषा जिसमें क्रियापदों की बहुलता और उनके लिखने का पुराना ढंग, वार्तालाप में प्रयुक्त नहीं होती थी, सिर्फ पुस्तकों में ही सीमित थी। इस परम्परा को तोड़ने में श्री प्रमथ चौधरी या 'बीरबल' ने प्रथम प्रयास किया और रवीन्द्रनाथ को भी उनसे प्रेरणा मिली। इस चलती भाषा में संस्कृत बहुल शब्दों

के बदले मुहावरेदार हल्की भाषा और जहाँ तक सम्भव हो बोलचाल की भाषा के साथ कदम मिला कर चलने का प्रयत्न था। 'घरे-बाइरे' उपन्यास के बाद रवीन्द्रनाथ ने अपने जीवन के अन्तिम पच्चीस साल साधु-भाषा का प्रयोग नहीं किया और इस युग को उनके 'गद्य का स्वर्ण युग' कहा जाता है। 'घरे-बाइरे' में उनकी काव्यमयी चलती भाषा अलंकारों के प्राचुर्य से सुशोभित है—पंक्ति-पंक्ति में उपमा उत्प्रेक्षा की भीड़, भाषा प्रतीक, रूपक और सूक्ष्म अर्थगर्भ व्यंजनाओं से भरी। 'घरे-बाइरे' भाषा के क्षेत्र में भी एक बहुत बड़ा प्रयोग था जिसमें रवीन्द्रनाथ सफल रहे।

यही प्रयोग उनके अगले उपन्यास 'शेषेर कविता' में नया जोशीला रूप लेकर आता और पाठकों का मन हर लेता है। बंगला अ-साधु भाषा इतनी वेगवती, और द्युतिमती और सुषमामयी हो सकती—यह किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। भाषा को इतना तोड़-मरोड़ कर उसे विकृत न करते हुए नया वेगशील रूप दिया जा सकता है—यह उस समय के बंगला लेखकों के लिए एक दृष्टिदान था। रवीन्द्रनाथ की कवि प्रतिभा ने गद्य क्षेत्र में एक अभूतपूर्व उदाहरण पेश किया था। इस उपन्यास को बंगला गद्य का मुक्तिदाता भी कहा जाता है।

उपन्यास की कथावस्तु यों है: अमित राय बैरिस्टर है। विलायत से लौटने पर उसके हावभाव चाल चलन में कोई विलायतीपन नहीं मिलता। पर उसके हाव भाव बातचीत में एक विशेषता है। वह शिलंग पहाड़ पर घूमने जाता और वहाँ पर मोटर लड़ जाने से लावण्य से उसका परिचय होता है। प्रथम दर्शन में ही वह उसे प्यार करने लगता है—जो कि आधुनिक महिलाओं को कतई लिफ्ट नहीं देता था। यह प्रेम चलता रहा पर लावण्य विवाह के बन्धन में पड़ कर इस प्रेम की स्वर्गीय कोमल अनुभूति को बरबाद नहीं करना चाहती थी। अन्त में जब वह शादी करने के लिए कुछ राजी भी हो जाती है तब मौके पर केटी या केतकीदत्त आ पहुँचती है जिसे सात साल पहले विलायत में अमित ने अपने प्रेम के निदर्शन में एक हीरे की अंगूठी पहना दी थी। इस अपमान से वह अंगूठी फेंक कर चली जाती है। लावण्य भी कहीं चली जाती है और अपनी किशोर अवस्था में ठुकराए हुए शोभनलाल से शादी करने को तैयार हो जाती है। इधर अमित भी केटी में परिवर्त्तन लाता और उससे शादी करने की तैयारी करता है। लावण्य ने अपने विवाह के निमन्त्रण पत्र के साथ एक कविता भेजी—यही शेषेर कविता या अन्तिम कविता है। अमित का कहना है कि उसके लिए प्रेम भी प्रयोजन है और शादी भी। उड़ने के लिए आकाश भी चाहिए और सुस्ताने के लिए घोंसला भी। केतकी से भी उसका सम्बन्ध प्यार का ही है लेकिन वह मानो घड़े में भरा हुआ पानी है—रोज़ भरो, रोज़ पियो। और लावण्य के साथ उसका प्रेम मानों झील का जल है—घर उठा कर लाया नहीं जा सकता—उसमें मन जैसे चाहे वैसे तैर सकता है।

अगर गहरी दृष्टि से देखा जाए तो इस उपन्यास के नायक नायिकाएँ अयथार्थ मालूम पड़ते हैं। जिनकी कविताएँ पढ़नेवाला अमित हवा में ज्यादा उड़ता है जब कि गोर्की की माँ और रवीन्द्रनाथ की कविता पढ़नेवाली लावण्य वास्तविक धरातल को पहचानती है।

कलाकृति के तौर पर 'शेषेर कविता' अपनी भाषा की वजह से जीवित रहेगी। अमित बेहद बातूनी है और उसकी बातों की हर पंक्ति में कोई रूपक या उपमा झाँकती ही रहती है। कहानी के तौर पर 'शेषेर कविता' दुर्बल है पर काव्य सृजन के तौर पर यह अपूर्व है।

१६२६ ई० में 'शेषेर कविता' के साथ साथ एक उपन्यास और प्रकाशित हुआ उसका नाम योगायोग था। यह उपन्यास 'तीन पुरुष' नाम से 'विचित्रा' नामक पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुका था। इसमें तीन पुश्त का जीवनेतिहास है। आनन्द घोषाल पहली पुश्त के हैं, समय—उन्नीसवीं सदी के तीसरे पर्याय में। दूसरी पुश्त में उनके पुत्र मधुसूदन और तीसरी पीढ़ी में अविनाश घोषाल। इन तीन पीढ़ियों में पहली पीढ़ी के बारे में सामान्य परिचय मिलता है, दूसरी पीढ़ी में पारिवारिक और सामाजिक हालचाल विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। और तीसरी पीढ़ी के अविनाश के जन्म के साथ ही साथ कहानी भी खत्म हो जाती है। अगर रवीन्द्र चाहते तो शायद इन तीनों पीढ़ियों में बंगाली समाज के पारिवारिक जीवन में जो परिवर्त्तन हुआ था उसका परिचय विस्तीर्ण पृष्ठभूमि पर देकर इस उपन्यास को गोरा के कोटि का बना सकते थे पर उपन्यास में मधुसूदन और कुमुदिनी के बाल्य और किशोर जीवन का परिवेश और उनके यौवन के

१९५७

दाम्पत्य जीवन के सूक्ष्म और स्थूल क्रिया कलाप ही इस उपन्यास का प्रधान विषयवस्तु रहा।

चरित्र का संघर्षमय परिस्थितियों में विश्लेषण इस उपन्यास में निखर कर आया है। 'योगायोग' की भाषा में तीखा व्यंग, बुद्धि-दीप्त संक्षिप्त उक्तियाँ जहाँ-तहाँ झलकती हैं किन्तु उसमें वह गति नहीं है जो 'शेषेर कविता' या चतुरंग में हम पाते हैं।

'दुई बोन' नामक उपन्यास १९३३ ई में और 'मालंच' १९३४ ई. में प्रकाशित हुए। इन दोनों उपन्यासों में 'नावेल' या लघु उपन्यास के गुण मौजूद थे। इन दोनों उपन्यासों की कथावस्तु उच्च मध्यवर्गीय समाज के आराम से लालित शिक्षित संस्कृति सम्पन्न नरनारी के जटिल प्रेम रहस्य है जो व्यक्ति केन्द्रिक जीवन के अन्तर्द्वंद से पूर्ण हैं।

१९३४ ई. में प्रकाशित 'चार अध्याय' ही रवीन्द्रनाथ का आखिरी उपन्यास है। इस उपन्यास का कथानक दूसरों से कुछ स्वतन्त्र है। 'घरे-बाइरे' की तरह इसकी कथावस्तु बंगला के राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अध्याय है। इसमें बंगाल के विप्लववादियों का चरित्र चित्रण हुआ है—जिसमें यह दिखाया गया है कि विप्लव की माँग, प्रेम और व्यक्ति स्वतन्त्रता की माँग को किस तरह से संकुचित कर देती है।

उपन्यास के रचना-काल के समय बंगाल में विप्लववादियों का तीसरा अध्याय शुरू हो गया है—सरकारी दमन नीति भी पूर्ण रूप से लागू हो गई है। एक शंका भय से थर्राता हुआ परिवेश है दूसरी ओर असंख्य निडर प्राणों का बलिदान या दीर्घ दिनों के लिए कारावास। इन निडर देशभक्त विप्लवी प्राणों के लिए देश की जनता में प्रेम और आदर की भावनाएँ हैं लेकिन उन इनक्लाबियों के कार्यक्रम में उन्हें पूर्ण विश्वास नहीं है। देश की जनता सरकार द्वारा उनके उत्पीड़न और अत्याचार के खिलाफ थी लेकिन प्रकाश्य राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी कार्यपद्धति निन्दित होती रही। देश की जनता अपने आदर और प्रेम का इज़हार नहीं कर सकती थी—अत्याचार और लांछन से क्षुब्ध होते हुए भी उसके खिलाफ आवाज़ उठा नहीं पाती थी। एक अजीब मूढ़ चित्त-चांचल्य से देश की जनता असंतोष भरी स्तब्धता में मौन थी। बंगाल की जनता के इस मानसिक पृष्ठभूमि पर 'चार-अध्याय' सामने आता है।

संलाप-प्रधान इस 'चार अध्याय' नामक उपन्यास को चार अंकों में बाँट कर बड़े मज़े में एक नाटक का रूप दिया जा सकता है क्योंकि घटना और चरित्रों का संघर्ष भी इस उपन्यास में पात्र-पात्रियों के कथोपकथन से स्पष्ट होता है। लेकिन इस संलाप में एक अवास्तविक रूप आ गया है जब कि हम देखते हैं कि पेन्शन पाने वाले पुराने दरोगा के मुँह से भी रवीन्द्रनाथ की असाधारण कला और संस्कृति सम्पन्न उक्तियाँ निकल रही हैं। संलाप प्रधान नाट्य-गुण सम्पन्न इस उपन्यास में न तो नाटक की आत्मा का दर्शन मिलता है और न उपन्यास की उपादेयता का—गेय कविता की आत्मा ही झलकती रहती है। हालांकि कहीं-कहीं पर कहानी के रुढ़ प्रयोजन से लिरिक का स्वर विकृत हो गया है।

इस उपन्यास का सर्वश्रेष्ठ गुण आतंकवाद की समस्या को हृदय और मन से समझने की कोशिश है। जिस समय 'गोरा', 'चतुरंग', 'घरे-बाइरे' और 'शेषर कविता' की तुलना में रवीन्द्रनाथ 'दुइ बोन', 'मालंच' और 'चार-अध्याय' सरीखे दुर्बल उपन्यास लिख रहे थे उस समय काव्य नाटक और निबन्ध के क्षेत्र में वह सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ दे रहे थे। और १९३४ ई. से जीवन के अन्तिम दिवस तक कथा-साहित्य में उनकी नीरवता यही घोषित करती है कि कवि ने कथाकार पर विजय पा ली थी।

द्वारिका निवास, बाबूगंज
लखनऊ उ० प्र०

—प्रबोधकुमार मजुमदार

गलती से जिनको तुम पतित कहते हो, वे हैं जो अभी उठे नहीं हैं। वे उसी प्रकार विश्व विद्यालय के नवागंतुक विद्यार्थी हैं, जिस प्रकार किसी समय तुम भी थे।

—स्वामी रामतीर्थ

कुमारिल-दर्शन में अभाव (?)

साधारण बोलचाल में 'नहीं' शब्द का प्रयोग प्रायः होता है। ऐसे वाक्य जिनमें 'नहीं' शब्द या उसका कोई पर्याय होता है, अभावात्मक या निषेधात्मक कहलाते हैं, जैसे 'भूमि पर घट नहीं है', 'मेज़ पर पुस्तक नहीं', 'घट पर नहीं है' इत्यादि। निषेधात्मक वाक्य अभावरूपक होते हैं, जब कि विधानात्मक वाक्य भावरूपक। जब हम यह कहते हैं कि 'भूमि पर घड़ा है', तो हमारा संकेत सामने रखे हुए घड़े की ओर होता है जो कि एक प्रत्यक्षगम्य वस्तु है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि 'भूमि पर घड़ा नहीं है', ऐसा कहने में घड़े के जिस अभाव की ओर हमारा संकेत है, वह भी क्या घड़े के समान या उससे भिन्न कोई वस्तु है? अभाव वास्तविक है या काल्पनिक, वस्तु है या अवस्तु. बुद्धि निरपेक्ष है या बुद्धि-सापेक्ष? यदि अभाव वस्तुरूप है तो उसका ज्ञान कैसे होता है? कहा जा सकता है कि घट की तरह घटाभाव का ज्ञान भी नेत्रों से होता है। लेकिन इस मत में कठिनाइयाँ हैं। घट और नेत्र के संयोग का परिणाम घट-ज्ञान है और यह प्रत्यक्ष है, यदि घटाभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है तो यहाँ नेत्रों का संयोग किस वस्तु से है? यदि अभाव वस्तुरूप नहीं है, अवस्तुरूप है, तो निषेधात्मक वाक्यों का प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा?

उपर्युक्त प्रश्नों का आधुनिक ज्ञान-मीमांसा में बड़ा महत्व है। बहुत से दार्शनिकों ने इन प्रश्नों का का उत्तर देने की चेष्टा की है। ब्रेडले (Bradley) और बर्गसां (Bergson) अभाव को अवस्तु और बुद्धि सापेक्ष मानते हैं। रसेल (Russell) का भी यही मत है कि 'नहीं' शब्द को भाषा से हटा कर सभी निषेधात्मक वाक्यों को विधानात्मक वाक्यों का रूप देना सम्भव है। हमारे भारतीय दार्शनिकों में भी इन प्रश्नों पर बड़ा विवाद रहा है। न्याय में अभाव को वस्तुरूप और प्रत्यक्ष को उसका प्रमाण माना गया है। आचार्य कुमारिल तथा शंकराद्वैत भी अभाव को वस्तुरूप मानते हैं, लेकिन वे उसके प्रमाण को प्रत्यक्षेतर मानते हैं। बौद्धों के मत में कुछ विरोधाभास है वे अभाव को अवस्तु मानते हैं, लेकिन साथ ही अभावसूचक वाक्यों का आधार प्रत्यक्ष और अनुमान को मानते हैं। आचार्य भी अभाव को अवस्तु मानते हैं। बौद्ध और प्रभाकर दोनों का मत है : 'भूमि पर घट ही नहीं है' का अर्थ है 'भूमि पर घट नहीं दिखाई देता है' तथा 'भूमि पर घट नहीं दिखाई देता है' का अर्थ है 'भूतल मात्र दिखाई देता है।

भारतीय दार्शनिकों ने अभाव की समस्या पर गम्भीर विचार किया है जो कि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य केवल आचार्य कुमारिल के एतद्विषयक मत का दिग्दर्शन कराना है। आचार्य कुमारिल के मत को उनके अनुयायियों ने तर्कपुष्ट रूप देकर पूर्णता को पहुँचाया, किन्तु यह हमारे स्वतन्त्र लेख का विषय होगा।

आचार्य कुमारिल का मत विस्तारपूर्वक 'श्लोकवार्तिक' के अभाव-परिच्छेद में मिलता है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, आचार्य कुमारिल अभाव को वस्तुरूप और बुद्धि-निरपेक्ष मानते हैं। वे अभाव के चार वर्ग बताते हैं : (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यन्ताभाव। कारण में कार्य का अभाव, यथा दूध के रूप में दधि का अभाव, प्रागभाव है। १६५६ में जन्म लेने वाला बालक १६५५ में नहीं था। इस कागज पर स्याही के निशान पहिले नहीं थे। ये प्रागभाव के उदाहरण हैं। कारण से कार्य की उत्पत्ति के बाद कारण (उपादान) का अभाव हो जाता है। यह प्रध्वंसाभाव है। विनाश के उपरान्त वस्तु का अभाव, मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का अभाव इसी कोटि के हैं। गाय, घोड़ा नहीं है और न घोड़ा, गाय है। काला कागज़ हरा नहीं है और न हरा, काला है। ये अन्योन्याभाव के उदाहरण हैं। आकाशपुष्प और शशविषाण नितान्त असत् है। ये अत्यन्ताभाव के उदाहरण हैं।

'आत्मा का आकार नहीं है', भूमि पर घट नहीं है' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग होता है और ये यथार्थ पाये जाते हैं। इनका प्रामाण्य अभाव के वस्तुरूप होने का पर्याप्त आधार है। यदि निषेधात्मक वाक्यों का

१९५७

जिन अभावात्मक तथ्यों की ओर संकेत होता है वे अवस्तु होते, तो निषेधात्मक वाक्य सदैव अप्रमाण होते। किसी वाक्य के सदैव अप्रमाण होने का अर्थ है उसके विरुद्ध वाक्य का प्रमाण होना, इस प्रकार अभाव को अवस्तु मानने पर 'दही में दूध का अभाव है', गाय में अश्वत्व का अभाव है इत्यादि निषेधात्मक वाक्यों के अप्रमाण होने से इनके विरुद्ध वाक्यों, यथा, 'दही दूध है', 'गाय अश्व है' इत्यादि को प्रमाण मानना पड़ेगा। इस कठिनाई से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि अभाव को वस्तुरूप माना जाए। इसके अतिरिक्त कार्य-कारण का भेद और वस्तुओं में जो अन्तर हमें दिखाई देते हैं उनका आधार भी अभाव का वस्तुरूप होना है। यदि अभाव वास्तविक न होता तो उसके भेद करना सम्भव न होता। काल्पनिक चीज़ के भेद नहीं पाए जाते। जैसे आकाश-पुष्प के।

अभाव का ज्ञान एक निषेधात्मक वाक्य का रूप लेता है। भूमि पर घट के अभाव का ज्ञान 'भूमि पर घट नहीं है'—इस वाक्य के रूप में होता है। और यह ज्ञान उतना ही मौलिक है जितना भूमि पर घट होने पर होने वाला घट के भाव का ज्ञान। विधानात्मक और निषेधात्मक वाक्य मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टि से समान रूप से मौलिक होते हैं; जिस प्रकार घट-भाव-प्रदर्शक वाक्य विना किसी अन्य वाक्य की अपेक्षा के उत्पन्न होता है और किसी अन्य वाक्य या वाक्यों में अनुमित नहीं होता, उसी प्रकार घटाभाव-प्रदर्शक-वाक्य भी। किसी भी वस्तु के दो रूप होते हैं: भावात्मक और अभावात्मक। घट घट है, इसलिए कि वह घट है और इसलिए भी कि वह घट या कोई घटेतर वस्तु नहीं है। वह स्वयं अपने रूप में भावरूप है और अन्य वस्तुओं के रूप में अभावरूप। घट का निर्माण इन दोनों ही रूपों—भावात्मक और अभावात्मक, से होता है अतः दोनों ही रूप समानतः मौलिक हैं। भावात्मक और अभावात्मक वाक्य घट के इन दो रूपों को व्यक्त करते हैं, और इसलिए दोनों वाक्य समानतः मौलिक हैं। वस्तु द्विरूप होती है, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने दोनों रूपों को एकसाथ प्रकट करे। कभी वह अपने एक रूप को प्रकट करती है, कभी दूसरे को। कभी वह एक वस्तु को उसके भावात्मक रूप में देख कर कहते हैं कि 'वह हरी है' और कभी उसके अभावात्मक रूप में देख कर कहते हैं कि 'वह नीली नहीं है'। हम किसी वस्तु को किस रूप में देखते हैं, इसका निर्धारण प्रायः हमारी रुचि करती है। जब हमारी रुचि वस्तु के भावात्मक रूप में होती है तब हमें उसका वही रूप दिखाई देता है और उस समय उसका अभावात्मक रूप जिसमें हमारी रुचि नहीं है प्रच्छन्न या अव्यक्त रहता है। कुछ लोगों का मत है कि भावात्मक ज्ञान अधिक मौलिक होता है। क्योंकि अभावात्मक ज्ञान भावात्मक ज्ञान की अपेक्षा रखता है, जब कि भावात्मक ज्ञान को अभावात्मक ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि एक वस्तुविशेष नीली नहीं है, तब इस वाक्य का गुप्त संकेत 'वस्तु हरी है' इस भावात्मक वाक्य की ओर होता है। किन्तु जब हम यह कहते हैं कि वह हरी है, तब इस वाक्य की ओर कि 'वह नीली नहीं है' कोई गुप्त या प्रकट संकेत नहीं होता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भावात्मक वाक्य मौलिक होते हैं और अभावात्मक वाक्य व्युत्पन्न। तदनुसार यह कहा जाता है कि वस्तु का भावात्मक रूप ही उसकी सत्ता के लिए आवश्यक है तथा अभावात्मक रूप बुद्धि-द्वारा आरोपित अर्थात् काल्पनिक होता है। किन्तु यह निष्कर्ष मिथ्या है। जब हम यह कहते हैं कि 'यह वही वस्तु है' तब हमारा तात्पर्य यह भी होता है कि 'यह इतर वस्तु नहीं है' और जब हम यह कहते हैं कि 'यह वह वस्तु नहीं है' तब हमारा तात्पर्य यह भी होता है कि 'यह उससे भिन्न वस्तु है'। इस प्रकार, भाव और अभाव, विधान और निषेध एक-दूसरे की पूर्ति करते हैं। यदि हम किसी वस्तु का वर्णन केवल उसके भावात्मक रूप में ही करते हैं तो यह वर्णन अधूरा रहेगा, तब तक जब तक कि हम उस वर्णन में वस्तु के अभावात्मक रूप का समावेश नहीं करते। फलतः निषेधसूचक शब्दों का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होता हैं और भाषा से इनको निकालना सम्भव नहीं है।

अब हम दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न पर आते हैं: अभाव का ज्ञान किस प्रमाण से होता है? कुमारिल के मत में अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है जो प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि प्रमाणों से भिन्न है। अभाव का ज्ञान न प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से। प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि प्रमाण वस्तुओं के भावात्मक

रूप का ज्ञान कराते हैं। प्रत्यक्ष की वस्तु भावात्मक होती है। उसमें ज्ञानेन्द्रिय और मन का व्यापार भावात्मक होता है और इससे आत्मा में एक भावात्मक विकार का जन्म होता है। किन्तु, जब वस्तु अभावात्मक होती है, यथा घटाभाव, तब ज्ञानेन्द्रियों का कोई व्यापार सम्भव नहीं है और न आत्मा में किसी भावात्मक विकार की उत्पत्ति ही सम्भव है। यदि उस दशा में ज्ञानेन्द्रियों का कोई व्यापार और आत्मा में कोई विकार होता है, तो उसका सम्बन्ध वस्तु के अभाव से नहीं बल्कि उस वस्तु के सद्भाव से होता है जो न होने वाली वस्तु के स्थान पर वर्तमान है। इस प्रकार ज्ञानभाव से अभाव का ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान का आधार बुद्धि का व्यापार होता है। जब ज्ञान की वस्तु भावरूप होती है तब यह व्यापार भी भावरूप होता है और उस दशा में प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि होता है। किन्तु, जब वस्तु अभावरूप है तब इस व्यापार को भी अभावरूप होना चाहिए। अभाव का प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि नहीं हो सकता, क्योंकि ये भावरूप प्रमाण है। प्रत्यक्ष में ज्ञानेन्द्रिय का संयोग किसी वस्तु से होता है। संयोग दो वर्तमान वस्तुओं में ही हो सकता है। देखने वाले की आँख और भूमि पर रखा हुआ घड़ा दोनों ही वर्तमान वस्तुएँ है जिनके संयोग से घड़े का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु, यदि घड़ा वर्तमान नहीं है तो आँख से उसका संयोग कैसे हो सकता है ? अतः घटाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 'भूमि पर घट नहीं है' ऐसा ज्ञान तभी उत्पन्न होता है जब आँखें खुली रहती हैं और भूमि के उस भाग पर केन्द्रित रहती हैं जिसमें घट का अभाव है। किन्तु, यहाँ पर चक्षु-व्यापार उस भूमि-भाग से सम्बन्धित है और यह भाववस्तु है। विशुद्ध अभाव असम्भव है। अभाव सदैव किसी भावरूप वस्तु का होता है और किसी भावरूप देश में होता है। घट के भावरूप देश का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है तथा घटाभाव के प्रतियोगी अर्थात् घट का ज्ञान स्मरणात्मक है, किन्तु अभाव का ज्ञान न प्रत्यक्ष से होता है और न स्मृति से, बल्कि मन से होता है।[1]

यहाँ पर कुमारिल की इस उक्ति के कि अभाव का ज्ञान मन से होता है, ठीक अर्थ पर ध्यान देना उचित होगा। इतना तो स्पष्ट ही है कि इस उक्ति का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि अभावज्ञान मन की कल्पना है; क्योंकि उस दशा में अभाव अवस्तु हो जाएगा। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अभाव का ज्ञान मानस-प्रत्यक्ष से होता है। लेकिन, यह अर्थ भी ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि मानस-प्रत्यक्ष का विषय केवल आत्मा और सुख, दुःख इत्यादि आन्तरिक अनुभव हैं। मानस-प्रत्यक्ष आन्तरिक प्रत्यक्ष का ही नाम है। अभाव (यथा घटाभाव) जो कि एक बाह्य जगत् की वस्तु है, आन्तरिक प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकता है ? कुमारिल ने स्वयं अभाव के प्रमाण अनुपलब्धि को प्रत्यक्षेतर बताया है। इससे स्पष्ट है कि अनुपलब्धि आन्तरिक प्रत्यक्ष से भी भिन्न है, क्योंकि आन्तरिक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष का ही एक प्रकार है। डा० राजू ने कहा है : "...कुमारिल का मत यह है कि अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों से नहीं होता, बल्कि मन से होता है, यद्यपि अभाव वस्तुरूप है। अभाव मानस-प्रत्यक्ष का विषय है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का नहीं।"[2] डा० राजू की यह उक्ति नितान्त भ्रामक है। अभाव ज्ञान को मानस कहने से कुमारिल का तात्पर्य यह नहीं है कि वह प्रत्यक्ष है। अभाव-ज्ञान मानस अर्थात् मनोजन्य उसी अर्थ में है जिस अर्थ में प्रत्येक ज्ञान मानस है। भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि सभी प्रकार के ज्ञान के लिए मन के व्यापार को आवश्यक बताते हैं और इसलिए अनुपब्धि भी मानस है।

अभाव-ज्ञान में ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार नहीं होता, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। कोई व्यक्ति सुबह घर से बाहर निकल जाता है। शाम को कोई उससे पूछता है कि सुबह चैत्र उसके घर आया था या

---

[1] गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥—श्लोकवार्त्तिक, अभाव २७

[2] Proceedings of Indian philosophical congress, 1939, P. 64.

१९५७

नहीं ? और वह उत्तर देता है कि चैत्र नहीं आया था। यहाँ इन्द्रिय-व्यापार सम्भव ही नहीं है, क्योंकि चैत्राभाव सवेरे की बात है, जिस समय प्रश्न पूछा गया उस समय की नहीं। अतः चैत्राभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष जन्य नहीं है। कहा जा सकता है कि यहाँ चैत्राभाव का ज्ञान स्मृति से होता है, इसलिए अनुपलब्धि जिसे यहाँ प्रमाण माना गया है, स्मृति से भिन्न नहीं है। इसका उत्तर यह है कि स्मृति सदैव प्रत्यक्षानुभव पर निर्भर करती है; किन्तु सुबह जब उस व्यक्ति के मन में चैत्र का विचार तक नहीं था तो चैत्राभाव का प्रत्यक्ष उस समय उसे कैसे होता ? वस्तुतः उसे चैत्राभाव का ज्ञान तो शाम को ही हुआ जब उससे प्रश्न पूछा गया। अतः यह ज्ञान नवीन है, किसी पूर्व ज्ञान की स्मृति नहीं।

अब देखना यह है कि अभाव-ज्ञान प्रत्यक्षेतर होने पर भी क्या अनुमान हो सकता है ? अनुमान लिंग दर्शन और व्याप्ति-स्मरण से होता है। धूम्र को देख कर अग्नि का अनुमान होता है और यह ज्ञान उसी को होता है जो यह जानता हो कि जहाँ जहाँ धूम्र होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। धूम्र-लिंग है और 'जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि है' यह ज्ञान व्याप्ति। अब यदि भूमि पर घटाभाव का ज्ञान अनुमान है, तो लिंग और व्याप्ति क्या हैं ? घट लिंग नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो वर्तमान ही नहीं। घटाभाव का ज्ञान घट के वर्तमान न होने पर ही होता है। किन्तु, यदि यह लिंग का कार्य करने के लिए स्वयं मौजूद हो, तो घटाभाव का ज्ञान होगा ही नहीं। यद्यपि घट नहीं दिखाई देता तथापि भूमि तो दिखाई देती है। मान लीजिए घटाभाव का अनुमान करने के लिए भूमि लिंग है। लेकिन यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि लिंग वही होता है जिसकी अनुमेय घटाभाव से व्याप्ति हो। दृश्य भूमि की पराभाव से व्याप्ति नहीं हो सकती। व्याप्ति अविनाभाव सम्बन्ध है। लेकिन दृश्य भूमि और घटाभाव में अविनाभाव नहीं है, क्योंकि अन्य समयों में दृश्य भूमि का घट से भी सम्बन्ध दिखाई देता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि भूमि और घटाभाव में व्याप्ति है, तथापि घटाभाव का ज्ञान अनुमान सिद्ध नहीं होता। व्याप्ति का ज्ञान उन वस्तुओं को बार-बार एकसाथ देख कर जिनके मध्य व्याप्ति है तथा उनको कभी परस्पर वियुक्त न देख कर होता है यदि भूमि और घटाभाव में व्याप्ति है तो इसका अर्थ यह हुआ कि जिस व्यक्ति को इस व्याप्ति का ज्ञान है वह भूमि और घटाभाव को पहले ही बार-बार साथ देख चुका है अर्थात् घटाभाव का प्रथम ज्ञान उसे अनुमान की सहायता के बिना ही हो चुका है। पुनः यह कहा जा सकता है कि घट का अदर्शन ही घटाभाव का लिंग है। भूमि पर घट नहीं है, क्योंकि वह दिखाई नहीं देता। लेकिन अज्ञात लिंग से अनुमेय का ज्ञान नहीं हो सकता, जैसे कि पर्वत पर धूम का ज्ञान न होने से अग्नि की उपस्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यदि घटादर्शन घटाभाव के अनुमान का लिंग है तो घटादर्शन का ज्ञान होना अनुमान के पहले आवश्यक है लेकिन, चूँकि अदर्शन अर्थात् दर्शनाभाव भी अभावरूप है और अभाव का ज्ञान अनुमानेतर नहीं माना गया है अतः दर्शनाभाव का ज्ञान करने के लिए अन्य दर्शनाभाव का ज्ञान आवश्यक है और यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होगी। फलतः यह मानना पड़ेगा कि अभाव ज्ञान का आधार अनुमान नहीं हो सकता। अदर्शन से अभाव का ज्ञान होता अवश्य है, किन्तु अदर्शन और अभाव के मध्य कोई दूसरा ज्ञान नहीं होता। अतः अदर्शन अर्थात् अनुपलब्धि अभाव का प्रमाण है और यह प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न है। फिर भी अनुपलब्धि और प्रत्यक्ष में दो बातों में सादृश्य है : (१) प्रत्यक्ष के समान अनुपलब्धि भी ज्ञानाकरणक है, और (२) जैसे इन्द्रिय-व्यापार सत्ता-मात्र से अर्थात् बिना जाने हुए वस्तु का ज्ञान कराता है, वैसे ही अदर्शन सत्तामात्र से अभाव का ज्ञान कराता है।

३६/१ करेला बाग कोलोनी,
इलाहाबाद

—डा० गोवर्द्धन भट्ट

असली गुफा हृदय है, स्मशान भी वही है। हम इस गुफा में रह कर विकार-मात्र की राख कर डालें तभी सच्चा सन्यास कहलाएगा।

—महात्मा गांधी

कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव

मनुष्य के ज्ञानार्जन के दो मार्ग हैं। वह पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त करता है एवं मनुष्य जीवन से भी। कबीर ने दूसरा मार्ग अपनाया क्योंकि पहिला मार्ग उसके लिए बन्द था। कबीरदास ने स्वयं कहा है—

"मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ"

"मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागज, बिनु अच्छर सुधि होई"

फलतः उन्होंने साधुओं से ज्ञान की प्राप्ति की। वे इस क्षेत्र में सिद्धों और नाथों से विशेष प्रभावित हुए। प्रकृति का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति भूत का फल होता है और भविष्य के लिए फूल बनता है। प्रत्येक कवि, नेता और सुधारक अपने से पूर्व के विचारों को ग्रहण कर अपना व्यक्तित्व बनाता है। कबीर ने भी सिद्धों और नाथों के विचारों को अपनाया। इनमें भी वह नाथों से विशेष प्रभावित थे। यह प्रभाव दो प्रकार का है—(१) शैली का और विचार का (२) शैली का प्रभाव।

सिद्धों और नाथों का क्षेत्र मध्यमवर्ग और निम्न-वर्ग तक विशेषतया सीमित था। उनके चमत्कार भरे व्यक्तित्व एवं अटपटे उपदेशों से मध्यम एवं निम्न श्रेणी के नारी-नर बहुत प्रभावित थे। फलतः उन्होंने पंडितों की संस्कृत का मोह छोड़ कर जनभाषा को अपनाया। कबीरदास जी के सामने भी यही समस्या थी। उनके श्रोता भी निम्नवर्ग और मध्यवर्ग से थे। अतः उन्होंने प्रचलित जनभाषा में अपना उपदेश कोष लुटाया और कहा—

"संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर"

सिद्धों और नाथों ने व्याकरण, छन्द, अलंकार एवं अन्य काव्य-शास्त्र के नियमों को दूर ही खड़ा रखा था। जो मन में आता था, कह डालते थे। कबीर ने भी यही मार्ग ग्रहण किया। फलतः उनकी भाषा व्याकरण एवं काव्य-शास्त्र के अंकुश की चिन्ता न कर आगे भागती है। सिद्धों और नाथों के समान कबीर ने भी सरल और सर्वजन बोधगम्य प्रतीकों का प्रयोग किया उन्होंने सिद्धों और नाथों के शब्दों का धड़ल्ले के साथ प्रयोग किया। उनके वाणी-कोश में शून्य, करुणा, सम-रस, अगम जाप, सबद, सहज, निरंजन, अलख ऐसे ही शब्द हैं। ऐसी अनेक उक्तियाँ कबीर साहित्य में मिलती हैं जो सिद्धों और नाथों से बहुत थोड़े हेर-फेर से ले ली गई हैं। सिद्ध कन्हप्पा का एक दोहा है :

"जिम लोग विलिज्जइ पाणिएइ
पाणिएहि तिम धरिणी लई चित
समरस जाइ तमक्खणे
जइ पुणु तें समणित्त" (दोहा कोष दोहा ३२)

कबीरदास ने बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ इसे अपनाया है। केवल चित्त को मन कर दिया है और धरिणी को उन्मन बना दिया है। कबीरदास का दोहा इस प्रकार है :

"मन लागा उन्मन सौं, उनमन मनहिं विलग
लूण विलगा पाणियां, पांणि लूण विडग"

सिद्ध ढेंढणपा की पंक्तियाँ हैं :

"बलद बिआअल गविया वांझे .
पिटा दुहिए ए तिना सांझे"

कबीरदास में ये पंक्तियाँ इस रूप में प्राप्त होती हैं:

"बैल बियाइ गाइ भइ बांझ
बछरा दूहे तीन्यूं सांझ"

कबीरदास ने केवल 'पिटा' के स्थान पर 'बछरा' बाँध दिया है।

अन्यथा कुछ भी अन्तर नहीं है। इसी प्रकार नाथों की वाणी को भी कबीरदास ने शब्दशः उधार लिया है। गोरखनाथ जी कहते हैं—

"चंद विहूणां तहां देष्या श्री गोरबराइ"

कबीर ने इसे इस प्रकार प्रकट किया है—

"देख्या चंद विहूणां चादिणां, तहां अलख निरंजनराइ"

१६५७

गोरख बानी का एक दोहा है—

"हिन्दू आखै राम कौं मुसलमान षुदाय"

कबीरदास ने इस दोहे को यों फ़रमाया—

"हिन्दू मुये राम कहि, मुसलमान खुदाइ
कह कबीर सो जीवता, दुहु में कहें न जाइ"

सिद्धों ने दोहे और पद लिखे, कबीरदास ने भी। नाथों ने सबदिया और जोगेसुर बानियाँ कहीं, कबीर ने भी सबद और बानी का प्रकाश किया। कबीरदास की उलट बासियाँ या विपर्यय प्रसिद्ध है। इन उलटबासियों की परम्परा पुरानी है। सिद्धों की 'संध्या भाषा' में ऐसी ही उक्तियाँ प्राप्त होती हैं धम्मपाद की एक उक्ति ब्राह्मणों के प्रति है—

"मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे ज खत्तिये
रट्ठं सानुचरं हंत्वा अनिघो यति ब्राह्मणो"
(धम्मपदं, पृष्ठ १३१)

अर्थ: कौन सा ब्राह्मण निष्पाप होता है? जो अपने माता पिता एवं दो क्षत्रिय राजाओं को मार डालता है और अनुचरों सहित राष्ट्र की हत्या कर डालता है। उलटबासियों के समान इसका मुख्यार्थ प्रधान नहीं है। ब्राह्मण यहाँ ज्ञानी है। ज्ञानी को तभी शुद्धता प्राप्त होती है जब वह "तृष्णा, अहंकार, आत्मादि की नित्यता का सिद्धान्त, जड़वाद एवं रागयुक्त उपादान पदार्थों को नष्ट कर देता है।"[1]

सान्ध्य भाषा द्वारा या प्रतीक प्रणाली पर सिद्धों ने जो कुछ कहा, उसमें लक्ष्यार्थ प्रधान था। किन्तु अनेक अपढ़ों ने शब्दार्थ ग्रहण किया और जीवन में पतन आया। राष्ट्र एवं माता पिता की हत्या की कल्पना भी उचित न थी। नाथों में संध्या भाषा के स्थान पर 'उलटी चर्चाएँ' हुईं—

"गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नाम धरहुगे कैसा"
—(गोरखनाथ)

यही उल्टी चर्चा कबीर काव्य में उलट-बांसिया विपर्यय बन गई।

विचारों का प्रभाव : मनुष्य मूलतः अनुकरणात्मक प्रवृत्ति रखता है। वह केवल बाह्य वेश या शैली का भी अनुकरण करता है। स्त्रियाँ प्रायः किसी आकर्षक साड़ी या ब्लाउज़ को देख वैसा ही खरीदने का प्रयास किया करती हैं। किन्तु समझदार व्यक्ति अकारण ही अनुकरण नहीं करते। वे किसी के विचारों से प्रभावित होकर ही उसकी शैली को अपनाते हैं। अंग्रेज़ों के विचारों से प्रभावित होकर अनेक भारतीय विज्ञों ने अंग्रेज़ी शैली का अनुकरण किया था। कबीरदास जी में सिद्धों और नाथों की शैली का अनुकरण मिलता है क्योंकि वे सिद्धों और नाथों के विचारों से प्रभावित थे। वास्तव में सिद्धों और नाथों की परम्परा में ही सन्त-कवि हुए हैं। कबीरदास के व्यक्तित्व के पीछे सिद्ध और नाथों के विचार कोष संचित दिखाई पड़ते हैं। इनमें भी वे गुरु गोरखनाथ जी से विशेष प्रभावित थे।

सिद्धों और नाथों ने हिन्दुओं के तीर्थ स्थानों और वेदशास्त्रों की निन्दा की। कबीरदास जी भी इसी दृष्टिकोण के थे। तिलोपा ने कहा है कि तीर्थों में डुबकी मारने से देह में पवित्रता नहीं आती है। तीर्थों में जाना एवं देवताओं की सेवा करना सब व्यर्थ है।

"तीर्थ तपोवन न करहु सेवा, देह शुची न होवै पावा
देव न पुजहु तीर्थ न जावा, देव पूज तें मोक्ष न पावा"

कबीर ने भी इसी प्रकार तीर्थों की निन्दा करते हुए कहा—

"तीरथ करि करि जग मुवा, डूँघै पाणीं न्हाइ
अतरि मैल जे तीरथ न्हावै, तिसु वैकुंठ न जाना
लोक पतीणे कछू न होवै, नाहीं राम अयाना
जल के मज्जन जे गति होवै नित नित मेंडुक न्हावहिं
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिरि फिरि जानी आवहिं"

कन्हप्पा ने हिन्दू शास्त्रों के पाठकों एवं श्रोताओं को मूर्ख बताया है—

"शास्त्रागम बहु पढ़ै सुनै मूढ़, किछु अनजानै"

बाबा गोरखनाथ भी इसी विचार से सहमत हो कहते हैं—

"बेद कतेब न पाणीं बाणी"

कबीरदास जी भी इसी मार्ग पर जाते हुए कहते हैं—

---

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा दिया अर्थ, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १६ पर।

"बेद पढ़े पढ़ि पंडित मुये देखि देखि नारीं
बेद पुरानं सिमृति सब खोजे कहूँ न ऊबरनी

चारि बेद चहूँ मत का विचार
इहि भ्रमि भूलि परायौ संसार
सुरति सुमृति दोइ को निसवास
बाझि परयौ सब आसा पास"

सिद्धों और नाथों की नाईं कबीरदास जी ने भी गुरु का बड़ा गुणगान किया है। गुरु की कृपा बिना पार नहीं पहुँच सकते, सिद्धों और नाथों का यह निर्णीत मत है। किन्तु गुरु बनाने में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। सरहप्पा का कथन है कि अन्धा गुरु अन्धे शिष्य को कैसे जग-कूप से काढ़ सकता है?

"जावण आप जणिज्जइ तावण सिस्स करेइ
अन्धा अन्ध कढ़ाव निम; वेण्णवि कूप पड़ेइ"

बाबा गोरखनाथ जी ने भी यही कहा कि गुरु ज्ञान सरीखा होना चाहिए एवं शिष्य चित्त जैसा हो। यदि ऐसा गुरु न मिले या ऐसा शिष्य न मिले तो अकेला रहना अच्छा है। हाँ, गुरु महान् है और गुरु की खोज करनी ही चाहिए।

"ग्यानं सरीषा गुरु न मिलिया चित्त सरीषा चेला
मन सरीषा मेलु न मिलिया ताथै गोरख फिरै अकेला"

× × ×

अहसठि तीरथ समंदि समंदि यूँ जोगी को गुरु मुषि जरनां

कबीरदास जी ने भी गुरु की महत्ता का प्रतिपादन पूरे बल से किया है। वे तो गुरु को गोविन्द से भी अधिक मान्यता देते हैं। गुरु और गोविन्द में वे कोई अन्तर ही नहीं समझते :

"गुरु गोविन्द दोउ एक हैं दूजा सब आकार"

गुरु में ही सामर्थ्य है कि वह भवसागर के पार उतार सकता है।

"गुरु बिन ज्ञान न उपजै, गुरु बिन मिले न मेव
गुरु बिन संशय ना मिटै, जय जय जय गुरुदेव"

किन्तु गुरु करने में सावधानी बरतनी चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि अन्धे गुरु के हाथ में नौका की पतवार सौंप दी जाए। मूर्ख शिष्य ही ऐसे कपटी गुरुओं के जाल में फँसता है। फिर तो दोनों काली धार में डूब जाते हैं।

"जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरन्ध
अंधे अंधा ठेलिया, दून्यू कूप पडंत"

सिद्धों और नाथों का शून्य कबीर में भी मिलता है। सरहप्पा कहते हैं :

"विषय विसुद्धे ना रमै केवल शून्य चरेइ"

गुरु गोरखनाथ ने भी यही उपदेश दिया है कि शून्य में रमो।

"अजपा जपै सुनि मन धरै...तासा महादेव वंदै पाया"

कबीरदास का नैहर भी शून्य में है, वे शून्य महल में निवास करते हैं और शून्य में स्थान भी करते हैं—

"सहज सुंनि कौ नैहरौ, गगन मण्डल सिरिमोर
तपनि गई सीतल भया, जब सुंनि किया असनान"

सिद्धों ने इस शून्य मिलन का वर्णन एक विशेष प्रतीकात्मक शैली पर किया है। उन्होंने दाम्पत्य मिलन के प्रतीक द्वारा इस मिलन का स्पष्टीकरण किया है। कन्हप्पा का कथन है कि जन्त्र मन्त्र तन्त्र का कोई काम नहीं, बस अपनी पत्नी के साथ विहार करो।

"एक न कीजै मंत्र न जंत्र, निज घरनि लेइ केलि करत"

कभी उन्हें ब्राह्मण पुत्र द्वारा छुई हुई डोमिन के प्रति अरुचि हो जाती है और वे उसका संग करने को प्रस्तुत नहीं है—

"नगर बाहिर डोम्बी तोहार कुटिका
छुइ दुइ जाइ जो बामन लाडिका
अरे डोम्बी तोरे साथ करब न संग"

डोम्बिपा तो डोमिन से प्रणय याचना करते हैं कि मुझे कहीं दूर ले चल—

"ले चल डोम्बी ले चल डोम्बी"—बाटसो भारा

कबीरदास जी इस प्रतीकात्मक शैली पर राम की बहू बने हैं और अपने दाम्पत्य भावों को प्रकट किया है। हाँ, वे गोपियों की भाँति अपने को राम की प्रिय-तमा मानते हैं—

"मंदिर माही भया उजियारा
ले सूती अपना पीव पियए
सेजै सूती रंग रम्हा, भागा मान गुमान
हथ लेवो हरि सूँ जुड़यो, आवै अमर बरदान
हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।"

इस प्रकार कबीरदास ने नाथ और सिद्धों की भाव एवं विचार सम्पदा को चाव से गहा। वेद शास्त्र, जाति पांति, वेशाडम्बर, शारीरिक कष्ट सहन, ऊँच-नीच भावना, कुलीनता का अभिमान की निन्दा नाथों और सिद्धों के अनुरूप की। साथ ही उनका अजपा जाप, इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना, षटचन्द्र, घट में रमना, चमत्कार-पूर्ण कथन, स्वप्रशंसा आदि को भी उनसे पकड़ा। अवश्य ही उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप इन विचारों पर डाली। साथ ही यह भी ठीक है कि उन पर वैष्णवों और सूफियों का प्रभाव भी पर्याप्त पड़ा है। किन्तु कबीर सिद्धों और नाथों की परम्परा में ही माने जाएँगे जिनके कार्य को उन्होंने आगे बढ़ाया। हाँ, उन्होंने सिद्धों और नाथों के योग के साथ भक्ति का रसायनिक मिश्रण किया एवं ज्ञान के साथ योग एवं भक्ति को ईश्वर प्राप्ति का मिश्रित साधन बना दिया।

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, सेंट ऐंड्रूज कालेज
गोरखपुर

—(प्रो.) गोपीनाथ तिवारी

श्री शंकरन नम्बूद्रीपाद

केरल की विजयी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री शंकरन नम्बूद्रीपाद आज से क़रीब ४८ वर्ष पूर्व मलाबार के एक प्राचीन नम्बूद्री परिवार में पैदा हुए। वह पहले कांग्रेसी थे फिर सोशालिस्ट बने और आज कम्युनिस्ट हैं। नम्बूद्रीपाद का सम्बन्ध काँग्रेस से असहयोग आन्दोलन के दिनों में जुड़ा। कालेज छोड़ कर वे आन्दोलन में सम्मिलित हो गए। उन दिनों केरल प्रान्त में काँग्रेस के संगठन का बहुत अधिक श्रेय इन्हीं को है। नम्बूद्रीपाद एक साधारण कार्यकर्ता से केरल काँग्रेस के एक प्रमुख नेता बन गए। कई वर्षों तक वह अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के सदस्य रहे और सन् १६३४-३५ में केरल प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के मन्त्री हुए। काँग्रेस से अलग सोशालिस्ट पार्टी की स्थापना होने पर वे सोशालिस्ट बने किन्तु बाद में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हो कर इन्होंने सोशालिस्ट पार्टी से संबन्ध विच्छेद कर लिया और सन् १६४० में इन्होंने केरल प्रान्त के कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना कर ली।

केरल प्रान्त में कम्युनिस्ट पार्टी को संगठित करने में नम्बूद्रीपाद ने बड़ा त्याग किया। इन्होंने अपनी तीन लाख की संपत्ति कम्युनिस्ट पार्टी को दे कर अपने जीवन का प्रत्येक क्षण पार्टी को संगठित और शक्तिशाली बनाने में लगाया।

श्री शंकरन केवल राजनीतिक नेता ही नहीं बल्कि एक अच्छे लेखक और विचारक भी हैं। इन्होंने अपनी पुस्तकों में मार्क्सवादी विचारों की व्याख्या का सफल प्रयत्न किया है।

स्वर्गाश्रम की ओर

साहित्य में यात्रा संस्मरण का जो महत्व प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, उसे आज कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। साहित्य जहाँ एक ओर मानव की सभी शक्तियों को चेतनामय बनाता है, वहाँ दूसरी ओर अश्लील साहित्य की बढ़ी आ रही बाढ़ से आज के युवक समाज को जो मानसिक खुराक मिलती है वह न केवल उसके संतुलित विकास में बाधक होती है बल्कि राष्ट्रीय जीवन भी उससे बुरी तरह प्रभावित हो जाता है। राजा मर सकता है, साम्राज्य काल और समय की गति के साथ समाप्त हो सकते हैं। उनकी महज कहने भर को कटुस्मृति अवशेष रहती है लेकिन साहित्य की विशालशक्ति को चाहे कितना ही अंकुश में दबा कर रक्खा जाए, उसका प्रभाव न केवल तात्कालीन सामाजिक अवस्था पर ही पड़ता है अपितु युग के बदलने में भी उसकी भूमिका कम महत्त्व की नहीं है। इस लेख में मैं पाठकों का ध्यान उस यात्रा संस्मरण की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ—जिससे मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ हूँ। यह एक ऐसा मनोहारी स्थान है जहाँ पहुँच कर प्राणी मात्र यही अनुभव करता है कि वह मानो स्वर्ग में पहुँच गया है। तुमुल कोलाहल से दूर हिमालय की गोद में बसा हुआ वह स्थान जहाँ मनोहारी प्राकृतिक दृश्यों का सौन्दर्य बिखरा पड़ा है, उत्तरी भारत का समग्र और सर्वस्व है तथा विभिन्न वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद भी जिसके अक्षुण्ण अस्तित्व को आज तक चुनौती नहीं दी सकी है। जहाँ विराट् शान्ति और नीरवता ही का अखण्ड साम्राज्य है। यह स्थान है स्वर्गाश्रम जो लक्ष्मण झूलें के निकट ही है।

यात्रा का महत्व पिछले कुछ वर्षों से द्रुत गति से बढ़ता जा रहा है। भारतीय आबादी का एक विशाल भाग आज शहरी नागरिक हो चुका है और व्यक्ति के विकास तथा उसका आर्थिक स्वावलम्बन की दिशा में किया जानेवाला प्रयत्न काफ़ी संघर्ष पूर्ण बन गया है। कई अंशों में शहरी जीवन अच्छा है। लेकिन आज उसमें कतिपय आवश्यक बुराइयाँ पैदा हो गई हैं जो उसकी अच्छाइयों पर पर्दा डालती हैं और इस प्रकार एक चुनौती है जिसका शहरी जीवन के पक्षपातियों के के पास कोई उत्तर नहीं है। विवाद की गहराई में न उलझ कर सिर्फ पाठकों को इतना ही बताना चाहूँगा कि आज के इस संघर्षपूर्ण जीवन में व्यक्ति कुछ क्षण मनोरंजन, और और शौक के रूप में गुजारना चाहता है। यात्रा इस सम्बन्ध से जीवन में मनोरंजन के साथ-साथ जीवन और जगत् का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने का उचित माध्यम समझी जाती है। मेरी प्रस्तावित यात्रा चन्द मित्रों के साथ हुई। हम सहारनपुर से हरिद्वार को रवाना हुए। औद्योगिक दृष्टि से उत्तर प्रदेश में सहारनपुर का स्थान पिछले वर्षों से माना जाने लगा है। लहलहाती हुई प्रकृति की मनोरम छटा का विहंगावलोकन करते-करते हरिद्वार

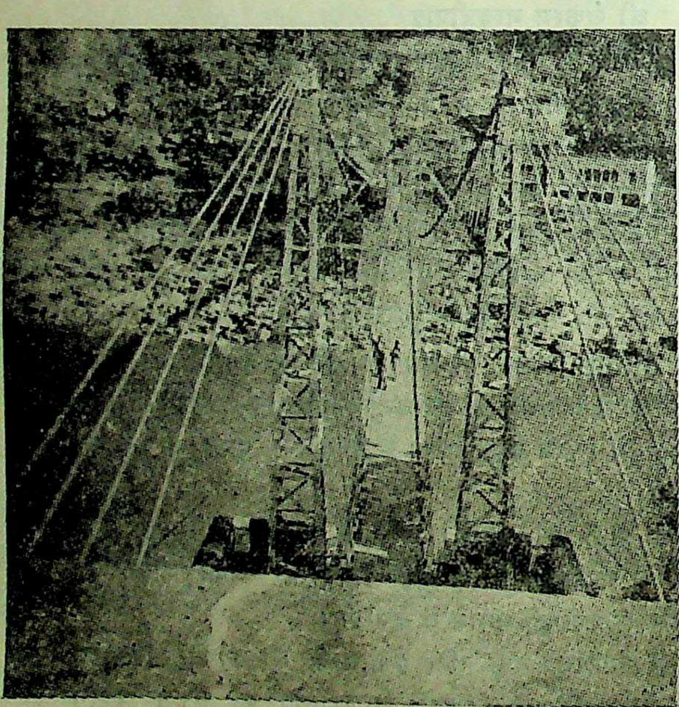

लक्ष्मण झूला

१९५७

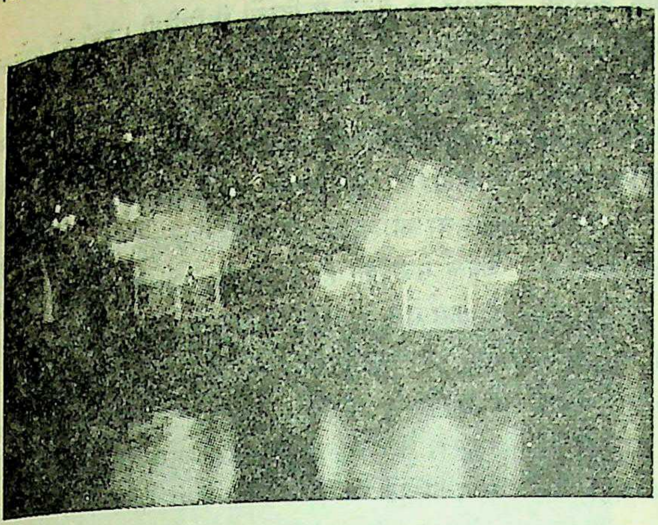

हरिद्वार की हृदयहारिणी

आ गया। हरिद्वार में हम जिस आशा और उत्साह से भरे गए थे, उसका पता हम को जब हमारी हरिद्वार की यात्रा पूर्ण हुई तब हुआ। पावन गंगा उत्तुंग हिमशिखर की कन्दरा से निकल कर स्थल पर सर्व प्रथम यहीं प्रगट होती है अतः इसको गंगा द्वार भी कहते है। हरिद्वार एक समय था जब ज्ञान और तप साधना का प्रमुख क्षेत्र था, आज तो वह अन्य वैभवपूर्ण नगरों की श्रेणी में आ मिला है। राजा भगीरथ के प्रयत्नों से गंगा मृत्युलोक पर पधारी, इसका वर्णन हमें महाभारत में मिलता है। वस्तुतः गंगा जी का पृथ्वी पर अवतरण "सगर" के साठ सहस्त्र पुत्रों की मुक्ति के लिए ही हुआ था। गंगा की प्रशंसा में वेद, पुराण, इतिहास, संस्कृत तथा हिन्दी आदि के कवियों ने ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे हैं। मानस या अन्तःकरण की निर्मलता गङ्गा जी में स्नान करने से जितनी आती है, उसका सन्त महात्माओं को विशेष ज्ञान है। गङ्गा जी के दर्शन करने से, गङ्गा का स्पर्श करने से और गङ्गाजल पीने से हृदय सात्विक विचारों का अवश्य होता है।

धर्मशाला से इस पवित्र माहेश्वरी के दर्शनों के लिए ज्यों ही रवाना हुए तो मार्ग में एक मृत्युन्जय की मूर्ति से साक्षात्कार हुआ। प्रत्येक यात्री हरि की पौड़ी पर जरूर स्नान करता है। पूजा अर्चना की सामग्री और साधन जुटा कर प्रेम अर्चना करता है। इस पुण्य सलिला में स्नान करके हम दूसरे किनारे की ओर किश्ती से गए। वहाँ नीली धारा जो वेगशील है देखने को मिली। हिमाच्छित पर्वतों पर बिछी हुई बर्फ की चांदी जैसी तहें पिघल कर स्थल की ओर कितने विशाल परिमाण में आती है। तथा कल कल निनाद करती हुई प्रवहमान होती है। यह संभवतः प्रथम अवसर था जब मैंने जिन-जिन चीजों के बारे में अब तक जो चिन्तन और मनन किया है उन सब में गङ्गा की स्नेह शील धारा को देख कर अत्यधिक प्रभावित हुआ। मैं खो गया। विचारों की उमड़ती हुई धारा में उस धारा में जो जन जीवन में मस्ती और मधुरता को जन्म देती है। लम्बे समय के उपरान्त ज्यों ही मुझे होश आया तो क्या देखता हूँ कि उषाकाल में उदित भास्कर भगवान की सुनहरी रश्मियाँ क्रमशः कम हो रही हैं और नभ मंडल में लाली नजर आ रही है। थका मांदा भास्कर अपने दायित्व को जिस खूबी से पूरा करके विश्राम को लौट रहा है, वह आज के युग में बड़े महत्व की बात है। मानव कितना स्वार्थी हो गया है? लेकिन जिस दिन प्रकृत्ति और उसके अंग भी इस गलत पथ का अनुसरण करने लग जाएँगे तो मानवता की कितनी दर्दनाक अवस्था होगी? मानव विवेकशील प्राणी हो कर भी प्रकृति से भली प्रकार सबक ग्रहण नहीं कर सकता। यदि नदियाँ यह सोचने लग जाएँ कि हम क्यों बहें? क्योंकि हमारा उपयोग हमारे लिए न हो कर दूसरों के लिए होता है, तो फिर यह निश्चत है कि दुनिआँ की प्रगति की गति अवरुद्ध हो जाएगी। इस प्रकार तरह-तरह के खयालत मानस को उद्वेलित करने लगे और उन सबने मानव की बर्बर भावना को हेय कहने को बाध्य कर दिया। सूरज कभी का ढल गया। नभ मंडल में लाली की चमक थी जो संध्या का आह्वान कर चुकी थी। इसी समय मांझी ने हमारी सुप्त प्रभा को जगाया तब हमें विदित हो गया कि गंगा ने सचमुच हमारे हृदय और मस्तिष्क पर जादू कर दिया है। संध्या वैसे ही प्रकृति प्रेमियों के लिए आकर्षण उपस्थित करती है लेकिन हरिद्वार में गंगा की गोद में संध्या का मूल्य और महत्व इससे कहीं ज्यादा था। यात्री तरह-तरह के कौतुक करते हैं और उनमें रस लेते हैं। गङ्गा का अभिनन्दन करने के लिए विशाल जन समुदाय पत्तों की नौका में पुष्प चयन करके घी का

दीपक जला कर प्रवहमान करता है। उस समय असंख्य दीप शिखाओं का झिलमिलाता प्रकाश जो प्रतिबिम्बित हो रहा था, एक विशेष प्रकार के आनन्द और उल्लास का सृजन कर देता था। इस प्रकार हमें यह विदित हुआ कि भारत को गंगा के रूप में जो महान् सांस्कृतिक थाती मिली हुई है वह सचमुच गौरवास्पद है।

अब हमारी यात्रा का दूसरा चरण आरम्भ होता है। इस चरण में हम साधना और सौन्दर्य की नगरी ऋषिकेश की ओर रवाना हुए। विभिन्न प्राकृतिक दृश्यावलियों का निरंतर अवलोकन करते करते हमारे नेत्र तृप्त नहीं हुए। वैसे इस नगर को अगर साधुओं की नगरी कह दी जाए तो असंगत नहीं होगा। यहाँ पर विशाल आश्रम अखाड़े एवं अनेक विश्राम स्थल नज़र आएँगे। गंगा को पार करने का एकमात्र पैदल मार्ग लक्ष्मण झूला है जिसके निकटवर्ती स्थान पर महान् तपस्वी लक्ष्मण ने ब्रह्म-हत्या के पाप का प्रायश्चित करने के लिए ११२ वर्ष तक कठोर साधना एवं तपस्यामय जीवन बिताया था। लक्ष्मण झूला ऋषिकेश से ३ मील दूर है। बताया जाता है कि किसी युग में यह रस्सियों से बना हुआ था जो अनेक खतरों से युक्त था।

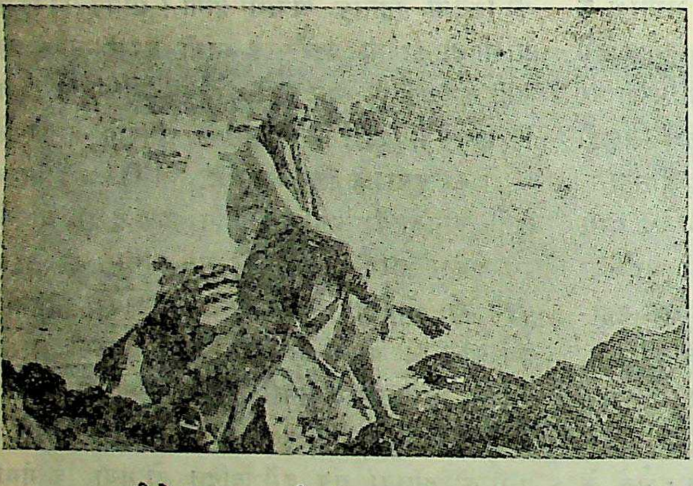

कर्मयोगी द्वारा धर्म की सत्य साधना का तत्व

स्वामी शिवानन्द जी की आनन्दकुटी को भी देखने का सौभाग्य मिला जो हिमालय का विश्व विख्यात साधना केन्द्र है। स्वामी जी का जीवन कठोर साधना एवं संयम का जीवन है। स्वर्गाश्रम के सामने सन् १९३२ में आपने गंगातट पर आनन्द कुटीर की स्थापना की थी। दिव्य जीवन मण्डल की शाखाएँ हमें संसार के बहुत से हिस्सों में मिलेगी। यहाँ कई सम्मेलन हो चुके हैं। इन सम्मेलनों का मुख्य उद्देश्य विश्व-शान्ति में योगदान, जन जागरण और विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार-प्रसार तथा सभी धर्मों की मौलिक एकता का युगानुरूप पुनर्मूल्यांकन था। 'हठयोग की साधना आज के युग के लिए उपयुक्त और सम्भव नहीं। केवल सेवा का ही महत्व रह गया है। जो लोग समझते हैं कर्मयोग से नहीं, वे भूल कर रहे हैं। कर्मयोग द्वारा ही आज धर्म की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।' (श्री शिवानन्द जी), हमेशा मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ चेहरा, तेज से चमकता हुआ मुख-मण्डल, गेरुवा-वस्त्रों से ढकी हुई वह सोने जैसी काया और विशाल ललाट प्रदेश, लम्बे-लम्बे हाथ और ठोस शरीर, ऐसा मैंने पाया उस हिमालय के शान्तिप्रिय कर्मयोगी को। हिमालय का यह कर्मयोगी आज संसार को भारतीय ऋषियों के चिन्तन-मनन का मूलतत्व बता रहा है और प्रेरणा दे रहा है कि कर्मयोग द्वारा ही धर्म की सत्य साधना हो सकती है। ऋषिकेश में गंगा के उस पार स्वर्गाश्रम और गीता मंदिर हैं। स्वर्गाश्रम में योगाभ्यासी भिक्षु लोग रहते है जिनका प्रायः सारा समय ध्यान, चिन्तन-मनन और भजन में ही बीतता है। कैसी सुहावनी जगह थी वह जिसने हमारे मन को मोह लिया। एक तरफ हमें पावन गंगा मैया के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर हिमालय का अद्भुत सौन्दर्य। इनके सम्मिश्रण से वहाँ का ऐसा वातावरण बन पड़ा है कि कुछ कहते नहीं बनता। यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य में अद्भुत आकर्षण शक्ति है जिसे देख कर मनुष्य के मन में संसार से विरक्ति सी महसूस होने लगती है।

गीता के श्लोक और तुलसीदास जी की रामायण की चौपाइयाँ गीता मंदिर की दिवारों पर अंकित है। महाभारत—भागवत प्रसंगों के बहुरंगे सुन्दर चित्र तथा साधु-सन्यासियों के चित्र भी दीवारों पर अंकित नज़र आएँगे। इसके बाद हमने गुरुड़-चट्टी देखी जहाँ गरुड़-गंगा का जल-प्रपात है। उससे थोड़ा आगे सेवाश्रम तथा सहस्त्रधारा भी देखने गए। सहस्त्रधारा के पानी में कुछ क्षार हैं जिनके सत

सम्पर्क से लकड़ी भी पत्थर हो जाती है। कुछ देर आनन्द करने के बाद हम गीता मंदिर के घाट से चलने वाली मोटर-बोट पर बैठ कर योगी जी की आनन्द कुटी तक पहुँच गए। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर, कोलाहल से मुक्त स्वच्छन्द वातावरण ने इन स्थानों को ऐसा बना दिया है कि यात्री लोग स्वर्गाश्रम की पावन यात्रा को स्वर्ग की यात्रा समझ बैठते हैं।

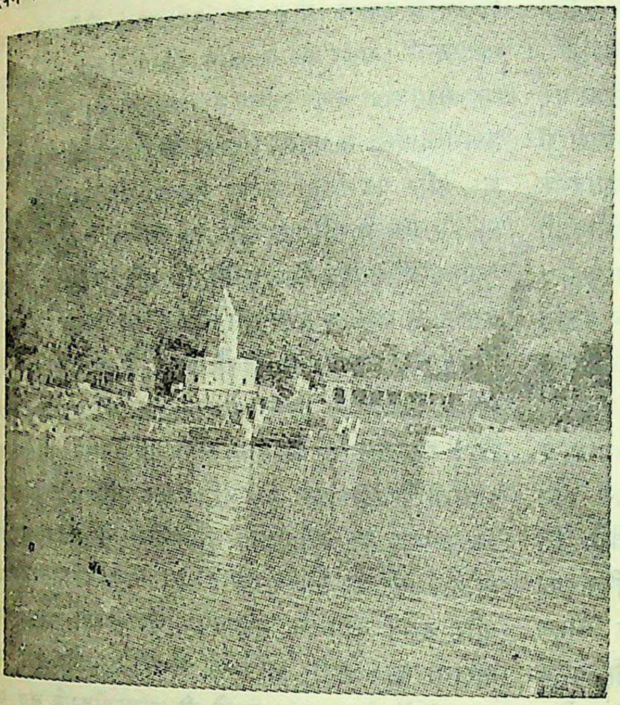

स्वर्गाश्रम की ओर

विशाल मनोहारी प्राकृतिक छटाओं और सौन्दर्य को देख कर हृदय में जो गुदगुदी और शान्ति होती है उसको केवल महसूस किया जा सकता है, वर्णमाला के समस्त व्यंजनों में वह शक्ति नहीं है कि उस शान्तिमय सुखी, समृद्ध निश्चित और मायावी झंझटों से दूर विराजने वाली चिर-शान्ति का सही सही आभास कराए। जी नहीं चाहता था कि इस अमर शान्ति को छोड़ कर बनावटी शान्तिमय वातावरण की ओर चले जहाँ खूरेंजी, अविश्वास और बेइमानी खुल कर कार्य करती है। जिसने अच्छे से अच्छे आत्मीय के प्रति चले आ रहे विश्वास को भी हिला दिया है और न जाने इस स्वार्थी दुनियाँ में जाने या अनजाने में कितने प्राणियों के साथ असद् व्यवहार करता है। सचमुच! इस यात्रा ने हमारी ज्ञान गठरी खोल दी, नेत्रों के सामने अज्ञान और अविश्वास का जो वातावरण फैला हुआ था वह हटने लगा और यह महसूस होने लगा कि जीवन का स्थायित्व सुदीर्घता एवं स्वस्थ विकास शान्ति एवं सादगीमय जीवन व्यतीत करने से ही है। निस्संदेह इस प्रकार की यात्रा से हमें एक नई राह, नई समझ और नवीन ज्ञान मिलता है—जीवन और जगत् की इस तंग संकरी पगडंडी पर चलने के लिए कितना सजग रहना पड़ता है। आज शान्ति-शान्ति की जो रट लगाई जाती है वह उन अशान्त दिलों की पुकार है जो अशान्ति के अभिशाप से कराह रहे हैं। सच्ची शान्ति संयम, स्वावलम्बन और उचित पथ के अनुसरण से मिलती है। अब तक मैंने जितने स्थानों की यात्रा की उन सब में मेरे हृदय पटल पर इस यात्रा का अत्यन्त मार्मिक प्रभाव पड़ा है।

साधना कुटीर, नयापुरा,
कोटा

—टीकमचन्द रांवका

पूजा पैर से हो सकती है, हाथ से हो सकती है और जिह्वा से हो सकती है। पूजा का तरीका कुछ भी हो, पूजा सच्ची होनी चाहिए।

—महात्मा गाँधी

नए हाथ

यह गाँव के लिए कम कुतूहल की बात नहीं थी कि गाँव का काहिल आदमी अपने गिरवी पड़े खेत छुड़वाने जा रहा है। यद्यपि सारा गाँव जानता था कि जब से ज्वालासिंह के बेटे जवान हुए हैं, उनके सशक्त हाथों ने पराई ज़मीन को भी ज़रखेज़ बना दिया है। अपने खेत गिरवी पड़े होने के कारण उन्होंने ठेके पर ज़मीन ले रखी थी, तथापि यह बात किसी के ख्याल में भी नहीं आ सकती थी कि मन्सूरपुर के सूदखोर शाह के चंगुल से उसके खेत छूट भी जाएँगे। गाँव का जो भी किसान एकबार उसके पंजे में फँसा कि फिर छूटा नहीं। ज्वालासिंह के सिर पर भी उसके कर्ज़े का बोझ इतना चढ़ गया था कि कई बरस पैसा आने की बाट देखते हुए उसे सब्र तथा धैर्य करना पड़ा था।

ज्वालासिंह का बड़ा बेटा तेजा, तहसील जाने के लिए सुबह से नम्बरदार के घर पर कई चक्कर काट आया था। नम्बरदार और गवाह के तैयार होते-होते सूरज सिर पर चढ़ आया था। जब वे आठ मील का रास्ता तय करके तहसील पहुँचे तो तहसीलदार साहब के लंच का समय हो गया था और उनकी पहली बैठक समाप्त हो गई थी। काम वालों की अत्यधिक भीड़ देख कर पहले ज्वालासिंह को कुछ घबराहट हुई किन्तु जल्दी ही उसे कोई बात सूझ आई, वह मुन्शी के पास जाकर बोला :

दुपहर के बाद तहसीलदार साहब कब तक बैठते हैं जनाब ?

काम कैसा है ?

ज़मीन की रजिस्ट्री है सरकार !

मुन्शी से यह उत्तर पाकर कि तहसीलदार साहब दुपहर के बाद रजिस्ट्री का काम नहीं करते, ज्वालासिंह ने चौकसी से आस-पास देखते हुए पांच का हरा नोट मुन्शी की जेब में खोंस दिया और उसके मनमें एक कुतूहल सा हुआ। वह बोला : "अब तो तहसीलदार साहब काम निपटा कर ही उठेंगे न मेरे सरकार ?"

तहसील से जल्दी ही निपट कर वह साधूसिंह नम्बरदार और मिलखासिंह गवाह को मिठाई की दुकान पर ले गया और कहा : "जी भर कर खाओ आज।"—तेजे को उनके पास बिठा कर वह स्वयं दारू पीने शहर की एक संकरी गली में घुस गया। लेकिन शराब के ठेके के पास जा कर उसके पैरों को किसी ख्याल ने मज़बूती से बाँध लिया—दारू पीकर अब वह चाण्डाल बना रहना नहीं चाहता था जैसे कि वह अपने दुर्दिनों से बदमस्त होकर धज्जो को पीटता आया था, और वह बिना शराब को छूए लौट आया।

जब वे गाँव को लौट रहे थे तो ज्वालासिंह के मस्तक में अतीत की डोलती सी स्मृतियाँ अपना आकार बनाने का प्रयत्न कर रही थीं।

...जवानी के दिनों की कोई ऐसी मधुर याद उसके दिमाग़ में टिक नहीं पा रही थी जिससे उसके लिए यह सोचना सम्भव होता कि उसने भी भरपूर जवानी के दिन देखे हैं। हाँ, उसे इतना याद हो आया कि उसका ब्याह इतनी धूम धाम से हुआ था कि और किसी का क्या होगा। पांच दिन बरात रही थी और उसके बाप ने मुकुन्दपुर की कँजड़ी का मुजरा कराया था। शरीर का पहले से ही कमज़ोर होने पर जवानी में ही उस पर बुढ़ापे की छाया मँडराने लग गई थी। फिर अकेले हाथ; काम ने उसे और अधिक निढाल बना दिया था। धज्जो जैसी सुघड़ औरत उसे न मिली होती तो वह अब तक मिट्टी में मिल गया होता।

धजों ही थी कि जो बैलों को हल के आगे जोत कर खेत में छोड़ आती और वह उन्हें कुछ देर हाँकता लेकिन फिर जल्दी हाँफ कर हुक्की गुड़गड़ाने खेत की मेंड़ पर बैठ जाता और तबीयत आती तो बैलों को हल के आगे जुते हुए छोड़ कर चौपाल में आकर गप्पें हाँकने लग जाता। बैल भूखे प्यासे खेत में खड़े रम्भाते रहते और जब कोई पड़ोसी किसान धजो को जाकर खबर दे देता तो वह बैलों को खोल कर ओसारे में ला बाँधती। फिर वह उसे ढूँढ़ती हुई चौपाल ही में पहुँच जाती और सब के सामने उसे जलीभुनी सुनाती। वह अपराधी की भाँति सिर नवाए घर को चल पड़ता। कभी कोई उसे दारू का घूँट पिला देता तो घर आकर

१६५७

धजो को पीटने लगता। वह उससे कहीं तगड़ी होती हुई भी पिट जाती और सिमट कर दीवार के सहारे लग कर खड़ी सुबकने लगती।

ब्याह के पांच बरस बाद उसके लड़का पैदा हुआ। फिर अगले बरसों में वह और दो लड़कों की माँ बन गई। अब उसके लिए विपदाएँ इतनी दुःख-देय न रहीं और वह भी सब से सब कुछ झेलती चली गई। घर में बच्चों के आ जाने से बाहर खेतों का काम और ढीला पड़ गया। हर बरस उसके बैल भूख, बीमारी से मर जाते थे और लोग कहते थे—ज्वालासिंह के ओसारे में बैल बाँधने की बजाय बूचड़खाना में दे देना क्या बुरा है।

मंसूरपुर के ऊँचे पीर की कब्र पर पहुँचते झुटपुटा सा हो गया था। ज्वालासिंह ने खड़ा होकर अपने सिर को झटका दिया और पीछे की ओर मुड़ कर देखा, तेजा और उसके साथी धुँधले से दिखाई पड़ रहे थे। वह कब्र के ऊँचे चबूतरे पर खड़ा हो गया। उसकी गिद्ध दृष्टि सामने मंसूरपुर के शाह की सबसे ऊँची हवेली पर जमी हुई थी। तब ही पता चला जबकि उसके मुँह से ताबड़-तोब गालियों की बौछार पड़ने लगी—हमारे गाँव को लूट कर कंगाल बनाने वाले पाजी... सूदखोर!

बापू—इससे पहले कि लोगों के वहाँ पर जमा होने की नौबत आती, एक तीखी आवाज़ उसके कानों में गूँजी। उसने मुड़ कर देखा, तेजा उसके पीछे खड़ा था। वह चुप-चाप चबूतरे से नीचे उतर आया और अपने गाँव की ओर लपकता हुआ फिर गत जीवन की स्मृतियों में बह गया।

...उसके लम्बे जीवन में बहुत कम ऐसे अवसर आए थे जब कि उसने धजो को जी भर कर भरपूर प्यार किया हो। बस उसे तो दो कौर रोटी की दुश्चिंताओं में ऐसा ग्रस्त हो जाना पड़ा था कि प्यार की आकांक्षाएँ हृदय के भीतर दब कर रह गई थीं। कई ऐसे अवसरों पर जब कि पीड़ित मन हर्षोल्लास के क्षणों में राहत चाहता है, उसकी आकांक्षाएँ सुलगने लगती थीं लेकिन कभी ऐसा लगने लगता था कि उसका हृदय जैसे भावनाओं से एकदम सूना हो चुका हो।

लेकिन जब तेजा और उसके छोटे भाई आँगन में खेलते कूदते अपने पैरों पर चलने फिरने लगे थे तो उसकी सोई हुई भावनाएँ फिर से जाग्रत हो उठी थीं। कभी कभी खुशी के क्षणों में उसने धजो से हँसी-मज़ाक में ठठोलियाँ भी की थीं लेकिन जवानी के से प्यार की ताज़गी उन्होंने कभी महसूस नहीं की। दुश्चिंताओं के घेरे धुंध की तरह उन्हें घेरे रहे। फिर जब ठेके पर ली ज़मीन पर काम करने वाले हाथ उत्तरोत्तर बढ़ते गए, यह धुँध फटने लगी थी। उसका आत्म-सम्मान फिर से जीवित हो उठा था। पहले अपने को अत्यन्त हीन तथा कमज़ोर समझते हुए उसके लिए दो आदमियों में खड़े होकर बात करना भी दुष्कर था। चौपाल के पास से वह सिर झुकाए आगे बढ़ जाता और अकेला खेत की मेंड़ पर अवसन्न बन बैठा हुक्की गुड़गुड़ाता रहता था। लोग उसके ओसारे में एक ही भूखा प्यासा बैल बाँधा देखते आए थे, कभी उन्होंने बैलों की जोड़ी बँधी नहीं देखी थी। अपने कमज़ोर हाथों पर कभी वह इतना खीझ उठता कि यह कमज़ोर हाथ झड़ क्यों नहीं जाते, उसका जीवन इन्हीं हाथों ने तो दूभर बना डाला है। अपने खेत शाह के पंजे में फँसे देख कर उसे और अधिक रंज होता था। कितना बड़ा पेट था उस पापी शाह का; जो गाँव के सारे ही खेतों को निगलने पर तुला हुआ था।

आज जब कि वह अपने खेत शाह के चंगुल से छुड़ा कर गर्व से छाती फुलाये, एक विजयी की भाँति लौट रहा हो स्वाभाविक था कि शाह की ऊँची हवेली देखते ही उत्तेजित हो उठता। किसी को चुनौती देने का उसके जीवन में यह पहला मौका था, यद्यपि तेजे ने उसे रोक दिया था फिर भी उसे सन्तोष था कि उसने शाह को ललकार तो दी है। वह पहले-सा कमज़ोर, काहिल नहीं कहलाना चाहता था। उसमें नये जीवन का अंकुर फूट पड़ा था। अब हल की मूठ को वह मज़बूती से पकड़ सकता था।

सामने शीशम के वृक्षों पर नज़र पड़ते ही उसका ध्यान टूटा और उसे अपने खेत नज़र आने लगे। खेत जो बन्धन से छूट गए थे, जिन पर वह हल चला सकता, था। कितने बरस वह उससे पृथक रहा था। उसने खेत में दाखिल होते ही उसकी मिट्टी को माथे पर लगा लिया। और फिर खेत के कोने पर बनी समाधि के आगे नत मस्तक हो गया। कुछ क्षण वह ऐसे ही खड़ा रहा। तेजा और उसके साथी नहर के पुल पर किसी से बातों

में लग गये थे और वह गाँव की ओर लपका। धुली-सी चाँदनी में चौपाल में बैठे लोग गप्पे हाँक रहे थे। उसका मन हुआ कि वह चौपाल में कुछ क्षण रुक कर अपनी विजय की कहानी कहे, किन्तु वह घर पहुँच कर धजों से खेतों के बन्धन मुक्त हो जाने की बात कहने के लिए उतावला था। घर साँकल खोलते ही उसने पुकारा—धजों—और मीठे चावलों की गंध उसके नाक को चढ़ गई। धजों ने आवाज़ सुनी तो गद्‌गद् हो उठी। ऐसी मीठी बोली में आज तक उसके पति ने कभी नहीं पुकारा था। वह चौके से उठ कर द्वार की ओर लपकी। को भावावेश में देख कर पहले कुछ ठिठकी किन्तु ही सम्भल गई। वह बोला :

"धजो, अब के आषाढ़ की फसल घर आते हमारे आँगन में बाजे बजेंगे, तुम्हारी बहू अपना लेकर इस घर में आएगी।"

दीये की धीमी रौशनी में लगा जैसे कि बात से धजों के झुर्रियों भरे चेहरे पर जवानी नया प्रकाश प्रदीप्त हो उठा हो।

ग्रामोत्थान विद्यापीठ,
सँगरिया (राजस्थान)

—प्रीतमसिंह

फूलों का नगर

फ़्लोरेन्स, यूरोप के कुछ सुन्दरतम नगरों में है। यह फूलों का नगर है और यूरोप में जितने सुन्दर और विविध प्रकार के फूल यहाँ मिलते हैं और कहीं नहीं मिलते। यूरोप के कला-क्षेत्र में पुनर्जागरण का श्रीगणेश फ़्लोरेन्स से ही हुआ। यूरोप के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों और मूर्तिकारों का अर्थ, इटली के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार और मूर्तिकार हैं और इटली के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों और मूर्तिकारों का मतलब, फ़्लोरेन्स के मूर्तिकार और चित्रकार हैं।

फ़्लोरेन्स नगर का निर्माण कब हुआ, यह ज्ञात नहीं है। प्राचीन रोमनों ने जब इस पर अधिकार किया, तब से लोग मानने लगे कि उन्होंने ही इसका निर्माण किया। यद्यपि इसका निर्माण ईसा मसीह के जन्म के भी कई सौ वर्ष पहले हो चुका था।

फ़्लोरेन्स शहर पर पहले बर्बर जातियों के इतने आक्रमण हुए कि यह कई बार बर्बाद हुआ। सन् १४१३ में जब इस पर पोप और सम्राट के समर्थकों का विभाजक आक्रमण हुआ तो इसकी स्थिति अत्यन्त ही दयनीय हो गई। द्वैध शासन की प्रतिशोधात्मक चढ़ाइयों के कारण, फ़्लोरेन्स पर बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ आई और यह क्रम सन् १७३७ में समाप्त हुआ। सन् १८६६ से सन् १८७० तक फ़्लोरेन्स इटली की राजधानी रहा। सन् १८७० में इटली की सरकार ने अपनी राजधानी रोम बना लिया किन्तु फिर भी सांस्कृतिक और कला की दृष्टि से फ़्लोरेन्स इटली की अब भी राजधानी है।

—'आजकल' के सौजन्य से

भारतीय रेलवे की वित्तीय-अवस्था

भारतीय रेलवे के सामने एक प्रश्न है। यह विकट प्रश्न यक्ष प्रश्न के समान युद्ध काल के समय उपस्थित है। प्रश्न यह है, क्या उसकी वहनीय एवं ढुलाई शक्ति एवं सामर्थ्य में इतनी अधिक वृद्धि अगले चार सालों में हो सकेगी, जो कि द्वितीय पंचवर्षीय-नियोजन के अन्तर्गत औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन के निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने में सहायक हो सके और लोहा व इस्पात के इस अवधि में स्थापित होने वाले तीनों कारखानों की आवश्यकताओं को समुचित रूप से पूरा कर सके? औद्योगीकरण की प्रक्रिया को प्रबल एवं वेगवान् बनाने और कोयले की रफ़नी में इतना अधिक वेग लाने में क्या रेलवे विभाग समर्थ होगा, जिससे कोई उद्योग कोयले की कमी और इसके अभाव में अपना उत्पादन कार्य स्थगित करने को बाध्य न हो? रेलवे पर प्रकाशित श्वेत पत्र ने इन प्रश्नों को उठाया है। दिल्ली में पिछले तीन-चार मास पत्थर के कोयले का अकाल रहा और आज भी इसकी छाया शहर में विद्यमान है। परिवहन रेलवे बोर्ड के एक सदस्य श्री के. बी. माथुर ने यह प्रश्न छेड़ा है और बताया है कि द्वितीय पंचवर्षीय-नियोजन के निर्माताओं ने माल के यातायात में २ प्रतिशत की वृद्धि होने की संम्भावना बताई थी लेकिन दूसरे पंचवर्षीय नियोजन के पहले ही वर्ष में माल के यातायात में १० प्रतिशत वृद्धि हुई। इस अवस्था में रेलवे की बढ़ती जिम्मेदारी की सहज में कल्पना की जा सकती है। उसको खाद्य पदार्थों और उपभोक्ता माल का उत्तरोत्तर अधिकाधिक मात्रा में परिवहन करना पड़ेगा। इन वस्तुओं को उत्पादन-क्षेत्र से उपभोक्ता क्षेत्र में क्षिप्र गति से पहुँचाना महंगाई और मुद्रास्फीति के विरुद्ध लड़ाई लड़ने का एक अमोघ अस्त्र है। अतः प्रश्न है क्या रेलवे की शक्ति और सामर्थ्य में यह है?

भारतीय रेलवे साल भर में लगभग ३६ लाख यात्रियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाती है। यह दिल्ली की जनसंख्या से लगभग दुगुनी है। लखनऊ शहर की जनसंख्या से ७ गुनी और अमृतसर नगर की आबादी से ११ गुना अधिक है। प्रतिदिन लगभग ५००० मुसाफ़िरी गाड़ियाँ ६००० रेलवे स्टेशनों से गुज़रती हैं और २४ घण्टों में माल और मुसाफ़िरी गाड़ियाँ ५४२००० मील का चक्कर लगाती हैं। भारतीय रेलवे में १० लाख आदमी काम करते हैं। इसका अर्थ है कि प्रति ७२ व्यक्तियों में से एक भारतीय रेलवे में काम करता है, या रेलवे में काम करनेवाले के परिवार का सदस्य है। हमारे जन-जन के जीवन में रेलवे का क्या महत्व है इसका अनुमान इससे किया जा सकता है। रेलवे राष्ट्र की सबसे बड़ी श्री सम्पद है और इसमें राष्ट्र का ११ अरब ६० करोड़ २० लाख रु० लगा हुआ है। इससे इसका महत्व प्रकट है।

१९५५-५६ में रेलवे ने ११५० लाल टन माल ढोया था। १९५६-५७ में सम्भावना है कि यह १२६० लाख टन माल ढोएगी। इसका अर्थ है कि नियोजन-काल में रेलवे से जितनी आशा की गई थी, उसका एक चौथाई उसने पहले ही साल में पूरा कर दिया है। इसी प्रकार साल में १२६ नई मुसाफ़िरी गाड़ियाँ चलाई गईं और ६१ रेलगाड़ियों की यात्रा का विस्तार किया गया। लेकिन रेलवे की प्रगति रुक गई है। लोहा व इस्पात, जिस क़िस्म का और जिस मात्रा में चाहिए वह उसको उपलब्ध नहीं हो रहा है। इसके कारण अनेक पुलों का बनाना रुक गया है। रेल की पटरियाँ बिछने से रुक गई हैं। इस्पात की पूर्ति मांग की आधी ही हुई। आमदनी के विचार से रेलवे बराबर प्रगति कर रही है। १९५०-५१ में रेलवे को यातायात से आय २४७-करोड़ रु० थी अब यह बढ़ कर ३५० करोड़ रु० हो गई है। [भारतीय रेलवे के पाँच वर्षों की आय का ब्यौरा ४४ वें पृष्ठ पर दिया गया है।]

रेलवे का व्यय पिछले चार सालों में २३१ करोड़ रु० से बढ़ कर २८६ करोड़ रु० हो गया है। किन्तु इस कारण से उसकी विशुद्ध आय में कमी नहीं आई है प्रत्युत वृद्धि ही हुई है। १९५३-५४ में उसकी विशुद्ध आय ४३·५४ करोड़ रु० थी और १९५७-५८ के बजट में इसका अनुमान ७६·३२ करोड़ रु० किया (पृ. सं. ४५)

रेलवे की आमदनी (हज़ार रुपयों में)

यातायात १ मुसाफ़िरी से	वास्तविक १९५३–५४	वास्तविक १९५४–५५	वास्तविक १९५५–५६	बजट १९५६–५७	अनुवीक्षित १९५६–५७	बजट १९५७–५८
(क) उपरले दर्जे	११६९८०	११३३८१	१२८५१५	१२००००	१३००००	१३.७५.००
(ख) तीसरा दर्जा	८८२९९६	९१२७७२	९४८५७६	९९४०००	१०२५०००	१०५.२५.००
(ग) अन्य सवारियाँ	१८०१०७	१९२४२८	२०८६५८	२१८०००	२१४०००	२४०.००
२ माल गाड़ियों से	१७९१८१६	१५८६८७४	१८०२८३४	२०५५०००	२०६५०००	२१८००००
३ विविध	५१७४७	.६०१.१४	६८१३३	.६४०००	.७३५००	८.१०.००
योग	२७०३६४६	.२८६५५९९	.३१५६७१९	३४५१०००	३५०७५.००	३६९.१०.००
निलम्बित	३९२८१	.२२०७	.६१९०	—१०.००	—७५.००	—६०.००
सर्व योग	२७४२९२७	२८६७७७६	३१६२९०६	३४५.००००	३५०००००	३६८.५०.००

इसके साथ रेलवे का ख़र्च बढ़ा है, अतः इसका ख़र्च भी बढ़ा है। काम के साथ-साथ रेलवे का ख़र्च कितना बढ़ा है, यह नीचे देखिए :

रेलवे का व्यय (हज़ार रुपयों में)

संचालन व्यय	वास्तविक १९५३–५४	वास्तविक १९५४–५५	वास्तविक १९५५–५६	बजट १९५५–५६	अनुवीक्षित १९५६–५७	बजट १९५७–५८
(क) प्रशासन	२७.८७.६६	२९.५४.६८	३१.५२.३१	३४.५०.८६	३४.५४.९२	३०.६७.१२
(ख) मरम्मत व सार सम्भाल	६८.०८.५६	७२.४३.७२	७८.३७.१९	८२.७२.०८	८४.२६.०७	२०.१९.०६
(ग) कर्म कर स्टाफ़	४३.३९.८१	४५.७२.७४	४९.७३.३९	५२.८७.४०	५२.६५.८८	५२.००.८६
(घ) कार्य कर (ईंधन)	२३.९८.१४	२३.२५.५०	२३.५८.१६	२४.६५.५७	२७.५८.०५	४३.६६.७८
(ङ) अन्य कार्य	१३.६५.८७	११.२५.६८	१०.१८.५४	९३०.६२	७.९२.४३	१३.०७.५७
(च) विविध व्यय	१८.६४.३३	१७.८३.०८	१४.९७.०१	१४.६६.५८	१७.०१.७५	१७.४०.६४
(छ) श्रम कल्याण	४० .३.३०	४ .२५.८९	५ .०२.६१	५ .६२.७८	६ .००.५३	६ .९१.०२
योग	१९.९९.७६८	२०४.३१.८९	२१३.६९.२६	२२४.६५.८९	२२९.९९.६३	२१४.२२.८८
निलम्बित	१४.९५.६	१.५५.८०	—७४.१४	—५५.७५	—९६.५९	—३७.४३
साधारण कार्य का सर्वयोग	२०१.४७.२१	२०५.७७.०९	२१२.९५.०८	२२४.१०-१५	२२९.०३.०४	३४.३८५.४६
मूल्य ह्रास आरक्षित निधि में दिया गया	३०.००.००	३०.००.००	४५.००.००	४५.००.००	४५.००.००	४५.००.००
लाइनों का भुगतान	२८.०३	२१.३२	२६.४९	८०.२४	३१.८६	३१.०६
सर्वयोग-संचालन व्यय	२३१.७५.२४	२३६-०८.४१	२५८.२१:५७	२६९.३०-३९	२७४.३४.३०	२८९.१६.४२
विशुद्ध यातायात आय	४२.५४.०३	५०.६९.३५	५८.०७.४९	७५.६९.६१	७५.६५.७०	७९.३३.४८

१९५७

गया है। यह लगभग दुगने के समान है। रेलवे की आय बढ़ी है, और खर्च की तुलना में अधिक बढ़ी है। किन्तु वह इस पर भी प्रथम पंचवर्षीय नियोजन के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए ४०० करोड़ रु. में अपना हिस्सा पूरा-पूरा नहीं दे सका। यद्यपि रेलवे ने नियोजन अवधि में ४२३.७६ करोड़ रु. व्यय किया। इसका ब्यौरा इस प्रकार है :

(करोड़ रुपयों में)

व्यय की मुख्य मद	निर्धारित लक्ष्य	वास्तविक व्यय
वाहक रोलिंग) माल और मशीनरी	२०७९९	२३२.०८
पटरी और पुल	७०.४८	६८.०३
अन्य इंजीनीयरिंग काम (चितरंजन लोकोमोटिव फैक्टरी कोच फैक्टरी इमारतें कोयले की खानें, विजाग बन्दरगाह आदि)	६९.९९	६८.१०
नई लाइनें, उखाड़ी लाइनों को पुनः बिछाना विद्युतीकरण	३४.१८	३३.३५
यात्रियों की सुख सुविधा	१५.००	१३.३४
विविध	२.४०	१.०७
	४००.००	४२३.७३

नियोजन की अवधि के भीतर १.५८६ इंजिन ६१.२५४ माल के डब्बे और ४७५८ सवारी के डब्बे रेलवे को मिले। प्रथम नियोजन काल के अन्त में रेलवे के पास वाहक (रोलिंग) माल का स्टाक इस प्रकार था :

	नियोजन के प्रारम्भ में	नियोजन के अन्त में
रेलवे इंजन	८.२०९	९.१७२
माल के डब्बे	१९९.०९४	१३५.१९८
सवारी के डब्बे	१९.२२५	२३.१५५.

यह होने पर भी रेलवे के पास पुराने जीर्ण-शीर्ण आयु पूरी किए हुए वाहक (रोलिंग) माल का स्टाक बना हुआ है और उसमें कमी होने की अपेक्षा कुछ वृद्धि ही हुई है, यथा :

(प्रतिशत में)

ब्राड गेज	नियोजन से पूर्व	नियोजन की समाप्ति पर
रेलवे एंजिन	२३	६२.५
माल डिब्बे	१३.३	१३.५
सवारी गाड़ी	२९.५	२५
मीटर गेज		
रेलवे एंजिन	३१.१	२६
माल डिब्बे	२९.४	१७.८
सवारी गाड़ी	४५	२६.४

मीटर गेज की स्थिति ब्राड गेज से जरूर अच्छी है। किन्तु स्थिति १९५० में जो थी, वही आज भी है। इस अवस्था में स्वभावतः प्रश्न उठता है, क्या रेलवे भावी उत्तरदायित्व को वहन करने योग्य क्षमता अगले चार सालों में प्राप्त कर सकेगी? विदेशी विनिमय की दुर्बलता अभी से अनुभव की जाने लगी है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से सहायता माँगी गई है। बैंक एतद् विषयक निर्णय करने में देर नहीं करनी चाहिए। क्योंकि रेलवे की योजना के पूरी होने पर ही भारत का औद्योगीकरण बहुत कुछ निर्भर है। रक्त-प्रवाह की गति मन्द या बन्द हो जाने से शरीर की जो अवस्था होती है, वही अवस्था राष्ट्र की होती है।

रेल मार्गों में उत्पन्न कंठावरोध दूर करने के लिए रेलवे ने बहुत यत्न किया है किन्तु इसका अभी अन्त नहीं हुआ है। पाँच सालों में इसके लिए क्या प्रयत्न गया वह नीचे देखिए :

	ब्राड गेज १९५०-५१	मीटर गेज १९५०-५१	ब्राड गेज १९५५-५६	मीटर गेट १९५५-५६
माल टन—लाख टनों में	७०७.०	१८६.८	८७०	२५०
माल डब्बों मीलों प्रति माल डिब्बा दिन	३८.७	३१.९	४६.३	२८.५
एंजिन मीलों प्रति एंजिन दिन (इस्तमाल में एंजिन)	१०७	१०४	१०४	१०३

विशुद्ध टन मील प्रति माल दिन	४३५	१८६	५४१	२०३
मरम्मत के एंजिन प्रतिशत	१८.९५	१७.७४	१६.८	१५.५
मालगाड़ी का औसत भार				
माल डिब्बों की संख्या (मेन लाइन)	४७	३६	४९	४१
विशुद्ध भार टनों में	४७९	१८२	५८८	२४२
ट्रेन मील यात्रा प्रदि दिन	१७.०	१०.५	१८.७	११.७

इस कण्ठावरोध को दूर करने के लिए १९५७ तथा ५८ तक ६८.६९ करोड़ रु. का वाहक रोलिंग माल का स्टाक मंगाया है। क्या मिला और क्या मंगाया इसका विवरण इस प्रकार है :

(लाख रुपयों में)

	प्रोग्राम	शेष नई उपलब्धि
रेलवे एंजिन	१८.८६	१.८०
बायलर	७८	१
सवारी गाड़ी के डिब्बे	२१.४५	५.२६
माल डिब्बे	२६.७७	१४.६८
फेरीज	८०	८
योग	६८.६९	२१.८१

रेलवे का कुल प्रोग्राम ९०.५० करोड़ रु० के था। किन्तु उसको मिला है, अभी ६८.६९ करोड़ रु० का ही। रेलवे अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए नियोजन अवधि में २२५८ रेलवे इंजन, ११,३६५ सवारी गाड़ी के डिब्बे और १०७,२५७ माल डिब्बे प्राप्त करने का उद्योग कर रहा है। इसमें से १९५६-५७ में उसने ५५७ इंजन, १८३१ सवारी गाड़ी के डिब्बे और २७,१८५ माल के डिब्बे मंगाए और १९५०-५२ में वह ५११ रेलवे इंजन २,३४६ सवारी गाड़ी के डिब्बे और १७,७२९ माल डिब्बे मंगा रहा है। मंगाए गए रेलवे इंजनों में २००० अश्व शक्ति १०० डिजल इंजन भी है।

वाहक स्टाक का परिमाण बढ़ाने के विचार से अमृतसर का कारखाना रेलवे ने ले लिया है, चारबाग़ (लखनऊ) हुब्ली, इज्जतनगर, गोरखपुर, झांसी, लिलुआ, जमशेदपुर, अजमेर और खड़गपुर के रेलवे वर्क-शापों का विस्तार किया जा रहा है, और इनको अद्यतन बनाया जा रहा है।

रेलवे के विद्युतीकरण का कार्य यद्यपि १९२५ में आरम्भ हुआ था, किन्तु अभी तक यह २५० मील ही तक हुआ है। नियोजन काल में .८७ करोड़ रु० की लागत से १००० मील से अधिक का विद्युतीकरण करने का विचार है। कलकत्ता के उपनगरों में यह कार्य आरम्भ हो चुका है, और अब यह कलकत्ता-वर्दवान असनसोल तक बढ़ाया जा रहा है। इसी प्रकार इगतपुरी भुसावल अंचल को और ताम्बरम, विलुपुरम खण्ड का विद्युतीकरण किया जा रहा है। विद्युतीकरण की प्रक्रिया को गमोह, मुगलसराय, असनसोल राजदवा मावन, वाराजमदा तक बढ़ाया जाएगा। दामोदर घाटी परिकल्पना के फलस्वरूप बिजली का जहाँ इस प्रकार उपयोग होगा, वहाँ कोयले की भी विद्युतीकरण से बचन होगी।

रेलवे की प्रगति उसकी आरक्षित निधियों पर निर्भर है। इन विधियों की क्या अवस्था है ?

(लाख रु० में)

	मूल्य ह्रास आरक्षित निधि	राजस्व आरक्षित निधि	विकास निधि
१९५०-५१	१.२३.६५	१३.५८	१९.५५
१९५१-५२	१.२२.०२	३२.७२	२२.५८
१९५२-५३	१.१६.३६	३६.०५	२७.१५
१९५३-५४	१.१२.७९	३७.३८	२२.६३
१९५४-५५	१.००.६९	३८.३६	१७.५५
१९५५-५६	१.०३.४७	४६.८९	१२.९७
१९५६-५७ (अनुवीक्षित अ.)	१.०३.०२	४८.३५	२०.९८
१९५७-५८ (बजट)	१.०२.५०	५९.६६	१०.५६

१९५७.

इन विधियों को देखने से ज्ञात होगा कि रेलवे को जो कार्य नियोजन काल में सौंपा गया है, उसको पूरा करने और उचित रूप में सम्पादित करने के योग्य पर्याप्त साधन उसके पास नहीं है। अतः सुझाया गया है कि रेलवे केन्द्रीय राजस्व को जो प्रति वर्ष अंशदान देता है, उसको कुछ सालों के वास्ते न लिया जाए। प्रथम नियोजन काल में रेलवे ने अपने पास से २८५ करोड़ रु. लगाया और शेष १४० करोड़ रु. केन्द्रीय सरकार भविष्य में भी अपने पास से देगी। किन्तु यदि वह रेलवे से अंशदान न ले तो शायद उसको अपने पास से देने की जरूरत न पड़े। रेलवे अपनी आय का केन्द्रीय राजस्व को निम्न मात्रा में लाभांश देता है :

	वास्तविक	अनुवीक्षित अनुमान	बजट
	१९५५-५६	१९५६–५७	१९५७–५८
केन्द्रीय राजस्व को दिया गया लाभांश	३६·१२	३७·६९	४३·७९

यदि यह लाभांश केन्द्रीय सरकार न ले तो कोई अन्तर न पड़ेगा और रेलवे को नियोजन काल में अपने प्रोग्राम को पूरा करने के लिए लगभग १७२ करोड़ रु. और अतिरिक्त मिल जाएगा।

खण्डवा हिंगोली लाइन (१९५९) मिलाईढासिल रझड़ा (१९५८) सरकेला-डुमारो (१९५८) कर्णपुर कोल क्षेत्र (१९६०) क्विलन-एरनाकुलम (१९५७) ये नई लाइनें हैं जो इस समय तैयार की जा रही है। फतहपुर-चुरु लाइन का उद्घाटन जनवरी १९५७ में किया गया। इन्दौर, देवास, उज्जैन को मिलाने वाली रेलवे लाइन १९५८ में और रानीवारा-मिलाई लाइन १९५८ में बन कर तैयार हो जाएगी। महानदी पर मुकामा गंगा पुल के समान पुल बनाने का विचार चल रहा है।

युद्ध काल में रेलवे लाइन उखाड़ कर अफ्रीका ले जाई गई थीं। उनकी जगह पुनःरेलवे लाइन बिछाने का कार्य अभी तक जारी है। गेह तक गोहाना (१९५८) अकबपुर टांडा। (१९५८) का कार्य चल रहा है। १९५७-५८ में रेलवे कार्यों, मैशीनरी और वाहक (रोलिंग) स्टाक के प्रोग्राम पर २१२ करोड़ रु. खर्च कर रहा है। इसका व्यौरा इस प्रकार है :

	रुपयों में
श्रम कल्याण	१·०३·३३·०००
श्रम कल्याण के के अतिरिक्त	१०·६९·०५०००
नई लाइनों का निर्माण	१९·८७·४२·०००
वृद्धि	९५·८२·७७०००
पुनर्स्थापन	५८·२०·४७·०००
विकास निधि	३२·३६·९६०००
योग...	२१८·००·००·०००

इसको देखने से रेलवे के कार्य के विस्तार का सहज में अनुमान हो सकता है। इस बढ़ते व्यय को पूरा करने के लिए रेलवे किराया और भाड़ा बढ़ाए तो विस्मय न मानना चाहिए।

—अवनीन्द्र कुमार, विद्यालंकार

इतिहास सदन, कनाट सर्कस
नई दिल्ली

स्वास्थ्य की विस्मयकारी दवा

सुना जाता है कि स्वास्थ्य की सबसे आधुनिकतम विस्मयकारी औषध का अविष्कार हो गया है परन्तु यह औषध इतनी अधिक शक्तिपूर्ण है कि उसका उपयोग वही व्यक्ति कर सकता है जो कि पूर्णतया स्वास्थ हो।

—अमेरिकन जर्नल

आत्म-निवेदन

पात्र :

गिरीश

शोभा

जिन्तेद्र

उमाकान्त

प्रोफेसर

पात्र परिचय

गिरीश—दैनिक पत्र में सहकारी सम्पादक। साहित्यिक रुचि। थोड़ा-बहुत सभी कुछ लिखते हैं। स्पष्ट और संयत व्यक्तित्व !

शोभा—गिरीश की पत्नी। सुशिक्षित गृहप्रवीण। सौजन्यपूर्ण एवं व्यवहार—कुशल।

जितेन्द्र—नए कहानी लेखक। बेकार। थोड़े-से व्यक्तिवादी।

उमाकान्त—यूंनवर्सिटी में एम. ए. के विद्यार्थी। भावुक कवि।

प्रोफ़ेसर—आंग्ल साहित्य के अध्यापक। साहित्यिकों में विशेष दिलचस्पी लेते हैं। 'पोज़' ज़्यादा करते हैं पर अन्दर से खोखले।

स्थान : [दिसम्बर। इतवार की एक शाम। एक मध्यम वर्गीय परिवार। ड्राइंग रूम का-सा आवरण लिए एक कमरा। सजावट की वस्तुएँ नहीं के बराबर। जो कुछ भी है उसे ही सुरुचिपूर्ण तथा सुव्यवस्थित ढङ्ग से लगाने की चेष्टा की गई है। चार पाँच कुर्सियाँ। बीच में एक मेज़। उस पर ऐश-ट्रे। वार्तालाप चल रहा है। बीच में कहकहे। कभी ख़ामोशी फैल जाती है, और वातावरण उदास, बोझल, खोखला-सा हो उठता है।]

पहला दृश्य

गिरीश : (धीमे, संयत स्वर में) हूँ तो हम अक्सर मिलते ही हैं। मैं नहीं समझता उस मिलने का कोई विशेष महत्व है। वह सब अनर्थक-सा लगता है। हाँ, आज की इस बैठक का एक विशेष प्रयोजन है, एक विशिष्ट अर्थ। (गम्भीर होते हुए) मुझे तो ख़ुशी होती है, जब मैं देखता हूँ कि हम विभिन्न विचार-धाराओं के होते हुए, अलग मान्यताओं में आस्था रखते हुए भी, परस्पर मिलते हैं, विचार-विमर्श करते हैं, सहानुभूति और उदारता से एक दूसरे के दृष्टिकोण को यथासम्भव समझने का प्रयास करते हैं। यह एक रचनात्मक पहलू है जिसे नज़र अन्दाज नहीं किया जा सकता। संभवतः इसके मूल में हम सब की वह सृजनात्मक प्रगति है जो......।

प्रोफ़ेसर : (भारी आवाज़ में) रचनात्मक होने के साथ-साथ यह एक बुनियादी तत्व भी है, गिरीश जी। सक्रांति, अविश्वास, विद्वेष और गतिरोध के इस युग में हमें ऐसे ही दृष्टिकोण की आवश्यकता है। मार्क्स और गांधी के दर्शन का समन्वय। यह एक अलग, लम्बा, सारगर्भित विषय है। मेरी निजी राय है और सब की सम्मति हो तो अगले कार्यक्रम में इस प्रश्न पर विस्तार से विचार-विनिमय किया जा सकता है। मेरी जो थीसीस है 'मानवीय सम्बन्धों की दार्शनिक पृष्ठभूमि' उसमें 'समन्वय—एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण' एक पूरा अध्याय ही है। वह भी पढ़ा जा सकता है। मैं कहाँ से कहाँ आ पहुँचा। I am so forgetful. हाँ तो अब क्या करना है !

गिरीश : इससे पहले कि कार्यवाही आगे बढ़े। वह किसी रूपरेखा में परिणत हो, यह ज़्यादा मुनासिब होगा कि हम किसी को सभापति निर्णीत करें। और एक निर्धारित ऐजेण्डा के अनुसार इस बैठक का संचालन हो। वैधानिकता की दृष्टि से यह अनिवार्य है। क्यों प्रोफ़ेसर, ठीक है न।

प्रोफ़ेसर : (बेपरवाही से) जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैंने कभी इस पर सोचा नहीं। ऐसा हो सकता है। नहीं भी हो सकता है। अनिवार्य तो कुछ भी नहीं होता।

जितेन्द्र : (तीखे, घृणा के लहजे में) ऐसा हो सकता है। नहीं भी हो सकता है। यह तो कोई बात नहीं हुई। एकदम लचर और खोखली। तीन-चार मित्रों में कोई सभापति बने ही—मैं नहीं समझता, इसकी कोई ज़रूरत है। तुम हर जगह वैधानिकता का सवाल

उठाने लगते हो, गिरीश ! यह उस गन्दी मनोवृत्ति का, उस गुलाम ज़हनियत का परिचायक है जिसके कारण हम कभी कोई निश्चय नहीं कर पाते, कोई ठोस क़दम नहीं उठा पाते। वही पुरानी, बुर्जुआ प्रणाली !

गिरीश : (समझाता है) इसमें संतुलन खोने की क्या बात है। तुम तो अकारण ही गरम हो जाते हैं। मैंने तो केवल कहा ही था। रही बुर्जुआ प्रणाली की बात। (व्यंग करता है) तुम जो प्रगतिशील हो, अराजकतावादी हो, वह भी तो फ़ैशन की वस्तु ही है न ! जो फ़ैशन के लिए होता है, वही बुर्जुआ भी।

जितेन्द्र : (तिलमिला कर) तुमने मुझे बुर्जुआ कहा। यह व्यक्तिगत आक्षेप है। मुझे बुर्जुआ कोई नहीं ठहरा सकता। मैं पूर्ण शक्ति के साथ, इस लांछन का विरोध करता हूँ। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता...।

उमाकान्त : (बीच में बोलते हुए) आप सभी ने अब तक जो कहा-सुना है, उसे जान कर मुझे दुःख हुआ। मुझे तो बड़ा संकोच मालूम होता है। मन में ग्लानि भी होती है, जब मैं देखता हूँ कि हम इन सब छोटी, तुच्छ, साधारण बातों पर वाद-विवाद करने लगते हैं, मर्यादा खो बैठते हैं। सौजन्य तो रहना ही चाहिए।

प्रोफ़ेसर : मैं आप से पूर्ण रूपेण सहमत हूँ। विचारों में एक रूपता हो ही, यह सम्भव नहीं। विरोध होना स्वाभाविक है। वैयक्तिक कमज़ोरियों पर प्रहार नहीं करना चाहिए : हम में से कोई बुर्जुआ नहीं है। गिरीश जी का आक्षेप किसी व्यक्ति पर नहीं था। (बुर्ज़ुगी दिखलाते हुए) फिर भी उससे जो कटुता अनायास ही फैल गई है उसे दूर करने के लिए यदि वह अपने शब्द वापस ले लें, तो उचित ही होगा।

गिरीश : (नम्र हो) मैंने जो भी कुछ कहा है, वह वैयक्तिक नहीं था। वह केवल एक संकेत मात्र था, उस टेण्डेन्सी की ओर जो अंशतः हम सब में है। बहरहाल मैं अपने शब्द वापस लिए लेता हूँ।

उमाकान्त : (भावुक हो) मैं आप लोगों के लिए नया-सा हूँ। मुझे बोलने का कोई अधिकार नहीं है। हाँ, यह मैं अन्तर्मन से कहता हूँ कि हममें सुनने की शक्ति होनी चाहिए। निष्ठा, सद्भाव, स्नेह के पारस्परिक सूत्र से ही कोई विचार, कोई आन्दोलन आगे बढ़ सकता है।

जितेन्द्र : (सिगरेट पीने लगता है) यह सच है कि बातचीत के दौरान में मुझे ध्यान नहीं रहता। मैं कुछ भी कुछ कह जाता हूँ। उस पर सोचना नहीं चाहिए। हम सब मित्र हैं और रहेंगे—यही मूल्यवान् और मार्के की बात है।

दूसरा दृश्य

[शोभा जी बाहर आती हैं। सबके हाथ जुड़ जाते हैं। चाय शुरू होती है। शिष्टाचार की, मौसम की हल्की-फुल्की बातचीत होती है।]

गिरीश : (प्यार की दृष्टि से पत्नी को देखता है) शुभे, यह मेरे नए मित्र उमाकान्त हैं। मैंने तुम्हें बताया भी था। बहुत सीधे और सज्जन। अभी पढ़ते हैं, एम. ए. में। कविताएँ लिखते हैं। तुम्हें सुनने का लोभ है, अब तुम्हीं कहो।

प्रोफ़ेसर : अरे भाई, शोभा जी को ही नहीं, हमें भी सुनना है। चाय, पकोड़ियाँ और कविता-पाठ। अच्छा तो है ! कुछ तो शुरू होना ही चाहिए। उमाकान्त भाव, आप किस प्रकार की कविताएँ लिखते हैं तुक की पर अतुकान्त। हिन्दी के कवियों से मेरा परिचय नहीं के बराबर है। मेरे लिखने-पढ़ने, सोचने का ढंग अंग्रेज़ी में रहा है। (पोज़ करता है) फिर भी उसे पसन्द करने की क्षमता मुझ में है।

जितेन्द्र : प्रोफ़ेसर, तुमने अंग्रेज़ी में कविता के कुछ प्रयोग किए थे, उनका क्या हुआ। (प्रोफ़ेसर अनसुनी कर देता है)

शोभा : (आग्रहपूर्ण, मद्धिम स्वर में) मेरा तो आप से पहला परिचय है। कविता सुनने का अवसर भी कभी नहीं मिला। कुछ सुनाइए ! आप से परिचय हुआ, यह मेरा सौभाग्य।

उमाकान्त : (शिष्टाचार बरतते हुए) देखिए, सौभाग्य तो मेरा भी है। आपसे कम नहीं। रही कविता सुनाने की बात। यह सुनना सुनाना मुझे कुछ अजीब सा ही लगता है। यूँ मुझे संकोच नहीं है। पर अभी रहने दीजिए। किसी दूसरे अवसर पर देखा जाएगा। आज तो मैं कुछ सुनने की ही अभिलाषा से आया था।

गिरीश : जितेन्द्र, तुम बहुत देर से खामोश हो। क्या कोई नई कहानी घूम रही है ? कहानीकार की ज़िन्दगी खुद एक कहानी होती है। आकाश में अकेले

सितारे की तरह कभी धूमिल, कभी दीप्तमान ।

प्रोफ़ेसर : क्या खूब कहा है तुमने । चाय के गहरे रंग जैसी पुरलुत्फ़ बात (हंसता है)

गिरीश : (कुछ ज़िम्मेदारी के साथ) जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ आज हमारे यहाँ एकत्रित होने का एक विशिष्ट प्रयोजन था । आप जानने के लिए उत्सुक होंगे ही । जितेन्द्र ने मुझ से कहा था कि वह अपने नये कहानी-संग्रह की भूमिका लिख रहे हैं, और उसे हम सब के बीच सुनाना भी चाहते हैं । यह उनका सर्वप्रथम कहानी-संग्रह है । इसके लेखक और प्रकाशक वह स्वयं होंगे । उनका आग्रह था कि पुस्तकाकार छपने से पूर्व हम उनका 'आत्मनिवेदन' सुनें । उस पर कुछ टीका-टिप्पणी, आलोचना इत्यादि हो । यह उन सहृदयता है जो उन्होंने हमें इतना सम्मान दिया, इस योग्य समझा । मैं अनुरोध करता हूँ कि वह प्रारंभ करें ।

प्रोफ़ेसर : (हल्कपन से) यह क्या मज़ाक है, जितेन्द्र । प्रस्तावना अपने आप तो कोई लिखता नहीं ' वह तो एक रस्म है, एक रिवाज़ । जिसे किसी भी प्रोफ़ेशनल भूमिका लेखक से लिखाया जा सकता है ! इतनी ज़हमत क्यों ?

गिरीश : इसमें मज़ाक की कौन-सी बात है । तुम्हें कभी तो 'सीरियस' होना चाहिए जहाँ नहीं बोलना चाहिए वहाँ भी बोलते हो ।

प्रोफ़ेसर : तुम कहते हो तो मैं 'सीरियस' हुए जाता हूँ ।

तीसरा दृश्य

[चाय समाप्त हो चुकी है । शोभा चुपचाप अकेले 'बोट' होती है और अन्दर चली जाती है । अर्थहीन गम्भीरता का वातावरण । जितेन्द्र पढ़ना प्रारम्भ करते हैं ।]

जितेन्द्र : जैसा कि मेरे मित्र गिरीश ने अभी बताया यह मेरा पहला संग्रह है । इनमें से कुछ कहानियाँ आप मुझ से सुन चुके है या पढ़ चुके होंगे । इनके विषय में मुझे विशेष कुछ नहीं कहना है । विशेष बनने में उस जैसा होने में, मेरा विश्वास नहीं । जैसा मैं हूँ उसी के अनुरूप यह कहानियाँ भी है । मुझे इनसे मोह है, क्योंकि यह मेरी हैं । इनकी कमज़ोरियाँ मानव-स्वभाव की कमज़ोरियाँ हैं । इनमें जो अंकित है, वह किसी वर्ग-विशेष का नहीं, सामाजिक भित्ति पर आधारित है । 'आत्म-निवेदन' क्यों लिखा गया इसका उत्तर बाद में दूँगा । अभी इसे सुन लीजिए ! हाँ, एक निवेदन कर दूँ । साहित्य पर, उसकी मान्यताओं पर उसके मापदण्डों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, लिखा जा सकता है, वह मुझे रुचिकर नहीं । न, यह किसी राजनीतिक पार्टी की ओर से प्रमाण-पत्र है । मैंने इसमें सीधे, समतल, सिलसिलेवार दृष्टिकोण रखते हैं । वही, जो मेरे लिए, मेरी ज़िन्दगी के लिए अनिवार्य है । (पढ़ता है)

प्रोफ़ेसर : हस्तक्षेप के लिए क्षमा करें । एक प्रश्न है । मैं यह जानना चाहूँगा कि आपने इसमें अपने को कहाँ तक 'इमपर्सनल' रक्खा है A great artist is always impersonal मेरा तात्पर्य है कि.. !

उमाकान्त : आप संभवतः यह कहना चाहते हैं कि साहित्यकार में जो व्यक्ति होता, जो अहम् होता, उसका दायरा केवल उस तक ही नहीं । उसके, व्यक्ति में समष्टि का समावेश होता है, एक व्यापकता । पार्थिव से अपार्थिव को, स्थूल से सूक्ष्म को पा लेने की तीव्र अनुभूति । एक महान् संवेदन शीलता, जो उसे अवैयक्तिक बना देती है ।

प्रोफ़ेसर : हाँ, बिल्कुल यही । मैं यही कहना चाहता था ।

गिरीश : (थोड़ा झुंझुला कर) मेरे विचार में, इधर-उधर की असगंत बातचीत से यह ज़्यादा अच्छा होगा कि जितेन्द्र पढ़ना शुरू करे और हम उसे सुनें । सुनने के बाद भी प्रश्न उठाये जा सकते है, शंकाएँ की जा सकती हैं ।

जितेन्द्र : (फ़ाइल में से कुछ कागज़ात निकालते है और पढते हैं) अपने विषय में कुछ कहना या लिखना कितना कठिन है, यह सभी जानते हैं । मेरे लिए तो और भी । उसमें अतिरंजना की संभावना तो रहती ही है, इसके साथ 'आत्म-विज्ञापन' की सहज लालसा भी । यह मैंने कहाँ तक ईमानदारी का निर्वाह किया है, यह 'सहृदय पाठकों पर । हाँ, मैं जो कुछ, जैसा कुछ हूँ, आपके सम्मुख हूँ । यह कहानियाँ जितनी मेरी हैं, उतनी आपकी भी । इसकी पृष्ठभूमि में अन्तःप्रेरणा तथा संवेदना में सबसे बड़ी बात 'मानवीयता' है । वही इसका मूल स्रोत है । अभिव्यक्ति से परे जो अर्थ-बोध होता है,

सूक्ष्म, कुछ अकथनीय जैसा उसे आंकने का एक प्रयास। साहित्य-जगत् में इनका क्या मूल्यांकन होगा। इसकी मुझे परवा नहीं। वह तो भविष्य की बात है। समकालीन आलोचक इसके साथ न्याय कर भी नहीं सकते क्योंकि वह वर्तमान की समस्याओं तक ही देख पाते है—दूर अनागत को नहीं। इस स्थल पर मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं कोई फ़िलासफ़र नहीं हूँ। न कोई वाद किसी पर थोपना चाहता हूँ। साहित्यिक विवाद में न पड़ कर मैं इतना ही कहूँगा कि आप मुझे जैसा मैं हूँ, उसी के अनुरूप समझें। मैंने अब तक जो कुछ भी ग्रहण किया है, वही इसमें है। वन्दनीय है या नहीं, इसका निर्णय आप पर। अन्त में मुझे विश्वास है आप इन्हें अपनाएगें। पाठक चाहें, तो पत्र-व्यवहार कर सकते है। सुझाव दें, तो और कृपा होगी। विनीत...।

प्रोफ़ेसर : (थोड़ी देर तक सोचता है) तुम क्या कहना चाहते हो, स्पष्ट नहीं हो सका। लगता है जैसे कहीं कुछ रह गया है। बात पूरी नहीं हो पाती। मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे ठीक से व्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ। मेरे मत में, इसमें अभी रद्दोबदल, कुछ 'फ़िनिश' की जरूरत है।

गिरीश : मेरा भी एक सुझाव है। क्या यह सम्भव नहीं कि शुरू में तुम वाल्टेयर की यह उक्ति दे दो "मेरा तुम से विरोध हो सकता है। फिर भी मत स्वातन्त्र्य का तुम्हारा जो अधिकार है उसकी रक्षा के लिए मैं प्राण-दान दे सकता हूँ।" ऐसा करने से वह अधिक प्रभावशाली और 'मेगनेटिक' हो जाएगा। वाल्टेयर न सही, टालस्टाय, गोर्की में से कुछ उद्धृत किया जा सकता है।

जितेन्द्र : मुझे उक्तियों में विश्वास नहीं है। पहाड़ पर चढ़ने के लिए ऊँट की पीठ का सहारा लेने के पक्ष में, मैं नहीं हूँ।

उमाकान्त : (संकोच प्रगट करते हुए) यह तो ठीक है। मुझे कम से कम ऐसा लगा जैसे आप कहते कहते रुक गए हों। यह मेरा भ्रम भी हो सकता है। चाहें तो कुछ बढ़ा सकते हैं। न भी बढ़ाएँ, तो हर्ज नहीं।

प्रोफ़ेसर : (उठता है) यह तो निश्चित है कि अभी इस पर वाद-विवाद हो। गिरीश, तुम अगली बैठक में, जब भी बुलाओ मेरा 'पेपर' रख सकते हो। मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। (चला जाता है, दरवाजे से मुड़ कर) अच्छा, तो आज्ञा दें। भई गिरीश, शोभा से हमारा नमस्कार कह देना (निकटता दिखाता है) उनके आतिथ्य के लिए अनेक धन्यवाद।

जितेन्द्र : (खीझ कर) इडियट। न जाने क्या समझता है। मानों हम कुछ जानते ही नहीं। हर जगह, हर किसी की आलोचना। लिखने के नाम पर दो अक्षर भी नहीं। (उमाकान्त से) तो, अब उठना ही चाहिए। कहानी की प्रतिलिपि देने रेडियो स्टेशन जाना था, वहाँ भी न जा सका। (माथे पर बिखरे रूखे बालों को संवारता है) आपकी कविता न सुनने का क्षोभ है। किसी दिन आइए। (गिरीश के कन्धे पर हाथ रखता है) अच्छा, दोस्त! भाभी से मेरा अभिनन्दन कह देना। गुड नाइट। (उमाकान्त के साथ चला जाता है)

गिरीश : (स्वतः) कितना थक गया हूँ। यह इतवार भी बीत गया। एक मनहूस शाम। मुझे भी कुछ लिखना चाहिए। क्या लिखूँ? कुछ ऐसा जो अभी तक न लिखा गया हो। आज, कल, कभी। न जाने कब? शायद कभी नहीं! (उदास दृष्टि से, सूनेपन में, कड़ियों की ओर देखने लगता है)

शोभा : (गिरीश के समीप आ बैठ जाती है) बैठे बैठे क्या सोचा करते हो। दिन में सोए भी नहीं। कल से फिर ड्यूटी। एक तो दिन मिलता है छुट्टी का, वह भी यूँ ही गुज़र गया। सिनेमा देखने का प्रोग्राम था। समझ में नहीं आता क्या होगा? (गिरीश शोभा को गोद में बिठा लेता है)

गिरीश : (पत्नी को प्यार करता है) जो होगा, वह तो होगा ही, शोभा। सोचने से भी क्या। मेरे सर में दुपहर से दर्द हो रहा है। न जाने क्यों? (शोभा स्विच बुझा कर, गिरीश का माथा दबाने लगती है)

३४१५ जार्ज टाउन,
इलाहाबाद

—जगदीशचन्द्र

तेलुगु का लोक प्रिय कवि 'करुण श्री'

"भगवान् करुणामय हैं, सृष्टि करुणामय है, जीवन भी करुणामय है। यह सारा संसार करुणा में उत्पन्न हो कर, करुणा में विकसित हो कर, अन्त में करुणा में ही विलीन हो जाता है। करुणा में और कवि में अविनाभाव सम्बन्ध है। बिना करुणा के कवि का व्यक्तित्व ही नहीं और बिना कवि के करुणा का अस्तित्व ही नहीं।" इस अचल विश्वास को ले कर चलनेवाले कवि की आराध्य देवी करुणा है। यदि उसने अपना उपनाम 'करुण श्री' रख लिया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

'करुण श्री' का असली नाम श्री जंद्याल पापय्या शास्त्री है। ये आन्ध्र देश के गुन्टूर जिले के निवासी हैं। आजकल 'अमरावती' (आन्ध्र) नगर में तेलुगु का अध्यापन कार्य कर रहे हैं। आप हिन्दी के भी अच्छे विद्वान् है। एक दिन था जब कि अमरावती में आन्ध्र-शिल्प-कला अपने चरम विकास को प्राप्त हुई थी। उस दिन की शिल्प-कला आज भी दर्शकों को पुलकित करती है। वह बौद्ध-स्तूप, वह शिवालय, वह पवित्र कृष्णा नदी की निर्मल जलधारा—इस भव्य वातावरण में रह कर शास्त्री जी अपनी काव्य-साधना कर रहे हैं।

शास्त्री जी ने लगभग १९४५ से काव्य-रचना प्रारम्भ की। तब से ले कर आज तक अनेक काव्य-कुसुमों से उन्होंने तेलुगु भाषा देवी की आराधना की है, और कर रहे हैं। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं: अरुण किरणें, करुणामयी, उदय श्री (दो भाग), विजय श्री और करुण श्री का प्रथम भाग। 'अरुण किरणें' गेय पद संग्रह है। 'करुणामयी' एक छोटी सी नाटिका है। 'उदय श्री' अनेक छोटी छोटी कविताओं का संग्रह है। 'विजय श्री' महाभारत के उद्योग पर्व को लेकर लिखा गया एक सुन्दर खण्ड काव्य है। 'करुण श्री' महा करुणामय बुद्ध-भगवान की जीवन गाथा है। इसके प्रथम भाग में बुद्ध के जन्म से ले कर, हंस की प्राण रक्षा तक की कथा है।

आधुनिक युग में शास्त्री जी के समान, जनता के हृदय को छू सकने वाले कवि इने-गिने हैं। नवीन-युग के काव्य-कुसुमों में, उनके काव्य मधुर रस भरे हुए सुमन हैं। पद लालित्य, धारावाहिक प्रवाह, सहृदयता आदि में उनकी समता के कवि बहुत ही कम हैं। पदलालित्य के दृष्टिकोण से आप तेलुगु के 'दण्डी' माने जाते हैं।

प्रस्तुत लेख में 'उदय श्री' (कविता-संग्रह) की एक झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

'उदय श्री' के आमुख में आप लिखते हैं:

"वह दिन मेरे शिथिल जीवन के लिए एक सुमधुर प्रभात है। मेरे हृदय में एक 'उदय श्री' आविर्भूत हुई है।

आँखें खोल कर देखा। अपनी "यशोधरा" और चिरंजीव पुत्र को छोड़ कर चले जाने वाले गौतम बुद्ध की करुणामयी मूर्ति दिखाई पड़ी। उनके आर्द्र नेत्रांचलों से 'करुणाकुमारी' ने झाँक कर देखा।..."

उसी करुणा कुमारी की अनेक भावभंगिमाओं का, आपने 'उदय श्री' में बड़े ही हृदयग्राही ढंग से वर्णन किया है। इस काव्य की लोकप्रियता इसी से विदित होती है कि प्रतिवर्ष इसका पुनर्मुद्रण अनिवार्य होता जा रहा है। 'उदय श्री' की कविताओं को जब श्री घंटसाल वेंकटेश्वरराव (सुप्रसिद्ध नेपथ्य गायक) गाते हैं तब सुनते ही बन पड़ता है।

उस 'करुणाकुमारी' के मुखमण्डल में अयोध्या नगरी के अन्तःपुरों में रहते हुए, दण्डक वन की पर्णकुटी में अपने जीवन-भूरि को ढूँढ़ने वाली देवी ऊर्मिला की उत्कण्ठा झलकती दिखाई पड़ती है। 'ऊर्मिला कुमारी' नामक कविता में, कवि ने करुणा भरे शब्दों में, ऊर्मिला के प्रति सहानुभूति प्रकट की है। अपने प्रिय की इच्छानुसार उनके सेवा कार्य में विघ्न न डालते हुए, चुपचाप व्यथा सहने वाली, उस बाला का वर्णन करते हुए, कवि ने भारतीय नारी का सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है।

"रमणुड्ड चेंतनुंडिन नरण्यमुले यपरंजि मेडलौ
रमणुड्ड लेक मेडले यरण्यमुलौ-निकनेंम जानकी
रमणि कि राणिवासमे अरण्यनिवासमु-नीवु नी मनो
रमणुनि बासि घोरपुटरण्यमुलो बडिपोति विच्चटन्"

१९५७

"पास प्रियतम हैं तो बनते जंगल भी महल,
नहीं पास वे हैं तो महल भी जंगल है
अब जानकी को अरराय भी रनवास है,
हाय! तुम बिछुड़ कर उनसे पड़ी हो घोर कांतार में"

उस 'करुणाकुमारी' के कराठ से, पाषाण हृदय मानवों के पैरों के तले कुचली जाने वाली फूल-कुमारी का आक्रन्दन सुनाई पड़ता है। 'पुष्पविलापमु' नामक कविता में पूजा-पुष्प के लिए उपवन में पहुँचने वाले भक्त को, एक फूल इस प्रकार फटकारता है। फूल कहता है कि "हाय हन्त! हमारी जान लोगे? मोक्ष का सौदा करने के लिए हमें बेचोगे? हृदय-विहीन तुम्हारी पूजाएँ किस काम की? क्या तुम्हारा हृदय पूजा के लिए चार फूल नहीं दे सकेगा? अपने सुख के लिए दूसरों के गले काटने वाले को मोक्ष कहाँ?' अन्त में वह कहता है :

"बुद्धदेवुनि भूमिलो पुट्टिनावु
सहजमगु प्रेम नीलोन चच्चेनेमि?
अन्दमुनु हत्या जेसेडि हंतकुंड!
मैल पडिपोयनोयि! नी मनुज जन्म"

"हुआ जन्म तुम्हारा, बुद्ध की जन्मस्थली में,
मिट गया क्या वह तुम्हारा सहज प्रेम?
सौन्दर्य की हत्या करने वाले!
जन्म तुम्हारा बना अपवित्र है"

उस 'करुणाकुमारी' की आहों में कवि को, अपने लाड़ले को गंगा में बहा कर, किनारे पर खड़ी होकर निरीह और निर्निमेष नेत्रों से देखने वाली कुन्ती के हृदय का रुदन सुनाई पड़ता है।

'कुन्ती कुमारी' नामक कविता के आरम्भ में महल की सीढ़ियों से उतरने वाली कुन्ती का हृदय-स्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया गया है। बच्चे को गोद में लिए गंगा के तट पर आती हुई वह, यों विलाप करती है :

"मुनिमंत्रम्मु नोसंगनेल? इडेवो मन्मुंदु मार्तांडु र
म्मनि ने कोरगजेल? कोरितिनिबो अतंडु रानेल? व
च्चेनुबो कन्नियनंचु नेंचक ननुन् जेपट्टगानेल? प
ट्टेनुबो पट्टिनोसंगनेल? अडुगंटेन कुंति सौभाग्यमुल्"

"हाय! दिया मुनि ने मन्त्र क्यों?
बुलाया क्यों मैंने सूर्य को?
बुलाया तो वह आया क्यों?
आया तो
मुझ कन्या को स्वीकार किया क्यों?
दिया क्यों पुत्र को?
हाय! मिटा आज से कुन्ती का सौभाग्य"

इस पद्य में स्त्री-सहज चांचल्य को कवि ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया है।

उस 'करुणा कुमारी' के आर्द्र नेत्रों में मृत्यु के पीछे पति के प्राणों के लिए भागने वाली सती सावित्री के दर्शन होते हैं, जिसके क्रोध के सामने 'दराडधर के बाहुदराड का चराड प्रचराड गदादराड' भी कुरिठत हो गया।

उस 'करुणामयी देवी' के करकमलों में, राधिका की हृदय वीणा के मधुर राग सुनाई पड़ते हैं।

शरत् की ज्योत्स्ना में राधा मुरलीधर की प्रतीक्षा कर रही थी। काफ़ी समय बीत गया, फिर भी वह 'सांवला' नहीं आया। अन्त में कृष्ण आए और पीछे से राधा की आँखों को बन्द किया। राधा ने उसे पहचान तो लिया किन्तु रूठ कर मुँह फेर लिया। तब सरस भाषण चतुर कृष्ण कहते हैं :

"आलसिंचुट काग्रहमंदितेनि
वेलदि! विरिदंड संकेलल् वेयरादो!
मुगुद! पूबंतितो नन्नु मोदरादो!
कलिकि! मोलनूलुतो नन्नु कट्टरादो!"

"रूठी हो, देरी के कारण,
तो हे रमणी! मालाओं की हथकड़ियाँ पहना दे
फूलों की गेंदों से मार
मेखला से मुझे बन्दी बना!"

कैसा वचन-वैदग्ध्य है! कितनी सुन्दर कल्पना है!!

इन बातों से भोली राधिका के अधरों पर मधुर मुसकान की रेखा नाच उठी। कवि की कल्पना देखिए :

"राधिका क्रोध मधुराधरम्मोक्किंकत
नव्वेनो लेदो; पक पक नव्वे प्रकृति;
नव्वुकोन्नदि बृन्दावनम्मु; यमुन
नव्वुकोन्नदि, चंद्रुडु नव्विनाडु,
विरगबडि तम पोट्लु विच्चिपोव
नव्विनवि राधा तललोनि पुव्वुलेल्ल।"

राधिका के कुपित मधुर अधरों पर थोड़ी-सी मुसकान के नाचते ही समस्त प्रकृति खिलखिला पड़ी। वृन्दावन, यमुना और चन्द्र सब हँस दिए। राधा के जूड़े के फूल इतना हँसे कि उनके पेट में बल पड़ गए।

इस पद्य में अन्तिम दो पंक्तियों की कल्पना बड़ी ही सुन्दर है। फूल इतना हँसे कि उनका पेट फट गया! और वह भी कहाँ के फूल? राधा के जूड़े में के! धन्य है कवि की कल्पना-चातुरी?

उस 'करुणा कुमारी' की अश्रुधाराओं में भारत माता की आँसुओं की धारा दृष्टिगोचर होती है। कवि कहते हैं कि उसकी आहों ने ही, आँसुओं ने ही, मुझे मानव बनाया है। उसके अश्रु ही मेरी कविता हैं। वह मेरी करुणामयी, जीवन-सहचरी और आराध्य-देवी है।

इस संग्रह में 'सार्थकता' नामक कविता पर श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' की कविता 'फूल की चाह' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

'उत्तिष्ठ', 'करुणामूर्ति', 'करुणाकुमारी', 'करुणामयी' नामक कविताएँ बुद्ध भगवान् के महाभिनिष्क्रमण एवं उनके हृदय में भरी हुई अनन्त करुणा से सम्बन्धित हैं। कवि पर महात्मा बुद्ध और उनके करुणा का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। प्रभाव पड़ना क्या? कवि की लेखनी तो उन्हीं भावनाओं से परिचालित है।

'तपोभंगमु' में काम-दहन की कथा वर्णित है। गिरीश की ललाट की अग्नि से मन्मथ राख बन गया। हिमाचल की गुफाओं में उसकी दुखी नारी का दर्द भरा गीत गूँज उठा। कवि कहते हैं:

"आ करुण गान में—आ यनन्त विरह
विश्व संगीत मे—पंचमस्वरान
गानमोनरिंचिनदि मन कालिदास
कोकिलम्मु 'वियोगिनी' कूजितमुल।"

"वही करुणा का गान—
वही अनन्त विरह विश्व संगीत—
फूट पड़ा कालिदास कोकिल के स्वर से।"

इस प्रकार 'उदय श्री' के प्रथम भाग में शास्त्री जी की, विभिन्न बिषयों पर, सरल शैली में और सरल-व्यावहारिक-भाषा में लिखी गई अनेक सुन्दर कविताएँ संकलित हैं।

'उदय श्री' के द्वितीय भाग में राष्ट्रीय नेताओं पर, समय समय पर लिखी गई कविताएँ संकलित हैं, गाँधी जी के व्यक्तित्व के प्रति और उनकी हत्या सुन क कवि ने जो हृदयोद्गार प्रकट किए हैं, वे हृदय को हिला देने वाले हैं।

'दुर्दिनमु' नामक कविता में गाँधी जी की हत्या के बाद कवि अपने हृदय के भावावेग को व्यक्त करता है।

"कनुपिंपदिदियेमि? कनक कान्तुलुचिन्दु,
सत्यावतार प्रशान्त मूर्ति—
विनुपिंप दिदियेमि? वीनुलविंदुगा,
रघुपति राघव राम भजन—
कलदप्पेनेमि? एकालम्मु कलकल,
लाडुचुनुडु बिललि मेड—
तलवंचेनेमि? मिन्नुलु मुट्टुगोनु मूडु,
रंगुल वीर भारत पताक—
तडिसिनदिदेमि? कन्नीटि धारलंदु,
भरत जनयित्रि खद्दरु पैट चेरुगु—
एमो पोगोट्टुकोन्नट्टु लेड्तुरेमि?
गोडुगोडुन नलुबदि कोट्ल प्रजलु।"

"दिखता नहीं क्यों वह?
सुनहरी किरणों वाली, सत्यावतार-प्रशान्त मूर्ति।
सुनाई पड़ता नहीं क्यों?
रघुपति राघव राम का भजन।
कहाँ वह छवि?
कहाँ वह कोलाहल बिड़ला के महल में
झुकी क्यों आज?
आकाश को चूमनेवाली, वीर-भारत-पताका
भीगा क्यों आज?
माँ भारती की खादी का आँचल
यह रुदन कैसा?
जैसे खोई मव ने अपनी अमूल्य निधि"

गांधी की हत्या ने कवि को उद्वेलित कर दिया है उसकी लेखनी अपने दुख को प्रकट करते नहीं थमती।

'उदय श्री' के द्वितीय भाग में 'पुरुषोत्तम' औ 'धर्मपरशु' नामक दो लम्बी कविताएँ हैं। 'पुरुषोत्त में पंचनद के राजा पुरुषोत्तम (पोरस) की विजय, में छल से सिकन्दर की विजय आदि वर्णित हैं। 'ध

परशु' में महर्षि जमदग्नि की हत्या और परशुराम के द्वारा क्षत्रिय-वध वर्णित हैं।

इस संग्रह में पाकी पिल्ल (मेहतर लड़की) नाम की कविता बड़ी ही प्रभावोत्पादक बन पड़ी है। कवि ने प्रभावशाली शैली में मेहतरानी के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है। कहते हैं :

"तन सुखमु वीडि तोडि सोदरुल सौख्य
मुन के ज़ीवित सर्वस्वमुनु व्ययिंचि
एवमेरुगनि नी यमायिकपु प्रेम लोतु
एरुगजाल दी स्वार्थ लुब्ध जगति।"

"छोड़ अपने सुख को
अर्पित कर दिया सारे जीवन को,
समाज के सुख पर।
हाय! कौन जानता है तेरे प्रेम की गहराइयाँ?
यह स्वार्थ-ग्रसित-जग।"

यह शास्त्री जी के 'उदयश्री' की एक झलक मात्र है।

'विजय श्री' नामक खण्डकाव्य में, श्रीकृष्ण के दूत कार्य के विफल होने पर, पाण्डवों की विचार धाराएँ सलाह-सुझाव, पाँचाली का उद्बोधन, युद्ध की तैयारियाँ आदि का सुन्दर चित्रण किया गया है। इस काव्य में वीर नारी द्रौपदी का चरित्र चित्रण बड़ा ही प्रभावशाली बन पड़ा है।

'करुण श्री' बुद्ध भगवान् की जीवनी पर आधारित एक महाकाव्य है जिसका प्रथम भाग ही प्रकाशित हुआ है। आशा है अचिर काल में उसके अन्य भाग भी जनता के सामने आएँगे।

कविता प्रवाह में असामान्य धारा, शब्दों का लालित्य एवं मधुरता, शैली की सुबोधता आदि के कारण, शास्त्री जी की कविताएँ तेलुगु भाषा भाषियों की कण्ठाभरण बनी हुई हैं।

हैदराबाद पब्लिक स्कूल,
बेगमपेट

—**भीमसेन 'निर्मल'**

चिन्तित ?

एक मित्र ने दूसरे मित्र से कहा : आप आज बहुत चिन्तित नज़र आ रहे हैं? बात क्या है?

उसने उत्तर दिया : "चिन्तित? खूब! मेरे पास इतनी अधिक चिन्ताएँ हैं कि यदि आज कुछ नई घटना हो जाए तो उसके विषय में चिन्ता करने के लिए मेरे पास दो सप्ताह तक समय ही नहीं है।"

—**"इंग्लिश डाइजेस्ट" से**

सूली ऊपर सेज हमारी

रजनी गागर लिए भीतर आई तो सुना माता जी और लाज बहू बातें कर रही हैं। रजनी क्षण भर के लिए रुक गई और फिर गागर रख कर दीवार से टेक लगा कर खड़ी हो गई।

रूपा ने आँचल से आँसू पोंछते हुए कहा, "क्या कहूँ बहू, मेरे तो भाग्य फूट गए दो-दो जवान बेटियाँ घर में बैठी हैं। पास कौड़ी नहीं कि कन्यादान दे गंगा नहाऊँ। हे भगवान्, क्या तेरे संसार से न्याय उठ गया ?" लाज बहू ने आश्वासन दिया : "दुःख की नैया राम पार लगाने वाले हैं निराश क्यों होती हो। भगवान् चाहेगा तो अच्छे घर में पड़ेगी, उसके यहाँ देर है अन्धेर नहीं।" और रूपा की आँखें छलक पड़ीं। "कब तक रजनी और मालती को भगवान् के आसरे बैठाए रक्खूँ। कहीं बात चलाऊँ भी तो किस मुँह से, पल्ले फूटी कौड़ी नहीं और केवल कन्या को कौन स्वीकार करेगा कौन सहारा देगा इस गरीबी में ?" लाज बहू ने फिर समझाया : "निराश क्यों होती हो चाची, संसार में सब धन दौलत के लोभी नहीं होते फिर ईश्वर की दया से तुम्हारी लड़कियाँ सुन्दर हैं और सच तो यह है कि जब भगवान् कन्या की सृष्टि करता है तो उसके पहले ही उसके पति की सृष्टि भी हो चुकी होती है, भगवान् पर भरोसा करो चाची, सब ठीक हो जाएगा।" और रूपा फिर आशा की नाव में सवार हो गई जब मनुष्य बिलकुल निराश हो जाता है तो किसी की ज़रा सी तसल्ली भी आशा के हज़ारों दीप उसके हृदय में प्रज्वलित कर देती है जिनकी रश्मियों के सहारे वह एक बार फिर जीवन पथ पर अग्रसर हो जाता है। रूपा ने सोचा उसकी कन्याएँ सौन्दर्य की प्रतिमाएँ हैं। उनके लिए सुन्दर और कुशल वरों की सृष्टि भगवान ने अवश्य की होगी और उनकी चिन्ता जाती रही। "ईश्वर करे बहू तुम्हारी जबान पर तुलसी माता का वास हो और शीघ्र ही मेरी रजो और मालती की माँग सिन्दूर से भर जाए।" लाज बहू मुस्कुरा कर जाने के लिए खड़ी हो गई। रजनी का दिल डूबने लगा; आँखें छलक पड़ीं और हौले हौले पग धरती हुई वह अपने कमरे में चली आई।

उसे यों लगा जैसे ढोलक पर लड़कियाँ गा रही हैं, रजनी की माँग सिन्दूर से लाल हो रही है। डोली आकर द्वार से लग गई है और माँ भीगी आँखों से उसे बिदा कर रही हैं तब लड़कियाँ ऊँची आवाज़ में गाने लगीं :

"परदेसी संग जोड़ के नाता अपनों से मुँह मोड़ चली
बाबुल का घर छोड़ के गोरी पी के देश चली"

रजनी आँचल में मुँह ढाँप कर सिसकने लगी। परन्तु शीघ्र ही मालती के पदचाप ने उसको चौंका दिया और आँसू पोंछ सँभल कर बैठ गई। "जीजी, शीला दीदी के यहाँ न चलोगी"

"नहीं मालती आज जी अच्छा नहीं है तू चली जा" पर पन्द्रह सोलह वर्ष की अल्हड़ मालती मचल गई। "उहूँ, चंगी भली तो बैठी हो और बातें बनाती हो कि जी अच्छा नहीं है। तुम्हारे जी को क्या होता रहता है जीजी ? मैं तो शीला दीदी से सच-सच कह दूँगी कि जीजी जान बूझ कर नहीं आई।"

रजनी के उदास मुख पर मुस्कान की हल्की रेखाएँ अंकित हो गई। "अरे मालती तू सचमुच पागल है। अच्छा चल मैं तैयार हूँ।'

रास्ते में मालती ने कहा : "जीजी शीला दीदी तो चार बच्चों की माँ बन गई और पक्की गृहस्थिन हो गई, परन्तु तुम अभी तक कुँवारी हो। माँ तो विवाह की चिन्ता में दुबली हुई जा रही है। आखिर हम इतने गरीब क्यों हैं जीजी ?"

रजनी की हिरणी जैसी आँखों में आँसू छलक पड़े। सामने ठाकुर जी का मंदिर था। रजनी का मन चाहा कि लपक कर जाए और कृष्ण मुरारी के चरणों से लिपट कर आँसुओं से उन्हें धो दे। कन्याओं का रसिक देवता क्या दया न करेगा। मैं जीवन भर कुँवारी रहूँगी और अपने माँ बाप के सीने का भार बनी बैठी रहूँगी। कब तक सपनों की दुनिया में अपने अरमानों का रंग भरती रहूँगी। मेरी माँग में सिन्दूर कब भरेगा!

१६५७

मेरे हाथों में मेहंदी कब रचेगी। कब आँचल किसी के दुपट्टे के साथ बाँध दिया जाएगा। मेरे पतिदेव कहाँ गुम हैं मुझे ले जाने आ क्यों नहीं जाते। कहाँ छिप गए हैं शहनाई वाले और वह कल्पनाओं की इस उड़ान में वह आगे बढ़ गई, मालती चिल्ला उठी।

"अरे जीजी कहाँ चली जा रही हो घर तो आ गया।" रजनी और मालती ने भीतर प्रवेश किया। आंगन में शीला की माँ गोबर की उपलियाँ थोप रही थी।

"नमस्ते चाची।" चाची चौंक पड़ी! "ईश्वर कल्याण करे बेटी, माता पिता तो कुशल से हैं न।" "सब ईश्वर की कृपा है।" रजनी दहलीज पर बैठ गई, चाची ने उपलियाँ थोपते हुए कहा: "शीला तुम्हें हर समय याद किया करती है, तुम आई क्यों नहीं बेटी। शीला तो चार दिन के लिए मायके आई है पराई लड़की उस पर अपना क्या बस, मैं तो चाहती थी कि एकाध मास रहे पर कल चली जाएगी।" रजनी ने बेताबी से पूछा: "चाची शीला है कहाँ?"

"गागर लेकर पनघट गई है। लड़कियों का प्रेम निराला होता है। लाख रोकती रही पर एक न मानी अब आती ही होगी।"

और पलक झपकते ही गागर कमर पर रक्खे शीला ने भीतर प्रवेश किया। मालती ने लपक कर गागर ले ली। शीला ने रजनी को देख कर मुँह फुला लिया। "उहूँ अब आई हो बड़ा प्रेम जताया करती थीं, बस अब देख लिया न।"

रजनी हँस पड़ीं, "बहुत अच्छा किया कि जान गई, वर्ना मेरी याद से जैसे तुम स्वर्ग ही सिधारती।" शीला ने ताना दिया: "हाँ तुम्हारे पैर में तो मेहंदी लगी थी न? अम्मा ने मुझे जाने नहीं दिया शायद तुम्हें यह भी कष्ट न देती।" यह कहते हुए दोनों कमरे में चली आईं, शीला के ताने से रजनी का दिल भर आया।

"नहीं शीला यह बात न थी मेरा जी अच्छा नहीं था।"

शीला ने मुँह बना कर कहा: "क्यों री तुझे क्या रोग हुआ है। सुसराल की झंझट; न पति का दुःख न बच्चों की चिन्ता, फिर यह मुख क्यों पीला पड़ गया।"

रजनी ने मुसकरा कर उत्तर दिया: "लोक लाज ही बहुत बड़ा दुःख है शील" शीला ने प्यार से रजनी का हाथ पकड़ लिया। "लोक लाज की चिन्ता भला तुझे क्यों है. मैं भी तो सुनूँ तुझे क्या दुःख है।" रजनी के नयन सजल हो गए। क्या करोगी तुम मेरी विपदा सुन कर मैं अपने माँ बाप के सीने का भार बन चली हूँ और देखने वालों के लिए पहाड़। शील मुझ सी अभागन भी संसार में कोई न होगी। माया जाल से परे हूँ। फिर मेरा आदर कौन करेगा। धन दौलत के लोभी संसार में मेरी जीवन नैया कैसे पार लगेगी। कौन मेरा दुःख बटोरेगा। जितना भी दुःख कहूँ कम है।" शीला ने रजनी को गले से लगा लिया।" ईश्वर की दया से निराश हो कर तू कहाँ जाएगी रजनी ऐसा घोर अन्याय नहीं होगा। रजनी की मुस्कुराहट में विष मिल गया।" हाँ न्याय और आशा की आस में मेरे प्राण उड़ जाएँगे परन्तु याद रख शील इस माया लोभी संसार में न्याय न होगा केवल न्याय की आस रहेगी। शीला ने रजनी का मुख ऊपर उठाया और मुस्करा कर कहा—हाँ निर्धनता का पुजारी कोई न होगा, परन्तु इस कोमल सुन्दरता के पुजारी लाखों होंगे। रजनी सचमुच तू रानी बनेगी। ईश्वर की सौगन्ध तेरे भाग्य में राज है। तेरा पति तुझ पर जान कुरबान करेगा।" और रजनी का मुख लजा से लाल हो गया रजनी ने लजाते हुए प्रश्न किया। "शील तेरे पतिदेव कैसे हैं तेरे संग उनका व्यवहार कैसा रहता है।" शीला खिल खिला कर हँस पड़ी। "बहुत अच्छे हैं। राम जिस तरह सीता के संग व्यवहार करते थे न बिलकुल वैसे ही करते हैं, मैं बच्चों को उनके भरोसे छोड़ आई हूँ। केवल चार दिन के लिए बिछड़ रही थी परन्तु वह व्याकुल हुए जाते थे। बार बार जता रहे थे कि पहुँचते ही पहुँचते पत्र लिखना।" रजनी भी मुस्करा पड़ी।

"तब तो बहुत भाग्यवती है तू। सास ससुर कैसे हैं!"

"ससुर जी तो पूजने योग्य हैं। परन्तु सास जी बड़ी नटखट हैं। मैं तो उन्हें एक आँख नहीं भाती; सौ बुराइयाँ निकाला करती हैं। और ननद जी बड़ी चंचल हैं। इनका विवाह हो चुका है पर जब भी आती हैं मेरे लिए एक मुसीबत बन जाती हैं। ऊँहू छोड़ो भी इन बातों को।" और दोनों हँस पड़ी। मालती ने भीतर

प्रवेश करते हुए कहा—"ओहो जीजी के मुख पर हँसी तो आई।" शील ने अपनी बाहें रजनी के गले में डाल दी। और मालती ने चंचलता से कहा—"सच शील दीदी, तुम इस समय जीजा जी लग रही हो।" तीनों हँस पड़ीं। रजनी की आँखें शर्म से मुँद गईं। जब दोनों सखियाँ बिछड़ने लगीं तब उनकी आँखें भर आईं। "रजनी मेरे पत्र का उत्तर दोगी न।"

रजनी ने केवल सिर हिला दिया। और अश्रुओं से बोझिल नयन लिए वह घर लौट आई।

× × ×

आकाश पर सावन की मदमाती घटाएँ छा गईं। चंचल बादल अल्हड़ युवतियों की भाँति एक दूसरे के पीछे दौड़ने लगे। और बेला पवन हिलोर से यों झूमने लगे मानो किसी भँवरे को अपने यौवन का प्रदर्शन कर रिझा रहे हों या किसी सुन्दरी के बालों की शोभा बन जाने के लिए मचल रहे हों या फिर किसी देवता के चरणों की रज लाने को व्याकुल हों। परन्तु जब कोई भी इनकी बात न पूछे और गर्म वायु की जान लेवा हिलोरों से यह कुम्हला कर मिट्टी में मिल जाएँ तो उनके जोवन का प्रयोजन क्या हुआ। झूमती हुई घटाओं को देख कर रजनी का अंग अंग झूम उठा इसका जी चाहा कि धानी रंग की साड़ी पहन कर झूमे, नाचे और सावन के गीत गाए। धरती माता तो सावन के स्वागत में मंगल गा रही है पर रजनी के मन की तलैया सूखी पड़ी थी। रजनी ने अपनी लाल साड़ी निकाली और उसे पहन कर धीरे धीरे गाने लगी।

"घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय,
हे री मैं तो प्रेम दिवानी..........."

मीरा तो कृष्ण मुरारी की मूर्ति से प्रेम करती थीं। वे पत्थर के थे किन्तु मीरा के असीम प्रेम ने कृष्ण मुरारी को मनुष्यों से कहीं अधिक कोमल हृदय का बना दिया और मीरा के मोहन ने अपनी प्रेमी मीरा की लाज रख ली। रजनी ने सोचा मन मोहन तुम मेरी लाज क्यों नहीं रखते। रजनी का जी चाहा कि घुँघरू बाँध कर कृष्ण मुरारी की मूर्ति के आगे इतना नाचे कि धरती माता की छाती फट जाए और वह उसमें समा जाए। वह अपने विचारों में तल्लीन थी कि मालती ने पुकारा। "जीजी माता जी कह रही हैं पानी ले आओ। चलोगी नहीं।" और रजनी अपनी गागर लेने उठी। चंचल मालती ने गागर उठाते हुए कहा: "जीजी तुम्हें वह कहानियाँ याद हैं जो बुआजी बचपन में सुनाया करती थी। कोई सुन्दरी गागर भरने पनघट पर जाती तो प्यासा परदेसी आ जाता नयन लड़ते और दोनों के मन में प्रेम ज्वाला भडक उठती।"

फिर इस कन्या का विवाह उस परदेसी के संग हो जाता, यदि जीजी कोई परदेसी हमारे पनघट पर भटक आया तो?"

'रजनी खिलखिला कर हंस पड़ी। 'सच मुच मालती' तू बहुत नादान है वह तो कहानियाँ है बावली वास्तव में ऐसा कहाँ होता है। यदि कोई परदेसी आया भी तो तू उसकी प्यास बुझाना।' रजनी ने कनखियों से मालती की ओर देखा और मालती हंस पड़ी। इसकी हंसी में गज़ब का तीखापन था। दोनों गागरे लिए बाहर निकली रूपा ने रसोई में से दोनों को देखा और ठण्डी साँस भर रह गई। जैसे अल्हड कन्याएँ धरती पर नहीं रूपा के सीने पर चल रही हों। लाज बहू चक्की पिसते हुए रुक गई और लम्बी साँस खींच कर कहा। 'राम न करे किसी के सीने पर कन्याओं के यौवन का पहाड़ रहे।' चक्की पीसने वाली दूसरी स्त्रियाँ लाज बहू की बात समझ गई और ठण्डी साँसें भर कर रह गई।

मालती ने गागर उछालते हुए कहा। 'जीजी यह लोहे की गागर, पानी भर कर खूब वज़नी हो जाती है मुझ से उठाए न उठेगी।' और मुसकाती हुई गागर कमर पर रख कर इठलाने लगी रजनी ने कोई उत्तर नहीं दिया। मालती हौले हौले गाने लगी:

"गगन मण्डल पर सेज पिया की
किस बिध मिलना होय"

मन चले राहगीर संवारने लगे। रजनी की त्योरी पर बल पड गए। 'मालती तुझे लाज नहीं आती इस तरह गाते हुए। पगली लोग क्या कहेंगे।' मालती के गुलाबी होंठ शरारत से खिल उठे। 'जीजी सावन की चंचल ऋतु ने मेरे मन को और अधिक चंचल बना दिया है। मेरा जी चाहता है। कि खूब झूमूँ, गाऊँ और नाचूँ, मगर जीजी यह सब देखेगा कौन! मीरा के भजन कृष्ण मुरारी सुना करते थे यदि कृष्ण मुरारी के समान कोई रसिक मिल जाए तो जीजी यह हवा

फीका जीवन आकाश पर छाई इन घटाओं की तरह मस्त होकर झूमने लगे। है न जीजी ?

रजनी के मुख पर उदासी छा गई। इसे यों लगा जैसे जिन आशाओं का सहारा लिए वह सपनों की दुनिया में रंग भरती थी वह सहसा समाप्त हो गए हैं और सपनों का महल बेरंग-सा हो गया। तभी मालती अनायास कह उठी: 'जीजी तुम्हें क्या हो गया है तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों है ?' रजनी चुप रही। सामने ठाकुर जी के मन्दिर में बाँसुरी बजने लगी। मालती ने कहा: 'जीजी ठाकुर जी के मन्दिर का कुआँ पापी कहलाता है।' रजनी ने आँखें फाड़ कर कहा।

"पापी कुआँ ऐसा क्यों कहते हैं मालती"

"मैं क्या जानूँ जीजी ब्रह्मचारी कह रहे थे।" रजनी ने चकित हो कर कहा। 'मन्दिर का कुआँ भी कहीं पापी होता है पगली' मालती हंस पड़ी। 'हाँ जीजी इस कुएँ में एक पापन चमारन समा गई थी। और सारा जल दूषित कर गई। एक बार माँ ने पानी लाने को कहा तो मैं इसी कुएँ का पानी ले जा रही थी कि ब्रह्मचारी आ गए और मुझे टोक दिया और बताया कि आज से बारह वर्ष पहले एक विधवा चमारन ने पाप किया था और जब इसके बच्चा हुआ तो उसने इस कुएँ में पहले बच्चे को फेंका, फिर स्वयं छलांग लगा दी। लोक लाज की मारी चमारन ने इसी कुएँ में शरण ली थी। जब इसकी लाश निकाली गई तो बिलकुल सड़ गई थी, जीजी। तब से इस कुएँ का पानी कोई ब्राह्मण नहीं पीता। हाँ चमार अवश्य इसका जल ले जाते हैं। जीजी वह कितनी पापन थी जिसने ठाकुर जी के कुएँ में आत्महत्या की।'

और रजनी चुप हो गई। लोक लाज का भय उसे भी था वह सोचने लगी उस चमारन में और मुझ में अन्तर ही क्या है। उसने लोगों से भयभीत होकर हत्या कर ली और मैं लोगों की निगाहों का निशाना बन रही हूँ। उसका जीवन धरती का बोझ था और मेरा जीवन माँ बाप के सीने का भार है। फिर इस जीवन का उपयोग क्या होगा। पनघट पर अधिक भीड़ न थी। चाची अपनी भरी गागर लिए घर लौट रही थी। रजनी ने अपना गागर नीचे रख दिया और दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। 'ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे बेटी, घर में सब कुशल है न ?' रजनी ने गागर उठाते हुए कहा 'ईश्वर की दया है चाची सावन में शील को नहीं बुलाया। कोई पत्र तो आया होगा।'

"हाँ पत्र तो आया है। सावन में बुलाया भी था। और उसे लेने राजेन्द्र को भेजा भी। परन्तु बेटी, लड़की विवाह के पश्चात् पराई हो जाती है मुझे तो घटा देख कर रोना आ रहा है, अब की वर्ष मेरा आँगन सूना ही रहा, सुना है उसके ससुर की तबीयत ठीक नहीं है इसी कारण वह नहीं आ सकी।" और रजनी रेत से गागर माँजने लगी। मालती ने मुसकरा कर कहा— "जीजी मेरा जी चाहता है कि सावन में नए कपड़े पहनूँ और मेरे झाँझन की झनकार से सारा जग गूँजने लगे और जीजी इन कलाइयों में कंगन किसी के प्यार की तरह लिपटे रहें।" रजनी ने गागर उठा ली। दोनों चलने लगीं। मालती ने फिर कहा "जीजी कब तक हम हर वस्तु के लिए तरसते रहेंगे। आखिर हम इतने गरीब क्यों हैं ? मेरा जी चाहता है जीजी कि बारीक चावल खाऊँ और साथ में मजेदार साग भी, परन्तु हम केवल सोचा करते हैं। रजनी के पग डगमगा गए जल भरी गागर कमर पर धरने लगी और मालती मुसकरा पड़ी। "क्यों जीजी आज तुम्हें जोरों की भूख लगी है न। तभी तो गागर तुम से संभाली नहीं जा रही है।" रजनी की आँखें डबडबा गईं। उसने आँचल से आँसू पोंछे। मालती अब बिलकुल मौन थी। धीरे धीरे पग रख रही थी मानों सपनों में फूलों की सेज सजा कर उस पर चल रही हो। डर डर कर संभल कर कि कहीं फूल कुम्हला न जाएँ। रजनी ने टोक दिया।

मालती क्या ऊँघ रही है। अरी जल्दी चल पगली माता जी प्रतीक्षा कर रही होगी।" दोनों तेज चलने लगीं और सपनों की सेज पर बिछे हुए फूल कुम्हला गए।

× × ×

आज पूर्णिमा की रात थी। चन्द्रमा जगमगा रहा था। मालती ने अपने बालों में जूही के सफेद फूल सजाए थे। और आँगन के चबूतरे पर बैठी गा रही थी।

"ऊँचो नीचो महल पिया को
म्हासूँ चढ़्यो ना जाए"

रजनी को बाहर जाते देख कर पुकार उठी। "कहाँ जा रही हो जीजी ?" "जरा ठाकुर जी के चरणों पर फूल चढ़ा दूँ।"

मालती हँस पड़ी, "जीजी तुम सदा कृष्ण जी के चरणों पर फूल चढ़ाती हो, पर वह सदा मन की कोमल आशाओं की भाँति सूख जाते हैं। जीजी मेरी मानो आज यह सुन्दर फूल अपने बालों में सजा लो।" रजनी मुस्कुराती हुई मालती के समीप आई। और प्यार से हाथ पकड़ कर कहा : "नहीं बहन यह बात नहीं, कृष्ण जी इतने कठोर नहीं है वह मेरी अभिलाषाओं को अवश्य पूर्ण करेंगे और तुम रानी बनोगी। तुम्हारे पिया का महल बहुत ऊँचा रहेगा तुम पिया के घर में राज करना। मेरा क्या, मैं जन्म-जन्म की पापन हूँ और अपने पापों का दण्ड पा रही हूँ।" यह कह कर रजनी चली गई। मालती की नज़रें कुछ क्षणों तक रजनी का पीछा करती रहीं और फिर मुसकरा कर गाने में मग्न हो गई। फिर वहीं सपनों की सेज सज गई।

"कहैन्या पर तन मन लुटाने चली
मैं उनको आज अपना बनाने चली"

सुबह मालती ने आँखें मलते हुए माँ से पूछा : "माँ यह क्या हल्ला गुल्ला है।" रूपा ने बाल नोचते और छाती पीटते हुए उत्तर दिया : "हाय पापी कुँए ने मेरी रज्जो को खा लिया, हाय मैं लुट गई।" मालती के होश हवास उड़ गए वह पागलों की भाँति चिल्लाते हुए कुँए की ओर दौड़ी।

"हाय मेरी जीजी पापिन नहीं है। हाय मेरी जीजी पापिन नहीं है।"

कहकशां, १३८८ अम्बरपेट,
हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

—हाशिमा शाहीन

प्रसन्नता

प्रसन्नता का बल आश्चर्यजनक
होता है।
प्रसन्नता में अपरिमित सहनशीलता
की शक्ति होती है।
एक प्रसन्न रहने वाला व्यक्ति
एक चिड़चिड़े और दुःखी व्यक्ति
की अपेक्षा—उतने ही समय में
न केवल अधिक और देर तक
कार्य कर सकता है अपितु अच्छा
भी कर सकता है।

—कारलाइल

भाई रामगोपाल जी संघी

"कल तो कहते थे कि हम बिस्तर से उठ सकते नहीं
आज तो दुनिया से उठ जाने की ताक़त आ गई"

"मालिक अपने नौकर को एक दिन समझा रहा था कि किस प्रकार एक काम में चार काम करने चाहिए, इसी में उसकी चतुराई है। संयोग से थोड़े दिन बाद ही मालिक बीमार पड़ गए और उन्होंने नौकर से कहा कि 'जा डाक्टर साहब को बुला ला' चतुर नौकर डॉक्टर साहब को ही नहीं बुला कर लाया साथ साथ अन्त्येष्टि का सामान भी लेता आया।"

अपनी मृत्यु के ठीक ७ दिन पूर्व बुधवार ता० ६ फरवरी १९५७ को उपरोक्त चुटकुले को बड़े ही रसपूर्ण लहजे में हम दो तीन मित्रों को भाई रामगोपाल जी सुना रहे थे। मुझे क्या पता था कि आगामी बुधवार ता० १३ फरवरी को मुझे ही "चतुर" बनने का दुर्भाग्य प्राप्त होगा। उस दिन मैं अचानक संघी जी के पास दोपहर को साढ़े बारह बजे पहुँच गया था। थोड़ी देर पहले ही उनका डॉ० सुब्बाराव ने आपरेशन किया था और जब मैं पहुँचा तो वे होश में आ चुके थे। और वे कैप्टन सूर्यप्रताप जी तथा मुझ से डेढ़ बजे तक बातें करते रहे। आन्ध्र प्रदेश में हिन्दी प्रचार के भावी रूप पर चर्चा होती रही। कुछ बड़े ही ठोस सुझाव उन्होंने दिए। डेढ़ बजे उन्हें शौच हुआ। उसके बाद ही उनकी तबीयत लड़खड़ा गई। डॉ० सुब्बाराव आपरेशन कक्ष से सुनते ही दौड़े आए। आक्सीजन दिया गया। अन्य आवश्यक उपचार भी किए गए। पर सभी व्यर्थ गए। हमारे देखते देखते ही डेढ़ बजे उनके प्राण पखेरू उड़ गए। हम दोनों हतप्रभ से मूक खड़े थे। अपने एक मित्र नहीं, नहीं एक सगे भाई से भी बढ़ कर वे हमारे लिए थे, जिनकी अन्तिम लीला हम देख रहे थे। वह लीला ऐसी थी जिसका कोई उपचार, नहीं था। मानव ने विज्ञान की सहायता से जल, नभ और थल क्षेत्रों में अपनी विजय के झण्डे गाड़े हैं, परन्तु वह भी काल के सम्मुख तो असमर्थ प्राणी ही है। उसका अहंकार मृत्यु से टकरा कर चकना चूर हो जाता है। यहीं पर मनुज ने पराजय स्वीकार की है। जब मित्रों को मैंने संघी जी की मृत्यु का समाचार फ़ोन पर दिया तो उन सब को मेरी बात पर विश्वास करना असंभव प्रतीत हुआ, पर जो सत्य था उसे तो उन्हें कुछ प्रश्नोत्तरों के बाद स्वीकार करना ही पड़ा।

यों तो एक प्रकार से १९४९ से ही भाई रामगोपाल जी रोग से संघर्ष कर रहे थे। ठीक होते और फिर पटकी खाते थे। इस प्रकार रोग और रोगी में आठ वर्ष तक सतत कुश्ती चलती रही। रोगी का साहस देख कर डॉक्टर भी दंग थे। उनकी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व ही डॉ० सुब्बाराव ने कहा था कि 'संघी जी आप तो वास्तव में जीवट आदमी हैं' उन्हें क्या पता था कि अन्त में इस बार रोग के मुकाबले रोगी को ही पराजय स्वीकार करनी होगी।

संघी जी का पारिवारिक जीवन सदा कठिनाइयों से परिपूर्ण रहा। कष्ट सहते सहते उनमें जीवटता आ गई थी। उनकी पत्नी का स्वर्गवास तरुणावस्था में ही हो गया था। उस समय उनकी एकमात्र पुत्री शान्ता बहुत ही छोटी थी। जब वह माँ के लिए रोती तो घण्टों गोद में ले कर उसे सड़क पर घूमा करते थे। बड़ी लगन के साथ चि० शान्ता का लालन पालन किया और उसकी शिक्षा वर्धा के सुप्रसिद्ध महिलाश्रम में हुई। १९४४ में ग्वालियर में उसका विवाह श्री रामस्वरूप जी के साथ कर अपने आपको उन्होंने पारिवारिक जीवन के दायित्व से मुक्त समझा। सन्तोष अनुभव किया। परन्तु नियति से उनका यह सुख भी नहीं देखा गया, और जिस दिन रामगोपाल जी १९५० में स्वस्थ हो कर अनन्तगिरि के क्षय अस्पताल से वापस लौटे, उन्हें अपनी इकलौती सन्तान चि० शान्ता के दुःखद निधन का समाचार मिला। एक पिता के लिए इस से बढ़ कर और क्या दुःख हो सकता था? उनका शरीर रोग से तो पहले ही जर्जर हो चुका था और इस आघात ने उनके मन पर जले पर नमक का काम किया। फिर भी वे अपनी मानसिक व्यथा को सदा छिपाए रखते थे। कुछ ही व्यक्तियों पर वे अपना दुःख प्रकट करते थे।

ऐरागड्डा के क्षय अस्पताल में जब संघी जी अपना इलाज करा रहे थे, तो उनके कानों पर वहाँ के बड़े डाक्टर के सम्बन्ध में कई शिकायतें आईं। इस पर संघी जी ने डाक्टर से वार्तालाप कर यह समझाने का प्रयत्न किया कि "बीमारों की लाचारी का लाभ उठा कर उन से रुपया नहीं लेना चाहिए बल्कि जब रोगी अच्छा हो कर जाते समय जो भी भेंट दे उसे स्वीकार करना चाहिए, तो इसमें आपका गौरव बढ़ेगा।" परन्तु उसे भले डाक्टर ने उत्तर में कहा कि "मैंने क्षय रोग विशेषज्ञ बनने के लिए ४५ हज़ार रु० खर्च किया है अतः लेता हूँ तो कोई पाप नहीं करता।" इस प्रकार विवश हो कर संघी जी ने यह मामला उस समय के स्वास्थ्य मन्त्री श्री फूलचन्द गांधी के सम्मुख रखा और उन्हें अस्पताल में बुला कर रोगियों के लेखी प्रमाण उपलब्ध करा दिए। जिस पर उस डाक्टर पर कड़े क़दम सरकार ने उठाए। जिसके फलस्वरूप उस अस्पताल के अन्य डाक्टरों, नर्सों आदि का व्यवहार रोगियों के प्रति एकदम परिवर्तित हो गया। रोगियों ने भी संघी जी को आशीर्वाद दिया। एक रोगी द्वारा अपने चिकित्सक के अन्याय के प्रति इस प्रकार के कठोर क़दम का उदाहरण बहुत कम मिलता है, क्योंकि रोगी के प्राण तो सदा उस डाक्टर के हाथ में ही रहते हैं जिसकी कि वह शिकायत करने जाता है। पानी में रहना और मगरमच्छ से बैर के लिए कितने तैयार होते हैं। यह संघी जी की निर्भीकता का और अन्याय के प्रति जूझने का एक उदाहरण है। उनका जीवन तो इसी प्रकार की अनेक घटनाओं से परिपूर्ण रहा है।

बापू के साबरमती आश्रम में भी १६२६ में संघी जी रह चुके थे। वहाँ पर भी अपनी सेवा भावना और कर्तव्य परायणता के कारण बापू के बड़े प्रिय हो गए थे। आश्रम में नित्य नए प्रयोग होते ही रहते थे। एक बार पानी में २४ घण्टे भिगा कर बिना उबाले ही कच्चा अन्न खाने का प्रयोग आश्रम में आरम्भ हुआ। उसकी प्रतिक्रिया भिन्न भिन्न व्यक्तियों के शरीर पर कैसी होती है; उनकी शक्ति में ह्रास होता है या वृद्धि और पाचन क्रिया कैसी क्या रहती है आदि सूक्ष्मतम तथ्यों का लेखा जोखा रखने का काम संघी जी को सौंपा गया था। जिसका सांगोपांग विवरण संघी जी ने बापू के सम्मुख प्रस्तुत किया जिसे देख कर बापू बहुत ही प्रसन्न हुए थे। जब बापू सेवाग्राम आए तो वहाँ भी प्रति वर्ष नियमित रूप से संघी जी जाना नहीं भूलते थे। बम्बई में जब हम दोनों को बापू के महानिर्वाण का समाचार मिला तो संघी जी एकदम रो पड़े थे।

हैदराबाद में १६२८ में जब घर-घर चर्खे का चलन और खादी उत्पादन का कार्य आरम्भ हुआ तो चर्खा यज्ञ के अग्रणी होताओं में रामगोपाल जी भी एक थे, उनके अन्य सहयोगियों में भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री कन्हैयाप्रसाद, वर्तमान यातायात मन्त्री श्री एम. नरसिंह राव, संपादक "रैयत" श्री बदरुल हसन, श्री वामन नायक, पं० लक्ष्मीनारायण वाजपेयी 'चर्खा पण्डित' आदि मुख्य थे। उस समय सारे देश में स्वदेशी आन्दोलन का ज़ोर था। महात्मा गांधी ने निःशस्त्र भारतीयों को चर्खा रूपी सुदर्शन चक्र हाथ में देकर पूर्ण स्वराज्य का अपना ऐतिहासिक अभियान आरम्भ किया था। उस समय अंग्रेज़ सरकार और उनके आश्रित देशी राज्यों के शासक चर्खे से उसी प्रकार भय खाते थे, जैसे कि आज अमरीका साम्यवाद से डरता है। आज की तरह उस समय खादी पहनने वालों की बाहुल्यता नहीं थी, क्योंकि उस समय खादी को अपनाना सरकार से अकारण ही शत्रुता मोल लेना था। फिर भी आज से कहीं अधिक चर्खे उस समय हैदराबाद के घरों में चलते थे।

हैदराबाद में हिन्दी प्रचार सभा की १६३५ में स्थापना तो अभी कल की-ही बात है। सरकारी नौकरी में रहते हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना ही नहीं उसके कार्यों में 'पीर, बबर्ची, भिश्ती खर' की तरह कार्य करना एक साहस की बात थी। उस समय संघी जी का वेतन कुल ३०—३५) था और सभा के व्यय कार्यों में समय देने के कारण संघी जी को अपना ३०) मासिक का सायंकालीन अध्यापन कार्य का परित्याग करना पड़ा। यह उनका त्याग ही कहा जाएगा, एक ओर तो इस प्रकार उनकी आय आधी रह गई और ऊपर से सभा के लिए वे कुछ खर्च करते ही थे।

हिन्दी प्रचार सभा की ओर से प्रधान मन्त्री सर अकबर हैदरी, शिक्षा मन्त्री आदि के पास उन्होंने प्रतिनिधि मण्डल भेज कर हिन्दी की शिक्षा की मांग रखाई थी। इन प्रतिनिधि मण्डलों में नगर के गण्यमान्य व्यक्ति थे। उस समय की सरकारी नीति उर्दू को भारत-

की राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना था। इसके लिए अंजुमन-ए तरक़्क़ी-ए-उर्दू को निज़ाम सरकार का राज्याश्रय प्राप्त था। हिन्दी को उर्दू के प्रसार के मार्ग में रोड़ा समझा जा रहा था। यदि देश की उर्दू लिपि अस्वीकार्य हो तो रोमन लिपि ग्रहण की जाए पर देवनागरी लिपि कदापि नहीं। इस निमित्त हैदराबाद के ही डा० सैयद लतीफ़ ने लतीफ़ी रोमन लिपि के नाम से अपनी योजना देश के सम्मुख रखी थी। इस प्रकार भाषा ही नहीं लिपि छोड़ने के लिए भी एक राष्ट्र व्यापी षड्यन्त्र इसी निज़ाम राज्य की छत्रछाया में चल रहा था। ऐसे समय एक सरकारी नौकर का हिन्दी प्रचार का आन्दोलन इस राज्य में उठाना राजद्रोह से कुछ कम अपराध नहीं था। सरकार की दृष्टि संघी जी पर गिद्ध की तरह लगी हुई थी। प्रत्यक्ष रूप से तो सरकार संघी जी को दोषी घोषित नहीं कर सकती थी, परन्तु परोक्ष रूप से उन्हें परेशान करने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी; अन्त में विवश हो उन्हें अपनी अनेक वर्षों की सेवा का अधिकार परित्याग कर सैनिक विभाग से नागरिक विभाग में आना पड़ा।

इस प्रकार स्वयं सरकारी कोप के वे शिकार बने परन्तु उन्होंने सभा की सेवा से मुख नहीं मोड़ा। हिन्दी के विद्वानों, हिन्दी के प्रेमियों, हिन्दी के प्रचारकों आदि को ढूँढ ढूँढ कर सभा की ओर आकर्षित करने लगे। जिससे उन सब की प्रतिभा का सदुपयोग हिन्दी प्रचार सभा को प्राप्त हुआ और उसकी वर्तमान प्रगति सम्भव हो सकी। अन्यथा अनेक संस्थाओं की तरह वह भी थोड़े दिन टिमटिमा कर समाप्त हो जाती। जीवन के पिछले दिनों में जब सभा की किसी साहित्य गोष्ठी या समारोह का निमन्त्रण उनके पास नहीं पहुँचता तो उन्हें गहरा दुःख होता था; परन्तु फिर भी बिना निमन्त्रण भी उसमें सम्मिलित हो जाते थे। भाषण आदि सुनते पर जलपान में सम्मिलित नहीं होते थे। कोई यदि जलपान के लिए अनुरोध करता तो कह देते कि : "कैसे कहूं मैं तो बिना निमन्त्रण आया हूँ।"

हैदराबाद स्टेट काँग्रेस की स्थापना और बाद में उसके सत्याग्रह के विरोध में धुआँधार प्रचार हो रहा था। उसके प्रत्युत्तर में तथ्यों के परिपूर्ण कुछ पुस्तिकाएँ बम्बई से देशी राज्य लोक परिषद के कार्यालय से प्रकाशित करने में इनका योग था। तब इस परिषद् के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू थे। 'जन्मभूमि' संपादक स्व० अमृतलाल को उन्होंने यहाँ के काफ़ी सामग्री भेजी थी। जिसका यहाँ के बहुत कम लोगों को पता है। मुझ पर संघी जी का अत्यधिक विश्वास था अतः मुझ से वे कोई बात छिपाते नहीं थे। ऐसे कार्यों में मैं भी उनका एक माध्यम था।

१९४७-४८ में भारतीय स्वतन्त्रता के बाद जब निज़ाम ने 'आजाद हैदराबाद' का नारा लगाया और इत्तेहादुल मुसलमीन पर अपना वरद हस्त रख कर उसके द्वारा निज़ाम राज्य की बहुसंख्यक लोगों को भगा कर उन्हें अल्पसंख्यक में परिणित करने का जो षड्यन्त्र रचा गया था, उसके प्रतिकार में राज्य के उच्च अधिकारियों में राष्ट्रीय भावना भरने में भी उनका प्रशंसनीय योग रहा। हैदराबाद में भारत के एजेण्ट जनरल श्री कन्हैयालाल मुन्शी आदि को महत्वपूर्ण तथ्य देते रहे। पत्रों में प्रकाशनार्थ भी कई तथ्य उन्होंने दिए। इसके लिए वे बार-बार बम्बई भी जाते रहे। जहाँ कि मैं भी था।

प्रेम नगर कालनी, प्रेमचन्द सोसायटी आदि संस्थाओं के वे संस्थापक और मन्त्री भी थे। भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू को 'अभिनन्दन ग्रन्थ' भेंट करने के लिए उन्होंने प्रयत्न किया था। जिसमें वे एक या दूसरे कारणों से सफल नहीं हो सके। परन्तु महिला नव जीवन मण्डल ने जब भारत कोकिला की स्मृति में 'सरोजिनी देवी हाल' का निर्माण कर नेहरू जी से उसका उद्घाटन करवाया तो उन्हें अपार आनन्द हुआ था।

एक बात और संघी जी "सप्तपदीनं सख्यम्' अर्थात् सात शब्दों के संभाषण से ही दो व्यक्तियों में मित्रता हो जाती है कि कला में बड़े पटु थे। मृदु भाषी और लोकसंग्रह में भी उनका स्थान ऊँचा था। सर्वत्र उनके मित्र थे। वे विनयी, मिलनसार और सदा हंसमुख रहते थे। अनेक संस्मरण उनकी मृत्यु के कारण प्रकाश में नहीं आ सके।

पो० बा० १०,
हैदराबाद

—बंकटलाल ओझा

कला-चर्चा

कला में आधुनिकवाद

अखिल भारतीय ललित कला अकादमी की ओर से पिछले दिनों जनवरी के तीसरे सप्ताह में दिल्ली में चित्रों की एक प्रदर्शिनी आयोजित की गई। ललित कला अकादमी की ओर से जिन १० चित्रों को श्रेष्ठ निर्धारित किया गया है, इन चित्रों को एक सरसरी नजर से देखने पर इस बात का स्पष्ट रूप से पता चलता है कि इन चित्रों में एक चित्र भी इस प्रकार का नहीं है जो कि भारतवर्ष की प्राचीन या अर्वाचीन चित्रकला का प्रतिनिधित्व करने वाला हो। भारतवर्ष की कितनी ही पुरानी चित्र शैलियाँ हैं। इनमें बौद्ध, गुजराती, राजस्थानी, मुग़ल, पहाड़ी और दखनी आदि मुख्य हैं। लन्दन में चित्रकला की जो प्रदर्शिनी हुई थी उसमें इन सब शैलियों के चित्र थे और यूरोपियन आलोचक इन शैलियों के चित्रों से अत्यधिक प्रभावित हुए थे परन्तु दिल्ली की इस प्रदर्शिनी में भारत की इन प्राचीन शैलियों का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी एक भी चित्र को पुरस्कार के योग्य नहीं समझा गया। यह सचमुच दुःख का विषय है कि इस प्रदर्शिनी में के श्रेष्ठ चित्रों में भारतीय परम्पराओं और शैली चित्रों में उचित प्रतिनिधित्व अभिलक्षित नहीं होता। क्या भारतीय कला की शैलियों में आधुनिक चित्रकारों की कुछ विशेष आस्था नहीं रह गई है? इस सम्बन्ध में विचित्र बात यह है कि तथाकथित आधुनिक कलाकार यूरोपीय चित्रकारों की आधुनिक शैली का अन्धानुकरण कर रहे हैं। संभवतः उनकी सम्मति में प्राचीन कला-प्रणालियों में अब कुछ जीवनी शक्ति अवशिष्ट नहीं रह गई है और इन शैलियों का समय समाप्त हो चुका है। जिन चित्रों को इस कला-प्रदर्शिनी में श्रेष्ठ समझा गया वे सब यूरोप के इम्प्रेशनिस्ट, सिम्बोलिक, क्यूबिस्ट और एबस्ट्रेक्शनिस्ट चित्रण-शैलियों के आधार पर बनाए गए हैं। इन चित्रों में एक चित्र भी ऐसा नहीं चुना गया है जो कि भारतीय कला शैली का यथार्थ रूप से कुछ भी प्रतिनिधित्व करता हो। यह तो संभव नहीं प्रतीत होता कि भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों से किसी चित्रकार ने प्राचीन शैली के चित्रों को इस प्रदर्शिनी के लिए न भेजा हो। संभवतः चित्रकला के पारखियों ने उन्हें इस योग्य न समझा हो कि वे आजकल की वादपूर्ण नवीन चित्रकला की शैली में आदरणीय स्थान प्राप्त कर सकें। क्या इन पारखियों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे भारतीय कला का प्रतिनिधित्व करनेवाले चित्रों को अखिल भारतीय ललित कला अकादमी द्वारा आयोजित कला-प्रदर्शिनियों में समुचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करें! इस प्रदर्शिनी में जिन दस चित्रों को श्रेष्ठ समझ कर पुरस्कार प्रदान किया गया उससे यह ज्ञात होता है कि अब चित्रकला में एकमात्र "आधुनिकवाद" का बोलबाला है। इन चित्रों को देखने से ऐसा अनुभव होता है कि भारतीय चित्रकला के कर्णधार अब एकमात्र यूरोपीय चित्रकला शैली में ही निष्ठा रखते हैं और उनके अनुकरण में चित्र बनाने में ही भारतीय चित्रकला की सार्थकता समझते हैं। क्या यह संभव नहीं था कि चित्रकला के आलोचक भारतीय और अन्य समस्त शैलियों के प्रतिनिधित्व करने वाले चित्रों का चयन करते? क्या कारण है कि उन्होंने भारतीय शैलियों के प्रति इतनी उदासीनता प्रदर्शित की है?

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् होना तो यह चाहिए था कि भारतीय कला-शैलियों का पुनरुज्जीवन होता परन्तु उसके स्थान पर हो यह रहा है कि भारतीय कला से किसी प्रकार की शक्ति या प्रेरणा प्राप्त नहीं की जा रही है और उसके स्थान में यूरोपीय "आधुनिकवाद" का चित्रण-कला में अन्धानुकरण प्रारंभ हो गया है। एकमात्र चित्रण कला में ही नहीं भारतीय भाषाओं में जो आधुनिक साहित्य उत्पन्न हो रहा है; जो उपन्यास, नाटक और कविता आदि की सृष्टि हो रही है उनमें भी 'आधुनिकवाद' का ही अन्धानुकरण किया जा रहा है। जो भारतीय चित्रकार यूरोप में चित्रकला

१९५७

अपने रागात्मक सम्बन्ध को उन्होंने पर्याप्त स्थान दिया है अन्यथा इसके अभाव में उसका कुछ भी प्रभाव पाठक-वृन्द पर नहीं पड़ सकता।

हाँ, इस सिलसिले में एक बात की ओर ध्यान देना होगा कि नई कविताओं में तोड़-फोड़, विध्वंस, संदेह, अनास्था का स्वर भी पर्याप्त है। इसका कारण यह है कि नए की सृष्टि करने के पहले पुरानी रूढ़ियों, मान्यताओं आदि से संघर्ष आवश्यक है। वह कहीं तो व्यंग्य विद्रूप के रूप में, कहीं करारी आलोचना के रूप में और कहीं अवज्ञा के रूप में दिखलाई पड़ता है। कहीं-कहीं अति साहसिकता और उद्दाम वेग, अहंकार का स्वर भी प्रखर रूप से सुन पड़ता है। इन सबके बीच से जो जाने वाली भावधारा है वह अभिनव सृष्टि की प्राक् क्रिया है जिसके बाद सुन्दर आने वाला है। इन सब बातों पर एकत्र विचार करने पर हमें यह बात स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगी कि इन कवियों द्वारा नए युग की आशा-आकांक्षा, भय-चिन्ता और मानसिक उद्वेगों के चित्र सफलता से अंकित हो रहे हैं एवं साथ ही संसार को नए वातावरण में देखने समझने का विचार भी दृढ़ होता जा रहा है। सभी ओर से नए अनुभव प्राप्त करने की यह आकांक्षा नई कविता की विशेषता बनती जा रही है। वह अनुभव जूझते रहने के समय ही प्राप्त करना है, जीवन से भाग कर नहीं। वस्तु और शिल्प दोनों में नवीन अनुभव प्राप्त करने की आकांक्षा है।

शब्दों में नए अर्थ और नए भाव की लहरियों का स्वागत करने की आकांक्षा नए कवियों में दीख पड़ती है। वे भले ही इसमें पूर्णतः समर्पित हो जाएँ इसकी चिन्ता नहीं। 'वसुधा' अक्तूबर १९५६ में प्रकाशित एक कविता की कुछ पंक्तियाँ इसकी पुष्टि करेंगी :

"जहाँ भी रहूँगा मैं
भार को सहूँगा मैं
जिसको तुम कल तक थे
अपने में घेरे
भाव शब्द अर्थ नहीं
होंगे वे मेरे......
....
लहर लहर झेलूँगा
टूटूँगा; बिखरूँगा
एक नया अनुभव
पर
आत्मसात् कर लूँगा;—

—परमानन्द श्रीवास्तव

अपने ऊपर अदम्य विश्वास भी नए कवियों में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर हो रहा है। पुराने कवियों को चुनौती देते हुए एक प्रकार से उन्हें उखाड़ फेंकने की वृत्ति भी इन कवियों में दिखलाई पड़ती है, जिन्हें लोग महज अक्खड़पन और परम्परा के प्रति अवहेलना का भाव भी कह सकते हैं, पर इस शोखी में उनकी आस्था स्पष्ट ही झलकती हुई प्रतीत होती है। 'क्षितिज' अगस्त १९५६ में श्रीहरि की एक कविता 'चाचा गीतकार' में उन्हीं पुराने गीतकारों पर आक्रोश है, जिसमें उनकी काव्य पद्धति का बासीपन दिखलाते हुए नए स्वरों का अभिनन्दन किया गया है :

"नन्हें हाथ नहीं टूटेंगे
फौलादी हैं—
ये भाषा के हैं, स्वर के हैं
नई चेतना के, आस्था के हैं, वर के हैं
किसी मूल्य पर नहीं बिकाऊ होंगे
किन्हीं योजनाओं से बँध कर नहीं चलेंगे
सभी युगों के
सभी भूमियों के
जग की सारी जनता के
मुक्ति, मुक्ति चिन्तन के, ये हैं व्यक्ति-व्यक्ति के
नन्हें हाथ नहीं टूटेंगे
हाँ इनसे कुछ सोच-समझ कर ही टकराना"

यह आस्था का स्वर कहीं व्यंग्यात्मक रूप से, कहीं आक्रोश रूप में असंख्य कविताओं में व्यक्त हुआ है। तिक्तता और अवसाद के गर्भ में झाँकते जीवन की अंगड़ाइयाँ दीख पड़ेंगी। इस प्रकार के विद्रूप को उदासीनता भी फूँक से नहीं उड़ाया जा सकता। निराशा से जूझने की तीव्र आकांक्षा भी कम नहीं है। इस व्यंजना को समझना और नई कविता की गहराई में प्रवेश करना एक ही बात है। जीवन के यथार्थ को स्वीकार करने का साहस नई कविता ने दिखलाया है,

इसीलिए उसमें विकृति को भी स्थान मिल गया है। पर उस विकृति को उधेड़ने में यह आकांक्षा है कि हमारी समस्याएँ हमारे सम्मुख हो जाएँ। नया कवि उत्तर नहीं प्रश्न चाहता है। वह अपने और दूसरों के ऊपर व्यंग्य कसता हुआ यथार्थ की चट्टान से टकराना चाहता है और उसकी टकराहट में चेतना के जो स्फुलिंग उड़ते हैं, वे भावी आलोक की सूचना देने वाले हैं। इस विचार बिन्दु को समझना हमारे लिए नई कविता की मूलभूत वस्तु की थाह पाने जैसा है :

"नहीं, नहीं
उत्तर नहीं,
प्रश्न दो
उत्तर तो मैं दूँगा!
ज़िन्दगी चाहता हूँ
ज़िन्दगी में लूँगा!"

प्रश्न के आह्वान के साथ-साथ नया कवि संसार के अन्यान्य वर्ज्य और अवर्ज्य वस्तुओं को स्वीकार करने को तैयार है। उसकी कविताओं की वस्तु ही इसका प्रमाण है। न मालूम उसने ऐसी कितनी ही वस्तुओं पर रचनाएँ कर डालीं, जो अभी तक कविता के पवित्र क्षेत्र में प्रवेश करने का साहस नहीं कर सकती थीं। 'नई कविता का स्वर' कविता में इसका मुखर स्वर सुना जा सकता है :

"जो भी दो,
चाहे जो दो
स्वीकार करेंगे हम सब को
यह हलकापन—यह थोथापन
यह टूटा दिल—जर्जर तन मन
दर्शन चिन्तन—अपवाद वाद
रीता जीवन...
स्वीकार करेंगे हम सब को
जर्जर टूटी सन्तानें हम
अपनी आस्था के शुभ बल पर"
—लक्ष्मीकान्त वर्मा

इस आस्था के शुभ बल पर स्वीकार करने की क्षमता कवि में तभी आ सकती है, जब उसने सत्य का मूल्य पहचाना है और प्रत्येक वस्तु को उसके अपने प्रकाश में जगमगाते या धुँधुआते देखने की दृष्टि से विकास कर सका है।

आज की समस्या विचार की समस्या है। जिस किसी छोटी-बड़ी चीज़ को हम विचारों की कसौटी पर ही कस कर उसका खरापन जाँच सकते हैं। अतः आज का कवि भावुकता को सहलाता नहीं, अपने विचारों के द्वारा कौंध कर पाठकों पर तेज प्रकाश उंडेल देना चाहता है। यह स्थिति नई होने के कारण पाठकों को कुछ नई अवश्य लगती है, परन्तु जैसे-जैसे ऐसी कविताएँ अपनी जड़ जमाती जा रही हैं, उनको सहानुभूति देने वाले भी बढ़ते जा रहे हैं।

कुछ वर्ष पूर्व 'दूसरा सप्तक' में भवानी प्रसाद मिश्र ने अपनी वाणी की दीनता का वर्णन किया था, किन्तु उस अवस्था में भी कवि को अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास था। कम से कम अपनी दुर्बलता लेना ही शक्ति अर्जित करने की ओर प्रयाण करने का शुभ चिन्ह हैं।

"वाणी की दीनता
अपनी में चिन्तना
कहने में अर्थ नहीं
मिलती है कहने में
एक तल्लीनता"

यह तल्लीनता—यह साधना—कवि की विशिष्ट विभूति है। वही तल्लीनता बढ़ती गई और अपनी वाणी की दीनता पहचानने वाला नया कवि कुछ वर्षों के बाद और भी ज़ोर से अपने विश्वास को प्रकट कर सकने में समर्थ हो सका। श्याम मोहन श्रीवास्तव की कविता ने इस बात को और पुष्ट किया गया है :

"एक ही विश्वास जीवन में मिला मुझको
मिला बस एक ही विश्वास...
....
इस सघन तम में टटोलूँ राह
जो निर्मित हुई दूसरे हाथों
नहीं स्वीकार यह मुझको
नहीं स्वीकार
मैं अकेला ही रहूँ—ये गीत मेरे साथ
....

१६५७

एक सूरज दीप्त कर लेता
अतल आकाश !"

इन कतिपय कविताओं को देख कर हम पूरे विश्वास से कह सकते हैं कि आज की कविता में आस्था के स्वर पर्याप्त हैं। जहाँ हमें अनास्था के स्वर सुन पड़ें, वहाँ भी यदि हम विचारपूर्वक उसकी गहराई में प्रवेश करके अपने कानों को साधें तो हमें आस्था की ही लालसा दीख पड़ेगी, जो सृष्टि की लालसा है।

हम अधकचरे और अबोध कवियों की बात नहीं कहते, किन्तु जो लोग सजगता और पूरी जवाबदेही के साथ कविता कर रहे हैं, उनकी कविताओं में आक्रोश भी एक विशेष अर्थ रखता है, जो विश्व की घटनाओं को बदलने की आकांक्षा रखता है। इस नए भाव-बोध ने हम सबों को एक अभिनव चिन्तन और भावक शैली दी है, फलस्वरूप हम इन कविताओं को मनोरंजन के निमित्त चलते-फिरते ढंग से नहीं पढ़ सकते। यही कारण है कि ये कविताएँ अपनी पूर्वजाओं के समान कवि सम्मेलनों का रंगमंच नहीं छीन पातीं, पर यह तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि इन कविताओं में जो समर्थ कविताएँ हैं, उन्होंने हमारे मानस मंच को अवश्य ही अधिकृत किया है। अतः इन कविताओं से हमारी अपेक्षाएँ बदलनी चाहिएँ और नए पाठकों को नए युग की कविताओं में उठने वाले आस्था-स्वर और उनमें निहित व्यंग्य को पहचान कर उनकी पुष्टि पर स्वतः आस्थावान् होना चाहिए। नई कविताएँ अब जड़ें जमा चुकी हैं और यह इसलिए सम्भव हो सका है कि अपनी कतिपय त्रुटियों के बावजूद उनमें जीवन का स्पन्दन है और है युगीन आकांक्षाओं को समेटने की शक्ति।

कोओपरेटिव कालेज,
जमशेदपुर

—सत्यदेव ओझा

(२)

अजन्ता के सम्बन्ध में

नेशनल लाइब्रेरी में सौभाग्य से आँखें 'अजन्ता' के पन्नों पर पड़ीं। रंगनाथ 'राकेश' कलकत्ता यूनिवर्सिटी में संस्कृत के एम. ए. हैं। उनकी एक ज्वलन्त कृति सामने आई। मन-मेधा, आँखों, प्राणों से इसे पी गया। अब अपनी राय इस कविता पर दे दूँ।

वस्तुतः 'अजन्ता' का शिल्प पिछले मार्च अङ्क में इतना निखरा है कि दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। 'सौन्दर्य आदिम अनुभूति : अधुना' शिल्प, शैली, भाषा, प्रवाह, रूप विधान, मूर्त प्रतीकों एवं विषय की दृष्टि से अद्वितीय है। ऋग्वेदीय सारल्य और शुचिता के दर्शन इसके पूर्वार्ध में होते हैं जहाँ हमारा हृदय मन्त्र-मुग्ध भुजंग की भाँति झूम उठता है। मूर्त-प्रतीकों का यह वैभव हिन्दी साहित्य में किसी भी एक कविता में कदाचित् ही इस रूप में मिले। निराला की 'जुही की कली' एक इतिवृत्त-सी है पर इसमें तो वे जीवन्त प्राणवान् चित्र हैं जो अपने में इतने सशक्त हैं कि प्रस्तर हृदय दूर्वा-सा सिहर उठता है। उदाहरण स्वरूप:

"संगमर्मरी उघरे वक्षस्थल पर
सहज लाज का कुंचित वल्कल अंचल"

इतना मांसल चित्रण होने पर भी अश्लीलता की झलक नहीं मिलती। 'संगमरमरी' कह देने से कितनी ध्वन्यात्मकता और मूर्त रूप विधान का संयोग हो उठा है। यह सहृदय ही बूझ पाएँगे। 'लाज का सहज आंचल'—कितनी मासूमियत है, कितनी सौन्दर्यानुभूति है। "अधुना" अंश में जो तीक्ष्ण व्यंग्य राकेश की Creative poetic genius ने किया है उसे देख कर Dryden की याद आ जाती है। समग्र विंश शताब्दी की तथाकथित 'मानवता' पर चोट है।...मुख में राम बगल में छुरी ! फिर वर्तमान नारी सौन्दर्य के प्रति जो दमदार Satire किया गया है—उसे देख कर रूह काँप उठती है। यदि नारी हृदय होगा तो तिलमिला उठेगा पर है तो नंगा सत्य यह !

अन्त में जो पर्यवसान कवि ने किया है वह कितना निर्वेदपूर्ण है :

"युग के कादम्बरी तले रोते हैं
ओ मंजु माँ कवि होना अभिशाप यहाँ"

दोनों सूत्र 'आदिम अनुभूति' और 'अधुना' की Uniformity विस्मय जनक है। हिन्दी साहित्य हेतु यह गौरवपूर्ण कृति होगी ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है। हम राकेश से और ऐसी आशा करेंगे।

१६ महर्षि देवेन्द्र रोड,
कलकत्ता ७

—दामोदर प्रसाद चौधरी

(३)

गत कई माह से, 'अजन्ता' पढ़ रही हूँ। आजकल साधारणतः शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं का अभाव-सा है। इस अभाव की पूर्ति 'अजन्ता' के लेख, कहानी आदि में मुझे मिली और भविष्य में भी 'अजन्ता' इसी प्रकार साहित्य की सेवा करती रहे, यह मेरी कामना है।

मार्च का अङ्क मेरे सामने है। श्री कैलाश कल्पित का एकांकी "सम्पादक का कमरा" श्री वाचस्पति गैरोल का "भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन" श्री रघुनाथ शास्त्री का "ख़्वाजा अहमद की काव्य साधना" और श्रीहरि की "शिव की प्रतिमा" अच्छे लगे। हरि जी की कहानी यद्यपि प्राचीन विश्वासों पर गढ़ी हुई है और आजकल का बुद्धिवादी समाज उसको मानने से इनकार कर देगा तब भी वह एक अच्छी कहानी मुझे लगी। जिस सुन्दरता के साथ, वास्तविकता की पूर्ण अनुरूपता "कल्पित" जी ने अपने नाटक में की है उसके लिए उन्हें मेरी बधाई।

दरभंगा कैसल कम्पाउण्ड,
इलाहाबाद
—सन्तदासी सक्सेना

(४)

मार्च, १९५७ के 'अजन्ता' के अंक में वैसे तो सभी कविताएँ अच्छी हैं परन्तु उनमें भी श्रीयुत रंगनाथ राकेश की कविता उल्लेखनीय है। 'अजन्ता' के किसी पिछले अंक में श्रीयुत रंगनाथ राकेश का पत्र प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़ कर ही उनकी कवित्वमयी प्रतिभा का आभास प्राप्त होता था। उनके 'सौन्दर्य के वर्णन में एक नवीनता है, अपनी ही अनुभूति है।

"त्वष्टा की अनुपम कृति,
सुरभित कलिका-सा खिलता उभार
अलिकुल-संकुल मंजुल केशी
वाणी में कच्ची शहद-घुलन
पल में प्रस्तर, पल में माखन"

इसमें सन्देह नहीं कि वर्णन करने के ढंग में पहले श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त की कुछ झलक-सी दिखाई पड़ती है परन्तु ज्यों ज्यों कविता आगे बढ़ती जाती है उसमें अपना ही निखार आता जाता है। श्रीयुत देवनाथ पाण्डेय 'रसाल' अपने ही रंग और अपने ही ढंग की कविताएँ लिखते हैं :

"बादलों की टोकरी में
लाल किरणों की
भरे नारंगियाँ"

इन पंक्तियों में नवीन और अछूता रूपक बाँधा गया है। विद्यानन्दन 'राजीव' का 'गीत' भी सुन्दर बन पड़ा है। और श्रीयुत नटवरलाल 'स्नेही' ने 'पुराने सरोवर' कविता में प्राचीन कविता की प्रशंसा की है और उधर कहा है :

"आज काव्य की गति 'प्रयोगशीला'
मित्र ! अतः कुछ नव्य प्रयोग करो"

क्या यह संभव नहीं है कि 'अजन्ता' में प्रकाशित सुन्दर कविताओं को संग्रह रूप में प्रकाशित किया जाए ? लेखों में "भारतीय मूर्तिकला में लाक्षणिकता" श्रीयुत वाचस्पति गैरोल का "भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन" श्रीयुत कैलाश कल्पित का एकांकी "सम्पादक का कमरा" पठनीय है। आशा है कि श्रीयुत इन्द्र विद्यावाचस्पति की "मेरे पत्रकारिता के अनुभव" लेखमाला के रूप में 'अजन्ता' में प्रकाशित होती रहेगी। श्रीयुत इन्द्र विद्या वाचस्पति का हिन्दी की दैनिक पत्रकारिता में अपना ही एक विशिष्ट स्थान है। उन्होंने हिन्दी के दैनिक पत्रों में जिस प्रकार संघर्ष किया है वह हिन्दी के पत्रकारिता के इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है।

सम्पादकीय में अखिल भारतीय रेडियो से जो एक निवेदन किया गया है—रेडियो के अधिकारियों को उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। अखिल भारतीय रेडियो को भारतवर्ष की भिन्न भिन्न भाषाओं में एकमात्र वार्ताओं और समाचारों का प्रसार ही नहीं करना चाहिए अपितु उनमें निकट सम्बन्धों को स्थापित करने और जहाँ संभव हो वहाँ एकरूपता स्थापित करने में सहायता प्रदान करनी चाहिए। अखिल भारतीय रेडियो की ओर से जो पत्र निकलते हैं क्या उनमें ऐसे फ़ोरम की स्थापना नहीं की जा सकती जिसमें रेडियो के श्रोताओं के विचार प्रकाशित होते रहें।

—कवि

"आपका परिचय
आप हैं
प्रगतिवादी
साम्यवादी
जातिवाद के कट्टर विरोधी
सुप्रसिद्ध कवि, लेखक,
कहानीकार, उपन्यासकार,
श्री पं. दुखिलानन्द जी शर्मा,
क्या कहा आपने
"जातिवाद के कट्टर विरोधी और शर्मा"
जी कुछ नहीं, कुछ नहीं
आप नहीं जानते
आदमी होता है
बेपूँछ का एक जानवर
शायद इसलिए अपने नाम के पीछे
शर्मा, वर्मा, बंसल, कंसल की
एक दुम लगा लेता है"

"युग की माँग" कविता में 'माँग' की सबलता को देखिए :

"मत गतिरोध बनो
नव निर्माणी पथ में
सच कहता
जन-सागर की लहरों से
नहीं टकरा पाओगे
यह आवाज़
नहीं मिट्टी के पुतलों की
युग की माँग
नहीं ठुकरा पाओगे''

'अवारा सूअर' कविता ठीक निशाने पर बैठती है। उसमें हास्य और व्यंग्य की चोट बड़ी करारी है।

"अपने कवि से" में वह कहता है :

"मत अपनी गाथा गाओ कवि,
मत भूल सत्य की निष्ठुरता
सपनों के महल बनाओ कवि
छोड़ो कल्पना के दामन को
ज़िन्दगी तुम्हें पुकार रही
धरती पर उतरो कुटिया में आओ
जन-जन की मनुहार यही"

"चिनगारी" की कविताओं में "सत्य की निष्ठुरता" कहीं-कहीं अत्यन्त निष्ठुर रूप में प्रकट हुई है और इस निष्ठुरता ने जहाँ व्यंग्य और विद्रूप के रूप में "कल्पना के दामन" को पकड़ा है वहाँ वह और भी अधिक निष्ठुर हो गई है परन्तु इस निष्ठुरता में बल है जन-जीवन को जगाने की ललकार और शक्ति है।

अन्तर्द्वन्द्व : (रूसी उपन्यास 'ड्यूएल' का
अनुवाद)
मूल लेखक : एण्टन चेखव
विष्णु शर्मा
प्रकाशक : किताब महल,
५६—ए जीरो रोड, इलाहाबाद
मूल्य : तीन रुपया।

अनुवादक ने Duel का अनुवाद "अन्तर्द्वन्द्व" किया है जब कि इसका अनुवाद एक मात्र "द्वन्द्व" या "द्वन्द्व युद्ध" होना चाहिए। "अन्तर्द्वन्द्व" तो मनुष्य के मन के भीतर होता है जब कि इस उपन्यास में तो अन्त में "द्वन्द्व-युद्ध' हुआ है और चेखव ने इस उपन्यास में यूरोप की Duel या द्वन्द्व युद्ध की प्रथा के विरुद्ध आवाज़ उठाई है। एण्टन चेखव ने इस उपन्यास में जो कहानी लिखी है वह साधारण है परन्तु उसकी असाधारणता इस बात में है कि वह किस प्रकार इसमें अपने मुख्य पात्रों की जीवन-धारा को परिवर्तित कर देता है। सारा कथानक एक ऐसा नवीन रूप धारण कर लेता है जो कि कहानी के ट्रेण्ड से सर्वथा अप्रत्याशित है। "...सत्य की खोज में मनुष्य दो पग बढ़ाता है और एक पीछे रखता है। तकलीफ़ें, ग़लतियाँ और ज़िन्दगी की थकान खोजनेवाले को पीछे फेंकती है—लेकिन जिज्ञासा और प्यास और दृढ़ता उसे आगे बढ़ाती चली जाती है—आगे-और आगे। और कौन जानता है शायद एक दिन सत्य के पास पहुँच ही जाय—।" चेखव ने इस कहानी में यह प्रदर्शित किया है कि मनुष्य सबसे अधिक जिस चक्कर में है वह अहंकार का चक्कर है और इसलिए डीकन कहता है : "हे भगवान्! हे भगवान्! एक व्यक्ति हज़ारों-लाखों को

परास्त करता है।......आज तुमने इन्सान के सबसे बड़े दुश्मन-गर्व को परास्त किया है।" लेब्सकी के जीवन का चित्र कैसा स्वाभाविक है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उसने उसके प्रतिदिन के जीवन के द्वारा रूस और यूरोप के प्रतिदिन के जीवन का चित्रण किया है: "सुबह उठकर नहाना और काफ़ी पीना, दोपहर के भोजन तक गप्पें मारना, दो बजे खाना और शराब, पाँच बजे नहाना, चाय और शराब, उसके बाद "विस्ट' खेलना और झूठी गपबाज़ी, दस बजे रात को फिर भोजन और शराब और आधी रात के बाद नींद और औरत। इस छोटे-से दायरे में उसका जीवन बँधा हुआ है।... क्रोध या हँसी, उठना या बैठना, कोई भी भाव हो वह फँसा रहता है शराब में ताश में या औरतों में।" और अन्त में यह जीवन ऐसा परिवर्तित हो गया है कि..."मेज़ें, कुर्सियाँ, खिड़कियां, रोशनी और सागर—यह सब उस को बच्चों का-सा हर्ष और सुख दे रहे हैं जितना वर्षों से नहीं हुआ था।...वह सुबह से रात तक काम करता रहता है...। वह बहुत ही सीधे-सादे ढंग से रहता है।"

इस उपन्यास को पढ़ने से चेख़व का रूस के प्रति गहरा प्रेम अभिलक्षित होता है। उपन्यास के मुख्य-पात्र के शब्दों में संभवतः स्वयं चेख़व कहता है: "मास्को या टूल्म के प्रदेशों की किसी छोटी नदी में स्नान कर पाने के लिए मैं अपना आधा जीवन न्योछावर कर सकता हूँ; वहाँ शीत का अनुभव करने के लिए, किसी विद्यार्थी के साथ घंटों टहलने और अनन्त रूप से बातें करने के लिए, सूखते हुए भूसे की सोंधी उसास के लिए—हाँ इनके लिए मैं अपना आधा जीवन न्योछावर कर सकता हूँ।...यदि मुझ से कहा जाए कि मुझे पीटर्सबर्ग में चिमनी साफ़ करने वाला मज़दूर बनना पसन्द है या काकेशिया का राजकुमार तो मैं मज़दूर बनना ही अधिक पसन्द करूँगा।" विवाह के सम्बन्ध में निम्न विचार कितने गम्भीर और सत्य हैं: "एक बूढ़ा था जो बहुत ही होशियार था और पेशे से एजेण्ट था। वह कहा करता था कि विवाहित जीवन का सार है सहनशीलता।...प्यार नहीं, सहनशीलता। प्यार तो अधिक देर तक चलता नहीं है।" वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में इससे बड़ा और कौन-सा सत्य हो सकता है?

यद्यपि इस उपन्यास का अनुवाद ऐसी भाषा में हुआ है जिसे पढ़ने में मन लगता है तो भी अनुवाद कई स्थानों पर शाब्दिक है और वहाँ वाक्यों की रचना कुछ ऐसी हो गई है जिसे कि बामुहावरा नहीं कहा जा सकता। कहानी साधारण है, प्रतिदिन की घटनाओं से बनी हुई है। इन साधारण घटनाओं के बीच में से चेख़व ने इस उपन्यास के कथानक का निर्माण किया है। चेखव कहानी को ऐसे स्थान पर ले आता है जहाँ कि उसका परिणाम दुःख, वियोग और मृत्यु के सिवाय कुछ नहीं हो सकता था परन्तु चरम स्थिति में उसने कुशलतापूर्वक कहानी को ऐसा मोड़ दिया है जो कि अप्रत्याशित है और यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है। इस उपन्यास को पढ़ने से ज्ञात होता है कि चेख़व मानव-जीवन का प्रेमी है और जीवन को विकसित होता हुआ देख कर उसके मन को आन्तरिक प्रसन्नता होती है।

वाल्मीकि रामायण (सुगम हिन्दी रूपान्तर)
रूपान्तकार : आनन्द कुमार
प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज़,
दिल्ली
मूल्य : तीन रुपया

प्रस्तुत पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा गया है कि पहले महर्षि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य का नाम 'पौलस्त्यवध' रखा था। बाद में वह रामायण नाम से विख्यात हुआ। जिस समय यह ग्रन्थ लिखा गया, राम अयोध्या के राजसिंहासहन पर विराजमान थे। संसार के आदि काव्य की रचना राम-राज्य में ही हुई थी।" यदि प्रस्तावना में भाषान्तरकार 'रामायण' के समय और अन्य विशेषताओं पर कुछ प्रकाश डाल देते तो उपयुक्त होता। उन्होंने यह प्रस्तावना 'रामायण' के बालकांड के आधार पर लिखी है। 'रामायण' की कथा सर्व-साधारण में इतनी अधिक प्रिय और विख्यात हुई है कि वह महान् लोक-साहित्य बन गई है और जिस प्रकार लोक-साहित्य में परिवर्तन होते रहते हैं उसी प्रकार 'रामायण' की कथा में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि वाल्मीकि के समय भी राम की कहानी लोक-कथा बन चुकी थी और उसके भिन्न-भिन्न रूप थे। उन्होंने 'रामायण' की कहानी को जहाँ अन्य स्रोतों से एकत्रित किया वहाँ उन्होंने इसे 'लोक-कथाओं से भी संगृहीत किया। 'रामायण'

की कथा का कुछ भी स्रोत क्यों न रहा हो—वाल्मीकि ने 'रामायण' को इस प्रकार लिखा और उनको अपने प्रयत्न में ऐसी सफलता प्राप्त हुई कि समग्र रूप से 'रामायण' उन्हीं की बन गई यद्यपि बाद में 'रामायण' की कहानी लिखने में तुलसीदास, कृत्तिवास (बंगाली), कम्बन (तमिल) और अन्य महाकवियों को भी सफलता प्राप्त हुई और उनके कथानक, पात्र-रचना और अन्य वस्तुओं में वाल्मीकि की 'रामायण' के कथानक, पात्र-रचना आदि में महान् अन्तर था तो भी वाल्मीकि का स्थान 'रामायण' के साथ ऐसा जुड़ गया कि जिस किसी को भी 'रामायण' को नवीन रूप में लिखने में सफलता प्राप्त होती है उसे 'दूसरा वाल्मीकि' कहा जाने लगा। इतनी रामायणों की रचना के बाद भी वाल्मीकि की 'रामायण' आज भी अपने स्थान पर वैसी ही प्रतिष्ठित है जैसी कि पूर्व-काल में थी। प्रस्तुत पुस्तक में 'वाल्मीकि रामायण' का अनुवाद संक्षेप में और सरलतया इस प्रकार किया गया है कि एक साधारण पाठक भी वाल्मीकि 'रामायण' की कथा, शैली और अन्य विशेषताओं से सुगमता से परिचित हो सकता है।

महान् आविष्कारक ऐडीसन

मूल लेखक : जी. ग्लेनवुड क्लार्क
अनुवादक : विराज
प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज़,
दिल्ली
मूल्य : ढाई रुपए

अमेरिका ने जिन महापुरुषों को उत्पन्न किया है उनमें से महान् आविष्कार ऐडीसन भी एक है। ऐडीसन ने जिन वस्तुओं का आविष्कार किया था उनमें से बिजली का प्रकाश, ग्रामोफ़ोन और सिनेमा आदि घर-घर की वस्तुएँ बन चुकी हैं। रेलवे के स्टेशनों पर छाबड़ी में फल और मिठाइयाँ और अख़बार बेचने वाला बालक विश्व का इतना महान् आविष्कारक होगा—यह एक सचमुच एक आश्चर्यकारक और चमत्कारिक घटना है। ऐडीसन में प्रतिभा थी परन्तु एकमात्र प्रतिभा के आधार पर ही उसने महान् आविष्कार नहीं किए। उसने अपने आविष्कारों के लिए घोर परिश्रम किया। ऐडीसन के अपने शब्दों में प्रतिभा एक प्रतिशत प्रेरणा है और ९९ प्रतिशत घोर परिश्रम है। इसी घोर परिश्रम, साधना और तपस्या के आधार पर ऐडीसन इतने महान् आविष्कार कर सका। ऐडीसन ने जो आविष्कार किए हैं वे किसी प्रकार एक जादू से कम नहीं। अंग्रेज़ी में श्रीयुत जी. ग्लेनवुड क्लार्क ने टौमस ऐडीसन की अत्यन्त सरस और रोचक जीवनी लिखी है। प्रस्तुत पुस्तक उसी का हिन्दी में रूपान्तर है। ऐसी मनोरंजक और प्रेरणाप्रद पुस्तक का हिन्दी में यह अनुवाद रुचिपूर्वक पढ़ा जाएगा। विज्ञान के संसार में श्रीयुत टौमस ऐडीसन का नाम सदा श्रद्धा और आदर के साथ लिया जाएगा।

सन्त विनोबा की आनन्द यात्रा

लेखक : सुरेश रामभाई
प्रकाशक : अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी
मूल्य : डेढ़ रुपया

सन्त विनोबा जी की पद-यात्रा से जहाँ भू-दान के आन्दोलन को बल मिला है वहाँ इससे ग्रामों के सुधार और पुनर्गठन की ओर भी जनता का ध्यान आकर्षित हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में श्रीयुत विनोबा जी ने बिहार में जो पद-यात्रा की है उसकी प्रतिक्रिया और प्रवचनों आदि का विस्तृत विवरण दिया गया है। इस विवरण को पढ़ने से जहाँ विनोबा जी के महान् व्यक्तित्व का परिदर्शन होता है, वहाँ उनके प्रेरणात्मक और शक्तिप्रद विचारों से भी गहरा परिचय प्राप्त होता है श्रीयुत सन्त विनोबा जी के प्रवचनों के सम्बन्ध में लेखक लिखता है : "...मुझे यह अनोखी वाणी सुनने को मिली—ऐसी अनोखी वाणी जो कमज़ोर इन्सान को उसकी ताक़त और कर्तव्य का भान कराती है। मैंने यह वाणी उसी बेचैनी के साथ सुनी है जिसके साथ जेठ बैसाख में तपी बिहार की धरती आषाढ़ के पहले पानी का इन्तज़ार करती है। इस वाणी को जिन्होंने एक बार सुना है वह उसे शेर की दहाड़ की तरह कभी नहीं भूल सकते।" ग्रामों की सहकारी खेतियों में किसी दिन यह गाना राम-धुन की तरह प्रचलित हो जाएगा :

"भाई कुदाली चलाते चलो
मिट्टी को सोना बनाते चलो"

हैदराबाद

—वंशीधर विद्यालंकार

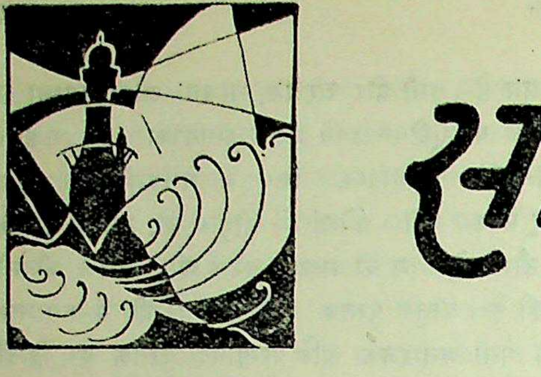

सामयिक

॥

महाकवि उल्लूर : केरल का महाकवि

मलयालम् के आधुनिक कवियों में महाकवि उल्लूर परमेश्वर ऐयर का उच्च और प्रतिष्ठित स्थान है। उनके जीवन और रचनाओं के सम्बन्ध में श्रीयुत ई. एम. जे. वेन्नीयूर का मद्रास के अंग्रेज़ी पत्र "स्वतन्त्र" में एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"...मलयालम् साहित्य के इतिहास में महाकवि उल्लूर परमेश्वर ऐयर जैसा बहुमुखी प्रतिभाशाली कवि शायद ही कोई और हुआ हो। इतना ही नहीं उसने मलयालम् भाषा को जितना समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया—वैसा प्रयत्न मलयालम् के किसी अन्य साहित्यकार ने नहीं किया। वह एक उच्चकोटि का कवि था जिसकी तुलना 'असन और वेलातोल" से की जा सकती है। ये तीनों आधुनिक मलयालम् साहित्य की त्रिमूर्ति कहलाते हैं। महाकवि उल्लूर बहुत-सी भाषाएँ जानता था। उसने मलयालम्, संस्कृत और अंग्रेज़ी तीनों भाषाओं में गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से रचनाएँ की हैं। उसने बालपदों, महाकाव्यों और लोक-कथाओं से लेकर अध्यात्म, रहस्यवाद और विज्ञान के सिद्धान्तों तक के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखी हैं। उसने १७,००० से ऊपर पृष्ठों को प्रकाशित किया है। यही कारण है कि महाकवि उल्लूर को "सर्वज्ञ" के नाम से पुकारा जाता है।

उल्लूर ने अपने जीवन का स्वयं निर्माण किया था। उसमें अदम्य वीरता थी और वह अपने समस्त जीवन में संघर्ष करता रहा। वह १८७८ में ऐसे घराने में उत्पन्न हुआ था जो कि उल्लूर से आया था। उल्लूर त्रिवेन्द्रम् का एक उपनगर है। जब वह छोटा ही था—तभी उसके पिता की मृत्यु हो गई। उस पर छोटी आयु में ही समस्त परिवार का उत्तरदायित्व आ पड़ा। उसका परिवार बड़ा था। उसने अपनी शिक्षा और उच्च पदवियाँ अपने ही प्रयत्नों द्वारा प्राप्त कीं। उसने छोटी-सी नौकरी से प्रारंभ कर अन्त में त्रावणकोर में दीवान पेशकार का पद प्राप्त किया। त्रावणकोर यूनिवर्सिटी और साहित्य-परिषद् आदि सांस्कृतिक संस्थाओं की स्थापना में उसका हाथ था। उसकी मृत्यु ७२ वर्ष की आयु में हुई। त्रावणकोर के मन्दिर-प्रवेश की घोषणा में भी उसका सहयोग था। वह अपनी मृत्यु के अन्तिम दिन तक कार्य करता रहा। वह अपनी मृत्यु के समय "केरल साहित्य का इतिहास' लिख रहा था।

यद्यपि उसने साहित्य के अनेक क्षेत्रों में कार्य किया—तो भी केरल साहित्य में मुख्यतया उसका नाम महाकवि के रूप में स्मरण किया जाएगा। उसने १ महाकाव्य, १७ खण्ड काव्य और सैकड़ों गीत लिखे हैं। उसकी सबसे श्रेष्ठ कृति "उमाकेरलम्" महाकाव्य है। उल्लूर ने अपने इस महाकाव्य के लिए विषय त्रावणकोर राज्य के इतिहास से चुना है। अब से ३०० वर्ष पूर्व वेनाद में जो कि बाद में त्रावणकोर राज्य में परिणत हो गया एक कमज़ोर राजा राज्य करता था। उसका नाम आदित्य वर्मा था। उस राजा की एक लड़की थी जिसका नाम कल्याणी था। उसका अपने राज्य के मन्त्री नवयुवक रवि वर्मा तम्पन से प्रेम हो गया। उस राज्य में आठ सरदार ऐसे थे जो इस राजवंश का नाश करना चाहते थे। उन्होंने इस प्रकार का षड्यन्त्र किया कि जिससे पहले तो तम्पन को राज्य से निर्वासित कर दिया गया क्योंकि वह इस राजवंश की बड़ी चतुराई से रक्षा करता था और उसके पश्चात् उन्होंने राजा को विष देकर मार डाला। उस समय रानी के पाँच पुत्र थे। इनमें से सबसे बड़े पुत्र को कलिधानकुलम् सागर में डुबो कर मार डाला गया। समस्त राज्य एक मुसलमान आक्रान्ता मुकिलान के

हाथों में चला गया। अन्त में आक्रान्ता को मार कर भगा दिया गया; राज्य को पुनः व्यवस्था और स्वतंत्रता प्राप्त हुई और दोनों प्रेमियों का विवाह हो गया।

इतिहास की इस छोटी-सी कहानी को उल्लूर ने अपनी प्रतिभा और कल्पना के द्वारा एक महाकाव्य में परिणत कर दिया। कहानी की सत्यता और प्रामाणिकता के विषय में तो अनेक सन्देहात्मक प्रश्न किए जाते हैं परन्तु जहाँ तक उल्लूर के महाकाव्य का प्रश्न है उसकी श्रेष्ठता में किसी को कोई सन्देह नहीं है। महाकवि जब इस महाकाव्य में अपनी जन्मभूमि का वर्णन करते हैं तो उनका अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम समस्त सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है।

"इस पर्वतमाला के पश्चिम तट पर
एक प्रदेश है
जहाँ रमणीय से रमणीय फूल खिलते हैं
जो अलका के समान है
जो कि शिव के पर्वत के दक्षिण की ओर है
यह प्रदेश समुद्र से आवेष्टित है
समुद्र की लहरें प्रसन्नता से नृत्य करती रहती हैं
समुद्र ने इस सुन्दर प्रदेश को अपनी
रंगभूमि बनाया है
मलयालम का यह वरदान तुल्य प्रदेश"

यह महाकाव्य अनेक सुन्दर शब्दचित्रों और सुन्दर सूक्तियों से परिपूर्ण है।

उसके अन्य काव्य, पुराणों की कथाओं पर आधारित हैं। इनमें 'कर्णभूषणम्' बड़ी सुन्दर रचना है। इस काव्य में उसने दान महिमा को प्रदर्शित किया है। कर्ण महादानी था। कर्ण के कारण कौरवों को अपनी विजय पर पूर्ण विश्वास था। जब तक कर्ण के कानों में कुण्डल थे कोई योद्धा उसे पराजित नहीं कर सकता था। उसके पिता सूर्यदेव ने सोचा : "कर्ण महादानी है। कहीं ऐसा न हो कि स्वर्गाधिपति इन्द्र उससे इन कुण्डलों को दान रूप में माँग ले। वह उन्हें प्रसन्नतापूर्वक दे देगा और इस प्रकार उसका जीवन खतरे में पड़ जाएगा।" यह सोच कर एक दिन सूर्यदेव एक ब्राह्मण के रूप में कर्ण के पास आए। उन्होंने कर्ण को इस सम्बन्ध में बहुत समझाया और अन्त में अपना सच्चा रूप भी प्रकट कर दिया। परन्तु कर्ण ने उत्तर दिया कि चाहे मुझे अपने जीवन से भी हाथ क्यों न धोना पड़े—परन्तु मैं दान देने से इनकार कर दूँ यह असम्भव है।

"इन्द्र के राज्य में पत्थर भी हीरे हैं
जितने पानी के स्रोत हैं सब अमृत के हैं
और योगी जिन्होंने सब कुछ अनुभव कर लिया है
उसे अपने उपहारों से सन्तुष्ट करते हैं
इससे बड़ा और आनन्द क्या हो सकता है
कि स्वर्गाधिपति इन्द्र मुझसे भीख माँगने के लिए आए
दान से बड़ी और कौन-सी वस्तु है
यह तो सत्य सनातन धर्म है"

सूर्यदेव कर्ण के उत्तर से प्रसन्न हो जाते हैं और उसे अपने समस्त हृदय से आशीर्वाद देते हैं :

"तुम्हारा यश वृद्धि को प्राप्त हो
तुम्हारा नाम महिमा से उज्वल हो
तुम्हारा दान निस्सीम है
ऐसा दानी आज तक दूसरा नहीं उत्पन्न हुआ
ये कुण्डल यदि तुम्हारे कानों का परित्याग करेंगे
तो वे विश्व के आभूषण बन जाएँगे"

उल्लूर ने एक और काव्य लिखा है। इसका नाम "पिंगला" है। पिंगला एक वेश्या थी। वह मिथिला में रहती थी। वह महान् सुन्दरी थी। कवि के शब्दों में वह अमृत के घट में सुरा की एक बूँद थी। वसन्त के सुखद और सुन्दर दिन थे चाँदनी रात थी—शीतल, मन्द और सुगन्ध समीरण बह रही थी। पिंगला इस आशा में बैठी हुई थी कि उसके प्रेमी उसके द्वार पर आएँगे परन्तु कुछ ऐसा हो गया कि उस दिन कोई प्रेमी उसके द्वार पर नहीं आया। घण्टों पर घण्टे बीत गए और रात्रि पर्यवसित होने लगी। अन्त में वह निराश होकर होश में आई और उसे इस बात का अवबोध हुआ कि उसके झूठे प्रेमियों ने उसे छोड़ दिया है। उसने प्रायश्चित करने का निश्चय किया। अगले दिन से मिथिला वासियों ने देखा कि उस वेश्या ने पवित्र जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया।

पिंगला के जीवन-परिवर्तन का चित्र कवि ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। वह लिखता है :

"मृत्यु अपनी कुल्हाड़ी से प्रहार कर रही है
लगातार
जीवन रूपी वृक्ष की जड़ों पर
प्रातःकाल, दुपहरे, सायंकाल और रात्रि में
हृदय की धड़कन में यही आवाज़ प्रतिध्वनित
होती रहती है"

पिंगला मनुष्य के वैभवों की चंचलता को अनुभव करती है :

"घास पर व्याप्त ओस-कणों को
प्रातःकाल, जब सूर्य की किरणें चुम्बन करती हैं
तो वे ओस-कण इन्द्रधनुष के रंगों में
प्रकाशमान हो उठते हैं
परन्तु कुछ समय के पश्चात् वे बूँदें
बिखर जाती हैं और कुछ नहीं रहता"

इस प्रकार पिंगला पवित्र जीवन व्यतीत करने लगती है और उसकी भक्ति श्रीराम में स्थिर हो जाती है।

"भक्ति दीपिका" में कवि ने इस बात को प्रतिपादित किया है कि भगवान् के दर्शन के अधिकारी एकमात्र उच्च वंश के लोग या विद्वान् ही नहीं होते। उसके लिए विद्या या वंश की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए तो हृदय की पवित्रता की आवश्यकता है। "चित्रशाला" में कवि ने नारी की महिमा का वर्णन किया है।

उल्लूर के छोटी कविताओं और गीतों में भी उच्च आदर्श और विचारों की पवित्रता है। उसका एक गीत है "कन्याकुमारी में सूर्योदय" इसी प्रकार की कविता अन्य भाषाओं के साहित्यों में भी कठिनाई से प्राप्त हो सकती है। उसकी एक अन्य कविता है जिसका केरल के घर-घर में शौक से गान किया जाता है। यह कविता है "प्रेम संगीतम्" उनकी यह कविता मलयालम् भाषा के साहित्य में अमर रहेगी। वे इस कविता में लिखते है :

"धरती का एकमात्र धर्म
नहीं नहीं—धरती की आत्मा
प्रेम है
यही वह चन्द्रमा है जो पृथ्वी पर
सुधा का वर्षण करता है
यही साक्षात् ईश्वर है
जो कि अनेक रूपों में आविर्भूत होता है
और जगत् को प्रकाशमान कर देता है"

उल्लूर की रचनाओं में देशभक्ति का स्वर स्प रूप से सुनाई देता है :

"माँ! तेरा अभिवादन हो
तुम्हारे ही यहाँ 'ऋग्वेद' की ऋचाओं की सृष्टि हुई
तुम्हारे गौरव का कौन वर्णन कर सकता है
तुम्हारी धूल का प्रत्येक कण
किसी देवता या ऋषि का निर्माण कर सकता है"

उल्लूर का विश्वास मनुष्य के भ्रातृभाव और धर्मों की एकता में था।

"राम और रहीम
कृष्ण और क्राइस्ट
नाम तो ये अवश्य भिन्न भिन्न हैं
परन्तु ये एक ही प्रकाश की मूर्ति हैं"

उल्लूर कला को कला का उद्देश्य नहीं मानता। वह इसके द्वारा मानव-जीवन को उदात्त और समृद्ध बनाना चाहता है। वह प्रत्येक अन्याय के प्रति विद्रोह करना चाहता है और दीन तथा शोषित व्यक्तियों का संरक्षण।"

॥

भारतवर्ष की मूर्तिकला

अमरीका के साप्ताहिक पत्र "टाइम" में कला-विभाग में "भारतवर्ष की मूर्तिकला" पर एक टिप्पणी प्रकाशित हुई है। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है:

"आज से ५००० वर्ष पूर्व सिन्धु की घाटी में असंख्य कलाकृतियों का निर्माण हुआ था। भारतवर्ष से यह कला मध्य एशिया, चीन, जावा और कम्बोडिया में गई और शायद इसी कारण भारतीय मूर्तिकला से पश्चिम पूरी तरह परिचित न हो सका।

फ़िलेडेलफ़िया के कला-संग्रहालय में भारतवर्ष की मूर्तिकला के नमूनों का संग्रह किया गया है। इनमें कुछ मूर्तियाँ दूसरी ई. पू. शती की हैं। ये अत्यन्त महत्वपूर्ण कलाकृतियाँ हैं जिन्हें मन्दिरों से संगृहीत किया गया है।

पश्चिम की आँखें ग्रीक कला को देखने की अभ्य रही हैं। ग्रीक कला की मूर्तियों में सुगठित और सुन्द देह के निर्माण को आदर्श और लक्ष्य माना गया है भारतीय मूर्तिकला का उद्देश्य इससे बिलकुल भिन्न प्र

होता है। भारतीय विचारक मोक्ष को मानव-जीवन का उद्देश्य मानते हैं और कला में भी उनका यही लक्ष्य रहा है। भारतीय कलाकारों का उद्देश्य इसी प्रकार की मूर्तियाँ बनाना रहा है। उन्होंने इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया है जिनमें कि शरीर यौगिक साधनों से शुद्ध और शारीरिक बन्धनों से मुक्त हो गया है। वे इसको "सूक्ष्म-शरीर" कहते हैं और इसी सूक्ष्म शरीर को वे देवताओं का शरीर मानते हैं। भारतीय मूर्तिकारों ने अपनी मूर्तियों में इसी सूक्ष्म शरीर का अपनी सुन्दर कला में निर्माण किया है।

फ़िलेडेलफ़िया के संग्रहालय में भारतीय कला के विभाग का क्यूरेटर का मत है "भारतवर्ष के अनेक देवताओं का धरती पर अस्तित्व न होता यदि उनकी मूर्तियाँ प्रस्तरों और धातुओं में निर्मित न होतीं।"

॥

आसामी नाटक

अंग्रेज़ी के पत्र "मार्च आफ़ इंडिया" में श्रीमती सविता देवी का "असामी ड्रामा" पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा :

"आसाम में नाटक खेलने को "भाओना" के नाम से कहा जाता है। "भाओरिया" शब्द का अर्थ है नाटक खेलनेवाला और "बहुआ" शब्द का अर्थ है विदूषक। प्राचीन समय से बाहुरिया आसाम के सामाजिक घटनाओं को नाटक के रूप में प्रदर्शित करते रहे हैं। भाओरिया-गीतकार कवि होता है जो आशु कवि होता है और उसकी कविताएँ कोई एक भाओरिया या अनेक भाओरिया मिल कर सामाजिक या धार्मिक उत्सवों पर गाते हैं।

'धुलिया' इस प्रकार के खेल होते हैं जो हँसी के लिए खेले जाते हैं। ये बीच बीच में प्रदर्शित किए जाते हैं। इसमें परिहास और व्यंग्य होता है। आसाम में नाटक के लिए सबसे प्राचीन शब्द 'ओभापली' है। इसमें मुख्य पात्र ओभा होता है जो कि कविता में पौराणिक कथाएँ सुनाता है और 'दैनापली' के साथ गद्य में संभाषण करता है। "दैनापली' पलियों में मुख्य होता है। पली एक प्रकार का दल होता है जो कि गाता और नृत्य करता है। ये नृत्य बड़े सजीव होते हैं और स्थान भेद से इनमें भेद हो जाता है। 'ओभापली' में विषय मुख्य होता है जिसका कि भावुकपूर्ण शब्दों में वर्णन किया जाता है। 'ओभापली' में 'देओधानी' स्त्री-पात्र होता है जो कि मुख से कुछ बोलता नहीं। वह मनसा देवी को प्रसन्न करने के लिए नृत्य करती है।

जब से आसाम में वैष्णव युग आया तब से ओभापली में 'भागवत पुराण' का प्रवेश हुआ। पौराणिक कथाओं के स्थान में 'प्रल्हाद उपाख्यान', 'कालिय दमन' और 'रामायण' को वैष्णव ओभापली के द्वारा स्टेज पर प्रदर्शित किया जाने लगा। श्री शंकरदेव ने (१४४९-१५६९ ई.) सबसे पूर्व ओभापली द्वारा वैष्णव विषयों को समुपस्थित किया। वैष्णव युग में आसामी नाटक का विकास हुआ। श्री शंकरदेव और उनके शिष्य श्री माधवदेव (१४८९-१५९६ ई.) ने "अंकीय नट"—अर्थात् एकांकी नाटकों के द्वारा वैष्णव धर्म का प्रचार किया। ये नाटक मुख्यतया संस्कृत पर आधारित थे। इनमें मुख्यतया कृष्ण के जीवन को प्रस्तुत किया जाता था। एकाध 'अंकीय नटों' में श्री रामचन्द्र के जीवन को समुपस्थित किया गया है। येनाटक दो प्रकार के हैं : जात्रा और भमूरा। भमूरा नाटकों में 'नान्दी' नहीं होती। नाटक के पात्रों को 'चरित' कहा जाता है। मुख्य अभिनेताओं को नटुआ कहा जाता है। गायकों को 'गायन' और बाजा बजाने वालों को 'बायन' कहा जाता है। थिएटर को 'रभा' कहा जाता है। कहा जाता है कि दृश्यों और पर्दों को 'यवनिका' कहा जाता था जिन पर कि श्री शंकरदेव स्वयं चित्र बनाया करते थे। इन नाटकों की बोली 'ब्रजबुलि' थी जो कि वैष्णवों की प्रिय भाषा थी। इसमें संस्कृत के शब्दों का भी मिश्रण रहता था। इन नाटकों में जो गीत थे उन्हें अंकीय गीत और भट्टिमा कहा जाता था। भट्टिमा प्रार्थना के गीत होते थे। अंकीय नटों के प्रारम्भ में पहले खड़ताल और काध्य के साथ मिला-जुला गाना होता था—इसके पश्चात् 'खोल' का कन्सर्ट होता था जिसे कि गुरु घाट कहा जाता था। इसके पश्चात सूत्रधार आकार स्टेज पर नृत्य करता था और इस नृत्य के अन्त में श्रीकृष्ण या श्रीराम की स्तुति में 'नान्दी' संस्कृत में पढ़ता था। नाटक के अन्त में 'मुक्ति-मंगल' या भट्टिमा मिलकर गाई जाती थी। थिएटरों को 'रभा घर' इसलिए कहा जाता था क्योंकि वहाँ साधारण जनता एकत्रित होती थी।

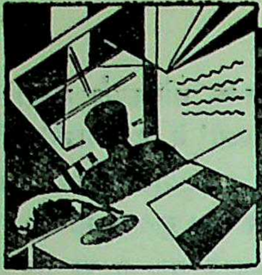

सम्पादकीय

राष्ट्र के प्रति अभिमान

क्या भारतीयों मे अपने राष्ट्र के प्रति अभिमान है? हम समझते हैं कि हमारे देश की शिक्षित जनता में अपने राष्ट्र के प्रति अभिमान की भावना जिस मात्रा में होनी चाहिए उस मात्रा में उसका अभाव है। यदि हमारी शिक्षित जनता में अपने राष्ट्र के प्रति अभिमान होता तो आए दिन जो भारतीय भाषाओं, साहित्य और संस्कृति आदि के सम्बन्ध में हमें उच्च वर्ग के शिक्षित व्यक्तियों के विचार सुनाई देते रहते हैं वे न सुनाई पड़ते। ये लोग अपने देश की भाषा, साहित्य और संस्कृति में कुछ आकर्षण अनुभव नहीं करते। वे इन्हें वर्तमान अवस्थाओं में इस योग्य नहीं समझते कि उन्हें कुछ विशेष महत्व प्रदान किया जा सके। इनमें अपने देश और राष्ट्र के प्रति एक प्रकार की हीनता की मनोवृत्ति का विकास हो गया है। हम जानते हैं कि अभिमान का यह अर्थ नहीं है कि हम अन्य राष्ट्रों की अच्छाइयों और उच्च प्राप्तियों के प्रति अपनी आँखें मूँद लें या उनकी उपेक्षा करें और या फिर हर बात में अपनी ही गाया करें। राष्ट्र के प्रति अभिमान का यह अर्थ है कि हमारा अपने राष्ट्र में पूर्ण विश्वास हो और उसमें जो निर्माणात्मक कार्य हो रहे हैं उनमें हमारी निष्ठा हो; उनकी उन्नति और प्रगति में हमारा उत्साह और सहयोग हो; हम एकमात्र अपने राष्ट्र के प्रयत्नों और कार्यकर्ताओं का उपहास न करें और हम में कार्य करने की क्षमता का सतत रूप से उत्तरोत्तर विकास हो।

जिस देश या राष्ट्र में आत्माभिमान नहीं होता उसकी निर्माणात्मक प्रवृत्तियाँ समाप्तप्राय हो जाती हैं और वह राष्ट्र अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियों को इतना हीन समझने लग जाता है कि उनमें उसकी कुछ विशेष दिलचस्पी नहीं रह जाती। रचनात्मक कार्य चाहे साहित्यिक हों या सांस्कृतिक, औद्योगिक हों या कृषि सम्बन्धी, कलात्मक हों या कोई अन्य विषय सम्बन्धी—उनमें जब तक हमारी आस्था या निष्ठा न हो हम उसके विकास के लिए सर्वतोभावेन प्रयत्नशील नहीं हो सकते। वह राष्ट्र उतना ही महान् है जितना कि वह महान् निर्माणात्मक कार्य करता है और अपने निर्माणात्मक कार्यों में रुचि और अभिमान अनुभव करता है। हमारे देश की कोई भी निर्माणात्मक प्रवृत्ति चाहे वह विज्ञान की हो या साहित्य की, उद्योग की हो या हस्तकौशल की, भाषा की हो या कला की, शिक्षित जनता उसके प्रति अभी तक अधिकांश में उदासीन है। यदि हमारे राष्ट्र के उच्च शिक्षित व्यक्तियों को यूरोप या अमेरिका में निवास करने का अवसर प्रदान किया जाए तो इस बात की पूर्ण संभावना है कि उनमें से अधिकांश अपने देश को छोड़ने के लिए प्रसन्नतापूर्वक तैयार हो जाएँगे।

अभी पिछले दिनों अमेरिका के टेकनिकल को-आपरेशन मिशन के चीफ़ इंजीनियर (उद्योग विभाग) ने नई दिल्ली की रोटरी क्लब में अपने एक भाषण में कहा: "भारतीय व्यापारी वर्ग में सबसे अधिक जिस हानिकारक वस्तु को मैं अनुभव करता हूँ वह यह है कि उनमें अपने राष्ट्र के प्रति किसी प्रकार के अभिमान और एकता की भावना नहीं है। एकता से मेरा अर्थ राजनीतिक, भाषा सम्बन्धी या धार्मिक एकता का नहीं है। उन्हें अपने से अधिक अपने देश के सम्बन्ध में सोचना चाहिए। उन्हें चाहिए कि अपने विचारों में वे अपने देश को प्रथम स्थान दें। इस समय तो वे अपने सम्बन्ध में जितना सोचते हैं अपने देश या राष्ट्र के सम्बन्ध में उतना नहीं सोचते। उनमें अपने देश के प्रति अभिमान की भावना नहीं है।......"

ऊपर जो कुछ भारतीय व्यापारियों के सम्बन्ध में कहा गया है—वही हमारे देश के अन्य क्षेत्र के अधिकांश व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। हमें लोगों में जब तक अपने राष्ट्र के प्रति अभिमान की भावना उत्पन्न नहीं होती तब तक हम अपने देश के प्रश्नों को सहानुभूतिपूर्वक समझ नहीं सकते और जब हम उन प्रश्नों को ही नहीं समझते तो उनको ठीक तरह हल कैसे कर सकते हैं? जब अपने राष्ट्र का नाम लेते

ही हमारे हृदय में आनन्द और जोश लहरें मारने लग जाएगा—तब यह आनन्द हमें देश के निर्माणात्मक कार्यों की ओर स्वयं प्रवृत्त कर देगा। हमारे कलात्मक सांस्कृतिक और शिक्षणात्मक आदि कार्यों के लिए तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता है। राष्ट्र के प्रति हममें जब तक यह अभिमान जागृत नहीं होता तब तक हमारी भाषा, साहित्य, संस्कृति और अन्य निर्माणात्मक औद्योगिक कार्य उपेक्षित और हीन अवस्था में ही रहेंगे।

हिन्दी की मासिक पत्रिकाएँ

अभी पिछले दिनों हम "पीपल्स चाइना" में चीन की मासिक पत्रिकाओं के सम्बन्ध में पढ़ रहे थे। एक टिप्पणी में विस्तृत रूप से इस बात को प्रदर्शित किया गया था कि चीन में किस प्रकार पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, उनकी कला, साहित्य सम्बन्धी और अन्य विशेषताएँ क्या हैं। उन पत्रों की अपने देश के जीवन और साहित्य में क्या स्थिति है और किस प्रकार प्रतिदिन वे अधिकाधिक शक्तिशाली बनती चली जा रही हैं। इन पत्रिकाओं के संचालन में चीन के लेखकों के यूनियनों और चीन के कलाकारों और साहित्यकारों का बड़ा सहयोग प्राप्त होता है। हमें यह पढ़ कर आश्चर्य हुआ कि "...सीमान्त प्रदेशों में भी जहाँ की जन-संख्या अधिक नहीं है—इन मासिक पत्रिकाओं की कम-से-कम २०,००० कापियाँ नियमित रूप से बिक जाती हैं।" हमें इसे पढ़ कर हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं के सम्बन्ध में विचार आया। यह बात तो नहीं है कि हिन्दी की मासिक-पत्रिकाएँ अच्छी नहीं निकलतीं—या वे किसी भी प्रकार अन्य देश की पत्रिकाओं की तुलना में हीन या कम महत्वपूर्ण हैं और या वे अपने देश और राष्ट्र के प्रश्नों पर विचार नहीं करतीं। क्या कारण है कि हिन्दी में साहित्यिक और सांस्कृतिक पत्रिकाओं की कुछ विशेष खपत नहीं है। यह सत्य है कि अर्थ-प्राप्ति के आधार पर ही किसी पत्र की उपादेयता का निर्णय करना समुचित नहीं हो सकता परन्तु फिर भी अर्थ के अभाव में कोई पत्रिका कब तक चलाई जा सकती है? देखते-ही-देखते हिन्दी में कई सुन्दर मासिक-पत्रिकाएँ निकलीं, उनकी काफ़ी प्रशंसा हुई पर वे दुर्भाग्यवश चल न सकीं और संचालकों को उन्हें बन्द कर देना पड़ा। क्या कारण है कि हमारी पत्र-पत्रिकाएँ पनप नहीं पातीं? जो साहित्यिक या सांस्कृतिक पत्रिकाएँ चल भी रही हैं उनकी अवस्था भी आर्थिक दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं है और ऐसी अवस्था में कब तक उनका चलाना सम्भव हो सकेगा! हिन्दी में इस प्रकार के आन्दोलन चलाए गए कि हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ ख़रीद कर पढ़ी जाएँ परन्तु उसमें भी कुछ विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। हमारे देश में पुस्तकालयों की संख्या पर्याप्त नहीं है और बहुत-से पुस्तकालय ऐसी अवस्था में नहीं हैं कि वे पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं पर आवश्यक व्यय कर सकें। जिन पुस्तकालयों में इस प्रकार की क्षमता है वे अधिकांश में अंग्रेज़ी के पत्रों के लिए जितना व्यय करते हैं उतना हिन्दी के पत्रों के लिए नहीं करते। जिस प्रकार व्यापारिक क्षेत्र में देश के सामान को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है उसी प्रकार कुछ समय तक देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक पत्रिकाओं को प्रोत्साहन प्रदान करने की आवश्यकता है। कनाडा में अमरीका की पत्र-पत्रिकाओं पर इसीलिए टैक्स लगाना पड़ा है क्योंकि अमरीका के पत्र कनाडा में इतनी संख्या में और सस्ते बिकते थे कि कनाडा की पत्र-पत्रिकाएँ बिक ही नहीं पाती थीं। अन्ततः बाधित होकर अमरीका की मासिक पत्रिकाओं पर कनाडा को टैक्स लगाना पड़ा जिससे कि कनाडा कि पत्रिकाओं की खपत बढ़ सके। हमारे देश की शिक्षित जनता की ख़रीदने की शक्ति अंग्रेज़ी के पत्रों पर व्यय करने में ही समाप्त हो जाती है और यही कारण है कि वे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के लिए व्यय नहीं कर सकते। यदि हमारे मासिक-पत्रों की खपत कुछ ठीक हो जाए तो वे अपनी साज सज्जा को और भी अधिक उन्नत कर सकती हैं और पारिश्रमिक आदि में भी अभिवृद्धि कर सकती हैं।

हमारे देश के शिक्षणालय

भारतवर्ष में शिक्षा की वे संस्थाएँ ही प्रायः उत्तम समझी जाती हैं जो कि भारतीय या किसी प्रदेश के राज्यों द्वारा संचालित हों। इसके विपरीत युनाइटेड किंगडम आदि में शिक्षा की वे संस्थाएँ श्रेष्ठ मानी जाती हैं जिनका संचालन राज्य के प्रशासन के द्वारा नहीं राष्ट्र के द्वारा होता है। हमारे देश में यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्राइवेट संस्थाएँ कार्य कर रही हैं और उन्होंने अपने क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है तो भी अभी तक अवस्था यह है कि प्रशासन द्वारा संचालित संस्थाओं को जो महत्व प्रदान किया जाता है वह प्राइवेट शिक्षा की

संस्थाओं को नहीं प्रदान किया जाता। शिक्षा का क्षेत्र इस प्रकार का है कि वह सर्वथा राष्ट्र के अपने हाथों में होना चाहिए। हमें तो किसी देश की स्वाधीनता की सबसे महान टेस्ट यही प्रतीत होती है कि उस देश की शिक्षा-दीक्षा मुख्यतया राष्ट्र के अपने हाथों में हैं या प्रशासन के हाथों में। वह राष्ट्र कभी बलशाली नहीं बन सकता जिसकी शिक्षा राष्ट्र के अपने हाथों में नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि इन संस्थाओं को प्रशासन की ओर से आर्थिक सहायता प्रदान नहीं किया जाना चाहिए और उसके व्यय का अधिकतर बोझ शिक्षार्थियों से प्राप्त होने वाली ट्यूशन फ़ीस पर पड़ जाना चाहिए। हमारा देश एक ग़रीब देश है परन्तु हमारे यहाँ शिक्षा की प्राइवेट संस्थाओं को प्रशासन द्वारा उतनी आर्थिक सहायता प्राप्त नहीं होती जितनी कि उन्हें विद्यार्थियों की ट्यूशन फ़ीस द्वारा प्राप्त होती है। कई संस्थाओं में तो विद्यार्थियों की ट्यूशन फ़ीस ही संस्था के संचालन का आधार बन जाती है। इस सम्बन्ध में हमें पिछले दिनों दक्षिण के विद्वान् श्रीयुत ए. सी. चेट्टियर का एक लेख पढ़ने को मिला। वे अपने इस लेख में लिखते हैं: "युनाइटेड किंगडम की यूनिवर्सिटियों की सबसे मुख्य विशेषता जिसकी ओर हमारा ध्यान अनायास आकृष्ट होता है वह यह है कि वे सर्वथा स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं और उनमें से एक सी संस्था राज्य की संस्था नहीं है। यद्यपि केन्द्रीय प्रशासन और स्थानीय राज्यों द्वारा उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है तो भी उस रुपए को वे जिस प्रकार चाहें व्यय कर सकती हैं और स्टाफ़ के लोगों नियुक्ति में भी वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। वे अपना पाठ्यक्रम स्वयं बनाती हैं और स्वयं ही अपनी डिग्रियों का प्रदान करती हैं। यद्यपि प्रत्येक यूनिवर्सिटी राज्यों से आर्थिक सहायता की माँग करती है परन्तु इस आर्थिक सहायता का यह अर्थ नहीं होता कि केन्द्रीय प्रशासन या प्रदेशीय राज्य उनकी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की दस्तन्दाज़ी कर सकते हैं। यह प्रायः कहा जाता है कि ब्रिटिश यूनिवर्सिटियों की सृष्टि ब्रिटिश राष्ट्र के द्वारा हुई है, ब्रिटिश प्रशासन के द्वारा नहीं। वे शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा या स्थानीय शिक्षा के अधिकारियों द्वारा संचालित नहीं होतीं। इन संस्थाओं की आमदनी निम्न प्रकार होती है:

१. केन्द्रीय प्रशासन द्वारा आर्थिक सहायता

२ स्थानीय राज्य द्वारा आर्थिक सहायता

३ फ़ीस की आमदनी

४ दान, अन्य रूपों से प्राप्त होने वाली आमदनी

इस सम्बन्ध में जिस बात को ध्यानपूर्वक देखा जा चाहिए वह यह है कि विद्यार्थियों से जो ट्यूशन फ़ी प्राप्त की जाती है वह संस्था की कुल आमदनी से १० १२ प्रतिशत तक से अधिक नहीं होती। कुल आमद का ७० से ८० तक प्रतिशत भाग केन्द्रीय प्रशास द्वारा प्राप्त किया जाता है और स्थानीय राज्यों द्वा कुल आमदनी में जो आर्थिक सहायता प्रदान की जा है वह लगभग १० प्रतिशत होती है। इतनी आर्थि सहायता देने के पश्चात् भी प्रशासन के द्वारा इ संस्थाओं की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का न तो अंकु लगाया जाता है और न ही किसी प्रकार का हस्तक्षेप कि जाता है।... युनाइटेड किंगडम के विश्वविद्यालय ए ढंग के नहीं हैं और न उनमें से प्रत्येक का विकास अप अवस्थाओं और परिस्थितियों के अनुसार हुआ है।"

उपर्युक्त विवरण से यदि हम अपने देश की शिक्ष की संस्थाओं की तुलना करें तो हमें ज्ञात हो सकता है कि हमारे उच्च से उच्च शिक्षणालयों की स्थिति क्य है? राज्यों के कंट्रोल का यह परिणाम है कि अधिक तर हमारी शिक्षण की संस्थाएँ एक ही ढंग की बन चली जा रही हैं; एक दूसरे विश्वविद्यालय में कुछ विशे भेद नहीं प्रतीत होता। इन शिक्षणालयों का विका अपनी परिस्थितियों और रंग-ढंग के अनुसार नहीं रहा है। शिक्षा के आदान-प्रदान को वह महत्व नहीं प्राप्त हो रहा हैं जो कि डिग्रियों को। इस शिक्षणालय का सच्चा विकास अध्यापकों के द्वारा ही संभव हो सकता है। वे जिस प्रकार हमारे देश की शिक्षा की समस्याओं को हल कर सकते हैं—हमारे देश के राजनीतिज्ञ समस्याओं को उस प्रकार हल नहीं कर सकते। हमा देश के लोगों की आर्थिक अवस्था कुछ इस प्रकार है कि जो थोड़ी-सी संस्थाएँ स्वतन्त्र रूप से यहाँ स्थापि हुई थीं वे भी लाचार होकर प्रशासन की संस्थाएँ ब गई हैं। होना तो यह चाहिए था कि वे प्रशासन अधीनस्थ संस्थाएँ न बनतीं और उन्हें प्रशासन ओर से पूर्ण रूप से आर्थिक सहायता प्राप्त होती वे अपना विकास अपनी ही पद्धति पर स्वतन्त्र से कर सकती।

समाचार पत्र रजिस्ट्रेशन (केन्द्रीय) कानून १९५६ के ८ वें नियम के अनुसार अपेक्षित 'अजन्ता' से सम्बन्धित विवरण

फार्म नम्बर : ४

१ प्रकाशन का स्थान : हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)
२ प्रकाशन अवधि : मासिक
३ मुद्रक का नाम : श्री सत्यनारायण गुप्त, मैनेजर, हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : चौक कसारहट्टा, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)
४ प्रकाशक : श्री गोपालराव अपसिंगीकर, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)
५ सम्पादक : श्री वंशीधर विद्यालंकार
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : ४५.१, हिमायतनगर, हार्डीकरबाग हैदराबाद (आ. प्र.)
६ मासिक पत्रिका के अधिपति का नाम : हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद
और पता : नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

मैं गोपालराव अपसिंगीकर यह प्रकाशित करता हूँ कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही है।

तिथि २६-३-'५७

गोपालराव अपसिंगीकर
प्रकाशक के हस्ताक्षर

प्रकाशक: गोपालराव अपासिंगीकर— मुद्रक : सत्यनारायण गुप्त, हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

भीमसेनी सुरमा : च्यवनप्राश : द्राक्षासव

सिद्ध मकरध्वज

आदि आयुर्वेद की समस्त औषधियाँ

हमारी प्रसिद्ध

फ़ार्मेसी में शुद्ध और वैज्ञानिक ढंग से

तैयार की जाती हैं।

विवरण के लिए लिखिए :

गुरुकुल कांगड़ी फ़ार्मेसी

हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

२८/५

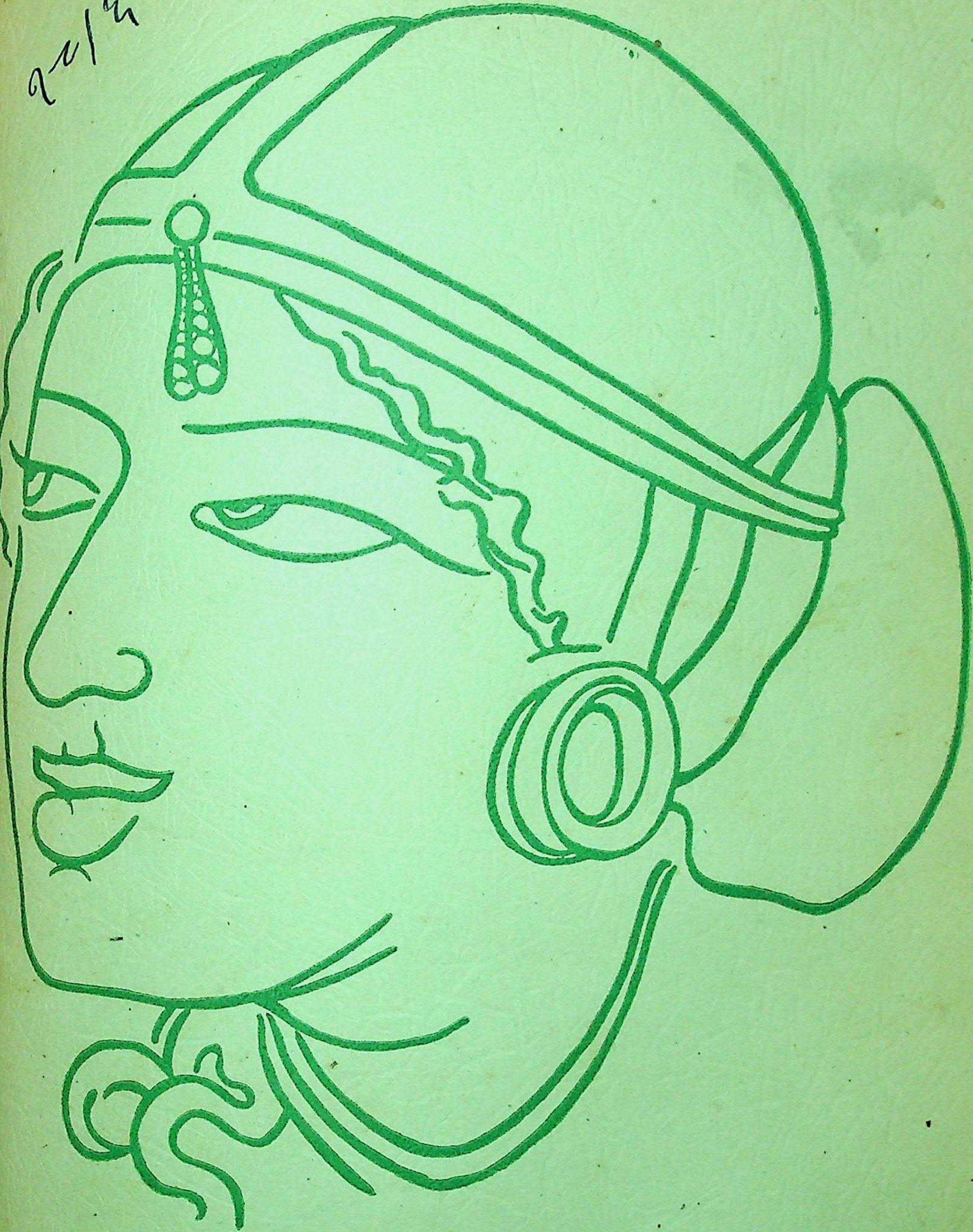

अंक ५

मई १९५७

अजन्ता

अलमारी सेफ़ सोफ़ा-सेट

सुन्दर और टिकाऊ

सब प्रकार का

स्टील का फ़र्नीचर

घरों और कार्यालयों के लिए

★

आलविन मैटल वर्क्स

हैदराबाद

(आन्ध्र-प्रदेश)

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बड़ी सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :

यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर, १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार

के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट

(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है ।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत् की गति-विधि से परिचित कराता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है ।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है । नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए ।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक

अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र ।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए

अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए

अनिवार्य रूप से आवश्यक ।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी

७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक सांस्कृतिक

हिन्दी मासिक

'प्रेरणा'

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर

कहानियाँ, एवं राजस्थानी कला और

संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है ।

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

वार्षिक १०)

एक प्रति १) *

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, प्रबोध, प्रवीण, विशारद,
विनीत, शिक्षक सनद, एस. एस. सी., आदि
परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर
महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक

[मासिक]

हिन्दी प्रचारक और हिन्दी-शिक्षक मुफ़्त ग्राहक बन सकते हैं। इस सम्बन्ध में पूर्व पत्र-व्यवहार कर लें।

विद्यार्थी शीघ्र ग्राहक हो जाएँ।

वार्षिक चन्दा ४)] [एक अंक ४० नये पैसे

पता :—हिन्दी-शिक्षक कार्यालय,
१२५, गिरगाँव रोड, बम्बई—४

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर
प्रकाशक :

* साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
* नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
* कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्टू छात्रालय, बनारस

फ़ोन नं० १४२ **[वसुधा]**

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई
परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल वाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी। प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।
पृष्ठ-संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र-व्यवहार का पता :
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर, सुभाष-मार्ग
लखनऊ

फ़ोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) * विशेष मूल्य १०)

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३५६ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

फोन नं : ६८२१

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ ख़रीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व-ज्योति

का

वार्षिक अंक

२८ फरवरी '५७ को प्रकाशित हो चुका है

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी हैं और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

वार्षिक का मूल्य १।।) है, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशयारपुर—पंजाब

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार-संसद प्रयाग का मुख पत्र
श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !
* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!
* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

वार्षिक शुल्क १०) ❋ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

पिछले छः वर्षों से भारत के प्राचीन साहित्यिक केन्द्र धार से प्रकाशित आधुनिक आकर्षण के आवरण में भारतीय सभ्यता का

संदेश-वाहक

सचित्र मासिक

ऊषा

- ● जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- ● कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे पढ़ने के लिए लोग झूम जाते हैं।

देश के सभी रेल्वे बुक स्टालों पर भी मिलता है

एक प्रति ३५ नये पैसे ::: वार्षिक ४)

व्यवस्थापक : भोज प्रकाशन, धार
(मध्य भारत)

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

सम्पादक-समिति

प्रतापनारायण टण्डन
डा० देवराज कुँवर नारायण
कृष्ण नारायण कक्कड़

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रहा है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

वार्षिक शुल्क ८), अर्ध वार्षिक ४), एक प्रति ।।)

'युग-चेतना' कार्यालय,
स्पीड बिल्डिंग ला प्लास, लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्त्व है। दक्खिनी ने ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२वीं शती से १९वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन-कर्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ-संख्या लगभग छः सौ। मूल्य १०-८-०।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) **:** तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर, हिन्दी-अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य ४-०-०।

३. **सबरस :** गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ-संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य ६-०-०।

४. **मुहावरा कोश :** पृष्ठ-संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज, मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापुर। मूल्य ३-०-०।

५. **चाबुक** (कहानी-संग्रह) **:** श्री विनायकराव 'विद्यालङ्कार' की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। क्रौन १/१६, पृष्ठ-संख्या १३९। मूल्य सजिल्द १-१२-०।

६. **मीरा** (तेलुगु) **:** लेखक रामचन्द्र कौण्डिन्य। मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद। मूल्य १-४-०।

७. **तुलसीदास** (नाटक) **:** गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। नाटक रंगमंच के उपयुक्त है। मूल्य १-२-०।

८. **शकुन्तला-ए-ट्रेजडी (एण्ड अदर ऐसेज़) :** श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। मूल्य ४-०-०।

व्यवस्थापकः—पुस्तक-विक्रय-विभाग, हिन्दी प्रचार

के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज, सचित्र छपाई। आकर्षक मुखपृष्ठ।

१. **बालपद :** ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर आचार्य वंशीधर 'विद्यालङ्कार'। ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ :** उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—पं० रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए., पी. एच. डी.। ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १ :** दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए. पी. एच. डी.। ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ :** बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. **दो एकांकी :** ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए.। ०-८-०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. **दक्षिण के महापुरुष भाग २ :** लेखिका—श्री विमला लूथरा। ०-६-०

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१ हिन्दी बोध प्रवेशिका	०	१०	०	१२ रचना बोध भाग १	०	५	०
२ हिन्दी बोध भाग १	०	८	०	१३ रचना बोध भाग २	०	६	०
३ हिन्दी बोध भाग २	०	१२	०	१४ इतिहास की कहानियाँ भाग १	०	८	०
४ हिन्दी बोध भाग ३	०	१३	०	१५ इतिहास की कहानियाँ भाग २	०	१२	०
५ हिन्दी बोध भाग ४	०	१४	०	१६ विज्ञान सोपान भाग १	०	१०	०
६ गद्यसोपान भाग २	१	०	०	१७ विज्ञान सोपान भाग २	०	१२	०
७ सरल गणित भाग २	०	१०	०	१८ चार एकांकी	०	१२	०
८ सरल गणित भाग ३	०	१२	०	१९ मणियाँ	०	१०	०
९ पद्य पारिजात भाग १	०	१२	०	२० सरल व्याकरण भाग १	०	६	०
१० पद्य पारिजात भाग २	१	५	०	२१ कहानी संग्रह	१	२	०
११ कथाकुञ्ज भाग १	१	८	०	२२ सरल भूगोल	१	०	०

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श—समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
भूतपूर्व वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा विभाग, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप'

१९५० से १९५६ ई. तक के प्रत्येक वर्ष की 'अजन्ता' की पुरानी फ़ाइलें जिल्द बन कर तैयार हो गई हैं

'अजन्ता' का प्रकाशन अक्तूबर १९४९ से आरम्भ हुआ। विगत सात वर्षों में 'अजन्ता' ने हिन्दी साहित्य के भण्डार को बहुमूल्य रचनाओं से पूर्ण किया। गत वर्षों के यह अंक हिन्दी साहित्य की प्रगति को जानने के लिए नितान्त संग्रहणीय हैं।

अंकों का मूल्य वार्षिक रु. ६-०-० होते हुए, जिल्द के साथ और भी अधिक बढ़ जाता है किन्तु नीजि और सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए रु. ७-०-० में इन फाइलों को देने की सुविधा प्रदान की गई है।

शीघ्र आर्डर भेजिए : रु. ७-०-० का मनिआर्डर प्राप्त होते ही जिल्द तुरन्त भेज दी जाएगी इन जिल्दों को वी. पी. द्वारा नहीं भेजा जाएगा।

'अजन्ता'

हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद
(आन्ध्र प्रदेश)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ६ मई, १९५७ अङ्क ५

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : हिन्दी फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर, त्रावणकोर और
मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

बिना छाँह के
केशू १

खोल दो यह बन्द वातायन
रमेन्द्रनाथ श्रीवास्तव २

नीली निशा के
बीरेन्द्र मिश्र ३

अभिनय
बालकृष्ण राव ४

सम्बोधगीत : चरैवेति ! चरैवेति !!
रंगनाथ 'राकेश' ६

साँझ का गीत
आदित्य मिश्र ७

जिन्दगी : एक पैरोडी
प्रो. बेचन ८

कालिदास युगीन वेशभूषा और श्रृंगार प्रसाधन
सरोजिनी चतुर्वेदी ९

रूसी लोकगीत—चास्तूश्का
प्रेमकिशोर ऐतमादपुरी १२

दर्शन और धर्म
व्रजभूषण पाण्डेय १४

दीक्षान्त अभिभाषण
प्रो. सैयदैन २२

पद्माकर कृत 'प्रतापसिंह बिरुदावली'
डा. टीकमसिंह तोमर २६

पहरेदार (व्यंग्य एकांकी)
विनोद रस्तोगी ३१

योगीश्वरी लल्ला
मूल : नेलनूतल श्रीकृष्णमूर्ति
अनु० : बालशौरि रेड्डी ३५

सुबह की भूली
मूल : कैथरारन मैन्सफील्ड
अनु : शरद देवड़ा ३८

सत्तावन की क्रान्ति की पृष्ठभूमि
श्यामविमल शास्त्री ४२

रवीन्द्र-साहित्य में स्वदेश-प्रेम
आलोक ४५

राजस्थानी में नीतिपरक साहित्य
मदनमोहन शर्मा ४७

मेरे पत्रकारिता के अनुभव
इन्द्र विद्यावाचस्पति ५१

बहू मायका चली (तेलुगु लोकगीत)
डी. मंजुलता ५४

छोटा-सा दुःख
कुमारी लक्ष्मी मेहरोत्रा ५६

कन्नड के प्राचीन कवि : षडक्षर देव
एन. रंगनाथ 'कुमुदप्रिय' ६०

कला-चर्चा : सच्ची कलाकृति
आशारानी व्होरा ६३

चिट्ठी-पत्री :
अजन्ता के सम्बन्ध में : समाली अलपाकी, डा. सुमनलता, सौन्दर्य आदिम अनुभूति : अधुना : एक चुनौती : रामनाथ शर्मा 'परिमल', वाचस्पति गैरोला, हिन्दी की मासिक पत्रिकाएँ : वीरेन्द्रकुमार, भूल-सुधार। ६५

नीर-क्षीर :
क्रान्तिवाद, स्टीफ़िन ज़्विग की महान् कहानियाँ, देखा परखा, नगर सुन्दरी (गुजराती उपन्यास 'आम्रपाली' का अनुवाद), पथ के गीत, अकबर, सैफुल मुलूक व बदी उल जमाल : वंशीधर विद्यालंकार। ६६

सामयिक :
कांची का सांस्कृतिक वैभव, कवियों की चेक बुक, देशबन्धु चित्तरंजन दास : कवि के रूप में, स्वप्नों की सत्यता। ७४

सम्पादकीय :
वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तंड ७८

चित्र : (१) लोह-जीवन, चित्रकार : श्री ताहे अहमद; (२) श्रमिक, चित्रकार : श्री के. अंजय्या

वार्षिक मूल्य : ९) एक प्रति का मूल्य : १) रु.

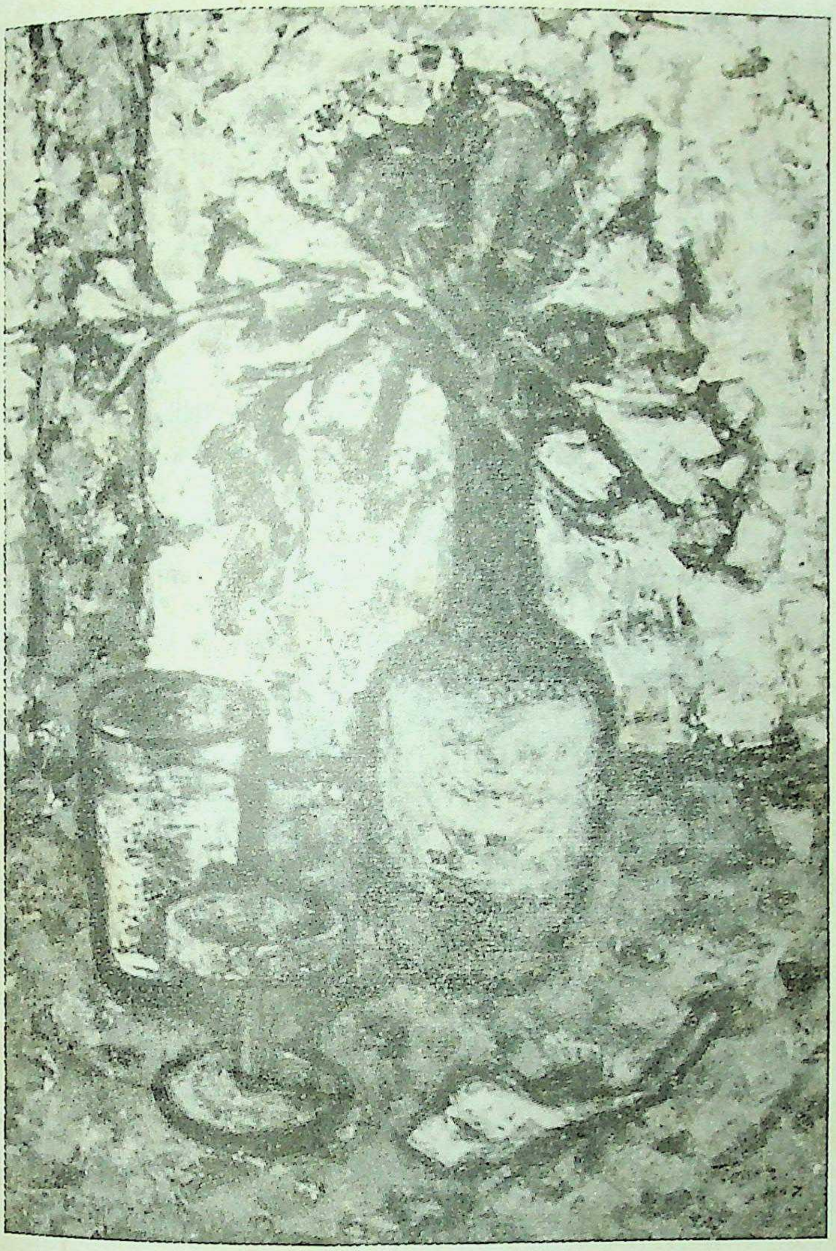

लोह-जीवन

चित्रकार : श्री ताहेर अहमद

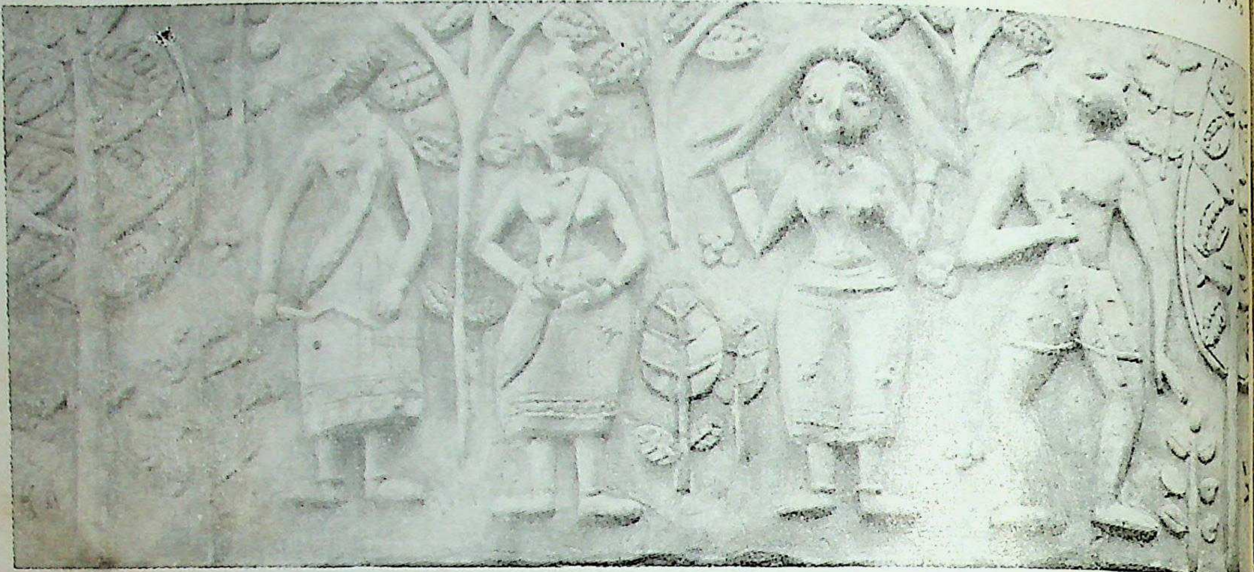

श्रमिक

चित्रकार : श्री के. अंजरया

वर्ष ९ मई १९५७ अङ्क ५

बिना छाँह के

अगर कुहुकती नहीं याद की कोयल अमराई में
अगर फ़ूलती नहीं रात-रानी बीती घड़ियों में
गीतों की ख़श अगर भींगती नहीं कभी भी पथ में
अगर कहीं भी स्वप्न नीम की शीतल छाँह न होती

तो वैसाख-जेठ की ज्वाला में जलते-प्यासे दिन
जाकर कहीं ख़ुदकशी करते जीवन से अकुलाकर
क्योंकि न जी पाते हैं भावुक बिन बहले, बिन गाए
बिना छाँह के सिर्फ़ धूप में चला नहीं जाता है!

केन्द्रीय पुस्तकालय,
भूपाल

—केशू

१. खोल दो यह बन्द वातायन

खोल दो यह बन्द वातायन
ताकि ताज़ी शबनमी सौरभभरी
प्राणदायक मिल सके तुमको हवा
उमस गर्मी विषभरे काले धुँए से
रिक्त हो यह कक्ष

तिमिर का पट चीर किरणें
आ सकें इस पार
मुक्त श्वासों में नई फिर आस जागे
हो सके अभिषिक्त जीवन
फिर नए विश्वास से

२. आज फिर......

आँखों में नींद नहीं
मन में हिलकोर है
ऊब भरे जीवन का दूर हुआ छोर है
माखन के टुकड़ों-से
बादल सफ़ेद हैं
रेशम से कोमल
ये धानों के खेत हैं

नहरों की लहरों को
किरणें अब चूम रहीं
हल्की-सी मस्ती
हवाओं में झूम रही
जीवन से रूठे
उपहार आज लौट रहे
होठों पर अनगाए
गीत आज तैर रहे

नेशनल कालेज, बाण्ड्रा,
बम्बई—२०

—रमेन्द्रनाथ श्रीवास्तव

१९५७

नीली निशा के......

नीली निशा के किनारे
खुलते बहुत-से दुआरे
हैं किस महल के

भीतर भरी रोशनी देहरी पर खड़ी मन्द है
अन्तर खिला फूल है और बाहर उड़ी गन्ध है
सपने हमारे अमर हैं
दृग तो सलौने भ्रमर हैं
उजले कमल के

माटी पिलाती रही विष हमें रोज़ ही रोज़ तो
आँखें उठाईं गगन में कि कुछ तो नई खोज हो
लेकिन वहाँ भी धरे हैं
नीली नज़र से भरे हैं
प्याले गरल के

अग्नि का बाज़ार,
लश्कर (ग्वालियर)

—वीरेन्द्र मिश्र

अभिनय

छोटी-सी चिड़िया—
उस-जैसी जाने कितने ही
रोज उड़ा करती हैं दिन भर;
उन्हें देखने
कौन भला रुक जाता होगा कभी राह पर ?

लेकिन उस दिन
मन्त्रमुग्ध से खड़े हो गए थे हम सहसा,
दृष्टि पड़ी जैसे ही
छोटी-सी चिड़िया पर
जो हमसे कुछ दूर, सामने
पर फैलाए
झूल रही थी मानो लटकी आसमान से

हम विस्मित हो लगे देखने,
थिरक रहे थे पंख—
स्पष्ट ही वह स्वेच्छा से
वहाँ वायवी रंगमंच पर अभिनय करने
ठहर गई थी उड़ती-उड़ती अनायास ही

अद्भुत कौशल से
कुछ क्षण वह रुकी रह गई,
फिर सहसा
कुछ अधिक वेग से पर फड़काती
हुई हमारी आँखों से ओझल
द्रुत गति से

लगा सोचने मैं
संभव है कोई जानकार
वह सुने अगर तो हँसकर कह दे;
"तुम जिसे असाधारण समझे
वह नियम प्राकृतिक इस प्रदेश की
चिड़ियों का है;
अक्सर यों ही
शाम-सवेरे
पर फैलाए
उड़ने की गति रोक अचानक
अभिनय करती इसी तरह का
मिल जाती हैं"

फिर यह आया ध्यान
कि कोई
उससे बढ़ कर जानकार
शायद यह कह दे :
"नहीं, नहीं; यह नियम नहीं है;
उस पक्षी के पर में कोई चोट लगी थी
जिसके कारण
उड़ते-उड़ते रुक जाने के लिए विवश था"

इतने में तुम बोल उठीं—
"कितना सुन्दर था !
कितना अद्भुत नाच दिखाया
उस चिड़िया ने !"

१८/२ बी. टैगोर टाउन,
इलाहाबाद

—बालकृष्ण राव

सम्बोधगीत : चरैवेति ! चरैवेति !!...

(१)

चरैवेति !......चरैवेति !!....चरैवेति !!!......
पान्थ ! अरे क्लान्त हो उठे, अभी न इति !
अजस्र रश्मि-पुञ्ज-खग-सूर्य सदा चल रहा,
प्रखर-मयूख-ताप-हेतु ध्वान्त-तिमिर गल रहा;
चंचु खोल नीड़ से उड़े विहँग सभी ललक:
कि मृत प्राय महिप्राण शनैः शनैः कंपमान हो रहा !
ये पीत-पात गाछ के निपात-मिस कह रहे—
चरैवेति !......चरैवेति !!.....चरैवेति !!!......

(२)

वसुन्धरा का दुग्ध पी : यह प्रपात जो निनाद कर रहा,
वक्ष रौंद शैल का उपत्यका-हरीतिमा लुटा रहा;
विन्दु-विन्दु के क्वणन्निपात से स्वर यही छलक रहा—
कि कंटकों के क्रोड मध्य कोरकों की कूक है खिली सदा:
कि कुक्षि चीर कर धरा धरा रही, सुमन सुमन रहा !......
इसीलिए तो काग 'क्वासि-क्वासि' में संदेश दे रहे—
चरैवेति !.........चरैवेति !!.........चरैवेति !!!.........

(३)

आम्र-गात चूम रेणु-निर्झरी खिली प्रियंगु-सी,
नीम-ठूँठ-अंजु-राशि चू रही दुग्ध-धवल-फेन-सी;
कोकिला की तान सुन वल्लरी मुहुर्मुहुः तभी जगी,
काँट भरा कर्कन्धु झूम उठा, मदार की मदालसा जगी;
लालिमा कहाँ ? लालिमा कहाँ ? ज्येष्ठ-वायु व्यंग कर उठी,
पत्र-हीन वृन्त पर शाल्मली-सुमन हँसे खिलखिला:
पश्य माम् !...पश्य माम् !!...चरैवेति !!!...चरैवेति !!!.....

—रंगनाथ 'राकेश'

संस्कृत-विभाग,
कलकत्ता युनिवर्सिटी,
कलकत्ता

१९५७

साँझ का गीत

साँझ हुई, सकुचाई फूलों की पाँखुरी !
कुहरे को छेद-भेद गूँज रही बाँसुरी !!

चिड़ियों के कलरव से गाँव चहचहा उठा !
बेला की कलियों से गाँव महमहा उठा !!
कुछ ऐसी तान छिड़ी कोयल की बगिया में—
सुधियों के आलम से गाँव गहगहा उठा !!
गाढ़े कुहासे में बोर उठी आँखुरी !
कुहरे को छेद-भेद गूँज रही बाँसुरी !!

अम्बर की परियों का यान रुका गाँव में !
बुलबुल की धुन का गुँजान रुका गाँव में !!
औंचक ही अँगड़ाईं फ़सलों की गोरियाँ—
सरसों के पायल का गान रुका गाँव में !!
सपनीले गीतों से छलनी मन-आँजुरी !
कुहरे को छेद-भेद गूँज रही बाँसुरी !!

रिमझिमी बदलियों का तार मुसका उठा !
सँझाई किरनों से चौबार मुसका उठा !!
धरती के कण-कण में झूम उठी चाँदनी—
शरमीले चंदा से द्वार मुसका उठा !!
मधुवाए गाँवों में मधुवाई माधुरी !!
कुहरे को छेद-भेद गूँज रही बाँसुरी !!

—आदित्य मिश्र

'विकास' प्रेस, ओलंदगंज,
जौनपुर (उ० प्र०)

ज़िन्दगी : एक पैरोडी

ख़्वाब से डर कर नहीं भागता हूँ
बीसवीं सदी का आदमी
यथार्थवादी रोमांस का गायक हूँ
अपने नाटक का खुद ही नायक हूँ
जनता जनार्दन, नेतृत्व, नेता का
'इंडिविज्युअल टाइप' का फ़र्क समझता हूँ
रात और दिन अपने हैं
दुनियाँ जहान अपना है
क्योंकि इल्म अपने पास है
जादू दिखाऊँगा, पैसे कमाऊँगा
'खोलो पैसा, देख तमाशा'
इसलिए ख़्वाब से डर कर नहीं भागता
भागता हूँ इन्सान के हैवान से !

भगवान पुस्तकालय,
भागलपुर—२

कालिदास युगीन वेशभूषा और शृंगार प्रसाधन

[आजकल पुरानी परिपाटी के मनुष्य अपनी बहू बेटियों को तैयार होने में देरी करने पर या शृंगार के प्रति अधिक अनुरक्त देख कर नाक भौं सिकोड़ते हैं। पुराने ज़माने और समय की सादगी को दुहाई देते हैं। परन्तु कदाचित् यह उनको अनुमान भी न होगा कि सदियों पूर्व उनकी दादी परदादी अपने शृंगार में घण्टों लगाती थीं और अनेक प्रकार के आभरण और प्रसाधन उनके प्राण थे।]

महाकवि कालिदास की रचनाएँ संस्कृत-साहित्य की एक अनुपम देन तो हैं ही साथ ही तत्कालीन भारत के सामाजिक जीवन का दर्पण भी हैं। उनके काव्यों में समकालीन नरनारी अपनी समूची भावभंगियों के साथ सजीव हो उठे हैं। विशेषतः कवि के वर्णनों से हमें उस समय की वेशभूषा और शृङ्गार प्रसाधनों का विशद ज्ञान प्राप्त होता है।

इन रचनाओं में भिन्न-भिन्न ऋतुओं और अवसरों पर पहनी जानेवाली अनेक प्रकार की वेशभूषाओं का वर्णन है जैसे मृगयावेश, प्रेमक्लान्तमनुष्यों, अभिसारिकाओं और उपासकों का वेश आदि। उस समय तक हर श्रेणी के मनुष्यों की वेषभूषा इतनी निश्चित हो चुकी थी कि रंगमंच पर प्रवेश करते ही दर्शक केवल वेशभूषा से ही पात्र की भूमिका का अनुमान कर लेते थे। उस काल के मनुष्य अपने वस्त्राभूषणों के प्रति विशेष जागरूक थे और उज्ज्वल वस्त्रों से अपने को सुसज्जित करते थे। (शुद्धवेषयोः, उज्ज्वलनेपथ्योः, उज्ज्वलवेशधारिणः) परन्तु विभिन्न रंगों के वस्त्रों का भी अभाव न था जैसे लाल (अरुणरागांशुक) नीले (नीलांशुक) गेरुए और काले (श्यामस्तनांशुक) आदि। शिशिर और ग्रीष्म के लिए काव्यों में हमें पृथक् पृथक् रेशमी (कौषेयक) और ऊनी (पत्रोर्ण) वस्त्रों का विवरण भी प्राप्त होता है। रेशमी वस्त्रों में सुन्दर हंसचित्रित और चीन के 'चीनांशुक' विशेष प्रसिद्ध थे। कहीं कहीं कवि ने फूँक से उड़ जाने वाले हल्के और बारीक वस्त्रों का (निःश्वासहार्यांशुक) भी वर्णन किया है। कदाचित् यह प्रसिद्ध भारतीय मलमल के पूर्वगामी थे। ग्रीष्मकाल में लोग शीतल परिधान धारण करते थे और कुछ तो सूर्य के प्रचंड ताप को सहने के लिए रत्नग्रथित वस्त्र भी। रात्रि और दिन के लिए अलग अलग परिधानों का विवरण मिलता है और यह कुछ अजब नहीं कि तब के सुरुचिप्रिय भारतीय अपने बहूमूल्य वस्त्र शैया से परे ही रखते हों।

"मालविकाग्निमित्र" में परिव्राजिका से मालविका को विदर्भ के वैवाहिक वेश में सुसज्जित करने की प्रार्थना की गई है। ऐसे ही अन्य प्रसंगों से प्रतीत होता है कि भारत के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न प्रकार के परिधानों का व्यवहार होता था। परन्तु साधारणतया वर वधू रेशमी वस्त्रों का जोड़ा पहनते थे। इन वस्त्रों पर अधिकांश हंसमिथुन चित्रित होते थे (वधूदुकूल कलहंसलक्षणम्, हंसचिन्ह दुकूलवान्)

पुरुषों के परिधान साधारणतः तीन वस्त्रों का होता था—वेष्ठन-पगड़ी की सिर पर पहना जाता था; उत्तरीय बदन पर दोनों कन्धों को ढकता था और कटि के नीचे अधोवस्त्र होता था। जाड़ों में स्वाभाविक ही ऊन के भारी वस्त्र पहने जाते थे (वासांसि गुरूणि) उत्तरीय और धोती का यह परिधान मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय की गुप्त और कुषाण कालीन मूर्तियों तथा उत्कीर्ण चित्रों में—विशेषतः पंचबाणधारी कामदेव और यक्षों में आज भी दर्शनीय है। उत्तरीय उस समय का विशेष पहनावा था। साँची, भरहुत और अमरावती की वेष्टनी आदि पर उत्कीर्ण पुरुष मूर्तियों में से एक भी उत्तरीय विहीन नहीं है। विवाह के समय भी वर यही वेष्टन अथवा उष्णीष और उत्तरीय धारण करता था। अन्तर केवल इतना था कि इस विशिष्ट अवसर पर यह वस्त्र हंसमिथुनों से चित्रित रेशमी होता था।

स्त्रियाँ भी तीन ही वस्त्र पहनती थीं -- कचुंक (कूर्पासक) अधोवस्त्र और चादर। कचुंक अथवा स्तानाशुंक आधुनिक काल की चोली के समान ही जैसा आज भी दाक्षिण भारत, राजस्थान और मथुरा के आसपास की स्त्रियाँ पहनती हैं। यह निश्चित नहीं कि यह अधोवस्त्र किस प्रकार का होता था; भारतीय साड़ी या पाश्चात्य स्कर्ट की तरह। परन्तु 'नीवी' और 'नीवीबन्ध' (न बबन्धनीवीं, नीवीबन्धोच्छ्वसित शिथिलम्) आदि शब्दों से ऐसा बोध होता है कि यह कटि प्रदेश से बँध कर पावों तक लटकने वाला वस्त्र होता था। कभी-कभी यह घुटने तक ही लम्बा पहना जाता था जैसा मथुरा संग्रहालय की सप्तमातृकाओं की मूर्ति से विदित होता है परन्तु उसी संग्रहालय की कम्बोजिका आधुनिक साड़ी, के अनुरूप को वस्त्र पहने है। इनके ऊपर नारियाँ लम्बा शाल भी ओढ़ती थी जिससे सम्पूर्ण शरीर ढक जाता था और उसका आँचल अवगुंठन की तरह भी प्रयुक्त हो सकता था। विवाह के अवसर पर यही वेश वधू के लिए रेशमी वस्त्रों का बनाया जाता था। नववधू रक्ताभ कचुंक पहनती थी। 'अंशुक' शब्द स्त्रियों की वेशभूषा का द्योतक है।

आखेट के समय राणा की यवन परिचारिकाएँ अपने विशेष परिधान से अलग ही पहचान लीं जाती थीं। इनकी विशिष्ट वेशभूषा का तो इसके अतिरिक्त कि वे धनुष और पुष्पमालाओं से सज्जित राणा के चारों ओर रहती थीं कोई वर्णन नहीं प्राप्त होता परन्तु संग्रहालय के प्रसिद्ध मदिरापान के (Bacchanalain brocp) चित्र में ये यवन सेविकाएँ पूरी बाहों वाला जम्पर, पैरों तक लटकती हुई स्कर्ट भारी जूते और सिर के लम्बे बालों को रोकने के लिए वेष्टन धाराण किए उत्कीर्ण की गई हैं एक भित्ति स्तम्भ पर अंकित तलवार हाथ में लिए कटेबालोंवाली (Bobbed hair) एक यवनी का का अतिसुन्दर चित्र भी प्राप्त हुआ है।

उस युग के साधु सन्यासी बहुधा वल्कल के काषाय वस्त्र ही पहनते थे; (काषायपारवातन) आश्रम कन्याएँ भी यही वल्कल वस्त्र धारण करती थीं। यद्यपि सन्यासियों और सन्यासिनियों के वस्त्रभेद का तो कोई विवरण नहीं है, फिर भी ऐसा लगता है कि दोनों के वस्त्रों में भिन्नता होती थी। शकुन्तला कन्धे पर गाँठ लगा पेड़ की छाल का वस्त्र पहनती थी।

जंगल में निवास करने वाले उस समय के आदिवासी और डाकू पीठ पर तूणीर बाँधते थे और सिर पर कानों तक लटकते मयूरपंखों के गुच्छे धारण करते थे।

आभूषण : कालिदास ने अपनी रचनाओं में अनेक प्रकार के आभूषणों का वर्णन किया है और उनके लिए आभरण अलंकार मण्डन आदि अनेक शब्दों का प्रयोग, किया है। सिर पर पहने जाने वाले अलंकारों में चूड़ामणि, बालों को ढकने के बहुमूल्य मोतियों या रत्नों के जाल (मुक्ताजाल, रत्नाजाल) किरीट जो राजा पहनते थे; कानों में मूल्यवान् रत्नरचित 'कुण्डल' 'कर्ण भूषण' 'कर्णायूर' 'मणिकुण्डल' आदि अधिक लोकप्रिय थे। गले में 'निष्क' अथवा सिक्कों को जोड़ कर बनाया हुआ आभूषण बहुत पहना जाता था। इसका वर्णन 'ऋग्वेद' में भी मिलता है। इसके अतिरिक्त 'मुक्तावली', बड़े मोतियों का हार (स्थूलमुक्ताहार) अथवा 'तारहार', 'हारशेखर', श्वेतहार,' 'शुद्ध एकावली' मोती लाल पन्ना नीलम और हीरों के गुच्छों से बनी लम्बी वैणान्तिका; सोने का 'हेमसूत्र' और पुष्पमालाएँ भी गले की शोभा बढ़ाती थीं। बाहों पर सुवर्ण तथा रत्नजटित 'अंगद' और 'केयूरक' कलाई पर कड़ा या 'वलय', विविध प्रकार की अँगूठियाँ 'अंगुलीय' या 'आगुलीयक' स्त्री पुरुष दोनों ही पहनते थे। कभी कभी तो अंगूठी अधिकार की प्रतीक भी मानी जाती थी। अनेक स्थानों पर सुवर्ण और रत्नों के अनेक प्रकार के कटिबन्धों का भी वर्णन हुआ है: जैसे 'मेखला' 'हेममेखला', 'काँची' किंकणी आदि। मथुरा संग्रहालय में देवियों की मूर्तियों पर अनेक प्रकार के कटिबन्ध प्रदर्शित हैं। स्त्रियाँ पाँवों में मधुर ध्वनि करनेवाले नूपुर भी बड़े प्रेम से पहनती थीं। उस समय के पुरुषों को भी स्त्रियों के ही समान आभूषण कितने प्रिय थे इसका आभास तो तत्कालीन किरीट कुण्डल, मेखला हार आदि से मण्डित देवगढ़ से प्राप्त अनेक विष्णुमूर्तियों से होता है। अजन्ता के अनेकानेक चित्र उस समय की स्त्रियों की एकान्त आभूषण प्रियता के सजीव उदाहरण है।

केश विन्यास : कालिदास की कृतियों से यह स्पष्ट ही विदित होता है कि उस समय के पुरुष दोनों प्रकार के बाल रखते थे, मध्य में शिखा रख कर छोटे बाल और लम्बे कटे केश भी। लम्बे बाल किसी वस्तु से बाँध कर सँवारे जाते थे (लताप्रतनोद्ग्रथितैः स केशैः

१६५७

रघुवंश) दाढ़ी मूँछ अधिकतर मुंडा दी जाती थी परन्तु शोकावस्था में बढ़ी ही रहने दी जाती थी। छोटे बालकों के बाल कानों पर लटकते रहते थे जिन्हे 'काकपक्ष' कहते थे।

स्त्रियाँ लम्बे स्वभाविक बाल रखती थी और उनका चन्दन और अगुरु सुगन्धित कर कंघे और तेल की सहायता से 'एकवेणी', 'शिखा' और विविध प्रकार के जूड़ों में सँवारती थीं। माँग और चोटियों को वे फूलों से सजाती थीं। काव्यों में परित्यक्ता वधुएँ रूखी अलकों वालीं ही चित्रित की गई हैं।

शृगार प्रसाधन : शृङ्गार प्रसाधनों का तो उस युग में जैसे बाहुल्य था। विविध प्रकार के पुष्प और मालाएँ, सुगन्धित तेल, मुखचूर्ण, अनेक प्रकार के लेपन, अंगराग धूप, चन्दन अगुरु अंजन, अलक्तक आदि का अधिकता से प्रयोग किया जाता था। परन्तु पुष्प इन सबसे अधिक लोकप्रिय था। स्त्री और पुरुष दोनों ही लम्बी-लम्बी कुसुम मालाएँ पहनते थे। अनेक बार तो रत्नजटित अलंकारों की जगह पुष्पाभरण ही धारण किए जाते थे। स्त्रियाँ हाथों में कमल, केशों में कुन्द और मन्दार, कानों में शिरीष, कटि में केसर और चोटियों में अनेक प्रकार के पुष्प सजाती थीं। पुष्पों की सर्वप्रियता तो इसी से विदित है कि उस समय 'पुष्पालवीं' नामक एक विशेष जाति ही थी जो पुष्पों का व्यापार करती थी

स्त्री और पुरुष दोनों ही अनेक प्रकार से प्रसाधन प्रयोग करते थे। स्नान के पूर्व वे अपने शरीर पर चन्दन, कालेयक, कालागुरु और हरिचन्दन के अनुलेपन या 'अंगराग' का प्रयोग करते थे। स्नानोपरान्त बालों को धूप, अगुरु, कालेयक आदि के धुएँ से और शरीर को कस्तूरी से सुगन्धित कर वे हरिताल और चन्दन के तिलक लगाते थे। स्त्रियाँ एक विशेष प्रकार की शलाकाओं से आँखों में अंजन लगाती थीं। शीतलता के लिए स्त्रियाँ चन्दन और कुंकुम का लेप अपने वक्ष पर भी लगाती थीं। 'शुक्लगुरु', 'चन्दन', 'रोचन' और 'गोरोचन' से वे अपने चिबुक और गालों पर पुष्पपल्लवों के चित्र बनाती थीं। उन्हें 'पत्रलेखन' 'पत्र विशेषक' या 'विशेषक' कहते थे। अधरों पर आलक्तक और लोध्र चूर्ण का प्रयोग किया जाता था जिससे वे पीताभ लाल हो उठते थे। यह आधुनिक 'लिपस्टिक' का पूर्वगामी था। विश्वास-सा नहीं होता परन्तु प्रमाण प्रत्यक्ष है। स्त्रियों के महावर लगे पदचिन्हों से रंजित जलाशयतटों का कवि ने ललित वर्णन किया है। बिजौरा नीबू और ताम्बूल से लोग अपने मुख को सुगन्धित करते थे।

आधुनिक काल के समान ही दर्पण उस समय भी प्रसाधन का आवश्यक अंग था। यह स्पष्टतया विदित नहीं कि दर्पण किस धातु का बनता था। संभवतः वह किसी अन्य धातु को शीशे की तरह चमका कर बनाया जाता था। ''पेरिप्लस आफ दि एरीथियन सी, के अनुसार तो ईसवी पहली सदी के प्रारम्भिक वर्षों में ही एक प्रकार का कच्चा शीशा बनाया जाने लगा था। प्लिनी ने भी स्फटिक के समान कान्तिमय भारतीय दर्पणों का भी उल्लेख किया है। 'मांसाहार शिल्पशास्त्र' में भी दर्पण के विभिन्न आयताकारों और उसको बनाने की विधि का विवरण मिलता है। इसमे कुछ अजब नहीं जो वह शीशे का भी बनता रहा हो।

'प्रसाधन कला' प्रसाधनविधि आदि शब्दों से यह तो स्पष्ट है कि कालिदास युगीन भारत में शृङ्गार कला का पर्याप्त विकास हो चुका था। मुख और केशों के शृङ्गार के लिए कवि ने क्रमशः 'मुख-प्रसाधन' और 'वेणीप्रसाधन' शब्दों का उल्लेख किया है। इस कला में प्रवीण स्त्री और पुरुष 'प्रसाधिका' और प्रसाधक कहलाते थे। शृङ्गार मंजूषा सहित प्रसाधिकाओं के अनेक चित्र भी प्राप्त होते हैं। जिनमें बनारस विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में सुरक्षित एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण चित्र विशेष उल्लेखनीय है।

वात्सायन ने भी अपने 'काम सूत्र' में शृङ्गार कला का विशद वर्णन किया है जो उस समय के सौन्दर्य और कला प्रेमी भारतीय नर नारियों के समुन्नत जीवन का प्रमाण है।

—सरोजिनी चतुर्वेदी

एस. चतुर्वेदी, डिप्टी कलेक्टर
१८/सी. ५. स्टेनली रोड,
इलाहाबाद

रूसी लोकगीत—चास्तूश्का

रूसी-भाषा में 'चास्तूश्का' का अर्थ है प्रचलित सामान्य गीत, और रूसी भाषा के व्याकरण के अनुसार इस शब्द का बहुवचन 'चास्तूश्की' होता है।

प्रचलित गीत होने के नाते 'चास्तूश्का' को लोकगीत नाम दे सकते हैं। इन गीतों का विषय-विस्तार बहुत व्यापक है, इनमें सभी तरह की बातें मिलती हैं, यथा कृषि और प्रेम विषयक। इन लोक-गीतों का निर्माण जनसाधारण की सहज काव्यात्मक प्रवृत्ति के फलस्वरूप होता है।

इन गीतों के साथ 'हिसगानोच्का' नामक लोक-नृत्य का मेल चलता है। ये गीत रागात्मक तो होते ही हैं इन्हें सहयोगी नृत्य अपूर्वतः कलात्मक बना देता है। वैसे सारे रूस में ये गीत प्रचलित हैं फिर भी पोदूब्की, लदोगा झील, वोलोग्दा, बाइलोरूस और साइबेरिया प्रदेश के चास्तूश्की रूसी जनता में विशेष लोकप्रिय हैं। पोदूब्की चास्तूश्की का एक उदाहरण यह है :

"जब मेरा प्रेमी दूर चला गया तो मैंने क़सम खाई मैं उसकी प्रतीक्षा करूँगी। और यदि किसी दूसरे आदमी ने उसका स्थान लेने की कोशिश की तो मैंने क़सम खाई मैं उस दूसरे आदमी से घृणा करूँगी।"

चास्तूश्की गीतों का वातावरण लोक-गीतों की भाँति सहज और वास्तविक रहता है, जैसा कि सर्गाई अन्तोनोव के इस वर्णन से स्पष्ट है[1] : "अचानक, रात के अँधेरे में तन्तुवाद्य झनझनाकर ज़ोर से बजने लगा। गाँव को चीरती हुई मादक स्वरलहरी बह उठी, गली-गली मुखरित हो उठी—नृत्यरत पैरों की थपकियाँ, तरुणियों के संगीत की लहरियाँ, औंघती हुई पत्तियों के खड़खड़ाहट भरे अन्तरे, और दूर पर धड़धड़ाती हुई रेलगाड़ियों की बँधीटकी दहाड़—ये सब साज़ मिल कर एक लय हो गए। केवल बीच-बीच में चलने वाली लोरियों के बहाने, जब वाद्य ध्वनि कुछ धीमी पड़ जाती थी, तरुणियों का हास्य सुनाई पड़ जाता था और तभी कहीं दूर पिछले अहातों में भोंकने वाले कुत्तों का शोरगुल भी।...और तब वाद्य से विस्वर होकर, कुछ रात गए जाने पर, कोई तरुणी पंचम स्वर में चास्तूश्का छेड़ देती। उस समय न उनका हास्याभिनय और न कुत्तों का भोंकना सुनाई देता। गीत इतना तेज था, मेरी समझ में एक शब्द भी न आया। कभी स्वर वाद्य-ध्वनि को छोड़ कर काफ़ी उठ जाता, कभी इतना धीमा हो जाता कि केवल वाद्य ही सुनाई पड़ता। इस तरह गलियाँ गूँजती रहतीं।...गीत जैसे अचानक शुरू हुआ था उसी तरह एकदम रुक गया, किन्तु वाद्यध्वनि अनवरत रूप से चलती रही जिसमें कुछ अवकाश के बाद दूसरा गीत फिर बह निकला।"

इन चास्तूश्काओं की रचना का स्रोत व्यक्ति-विशेष की भावनाओं की शब्दों में आशु-अभिव्यक्ति ही है, किन्तु इनकी लोकप्रियता के कारण शीघ्र ही ये सर्व-साधारण मनोरंजन की सामग्री बन जाते हैं और इनका विस्तार व्यापक होता जाता है। गलियों और खेतों से शुरू होकर ये दूर-दूर फ़ार्मों, क़सबों और नगरों तक पहुँच जाते हैं।

इन गीतों को बहुधा तरुणियाँ बालिकाएँ रात दिन गाया करती हैं। सामूहिक रूप से ये तराने रात को गाँव की गलियों में फूट निकलते हैं, जब तमाम दिन की मेहनत-मजूरी के बाद उनका तरुण मन भावमग्न रहता है। तरुणियों के समूह में से कोई एक किसी गीत को सबसे पहले ऊँचे स्वर में उठाती है, फिर दूसरी ध्वनि स्वर में उसका उतार प्रस्तुत करती है। इस प्रकार गीत का क्रम सामूहिक रूप पकड़ता जाता है।

किसान-परिवार इन गीतों में विशेष रुचि रखते हैं। रात में भी जब कभी ये स्वर लहरियाँ उनके कानों तक पहुँचती हैं वे गलियों की खिड़कियाँ खोलकर उन्हें बड़े मज़े में सुना और समझा करते हैं।

इन गीतों के पीछे गाने वालों के सुख-दुःख, शिकवे, शिकायत आदि बातों की कहानी छिपी रहती है। भावनाओं का वास्तविक चित्रण होने के कारण इनकी

---

[1] सर्गाई अन्तोनोव 'पोदूब्की सँग्स' (अंग्रेज़ी अनुवाद), पृष्ठ ३०—३१।

भाषा प्रसादगुण-युक्त और भाव सीधे-साधे होते हैं। उदाहरणार्थ कुछेक चास्तूश्काएँ इस प्रकार हैं :

(१) मेरा प्रेमी मुझे चाहता है, लेकिन मुझे चूमता नहीं। उसके विचार जाने कैसे हैं, यह प्रकट नहीं होता। किसी लड़की से प्रेम करना और उसे न चूमना—इस बात पर क़ानूनी पाबन्दी होनी चाहिए।

(२) अरे चमकीले चाँदी-जैसे सितारे, तू इतने संतोष का अनुभव नहीं कर सकता। लेना की छाती पर बना सुनहरी सितारा तुझ से कहीं अधिक सुन्दर है।

(३) हमारे मुर्गियों के फ़ार्म को उन लोगों ने तोड़ गिराया, और बोरोवोइ इस बात पर फूला न समाता था। जब जिला संघ ने इस नुक़सान के विषय में सुना तो उसने भी कहा, यह बहुत बुरा हुआ।

(४) खेलो, जैसे हम लगोदा-निवासी अपने स्पासोवो ढंग में गाते हुए खेला करते हैं।

(५) पन्द्रह मिनट बाद ही पूरे आठ बज जाएँगे। तब हमारे प्रेमी युवक आ लेंगे। जिनका हम किस बुरी तरह इन्तजार कर रहे हैं।

(६) हे हमारी वोल्गा माता, आसमान में एक तारा टूटा।

(७) अरे मेरे अमरूद के पेड़, अरे मेरे बेरिया के पेड़, मुझे बता कि क्या मेरा प्रेमी मेरे पास लौट आएगा!

(८) मैं किसी एकाकी बिर्च-पेड़ की भाँति हूँ—मेरा प्रेमी मुझे एक ओर ढकेल कर चला गया है।

(९) ऐ फूल, तू यों ही लगा मुरझा जा—ताकि मुझे उसकी याद आती रहे।

(१०) चाँद इतना चमकदार क्यों निकला? आज की रात वह मुझ पर कितना गजब ढा रहा है।

(११) मेरा सिर चक्कर खा रहा है, और मैं आधा पाउण्ड पैसा खो चुकी हूँ।

(१२) प्यारी माँ, मुझे झिड़क मत। मुझे मत झिड़क, मुझ पर नाराज न हो। तू भी कभी मेरी तरह बच्ची होगी और इसी तरह रात को देर से घर आती होगी।

(१३) पहले वह मेरा था, फिर तूने उसे मुझ से छीन लिया। मैं इस पर भी तुझ से नहीं लड़ी। तभी उसे दुःख हुआ कि वह मुझे छोड़कर तेरा हो गया है और वह दूसरी ही रात मेरे पास लौट आया!

(१४) वान्या इधर-उधर भागता फिरता है, जैसे किसी सुन्दरी को खोजता हो। क्यों खोज रहा कोई नहीं जानता।

उदाहरण ६, ७, ८, ९ में दिए गए चास्तूश्काओं को 'स्त्रदानिया' भी कहते हैं—इसलिए कि ये दुःखान्त भावों को व्यक्त करते हैं। इनकी भाषा दर्द भरी रहती है, और गाने की तर्ज़ भी रुकोव प्रणाली की होती है जिसमें गीत मर्सिया की भाँति धीमे स्वर में धीरे-धीरे गाया जाता है फिर भी इस तरह के गीतों की स्वर-साधना इतनी सजीव एवं मधुर होती है कि संगीत श्रोतागणों को तन्मय किए बिना नहीं रह सकता, यहाँ तक कि उनके पैर खुद-ब-खुद संगीत के साथ थिरकने लगते हैं। इसका विशेष कारण ऐसे गीतों की नृत्यात्मक पृष्ठ-भूमि ही है। एक और मार्के की बात इन गीतों में पाई जाती है—इनकी अभिव्यक्ति दुःखान्त होने पर भी अपने साथ हास्य का ऐसा अपूर्व सामंजस्य बनाए रहती है कि ये गीत बोझिल नहीं हो पाते। इसी कारण कोई तरुणी जो अभी अपने प्रेमी से बिछुड़ जाने पर चास्तूश्का गाकर आँसू बहा रही थी एकदम आत्मविभोर होकर नाचने लगती है—कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

लोकगीतों में यही वास्तविकता को स्थान मिलना चाहिए। प्रत्येक ललित कला के समान ये भी साहित्य के विचारणीय अंग हैं। पुश्किन जैसे रूसी साहित्यकार ने अनेक लोकगीतों की भी रचना की थी।

लोकगीतों का महत्व शास्त्रीय संगीत के मुकाबले में किसी प्रकार कम नहीं होता, यह बात हमें चास्तूश्काओं की लोकप्रियता से स्पष्ट हो जाती है।

ऐत्मादपुर
जिला आगरा (उ. प्र.)

—प्रेमकिशोर ऐत्मादपुरी

जो व्यक्ति अपने देश से प्रेम करता है वह मनुष्य जाति से घृणा नहीं कर सकता।

—चार्ल्स चर्चिल

दर्शन और धर्म

दर्शन और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत उलझे हुए हैं। उलझने का यह तात्पर्य नहीं है कि वे अस्पष्ट हैं, अपितु वे सम्बन्ध इतने प्रगाढ़, स्वाभाविक एवं ऐकान्तिक हैं कि उनका पृथक्करण किसी भी दशा में सम्भव नहीं है। पश्चिम में दर्शन और धर्म को अलग-अलग मान कर जो विचारधारा पल्लवित हुई है, वह दर्शन और धर्म के स्वरूप को विकृत रूप में स्वीकार करती है। इस विचारधारा में 'दर्शन' मानव की जिज्ञासा को शान्त करने का बौद्धिक प्रयत्न मात्र रह गया है और धर्म भी एक विशिष्ट रीति-नीति द्वारा परिचालित 'मत' विशेष माना जाता है। यही कारण है कि वहाँ दर्शन और धर्म दो भिन्न-भिन्न विकास पथ के सूचक हैं। किन्तु भारतीय विचारधारा 'दर्शन' और धर्म के स्वरूप का विकास नितान्त अभिन्न रूप से करती है। यहाँ दर्शन की उपयोगिता धर्म की सार्थकता में है और धर्म की उपयोगिता 'दर्शन' के पर्यवसान में है। इस निबन्ध में हम दर्शन और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हुए उसके भारतीय स्वरूप पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे। भारतीय विचारधारा में 'दर्शन' शब्द से जिस विज्ञान या विद्या की ओर संकेत किया गया है, उसका व्यावहारिक परिणाम ही धर्म है। और इसी प्रकार भारतीय शब्दकोश में 'धर्म' के द्वारा जिस व्यवहार की ओर संकेत किया गया है, उसका सारा विधान 'दर्शन' की उच्च मान्यताओं के ऊपर ही आधारित है। यद्यपि दोनों का अपना-अपना क्षेत्र अलग है; किन्तु जीवन के मूलतत्त्व को पूर्ण बनाने में दोनों का समान महत्व है। यदि दर्शन हमारे स्वरूप के सत् पहलू का उद्घाटन कर हमारी ज्ञान-पिपासा को शान्त करता है, तो धर्म हमारे वास्तविक कर्त्तव्य का निर्धारण और हमारी श्रद्धा का आदर्श रूप निश्चित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन की समष्टि की पूर्णता दर्शन और धर्म के संयुक्त विकास में ही सम्भव है। कोरा दर्शन बौद्धिक कसरत है और अन्धविश्वास पर आधारित धर्म पाखण्ड तथा मिथ्याचरण है। इसलिए यदि धर्म के बिना दर्शन निष्प्रयोजन है तो दर्शन के बिना धर्म कुएँ में गिरने के सदृश है।

दर्शन के द्वारा हम सत्पदार्थों की छानबीन करते हैं। इस परिवर्तनशील संसार के मूल में जो एकत्व की अविरल धारा सूक्ष्म रूप से प्रवाहित हो रही है, उसका उद्घाटन दर्शन का एक लक्ष्य है। दर्शन द्वारा उद्घाटित सत्य का वास्तविक विनियोग धर्म करता है। दर्शन एक विज्ञान है और धर्म तदनुकूल आचरण। किन्तु यह आचरण शासन तथा लोभ-मोहादि के द्वारा संचालित नहीं होता, अपितु 'दर्शन' द्वारा प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में यह आचरण नितान्त स्वाभाविक और निष्कलुष भाव से सम्पन्न होता है। दर्शन के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति हमें होती है या जिस 'सत्य' का साक्षात्कार हमें होता है, उसे जीवन में उतारने का कार्य धर्म करता है। प्राप्त-ज्ञान का उचित विनियोग ही तो धर्म है। जैसे पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का ज्ञान प्राप्त करके इस सत्य का उपयोग विज्ञान का प्रयोगात्मक पहलू करता है और तदनुसार वह अनेक प्रयोगों के बल पर जीवनोपयोगी यन्त्रों एवं अन्य साधनों का निर्माण करता है। वैसे दर्शन द्वारा प्राप्त मूल सत्य के आधार पर धर्म व्यक्ति और समष्टि का आचरण तथा कर्त्तव्य निर्धारित करता है। जैसे अणुशक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेना मात्र कुछ अर्थ तब तक नहीं रखता, जब तक कि उस 'शक्ति' का उपयोग मानव जीवन को सबल, स्वस्थ और पूर्ण बनाने में न हो। उसी प्रकार संसार के मूलतत्त्व या चरम सत्य का ज्ञान तब तक कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक कि उस सत्य पदार्थ का कोई जीवनोपयोगी पहलू हम न खोज सकें। धर्म दृष्टि से चरम सत्य को जीवन की उपयोगिता के लिए सार्थक बनाता है। दर्शन की सूक्ष्म निरीक्षण शैली एवं गम्भीर चिन्तना तभी पूर्ण एवं सफल मानी जा सकती है, जब उसका पर्यवसान कर्त्तव्य के निर्धारण एवं जीवन को सरस बनाने में हो। यों संसार में व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य निर्धारण करने में बड़ी कठिनाई का अनुभव होता है। दर्शन द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान ही इस कार्य में हमारी सहायता करता है। बात यह है कि जब तक

१६५७

हमें किसी प्रकार की जानकारी नहीं प्राप्त होती, तब तक हम किसी दृढ़ निश्चय पर नहीं पहुँच सकते। उदाहरण के लिए अँधेरी रात में पथ पर पड़ी हुई 'रस्सी' को देख कर हमारे मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि यह सर्प है अथवा रस्सी। इस सन्देह की स्थिति में हम 'किं कर्त्तव्य विमूढ़' रहते हैं। यदि हमने ठीक से जांच पड़ताल नहीं की और दूर से उसे 'सर्प है' ऐसा निश्चय करके भाग खड़े होते हैं या लाठी से उसे पीटना आरंभ कर देते हैं, तो यह हमारी मूर्खता ही कही जाएगी। इस प्रकार के अनेक अवसर पग-पग पर संसार में आते हैं, जब हमें वस्तु-स्थिति की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जानकारी के बाद ही तत्सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य का निर्धारण सम्भव है। 'दर्शन' हमें जानकारी देता है और धर्म उस जानकारी के आधार पर हमारे वास्तविक कर्त्तव्य का निर्धारण करता है।

वस्तुतः यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो दर्शन और धर्म का आधार एक ही दिखलाई देता है। मानव-प्रयत्न की यह दोनों दो दिशाएँ हैं। मानव-शक्ति जिस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए दर्शन की ओर उन्मुख होती है उसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वह धर्म की व्यवस्था भी करती है। दर्शन में वह शक्ति बुद्धि प्रधान होती है इसलिए उसका फल ज्ञानस्वरूप होता है और धर्म में वह शक्ति हृदयप्रधान होती है इसलिए उसका फल श्रद्धा रूप होता है। 'दर्शन' का फल ज्ञान है और धर्म का फल श्रद्धा। कहने का तात्पर्य यह कि धर्म और दर्शन के रूप में मानव शक्ति एक तत्त्व के दो भिन्न पहलुओं को आत्मसात् करती है। दर्शन और धर्म दोनों की प्रेरक भावना एक ही है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से ऐसा ज्ञात होता है कि यह संसार मरणधर्मा है अर्थात् यहाँ कोई चीज स्थायी नहीं है। अनेक दार्शनिकों ने तो इसीलिए संसार को मिथ्या और दुःखपूर्ण बताया है। किन्तु सच यह है कि व्यवहार दृष्टि से संसार क्षणभंगुर अवश्य है; किन्तु सत्ता की दृष्टि से प्रवाह रूप में यह नित्य और सत्य है। क्योंकि इसकी उत्पत्ति चरम सत्य और नित्य पदार्थ से ही होती है। परिवर्तनशील होने के कारण संसार को अनित्य उसी प्रकार कहा जा सकता है जिस प्रकार विनाशवान् घट, शकोरा आदि। विभिन्न घटों में वर्तमान मिट्टी सत्य है। उसी प्रकार संसार का मूलतत्व सत्य और नित्य है। कुछ दार्शनिकों ने संसार को ब्रह्म का ही परिणाम माना है और कुछ ने विवर्त। कुछ भी हो, किन्तु संसार की सत्ता मान कर ही हमारी विचार सरणि पल्लवित होती है। इसीलिए जो लोग संसार को मिथ्या या भ्रम मानते हैं वे भी व्यवहार में इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इस संसार में नित्य-सत्य पदार्थ का अन्वेषण दर्शन करता है। नित्य की खोज, सत्य पदार्थ की खोज का क्या रहस्य है? इस पर तनिक विचार कर लेने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दार्शनिक प्रवृत्ति का मूलाधार मानव की कौन सी-भावना है। इस विवेचन में हम देखेंगे कि दार्शनिक और धार्मिक दोनों प्रवृत्तियों का आधार मानव की एक ही भावना है। यही कारण है दोनों का सम्बन्ध बहुत ही सन्निकट है। या यों कहें कि दोनों एक ही प्रयत्न के दो पहलू हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर ने इस संसार में एक आश्चर्य का संकेत करते हुए कहा है कि प्रतिदिन यहाँ के जीव मरते चले जाते हैं फिर भी बचे हुए लोग जीवित रहने की इच्छा करते हैं यह एक महान् आश्चर्य है।

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्"

मेरी दृष्टि से इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। खूब अच्छी तरह से हम यह जानते हैं कि: 'एक न एक दिन हम यहाँ से प्रस्थान कर देंगे'—किन्तु अन्तर में यह विश्वास जमता नहीं। हमारा कार्यकलाप इतना व्यापक तथा दूरगामी होता है, हमारी योजनाएँ इतनी लम्बी होती हैं, लगता है कि हम अजर, अमर हो कर आए हैं। बात यह है कि हमारी आत्मा तो अमर, अजर है इसलिए हमारी मूल प्रवृत्ति अमरत्व की ओर रहती है। 'अमरत्व' की यह दृढ़ भावना आत्म-प्रेरित होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक और सत्य है, इसलिए इसमें आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है[1]।

---

[1] —कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से जिस तृतीय वर की याचना की है, उसमें नचिकेता की भावना 'आत्मवर' की खोज करती हुई पाई जाती है :—

(पादटिप्पणी पृ० सं० १६ पर देखिए)

यदि 'अमर हो जाने' की, सदा सर्वदा सुखपूर्वक वर्तमान रहने की स्वस्थ अभिलाषा मानव में न होती तो आज उसकी यह जो सार्वत्रिक सत्ता और प्रगाढ़ सभ्यता दृष्टिगोचर हो रही है, वह न होती। वस्तुतः अमर रहने की कामना मानव-समष्टि के विकास का मूल कारण है। यही कारण है कि व्यक्ति मानव मर जाता है; किन्तु वह मानव-जाति को कुछ ऐसी चीजें दे जाता है जिससे वह अमरत्व की ओर उन्मुख रहती है। मानव-सभ्यता का विकास एक-एक व्यक्ति की अमरत्व की कामना से प्रेरित कर्तव्यों का पुंजीभूत रूप है। कहने का तात्पर्य यह कि हम भले ही यह देखते रहते हैं कि यहाँ (संसार में) कोई सर्वदा नहीं रह सकता, तथापि अन्तस्तल में हमारी भावना 'अमरत्व' की अभिलाषा से पूर्ण रहती है। इस अभिलाषा का स्वस्थ विकास ही दर्शन का सूत्रपात करता है[२]"। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि न केवल दर्शन और धर्म की उत्पत्ति अपितु मानव की शक्ति का बहुमुखी प्रयत्न ही इस अभिलाषा के विविध विकास का फल है। मानव अपने तपःपूत कर्तव्य के द्वारा अमर हो जाना चाहता है। लोक में अपनी कर्तव्यनिष्ठा का उत्तम पालन करके वह अमर होता है और दर्शन द्वारा आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर के वह पारमार्थिक रूप में अमर हो जाता है। दर्शन यदि मूल सत्य के रूप में हमें नित्य बनाता है तो धर्म इस संसार में हमें अजर, अमर, बनाता है। कहने का तात्पर्य यह कि दर्शन और धर्म दोनों को प्रेरणा देने वाली मानव की एक ही प्रवृत्ति है। इसलिए दोनों में परस्पर उतनी ही एकता है, जितनी एक-एक ही दिशा की ओर और एक ही लक्ष्य पर पहुँचने वाले दो समान पथों में होनी चाहिए। जीवन रूपी सरिता के दो किनारे धर्म और दर्शन के रूप में स्थित हैं। किन्तु ये कूल आवस में भी मिलते हैं। सरिता के दोनों कूल कभी एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते। दर्शन का एक छोर 'सत्यज्ञान' से मिला हुआ है और दूसरा छोर धर्म से। और, धर्म का एक छोर जीवन से मिला हुआ है दूसरा सत्यज्ञान से इस प्रकार एक ऐसी अवस्था होती है वहाँ दर्शन और धर्म एक बिन्दु पर मिलते हैं[३]। यह बिन्दु ही जीव का चरम साध्य है।

लोक में साधारण व्यक्ति 'अमरत्व' की जो रू

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ कठो० १।१।२०"

इस पर यमराज नचिकेता को अन्य प्रलोभन देकर इस वर को न माँगनें का आग्रह करते हैं। यम के प्रलोभन को नचिकेता जिस दृष्टि से देखता है, उससे यह बात और पुष्ट हो जाती है कि वह अमरत्व को चाहता है :—

"श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥कठो० १।१।२६"

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य से मैत्रेयी भी इसी प्रकार का वर माँगता है :

"येनाहं न अमृता स्यां किं अहं तेन कुर्याम्।"

[२] क्योंकि दर्शन की खोज 'अमरत्व' प्रदान करती है।

अकामी धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोतः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥अथर्व० १०।८।४४
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१।३।१५
पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२।१।२

[३] धर्मात्सुखं च ज्ञानं च यस्मादुभयमाप्नुयात्, तस्मात्सर्वं परित्यज्य विद्वान् धर्मं समाचरेत्। [स्कन्द पुराण]

धर्मे पृष्टे मनुर्ब्रह्म जगतः कारणं ब्रुवन्।
आत्मज्ञानं परं धर्मं वित्तेति व्यक्तमुक्तवान् ॥मन्वर्थ मु० १।५

रेखा बनाए रखता है, वह मोहग्रस्त है। 'अहं, की परिभाषा के अनुसार ही हमारे 'अमरत्त्व, की परिभाषा भी दूषित है। दर्शन अमर हो जाने की उदात्त कामना को स्वस्थ और निर्दोष बनाता है और धर्म इस स्वस्थ कामना की पूर्ति के लिए उत्तम, स्वस्थ और सफल कर्त्तव्य का निर्धारण करता है। जब तक यह निश्चित नहीं है कि हमारा वास्तविक जीवन वन्ध है या हमारी वास्तविक सत्ता बन्ध है, तब तक हम किस जीवन और किस सत्ता को बनाए रखने का प्रयत्न करें। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए जो कार्य करता है उसका स्वस्थ और सत्य पहलू धर्म और दर्शन में है। यद्यपि भारतीय विचारकों ने भारतीय दर्शन का उदय त्रिविध ताप को दूर करने के प्रयत्न में ही माना है[४]; किन्तु यदि इन त्रिविध तापों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि तीनों ताप इसलिए ताप हैं क्योंकि वे मानव की मूल कामना—'अमरत्त्व'—पर आक्रमण करते हैं। संसार में दैहिक, दैविक और भौतिक जितने भी दुःख हैं, वे हमारी अमरत्त्व की भावना पर आघात स्वरूप जान पड़ने के कारण ही दुःख हैं। कहने का तात्पर्य यह कि दुःखनिवृत्ति का अर्थ ही है—'हमारी सत्ता पर किसी प्रकार का आक्रमण न होना।' इस प्रकार भी यह सिद्ध हो जाता है कि दर्शन का मूल उद्‌गम अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने के प्रयत्न में ही हुआ है। इसे ही हम प्रकारान्तर से अपनी पूर्ण प्रभु सत्ता अर्थात् 'स्वराज्य' की प्राप्ति का प्रयत्न भी कह सकते हैं। धर्म की उत्पत्ति का भी यही कारण है। धर्म का लक्ष्य भी इसी ओर है[५]।

लोक में कुछ सीमित भावनाएँ ही हमारे समस्त व्यवहार का संचालन करती हैं। मनोविज्ञान ने कुछ मूल प्रवृत्तियों की खोज की है, जिनके ऊपर हमारा समस्त व्यवहार टिका हुआ है। यद्यपि इनकी संख्या सम्बन्ध में अनेक मनोवैज्ञानिकों में मत भेद है; किन्तु मैगड्गल का वर्गीकरण अधिक सुलझा हुआ है। इसके अनुसार (१) भय (२) जुगुप्सा, (३) जिज्ञासा, (४) रचना (५) स्वत्त्व (६) घृणा (७) आत्मगौरव (८) आत्म-हीनता (६) काम (१०) सन्तान रक्षा (१२) संग्रह बारह मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इनका सम्यक् विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव की 'अमरत्त्व' की भावना पर ही यह सब आधारित हैं। कुछ मूल प्रवृत्तियाँ इस भावना की सहयोगी हैं और कुछ विरोधी। किन्तु सबका मूल एक ही है। सुखी होने की कामना, यश-धन प्राप्त करने की कामना, विजय और सम्मान प्राप्त करने की कामना तथा स्वतन्त्रता और अमरत्व की कामना सब एक ही भावना के विभिन्न पहलू हैं। सब में 'अहं' की सत्ता का संरक्षण और संवर्धन करने की भावना ही पाई जाती है। इस प्रकार हमारी जो भावना हमारे लोक-व्यवहार का संचालन करती है, वही दर्शन और धर्म की नींव में भी है। किन्तु लोक में हमारी दृष्टि दूषित होती है। हमारा ज्ञान अधूरा होता है। इसलिए हमारा प्रयत्न और कार्य भी अधूरा तथा दूषित होता है। 'दर्शन' हमारे ज्ञान को पूर्ण बनाता है और धर्म

---

[४]— सांख्य का पहला सूत्र और पहली कारिका इस प्रकार है :—

"अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिः अत्यन्त पुरुषार्थः।" सांख्यसूत्र १

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

दृष्टे साऽपार्था चेत् न एकान्तात्यन्ततोऽभावात्।। सांख्यकारिका १

योग का एक सूत्र इस प्रकार है :—

"परिणामताप संस्कारदुःखैः गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।२।१५।।

[५]— मीमांसा के "अथातो धर्मजिज्ञासा" सूत्र पर भाष्य करते हुए शबरमुनि ने लिखा है :—

तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्यः। स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे।

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः। कणाद।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।

यःस्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

हमारे कर्त्तव्य को पूर्ण तथा निर्मल करता है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात और स्पष्ट हो जायगी।

ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न यह आपस में सहयोगी ही नहीं है, एक दूसरे के पूरक भी हैं। "जानाति, इच्छति, यतते" यह क्रम बहुत ही स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। किसी तत्त्व की जानकारी प्राप्त करने पर ही उससे सम्बन्धित किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है। और, तब हम तदनुसार प्रयत्न करते हैं। ज्ञान के अभाव में इच्छा पैदा ही नहीं होगी। यही नहीं, असद् ज्ञान पर जो इच्छा उत्पन्न होगी वह गलत प्रयत्न को जन्म देगी। संसार में हमारी यही स्थिति होती है। हम अमरत्त्व की जो कामना करते हैं, वह मिथ्या है। क्योंकि हमारी आत्मा अमर तो है ही, जो जैसा है, वैसा होने की कामना क्यों करेगा। वस्तुतः यह कामना मन की अपनी कामना है। हम जिस 'अहं' को अमर देखना चाहते हैं वह अपना निजी रूप नहीं है। किसी पत्ती को ही वृक्ष का असली रूप और जीवन मानने वाला व्यक्ति पतझड़ पर रो देगा। किन्तु वृक्ष के सच्चे जीवन का ज्ञाता उस पतझड़ को वृक्ष की नवचेतना का अंग मानेगा। इसी प्रकार अज्ञान के कारण हम अपने जिस रूप को अमर देखना चाहते हैं, वह अपना निजी रूप नहीं है। उसे 'अमर' बना देने का हमारा प्रयत्न पत्ती को सींचने जैसा है। लोक में हम अपनी सत्ता को शरीर के रूप देखते हैं और इसी के संरक्षण, पालन, पोषण और अमरत्त्व की कामना करते हैं[६]। किन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि हमारी यह धारणा कितनी भ्रामक है। एतत् सम्बन्धी हमारा सारा प्रयत्न छूँछा पड़ जाता है। इस प्रकार जब हमारा सारा प्रयत्न मिथ्या और आडम्बर मात्र प्रतीत होने लगता है तो हम किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। यहीं धर्म और दर्शन की उत्पत्ति होती है। हमारा वास्तविक रूप क्या है? इस प्रश्न के हल करने के प्रयत्न में दर्शन और हमारा वास्तविक कर्त्तव्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के रूप में धर्म का आविर्भाव होता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म की युगपत् उत्पत्ति यह सिद्ध करती है कि दोनों ही हमारी एक ही समस्या के दो हल हैं। दर्शन हमारे वास्तविक 'अहं' का ज्ञान देता है[७] और धर्म हमारे सफल और सच्चे कर्त्तव्यों को सुझाता है। दर्शन हमें बताता है कि हमारी 'सत्ता' शरीर नहीं है। यह तो हमारी सत्ता को, हमारे स्वरूप को संकुचित और अन्धकाराच्छादित करने वाला बन्धन है। इस प्रकार का ज्ञान होते ही हमारे कर्त्तव्य की दिशा बदल जाती है। 'मैं' के स्वरूप का परिवर्तन मेरे कर्त्तव्यों को भी प्रभावित करता है। यही धर्म है। तत्त्वज्ञान के आधार पर स्थित हमारे कर्त्तव्य ही धर्म की कोटि में आते हैं।[८] ऊपर 'जानाति' 'इच्छति' और 'यतते' की जो चर्चा की गई है। उसमें 'जानाति' तो दर्शन का रूप है और इच्छति तथा यतते धर्म का रूप हैं। दर्शन ज्ञान स्वरूप है और धर्म, इच्छा तथा कर्त्तव्य रूप है। उपर्युक्त समस्त विश्लेपण में कुछ बातें स्पष्ट हो गई हैं, जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

(१) दर्शन और धर्म की उत्पत्ति हमारी एक ही भावना में होती है। अथवा एक ही लक्ष्य की पूर्ति के

६— पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥कठ० २।१।१

७— न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ कठो ।२।५
अराइव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति । प्रश्नो० ६।६
यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥कठ०२।३।२

८— अतो जनानां विदुषां समूहे, महाजनाख्ये परिषत्त्वमिष्टम् ।
एकोऽपि वाऽध्यात्मविदाश्रयेत, ब्रूयाच्च यं सोऽपि परास्ति धर्मः ॥याज्ञ. स्मृ० १।९

लिए दर्शन और धर्म का उदय होता है।[९]

(२) दर्शन हमारे ज्ञान को पूर्ण बनाता है और धर्म हमारे कर्त्तव्यों को व्यवस्थित, सुघर और सफल बनाता है। अथवा दर्शन हमारी जानकारी को स्वस्थ दिशा देता है और धर्म हमारे जीवन को सही मार्ग पर ले जाता है।

(३) धर्म, दर्शन का अनुगामी है। अर्थात् दर्शन द्वारा प्राप्त ज्ञान पर ही धार्मिक मान्यताओं का निर्धारण होता है। इसी प्रकार दर्शन की उपयोगिता धार्मिक प्रवृत्ति में है। जिस दर्शन से व्यक्ति का जीवन बनाने वाला धर्म पुष्ट नहीं होता, वह दर्शन नहीं है।

उपर्युक्त विशेषताओं का फल यह हुआ है कि भारत में धर्म और दर्शन दोनों का ही विकास उतना हुआ है, जितना होना चाहिए। बात यह है कि धर्म दर्शन की प्रयोग-शाला है। किसी भी विज्ञान का वास्तविक और पूर्ण विकास तभी सम्भव है, जब प्राप्त ज्ञान प्रयोगों की कसौटी पर कसा जाता रहे। केवल कल्पना, तर्क और अनुमान के बल पर विज्ञान नहीं चलता। आज का भौतिक विज्ञान इसका साक्षी है। वैज्ञानिक यह जानते हैं कि अनेक भौतिक तत्त्व ज्ञान होते हुए भी, तब तक पूर्णतः हमारी जानकारी में नहीं आते, जब तक उन्हें प्रयोगार्ह नहीं बना लेते। प्रयोग करने का अर्थ होता है, उस तत्व पर पूर्णतः नियन्त्रण करके, उसकी सभी गतिविधियों को अपनी इच्छा के अनुसार संचालित करना। भौतिक तत्त्वों पर हम यन्त्रों की सहायता से नियन्त्रण पा लेते हैं। किन्तु दर्शन के तत्त्वों पर नियन्त्रण करना सहज नहीं होता। मनोविज्ञान इसीलिए मन का अध्ययन करने में कठिनाई का अनुभव करता है। दर्शन तो केवल मन का ही नहीं, उससे भी अधिक सूक्ष्म आत्मतत्त्व का अध्ययन करना चाहता है।[१०] इसलिए उसे बहुत ही कठिनाई का अनुभव होता है। लेकिन प्रयोग उसे करना ही पड़ता है। क्योंकि यदि भौतिक ज्ञान बिना प्रयोग के अधूरे माने जा सकते हैं तो सूक्ष्म तत्त्वज्ञान बिना प्रयोग के तो आकाश पुष्प की तरह अलीक ही लगेगा। भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने दर्शन की इस कठिनाई को अच्छी तरह से समझा था। यही कारण है कि 'धर्म' के साथ रूप में दर्शन की प्रयोग शाला उन्होंने स्थापित की थी।

धर्म हमारी विभिन्न वासनाओं, व्यवहारों तथा प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करके आत्म-तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करता है। ऊपर जिन मूल-प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है, इन समस्त प्रवृत्तियों पर धर्म नियन्त्रण करता है। इनके नियन्त्रित होने का अर्थ होता है, कि हमारा सम्पूर्ण 'अहं' ही नियन्त्रित हो जाता है। इस प्रकार 'अहं' पर पूर्ण नियन्त्रण रख कर ही आत्मतत्त्व के स्वरूप का चिन्तन किया जा सकता है।[११] ऐसा न होने पर इस कल्पित 'अहं' के दायरे में ही हम उलझे रहते हैं। इस नियन्त्रित 'अहं' को दर्शन की चिन्तन-प्रणाली अच्छी तरह परखती है। दर्शन की विचार सरणि में पड़ कर इस 'अहं' का पर्दा फ़ाश हो जाता है। इसका सारा भेद खुल जाता है। तब हमारी चिन्तना-शक्ति वास्तविक तत्त्व की ओर उन्मुख होती है। दर्शन का यही साध्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'धर्म' दर्शन के लिए क्षेत्र तैयार करता है।

---

[९] इसी एकता की ओर संकेत करते हुए कहीं कहीं दर्शन को ही धर्म मान लिया गया हैं :—

वरिष्ठं सर्वधर्मेभ्यो ज्ञानं मोक्षैक कारणम् ।
ज्ञानान्नास्ति परो धर्म इति वेदान्तनिर्णयः ॥ सूर्य संहिता यश वै० खष्ठ २०.२७

गीताकार का यह कथन भी इसी ओर संकेत करता है ;

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।

[१०] इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥कठो० १।३।१०

[११] "विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥कठो० १।३।६
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः ।
ना शान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठो० १।२।२४

एक बात और है, तत्वज्ञान केवल जानकारी मात्र नहीं हैं। यदि वह जानकारी मात्र होता तो एक व्यक्ति को भी तत्त्वज्ञान सम्पन्न हो जाने पर समस्त मानव-जाति के लिए वह सुलभ हो जाता। भौतिक विज्ञान जानकारी के कोटि में आता है। क्योंकि इसका रहस्य जब एक को ज्ञात हो जाता है तो दूसरों के लिए वह उतना ही सुलभ हो जाता है, जितना रहस्य के पहले ज्ञाता के लिए। तत्वज्ञान इस प्रकार की जानकारी नहीं है। "मैं ही ब्रह्म हूँ" या "सर्वं खल्विदम् ब्रह्म" का शाब्दिक अर्थ तो हम ग्रहण कर लेते हैं; किन्तु इससे हमारा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। इस प्रकार की जानकारी तो हमें हास्यास्पद ही प्रतीत होती है। दर्शन ऐसी जानकारी नहीं देता। दर्शन के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसकी अनुभूति भी होनी चाहिए।[12] दर्शन ज्ञान का सन्देश-वाहक मात्र नहीं है, वह ज्ञानाकार अनुभूति का सृजन-कर्त्ता है। जैसे घट के प्रत्यक्ष का अर्थ है, बुद्धि का घटाकार हो जाना, उसी प्रकार ज्ञानप्राप्ति का अर्थ है, बुद्धि का तदाकार हो जाना। धर्मस्वरूप भी इसी के साथ संश्लिष्ट हैं। बुद्धि तदाकार होकर जिस ज्ञान को देती है वह, पूर्ण ज्ञान नहीं है। तत्त्वज्ञान में केवल बुद्धि ही नहीं, मन, हृदय सब तदाकार हो जाता है। इसीलिए इस स्थिति में इन पक्षों अस्तित्व नष्ट हो जाता है।[13] यहाँ हृदय का ज्ञानाकार हो जाना धर्म की स्थिति है। चिन्तना के द्वारा बुद्धि तत्व के जिन पहलुओं को स्पष्ट करती हैं, हृदय उसका अनुकरण करते हुए, उनकी सचाई-कचाई देखता चलता है। कहने का तात्पर्य यह कि तत्वज्ञान की ओर बुद्धि और हृदय दोनों समान रूप से बढ़ते हैं। बुद्धि की गति दर्शन का निर्माण करती है और हृदय की गति धर्मपथ का सृजन करती है। जहाँ एक की गति अन्यथा हुई, दूसरा भी पथ भ्रष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि सच्चा दर्शन है, तो उसके साथ धर्म की स्थिति आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन और धर्म एक ही पथ के दो भिन्न रूप हैं। धार्मिक को तत्त्वज्ञान सुलभ है और दार्शनिक की, तत्त्व ज्ञानी की जीवन चर्या ही धर्म है। इसीलिए धर्म के स्वरूप का निर्धारण करते हुए एकमत से यह स्वीकार कर लिया गया है कि तत्त्वज्ञानियों द्वारा निर्देशित व्यवहार ही धर्म है या महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट पथ ही धर्म है।[14] इस निर्णय में अन्धविश्वास नहीं है, बल्कि धर्म की उच्चता और गहनता के प्रति अटूट विश्वास है। चूँकि धर्म की स्थापना तत्त्वज्ञान पर ही होनी चाहिए, इसलिए उसके निर्धारण का भार

१२—"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ कठो० २।३।१२
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ कठो० १।२।२३

१३—"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ कठो० २।३।१०
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ कठो० २।३।१४"

१४—"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥"
(महाभारत वन पर्व ३१४।११६)
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।
बहुधाःदृश्यते धर्मः सूक्ष्म एवं द्विजोत्तम् ॥ महा० वन पर्व २०६।४२
कानीनस्य मुनेः स्वबान्धववधूवैधव्य विध्वंसिनो।
नप्तारः किल पंच गोलकसुतः कुण्डाः स्वयं पाण्डवाः।
ते पंचापि समानजातय इदं दुःस्वप्न विध्वंसनं।
तेषां कीर्तनमामनन्ति मुनयो धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः ॥ सुभाषि० व्यास ३०४४

१९५७

दर्शन पर ही छोड़ा गया है।[१५]

ऊपर के विवेचन से दो बातें ज्ञात हो जाती हैं, पहली यह कि दर्शन के लिए धर्म क्षेत्र तैयार करता है। अर्थात् धर्म दर्शन की प्रयोगशाला है। और दूसरी यह कि तत्त्वज्ञान का अन्वेषण धर्म के रूप में प्रतिफलित होता है। अर्थात् तत्त्वज्ञान की अनुभूति धार्मिक जीवन के रूप में व्यक्त होती है। यहाँ धर्म के दो रूप हो जाते हैं। धर्म का एक अंग साधना के रूप में दर्शन की प्रयोगशाला बनता है और दूसरा अंग दर्शन के फल के रूप में मानव जीवन के साथ तादात्म्य हो जाता है। पहले को तप और दूसरे को सदाचरण की संज्ञा दी जा सकती है। शम-दम आदि पहली कोटि में आते हैं और अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि दूसरी कोटि में। किन्तु यह विभाग स्थूल रूप में है, मूलतः सबमें एकता है।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। ऊपर हमने एक स्थान पर चर्चा की है कि धर्म ही नहीं मानव की समस्त प्रवृत्तियाँ 'अमरत्व' की भावना से प्रेरित हो कर ही पल्लवित होती हैं। इसी आधार पर यह देखा जाता है कि दार्शनिक मान्यताओं के ऊपर ही समाज की राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक आदि सभी मान्यताएँ निश्चित होती हैं। जो समाज इस नैसर्गिक नियम का उल्लंघन करता है, उसकी गाड़ी ठीक से नहीं चल सकती। पाठकों ने बैलगाड़ी तो देखी ही होगी। किसी किसी गाड़ी में तीन बैल जोते जाते हैं। सबसे आगे की ओर जो अकेला बैल होता है, उसे 'बीड़ी' कहते हैं। समाज की गाड़ी खींचने में दर्शन 'बीड़ी' है। लेकिन इस गाड़ी में एक विशेषता है। पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष सबसे महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। इसलिए इसका भार दर्शन पर है। अर्थ और काम का उत्तरदायित्व मोटे तौर पर धर्म को छोड़ कर समाज की शेष—जैसे राजनीतिक, आर्थिक आदि—व्यवस्थाओं पर है। धर्म स्वयं एक पुरुषार्थ है। यह महत्वपूर्ण योगदान देता है। इससे अर्थ और काम की सिद्धि तो होती ही है, मोक्ष का उत्तरदायित्व भी इसके ऊपर है। लेकिन इन सबका सम्मिलित उत्तरदायित्व दर्शन पर है। वस्तुतः दर्शन वह 'बीड़ी' है, जो यदि कन्धा छटका दे, तो पीछे चलने वाले सहयोगी बैठ जाएँ यही नहीं यदि ये सहयोगी या पिछलग्गू दर्शन के पदचिन्हों का ठीक से अनुसरण न करें तो प्रगति में गतिरोध उत्पन्न हो जाए। किसी भी समाज के इतिहास का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जब-जब उस समाज की प्रगति अवरुद्ध हुई है तब-तब सूक्ष्म रूप से यही कारण उपस्थित हुआ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमारे समाज का पूरा ढांचा एक क्रमबद्ध व्यवस्था द्वारा निर्मित होता है। आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक ये सभी मान्यताएँ एक दूसरे के सहयोग पर ही आगे बढ़ती हैं। आपस में इनका विरोध समाज को रोगी बना देता है। ये या इन जैसी सभी व्यवस्थाएँ उन सूतों की तरह हैं जिन्हें एक में बट कर समाजरूपी रस्सी तैयार की जाती है। ऐसी स्थिति में धर्म बेचारा दर्शन से पृथक् कहा जा सकता है।

एक बात और है, दार्शनिक चिन्तना समाज के कुछ इने-गिने शीर्षस्थ व्यक्ति ही करते हैं। इसी प्रकार राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं का संचालन समष्टि के आधार पर ही होता है किन्तु धर्म व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार से होता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक होना चाहिए।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद

—ब्रजभूषण पाण्डेय

दरिद्रता क्या है ? अपने को दरिद्र अनुभव करना

—एमर्सन

१५— "यत्तु सद्बुद्धियोगेन सद्भिरात्मनि लक्ष्यते ।
रूपं तदेव धर्मस्य सूक्ष्ममध्यात्मलक्षणम्" ॥ मा० आ० मा० पृ० १४

दीक्षान्त अभिभाषण

[यह अभिभाषण हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद में दीक्षान्त समारोह—८ मई १९५७—के अवसर पर भारतीय केन्द्रीय प्रशासन के शिक्षा-सचिव श्रीयुत प्रो. सैयदैन साहब ने दिया।]

मुझे बहुत ख़ुशी है कि मैं आज एक दो साल पुराना वायदा पूरा कर रहा हूँ। हिन्दी प्रचार सभा ने अरसा[१] हुआ मुझे अपने सालाना कन्वोकेशन[२] में शरीक होने के लिए बुलाया था, लेकिन ख़ुदा भला करे दफ़्तरी धन्धों का कि उन वजह से अब तक न आ सका। इस देर की मआजरत[३] के साथ साथ मुझे आपका दिली शुक्रया अदा करना है कि आपने इस मौक़े पर मुझे याद करके मेरी इज़्ज़त बढ़ाई। यह अहसास इस हालत में और भी ज़्यादा हो जाता है जब कोई शख़्स यह जानता हो कि उसे इस इज़्ज़त के पाने का कोई हक़ नहीं है। मेरी ज़िन्दगी पढ़ने-पढ़ाने में और आख़िरी हिस्सा दफ़्तर की चक्की चलाने में गुज़री है। मैं ज़बान और अदब की ख़िदमत का कोई दावा नहीं कर सकता अलबत्ता इतना ज़रूर सचाई के साथ कह सकता हूँ कि जो लोग यह काम करते हैं उनकी मेरे दिल में इज़्ज़त है और उनके काम के लिए प्रेम। ऐसे ही ख़ामोश तामीरी[४] कामों के ज़रिए क़ौमें बनती हैं। हिन्दी प्रचार सभा के काम और उसकी ख़ामोश ख़िदमत से मैं वाक़िफ़ हूँ। लेकिन इस क़दर नहीं जितना कि होना चाहिए। अलबत्ता इस मौक़े पर आपके कामों को देख कर यह वाक़िफ़ियत बढ़ गई है। मुझे कल ही आपके कामों की एक रिपोर्ट पढ़ने का मौक़ा मिला, जिससे अन्दाज़ा हुआ कि आपने धीरे-धीरे पिछले पच्चीस बरसों में इसको किस तरह बढ़ाया और फैलाया है लेकिन किसी काम की क़द्र और क़ीमत का अन्दाज़ा महज़ उसके फैलाव से नहीं होता बल्कि उसके मक़सद की माक़ूलियत और दियानत से होता है। अगर मक़सद को समझदारी के साथ मुक़र्रर किया गया है तो थोड़ा काम भी दूर तक पहुँचता है अगर मक़सद ही दुरुस्त नहीं तो जितना भी आप आगे बढ़ेंगे या तेज़ चलेंगे असल मंज़िल दूर होती चली जाएगी। मुझे ख़ुशी इस बात की है कि आपने ज़बान के बारे में जो पालिसी रखी है उसमें गांधी जी की नज़र और हिदायत का फ़ैज़ जारी है और (अगर मैं इन्कसार[५] के साथ यह अर्ज़ कर सकूँ) इसमें मुझे उन ख़यालों का अक्स[६] भी भी नज़र आता है जो ज़बान के प्रचार और उसके बनाने के सिलसिले में बरसों से मेरे दिल और दिमाग़ पर हावी[७] रहे हैं। आपने अपनी रिपोर्ट में उस पालिसी को जिस तरह बयान किया है उसको दोहराना बेमौक़ा न होगा :

"हम चाहते हैं कि देवनागरी लिपि में हिन्दी ज़बान मुल्क की आम ज़बान बने लेकिन इसमें जो लफ़्ज़ बाहर से आकर दाख़ल हो गए हैं उनको क़ायम रखा जाए। इस ज़बान को एक ऐसी सादा और मीठी ज़बान बनाने की ज़रूरत है कि वह किसी ख़ास तबक़े या जमाअत की ज़बान न समझी जाए बल्कि आम जनता के दिल की पुकार बन सके। याने हम हिन्दी के उस स्टाइल[८] और रूप के हामी हैं जिसका ज़िक्र मुल्क के विधान में किया गया है। हम चाहते हैं कि 'सभा' सियासत और ज़बान और जमाअती झगड़ों से बिल्कुल अलग रहे और मुक़ामी ज़बानों की तरक़्क़ी में हिस्सा ले। इस तरह वे भी फलें फूलेंगीं और हिन्दी उनके और मुल्क के सारे हिस्सों के दरम्यान एक पुल का काम देगी..."

कारकुनों की यह पालिसी हर तरह क़द्र के क़ाबिल है और यह ख़ुशी की बात है कि 'ज़बान' के इस

---

[१] बहुत समय हुआ [२] दीक्षान्त समारोह [३] क्षमायाचना [४] रचनात्मक [५] विनम्रता [६] परछाईं, प्रतिबिम्ब [७] छाए हुए [८] शैली।

श्रीयुत वंशीधर विद्यालंकार, साहित्य मन्त्री, हि. प्र. सभा
प्रो. सैयदैन का स्वागत कर रहे हैं।

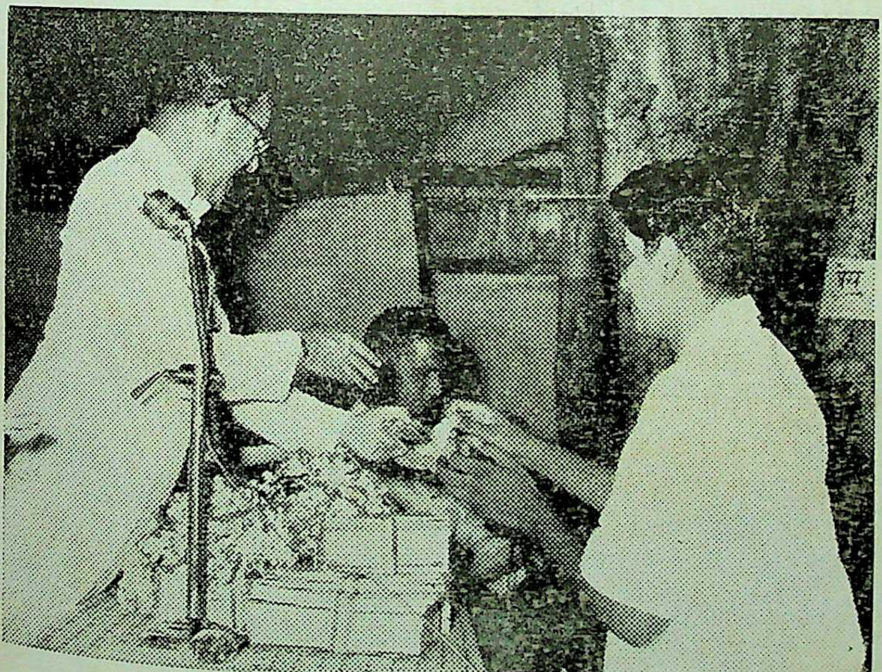

श्रीयुत प्रो. सैयदैन 'प्रेमचन्द सुवर्ण पदक'
प्रदान कर रहे हैं।

प्रो० के. जी. सैयदैन शिक्षा-सचिव भारत-सरकार, अपना दीक्षान्त-भाषण देते हुए।
श्री के. अच्युतरेड्डी जी अध्यक्षता कर रहे हैं

दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर उपस्थित जन-समूह
बाएँ से दाएँ : सर्वश्री पी. हनुमन्तराव, एल. एन्. गुप्त, डा० एन्. रामलाल, श्रीमती प्रेमलता गुप्ता

१९५७

तूफ़ान में जिसने पिछले दस बरस में सर उठाया है आपके क़दम नहीं डगमगाए ।

इस मौक़े पर आपके कामों के बारे में किसी मुफ़स्सिल[१] तनक़ीद[२] की ज़रूरत नहीं क्योंकि यहाँ ज़्यादातर दोस्त ऐसे हैं जो उनसे अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं। एक लाख आदमियों को हिन्दी पढ़ाना, क़ैदियों और हरिजनों की तालीम का इन्तेज़ाम करना, उस्तादों को ट्रेनिंग देना, दो स्कूल और एक कालेज चलाना, पुस्तकालयों का क़ायम करना और इल्मी और आम दिलचस्पी की किताबों का शाये[३] करना, जिनमें बच्चों, बालिग़ों और तालीमयाफ़्ता लोगों के मज़ाक़[४] की चीज़ें शामिल हैं, एक अच्छे प्रेस का क़याम, यह सारा प्रोग्राम आपके मक़सद की ख़ूबी और वुसअत[५] का सुबूत है। मुझे ख़ास तौर पर इस बात की ख़ुशी है कि आपकी इस संस्था ने सिर्फ़ हुकूमत ही से नहीं बल्कि दूसरी ज़बानों की अंजुमनों से भी मिल-जुल कर कार्य किया है और इनके साथ क़दम मिला कर आगे बढ़ने की कोशिश की है। ज़बान की सेवा में तंग ख़याली और सरमायादारी बड़ी ख़तरनाक चीज़ें हैं। शुक्र है कि आपने अपने दामन को उनसे पाक रखने की कोशिश की है। मैं इस बात पर आपको मुबारकबाद देता हूँ।

दोस्तो! देश के आज़ाद होने की वजह से हम पर बहुत-सी नई ज़िम्मेदारियाँ और नए बोझ पड़े हैं लेकिन तमाम कठिनाइयों के बावजूद हमारा फ़र्ज़ है कि हम हिम्मत और ख़ुश दिल के साथ उन्हें उठाएँ और कितने बहुत से और मुख़्तलिफ़ काम हैं ये! देश की माली[६] हालत को सुधारना और जनता की ज़िन्दगी के मेयार[७] को बढ़ाना है, सनअत हिरफ़त[८] और खेतीबाड़ी को फैलाना और नए और तरक्क़ी-याफ़्ता[९] रास्तों पर डालना है, देश से बीमारी और ज़हालत[१०] को निकालना है, दिलों से तंगी और दिमाग़ों से अंधेरे को निकालना है, रीति-रस्म और ज़ात-पात के जो बन्धन हमारी ज़िन्दगी को लोहे की सी ज़ंजीरों में जकड़े हुए हैं उनको तोड़ना है। दो सदियों की ग़ुलामी ने हमारी रचनात्मक शक्तियों को जो ज़ंग लगा दिया है उसको साफ़ करना है। मुल्क में जो दिल तोड़ने वाले भेद-भाव पैदा हो गए हैं, जिनकी वजह से ख़ुद आज़ादी की सुन्दर किश्ती भंवर में आती मालूम होती है उनको ख़त्म करना है और सिर्फ़ देश के अन्दर ही नहीं देश के बाहर दुनिया में भी, जो आज गोया हमारे दरवाज़े पर आकर खड़ी हो गई है, अमन और शान्ति को फैलाना है। वर्ना[११] अंदेशा[१२] यह है कि हमारी सारी तहज़ीब और तमद्दुन[१३], हमारे कला के अमर शाहकार, हमारी क़द्रें, हमारी ज़िन्दगी के सुनहरे उसूल जिन्होंने सदियों की जांच करने वाली आँखों की कामयाबी के साथ मुक़ाबिला किया है, हमारे भगतों के गीत, हमारे सूफ़ियों का तसव्वुफ़ हमारे अदीबों का साहित्य, ये सब चीज़ें जंग की आग में भस्म हो जाएँगी। इसी वजह से तो शायर ने आज से पचास बरस पहले यह संदेश दिया था :

> "शक्ति भी शान्ति भी भगतों के गीत में है
> धरती के बासियों की मुक्ति पिरीत में है!"

मैं इस मौक़े पर यह ज़िक्र क्यों कर रहा हूँ? एक तो यह याद दिलाने के लिए कि हमारी क़ौमी ज़िन्दगी की नींव महज़ धन-दौलत और क़ुव्वत की तलाश पर नहीं रखी गई है बल्कि बाज़ अख़लाक़ी सिद्धान्तों पर रखी गई है जिनका पालन हमारा फ़र्ज़ होना चाहिए। इस बात को बार-बार दोहराने की ज़रूरत है। आज की दुनिया में और ख़ुद हमारे देश में ऐसे लोग और गिरोह[१४] मौजूद हैं जो चाहे ज़बान[१५] से इन उसूलों का दम भरें लेकिन असल में उनके मनमें ज़िन्दगी का मक़सद यह है कि वह हर मुमकिन तरीके से अपने लिए दौलत, क़ुव्वत और अख़्तियार हासिल करें। मौजूदा दौर की तबाहकारियों[१६] के रौब[१७] में आकर उनका ख़याल यह हो गया है कि शान्ति का पैग़ाम[१८] ख़्वाह वह पुराने ऋषियों, मुनियों और नबियों और सूफ़ियों ने दिया हो या गांधी और नेहरू की ज़बान और दिल से निकला हो, उस ज़माने की ज़रूरतों से, उसकी आबोहवा[१९] से, उसकी Real

---

[१] विस्तृत [२] समालोचना [३] प्रकाशन [४] शौक़ [५] व्यपकता [६] आर्थिक [७] स्तर [८] उद्योग धंधे [९] प्रगति पर [१०] अज्ञान अशिक्षा [११] अन्यथा [१२] डर [१३] संस्कृति [१४] समूह [१५] मौखिक रूप से [१६] विनाश या विध्वंस के कार्य [१७] अधिकार में, वश में [१८] संदेश [१९] वातावरण।

politics या राजनीति से मेल नहीं खाता। यह ज़माना तो कुव्वत और हिंसा की रस्साकशी का है। मुद्दत हुई एक मशहूर अंग्रेज़ अख़बारनवीस ने इस भटकी हुई जहनियत[1] की तस्वीर इन लफ़्ज़ों में खींची थी..."अब किसे फ़िक्र है कि तस्वीरें बनाए या शायरी करे या ज़बान के मैदान में माने पैदा करे या माद्दे[2] की साख़्त[3] के बारे में दिमाग़ लड़ाए। यह तो ऐसा मालूम होगा जैसे रोम में आग लगी हो और कोई बैठा बांसरी बजाए। किसे फ़िक्र है कि अख़बार और रिसाले[4] निकाले और कागज़ पर रोशनाई या फ़िज़ा[5] में फ़िक्र अंगेज़[6] जुमले बखेरे। वह तो जंग के नक्कार खाने में तूती की आवाज़ बन जाएँगे या उन आशाओं का नोहाँ[7] पढ़े जो अब बासी हो गई हैं। अब फ़िक्र का चिराग़ जलाने से क्या हासिल? प्यादा फौजों (और हवाई जहाज़ों और एटम और हाइड्रोजन बमों) के मुक़ाबिले में एक नक़्क़ाद[8] की या ज़बान जानने और सिखाने वालों की क्या हैसियत है?"

मगर मैं साफ़ तौर पर यह कहना चाहता हूँ कि यह यास[9] और नाउम्मीदी का पैग़ाम है। अगर हमें ज़िन्दगी को एक सुन्दर रूप में ढालना है तो हमें माद्दी[10] क़द्रों के साथ-साथ लेकिन उससे कहीं ज़्यादा अदबी और अख़लाकी क़द्रों से रिश्ता जोड़ना होगा और देश में इस ज़िन्दगी की इमारत बनाने के लिए नई बुनियादें डालनी होंगी। इन बुनियादों में एक अहम बुनियाद ज़बान है जो[11] फ़र्द और क़ौम दोनों की ज़िन्दगी में इस तरह रखी बसी हुई है जिस तरह शरीर में आत्मा और शमा में रोशनी। ज़बान ही की ज़रिए विचारों में सफ़ाई पैदा होती है और दिल की बात साँच में ढल कर सामने आती है। उसी की मदद से हम अपने पास और दूर के साथियों के साथ बातचीत करते और मेल जोल रखते हैं। वर्ना हमारी हालत ऐसी होती जैसे एक बहुत बड़े सागर में फैले हुए जज़ीरे,[12] जिनका एक दूसरे के साथ संबन्ध न हो। यही ज़बान है जो बच्चों की तोतली बोल की शक्ल में हमारा दिल लुभाती है, कभी टैगोर के गीतों के साँचे में ढल कर दिलों को ठण्डक पहुँचाती है। कभी अबुल कलाम आज़ाद की तक़रीर और सरोजिनी देवी की शायरी बन कर उनमें आग लगाती है,— हिम्मत और जोश और हौसले[13] की आग! और कभी गान्धी जी की सीधी सादी दिल से निकल कर दिल में उतर जाने वाली बोली में दुनिया को प्रेम और शान्ति का पैग़ाम पहुँचाती है। कितनी बड़ी[14] नियामत है यह ख़ुदा की, जिसने इन्सान को दूसरे तमाम हैवानों से अलग और ऊँचा कर दिया है, इस शान से कि इन्सान की तारीफ़[15] ही "हैवान नातिक़" याने बोलने वाला जानवर क़रार पाई। लेकिन कैसे अचंभे की बात है यह दोस्तो और अज़ीज़ो! कि यही ज़बान बजाय दिलों को जोड़ने के दिलों को तोड़ने का ज़रिया बन जाती है और अपनी ज़बान से मुहब्बत, जो एक कुदरती[16] और शरीफ़ाना[17] जज़्बा[18] है, दूसरी ज़बानों से नफ़रत[19] की शक्ल अख़्तयार करती है! ज़बान तो एक अमर और अमिट धन है और जो शख़्स इसको बोलता और बरतता है वह इस धन में शरीक हो जाता है। जो शख़्स एक ज़बान जानता है वह मुक़ाबलेतन[20] ग़रीब है, धनवान् नहीं। जो शख़्स कई ज़बानें जानता है—वह ज़बान भी जो उसने माँ के दूध के साथ पाई है और वे ज़बानें भी जो दूसरों ने अपनी माँओं के दूध के साथ पी हैं—वह बहुत ज़्यादा दौलत का मालिक है। उनकी बदौलत इसके लिए दूसरे लोगों और मुल्कों की तहज़ीब और तमद्दुन, ज़िक्रोफ़िक्र, साहित्य और कला, साइन्स और फ़लसफ़े के दरवाज़े खुल जाते हैं। लेकिन न मालूम यह क्या सितम ज़रीफ़ी[21] है कि बजाए इस सीधी सादी और साफ़ बात को समझने के न सिर्फ़ हमारे देश में बल्कि दुनिया भर की तारीख़ में ज़बान के झगड़े क़िस्सों ने नफ़रत और तास्सुब की आग को भड़काया है।

इस समय दुनिया भर का ज़िक्र तो क्या करूँ, लेकिन पिछले चन्द सालों ही में हिन्दुस्तान के सूबों और रियासतों ही में, नई तक़सीम के वक़्त जो फ़ितना[22] बरपा हुआ उसकी याद अभी तक काँटे की तरह खटकती है हमारे दिल में। जी चाहता है कि इस मौक़े

---

[1] वृत्ति [2] भौतिकता [3] बनावट [4] पत्रिकाएँ [5] वायुमण्डल [6] चिंतन शील [7] शोक प्रकट करना
[8] समीक्षक [9] निराशा [10] भौतिक मूर्तियों [11] व्यक्ति [12] द्विप [13] अभिलाषा [14] देन [15] व्याख्या
[16] नासर्गिक [17] सभ्य, शिष्ट, [18] वृत्ति [19] घृणा [20] अपेक्षा कृत [21] अत्यचार [22] झगड़ा हुआ था।

फ़ायदा उठा कर, जो आपकी दावत ने मुझे दिया है न सिर्फ़ आपके काम को सराहूँ कि आप देश के मुख़्तलिफ़ ज़बानों के बीच में मुफ़ाहमत[१] के पुल बना रहे हैं बल्कि उन सब लोगों के दिलों को खटखटाऊँ जिन्होंने इस गुर को नहीं पहचाना बल्कि अपनी नासमझी और ज़िद से ज़बान के ज़रिए भारत माता के टुकड़े करने की कोशिश की है। मामला सिर्फ़ हिन्दी-उर्दू का नहीं है, हिन्दी-अंग्रेज़ी का नहीं, हिन्दी और ग़ैर हिन्दी ज़बानों का नहीं बल्कि सारी ज़बानों के बाहमी रिश्ते का है। हमारे इस देश में जहाँ कसरत[२] भी है और वहदत[३] भी, दोई भी है और एकता भी, जो बहुत-सी दूरदराज़ तहज़ीबों और विचारधाराओं का संगम है, हमारे लिए अक़्ल का रास्ता एक ही है कि हम सब ज़बानों का स्वागत करें क्योंकि वह हमारे प्यारे देश की ज़बानें हैं। हम अपनी मादरी ज़बान इसलिए सीखें कि अपनी मादरी ज़बान में हम विचारों और भावनाओं को ज़्यादा से ज़्यादा ख़ूबसूरती के साथ पेश कर सकते हैं। हिन्दी ज़बान सीखें क्योंकि वह मुल्क की मुश्तरिक[४] ज़बान और मुल्क की एकता को ज़ाहिर करने और मज़बूत करने का ज़रिया है। देश की दूसरी ज़बानें सीखें क्योंकि वह हमारे दोस्तों और पड़ोसियों और देशवासियों की ज़बानें हैं। दूसरे मुल्कों की भाषाओं को सीखें ख़ास कर अंग्रेज़ी को जिसके ज़रिए हम न सिर्फ़ मग़रिब के साथ अपना रिश्ता जोड़ सकते हैं बल्कि दुनिया के दूसरे देशों के साथ भी बात-चीत, मेल-जोल, लेन-देन कर सकते हैं। इसमें झगड़े और फ़साद का, तलख़ी[५] और तशद्दुद[६] का मौक़ा कौन-सा है? मैं यह नहीं कहता कि हर शख़्स को सब ज़बानें सीखनी चाहिए। यह तो मुमकिन ही नहीं लेकिन यह ज़रूर कहता हूँ कि हर शख़्स को हक़ है कि वह जितनी ज़बानें चाहे सीखे। अपनी ज़बान अच्छी तरह से सीखे और इसमें तालीम पाएँ और हिन्दी को इस हद तक पढ़े कि मुल्क के किसी हिस्से में भी ख़ुद को अजनबी-सा महसूस न करे। हिन्दी और अ-हिन्दी ज़बानों का झगड़ा इस वजह से भी बेमाने हो जाता है क्योंकि उनके मैदान अलग अलग हैं। दकन और पूरब के प्रान्तों में अगर ऐसी ज़बानें बोली जाती हैं जिनका रिश्ता हिन्दी से दूर का है तो उसके ये माने तो नहीं कि अपने दूर के रिश्तदारों के साथ एक घर में अमन[७] और आश्ती के साथ नहीं रह सकती और यह घर कोई तंग या छोटा-सा घर भी तो नहीं है दुनिया की आबादी का पाँचवाँ हिस्सा इस घर में रहता है। हिन्दी को इन सब ज़बानों के देन से अपनी झोली भरना है ताकि वह मुल्क के दिल की धड़कन और पुकार की तरजुमानी[८] कर सके और साथ ही उन सब ज़बानों को हिन्दी का खुले दिल से स्वागत करना है ताकि वह इसको भी अपनी ही दौलत में शुमार करें।

इस सिलसिले में हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का क़िस्सा भी उठता है। इसका कारण समझने से तो मैं बिल्कुल माज़ूर[९] हूँ बल्कि शायद यह कहना चाहिए कि समझ तो सकता हूँ एक हद तक, लेकिन इस क़िस्से को बढ़ाने वालों की समझदारी मेरी समझ में नहीं आती। कारण तो यही है कि अंग्रेज़ों ने दिलों में फ़र्क़ डालने के लिए जहाँ और बहुतसी तदबीरें इख़्तियार कीं वहाँ हिन्दी और उर्दू के फ़र्क़ को चमकाया और बढ़ाया और तुफ़ है हमारी भूल और नादानी पर कि दोनों ज़बानों (बल्कि एक ही ज़बान के दो सिंगारों) के बनाने में हम सब ने जो हिस्सा लिया था उसको भुला कर हम उनकी चाल में आ गए और हमने अपना मुश्तरिक[१०] विरसा क़ुबूल करने से इनकार कर दिया।

"वाये बर सादगी माके फ़ुसूनिश ख़ूरदेम
रहज़ने बूद, कमी कर्द व रह मर्दुम ज़द"

"अफ़सोस है हमारी सादगी पर कि हम उसके झाँसे में आ गए। एक डाकू था जो घात में आ बैठा और उसने रास्ता चलतों का रास्ता काट डाला।" और ऐसा काटा कि अभी तक हम सहारा में भटक रहे हैं। फिर इसके बाद जब हमारी बदक़िस्मती हिन्दुओं और मुसलमानों के सियासी झगड़ों की शक्ल में ज़ाहिर हुई तो हिन्दी को हिन्दुओं के साथ और उर्दू को मुसलमानों के साथ मन्सूब[११] कर दिया गया और जो ज़हर और कड़वाहट सियासी रिश्तों में पैदा हुई थी वह मुँह और ज़बान में भी सरायत[१२] कर गई। मुल्क की तमाम

---

[१] समन्वय, समझौता [२] अनेकता, बहुरूपता [३] एकता, अभिन्नता [४] सर्व साधारण [५] कटुता [६] हिंसा [७] मिल-जुल कर, शान्ति और समझौते से [८] व्यक्त, वहन [९] विवश [१०] सामान्य बपौती [११] सम्बन्धित कर दिया [१२] फैल गई

ज़बानों में कोई ज़बान भी हिन्दी के इस दर्जा क़रीब नहीं जितनी उर्दू। दोनों ज़बानों में ६० फी सदी से ज़्यादा लफ़्ज़ एक हैं। ज़बान का आम केंडा[1] और ग्रामर एक है। सारे फ़ेल[2] और बेशतर[3] इस्म[4] एक हैं। फ़र्क जो है वह ज़ियादातर असमाएसिफ़त[5] का है जो ज़बान की आराइश[6] और तराश और खराश के के लिए इस्तेमाल होते हैं और इसके सिंगार का ज़रिया है। उर्दू ने यह सिंगार का सामान ज़्यादातर फ़ारसी, अरबी से लिया और हिन्दी ने संस्कृत से, लेकिन इसके बावजूद वह इब्तिदा में इस क़दर घुली मिली और शीर-व-शकर थी कि मुद्दत तक उर्दू ने हिन्दी के नाम को अपनाया और उसके साथ कभी ग़ैरियत[7] के सुलूक का ख्याल दिल में ना आया। दोनों ज़बानों के लेखकों और विद्वानों ने भी तंगदिली नहीं दिखाई बल्कि हिन्दी के शब्द सागर में हज़ारों अरबी, फ़ारसी और ख़ालिस उर्दू के लफ्ज़ और उर्दू की मुस्तनद[8] लुगात[9] में हज़ारों हिन्दी और संस्कृत से निकले हुए लफ्ज़ों ने महमानों के हैसियत से जगह बना ली, और बोलने वालों ने इनको हाथों हाथ लिया और मेज़बानों की तरह इनकी आवभगत की। उर्दू ज़बान के बहुत से शाहकार इस तहरीक की गवाही देते हैं। दूर क्यों जाइए, इक़बाल का 'नया शिवाला' हाली की 'मुनाजाते बेवा' राजा राधिकाप्रसाद सिन्हा का नस्मर (जिसको हिन्दी वाले हिन्दी, उर्दू वाले उर्दू और हिन्दुस्तानी वाले हिन्दुस्तानी कह सकते हैं) इस बात का सुबूत है कि उर्दू में हिन्दी लफ्ज़ों की खपत बशर्ते कि सलीके के साथ की जाए, इसकी सुन्दरता को बिगाड़ती नहीं सँवारती है। इस तरह उर्दू, फ़ारसी लफ्ज़ सिर्फ़ 'शब्द सागर' ही की पूँजी में जमा नहीं हुए बल्कि उन्होंने शायरी और अदब के अलावा हिन्दुओं की मुकद्दस[10] किताबों 'रामायण' और महाभारत के तर्जुमों में भी बार[11] पाया है। इसलिए उर्दू हिन्दी का बैर अक़्ल की दुश्मनी है और पराए शुगून के लिए अपनी नाक कटाना। अगर उर्दू की चीजें हिन्दी लिपि और हिन्दी की चीजें उर्दू रस्मुलख़त[12] में शाया की जाएँ और लिखने वाले दूर भागने के बजाय एक दूसरे के क़रीब आने की कोशिश करें और क़ुबूलआम[13] को अपनी कसौटी बनाएँ तो कोई वजह नहीं कि दोनों ज़बानें एक दूसरे की दौलत से मालामाल न हों।

कहाँ से ज़बान ला कर कहूँ कि ज़बान का कोई मज़हब नहीं होता। लफ़्ज़ों का जुग़राफ़िया[14] नहीं होता। उनके बाप-दादा की तलाश, उनके इब्तिदाई वतन की खोज लगाने की कोशिश इल्मी रिसर्च के लिहाज़ से तो अच्छी चीज़ है, लेकिन उनका मक़सद अगर उनकी ज़ात-पात की छानबीन कर के उनका हुक्का-पानी बन्द करना है तो इससे ज़्यादा हिमाक़त क्या हो सकती है? जो लफ़्ज़ हमारी ज़बान में आ कर खप गया है वह हमारा है चाहे संस्कृत से आया हो या अंग्रेज़ी से या वलन्देज़ी से। इसको हाथ से जाने देना अपने धन को बरबाद करना है। उर्दू में जो हिन्दी के जो सुन्दर लफ़्ज़ जगह पा गये हैं वह सर आँखों पर। हिन्दी में जो उर्दू फ़ारसी के लफ़्ज़ है उनको आदर प्रेम के साथ अपनाइए। इसको ज़बरदस्ती शुद्ध करने की कोशिश, संस्कृत के अप्रचलित शब्दों की ठोंस-ठांस, उर्दू फ़ारसी लफ़्ज़ों को शहर से निकालने का जज़्बा, यह चीज़ें तो हमारी क़ौमी तहज़ीब और परम्परा के खिलाफ़ हैं। एक ज़माना उर्दू पर भी ऐसा ही गुज़रा है जब इसमें एक तंगदिली और अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ों की अन्धी भरमार से एक सख़्ती और अजनबीयत पैदा हो गई थी, लेकिन ख़ुदा का शुक्र है कि वह ज़रा जल्द ही संभल गई, अब इसकी क़ुव्वत और ज़िन्दगी इसी में है कि वह जनता की बोल-चाल से अपना रिश्ता न तोड़े और मुझे यक़ीन है कि हिन्दी के सेवकों और प्रेमियों की आशा और कोशिश भी यही है कि वह भी इस डगर पर चले और इस मंज़िल की तरफ़ क़दम उठाये, जूँ जूँ दिलों में सफ़ाई होगी ज़बान भी साफ़ होती चली जाएगी। क्योंकि इसको किसी मसनूई[15] तहरीक[16] के ज़रिए या सरकारी हुक्म से न बदला जा सकता है न बनाया जा सकता है। वह तो लोगों की बोलचाल और मेल-जोल से पैदा होती है और उनके दिलों और दिमाग़ों की तर्जुमानी करती है फिर अदीबों, शायरों और दूसरे लेखकों की मेहनत और खल्लाक़ी[17]

---

[1] क्षेत्र
[2] क्रियाएँ
[3] अधिकता
[4] संज्ञाएँ
[5] विशेषणों का
[6] सजावट
[7] अजनबीपन
[8] प्रामाणिक
[9] कोष
[10] पवित्र
[11] स्थान
[12] लिपि
[13] जनप्रिय.
[14] भूगोल.
[15] बनावटी
[16] आंदोलन
[17] रचन

और कलाकार की तपस्या से इससे तराश-ख़राश आती है और उसके तुफ़ैल बनती संवरती और रंग रूप लाती है। दुनिया के इतिहास में ज़बानों की तरक़्क़ी हमेशा इसी ढंग से हुई है। हम इसके खिलाफ़ नहीं जा सकते। हमारे लिए यह मसला सिर्फ़ ज़बान का नहीं बल्कि मुल्क की एकता और क़ौम की ज़िन्दगी और मौत का है। दिलों को मिलाने के लिए मिली-जुली साफ़ और शुस्ता ज़बान की ज़रूरत है और ज़बान को बनाने के लिए दिलों के मेल और मुहब्बत की। यह मसला हमारे देश के सारे दूसरे सवालों से ज़्यादा अहम है। अगर हमने अपने ख़यालात और जज़्बात में एकता और हमआहंगी[1] पैदा नहीं की, अगर हम देश के लोगों में वह "Emotional integration" नहीं ला सके जिस पर आए दिन पंडित नेहरू ज़ोर देते रहते हैं तो मुल्क के भविष्य का वह सुन्दर नक़्शा जिसका ख़्वाब हमारे नेता, कवि और मुफ़क्किर[2] देखते आए हैं, खतरे में पड़ जाएगा। लेकिन यह ख़याल रहे कि हमें यह वहदत कसरत की गूनागूनी में पैदा करती है। हम यह नहीं कह सकते कि ३५ करोड़ लोगों के विचारों और अलग-अलग तौर-तरीक़ों पर एक स्टीम रोलर चला कर उन्हें ज़बर्दस्ती एक ही साँचे में ढाल दें, वह रास्ता डिक्टेटरशिप का रास्ता है, जिसको हमने कभी स्वीकार नहीं किया और हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे। हमें अपने दिल व दिमाग़ के दरीचे खुले रखने हैं ताकि उनमें सारे संसार की हयातबख़्श[3] किरनें और हवाएँ दाखिल हो सकें। जब कभी हमने अपने देश की और परदेश की अच्छी चीज़ों का स्वागत किया है और खुले दिल से अपनाया है तो देश आगे की तरफ़ बढ़ा है। और जब कभी हमने इन दरवाज़ों और खिड़कियों को बन्द कर लिया है तो पानी के बहाव में ज़ोर नहीं रहा, क़ौमी जिन्दगी सुस्त, अफ़सुर्दा[4] और पिछड़ी हुई रह गई है।

ज़बान के मामले में भी हमें इसी उसूल को अपनाना है। जो लोग और संस्थाएँ अहिन्दी प्रान्तों में काम कर रही हैं उन्हें खास तौर पर इस बात को याद रखना चाहिए कि दिलों की गिरह मुहब्बत से खुलती है उसको कैंची से नहीं काटा जा सकता। अगर उन्हें यह यक़ीन होगा कि हिन्दी एकता और प्रेम की राजदूत बनकर आ रही है वह खुशी के साथ उसका स्वागत करेंगे। अगर उन्हें यह अंदेशा होगा कि वह एक हाकिम ज़बान बन कर दूसरी ज़बानों का हक़ छीनना या उनकी उन्नति में रोड़े अटकाना चाहती है तो वह उसका मुक़ाबिला करेंगे इसलिए इस मामले में सिर्फ़ यही काफ़ी नहीं कि आपकी नियत साफ़ हो बल्कि उन लोगों को भी इतमीनान दिलाना ज़रूरी है जिनके लिए आप काम कर रहे हैं। मैं जानता हूँ कि दिलों के मैल को और भेदभाव के जज़्बे को दूर करना कोई आसान काम नहीं। इसकी रगें सरतान[5] की तरह क़ौम के जिस्म के अन्दर फैली हुई हैं लेकिन उसका इलाज सिर्फ़ एक है और वह है इन्साफ़ की पालिसी। सब ज़बानों के अधिकारों के साथ इन्साफ़ और उनको हँसी खुशी के साथ उनका हक़ देने के लिए आमादगी दुनिया के जितने कठिन झगड़े हैं ख़्वाह वह किसी मैदान में हों, सबकी बुनियाद अन्याय पर है। सच कहा था शायर ने कि :

"दिल साफ़ हो किस तरह कि इन्साफ़ नहीं है
और इन्साफ़ हो किस तरह कि दिल साफ़ नहीं है"

दिलों को साफ़ कीजिए। खोट कपट को निकालिए इन्साफ़ का दामन थामिए और फिर देखिए कि किस तरह मुश्किलों के पहाड़ काई बन जाते हैं।

मुझे इस बात की खुशी है कि हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद ने इतने बरसों में कभी भी इस उसूल को हाथ से जाने नहीं दिया बल्कि यहाँ दूसरी ज़बानों की जो संस्थाएँ हैं उनके साथ मिल-जुल कर काम किया है और ऐसी स्कीमों को हाथ में लिया है जिनके ज़रिए यह सब ज़बानें एक दूसरे के दुख-सुख में शरीक हो सकती हैं और एक दूसरे की दौलत से लाभ उठा सकती हैं यही रास्ता शराफ़त, रवादारी[6] और समझदारी का रास्ता है वर्ना ज़बान की बुनियाद पर अगर मुल्क में बहुत से पाकिस्तान बन गए तो मैं आपको बशारत[7] देता हूँ कि वह इसके इत्तहाद को पारा-पारा कर देंगे। मुल्क के तमाम बेहीख़्वाहों[8] का फ़र्ज़ है कि वह इस अन्देशे की रोकथाम करें और इनमें शामिल हैं न सिर्फ़

---

[1] समन्वय [2] चिन्तक, दार्शनिक [3] जीवन देनेवाली [4] दुखद [5] केन्सर [6] सहिष्णुता [7] चेतावनी [8] हितैषियों का

हमारे सियासी लीडर बल्कि हमारे अदीब और शायर और स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी और उस्ताद और समाज सेवक और वे सब लोग जो अपनी तालीम या पोज़ीशन[1] की बदौलत दूसरों के ख़याल पर असर डाल सकते हैं, यह एक बहुत बड़ा चैलेंज[2] है जिसे हम सब को मिल कर जीतना है।

मैंने आज ख़ास तौर पर उन विद्यार्थियों को मुख़ातिब करके कुछ नहीं कहा जिन्होंने आज सनदें ली हैं लेकिन जो कुछ कहा है वह दरअसल उन्हीं के लिए है। हिन्दुस्तान का भविष्य उतना ही अच्छा या बुरा होगा जितना उसके नागरिक अच्छे या बुरे होंगे उनके दिमाग़ रौशन और दिल वसीअ[3] है और इन्साफ़ की रीत पर चलेंगे तो दुनिया की कोई ताक़ उनकी तरक्की को नहीं रोक सकती। आप लोगों ज़बान की सनद ली है इस ज़बान को देस मिलाप ज़रिया बनाया जाए और हिन्दी प्रचार सभा ने पालिसी इख़्तियार की है उसको अपनाइए यही आशा है और यही मेरा पैग़ाम :

"सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती
आ इक नया शिवाला इस देस में बना दें"

—प्रो॰ सैयद

शिक्षा-मन्त्रालय,
नई दिल्ली

अन्तिम बात

"मेरे पुत्र! पचास वर्ष हुए—मैं पेरिस अपने भाग्य को आजमाने के लिए गया था। उस समय मेरे पास सोने का एक लुई (फ्रांस की मुद्रा) था। मेरे विषय में यह कहा जाता है कि मैं बहुत अपव्ययी और फ़िज़ूलख़र्च था परन्तु क्या यह बात सत्य हो सकती है जब कि मेरे पास अब भी सोने का वही पुराना लुई है जिसे कि मैं ५० वर्ष पूर्व पेरिस जाते समय अपने साथ ले गया था।"

अलेग्ज़ेण्डर ड्यूमा ने जिसने कि प्रसिद्ध उपन्यास "काउण्ट ऑफ़ माउण्ट क्रिस्टो" लिखा है, हँसते हुए यह आख़िरी बात अपने पुत्र से कही थी।

उस सुवर्ण मुद्रा को अलेग्ज़ेण्डर ड्यूमा ने अपने पुत्र की बैठक की अंगीठी के ऊपर रख दिया। उसके बाद वह बिस्तर पर ऐसा पड़ा कि फिर न उठा। लगभग १० सप्ताह में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के समय उसके पास एक फूटी कौड़ी न थी। वह सर्वथा असहाय था और प्रत्येक वस्तु के लिए अपने पुत्र पर आश्रित था।

—"रेडियो टाइम्स" के
एक लेख से

---

१ प्रतिष्ठा २ आह्वान ३ विशाल

पद्माकर कृत 'प्रतापसिंह बिरुदावली'

सन् १६४८ ई० में अपने अनुसन्धान के सम्बन्ध में राजस्थान यात्रा करते समय जयपुर में मुझे श्री कमलाकर जी भट्ट से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य और कवि पद्माकर के (१७४३-१८३३ ई०) के वंशधर हैं। श्री कमलाकर जी ने पद्माकर रचित 'प्रतापसिंह–बिरुदावली' की एक हस्तलिखित प्रति मुझे दिखलाने की कृपा की थी। यह हिन्दी साहित्य के लिए एकदम नवीन ग्रन्थ है। अतएव इसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

'प्रतापसिंह-विरुदावलि' की इस प्रति में ६८ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर छः पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में २० अथवा २१ शब्द हैं। यह मोटी लेखनी से स्पष्ट अक्षरों में लिखी गई है। स्थल-स्थल पर काट कर सुधार किया गया है। कुछ पृष्ठ केसर के रंग में रंगे हुए हैं।

विरुदावली के साथ में (१) 'नख-सिख' वलभद्र (२) दूलह कवि के 'कविकुल कराठाभरण' की पद्माकर कृत टीका तथा (३) 'गंगा लहरी' के चार पृष्ठ संलग्न हैं। इन समस्त ग्रन्थों के ऊपर दृढ़ पुट्ठे की ज़िल्द बँधी हुई है जिस पर लाल कपड़ा चढ़ा हुआ है।

ज़िल्द के सहित सम्पूर्ण पुस्तक की लम्बाई ८.५", चौड़ाई ३.२" तथा मोटाई ५" तथा बिना जिल्द के क्रमशः ८.५", ३.६" तथा ४५ है।

इसके प्रथम पृष्ठ पर 'बिरुदावली प्रतापसिंह जी की 'रचयिता—पद्माकर तथा लेखक लिखितं पुस्तक मिहीलाल भट्ट जी की', यह शब्द अंकित हैं। पृ० संख्या २-३ नष्ट हो गए हैं।

'प्रतापसिंह-बिरुदावली' में जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह (१७६८-१८०३ ई.) का फुट कर छन्दों में यश-वर्णन किया गया है। पद्माकर ने इस ग्रन्थ का नायक चुनने में बड़ी सावधानी का परिचय दिया है। महाराजा प्रतापसिंह बड़े वीर शासक थे। राज्य की विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए भी इन्होंने साहित्य और कला-प्रियता का पर्याप्त परिचय दिया है। वे स्वयं 'व्रजनिधि'[१] नाम से कविता करते थे।

'बिरुदावली' के आरम्भ में जयपुर के विभिन्न मंदिरों में प्रतिष्ठित देवों की स्तुति की गई है। तदनन्तर प्रतापसिंह की दान-वीरता, प्रजा-वत्सलता आदि गुणों का उल्लेख है। इसके उपरान्त सैन्य-सजावट, धौंसों के धमाकों तथा चारणों के कड़खों के चित्रण को पढ़ कर पाठक के भुज-दराड फड़कने लगते हैं। इसके पश्चात् कवि ने घोड़ों, गयन्दों, तोपखानों, वीरों की भिड़न्त आदि का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। कुछ छन्दों में पराजित शत्रुओं की नारियों की दयनीय दुर्दशा का उल्लेख किया गया है।

इस प्रसंग में सूदन के 'सुजान-चरित्र'[२] तथा भूषण की 'शिवाबावनी'[३] में वर्णित शत्रुस्त्रियों के विवरण का स्मरण हो आता है। पद्माकर का यह वर्णन भूषण से प्रभावित है। नीचे दोनों कवियों की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

पद्माकर : "छूटे सिर बारा तन न सम्हारा,
सिथिल अपारा होइ गईं
पग परत न पारा लहि छवि भारा,
कूंदि कछारा गिरिन छईं"

भूषण : "आगरे-अगारन की नाँघती पगारन,
संभारती न बारन बदन कुम्हलानियाँ"

पद्माकर : "जे लखहिं न चन्दर रहती अन्दर,
कन्दर कन्दर ते बगरी"

भूषण : "जोन्ह मैं जातीं ते वै धूपै चली जातीं...
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहती हैं"

पद्माकर : निज गहनै तोरैं बनन बिथरैं,
लगत झकोरैं भई दुषी"

---

[१] इनके ग्रन्थों का संग्रह 'व्रजनिधि-ग्रन्थावली' नाम से काशी नागरी प्रचारणी सभा से प्रकाशित हो चुका है। [२] षट वंग, प्रथम अंक, छं० २०–३०, पृ० १६७-१७१ [३] छं० २२-२६

भूषण : हार-भार तोरि निज सुधि बिसारती हैं
तथा हार डारि चीर फारि मन झुंझलाती हैं

पद्माकर : सूघैं नहि खाती जे नसपातीं
खते घुले खाती वनसपती

भूषण : नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पद्माकर ने भूषण का बड़ी सीमा तक अनुकरण किया है। साथ ही उनके वर्णन में उस मार्मिकता का अभाव है, जो भूषण का एक नैसर्गिक गुण है।

पद्माकर ने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक हरिगीतिका छन्द की आवृत्ति की है, जिसकी प्रथम दो पंक्तियाँ विषयानुसार परिवर्तित होती गई हैं और अन्तिम दो पंक्तियाँ प्रत्येक स्थान पर समान रही हैं। 'प्रतापसिंह विरुदावली' में भी इन्होंने यही पद्धति अपनाई है। निम्न लिखित दो पंक्तियों की आवृत्ति समस्त ग्रन्थ में चार स्थलों पर हुई है :

"जिति जक्क जिहिं अनुरक्क किया करि भक्ति देव गुविंद की
वर वरनिये, विरदावली सुप्रतापसिंघ नरिंद की"

ये पंक्तियाँ 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' में दुहराई गई पंक्तियों से मिलती जुलती हैं, यथा :—

"पथ रित नित्त सुवित दै जग जिति किति अनूप की
वर वरनियै विरदावली हिम्मत बहादुर भूप की"

यही नहीं, इस छन्द की आवृत्ति करने में इन्होंने कथावस्तु के समुचित अनुपात का भी ध्यान नहीं रक्खा है। 'प्रताप विरुदावली' में वीरकाव्य की संयुक्ताक्षर और द्वित्व वर्णात्मक शैली प्रयोग का प्राचुर्य है। परिणामतः उसमें शब्दों की तड़क-भड़क के दर्शन तो हो जाते हैं, पर उससे काव्य की आत्मा का हनन हो गया है, यथा :

"तब हथ्था हथ्थनि गुथ्था गुथ्थनि
जुथ्था जुथ्थन लपटि लरैं
तह जक्का जक्की ठक्का ठक्की
ढका ढकी ढालन की
तुपकन की तड़तड़ वानन सड़ सड़
मचत सु षड़ षड़ भालन की"

ऊपर की पंक्तियों में पद्माकर की इस नादात्मक शैली के कारण काव्य सौष्ठव नष्ट हो गया है।

पद्माकर ने इस रचना में विभिन्न भाषाओं के शब्द प्रयुक्त किए हैं, यथा—अदिस्स (अदृश्य), वृच्छ (वृक्ष), संस्कृत से विकृत रूप हैं।

फ़ारसी तथा अरबी महावथ्थ (महावत), सिकस्त (शिकस्त), सानह (शान), सिराजी (शीराज़ी), असफहान (असफ़हान) आदि शब्दों के तद्भव रूप अपनाए हैं।

अभिप्राय यह है कि पद्माकर ने भाषा को अधिक व्यापक और सबल बनाने की चेष्टा की है। इन्होंने प्रचलित शैली और भाषा का ही प्रयोग अधिक किया है। ऐसा होते हुए भी उसमें काव्य सौष्ठव पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। अतिशयोक्ति पूर्ण कथन होते हुए भी इसमें विषय का अच्छा प्रतिपादन हुआ है। वाह्याडम्बरों का आश्रय लेते हुए भी कविता में सत्य की रक्षा की गई है।

इस छोटी कृति में अनुप्रास, मुद्रा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का बाहुल्य है। पद्धरीय, छप्पय, रोला, भुजंगप्रयात, गीतिका, हरि गीतिका, पंचचामर, त्रिभंगी, कुण्डलिया, अमृतध्वनि आदि छन्दों के प्रयोग से कविता में सजीवता का समावेश हो गया है।

पद्माकर हिन्दी साहित्य में शृंगार-रस और भक्ति भावना सम्बन्धी कविता के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। 'हिम्मतबहादुर-बिरुदावली' तथा प्रतापसिंह-बिरुदावली रचनाएँ इन्हें वीर रस का एक प्रमुख कवि सिद्ध करते हुए एक महत्वपूर्ण पद प्रदान करती है। वीरकाव्यात्मक मुक्तक-शैली की केशव कृत रत्नबावनी और भूषण द्वारा शिवा-बावनी की काव्य-धारा का प्रतापबिरुदावली एक अपूर्व ग्रन्थ-रत्न है।[1]

बलवंत राजपूत कालेज,
आगरा

—डा० टीकमसिंह तोमर

---

[1] भारतीय हिन्दी परिषद् के चौदहवें अधिवेशन ता० २७-२८-२९ दिसम्बर १९५६, ई० (वाराणसी) में पठित।

पहरेदार

पात्र

दरोगा जी : पुलिस चौकी के इन्चार्ज; अवस्था ४५ वर्ष।
दीवान जी : पुलिस चौकी के दीवान; अवस्था ४० वर्ष।
लाखनसिंह : सिपाही; अवस्था ३५ वर्ष।
महेश : क्लर्क; अवस्था ३० वर्ष।
पहलवान : कुख्यात गुण्डा; अवस्था ४५ वर्ष।

स्थान : पुलिस चौकी का दफ़्तर।
समय : दिसम्बर की एक रात।

[कमरे की दीवारें गेरू से पुती हैं। सामने की दीवार पर गांधी जी का चित्र टँगा है। चित्र के नीचे नगर का मान-चित्र है। आस-पास छः पोस्टर लगे हैं जिन पर मोटे-मोटे अक्षरों में निम्न बातें लिखी हैं :

(१) घूस लेना महापाप है।
(२) पुलिस जनता की सेवक है।
(३) सच्चाई और ईमानदारी से काम करना पुलिस का धर्म है।
(४) मद्य-निषेध योजना जनता की भलाई के लिए है।
(५) शराब का जहर शराबी के साथ-साथ उसके परिवार को भी मारता है।
(६) अपराधियों को पकड़ने में पुलिस की सहायता कीजिए।

दाहिने कोने में एक अलमारी है जिसमें कुछ फ़ाइलें रक्खी हैं। बाएँ कोने में एक ऊँचा स्टूल पड़ा है। दाहिनी दीवार में एक बड़ी खिड़की है जो बन्द है। बाईं दीवार का द्वार बाहर के कमरे में खुलता है। यह द्वार खुला है। कमरे के बीच में एक बड़ी मेज़ है जिसके तीन ओर कुर्सियाँ पड़ी हैं। मेज़ पर कुछ फ़ाइलें, कलम, दवात, घंटी और फ़ोन है। दरोगा जी बीच की कुर्सी पर बैठे हैं और ध्यान पूर्वक एक फ़ाइल पढ़ रहे हैं। उनका स्थूल शरीर खाकी ओवरकोट से ढका है। फ़ोन की घंटी बजती है। दरोगा जी झुँझला कर फोन उठाते हैं।]

दरोगा जी : हलो, मैं चौकी से बोल रहा हूँ! हाँ, हाँ, मैं ही दरोगा हूँ। कौन...खन्ना साहब? फ़रमाइए! जी, चोरी का पता...? अजी, अभी कहाँ लगा है। पता लगते ही ख़बर दूँगा। इत्मीनान रक्खें! जी...? हाँ, हाँ...देर तो लगती ही है! देखिए न, पहले के ही दर्जनों केस पड़े हैं! जी...? नहीं, आप क्यों तकलीफ़ करेंगे! मैं ख़ुद हाज़िर हो जाऊँगा! आदाब-अर्ज़! (चोंगा रख कर) हुँ...जब देखो तब फ़ोन, गोया पुलिस इन्हीं से तनख्वा पाती है! काम करना मुश्किल कर देते हैं।

[दरोगा जी झुँझला कर फ़ाइल बन्द कर देते हैं और ओवरकोट की जेब से सिगरेट की डिब्बी तथा दियासलाई निकाल कर एक सिगरेट सुलगाते हैं। तभी बाहर से महेश की बाँह पकड़े हुए लाखनसिंह आता है। उसके दूसरे हाथ में एक झोला है। वह भी खाकी ओवरकोट पहने है। सिर पर टोपी है। महेश पाजामा कमीज और कोट पहने है। शीत से बचने के लिए कोट के कालर ऊपर कर लिए हैं।]

लाखनसिंह : (सैनिक सलाम करके) हुज़ूर...

दरोगा जी : क्या है?

लाखनसिंह : हुज़ूर, यह शख्स लोगों की निगाहों से बचने की कोशिश करता हुआ चला जा रहा था। मुझे शक हुआ। मैंने पीछा किया और तब यह भागने लगा, हुज़ूर!

महेश : (टोक कर) यह झूठ है, दरोगा जी! मैं भागा नहीं, खड़ा हो गया।

लाखनसिंह : (डाँट कर) बको मत! (दरोगा जी से) हाँ तो, हुज़ूर, मैंने लपक कर इसकी गर्दन धर दबोची घबरा कर इसने इस झोले को फेंकने की कोशिश की, मगर मैंने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं, हुज़ूर! झपट कर झोला अपने कब्जे में ले लिया।

महेश : दरोगा जी, यह सरासर ग़लत है झोला मैंने खुद सौंप दिया था।

दरोगा जी : चुप रहो! (लाखनसिंह से) इस झोले में क्या है? बम......

लाखनसिंह : हुज़ूर, बम से भी ज़्यादा खतरनाक

चीज़ है। (झोले से ब्राँडी की बोतल निकाल कर मेज़ पर रखता हुआ) देखिए, हुज़ूर !

दरोगा जी : हुँ...(बोतल उठा कर) विलायती ब्राँडी है। (महेश से) क्यों हज़रत, तुम्हें मालूम नहीं कि शहर में नशाबन्दी है ?

महेश : (धीमे स्वर में) मालूम है !

दरोगा जी : (डपट कर) फिर लाट साहब के नाती बन कर बोतल लिए क्यों घूम रहे थे ?

महेश : जी, बात यह है......

दरोगा जी : (बीच में ही) ख़ामोश ! तुम्हें मालूम नहीं कि शराब ज़हर है, ज़हर ! (बोतल मेज़ पर रख कर) इस बोतल में पानी नहीं, आग है ! समझे ? अपना नहीं तो बीबी-बच्चों का तो ख़याल करो। घर फूँक तमाशा देखने का शौक़ क्यों चर्राया है ?

महेश : मैं शराबी नहीं हूँ, दरोगा जी ! यक़ीन कीजिए, आज से पहले मैंने इस गन्दी चीज़ को छुआ भी नहीं।

दरोगा जी : ओह, तो नया-नया शौक़ है। (रुक कर व्यंग्य से) क्या तुम्हारा बाप काफ़ी रुपया छोड़ कर मरा है ?

महेश : मैं एक मामूली क्लर्क हूँ।

दरोगा जी : तो ज़रूर रिश्वत लेते होंगे। मेहनत की कमाई से विलायती शराब कौन पीता है ? (रुक कर) कितने में मिली है ?

महेश : चालीस रुपए में !

लाखनसिंह : हुज़ूर, यह तो लूट है, लूट !

दरोगा जी : अगर दूकानदार ब्लैक न करे तो हमारी और एक्साइज़ वालों की जेबें कैसे गर्म करे ? (महेश से) हाँ साहब, तो तुम घूस भी नहीं लेते और चालीस रुपए की शराब भी पीते हो ! क्यों......?

महेश : (आगे बढ़ कर) मैं यह बोतल पीने के लिए नहीं लाया हूँ, दरोगा जी !

दरोगा जी : (हँस कर) तो क्या बड़े साहब को घूस में देने के लिए लाए हो ?

महेश : (धीमे और दुखी स्वर में) नहीं। मेरा बच्चा बीमार है। उसे ठण्ड लग गई है। लोगों ने कहा ब्राँडी फ़ायदा करेगी सो......

दरोगा जी : (बीच में ही) मुझ से उड़ते हो !

महेश : मैं सच कह रहा हूँ, दरोगा जी ! यक़ीन न हो तो चल कर देख लीजिए।

दरोगा जी : (क्रुद्ध स्वर में) हमें अपने बाप का नौकर समझ रक्खा है ? (ऊँचे स्वर में) दीवान जी !

दीवान : (बाहर से) आया हुज़ूर ! (खाकी ओवरकोट पहने हुए दीवान जी का प्रवेश। मेज़ पर रक्खी बोतल देख कर) गोया कि यह तो विलायती मालूम होती है, हुज़ूर !

दरोगा जी : नया-नया शौक़ है। कुछ दिनों में ढर्रे पर उतर आएँगे।

महेश : दरोगा जी, भगवान् साक्षी है, मैं झूठ नहीं बोलता। मेरा बच्चा बीमार है। उसी के लिए...

दीवान जी : (बीच में ही) गोया कि यह चाहे किसी और को देना। तुम जैसे सैकड़ों से रोज़ पाला पड़ता है। गोया कि......

दरोगा जी : दीवान जी, इनकी तलाशी ले कर रिपोर्ट लिखा लो और इन्हें हवालात में डाल दो।

महेश : (अनुनय के स्वर में) विश्वास कीजिए दरोगा जी, मैं......

दीवान : गोया कि बको मत ! (कोट और कमीज़ की तलाश ले कर रेजगारी मेज़ पर रखते हुए) गोया कि पियेंगे अंग्रेज़ी शराब और जेब में रक्खेंगे सिर्फ सात आने।

दरोगा जी : ठीक से देख लिया ? (लाखन सिंह से) तुम देखो।

लाखन सिंह : (तलाशी ले कर) अब तो कानी कौड़ी भी नहीं है हुज़ूर।

दरोगा जी : (क्षण भर सोचने के बाद) हूँ...! लाखन सिंह, तुम फ़ौरन फ़क़ीरे के यहाँ चले जाओ और......

लाखन सिंह : (बीच में ही) समझ गया हुज़ूर! एक बोतल ठर्रा लाना है न ?

दरोगा जी : हाँ ! जाओ !

[लाखन सिंह का तेज़ी से प्रस्थान]

दीवान जी : गोया कि हुज़ूर, आपने यह तरकीब ठीक सोची। ब्राँडी के बजाए ढर्रे का जुर्म ठीक रहेगा। (महेश से) अब फँसे हो कानून के शिकंजे में ! रात भर में आटा-दाल का भाव मालूम हो जाएगा।

[बाहर से पहलवान का प्रवेश। वह नाटे कद का स्वस्थ व्यक्ति है। रंगीन तहमद, सफ़ेद कुर्ता और काली

१६५७

बास्कट पहने है। ऐंठी हुई नुकीली मूँछें हैं। माथे पर चोट के कई निशान हैं।]

दरोगाजी : आओ, पहलवान, बैठो !

पहलवान : (बैठ कर बोतल की ओर देखता हुआ) दरोगा जी, मँहगाई के इस ज़माने में अँग्रेज़ी शराब कौन पीता है ? (हँसकर) हमें तो ठर्रा भी नहीं नसीब होता।

दरोगाजी : (महेश की ओर संकेत करके) नवाब-ज़ादे तुम्हारे सामने खड़े हैं !

पहलवान : क्यों बे छोकरे, कहीं से हराम की रक़म मार दी है क्या ?

महेश : (अपमान से तिल मिला कर) ज़रा ठीक से बात कीजिए।

पहलवान : (हाथ नचा कर) अच्छा जी ! मेढ़की को भी ज़ुकाम होने लगा। अबे, एक झापड़ रसीद करूँगा तो धूल चाटने लगेगा। जानता नहीं, मैं कौन हूँ।

दीवान जी : गोया कि जाने भी दो, पहलवान ! तुम भी किसके मुँह लगते हो।

[महेश बोलने के लिए मुँह खोलता है। तभी बाहर से लाखनसिंह आता है।]

लाखनसिंह : (सैनिक सलामी देकर) हुज़ूर, फ़कीरे तो नहीं मिला।

दरोगा जी : (गरज कर) नहीं मिला ? टेंट में चार पैसे क्या हो गए कि ज़मीन पर पैर ही नहीं रखता। गया होगा साला बायसकोप देखने।

पहलवान : मैंने तो कई बार आपसे कहा कि फ़कीरे ठीक आदमी नहीं है। आप बेकार में ही सिर पर चढ़ाए थे। बन्द करा दीजिए भट्टी कल से। छठी का दूध याद आ जाएगा।

दीवान जी : ऐसा ही करना पड़ेगा। लाखन-सिंह से) और तुम भी हाथ हिलाते चले आए! फकीरे नहीं था तो क्या घसीटे, बजीरा, रमुआ सब मर गए थे ! कहीं से भी ले आते। दर्जनों भट्टियाँ हैं इलाके में।

दीवान जी : गोया कि ठर्रा नहीं तो जिंजर ही सही, हुज़ूर ! (लाखनसिंह से) गोया कि शर्मा जी की दूकान से चार औंस ले तो लो दौड़ कर।

पहलवान : अरे, पहलवान के रहते वहाँ जाने की क्या ज़रूरत है ? (बास्कट की जेब से जिंजर की शीशी निकाल कर मेज़ पर रखता हुआ) यह रहा जिंजर !

दरोगा जी : (हँस कर) तुम बहुत काम के आदमी हो, पहलवान ! (दीवान जी से) दीवान जी, टिंचर जिंजर का जुर्म बना कर इन्हें हवालात में...।

महेश : (बीच में ही) मुझ पर रहम कीजिए, दरोगा जी ! मेरा बच्चा बीमार है। मुझे बन्द न कीजिए, दरोगा जी, मुझे बन्द न कीजिए। (कण्ठ रुँध जाता है)

दीवान जी : गोया कि पहले क्यों नहीं सोचा कि कानून का पंजा फ़ौलाद का होता है ? गोया कि अब रहम की भीख माँगते हो ?

दरोगा जी : इन्साफ़ अन्धा होता है। तुमने सरकार का कानून तोड़ा है। कानून तोड़नेवाले को सज़ा दिलाना हमारा धर्म है।

महेश : दरोगा जी, मैंने क़ानून ज़रूर तोड़ा है मगर...मगर...(आर्द्र स्वर में) मेरे बच्चे की ज़िन्दगी दाँव पर थी। (हाथ जोड़ कर) आप भी बाल-बच्चे वाले हैं। मैं दया की भीख माँगता हूँ। मैं...मैं...भला आदमी हूँ। किसी से भी पूछ लीजिए। वर्मा जी भी मुझे जानते हैं।

दरोगा जी : कौन वर्मा जी ?

पहलवान : अरे उन्हीं नेता जी के लिए कह रहा होगा जो......

दरोगा जी : (बीच में ही) जिन्होंने तुम्हारी शिफ़ारिश कई बार की थी ?(महेश से) वर्मा जी तुम्हारी शिफ़ारिश करेंगे ?

महेश : मैं उनके घर के सामने ही रहता हूँ, दरोगा जी ! आप फोन करके पूछ लीजिए।

दरोगा जी : वर्मा जी के पास तुम जैसे ऐरे-ग़ैरे नत्थू-खैरे की शिफ़ारिश करने का वक़्त कहाँ ? वे ठहरे बड़े नेता ! फिर भी तुम्हारी दिल-जमई के लिए पूछ लेता हूँ ! क्या नाम है तुम्हारा ?

महेन्द्र : महेशचन्द्र !

दरोगा जी : (फ़ोन का चोंगा उठा कर नम्बर मिलाने के बाद) हलो, वर्मा जी ! मैं चौकी से दरोगा बोल रहा हूँ ! जी..? नहीं, कोई खास बात नहीं ! आप महेशचन्द्र को जानते हैं ? जी...? हाँ, हाँ, वही जो आपके घर के सामने रहता है। इसके पास शराब की बोतल बरामद हुई है ! जी...? हाँ, हाँ समझ

गया ! एक मिनट...(चोंगे पर हाथ रख कर महेश से) वर्मा जी कहते हैं कि अपराधी को सज़ा मिलनी ही चाहिए। चाहो तो खुद बात कर लो।

महेश : चोंगा लेकर) वर्मा जी, मैं महेश बोल रहा हूँ। जी, मेरा बच्चा बीमार है उसी के लिए... ! क्या ? आप कुछ नहीं कर सकते ? सुनिए तो... हलो......हलो......! (शिथिल हाथ से चोंगा रख कर) आप सच कहते थे, दरोगा जी ! वर्मा जी बहुत बड़े नेता हैं। उनके पास हमारे जैसे मामूली आदमियों की बात सुनने के लिए समय नहीं। पहलवान की ओर देख कर) अगर......अगर मैं भी पहलवान की तरह... (वाक्य अपूर्ण छोड़ कर भीगे स्वर में) मुझे बन्द कर दीजिए, दरोगा जी, मुझे बन्द कर दीजिए।

पहलवान : बच्चू, तुमने पढ़ा नहीं कि बिन भय होय न प्रीत ! (दरोगा जी से) मरे हुए को मारने से क्या फ़ायदा ? छोड़ दीजिए।

दीवान जी : गोया कि यही मैं भी अर्ज़ करने वाला था, हुज़ूर !

दरोगा जी : (महेश से) पहलवान के कहने से इस बार छोड़ देता हूँ, मगर फिर कभी कानून तोड़ने की कोशिश न करना !

[लाखनसिंह का प्रस्थान]

दीवान जी : (महेश से) गोया कि यह न भूलो कि अब हमारी सरकार है और गोया कि सरकार जो कानून बनाती है वे हमारी भलाई के लिए होते हैं।

दरोगा जी : और यह भी याद रक्खो कि हम पुलिस वाले कानून के पहरेदार हैं। हमारी आँखों में धूल झोंकना बहुत मुश्किल है। हाँ......!

[लाखनसिंह का प्रवेश]

लाखनसिंह : (सैनिक सलामी देकर) हुज़ूर, खन्ना साहब आए हैं।

दरोगा जी : (बिगड़ कर) क्यों आए हैं ? अभी तो फोन पर बात हुई थी।

लाखनसिंह : हुज़ूर, पहरेदार को छोड़ने के लिए कह रहे हैं।

दरोगा जी ; कह दो कि जब तक चोरी का सुराग़ नहीं मिलेगा तब तक पहरेदार को हिरासत में रक्खा जाएगा। पहरेदार की मिली भगत के बिना कोई चोरी हो ही नहीं सकती। जाओ।

लाखनसिंह : (द्वार की ओर बढ़ कर) अभी लीजिए, हुज़ूर।

महेश : और यह भी कह देना कि आजकल के पहरेदार शरीफ़ों से तो कहते हैं—सोते रहो, और चोरों से कहते हैं—चोरी करो !

[लाखनसिंह का प्रस्थान]

दरोगा जी : (हँस कर) आदमी तो समझदार मालूम होते हो। जाओ ! हाँ, चाहो तो झोला और रेज़गारी लेते जाओ। बोतल तो सरकारी मालखाने में जमा होगी।

[महेश झोला और रेज़गारी लिए बिना ही द्वार की ओर बढ़ता है।]

पहलवान : अमाँ, बच्चे के लिए जिंजर तो लेते जाओ। ब्रॉडी से बढ़िया काम करेगा, प्यारे !

[पहलवान हँसता है। महेश तेज़ी से बाहर चला जाता है।]

दरोगा जी : दीवान जी, सामने वाले तमोली से गिलास और सोडे की बोतलें मँगा लो ! बोतल (पेट पर हाथ फेर कर) सरकारी मालखाने में जमा कर दीजिए !

दीवान जी : गोया कि अभी लीजिए, हुज़ूर ! (द्वार की ओर बढ़ कर) गोया कि बला की सर्दी भी तो है आज !

[दीवान जी का प्रस्थान। दरोगा जी और पहलवान खुल कर हँसते हैं। धीरे-धीरे यवनिका गिरती है।]

७।१४०, स्वरूपनगर,
कानपुर

—बिनोद रस्तोगी

प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले व्यक्तियों में बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका आगे विकास होता है। उनमें से अधिकांश व्यक्ति फूल जाते हैं।

—वुडरो विल्सन

योगीश्वरी लल्ला

भारत की इन्द्रपुरी श्रीनगर के समीप में योगीश्वरी लल्ला का जन्म हुआ। इनका जन्मस्थान अभी तक अज्ञात है। योगीश्वरी का अधिकांश जीवन पांड्रेसथास नामक गाँव में, जो श्रीनगर के अत्यन्त समीप में है, बीता। इनका जीवन काल ई० स० १३५०-१४०० के लगभग माना जाता है। ससुराल में योगीश्वरी लल्ला ने गृहिणी धर्मों का बड़ी विनय के साथ पालन किया, परंतु इनके पति आवश्यकता से अधिक मातृभक्त थे इस कारण वे लल्ला को सुख न पहुँचा सके। लल्ला को उनकी सास ने बहुत सताया। सती सक्कुबाई और भक्त त्यागराज जैसे इन पर भी परिवार का अधिक दबाव था। यहाँ तक कि लल्ला को भरपेट खाना मिलना भी मुश्किल हो गया। भोजन परोसते समय इनकी सास थाल में बड़ा पत्थर रखती और उस पर चावल परोसा करती थी। इन कठिनाइयों के अलावा इनकी सास ने लल्ला के चरित्र पर दोषारोपण किया। लल्ला का पति उसके चरित्र पर मुग्ध था। लल्ला के चरित्र के सम्बन्ध में जो अफवाह फैलाई गई, उसकी जाँच करने के लिए एक दिन वह लल्ला के पीछे चला गया। लल्ला को मन्दिर में जा कर भगवान की आराधना करते देख वह दंग रह गया। माता की ज़िद पर उसने लल्ला को घर से निकाल दिया।

घर से निकाली जाकर लल्ला योगिन बन गई और गीत गाती, नाचती भगवद्भक्ति का प्रचार करने लगीं। इनके बनाए गए गीत स्मृतियाँ (धर्मशास्त्र) बन कर आज भी वैदिक और इस्लाम धर्मावलम्बियों द्वारा गाए जाते हैं। लल्ला शिवयोग-तत्वज्ञ थीं। इस प्रकार भ्रमण करते हुए समय-समय पर इन्होंने जो गीत और भजन गाए, उनमें उनकी जीवनी (आत्म कहानी) प्राप्त होती है।

सास द्वारा लल्ला ने जो कष्ट भोगे उनका परिचय देने वाला गीत इस प्रकार है :

"होंड मरान, किन कठ
लालि नील बुट्ट शालि तज्हा"

चाहे घर-पर बड़ी मेड़ मारी जाय या छोटी, पर लल्ला (लालि) को खाने को पत्थर ही मिलता है।

लल्ला के देशाटन करते समय शैवयोग तत्व के संस्थापक 'वासुगुप्त' की परम्परा के 'सेद बायु'[1] से इनका परिचय हुआ और वह उनकी शिष्या बन गई। विरागिन होने पर लल्ला विवस्त्र हो भ्रमण किया करती थी। उन्होंने उस समय कहा था कि मेरे गुरु देव ने मुझे एक ही वाक्य का उपदेश दिया था। वह यह है :

"गोरन् वोन् उनम् कुन्यूव सुस्
नेबरादोपनम् अन्दरे अत्सस
स्यूगाव लालि मेवाख्हा तवत्सुस्
तवेमे ह्यातुं ननुगे नत्सुम्"

—बाह्य से अन्तःकरण की खोज करो। यही सूक्ति मेरे लिए आदर्श बन कर अनुभव में आई। तब से मैं नग्न हो कर खेलती रहती हूँ।'

लल्ला के नग्न रूप को देख कुछ गृहिणियों ने कठोर वाक्य कहे थे। जिनके उत्तर में उन्होंने दार्शनिक भावों से ओतप्रोत युक्तिपूर्ण जवाब दिया था।

"वे ही पुरुष हैं, जो भगवान् से डरते हैं। ऐसे लोग काश्मीर में कम हैं।"

योगीश्वरी लल्ला ने शरीर से परे दिव्य ज्ञान-संपत्ति का अर्जन किया था। उनका कथन था :

"मोरी पंचभूत ते हाण्डे
चेतन् धान् वा खुरपित
जानह परमोपद यिद रण्डे
खशेखुर हि शेखर कित्"

—पंच भूतों को योगाभ्यास से और ध्यान रूपी पदार्थ से पाल-पोस कर उनकी बलि दो। इस प्रकार पंचभूतों के संहार पर ही अपूर्व ज्ञानोदय प्राप्त होगा।

---

[1] सेद का अर्थ जिसने सिद्धि प्राप्त की हो—होता है।

—ज्ञानार्जन के पूर्व तृष्णा को दबाना होगा। जब तक मनुष्य में लोभ निवास करता रहेगा, तब तक मानव स्वर्ग की सीढ़ियों पर क़दम नहीं रख सकेगा।

> "हिता कर्त्ता राज्य फरिना
> देवा तर्त्ता तृप्ति नासस
> विस लोभा जूव मरिनो
> जूवन्तोय मरिता सोए ज्ञानी"[१]

राज्य की प्राप्ति से मानव को वास्तविक तृप्ति प्राप्त नहीं होगी। अपितु अन्य राज्यों को हड़पने का लोभ मनुष्य में पैदा होगा। पर लोभ का दमन करने से प्राणी (आत्मा) नष्ट नहीं होगा। जिन्दा रह कर लोभ को समूल नष्ट करने से वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होगी।[२]

लल्ला ने शिवयोग का अभ्यास किया था। निम्न लिखित पद से यह भाव स्पष्ट होता है:

> "एममुमुक्ति तीमय षमि
> श्यामगलाचि यीविस तुट्टूस
> एहुय् भिन्नाभेद चितांमि
> चूषस् स्वामी भुषय भूठास"[३]

हे नीलकंठ! तुम षड्गुणी हो (अन्तर्यामित्व इत्यादि)। मुझ में भी छः गुण हैं (अरिषड्वर्ग)। लेकिन मैं पाप पंकिल में पड़ी हुई हूँ। हम दोनों का अन्तर एक ही है। तुम षड्गुण देवता हो और मैं अरिषड्वर्ग की अनुगामिनी हूँ।"

इसमें कवयित्री ने जो चमत्कार दिखाया है, उसमें सहज पाण्डित्य है। लल्ला ने अपने योगाभ्यास के सम्बन्ध में कहा है—विस्तार के भय से केवल भावार्थ दिया जा रहा है।

"अगर मुझे यह मालूम होता कि मैं अपने मन से अपनी धमनियों को किस प्रकार नियन्त्रण में रखूँ, तो मैं उन्हें तोड़ना-बाँधना आदि का परिचय पा कर अपने दुःख को दबा सकती थी। इसी में शिव की प्राप्ति है।

आगे लल्ला ने कहा है—

सूर्य के अस्त होने पर चन्द्रमा का उदय होता है। चन्द्रमा के अस्त होने पर मन ठिकाने पर आता है। आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाने पर मन का लय होता है। उस दशा में सभी भूतों का नाश हो कर परमपद की प्राप्ति होती है।

योगाभ्यास के पथ में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लल्ला के शब्दों में सुनिए:

"मैं सुन्दर कपास के फूल की तरह प्रकाश-मान होने वाली थी, पर मुझे पेड़ से गिरा कर साफ़ किया। औरतों ने चरखों पर सूत कात कर धागा निकाला। तदनन्तर सुखा कर करघे पर कपड़ा बनाया। धोबी ने मुझे पानी में भिगो कर पत्थर पर पटक कर साफ़ किया। गरम पानी में उबाला। क्या क्या न किया। दर्जी ने उस कपड़े को टुकड़े-टुकड़े करके सिया। फिर कहीं जा करके लल्ला को मुक्ति मिली।

अद्वैत सिद्धि के प्राप्त होने के पूर्व उपस्थित होने वाले रोड़ों का उल्लेख लल्ला के शब्दों में सुनिए:

> "नाथा पाना नापजीला
> साधित बाधिम् एहकदेह
> चिभु चूमिमि लो नाजाना
> चूकु भुकु किकयं सन्देह"[४]

"भगवान्! 'मैं' याने अहं को छोड़ कर मैं और कुछ नहीं जानती। सदा मैंने इस देह पर ही पूर्ण विश्वास कर इसी को सब कुछ माना। इस देह को, 'अहं

---

१. श्लोक : "दातुर्मनः तृप्यति नैव राज्यं
दात्वा गृहीतुश्च तद् एव लब्धा
जीवोऽपि लोभेन न मृत्युमेति
मृतस्य नैवास्तिहि जातु मृत्युः"—
यह राजानक भास्कर का संस्कृतीकरण है।

२. इस सूक्ति के आधार पर श्री परिव्राजक शिवशंकर काश्मीर के एक महाराजा के जीवन को महाकाव्य के रूप में परिणत कर रहे हैं।

३. भास्कर का संस्कृतीकरण—
"य एव षड्गुणास्ते देव
त एव च मम प्रभो
नियोक्तु र्नियोज्य हि
तस्याः स्थिति आवयोर्भिदा"

४. "नाथ! न त्वं ... ... ज्ञातो देहाभिमानताम्
स्वसैक्यं चत्वर्य तेनक अवाम इति संशयाः"

१६५७

ब्रह्मास्मि' अथवा 'तत्वमसि' समझ कर पहचाना नहीं। "मैं कौन हूँ ?" या "तुम कौन हो ?" इस प्रकार की भिन्नता देखना ग़लत है। भगवन्। मैं अपने को तुम से भिन्न नहीं समझती थी। देह पर जो ममता है, उसी ने यह भ्रम पैदा किया है। मेरे अपराध को क्षमा करें।

"अपने को तथा अन्यों को समान समझने वाले व्यक्ति को दिन (सुख) रात (दुःख) समान हैं। जिसने द्वैत भाव को छोड़ दिया है, उसी को परब्रह्म की प्राप्ति होगी।"

लल्ला ने बहुदेवता वाद को त्याग कर परमात्मा को एक ही सिद्ध किया है :

"शिव वा केशव जिस वाकम लुज
नाथानाव धारितिय मो
सोमि अबल कामी तस् भवरुभ्
सो वासो वासो वासो"[२]

—भगवान् चाहे शिव हो, केशव हो, जिनदेव हो या पद्मभव हो, भवसागर की यातनाएँ भोगनेवाली मुझ अबला को इस संसार से तरा दे।

लल्ला ने प्रणाम कर ओंकार का ध्यान किया। इस प्रणवोपासना ने उन्हें तरा दिया।

"प्रणव का ध्यान कर अपने शरीर को जलती चिता बनाया। षड् चक्रों को पार कर सातवें में पहुँची। लल्ला ने इस प्रकार शुभ्र ज्योति पुञ्ज में प्रवेश किया।

इन्होंने सेदबायि की शिष्या बन कर याज्ञवल्क्य जैसे अपने गुरु से बढ़ कर ज्ञानार्जन किया।

एक दिन गुरु के समक्ष एक चर्चा चल पड़ी। उसमें इन प्रश्नों का उत्तर लल्ला को देना पड़ा।

(१) सब से प्रकाशमान वस्तु क्या है ?
(२) यात्राओं में प्रसिद्ध कौन है ?
(३) भाई-बन्धु अथवा बिरादरी में उत्तम कौन है ?
(४) सुख देनेवाली वस्तु क्या है ?

इन प्रश्नों का लल्ला के उत्तर, सेदबायि के आक्षेप और पुनः लल्ला का जवाब गीतों के रूप में है। मैं यहाँ भावार्थ मात्र दे रहा हूँ। लल्ला का जवाब था :

"सूर्य से बढ़ कर कोई प्रकाश नहीं है।
गंगा से श्रेष्ठ कोई तीर्थ नहीं है।
सहोदर भाई या बहन से बढ़ कर कोई बन्धु नहीं
पत्नी से बढ़ कर सुख देने वाला अन्य कोई नहीं है।"

देशिक का खण्डन देखिए—

"नेत्रों से बढ़ कर ज्योति नहीं है।
पद्मासन से श्रेष्ठ तीर्थ स्थान नहीं है।
स्वशक्ति से बढ़ कर बन्धु नहीं है।
बिस्तर से श्रेष्ठ सुख देनेवाली वस्तु नहीं है।"

इनका उत्तर लल्ला ने पुनः इस प्रकार दिया था—

"परम ज्ञान से श्रेष्ठ प्रकाश या ज्योति नहीं है।
पवित्र प्रेम से बढ़ कर तीर्थ नहीं है।
भगवान से बढ़ कर बन्धु नहीं है।
शरणागति से बढ़ कर सुख नहीं है।"

योगीश्वरी लल्ला में प्रह्लाद की सी भक्ति, तुलसीदास जैसा पांडित्य, सनक सनत्कुमार का ज्ञान और शकुनि की वैराग्य संपत्ति एकत्रित थी। ई० सन् १८९६ में डाक्टर स्टीन महोदय ने इनके गीतों का संग्रह करके नागरी लिपि में लिखवाया था उनमें से कुछ गीतों का राजनक भास्कर ने[३] संस्कृतीकरण किया था। इनके अलावा जार्ज ग्रियर्सन, यल. डिबार्नेट आदि पाश्चात्य विद्वानों ने १९२० में अंग्रेज़ी में अनुवाद करके उनके साहित्य भण्डार को इन अमूल्य रत्नों द्वारा भर दिया था। सन् १९२४ में रिच्चर्ड कार्नर टेंपुल ने 'लल्ला की बोली' नाम से टिप्पणी लिखी थी।

हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास—१७

—मूल० : नेलनूतल श्रीकृष्ण मूर्ति
—अनु० : बालशौरि रेड्डी

---

[1] "आत्मापरो दिन रात्रिः यस्य सर्वम् इदं समं
भातम अद्वैव मन सस्तेन हष्णो मरेश्वरा"

[2] "शिवो वा केशवो वापि जिनो वा हरिणोपि वा
संसार रागेण क्रांताम् अबलाम् मां चिकित्सतु"

[3] श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य की "ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी" की भास्करी नाम से आलोचना लिखनेवाले १८ वीं शती के विद्वान् हैं।

सुबह की भूली........

एडना बैठी सोच रही थी कि सुबह की ऐसी सुहावनी फ़िज़ाँ में केवल उसी का मन अवसाद से भरा है, केवल वही एक दुःखी है। घरों की खुली खिड़कियों से पियानो का सुमधुर संगीत आ रहा था। वसन्त के पुष्पों से लदे, उजली धूप में चमकते वृक्ष वायु के हलके झोंकों में झूम-से रहे थे। आवारा लड़के सड़कों पर मौज में सीटी बजाते आ-जा रहे थे। सड़क पर एक छोटा कुत्ता भौंक उठा। लोग इतने हलके और फुर्तीले क़दमों से आ-जा रहे थे, मानो हवा में उड़ रहे हों। दूर उसने एक महिला को तितली के पंखों-सी चित्रित छतरी लगाए जाते देखा।

वास्तव में एडना भी उतनी दुःखी नहीं थी जितनी कि वह सोच रही थी। ठीक भी है, अठारह वर्ष की अवस्था में जब कोई अपूर्व सुन्दरी हो, कपोलों, अधरों और आँखों में पूर्ण स्वास्थ्य की दीप्ति हो, तो अधिक शोकाकुल होना आसान भी नहीं। ख़ासकर, जब उसकी सुगठित देह पर नीले रंग का फ्रेंच फ्रॉक हो और टोपी नवागत वसन्त के पुष्पों से शोभित हो। हालांकि उसके हाथ में काले चमड़े की जिल्द में बन्धी एक किताब थी, जो कदाचित् विषाद की सूचक भी मानी जा सकती है, किन्तु यह तो एक संयोग ही था, वैसी जिल्द तो आम पुस्तकालयों की किताबों पर प्रायः होती ही है। एडना ने पुस्तकालय भी तो इसीलिए जाना शुरू किया था कि उसे घर से बाहर निकलने का एक बहाना मिल जाएगा और जो हो चुका है तथा अब आगे जो करना है, उस पर सोचने का अवसर भी।

वास्तव में एक दुर्घटना घट गई थी। अचानक कल रात थिएटर में जब वह और जिम्मी ड्रेस-सर्किल में पास-पास बैठे थे, तब, बिना एक पल की भी पूर्व-सूचना या चेतावनी के—वस्तुतः उसने एक चाकलेट लेकर डिबिया जिम्मी को लौटाई ही थी—ठीक उसी समय, उसे एक अभिनेता से प्रेम हो गया। किन्तु... हाँ...प्रेम ही कहें......

यह नूतन अनुभूति कुछ अजीब सी थी। आनन्ददायी तो यह थी ही नहीं, रोमांचकारी भी नहीं थी। दुःख, नैराश्य, यातना और दीनता के भावों की मिली-जुली इस भयंकर अनुभूति को रोमांचकारी कह भी कैसे सकते हैं? इन सबके साथ दृढ़ निश्चय की यह भावना कि यदि वह अभिनेता खेल के बाद उसे सड़क के किनारे मिलता, जब कि जिम्मी टैक्सी बुलाने में व्यस्त था, तो वह उसके एक इंगित पर, उसके पीछे-पीछे दुनिया के किसी भी कोने में जाने के लिए प्रस्तुत हो जाती—अपने प्रिय जिम्मी, माँ-बाप, घर-बार, दोस्त सबको एकदम भूल कर......

खेल का प्रारम्भ काफ़ी उल्लासपूर्ण था, किन्तु बाद में नायक की आँखें जाती रहीं। कितना हृदयविदारक था वह दृश्य! एडना तो इतनी रोई कि उसका रुमाल आँसुओं से भींग गया और उसे जिम्मी का रुमाल भी माँगना पड़ा। ऐसी बात नहीं कि केवल वही रो रही हो, समूचे हाल में कोई भी ऐसा नहीं था जिसकी आँखें सूखी हों। यहाँ तक कि पुरुष भी ज़ोर की आवाज़ के साथ नाक साफ़ कर रहे थे, और स्टेज की तरफ़ न देख कर हाथवाले छपे कार्यक्रम की ओर देख रहे थे। जिम्मी बड़ी मुश्किल से आँसुओं को रोके हुए था, क्योंकि अपना रुमाल तो वह एडना को दे चुका था, पोंछता किससे? उसने एडना के ख़ाली हाथ की हथेली अपने हाथ में लेकर दबाई और बोला: "दिल छोटा न करो, डियर!" यही था वह अवसर जब उसने जिम्मी का मन रखने के लिए आख़िरी बार चाकलेट लेकर डिबिया वापस उसे लौटाई थी। इसके बाद ही वह करुण दृश्य था। स्टेज के एक ख़ाली कमरे में अकेला नायक खड़ा था। गोधूलि का समय था। बाहर सड़क पर शादी के बाजे बज रहे थे जिनकी आनन्दप्रद ध्वनि उसके कानों तक पहुँच रही थी। आह! कितने कष्ट और पीड़ा से रास्ता टटोलते हुए वह आगे बढ़ा था। किसी तरह खिड़की तक पहुँच पाया। वहाँ परदे को हाथ से उठाए वह खड़ा रहा। प्रकाश की एक रश्मि, मात्र एक रश्मि, उसके ऊँचे उठे हुए, नेत्रहीन चेहरे पर पड़ रही थी! बाजे की आवाज़ धीरे धीरे दूर होती जा रही थी......।

१९५७

आह! कैसा था वह पल! कैसा था वह दृश्य! उसी क्षण एडना को लगा कि जीवन कितना परिवर्तनशील है! उसने जिम्मी के हाथ में दबा हुआ अपना हाथ खींच लिया, पीछे की ओर झुक गई और चाकलेट की डिबिया बन्द कर दी। 'यहीं से शुरू होता है उसका अभिनेता के प्रति प्रेम।

एडना और जिम्मी की मंगनी तो केवल साल ही भर पहले हुई थी, किन्तु जानते वे बचपन से थे कि उनकी शादी एक-दूसरे से ही होगी। यहाँ तक कि एडना सगाई की एक नकली अंगूठी अपने स्कूली जीवन से ही पहनती आई थी। और अब तक वे थे भी एक दूसरे के प्रति पूर्ण अनुरक्त और ईमानदार!

पर अब, इस एक पल में, सब समाप्त हो गया।

एडना मुस्कुराई—एक उदास समझदारी की मुस्कान, और कन्वेण्ट के बग़ीचे से होकर हिल स्ट्रीट की ओर जाने वाले पथ पर आगे बढ़ी। अच्छा ही है कि इस बात को जिम्मी शादी के पूर्व ही जान ले। अभी तो शायद जिम्मी इसे सहन कर जाए। नहीं, वह अपने आपको धोखा देना है, जिम्मी इसे कभी सहन नहीं कर सकेगा, कभी नहीं। उसकी ज़िन्दगी बरबाद हो जाएगी। किन्तु, अभी वह युवा है, और जैसा कि लोग कहते हैं, समय बड़े-बड़े घावों को भी भर देता है। सम्भव है, आज के चालीस वर्ष बाद, वृद्धावस्था में, जिम्मी भी उसके बारे में शान्ति पूर्वक सोच सके। किन्तु वह, उसका अपना भविष्य क्या है?

इस समय तक एडना ऊँचाई पर पहुँच चुकी थी। वहाँ नई कोंपलों और छोटे-छोटे सफ़ेद फूलों से लदे हुए एक पेड़ के नीचे रखी हरे रंग की बेंच पर वह बैठ गई। उसने कन्वेण्ट की इमारत की ओर देखा। वहाँ से गाने की शिक्षा देती हुई सिस्टर एग्निस की आवाज़ उसके कानों तक पहुँच रही थी। कन्वेण्ट की प्राचीरों को चीर कर "आऽऽऽ मी ी ी ी" की गहरी आवाज़ उठती और उसकी गूँज समूची फ़िज़ाँ में फैलती चली जाती—"आऽऽऽ मी ी ी ी"।

यह तो निश्चित है कि जिम्मी से शादी नहीं करने का मतलब वह किसी से भी शादी नहीं करेगी। एडना जानती थी कि जिस विख्यात अभिनेता से उसे प्रेम हुआ है उससे तो शादी होना सम्भव नहीं है। ऐसा तो सोचना भी उपहासास्पद होगा। वह खुद भी ऐसा नहीं चाहती थी। इस प्यार और इसकी वेदना को चुपचाप सहन करना होगा। उसका अनुमान था कि वह कुछ इसी प्रकार का प्रेम है।

"किन्तु, एडना!"—उसका नया इरादा सुनकर जिम्मी चीख-सा उठा था: "क्या तुम्हारा यह विचार कभी नहीं बदलेगा? क्या मैं एकदम आशा त्याग दूँ, हमेशा के लिए?"

आह, कितना कष्ट और दुःख हुआ था एडना को कहने में यह...नहीं, जिम्मी, मेरा विचार अटल है, वह अब कभी नहीं बदलेगा।"

एडना ने अपना सर झुका लिया। एक छोटा सफ़ेद पुष्प उसकी गोद में टपक पड़ा। उसी समय सिस्टर एग्निस के गाने की तेज़ आवाज़ फिर सुनाई दी—'आऽऽनोऽऽ' और उसकी प्रतिध्वनि चारों ओर फैलती चली गई—'आऽनो'

और तभी एडना के सामने उसका भविष्य स्पष्ट हो उठा। वह आश्चर्य से चकित रह गई। एक बार तो उसे लगा, जैसे उसकी साँस ही रुक गई हो। किन्तु अन्त में उसने महसूस किया कि स्वाभाविक यही है। वह कन्वेण्ट में दाख़िल हो जाएगी।

उसके माता-पिता की उसे रोकने की सब कोशिशें निष्फल होती हैं। और जिम्मी, उसकी मनःस्थिति की तो कल्पना भी असह्य है। क्यों नहीं समझते कि वे इस प्रकार तो बेकार मेरे कष्ट को अधिक ही बढ़ाना है। कितना क्रूर है यह संसार! तब आता है वह आख़िरी दृश्य—वह अपने सारे आभूषण अपनी सखी, सहेलियों में जो उसके बिछोह के दुख से व्याकुल हैं बाँट देती हैं, किन्तु वह खुद कितनी शान्त है। और उसके बाद वह कन्वेण्ट में चली जाती है। नहीं, एक पल और। जिस शाम को वह कन्वेण्ट में जाने वाली होती है, उसी शाम को उस खेल का भी आख़िरी 'शो' पोर्ट विलेन में होने वाला रहता है। उस अभिनेता को सफ़ेद पुष्पों में भरा हुआ एक डब्बा मिलता है। न भेजने वाले का नाम, न पता। कुछ नहीं। हाँ गुलाब के फूलों के नीचे एक सफ़ेद रुमाल में लिपटा हुआ एडना का फ़ोटो मिलता है जिसके नीचे लिखा हुआ रहता है:

"विश्व को मैं भूल कर, हूँ विस्मृता संसार से"

......पेड़ के नीचे एडना प्रस्तर-प्रतिमा-सी स्थिर मौन बैठी रही। काली जिल्द वाली वह पुस्तक अपनी

अंगुलियों में उसने कस कर पकड़ रखी थी। जैसे वह उसकी धर्म-पुस्तक हो।

......वह अपना नाम सिस्टर एंजिला रख लेती है। कच! कच! उसके मुलायम काले केश कतर दिए जाते हैं। किसी तरह छिपा कर बालों की एक लट वह जिम्मी के पास भेज देती है। नीला चोगा पहने और सर पर सफ़ेद कपड़ा लपेटे सिस्टर एंजिला कन्वेण्ट से और गिरजे से कन्वेण्ट आती-जाती दृष्टिगोचर होती है। उसकी दृष्टि में, उसकी वेदना-सिंचित आँखों में, और जिस मृदु, उदास मुस्कान से वह बच्चों की ओर देखती है, उसमें कैसी-कुछ अपार्थिव झलक रहती है। 'साक्षात् देवी है!'—मोमबत्ती से रोशन, ठण्डे फ़र्श-वाले बरामदों से गुज़रते समय वह लोगों को बुदबुदाते सुनती है। देवी! गिरजाघर आने वाले दर्शकों को बताया जाता है, प्रार्थना के समय सब से ऊँची रहने वाली उसकी सुमधुर आवाज़ के बारे में, उसकी युवावस्था, उसकी सुन्दरता और उसके करुण, दुःखान्त प्रेम के बारे में। साथ ही यह भी बताया जाता है कि किस प्रकार उसी शहर के एक व्यक्ति (जिम्मी) का जीवन नष्ट हो गया है......।

एक बड़ा-सा काला भँवरा अर्ध-प्रस्फुटित कली के भीतर घुस गया। उसके भार से वह मासूम, नई कली एक बार आगे झुकी, सीधी हुई और फिर हिलने-डुलने लगी। जब भँवरा रस लेकर उड़ गया; तब भी कली उसी प्रकार हवा में हिलती-डुलती रही। मानो हँस रही हो। कितना सुखी, निश्चिंत पुष्प!

सिस्टर एंजिला उसकी ओर देख कर कहती है, जाड़ा शुरू हो गया है।"

एक रात वह अपनी बर्फ़-सी ठण्डी कोठरी में जागती हुई लेटी है। उसे बग़ीचे से आती हुई एक चीख़ सुनाई देती है। वह सोचती है, कोई बिल्ली का बच्चा या मेमना या इसी प्रकार का कोई दूसरा जानवर का बच्चा भटक गया होगा। तपस्विनी एंजिला खड़ी हो जाती है। एड़ी से चोटी तक सफ़ेद वस्त्रों से ढंका हुआ उसका तन ठण्ड से काँप रही है, पर दिल निडर है। वह बग़ीचे में जा कर उसे भीतर ले आती है। किन्तु दूसरे ही दिन सुबह जब प्रातःकालीन प्रार्थना की घण्टी बजती है तब वह तेज़ बुख़ार में छटपटाती हुई पाई जाती है......वह बेहोश है......उसकी मूर्छा कभी नहीं टूटती। तीन ही दिन में सब समाप्त हो जाता है। गिरजाघर में उसकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना की जाती है और फिर उसे कब्रिस्तान के एक कोने में दफ़ना दिया जाता है। यह कोना ऐसी ही कुमारी तपस्विनियों के लिए है। यहाँ कब्रों पर सादी लकड़ी के क्रास बने हैं। सिस्टर एंजिला की आत्मा वहाँ शान्ति से निवास करती है।

शाम का समय है। एक वृद्ध और वृद्धा एक-दूसरे का सहारा लिए धीरे-धीरे चलते हुए, उस कब्र के पास आते हैं और घुटनों के बल बैठ कर सिसकते हुए कहते हैं—"हमारी बेटी! हमारी इकलौती बेटी!!"

वह दूसरा आता है। काले वस्त्र पहने है! रुक-रुक कर चलता है। जब पास आ कर वह अपनी काली टोपी हटाता है तो एडना भयभीत हो कर देखती है कि उसके बाल सन-से श्वेत हैं। अरे, यह तो जिम्मी है! उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही है, वह सुबक-सुबक कर रो रहा है। सब कुछ चला गया, सब कुछ! कब्रिस्तान में उगे हुए पेड़ों के ठूँठ हवा में हिल उठते हैं। जिम्मी के मुँह से एक करुण, भयानक चीख निकलती है.........

एडना के हाथ से छूट कर काले जिल्द वाली पुस्तक 'घप' की आवाज़ के साथ ज़मीन पर गिर पड़ी। वह उछल कर खड़ी हो गई। उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धक धक कर रहा था। मेरे प्रियतम! नहीं, अभी सब कुछ नहीं चला गया! यह एक भ्रम था, एक भूल थी, एक भयानक सपना था। आह, वे सफ़ेद बाल! कैसे कर सकी वह यह सब?......मगर उसने भी किया कहाँ है? हे भगवान! ओह, कितनी खुशी की बात है! अभी वह स्वतन्त्र है, युवा है। जिम्मी और उसके लिए अभी भी सब कुछ सम्भव है। जिस घर की योजना उन्होंने बनाई थी वह अब भी बन सकता है, जिस प्यारे-प्यारे शिशु की कल्पना उन्होंने की थी वह अब भी पैदा हो सकता है। उस शिशु की नन्हीं-सी बहन......

और एडना ने अपनी दोनों बाहें हवा में फैला दीं, मानो वह नन्हीं-सी बेबी सचमुच हवा के पंखों पर बैठ कर उसकी ओर आ रही हो। इन्हीं फैली बाहों से बगीचे की ओर, उन्मुक्त ओर, वृक्षों की छोटी-छोटी शाखाओं की ओर, और नीलिमा में गोते खाते, नीले कबूतरों की ओर, कन्वेण्ट की संकरी खिड़कियों की ओर ताकती आँखों से

१९५७

उसने अब, जीवन में पहली बार, यह महसूस किया कि प्रेम क्या है ? प्रेम की अनुभूति क्या है ?.........

........हा.......................सच्चे प्रेम की अनुभूति !

४१ए ताराचन्द दत्त स्ट्रीट,
कलकत्ता

मूल : —कैथरारन मैन्सफील्ड
अनु : —शरद देवड़ा

संगीत और नृत्य की उत्पत्ति

(एक सन्थाली लोक-कथा)

नाचते गाते सन्थाल स्त्री-पुरुष, अपने आस-पास के वातावरण पर एक मोहक जादू-सा डाल देते हैं। चरण से चरण मिला कर नाचते हुए सन्थाली, मादर, वंशी अथवा अन्य वाद्य यन्त्रों की ध्वनि का सहारा पा कर दर्शकों तथा श्रोताओं को मुग्ध कर देते हैं। संगीत और नृत्य तो इनके जीवन के कण-कण में घुल गया है पर इन्होंने इसकी शिक्षा कैसे पाई इसकी भी एक रोचक जनकथा है।

आरम्भ में सन्थाल लोग किसी भी देवता की पूजा नहीं करते थे। नृत्य तथा वाद्य-यन्त्रों के प्रयोग से वे अपरिचित थे। उनमें से दो व्यक्ति खोजबीन करते हुए जंगल के भीतर तक चले गए। इन व्यक्तियों में से एक 'लट टुडु' वर्ग और दूसरा 'बेसरा' (Besara) वर्ग का था। शाम होने लगी तो उन्होंने गीत की ध्वनि सुनी। पर वे नहीं जानते थे कि यह ध्वनि कैसी है ? और इसी कारण पता लगाने लगे कि कहाँ से ध्वनि आ रही है। जहाँ से ध्वनि आ रही थी, उस स्थल के निकट पहुँच कर वे भयभीत हो गए और कुछ झाड़ियों के ऊपर देखने के लिए, समीपवर्ती ऊँचे स्थान पर चढ़ गए। उन लोगों ने अपने सब से डरावने देवों मोर-को (More-Ko), जहेर एरा (Jaher Era), मरंग बरु (Marun Baru) और गोसई एरा (Gosai Era) को नाचते हुए देखा।

एकाएक, उनमें से एक नर्तक स्थिर हो कर खड़ा हो गया और बोला : "यहाँ मनुष्य हैं, मुझे गन्ध आ रही है।" जहेर एरा Jaher (Era) ने कहा : "वे मानव हों अथवा पशु, उन्हें हानि मत पहुँचाओ। बल्कि उन्हें यहाँ ले आओ।" तब 'टुडु' और 'वेसरा' वर्ग के वे दोनों अन्वेषक, बोंगा (Bongas) अर्थात् देवताओं के साथ सारी रात नाचे और उन्होंने गीत तथा नृत्य सीख लिया।

प्रातःकाल उन्हें दो नगाड़े दिए गए और आदेश मिला "जाओ, और अपने यहाँ के लोगों को हमारे विषय में सब कुछ बतलाओ। उनसे कहो कि वे हमारा आदर करें और हमें पूज्य मानें, प्रतिवर्ष हमें बलि दें। उन्हें गीत और नृत्य की शिक्षा दो। हम तुम्हें ज्ञान देते हैं कि तुम प्रत्येक रात्रि बारह गाँवों के लोगों को गीत और नृत्य की शिक्षा दो।

इस आदेश को उन दोनों ने पूरा किया।

इस प्रकार सन्थाल ने बाँसुरी तथा अन्य वाद्य यन्त्रों को बजाना सीखा और बारह गाँवों की औरतों तथा लड़कियों ने नृत्य सीखा।

१७-बी, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद (उ० प्र०)

—कुमारी दुर्गा मेहरोत्रा

सत्तावन की क्रान्ति की पृष्ठभूमि

सन् १८५७ के अंग्रेज़ों के विरोध में तीव्र रूप से उठे सैनिक विद्रोह के पूर्व भारत की दशा क्या थी, इस बात को जानने के लिए बहुत गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं; सिर्फ़ इस बात को देखना है कि उससे पूर्व के अंग्रेज़-शासक की क्या नीति थी, उसने ऐसी क्या स्थिति बना दी कि उस समय के फूट तथा ईर्ष्या की ज्वालाओं में झुलसे खण्डित प्रदेश थोड़े समय के लिए संगठित हो गए और उन्होंने अंग्रेज़ों की स्वार्थपूर्ण साम्राज्यवादी नीति को तुरन्त ही पहचाना और तभी उसके इन्कलाब के लिए कटिबद्ध हो गए।

भौगोलिक स्थिति : हम यहीं से उक्त इतिहास को लेते हैं कि उस समय लोअर बर्मा, आसाम, बंगाल में कलकत्ता से लेकर उत्तर-पश्चिम में दिल्ली तक तथा सिंध और पंजाब में मुलतान से लाहौर तक एवं नीचे नागपुर, बम्बई, मैसूर प्रान्त के तथा मद्रास के कुछ भागों पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन छा गया था, तथा शेष भारत में से निज़ाम हैदराबाद, बरार, भोपाल, बहावलपुर और सिन्ध के आसपास मुसलमानों के तथा बाक़ी हिस्से पर हिन्दु राज्य क़ायम थे।

डलहौज़ी की नीति : परन्तु अब अंग्रेज़ों की सम्पूर्ण चित्तवृत्ति समस्त भारत को अधीन करने की थी, जैसे-तैसे कानून बना कर अधीनस्थ राजाओं के अधिकार छीनना तथा उनकी रियासतों पर कब्ज़ा कर लेना एवं जहाँ कहीं कुशासन का बहाना बना कर उस प्रदेश को भी अपने राज्य में मिला लेना, तत्कालीन लार्ड डलहौज़ी की नीति बन गई थी।

उदाहरण स्वरूप, १८४१ में कम्पनी ने राजाओं के गोद लेने के अधिकार को अमान्य कर दिया। इस नीति से डलहौज़ी ने १८४८ में सतारा को, ४६ में जैतपुर और संम्भलपुर को, ५० में बघाट को, ५२ में उदयपुर को, ५३ में झांसी और ५४ में नागपुर को कम्पनी राज्य में मिला लिया।

अवध राज्य को, कुशासन का आरोप लगा कर, १८५६ में हस्तगत कर लिया गया। इनके अतिरिक्त और भी छोटी-मोटी कमज़ोर रियासतों को डलहौज़ी ने ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया, इनमें से कर्नाटक को, जबकि उसका नवाब मरा तो वहाँ नवाबी तोड़ कर, १८५३ में अपने अधीन कर लिया। जब तन्जौर का राजा मरा तो उसका कोई पुत्र न होने से उसकी उपाधि छीन ली गई। १८५३ में जब पेशवा बाजीराव द्वितीय मरा तो अस्सी हज़ार पौण्ड की वार्षिक पेंशन उसके दत्तक पुत्र नाना साहब को नहीं दी गई।

साधनों का योग : डलहौज़ी के समय में ही पहली बार रेलवे भारत में पहुँची। डाक-टिकट समस्त भारत में एक-सा यानी दो पैसे नियत किया गया। सेना का सम्पर्क बनाए रखने के लिए तार-घर खोले गए। पी. डब्ल्यू. डी. की स्थापना इसी काल में हुई। इसके अन्तर्गत बहुत-सी सड़कें, नहरें और पुल बनाए गए। शेष भारत पर अधिकार जमाने में ये सब दु साधन अंग्रेज़ों के लिए उपयोगी सिद्ध हुए।

आन्तरिक हस्तक्षेप : १८५० में एक कानून के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपना धर्म परिवर्तन करने पर भी अपनी पैतृक सम्पत्ति का अधिकार ज्यों का त्यों प्राप्त रहने दिया, इससे ईसाई धर्म को स्वीकार करने में लोगों की सम्पत्ति बाधा न बन सकी।

शिक्षा-सम्बन्धी संशोधन भी बड़े महत्व के हैं। इससे यूनिवर्सिटियाँ, कालेज, माडेल स्कूल चालू किए गए और उनसे भारत की जनता की बुनियाद को भूठी और एकांगी बातों से कमज़ोर किया जाने लगा।

ऐसी स्थिति में सन् १८५७ का ऐतिहासिक वर्ष आ पहुँचा, पर तब तक स्थिति को विस्फोट तक पहुँचा देने वाला लार्ड डलहौज़ी इंग्लैण्ड लौट चुका था और उसके स्थान पर लार्ड कैनिंग भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। कैनिंग के भारत में आते ही उस साम्राज्य-वादी ब्रिटिश प्रधान मन्त्री पामर्स्टन की उग्र विदेशनीति के कारण दो विदेशी युद्धों में भाग लेना पड़ा। पहला १८५६ में फ़ारस का युद्ध था। दूसरा चीन में १८५६ से १८६० तक युद्ध होता रहा। इन दोनों युद्धों में अंग्रेज़ों को भारत से बहुत सी सेना भेजनी पड़ी।

स्वतन्त्रता के लिए क्रान्ति : १८५६ को १०

१८५७ मई से विस्फुटित क्रान्ति की पृष्ठभूमि में भारत के उपरिकथित परिस्थितियाँ ही ऐसे कारण बन गईं, जिन्होंने क्रान्ति को अनिवार्य और स्वाभाविक बना दिया। उन कारणों को हम यहाँ चार भागों में विभक्त करते हैं—राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सैनिक।

१ राजनीतिक : डलहौज़ी की राज्यों को मिलाने की नीति ही सबसे बड़ा कारण थी कि भारतीय राजाओं अथवा बहादुरों का सामान्यतः अंग्रेज़ों से असहयोग हो गया, इससे प्रजा भी अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध जाग उठी, इसके अलावा मुग़ल बादशाहों अथवा उनके शाहज़ादों को दिल्ली से हटा कर अवध भेजने का विचार, अवध के नवाब को पदच्युत करना, नाना साहब को पेंशन न देना, आदि कारण ऐसे थे जिनसे मराठे अथवा मुग़ल दोनों ही इस बात को समझ गए कि इन फिरंगियों का उद्देश्य सम्पूर्ण भारत पर कब्ज़ा करना है, जहाँ राजे महाराजे अथवा नवाब इस बात को ताड़ गए और वे पुनः अपना-अपना राज्य पाने को लालायित हुए, तहाँ उनकी प्रजा में अंग्रेज़ी राज्य के प्रति असंतोष स्वाभाविक था।

२ आर्थिक : इस क्रान्ति की पृष्ठभूमि में दूसरा कारण समाज अथवा राजाओं की आर्थिक दशा की हीनता भी था, उन बहुत से राज्यों से, जहाँ पर ब्रिटिश गवर्नर की हकूमत क़ायम हुई, निकले हुए अधिकारी बेकार हो गए।

जैसे अवध में कावरली जैक्सन की चीफ़ कमिश्नरी में देशी शाही सेना भंग कर दी गई; इस कारण उन सैनिकों के आगे रोज़ी का प्रश्न-चिन्ह खड़ा हो गया।

एवमेव अंग्रेज़ों ने ज़मीनदारों के अधिकारों को रैयत के लिए, छीन लिया इनाम-कमीशन ने बम्बई में लगभग बीस हज़ार जागीरों का अपहरण कर लिया, इस तरह अमीरी के बाद एकदम निर्धनता की ओर आते ही उनमें अंग्रेज़ों के प्रति वैमनस्य स्वाभाविक ही था।

३ धार्मिक : एक तो लोग रेल-तारों के जाल से डरने लगे कि यह 'शैतान' उनकी धार्मिक परम्पराओं को नष्ट कर डालेगा, और विशेष बात १८३४ से शिक्षा-संबन्धी संशोधन की है, इस काल में लार्ड मैकाले ने, जहाँ उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत-अरबी में शिक्षा दी जाती थी, उसकी जगह अंग्रेज़ी सीखना अनिवार्य कर दिया, इसके लिए नए शिक्षण-केन्द्रों की स्थापना हुई। इसका धर्म और साहित्य पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था, ईसाई-मत के प्रचारक पादरी लोग भी प्रचार करने लगे और हिन्दू देवी देवताओं के प्रति घृणित वातावरण पैदा करने लगे। इतने पर भी कानून द्वारा सती प्रथा, बालहत्या, विधवा विवाह—आदि रूढ़ियों पर कुठाराघात भारत की धर्म-प्रदान जनता को कैसे सह्य होता?

४ सैनिक : ५७ की क्रान्ति में उक्त तीन कारणों के अतिरिक्त सब से बड़ा और तात्कालिक कारण सैनिक ही था। उन दिनों ६ भारतीय सैनिकों के पीछे एक अंग्रेज़ होता था, पर विदेशों में, यानी फ्रांस अथवा चीन में युद्ध होने के कारण अंग्रेज़ सेना को उधर चला जाना पड़ा। साथ साथ में जो भारतीय भी भेजे गए वे बंगाली ब्राह्मण थे। वे धार्मिकता के कारण समुद्र-यात्रा को बुरा समझते थे, पर मजबूरी थी। इससे सैनिकों में असन्तोष जगा। इलाहाबाद तथा कलकत्ता के बीच अंग्रेज़ों की केवल एक पलटन दीनापुर में रह गई थी और शेष पर भारतीय सेना।

सेना में यही पहला असन्तोष नहीं था। इससे पूर्व के वर्षों में पांच बार सेना में विद्रोह हो चुका था। १८२४ में ४७ वीं रेजीमेण्ट को भंग करना पड़ा था, क्योंकि उसने बर्मा में कार्यवाही करने से मना कर दी थी, १८४४ में चार बंगाल रेजीमेण्टों ने अतिरिक्त भत्ता प्राप्त किए बिना सिन्ध में लड़ने से इन्कार कर दिया था। १८४६ में ६६ वीं देसी पैदल सेना ने गोविन्द गढ़ में विद्रोह कर दिया था और १८५२ में ३८ वीं बंगाल पैदल सेना ने बर्मा में युद्ध करने से इन्कार कर दिया था। इसी वर्ष जुलाई में सामान्य सेवा भरती अधिनियम के पास कर देने से बंगाल की सेना में बहुत अशान्ति उत्पन्न हो गई थी। क्योंकि इस अधिनियम से वे लोग भरती नहीं किए जा सकते थे जो ब्रिटिश सेवा के लिए कहीं भी भेजे जाने की शर्त को अस्वीकार कर देते। इससे उन सैनिक अधिकारियों को ठेस लगी जो वंशानुगत सैन्य कर्म को अपना चुके थे। उन्हें इस बात की शंका थी कि उनका पेशा अस्थायी हो जाएगा या फिर जाति का बहिष्कार स्वीकारना पड़ेगा, इस तरह की शंकाओं अथवा मजबूरियों ने असंतोष का बीज बो दिया था। १८५७ के पहले चार मास में तो बंगाली सेनाओं में असन्तोष की अन्तराग्नि धधकती रही।

इधर इलाहाबाद तथा दिल्ली जैसे महत्त्वपूर्ण

नगरों के क़िलों में केवल भारतीय सैनिक थे ही । क्रान्ति का यह अच्छा अवसर था । कुछ सरदारों ने सेना से सम्पर्क रख कर ३१ मई १८५७ का दिन सशस्त्र क्रान्ति के लिए नियत कर लिया ।

परन्तु असन्तोष की अधिकता का कारण यहीं स्पष्ट है कि ३१ मई के बजाय १० मई को क्रान्ति की आग धधक उठी । इस असन्तोष को क्रान्ति रूप देने वाली थी कारतूसों में लगी चर्बी । अफवाह फैल गई कि यह चर्बी गाय और सूअर की है । और बात यह सच भी थी । इस चरबी को मुँह से काटना पड़ता था । इस बात ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को संगठित रूप से भड़का दिया ।

अप्रैल मास में मेरठ छावनी में देसी घुड़ सवारों की पल्टन के कुछ फ़ौजियों ने अपने अफ़सरों के समझाने-बुझाने और मिन्नतें करने के बावजूद परेड के समय दिए गए कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया । फ़ौजी अदालत ने इस तौहीन पर उन्हें दस-दस वर्ष की सज़ा सुना दी । ६ मई को उन 'विद्रोही' सैनिकों की वर्दियाँ उतारी गईं; हथकड़ियाँ लगीं, जेल जाते समय उन्होंने अपने अन्य साथियों को तिरस्कारा, उनमे घृणा दिखाई, इससे छावनी के अन्य सैनिक अपनी ग़ुलामी की घृणित जंजीरों को तोड़ कर १० मई की शाम को मुक्त होने को सक्रिय हो उठे । अपने ही अफ़सरों को पहले गोली का निशाना बनाया; जेल का फाटक तोड़, अपने बन्दी साथियों को साथ लेने दिल्ली की ओर सशस्त्र चल पड़े ।

मेरठ, दिल्ली, कानपुर, लखनऊ के अतिरिक्त यह क्रान्ति की आग बरेली और झाँसी में भी भड़की और सारे उत्तर भारत में स्थित अंग्रेज़ी शासन, रेज़ीडेन्सी, अड्डों को झुलसती गई । दिल्ली पर चार-पाँच मास क्रान्तिकारियों का शासन रहा ।

परन्तु दुर्भाग्य से पंजाब सिक्खों और अफ़गानों की (जो भारत की निर्लज्ज परंपरा रही है) सहायता से अंग्रेज़ों ने सितम्बर १८५७ में पुनः दिल्ली को हथिया लिया और विद्रोही बुरी तरह कुचल डाले गए । और सम्पूर्ण भारत ९० साल के लिए पुनः और पूर्णतः परतन्त्र हो गया ।

विमल कुटीर,
१-बी/२२, लाजपतनगर,
नई दिल्ली—१४

—श्यामविमल शास्त्री

मालवी कहवतें

सौ दवा ने एक हवा
स्वच्छ वायु सौ दवाओं के बराबर है ।

सीखायो पूतनी दरबार चढ़े
सिखाया पूत भी क्या दरबार चढ़ा है ।

घर को वामन, भैंस बराबर
घर के या निकटस्त प्रभाव शाली व्यक्ति का यतोचित सम्मान न होना ।

दुबला खे ग्रुस्सो घणो !
कमजोर आदमी को गुस्सा बहुत आता है ।

मुसद्दीपुरा,
उज्जैन (मालवा)

—तेजकुमार बंम 'निर्मोही'

रवीन्द्र-साहित्य में स्वदेश-प्रेम

साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब होता है। वह युग की पुकार या प्रतिध्वनि है। इसलिए तत्कालिक भावनाओं का समावेश उसमें स्वाभाविक है। स्वदेश प्रेम प्रत्येक मानव में जो मानव कहलाने का अधिकारी है, होता है। फिर कवि का हृदय तो असाधारण रूप से कोमल होता है। रंचमात्र सी घटना उसके हृदय पर अमिट छाप छोड़ जाती है, जैसे-जैसे समाज का गति-विधि चलती जाती है, कविता कामिनी का रूप भी उसी प्रकार सुसज्जित होता जाता है।

विश्व कवि रवीन्द्र ने अपने जीवन काल में लगभग २५० ग्रन्थों की रचना की। संवेदनशील कवि की लेखनी से स्वदेश प्रेम की धारा रिस-रिस कर फूटी और निर्बाध बही। जहाँ कवि की "गीताञ्जलि" ने कितनों ही रोंतों को चुप किया, कितनों ही डूबतों को सहारा दिया, वहाँ 'स्वदेश' तथा 'बाउल' ने "अधिकार दिखाने से ही अधिकार सिद्ध नहीं होता" की गूंज कानों में भर दी। और माँ भारती की सेवा में हज़ारों सेनानी उनकी कविता की पुकार सुन कर उठ पड़े।

भारत के सम्बन्ध में उनका एक सुप्रसिद्ध गीत देखिए :

"अयि भुवन मनमोहिनी
अयि निर्मल सूर्योकरोज्वल धरणी
जनक जननी जननी
नील सिन्धुजल धौत चरण तल
अनिल विकम्पित श्यामल अंचल
अम्बर चुंबित भाल हिमाचल
शुभ्र तुषार किरीटिनी
प्रथम प्रभात उदय तव गगनें
प्रथम साम रव तव तपोवने
प्रथम प्रचारित तब बन भवने
ज्ञान धर्म कत काव्य काहिनी
चिर कल्याणमयि तुमि धन्य
देश विदेशे वितरिछ अन्न
जान्हवी यमुना विगलित करुणा
पुण्य पीयूष स्तन्य वाहिनी"

अर्थ तो स्पष्ट ही है। भारत के गौरव गान में कविता की रचना की गई है।

भारत में अंग्रेज़ों के राज्य काल में जो अत्याचार हुए वे किसी भारतवासी से छिपे नहीं है उन्हें लिखते हुए लेखनी काँप उठती है। मानव परिस्थियों का दास है परिस्थितियाँ आई और मूक मानव बधिक बैल की भाँति सब कुछ सहन करता रहा। ऐसी ही परिस्थितियों का विश्व कवि एक सुन्दर चित्र खींचते हैं :

"आमरा कोथाय आछि कोथाय सुदूरे
दीप हीन जीर्ण भीति अवसाद पुरे
भग्न गृहे सहस्रेर भृकुटिर नीचे
कुब्ज पृष्ट नतशिरे, सहस्रेर पिछे
चलियाछि सहस्रेर तर्जनी संकेते
कटाक्षे कांपिया, लदुयाछि सिरे पेरे
सहस्त्र शासन शास्त्र, संकुचित काया
कांपि तेछि रचि निज कल्पनार छाया
सन्ध्यार अन्धारे बसि निरानन्द घरे
दीन आत्मा मरिते छे शतलक्ष उरे
पदे पदे त्रस्त चिते हय लुण्ठमान
धूलि तले, तो मारेज करि अप्रमाण
जेनो मोरा पृतहारा धाई पथे पथे
अनीश्वर अराजक भयार्त जगते"

—वैभव सम्पन्न परिवार में पला कवि दीनता का वर्णन कितने सुन्दर ढंग से करता है। "हम लोग कहाँ हैं, बहुत दूर जहाँ जीर्ण निकेतन है, जो खण्डहर अवशेष-मात्र ही है। जहाँ दीपक भी नहीं जल रहा है। हजारों मनुष्यों की कुटिल भौंहों के नीचे कुब्जे की तरह सिर झुकाए हुए। प्रभुत्व की तर्जनी के इंगित पर कटाक्ष से काँप कर हक चला रहे हैं। पग-पग पर हमारा जी काँपता है। बिना बाप का अनाथ बच्चा जिस प्रकार मारा मारा फिरता है। उसी प्रकार अराजक संसार में हम भी मारे-मारे फिरते हैं।—यह कविता कितना वास्तविक चित्रण करती है! ठीक एक कुशल कलाकार की भाँति जो अपनी तूलिका से जान ही डाल देता है। वे हृदय

वीणा के तारों को छन्दों में बाँध कर झंकृत कर देते हैं।

कवि पाश्चात्य सभ्यता पर कटाक्ष करते हैं। उनकी पैनी लेखनी चुप-चाप मानव हृदयों को चीरती हुई फुंकार उठती है :

"शताब्दीर सूर्य आगि रक्तमेघ माझे
अस्त गेलो, हिंसार उत्सवे आजि बाजे
अस्मे अस्मे मरणेर उन्माद रागिनी
भयंकारी, दयाहीन सभ्यता नागिनी
तुलेछे कुटिल फण चक्षेर निमिषे
गुप्त विष दन्त तार भरी तीव्र विषे
स्वार्थे स्वार्थे बेधे संघात लोमे लोमे
भद्र वंशी बर्बरता उजियाछे जागी
कशय्या हते, लज्जा शरम ते यागी
जाति प्रेम नाम धर चण्ड अन्याय
धर्मेरे भासाते चाहे बलो वन्याय
कविदल चीत् कारिके, जागा या भीति
श्मशान कुक्कुर दरे काड़ा काडीगीति"

मेघों में आज शताब्दियों के सूर्य अस्त हो गए। पाश्चात्य सभ्यता नागिन अपने दाँतों में तीव्र विष भर कर कुटिल फण खोल रही है। स्वार्थ के साथ-साथ अस्वार्थ का संघात हो रहा है। जाति और धर्म के नाम पर अत्याचार हो रहा है; मरघट के कुत्ते (कवि) छीना-झपटी के गीत आलाप रहे हैं।

भारत सदैव ही शान्ति का पाठ समस्त विश्व को पढ़ाता आया है। विदेशी सदैव गांधी जी की नीति को सन्देश की दृष्टि से देखते रहे। रवीन्द्र उन्हीं लोगों पर एक तीखा बाण छोड़ते हैं :

"जो तोमारे दूर राखे घृणा करे
हे मोर स्वदेश
मोरा तारी काछे फिरी सम्मानेर तरे
परी तारी वेश
विदेशी जानेगा तारे, अनादरे ताइ
करे अपमान
मोरा तारी पीछे थाकी योग दिते चाइ
आपने सम्मान
तोमार जे दैन्य मातः ताइ भूषा मोर
केन ताहा भूली
पर धने धिक् गर्व करी कर जोड़
भरी भिक्षा झुली
पुण्य हस्ते शाक अन्न तुली दाव पाते
ताइ जेनी रुचे
मोटा वस्त्र बुने दाव यदि निज हाते
ताहे लज्जा घुचे
सेई सिंहासन यदि उच्च लटी पोतो
कर स्नेह-दान
जे तोमारे तुच्छ करे, से आमारे मात
कि दिबे सम्मान

हे मेरे स्वदेश, जो मनुष्य तुम्हें दूर रख कर नित्य ही तुम्हें घृणा किया करते हैं, हम सम्मान के लिए उन्हीं के वेश में चक्कर लगाया करते हैं। विदेशी तेरा निरादर करते हैं और हम उसमें उनकी सहायता किया करते हैं। माँ तुम्हारी दीनता ही मेरे वस्त्र आभूषण हैं। माँ तुम अपने पवित्र हाथों से रोटियाँ तथा भाजी थाली में रख देती हो। जो तुम मोटे कपड़े अपने हाथों से देती हो उससे हमारी देह ढक जाए। यदि तुम स्नेह दान कर आँचल बिछा दो तो वही हमारे लिए सिंहासन हो। माँ जो तुम्हें तुच्छ समझता है वह हमें कौन सा सम्मान देगा।

विश्व कवि रवीन्द्र ने केवल अन्य विषय ही लेकर उत्तमोत्तम कविताओं को ही नहीं लिखा वरन् देश-प्रेम की वह पुनीत धारा उनकी कविता में बही, जिसमें प्रत्येक भारतवासी ने स्नान करना अपना परम कर्त्तव्य समझा। उनकी कविताओं ने अपनी हीन भावनाओं का दिग्दर्शन नहीं कराया वरन् एक ठीक मार्ग दिखलाने का सदैव प्रयत्न किया जो अन्यत्र कवियों की रचनाओं में कम ही मिलता है।

—आलोक

७ आर० न० २ स्ट्रीट,
ओल्ड मार्केट रोड क्रास,
बंगलोर

राजस्थानी में नीतिपरक साहित्य

भारत की वीरतापूर्ण परम्परा के इतिहास में राजस्थान का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वीरता के साथ-साथ यह प्रान्त संस्कृति, साहित्य और कला का भी केन्द्र रहा है। धर्म और मर्यादा की आन पर मर मिटने वालों का इतिहास ही वास्तव में राजस्थान का इतिहास है। धर्म और मर्यादा पर जीवनोत्सर्ग करने वाले असंख्य वीरों के रक्त से सनी हुई यह भूमि पतित-पावनी गंगा और यमुना की रेणु से कम मोक्षदायिनी नहीं है। राजस्थान का कण-कण वीरता, धर्मरक्षा, देशरक्षा, संस्कृति, प्रेम और नीतिमत्ता के सन्देश आज भी दे रहा है। वीरता और शालीनता के पाठ सिखाने-वाले साहित्य के साथ-साथ नीति-परक साहित्य भी राजस्थानी भाषा में कम नहीं है। यहाँ हम राजस्थानी के नीति-परक साहित्य और उसके रचयिताओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे।

ईसरदास : ये जाति के चारण थे। इनका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत भाद्रेस नामक गाँव में सं० १५६५ में हुआ था! ये एक भक्त और चमत्कारी पुरुष थे। इनके द्वारा रचित दोहों में भक्ति के अलावा नीति की भी बहुत-सी बातें कहीं गई हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

"पादूळौ आपै समौ, बीजौ कवण गिणंत
हाँक बिडाणी किम सहेअ घण गाजिये मरंत"

सिंह अपने मुक़ाबले में और किसको गिनता है? वह किसी दूसरे की हाँक को कैसे सह सकता है? वह तो बादल के गरजते ही मरता है।

"हिरणाँ लाँबी सींगड़ी, भाजण तणौ समाव
सूराँ छोटी दाँतळी, दे घण थट्टां घाव"

हरिणों के लम्बे सींग होते हैं, पर स्वभाव भागने का होता है। सूअर के छोटी-सी दान्तली अर्थात् छोटे-छोटे दाँत होते हैं पर वे शत्रु के समूह पर गहरा घाव करते हैं।

"केहर मूँछ, भुजंगमण, सरणाई सोहड़ांह
सती पयोधर क्रमणधा, पड़सी हाथ मुवांह"

सिंह की मूँछ, सर्प की मणि, बहादुरों का शरणागत सती के स्तन और मूँजी का धन मरने पर ही हाथ आते हैं।

रज्जब जी : ये जाति के पठान थे। इनका जन्म जयपुर राज्य के सांगानेर नामक संवत् १६२४ में हुआ था। इनका नाम असल में रज्जब अली खाँ था। इनकी भेंट सन्त दादू दयालजी से हो जाने के कारण इनका अधिकांश समय कथा-कीर्तन, सत्संग आदि में व्यतीत होता था। पढ़े-लिखे न होने पर भी सत्संग में रहने के कारण आप बहुश्रुत थे और इसी कारण आपकी कविता में भावों की उत्कृष्टता दिखाई पड़ती है। भक्ति परक साहित्य के साथ-साथ आपने नीति के दोहे भी लिखे हैं :

"रज्जब पारस परस तें, मिटिगौ लोह विकार
तीन बात तो रहि गई, बाँक, धार अरु मार"

रज्जब कहते हैं कि पारस पत्थर के स्पर्श से लोहे का विकार तो मिट गया लेकिन फिर भी अभी टेढ़ापन धार और मार डालने का दोष तो रह ही गया। अर्थात् बाहरी स्वरूप में परिवर्तन होने मात्र से कुछ नहीं होता भीतर में भी परिवर्तन होना आवश्यक है।

"भली कहत मानत बुरी, यहै प्रकृति है नीच।
रज्जब कोठी गार की, ज्यूँ धोवै त्यूँ कीच॥"

नीच की यही प्रकृति होती है कि वह भली बात कहने पर भी बुरा मानता है। यदि गारे की अर्थात् मिट्टी की कोठी को धोने का प्रयत्न किया जाएगा तो उसमें से कीचड़ ही निकलेगा।

"सिर छेदेहु वीर को, वीरपनों नहिं जाय।
दीन हीनता ना तजे, पद विशेष हू पाय॥"

वीर का शिरच्छेद कर दिए जाने पर भी उसकी वीरता नष्ट नहीं होती ठीक उसी तरह जिस तरह विशेष पद की प्राप्ति होने पर भी दीन, अपनी हीनता को नहीं छोड़ सकता।

"रज्जब कोल्हू काल के, सब तन तिली समानि
सो उबरे कहि कौन विधि, जो आया बिचि घानि"

रज्जब कवि कहते हैं कि काल के इस कोल्हू में मनुष्यों का यह शरीर तिल्ली के समान है, जिसका तेल (सार) निकलता रहता है। सच है, इस कोल्हू की घानी के बीच में आने के बाद कोई किस भाँति बच सकता है ? अर्थात् बचना असम्भव है।

जगजीवन : ब्राह्मण कुलोत्पन्न जगजीवन सन्त दादू जी के प्रधान शिष्यों में से थे। आपका रचना-काल संवत् १६५० के निकट है। आपके काव्य की भाषा अत्यन्त सीधी-सादी एवं सरस है। नीति सम्बन्धी आपके विचार निम्न दोहे में देखे जा सकते हैं :

"यह सब संपत्ति जायगी, विपत्ति पड़ेगी आय
जगजीवण सोई भली, जै कोई खरचै खाय"

यह सारी सम्पत्ति जिसे तुम अपनी समझे बैठे हो, एक न एक दिन अवश्य नष्ट होगी और फिर विपत्ति ही पल्ले पड़ेगी। अतः जगजीवन (कवि) की राय में तो यही भला है कि जब तक सम्पत्ति है तब तक खरच खा कर क्यों न आनन्द लूटा जाए ?

उम्मेदराम : ये पाल्हावत शाखा के चारण थे। इनका जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत हणूँतियाँ नामक ग्राम में संवत् १८०० में हुआ। इन्होंने डिंगल और पिंगल दोनों में सुमधुर और ललित कविता की है। इनकी भाषा मँजी हुई और सरस है। देखिए :—

"कारज आछौ औ बुरो, कीजै बहुत विचार
कियै जलद नाहीं बनें, रहत हिए में हार"

कार्य कोई भी हो अच्छा या बुरा, बड़े विचार-पूर्वक करना चाहिए। जल्द-बाजी में कोई भी काम बनता नहीं है और हृदय में सदा हार का डर बना रहता है।

"परनारी सब मातु सम, पर धन धूलि समान
सबै जीव निज जीव सम, देखै सो हगवान"

पराई सभी स्त्रियाँ माता के समान हैं, परधन धूलि के समान है; आँखोंवाला वही कहलाता है जो अन्य सभी जीवों को अपने समान ही समझता है।

"इक तरु सूखे की अगनि, जारत सब वनराय
त्यों ही पूत कपूत तैं, वंश समूल नसाय"

जिस प्रकार एक सूखे तरु की अग्नि से सारी वन-राजि जल कर भस्म हो जाती है, ठीक उसी प्रकार वंश में एक कपूत के पैदा होने से सारे वंश का नाश हो जाता है।

बाँकीदास : ये आशिया शाखा के चारण थे। इनका जन्म जोधपुर राज्य के पंचभदरा परगने के भाटियावास नामक गांव में हुआ बताते हैं। इनका जन्म संवत् १८२८ में हुआ था। महाराजा मानसिंह आपकी कवित्व-शक्ति और विद्वत्ता पर मुग्ध थे। वहाँ से आपको पाँव में सोना तथा ताज़ीम का सम्मान प्राप्त था। आप संस्कृत, पिंगल, फ़ारसी और व्रज भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। आप आशुकवि तथा इतिहासज्ञ भी थे। आपने 'नीति मंजरी' नामक नीति का ग्रन्थ भी लिखा है, जिसमें नीति और उपदेश की बातें कही गई हैं। नीति विषयक कविताओं में आपने दुर्जनों, कायरों, कृपणों, कुकवियों और चुगली खानेवालों के स्वभाव और लक्षणों को बताते हुए उनकी बड़ी भर्त्सना की है :—

"नर कायर आणे नहीं, लूँण लिहाज लगार
धोळे दिन छोड़ै धणी, अणी मिलै उण बार"

कायर मनुष्य नमक खाए का अपने मन में ज़रा भी लिहाज़ नहीं बरतता अर्थात् जिसका उसने नमक खाया है, उसका ज़रा भी लिहाज़ नहीं करता। दिन दोपहरी अपने स्वामी को छोड़ कर उस तरफ़ (प्रतिपक्षी) की सेना में जा मिलता है।

"बादळ ज्यूँ सुर धनुष बिण, तिलक बिना दुज पूत
बनौन सोवै मौड़ बिण, घाव बिना रजपूत"

इन्द्रधनुष के बिना जिस तरह आकाश सूना रहता है, ब्राह्मण का बालक तिलक के बिना सूना लगता है, उसी तरह सिर पर मौर (सेहरा) के बिना दूल्हा और घाव बिना राजपूत भी सूने ही लगते हैं।

"कीड़ी कण पावै नहीं, अदताराँ घर आय
ओर घर सूँ आणियौ, जिको गमाड़ै जाय"

कंजूस के घर पहुँच जाने पर चींटी को कण भी नहीं मिलता, उलटे और घरों से (इधर-उधर से) लाया हुआ भी उसे खो देना पड़ता है अर्थात् वह कंजूस उसका लाया हुआ अन्न भी छीन लेता है।

"दाता धन जेतौ दियै, जस तेतो घर पीठ
जेतौ गुड़ लै थाड़ियाँ, तेतो जीमण मीठ"

१६५७

दाता जितना धन दान में देता है, उतना ही यश उसकी पीठ पर धरा जाता है। अर्थात् उतना ही यश उसे मिलता है। ठीक उसी तरह कि जितना गुड़ थाली में दिया जाएगा, उतना ही भोजन मीठा होगा।

कृपाराम : इनका रचनाकाल संवत् १८६५ के आसपास है। राजिया के नाम से जो दूहे राजस्थान में प्रचलित हैं, वे इन्हीं के बनाए हुए कहे जाते हैं। राजिया इनके यहाँ नौकर था और उस पर ये अतीव प्रसन्न थे। अतः अपने सभी दूहों को उसी के नाम से संयुक्त कर उसका नाम अमर बना दिया गया।

कहा जाता है कि इन्होंने लगभग १७५ दूहों की रचना की। ये दूहे अधिकांश नीति और उपदेशों से भरे हैं। ये इतने सरल हैं कि अपढ़ लोग भी इन्हें आसानी से समझ सकते हैं। बहुत से लोग प्रतिदिन के व्यवहार में इनका उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ दूहे यहाँ दिए जा रहे हैं :

"कारज सरै न कोय, बळ प्राक्रम हिम्मत बिना
हलकारयां की होय, रंग्या स्याळां राजिया"

बल, पराक्रम और हिम्मत के बिना कोई काम पूरा नहीं हो सकता। हे राजिया, रंगे हुए सियारों को हिम्मत दिलाने से क्या हो सकता है ?

"गुण-औगण जिय गांव. सुणै न कोई सांभळै
मच्छ गळागळ मांय रहणो मुसकिल राजिया"

जिस गाँव में गुण, अवगुण को सुनने और समझनेवाला कोई नहीं है और जहाँ अराजकता फैली हुई है, हे राजिया, वहाँ रहना बहुत कठिन है।

"पाटा, पीड़ उपाव, तन लागाँ तरवारियाँ
वहै जी भरा घाव, रती न औषद राजिया"

शरीर में तलवारों के घाव होने पर मरहम पट्टी करके पीड़ा को कम करने का उपाय किया जा सकता है। पर हे राजिया, इस जीभ से कहे हुए कटु वचनों के घावों (बातों की मार) की कहीं कोई औषधि नहीं है।

"मुख ऊपर मीठास, घटमाही खोटा घडै
इसड़ासूँ इखळास, रखीजै नह राजिया"

हे राजिया, मुँह से मीठा बोलने वाले पर, हृदय से बुरा चिन्तन करनेवाले से कभी व्यवहार नहीं करना चाहिए। इसमें 'विष-रस भरा कनक घट जैसे' की भावना से मिलती-जुलती भावना है।

"मूसा नै मंजार, हित कर बैठा हेकठा
सौ जाणै संसार, रस नहिं रहसी राजिया"

चूहा और बिल्ली प्रेमपूर्वक एक साथ बैठे हुए हैं। परन्तु हे राजिया, सारा संसार जानता है कि यह प्रेम अधिक दिन तक टिकना सम्भव नहीं।

"पराधीन पर आसर, कटु वचन सहणापड
औषध रो कडवास, र रोगी सहसी राजिया"

दूसरे के अधीन और आसरे से रहने पर कटु वचन सुनने ही पड़ते हैं। हे राजिया, ठीक उसी तरह कि जिस तरह रोगी को औषधी का कड़वापन बर्दाश्त करना ही होता है।

"आछो मान अभाव, मतहीणा कोई मिनख
पुरिया के ज्यूँ पाँव, राखै ऊपर राजिया"

कुछ मनुष्य ऐसे निर्बुद्धि होते हैं कि थोड़ा-सा सम्मान मिल जाने पर आपे में नहीं रहते। वे पुरिया पक्षी की तरह अपने पैर ऊपर ही किए रहते हैं। पुरिया पक्षी पैर इसलिए ऊपर किए रहता है कि यदि संयोगवश आकाश गिरे तो अपने पैरों पर सम्हाल ले।

"रोटी चरखो राम, अतरो मुतळब आपरो
की डोकरियाँ काम, राजकथा सूँ राजिया"

रोटी चरखा और राम इन तीनों बातों से ही बूढ़ी स्त्रियों को अपना सम्बन्ध रखना चाहिए। हे राजिया, उन्हें राजनीति आदि से क्या मतलब ?

चतुरसिंह : आपका जन्म संवत् १६३३ है। आपका जन्मस्थान मेवाड़ में करजाली नामक एक स्थान कहा जाता है। मेवाड़ में लोकप्रियता के नाते मीरा के बाद आपका ही स्थान है। आपने राजस्थानी और ब्रजभाषा दोनों में अत्यन्त सरल, मधुर और भावोपयोगी भाषा में रचना की है। आपकी रचना सदुपदेशों से ओतप्रोत है।

"कारड तो कहतो फिरै, हरकीनै हक नाक
जांरीं व्हीनै कहै, हियै लिफाफौ राख"

काई व्यर्थ ही अपनी बात हर किसी से कहता फिरता है। पर लिफ़ाफ़ा बात को अपने हृदय में रखता है और जो बात जिसे कहनी चाहिए उसी से कहता है।

"वाल्हा विचै विरोध जो, करै फूँक ह्याँ चाड़
वासूँ तो भाठाभला, रूप नै मेटै राड़"

उन लोगों से, जो दो प्रेमियों को उकसा कर आपस में मनोमालिन्य पैदा कर देते हैं, तो वे पत्थर अच्छे हैं जो सीमाओं के बीच में गड़ कर झगड़े का निपटारा कर देते हैं।

"रहँट फिरै, चरखो फिरै, पण करवामें फेर
हेक वाड़ हह्यो करै, हित छंतारा टेर"

रहँट भी फिरता है और कोल्हू भी लेकिन दोनों के फिरने में अन्तर है। एक तो गन्ने के खेत को हरा-भरा बना देता है और दूसरा छोई का ढेर लगाता है। उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त जयपुर बसानेवाले महाराजा सवाई जयसिंह (जन्म संवत् १८२१) की तीसरी पीढ़ी में हुए महाराजा माधवसिंह के द्वितीय पुत्र प्रतापसिंह ने 'नीति मंजरी', सन्तदास के शिष्य फतहपुर निवासी महाब्राह्मण भीखजन ने संवत् १६८३ में 'भीखबावनी' नामक त्रेपन छप्पयों का एक छोटा पर अमूल्य ग्रन्थ और बूँदी के दरबारी कवि (जन्म सम्वत् १८८७) श्री गुलाब जी ने 'नीति सिन्धु', 'नीति मंजरी', तथा 'नीति चन्द्र' आदि नीति के ग्रन्थों की रचना करके राजस्थानी के नीतिपरक साहित्य की अभिवृद्धि की।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी भाषा में नीति विषयक कविता की कमी नहीं है।

रा. भा. प्र. समिति,
हिन्दी-नगर, वर्धा

—मदनमोहन शर्मा

मेरे जीवन के नियम

मेरे जीवन के नियम निम्न प्रकार है :

कठोर परिश्रम करो;
जहाँ तक संभव है खेलो;
दूसरों की सम्मति की—चाहे वह अच्छी हो या बुरी—परवाह मत करो;
अपने मित्र के साथ किसी प्रकार का छल या चालाकी मत करो;
किसी बात पर कभी क्रोध मत करो;
सदा पूर्ण रूप से जीवित रहने का प्रयत्न करो;
अपने से नहीं परन्तु जीवन से सदा सन्तुष्ट रहो।

—जार्ज जीन नाथन

---

[1] इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन से सम्बन्धित कितनी ही सूक्तियाँ और नीतिवाक्य स्थान-स्थान पर बिखरे मिलते हैं।

मेरे पत्रकारिता के अनुभव

(२)

गुरुकुल विश्वविद्यालय से वेदालंकार की उपाधि प्राप्त करने के एक वर्ष पश्चात् मैं दिल्ली चला आया जहाँ लगभग एक वर्ष तक साप्ताहिक 'सद्धर्मप्रचारक' का संपादन करता रहा। 'सद्धर्मप्रचारक' का और मेरा जन्म का सम्बन्ध था। जिस वर्ष (१८८६ में) पिता जी ने जालंधर से उर्दू में 'सद्धर्मप्रचारक' निकाला उसी वर्ष मेरा जन्म हुआ। प्रारम्भ से ही 'सद्धर्मप्रचारक' आर्य समाज का प्रमुख पत्र समझा जाने लगा था। कई वर्षों तक उर्दू में निकलता रहा। गुरुकुल में जाने के पश्चात् पिता जी ने उसे हिन्दी में कर दिया। पिता जी के गुरुकुल में स्थिर रूप से रहने के कारण जब जालंधर से पत्र का चलना कठिन प्रतीत होने लगा, तब प्रेस और पत्र दोनों ही हरिद्वार पहुँच गए। और उन्होंने प्रेस को गुरुकुल काँगड़ी को दान कर दिया। परन्तु 'सद्धर्मप्रचारक' पत्र अपने ही पास रखा। पिता जी उसकी स्वाधीनता को सुरक्षित रखना चाहते थे। १९१६ में पिता जी संन्यास लेकर गुरुकुल से दिल्ली चले गए थे परन्तु मुझे पूर्व ही 'सद्धर्मप्रचारक' के संचालन का कार्य देकर दिल्ली भेज दिया था। १९१३ में हिन्दी का साप्ताहिक 'सद्धर्मप्रचारक' मेरे सम्पादकत्व में दिल्ली से निकलने लगा।

वह मेरा गुरुकुल की सुरक्षित भूमि से बाहर की दुनिया में पहला अनुभव था। उससे पूर्व 'सद्धर्मप्रचारक' मुख्य रूप से धार्मिक पत्र समझा जाता था। पिता जी कभी कभी सामयिक राजनीति के विषयों पर स्वतन्त्र सम्मति दिया करते थे। परन्तु उसका भी उपसंहार प्रायः धार्मिक संदेश में होता था। छात्रावस्था से ही मेरा झुकाव राजनीति की ओर था। शिक्षा और दीक्षा धार्मिक हुई और आन्तरिक प्रवृत्ति राजनीति की ओर थी। फलतः क्रियात्मक जीवन के प्रारम्भ से ही मेरी कार्य प्रणाली में धर्म और राजनीति का मिश्रण हो गया था। मेरे सम्पादकत्व में दिल्ली से निकलने वाला 'सद्धर्मप्रचारक' उस मिश्रण का एक नमूना था अग्रलेख प्रायः राजनीतिक विषयों पर रहता था और टिप्पणियों में सामाजिक विषयों की प्रधानता होती थी। मेरे लिए यह निश्चय करना कठिन है कि विषयों के इस मिश्रण का कारण मुख्य था अथवा मेरी लेख-शैली को पाठकों ने पसन्द किया, दिल्ली पहुँचने पर एक वर्ष के अन्दर ही पत्र की ग्राहक संख्या लगभग तिगुनी हो गई। जब पत्र दिल्ली से निकलने लगा तब उसकी ग्राहक संख्या १२०० के लगभग थी और वर्ष के अन्त में वह चार हजार को छू रही थी।

यद्यपि स्वयं अपनी लेख-शैली के सम्बन्ध में कुछ लिखना दुःसाहस का कार्य है और शायद उसे अहम्मन्यता का चिह्न भी समझा जा सकता है परन्तु जब अपने अनुभव लिखने ही लगा हूँ तो अनुभवों के एक अत्यन्त आवश्यक अंश को अछूता कैसे छोड़ दूँ? पहले मैं अपनी भाषा की सबसे बड़ी त्रुटि बतलाऊँगा। हमारे शिक्षाकाल में गुरुकुल में हिन्दी का प्रयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में ही किया जाता था। उसके साहित्य तथा व्याकरण की पढ़ाई नहीं होती थी। मैंने हिन्दी की व्याकरण सर्वथा नहीं पढ़ा। इस कारण मेरी हिन्दी प्रारम्भ में मुख्य रूप से संस्कृत के साँचे में ढल गई। हमें संस्कृत का व्याकरण ही पढ़ाया जाता था। जब मैंने अपनी सब से प्रथम पुस्तक 'नैपोलियन बोनापार्ट' प्रकाशित की तब उसके समालोचकों ने प्रधान रूप से दो बातें लिखीं—पहली बात तो यह थी कि भाषा में व्याकरण संबन्धी अनेक दोष हैं, और दूसरी यह थी कि भाषा जोरदार और स्पष्ट है। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ मेरी भाषा के स्पष्ट होने का मुख्य कारण यह है कि मैं लिखने के समय पाठकों के साथ अपना एकीभाव कर देता हूँ। प्रत्येक वाक्य लिखते हुए यह ध्यान रखता हूँ कि मेरे शब्द पढ़ने वालों तक मेरे हृदय के भावों को सरल और स्पष्ट रीति से पाठकों तक पहुँचा देंगे अथवा नहीं।

"वक्तुरेव हि तज्जाड्यम्
यत्र श्रोता न बुध्यते"

यदि सुनने या पढ़ने वाले ने न समझा तो वक्ता या लेखक की मूर्खता असंदिग्ध है। भाषा का अलंकार वहीं तक शोभाजनक या उपयोगी हो सकता है जहाँ तक

वह लेखक के अभिप्राय में कठिनता उत्पन्न न करे। सदा यह ध्यान रखने से मुझे अपने पाठकों के हृदय तक पहुँचने में थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हुई है। उस सफलता ने मेरी हिन्दी-व्याकरण की अनभिज्ञता को थोड़ा बहुत ढक दिया है। इतने वर्षों तक लिखते-लिखते व्यावहारिक व्याकरण का कुछ बोध हो जाने पर भी मैं समझता हूँ कि हिन्दी व्याकरण के विशेषज्ञ आज भी मेरी भाषा में से "भाषा की अनस्थिरता" के दृष्टान्त पा सकते हैं। इस न्यूनता के रहते भी प्रारम्भ से ही पाठकों के साथ मेरा जो एकीभाव स्थापित हुआ, वही वस्तुतः मेरी साहित्यिक निधि है।

इस प्रसंग से आई हुई चर्चा के लिए क्षमा माँग कर मैं 'सद्धर्मप्रचारक' की ओर मुड़ता हूँ। मेरे लिए दिल्ली शहर भी नया था और स्वतन्त्र रूप से पत्र-संपादन भी नया। चौबीस, पच्चीस वर्ष के पुराने धर्म विषयक पत्र पर राजनीति का पैबन्द लगाना और भी नई बात थी। प्रचारक के बहुत से पुराने पाठकों को नया ढंग पसन्द नहीं आया। उन्होंने इस परिवर्तन को कलिकाल का ही एक स्पष्ट प्रमाण समझा परन्तु सामान्य रूप से लोगों ने प्रचारक के नए रंग-ढंग को पसन्द किया। संभवतः उसके प्रति पुराने पाठकों की जो श्रद्धा थी उसकी घनता में कुछ न्यूनता आ गई। परन्तु उन्होंने भी पत्र को पढ़ना नहीं छोड़ा। नए पाठकों ने उसकी गतिविधि को पसन्द किया, जिससे ग्राहक संख्या में वृद्धि हो गई।

इस प्रकार सामान्य रूप से तो दिल्ली में पत्रकारिता का वह पहला वर्ष सफल ही रहा परन्तु एक बात मैंने अवश्य अनुभव कर ली कि पैबन्द लगाने से वृक्ष वनस्पतियों की तो उन्नति हो सकती है परन्तु समाचार पत्र जैसी संस्थाएँ पूरी तरह विकसित नहीं हो सकतीं। उनका एक परिमित और निश्चित लक्ष्य होना ही उपयुक्त है। वर्ष के अन्त में मैं इस परिणाम पर पहुँच गया कि यद्यपि नई पद्धति पर चलने से प्रचारक की पाठक संख्या बढ़ गई है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका प्रभाव बढ़ गया है। प्रभाव का अभिप्राय है प्रेरणा। जब तक कोई पत्र पाठकों को प्रेरणा न दे सके, तब तक वह सार्थक नहीं हो सकता। और जिस पत्र का कोई निश्चित दृष्टिकोण तथा क्षेत्र नहीं है शायद उसे व्यापार का नाम दिया जा सके किन्तु उसे राष्ट्र का संचालक यन्त्र नहीं कहा जा सकता। फलतः मैं इस परिणाम पर पहुँच गया था कि 'सद्धर्मप्रचारक' को उसके पुराने धार्मिक रूप में सुरक्षित रखते एक नया राजनीतिक पत्र निकाला जाए जिसमें अपने हृदय की भावना और लेखनी की कंडूति को प्रकट करने का पूरा अवसर मिल सके।

अभी नया पत्र निकालने की योजना गर्भावस्था में ही थी कि मेरे कार्यक्रम में आकस्मिक परिवर्तन आ गया। मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी, जो स्नातक बनने के पश्चात् गुरुकुल में उपाध्याय का कार्य करने लगे थे, गुरुकुल छोड़ कर दिल्ली आ गए और मुझे गुरुकुल जाना पड़ा।

साप्ताहिक 'विजय' : मैंने गुरुकुल जाने से पूर्व अपने अनुभव का परिणाम भाई जी को बतला दिया था। भाई जी किसी विचार को कार्य में परिणत करने में विलम्ब करने वाले नहीं थे। उनकी प्रतिक्रिया तुरन्त होती थी। उनके और मेरे स्वभाव में यह मौलिक भेद था। मेरे दिल्ली छोड़ने के कुछ ही दिन बाद उन्होंने साप्ताहिक विजय नाम का राजनीतिक पत्र निकालना आरम्भ कर दिया। 'सद्धर्मप्रचारक' को धार्मिक विषयों तक परिमित करके उसके संपादन का बोझ मुझ पर डाल दिया और स्वयं साप्ताहिक 'विजय' का संपादन करने लगे। दूर बैठ कर साप्ताहिक पत्र का सम्पादन करने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही 'सद्धर्मप्रचारक' की लोकप्रियता और ग्राहक संख्या घटने लगी। इधर भाई जी की ओजस्विनी लेखनी और निर्भय नीति के प्रभाव से 'विजय' एकदम चमक उठा। एक महीने में ही यह आशा बन गई कि साप्ताहिक 'विजय' का प्रभाव और प्रचार की दृष्टि से उत्तरीय भारत में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेगी परन्तु यह आशा पूर्ण न हो सकी। १९१४ का यूरोपियन महायुद्ध एक दैवी आपत्ति की तरह भूमण्डल पर टूट पड़ा, जैसे अन्य सब वस्तुओं पर उसका असर पड़ा, वैसे ही भारत के राष्ट्रीय जीवन पर भी उसके 'लौहमय पंजे' ने अपना प्रभाव जमाया। दिल्ली के डिप्टी कमिश्नर ने भाई जी को बुला कर कठोर शब्दों में यह चेतावनी दे दी कि या तो नीति को नर्म करो अथवा पत्र को बन्द कर दो। परिणाम यह हुआ कि साप्ताहिक 'विजय' दो महीने पूरे करने से पहले ही बन्द हो गया और भाई जी राजा महेन्द्र प्रताप जी के साथ

१९५७

विदेश चले गए। 'सद्धर्मप्रचारक' उसी पुराने रूप में कुछ समय तक सिसकता रहा। १९१४ से १९१८ तक मैं गुरुकुल में शिक्षक का कार्य करता रहा। इंग्लैण्ड के तत्कालीन विदेश-मन्त्री 'सर एडवर्ड ग्रे' के बारे में कहा जाता है कि वह जब अपने इस क्रिया-भवन में जाते थे तब मिनिस्टर की कुर्सी को याद करते रहते थे और जब मिनिस्टर की कुर्सी पर बैठते थे तब इस क्रिया-भवन को याद किया करते थे यही कारण उन दिनों मेरी थी। शिक्षक-कार्य करते हुए अपने कार्यक्रम में निरन्तर यह न्यूनता अनुभव होती थी कि मैं पढ़ा तो रहा हूँ परन्तु लिख नहीं रहा और जब लिखने का अवसर आया तब यह सोचने लगा कि आखिर कहाँ तक लिखे जाऊँगा, शिक्षा देने का कुछ कार्य भी तो करना चाहिए। मन की यही द्विविध गति थी जो मुझे १९१८ के अन्त में गुरुकुल से खींच कर फिर दिल्ली में ले आई और शिक्षक के स्थान पर पत्रकार बना दिया।

जवाहर नगर,
दिल्ली

—इन्द्र विद्यावाचस्पति

चर्चिल की वक्तृत्व-कला

साधारणतया यह समझा जाता है कि विन्स्टन चार्चिल विश्व के महान् वक्ताओं में से एक हैं, परन्तु सत्य तो यह है कि चार्चिल अच्छा वक्ता नहीं है। चर्चिल एक महान् लेखक है। वह इस प्रकार निपुणता और सावधानी से लिखता है कि वह अपने लिखित विचारों में एक प्रकार की स्वाभाविक गति और प्रवाह को उत्पन्न कर देता है।

विन्स्टन चर्चिल से एक बार यह प्रश्न पूछा गया : "महान् वक्तृत्व-कला का क्या रहस्य है?" उसने उत्तर दिया : "फ़ाउण्टेन पेन का सख्त निब और पढ़ने के लिए अच्छी और जोरदार ऐनक।"

—डब्ल्यू. जे. ब्राउन

बहू मायका चली

(तेलुगु लोकगीत)

लोक-गीतों की प्रत्येक पंक्ति में लोक-जीवन का स्पन्दन रहता है। जन-जीवन के समस्त पक्षों के दर्शन हमें इन गीतों में होते हैं। जीवन में कौटुम्बिक सम्बन्ध विशेष महत्त्व रखते हैं। बहन-भाई, ननद-भावज, सास-बहू, देवर-भावज ये सब लोक गीतों में अपनी सामाजिक रूप-रेखा को लिए चलते हुए नज़र आते हैं।

घर में माता-पिता पुत्र-पुत्री, भाई-बहन पति-पत्नी आदि में स्नेह का रहना स्वाभाविक ही है, परन्तु इनमें कुछ लोगों का परस्पर ऐसा सम्बन्ध रहता है कि उसमें स्नेह का होना कठिन ही नहीं, अस्वाभाविक भी है। सास-बहू का सम्बन्ध ऐसा होता है कि उनमें प्रायः दुराव बना ही रहता है। और परिवार में प्रायः इन्हीं लोगों का कलह बराबर चलता भी है। इनका कलह सकारण है। सास और बहू का सम्बन्ध टेढ़ा है। सास का बहू के प्रति प्रायः व्यवहार अच्छा नहीं रहता। यह बात तेलुगु लोक-गीतों के अध्ययन से साफ़ नज़र आती है।

विवाह के बाद लड़के का स्नेह बँट जाता है। वह माता-पिता का उतना ही स्नेह और चिन्ता नहीं कर पाता, जितना विवाह के पहले करता है। माता भी देखती है कि पुत्र उससे कुछ दूर रहता है। अपने और पुत्र के बीच ऐसे व्यवधान का कारण वह वधू को ही समझती है, क्योंकि उसी के आने से पुत्र का ध्यान माँ से बहुत-कुछ हट कर उस पर हो जाता है। यही कारण होता है, जिससे सास बहू के साथ अच्छा व्यवहार नहीं कर पाती। वह अपने मन की खीझ और पुत्र के प्रति उत्पन्न क्रोध भावना बहू पर ही उतारती है।

एक बहू यों सास के व्यवहार से तंग आ कर मायके के लिए निकल पड़ती है। रास्ते में एक अपरिचित औरत मिल जाती है। चलते-चलते दोनों में बातें होती हैं। पहले वह औरत पूछती है :

"एवूरू ए पल्लि तुम्मेदा
एक्कडिकि एल्तावु तुम्मेदा ?"

"गुलकल्लपाडु गुम्मडे
गोदारि पक्कनि गुम्मडे"

वह उत्तर यों देती है :—

बहन ! गाँव मेरा गुलकल्लपाडू है, जो गोदावरी नदी के किनारे है।

"गुलकल्ल पाडू तुम्मेदा
अत्तोरु ऊरु तुम्मेदा
पुट्टिल्लु लेक तुम्मेदा ?"

"हे भौंरा ! किस गांव की हो
तुम ? जाती कहाँ हो ?"

यह तो बताओ बहन ! गुलकल्लपाडू तुम्हारा ससुराल है या मायका ?

"पुट्टिल्लु मादा गुम्मडे
गुलकल्लपाडू गुम्मडे"

मायका मेरा गुलकल्लपाडू है।

"पाडि पंटा उंदा तुम्मेदा
सन्तानमू एन्दरे तुम्मेदा ?"

तुम्हारे घर गाय भैंस होंगी। ज़मीन-जायदाद तो होगी ही। अच्छा यह तो बताओ, बाल-बच्चे कितने हैं तुम्हें ?

"पाडि पंट लेदु गुम्मडे
सन्तानमु लेदु गुम्मडे"

क्या कहूँ बहन ! हमें न ज़मीन जायदाद ही है, न बाल-बच्चे ही।

"अत्तगारु ऊँदा तुम्मेदा
आड बिड्डलु उन्नारा तुम्मेदा"
सास है तुम्हें ? भाभी है ?

"अत्तगारि पोरु गुम्मडे
आड बिड्डल पोरु गुम्मडे

पड लेक नेनु गुम्मडे
माऊरु पोतुन्ना गुम्मडे"

हैं क्यों नहीं ? सास और ननद दोनों हैं; और उनके झगड़ों से तंग आ कर ही मैं मायका को जाने के लिए तैयार हो गई हूँ।

"अत्तमीदि कापुरमु तुम्मेदा
कत्ति मीद सामु तुम्मेदा !
अत्त पेट्टिन आरव्वु तुम्मेदा
मरपुन राव तुम्मेदा !
तगिन पुरुषुडु लेडा तुम्मेदा
निन्नादरिंप तुम्मेदा ?
वलवल कन्नीरु तुम्मेदा
वद्दु रालचेंग तुम्मेदा !"

हाँ बहन ! सास के साथ रहना बहुत मुश्किल है—इतना मुश्किल कि तलवार की धार पर चलने के बराबर है। सास की तकलीफ़ें हज़ार प्रयत्न करने पर भी भुलाई नहीं जा सकतीं ! देखो बहन, जब तुम्हारी सास इतना कष्ट देती है, तो घर में आख़िर तुम्हारे पति जो हैं, तुम्हें मनाने के लिए और ख़ुश रखने के लिए ! ऐसी हालत में तुम दुख काहे को करती हो ? यों आँसू क्यों बहाने लगी ? ऐसा नहीं करना चाहिए तुम्हें। तुम घर लौट जाओ, यही मेरी सलाह है।

१३, राजाबादर स्ट्रीट,
मद्रास—१७

—डी. मंजुलता

अंग्रेज़ी तौर-तरीक़े

समस्त विश्व में इंग्लैण्ड के सिवाय अन्य कोई भी देश ऐसा नहीं है, जिसके जीवन के तरीकों को मैं इतना अधिक प्यार करता हूँ।

मैं अंग्रेज़ी-पद्धति, अंग्रेज़ी-परम्परा, अंग्रेज़ी-शिष्टाचार, अंग्रेज़ी स्थापत्य कला और यहाँ तक कि अंग्रेज़ी खाने-पकाने के तौर-तरीक़ों को सबसे अधिक पसन्द करता हूँ। मैं यौर्कशायर की मिठाई, मिश्रित पाई और सब से अधिक इंग्लिश चाय के ब्रेकफ़ास्ट और खानों को पसन्द करता हूँ।

—डिओर

छोटा-सा दुःख

दलिया का कटोरा लिए फूलवती जब कमरे में आई तो शांतिस्वरूप अख़बार पढ़ रहे थे। मेज़ पर कटोरा रख कर वे उल्टे पाँव रसोई में लौट आईं, रोटी तवे पर डाल आई थीं।

शांतिस्वरूप ने दृष्टि उठा कर मेज़ पर रक्खे कटोरे को देखा। घृणा से उनके होंठ कोनों पर से टेढ़े हो गए। एक तीखी-सी 'हुँह' के साथ उन्होंने कुर्सी थोड़ी पीछे खिसकाई और फिर अख़बार पढ़ने लगे।

सुबह पाँच बजे से तानापाई करते-करते फूलवती का जी दुःखी हो जाता था। फिरंगी की तरह नाचतीं, फिर भी किसी-न-किसी का काम रह ही जाता। लड़के नौकरी पर नहीं गए थे, तब की बात और थी। पर अब पाँच बच्चों के साथ वे अकेली बच गई थीं—घर की साज-सम्हाल के लिए! शांतिस्वरूप की पूजा के बरतन माँज-धो कर रखने से ले कर, स्कूल के समय पर रोटी तैयार करने तक, उन्हें दम मारने की फ़ुरसत न मिलती थी।

रोटियाँ सेंकते-सेंकते एकाएक उन्हें ध्यान आया कि अभी तक उन्होंने पानी के लिए आवाज़ नहीं दी। जल्दी से हाथ धो कर फिर कमरे में आईं तो देखा दलिया ज्यों का त्यों पड़ा है और शांतिस्वरूप अख़बार में सिर डाले बैठे हैं।

गीली उँगलियों को धोती की किनारी पर फेरती हुई, उन्होंने पूछा, "क्यों? खाओगे नहीं?"

अख़बार में निगाह गड़ाए मूर्तिवत् बैठे हुए शान्तिस्वरूप ने माथे पर बल डाला, जैसे फूलवती ने कोई बुरी बात पूछी हो। बोले नहीं।

"दलिया अच्छा नहीं बना क्या?" फिर प्रश्न हुआ अख़बार की ओर ही देखते हुए अत्यन्त उपेक्षा से शान्तिस्वरूप कुड़कुड़ाए, "इस तरह हमें कुछ नहीं खाना है, ले जाओ।"

"आख़िर हुआ क्या?" खीझ और झुँझलाहट को भरसक रोकने पर भी फूलवती के मुँह से निकला।

सिर को ज़ोर से झटका दे कर क्रुद्ध स्वर में शान्तिस्वरूप गरजे, "कह दिया, ले जाओ।" आँखें चढ़ा कर खड्ग-सी पैनी निगाह से पत्नी को घूरते हुए वे बुदबुदाए, बहुत ही कड़ुवाहट के साथ, "...घर के कुत्ते भी इस तरह डाल देने से चीज़ को मुँह न लगाएँ... नहीं, रहने दो। मेरा काम करने में हाथ पैर घिसते हैं तो न करो..."

आश्चर्य से फूलवती पति को देखती रह गईं। इस असत्य अभियोग का विरोध किन शब्दों में करे, समझ न पाई। संयम से बोली, "तुम्हारा काम घर के काम से अलग तो है नहीं। पैर फैला कर बैठी होऊँ, तो कहो! बच्चों के साथ ज़रा सी देर-सबेर हो जाए तो इस..."

बोले गए शब्द जैसे कानों को काट रहे हों, शान्तिस्वरूप ने अख़बार मोड़ कर मेज़ पर पटक दिया और दालान में निकल गए। आहत फूलवती, आँखों में आँसू भरे अख़बार को देखती रहीं, फिर कटोरा उठा कर भीतर चलीं आईं।

रसोई खुली पड़ी थी। आराम से बिल्ली प्याले में रक्खी मलाई साफ़ कर रही थी। उनकी आहट पा कर भागी। अंगीठी पर रक्खा तवा जल कर चिर-चिर कर रहा था। उन्होंने तवा उतार कर नीचे डाल दिया। और चौकी से निकल कर बाहर पड़ी तरकारियाँ समेटने लगीं। सिल पर आधी पीसी चटनी पड़ी थी...सुराही नल के नीचे रक्खी थी, मसालदान की सारी शीशियाँ इधर-उधर बिखरी थीं। कुछ समय के लिए सब कुछ भूल कर वे इन सारे अधूरे पूरे कामों में जुट गईं।

कोई भी खाने आए, इससे पहले वे चौके की सारी चीज़ें व्यवस्था के साथ लगा चुकी थीं। चक्की पर भेजे जाने वाले गेहूँ भी आधे फटके जा चुके थे। तभी अजय आया और भुन्ना कर बोला, "जो कमीज़ खोलता हूँ, उसी के बटन ग़ायब! धोबी कपड़े दे जाता है तो तुम मेरे कपड़े देख क्यों नहीं लेती हो, अम्माँ! अब चलो... टाँको बटन! स्कूल को देर अलग हो रही है..."

गेहूँ वैसे ही छोड़, वे सुई बटन वाला डिब्बा ले आईं और बटन लगा कर अजय को खाना परसने का इन्तज़ाम करने लगीं। पिता सुबह जल्दी खा लेते

१६५७

अभ्यस्त हैं, यह बात छोटे बड़े सब जानते थे, तभी थाली लेकर फूलवती जब भगवान् को भोग लगाने चलीं तो अजय ने शंकित होकर पूछा, "अरे! दद्दा ने नहीं लाया अभी?" "नहीं" उन्होंने कहा और बेटे की दृष्टि बरा कर दूसरी ओर देखने लगीं। जल्दी-जल्दी कौर निगलते हुए अजय बोला, "तब आज ज़रूर आफ़त आएगी।"

"अच्छा अच्छा, तू जा खा कर!" फूलवती फिर प्रसंग को टाल कर रोटियाँ बेलने लगीं।

करते-धरते, खिलाते-पिलाते उनको बहुत देर हो गई। सब खा गए थे—पर शान्तिस्वरूप नहीं आए। दीवार से पीठ टिकाए वे देर तक चूल्हे के पास बैठी रहीं, प्रतीक्षा करती रहीं कि वे खा लें, तो चौका उठा दूँ। अभी तक जिस फुर्ती से वे कामों को निपटा रही थीं, वह शिथिलता में परिणत हो गई। पति की बात रह-रह कर मन को शूल-सी चुभने लगी...ज़रा-ज़रा-सी बातों पर झिड़क देते हैं, जैसे मैं मिट्टी की मूरत होऊँ, मुझे चोट ही न लगती हो। हाथों-हाथ सारा काम लिए रहती हूँ...पर ज़रा-सी देर हो जाए, किसी का काम रह जाए...बरस पड़ते हैं...मानों मेरे जान ही न हो..." उनका मन करता, घर-गृहस्थी से एकदम हाथ समेट लें!

दुबारा जब वे कमरे में आईं तो शांतिस्वरूप, जगह-जगह फटे हुए एक बड़े-से नक़्शे को फैला कर ज़मीन पर बैठे थे। दफ़्ती, कुछ कीलें और हथौड़ी पास ही रक्खी थी। नक़्शा स्वरूपा का था—वे पहचान गईं। बच्चों की लापरवाही पर मन में रोष भी हुआ। थोड़ी देर चुप चाप खड़ी रहीं। शान्तिस्वरूप ने सिर नहीं उठाया तो भारी आवाज़ में बोलीं, "चलो, खाना तो खा लो।"

"रहने दो...दो घड़ी बैठ कर खिलाने की फ़ुरसत हो तो देना।"

"फ़ुरसत है" निर्विकार भाव से उत्तर मिला। "काम करते हो, तो यहीं ले आऊँ?"

शान्तिस्वरूप ने नक़्शा छोड़ दिया और 'ओफ़्फ़ोह' कह कर खड़े हो गए! "घर में बैठे रहना भी अखरता है मेरा तो कहो—बाहर चला जाऊँ?" फेंके हुए पत्थर की-सी तेज़ी से आकर प्रश्न फूलवती के मर्म पर लगा। "तो मैं कह क्या रही हूँ?" रुआँसी होकर बोलीं, और फिर स्वयं से बड़बड़ाईं, '...बच्चे हैं तो उन्हें कुएँ में तो ढकेल नहीं दूँगी...पर उनकी ममता पति के क्रोध की रुखाई पर व्यर्थ पड़ी! बच्चों के कमरे की ओर इंगित करके शान्तिस्वरूप चिड़चिड़ाए, "उन्हें सिर पर बैठा कर रक्खो, खिलाओ, पिलाओ, घुमाओ। उन्हें काम रहता है, तुम्हें गृहस्थी की झंझटें हैं, खाली तो मैं हूँ...पेन्शन पा कर घर पर बैठा हूँ...मेरी बात पूछने की ज़रूरत ही क्या किसी को!"

अपने अकेलेपन से ऊबे हुए शान्तिस्वरूप का तर्क बीमार बच्चे की उस आशा के समान था, जो अपने पुराने खिलौनों को इसलिए तोड़ देता है, कि वह नए खिलौनों का अधिकारी हो सके।

फूलवती जहाँ खड़ी थीं, वहीं बैठ गईं, "ज़रा ज़रा-सी बात पर इतना मैला करने लगोगे मन, तो कैसे चलेगा?" उन्होंने संगिनी की तरह सहारा देने की चेष्टा करते हुए कहा, "बच्चे तो आप बराबर के हैं...तुम्हारी तकलीफ़ों को अपनी करके जानने लगे हैं। उनकी छोटी-छोटी ग़लतियों पर गुस्सा करोगे...तो वे किसके होकर रहेंगे?"

"मैं नहीं जानता" शान्तिस्वरूप आवेश में सिर हिला कर बोले, "मुझे अपना पुराण मत सुनाओ" और उन्होंने नक़्शा रख कर उसकी नाप से दफ़्ती को काटना शुरू कर दिया।

"आखिर वे किससे कहें अपना सुख दुःख" रुँधे गले से फूलवती कहती गईं, "मैंने तो न जाने कौन-से पाप किए हैं...किसी को प्रसन्न नहीं रख सकती, चाहे..."

बात काट कर शान्तिस्वरूप तेज़ी से आज्ञा भरे स्वर में बोले, "अब इतने दिन चढ़े में नहीं खाऊँगा...तुम्हें खाना हो तो खा कर रसोई उठा दो।"

"दो कौर डाल लो मुँह में" फूलवती ने विनती की। शान्तिस्वरूप ने कोई उत्तर नहीं दिया। यह इस बात की सूचना थी कि अब वे नहीं ही खाएँगे।

"खाओ, न खाओ...तुम्हारी इच्छा।" वे रसोई में लौट आईं। चूल्हे से बाहर खींच कर लड़कियों पर पानी डाल दिया। प्यास के मारे सिर भन्ना रहा था। सुबह से मुँह में कोई चीज़ न डाली थी। पर जैसे अपने को किसी अपराध के लिए दण्डित कर रही हों, उन्होंने सुराही से निकाला पानी उसी में उलट दिया और गिलास रख कर पूजा के कमरे में चली गईं।

धोती बदल कर, 'रामायण' लेकर वे सीतलपाटी पर बैठी तो बड़ी व्यथा से मन भर आया...सोचते हैं मैं जान कर उनके कामों में ढील देती हूँ...दो पल उनके साथ दुःख सुख बाँट लेने को मेरा जी नहीं करता...पर, ये नहीं जानते कि मैं और किसी से अपने मन की बात नहीं कहती...उन्हें हर पग पर सहारा चाहिए...ठीक है, पर बच्चों को न अपनाऊँ तो कौन उनकी सुनेगा...वे तो वैसे ही उनके क्रोध से सहमे-से, डरे-से रहते हैं...।

'रामायण' में निशान के लिए, जो कागज़ लगा था, वह वहीं था; जहाँ दस दिन पहले लगा था...'रामायण' खोले वे बैठी थीं, पर छूटे हुए प्रसंग की जगह अपनी विवशता के दृश्य उनके मन में घूम रहे थे...'घर-गृहस्थी की झंझटों में पन्द्रहियों तुलसी को पानी चढ़ाना भी नसीब न हो...ऐसा कहीं होता है...और वे समझते हैं बुढ़ापे में मैं उनका हाथ छोड़कर मनमानी करना चाहती हूँ...

...किसी को सर्दी लग जाए, ज़रा-सी तबीयत बिगड़े...अपना सब कुछ भूलकर चिन्ता में पड़ जाएँगे; ...कहीं किताबें उथल-पुथल पड़ी हों...सम्हल कर रख देंगे;...गीले कपड़े सूख गए हों उठा-उठा कर भीतर रख लेंगे;...छोटी से छोटी बातों की परवाह रक्खेंगे...पर मैं एक बार भी ज़रा देर से पहुँचूँ उनके काम को, तो बच्चों की तरह जिद पकड़ लेंगे...

मन ही मन पति के व्यवहार की आलोचना करते करते वे 'रामायण' पर सिर देकर ऊँघ गईं। बड़े बेटे अभय ने उन्हें हिलाया तो चौंक कर बोलीं, "स्कूल नहीं गया क्या ?" 'रामायण' की ओर देख कर अभय मुसकराया, "और लौट भी आया !" फिर एकाएक उसका चेहरा गम्भीर हो गया, माँ को धमकाता-सा बोला, "दद्दा अभी से लेटे कैसे हैं ? कोई नई बात हुई है क्या ?"

एक और आघात के लिए हृदय कड़ा करके फूलवती झुककर रामायण बन्द करने लगीं, धीरे से कहा, "नई क्यों, पुरानी ही बात है......खाना नहीं खाया, बस !"

"बस !" होंठ टेढ़े करके अभय ने व्यंग्य किया, "कोई स्वर्गीय आनन्द मिलता होगा दद्दा को इस तरह करके ! मैं कहता हूँ अम्माँ ! नन्हीं-सी बात पर नाराज़ हो कर नई-नई मुसीबतें खड़ी करने में दद्दा क्या पा लेते हैं ?"

पति के प्रति, थोड़ी देर पहले मन में जो कड़वाहट उपजी थी, बेटे के इस एक प्रश्न ने उसे झकझोर कर रख दिया। अधिकार से फूलवती बोलीं, "तुम लोगों को तो आधी बात भी नहीं कहते वे।"

"पर क्या हम समझते नहीं !" अभय गुर्राया, "बिना बात झुँझलाते हैं ! कागज़ का नन्हा-सा टुकड़ा पड़ा हो तो चिल्लाने लगेंगे, नल से पानी गिर रहा हो तो कुड़कुड़ाएँगे, उनके काम को ज़रा-सी देर हो जाए..."

जाती-जाती फूलवती रुक गईं। दृष्टि भर कर ऊपर से नीचे तक बेटे को देखा, "वे तुम्हारे बड़े हैं...इस तरह कहते शोभा नहीं देता तुमको।"

"कहीं आग के बिना धुआँ होता है" उत्तेजना से माँ को कन्धे से पकड़ कर अभय खिसियाना-सा बोला, "वे हमें मौक़ा देते हैं, तभी हमारे मुँह खुलते हैं, हाँ!"

फूलवती को लगा...कहीं कमज़ोर जगह पर बेटे ने उसको पकड़ लिया है। एक उबाल-सा आ गया विचारों का ! मन हुआ बेटे से कहें, "हाँ यह तो है...मैं स्वयं इसी चक्र में घूमा करती हूँ..." पर अभय का हाथ झिड़कती हुई बोलीं, "हटो ! ये बन्दर घुड़कियाँ सब मेरे ही लिए हैं...उनके सामने अपने-अपने मन की क्यों नहीं कह लेते !"

"तुम्हारी ही वजह से दद्दा घर की कोई बात सोचने समझने की तकलीफ़ नहीं करते।" एकदम से परिस्थिति पर अपना निर्णय दे दिया अभय ने।

"अपना घर बसाओगे तो माँ-बाप के मन को पहचानोगे, अपने आराम को किनारे करके जितनी लगन से वे इस उमर में भी तुम लोगों की छोटी-छोटी ज़रूरतों के लिए माथा-पच्ची किया करते हैं, वह अभी नहीं समझोगे तुम !"

अभय ने अनुभव किया, बात कुछ अंशों तक ठीक है, पर "हटाओ, न तुम कभी समझोगी, न दद्दा ! पानी की धारा उल्टी-उल्टी नहीं बहेगी...नए ज़माने में तुम लोगों को भी बदलना पड़ेगा !" कह कर वह चला गया।

ठेस लगी फूलवती के अन्तर पर ! "...वे कहते हैं तो मुझी को, बच्चे कहते हैं तो मुझीं को !...और मैं...किससे कहूँ ?" इस भरे-पूरे घर में बस यहीं वे अपने को एकदम अकेला पाती थीं।

१६५७

"किसी से नहीं" जैसे मन ने उत्तर दिया..."बूँद के आगे समुद्र रोया नहीं करता।"

फूलवती के मुख पर अथक सहनशीलता की रेखाएँ खिंच आईं। उन्हें अपनी पीड़ा निजी लगी, इतनी कि वे उसकी चर्चा पति या बेटे बेटियों से भी नहीं कर सकतीं। घर की शान्ति, दोनों ओर एक अनुकूल वातावरण बनाए रखने का काम, बहुत बड़ा लगा।

नाश्ता लेकर वे आईं, तो बच्चों के साथ शान्तिस्वरूप बरामदे के खम्भों पर लगी बेलों में से सूखे पत्ते निकाल रहे थे। स्वरूपा पलंग पर बिछे बिस्तरों को ठीक कर रही थीं।

"जाओ, स्कूल से आई हो, आराम कर लो। मैं किए देती हूँ" उन्होंने ममता से कहा, और फिर पति को लक्ष्य करके जैसे अधिकार से बोलीं, "अब" नाश्ता तो कर लो।"

१७-बी., मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

—कुमारी लक्ष्मी मेहरोत्रा

राजा राममोहन राय : भारतीय पत्रकारिता का प्रवर्तक

सीरामपुर से ईसाई मिशनरियों ने एक पत्र निकाला था, जिसका नाम था : 'समाचार-दर्पण'। इस पत्र में भारतीय दर्शन और अध्यात्म की आलोचना की जाती थी। इसका प्रत्युत्तर देने के लिए राजा राममोहन राय ने एक मासिक पत्र निकाला जिसका नाम था 'ब्राह्म सेवाधि'। यह पत्र बंगाली और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होता था।

१८२१ ई. में राजा राममोहन राय ने बंगाली में एक साप्ताहिक पत्र को निकाला। इस साप्ताहिक पत्र का नाम 'संवाद कौमुदी' था। भारतीय भाषाओं में यह सब से प्रथम साप्ताहिक पत्र था। इस पत्र में धार्मिक, राजनैतिक, गृह सम्बन्धी लेख और स्थानीय समाचार प्रकाशित किए जाते थे। और इसका चन्दा २) मासिक था। इस पत्र को कलकत्ता के संस्कृत प्रेस में मुद्रित किया जाता था।

इस वर्ष राजा राममोहन राय ने एक और साप्ताहिक पत्र निकाला। इस पत्र का नाम था : 'मीरात-उल-अखबार'। 'मीरात-उल-अखबार' का अर्थ है : समाचार का दर्पण। यह पत्र फारसी भाषा में था। इसका स्टैण्डर्ड 'संवाद कौमुदी' से कुछ ऊँचा था। 'संवाद कौमुदी' प्रति शुक्रवार को और 'मीरात-उल-अखबार' प्रति मंगलवार को प्रकाशित होता था। राजा राममोहनराय के लेखों का अंग्रेज़ी अनुवाद 'कलकत्ता जनरल' में प्रकाशित किया जाता था। अप्रैल ४, १८२३ ई. को 'मीरात-उल-अखबार' का प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

—"संडे स्टैण्डर्ड" के एक लेख से

कन्नड़ के प्राचीन कवि

षडक्षर देव

शैवोपासक कवियों के द्वारा कन्नड़-साहित्य की सर्वांगीण उन्नति हुई है। इन शैव महाकवियों की जीवनी यद्यपि अप्राप्य है; फिर भी हमें जो कुछ साक्षन प्राप्त हैं, उन्हीं के द्वारा उनके बारे में हमें कुछ ज्ञात होता है।

कन्नड़-भाषा के शैवोपासक कवि अधिकतर वीर-शैव थे। इनमें श्री राघवांक तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ही। उन्हीं की कोटि में षडक्षर देव भी आते हैं।

इस कवि का जन्म 'दनगूर' नामक गाँव, कर्नाटक में हुआ था। यह मैसूर में 'मळवळ्ळी' के समीप है। यह कोळ्ळेगाल के पास आज भी अवस्थित है। इनके माता-पिता के बारे में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। पर कवि ने अपने पद्यों में अपने गुरु के सम्बन्ध में बतलाया है और उनकी वंशावली का निर्देश भी किया है। ये 'चिकवीर देशिक' नामक गुरु के शिष्य थे। इस बात को मानते हुए महाकवि षडक्षर देव ने स्वयं भी कहा है कि वे 'चिकवीर देशिक' के शिष्य थे। तथा अपनी गुरु-परम्परा का परिचय देते हुए उन्होंने कहा है कि 'चिकवीर देशिक' के गुरु 'रेवण सिद्ध देशिक' थे और वे 'दनुगूर' में मठ के स्वामी थे। (मळवळ्ळी के ७५ शासन में 'धनुगूर-स्थल' लिखा गया है) और षडक्षर देव ने अपने पद्यों में वीरशैव मत के संस्थापक श्री रेणुकाचार्य की स्तुति भी की है।

हमें इस विषय में कुछ शंका है कि ये 'चिकवीर देशिक' के शिष्य थे। तथा हम तो समझते हैं कि ये 'चिकवीर देशिक' के पुत्र ही रहे होंगे। क्योंकि षडक्षर देव ने एक पद्य में कहा है कि 'चिकवीर देशिक' के 'करकंजात सुजात'—षडक्षर देव हैं। पर बहुत-से विद्वान इसको मानते नहीं हैं। वीरशैव कवि अपने को गुरु के 'सुजात' ही मानते थे और उनकी स्तुति भी अपने आप को उनका पुत्र मान कर करते थे। उदाहरण के लिए कन्नड़ के वीरशैव कवि श्री राघवांक को वे प्रस्तुत करते हैं। राघवांक ने भी अपने गुरु की स्तुति करते हुए कहा है :

> "सुरनर उरग मुँतादक्षिमानव
> दोरेकोंडु कायद्ध चरितेया
> विरचिसिदेनु हँपेय हरिदेवना
> वरसुत राघवाँकुसुरे"

पर यहाँ षडक्षर देव ने ठीक तरह से नहीं बताया है कि 'चिकवीरदेशिक' ब्रह्मचारी थे या नहीं। इसलिए हम षडक्षर देव को 'चिकवीरदेशिक' के पुत्र ही मान सकते हैं।

षडक्षर देव मठस्थ थे। ये रेणुक क्षेत्र के पट्टाधि-कारी थे। इसको कई वीरशैव भी मानते हैं। पर वे यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि षडक्षर देव 'मळवळ्ळी' के पास वाले 'दनगूर' के मठाध्यक्ष थे। वे कहते हैं कि षडक्षर देव 'एळंदूर' के मठाध्यक्ष थे। षडक्षर देव उनके 'एळंदूर षडक्षरार्थ' वे नाम से प्रसिद्ध थे। इसको प्रस्तुत करते हुए कन्नड़ के विद्वान् श्री करिबसव शास्त्री जी ने कहा है कि, उन दिनों 'हदिनाड' नाम का एक देश था। उसका राजा 'मुद्दुराज' था। उसकी पत्नी 'एळंदूर' गांव की थी। इसलिए राजा ने अपने गुरु षडक्षर देव के लिए वहाँ एक मठ बनवाया था। वहीं रह कर षडक्षर-देव ने अपने ग्रन्थों की रचना की।

ये कवि सन् १६५५ में जीवित थे। इनका पहला काव्य 'राजशेखर विलास' है। इसको इन्होंने सन् १६५५ में समाप्त किया। तब ये युवक थे। इसको बताते हुए उन्होंने स्वयं लिखा भी है कि :

> "एळे वरेयदोळ खिळ कळा विळासमम्
> कंडुमच्चि बरे कविता को—
> मळे भवळ्गेर्दे चित्तुम् यति
> तिळकं नीनेनिपु दिळेगिदुच्चरियलूते !!"

मैं नवयुवक हूँ और सभी कला-विलासों में निष्णात हो कर इस काव्य को लिख रहा हूँ। आशा है कि रसिकों के मन को ज़रूर पसन्द आएगा।

'राजशेखर विळास' एक शृंगार-रस पूर्ण काव्य

१६५७

है। पहले-पहल तमिल भाषा में 'सत्येंद्र चोळ' राजा की कथा को 'पिळ्ळै नानर' लोगों ने लिखा। फिर उसी कथा को गुब्बी के एक कवि 'मल्लणार्थ' ने सन् १५१३ में कन्नड़ में लिखा। वह 'भाव चिन्ता रत्न' नाम से प्रसिद्ध था। उसी को लेकर षडक्षर देव ने काव्य का रूप दिया। इस बात को षडक्षर ने एक पद्य में कहा है और उस कवि के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

तमिल भाषा की कथा को ही इन्होंने कुछ हेर-फेर के साथ कहा है। इतना ही नहीं, श्रृंगार के सभी वर्णन इन्होंने कुशलता पूर्वक किए हैं।

इसके बाद का इनका ग्रन्थ—'वृषभेंद्र विजय' है। यह एक बड़ा काव्य है। आन्ध्र भाषा के काव्य 'अभ्युदय बसव पुराण' की कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। उसी के आधार पर मनोरम उक्तियों की सहायता से इस ग्रन्थ की उन्होंने रचना की है। इस ग्रन्थ में कन्नड़ के तद्भव शब्द अधिक पाए जाते हैं।

इन्होंने एक संस्कृत महाकाव्य को भी रचा है। उसका नाम है 'कवि कर्ण रसायन'। इसमें चोळदेश की राजधानी करिपुर के राजा की कथा को लिखा गया है। इस काव्य की 'वेंगन सुधी' नामक पंडित ने टीका लिखी है। वह 'साहित्य सुधोदय' नाम से प्रसिद्ध है। उसका एक उदाहरण देखिए :

"निखिल कला-कलाप विज्ञान समधिगत नैपुणी समेधित बहुविध मधुर कविता विशारदः, शारद सुधाकर चन्द्रिका विनिर्मल चित्तः, चित्तजारतिकृपामृतरस सेचन परिहृतसंसृति जनित संतापः, तापजनमान्यपुण्यचरित्रः, सकलसुधी समूहश्लाघनीयसरससद्वचोविस्तार विन्यास विलास चातुरीधुरीणः, कोविदः, महाकविः षडक्षर देव नामा।"

इसके अलावा और भी इनके काव्य आदि प्राप्त होते हैं। षडक्षर देव के स्तोत्र-पद वीरशैवों में प्रसिद्ध हैं। पर उनमें कई अन्य कवियों की कविता में इस प्रकार मिल गए हैं कि उनको पहचानना बहुत मुश्किल है।

'राजशेखर विळास' ही इस कवि का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो कि जन-साधारण में अत्यन्त प्रचलित है। इसमें श्रृंगार-रस का आधिक्य है पर सभ्यता की सीमा से बँधा हुआ है। इस काव्य को इसने सन् १६५५ में समाप्त किया। इस बात को बताते हुए उन्होंने लिखा है :

"सुरुचिर शालीवाहन शकान्वित रत्न
समुद्र बाण भू—
परिगणनाँक बँधुर जयाब्दद
माघद शुक्ल पक्ष कि
स्फुरित तृतीयेयलिल
बुधवारदोळी कृति पूर्णमायतु"

शालीवाहन शक १५७६ (सन् १६५५) को (जयानम संवत्सर, बुधवार, माघमास, शुक्ल पक्ष) मैंने इस ग्रन्थ को समाप्त किया। यहाँ 'रत्न समुद्र बाण भू' के बारे में कुछ शंका है। रत्न का मतलब कई विद्वान् नव से लगाते हैं और समुद्र को चार से लगाते हैं। ऐसा होने पर (उनके मतानुसार) इस कृति की समाप्ति शालीवाह शक १५४६ ठहरती है। पर यह असंगत है। क्योंकि १५४६ शालीवाह में जय संवत्सर पड़ता ही नहीं। तब ऊपर के पद्य में कवि ने जो 'जयाब्दद' लिखा है, वह गलत ठहरता है। इसलिए, यहाँ रत्न को छः समझना चाहिए। क्योंकि छः का पर्यायवाची शब्द कवि कल्पलता में 'वज्रकोण' है, तथापि रत्न भी मणि विशेष है, इसलिए उसको छः समझना उचित होगा। समुद्र सात संख्या का पर्यायवाची है। इसलिए रत्न=६, समुद्र=७, बाण=५, भू=१ १५७६ शालीवाह अर्थात् सन् १६५५ होता है और तभी हमें ठीक संवत् मिल सकेगा।

इस कवि की मृत्यु के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। इसका समस्त जीवनकाल संपूर्णतया, एळंदूर में ही बीता और ये वहाँ के मठ के अध्यक्ष थे। इनका काव्य कन्नड़ में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। कन्नड़-भाषा साहित्य में इनकी कृतियों का विशेष महत्व है। ये कन्नड़ के उच्च कवियों की श्रेणी में गिने जाते हैं।

शिवभक्त होने पर भी, इनमें जातीय समन्वयता थी। वैष्णवों को भी इन्होंने मान्यता दी है। उदाहरण के लिए इनके काव्य 'राजशेखर विलास' का प्रथम पद्य लीजिए। उसका चमत्कारिक अर्थ देखिए :—

"श्री शैलादिप्रसिद्धं सुरुचिर
विजयस्तुत्यनुद्रिक्तसत्वा—
वे शम् कल्याण भू भृत्सदन
दनदमित्रम् धराधारधर्मम्
वैशद्यद्योति चन्द्रोपलसित

भसितानन्त कान्तोत्तमांगम्
श्री शैवश्रेयमम् माळ्केमगनवरतम्
नंदि केशम् महेशम् ॥''

इसके तीन रीति से अर्थ बतलाए जाते हैं। कई लोग तो इस नव रीति अर्थ लगाते हैं। हम यहाँ जो स्वीकृत अर्थ है, उसको लिखते हैं।

१ परमशिव से संबंधित अर्थ : श्री शैलाद्रि प्रसिद्धम्=श्री शैलाद्रि पुण्यक्षेत्रों में प्रसिद्ध; अर्जुन से स्तुत्य, अधिकतम सत्व गुणों से युक्त, कल्याण भूमृत्सदन कल्याण का मतलब सोने से और भूमृत्सदन=मेरु पर्वत—याने, हेममय मेरु पर्वत ही जिनका आवास स्थान है; धनदमित्रम्=कुबेर का मित्र, धराधार हैं, धर्म ही धनुष है; वैशद्द्योति=शुभ्रम् कान्ति से; कान्तियुक्त चन्द्रमा से सुशोभित एवं विभूतिधारी; अनन्त कांतोत्तमाँगम्=अनन्त काँता का मतलब गंगाजी हैं; उनको उत्तमांगम्=शिर में धारण करने वाले; नदिकेशम्=नंदी के देव, महेशम्=ईश्वर; श्री शैव श्रेयम्=शिव के संबन्धित यश को, डामगे=हमें, माळके=दें। प्रदान करें।

यह शिव संबन्धित अर्थ है।

अब हम इसी का विष्णु से अर्थ लगाएँगे।

''श्रीश=लक्ष्मी के पति, डोल=भूलोक, आदि=इत्यादि; सुरुचिर विजय=अर्जुन या जयविजयों से; स्तुत्य; कुबेर के मित्र; वैशद्य...उत्तमांगम्=वैशद्योति चन्द्रोपल, सित=शुभ्र, भ=नक्षत्रों के जैसे, सित=श्वेत, अनन्त=आदि शेष पर, कान्त=कान्तिमान् उत्तमांगम्=भव्य पुरुष; नंदिकेशम्=नंदि का=एकादशी तिथि के ईश, महेशम्=ब्रह्मादि देवताओं के स्वामि, श्री शैवश्रेयम्=शुभ प्रद यश; हमें, हमेशा दें।''

ऊपर की पंक्तियों से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि षडक्षर देव ने शैव और वैष्णव धर्म के समन्वय का प्रयत्न किया।

तुलसी विहार,
त्यागराज नगर,
बैंगलूर—४

—एन. रंगनाथ 'कुमुदप्रिय'

घरेलू उद्योग

प्रतिदिन के बढ़ते हुए व्यय का मुकाबला करने के लिए मेरी पत्नी और मैं आपस में ''हिस्सेदार'' बन गए हैं। हम दोनों थोड़ी-सी खेती करते हैं, जिससे हमें आवश्यक शाक-भाजी और फूल प्राप्त हो जाते हैं; हम आसव और मद्य तैयार कर लेते हैं; पीने के लिए तमाखू भी हम अपने खेत में उत्पन्न कर लेते हैं। और ग्रीष्म और शरत् में मदिराएँ बना लेते हैं। अवशिष्ट समय के कार्य हमें स्वस्थ, प्रसन्न और चुस्त रखता है।

तीन या चार वर्षों से कई चित्र हमारा अनुकरण कर रहे हैं और उन्हें भी हमारे समान सफलता प्राप्त हुई है।

''इलस्ट्रेटेड'' पत्र से

—एफ़. ई. मोरे

कला-चर्चा

सच्ची कला-कृति

किसी ने कहा है, 'जो व्यक्ति केवल बाहुओं से श्रम करता है—वह मज़दूर है। जो हाथ और मस्तिष्क दोनों से काम लेता है—वह कारीगर है। और जो हाथ मस्तिष्क और हृदय तीनों की सम्मिलित शक्ति से कार्य करता है—वह कलाकार है।'

कलाकार की यह परिभाषा कितनी सच्ची और गहरी है। इस परिभाषा के साथ यदि हम कला का स्वरूप निश्चित करें तो सच्ची कला-कृति वही होगी, जिसमें हाथों का श्रम, मस्तिष्क का विवेक और हृदय की संवेदना एक साथ निहित हो। दूसरे अर्थ में जो जीवन के 'सत्य' रूप से संपादित, 'शिव' रूप से परिष्कृत तथा 'सुन्दर' रूप से अलंकृत हो।

प्रकृति-निरीक्षण में मानव ने सदा ही एक अनिर्वचनीय सुख का अनुभव किया है। क्यों? इसलिए कि वह सबसे बड़े कलाकार की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है। केवल इसलिए नहीं कि उसके नयनाभिराम दृश्यों में उसे दृष्टि-विलास की सुखानुभूति होती है किन्तु इसलिए भी कि वह अपने मानवीय भावों की प्रकृति के कण-कण में आरोपित कर, उस के प्रतिबिम्ब में अपने जीवन का तादात्म्य अनुभव करता है। और इस प्रकार उससे उसका एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस रागात्मक सम्बन्ध के कारण ही उसे एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

किन्तु इतने पर भी इस कलाकृति की सर्वश्रेष्ठता अथवा पूर्णता का औचित्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि प्रकृति का सम्बन्ध जितना मानव के अन्तर्जगत् से है, बाह्य जगत् से उससे भी कहीं अधिक है। सम्पूर्ण मानव-जीवन प्रकृति पर ही अवलम्बित है। उसके प्रत्येक उपादान में जीवन की उपादेयता निहित है और यही इस कलाकृति की पूर्णता का रहस्य है।

प्रकृति का यह स्वाभाविक गुण तथा नियम उसके छोटे-से-छोटे उपादान में भी एकरस से व्याप्त है। कुम्हार मिट्टी का बर्तन बनाता है। जहाँ तक इस बर्तन की उपयोगिता का प्रश्न है, यह आवश्यक नहीं कि वह किसी कुशल कारीगर द्वारा ही निर्मित हो। कोई भी व्यक्ति साधारण मिट्टी लेकर कैसी भी आकृति का एक ऐसा पात्र तैयार कर लेगा जिसे हम पानी रखने या पीने के काम में ला सकेंगे। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि किसी वस्तु की अनिवार्यता तथा उसकी पूर्ति मात्र से मानव कभी सन्तुष्ट नहीं हुआ।

'जीवन जीना है, जिन्दा रहने के लिए'—यह एक सत्य हो सकता है किन्तु नीरस और कठोर। मानव इस कठोरता को सरल बनाता है, अपने विवेक द्वारा उसमें सुरुचि उत्पन्न करके। इसलिए मस्तिष्क से विवेक को बुला कर कुम्हार ने उस पात्र को सुरुचिपूर्ण आकृति में ढाला। कुशल हस्तसंचालन ने एक सुघड़ पात्र का निर्माण किया। जीवन की उपयोगिता सिद्ध हुई। सत्य ने कुशलता प्राप्त कर शिव का रूप धारण किया। कठोर सरल बना; किन्तु नीरसता बनी रह गई। इसलिए मानव अभी भी असंतुष्ट था। वह इस उपयोगिता तथा सुघड़ता में अभी अलौकिकता को, जीवन की सार्थकता को भी ढूँढ रहा था।

कुम्हार ने उस पात्र को फिर उठाया। उसने मस्तिष्क से प्रश्न किया। बुद्धि से तर्क किया पर कहीं कोई कमी न दिखाई दी। उसने फिर-फिर सोचा, झुँझलाया और अन्त में अपनी हार पर निराश होकर उसने पात्र को रख दिया।

निराशा से वेदना की उत्पत्ति हुई और वेदना से हृदय को आघात पहुँचना स्वाभाविक था। हृदय को आघात लगा कि कल्पना-भावना, संवेदना और फिर प्रकाश—अगणित दीपों-जैसा प्रकाश लिए कला का आगमन। कुम्हार के भीतर का कारीगर मुस्कुराया। हृदय में गति बँधी और अंगों में स्फूर्ति। उल्लास मानों उसके अंग-अंग से फूट रहा था—अब कारीगर, कला-

कार जो बनने जा रहा था ।

संतुष्टि अथवा तृप्ति का सम्बन्ध मन से होता है किन्तु मन की सम्पूर्ण लगन भी केवल श्रम और विवेक को साथ लेकर अपने लक्ष्य की खोज में सफल नहीं हो सकती । तृप्ति यदि लक्ष्य है तो अलौकिकता या विलक्षणता की खोज भी अनिवार्य ही है और इस अलौकिकता को खोज निकालने के लिए हृदय की संवेदना चाहिए ।

अभी तक के अपने कार्य में कुम्हार के कारीगर को अपने निर्माण की उपयोगिता और उसके परिष्कृत स्वरूप पर अभिमान था । पर अभिमान में संतुष्टि कहाँ ? अतृप्ति ने उसके हृदय को झकझोर दिया । मन की लगन ने हृदय की संवेदना को खोज निकाला और अब वह एक रहस्य जान गया था—सौन्दर्य का, अलौकिकता का रहस्य । इस सुखद अन्तःप्रेरणा के स्पन्दन में उसके हृदय का रक्त एक नवीन गति से संचालित होने लगा । वह फिर मुस्कुराया—मुखाकृति की भावभंगियों में पूर्व-कारीगर और वर्तमान कलाकार की मुस्कराहट का अन्तर सूक्ष्म होकर भी स्पष्ट परिलक्षित था—उसने एक अजीब उन्माद में झूम-झूम कर अपने उस पात्र को फिर उठाया और रंगों और तूलिका से उसे चित्रित करने लगा । एक अलौकिक संगीत की गूँज वायुमण्डल में व्याप्त हो गई । संसार उसके लिए रंगीन हो उठा । कलाकृति पूर्ण हुई । जीवन को सार्थकता और गति मिली ।

इस प्रकार किसी वस्तु की उपयोगिता जीवन की अनिवार्य अपेक्षा है । उसका सुरुचिपूर्ण संकलन उसका मूल्यांकन है तथा उसकी विलक्षणता उसका आकर्षण है जो मानवीय भावों तथा आवेगों को आकर्षित कर उन्हें तृप्ति प्रदान करता है । भावोद्रेक की इस चरम सीमा पर आ कर ही कला का निखार अपने सुन्दरतम रूप में परिलक्षित होता है ।

किन्तु कभी-कभी कला के इस चरमोत्कर्ष पर तर्क और बुद्धि का अंश न्यूनतम तथा संवेदनापूर्ण आवेगों की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि कला के पतन की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है । अतः कला, कला के लिए ही न रह जाए—इसके लिए आवेगों की कार्य-शीलता अनिवार्य है जो कला के तीनों रूपों में सामंजस्य उत्पन्न कर उसे पूर्णता प्रदान करती है ।

यों विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि कलाकार द्वारा 'जीवन का सम्पूर्ण अध्ययन' ही उसकी कला है तथा 'अनुभूति का सुन्दरतम परिष्कृत मूर्त रूप' ही उसकी ''सच्ची कला-कृति'' है ।

—आशारानी व्होरा

(२)

पिकासो

पिकासो स्पेन का रहने वाला है और उसे स्पेनिअर्ड होने का अभिमान है । इस समय उसकी आयु ७५ वर्ष की है । वह कला के संसार की एक जीवित कहानी बन गया है । वह अपने मकान की घास पर अपनी प्रिय बकरी के साथ चक्कर लगाता रहता है। अपने जीवनकाल में किसी भी कलाकार को इतनी व्यापक ख्याति विश्व में प्राप्त नहीं हुई है, जितनी कि पिकासो को प्राप्त है । पिकासो का नाम आधुनिक कला का एक पर्यायवाची शब्द बन गया है । विश्व के प्रत्येक महान नगर में उसकी कला-कृतियों की चर्चा होती है। यदि पिकासो के किसी मित्र को रुपये की आवश्यकता हो तो वह किसी कैफ़े में भोजन के मेनू के पिछले भाग पर कुछ लाइनों से एक स्केच बना देता है और उस पर अपने हस्ताक्षर कर देता है और वह बिक जाता है। पिकासो को क्यूबिस्ट काल के चित्रों से १००,००० डालर और अभी के बनाए तैल-चित्रों से ३५,००० डालर प्राप्त हो चुके हैं।

पिकासो की ७५-वीं वर्ष-गाँठ को मनाने के लिए मैनहैट्टन के आधुनिक कला संग्रहालय में पिकासो की कला-कृतियों का संग्रह किया गया है । तीन फ़र्शों पर पिकासो के ३२८ चित्र, मूर्तियाँ और आलेख्य हैं । पिकासो अपने चित्रों पर उस समय तक हस्ताक्षर नहीं करता, जब तक कि वे बिक नहीं जाते । पिकासो के चित्रों को देखने से इस बात का पता चलता है कि यदि उसे अपनी कला में कहीं असफलता भी हुई है तो भी उसके प्रत्येक चित्र में एक प्रकार की दर्शनीयता और आविष्कार है । उसके प्रत्येक चित्र पर उसके व्यक्तित्व की छाप है । इस महान् और कुशल चित्रकार ने यदि अपना गुरुत्व अपने कुछ ही चित्रों में प्रदर्शित किया है तो उसका कारण यह है कि वह बहुत-ही कम किसी चित्र को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए समय प्रदान करता है । उसकी असफलताएँ भी महान् और अविस्मरणीय हैं ।

चिट्ठी-पत्री

(१)

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

मुझे जनवरी १६५७ का 'अजन्ता' अंक प्राप्त हुआ। पृष्ठ संख्या ६३ पर अपने एक लेख "होबर की कलाकृति" का अनुवाद देखा। इसकी प्रत्येक पंक्ति को मैंने बड़े ही ध्यान पूर्वक पढ़ा, अनुवाद अत्यधिक पसन्द आया। अनुवादक श्री प्रेमकिशोर ने इसका हिन्दी में अनुवाद करके उर्दू, फ़ारसी तथा अरबी की अपनी योग्यता का पूर्णतया परिचय दिया है।

इस सम्बन्ध में मैं श्री सम्पादक 'अजन्ता' तथा अनुवादक महोदय का अत्यन्त आभारी एवं ऋणी हूँ।

गवलपिण्डी,
(पाकिस्तान)

—समाली अलपाकी

(२)

अचानक 'अजन्ता' के मार्च अंक पर दृष्टि पड़ी। स्तर देख कर आश्चर्य चकित-सी रह गई। श्री कृष्णकुमार असावा का लेख "भारतीय मूर्ति-कला में लाक्षणिकता" वस्तुतः 'अजन्ता' के लिए गौरव की वस्तु है। अभी-अभी मैंने एक अंग्रेज़ी पत्रिका में उनका एक लेख "प्राचीन भारतीय साहित्य में सेक्स भाव" पढ़ा था। उस लेख में और 'अजन्ता' में प्रकाशित इस लेख में मुझे पूर्व और पश्चिम का पूर्ण अन्तर दृष्टिगत हुआ। उसमें वे भारतीय साहित्य-प्रणाली के कटु आलोचक हैं और इसमें भारतीय शिल्प-प्रणाली के समर्थक। जो भी हो उन्होंने एक उपेक्षित विषय को बहुत ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी में ऐसे निबन्ध अधिक नहीं लिखे गए हैं। जो लोग भारतीय मूर्तिकला में निहित सौन्दर्य को नहीं समझ पाते, उन्हें यह लेख अवश्य पढ़ना चाहिए, इस लेख को पढ़ने से वे भारतीय मूर्तिकला के महत्व को समझ सकेंगे।

लेख बहुत सुन्दर ढंग से लिखा गया है परन्तु सरल भाषा का उपयोग कर इस जटिल विषय को और भी सुगम बनाया जा सकता है। अंग्रेज़ी में कृष्णकुमार जी के अनेक लेख पढ़ चुकी हूँ। आशा करती हूँ, उन सभी लेखों को 'अजन्ता' के पृष्ठों पर देख सकूँगी।

अन्य सामग्री भी अच्छी है। एकांकि "सम्पादक का कमरा" आकर्षक है।

जबलपुर

—डा. सुमनलता

(३)

सौन्दर्य आदिम अनुभूति : अधुना : एक चुनौती

'अजन्ता' के मार्च के अंक में "सौन्दर्य आदिम अनुभूति : अधुना" जैसी पानीदार रचना प्रकाशित करने के लिए धन्यवाद। प्रतीक, ध्वनि एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण यह रचना किसी भी प्रगतिशील साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है। १६ वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी काव्य की रूमानी धारा के साथ-साथ जर्मन कवि गेटे, महाकवि कालिदास, रवीन्द्र एवं जयदेव की भाव-प्रवणता को आत्मसात् करने वाली यह रचना अपनी ज्वलंत मौलिकता के साथ, बाज़ारू भाषा तद्वत् संकेतमयता एवं घासलेटी भावभंगी वाले साहित्यिक महारथियों के लिए दिशा संकेत है। प्रगतिशील साहित्य की वस्तुभूमि को तर्क द्वारा खोखली सिद्ध करने वाले आलोचकों को भी सोचने, समझने को बाध्य करती है। पिछले दस वर्षों में प्रतीकों का इतना वैभवशाली रूप कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। सौन्दर्यानुभूति का तारल्य, सारल्य और द्राक्ष्य तीनों एक साथ कीट्स की निम्न उक्ति सत्य करते-से लगते हैं :

"Beauty is truth : Truth beauty"

नरेश मेहता की 'समय देवता' कुछ अंशों में देखी जा सकती है पर उसमें सौन्दर्य का यह रूप कहाँ—'जो आदिम अनुभूति में' है :

"बकुलों की यह श्वेत पाँत लख
संगमर्मरी उघरे वक्षस्थल पर—
सहज लाज का कुंचित-वल्कल-अंचल"

पंक्तियाँ कितनी मासूम हैं—जर्मन साहित्य की ध्वनि और संस्कृत की पारस्परिक पृष्ठभूमि पर—उघरा होने पर भी सौन्दर्य तराश के शब्दों में जादू है। इसमें कितनी जिन्दगी, ताजगी और फरफराती हुई ध्वन्यात्मकता है। Image का यह एक ही रूप राकेश की Abso-cute Creative fantasy और Abstract poetic talent की प्राणवत्ता का अनुपम उदाहरण है।

"अलिकुल संकुल मंजुल केशी
पृथुल नितम्बा परिमल बहुला"

नारी सौन्दर्य का ब्राउनिंग (Browning) के Dramatic Monologue की शैली में अनुपम चित्रण है। यहाँ निसर्गतः कालिदास के 'इयमधिकमनोज्ञा' की स्मृति हो उठती है :

"यहाँ परुष्णी के पुलिन-जघन पर
सूर्यदेव भी श्लथ होकर—
कभी सो गए
× × ×
तभी द्वार पर बछड़ा हाँफा, कुक्कुट किलका
बाँह पसारे तुमने पूछा तन्द्रिल वाणी में :
प्रत्यूष हो गया ? ऊँऽऽ ऊँऽऽ अंगड़ाई टूटी
नहीं, नहीं री शुक्र अभी ही उदित हुआ है !
फिर निदिया में पलकें डूबीं !!"

पंक्तियों में स्वस्थ मांसल प्रणय की अनुभूति का सिन्दूरी चित्रण है। कुक्कुट किलका की जगह मुर्गा और बाँग का नया प्रचलित प्रयोग भी हो सकता था पर वह कितना अपरूप हो जाता—यह राकेश की शाब्दी व्यञ्जना और अभिधा की पैनी शक्ति ही बताती है।

"वह गुञ्जा का ग्रेवेयक गोरे उभार पर
दोलित होकर कितना सुन्दर लगता था ?
× × ×
यौवन-मणि की रक्षा में तक्षक लहराता है"

गुञ्जा का मुख काला होता है और तक्षक का भी कुछ ऐसा ही—फिर यौवन-मणि की रक्षा...इतना मार्मिक उक्ति गाम्भीर्य भाषा के इन्द्रधनुषी कलेवर में बरबस ही मोहक लगता है। नारी का वीर प्रसविनी रूप—

"धनुर्वेद में पारंगत है वह
महा अथर्वण ऋचीक की विद्या उसके रग-रग में है
चापमान की धन्वा का टंकार तुम्हें अब भी
पत्थर की पसली-पसली में गूँजता मिलेगा।
मैं तत्सुवंश की नारी हूँ
दिवोदास का दर्प हमारी रन्ध्रों में है"

इतनी उत्कृष्टतम परिचयोक्ति निश्छल और स्वाभाविक होने के साथ ही साथ हृदयग्राही भी है। शब्दों के अत्यन्त ही सुन्दर नए प्रयोग प्रथम दृष्टि में ही प्रभावोत्पादक लगते हैं। शायद 'मौल श्री मूले' और 'नाति दूरे' कह कर कवि ने संस्कृत की दिव्य ध्वन्यात्मकता को भी विजित कर लिया है। हिन्दी-साहित्य के कठमुल्ला पन्थी आचार्यों की भाषा में जो बाज़ारू लोच है, वहाँ राकेश के Literary Fervour में 'क्षणे क्षणे यन्न-वतामुपैति' को सार्थक करता है। आश्रम पालिता नारी का चित्रण शकुन्तला की प्रतिमूर्ति लगता है। अधुना में वर्तमान राजनीति की नैतिकता पर कितनी भारी चोट है—

"पालिशदार मक्खन लगे टोस्ट सी बातें
× × ×
बीसवीं शती है यह, मुख में राम बगल में छुरी"

ट्राम में बैठी हुई आधुनिका शकुन्तला पर कितना विद्रूप है, दुष्यन्त भी तो घुटे ही है—इसी से तो :

"मन के पन्ने पतले सिगरेटी काग़ज़ से फड़क रहे हैं
संयम की फ़ाइल ढीली है"

Harmony का इतना निखरा रूप एवं Con-tents का इतना विस्तार हिन्दी-कवियों के लिए ईर्ष्या का विषय है। आधुनिका शकुन्तला लिप स्टिक एवं पाउडर की उपासिका है। थोथे सौन्दर्य के उपमानों में कृत्रिम सौन्दर्य का सृजन कितना ओछा लगता है—यह तो नहीं बता सकते हैं, जिनका विश्वास है कि :

"पर जाने दो मनहर तो मनहर है !!"

वर्तमान साहित्य की किसी भी काव्यधारा से इस अद्वितीय रचना की तुलना की जा सकती है। घासलेटी साहित्य सर्जकों की आँख खोलने वाली प्रस्तुत रचना का

प्रकाशन 'अजन्ता' का गौरव है : साथ ही विभिन्न पत्रिकाओं के लिए ईर्ष्या का विषय भी !

ग्राम डाक-छाता,
जिला बलिया (यू. पी.) —रामनाथ शर्मा 'परिमल'

(४)

'अजन्ता' के सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व पत्र-संचालकों और लेखकों के बीच के बढ़ते हुए वैमनस्य की बात अधिकतया सामने आती है। यह बात सरकारी पत्रों पर अधिकतया सामने आती है। यह बात सरकारी पत्रों पर उससे कुछ कम और दूसरे पत्रों पर गौणतया लागू होती है। यद्यपि सरकार की ओर से संचालित होने वाले पत्र कम हैं, तथापि उनके द्वारा भेद-भाव, पक्ष-पात और अपनों की सेवा करने का जितना निरंकुश स्वेच्छाचार दिखाई दे रहा है, वह सरे-आम विदित है। ठीक यही प्रवृत्ति आकाशवाणी के अधिकांश केन्द्रों पर भी लागू होती है, विशिष्ट श्रेणी के कुछ अधिकारसंपन्न पर प्रभावशाली लोगों की सेवा के इस क्रम में कोई व्यवधान नहीं दिखाई दे रहा है।

सामान्यतया सभी संपादकों का नई पौध के अधिकांश लेखकों के प्रति जो नीतिपूर्ण रवैया अख़्तियार हो रहा है, उससे हिन्दी की पत्रकारिता का मंगल होना कठिन है। कुछ पत्रों में इतनी चोर-बाज़ारी चल रही है कि चुपके से रचना प्रकाशित कर वे लेखक को सूचना तक नहीं देते, उसके पारिश्रमिक देने की बात तो बहुत दूर है। और भी बहुत-सी बातें प्रमाण रूप में मेरे पास हैं।

'अजन्ता' के सम्बन्ध में कुछ लिखने से पूर्व या उसकी कीर्ति-गान करने की अपेक्षा उसके संचालकों, संपादकों एवं व्यवस्थापकों से मैं यही निवेदन करूँगा कि दक्षिण भारत में हिन्दी की भरसक सेवा करने वाली हिन्दी प्रचार सभा की यह पत्रिका स्वयं को निर्दोष रखने की दिशा में यत्नशील रहे। अपने लेखकों के प्रति सौजन्यपूर्ण व्यवहार बनाए रखने से ही वह हिन्दी की बड़ी-भारी सेवा कर सकेगी।

'अजन्ता' को प्रकाशित हुए यह दसवां वर्ष चल रहा है। उसकी फ़ाइलों को देख कर सहज ही मैं यह सिद्ध हो जाता है कि उसके द्वारा हिन्दी के पाठकों को बहुत कुछ मौलिक एवं सामयिक सामग्री देखने को मिलती रही है; साथ ही उसके द्वारा सभी कोटि के लेखक सम्मानित एवं प्रोत्साहित होते रहे हैं। एक अहिन्दी प्रधान क्षेत्र में इतने लम्बे समय से अपनी स्थिति को क़ायम रख कर उसने अपने अस्तित्व की बात को स्वयं प्रकट कर दिया है।

किन्तु, इधर उसके शिल्प-सज्जा में काफ़ी परिष्कार हो जाने के बावजूद भी उसका स्तर कुछ गिर गया है। अच्छी रचनाएँ उसमें कम ही देखने को मिल पाती है। 'अजन्ता' के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि किसी विषय को लेकर समय-समय पर उसके विशेषांक पाठकों को मिलने चाहिए। मेरा अनुमान है कि 'अजन्ता' का अभी तक कोई भी विशेषांक नहीं निकला है। विशेषांकों को निकालने से पत्रों की उपयोगिता बढ़ती है, पाठकों को किसी एक विषय पर सांगोपांग सामग्री एक साथ देखने को मिल जाती है और सबसे बड़ी बात यह कि साहित्य के लिए उसका मौलिक महत्त्व हो जाता है।

'अजन्ता' इधर कुछ विलम्ब से प्रकाशित हो रही है। इस कमी को यथाशीघ्र दूर किया जाना चाहिए। उसका अप्रैल अंक मेरे सामने है। श्री हंसराज 'रहबर' की 'पंचतन्त्र' सम्बन्धी रचना अंक की सर्वश्रेष्ठ रचना है; लम्बी हो जाने पर भी वह अरुचिकर नहीं। डॉ० गोवर्द्धन भट्ट के लेख में सरल भाषा, छोटे वाक्यों और बोधगम्य उदाहरणों द्वारा कुमारिल स्वामी के दर्शनिक सिद्धान्त का अच्छा विश्लेषण किया गया है। श्री तिवारी जी की रचना और भी गवेषणात्मक होनी चाहिए थी। कवीन्द्र रवीन्द्र की उपन्यास कृतियों के अध्ययन के लिए मजूमदार जी का परिचयात्मक लेख सहायक हो सकता है। और देवेन्द्र इस्सर ने अपने लघु लेख में पाश्चात्य जगत् की दो प्रधानतम साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचय दिया है।

कविताओं में भी विश्वदेव शर्मा, श्री रमेन्द्रनाथ श्रीवास्तव और श्री नन्दकिशोर राय की रचनाएँ अच्छी है। श्री प्रीतम सिंह पंछी की लघु कहानी अच्छी बन पड़ी है। उसका शिल्प-विधान और उद्देश्य दोनों अच्छे हैं। इसके विपरीत श्री हाशिमा शाहीन की कहानी बिल्कुल ही निम्न श्रेणी की है।

अधीक्षक,
सूचना मंत्रालय कार्यालय, **—वाचस्पति गैरोला**
उ० प्र० सचिवालय, लखनऊ

(५)

हिन्दी की मासिक पत्रिकाएँ

गत वर्ष हमने यह निश्चय किया कि हमारे वाचनालय के लिए अधिकाधिक संख्या में विश्व की उत्तमोत्तम पत्रिकाएँ मँगाई जाएँ। इस एक वर्ष में मुझे तो कटु अनुभव हुए, उनके सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। मेरा अनुरोध है कि आप मेरी बात पर ग़ौर करें और इस दिशा में ठोस क़दम उठाने का प्रयास करें, क्योंकि यह समस्या हमारी ही नहीं आप की भी है; क्योंकि यह हिन्दी-पत्रकारिता और स्वयं हिन्दी के सम्मान का प्रश्न है।

जड़ की बात यह है कि इंग्लैण्ड, अमरीका, फ्रान्स; जर्मनी, बेल्जियम, इटली, चीन, ऑस्ट्रेलिया, तथा स्वयं भारत की हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तमिल की जिन पत्रिकाओं से हमारा सम्पर्क आया उनमें हमने धोखा खाया सिर्फ़ अपने ही हिन्दी वालों से। कई ने पैसे ले लिए और इसके बाद अपने अस्तित्व का परिचय देने का कोई कष्ट नहीं किया—न अंक भेजे न हमारे अनेकानेक पत्रों में से किसी का उत्तर। कई पत्रिकाओं से कई बार पूछा कि हम आपके ग्राहक बनना चाहते हैं, मूल्यादि सूचित कीजिए; लेकिन कोई जवाब नहीं। कुछ ऐसे भी निकले जिन्होंने हमारे मनीऑर्डर ही नहीं लिए। इन्हें ग्राहक नहीं चाहिए तो आख़िर ये लोग पत्रिका ही क्यों निकालते हैं? शौक़िया? यदि ऐसा है तो बड़ी ख़ुशी की बात है जो हिन्दी वालों के पास इतना पैसा हो गया है कि घाटे के व्यापार में लगाते हैं।

बीच में एकादा अंक का गोता देना और पत्रों के उत्तर न देना ये तो हिन्दी प्रकाशकों के अलिखित नियम हैं।

विदेशी पत्रिकाओं की कार्यालयीन कार्यक्षमता और तत्परता के साथ तुलना करना यदि आप हिन्दी पत्रिकाओं के प्रति 'अन्याय' मानते हों तो मैं भारतीय उदाहरण भी दे सकता हूँ। मराठी की २५ पत्रिकाएँ हमारे यहाँ आती हैं और सभी महीने की पाँचवीं तारीख के भीतर। बंगला, गुजराती और उर्दू की पत्रिकाओं के विषय में भी हम बता सकते हैं कि अमुक पत्रिका अमुक तारीख तक आती है।

दुःख तो तब होता है जब आप लोग शोर मचाते हैं कि हिन्दी वाले ख़रीद कर नहीं पढ़ते और पटना की 'अवन्तिका' जैसी पत्रिकाओं के प्रकाशन-स्थगन को शोचनीय और हिन्दी का दुर्भाग्य कहते हैं, अपनी पत्रिका का विज्ञापन करते हैं और ग्राहक-संख्या बढ़ाने की अपील करते हैं।

मैं चाहता हूँ कि आप इस पत्र को 'अजन्ता' में प्रकाशित करें और अपनी ओर से टिप्पणी देकर उचित परिणामकारी चर्चा का सूत्रपात करें।

आशा है आप उपेक्षा नहीं करेंगे।

वाचनालय,
होलकारी महाविद्यालय, इन्दौर —वीरेन्द्रकुमार

[हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि हिन्दी मासिक पत्रिकाओं के सम्बन्ध में जो शिकायत की गई है उसमें सचाई है और उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। अधिकांश पत्रों के व्यवस्था-विभाग में जितना स्टाफ़ चाहिए उतना नहीं है और इसीलिए इस प्रकार की अव्यवस्था हो जाती है। पत्रों के जितने अच्छे सम्पादन की आवश्यकता है उतनी ही अच्छी व्यवस्था की भी आवश्यकता है। क्योंकि अधिकांश पत्र घाटे में चलते हैं, इस कारण व्यवस्था-विभाग पर जितना व्यय किया जाना चाहिए, नहीं किया जाता। यह संभव है कि व्यवस्था-विभाग के समुन्नत हो जाने से हिन्दी-पत्रिकाओं की ख़पत बढ़ जाए परन्तु इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि हिन्दी मासिक पत्रिकाओं की जिस प्रकार की ख़पत जैसी होनी चाहिए—वैसी नहीं है। पत्र के लेखक ने अपने पत्र में जिस अव्यवस्था की ओर ध्यान आकर्षित किया है, उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए—सं०]

(६)

भूल-सुधार

'अजन्ता' के अप्रैल के अंक में श्रीयुत डा. गोवर्धन भट्ट के लेख "कुमारिल दर्शन में अभाव" के सामने प्रश्नात्मक चिन्ह छप गया है। इसके स्थान पर (१) होना चाहिए था। यह लेखमाला का प्रथम लेख था। अगले अंकों में उनकी यह लेख-माला सुविधानुसार प्रकाशित की जाएगी। हम इस भूल के लिए क्षमा-प्रार्थी हैं—।

—प्रकाशक 'अजन्ता'

हैदराबाद

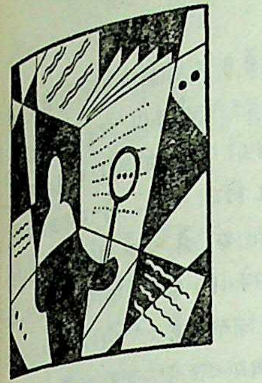

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम भेजी जानी चाहिए]

क्रान्तिवाद
लेखक : विश्वनाथ राय
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स,
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : ५.००

लेखक ने अंग्रेज़ी के शब्द "रिवोल्यूशन" के लिए दो शब्दों का प्रयोग किया है : क्रान्ति और विप्लव। लेखक ने दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। और वे दोनों को समानार्थक समझते हैं। इन दोनों में जो कुछ थोड़ा-सा भेद है, उसे उन्होंने स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया। विप्लव जितना पुराना शब्द है, क्रान्ति उतना पुराना शब्द नहीं है। विप्लव शब्द का राज्य सत्ता से ही अधिकतर सम्बन्ध है—इसलिए यह शब्द कुछ सीमित हो गया है परन्तु क्रान्ति शब्द व्यापक है और इसका सम्बन्ध मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से है। लेखक 'क्रान्ति' शब्द के आशय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं : "भूल के कारण बहुतेरे लोग क्रान्ति का यह मतलब समझते हैं कि यह कोई ऐसी घटना होती है जो एकाएक, आश्चर्य-जनक तथा हिंसात्मक होती है.........सर्व प्रथम यह समझ लेना चाहिए कि क्रान्ति से विनाश बहुत कम होता है बल्कि उससे रचना तथा नव-निर्माण अधिक होता है।" लेखक क्रान्ति को जितना 'सामूहिक शक्ति' के साथ जोड़ते हैं, उतना 'व्यक्तिगत' प्रयत्नों के साथ नहीं। यह सत्य है कि क्रान्ति सामुदायिक और सामूहिक होती है परन्तु समूह की क्रान्ति व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा भी हो सकती है। जिन देशों में 'डिक्टेरशिप' है, वहाँ क्रान्ति कुछ ही लोगों के प्रयत्नों के आधार पर हुई है। किसी बड़ी आग के पीछे छोटी-सी चिनगारी हो सकती है। लेखक ने क्रान्ति के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसका अधिकांश पश्चिम देशों के विचारकों पर आधारित है—यद्यपि क्रान्ति प्राचीन काल से प्रत्येक देश में होती रही है। लेखक क्रान्ति को नव-निर्माण समझते हैं—सुधार नहीं। लेखक ने अपनी इस पुस्तक में अधिकतर राजनैतिक और आर्थिक क्रान्तियों का ही उल्लेख किया है और इस कारण पुस्तक का क्षेत्र बहुत कुछ सीमित-सा हो गया है। सामाजिक, नैतिक और धार्मिक क्रान्तियों की उसने कुछ विशेष चर्चा नहीं की है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने क्रान्ति के सम्बन्ध में अनेक धारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में भिन्न-भिन्न देशों के राजनैतिक क्रान्ति के कुछ आन्दोलनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

स्टीफ़ेन ज़्विग की महान् कहानियाँ
अनुवादक : शिवदानसिंह चौहान
विजय चौहान
प्रकाशक : रणजीत प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स,
४८७२, चाँदनी चौक, दिल्ली
मूल्य : ४.५०

प्रस्तुत पुस्तक में स्टीफ़ेन ज़्विग की उन सात कहानियों का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया गया है जो कि "विश्व की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के संग्रहों में प्रकाशित होती रही हैं।" प्रस्तुत पुस्तक में जो कहानियाँ प्रकाशित की गई हैं, उनसे स्टीफ़ेन ज़्विग की कुशलता का परिचय प्राप्त होता है। उनकी इन कहानियों को पढ़ने से लेखक की संवेदनशीलता, मानव-जीवन के अनेक दृष्टियों से गम्भीर और सूक्ष्म अध्ययन, कल्पनाशीलता, अनुभूति और प्रौढ़ता की गहरी छाप पड़ती है। "शाही खेल" में एकान्त का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उसमें—उसकी

भयंकरता को उन्होंने चित्रित करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि एकान्त और शून्यता के द्वारा ही महान् साधक अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करते हैं। परन्तु इस कहानी में एकान्त का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह अत्यन्त भयंकर है......"एकान्त के भीषण दबाव से मेरी नसें टूट रही थीं......एकान्त में समय कितनी देर से बीतता है, यह शब्दों में बताना असम्भव है।......एकान्त जो आत्मा के भीतर घुस कर उसमें छेद कर देता हो, सब तरफ़ शून्यता ही शून्यता हो......ऐसे में पागल होना लाज़िमी है।" इन कहानियों में आन्तरिक संवीक्षण की तीव्रता इतनी अधिक अभिलक्षित होती है और मानसिक अवस्थाओं का इतना सूक्ष्म अध्ययन कि ऐसा अनुभव होने लग जाता है कि लेखक की कल्पना जितनी सजग, सजीव और सबल है, उतनी अनुभूति नहीं। पता नहीं अनुवादकारों ने पुस्तक का नाम क्यों "स्टीफ़ेन ज़्विग की महान् कहानियाँ" रखा है। संभव है इन कहानियों का विश्व के साहित्य में अपना ही एक विशिष्ट स्थान हो परन्तु इन कहानियों को किसी भी दृष्टि से 'महान्' कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

देखा परखा

लेखक : इलाचन्द्र जोशी

प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६

मूल्य : २.५०

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी के ११ निबन्ध हैं। पुस्तक का नाम यद्यपि 'देखा परखा' है तो भी सत्य तो यह है कि इस पुस्तक में बहुत-कुछ ऐसा लिखा गया है, जिसको न ठीक तरह से देखा और न परखा गया है। लेखक कहीं तो वस्तुस्थिति को सामने रखने का प्रयत्न करते हैं और कहीं सरसरी तौर पर यह बतलाना प्रारम्भ कर देते हैं कि क्या किया जाना चाहिए। हिन्दी के आलोचकों के सम्बन्ध में वे कहते हैं : "हमारे आलोचक स्कूलों और कालेजों में पढ़ाने वाले और छात्रों को परीक्षाओं से सम्बन्धित नोट लिखाने वाले साधारण अध्यापकों की दृष्टि से आगे बढ़ने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं।"—बात यह है कि जब कवि कक्षा के कमरों के कवि (class room poets हो गए हैं तो आलोचकों की यदि वही अवस्था हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? हिन्दी में आज जिन कवियों की बहुत चर्चा आए दिन होती रहती है; यदि उनकी कविताओं को स्कूलों और कालेजों के पाठ्य-ग्रन्थों में से निकाल दिया जाए—तो संभवतः उनमें से अधिकांश की कविताओं को पढ़ने वालों को अंगुलियों पर ही गिना जा सकेगा। लेखक 'छायावादी छाया और प्रकाश' निबन्ध में लिखते हैं : "गोस्वामी तुलसीदास ने हिन्दी संसार में प्रथम बार क्रान्ति उत्पन्न की थी...हिन्दी-साहित्य में यह द्वितीय बार वास्तविक क्रान्ति की लहर उमड़ रही है।" लेखक के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वे जो कुछ लिख रहे हैं, उसके आधार की उन्हें विशेष चिन्ता नहीं हैं। 'छायावाद' के नाम के सम्बन्ध में वे लिखते हैं : "अचानक इस प्रकार की कविताओं की बाढ़-सी आते देख वे घबरा उठे और इस घबराहट में उन्हें कुछ न सूझ पड़ा।......फलस्वरूप नए ढर्रे की कविता का नाम पड़ा छायावादी कविता और इस कविता की भावधारा का नाम पड़ा 'छायावाद' खूब! क्या इसी को ये 'हिन्दी-साहित्य की द्वितीय क्रान्ति की लहर' कह रहे हैं? छायावाद नाम घबराहट के कारण नहीं रक्खा गया। छायावाद की लहर आधुनिक काल में बंगाली काव्य-साहित्य से आई और उसका नाम भी संभवतः बंगाल से ही आया। लेखक के निम्न कथन को ज़रा देखिए : "किसी की प्रशंसा करना या ख्याति प्रदान करता महज मानव-स्वभाव नहीं है। कोई आलोचक किसी कृति की (चाहे वह कितनी महान् क्यों न हो) प्रशंसा तभी करता है, जब उसके प्रशंसित होने की कोई संभावना हो।" क्या आलोचना एकमात्र प्रशंसा के लिए ही लिखी जाती है? अपने निबन्ध 'भारती साहित्य और संस्कृति' में उन्होंने 'महाभारत' के सम्बन्ध में जो आलोचना की है वह एक 'द्रष्टा' की आलोचना नहीं है। वे लिखते हैं : "पाश्चात्य जगत् अभी तक कृष्ण के युग को असभ्य समझता है और हम लोग केवल अन्ध-भक्ति से उस युग को श्रेष्ठ मानते हैं—उसकी विशेषताओं की परख द्वारा नहीं—दोनों भ्रामरी भाषा के फेर में हैं।" लेखक स्वयं तो किसी 'भ्रामरी' फेर में नहीं है परन्तु उन्होंने 'महाभारत' की जिस तरह 'देख और परख' की है, वह संभवतः डाक्टर की 'पोस्टमार्टम' की रिपोर्ट है। लेखक के ये निबन्ध अच्छी भाषा में लिखे गए हैं, उनके विचारों में गम्भीरता भी है परन्तु

१६५७

सामंजस्य नहीं है। उनके विचारों में अनेक आधुनिक विचारकों की ध्वनि सुनाई पड़ती है, जिससे कि वे चमत्कृत हो उठे हैं।

नगर सुन्दरी (गुजराती उपन्यास 'आम्रपाली'
का अनुवाद)

लेखक : "धूमकेतु"
अनुवादक : किशोरीरमण टण्डन
प्रकाशक : वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्राइवेट
लिमिटेड, ३, राउण्ड बिल्डिंग,
कालबा देवी, रास्ता, बम्बई—२
मूल्य : ४.२५

श्रीयुत धूमकेतु गुजराती के प्रमुख साहित्यकार, कथाकार और उपन्यासकार हैं। उनकी कहानियों के अनुवाद हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। प्रस्तुत उपन्यास की कथा-वस्तु "भारतीय इतिहास के सुवर्ण युग, गुप्त युग" से ली गई है। हमें समझ में नहीं आया कि प्रस्तुत पुस्तक का नाम "आम्रपाली" न रख कर "नगर सुन्दरी" क्यों रखा गया जब कि मूल उपन्यास का नाम "आम्रपाली" है और उसमें मुख्यतया चरित्र भी आम्रपाली का ही चित्रित किया गया है। यह उपन्यास जहाँ लिच्छवियों के गणतन्त्र की परम्पराओं की कहानी है, वहाँ आम्रपाली के उसके अनुपम त्याग और बलिदान की कहानी है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस उपन्यास का ऐतिहासिक महत्त्व कितना है, क्योंकि उपन्यास इतिहास से प्रेरणा तो प्राप्त करता है परन्तु उसमें कल्पना का सम्मिश्रण रहता है। लेखक ने आम्रपाली का चरित्र इस प्रकार बनाया है कि वह वैशाली के लिए अपना रूप, अपना स्त्रीत्व, अपना मातृत्व, अपनी कला—सब कुछ कुरबान कर देती है और इस बलिदान में से जो मधुर संगीत निकला है उसे इस उपन्यास के पृष्ठों में धूमकेतु ने प्रतिध्वनित करने का प्रयत्न किया है। सच्ची कविता, और सच्चे संगीत का आधार सच्चा बलिदान होता है। आशा है कि हिन्दी में 'धूमकेतु' की यह कृति उसी शौक़ और रुचि से पढ़ी जाएगी जिस शौक और रुचि से कि वह गुजराती में पढ़ी जाती है।

पथ के गीत

रचयिता : विद्यानन्दन 'राजीव', हितेशचन्द्र 'पाण्डेय'
मुकुटबिहारी त्रिपाठी, रामदत्त शर्मा 'भँवर'
श्रीमाली, राजबहादुर 'पद्म'
प्रकाशक : साहित्यकला परिषद्,
भिण्ड (मध्य प्रदेश)
मूल्य : १.५०

प्रस्तुत पुस्तक में ६ कवियों ने मिल कर अपनी रचनाओं को प्रकाशित किया है। या इनमें से कुछ तो भिण्ड में उत्पन्न हुए हैं या भिण्ड (मध्य प्रदेश) में कार्य कर रहे हैं। इस समय कविता के क्षेत्र में धरती से प्रेम, जीवन में संघर्ष और प्रगति, जीवन के प्रति आशा की मनोवृत्ति, एटम बम और युद्ध का विरोध, विश्व-शान्ति, आदि जो विषय चल रहे हैं, अधिकांश कवियों ने इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में अपनी कविताओं में स्वर को उठाने का प्रयत्न किया है। इनमें से कुछ कवियों की कविताओं के स्तर में नवीनता न होते हुए भी कुछ चुलबुलापन है। श्री विद्यानन्दन 'राजीव' की कविताएँ हृदय को कुछ स्पर्श करती हैं। अपनी कविताओं में उन्होंने अपने विचार और भाव कुछ इस ढंग से कहे हैं कि उनमें उनका अन्तर्हृदय अभिलक्षित होता है और इसी कारण उनमें एक प्रकार का आकर्षण है। 'धरती से प्यार' कविता में वे कहते हैं :

"रे! अम्बर, तुम भले रहो मस्तक के ऊपर,
लेकिन मुझको तो धरती से प्यार बहुत है"

× × ×

"कब तक देंगे ज्योति हमें ये नभ के तारे
मुझको तो मांटी का दीप जलाना होगा
स्वर्गारोही प्रासादों के ठीक सामने
अपना तिनकों का आगार सजाना होगा"

'पतझर गीत' में श्री राजीव कहते हैं :

"जहाँ-जहाँ पतझर होता है, आती वहीं बहार है
इसीलिए सूनी डाली से मुझे बहुत ही प्यार है

……………………………………………

झरते हैं जो फूल वही फिर नई बहारें लाएँगे

जहाँ बरसती आग वहाँ कल वर्षा के दिन आएँगे

………………………………………

चाँद बुझा पाएगा क्या जितनी चकोर की प्यास है

लेकिन जलकर भी शलभों का दीपक पर विश्वास है''

'पूनम की रात' कविता में निम्न पंक्तियाँ कितनी

''पूनम की कितनी रात सुहानी होती है

लेकिन सारी दुनिया दीवानी सोती है''

श्रीयुत भँवर श्रीमाली ने अपने ''कण्ठ मिला गाऊँगा'' गीत में जिस समन्वय के स्वर को उठाया है, वह गम्भीर है और उसमें नवीनता भी है परन्तु उसमें आकर्षण नहीं उत्पन्न हो सका है :

''तुम अपना अपना राग अलापो, मैं तो

सबके कण्ठों में कण्ठ मिला गाऊँगा''

श्री राजबहादुर 'पद्म' की 'टाइपिस्ट' कविता 'टाइपिस्ट' का चित्रण नहीं कर सकी है। टाइपराइटर के ट ट आवाज़ को वह ''कि चट-चट चटाचट, विकट छट-पटाहट'' में प्रतिध्वनित नहीं कर सकी। अच्छा होता कि यदि इस कविता को इस संग्रह में संकलित न किया जाता।

अकबर

लेखक : राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद

मूल्य : ७·७५

प्रस्तुत पुस्तक में २७ अध्याय हैं। पहले १४ अध्यायों तक पुस्तक का पूर्वार्ध है और १५ वें अध्याय से २७ वें अध्याय तक पुस्तक का उत्तरार्ध है। पूर्वार्ध में अकबर के दरबार के रत्नों, प्रमुख सहकारियों और उनके समय के कुछ महान् व्यक्तियों के जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया है और उत्तरार्ध में अकबर के जीवन पर अधिकांश में सांस्कृतिक दृष्टि से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। लेखक लिखते हैं : ''अकबर १६ वीं सदी नहीं, बल्कि २० वीं सदी का हमारे देश का सांस्कृतिक पैग़म्बर है।…अशोक के बाद हमारे देश में दूसरा महान् ध्रुवतारा अकबर ही दिखाई पड़ता है। अकबर-शासन का आधार धर्म नहीं था—इस सम्बन्ध में अध्याय ६ : 'कविराज फ़ैज़ी' में लिखा गया है : ''भारत में इस्लामी सल्तनत क़ायम होने के समय से ही मुल्ला लोग बादशाहों को अपने हाथ में रखते आए थे। अकबर के समय भी वे कहते थे कि सल्तनत शरीयत (धर्मशास्त्र) के आधीन है और शरीयत के मालिक हम हैं; इसलिए सल्तनत के मालिक को उचित है कि हमारी आज्ञा के बिना कोई काम न करे। जब तक हमारा फ़तवा हाथ में न आए—तब तक सल्तनत को एक डग भी आगे बढ़ना नहीं चाहिए। फ़ैज़ी कहते थे कि सल्तनत का मालिक (बादशाह) खुदा का प्रतिनिधि है, वह जो कुछ करता है उचित करता है। देश की भलाई ही शरीयत है। बादशाह उसी भलाई के लिए काम करता है, इसलिए सबको उसका अनुगमन करना चाहिए। बादशाह जो समझता है, वह मुल्ला लोग नहीं समझ सकते। बादशाह जो हुक्म करे, उसको मानना सबका फ़र्ज़ है। बादशाही काम के लिए किसी फ़तवे की आवश्यकता नहीं।'' ''पुस्तक में लिखा गया है कि अकबर के नए धर्म ''दीन-इलाही'' के अनुयायियों की संख्या हजारों नहीं लाखों तक पहुँच गई थी पर १६०५ ई. के बाद सभी चेले अपने-अपने धर्म में लौट गए।'' पुस्तक में इस नए धर्म में दीक्षा लेने वाले जिन अमीरों का नाम (२५४ पृष्ठ) दिया गया है, उनमें एकमात्र एक ही हिन्दू राजा बीरबल का नाम है। शेष सब नाम मुसलमान अमीरों के हैं। जब पहले-पहल भारतवर्ष में तमाखू आया और पीने के लिए अकबर के सामने उसे प्रस्तुत किया गया- तब शाही हकीमों ने कहा कि इसे नहीं पीना चाहिए क्योंकि ''हमारी किताबों में उसका कोई उल्लेख नहीं है। यह नया आविष्कार है।'' इसके उत्तर में असद ने कहा : ''आखिर दुनिया में हरेक रिवाज़ किसी समय नया था। आदम के समय से आज तक लगातार आविष्कार किए जाते रहे…''। इस बातचीत को सुन कर अकबर ने कहा : ''…सचमुच हमें किसी ऐसी चीज़ को—जिसे दूसरे देशों के चतुर पुरुषों ने स्वीकार किया है—केवल इसीलिए नहीं त्याग देना चाहिए क्योंकि उसका उल्लेख हमारी पुस्तकों में नहीं है। नहीं तो हम प्रगति नहीं कर सकेंगे।'' धार्मिक रूढ़ियों के विषय में लेखक ने लिखा है : ''अकबर

धार्मिक रूढ़ियों पर प्रहार करने से बाज़ नहीं आता था। ...दाढ़ियों के साथ रूढ़ियाँ चिपकी हुई थीं, इसलिए वह दाढ़ियों का शत्रु था। वह खुद और उसके शाहज़ादे दाढ़ियाँ नहीं रखते थे। जहांगीर ने जन्म-भर दाढ़ी नहीं रखी। हाँ, शाहजहाँ और उसके बाद दाढ़ियाँ अवश्य आ गईं। अकबर की देखा-देखी हज़ारों लोगों ने दाढ़ियाँ मुँडा दीं।" अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना के सम्बन्ध में लिखा गया है : "...तुर्की और फ़ारसी रहीम की मातृभाषाएँ थीं। माँ की हरियाना की होने से हिन्दी भी उनके लिए मातृभाषा-जैसी थी।" (पृष्ठ सं. १४१)। इससे पूर्व उन्होंने लिखा है : "हसन खाँ मेवाती की भतीजी रहीम की माँ थी।" यदि रहीम की माँ हरियाने की थीं तो उनकी मातृभाषा तुर्की और फ़ारसी कैसे हो सकती है? लेखक ने अपनी इस पुस्तक में अकबर पर एक "महान् द्रष्टा" के रूप में प्रकाश डाला है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, प्रमाणों के साथ लिखा है परन्तु तो भी यह संभव है कि अन्य विचारकों का लेखक से इस विषय में मत-भेद हो। उनकी इसी पुस्तक में कई प्रमाण इस प्रकार के उपस्थित किए जा सकते हैं जो कि उनसे विपरीत पक्ष के तर्कों को पुष्ट कर सकते हैं। लेखक ने अपनी पुस्तक में इस प्रकार के हलके शब्दों का प्रयोग किया है जो सम्भवतः लेखक की दृष्टि में उपयुक्त हो परन्तु उनसे विषय की गम्भीरता नष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए वे अपने 'प्राक्कथन' में लिखते हैं : "हिन्दू धर्म के धार्मिक गुरुओं के दिमाग़ में गोबर भरा हुआ था। उनमें दूर तक सोचने की शक्ति नहीं थी।' कठोर शब्दों के प्रयोग से कोई वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। उससे एकमात्र लेखक की भावनाओं का पता चलता है। उनकी पुस्तक 'अकबर' जिस प्रकार उनकी भावनाओं को प्रदर्शित करती है, उस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों को नहीं।

सैफ़ुल मुल्क व बदी उल जमाल
सम्पादक : डा० राजकिशोर पाण्डे
श्री अकबरुद्दीन सिद्दीक़ी
प्रकाशक : दक्खिनी साहित्य प्रकाशन-समिति
हैदराबाद
मूल्य : ५.००

गवासी गोलकुण्डा का निवासी था और सुलतान कुतुबशाह का समकालीन था। उसने दखनी में दो रचनाएँ लिखी हैं : "सैफ़ुल मुलूक व बदीउल जमाल", "तूतीनामा"। दोनों मसनवियाँ हैं और प्रेमाख्यानक काव्य हैं। गवासी ने 'सैफ़ुल मुलूक व बदीउल जमाल' की रचना सन् १६२६ में की। इस मसनवी से बादशाह के दरबार में गवासी को बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और उसे "मालिक-उल-शुअरा" या कविराज की उपाधि से सम्मानित किया गया। उसे स्वयं भी अपनी रचना पर गर्व था। वह अपनी रचना के विषय में स्वयं लिखता है :

> "सके कौन मिलने मेरे तौर में
> कि रुस्तम हूँ मैं आज के दौर में
> फ़हम का सो गम्भीर दरिया हूँ मैं
> जवाहर के मौजा सूँ भरिया हूँ मैं"

दखनी भाषा में इस काव्य को पढ़ने से यह अनुभव होता है कि कितनी जल्दी दखनी भाषा का विकास हो गया था। आवश्यक प्रोत्साहन प्राप्त होने पर एक भाषा कितनी जल्दी विकसित हो जाती है, इसका प्रमाण दखनी और उसका साहित्य है। वे जिस प्रकार संस्कृत, हिन्दी और दक्षिण की भाषाओं के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग करते हैं, उससे यह ज्ञात होता है कि उन्हें इन भाषाओं का ज्ञान था। इतना होते हुए भी उनकी साहित्यिक प्रेरणा का स्रोत फ़ारसी ही था और गवासी आदि ने अपनी मसनवियाँ फ़ारसी मसनवियों के आधार पर ही लिखीं।

अभी तक यह 'मसनवी' फ़ारसी-लिपि में ही प्रकाशित थी। अब इसे नागरी लिपि में आवश्यक टिप्पणियों और शब्द-कोश के साथ प्रकाशित किया गया है। दखनी में संस्कृत, हिन्दी और दक्षिण की भाषाओं के शब्द मिले हुए हैं। पुस्तक का सम्पादन परिश्रमपूर्वक किया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में दखनी के साहित्य को भी उचित स्थान प्राप्त होना चाहिए। इसके साहित्य की पुस्तकों को नागरी लिपि में प्रस्तुत करने के लिए दखनी-साहित्य प्रकाशन-समिति सराहनीय प्रयत्न कर रही है।

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद—१

वंशीधर विद्यालंकार

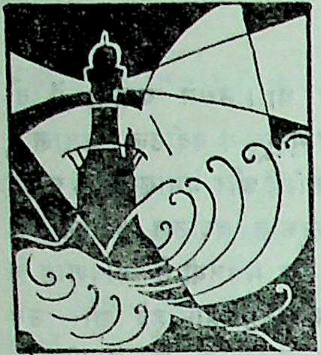

सामयिक

कांची का सांस्कृतिक वैभव

श्रीयुत के. वी. रमन ने मद्रास के अंग्रेज़ी मासिक पत्र "दि इंडियन रिव्यू" में "सातवीं शती में कांची का सांस्कृतिक वैभव" लेख प्रकाशित किया है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक स्थानों में दक्षिण भारत की नगरी कांची को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उक्त लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"दक्षिण भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास में कांची नगर को एक अद्वितीय और प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। हिन्दु और बौद्ध दोनों इसको अपना पवित्र तीर्थ स्थान मानते हैं। हमारे देश के प्राचीनतम नगरों में से यह एक है। यद्यपि कांची प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत के आधारभूत नगरों में से एक रहा है, यह नगर सातवीं शताब्दी में अपने पूर्ण यौवन पर था। सातवीं शताब्दी में पल्लव-वंश के राजाओं ने इस नगर को अपनी राजधानी बनाया था। उस समय यह नगर न केवल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था अपितु दक्षिण भारत का भाग्य-विधाता था।

सातवीं शताब्दी में कांची पर महेन्द्रवर्मन प्रथम, नरसिंहवर्मन या ममिल्ल, परमेश्वरन और राजसिंहन-जैसे शक्तिशाली राजाओं ने राज्य किया। इन राजाओं ने कांची को सांस्कृतिक दृष्टि से एक महान् नगर बना दिया। स्थापत्य, संगीत, चित्र, साहित्य और सब कलाओं पर इन राजाओं का प्रभाव पड़ा। महेन्द्रवर्मन ने संगीत और चित्रकला पर पुस्तक लिखी है। पुदुकोट्टइ राज्य में प्राचीन सुन्दर चित्रों को देखने से ज्ञात होता है कि उसने नृत्य और संगीत को किस प्रकार आश्रय और संरक्षकता प्रदान की थी। पांड्य राजाओं के समय मदुरा तमिल की शिक्षा का केन्द्र था, हर्ष के समय नालंदा संस्कृत के अध्ययन का केन्द्र था और पल्लव राजाओं के समय कांची नगर तमिल और संस्कृत दोनों के लिए महान् अध्ययन का केन्द्र था। भारवि और दण्डी-जैसे संस्कृत के कवि और अप्पार और सुन्दरार-जैसे तमिल के कवि कांची में निवास करते थे और पल्लव-वंश के राजाओं ने उन्हें आश्रय प्रदान किया था। राजा महेन्द्रवर्मन ने एक प्रहसन लिखा था, जिसका नाम था "मत्तविलास प्रहसन" उसके साथ धम्मपाल-जैसे तत्त्वज्ञानी थे जो कि कुछ समय के लिए नालन्दा विश्वविद्यालय का कुलपति रहे थे। हुएनत्सांग ने लिखा है कि धम्मपाल पर्याप्त समय तक कांची में रहे थे और उन्होंने कांची में ही विद्याध्ययन किया था। कई विद्वान् इस मत के हैं कि भास के नाटक पल्लव राजाओं के दरबार में स्टेज पर खेले गए थे।

तमिल भाषा को समुन्नत करने वाले अलवार और नयनमार इसी समय में थे। अलवार वैष्णव थे और नयनमार शैव थे। इन्होंने भक्ति के आन्दोलन को चलाया जो कि समस्त देश में फैल गया। इन्होंने भक्ति के गीत इस प्रकार की संगीतमय और मधुर भाषा में लिखे, जिससे कि बौद्ध और जैन-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इन दोनों धर्मों के ह्रास को इस बात से समझा जा सकता है कि अप्पार से प्रभावित होकर राजा महेन्द्रवर्मन ने जैन धर्म का परित्याग कर-शैव धर्म को ग्रहण कर लिया था।

कांची में असंख्य मन्दिर हैं, जिनसे कि नगर की शोभा की अभिवृद्धि हुई है। इनमें से अनेक मन्दिरों का निर्माण सातवीं शताब्दी में ही हुआ था। इनमें से एक मन्दिर कैलाशनाथर है जो कि अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन मन्दिरों की निर्माण-शैली में भिन्नता है। प्रथम बार एक विशाल पत्थर के एक टुकड़े को काट कर मन्दिरों को बनाया गया। उसमें ईंट और चूना आदि का प्रयोग नहीं किया गया। स्थापत्य की इस प्रणाली का कांची और महाबलिपुरम् दोनों नगरों ने नेतृत्व किया

और दक्षिण भारत की स्थापत्य-कला का यह एक Landmark (स्मृतिचिह्न) है।"

॥

कवियों की चेक बुक

साधारणतया यह समझा जाता है कि सरस्वती और लक्ष्मी का मेल नहीं होता। प्रायः महाकवि निर्धन होते हैं। श्रीयुत डेविड गनस्टन ने "होम जनरल" में "कवियों की चेकबुक" शीर्षक एक लेख लिखा है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"जब हम कवियों के विषय में विचार करते हैं तो हम समझते हैं कि उन्होंने कितनी ग़रीबी और कठिनाई से अपने जीवन को व्यतीत किया होगा। सर्वसाधारण में यह विश्वास फैला हुआ है कि महाकवि अत्यन्त निर्धन होते हैं परन्तु यह विश्वास निराधार है। यह समझा जाता है कि उनकी मृत्यु छोटी आयु में हो जाती है। अंग्रेज़ी के कई उच्च कोटि के कवियों की मृत्यु जवानी में हो गई : कीट्स, शैले, बायरन, रौबर्ट बर्न्स की मृत्यु जवानी में हो गई। रुपर्ट ब्रुक और एलन [illegible] युद्ध में मारे गए थे। परन्तु ऐसे तो जीवन का कोई क्षेत्र नहीं है, जिसमें लोगों की छोटी अवस्था में और दुर्घटना से मृत्यु न होती हो।

हम समझते हैं कि कवियों की आयु प्रायः लम्बी होती है। टैनीसन की ८३ वर्ष की आयु में मृत्यु हुई; वर्ड्सवर्थ की ८० वर्ष की आयु में, डौरसेट कवि विलियम बार्नेस की ८५ वर्ष की आयु में, रौबर्ट ब्राउनिंग ७७ वर्ष की आयु में, एडवर्ड फिटजरल्ड की ७७ वर्ष की आयु में, डाक्टर जौनसन की ७५ वर्ष की आयु में, थॉमस हार्डी की ८८ वर्ष की आयु में, वाल्टर सैवेज लैंडर ८९ वर्ष की आयु में लौरेन्स बिनियन की ७४ वर्ष की आयु में, रौबर्ट ब्रिजेज की ८६ वर्ष की आयु में, स्विनबर्न की ७२ वर्ष की आयु में, जौर्ज क्रेबे की ७८ वर्ष की आयु में, डब्ल्यू. बी. यीट्स की ७४ वर्ष की आयु में, थॉमस कैम्बैल की ६७ वर्ष की आयु में, लौंगफैलो की ७५ वर्ष की आयु में, एमर्सन की ७९ वर्ष की आयु में, वॉल्ट व्हिटमैन की ७३ वर्ष की आयु में, विलियम ब्लैक की ७० वर्ष की आयु में, सर हैनरी न्यूबोल्ट की ७५ वर्ष की आयु में, जौन क्लेअर की ७१ वर्ष की आयु में, ए. ई. हाउसमैन की ७७ वर्ष की आयु में, डब्ल्यू. एच. डेविस की ६९ वर्ष की आयु में, मैथ्यू आर्नोल्ड की ६६ वर्ष की आयु में, रौबर्ट साउथी की ६९ वर्ष की आयु में और वाल्टर डि ला मेअर की ८२ वर्ष की आयु में मृत्यु हुई।

एलिस मेनेल ७५ वर्ष तक जीवित रही; बीमार एलिजाबेथ ५६ वर्ष की हो कर मरी; जॉन मैसफ़ील्ड ७८ वर्ष के हैं और अभी तक हमारे साथ हैं। लार्ड डुनासैनी इस समय ७८ वर्ष की आयु के हैं। यह कहा जा सकता है कि कवियों की औसतन आयु कम-से-कम ६० वर्ष की होती है जो कि संभवतः ७० वर्ष तक जा सकती है।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि क्या उनकी मृत्यु ग़रीबी, अत्यन्त निर्धनता और ऐसी अवस्था में हो जाती है कि उन्हें कोई पूछता तक नहीं। वर्ड्सवर्थ, टैनीसन, हार्डी, लौंगफ़ैलो और यीट्स तो अपने जीवन-काल में ही महान् आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे और जब उनकी मृत्यु हुई तो एक दर्जन से अधिक देशों में शोक मनाया गया। कई कवियों की मृत्यु पर राजकीय सम्मान दिया गया।

आज मैसफ़ील्ड, एडिथ स्टिलवैल, टी. एस. इलियट और डब्ल्यू. एच. औडेना आदि की आर्थिक दृष्टि से जो स्थिति है, वह साधारणतया कवि की स्थिति से सर्वथा भिन्न है। प्राचीन काल में, कवियों की चाहे कुछ भी स्थिति रही हो—आजकल के दिनों में कवियों की अवस्था को देखते हुए, यह कहना सत्य नहीं है कि कविता के द्वारा पर्याप्त धन प्राप्त नहीं होता। यह सत्य है कि अनेक कवि अपनी कविता को अपनी जीविका का साधन नहीं बनाते परन्तु कई कवि कविता को जीविका का साधन बनाते हैं, और बनाया भी जा सकता है।

साधारण कवियों को मासिकों और अन्य पत्रों से पारिश्रमिक प्राप्त होता है और उसके द्वारा उन्हें कुछ आमदनी हो जाती है। कुछ कवियों की कविता-पुस्तकें बिक जाती हैं और इसके द्वारा उन्हें कुछ आमदनी हो जाती है।

अंग्रेज़ी में संभवतः टैनिसन प्रथम-कवि था, जिसे अपनी कविताओं के द्वारा आर्थिक सफलता प्राप्त हुई। लौंगफ़ैलो को भी पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। टैनिसन ने अपनी कविता-पुस्तक "इन मैमोरियम" को बिना नाम के और व्यक्तिगत खतरे पर प्रकाशित किया था। इसका

प्रथम संस्करण ५,००० प्रतियों का था। यह शीघ्र ही समाप्त हो गया और देखते-ही-देखते ६०,००० कापियाँ बिक गईं। १८७० में उसे १०,००० पाउण्ड प्राप्त हुए। एक बार टैनिसन को अमरीका में व्याख्यान देने की यात्रा के लिए २०,००० पाउण्ड देने के लिए कहा गया था। उसको एक कविता के लिए ७०० पाउण्ड मिले थे। ब्राउनिंग भी इस प्रकार का कवि था, जिसको अपनी कविता के द्वारा प्रचुर धन-राशि प्राप्त हुई।

जौन मैसफ़ील्ड की कविता-पुस्तकों की ८०,००० प्रतियाँ बिक चुकी हैं; डि ला मेअर की काव्य-पुस्तकों की अच्छी खपत है। जौन पुडनी को एक फ़िल्म कम्पनी ने उसकी एक कविता के प्रयोग के लिए तीन-आँकड़ों की राशि दी थी। वह कविता फ़िल्म के लिए नहीं लिखी गई थी।

आधुनिक कवियों में कविता के द्वारा टी. एस. इलियट को सब से अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उसने अपनी कविताओं, के १४ खण्ड प्रकाशित किए हैं, जिनसे कि उनको पर्याप्त रॉयलल्टी प्राप्त हो जाती है। अमरीका की व्याख्यान-यात्रा, रेडियो पर अपनी कविताओं के पठन और कविता में लिखे नाटकों से इलियट को प्रचुर धन-राशि प्राप्त होती रहती है। कविता में लिखे नाटकों से क्रिस्टोफ़र को भी प्रचुर धन-राशि प्राप्त हुई है।

मैसफ़ील्ड, कियलिंग, इलियट, और डि ला मेअर की कविताओं को पाठ्य-पुस्तकों के काव्य-संग्रहों में भी स्थान मिलता रहता है। प्रथम विश्व-युद्ध में रुपर्ट ब्रुक, एडवर्ड टॉमस और विल्फ्रेड ओवेन जैसे जो कवि मर गए थे, उनकी कविताओं के विषय में भी इसी प्रकार की बात कही जा सकती है। यह सत्य है कि इन कवियों को अपने जीवन-काल में अपनी कविताओं के द्वारा कुछ विशेष अर्थ प्राप्ति नहीं हुई थी परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी कविताएँ लगातार प्रकाशित होती रहती हैं और उनके द्वारा उन पर आश्रितों को लगातार आमदनी होती रहती है।"

॥

देशबन्धु चित्तरंजनदास : कवि के रूप में

श्रीयुत विवेक भट्टाचार्य ने "हिन्दुस्तान टाइम्स" के मेगज़ीन-विभाग में "श्रीयुत सी. आर. दास : कवि और पत्रकार" लेख प्रकाशित किया है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"यह बात तो सर्व-विदित है कि श्रीयुत चित्तरंजन दास एक महान् राजनैतिक नेता और बैरिस्टर थे परन्तु थोड़े-से लोगों को इस बात का ज्ञान है कि वे न तो राजनैतिक नेता बनना पसन्द करते थे और न बैरिस्टर होना। उन्हें बाधित होकर राजनैतिक नेता बनना पड़ा और बैरिस्टर तो अवस्थाओं से मजबूर होकर अपनी आजीविका के उपार्जन के लिए बनना पड़ा। वे अपने चाचा स्वर्गीय दुर्गामोहन दास को जोकि एक प्रसिद्ध वकील थे, प्रायः यह कहा करते थे कि वे अपनी आजीविका के लिए क़ानून में कभी नहीं जाएँगे। परन्तु ईश्वर की यही इच्छा थी। यदि वे विकालत न करते तो श्री अरविन्द को कौन बचाता?

कितने लोग इस बात को जानते हैं कि श्रीयुत चित्तरंजन दास की सबसे महान् अभिलाषा कवि बनने की थी। अपने जीवन के प्रारम्भ में वे कलकत्ता के उच्च श्रेणी के कवियों से मिले थे। रवीन्द्रनाथ, डी. एल. राय और अतुलप्रसाद उनमें थे। चित्तरंजन दास का उनसे घनिष्ठ परिचय था। वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रायः मिलते रहते थे। इस सम्बन्ध में श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पुत्र श्रीयुत रथीन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं : "बहुत से नवयुवक कवि मेरे पिता (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) के पास मिलने के लिए आया करते थे और उनमें से चित्तरंजन दास भी एक थे। वे इंग्लैण्ड से वापस आए थे और कलकत्ता के हाईकोर्ट में सम्मिलित हुए थे। उस समय उनके हृदय में राजनीति के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण नहीं था। वे कवि बनना चाहते थे। वे हाईकोर्ट से सीधे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के घर में आते थे। वे प्रतिदिन अपनी जेब में एक नोट-बुक लाया करते थे और श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अपनी नवीनतम रचना सुनाया करते थे। मेरे पिता रवीन्द्रनाथ ठाकुर उन्हें यहाँ वहाँ परिवर्तन करने के लिए कहते थे और सदा प्रोत्साहित किया करते थे।

चित्तरंजनदास ने बंगाली में कुछ बहुत सुन्दर "गीत" लिखे थे। उन्होंने बंगाली में कविता की पाँच पुस्तकों को प्रकाशित किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने मध्य-युग के वैष्णव-कवियों पर कई आलोचनात्मक प्रबन्ध लिखे थे। १९ वीं शती के अन्त में देशबन्धु

चित्तरंजनदास ने अपना प्रथम कविता-संग्रह "मालांचा" प्रकाशित किया। उसके पश्चात् १९०४ में उन्होंने अपनी दूसरी कविता-पुस्तक "माला" को प्रकाशित किया। १९१३ से १९१५ तक उनके साहित्यिक कार्य का सबसे अधिक उच्च समय रहा। इन वर्षों में उन्होंने "सागर-संगीत", "अन्तर्मयी" और "किशोर-किशोरी" को प्रकाशित किया। उन्होंने कुछ अपनी कहानियाँ भी प्रकाशित की थीं। उनकी समस्त पुस्तकों में वैष्णव विचारधारा के प्रति गहरी निष्ठा अभिव्यक्त हुई है। उनकी कुछ कविताओं का श्रीयुत अरविन्द घोष ने अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था। "सागर-संगीत" के कारण श्रीयुत चित्तरंजन दास को बंगाल के उच्च कवियों में स्थान प्राप्त हुआ। बाद में पांडिचेरी में श्रीयुत अरविन्द ने "सागर-संगीत" का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया।

"सागर-संगीत" भक्तिपूर्ण कविता है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में पाश्चात्य आलोचक श्रीयुत डा. जैन अलैग्ज़ैण्डर चैपमैन ने लिखा है: "जिसने यह पुस्तक लिखी है यदि वह कवि नहीं है तो किसको कवि कहा जाना चाहिए। इन कविताओं में अलंकार, सुन्दर शब्दों की झंकार या मुहावरों और छन्दों के प्रयोग नहीं हैं। चित्तरंजन ने गीत गाए—क्योंकि उनका हृदय भावों से परिपूर्ण था।" देशबन्धु चित्तरंजन दास संगीत को जीवन और जीवन को संगीत समझते थे। चित्तरंजन दास के हृदय पर चण्डीदास, रामप्रसाद, चैतन्य प्रभु और रामकृष्ण परमहंस का गहरा प्रभाव पड़ा था।

॥

स्वप्नों की सत्यता

बम्बई के अंग्रेज़ी मासिक पत्र "आर्यन-पाथ" में श्रीयुत राय ली शेरमन ने "स्वप्न जो सत्य होते हैं" विषय पर एक मनोरंजक लेख लिखा है। उस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है:

"यह एक विचित्र-सी बात है कि कुछ लोग इस प्रकार होते हैं कि उन्हें जो स्वप्न आते हैं, वे कुछ समय के पश्चात् सत्य सिद्ध होते हैं। ऐसे स्वप्न विरल नहीं होते जो आनेवाली घटनाओं को सूचित करते हैं। कुछ समय हुआ प्रसिद्ध उपन्यासकार सर एच. रायडर हैगर्ड ने अपने स्वप्न में देखा कि उसका कुत्ता रेल-मार्ग के पास मरा पड़ा है। जब वह जागा तो उसने देखा कि उसका कुत्ता घर पर नहीं है। जब खोज की गई तो पता लगा कि उसका कुत्ता रेल-मार्ग के पास वहीं मरा पड़ा था जिसे कि उसने स्वप्न में देखा था। उसने इस सम्बन्ध में "लण्डन टाइम्स" में एक पत्र प्रकाशित करवाया था। कुछ समय हुआ कि एक साइप्रेस के द्वीप में एक किसान-महिला को यह स्वप्न आया कि कुछ खण्डहरों के नीचे ज़मीन के अन्दर एक गिरजा-घर है। स्वप्न इतना स्पष्ट था कि उसने पुरातत्व-विभाग के अधिकारियों के पास जा कर आग्रह किया। जब खण्डहरों के नीचे ज़मीन खोदी गई तो नीचे स्वप्न के अनुसार एक गिरजाघर निकला।

कुछ वर्ष पहले की बात है। पर्ल हार्बर में एक छोटे चीनी ग्राम में एक अमरीकी संवाददाता श्रीयुत. फ्रेड एस. कुक सोया पड़ा था। उसे स्वप्न आया कि वह समुद्र के किनारे पर है। उसके कानों में मोटरों की आवाज़ें पड़ीं। और उसने अनुभव किया कि जैसे समस्त आकाश हवाई जहाज़ों से भर गया है और उन हवाई जहाज़ों पर उगते हुए सूर्य का निशान है। कुक समुद्र के किनारे की ओर यह चिल्लाता हुआ भागा कि जापानी आ रहे हैं" जब वह पोतस्थान पर पहुँचा तो उसने देखा कि वहाँ लड़ाई के जहाज़ों में आग लगी हुई है।

इस तरह के स्वप्न केवल उन्हीं लोगों को नहीं आते जो विनम्र और अज्ञात व्यक्ति होते हैं। रुडयार्ड किपलिंग ने अपनी 'आत्मकथा' में अपने एक स्वप्न के विषय में लिखा है। उसे स्वप्न आया था कि वह ऐसे आदमियों के बीच में खड़ा हुआ है, जो अच्छे कपड़े पहने हुए थे। वह एक बड़े हाल में खड़ा हुआ है और उसके सामने और लोग खड़े हुए हैं। उसकी बाईं ओर कोई समारोह हो रहा था, जिसको कि मैं देखना चाहता था परन्तु मैं देख नहीं सकता था क्योंकि मेरे पास एक स्थूल व्यक्ति खड़ा हुआ था। समारोह के अन्त में एक व्यक्ति मेरे पास आया और कहने लगा कि वह मुझसे बातचीत करना चाहता है। छः सप्ताह के बाद वह युद्ध कमीशन का सदस्य बना और उसे जो स्वप्न आया था, वह सत्य हुआ।"

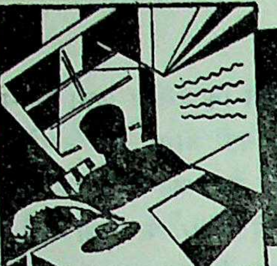

सम्पादकीय

‘‘नवाँ वर्ष’’ और हिन्दी :

भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार के पब्लिकेशन्स डिवीजन ने अभी कुछ मास पूर्व एक पुस्तिका प्रकाशित की है, जिसका नाम है ‘‘नौवाँ वर्ष’’। इस पुस्तक में अप्रैल, १९५५ से मार्च, १९५६ तक की केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों की अधिक महत्त्वपूर्ण सफलताओं पर प्रकाश डाला गया है।’’ इस पुस्तक के प्रथम अध्याय का शीर्षक सामाजिक है और इसके अन्तर्गत पहले, केन्द्र के शिक्षा-विभाग को लिया गया है। शिक्षा के अन्तर्गत सब से पूर्व पहले ही पृष्ठ पर ‘हिन्दी का विकास’ शीर्षक दे कर कुछ उन्हीं सूचनाओं को दुहराया गया है, जिन्हें कि भारतीय प्रशासन द्वारा समय-समय पर समाचार-पत्रों में प्रकाशित किया जाता रहा है। यद्यपि भूमिका में यह कहा गया है कि प्रस्तुत पुस्तक में ‘‘केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों की अधिक महत्त्वपूर्ण सफलताओं पर प्रकाश डाला गया है।’’ तो भी ‘हिन्दी-विकास’ पर जो कुछ पंक्तियों की टिप्पणी प्रकाशित की गई है, उससे कुछ पुरानी सूचनाएँ तो प्राप्त होती हैं परन्तु उससे यह बिलकुल ज्ञात नहीं होता कि इसमें केन्द्रीय सरकार को हिन्दी के विकास में क्या ‘महत्त्वपूर्ण सफलता’ प्राप्त हुई है। जो कुछ सूचनाएँ दी गई हैं, संक्षेप में वे निम्न प्रकार हैं :

१ अ-हिन्दी भाषी प्रदेशों के छात्रों को हिन्दी की उच्च शिक्षा ग्रहण करने की सुविधा के लिए छात्र-वृत्ति-योजना प्रारम्भ की गई।

२ साक्षरता-प्रसार और हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों के लिए हिन्दी के बुनियादी शब्दों की सूची तैयार करने के लिए विशेष समितियाँ नियुक्त की गईं।

३ हिन्दी टाइप-राइटर के प्रस्तावित की-बोर्ड पर सरकार ने समाचार-पत्रों से अपने मत प्रकट करने का अनुरोध किया।

४ अगस्त, १९५५ की हिन्दी-प्रबोध परीक्षा में ३९७ उम्मीदवार सम्मिलित हुए, जिनमें ३९२ उत्तीर्ण हुए।

५ हिन्दी के प्रोत्साहन और प्रचार के लिए नई दिल्ली की संसदीय-हिन्दी-परिषद, मद्रास की दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा और इलाहाबाद के हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्थाओं को अनुदान दिए गए।

६ माध्यमिक स्कूलों के लिए भौतिकी, रसायन, वनस्पति, गणित और समाज-शास्त्र, की पारिभाषिक शब्दावलियाँ तैयार की गईं। इसी प्रकार विभिन्न सरकारी विभागों, क़ानून और विज्ञान की शाखाओं के ‘‘टेक्निकल शब्दों की पारिभाषिक हिन्दी शब्दावलियाँ निर्धारित की गईं।’’

७ वैज्ञानिक-पारिभाषिक-शब्दावली-मंडल के अधीन कार्य करनेवाली विशेष समितियों की संख्या इस वर्ष बढ़ कर १९ हो गई।

इस पुस्तक में केन्द्र के द्वारा १९५५-१९५६ में ‘हिन्दी के विकास’ के सम्बन्ध में इतनी ही सूचनाएँ प्रदान की गई हैं। ये सूचनाएँ इतनी अपूर्ण हैं कि इनके द्वारा एक साधारण पाठक को यह ज्ञात नहीं हो सकता कि १९५५-५६ में हिन्दी का विकास और उसकी प्रगति किस प्रकार हुई? क्या इस बात का प्रबन्ध नहीं हो सकता कि भारत-सरकार के द्वारा इस सम्बन्ध में जो सूचनाएँ प्रकाशित की जाती हैं, वे कम-से-कम यथासम्भव पूर्ण हों। इन सूचनाओं में एक स्थान पर लिखा गया है: ‘‘हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावलियाँ तैयार की गईं’’ और साथ में ही दूसरे स्थान पर लिखा गया है: ‘‘टेक्निकल शब्दों की पारिभाषिक शब्दावलियाँ निर्धारित की गईं।’’ यहाँ ‘‘तैयार की गईं’’ और ‘‘निर्धारित की गईं’’ में क्या भेद हैं, कुछ समझ में नहीं आया। हिन्दी टाइप-राइटर की-बोर्ड के सम्बन्ध में लिखा गया है: ‘‘समाचार-पत्रों से अपने मत प्रकट करने का अनुरोध किया’’ यह तो एक प्रस्ताव-जैसा प्रतीत होता है। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि टाइपराइटर के की-बोर्ड के सम्बन्ध में क्या निर्णय किया गया।

पुस्तक में केन्द्र की सूचनाओं के पश्चात् भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों की ओर से १९५५-१९५६ में संभवतः ‘इस वर्ष की ‘‘अधिक महत्त्वपूर्ण सफलताओं पर प्रकाश डाला गया है।’’ राज्य-सरकारों की ओर से ‘शिक्षा’

१९५७

शीर्षक के अन्तर्गत जो सूचनाएँ प्रकाशित की गई हैं, उनमें एक आन्ध्र-प्रान्त को छोड़ कर "हिन्दी के विकास" के विषय को किसी अन्य प्रान्त के विवरण के साथ सम्मिलित ही नहीं किया गया है। आन्ध्र-राज्य के सम्बन्ध में लिखा गया है : "१९५५–५६ में पहली से चौथी कक्षा तक हिन्दी को 'अनिवार्य विषय' बना दिया गया है तथा १९५६–५७ में पाँचवीं कक्षा में भी इसे अनिवार्य बना दिया जाएगा।" इसके अतिरिक्त मद्रास, बम्बई, उड़ीसा, आसाम, पश्चिम बंगाल, पंजाब, बिहार, उत्तर-प्रदेश आदि राज्यों की ओर से "हिन्दी के विकास" के सम्बन्ध में १९५५–५६ में जो कार्य किया गया है, उसका कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया है। क्या इन राज्यों में हिन्दी के विकास के लिए कोई महत्त्वपूर्ण कार्य १९५५–१९५६ में हुआ ही नहीं ?

हम समझते हैं कि "नौवाँ वर्ष" पुस्तक को जिस तरह लिखा गया है, उससे हमें हिन्दी के सम्बन्ध में तो आवश्यक जानकारी प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार की पुस्तकों को प्रामाणिक रूप से और पूर्ण विवरण के साथ प्रकाशित किया जाना चाहिए, अन्यथा इस प्रकार की पुस्तकों का प्रकाशन करने से कुछ विशेष लाभ नहीं हो सकता। जब पुस्तक को प्रकाशित करना ही है तो क्यों न उसे इस प्रकार तैयार करवाया जाए, जिससे कि वह उपयोगी सिद्ध हो सके। इस पुस्तक को लिखने में जिस श्रम की आवश्यकता थी—वह श्रम इसके लिखने में नहीं किया गया है। यह संभव है कि राज्य-सरकारों के द्वारा केन्द्रीय प्रशासन को इस सम्बन्ध में बार-बार लिखने पर भी आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त न हुई हों। यदि यह सत्य है तो उन राज्यों के सम्बन्ध में यह लिख दिया जाना चाहिए था कि आवश्यक विवरण प्राप्त न होने के कारण प्रकाशित नहीं किए जा सके।

जहाँ-तक हिन्दी का सम्बन्ध है—हम समझते हैं कि प्रतिवर्ष एक इस प्रकार की पुस्तक केन्द्रीय सरकार की ओर से प्रकाशित की जानी चाहिए, जिससे केन्द्र, राज्य-सरकारों और हिन्दी की प्रमुख संस्थाओं के द्वारा हिन्दी के 'विकास और प्रगति' के लिए जो कुछ समस्त भारत में कार्य किया जा रहा है, उसका यथासम्भव-पूर्ण और प्रामाणिक रूप से विवरण प्राप्त हो सके।

शिक्षा में परिवर्तन :

पिछले दिनों उत्तर-प्रदेश के मुख्य मन्त्री श्रीयुत डा. सम्पूर्णानन्द ने बिहार विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में कहा : "वर्तमान शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन करने की माँग देश में सर्वत्र की जा रही है। कभी-कभी यह माँग ऐसे लोगों के द्वारा प्रस्तुत की जाती है, जिनमें यह समझने की सामर्थ्य नहीं है कि वह क्या कह रहे हैं। स्वभावतः इस संक्रमण-काल में बहुत-सी बातों में स्थिति वैसी नहीं है, जैसी कि होनी चाहिए। निदान सारे रोगों का घड़ा शिक्षा-पद्धति के ही सिर फूटता है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति की निन्दा करना आसान है किन्तु इसके स्थान पर किसी उपयुक्त शिक्षा-पद्धति का सुझाव देना उतना आसान नहीं। ऐसा भी नहीं है, जैसा कि कुछ सुधारक कहते हैं कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति विदेशी शासकों की उस कूटनीति और चातुर्य का परिणाम है, जिसके द्वारा वह भारतीयों को गुलाम रखना चाहते थे और उन्हें किसी प्रकार के भी व्यावहारिक काम के लिए असमर्थ बनाना चाहते थे। यह पद्धति उन प्रतिमानों के आधार पर निकाली गई जो आज भी दूसरे देशों में मौजूद है। लेकिन यह सही है कि इस पद्धति का विकास भारत की पिछली शताब्दी की जिन सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थियों में हुआ, निस्सन्देह इसका प्रभाव हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति पर पड़ा है। अब हमारा देश स्वतन्त्र है, इसकी आवश्यकताएँ बदल गई हैं और इसीलिए हमारी शिक्षा-पद्धति को भी उन आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य होना ही पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा करने के लिए कई क्रान्तिकारी परिवर्तन करने पड़ेंगे लेकिन हमें उन परिवर्तनों की खोज में और उनकी जल्दी में उस पुराने भवन को ध्वस्त नहीं कर देना चाहिए जो बड़े परिश्रम से और दीर्घ काल में निर्मित हुआ है......"

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली किस प्रकार हमारे देश में आई—यह तो एक ऐतिहासिक घटना है और इसके पक्ष में चाहे कुछ भी क्यों न कहा जाए, किन्तु उन ऐतिहासिक तथ्यों को बदला नहीं जा सकता। यह तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हमारे देश में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से जितना अधिक असन्तोष है, उतना किसी और वस्तु से नहीं और असन्तोष परिवर्तन का निर्देशक होता है। यह असन्तोष इस बात का सूचक है कि हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली में अवश्य परिवर्तन करना होगा। यह युक्ति

कि "...हमें शिक्षा-प्रणाली के उस पुराने भवन को ध्वस्त कर देना नहीं चाहिए जो बड़े परिश्रम से दीर्घ-काल में निर्मित हुआ है" ऐसी ही है, जैसे कि यह युक्ति कि ब्रिटिश साम्राज्य के भवन को ध्वस्त नहीं कर देना चाहिए था, क्योंकि वह भी "बड़े परिश्रम और दीर्घ काल में निर्मित हुआ था।" श्रीयुत डा. सम्पूर्णानन्द चाहे इस बात को न मानें कि "वर्तमान शिक्षा-पद्धति विदेशी शासकों की उस कूटनीति और चातुर्य का परिणाम है, जिसके द्वारा वे भारतीयों को गुलाम रखना चाहते थे और उन्हें किसी प्रकार के भी व्यावहारिक कार्य के लिए असमर्थ बनाना चाहते थे" परन्तु यह तो स्पष्ट ही है और इसे मानना ही पड़ेगा कि आज सबसे अधिक आत्म-विश्वास का यदि किन्हीं लोगों में अभाव है तो हमारे देश के शिक्षित लोगों में। एक शिक्षित व्यक्ति, जितना अधिक नौकरी की तलाश में है, उतना एक अशिक्षित व्यक्ति नहीं। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का अगर किसी वस्तु से अधिकतर सम्बन्ध है तो नौकरी से। और क्या यह नौकरी, दासता या गुलामी नहीं है? इस शिक्षा-प्रणाली ने पठितों और अपठितों में कितना भेद उत्पन्न कर दिया है। इसके द्वारा नगरों और ग्रामों के जीवन में इतनी बड़ी खाई खोद दी गई है, जिसे किसी प्रकार भरा नहीं जा सकता। यद्यपि आज भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया है तो भी दासता यदि हमें कहीं सबसे अधिक दृष्टिगोचर होती है तो वह शिक्षा के क्षेत्र में और इसका कारण हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ही है।

यह बात और है कि हम वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के स्थान पर शीघ्र ही किसी अन्य उपयुक्त शिक्षा-प्रणाली को प्रतिष्ठित न कर सकें परन्तु यह बात बिलकुल और कि हम वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के भवन को "दीर्घकालीन और परिश्रमपूर्वक निर्मित" होने के कारण सुरक्षित करने का प्रयत्न करें। इस भवन को तो हमें एक दिन उसी तरह ध्वस्त करना होगा, जैसा कि भारतवर्ष की जनता ने ब्रिटिश साम्राज्य के भवन को ध्वस्त किया है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से हमारे देश को उतना लाभ नहीं हुआ है, जितनी कि हानि। और फिर हमारे देश में शिक्षित जनता ही कितनी है? यदि हमारे देश में शिक्षा-प्रणाली में अभी तक परिवर्तन नहीं हुआ है, तो इसका कारण यह नहीं है कि "किसी उपयुक्त शिक्षा-पद्धति का सुझाव देना कठिन है"—परन्तु यह है कि देश की शिक्षा-समस्या की ओर जिस प्रकार ध्यान दिया जाना चाहिए, वैसा ध्यान अभी उसकी ओर नहीं दिया गया है। श्रीयुत डा. सम्पूर्णानन्द ने अपने भाषण में यह ठीक कहा है कि "इस महान् कार्य को करने में न केवल राजनैतिक नेताओं को वरन् शिक्षकों को भी सहयोग देना चाहिए।" यह देख कर आश्चर्य होता है कि श्रीयुत डा. सम्पूर्णानन्द-जैसे व्यक्ति वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की विकालत करने लगे हैं। इससे अच्छा तो यह होता कि वे नवीन शिक्षा-प्रणाली के लिए कुछ नए सुझाव देते। वे तो राजनीतिज्ञ भी हैं और अध्यापक भी रहे हैं। इसलिए उनसे यदि इस प्रकार के सुझावों की आशा न की जाए तो और किससे की जा सकती है।

संस्कृत का अध्ययन :

संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन का २४ वाँ अधिवेशन मई के अन्तिम सप्ताह में पटना में हुआ। इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्रीयुत कामेश्वर सिंह, दरभंगा नरेश ने संस्कृत के सम्बन्ध में जिन शब्दों को कहा संस्कृत के सम्बन्ध में उससे अधिक बलपूर्ण शब्दों का कहना कठिन है। हम उनके निम्न शब्दों का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं: "स्वतंत्र भारत की समृद्धि के लिए जो यत्न किया जा रहा है, वह संस्कृत के प्रसार के लिए नहीं। यह महत्त्वपूर्ण विषय अभी तक उपेक्षित पड़ा हुआ है। यदि हिमालय विध्वस्त हो जाए और सभी सागर सूख जाएँ तो भी भारत की हानि उतनी बड़ी नहीं हो सकती, जितनी कि संस्कृत–निधि में सुरक्षित ज्ञान-राशि को गँवा देने से हो सकती है।"

संस्कृत के अध्ययन के लिए यूरोप में कितना प्रयत्न किया गया! संस्कृत का वास्तविक, गम्भीर और पूर्ण अध्ययन यदि कहीं हो सकता है तो भारतवर्ष में। संस्कृत का नाम भारतवर्ष के साथ इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि वह उससे किसी भी प्रकार पृथक् नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाए कि भारतवर्ष का प्राण संस्कृत है तो इसमें ज़रा भी अत्युक्ति न होगी। भारतवर्ष में संस्कृत का अध्ययन ऐसा वैज्ञानिक पद्धति का और परिपूर्ण होना चाहिए कि देश और विदेश दोनों के विद्वान् यहाँ अध्ययन कर अपने को धन्य समझें। हमारी भाषाओं में संस्कृत के अध्ययन का महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय है। केन्द्रीय सरकार की ओर से इसके लिए एक आयोग की भी नियुक्ति की गई है। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह आयोग के द्वारा संस्कृत का पुनरुज्जीवन संभव हो सकेगा।

समाचार-पत्र रजिस्ट्रेशन (केन्द्रीय) क़ानून १९५६ के ८ वें नियम के अनुसार अपेक्षित 'अजन्ता' से सम्बन्धित विवरण

फार्म नम्बर : ४

१ प्रकाशन का स्थान	: हैदराबाद-दक्षिण
२ प्रकाशन-अवधि	: मासिक
३ मुद्रक का नाम	: श्री सत्यनारायण गुप्त, मैनेजर, हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण
राष्ट्रीयता	: भारतीय
पता	: चौक कसारहट्टा, हैदराबाद-दक्षिण
४ प्रकाशक	: श्री गोपालराव अपसिंगीकर, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण
राष्ट्रीयता	: भारतीय
पता	: नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद-दक्षिण
५ सम्पादक	: श्री वंशीधर विद्यालंकार 'विद्यामार्तंड'
राष्ट्रीयता	: भारतीय
पता	: ४५.१, हिमायतनगर, हार्डीकरबाग, हैदराबाद-दक्षिण
६ मासिक पत्रिका के अधिपति का नाम और पता	: हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद : नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद-दक्षिण

मैं गोपालराव अपसिंगीकर यह प्रकाशित करता हूँ कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही है।

तिथि २६-३-'५७

गोपालराव अपसिंगीकर
प्रकाशक के हस्ताक्षर

प्रकाशक: गोपालराव अपसिंगीकर, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद— मुद्रक : सत्यनारायण गुप्त, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद-दक्षिण

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
सा
हि
त्य
की
प्राप्ति के लिए एकमात्र
स्थान

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : 'हिन्दी'

टेलीफ़ोन ५४५०

29-7-57

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

अजन्ता

अंक ६

जून १९५७

सब प्रकार की हिन्दी पुस्तकों के लिए
हमारे शो-रूम में पधारिए

साहित्य
भाषा-विज्ञान
आलोचना
इतिहास
पाठ्यक्रम
धार्मिक

लाइब्रेरी के लिए पुस्तकें
भरपूर कमीशन दिया जाता है।

इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्राइवेट लिमिटेड,
६९९, गौलीगुड़ा, राममन्दिर रोड,
हैदराबाद—१

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बड़ी सावधानी से
तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर, १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध
सुन्दर काग़ज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :
अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........**के ग्राहक नहीं बने हैं ?**

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है ।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत् की गतिविधि से परिचित कराता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है ।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है । नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए ।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र ।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**
सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक ।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का =)

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक सांस्कृतिक
हिन्दी मासिक

'प्रेरणा'

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ, एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए
प्रेरणा
सर्वोत्तम साधन है ।

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

वार्षिक १०)
एक प्रति १) *

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, प्रबोध, प्रवीण, विशारद,
विनीत, शिक्षक सनद, एस. एस. सी., आदि
परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर
महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक

[मासिक]

हिन्दी प्रचारक और हिन्दी-शिक्षक मुफ़्त ग्राहक
बन सकते हैं। इस सम्बन्ध में पूर्व
पत्र-व्यवहार कर लें।

विद्यार्थी शीघ्र ग्राहक हो जाएँ।

वार्षिक चन्दा ४)] [एक अंक ४० नये पैसे

पता :—हिन्दी-शिक्षक कार्यालय,
१२५, गिरगाँव रोड, बम्बई—४

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर

प्रकाशक :

* साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
* नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
* कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच,
संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्ड छात्रालय, बनारस

फोन नं० १४२ [वसुधा]

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल वाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।
प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी
की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की
जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन,
तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।
पृष्ठ-संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र-व्यवहार का पता :
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर, सुभाष-मार्ग
लखनऊ

फ़ोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) * विशेष मूल्य १०)

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३५६

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

फोन नं : ६८२१

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्खे तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ ख़रीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

का

वार्षिक अंक

फरवरी, '५७ को प्रकाशित हो चुका है

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी है और ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है। 'वार्षिक' का मूल्य १॥) है, किन्तु वार्षिक चन्दा रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के वार्षिक) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'

साधु आश्रम, होश्यारपुर—पंजाब

ख़रीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार-संसद प्रयाग का मुख पत्र

श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

- हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे!
- हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है!!
- साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक!!!

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय

साहित्यकार-संसद,

५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

छः वर्षों से भारत के प्राचीन साहित्यिक न्द्र धार से प्रकाशित आधुनिक आकर्षण के आवरण में भारतीय सभ्यता का

संदेश-वाहक

सचित्र मासिक

ऊषा

- जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे पढ़ने के लिए लोग झूम जाते हैं।

के सभी रेल्वे बुक स्टालों पर भी मिलता है

प्रति ३५ नये पैसे ::: वार्षिक ४)

वस्थापक : भोज प्रकाशन, धार

(मध्य भारत)

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

सम्पादक-समिति

प्रतापनारायण टण्डन

डा० देवराज कुँवर नारायण

कृष्ण नारायण कक्कड़

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रहा है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

वार्षिक शुल्क ८), अर्ध वार्षिक ४), एक प्रति ॥)

'युग-चेतना' कार्यालय,

स्पीड बिल्डिंग ला प्लास, लखनऊ

'अजन्ता'
की
परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
भूतपूर्व वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट्स, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप'

सिनेमा की छोटी मशीन

इस अमरीकन मोडिल धातु की बनी हुई मशीन से आप परदे पर अपने पसन्द के ऐक्टर-ऐक्ट्रेसों की तरह-तरह की फ़िल्में तसवीरें चलती-फिरती नाचती-हँसती घर पर ही देख कर इष्ट मित्रों तथा सपरिवार सिनेमा का आनन्द प्राप्त करेंगे। मशीन टार्च या बल्ब से चलाई जाती है। मशीन के साथ ५ गज़ फ़िल्म तथा मशीन चलाने की विधि मुफ्त भेजी जाती है। मशीन का मूल्य १४) डाक खर्च ३) फ़िल्म की रील ।-) प्रति गज़ सिनेमा के लिए परदा ३):—अमूल्य पुस्तकें चित्रकारी तथा पेटिंग शिक्षा ३), फोटोग्राफी शिक्षा ३), गृह-उद्योगधन्धे ३), साबुन-विज्ञान ३), घड़ी साज़ी ३), सिलाई कटाई ३), सुगन्धित तैलों का व्यापार ३) रगाई तथा धुलाई शिक्षा ३), कशीदाकारी मय डिज़ाइन ३), बाँसुरी, तबला तथा हार्मोनियम शिक्षक ३), सुखमय जीवन ३), भारत का संविधान ३)। प्रत्येक पुस्तक पर डाक खर्च ।।।) अलग।

आनन्द इण्डस्ट्रीज़ (A. H.)
गोपालपुरी, अलीगढ़

राजस्थान का सर्वाधिक लोकप्रिय व पुराना साप्ताहिक

अमर-ज्योति

सचित्र

प्रधान सम्पादक : नारायण चतुर्वेदी

परिचय

राजस्थान की लोक-संस्कृति व साहित्य की झाँकी मौलिक एवं बंगला, मराठी, गुजराती से अनूदित कहानियाँ।

सुन्दर कविताएँ, राजस्थानी गीत, भावपूर्ण लेख, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय व प्रादेशिक समाचार समीक्षा, नया साहित्य।

गाँव-गाँव में घर-घर में विज्ञापन का सर्वोत्तम साधन।

मूल्य : वार्षिक ८) एक प्रति ३ आने

कार्यालय
त्रिपोलिया बाज़ार, जयपुर

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ९ जून, १९५७ अङ्क ६

सम्पादक
बंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

संचालक
हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : हिन्दी

फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर, त्रावणकोर और
मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

अतीत से !
यतीन्द्रकुमार १
जीवन की शाम
लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र' ३
हम किसी आवाज़ को बिकने न देंगे
स्वर्णलता जगदीश ४
गीत
शिवनाथ अरोरा ५
सुषमा
कीर्ति चौधरी ६
गीत
कीर्तिनारायण मिश्र ७
गीत
प्रो० जयसिंह 'नीरज' ८
अरविन्द के जीवन की सब से बड़ी सफलता
नारायणप्रसाद 'विन्दु' ९
हर्बर्टरीड और टी एस. ईलियट
भोलानाथ चतुर्वेदी १४
कमल—एक आदि पुष्प
कृष्णकुमार असावा १७
संस्कृत भाषा की द्विरुक्तियों पर एक दृष्टि
रामशंकर भट्टाचार्य २४
राजनीति पर कुछ फुटकर विचार
संतराम २८
हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की लौकिक पृष्ठ-भूमि
रवीन्द्र 'भ्रमर' ३२
प्रयोगवादी काव्य में प्रकृति और प्रेम
मूलचन्द सेठिया ३६
शृंगार-प्रसाधन
सखाराम वानखडे ४२
बुंदेलखण्ड का जन-कवि ईसुरी
ज्योतिप्रकाश सक्सेना ४७
संथालों की जातियाँ, उपजातियाँ और गिद्ध
कुमारी दुर्गा मेहरोत्रा ५१
संस्कृति और साहित्य का परस्पर सम्बन्ध
जी. सुन्दर रेड्डी ५३
'उदय-श्री' का अवलोकन
इ० लक्ष्मीदेवी ५६
घर आँगन में
घनश्याम सेठी ५९
ज़नानी हथकड़ी
चिरंजीलाल पाराशर ६५
कला चर्चा : तैल-चित्रों का व्यापार
वंशीधर विद्यालंकार ६९
चिट्ठी पत्री :
शिक्षा में परिवर्तन : कश्चित्, मासिक पत्रिकाएँ : श्री. कात्यायनी देवी, हिन्दी-नाटक प्रतियोगिता : भँवरलाल सिंधी, अजन्ता के सम्बन्ध में, तोताराम शर्मा 'पंकज', भूल सुधार : केशु। ७१
नीर-क्षीर :
पद्माकर कवि, कांटेम्पररी इंडियन लिटरेचर, छेड़ छाड़, सबरस, वंशीधर विद्यालंकार ७३
सामयिक :
पुस्तकों की आलोचना, इंग्लैण्ड धनी देश है, दक्षिण की भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन। ७८
सम्पादकीय :
वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड ८२

चित्र : भार-वाहिकाएँ चित्रकार : भाऊ समर्थ, नागपुर।

एक प्रति का मूल्य : १) रु.

वार्षिक मूल्य : ९)

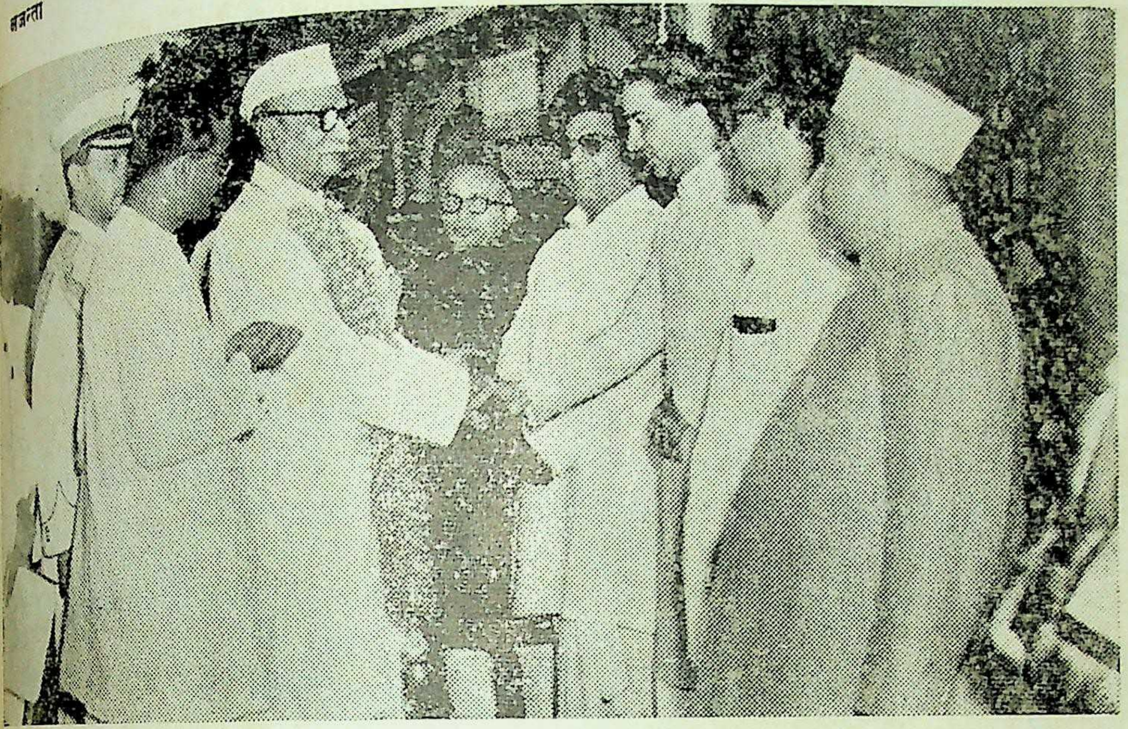

राष्ट्रपति हैदराबाद में
सिकन्दराबाद रेलवे स्टेशन पर स्वागत

Literary
Gurukul Kangri.

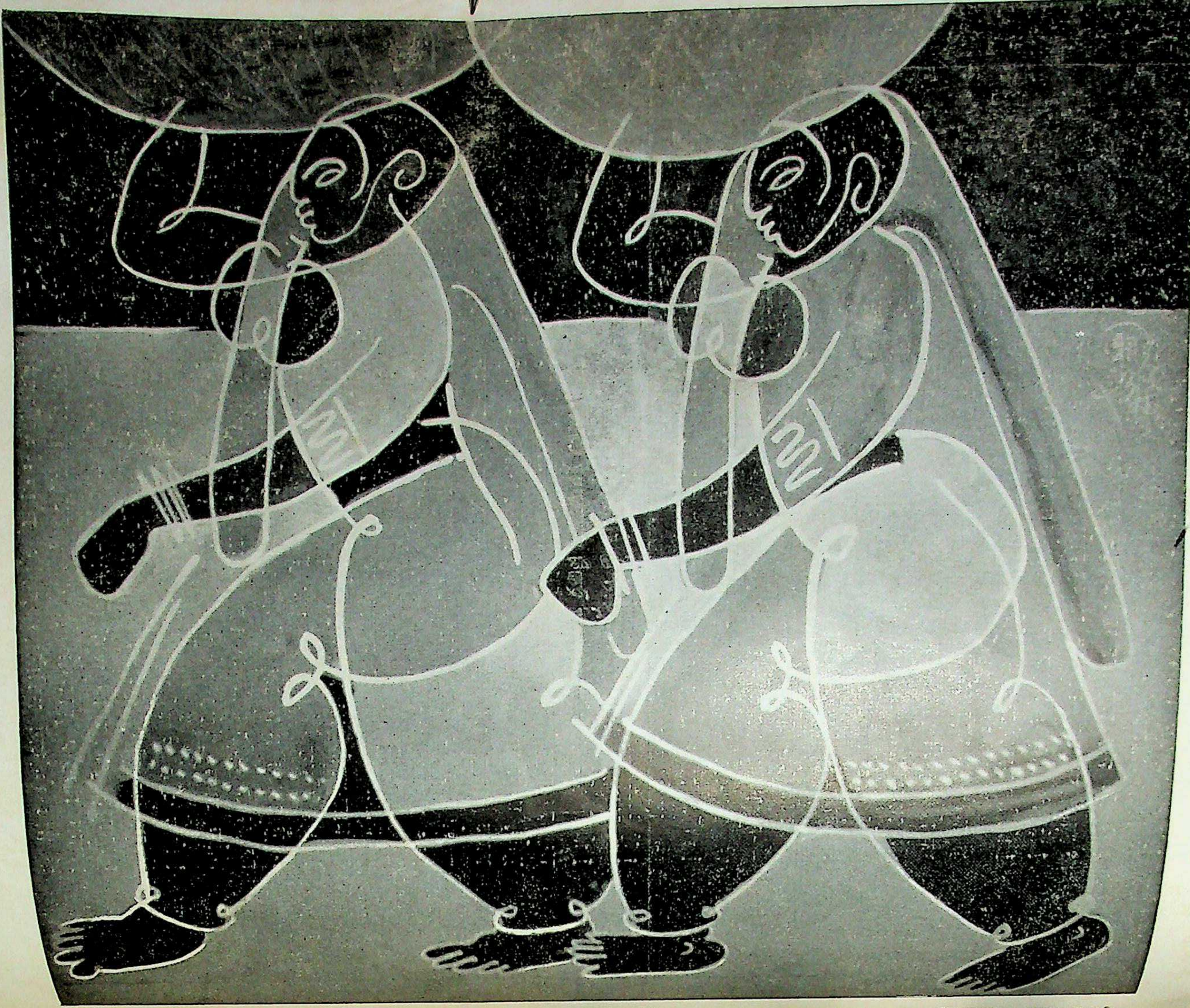

अजन्ता, भार-वाहिकाएँ चित्रकार : भाऊ समर्थ

जून, १९५७ अङ्क ६

अतीत से !

मेरे इस रहस्यमय जीवन के अतीत के विस्मृत पन्नो !
तुम्हें आज मैं फिर सगर्व दुहराने को होता हूँ तत्पर !
तुमने सोचा होगा कवि के नए स्वप्न से सजे महल में
चिर अतीत के दीन भिक्षुओं को कब कोई याद करेगा

कठिन ज़िन्दगी के लम्बे पथ पर के ओ, एकान्त साथियो !
नए धुले लक़दक़ वस्त्रों से सजे दिवस मित्रों के दल में
अथवा मेरी इन अनगिन अभिनव अभिलाषों के जमघट में
अथवा मेरी तुच्छ सफलताओं के बजते वाद्य-गीत में
जहाँ-जहाँ भी तुम्हें दीखता मैं रेशम की सज्जाओं में
सच मानों, यह दम्भी मन मेरा हो चला और भी रीता

मेरा आसन, उच्च प्रतिष्ठा का अब तक गिर जाने वाला !
इस पर तो विश्वास नहीं; पर तुम्हें बताता हूँ सच मानो !
दिए तुम्हारे पथ-सम्बल से ही मैं अब तक बढ़ पाया हूँ !
आज जहाँ हूँ देन तुम्हारी, पर तुम क्यों हो शाप ग्रस्त से !

क्यों छिप-छिप कर सहमे, डरते, अपराधी से ताक रहे हो?
अपने रूखे बालों, पिचके गालों से, धँसती आँखों से
मुरझाए से, थके हुए से, आखिर क्यों तुम काँप रहे हो?
क्या मेरे प्रति उस अशेष ममता का कोष रिक्त कर आए!
यों मत ताको, यों मत देखो! सच कहता हूँ मेरे ही हो!
उस निस्संग असहाय ज़िन्दगी के मेरे गौरव, अभिमान साथियो!

यह जो कुछ तुम देख रहे हो, मिथ्या है, छल है, बोझा है
जिसे एक पल में उतार कर, आगे आता, निष्कृत हो कर
खुली वायु का सौरभ पीकर, अब विचरूँगा नील गगन में;
पास तुम्हारे, तुम में रह कर, नख-शिख तक तुम में ही खोकर
फिर से अपने टूटे-फूटे मन के बल को मैं जोड़ूँगा!

जन-जीवन से कटे-फटे सम्बन्ध-वसन को, नई प्रीत के
दृढ़ धागों से टाँक-टाँक कर धोऊँगा मैं, नव उठान के—
संघर्षों की भट्टी में गरमाए निर्मल कविता-जल से
बहुत दिनों के अन्तराल के जमे मैल को साफ़ करूँगा!
सौंधी धरती के हरियाले पर्णवक्ष पर इसे बिछा कर
जीवन-रवि की प्रगति धूप में सुखा, पहन-पहनाऊँगा मैं!

तुम हो मेरे उस अदम्य साहस के प्रतिनिधि, मेरे मित्रो!
जब मैं निपट अकेला होकर, निर्ममता से जूझ रहा था
उस जग से जो मेरे जैसे, अनगिनती प्राणों का लोहू
चाट-चाट कर अट्टहास करता हँसता था दुर्दम दानव
तब मैं उस हिरनाकुश के चिर पाप-पुंज से भरे वक्ष को—
बन कर के नरसिंह कलम-नख से विदीर्ण करने उठा था!

जीवन के इतिहास-पृष्ठ के ज्वलित अक्षरो! तुम प्रतीक हो
अविरल बढ़ती और सुलगती, मानव की जीवन-आग के
जो कर देती भस्मसात् शव की ढेरी, वैषम्य पुंज को!
आज स्वयं लो! आगे बढ़ विस्मृति की भस्म हटाता हूँ मैं
नई साँस से तुम्हें जिला कर जग के जीर्ण-शीर्ण छप्पर की
छाती में तुमको रख दूँगा, सुलग उठोगे, लपट बनोगे

ओ, मेरे कितने अपने प्रिय, चिरातीत से रूठे भावो!
सभी आज फिर संगी-साथी, बन कर बैठो, कवि के मन में
अब तक के संचित मधुरस से, तुम को नहला, पहनाऊँगा
नव छन्दों के उजले, कोमल, सौरभमय, परिधान मनोहर
नव-जीवन से सर्जित, भूषित, आलोकित विस्तीर्ण मार्ग के
स्वप्न-भरे हाटों की मदिर बहारें, दिखा मुदित कर दूँगा!

—यतेन्द्रकुमार

१५६, प्रेमनगर
अलीगढ़

जीवन की शाम

ठहर ! सुन ले, जीवन की शाम !
कभी सफलता
कभी विफलता
तेरे ही परिणाम !

जीवन-दिन ढल चुका नहीं है किञ्चित् भी परवाह
पैरों के डगमग होने में, घटा नहीं उत्साह
पन्थ थके तो थके
सदा ही—
पद बढ़ते अविराम !

जो कुछ होगा अच्छा होगा, यह पशुओं का प्रेय
करना-मरना, मिटना-बनना, यह मानव का श्रेय
बनना और बिगड़ना
ही तो—
जीवन का संग्राम !

मिट्टी की समाधि पर होता, नव-जीवन-निर्माण
प्राण उसे पाने को आकुल, देते निज-निर्वाण
अभिलाषा झुकती
मुसकाती—
देख शून्य परिणाम !
ठहर ! सुन ले, जीवन की शाम !

—लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

हम किसी आवाज़ को बिकने न देंगे

कोई भी आवाज़ दुनिया में किसी को
चाहे वह कितनी भी क्षीण और कँपती हो
किसी की आवाज़ में डूबे नहीं
बुद्ध की आवाज़ हो
या मार्क्स की
क्योंकि हर आवाज़ की एक आत्मा, एक मूल्य होता है
वह कुचल जाए नहीं
सम्मिलित आवाज़ के इस शोर हाहाकार में !

दासता बस एक होती है, किसी को
बेच देते हैं कि जब आवाज़ हम
और उसकी गूँज में, उसके स्वरों में, स्वर मिला कर
मानसिक परतन्त्रता की बेड़ियों में
सन्तुलन खो बैठते हैं
आत्म-निष्ठा, आत्म-चिन्तन !

नई दुनिया के समर्थक, दोस्तो,
इसलिए, हम एक स्वर से आज दुहराएँ यही
मूल्य कितना भी लगे
हम किसी आवाज़ को बिकने न देंगे
और हर कमज़ोर से कमज़ोर जो आवाज़, वह भी
मुक्त होगी
जिस तरह आकाश में लाखों सितारे

—स्वर्णलता जगदीश

३४१५ जार्ज टाउन,
इलाहाबाद

गीत

आज तुम्हारी छवि के बादल आँखों में मँडलाए
गीत लिखे कितने पर, जानें
क्यों सब रहे अधूरे
कोरे काग़ज़ पर न हो सके
चित्र तुम्हारे पूरे
टुकुर-टुकुर रह गया देखता, पर
कुछ लिख न सका मैं
लाखों जतन किया पर मेरे प्राण न कुछ गा पाए !
आज तुम्हारी छवि के बादल आँखों में मँडलाए !
तृषित नयन से मैंने तुमको
कितनी बार निहारा
रुद्ध कण्ठ अन्तिम आशा ले
कितनी बार पुकारा
उर में दीप जलाए कितने
पर निःस्नेह, बुझे वे
कर गुहार थक गया, ज्योति के कण आँखों में न समाए !
आज तुम्हारी छवि के बादल, आँखों में मँडलाए !
तपा किए मन प्राण, तुम्हारी
अर्चा में निशि-वासर
ढला किए मोती आँसू के
कुछ भीतर, कुछ बाहर
शिरा-शिरा में कौंध गई बिजली
प्राणों पर पत्थर
नैश गगन में पर न कभी तुम शशि बन कर मुस्काए !
आज तुम्हारी छवि के बादल आँखों में मँडलाए !
लेकिन संध्या में यह कैसी
है प्रकाश की रेखा
धूमिल गगन, मगर कुछ भी है
आज नहीं अन देखा
प्राणों में किसकी मधुवाणी
बरबस गूँज रही है
कौन आज मन की वीणा के तारों को झनकाए !
आज तुम्हारी छवि के बादल आँखों में मँडलाए !

—कीर्तिनारायण मिश्र

गीत

आज तुम जो मिले ज़िन्दगी में मुझे,
स्वर्ग की याद संसार पर छा गई

साँझ ढल ही गई रात रो-रो कटी—
प्रात की बाट में दीप जलता रहा
इक तुम्हारे लिए मैं भटकता फिरा,
मौत की छाँव में प्यार पलता रहा
चार आँखें मिलीं, चाँद शर्मा गया,
भूल प्रत्येक तेरी मुझे भा गई
आज तुम........

खिले फूल-सा कान्त यौवन तुम्हारा
किसी के लिए प्यास बनने लगा
मन्द मुस्कान का पान करता रहा,
और तिल तिल अनायास गलने लगा
नील आकाश-सी गूढ़ आँखें मिलीं कि
धरोहर पुरानी मुझे पा गई
आज तुम.........

ज्वार दिल में तुम्हारे मचलने लगा—
याद आई कि छाई हो काली घटा
बोल अधरों पे आ कर हुए क़ैद थे—.
पर कहानी कहे जा रही थी निगाह
बढ़े जा रहे हो पथिक अब कहाँ,
आज मंज़िल तुम्हारी यहाँ आ गई
आज तुम०.........

—प्रो० जयसिंह 'नीरज'

ग० कालेज, सरदार शहर,
राजस्थान

अरविन्द के जीवन की सब से बड़ी सफलता

श्री अरविन्द जिस नई मानवता को (Race of Sons of God) जन्म देना चाहते थे उसके लिए उनके भीतर कितनी भारी तैयारी चल रही थी इसका दिग्दर्शन कराने के लिए बहुत कुछ लिखने की आवश्यकता होगी। यहाँ केवल यही दिखाने का प्रयास किया गया है कि जो कुछ वह करना चाहते थे उसकी पक्की नींव डालने के लिए उन्होंने कौन-सा पहला क़दम उठाया। उनके जीवन की सब से बड़ी सफलता इस बात में है कि उन्होंने उस परमा शक्ति को बहुत दूर से लाकर हमारे बीच प्रकट कर दिया। राजनीतिक जीवन-काल से ही ज्योतिर्मयी मातृ शक्ति श्री अरविन्द की आराध्या थीं। साधन-काल में उनका विश्वास दृढ़ हो गया है कि दिव्य माँ की सहायता बिना काल के मुख में पड़े मानव को कालजयी नहीं बनाया जा सकता। देव-दुर्लभ ऐश्वर्य का मानव यदि यहीं, इहलोक में, इसी नरदेह में उपभोग करना चाहता है तो उसे उस आनन्दमयी की गोद में आश्रय लेना होगा जो सबके जीवन का आधार है। उसके जाग्रत हुए बिना धरती के अंचल को स्वर्गिक आभा से मंडित नहीं किया जा सकता। एतदर्थ जो अनिर्वचनीय शक्ति अनन्त की गोद में प्रसुप्तावस्था में[1] पड़ी है उसे जाग्रत करके, स्थूल शरीर में अवतरित होने के लिए राज़ी करना होगा। उस सर्वोच्च शक्ति की योग निद्रा को भंग कर उसे धराधाम में अवतरित होने के हेतु श्री अरविन्द किस प्रकार वचन बद्ध करते हैं यह उनके जीवन की सबसे बड़ी बात है।

यहीं से उस कार्य की नींव पड़ती है जिसके लिए वह पृथ्वी पर भेजे गए थे। इस नींव पर श्री अरविन्द आश्रम में जो इमारत उठ रही है उसे काल का कराल हाथ भी ढाह नहीं सकता। 'दिव्य जीवन' में उन्होंने जो कुछ सिद्धान्ततः प्रतिपादित किया है वह कैसे रूप लेगा उसकी सिद्धि के लिए सूक्ष्म जगत् में उन्होंने क्या किया है यह उसके जीवन के जीवित इतिहास की कहानी है। एतद् विषयक उल्लेख 'सावित्री' के तीसरे पर्व में बड़े विस्तार से आया है। इस दृष्टिकोण से 'सावित्री' बारहों पर्व में इस पर्व की महत्ता बहुत बढ़ जाती है। हम इसी दृष्टि से इसकी आलोचना करेंगे।

लाख चेष्टा करके भी हम मानवत्व की परिधि को अतिक्रम नहीं कर पाते। इसलिए जीवन में शुक्ल-पक्ष के कभी दर्शन नहीं होते। ऊपर उठते-उठते श्री अरविन्द इतने ऊँचे उठ जाते हैं जहाँ विश्व ब्रह्माण्ड का कोई चिन्ह तक नहीं रह जाता, मानवत्व के घेरे के भीतर जो कुछ आता है उसे पार कर वह उसके साथ एक सूत्रता स्थापित करते हैं जो नाम रूप रहित है। वह क्या है बुद्धि उसकी थाह नहीं पा सकती। नाम रूपवाली सभी वस्तुएँ एक-एक करके लुप्त हो जाती हैं और तब उन्होंने ज्ञानचक्षु से देखा कि पर्दे के पीछे वह परात्पर पुरुष जीवन के प्रकाण्ड पंख पर पैर जमाए खड़ा है।[2]

उस एक के सिवा वहाँ कुछ नहीं था (There was no second) शान्ति इतनी गहरी और घनीभूत थी कि "मनने अब तक जो कुछ जाना है वह तथ्यहीन प्रतीत होने लगा।[3] यह वह अवस्था है "जहाँ जन्म, मृत्यु, कर्म-नियति कुछ भी नहीं रह जाता?" पूछा जा सकता है तो फिर क्या रह जाता है? उस दशा में क्या आत्मा के अस्तित्व का लोप हो जाता है, वह भूमा में लीन हो जाता है? तो क्या दुनिया के जाल को काट कर ऐसे लोक में चले जाना होगा जहाँ से लौट कर आना असम्भव हो जाए—इसी का नाम विजय है?

अपनी आत्मा से अश्वपति स्वयं पूछते हैं "अब तक जो कुछ तूने पाया है उसे 'ना' की संज्ञा दी जा

---

[1] Absolute power sleeps in absolute silence—Savitri.

[2] ......his feet firm leased on life's sterpendous wings.

[3] And makes unreal all that mind has known.

सकती है किन्तु बोल वह चिरंतन 'हाँ' कहा है ?[1] एक उच्च निषेध ही तो जीवन का अन्तिम प्रयोजन नहीं है। यह तो समय से पूर्व आनन्द मनाना है। यह ठीक है कि तूने परमात्मा की निस्सीम शांति को प्राप्त कर लिया है और असीम गहराई में भी कूद पड़ी है किन्तु जो मिशन लेकर तू धरा पर आई थी उसे कहाँ फेंक दिया।[2]

यह ध्यान में रखने की बात है कि असीम शांति की विराटता शक्ति शून्य नहीं है। "एक निरतिशय शांति में परम शक्ति सोई रहती है।" सहसा यह शून्यता रिक्तता दूर हो जाती है और वह विराट् अंचल हीरक ज्योति से दीप्तिमान हो उठता है। "जिस दैवी सान्निध्य के लिए उनके हृदय में दिव्य अग्नि जल रही थी उसका एक रहस्य अद्भुत परात्पर केन्द्र से आविर्भूत होता है। उस सर्व शोभामयी की क्षण भर की मधुरिमा से विश्व आवर्त का अभिमान चूर हो जाता है और जिस महाशब्द, महासूत्र के निमित्त वह चिरकाल से प्रतीक्षा में थे वह मिल जाता है।

यह वह देवी है जिसमें निराकार और साकार एक हो जाते हैं, जिसमें हम अपने सूर्यों को प्रज्वलित करते हैं। यही वह आद्या शक्ति है जिसे समस्त प्रकृति मूक भाव से पुकारती है "कि वह अपने पदों से जीवन की दुखती हुई धड़कन का उपचार करे।" यही वह ज्योतिर्मयी देवी है जो मध्यवर्ती बन कर पृथ्वी को परमात्मा से मिला देती है और मर्त्य की मिट्टी में परमानन्द की पूर्णता को प्रकट कर सकती है।

इस देवी के स्वप्नाभास से श्री अरविन्द को यह पुष्प प्रतीति होती है कि यही वह शक्ति है जिसके कर प्रकृति की धारा को बदल सकते हैं[3]। 'मनुष्य अन्धकार में उसी को खोज रहा है। समस्त विरोध उसके सामंजस्य की तैयारी करते हैं।' सूचिका बन कर वह हमारी आत्माओं को एक स्वर्ण सूत्र में पिरो देगी। उसका परिरंभ समस्त दुःखों को परम आनन्द में परिणत कर देगा। एक दिन आएगा जब यहाँ सब कुछ उसकी मधुरिमा का धाम बन जाएगा।[4] ये सब सत्य विद्युत् द्युति की भाँति उनके सामने कौन्ध जाते हैं।

इस दिव्यानुभूति के बाद, जो अमृत आपने पिया था उसे दुनिया को पिलाने के निमित्त उस अनन्त के यात्री के जीवन में मानो नशा छा जाता है। उसकी धारणा दृढ़ हो जाती है कि वे एकमात्र उस परम पुरुष की शक्ति ही जीवन के बन्द कमरों में अमृत धन का समीरण बहा सकती है। सान्त को अनन्त से परिपूरित कर सकती है।[5]

तम के धन को, भौतिकता की मुहर को, मृत्यु के पाश को विदीर्ण करना मनुष्य के वश की बात नहीं है। स्वर्ग की ऊँचाई को छूना मनुष्य के लिए एक दुष्कर कार्य है। स्वर्ग ही नीचे आना स्वीकार कर ले तभी कुछ करना संभव हो सकता है। अतः उसकी शक्ति, ज्योति, दिव्यानन्द को हमारी जलती और कराहती दुनिया में उतार लाने के निमित्त वह अपने को सर्वात्मना समर्पित कर देते हैं। यहीं इस पर्व का दूसरा सर्ग समाप्त होता है और तीसरा आरम्भ होता है।

---

[1] Only the everlasting No has neared
but where is the lover's everlasting Yes—Savitri Book III Cants. II.

[2] Thou hast reached the boundless silence of the self
Thou hast leaped into a glad abyss;
But where hast then thrown self; mission and self power—Ibid.

[3] Alone her hands can change time's dragon base

[4] All here shall be one day her sweetness's home—Ibid p. 286 First Ed.

[5] A power that lives upon heights must act,
And fill the finite with the Infinite
.....vain are human power and human love to break earth's seal of ignorance and death; only he yearned to call for ever down, Her healing touch of love and truth and joy into the darkness of the suffering world—Ibid.

१६५०

तीसरे सर्ग की पहली पंक्ति है :

A mightier task remained than all he had done.

अब तक अश्वपति जो कुछ करने में सफल हुए थे उससे एक बहुत बड़ा कार्य करना अभी भी शेष रह गया था। जिस महाशक्ति का उन्हें एक क्षीण आभास मिला था उसकी सहायता का आश्वासन पाना अभी भी बाक़ी था। यह वह देवी है जिसके दर्शन महः, जनः, तपः लोकों के देवताओं को भी नहीं होते। जब तक स्वतः वह नीचे उतर न आए।

अश्वपति की स्थिति इस समय इतनी ऊँची है जिसकी हम धारणा भी नहीं कर सकते परन्तु यहाँ भी अन्धकार की शक्तियाँ अपने अस्तित्व की सूचना देने से बाज़ नहीं आतीं। हमारे मनमें बहुत से खाने हैं। सारा प्रकोष्ठ स्फटिक की तरह चमचमा रहा है किन्तु एक कोने में तिलचट्टा दीवार से चिपक कर बैठा रहता है। ऐसी स्थिति प्राप्त करनी होगी कि इन्हें तिल भर स्थान भी लुक-छिपकर बैठने के लिए न मिल सके। निश्चेतना की शक्ति भी असीम है, जितनी ही इसकी खाई भरी जाए उतना ही इसका उदर बढ़ता जाता है। जिस शक्ति को वह अपने भीतर उतारना चाहते थे उसके योग्य आधार तैयार करने के अभिप्राय से उन्होंने अपने भीतर से तम की जड़ की उन शिराओं को निर्मम कर से उखाड़ फेंका जो उनके स्वभाव में अभी तक जमीं थीं और उस रिक्त स्थान को देवता के आगे पूजा के पात्र के रूप में धरा। तब उस असीम को अपने बाहुओं में धारण करने की उनमें शक्ति आई। इसके बाद आती है जीवन को रूपान्तरित करने-वाली घड़ी--उपर्युक्त विवरण स्वप्नों की भाषा में नहीं है, अनुभूतियाँ स्वयं बोल रही हैं। इस प्रकार विश्व-भावापन्न होकर एक साँस में वह प्रकाश के एक और प्रदेश में जा पहुँचते हैं। इस ज्योतिर्मय लोक में भले-बुरे, घृणा-प्रेम, नियति-संयोग, सत्य मिथ्या का द्वन्द्व नहीं है। न एक विचार का दूसरे विचार के साथ कोई विरोध है, न एक सत्य का दूसरे सत्य के साथ संघर्ष। परिपूर्ण शान्ति के उस राज्य में विश्व प्रकृति खेल रही थी और सनातन पुरुष साक्षी बन कर अपने सर्वोच्च सिंहासन से सब कुछ देख रहा है। यहाँ से एक अभिनव सृष्टि को जन्म लेते अश्वपति देख रहे हैं। भविष्य के गर्भ में क्या है, कालान्तर में दुनिया का कौन-सा रूप प्रकट होने को है यह भी उनकी आँखों से छिपा नहीं रहा।

आद्या शक्ति के साथ संभाषण : अकस्मात् उस आनन्दमय वातावरण में एक पुनीत कम्पन होता है और उन्हें वीणा वाद्य-सा एक मधुर स्वर सुनाई देता है। उस वाणी को कर्णेन्द्रियों से सुना नहीं जा सकता। आत्मा के निम्न आकाश में ही उसकी स्वर लहरी पकड़ाई देती है। इस दैवी उपस्थिति से उनके शरीर का रोम रोम पुलकित हो उठता है। प्रत्येक स्नायु दिव्यानन्द की वहिनप्रभ राखी बन जाती है। मज्जा,

---

[1] "For the inconscient too is infinite
The more its abysses we insist to second
The more it stretches, stretches endlessly
He tore desire up from its bleeding roots
And offerd to the gods the vacant place
Thus could he bear the touch immaculate
At last and mightiest transformation came
His being, spread to embrace the universe"

Savitri Book III Cants III

[2] "A new and marvellous creation arose
... .
He saw the world that is from a world to be
... .
It waited for the fait of the word
That comes through the still self from the supreme"—Ibid

मेदा, शिरा तक उस आनन्द को अनुभव करने में समर्थ होते हैं। मधुमिश्रित स्वर में पहले तो देवी उनसे कहती हैं :

"धरती पर चाहते तुम, हो अमेय का
आविर्भाव ! बोलो पर, है कहाँ मानव में
शक्ति ? पूर्णोदय यदि पूर्ण सत्य का अहो !
होवे समय से पूर्व—धरा फट जाएगी
समय, पूर्ण सत्य के सूर्योदय का अभी
आया नहीं। मत करो प्रयास समय से
पूर्व, गति को बदलने का विश्व चक्र की
है अमेय के भार को वहन करने की
शक्ति कहाँ ? सोच देखो, मानव में आज के ?
सर्व दर्शिनी शक्ति को, दो निर्माण करने
इच्छानुसार अपनी, पथ को मानव के
वह्निगर्भ अन्तर को, आदेश मेरा नहीं
विलीन तुम होने दो, भूमा के आनन्द में
पा सकेंगे प्राण तव विश्राम कैसे कहो ?
होकर निशंक जब तक धरा वक्ष पर
मृत्यु, कर रही विचरण औ' बना हुआ
काल है, दुःख यन्त्रणा का रंगमंच अहो !"

वृष्टि मानो हो रही थी वचनामृत की। विधु वदनी मंजुलभाषिणी देवीमूर्ति ने कहा फिर—

"हे आयुष्मान्। हो पूर्ण आप्तकाम ! करके
स्वीकार, संकट सकल, धीर छन्द से
चलो, कार्य संसिद्धि के निमित्त सर्वज्ञ के !
बंधा है मानव, पहेली की क्रूर ग्रन्थी में:
रोप दिए गए हैं, मिट्टी में पग उसके
उड़ना यद्यपि वह चाहता आकाश में—
गाड़ रखा है उसने शिविर जीवन का
निर्जन मरुथल में। न ज्ञान है उसे
अपनी महानता का, लक्ष्य से जीवन के
न परिचित है वह। आक्रान्त तो है वह
भूतल पर; स्वर्ग का भी नहीं भरोसा उसे
विपरीत पहेलिका, उसके जीवन की
है भूमिका। रह कर घनान्धकार में ही
सकता वह देख किरणों को प्रकाश की
हाथ सदैव यद्यपि संलग्न निर्माण में
नूतन के: डाल पर मनुज पाता नहीं
स्थिरतर भित्ति कहीं ! बनना वह चाहता
नियन्ता सारे विश्व का, असमर्थ जब है
नियन्त्रित करने में भी अपने आपको
जिस स्तर पर खड़ी आज है मानवता
नहीं ज्ञानोद्दीप्त वहाँ हो सकता उसका
जीवन। उड़ कर वह अज्ञान के पंख पै
आँक केवल सकता छाया चित्र ज्ञान का !
किया जाता बाध्य होने को जो वह है नहीं
साध तो स्वतन्त्रता की पर परतन्त्रता
पाश में वह मग्न है। चल दूरवीन से
चाहता है अज्ञान की परखना ज्ञान को !
निस्तल निश्चेतना का शासन करने के
निमित्त आया जब था, हाय ! वह हो रहा
देखो, शासित उसीसे ! प्राप्ति कभी हो नहीं
सकती उसे पूर्णता—इस प्राण मन से
अनुक्षण चल रहा संघर्षण, उर में
किन्तु, पूर्णता के हेतु। मानव नियति का
संचालन जब कर रहे जग नियन्ता

---

3 "I ask thee not to merge thy heart of flame
In the immobile wide unearing bliss
How shall thy might spirit book repose
While death is still unconqured
And time a field of suffering and pain"

4 "His failure is not failure whom God leads"

१९५३

विफल मनोरथ हो सकता कैसे कहो !
प्राप्त नेतृत्व है जिसे जग संचालक का
वृथा तो विफलता भी उसका जाता नहीं''
"पाला है जिन्होंने दिव्यलोक युग युग से
धरणी के वक्ष पर—तुम उनका कभी
न करना परिहार—होना होगा तुमको
सहायक अन्ध असहाय अग जग का
मही पर महीयान् हो तुम्हारी साधना !
बस फल एक यही हो अभीष्ट तुमको
मानव जाति ऊर्ध्व को नित गतिमान हो !
विधि की वेला में तात ! सब कुछ जग में
होगा रूपान्तरित''

—नारायण प्रसाद 'बिन्द्र'

श्री अरविन्द आश्रम
पांडीचेरी

संस्कृत के पुराण और इतिहास

संस्कृत भाषा में जो इतिहास और पुराण उपलब्ध होते हैं उनमें कई अमूल्य सूचनाएँ प्राप्त होती हैं परन्तु जब से मैकाले ने संस्कृत साहित्य का परिहास किया तब से अंग्रेज़ों ने इस साहित्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और इस कारण इनकी ओर जैसा ध्यान दिया जाना चाहिए था—वह न दिया जा सका।

मिश्र की नदी नील के मूल स्थान की जब खोज हो रही थी तब किसी ने उन्हें 'मत्स्य-पुराण' में वर्णित इस नदी की बातें सुनाईं। 'मत्स्यपुराण' में लिखा है : "कुशद्वीप में चन्द्र-स्थली है। उसमें एक महासरोवर है और इसी में से महाकृष्णा नदी निकलती है।" नील नदी के स्रोत को ढूँढ़ने वाले श्रीयुत लेफ्टिनैण्ट स्पेक (Speke) को आफ्रिका की बोली आती थी। उन्हें 'मत्स्यपुराण के इस वर्णन से प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने कहा 'महाकृष्णा नदी' का अर्थ 'नील नदी' है और 'चन्द्रस्थली' स्थान वर्तमान 'उन्या मूएसी' (चन्द्र देश) है। इसके अनुसार उसने 'उन्या मूएसी' के रास्ते को पकड़ा और उसे 'नियान्सा' का महासरोवर मिला। इसे आज विक्टो-रिया न्यान्ज़ा सरोवर कहा जाता है और यहीं से नील नदी निकलती है।

'मार्कण्डेय पुराण' में महेन्द्र द्वीप, कशेरुमान, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान, नागद्वीप, सौम्यद्वीप, गन्धर्वद्वीप और वरुणद्वीप का वर्णन प्राप्त होता है—ये द्वीप इंडोनेशिया और मलेशिया हैं।

'रामायण' में तो जावा का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। 'रामायण' में लिखा है 'यत्नवन्तो यवद्वीपम्'। यही यव द्वीप जावा है। पीछे 'जावा' का नाम शाव या शावकद्वीप पड़ गया।

—गुजराती 'कुमार' से

हर्बर्ट रीड और टी. एस. ईलियट

कविता और आलोचना का सदा एक निकट सम्बन्ध रहा है और अंग्रेज़ी तथा हिन्दी साहित्य दोनों में ऐसे लेखकों के पर्याप्त उदाहरण मिलेंगे जिनका कविता और समालोचना पर समान अधिकार है। इसका कारण स्पष्ट है। कवि न केवल द्रष्टा होता है परन्तु विचारक भी होता है और कविता लिखने के साथ साथ वह कविता के सिद्धान्तों पर विचार किए बिना नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त स्पष्ट रूप से न सही तो कवि के, अर्धचेतन में तो काव्य तथा आलोचना के कुछ सिद्धान्त रहते ही हैं और यदि वह कवि किसी नवीन विचारधारा अथवा शैली का जन्मदाता है तो वह आलोचक होने के लिए भी बाध्य हो जाता है। आर्नल्ड ने जो स्वयं एक प्रसिद्ध आलोचक तथा कवि था कहा है 'जीवन तथा संसार के बारे में' कविता लिखने के पहले कवि को उनके बारे में ज्ञान होना आवश्यक है, और चूँकि जीवन और संसार दोनों ही आसान समस्याएँ नहीं हैं, एक आधुनिक कवि के विकास में पर्याप्त आलोचनात्मक प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

आर्नल्ड के इस कथन को यदि ध्यान में रखा जाय तो आजकल के युग में कवि तथा आलोचक का एक ही व्यक्ति में सम्मिश्रण आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता। आजकल के युग में जीवन के प्रश्नों की जटिलता और भी अधिक बढ़ गई है और इसलिए आधुनिक कवि का आलोचनात्मक प्रयत्न भी बढ़ गया है। आधुनिक युग के दो प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कवि ईलियट तथा रीड उल्लेखनीय आलोचक भी हैं। परन्तु वे दोनों क्षेत्रों में आधुनिक युग की दो विभिन्न धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका तुलनात्मक अध्ययन एक आकर्षक विषय हुए बिना नहीं रह सकता।

अपनी कविता तथा आलोचना दोनों में ईलियट परम्परा का समर्थक और उसके अनुसार बिना साहित्यिक परम्परा का सहारा लिए हुए कोई भी कवि उच्च कोटि का काव्य नहीं लिख सकता। साहित्यिक व्यक्तित्ववाद का वह घोर विरोधी है। परम्परा का अर्थ ईलियट के लिए बहुत विस्तृत है वह ऐतिहासिक भावना जो कि कलाकार से न केवल अपने युग की भावनाओं की अभिव्यक्ति कराती है परन्तु जो उसको यह समझने पर बाध्य करती है कि पूरे यूरोप का साहित्य होमर से आरम्भ होकर और स्वयं उसके देश का साहित्य भी उसकी कृतियों में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस तरह से ईलियट के अनुसार एक सच्चे साहित्यकार को भूतकाल के पूरे बोझ को ढोने के लिए तैयार रहना चाहिए। कवि के व्यक्तित्व के बारे में उसका कहना है 'कविता भावना की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि उससे पलायन है वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि उससे पलायन है। इस तरह से ईलियट का कवि अपने व्यक्तित्व को दबाए रहता है तथा परम्परागत मान्यताओं को ही अपनी कविता का आधार बनाता है।'

काव्य के उद्देश्य और कवि के व्यक्तित्व के महत्व के बारे में रीड के विचार बिलकुल विपरीत हैं। रीड ने कला के दो रूप बताए हैं Organic form और Abstract form पहले प्रकार की कला की रचना तब होती है जब कि 'एक कलाकृति के अपने ही नियम हों'— जिनका जन्म उसके साथ ही हुआ हो और जो कि बाह्याकार और विषय-विशेष का एकांगी रूप हों। इसके विपरीत जब कलाकार विषय को पहले से ही निर्धारित आकार में ढालने की चेष्टा करता है तो उसकी कला Abstract form के रूप में आती है। इस तरह से मौलिक रचना वही होगी जो अपने में निहित नियमों पर ही आधारित हो और जिसको बाहरी नियमों अथवा परम्परा का अनुकरण करने की आवश्यकता न हो। रीड के अनुसार Organic कला व्यक्तित्व का ही स्पष्टीकरण है तथा सब काव्य व्यक्तित्व से ही उत्पन्न होता है।'

इस तरह से जहाँ ईलियट व्यक्तित्व के दमन को काव्य रचना के लिए आवश्यक मानता है, रीड के लिए काव्य का आधार कवि का व्यक्तित्व ही है। आधुनिक युग के दो प्रधान कवियों के ये विचार उनके पूरे व्यक्तित्व के रुख पर प्रकाश डालते हैं। इस युग में ईलियट ने रोमांटिक युग के कवियों के विरुद्ध आवाज़

ई है और सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिक (Metaphysical) कवियों की पुनरावृत्ति की है। रीड ही आजकल का एक आलोचक है जिसने रोमांटिकों के ऊपर इस प्रहार का उत्तर दिया है।

हर क्षेत्र में रीड का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी का ही है और वह रूढ़िवाद, परंपरावाद तथा थोथे नियमों का घोर विरोधी है। 'एजुकेशन थ्रू आर्ट' में रीड ने कहा है कि हमारी शिक्षा रूढ़िवादी और नियमबद्ध हो गई है और उसमें विद्यार्थी के छिपे हुए व्यक्तित्व के विकास के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं है। इसी तरह दर्शन के क्षेत्र में रीड प्लेटो के आदर्शवाद और उसके 'आइडियाज़' के सिद्धान्त का विरोधी है। उसके अनुसार ही सिद्धान्तवाद, रूढ़िवाद और परम्परावाद का जन्म होता है। कुछ थोथे सिद्धान्तों को लेकर मनुष्य जडवादी हो जाता है और उसकी वैयक्तिक उन्नति रुक जाती है, जिसका जन्म बाह्य नियमों में न होकर आन्तरिक प्रेरणा से ही हो सकता है। व्यक्तिगत अनुभव को कलात्मक रूप देना ही कलाकार और कवि का कर्तव्य है क्योंकि व्यक्ति की सच्ची अनुभूति ही चिरन्तन है। इसी तरह राजनीति के क्षेत्र में रीड 'अराजकतावादी' है क्योंकि उसके अनुसार राजनैतिक शासन भी रूढ़िवाद का ही एक रूप है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अनुभूति के लिए कोई स्थान नहीं है। ऊपर से लादे हुए शासन के नियम भी उतने ही अर्थहीन हैं जितने परम्परा द्वारा बनाए हुए काव्य के नियम और सिद्धान्त।

यह बात महत्वपूर्ण है कि आजकल के प्रगति के युग में ईलियट ने रोमन कैथलिक धर्म को अपनाया है। 'फ़ार लैन्सलाट एण्ड्रूज़' के प्राक्कथन में ईलियट ने कहा है 'मैं साहित्य में परम्परावादी, राजनीति में राजतन्त्रवादी तथा धर्म में 'एंग्लो कैथलिक हूँ'। यह एक ही सिद्धान्त के तीन रूप हैं—परम्परावाद के। ईलियट के अनुसार साहित्यिक आलोचना को एक नैतिक तथा धार्मिक आलोचना द्वारा पूर्ण किया जाना चाहिए। केवल साहित्यिक आलोचना से हम किसी साहित्यिक रचना का मूल्यांकन नहीं कर सकते। उसका यह भी कहना है कि हमारा आधुनिक साहित्य धार्मिक निरपेक्षता के सिद्धान्त द्वारा भ्रष्ट हो चुका है।

ईलियट सत्रहवीं शताब्दी के 'दार्शनिक' कवियों का बहुत प्रशंसक है, और उनसे प्रभावित भी हुआ है। इन कवियों का दर्शन शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पदवी उनके लिए इसीलिए प्रयोग की जाती है कि उन्होंने एक विशेष शैली को अपनाया जिसमें रूपक और अलंकारों को तोड़ मोड़ कर और ऐसे भावार्थ में प्रयोग किया जाता था जो उनके असली भावार्थ से बिलकुल परे होता था। इसको हम शाब्दिक कलाबाज़ी भी कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त विचारों की शृंखला भी बिलकुल बेतरतीब होती थी। इन कवियों में से प्रमुख -डन-के बारे में ईलियट ने कहा है—'डन के लिए एक विचार एक अनुभव के बराबर था, वह उसकी अनुभूति को ही बदल देता था।' अपनी अनुभूति तथा शैली में ईलियट इन कवियों का बहुत आभारी है और उसकी कविताओं—जैसे वेस्टलैण्ड तथा फोर क्वार्टेट्स में इस तरह की असम्बन्धित अनुभूति तथा शब्द-विन्यास के उदाहरण मिल सकते हैं।

रीड की साहित्यिक सहानुभूतियाँ इनके बिलकुल विपरीत हैं। वर्ड्सवर्थ और ब्लेक की तरह उसको भी अपने बचपन की स्मृतियाँ प्रिय हैं, कीट्स की तरह वह कल्पना की उड़ान में विश्वास करता है और बायरन की तरह वह भी राजनैतिक आदर्शवादी है। रीड ने अपनी बाल्यावस्था की स्मृतियों के चित्र 'अनालस आफ इन्नोसेन्स एण्ड एक्सपीरियेन्स' में दिए हैं, और इस पुस्तक का नाम ब्लेक के 'सांग्स ऑफ़ इन्नोसेन्स एण्ड एक्सपीरियेन्स' से बहुत मिलता-जुलता है। ग्रामीण जीवन का इतना पवित्र और आकर्षक वर्णन—जैसा कि इसका प्रभाव एक बढ़ते हुए बालक पर हुआ—और कहीं मिलना कठिन है और यद्यपि यह पुस्तक गद्य में है, फिर भी इसकी भावनाएँ वर्ड्सवर्थ और ब्लेक की कविताओं की भावनाओं से टक्कर लेती हैं। इसी तरह से उसका उपन्यास 'ग्रीन चाइल्ड' भी बचपन की अनुभूतियों पर ही आधारित है। ग्रीन चाइल्ड बचपन की आशाओं, कोमलता तथा जीवन-शक्ति का प्रतीक है।

चूँकि रीड की दिलचस्पी हमेशा मनुष्य के व्यक्तित्व में रही है, उसका ध्यान प्रारम्भ से ही मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण में रहा है। उसने क्लैसिकल और रोमांटिक कला को 'इगो' और 'इड' के रूप में देखा है और कलाकार के प्रयत्न को उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों के विकास के रूप में समझा है। वह कला की सामाजिक अथवा धार्मिक पृष्ठभूमि में इतनी दिल-

चस्पी नहीं रखता जितनी ईलियट। उसके काव्य में ईलियट के वेस्टलैंड की तरह आजकल के युग की निराशा और मानव की अनुभूति के विच्छेद का चित्रण नहीं। उसमें आत्म-चिन्तना तथा आत्म-मनन का ही बाहुल्य है। रीड ने भी लगभग उसी समय लिखना आरम्भ किया जब कि और आधुनिक कवि नई काव्यधारा को प्रोत्साहित कर रहे थे। उसकी बहुत सी कविताओं की पृष्ठभूमि भी पहला महायुद्ध है। उसकी कविताओं के एक संग्रह का नाम ही 'दि एण्ड आफ़ ए वार' है। पर उसमें युद्ध के अन्त के बारे में उतना नहीं है जितना कि इसके बारे में कि कवि पर उसका क्या प्रभाव पड़ा और उसने कवि में किन-किन संशयों, विश्वासों और धारणाओं का उत्पादन किया। उसको आत्मगाथा रूपी काव्य कहना ही उचित होगा।

३६, मॉडल हाउस,
लखनऊ

—भोलानाथ चतुर्वेदी

टर्किश और अरबी कॉफ़ी

टर्की और अरब में कॉफ़ी भिन्न तरीकों से तैयार की जाती है। टर्की में कॉफी के बीजों को शक्कर के साथ मिलाकर मैदे-जैसा बारीक पीस लिया जाता है। फिर इसे 'जज़वे' या कोयलों की आग पर पकाया जाता है। इस प्रकार पकाने से काफ़ी में एक विशेष-प्रकार का स्वाद उत्पन्न हो जाता है। 'एसप्रेसो कॉफ़ी' की तरह टर्किश काफ़ी को भी कभी उबाला नहीं जाता। पहले कॉफ़ी की झाग को ज़रा-सी मात्रा में प्यालों में डाला जाता है और फिर प्याले भर लिए जाते हैं। बर्फ़ के पानी को कॉफ़ी के साथ दिया जाता है और कॉफ़ी की झाग को बिठाने के लिए काफ़ी में बर्फ़ के पानी की एक-आध बूँद को डाला जाता है।

अरब-काफ़ी बिलकुल दूसरे तरीक़े से तैयार की जाती है। इसे बनाने में प्रचुर परिश्रम करना पड़ता है। अरब-कॉफी को तैयार करने में तीन, चार और यहाँ तक की पाँच बरतनों को उपयोग में लाया जाता है। काफी के बीजों को भून कर पीस लिया जाता है। पहले काफी के पाउडर को एक बरतन में पानी में उबाला जाता है और फिर थोड़ा-थोड़ा करके अन्य बरतनों में। आवश्यकता के अनुसार इनमें और कॉफी डाल ली जाती है। अरब में बहुत ही छोटे प्यालों में थोड़ी-थोड़ी करके कॉफी पी जाती है। कॉफी के प्यालों को हैण्डल नहीं होता। प्यालों को अंगूठे और तर्जनी से उठाया जाता है। एक ही समय में तीन या चार प्याले काफी के पिए जाते हैं।

—"ऐस्सो" मेगज़ीन के एक लेख से

कमल—एक आदि पुष्प

विष्णु के हृदय में सृष्टि की रचनार्थ विकलता छा गई। गहन अवसाद और अजस्र चिन्ताओं से विष्णु का मुखमण्डल मेघाच्छादित नीलाम्बर के सदृश हो गया। एकाएक विष्णु का मुख किसी अज्ञात स्वर्णिम लक्ष्य की अनुभूति से चमक उठा। सृष्टि रचना की रहस्यमय ग्रन्थि सुलझ चुकी थी। विष्णु ने अपनी नाभि से एक सुन्दर प्रसून को पल्लवों सहित जन्म दिया। प्रसून पल्लव जल में डोल उठे। भावोद्वेलित तत्क्षण प्रसून पल्लव में आ गए। धीरे धीरे कमल कली ने अवगुंठन खोला। सर्वत्र एक सिहरन फैल गई। कली से सृष्टिकर्ता ब्रह्मा उत्पन्न हुए। अपने उद्देश्य नूतन सृष्टि की रचना हेतु ब्रह्मा ज्ञान प्राप्ति हेतु विकल हो उठे। उन्होंने उस प्रसून पर आसीन हो तप प्रारम्भ किया। सहस्रों वर्षों तक वह सुमन कमल, उन्हें अपने वक्ष पर आश्रय देता रहा। तदुपरान्त सृष्टि-रचना प्रारम्भ हुई।

एक भावनामय प्रसून

यह कथा प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति के प्रसंग में मिलती है और कमल की प्राचीनता और महत्व की प्रतीक है। इस कथा से यह प्रमाणित होता है कि कमल एक आदि-पुष्प है। आधुनिक विज्ञानी व्यक्तियों के लिए यह कथा कमल की प्राचीनता का प्रमाण नहीं बन सकती, परन्तु कमल का सभ्यता, संस्कृति और साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा है, वह कमल की प्राचीनता और महत्व का स्पष्ट प्रदर्शन करता है। साथ ही उपरोक्त घटना सत्य हो या कल्पित इतना अवश्य बतलाती है कि उसकी रचना के पूर्व से कमल का अस्तित्व था और उस युग के निवासियों की दृष्टि में भी वह अत्यन्त प्राचीन प्रसून था।

कमल अपनी कमनीयता, कोमलता, मधुरता, सुन्दरता और सौरभ के कारण अन्य फूलों से ऊँचा उठ कर सौन्दर्य, प्रेम भक्ति और माधुर्य का प्रतीक बन गया है। संसार के कुछ अतिशीत प्रधान भागों को छोड़ कमल प्रत्येक देश में अपने सौरभ को विकीर्ण करता आ रहा है। ग्रीस में उसे 'लोटोज' चीन में 'लिननग्यू', अरब में 'नफ़र' फ़ारस में 'नीलोफ़र' और इंग्लैण्ड में 'लोटस' के नाम से पुकारा जाता है।

कमल भारतीय साहित्य और संस्कृति का तो प्राण-प्रतीक ही है। प्राचीन भारतीय साहित्य में कमल को एक भावनामय प्रसून के रूप में देखा गया है। सरोरुह, सरोज, सरसिज, पंकज, पुण्डरीक, पद्म, इन्दीवर, अम्भोज, अरविन्द, तारि पुत्र, तारिज, जलज आदि कमल के ही विभिन्न सम्बोधन हैं। कमल का जो प्रभाव पुरातन साहित्य और मानव हृदय पर पड़ा है, अवर्णनीय है। कमल के सौन्दर्य और गुणों से प्रभावित कवि के भावों को देखिए :

"लक्ष्मीः स्वयं निवसति त्वयि लोकधात्री
मित्रेण चापि विहितोऽस्ति दृढोऽनुरागः
बन्दीव गायति गुणाँस्तव चञ्चरीकः
कः पुण्डरीक तव साम्यमुरीकरोति"

—हे कमल! जगन्माता लक्ष्मी स्वयं तुझ पर निवास करती हैं। सूर्य का भी तुझ पर विशेष अनुराग है। नित्य प्रति बन्दियों के सदृश भ्रमर तुम्हारे गुणों का गायन करते हैं। तुम्हारे सदृश सौभाग्य और किसका हो सकता है?

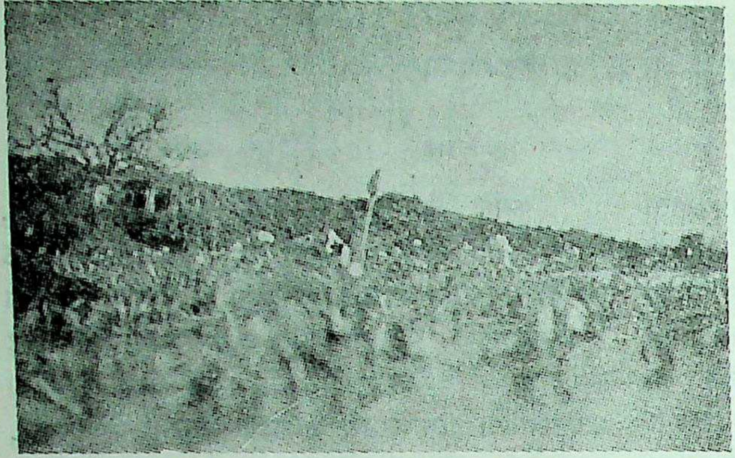

सौन्दर्य सरोवर में झूमते कमल

भगवद्‌गीता में भी कमल को अपनाया गया है :

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्व करोति यः
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"

गीता अध्याय-५, श्लोक १०

—कर्तृत्वादि संग को छोड़ कर ब्रह्म निमित्त कार्य करने वाला उस कार्य के फल से वैसे ही निर्लिप्त रहता है, जैसे—जल में रहते हुए भी कमल-पत्र उससे निर्लिप्त रहता हैं।

वेदों की ऋचाओं से भी कमल की प्राचीनता और प्रमुखता स्पष्ट होती है। 'ऋग्वेद' में अनेक स्थलों पर नील कमल का उल्लेख आया है। अथर्ववेद में कमल की दो जातियाँ बतलाई गई हैं—एक पुष्कर या नीला-कमल और दूसरी पुण्डरीक। अथर्ववेद में हृदय की उपमा कमल से दी गई है। इस वेद में कमलनी का उल्लेख भी आया है (अ. ४, सू. ३४ ३)।

तैत्तरीय ब्राह्मण में कमल की माला का उल्लेख आया है। पंचविंश ब्राह्मण में कमल की उत्पत्ति नक्षत्र समूह की ज्योति से हुई बतलाई गई है। नील कमल अश्विनी कुमारों का प्रिय प्रसून बतलाया गया है और वे नीलकमल की माला पहने वर्णित किए गए हैं। कमल से सम्बन्धित सृष्टि रचना की एक रोचक कथा 'तैत्तरीय ब्राह्मण' में मिलती है। यह वसुधा पहले तरलावस्था में थी। प्रजापति के मन में जब सृष्टि-रचना की आकांक्षा जाग्रत हुई तभी उन्होंने जल में तैरते हुए पुष्करपर्ण को देखा। उनके मन में प्रश्न उठा और तर्क ने उत्तर दिया कि उक्त कमल-पत्र किसी आधार पर ठहरा अवश्य होगा। अतः उन्होंने शूकर का रूप धारण कर जल में डुबकी लगाई। जड़ के निकट उन्हें मिट्टी मिली जिसे उन्होंने बाहर ला, उस कमल-पत्र पर फैला दिया। इस प्रकार सृष्टि का आरंभ हुआ।

कृष्ण यजुर्वेद में विष्णु के कमल-हार धारण किए क्षीर-सागर में योग निद्रा में निमग्न होने का उल्लेख मिलता है। गर्भोपनिषद के अनुसार गर्भ कमल के समान होता है। गर्भाशय का संकेत भी कमल ही माना गया है। 'ऋग्वेद' में भी कहा गया है कि गर्भाशय के उत्पत्ति कमल में (त्वचं) त्वग् को सम्पर्क करते हैं तब उस स्थान में गर्भ की उत्पत्ति होती है (ऋग्वेद, अध्याय १३, सूत्र ७६।४)

सनातन और बौद्ध धर्मों में कमल को एक अत्यन्त पवित्र प्रसून के रूप में माना गया है। हिन्दू-धर्मशास्त्रों के अनुसार जल पर तैरता हुआ कमल संसार का एक संकेत है और सम्पूर्ण वृत्त पृथ्वी और उसके निर्माण के दोनों सिद्धान्तों को व्यक्त करता है। कमल निर्माणकारिणी शक्ति का संकेत है। मानव-जीवन का वह आदर्श प्रतीक है जो कीचड़ में जन्म लेकर भी उसके ऊपर खिला रहता है। सरोवर का पंक उसकी पंखुड़ियों पर अपनी पंकिलता की छाप नहीं लगा पाता। जल में रह कर भी वह उससे निर्लिप्त रहता है। सम्पूर्ण दिवस वह प्रकाश की ओर अपना मुख किए रहता है और अन्धकार के आते ही अपने नेत्र बन्द कर लेता है। जीवन का भी यही आदर्श है कि वह सत्य और ज्ञान के प्रकाश की ओर उन्मुख होकर उन्नत स्थिति की प्रेरणा प्राप्त करे।

भारतीय साहित्य और मूर्तिकला में कमल का प्रयोग इतने अधिक भावों को व्यक्त करने के लिए किया गया है कि आश्चर्य होने लगता है। भारतीय कलाकारों को कमल में सौन्दर्य, सौरभ, सत्य, शांति, पवित्रता, आध्यात्मिक और सम्पूर्ण जीवन-दर्शन—सभी कुछ मिला था। पुरातन युग से कमल देवी आसन के रूप में प्रयुक्त होता आया है। हिन्दू धर्म के तीन प्रमुख

देव—ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपनी पत्नियों क्रमशः सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती के साथ कमलासीन वर्णित किए गए हैं। इसके सिवाय अग्नि, पवन, इन्द्र, गणेश और राम और राक्षस राजा रावण—सभी कमलासीन वर्णित किए गए हैं। प्राचीन ग्रन्थों में देवी लक्ष्मी को हाथों में कमल कुसुम लिए कमलासीन दिखलाया गया है। इसी कारण देवी लक्ष्मी का एक नाम पद्मा या कमला भी है। 'महाभारत' के अनुसार देवी लक्ष्मी की उत्पत्ति विष्णु के सिर से निकले कमल से हुई थी।

बौद्ध ग्रन्थों में भी कमल की प्रभुता के दर्शन होते हैं। सधर्म पुण्डरीक के अनुसार महायान बौद्धों के स्वर्ग—नारी शून्य सुखवती में प्रत्येक व्यक्ति कमल से उत्पन्न माना गया है और वे सभी कमलासीन वर्णित किये गए हैं। महायान-बौद्धों के अनुसार स्वर्ग में जो आत्माएँ आती हैं वे वहाँ खिले मणि-कमलों के रूप में उद्भूत होती हैं।

कमल की भारतीय साहित्य पर भी अमिट छाप है। आदि कवियों के लिए वह आध्यात्मिक और [illegible] का श्रेष्ठ मूर्तिरूप था। दैवी विशुद्धता के प्रतीक रूप में 'भगवद् गीता' में भी कमल को अपनाया गया है। इसके बाद के कवियों के लिए कमल सौन्दर्य का प्रतीक बना, जिससे वे अपनी नायिकाओं के सौन्दर्य की तुलना करते थे। आदि से आधुनिक युग के सभी साहित्यकारों ने कमल को अपनाया है।

वेदों की रचनाओं में कमल के यश रूपी धुएँ उठा रहे हैं।

'महाभारत' में कुबेर के निवास-स्थल का वर्णन करते हुए लिखा है कि कुबेर की झील नलिनी और गंगा मन्दाकिनी स्वर्ण कमलों से पूर्ण थी।

गीता में कृष्ण को 'कमलपत्राक्ष' अर्थात् कमल-पत्र के सम नेत्रवाले कह कमल को अपूर्व गौरव गरिमा प्रदान की गई है :

"भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया
त्वत्तः कमलपत्राक्ष महात्म्यमपि चाव्ययम्"
(भगवद् गीता अध्याय ११, श्लोक २

रामायण में भी कमल का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है।

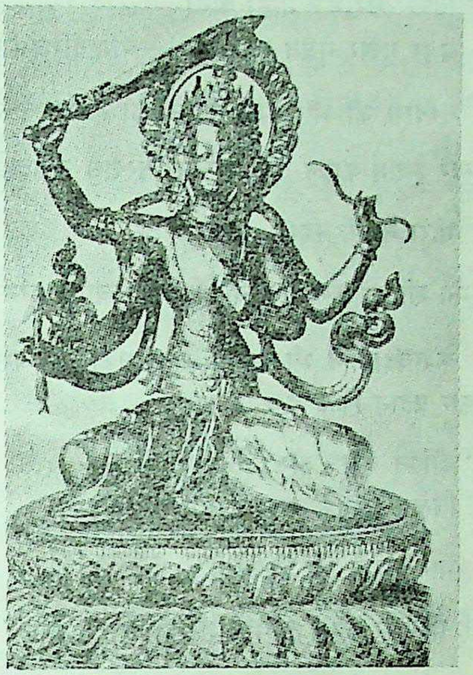

कमलासीन मैत्रेय

श्रीकृष्ण कर्णामृतम् के निम्न श्लोक में कमल का उपमा हेतु कितना सुन्दर प्रयोग हुआ है, देखिए :

"करारविन्देन पदारविन्दम्
मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्
वटस्य पत्रस्य पुरे शयानम्
बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि"

कालिदास को तो कमल विशेष प्रिय था। उनका सम्पूर्ण साहित्य कमल के यशगान से बोझिल-सा हो रहा है। 'ऋतु संहार' में शरद् का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :

"लाल कमल के स्वरूपवाली, प्रस्फुटित नील कमल-रूप नेत्रवाली, कमल के सदृश्य माधुर्य पूर्ण हास्यवाली, मतवाली नारी के अनुरूप यह शरद् ऋतु तुम्हारी प्रसन्नता में वृद्धि करे।"—ऋतु संहार 'शरद्वर्णनम्' श्लोक २६।

बारहवीं शताब्दी में लिखी 'रत्नावली' में बसंतक अपनी प्रियतमा से कहता है :

"प्रिय शारिका! तुम्हारा मुख चन्द्र की भाँति प्रकाशमान है, तुम्हारे नेत्र कमल कलियों के समान हैं और तुम्हारे हाथ पूर्ण विकसित कुसुम के सदृश हैं।"

महाकवि तुलसी ने भी कमल को अपनाया है :

"बिकसे सरसिज नाना अंगा
मधुर मुखर गूँजत बहु भृंगा"—रामचरित मानस

सूरदास जी भी कमल की उपेक्षा न कर सके :

"सुन्दर श्याम कमल दल लोचन, सूरदास सुखदाई"

मीरा ने भी कहा :

"सुभग शीतल कमल लोचन त्रिविध ज्वाला हरन"

केशवदास ने भी कमल को उसका परम्परागत अधिकार प्रदान किया है :

"दीपित जलज हार दिधिशायी है,
तिलक तिलक चारू लोचन कमल रुचि"

भारतेन्दु ने भी लिखा है :

"कहुँ तीर पर कमल अमल शोभित बहु भाँतिन"

कवीन्द्र रवीन्द्र भी कमल की प्रभुता से स्वतः को दूर न रख सके :

"ऐसे बने शरद् कमल"

और उनकी चारुलता तो अपने घर के निकट एक सरोवर का निर्माण करा कर नील कमल ही लगाना चाहती है।

महाकवि प्रसाद भी कमल को कैसे भूलते !—

"इस इन्दीवर से गन्धभरी
बुनती जाती मधु की धारा
मन मधुकर की अनुरागमयी
बद रही मोहनी सी कारा"—'कामायनी'

गुप्त जी राष्ट्रकवि के नाते राष्ट्र संस्कृति के प्राण कमल की उपेक्षा कैसे करते। उन्होंने भी गाया :

"किन्तु मेरी कामना छोटी बड़ी
है तुम्हारे पाद पद्मों पर पड़ी"

मलयालम के भी कवियों ने गाया है :

"ओमन तिंगल किदावो
कोमलता मरप्पूवे"

ग्रीस में भी कमल प्राचीन काल से होता आ रहा है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में कमल को स्वप्निल सुखमय अवस्था का प्रतीक माना गया है। एक प्राचीन ग्रीक कविता का भावानुवाद देखिए :

"सवेरे सवेरे खोल अवगुंटन,
ओ कमल प्रसून !
और सुन भौंरों के गीत
जो बन आए तेरे मीत !
पौ फट चुकी,
उषा भी जग चुकी
अब तो खोले दे नयन
और मीत के गीत सुन'

आधुनिक खोजों से पता चलता है कि ग्रीस के कमल जिजिफस (Zizyphus) जाति के थे। ग्रीस-वासियों ने कमल (Lotos) नाम कई प्रकार के पौधों को दिया था जिनमें सुन्दर फूल फूलते थे और जिनके फल खाए जाते थे। इन फलों से रोटी और अन्य खाद्य पदार्थों के साथ मदिरा भी बनाई जाती थी। प्राचीन युग के कमल-भक्षी मनुष्यों की कथाएँ तो प्रचलित हैं ही। वे उत्तरी अफ्रीका में रहने वाली आतिथ्यकारी, शान्त स्वभाव वाली जातियाँ थीं जो प्रधानतः कमल-फलों के भोजन पर ही आश्रित थीं। महाकवि होमर ने भी लिखा है कि कमल खाने वाला व्यक्ति घर-द्वार आदि को भूलने लगता है और उसका हृदय उसे कमल-वन के मध्य ही जीवन व्यतीत करने को बाध्य करने लगता है। ओडेसी कहता है :

"...तब वे सीधे जाकर कमल-भक्षी मनुष्यों में मिल गए, परन्तु हमारे व्यक्तियों के लिए उन कमल भक्षियों ने मृत्यु निश्चित नहीं की वरन् उन्हें कुछ कमल फल खाने को दिए। जिस व्यक्ति ने भी कमल का मधुमय फल खाया उसके हृदय से वापिस लौटने या आकर सूचना देने की समस्त आकांक्षाएँ समाप्त हो गईं और उसने अपनी सुखद कौटुम्बीय भावनाओं को भुला सदैव कमल-भक्षी व्यक्तियों के साथ ही जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया।"

—ओडेसी (परिच्छेद ६; ६०-१२३)

इस सुखद घटना को टैनीसन ने सुन्दर ढंग से अपनी कविता 'दि लोटोज ईटरेस' (The Lotos Eaters) में अंकित किया है।

१६५७

ओडेसी द्वारा वर्णित कमल-प्रदेश संभवतः लीबिया में था। कमल खाने से भूल जाने की प्रवृत्ति के उत्पन्न होने की बात यूनान के प्राचीन साहित्य में भी मिलती है। यूनानी जन-जीवन में यह लोकोक्ति प्रचलित थी कि "कमल खाना भूल जाने का संकेत है"। कुछ आधुनिक खोजक भूलने की प्रवृत्ति पैदा करने वाले कमल को दूसरे प्रकार का पौधा बतलाते हैं। पी. चेम्पलॅट के अनुसार होमर के समय का कमल एक प्रकार का खजूर ही था। विक्टर बिरियर्ड लिखते हैं :

"उस समय का कमल निश्चय ही वर्त्तमान कमल से भिन्न एक फल-वृक्ष ही था।"

परन्तु डब्लू. एच. गुड इयर का मत इन मतों के विपरीत है। वे लिखते हैं :

"ग्रीस, मिश्र और यूनान के आदि युग के कमल वर्तमान युग के कमल के अनुरूप ही थे। केवल उनके प्रसून और उससे उत्पन्न होने वाले फलों का आकार बड़ा था। ये फल उस समय के प्रमुख खाद्य-पदार्थ थे और इसी उद्देश्य पूर्ति के हेतु कमलों की खेती भी की जाती थी।"

—'ग्रामर ऑफ दि लोटस' पृष्ठ-१८६

और यही मत अधिक युक्ति संगत भी दिखता है। आज भी कमल के फल (कमलगट्टे) खाए जाते हैं और उन्हीं से ताल मखाने भी बनाए जाते हैं। कमल की जड़ भी सभी कमलोत्पादक देशों में खाई जाती है। अतः स्पष्ट प्रमाणित है कि प्राचीन कमल आधुनिक कमल के अनुरूप था न कि उससे भिन्न एक फल-वृक्ष।

मिश्र और दक्षिणी यूरोप भी कमल से अपरिचित नहीं थे। कमल प्राचीन मिश्र का जन-प्रिय प्रसून था। निमफिया (Nymphaea) जाति के कमल नील नदी और उसके निकट के सरोवरों में प्रचुर मात्रा में होते थे। कमल प्राचीन मिश्र का गुलाब था। उससे बहुधा मालाएँ और गुलदस्ते बनाए जाते थे, जिनका उपयोग आध्यात्मिक और शृंगारिक—दोनों क्षेत्रों में होता था। मिश्री नारियाँ कमल के आभूषण पहनती थीं और उसके गुलदस्तों को मधुर सौरभ-हेतु हाथों में रखती थीं। धार्मिक क्षेत्रों में भी कमल का पर्याप्त प्रचलन था। पुजारी बहुधा कमल का मुकुट धारण करते थे। कमल ने अपना सम्बन्ध मिश्री देवों से भी कर लिया है। वह 'नफरतम' का संकेत माना जाता है। हैरपोक्रेटस कमलासीन वर्णित किए गए हैं। होरस की प्रतिमाएँ भी कमलासीन ही पाई जाती हैं। सूर्यदेव की प्रतिमाएँ भी कमल-मय हैं। मिश्री ग्रन्थों के अनुसार कमल जल से संसृति के निर्माण का चिह्न भी है। कमल नील नदी के उद्गम और सूर्य के पुनः उदित होने का प्रतीक भी है। कमल के चित्र मिश्री देवालयों के पीतल के गुम्बजों और दीवालों पर भी पाए जाते हैं। यही नहीं मृत्यु और दूसरे जीवन से सम्बन्धित सभी वस्तुओं और सिद्धान्तों से कमल का सम्बन्ध है।

पुराने समय की मिश्री नौकाओं का सामने का भाग कमल के आकार का होता था। कमल के चित्र समाधियों और मकबरों पर भी अंकित किए जाते थे। उस समय के लोगों का विश्वास था कि कमल का चित्र बना देने से मृतक की आत्मा सदैव कमल-वन की शान्ति को अनुभव करती रहती है।

प्राचीन मिश्र में तीन प्रकार के कमल होते थे। श्वेत कमल, लाल कमल और नील कमल के अनेकों उदाहरण प्राचीन मिश्री सभ्यता हमें देती है। लाल-कमल आधुनिक युग में मिश्र से पूर्णतः लुप्त हो गया है परन्तु रोमन युग में इस प्रसून की प्रधानता थी। लाल कमल का वर्णन करता हुआ एथिनेयस लिखता है।

"कमल समूहों में होता था। वह लाल गुलाब के समान था। इसी की मालाएँ प्राचीन युग में एन्टीनोयस की मालाएँ कहलाती थीं।"

६०० ईसा पूर्व में लिखे गए साहित्य में यत्र-तत्र कमल का उल्लेख प्राप्त होता है। हैरोडोटस के समय में कमल मिश्र का जनप्रिय प्रसून था। हैरडोटस (Herodotus) लिखता है—

"नदियों और सरोवरों में कमल होता है। उसके फल बीज कोष में अलग-अलग रहते हैं। ये फल स्वादिष्ट होते हैं और खाए जाते हैं।"

मिश्री कलाकारों ने श्वेत कमल को गोलाकार सिरे वाली पंखुड़ियों के द्वारा अंकित किया है। प्राचीन मिश्र में श्वेत कमल अत्यधिक सामान्य थे। मैमफिस के सिरे कमलाकार बनाए गए हैं। अहमस (Aahmes) अमन हतप प्रथम (Amen hetep I) और रामेसस द्वितीय (Rameses 11) की रक्षित मृतक-देहों पर भी कमल की मालाएँ और रेखा-चित्र प्राप्त हुए हैं। जे.

जी. विल्कन्सन के अनुसार ये रेखा-चित्र नील कमल के हैं न कि श्वेत कमल के (मैनर्स एण्ड कस्टम्स आफ़ एनसिएट इजिप्टियन्स; भाग—३ पृष्ठ १३२)। परन्तु लोरेट के अनुसार गोलाकार सिरा होने के कारण ये चित्र श्वेत कमल के ही हैं।

नील कमल सभी युगों का सर्वाधिक प्रचलित प्रसून रहा है। मिश्री शिल्पकारों ने इसे सीधी नुकीली पंखुडियों के द्वारा प्रदर्शित किया है। समाधियों और मकबरों में इसका प्रयोग सर्वाधिक एवं पुरातन है।

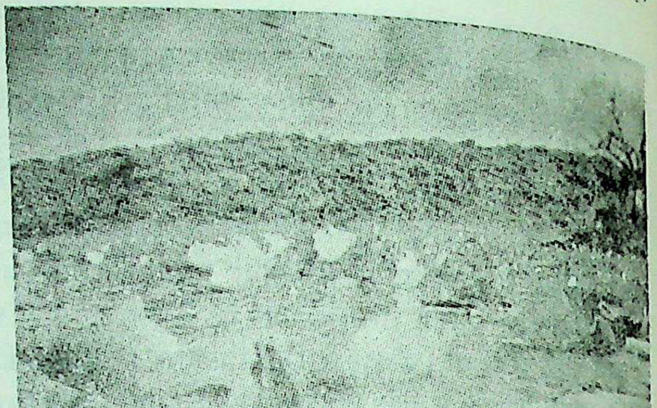

कमल वन

यद्यपि कमल मिश्र में अधिकता से होता था और सजावट हेतु उसका उपयोग भी प्रचुरता से किया गया है, परन्तु तब भी वहाँ के आदि साहित्य में कमल का बिम्ब अस्पष्ट ही है। प्रतीक रूप में इसका प्रयोग कम प्राचीन है। 'नफ़रतम' जो सदैव कमल-कुसुम सिर पर रखे वर्णित किए गए हैं, आदि-देव नहीं हैं। होरस की प्राप्त कमलासीन प्रतिमाएँ भी अपेक्षाकृत बाद के समय की हैं। कमल का प्रयोग वस्तुतः ग्रीक-काल ही में अधिक हुआ था। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि आदिमिश्र कमल से अपरिचित था। ईसा से ५००० वर्ष पूर्व कमल मिश्र में लाया गया और तभी इसका प्रसार प्रारम्भ हुआ। अपने अपूर्व सौन्दर्य और सौरभ के कारण कमल धीरे-धीरे मिश्र का जन-प्रिय प्रसून बन गया। उससे नारियों ने शृंगार किया, दिव्य देवालय सुशोभित हुए और साहित्य एवं कला को नूतन स्फूर्ति मिली। प्राचीन मिश्र की सभ्यता का दीपक ईसा से ४८७ वर्ष पूर्व अर्थात् बुद्ध के निर्वाण के साथ-साथ बुझ गया परन्तु तब तक कमल वहाँ के जन-जीवन में यथेष्ट प्रभाव और संस्कृति, सभ्यता और साहित्य पर अपनी अमिट छाप डाल चुका था।

चीनी सभ्यता और संस्कृति भी कमल से प्रभावित है। चीनी कमल को 'लिन-नग्यू' कहते हैं और उसे एक पवित्र प्रसून मानते हैं। चीन में बुद्ध का एक रूप अवलोकितेश्वर है और उनका आसन कमल है। समस्त चीन में बुद्ध और अनेक बौद्ध-श्रेष्ठों की कमलासीन प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। ईसा के जन्म से पूर्व लिखी गई एक चीनी कविता का भावानुवाद देखिए :

"कमल के फूल खिलते हैं
सौरभ से दिग्दिगन्त को भर देते हैं,
उनकी सुगन्ध आकाश को व्याप्त कर लेती है!
वे मुरझाते हैं
उनका परिमल नष्ट हो जाता है
पर शोक कौन करता है?"

('जीवन' एनसियेंट चाइनीज पोयट्री पृ. ६३)

चीन की कला और संस्कृति कमल से कितनी प्रभावित है, इसका अनुमान इसी से लग सकता है कि चीनी नृत्यों में एक 'कमल के फूल' शीर्षक नृत्य भी है। यह नृत्य दक्षिणी शांसी प्रान्त में बहुत प्रचलित है और कमल की विशेषताओं के साथ ही प्रान्त के सौन्दर्य और वैभव का प्रदर्शन करता है। कमल के फूलों के हवा में हिलने को नर्तकियाँ पैरों की गति के द्वारा प्रस्तुत करती हैं और इसी में नृत्य की सारी कला निहित रहती है।

जापानी धर्म-कथाओं में देवी क्वेनवॉन को कमलासीन बतलाया गया है। इस्लाम धर्म में भी एक प्रसंग मिलता है, जिसके अनुसार सातवें आसमान पर खुदा के सिंहासन की दाहिनी ओर एक कमल है।

फ्रान्स के साहित्य में भी कमल के उल्लेख आए हैं। आनातोले फ्रान्स अपनी एक कहानी में लिखते हैं:

"इस ग्रन्थ के अन्य बहुमूल्य चित्रों में चित्रित थे—जीवनमय जलकूप, फ़व्वारा, चन्द्रमा, कमल और प्रतिरुद्ध उद्यान-जिसके विषय में धर्म ग्रन्थों में बहुत कुछ कहा गया है।"

१६५७

फ्रांस के बोर्बन राजघराने का प्रतीक भी कमल ही है।

इस प्रकार कमल ने सभी संस्कृतियों और सभ्यताओं पर अपना प्रभाव डाला है और इसका कारण है कमल के हृदय-कोष में समस्त उच्च भावनाओं और अनुभूतियों का निवास! वह प्रेम-प्रसून है, सौन्दर्य का संकेत है, आध्यात्मिकता का मूर्त रूप है और है हृदय की धड़कनों का भावनामय उपहार!

कमल कब और कहाँ उत्पन्न हुआ? यह एक जटिल विवादग्रस्त प्रश्न है, परन्तु सभी खोजक भारत में इसकी अति प्राचीनता स्वीकार करते हैं। इस विषय में वी. लोरेट का कथन युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। वे लिखते हैं:

"कमल सर्व प्रथम भारत की झीलों में उत्पन्न हुआ था। आर्यों के आने पर वह आर्य संस्कृति में सम्मिलित हुआ। यात्रियों और भारतीय व्यापारियों के द्वारा कमल अन्य देशों में फैला। बौद्ध धर्म के प्रचार ने कमल को भारत के निकट के सभी देशों में फैला दिया।"

–(La Flore pharaonigue, paris 1892)

चीन में २२५ वर्ष ईसा पूर्व से कमल के होने का प्रमाण मिलता है। मिश्र में ५००० वर्ष पूर्व से कमल होता आ रहा है और भारत में तो कमल की अति प्राचीनता स्पष्ट ही है।

अयुत वत्सर पूर्व से कमल श्रेष्ठतम सुमन की गौरव-श्री प्राप्त करता आ रहा है। आज कमल-कुसुम को पूर्व युग-सा सम्मान प्राप्त नहीं है। आधुनिक मानव जीवन जटिल जीवन-संघर्ष और आय-व्यय के लेखे जोखे से उत्पीड़ित है। हमारे पास न तो इतना समय है और न भावनामय हृदय ही कि हम कमल-कुसुम में निहित भावों को समझ सकें। साथ ही गुलाब सदृश प्रसून जन-जीवन में आ चुके हैं जो सरलता से प्राप्त किए जा सकते हैं। आज के कोलाहलपूर्ण जीवन में हम उन सरोवरों की कल्पना भी नहीं कर सकते, जिनमें नीलाकाश के लिए अपना वक्ष खोले कमल पवन के झोंकों में झूमते हैं। इन्हीं कारणों से न केवल भारतीय वरन् विश्व जन-जीवन में गुलाब का साम्राज्य है और कमल के पास केवल अतीत गौरव की स्मृतियाँ ही शेष रह गई हैं। तब भी विश्व-संस्कृति और साहित्य पर कमल ने जैसा प्रतिबिम्ब छोड़ा है, वैसा बिम्ब छोड़ने में अन्य प्रसून सर्वथा असमर्थ रहे हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का तो कमल प्राण-प्रतीक ही है। यथार्थ में वह उन सब भावनाओं का मूर्त रूप है जो मानव-हृदय में आदिकाल से रत्नाकर की लहरों की भाँति उठती आ रही हैं।

१८२, प्रेमनगर
जबलपुर (म. प्र.)

—कृष्णकुमार असावा

विश्व की जन-संख्या

विश्व की जन-संख्या पिछली शताब्दी में दुगुनी हो गई है। इस समय समस्त विश्व की जन-संख्या २,५००,०००,००० है और यह प्रति वर्ष ३०,०००,००० बढ़ रही है। रूस की जन-संख्या १८५० ई० के पश्चात् चौगुनी हो गई है।

—"गुड हाउसकीपिंग" से

संस्कृतभाषा की द्विरुक्तियों पर एक दृष्टि

निरुक्त तथा व्याकरण के अनुसार पद मूलतः चार या पाँच प्रकार के हैं; नाम, आख्यात, उपसर्ग निपात तथा कर्मप्रवचनीय। अव्यय, आदि पद-भेदों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण के अनुसार इस विभाग में ही अन्तर्भाव हो जाता है। किसी वाक्य में इन पदों में से किसी एक पद विशेष का दो बार प्रयोग कभी-कभी दीख पड़ता है। ऐसे प्रयोगों को 'द्विरुक्ति' कहा जाता है। भाषा में ऐसे प्रयोग महत्त्वपूर्ण होते हैं, और इसीलिए, साहित्य-शास्त्र, व्याकरण तथा निरुक्त में इन द्विरुक्त प्रयोगों के विषय में विचार किया गया है। उन्हीं विचारों को लेकर यहाँ एक आलोचना की जा रही है।

द्विरुक्ति के विषय में सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वस्तुतः यह व्याकरण का विषय नहीं है, क्योंकि द्विरुक्ति-प्रयोगों के विषय में किसी प्रकार का नियमन होना संभव नहीं है। अपने मनोभाव के प्रकाशनार्थ लोक में एक शब्द के कितने बार प्रयोग करना चाहिए—इसका निर्णय वैयाकरण नहीं कर सकता है। और इसके प्रयोग में प्रयोक्ता व्यक्ति स्वतन्त्र है—ऐसा प्राचीन आचार्यों का अनुशासन था, जैसा-आचार्य पतञ्जलि ने कहा है—"न चावश्यं द्वे एव, यावद्भिः शब्दैः सोऽर्थो गम्यते तावन्तः प्रयोक्तव्याः, अहिरहिरहिः बुध्यस्व बुध्यस्व बुध्यस्वेति" (८-१-१२), अर्थात् 'पद का द्वित्व होना चाहिए, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जितने बार प्रयोग करने से अर्थ का बोध होगा, उतने बार प्रयोग करना चाहिए'। भाष्य के इस वाक्य की व्याख्या में कैयट ने लिखा है द्विर्वचन=द्विरुक्ति शास्त्रीय= शास्त्र नियम-योग्य नहीं है (नेदं शास्त्रीयं द्विर्वचनं, किन्तर्हि ? पर-प्रत्यायनाय अनेक स्वतन्त्रपद प्रयोगः-प्रदीप)

शब्द की द्विरुक्ति वैदिक वाङ्मय में भी प्रचुर है। आधुनिक टीकाकार काव्य में प्रयुक्त द्विरुक्तियों के विषय में यह कहता है कि अभिव्यंजना या आवेग की अधिकता के प्रकटीकरण के लिए ही द्विरुक्ति का व्यवहार किया जाता है, पर वैदिक वाङ्मय में व्यवहृत (तथा दार्शनिक ग्रन्थों में भी द्विरुक्ति की अन्य एक ग्रन्थ-रचना सम्बन्धी सार्थकता का उल्लेख भाष्यकारों ने किया है। वह है—द्विरुक्ति से समाप्ति का ज्ञापन। व्याख्याकारों ने यह दिखाया है कि ग्रन्थ-समाप्ति, या ग्रन्थ के अवान्तर विभाग की समाप्ति के लिए वाक्य या पद की द्विरुक्ति की गई है। यथा:

वेदान्तदर्शन का अन्तिम सूत्र है 'अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्' (४।४।२२) यहाँ वाक्य (अनावृत्तिः शब्दात्) की द्विरुक्ति की गई है, जिसका कुछ भी प्रभाव सूत्र विषय पर नहीं पड़ता और सभी व्याख्याकार एकमत होकर कहते हैं कि ग्रन्थ समाप्ति के ज्ञापन के लिए वाक्य की द्विरुक्ति की गई है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर सूत्र के अन्तिम पद की द्विरुक्ति की गई है, जैसे प्रथमाध्याय के अन्तिम सूत्र में (एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः १-४ २८) दीख पड़ता है। सांख्य दर्शन में तथा अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों में यही रीति विद्यमान है, जिससे यह अनुमित होता है कि समाप्ति-द्योतन करने के लिए शब्द द्विरुक्ति का प्रचलन प्राचीन साहित्य में था। आज यद्यपि यह पता नहीं चलता कि ग्रन्थ के किस स्थान पर किस प्रकार की द्विरुक्ति (पद या वाक्य की) करने का नियम प्रचलित था, पर 'द्विरुक्ति से समाप्ति-द्योतन किया जाता था—यह निश्चित है।

प्रश्न हो सकता है कि द्विरुक्ति से समाप्ति-द्योतन क्यों किया जाता था ? उत्तर—यह रीति उस समय की है, जब भारत में ग्रन्थ लिखित नहीं होते थे, गुरु का कण्ठ और अध्येता का श्रोत्र ही ज्ञानार्जन के दो अंग थे, तब शब्द-प्रयोग में विचित्रता लाकर ही ग्रन्थ की पूर्ण समाप्ति या अवान्तर समाप्ति का ज्ञापन करना सरल तथा रोचक था। 'इति' या 'समाप्तम्' आदि शब्दों का व्यवहार भी किया जा सकता था (जैसा बाद में किया भी गया है), पर उपर्युक्त रीति केवल उच्चारण होने के कारण प्रमादशून्य तथा रोचक है, जो 'इति' आदि शब्दों से सम्भव नहीं है—इत्यादि विषय अन्यत्र विवृत हुआ है।[1]

---

[1] 'संस्कृत साहित्य में ग्रन्थारंभ तथा ग्रन्थ समष्टि' शीर्षक लेख में इस विषय का विशद विचार मैंने किया है, जो वही द्रष्टव्य है।

१६५७

निरुक्त में द्विरुक्ति सम्बन्धी एक तथ्य का उल्लेख है, यथा—'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (६।१०।४) अर्थात् जब अर्थाधिक्य दिखाना पड़ता है, तब उस शब्द का दो बार उच्चारण किया जाता है। इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने कहा है कि जब द्विरुक्ति की अन्य कोई सार्थकता नहीं रहती, तब मन्त्रार्थ व्याख्याता आचार्य यह समझते हों कि वेद-वाक्य में प्रयुक्त शब्द द्वित्व का तात्पर्य 'अर्थ का अतिशय' है, क्योंकि किसी प्रकार कारण के बिना शब्द द्वित्व सम्भव नहीं है। यास्क ने उदाहरण देकर कहा है कि लोक में भी अति सुन्दरी स्त्री के लिए शब्द द्विरुक्ति का व्यवहार चलता है, जैसे 'अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया' जिसका कारण है—गुणातिशय को दिखाना।

निरुक्तकार ने यहाँ यह भी कहा है कि किसी-किसी व्यक्ति का यह स्वभाव होता है कि वह स्वभावतः द्विरुक्ति का प्रयोग करता रहता है।

संस्कृत के आचार्यों का यह अनुशासन है कि यद्यपि अर्थातिशय के लिए द्विरुक्ति का व्यवहार किया जा सकता है, पर निरंकुश रूप से अस्थान में द्विरुक्ति का व्यवहार करना शब्दापराध म्लेच्छवाक् अपशब्द है। जान पड़ता है. कि यह नियम प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय में ही चरितार्थ था और बाद में इस नियम में पर्याप्त शिथिलता आ गई थी।

आचार्य पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में एक श्रुति उद्धृत है—'ते असुराः हेलय हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः, तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै' (पस्पशाह्निक)। अर्थात् असुरों ने 'हेलयः हेलयः' ऐसा कहा, जो अपशब्द है। व्याख्याकारों ने कहा है कि शब्द-शास्त्र के अनुसार पद का ही द्वित्व होना चाहिए, वाक्य का नहीं, अतः असुरों ने वाक्य का द्वित्व किया है. जो म्लेच्छन=अपशब्दोच्चारण है। अब विचारना चाहिए कि यदि 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' न्याय सार्वत्रिक होता, तो संबोधनातिशय के लिए वाक्य द्वित्व किया गया है, ऐसा कहा जा सकता था और तब किसी प्रकार का अपशब्द वह नहीं होता। पर चूँकि नियमतः यहाँ वाक्य द्वित्व को अपशब्द माना गया है, तो यह मानना पड़ेगा कि इस काल में शब्द की द्विरुक्ति वक्ता को इच्छामात्र से कल्पित नहीं हो सकती थी। और नियम के अनुसार ही द्वित्व होता था।

प्रागुक्त विचार से सिद्ध होता है कि द्विरुक्ति निरर्थक या स्वेच्छा से कल्पित नहीं होती थी; पर संस्कृत-साहित्य में ऐसे प्रयोग मिलते हैं, द्विरुक्तियों के लिए कुछ भी अर्थाधिक्य दिखाना कठिन हो जाता है। स्वयं पाणिनि ने भी सूत्र किया है—'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (८।१।६), अर्थात् प्र आदि उपसर्गों का द्वित्व होता है, यदि द्विरुक्ति होने पर पाद (द्वन्द्वः) की पूर्ति हो जाए। 'काशिकाकार ने कहा है कि यह नियम वैदिक है' भाषा में ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि भाषा में इस प्रकार प्रयोग नहीं होता।

यह सूत्र तथा काशिकाकार का यह मत द्विरुक्ति के विषय में कुछ ऐतिहासिक रहस्यों की ओर इंगित करता है। सबसे पहले यह द्रष्टव्य है कि पाणिनि ने सूत्र में ऐसा कुछ नहीं कहा है, जिससे यह पता चल जाए कि यह सूत्र वेद विषयक है, अतः यदि यह मान लिया जाए कि यह सूत्र केवल वैदिक नहीं है, तो यह भी मानना होगा कि पाणिनि के समय केवल छन्द मिलाने के लिए द्विरुक्ति की जाती थी। पर 'काशिका' की व्याख्या यदि ठीक मानी जाए, तो यह मानना होगा कि भाषा में अर्थ-शून्य द्विरुक्ति होती ही नहीं थी; पर वेद में ही छन्द मिलाने के लिए उपसर्गों की अर्थहीन द्विरुक्ति की जाती थी।।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वैदिक भाषा में यदि पादपूरण के लिए निर्थरक द्विरुक्ति की जाती थी, तो व्यवहार्य भाषा में उसका अनुवर्तन क्यों नहीं हुआ? क्या भाषा में वस्तुतः निरर्थक द्वित्व नहीं है? हम देखते हैं कि अन्य व्याकरणों की टीकाओं में ऐसे श्लोक उद्धृत हैं, जिनमें पादपूरण के लिए ही प्र आदि उपसर्गों का अर्थहीन द्वित्व किया गया है, जैसे—

> "प्रप्रपूज्य महादेवं संसंयम्य मनस्तथा।
> उपोपहाय संसर्गम् उद्‌दुगतः
> स तापसः ॥(आख्यात दुर्गटीका ८२)।"

यह श्लोक लौकिक है, और इसमें जिन चार उपसर्गों का द्वित्व हुआ है, उसको कोई अर्थ नहीं है—पादपूरण के बिना। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भाषा में छन्द मिलाने के लिए द्विरुक्ति की जाती थी। और संभव हो कि यह व्यवहार भाषा में ही चलता था, वेद में नहीं, अतः पाणिनि ने प्रागुक्त सूत्र

को वैदिक नहीं कहा है, अर्थात् वेद में द्विरुक्ति सम्बन्धी नियम अधिक संकीर्ण थे. और भाषा में अधिक विशद; पर अभी कुछ निश्चय कर नहीं किया जा सकता है।

जैसे छन्द मिलाने के लिए अर्थहीन पुनरुक्तता को दोष नहीं माना जाता, वैसे भिन्न-भिन्न अर्थ में एक ही शब्द के प्रयोग होने से (एक प्रकरण में) भी वह द्विरुक्ति सदोष नहीं मानी जाती। उदाहरण के लिए हम 'विष्णु सहस्र नाम' को ले सकते हैं। इसमें विष्णु आदि कुछ शब्दों को एकाधिकबार पढ़ा गया है। पर यह द्विरुक्ति चूँकि निरर्थक नहीं है, अतः यह दोषावह नहीं है, जैसा आचार्य शंकर ने कहा है—"विष्णु—आदि शब्दानां पुनरुक्तानामपि वृत्तिभेदेन अर्थभेदात् न पौनरुक्त्यम" (शांकरभाष्य पृ. ५४) अर्थात् भिन्न भिन्न अर्थ में चूँकि विष्णु शब्द कई बार पढ़ा गया है, अतः यह द्विरुक्ति दोषावह नहीं है।

इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि आचार्यों ने 'अर्थ पुनरुक्ति' को भी पुनरुक्ति में गिना है और अर्थ में यदि कुछ चमत्कारिता न हो, तो एक विषय के लिए भिन्न-भिन्न शब्द-प्रयोग को भी हेय कहा है।

पुनरुक्ति के बल पर जो अर्थातिशय दिखाया जाता है, उसका एक मार्मिक उदाहरण दिया जा रहा है। जाबाल श्रुति में कहा गया है—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि।" यहाँ यद्यपि शाब्दिक द्विरुक्ति नहीं है, पर आर्थिक द्विरुक्ति है, और वेदान्ती व्याख्याकार कहता है कि इस श्रुति से देवता और उपासक का अभेद सम्बन्ध ही द्विरुक्ति के बल पर दिखाया गया है। यदि यह सम्बन्ध वस्तुतः अभेद नहीं होता, या प्रतीक-दर्शन की तरह यह सम्बन्ध (प्रतिमा में विष्णु-दृष्टि के समान) होता, तो द्विरुक्ति नहीं होती, क्योंकि द्विरुक्ति गौण अर्थ में नहीं होती।

पुनरुक्ति के प्रायः समानार्थक एक शब्द है—अनुवाद। प्राचीन काल में इस शब्द का अर्थ है 'किसी की नकल कर कहना' जैसे पतञ्जलि ने उदाहरण दिया है—'अनुवदते कठः कलापस्य' (२।४।३ भाष्य) अर्थात् कठ-शाखा कलाप-शाखा का अनुवाद है। तात्पर्य यह है कि कलाप शाखा में जैसी शब्दानुपूर्वी है; कठशाखा में भी प्रायः वैसी ही है। आचार्यों के अनुसार अनुवाद और पुनरुक्ति में भेद है। यथा—जब किसी विषय का पुनः कथन किसी विशेष कार्य के लिए होता है, तब उसको अनुवाद कहा जाता है, जैसे व्याख्या के लिए (द्रष्टव्य शाबरभाष्य पृ. ८७ बिब. इण्डिका संस्करण) पर निरर्थक द्विरुक्ति को पुनरुक्त कहा जाता है और इसी लिए 'पुनरुक्तं मतिं हन्ति' ऐसा बार-बार आचार्यों ने कहा है। इस विषय में शबरस्वामी का एक सुन्दर वाक्य यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'ग्रन्थभयेन पुनरुक्तं नेच्छन्ति, अर्थाग्रहणात् तु बिभ्यतः पुनः पुनरभिधीयमानं बहु मन्यते' (पृ. ४७६ पूर्वोक्त संस्करण) पुनरुक्त को कभी-कभी 'पुनः श्रुति' भी कहा जाता है (तत्रैव पृ १५६, १६६ इत्यादि)।

संस्कृत-साहित्य में द्विरुक्ति के साथ त्रिरुक्ति भी व्यवहृत होती है और पद की ही नहीं, वाक्य की भी त्रिरुक्ति की गई है। पद-त्रिरुक्ति का उदाहरण उपनिषत् में है, जो कठोपनिषत् २।३।१६ में द्रष्टव्य है। इसी प्रकार वाक्य-द्विरुक्ति का उदाहरण सप्तशती में है, यथा—'नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः' (उत्तम-चरित)। आधुनिक ग्रन्थों में भी वाक्य की त्रिरुक्ति बहुत मिलती है; स्वयं शंकराचार्य ने लिखा है—'भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते' चर्पट पञ्जरिका)।

द्विरुक्ति की अपेक्षा त्रिरुक्ति की अन्य एक सार्थकता है, जैसा "कठोपनिषत्" की पूर्वोक्त त्रिरुक्ति व्याख्या में आचार्य शंकर ने कहा है—'शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थम् इति' (कठभाष्य)। उसी प्रकार 'सप्तशती' की उपर्युक्त त्रिरुक्ति के विषय में कोई कोई व्याख्याकार कहता है कि स्थूल सूक्ष्म तथा कारण के प्रति पृथक्-पृथक् नमस्कार को दिखाने के लिए तीन बार 'नमस्तस्यै' कहा गया है। 'चर्पटपञ्जरिका' की उपर्युक्त त्रिरुक्ति तो दृढता उत्पन्न करने के लिए ही है—इसका अन्य कुछ तात्पर्य नहीं है।

वक्ता कितने अर्थों के प्रकाशनार्थ एक शब्द के दो चार प्रयोग करता है, उसका संकलन यहाँ किया जा रहा है।

इस विषय में आलंकारिकों का निम्न श्लोक है:

"विवादे विस्मये हर्षे दैन्ये मानेऽवधारणे
पराक्रमे संभ्रमे च द्विस्त्रिरुक्तिर्न दुष्यति"

अर्थात् विवाद, विस्मय आदि अर्थ में यदि

१६५७

रुक्ति या त्रिरुक्ति की जाए, तो वह दोषावह नहीं ती। यह पुनरुक्ति पद की है, या वाक्य की—इसका नियमन नहीं है और साथ-साथ यह भी जान लेना हिए कि इससे अतिरिक्त अर्थों में भी यदि द्विरुक्ति हो, तो भी ठीक है। इस गूढार्थ को ज्ञापित करने के लिए श्लोक में 'च' कार का प्रयोग किया गया है।

आचार्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में भी किन-किन अर्थों में द्विरुक्ति होनी चाहिए इसका उल्लेख है (द्र. सूत्र ८।१।४ से ८।१।१५ पर्यन्त)। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि इन सूत्रों से भावित अर्थों में द्विरुक्ति करना अनिवार्य है और यदि द्विर्वचन नहीं होगा, तो अभीष्ट अर्थ का बोध भी नहीं होगा, यह बात सभी टीकाकारों ने मानी है।

पाणिनि दर्शित अर्थों से भी अन्य अनेक अर्थों में कात्यायन ने द्विरुक्ति का विधान किया है। उनके वार्तिकों का संकलन पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में कर दिया है (द्र. ८।१।१२ भाष्य वार्त्तिक)।

यह दिखाया गया कि कुछ विशेष अर्थों में शब्द की द्विरुक्ति होती है। इसके साथ यह भी जान लेना चाहिए कि कभी-कभी विशेष अर्थ बिना भी द्विरुक्ति की जाती है। पाणिनि के ८।१।१८ सूत्र पर एक द्विरुक्ति सम्बन्धी वार्तिक है, जिसके विषय में कैयटाचार्य ने कहा है—'स्वार्थे चैतद् द्विर्वचनम्' (प्रदीप) अर्थात् मूल शब्द का जो अर्थ है, उसी अर्थ में ही द्विरुक्ति होती है। पर ऐसा नियम शायद यह एक ही है, और यह अनुमान हो सकता है कि किसी समय इस द्विरुक्ति का भी कोई विशेष अर्थ था, पर बाद में वह अर्थ अप्रचलित हो गया।

आचार्य दुर्ग ने भी द्विरुक्ति का एक नया अर्थ दिखाया है यथा—'परितोषार्थो वा इह इह इति द्विः अभ्यासः' (निरुक्त १।६) अर्थात् 'इह' शब्द को जो दो बार पढ़ा गया, वह परितोष के लिए।

वस्तुतः पुनरुक्त वाक्य को एक प्रकार का विशिष्ट वाक्य की तरह प्राचीन आचार्य मानते थे, जैसा वात्स्यायन ने कहा है: 'लोकेऽपि विधिः, अर्थवादः अनुवाद इति त्रिविधं वाक्यम्……' और अनुवाद वाक्य के उदाहरण दिया है—'पचतु पचतु भवान् इत्यभ्यासः' (न्यायभाष्य २।१।६५) न्यायशास्त्र में पुनरुक्तात्मक अनुवाद का लक्षण है—'विधिविहितस्य अनुवचनम् अनुवादः (न्यायसूत्र २।१।६५) अर्थात् पहले से प्राप्त वस्तु को पुनः कहना—यदि उसका प्रयोजन हो—तो वह अनुवाद है (विश्वनाथ की वृत्ति)। आचार्य पाणिनि ने भी इसी अर्थ में 'अनुवाद' शब्द का व्यवहार किया है (देखो सूत्र 'अनुवादे चरणानाम् २।४।३)।

उपसंहार में यह जानना चाहिए कि अति प्राचीन काल से ही भाषा में 'पुनरुक्त' प्रयोगों के प्रति विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ था, और किस-किस परिस्थिति में पुनरुक्ति होनी चाहिए, पुनरुक्ति से किन-किन गूढ़ अर्थों का द्योतन संभव है—इत्यादि विषयों पर अनुशासन भी रहे होंगे, अन्यथा द्विरुक्ति से निबन्धवर्णित अर्थों को ज्ञापित करना संभव नहीं था। यह बात और दृढ़तर रूप से तब प्रमाणित होती हैं, जब हम 'अष्टाध्यायी' के ४।३।७३ सूत्र के गण में 'पुनरुक्त' शब्द को देखते हैं। इस सूत्र से व्याख्यान अर्थ में अण्प्रत्यय होता है, जिससे 'पुनरुक्त का व्याख्यान' इस अर्थ में 'पौनरुक्त' शब्द बनता है। अब विचारना चाहिए कि यदि पुनरुक्ति विचारार्ह एक आवश्यक विषय नहीं होता, तो पुनरुक्ति के व्याख्यानात्मक ग्रन्थों की आवश्यकता ही क्या होती?

भारम,

—रामशंकर भट्टाचार्य

स्वेज में, लड़ाई के दिनों में, एक महिला एक दिन अपने एक सात वर्ष के बच्चे के साथ बस में आ कर बैठ गई। कण्डक्टर के टिकट माँगने पर उसने एक ही टिकट के पैसे दिए। कंडक्टर ने कहा: "बच्चा तीन बरस से अधिक का दिखाई देता है।" महिला ने उत्तर दिया: "एक सप्ताह पहले वह तीन बरस से कम का दिखाई देता था। अब स्वेज की लड़ाई के कारण चिन्ताओं के मारे वह अधिक आयु का प्रतीत होता है।"

राजनीति पर कुछ फुटकर विचार

श्री लुई फिशर अमेरिका के एक ख्यातनामा लेखक और राजनीति के बड़े पण्डित हैं। उन्होंने अनेक बार संसार के प्रायः सभी देशों की यात्रा की है। संसार की राजनीति का उनका अध्ययन बड़ा गम्भीर है। संसार के दो महायुद्धों को उन्होंने बहुत निकट से देखा है। वे रूस आदि देशों में संवाददाता के रूप में वर्षों रहे हैं। भारत का भी उन्होंने कई बार चक्कर लगाया है। आगे दिए विचार उन्हीं की एक पुस्तक से संकलित हैं। आशा है इनके अध्ययन से भारत की वर्तमान राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विषयों को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी। जब राजनीति का संचालन वर्तमान की सुविधाओं को दृष्टि में रख कर किया जाता है तो प्रायः भविष्य के लिए आपदाएँ खड़ी होती हैं।

लार्ड हैलीफ़ैक्स ने रूज़वेल्ट से कहा था कि भारत के लाखों लोग अज्ञानी और अशिक्षित भेड़ के समान हैं और यदि आपको ऐसे मनुष्यों पर शासन करना है तो आपको यह बात प्रमाणित करनी होगी कि आप शासन कर सकते हैं।

एक सामान्य शत्रु से लड़ाई लड़ने के लिए कई राष्ट्र सम्मिलित हो जाते हैं। वे अपनी सेनाओं, अस्त्र-शस्त्रों और उपकरण सज्जा को समन्वित कर लेते हैं। उनके लड़के रणभूमि में साथ-साथ मृत्यु का शिकार बनते हैं किन्तु जब शान्ति-स्थापना का समय आता है तो वे अलग-अलग रास्ते पर चलने लगते हैं, अपनी जगह पर जा कर खड़े हो जाते हैं और किसी व्यक्ति को अपनी सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप नहीं करने देते। जब तक यह बात बन्द न होगी तब तक शान्ति के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की चर्चा करना निरर्थक है।

बड़ी बड़ी ग्राहक संख्या वाले पत्र भी समय ही की गति में गति मिलाना पसन्द करते हैं, उन्हें आगे बढ़ कर बात सोचने में हिचक होती है।

जो विचार समय से तीन या छः महीने पहले व्यक्त किए जाते हैं, वे अनेक पत्रकारों को बाधक प्रतीत होते हैं। वे घटनाओं से आगे बढ़े रहना चाहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि वे घटनाओं से पीछे रह जाते हैं और बाद में घटना घटने पर उनके पाठक आश्चर्य चकित रह जाते हैं।

कई समाचार-पत्र ऐसे होते हैं, जिन्हें अधिक जानकारी नहीं है। वे मस्तिष्क को भोजन प्रदान करने के पहले उसमें केवल गुदगुदी पैदा करते हैं।

इस संसार में राजनीतिक मूर्ख भरे पड़े हैं। युद्ध के बाद और काल्पनिक विचारों की भनभनाहट में भावी विपदाओं की घरघराहट सुनाई नहीं दे पाती।

गुटबन्दियाँ दुर्बल राष्ट्रों को दास बना लेती हैं। उनसे युद्ध रुक नहीं सकता; वे सुरक्षा के लिए हमारी उग्र और आशाहीन खोज का एक अंश-मात्र हैं।

राष्ट्रीय-सुरक्षा नाम की कोई वस्तु नहीं। सुरक्षा या तो सबके लिए होती है या किसी के लिए नहीं।

कूटनीतिज्ञों की बातों का जो अर्थ ऊपर से होता है, असली मतलब अक्सर उसका उलटा होता है।

शक्तिमान् राष्ट्रवाद को भोजन की आवश्यकता होती है और वह भोजन है भूमि।

सभी देश, सभी सरकारें, सभी नेता गम्भीर भूलें करते हैं। इसका प्रमाण हमें प्रतिदिन सवेरे समाचार-पत्रों में मिलता है।

क्रान्ति बीते कल की चिन्ता नहीं करती। वह तो वर्तमान कार्यों की उपेक्षा कर आगामी कल से प्रभावित होती है।

कभी-कभी वह प्रचार सत्य होता है जो हमारे उसे ग्रहण करने के लिए तैयार होने से काफ़ी पहले ही कह दिया जाता है।

किसी देश की असलियत उनके सरकारी वक्तव्यों में दिखाई नहीं देती। एक बार कार्ल मार्क्स ने कहा था कि जहां एक गृहस्थिनी, दुकानदार की बातों में विश्वास न कर मुर्गी के बच्चों को स्वयं परीक्षा करके देखती है, वहाँ इतिहासकार और पत्रकार सरकार की बातें सत्य मान लेते है। यदि मार्क्स को आधुनिक पत्रकारों को सलाह देनी होती तो वे कहते कि सरकार द्वारा दिए जाने वाले 'मुर्गी के बच्चों' को सोच समझ कर लो।

१९४७

अमीर और ग़रीब में जितना भेद सोवियत् रूस में है, उतना पूँजीवादी देशों में भी नहीं स्टालिन को साधारण वेतन मिलता है और वे शायद कभी रुपया छूते भी नहीं। फिर भी एक मनुष्य को जितने भी पदार्थों की आवश्यकता हो सकती है वे सब उन्हें उपलब्ध हैं स्टालिन उतने ही सुख से रहते थे जितने सुख से ज़ार रहते थे। इसके विपरीत एक रूसी मज़दूर को एक अमरिकन मज़दूर की तुलना में बहुत ही कम सांसारिक सुविधाएँ प्राप्त हैं।

सिपाहियों के युद्ध में वीरता दिखाने से यह न समझ लेना चाहिए कि वे युद्ध पसन्द करते हैं या उन लोगों का समर्थन करते हैं जिन्होंने उन्हें लड़ने के लिए भेजा है।

इसे भूल न जाना चाहिए कि कोई बात छोटे से रूप में आरम्भ हो कर बड़ी से बड़ी सीमा तक पहुँच सकती है।

तानाशाहों के हाथ में इतिहास एक खिलौना होता है।

पूँजीवाद के कारण निर्धनता के पार्श्व में ही अमितव्ययता का जन्म होता है।

निरंकुश शासन परोपकारी बन सकता है। वह जनता के लिए और जनता का हो सकता है, किन्तु जनता द्वारा चलाया नहीं जा सकता। जन-तन्त्र ही एक ऐसा शासन है जिसका संचालन जनता कर सकती है। वह समाजवाद निरर्थक है जिसके अधीन रह कर जनता शासन-निर्देश में सक्रिय भाग न ले सके।

स्टालिन, सोवियत जनता को काफ़ी अन्न, वस्त्र और शरण देने में असमर्थ थे और वे उसे सरकारी मामलों में कुछ कहने सुनने का अधिकार नहीं देना चाहते थे, इस लिए उन्होंने उसे राष्ट्रीयता दी। जो धर्म चाहते थे उन्हें स्टालिन ने धर्म भी दिया। कुछ अल्प संख्यकों को जिनकी स्वामि-भक्ति वे खरीदना चाहते थे, उन्होंने पदार्थिक ऐश्वर्य और सामाजिक सुविधाओं की अफ़ीम खिलाई।

रूस का शरीर समाजवाद का है, किन्तु अब उसमें जीव नहीं रहा, क्योंकि अब उसमें स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीयता नहीं रही।

राष्ट्रवाद के लिए नया उत्साह हमें सुगमता से उस मार्ग पर ले जा सकता है जिसके अन्त में व्यापक संकट आता है।

आधुनिक मानव यदि अपने विचार युद्ध-भूमि में से ग्रहण करेगा तो वह नष्ट हो जाएगा।

तानाशाही की एक बड़ी कमज़ोरी यह है कि वह आलोचना को सहन नहीं कर सकती।

राष्ट्रों की मित्रता वास्तविक तथ्य को दबाने से कायम नहीं रहती। असत्यों के बदले में खरीदी हुई मित्रता नाजुक होती है और वह थोड़ा-सा ज़ोर पड़ते ही टूट जाती हैं।

दण्ड देने से दण्डित-व्यक्ति के हृदय में पाखण्ड और दासता की भावना उत्पन्न हो जाती है।

चिरस्थायी, कठोर और व्यापक तानाशाही विवेक-शक्ति को प्रोत्साहन नहीं देती, क्योंकि उसे वह भयावह समझती है। साथ ही साथ वह राजनीतिक साहस को भी मृत्यु का संकेत समझ कर प्रोत्साहन नहीं देती और लोगों की चिन्तन-प्रवृत्ति को दबाती है क्योंकि उसके विचारानुसार इसकी आवश्यकता उच्च वर्ग के कुछ इने गिने व्यक्तियों को ही होती है। अन्य सब लोग तो उनके ही विचारों को दुहराते हैं। रूसी शिक्षा का उद्देश्य कार्य है, चिन्तन नहीं।

स्वतन्त्रता के अधिक दिनों तक प्रयोग में न आने से उसे भोगने की इच्छा कुण्ठित हो जाती है।

तानाशाही शरीर का बध करने से भी अधिक भयंकर काम करती है। वह जीवित बचे हुए व्यक्तियों के मस्तिष्क और संकल्प को भी मार देती है।

दुनिया में जो इतनी बुराई फैली हुई है उसका दोष सिर्फ बुरा काम करने वालों पर ही नहीं है, बल्कि दोष उन अच्छे आदमियों का भी है, जो बुरा करनेवालों की खुशामद करने और उन्हें खुश करने के लिए सदा तैयार रहते हैं।

किसी देश की विदेश नीति को समझने की अधिक उत्तम रीति उद्गम स्थान में ही उसका अध्ययन करना है।

श्री कोस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि रूसी अधिकृत क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है उसके लिए पहले की परम्परा मौजूद है। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि एक अत्याचार दूसरे अत्याचार की परम्परा के आधार पर किया जाए तो इस संसार का क्या होगा?

अज्ञात समूहों में बढ़ने वालों को ही नए महाद्वीपों

या नई दुनिया का पता लगता है। नई दुनिया की ज़रूरत है। वह नई दुनिया कहाँ है? यह उज्ज्वल भविष्य किस दिशा में बढ़ने से प्राप्त हो सकता है? नई दुनिया या उज्ज्वल भविष्य का दिखाई देना आसान नहीं है। यह हमें पुरातनवादियों से नहीं प्राप्त हो सकता। यह तो हमें सुधारवादियों या निश्चित कार्यक्रम रखनेवाले ऐसे असन्तुष्ट व्यक्तियों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जिनमें कल्पना है, जो संकुचित पथ पर बहादुरी से आगे बढ़ना जानते हैं और जो दोनों मार्गों के विरोधियों की गोलियों को सहने के लिए तत्पर रहते हैं।

शब्द विचारों को आगे बढ़ाते हैं और विचार दुनिया को उचित अथवा अनुचित रूप से प्रभावित करते हैं। लेखकों, व्याख्यानदाताओं तथा कलाकारों के लिए विचार-स्वातन्त्र्य महत्व की वस्तु है।

सब से महत्वपूर्ण बात तो यह है कि दुनिया में चारों तरफ़ बुराई ही-बुराई है, पर ऐसे बिरले ही हैं जो उस बुराई से लोहा लेते हैं।

युद्ध, जिस उद्देश्य से लड़ा जाता है, उसके सिद्ध हुए बिना वह समाप्त नहीं होता। इसीलिए कहा जा सकता है कि अभी दूसरा महायुद्ध समाप्त नहीं हुआ है। वर्तमान शान्ति को शान्त नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि दुनिया में अभी तक संघर्ष चल रहा है।

तानाशाही, जनता को लड़ने के लिए सदा कटिबद्ध रखती है। तानाशाही शासक अपनी प्रजा को युद्ध के लिए तैयार रहने के आदेश देते रहते हैं। इसके विपरीत लोकतन्त्रवाद सामूहिक क्रियावाद सामूहिक क्रियाहीनता की ओर ले जाता है।

लोकतन्त्री सरकारें कभी कोई निर्णय नहीं कर पातीं, क्योंकि उनकी सम्पूर्ण शक्ति राष्ट्र के भीतर की विरोधी शक्तियों की रोक-थाम और उनके मध्य सन्तुलन स्थापित करने में ही खर्च हो जाती है।

सर्वोत्तम विचार की विजय नहीं होती, बल्कि विजय उस विचार की होती है, जिसे जनता का समर्थन सबसे अधिक प्राप्त होता है।

लापरवाही, दूर रहने की मनोवृत्ति, सरल आशावाद और टालमटोल की नीति का परिणाम तीसरा महायुद्ध हो सकता है।

वीरों के शरीर तलवारों का सामना कर सकते हैं, किन्तु अधिकांश व्यक्तियों के मस्तिष्क निरन्तर किए जाने वाले, एकांगी प्रचार के अनिवार्य प्रभाव से नहीं बच सकते।

घृणा अथवा हिंसा द्वारा आप शान्ति का निर्माण नहीं कर सकते।

मैं अनेक देशों का भ्रमण कर चुका हूँ। मैं ऐसे हिन्दुओं से मिल चुका हूँ, जो ईसाई थे और ऐसे यहूदियों से भी, जो ईसाई थे। मैं ऐसे प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों से भी मिल चुका हूँ, जो ईसाई थे परन्तु ईसाई देश मैं ने आज तक नहीं देखा।

शान्ति उतनी ही अच्छी होगी, जितने अच्छे वे लोग होंगे, जो उसका निर्माण करने जा रहे हैं।

युद्ध और फासिज़्म केवल जर्मनी तक सीमित नहीं है। ये तो संसार भर की व्याधियाँ हैं।

निर्धनता, कष्ट, दमन और भेदभाव विश्वव्यापी हैं। इन्हीं के कारण युद्ध होते हैं।

वास्तविक सुरक्षा एकमात्र न्याय और क़ानून में ही निहित है।

संसार की शान्ति इस बात पर निर्भर करती है कि सभी मज़दूरों को इतनी मज़दूरी पर, जिससे उनका जीवन-निर्वाह हो सके, बराबर काम मिलता रहे। सभी कृषकों को जीवनोपार्जन के लिए भूमि प्राप्त हो, सभी जाति और वर्ग के लोगों को स्वतन्त्रता मिले और सभी देश और उपनिवेश आज़ाद हो जाएँ। राष्ट्रों की सन्धियों से ये परिणाम नहीं निकलते। लोक तन्त्रवाद को नष्ट कर देने के लिए कम्युनिस्ट लोग लोकतन्त्रवादी संसार की इन सारी अपूर्णताओं से लाभ उठाते हैं।

मास्को के हाथ में एक ऐसा आइना है जो उन लोगों के संकट को, जो उस आइने में देखना पसन्द करते हैं, अक्सर बहुत बढ़ा कर प्रतिबिम्बित करता है। इसके विरुद्ध कोई सन्धि या शान्ति प्राप्त करने की अन्य दूसरी राजनीतिक व्यवस्था उनके लिए शक्तिहीन है।

रूस केवल एक राष्ट्र नहीं और न ही वह केवल पीटर महान् है। वह तो मार्क्स के विकृत और अस्वीकृत रूप द्वारा सज्जित पीटर है।

क्या यह सच है कि बोलशेविक नेताओं को डर है कि यदि संसार को वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई तो उस दशा में सोवियत-सरकार—जिसने स्वयं एक बहुत बड़े पूँजीवाद का रूप धारण कर लिया है—का यह

१९५७

अत्याचार अनिश्चित काल तक टिका न रह सकेगा !

यदि रूढ़िवादियों, प्रतिक्रियावादियों और वर्तमान स्थिति को ज्यों की-त्यों बनी रहने देने के समर्थकों की, जो कि घर में कोई मरम्मत, आधुनिक ढंग से सुधार और नई बातों का विरोध करते हैं, जीत हुई तो नई सन्तानें उस घर में टिक न सकेंगी। वे अपने रहने के लिए किसी दूसरे घर की तलाश करने निकलेंगीं।

चर्चिल के एंग्लो अमेरिकन समझौते के प्रस्ताव की अपेक्षा ब्रिटिश मज़दूर-सरकार की एशिया के उपनिवेशों की स्वतन्त्रता की योजनाओं से सोवियत सरकार को अधिक घबराहट होती है।

रूसी समस्या सुलझाने के तीन उपाय हैं—(१) रूस से अभी लड़ा जाए। मैं उसका प्रबल विरोध करता हूँ। (२) रूस को तुष्ट किया जाए। तुष्टीकरण में यह बात हमेशा शामिल रहती है कि आप जो कुछ कर रहे हैं वह, तुष्टीकरण नहीं बल्कि रूस से मैत्री बनाए रखने का यही एक मात्र उपाय है। मैं इसे अस्वीकार करता हूँ; क्योंकि इससे बहुत से देशों की स्वतन्त्रता छिन जाएगी और इसका परिणाम युद्ध होगा। (३) रूस के प्रादेशिक विस्तार को एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा और उसके मार्ग में पड़ने वाले देशों में सन्तोष और एकता की भावना को बढ़ा कर सोवियत रूस के विस्तार को रोक दिया जाए। मैं इसका अनुमोदन करता हूँ। इसका विरोध वही लोग करेंगे जो रूस के विस्तार को रोकना नहीं चाहते।

मेरी सम्मति में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत राष्ट्रों के विशेषाधिकार को उड़ा देना चाहिए। मुझसे पूछा जाता है कि क्या हमें इसके लिए अपने कांग्रेस-सदस्यों को तार भेजने चाहिएँ ? मैं कहता हूँ, अवश्य, आप उक्त कांग्रेस-सदस्यों के पास तार भेजें। परन्तु दूसरी बार काँग्रेस के लिए ऐसे प्रतिनिधि चुनें, जिन्हें तार देने की आवश्यकता ही न हो।

लोकतन्त्रवादी देशों के सार्वजनिक जीवन में अधिकतर नैराश्य का कारण वह खाई होती है, जो दो बातों के बीच पाई जाती हैं कि बहुत से लोग क्या चाहते या क्या लक्ष्य रखते और उसकी प्राप्ति के लिए वे क्या प्रयत्न करते हैं।

पहले राजनीति को एक खेल समझा जाता था। राजनीति उन लोगों से वास्ता रखती थी जो सड़कें साफ़ कराते, कूड़ा-कर्कट जमा कराते और पुलिस इन्स्पेक्टर को नियुक्त करते थे। लेकिन अब राजनीति जीवन का तानाबाना बन गई है। अब वह इसका फ़ैसला करने वाली है कि बमों से मर मिटने के बजाय मानव-जाति को सन्तुष्ट, बेकारी से मुक्त, सुखी और जीवित रहना है।

अपेक्षाकृत एक उत्तम संसार के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि संसार की जनता न केवल अवसर आने पर वोट देकर वरन् उस चुनाव के लिए प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवार भी खड़ा करके अपने देश के राजनीतिक मामलों में पहले से अधिक सक्रियता पूर्वक भाग ले। यह कार्य दल के कार्यकर्ताओं और पेशेवर संरक्षकों के ऊपर कदापि न छोड़ना चाहिए।

स्वतन्त्रता और शान्ति की समस्या किसी चमत्कार से—जादू से—हल नहीं की जा सकती। इसके लिए प्रत्येक परिवार, प्रत्येक जाति, प्रत्येक राज्य और प्रत्येक राष्ट्र को रक्त का पसीना बनाने की ज़रूरत है।

अपेक्षाकृत उत्तम संसार में सभी स्वाधीन होंगे, अपने विकास के लिए सभी को अवसर प्राप्त होंगे, इसके अतिरिक्त बेकारी के जुए से मुक्ति, अन्तर्वेदना से पूरित, भेद-भाव से छुटकारा, अभाव की पीड़ा से मुक्ति, अरक्षा और भय से स्वतन्त्रता, अत्यधिक शासन-नियन्त्रण और अत्यधिक सम्पत्ति के प्रपीड़न से मुक्ति और क़ाबू में न लाए जा सकने वाले राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभुओं से, छुटकारा मिल जाएगा। और तब प्रत्येक को कुछ सीखने का, कुछ बढ़ने का, और अन्यों की सेवा करते हुए अपनेपन को जान लेने का अवसर प्राप्त होगा। इस प्रकार की दुनिया में मानव और मानवों में जो शान्ति होगी, वही राष्ट्रों की शान्ति होगी।

पुरानी बस्ती,
होशियारपुर

—सन्तराम

अत्याचारों एवं अन्याय को चुपचाप सह लेने में विरोध की आशंका दब तो जाती है। परन्तु उन्नति तथा सुधार के सभी रास्ते बन्द हो जाते हैं।

—टाल्स्टाय

हिन्दी के प्रेमाख्यानक-काव्यों की लौकिक[$] पृष्ठभूमि[†]

हिन्दी में लोक-वार्त्ता (Folk Lore) और लोक-साहित्य के विविध उपादानों के आधार पर अभिजात-साहित्यिक कृतियों का अध्ययन अभी-अभी शुरू हुआ है। और, यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि हमारे मध्यकालीन साहित्य ने लोक-वार्त्ता से अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया था। उस काल के सन्त और भक्त कवि जन-जीवन के इतने निकट आए थे कि उनके साहित्य पर 'शास्त्र' की तुलना में 'लोक' की छाप कम नहीं पड़ी है। कथा-रूप, भाषा-शैली, छन्द अलंकार आदि सभी क्षेत्रों में भक्ति-साहित्य लोक-उपादानों से परिवेष्ठित है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों का मूल आधार तो यह लोक-वार्त्ता और लोक-साहित्य ही है। उन्होंने अपने प्रेमाख्यानकों में लोक-प्रचलित कथा-कहानियों, गीत-शैलियों और सहज-भाषा के अतिरिक्त अनेक लौकिक आचार-विचारों, रीति-रिवाजों और परम्पराओं को भी आत्मसात् कर लिया है।

कुल मिला कर, हिन्दी के सूफ़ी कवियों की काव्य-साधना नाना प्रकार की चिन्ता-धाराओं का संगम है। जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों, धार्मिक विचारों और मसनवी काव्य-पद्धति का प्रश्न है, वह ईरान और फ़ारस की धरती से अधिक निकट है किन्तु, उसमें बहुत कुछ ऐसा भी है जो एकदम भारतीय है। ८वीं १०वीं शताब्दी के बीच, जिस समय सूफ़ी-मत पहले-पहल इस देश में आया, यहाँ नाथों और सिद्धों का बोल-बाला था। उनके तन्त्र मन्त्र, हठयोग और अन्य करामाती साधनाओं का जन-जीवन पर पर्याप्त प्रभाव था। उन दिनों, सूफ़ी साधकों ने इन नाथों और सिद्धों का परिचय प्राप्त किया और उनसे प्रभावित हुए। भारतीय मनीषियों के सम्पर्क ने उन्हें यहाँ के शास्त्रों से भी थोड़ा-बहुत परिचित करा दिया और वे योग-दर्शन एवं उपनिषद्-दर्शन से भी एकदम अछूते न रह सके।

कालान्तर में जिस कोटि के सूफ़ियों ने प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना की, वे मूलतः इसी देश के निवासी थे; और यहाँ के जन-जीवन में घुले-मिले थे। इनमें से कुछ तो ऐसे थे—जो दो-चार पुश्तों से ही मुसलमान हुए थे और जिनके बहुत सारे पूर्ववर्ती संस्कार किसी न किसी रूप में चले आ रहे थे। उन्हें यहाँ की लोक-संस्कृति और लोक-रुचि का पूरा ज्ञान था। इसलिए, इन लोगों ने जब काव्य-साहित्य का सृजन किया तो इनकी कृतियों में भारतीय लोक-जीवन प्रतिबिम्बित हो उठा।

प्रेमाख्यानक काव्यों की कथाओं का मूल-स्रोत इस देश की लोक-प्रचलित कहानियाँ हैं। ऐसी कहानियों की परम्परा बड़ी पुरानी है। इनका एक प्राचीन और बृहद् संग्रह गुणाढ्य कवि-कृत 'बृहत् कथा' (बड्डु कहा) थी। कीथ महोदय ने इसे अपने समय की अत्यन्त लोक-प्रचलित कथाओं का कोश कहा है। यह कथा पैशाची में थी। इसका मूल-रूप तो अब प्राप्त नहीं है किन्तु क्षेमेन्द्र और सोमदेव आदि कवियों द्वारा 'बृहत् कथा-मंजरी' और 'कथा सरित सागर' के नाम से रूपान्तरित हो कर यह संस्कृत-साहित्य में बची हुई है। हिन्दी साहित्य के आदि काल में चन्द आदि चारण कवियों ने इन लोक-कथाओं का पर्याप्त उपयोग किया था। आगे चल कर सूर-तुलसी आदि सगुण-मार्गी भक्त-कवियों ने तो पौराणिक गाथाओं का आश्रय लिया किन्तु सूफ़ी कवियों ने लोक-कथानकों के माध्यम से ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई। लगभग सभी सूफ़ी कवियों ने कथा का वही रूप अपनाया जो लोक-जीवन की मौखिक परम्परा में लोक-गीतों या लोक-कथाओं के रूप में सुरक्षित था। 'मृगावती', मधुमालती', अथवा 'पद्मावत' की कथावस्तु लोक-कथाओं के सामान्य अभिप्रायों के आधार पर निर्मित है और यही कारण है कि ये काव्य-आख्यानों की दृष्टि से एक ही

[$] 'Folk'

[†] लेखक के शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले—'पद्मावत में लोक-तत्त्व' नामक ग्रन्थ से।

१६५७

साँचे में ढले जान पड़ते हैं, जैसे एक मशीन की उपज हों। इन आख्यानक काव्यों का प्रतिपाद्य विषय प्रेम है और, ये प्रेम-कहानी के रूप में लिखे गए हैं। लोक-साहित्य में आज भी अनेक राज कुमारों और राजकुमारियों की प्रेम-कथाएँ सुरक्षित हैं। सूफ़ी-काव्यों की कहानियाँ लोक जीवन की इन 'राजा रानी' की कहानियों से भिन्न कोटि की वस्तु नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने **अपने** 'इतिहास' में लिखा है कि "इन कहानियों का विषय तो वही पुराना होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौन्दर्य की बात सुन कर उसके प्रेम में पागल हो जाना और घर-बार छोड़ कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट झेल कर, अन्त में उस राजकुमारी को प्राप्त करना।"[1] शुक्लजी के इस कथन को थोड़ा विस्तार देकर इस प्रकार कहा जा सकता है: "कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के रूप-गुण की प्रशंसा सुन कर या प्रत्यक्ष या स्वप्न या चित्र में देख कर आकर्षित होता है। उधर भी वही हालत होती है। अन्त में वह उसकी खोज में चल पड़ता है। उसे कोई मार्ग प्रदर्शक भी मिल जाता है। यह अधिक-तर राजकुमारी का भेजा हुआ कोई दूत या काम करनेवाला कोई पक्षी या तोता हुआ करता है। कई बार फलागम होते होते...कोई ऐसी भूल होती है, जिससे उसकी उद्देश्य-सिद्धि एक अनिश्चित काल तक के लिए रुक जाती है।"[2] प्रायः सभी सूफ़ी-कहानियों का वही एक खाका है और इसे एक शब्द में 'लौकिक-रोमान्स' की संज्ञा दी जा सकती है।

फ़ारसी साहित्य में 'लैला-मजनूँ' और 'शीरीं-फरहाद' आदि की कहानियों के रूप में ये रोमान्स-कथाएँ व्यवहृत हुई हैं। हिन्दी साहित्य के प्रेमाख्यानक काव्यों में इनकी एक लम्बी परम्परा का उल्लेख मिलता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पद्मावत' में इनकी एक तालिका प्रस्तुत की है। रत्न-सेन के पास 'हीरामन' सुग्गे के माध्यम से पद्मावती द्वारा प्रेषित प्रेम-संदेश में 'स्वप्नावती', 'मुग्धवती', 'मृगावती', मधुमालती', और प्रेमावती आदि प्रेमाख्यानों की चर्चा आई है।[2] जायसी ने इन कहानियों का नाम मात्र गिनाया है और कोई विस्तृत परिचय नहीं दिया। फिर भी जिस संदर्भ में दृष्टान्त-स्वरूप इनका उल्लेख हुआ है, उसके आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये कहानियाँ लोक-प्रचलित प्रेम-कथाएँ थीं और जायसी, इनसे परिचित थे। किन्तु, कुछ विद्वान्—पंडित रामचन्द्र शुक्ल, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और बाबू श्यामसुन्दरदास—इन कहानियों की कोई साहित्यिक परम्परा मानते हैं।[3] इसके विपरीत कुछ पाश्चात्य विद्वान् इन कहानियों को लोक गृहीत और मौखिक परम्परा की वस्तु मानते हैं।[4] इन विद्वानों के विचार से जायसी ने जो नामावली प्रस्तुत की है वह प्रेमाख्यानक काव्यों की न हो कर लोक-प्रचलित कहानियों की है और उन कहानियों के स्वरूप के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों जैसी थीं। यह भी आवश्यक नहीं है कि ये कहानियाँ लिखित ही हों, सम्भव है कि ये एकमात्र मौखिक परम्परा में अस्तित्व रखती हों।[5] सही बात तो यह है कि ये कहानियाँ मूलतः लौकिक हैं और सूफ़ी-काव्यों में इन्हें थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया गया है। उदाहरण के लिए जायसी कृत 'पद्मावत' की कथा को लिया जा सकता है। इस कथा में कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों का भी समावेश हुआ है लेकिन अपनी आख्यानक-शैली और कथा-परक रूढ़ियों या अभिप्रायों की दृष्टि से यह कथा लोक साहित्य में प्रचलित अनेकानेक प्रेम-कहानियों से भिन्न नहीं है।[6]

सूफ़ी कवियों ने कुछेक लौकिक काव्य-रूपों को भी अपने प्रेमाख्यानकों में यथास्थान समाविष्ट कर लिया है। वैसे, ये सभी ग्रन्थ मसनवी-पद्धति पर आधारित हैं और इनमें ईश्वर-स्तुति, मुहम्मद-स्तुति, समकालीन-बादशाह की स्तुति और कवि के आत्म-परिचय का खयाल रक्खा गया है; और 'पद्मावत'-जैसे दो-एक काव्यों में साहित्य-दर्पणकार द्वारा गिनाए गए महाकाव्य के लक्षणों को भी ढूँढ़ा जा सकता है किन्तु इनमें लौकिक-काव्य-रूपों का महत्त्व भी कम नहीं है। जायसी

---

[1] ना० प्र० सभा काशी : जायसी ग्रन्थावली प्र. सं., पृ. १००। [2] वही भूमिका पृ. ३-४। [3] A. G. Shirreff: Padmavati, foot-notes 114 (LL) [4] डॉ. कमल कुल श्रेष्ठ हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य प्र० सं, पृ. १६। [5] पद्मावत के लोक रूप और उसकी लौकिक-कथानक रूढ़ियों के लिए 'आलोचना'—१६ में इस लेखक का "पद्मावत' की कथा का लोक-रूप" और शीर्षक निबन्ध।

ने अपने 'पद्मावत्' में, नागमती-वियोग-खण्ड के अन्तर्गत जिस 'बारह मासा' वर्णन को स्थान दिया है, वह लोक-गीतों की ही एक परम्परा है। प्रकृति की पल-पल-परिवर्तित पृष्ठ-भूमि में, किसी वियोगिनी की उद्दीप्त व्यथा का वर्णन करने के लिए हमारे साहित्य में इस लौकिक काव्य-रूप का महत्त्व बहुत पहले से ही स्वीकार कर लिया गया था। नरपतिनाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' में राजमती के विरह का वर्णन बारहमासे के माध्यम से किया गया है। मिथिला के लोक-विख्यात कवि विद्यापति ठाकुर ने भी इस लोक गीत शैली को अपनाया है। इसी प्रकार, मध्ययुग के प्रायः सभी सन्त-भक्त कवियों ने अनेकानेक लोक-प्रचलित काव्य-रूपों को अपनी रचना का माध्यम बनाया है। बरवै, सोहर, मंगल, चौंतीसी, ककहरा, बसन्त, चाँचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोरा आदि सभी नाम लौकिक काव्य रूपों के हैं।

प्रेमाख्यानक काव्य अवधी भाषा में लिखे गए हैं। 'मृगावती', 'मधुमालती' और 'चन्दावत'-जैसे काव्य ठेठ अवधी का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह भाषा परवर्ती ग्रन्थ 'रामचरित मानस' की अभिजात; परिष्कृत और संस्कृत गर्भित अवधी नहीं है। यहाँ भाषा का जो रूप सुरक्षित है, वह लोक-कण्ठ की सहज और अनगढ़ भाषा का है। इस भाषा में—सरबरि, बरोक, मकु, बेसाहना, तिवई, वेहर और ओनाना-जैसे ठेठ शब्द-रूपों का धड़ल्ले के साथ प्रयोग किया गया है। सूफ़ी कवियों ने लोक-भाषा के साथ-साथ लोक-कण्ठ में जीवित मुहावरों और लोकोक्तियों को भी अपनी सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। ये मुहावरे और लोकोक्तियाँ प्रत्येक जन-बोली की मूल 'स्पिरिट' होती हैं और इनके योग से हर साहित्यिक कृति में सहज और सशक्त अभिव्यक्ति की क्षमता आ जाती है. साथ ही उसमें लोक-भाषा का सारल्य और उसका प्रवाहमयता आ जाती है। कविवर नूर-मुहम्मद अपनी 'इन्द्रावती' में कहते हैं :

"जाके गोड़ न फटी बेवाई सो का जानै पीर पराई"

अथवा—

"रहै न एकौ अन्त कहें, नारंग-दाड़िम दाख
दिवस चार की चाँदनी, फिर अन्धियारा पाख"

इसी प्रकार मंझन मियाँ की 'मधुमालती' से एक लोकोक्ति उल्लेखनीय है :

"रतन की सागर सागरहिं, गज-मोती गज कोय
चन्दन कि बन बन उपजई, बिरह कि तन तन होय"

इस तरह के प्रयोग जायसी ने भी खूब किए हैं। क्या मुहावरे और क्या लोकोक्तियाँ—दोनों ही उनके 'पद्मावत' में भरी पड़ी हैं। किसी एक ही बात को जान कर कहने की धुन में कहीं-कहीं तो मुहावरों की पलटन खड़ी कर दी गई है।[१] लोक-मानस की उर्वरा भूमि से उपजनित मुहावरों और कहावतों की मनोवैज्ञानिक विवेचना के लिए, हिन्दी में शायद 'पद्मावत' से बड़ा और महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

सूफ़ी कवियों ने जिस ढंग से अपनी प्रेम-कहानी कही है, वह लोक-कथा-शैली से बहुत भिन्न कोटि की वस्तु नहीं है। हमारे प्रेमाख्यानकों ने अनेक स्थलों पर वही रूप ग्रहण किया है जो 'दादी-नानी वाली' कहानियों का है। उनकी अपनी एक विशेषता है। ये कहानियाँ अपने श्रोताओं की उत्सुकता को जागृत रखती हैं, उनके कुतूहल की पूर्त्ति करती चलती हैं और यथा-स्थान उपदेशात्मक रूप भी ग्रहण कर लेती हैं। सूफ़ी-प्रेमाख्यानकों में ये सभी विशेषताएँ यत्र-तत्र मिल जाती हैं। कहीं तो सूफ़ी कवि लिखता है :

"तजा राज, राजा भा जोगी
औ किं गरि कर सहेउ. वियोगी"

और कहीं वह मंगलाशा प्रकट करता है :

"जिन काहू कर होइ बिछोऊ
जस वै मिलै, मिलै सब कोऊ"

वह यथा-अवसर उपदेश-वचनों से भी नहीं चूकता :

"ओछ जानि के काहुहि
जिनि कोइ गरब करेइ
ओछे पर जो दैउ है
जीति पत्र तेइ देइ"

अवधी भाषा में कथात्मक या प्रबन्ध काव्य लिखने वाले प्रायः सभी कवियों ने दोहा और चौपाई के छन्द-

---

जायसी ग्रन्थावली, पृ. ६ दोहा सं. १५।

ग्र को स्वीकार किया है। हिन्दी-साहित्य की आदि कालीन परम्परा से अपरिचित कुछ लोगों का अनुमान है कि ये छन्द और इनका इतना व्यापक प्रयोग सूफ़ी कवियों की अपनी निजी विशेषता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं। इन छन्दों का आश्रय लेकर काव्य-सृजन की परम्परा-प्रथा अपभ्रंश साहित्य में प्राप्त होती है। सिद्ध-सरहपाद ने दोहे चौपाई वाली इस छन्द-शैली का व्यवहार किया है।[1] 'स्वयंभू-भू-देव' के विशाल महाकाव्य 'पउम चरिउ' में इस शैली ने एक निश्चित दिशा ग्रहण की है।[2] हिन्दी के प्रेमाख्यानक-काव्य छन्द-विधान की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य की इसी दोहा चौपाई वाली शैली की परवर्ती कड़ी है। गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित मानस' ने इन छन्दों को जन-जीवन के बीच प्रचारित किया है और इन्हें लोक-कण्ठ का सबसे प्रिय छन्द बना दिया है। विद्वानों का अनुमान है कि इन छन्दों की लोकप्रियता और इनके लोक-प्रचार का एक कारण यह भी है कि ये मूलतः लोक-छन्द हैं। इनकी परम्परा संस्कृत के वर्णिक छन्दों से एकदम भिन्न है। संस्कृत के वर्णिक छन्दों और उसके शास्त्रीय संगीत से टक्कर लेने वाले इन सहज और सरल छन्दों का आविष्कार लोक-कण्ठ ने ही किया होगा। संस्कृत-भाषा के विकास-काल में प्राकृत अपभ्रंश लोकभाषाएँ थीं। और जब इस लोक-भाषा ने साहित्य-भाषा का रूप ग्रहण किया तो उसके कुछ लौकिक छन्द भी साहित्य में स्वीकृत हो गए। आज भी आभीर-जाति का अत्यन्त प्रिय बिरहा-गान अपनी मूल लयात्मकता में दोहे और चौपाई के बहुत निकट है।

मध्य युग के प्रायः सभी कवियों ने काव्य के आवश्यक उपादान के रूप में सादृश्य-मूलक अलंकारों का व्यापक प्रयोग किया है। सूफ़ी कवियों ने भी इस लीक को छोड़ा नहीं है लेकिन रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने अलंकारों की अनावश्यक ठूँस-ठाँस नहीं की है। काव्य-रस के स्वाभाविक प्रवाह में जो अलंकार आ गए हैं सो आ गए हैं। उनकी योजना के लिए इन कवियों की ओर से कोई आग्रह नहीं किया गया है। इन प्रेम-गाथाकारों की एक विशेषता यह भी है कि इन्होंने शास्त्र-निबद्ध एवं परम्परा-प्रथित उपमाओं की अपेक्षा लोक-जीवन से नवीन मौलिक उपमान अधिक ग्रहण किए हैं। अधिकांश उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ लौकिक उपादानों पर निर्धारित है, शास्त्रीय रूढ़ियों पर नहीं। पेट के लिए एक उपमा द्रष्टव्य है :

"अस कोमल जनु मैदा लोई
इंगुर रंग सान मुनें पोई"—'पुहुपावती' १००

इसी प्रकार कपोलों के लिए :

"कंइ यह सुरंग खखौरा बाँधे"—'पद्मावत'—४४

लड्डू की उपमा भी लोक-चिन्ता की वस्तु है। विरहिणी नागमती के वियोग वर्णन में जायसी ने लोक-उपमानों का अत्यन्त सफल उदाहरण प्रस्तुत किया है। विरह संतप्त शरीर की उपमा पतझर के पीले-जर्जर पत्ते से; अथवा उस अनाज के दाने से जो भाड़ की तप्त बालुका में उछल-उछल कर फिर उसी में गिर जाता है और रोती हुई आँखों की उपमा टपकती हुई छप्पर की ओरी से देकर कवि-परम्परा प्रचलित उपमानों को छोड़ सीधे लोक-हृदय की स्वच्छन्द भावनाओं को छू गया है।

इन प्रेमाख्यानक काव्यों में जीवन की जिन विविध परिस्थितियों, सामाजिक रीति-रिवाज़ों एवं आचार-विचारों का अंकन किया गया है, वे सब भी सामान्यतः लोक-जीवन से सम्बद्ध हैं और एतद्देशीय हैं-बसन्तोत्सव, विवाहोत्सव, भोज-जेंवनार, और गौंना आदि के वर्णन इनकी लोक-प्रचलित पद्धति पर आधारित हैं। इसी प्रकार, सूफ़ी कवियों ने शकुन-विचार, यात्रा-विचार, स्वप्न विचार, भूत-प्रेत-देवी-देवता आदि की पूजा और उन सब से सम्बन्ध लोक-विश्वासों को अपने काव्य में अंकित कर दिया है। इस दृष्टि से भी हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों का अध्ययन अपेक्षित है। वे भारतीय लोक-संस्कृति को समझने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होंगे।

—रवीन्द्र 'भ्रमर'

हिन्दी-शोध : काशी विश्व वद्यालय
९, गुर्टू छात्रालय, वाराणसी—५

---

[1] पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी साहित्य का आदि काल'—पृ० ९६। [2] डॉ० रामकुमार वर्मा हिन्दी सा० का आ० इतिहास'—पृ. १९५।

प्रयोगवादी काव्य में प्रकृति और प्रेम

प्रयोगवाद के प्रवक्ता श्री 'अज्ञेय' के शब्दों में प्रयोग सभी काल के कवियों ने किए हैं। परन्तु वे प्रयोग, प्रयोग के लिए नहीं अन्तर के भाव सत्य या सामाजिक वस्तु सत्य की किसी नई उपलब्धि को व्यक्त करने के लिए अधिक समर्थ और प्रभावकारी साधन को अन्वेषण करने की आन्तरिक प्रेरणा से किए गए थे। 'सोद्देश्य प्रयोगशीलता का यह सामूहिक प्रयत्न हिन्दी-कविता में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही प्रारम्भ हुआ था।

छायावाद के उत्तर-काल में प्रयोगशीलता का आग्रह तरुण कवियों को प्रतिक्रिया के उस आखिरी छोर तक खींच कर ले गया, जहाँ वे 'शब्दों' की पुरानी केंचुल को फाड़ कर उसमें नई अर्थवेत्ता भरने लगे और अधिक मलने से घिसे हुए बरतन की तरह मुलम्मा उतरे हुए रूपकों और उपमाओं को छोड़ कर विचित्रता और नवीनता का चामत्कारिक प्रभाव उत्पन्न करने वाले नए रूपकों और उपमाओं की खोज करने लगे। जहाँ शब्दों के द्वारा वांछित प्रभाव की सृष्टि नहीं हो सकी, वहाँ विराम-चिन्हों और छोटे बड़ टाइप का सहारा लिया गया। प्रपद्यवादी 'नकेन' संप्रदाय ने तो यह घोषित कर दिया कि प्रत्येक भाव के लिए कोई 'एकमात्र सही शब्द' होता है और काव्य-सृजन की संपूर्ण प्रक्रिया 'उस एकमात्र सही शब्द' का सही प्रयोग है!

छायावादी काव्य दो महायुद्धों के मध्यवर्ती तरुण कवियों के स्वप्निल और अतीन्द्रिय प्रेम एवं निर्बन्ध आकांक्षाओं की स्वप्न-पूर्ति का काव्य था। इसके प्रतिकूल प्रयोगवादी काव्य स्वप्न-भंग की अलस उदासी का काव्य है। छायावादी कवियों ने वास्तविकता से आँख-मिचौनी खेल कर जो मधुर कोमल स्वप्न-सृष्टि की है, उसमें वेदना और कुण्ठा चाहे जितनी हो, पर आन्तरिक उल्लास और आनन्द का हलका स्फुरण भी हैं! लेकिन सन् ४०-४२ के आस-पास देश व्यापी दमन, सवित्रिक अभाव और युद्ध-संकट के फलस्वरूप कवियों के सामने अन्धकार के जो काले बादल छा गए थे, उनमें प्रकाश की रजत-रेखा कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती थी। अतीत की असफलताओं, वर्तमान की अगति और भविष्य के अन्धकार ने कवियों के सामने जड़ता की एक काली दीवार खड़ी कर दी, जिसे हम श्री बालकृष्ण राव के शब्दों में 'कुण्ठा की चट्टान' भी कह सकते हैं। छायावादी कवियों ने भी यह अनुभव किया था कि :

''सजनि! हमारा स्वप्न-सदन क्यों,
सहसा काँप उठा थर-थर! —पन्त

छायावादी कवियों का स्वप्न-सदन तो काँप कर ही रह गया, परन्तु प्रयोगवादी कवियों ने तो अपने स्वप्नों की समाधि पर बैठ कर ही काव्य के ये नए प्रयोग किए हैं। वे स्वप्नों की व्यर्थता का अनुभव कर चुके थे, इसलिए स्वप्नों के रेशम अंचल को छोड़ कर यथार्थ के कठोर धरातल पर पैर रखने का प्रयास कर रहे थे।

''सपने हैं थोथे
झूठे हैं पोथे
डूबेगा, इनमें जो खाएगा जोते।''
—भारतभूषण अग्रवाल

प्रयोगवादी कवियों ने तो स्वप्नों के मायालोक को छोड़ दिया, पर स्वप्नों ने प्रयोग वादियों को नहीं छोड़ा। सत्य और स्वप्न की खाई एक चुनौती बन कर उनके सामने आई और उन्होंने सत्य को स्वप्न बनाने के बजाए स्वप्नों को ही सत्य बनाने का उपक्रम किया। प्रयोगवादी कवियों ने अपनी काव्य चेतना से सपनों की धूल को झाड़ फेंकने के लिए प्रबल प्रयास किया है।

''कुछ सपने टूट गए शायद
रंगीन काँच के टुकड़ों-से
खिड़की से बाहर फेंक उन्हें
स्मृतियों के बच्चे आ कर उनको चुन लेंगे।''
—सिद्धनाथ कुमार

छायावाद की हलकी उदासी, जो कभी-कभी अकारण और ऊपर से आरोपित-सी लगती है, प्रयोग-

१६५७

कवियों के मानस में बहुत गहरी पैठ गई है। जीवन के प्रति इस सर्वग्रासी सन्देह, अनास्था (डॉ० धर्मवीर भारती क्षमा करें !) और नकारात्मक दृष्टिकोण के मूल में कवियों के व्यक्तिगत जीवन की रिक्तता और व्यर्थता की अत्यन्त तीक्ष्ण अनुभूति है; जो उन्हें 'इस' या 'उस' में नहीं बल्कि 'सब कुछ' में सन्देह और अविश्वास करने को बाध्य करती है।

"सभी लुजलुजे हैं, थुल थुल हैं, लिबलिब हैं।
पिलपिल हैं,
सब में पोल है
सब में झोल है"

—रघुवीरसहाय

'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' के अधिकांश प्रयोगवादी कवियों ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि उनके व्यक्तित्व में अन्तर्द्वन्द्व बद्धमूल रहा है। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण जीवन के प्रति प्रयोगवादी कवियों का दृष्टिकोण कुछ-कुछ रुग्ण और अस्वस्थ-सा प्रतीत होता है परन्तु प्रयोगवाद के विकास के साथ यह रुग्णता और अस्वस्थता कम होती गई है। प्रयोगवाद के प्रारम्भिक वर्षों में कवियों का दर्पोद्धत अहं वास्तविकता की चोट खा कर अपने आप में और भी संकुचित होता गया और कवि जीवन के व्यापक प्रवाह से कट कर 'नदी के द्वीप' बनते गए। कुण्ठाजनित अन्तर्मुखता ने प्रयोगवादियों को घोर व्यक्तिवादी बना दिया और अपने आप में बँटी हो कर उनके प्राण और भी छटपटाने लगे।

"बन न सके साथी जन-पथ के,
छाती के ऊपर युग-रथ के पहिये फिरे"

—भारत भूषण अग्रवाल

संगठित जनता के सामूहिक आन्दोलन की सफलता में प्रयोगवादी कवियों को अपने अन्तर का स्वर नहीं मिला और उनकी घोर आत्मलीनता ने उन्हें अपने मनहूस कमरे के सीलन और घुटन से भरे हुए वातावरण से बाहर निकल कर जन-पथ का साथी नहीं बनने दिया। वे अपने आप में विश्वास सँजो कर खड़े हुए थे, परन्तु पहली उड़ान में ही गरुड़ के पंख टूट गए:

"तड़प थी कि
बौने करों को बढ़ा कर पकड़ लूँ
अभी चाँद-सूरज
बहुत-से बड़े स्वप्न
थे उस हृदय में
नहीं थी, नहीं, शक्ति ही बस नहीं थी"

—नेमिचन्द्र जैन

व्यक्तिगत और सामूहिक क्षमता में विश्वास खो कर प्रयोगवादी कवि अगर श्वास-चक्र चलते हुए भी जीवन के रथ को रुका हुआ-सा अनुभव करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

प्रयोगवादी कवि छायावाद की बाप की कल्पनाओं और बचकाना भावुकता के विरुद्ध भौतिकता के आँचल को ज़ोर से पकड़े हुए हैं। प्रयोगवादी जीवन-दृष्टि मूलतः बौद्धिक होने के कारण हार्दिकता में कमी आ गई है। भावना के वेगपूर्ण प्रवाह में भी प्रयोगवादी बुद्धि की टेक लगा कर अपने आपको बहने से बचा लेना चाहते हैं।

"बाँधो, बाँधो, बाँधो
अपनी भावना की कोसी को
नहीं तो डुबो देगी
ज़िन्दगी की बस्ती को
बुद्धि और चिन्तन की
ईंट और पत्थर से
बाँधो इस धारा को"

—सिद्धनाथ कुमार

बुद्धि की प्रेरणा से ही प्रयोगवादियों ने यह मान लिया है कि (बन्धु है नदियाँ, प्रकृति हैं बन्धु—'अज्ञेय') परन्तु प्रकृति के प्रति बन्धुत्व की इस घोषणा में आन्तरिकता का स्पर्श नहीं है।

प्रकृति के कण-कण में सुषमा और मधुरिमा को खोजने वाली छायवादी सौन्दर्य-दृष्टि आमूल-चूल बदल गई है। प्रयोगवादी प्रेम गीतों में भी छायावाद का वह अशरीरी और अपार्थिव प्रेम नहीं है, जिसे डॉ० धर्मवीर 'भारती' के शब्दों में, 'छायावादी कवियों ने बादलों, इन्द्र धनुषों, तारों और मलयज की पर्तों में लपेट कर रखा था।' प्रयोगवादी कवियों में प्रकृति के प्रति न तो आदिम मानव समाज की शैशव सुलभ विस्मिति के भाव है और न एक प्रौढ़ सभ्यता की चिर-परिचित का ! श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में :

'बीसवीं सदी ने यही किया कि सब का पर्दा फ़ाश किया !'

प्रकृति के क्षेत्र में भी बीसवीं सदी ने उषा, सन्ध्या और पूनम के सौन्दर्य का पर्दा फ़ाश कर दिया है और ऐसा लगता है कि प्रयोगवादी कवियों के लिए उषा और सन्ध्या के सौन्दर्य का जादू टूट गया है। आज का कवि मध्यमवर्गीय नागर है, जो मुर्गे की बाँग को सुन कर नहीं, मील की सीटी को सुन कर उठता है। सच तो यह है कि :

> "तितली के रंगों को हमने देखा नहीं कभी
> कोयल में, बुलबुल में कोई फ़र्क न कर पाए
> चातक और पपीहे के स्वर कानों में न पड़े
> स्वर भी, हम भी सकरी गलियों में भूले भटके
> —अजित कुमार

प्रयोगवादी कवियों ने प्रकृति को एक शहराती की आँखों से देखा है और प्राकृतिक सौन्दर्य के माप-मान भी बहुत-कुछ बदल गए हैं। इस नई उपयोगितावादी सौन्दर्य-दृष्टि ने सौन्दर्य के नए प्रतीक बनाए हैं। सृष्टि के विस्तार, ऐश्वर्य और औदार्य का जूही के फूल से कहीं सच्चा और प्यारा प्रतीक श्री 'अज्ञेय' की दृष्टि में पैरों के नीचे की बिछली हुई घास है !

प्रयोगवादी कवियों के व्यक्तित्व विघटन ने उनके प्रकृति-दर्शन को भी प्रभावित किया है और प्रकृति के प्रति भय, शङ्का और सन्देह की यह भावना प्रयोगवादियों के नकारात्मक जीवन-दर्शन की एक सहज परिणति है। इसीलिए उनको सर्वत्र 'लता के मूल में कुरमुगता हुआ सूक्ष्म भय का कीट दिखलाई पड़ता है' और पूनों की कर्पूरी चाँदनी धोखे की चादर-सी बिछी हुई नज़र आती है।

> "वञ्चना है चाँदनी सित—
> झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार !"
> —'अज्ञेय'

भग्न स्वप्नों की समाधि पर खड़े हो कर प्रयोगवादी कवियों की आँखें जहाँ तक देख पाती हैं, उनको खोखलापन ही दिखलाई पड़ता है।

छायावाद की भव्य, विराट् और सुन्दर की उपासना भी प्रतिक्रिया के आवेश में क्षुद्र और कुरूप की पूजा बन गई है। महिमा और सौन्दर्य के परम्परागत उपमान उलट कर रख दिए गए हैं। श्री 'अज्ञेय' अपनी प्रेमिका को 'ललकती साँझ के उर की अकेली तारिका या चम्पे की कली' के बजाय 'बाजरे की क़लगी' कहने में ही अधिक तृप्ति का अनुभव करते हैं। क्योंकि पुराने उपमान मैले हो गए हैं और पुराने रूपकों के देवता कूच कर गए हैं। श्री अजितकुमार जैसे नवोदित कवियों का विद्रोह जब उपमाओं के चयन में प्रकट होता है तो चाँदनी चन्दन सदृश नहीं, उस रुपए-सी लगती है जिसमें चमक तो है, पर खनक गायब है।

प्रयोगवादी कवि प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करने के लिए अपने दैनिक जीवन और निकटवर्ती जगत् से स्थूल और साधारण वस्तुओं को उपमा और रूपक के रूप में उपस्थित किया है। इससे प्रयोगवादी चित्रों की रेखाएँ अधिक भास्वर और रंग अधिक चटकीले हो गए हैं। नवम्बर की धूप जो छायावादी कविता में तितली के पंखों जैसी रंग-बिरंगी थी, प्रयोगवादी कविता में जार्जेट के पीले पल्ली-सी हो गई है। श्री गिरिजाकुमार माथुर को नए साल का चाँद श्वेत हंसली-सा दृष्टिगोचर होता है और साँझ की लालिमा दिन-भर के परिश्रम से श्रान्त-क्लान्त हो कर घर लौटती हुई ग्रामवधू के मेहनत से लाल मुखड़े-सी नज़र आती है। अस्तंगत सूर्य के अरुणिम सौन्दर्य को ले कर कवियों की कल्पनाएँ बादलों के साथ बहुत दूर-दूर तक उड़ी हैं, परन्तु श्री नरेश मेहता ने सान्ध्य-क्षितिज पर बनते-मिटते हुए बादलों का एक यथातथ्य चित्र उपस्थित किया है :

> "बहुत हल्के बैंगनी रूपाल पर इस ओर
> काग़ज़ी बादाम से छीले हुए बादल पड़े हैं।"

प्रयोगवादी कवियों ने जहाँ प्रकृति के साधारण दृश्यों को असाधारण रूप-रंग में उपस्थित किया है, वहाँ असाधारण दृश्यों को अति-साधारण बना दिया गया है। वैदिक ऋचाओं में अनेक समृद्ध उपमाओं द्वारा वन्दित-अभिनन्दित उषा की गौरव-गरिमा प्रयोगवादी कविताओं में भोर के आखिरी तारे के साथ लुप्त हो गई है। श्री केदारनाथ अग्रवाल ने सूरज को किसी होटल का बैरा बना दिया है, जो—

> "रोज सुबह
> पूरब से आता है

१६५७

मेरे लिए चाय गर्म,
केटली में लाता है''

वन-विहगों के कलरव से मुखरित और ऋषियों के साम-गान से गुंजित 'ब्राह्ममुहूर्त' का एक प्रयोगवादी चित्र अपनी अनन्य साधारणता के लिए द्रष्टव्य है :

''भोर का तारक प्रायः लुप्त
समस्त मोहल्ला सुप्त
उठीं चौबाइन
निकसी नाइन
शुरू हो गई गाली-गुप्ता''

—राजेन्द्र माथुर

प्रयोगवादी कवियों ने प्रकृति की रमणीयता के सुन्दर चित्र भी अंकित किए हैं, परन्तु उनकी रूपरेखा में छायावाद के सूक्ष्म कोमल स्पर्शों का अभाव है। श्री गिरिजाकुमार माथुर और श्री भारतभूषण अग्रवाल आदि ने प्रकृति के सौन्दर्य को उसकी समस्त सुषमा और स्वाभाविकता के साथ गहरे चटकीले रंगों में चित्रित किया है। केशर रंग-रँगे वन में फागुन की रंजित [illegible] खिली हुई पीली कली-सी लगती है तो प्राची की गोदी में सूरज रक्त कमल-सा खिला हुआ दृष्टिगोचर होता है। श्री भवानीप्रसाद मिश्र प्रयोगवादी कवियों में अकेले कवि हैं, जिन्होंने वन्य प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य को बोलचाल की हल्की-फुलकी भाषा में चित्रित किया है। उनमें जो हार्दिकता और वन्य संस्कार हैं, उन पर बौद्धिकता की परत नहीं चढ़ पाई है। इसीलिए वे सतपुड़ा के जंगल के सन्नाटे और बरसात की पहली बूँद के आगम को अपने छन्दों में बाँध पाए हैं :

''बूँद टपकी एक नभ से
यों कि जैसे आँख मिलते ही
झरोखा बन्द हो ले,
और नूपुर-ध्वनि झमक कर
जिस तरह द्रुत छन्द हो ले,
उस तरह बादल सिमट कर
चन्द्र पर छाए अचानक
और पानी के हज़ारों बूँद
तब आए अचानक''

—भवानीप्रसाद मिश्र

श्री नरेश मेहता ने अपने गीति-प्रयोगों में प्रयोगवाद की सामान्य प्रवृत्ति के विरुद्ध उषा के कुछ भव्य और मनोरम चित्र अंकित किए हैं।

प्रयोगवादियों ने छायावाद की तरल भावुकता का बहिष्कार कर और ठोस वास्तविकता का पल्ला पकड़ लिया है, परन्तु प्रेम के अनंग देवता ने अब भी उनका संग नहीं छोड़ा है। स्वप्नों के आकर्षण से वे पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके हैं और मोहमयी नारी के अन्तर का मायालोक अब भी एक रहस्य बन कर उनको अपनी ओर खींच रहा है। कविवर पन्त ने ही छायावाद की 'अप्सरा' को ग्राम्या बना दिया था, परन्तु प्रयोगवादियों की प्रेयसी में न अप्सरा की अलौकिकता है और न ग्राम्या की सहज स्वाभाविकता। वह तो पूर्णतया 'आधुनिका' है, जो प्रेम को जीवन की एक भौतिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार करती है। प्रणय, केवल मन का मोह ही नहीं; शरीर की भूख भी बन गया है। प्रेमी और प्रेमिका यह अनुभव करते हैं :

''हम दोनों ने ही प्रकृत काम
को गोपन रक्खा दे कर झूठे बड़े नाम''

—भारतभूषण अग्रवाल

सौन्दर्य आत्मा का उद्भास न होकर, पूर्णतः मांस, रक्त, तथा मृत्तिकाधीन हो गया है। कवियों की रोमैण्टिक कल्पना ही हाड़-माँस की पुतलियों को अप्सरा बना डालती है। प्रयोगवादी अलौकिक रूप और स्वर्गीय सौन्दर्य के इस विभ्रम को मिटा डालना चाहते हैं। सौन्दर्य की तरह प्रेम भी भौतिक परिस्थितियों की मानसिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है और वह भी बाह्य स्थिति-परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता रहता है। जन्म-जन्मान्तर की प्रेम-परिकल्पना अब नैश-विहारों की मुलाकात में बदल गई है। श्री नेमिचन्द्र जैन की 'तीन बजे शाम' प्रेम की अमरता के गाल पर एक करारा थप्पड़ है। प्रिय के बाहुपाश में बँधी हुई प्रेमिका प्रेमालाप का अभिनय करते हुए भी उसके भुज-बंधन से छूट कर अपने नए प्रेमी का स्वागत करने के लिए स्टेशन जाने को बेचैन है। श्री भारतभूषण अग्रवाल के भूतपूर्व प्रेमी और प्रेमिका अपने चिर-परिचित पार्क में उसी बेंच पर बैठते हैं, जहाँ उन्होंने एक दूसरे को अनेक प्रतिज्ञाओं के पाश में बाँधा था, परन्तु वे

अनुभव करते हैं कि :

"आज हम दोनों जाने की जल्दी में हैं
तुम्हारा बच्चा भूखा होगा,
मेरी सिगरेटें खत्म हो चुकी हैं"

श्री 'अज्ञेय' के शब्दों में 'आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उनकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उनके उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते हैं।' स्वयं 'अज्ञेय' की अनेक कविताओं में वासना का यह 'अश्लील-सा विस्फार' दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि वे दावा करते हैं कि 'हमारा प्रेम वासना का उमड़ा हुआ ज्वार नहीं है।' श्री 'अज्ञेय' धरती को नग्न वासना के पंक-सी फैली हुई देखते हैं तो श्री नेमिचन्द्र जैन को सरिता का अनावृत गात अपने युग-कूलों के बाहुपाश में किसी अनागत को बाँध लेने के लिए आकुल है। 'धर्मयुग' के कविताङ्क में प्रकाशित श्री धर्मवीर 'भारती' की नवीनतम कविता 'घाटी के बादल' में यह यौन-प्रतीकार्थ प्रतीक की केंचुल फाड़ कर बाहर आ गया है :

"प्रातधूप की जरतारी ओढ़नी लपेटे
अभी अभी जागी
खुमार से भरी
नितान्त कुमारी घाटी;
इस कामातुर मेघ धूप के
औचक आलिंगन में पिस कर
रति-श्रान्ता-सी मलिन हो गई"

श्री गिरजाकुमार माथुर, श्री नेमिचन्द्र जैन, श्री भारतभूषण अग्रवाल, श्री धर्मवीर 'भारती' और श्री सुरेन्द्रकुमार दीक्षित आदि ने जीवन के कुछ स्नेह-सिक्त क्षणों के भावपूर्ण चित्र अङ्कित किए हैं। 'चूड़ी का एक टुकड़ा' या 'रेडियम की हल्की छाया' को देख कर श्री गिरिजाकुमार माथुर के स्मृति-पथ पर मधुर-मिलन के कई भावाकुल दृश्य उभर उठते हैं। श्री सुरेन्द्रकुमार दीक्षित प्रेम के पहले उफ़ान के नहीं, उतरे हुए ज्वार के कवि हैं और उनकी कविताओं में दार्शनिकता के परत में लिपटा हुआ गहरा दर्द है, जो धीरे-धीरे दवा बनता जा रहा है।

प्रयोगवादी कवियों का प्रेम कुछ मदिर क्षणों की मादक अनुभूति है, जो अपने अस्तित्व के क्षणों में ही शाश्वत है। काल की दुलहिन डोले पर चढ़ कर चली जा रही है, उसे रोका नहीं जा सकता। क्षणों को बाँधने की चेष्टा में जीवन-प्रवाह रुद्ध हो कर अपना चैतन्य खो बैठेगा। हम क्षण को समर्पित हो कर ही अपने आपको पा सकते हैं।

"आओ इस झील को अमर कर दें—
छू कर नहीं,
किनारे बैठ कर भी नहीं,
एक संग झाँक इस दर्पण में
अपने को दे दें हम
इस जल को—
जो समय है!"

—नरेश मेहता

श्री 'अज्ञेय' भी क्षण के सत्य को अनुभव करते हैं :

"फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो
जीवन का रस लो : देह-मन-आत्मा की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो"

प्रयोगवादी कवियों की प्रेमानुभूति और उनका प्रकृति-दर्शन उनकी स्वयं निर्धारित सीमाओं से घिरा हुआ था। पर यह संतोष का विषय है कि प्रयोगवादी स्वयं इन लक्ष्मण-रेखाओं को तोड़ रहे हैं। आत्म-केन्द्रित अन्तर्मुखता के विरुद्ध उनके हृदय में तीव्र विराग उत्पन्न हो रहा है, जो शायद उनकी अति अहं-लीनता की ही प्रतिक्रिया है। व्यक्तिवाद के मसीहा श्री 'अज्ञेय' स्वयं अनुभव करते हैं :

"प्रत्येक स्वप्नदर्शी के आगे
गति से अलग नहीं पथ की यति कोई
अपने से बाहर आने को छोड़
नहीं आवास दूसरा
भीतर भले स्वयं साईं बसते हों"

प्रयोगवादी जब अपने अहं के घोंघे से बाहर निकल कर खुली आँखों से देखेंगे तो प्रकृति के प्रच्छन्न

दर्य के नए स्तरों का उद्घाटन कर सकेंगे और फिर के सामने अपने मनहूस कमरे की चिक से नज़र ने वाला युक्लिप्टस का पेड़ और गिरजे की मीनार ही नहीं, हिम-धवल शिखर और हरे-भरे खेत भी होंगे। -काव्य तो मानव के आत्मदान का ही काव्य है। के हृदय में अपने आपको निःशेष रूप से दे डालने ही साथ उमड़ती है, तभी प्रेम की गीतिएँ कवि-कण्ठों से अनायास फूट निकलती हैं। प्रयोगवादी कवि अपने र आत्म-मोह और बौने अहंकार से मुक्त होकर, जिस -काव्य की रचना करेंगे, वह आत्मा से आत्मा की और दौड़ने वाले प्राण-प्रवाह के विद्युत वेग से स्पन्दित होगा। इस सम्बन्ध में आश्वस्त होने के पर्याप्त कारण हैं :

"दीखता अनागत के यान का
अरुण-ध्वज
लहरों के पीछे से झाँकता
जिसका मस्तूल
लहरों पर विजय चिह्न
पद के आघात का!
डाक सुनो प्रात का!"

—शम्भूनाथ सिंह

—मूलचन्द सेठिया

ार मन्त्री,
ी विद्या मन्दिर,
ार शहर (राजस्थान)

चमत्कार में विश्वास

पिकासो विश्व का एक प्रसिद्ध चित्रकार है। उसकी जन्म-भूमि स्पेन है। उससे एक बार यह प्रश्न किया गया कि क्या वह "चमत्कार" में विश्वास रखता है?

उसने उत्तर दिया : "अवश्य। मैं 'चमत्कार' में विश्वास रखता हूँ। रूबेन्स एक चमत्कार था। वह स्वयं २००० से ऊपर चित्र बना चुका है और उसके ४००० चित्र विद्यमान हैं?"

क्या यह सब चमत्कार नहीं है?

—योगी

शृंगार-प्रसाधन

मानव-प्राणी स्वभावतः श्रृङ्गार-प्रिय है और अपनी सहजप्राप्य सुन्दरता को कृत्रिम रीति द्वारा बढ़ाने के लिए वह सदा प्रयत्न करता रहता है। विशेषकर स्त्रियों को इस बात का बड़ा चाव होता है। सौन्दर्य बढ़ाने वाले कान्ति-द्रव्य, अंगरागों तथा गन्धों एवं उनकी कला का उद्‌गम उतना ही प्राचीन है, जितनी कि मानव-सभ्यता। गन्धों का उल्लेख 'ऋग्वेद' में और कान्तिद्रव्यों तथा अंगरागों का उल्लेख आयुर्वेद में कई स्थानों पर मिलता है। जो आज से अनेक हज़ार वर्ष पूर्व रचे गए और जो संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं। मुहेंजोदरो तथा हड़प्पा के खण्डहरों में भी अंगरागों के काम में आने वाली कुछ वस्तुएँ मिली हैं। इतिहासकार इन दोनों नगरों का समय आज से लगभग छः हज़ार वर्ष पहले का मानते हैं। जब कि सिंधु-घाटी की सभ्यता का पूर्णतः विकास हो चुका था। इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि अंगरागों तथा गन्धों के विषय में मानव का ज्ञान अति प्राचीन है। दो हज़ार वर्ष पूर्व बनाए हुए अजन्ता-गुफ़ाओं के चित्रों में भी उच्च कोटि का श्रृङ्गार चित्रित किया गया है। और इन द्रव्यों के उत्पादन तथा उपयोगों का उद्‌गम-स्थान हमारा भारतवर्ष ही है।

वैदिक-काल में आर्य लोग उत्तरी-भारत के मैदान में रहते थे। इस मैदान के उपजाऊपन के कारण उनको आजीविका के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता था, और उन्हें पर्याप्त अवकाश मिल जाता था। इस अवकाश का परिणाम यह हुआ कि आर्यों ने विज्ञान तथा अन्य विभिन्न कलाओं में उन्नति की।

प्राचीन भारत में प्रस्तुत विज्ञान को 'गन्धयुक्ति' अथवा 'गन्ध-शास्त्र' कहते थे। और उसका, 'गन्ध' नाम के यक्ष ने सर्वप्रथम आविष्कार किया था, ऐसा बहुसंख्यक लोग मानते हैं। अपितु 'नागरसर्वस्व' नाम के ग्रन्थ के लेखक पद्मश्री का विचार है कि इस शास्त्र का पिता लोकेश्वर था। कुछ भी हो, इस शास्त्र के सर्वप्रथम ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं हैं। यह एक बड़ी दुःख की बात है।

भारत में गन्धों तथा अंगरागों का प्रारम्भ होने के कुछ ही दिनों बाद यहाँ की कस्तूरी, लाक, कपूर आदि सौरभिक द्रव्य मिस्र ले जाये गए और वहाँ भी गन्धों तथा अंगरागों का प्रयोग शुरू हुआ। ईसा के साढ़े तीन हज़ार वर्ष पूर्व वहाँ के लोगों ने इन पदार्थों के उपयोगों का वृत्तान्त लिख रक्खा है, और वे अभिलेख ही, आज के संसार के इस विषयक प्राप्त अभिलेखों में, प्राचीनतम माने जाते हैं।

हमारे भारतवर्ष में इस विज्ञान के बहुत ही थोड़े ग्रन्थ आज उपलब्ध हुए हैं। जैसे—'गन्धसार', 'गन्धवाद', 'गन्धदीपिका', आदि और कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', भारत का 'नाट्यशास्त्र', चरक तथा सुश्रुत के आयुर्वेद पर लिखित ग्रन्थ, वरामिहिर की 'बृहत्-संहिता', अमरसिंह का 'अमरकोष', 'अग्निपुराण', 'विष्णुधर्मोत्तर', 'नागरसर्वस्व', आदि ग्रन्थों में भी गन्धों तथा कान्तिद्रव्यों के सम्बन्ध में कुछ वर्णन प्राप्त होता है। प्रायः सभी कान्तिद्रव्य और गंध उद्‌भिद् सृष्टि से ही प्राप्त किए जाते थे। इनमें केवल कस्तूरी और सुर्मा ये क्रमशः प्राणिज खनिज और पदार्थ हैं।

गन्धों का उपयोग प्रथमतः देवी-देवताओं के लिए तथा धार्मिक अवसरों पर होता था। और ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कान्तिद्रव्य तथा अंगरागों का प्रयोग प्रथमतः स्वास्थ्य की रक्षा के लिए होता था, क्योंकि इन अंगरागों का उल्लेख केवल आयुर्वेद ही में किया गया है। विलेपन, अनुलेपन, उद्वर्तन, आदि कान्तिद्रव्यों में सौरभिक पदार्थों का उपयोग होता था। इनका उद्देश्य स्वास्थ्य ठीक तथा स्थिर रखने का था। होते-होते गन्ध-शास्त्र ने अपना एक स्वतन्त्र स्थान प्राप्त कर लिया और स्त्रियाँ तथा पुरुषों की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए उसका प्रयोग होने लगा।

मेरा विचार है कि इन प्रसाधनों का सौन्दर्य-वृद्धि के लिए प्रयोग का प्रारम्भ किसी कुरूप स्त्री ने ही किया होगा। क्योंकि सुन्दर स्त्री को सब कोई चाहते हैं। इसलिए अपना सौन्दर्य बढ़ाने की उसको आवश्यकता नहीं होती। यह आवश्यकता केवल कुरूप तथा

१८५७

क साधारण स्त्री को ही होती है। और 'आवश्यकता आविष्कार की जननी' इस कहावत के अनुसार इन साधनों को सर्वप्रथम किसी कुरूप या साधारण स्त्री ों ने जन्म दिया होगा। पश्चात् इनका प्रसार चारों ओर—कुरूप तथा सुन्दर स्त्रियों में हो गया। फिर पुरुषों की रुचि इस ओर हुई और स्त्रियों की अपेक्षा अधिक उन्होंने इन्हें अपनाया।

ये शृंगार-प्रसाधनों या अंगराग छः विभागों में बाँटे जा सकते हैं। जैसे—(१) स्वास्थ्यप्रद, (२) मानसिक, (३) केवल सौन्दर्य वर्धक, (४) आर्थिक, (५) सामाजिक, और (६) धार्मिक।

१. स्वास्थ्यप्रद : स्नान करने से पूर्व पुरुष तथा स्त्रियाँ शरीर को कई प्रकार के मधुर-गंध वाले तैल, जैसे—पुष्पादि तैल, सुकुमार तैल आदि लगा कर मालिश करते थे और पश्चात् भी चन्दन, केसर आदि के लेप लगाते थे। इन विधियों के भिन्न-भिन्न नाम थे। जैसे—अनुलेपन, उद्वर्तन, परिषेक, विलेपन, शिरोऽभ्यंग आदि। जिनके द्वारा रक्त-परिवहन अच्छी तरह से होता था और स्वास्थ्य उत्तम स्थिति में रहता था। इसके सिवा शरीर सुन्दर और कान्ति युक्त होता था। स्नान के पूर्व शरीर को तेल से मालिश करने की प्रथा भारत में आज भी प्रचलित है। सिर में तेल से मालिश करने से सिर का रक्त परि-वहन उत्तम होते हुए मस्तिष्क स्वस्थ तथा शान्त होता है, और सिर-दर्द की बीमारी भी कम होती है। सिर की मालिश तो भारत में हर-जगह चालू है। कसरत करने के पश्चात् तेल से मालिश की जाती है। जिसके द्वारा स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य बढ़ता है। शरीर की तेल से मालिश करना मल्ल के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

२. मानसिक : मधुर गन्धों से मन खुश हो जाता है, और कुछ गन्ध ऐसे हैं कि जिनके द्वारा क्रोध शान्त होता है। प्राचीन काल में एथेन्स के लोग बड़े भोज के समय इत्र में स्नान कराए हुए कबूतरों को भोज के कमरे में छोड़ देते थे, और सब तरफ़ परिमल फैलाया जाता था, जिसके कारण उपस्थित मेहमानों का मन खुश हो जाता था। सच तो यह है कि गन्धों का मुख्य प्रभाव तो मन के ऊपर ही पड़ता है। सुगन्ध को शरीर और मन दोनों का शृंगार समझा जाता है। मधुर सुगन्ध वाले इत्र में भिगाया हुआ फाहा कान में लगाते हैं, और कपड़ों के ऊपर भी इत्र छिड़कते हैं। इससे मन सदा खुश रहता है और बदबू समीप नहीं आ पाती। कानों में सदा सुगन्ध रखने से सुनने की शक्ति भी बढ़ जाती है।

३. केवल सौन्दर्य वर्धक : सभी शृंगार-प्रसाधनों का मुख्य उद्देश्य नैसर्गिक सुन्दरता में वृद्धि करना तो था ही। साथ-साथ दूसरे भी फ़ायदे होते थे। किन्तु कुछ प्रसाधन ऐसे हैं कि जिनके द्वारा केवल सुन्दरता ही बढ़ती है, और दूसरा कुछ भी लाभ नहीं होता।

स्नान के पश्चात् प्राचीन स्त्री-पुरुष ललाट पर तिलक लगाते थे, और अब भी लगाते हैं। स्त्रियों के तिलक को कुंकुम और पुरुषों के—गन्ध, चन्दन आदि कहते हैं। स्त्रियाँ मधुर गंध-धूपों से केशों को सुखाती थीं और अपने शरीर को कस्तूरी के पाउडर से सुवासित करती थीं। तिलक के अतिरिक्त वे चन्दन और कुंकुम अपने स्तनों पर भी शीतलता के लिए लगाती थीं। गालों पर सफेद अगर, गोरोचन आदि के रंग-बिरंगे लेपों के बिन्दुओं से पत्तों तथा पुष्पों के चित्र बनवाती थीं। इस शृंगार को 'विशेषक' नाम दिया गया था। पत्तों के चित्रों को 'पत्र-विशेषक' या 'पत्र-लेख' तथा पुष्पों की आकृतियों को 'पुष्प-विशेषक' या 'पुष्प लेख' कहते थे। हाथों और पैरों में मेंहदी या महावर लगाती थीं। इनकी प्रथा तो आज भी चल रही है। ओंठ रंगवाने के लिए लाख का लेप होता था। जिसको 'अलक्तक' कहते थे और जिसके द्वारा ओंठ सुन्दर हो जाते थे एवं शरद-ऋतु में वे फूट भी न पाते थे। चेहरे पर लगाने के लिए लोध्र के छिलके का पाउडर होता था, जिसको 'मुखवास' कहते थे। माथे पर रोली एवं माँग में सिंदूर अथवा गुलाल लगाया जाता था। स्त्रियों के पाँच अंगों की सजावट तो प्रसिद्ध है ही। स्त्री-पुरुष आँखों में सुर्मा अथवा काजल या कजरा लगाते थे, और आज भी लगाते हैं। गोदने की प्रथा तो विश्व-व्यापी है।

स्त्रियाँ अपने लम्बे बालों को सुगन्धित तेल लगा कर उनकी, सिर के पीछे चोटी या वेणी बना कर डालती थीं अथवा उनकी एक गोल गठान बाँधती थीं, और उसके ऊपर सुन्दर तथा सुगन्धित पुष्पों का हार बाँधा जाता था। अति प्राचीन काल से सौन्दर्य-वृद्धि के लिए

फूलों का उपयोग होता आ रहा है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों का उपयोग होता था और आज भी होता है।

वेदों में तथा दूसरे संस्कृत-ग्रन्थों में गुलाब का उल्लेख कहीं भी नहीं दिखाई देता। इसका मुगलों के समय में भारत-आगमन हुआ है। ये महाशय मेहमान बन कर आए और यहाँ के सम्राट् बन बैठे। यहाँ गुलाब-पुष्प तथा उसके गन्ध (इत्र-अत्तर) का सर्व-प्रथम आविष्कार बादशाह अकबर ने किया था। एक रत्तल गुलाब-इत्र निकालने के लिए दो टन वजन के गुलाब-दलों को उपयोग में लाना पड़ता था। आज एक तोला गुलाब-इत्र का मूल्य एक सौ पचास रुपए तक है।

प्राचीन भारत में मैल साफ़ करने के लिए रीठा, हिंगन और फेनिला नाम के फलों का प्रयोग होता था। उस समय साबुन का पता न था। इसका जन्म अभी अभी हुआ है।

पान खाने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। इससे ओंठ लाल एवं सुन्दर होते हैं, मुँह शुद्ध और मन खुश होता है।

प्राचीन काल में भारत के राजा महाराजाओं तथा धनवानों के यहाँ पुरुष-प्रसाधक तथा स्त्री-प्रसाधिका रखने की प्रथा थी। चेहरे के शृंगार को 'मुख-प्रसाधन' और बालों के शृंगार को 'वेणी-प्रसाधन' कहते थे। प्राचीन काल में दर्पण सोने के भी होते थे। आज वे केवल काँच के ही रह गए हैं।

मिस्र की रानी 'क्लिओपात्रा' तथा फ्रान्स की रानी 'जोसेफ़िन' गधी के दूध से प्रतिदिन स्नान करती थी। इसी तरह 'ऐन्न हेल्ड' नाम की कलाकार भी दूध से स्नान करती थी और यह कहा जाता है कि वर्तमान शती के प्रारम्भ में प्रसिद्ध नर्तकी 'ला बेल्ली ओटेरो' प्रतिदिन शाम्पेन नाम ही शराब से स्नान करती थी। फ्रान्स में एक समृद्ध महिला थी जो कि प्रतिदिन कुचले हुए स्ट्राबेरी नाम के फलों के रस से स्नान करती थी। और कुछ ही वर्ष पूर्व 'कारमेन डि अन्टा निओ' नाम की युवा नर्तकी प्रतिदिन काली काफ़ी से नहाती थी। प्राचीन मिस्र की कई राजकुमारियाँ इत्र से स्नान करती थीं।

रानी 'क्लिओपात्रा के समय में मिस्र की स्त्रियाँ शृंगार कला में प्रवीण थीं। वे आँखों का निम्न भाग हरा तथा ऊपरी भाग काला रंगवाती थीं। सफ़ेद सीस और खटीकी पाउडर चेहरे को तथा शरीर को लगाती थीं, जिससे कान्ति सफ़ेद एवं सुन्दर दिखाई देती थी। स्त्रियाँ तथा पुरुषों में इत्र का सर्व साधारण तथा प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था।

आजकल पूर्वी गोलार्ध की अपेक्षा पश्चिमी गोलार्ध में शृंगार की महिमा अधिक है। अमरीका के एक बड़े शहर की लड़की शृंगार-प्रसाधनों के लिए लगभग चालीस रुपए प्रतिमास व्यय करती है, और उस देश में इन प्रसाधनों के लिए प्रतिवर्ष २८ करोड़ रुपए से भी अधिक व्यय होता है। ब्रिटेन में भी वहाँ की स्त्रियाँ प्रति-वर्ष लगभग दो करोड़ रुपए प्रसाधन पर व्यय करती हैं। और ऐसा मालूम होता है कि पूरे संसार की स्त्रियाँ दिन-प्रति-दिन अधिक से अधिक सौन्दर्य-प्रसाधनों का प्रयोग कर रही हैं। अमरीका में तो तीस वर्ष पहले भी वहाँ की स्त्री-समाज में शृंगार-प्रसाधनों की अवश्य आवश्यकता होती थी। उस समय वहाँ स्थिति आर्थिक दृष्टि से अच्छी न होने के कारण बहुत सी स्त्रियाँ शृंगार-प्रसाधनों को खरीदने में असमर्थ भी थीं। परिणाम यह हुआ कि दफ़्तरों को जाने वाली तथा दुकानों में काम करने वाली कई लड़कियों ने आत्महत्या कर ली; क्योंकि वे इन आवश्यक वस्तुओं का उपयोग न कर सकी थीं। इस शृंगार-रोग को रोकने के लिए वहाँ कई दुकानें खुल गईं। जहाँ बेकार लड़कियों को सौन्दर्य-प्रसाधन निःशुल्क मिलते थे। यह है पश्चिमी दुनिया की शृंगार-महिमा का एक नमूना।

४ **आर्थिक :** मूल्यवान आभूषण जैसे—सोना, चाँदी, मोती, हीरे, आदि के हार; कर्ण-फूलों, बालियाँ; हाथों की, सोना, चाँदी, मोती, आदि की चुड़ियाँ; अंगूठियाँ; पैंजन, चेन पट्टियाँ; तथा मूल्यवान कपड़े सम्पत्ति की वस्तुएँ ही नहीं वरन् शृंगार प्रसाधन भी हैं। सौंदर्य तथा सम्पत्ति के लिए आभूषणों की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है।

५ **सामाजिक :** विवाह आदि सामाजिक मांगलिक अवसरों पर स्त्रियाँ अपने शरीर के पाँचों अंगों पर हल्दी, कुंकुम, गुलाल, मेंहदी या महावर लगाती हैं, जिनके द्वारा सौन्दर्य अवश्य बढ़ता है। स्त्रियों का कुंकुम तिलक केवल शृंगार साधन ही नहीं वरन् वह सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से सौभाग्य का चिन्ह भी है। भारत में

हल्दी, कुंकुम, महावर, आदि सौभाग्य के (विवाहित जीवन के) चिह्न मान लिए गए हैं। विवाह, उत्सव, आदि अवसरों पर प्रत्येक व्यक्ति—स्त्री तथा पुरुष—अपना सौन्दर्य मूल्यवान् आभूषणों, कपड़ों. फूलों तथा दूसरे प्रसाधनों द्वारा यथा-सम्भव बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। फूलों के बिना उत्सव एवं त्योहार संपन्न होते ही नहीं। ग़रीबों के लिए फूल ही सोना-चाँदी है—फूलों ही के वे आभूषण बनालेते हैं।

६. धार्मिक : भारत में गन्ध एवं चन्दन, धूप-दीप, आदि सुगंधित द्रव्यों का सर्वप्रथम प्रयोग देवी-देवताओं को भेंट-स्वरूप चढ़ाने ही में होता था। होते-होते वे मन्दिरों से राज-महलों तक और पश्चात् सर्वसाधारण जनता के घरों में आ पहुँचे। बड़े मन्दिरों के देवी-देवताओं को मूल्यवान आभूषणों, कपड़ों तथा फूलों की आवश्यकता अवश्य है। जिनके बिना वे बड़े माने ही जाते और उनकी पूजा, अर्चना, होम, हवन, आदि को सम्पन्न करने के लिए सुगंधित द्रव्य और पुष्प अनिवार्य है। विदेशों में भी इनका उपयोग धार्मिक अवसरों पर तथा मृतकों की अर्थी पर छिड़कने के लिए होता था। मिस्र में यह प्रथा विशेष रूप में थी। गन्ध, पुष्प, धूप आदि का न्यूनाधिक प्रयोग संसार के सभी धर्म के लोग अपने धार्मिक अवसरों पर करते हैं।

सुगन्धी अथवा परिमल की वस्तुएँ चार विभागों में बाँटी जा सकती हैं। जैसे : (१) ठोस, (२) पाउडर, (३) लेप, एवं (४) तरल। इनमें से प्रत्येक के कई प्रकार थे, और आज भी हैं। इनके कुछ प्रकार निम्न लिखित हैं—

१. ठोस : सुगन्ध गुटिका (पान में खाने के लिए); धूप; धूपवर्ती (अगर बत्ती); दीपवर्ती; आदि। दीपवर्ती के द्वारा प्रकाश भी मिलता था और परिमल भी।

(२) पाउडर : मृगराज (कस्तूरी); मुखवास (चेहरे को लगाने की बुकनी जो लोध्र के छिलके से बनाई जाती थी); आदि।

(३) लेप : अलक्तक (जो लाख से बनाए जाते थे); चन्दन; केसर; आदि।

(४) तरल : गन्धोदक (सुगन्ध पानी; सुगन्धित तेल (जैसे—सुकुमार तैल); गन्ध इत्र आदि।

इनके सिवा सफ़ेद केश काले करने के लिए भी कुछ औषधिएँ प्राचीन भारत में प्रचलित थीं। जिनको 'केश रंजन' कहते थे। स्नान के समय उपयोग में आनेवाले पदार्थोंको 'स्नानीय द्रव्यानि'; शरीर को लगाने की वस्तुओं को 'कान्ति द्रव्यानि', 'अंगराग', 'अंग-संस्कार', तथा 'अंग सांदीपन'; और पोशाक को लगाने के परिमलों को 'पटवास' कहते थे।

उपर्निर्दिष्ट गन्धोधित द्रव्यों, परिमलों वृक्षों और वल्लरियों के पत्तों, फूलों, छिलकों, लकड़ी, जड़ों तथा रसों से प्रायः तैयार करते थे। उनमें कस्तूरी और कदाचित् मनःशिला का भी उपयोग होता था। इन कच्चे मसालों की संख्या सत्रह हज़ार तक ज्ञात हो चुकी थी और गन्ध तथा परिमल तैयार करने की आठ विधियाँ प्रचलित थीं। जैसे—(१) पानी में भिगाना, (२) गर्म करना, (३) उबालना, (४) दबाना, कूटना या पीसना, (५) छानना या निचोड़ना, (६) धूँआ देना, (७) तेल निकालना, और (८) एक दूसरे में मिलाना। ये मसाले तीन वर्गों में बाँट दिए गए थे। जैसे—(१) मित्र, (२) सम, और (३) शत्रु। मित्र-मसाले समान परिमाण में एकत्र किए जाते थे, जब कि दूसरे मसालों का केवल चौथा भाग ही एकत्र किया जाता था।

सुगन्धों के कारखानों में 'नलिका-यन्त्र' तथा 'पाताल-यन्त्र' का भी उपयोग किया जाता था। 'नलिका-यन्त्र' में भँपके के नीचे आग जलाई जाती थी और 'पाताल-यन्त्र' में उसके ऊपर आग जलती थी तपा नीचे प्रायः काले रंग का तेल या सत्व, टपका कर संग्रह किया जाता था। सुगन्ध तैयार करने में, ऋतुमान तथा कारखाने के स्थान और उसके जल-वायु का भी विचार किया जाता था।

'बृहत् संहिता' में गन्ध-शास्त्र पर एक अध्याय लिखा गया है। इसमें गन्ध तथा परिमल बनाने में जो कच्चे मसाले काम में लाए जाते थे, उनके कई समूह बताए गए हैं। इनमें एक समूह नौ मसालों का है। केवल इन नौ पदार्थों से भिन्न प्रकार के ३,६२,८८० गन्ध या परिमल तैयार करने की विधि बताई गई है। दूसरा एक समूह सोलह पदार्थों का है, जिनसे कुल २८,३६२ भिन्न प्रकार के गन्ध बनाने की रीति बनाई गयी है। इसको 'गन्धार्णव' अर्थात् गन्ध का सागर कहते थे।

उक्त विवरण से प्रतीत होता है कि प्राचीन

भारत में गन्ध-शास्त्र पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका था और गन्ध-उद्योग भी एक बड़ा व्यवसाय बन गया था। यथा सम्भव अपना सौन्दर्य बढ़ाने का मनुष्य को विशेषकर स्त्रियों को, इसका विशेषाधिकार, अति प्राचीन काल से ही प्राप्त रहा है।

हमारे देश में इस विज्ञान का जितना विकास हुआ था, उतना अन्यत्र कहीं भी हुआ प्रतीत नहीं होता। इसलिए अन्त में यह कहना अस्वाभाविक नहीं कि विविध शृंगार-प्रसाधनों के निर्माण एवं विकास का सर्वाधिक श्रेय भारतवर्ष को प्राप्त है।

हैदराबाद-दक्षिण

—सखाराम वानखड़े

एक अरब चिकित्सक का आविष्कार

हृदय से फेफड़े की ओर रक्त संचार होता है—इस सिद्धान्त का पता यूरोपीय डाक्टरों और वैज्ञानिकों से प्रायः तीन शती पूर्व काहिरा के एक अरब चिकित्सक ने लगा लिया था।

मांचेस्टर यूनिवर्सिटी के डा० ब्लैथम ने मानव-शरीर में रक्त-संचार की खोज करनेवाले विलियम हार्वे की मृत्यु की त्रिशताब्दी के सम्बन्ध में लिखते हुए वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि अरब चिकित्सक इब्न-अल-नफ़ीस ने किसी भी यूरोपीय से लगभग तीन शताब्दी पहले ही हृदय से फेफड़े को रक्त जाने का सिद्धान्त का सही पता लगा लिया था। उसने यह बता दिया था कि फेफड़े में बाहर के वातावरण से साँस के सम्पर्क में आ कर रक्त शुद्ध होता है।

अपने लेख में डा० ब्लैथम ने आगे लिखा है कि दुर्भाग्य से पश्चिमी एशिया के बाद के चिकित्सकों ने इस खोज की पूर्ण उपेक्षा कर दी और वह छुपी पड़ी रही। चिकित्सा-सम्बन्धी सब महान् खोजों और आविष्कारों का श्रेय एक-मात्र यूरोप के लोगों को ही नहीं दिया जा सकता।

—सन-डे टाइम्स (लन्दन)

बुन्देलखण्ड का जनकवि ईसुरी

बुन्देलखण्ड की शस्य-श्यामला धरती, सौरभ बिखेरती वनस्थली, कलकल निनादिनी सरिताएँ, महानाद झरते जल-प्रपात, मधूक और करील की मादक सुगन्ध में पगीं हवाएँ आदि सहज ही मानव-हृदय में कविता के बीज बो देती हैं। तुलसी इसी प्रदेश की उपज है, केशव को इसी भू-भाग ने कवि बनाया; बिहारी और पद्माकर का पांडित्य इसी भूमि के प्रांगण में निखरा। वस्तुतः भारत के इस हृदयस्थल में सदा से ही साहित्यिक अलख जगती रही है। इसीलिए बुन्देलखण्ड का जीवन कलामय है और आज भी उसके गाँवों में लोककवि गुदड़ी के लाल की तरह यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे पड़े हैं जो अभाग्यवश चाहे प्रकाश में न आए हों परन्तु जिनके गीतों के फूल उस अंचल के हर बुन्देली नर-नारी के अधरों से प्रतिदिन झरते रहते हैं। ईसुरी ऐसे ही लोककवियों का सिरमौर है। बुन्देली वाङ्मय का वह प्राण है; साहित्य के क्षेत्र में फूटती हुई नई कोपलों का वह आदर्श है—एक और अकेला।

झाँसी (उत्तर-प्रदेश) के पास एक छोटा-सा गाँव है, मेढ़की—जो उसकी जन्म-भूमि है। परन्तु उसकी कर्मभूमि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ छतरपूर (विन्ध्य-प्रदेश) के ऐसे ही एक और छोटे से ग्राम, बगौरा को, जिसके प्रति वह बेहद ईमानदार था; जिसको वह गंगा से भी पवित्र मानता था।

"गंगा जू लौं मरें ईसुरी,
दाग[1] बगौरा दीजो"—(ईसुरी)

साधारण-सा ब्राह्मण-कुल, साधारण-सी शिक्षा-दीक्षा; परन्तु असाधारण प्रतिभा। स्वच्छन्द बचपन; उन्मुक्त यौवन। दुबला-पतला शरीर; गोरा रंग। और वेश-भूषा! यही मामूली बुन्देलखण्डी धोती, कुरता, साफ़ा और पीसारी जूते। सुरीला कण्ठ, जादू जगाने वाली वाणी और श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करने की विलक्षण शक्ति। यह थे ईसुरी।

सरस्वती का वर प्राप्त होने के कारण लक्ष्मी उनसे सदा कुपित रही। फिर भी, जमींदारों का कारिन्दा बन कर वे अपना जीवन निर्वाह-करते थे। अवकाश के समय साहित्य-साधना होती। परन्तु कविता वे तभी करते जब उनका हृदय भावनाओं से परिपूर्ण रहता और उनके मस्तिष्क में विचारों के तूफ़ान उठते। उन्होंने खोखली कविता कभी नहीं लिखी।

इनकी कविताओं की ओर अत्यधिक आकृष्ट होकर तत्कालीन छतरपूर नरेश श्री विश्वनाथ सिंह ने, जो स्वयं भी विद्वान् एवं साहित्य-प्रेमी थे, इन्हें राजाश्रय देना चाहा परन्तु प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में उड़ने वाले इस पक्षी को सोने की शलाखें न भाईं और वे राज-दरबार के संकुचित वातावरण में न फँस कर बुन्देलखण्ड के गाँव-गाँव में जीवन की वेणु फूँकते रहे।

जीवन चलता रहा। काल-चक्र आगे बढ़ता गया। साथ ही, उनकी साँसों के धागों का परिधान भी क्षीण होता चला गया। और संवत् १८६६ में लगभग ८५ वर्ष की आयु में इस गायक की वीणा मौन हो गई; उसके गीत उसके अधरों पर सोते ही रह गए। लेकिन फिर भी, रात्रि के नीरव वातावरण में जैसे गहरी घाटियों में किसी चरवाहे का स्वर गूँजता रहता है, फूलों की सुगन्ध हवा में मिलकर जैसे सारे वातावरण को ही सुवासित कर उठती है, वैसे ही, आज भी, उसके गीत बुन्देलखण्ड के कण-कण में गूँजते रहते हैं। वे अमर हैं; ईसुरी अमर है।

ईसुरी प्रेम-प्रधान कवि है। प्यार को वह जीवन का संबल मानता है; वह उसके लिए ज़िन्दगी का मान है। इसीलिए, प्यार की अजस्र वृष्टिधाराओं में अभिस्नात उसके काव्य में हमें प्यार के सब पक्षों का दर्शन हो जाता है। प्रेम के प्रबल प्रवाह में बहते हुए एक प्रेमी का स्वर सुनिए :

---

[1] दाह-क्रिया

"करकें नेह होर जिन दइयो
दिन दिन और बढ़इयो
जैसें मिलै दूद में पानी
असई मनै मिलइयो
हमरो और तुमारो जौ जिउ,
एकई जानें रइयो
कात[2] 'ईसुरी' बाँय[3] गए[4] की
खबर बिसर जिन जइयो"

और फिर बिछुड़ते हुए प्रेमी की यह कराह :

"चलती बेर नजर भर हेरो,
मन भर जावै मेरो
मिला लेव आँखन में आँखें
घूँघट तनक उघेरो
टप-टप अँसुआ गिरत नैन सों,
चितै-चितै मुख तेरो
'ईसुर' कहत बिदा की बेरा[5]
होत विधाता डेरो[6]"

बिदाई का कितना करुण और सजीव चित्रण है, इस गीत में !

यह एक विरही का प्रलाप है :

"अब ना लगै गाँव में नीको,
मित्र बिछुर गओ जी कौ
आबो जैबो[7] करें रात ते,
अब मों[9] देखों की कौ[10]
घर औ बार[11] पुरा पाले[12] में,
लगत मुहल्ला फीकौ
सोने कैसो पानी 'ईसुर',
गओ उतर मौं ईको"[13]

और यह एक दिलजले का कटु अनुभव :

'हड़रा[14] घुन होगए हमारे,
सोचन रजउ तुमारे
दौरी[15] देह दूबरी हो गई,
करके देख उगारे[16]
गोरे आँग[17] हते[18] सब जानत
लगन लगे सब कारे
ना रए माँस, रकत के बूँदा,
निकरत नई निकारे"

भौतिकवाद से ऊपर उठ कर अध्यात्म का अंचल सहराते हुए ज़िन्दगी के राहगीर का अन्तर्नाद सुन लीजिए :

"इक दिन होत सबई कौ गौनों,
हौनों औ अनहौनों
जानें परत[19] सासरे[20] साँसऊँ,[21]
बुरौ लगै चाय[22] नौनों
जा ना बात काउ[23] के बस की,
हँसी मचै चाय रौनों
राखो चायें जौनों 'ईसुर'
दयें उनईं[24] भर सौनों"

और—

"बखरी[25] रइयत हैं भारे कीं,
दई पिया प्यारे की
कच्ची भींत उठी माटी की,
छाई फूस-चारे की
बे बन्देज बड़ीं बे बाड़ा,
जेइ में दस द्वारे की
किवार किवरियाँ एकउ नइयाँ,
बिना कुच्ची तारे की
'ईसुर' चाये निकारौ जिदना[26]
हमें कौन उवारे[27] की"

जीवन की क्षण-भंगुरता और परवशता का भला इससे श्रेष्ठ उदाहरण और कहाँ मिलेगा !

और यह है उसका अन्तिम उद्गार !

"मेरी सब खाँ[28] राधावर की,

---

१. वैसे ही २. कहत ३. बाँह ४. गहे ५. बेला ६. प्रतिकूल ७. आना-जाना ८. रहते ६. मुंह १०. किसका ११. बाहर १२. पास-पड़ोस १३. इसका १४. हड्डियाँ १५ दुहरी १६. उघाड़े १७. अंग १८. थे १६. पड़ना २०. ससुराल २१. सचमुच २२. चाहे २३. किसी २४ उन्हीं २५. मकान २६. जिस दिन २७. लाभ २८. को

भई तयारी घर की
रातें[1] आज भीड़ रइ भारी,
घर के नारी नर की
बिछुरत संग, लगत है ऐसौ,
छूटत नारी कर की
मिहरबानगी मोरे ऊपर,
सूधी रहै नजर की
बदी भेंट फिर हूहै ईसुर'
आगे इच्छा हर की"

ईसुरी की लेखनी का दूसरा चमत्कार है, उनका नख-शिख वर्णन जो उनके गहन अनुभव और व्यापकता का परिचायक है। ये अलकें :

"बिथुरे डरे केस अनगोए,
आज लाड़ली धोए
बूँदा चुअत नितंबन ऊपर,
क्रम-से गए निचोए
तापर जुदीं लटें छुटकाएँ,
नहीं तेल में मोए[2]
'ईसुर' कँय[3] मखतामल ऊपर
श्याम पाट में गोए"

और ये नयन :

"दोऊ नैनन की तरवारें,
प्यारी फिरे उघारें
अलेमान गुजरात सिरोही,
सुलेमान[4] झक मारें
ऐंचे[5] बाड़ म्यान घूँघट की,
दे काजर की धारें
'ईसुर' स्याम बरकते रइयौ,
अन्धियारें उजियारें"

यह तनुलता :

"नग नग कैसो बनो बँदवारों,
रजउ को डील[6] ढुरारो[7]
अँड़ियाँ[8] जब्बर, मसीली जाँघें,
कबजन कोद[9] निहारो
ओलों[10] तिहरी पड़ें पेट में,
माफिक[11] को चुँदवारो[12]
गोरौ बदन, श्यामली साड़ी,
लगै लिपटतन थारो
'ईसुर' नचत माँय[13] से आगई
गज घूमत मतवारो"

और यह वेश-भूषा :

"जी में लिखे पपीरा[14] मोरें,
ऐसी अँगिया तोरें
मुकते[15] लाल मुनैयाँ लिपटे,
चिरवा चार चकोरें
पीली हरी चिरैयाँ चिपकीं,
सुआ मुरक[16] मुख मोरें
बूटा भरे भुजन में भारी
बेलन बाँदी कोरें
कायल करत कोयलिया 'ईसुर'
दो छाती के दोरें"

ईसुरी के प्रत्येक चित्र में बुन्देलखण्ड के लोक-जीवन की गहरी छाप दिखाई पड़ती है।

और फिर आता है उनका ऋतु-वर्णन। वसन्त का एक चित्र देखिए :

"अब रित आई बसन्त बहारन,
पात फूल फल डारन
हारन[17] हद्द[18] बहारन पारन,[19]
धाम धवल जल धारन
कपटी कुटिल कन्दरन धाई,
गई बैराग बिगारन
चाहत हतीं प्रीत प्यारे की,
हा हा करत हजारन
जिनके कन्त अन्त घर सें हैं,
तिनें देत दुख दारुन

---

[1] रात में [2] मने [3] कहत [4] तलवारों की किस्में [5] खींच [6] शरीर [7] लचकीला [8] पिंडलियाँ
[9] तरफ [10] सिकुड़नें [11] उचित [12] तुन्दिल [13] उधर [14] चातक [15] बहुत से
[16] मुड़कर [17] मैदानों [18] ग्राम-सीमा [19] पहाड़

'ईसुर' मौर भौंर के ऊपर,
लगे भौंर गुंजारन''

ईसुरी में प्रकृति-निरीक्षण की अद्भुत शक्ति थी। तभी तो उनकी रचनाओं को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

निस्संदेह, ईसुरी बुन्देलखण्ड का जन-कवि है।

एस. एम. कालेज,
टीकमगढ़, (विन्ध्य-प्रदेश

उसकी रसमय वाणी की अविरत निर्झरिणी में बुन्देलखण्ड का लोक-जीवन डूब उतरा रहा है। उसके गीतों में हमारी लोक-संस्कृति अंगड़ाई लेती है; उसके बोलों में विन्ध्य की आत्मा गुनगुनाती है। लेकिन इस पर भी वह भारतीय वाङ्मय में उपेक्षित है। बुन्देली जन-जन की वाणी बन कर भी वह, वहाँ अपना उपयुक्त स्थान नहीं बना पाया है।

—ज्योति प्रकाश सक्सेना

अपने ही बल से

......हमें अपने गिरे हुए देश को उठाना है। अब गिरे हुए देश को कैसे उठाना? यह नहीं कि दस-बीस या हजार-दस हजार आदमी तरक़्क़ी कर जाएँ। लेकिन देश-भर के ३७ करोड़ स्त्री-पुरुष और बच्चों को उठाना बड़ी कठिन बात है। सैंकड़ों बरसों से वे गिरे पड़े हैं और कुछ लोग उनके ऊपर बैठे थे। साधारण जनता दरिद्र हो गई थी, दुर्बल हो गई थी। अब कैसे यह सब हटाया जाए? कोई जादू या मन्त्र से तो यह काम हो नहीं सकता। अगर मन्त्र पढ़ कर देशों की उन्नति हो जाती तब तो बड़ी आसानी थी। मगर यह तो मुमकिन नहीं। जनता उठ सकती है, तो अपने बल से ही उठ सकती है। कोई दूसरा हाथ पकड़-पकड़ कर देश को उठाए या दूसरे आकर लकड़ियाँ दें और हम टेक-टेक कर चलें। अगर हमारी टाँगों में शक्ति नहीं है तो दूसरों के हाथ पकड़ने से कैसे शक्ति आ जाएगी, और कैसे हम इस बड़ी यात्रा पर चलेंगे? हम क्या दूसरों की टाँगों से चलेंगे। चलना तो आखिर हमें अपनी टाँगों से ही होगा।

—जवाहरलाल नेहरू

सन्थालों की जातियाँ, उप-जातियाँ और गिद्ध

ज्यों ज्यों सन्थाल लोग बढ़ते गए, उनके अनेक परिवार बन गए। अब उनकी ऐसी आदत पड़ गई कि वे अपने बच्चों को, घर के आगे, खुले हाते में सुलाने लगे। इसलिए, कि प्रकृति उन पर पंखा झल सके।

पास ही एक गिद्ध का घोंसला था। खुले में सोते हुए कई बच्चों (गिद्धों) को वह उठा ले गया। आखिरकार जब पाँचवा बच्चा उठ गया तो सन्थालों ने युद्ध करने की ठानी। एक विशाल वृक्ष के नीचे उन्होंने सभा की। माँझी (Manghi) अर्थात् सबसे बड़े ने सभा को सम्बोधित किया "इसी तरह उत्पात होते रहे, गिद्ध मोटा होता गया तो धीरे-धीरे हमारा बड़ा नुकसान हो जाएगा और देश वीरान हो जाएगा। इसलिए, आओ हम लोग खोज करके उत्पाती का नाश कर दें। कल से, पौ फटने से लेकर अँधेरा होने तक हम लोग सारे जङ्गल में ढूँढ़ कर, उसे नष्ट कर दें। जब तक चिड़िया मर कर नीचे न गिर जाए, कोई भोजन न करे।"

सुबह होते ही, मादर की ध्वनि ने सब सन्थालों को जमा कर लिया। हरेक के पास एक धनुष और अनेक तीर थे। सब घर से निकल पड़े। माँझी के नेतृत्व में गिद्ध को ढूँढने चल पड़े। कई मील चल चुकने पर उन्होंने एक ऊँचे साल (Sal) वृक्ष पर, अपने घोंसले पर बैठे हुए गिद्ध को देखा। घोंसला गठा हुआ और ऐसी वस्तुओं से बना था कि उसका ज़रा-सा भी हिस्सा दिखाई न पड़ता था। तीर से उसे तोड़ना कठिन था। सब तरफ़ से उसका निरीक्षण करने पर पता चला कि घोंसले में एक अरगोम (Argom) बना था। अरगोम, हलवाहों द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला वह यन्त्र था, जिससे मिट्टी के ढेले फोड़े जाते थे। तय किया गया कि अरगोम के पोपले हिस्से पर उसके छेद में से तीर मारा जाए।

सन्थाल-परिवार के दो सबसे अच्छे तीरन्दाज़—कर (Kara) और गुज (Guja) दो भाई इस काम के लिए चुने गए। बड़ा होने के नाते, कर को पहले मौका दिया गया। उसका निशाना ऐसा ठीक लगा कि 'अरगोम' के छेद में तीर घुस गया और गिद्ध के वक्ष में लगा। बच्चों के रक्षण में संलग्न गिद्ध, तीर लगते ही उड़ा। पर आघात प्राण-घातक था। वह बड़े वेग से ज़मीन पर गिर पड़ा। जहाँ वह गिरा वहाँ गड्ढा हो गया। उस साल, वर्षा से वह गड्ढा इतना भर गया कि वहाँ एक भारी झील बन गई।

उसे मार कर वे घर की ओर लौटे। रास्ते में शिकार करते हुए एक मुरुम (हरिण) पर सधा हुआ निशाना लगा कर उसे ख़त्म कर दिया। पास के बाँसों के कुञ्ज से एक बाँस काट कर, उस पर मुरुम को लटका कर, वे घर लाए। गाँव के समीप पहुँच कर, मुख्य सड़क से जुड़े एक मार्ग के पास वे बैठ गए। वाहकों ने अपना बोझ नीचे उतारा और सुस्ताने लगे। उनमें से एक को गाँव भेजा गया कि मुरुम की खाल उतारने के लिए एक चाकू ले आए। सात भाइयों में से सबसे बड़े ने थोड़ी-सी 'खासी' (Khase) घास उखाड़ी और उस पर बैठ गया। तीसरे भाई को मुरुम की खाल उतारने और चौथे को उसे काटने का काम सौंपा गया। पाँचवा भाई, मांस के टुकड़ों को पत्ती में लपेट-लपेट कर गर्म राख में पकाए और छठे सातवें भाई आग जलाएँ—ऐसा तय हुआ। पाँचवा भाई स्नान कर चुका था। उसने अपना 'भगवा' पास ही डाल दिया था। विचारों में वह इतना खो गया था कि मांस के टुकड़ों के बजाय भगवा को ही, पत्तियों में लपेट कर, उसने आग में भुनने के लिए डाल दिया। जब सबने सोचा माँस काफ़ी पक गया होगा, तो उसे राख में से निकाला और सूखी पत्तियों पर डाला। मांस के स्थान पर तो भगवा निकला। इस पर दूसरे भाइयों ने नाराज़गी दिखाते हुए भला-बुरा कहा। पर उन्हें केवल यही उत्तर मिला "भूल हो गई।"

इसी समय सन्थालों में, अनेक जातियाँ, उप-जातियाँ बनीं। जो 'खासी' घास पर बैठा था वह

'किसकुस' (Kiskus) लोगों का, मर्णदी (Marndi) घास पर बैठा था वह 'मर्णदी' का, मुरुम को मारने वाला 'मुरुम ठाकुर' का, गिद्ध को मारने वाला 'चील भिन्द' लोगों का, भगवा भूनने वाला 'लट टुडु' (Lar Tudu) लोगों का, जिसने खाया वह 'बस्क दका' (Baske daka) लोगों का, जिसने प्रातःकाल चावल चुराया था वह 'बसकी' (Baskis) लोगों का, जो चाकू लाने गया था वह 'सोरें' (Soreu) लोगों का पूर्वज बना।

१७ बी, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

—कुमारी दुर्गा मेहरोत्रा

"बक्शी" शब्द की व्युत्पत्ति

"बक्शी" शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक "अकबर" में लिखा है :

> "... ... ... चंगेजखान के दफ्तरों का काम पहले वहाँ के भिक्षुओं ने सँभाला था। भिक्षु को मंगोल भाषा में बक्शी कहते हैं।
>
> पीछे मुंशियों (लेखकों) का नाम ही बक्शी पड़ गया। यह पद भी बाबर के साथ भारत आया और आज कितने ही मुसलमान और हिन्दू अपने नाम के साथ बक्शी लगाने में गौरव अनुभव करते हैं।
>
> इसी प्रकार हजारी, दो हजारी, पंच हज़ारी, दर्जे (मन्सब) भी मध्य एशिया से भारत में आए।"

—'अकबर' (पृ. ९५) से

संस्कृति और साहित्य का परस्पर सम्बन्ध

साहित्य और संस्कृति का अविनाभाव सम्बन्ध है। एक दूसरे पर आश्रित है। एक दूसरे को छोड़ कर, किसी भी प्रकार प्रगति नहीं कर सकता। जिस जाति की जैसी संस्कृति होगी, उस जाति का साहित्य भी उसी के अनुरूप रूप धारण करता जाएगा। यदि हम एक समाज का प्रतिबिम्ब उसके साहित्य में पाते हैं तो उस साहित्य में उस समाज की संस्कृति को स्पष्ट रूप से झलकती देखते हैं।

जिस, जाति की संस्कृति जितनी उन्नत और उज्ज्वल होगी, उस जाति का साहित्य भी उतना ही उन्नत और उज्ज्वल होगा। जिस तरह समाज और साहित्य का सम्बन्ध अनिवार्य है, उसी तरह संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध भी संश्लिष्ट हुआ करता है।

उक्त बात का प्रमाण हमें भारत का इतिहास और उसका साहित्य देता है। इसी तरह यदि हम विश्व-साहित्य पर भी दृष्टि डालते हैं तो हमें समूचे संसार के साहित्य और उनके उद्गम स्थान रूपी उनकी संस्कृतियाँ विविध रूपों में दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

पहले हम अपने आर्यावर्त के साहित्य एवं उसकी संस्कृति के सम्बन्ध में विचार करें। आर्यों की संस्कृति अखिल विश्व में अपना अद्वितीय स्थान रखती है। आज सारा संसार उसकी श्रेष्ठता और महानता को स्वीकार करके अपनी विज्ञता का परिचय दे रहा है। आर्यों की संस्कृति, वसुन्धरा की प्राचीनतम संस्कृति के रूप में सम्मानित हो रही है।

जैसे भारत की संस्कृति प्राचीनतम है, वैसे ही उसका साहित्य भी प्राचीनतम माना जा रहा है। आर्यों का साहित्य वेदों में है और वे ही वेद प्राचीन भारतीय संस्कृति का ज्वलन्त उदाहरण है। यह मानी हुई बात है कि वेदों से भी बढ़ कर, प्राचीनतम ग्रन्थ विश्व-भर में अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। प्राचीन भारत-जातीय संस्कृति, वेद-वेदांगों, उपनिषदों, संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है।

जब भारतीय समाज बढ़ने लगा, और उसकी आशाएँ, आकांक्षाएँ एवं कल्पनाएँ पनपने लगीं, विविध प्रकृतियों और प्रवृत्तियों के कारण विचारों में विविधता का विस्तार होने लगा, तब तत्कालीन समाज को सुचारु रूपेण सुस्थिर करने और उनके उन्नत भाव और आदर्शों को उत्तेजित करने के लिए समर्थ साहित्य का सृजन होने लगा।

आदि-कवि वाल्मीकि ने अपनी 'रामायण' को रच कर तत्कालीन भारतीय संस्कृति के सजीव चित्र हमारी आँखों के सामने अंकित किए। आर्य-संस्कृति के रमणीय चित्र हमारे हृदय-पटलों पर अपनी अमिट छाप डाले बिना नहीं रह सकते।

वाल्मीकि-कृत रामायण में तत्कालीन जीवन का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दृष्टिगोचर हो ही जाता है और उस प्रतिबिम्ब में तत्कालीन संस्कृति की चमक एवं झलक व्याप्त होकर उसे एक भव्य-रूप प्रदान करती है।

व्यास महर्षि का महाभारत तत्कालीन भारतीय जीवन का जीता-जागता चित्र है। बौद्ध और जैन साहित्य में उस काल के जन-समूह के मनस्तत्त्वों की प्रतिच्छाया हम देखते हैं। हमारे देश के विभिन्न भाषाओं के साहित्यों में भारतीय संस्कृति की स्तवनीय श्रवन्ति अविरल रूप से बहती आ रही है। दूसरे शब्दों में भारतीय संस्कृति को छोड़ भारतीय साहित्य का अस्तित्व ही नहीं है।

इस तरह हमारी प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-परम्परा भारतीय संस्कृति की शीतल स्निग्ध धारा से सिंचित होकर, युग-युग के जन-समूह के कर्ण-कुहरों में, अपनी महानता के सन्देश की अप्रतिहत प्रतिध्वनि को पहुँचाते हुए चली आ रही है। यह सच है कि कुछ जातियाँ इस देश में विजेताओं के रूप में प्रविष्ट हुईं। उन्होंने देश के कुछ भागों पर क़ब्जा भी कर लिया। किन्तु इस देश के लोगों के रहन-सहन के ढंग एवं आध्यात्मिक विचारों ने अर्थात् यहाँ की संस्कृति ने उन विजेताओं पर ऐसा प्रभाव डाला कि वे यहाँ के लोगों में मिल गए, यहाँ के लोगों के आचार-विचार उनके भी आचार-विचार बन गए और यहाँ के लोगों के आदर्श उनके भी जीवन के आदर्श बन गए। इनमें

शक, हूण आदि का नाम लिया जा सकता है। इसके बाद कुछ ऐसे लोग भी इस देश में प्रविष्ट हुए, जिन पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव तो पड़ा, किन्तु वे यहाँ के लोगों में मिल न सके। इनमें मुसल्मान प्रधान हैं। कुछ विषयों में हिन्दुओं पर मुसल्मानों का प्रभाव सुस्पष्ट है। क़रीब पाँच सौ वर्ष तक यहाँ के शासक मुसल्मान रहे। इसलिए हिन्दुओं के कुछ विषयों पर मुसल्मानों के प्रभाव पड़ने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इतना होने पर भी मुसल्मान भी हिन्दुओं के प्रभाव से अछूते न रहे। पहले धर्म को ही ले लें। भारत के वेदान्त का दूसरा रूप ही सूफ़ीमत है। अकबर का "दीन इलाही" हिन्दू-धर्म के प्रभाव का स्पष्ट निदर्शन है। अकबर, दारा, जायसी, रहीम और रसखान आदि, इस प्रभाव के प्रमाण हैं। 'उर्दू' भाषा जो आज पाकिस्तान की क़ौमी ज़बान है, वह मुसल्मानों पर हिन्दुओं के प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण है।

जिस तरह भारतीय साहित्य भारत की संस्कृति का प्रतिरूप है, उसी तरह यूरोपीय साहित्य भी उन-उन देशों की संस्कृतियों का प्रतिबिम्ब है। किसी की संस्कृति और साहित्य का आधार उस देश के वातावरण, जलवायु आदि भी हो सकते हैं। इस दृष्टि से विश्व में विविध संस्कृतियों और साहित्यों का होना सहज और स्वाभाविक ही है। संस्कृति और साहित्य का परस्पर सम्बन्ध होना, जैसा अनिवार्य है, वैसे ही संस्कृति और तत्रस्थित प्रकृति का सम्बन्ध भी अनिवार्य है।

इस तरह हम देखते हैं कि इस विशाल विश्व में, विभिन्न वातावरणों और जलवायुओं के अनुरूप, विविध संस्कृतियों और साहित्यों का अस्तित्व है। इस्लामी संस्कृति, ईसाई संस्कृति, चीनी संस्कृति और भारतीय संस्कृति, अपने-अपने देश, जाति, तथा जलवायु के अनुसार ही निर्मित होकर अनन्त काल से अस्तित्व को बनाए, अपने अपने साहित्यों में निजरूप को दर्शाती चली आ रही हैं।

संस्कृति, समाज की जान है और उसकी शान भी है। सभ्यता और संस्कृति के आधार के बिना किसी उन्नत साहित्य का निर्माण होना संभव नहीं है। इसलिए हम कह सकते हैं कि किसी भी साहित्य की बुनियाद वहाँ की संस्कृति है। संस्कृति रूपी बुनियाद के आधार पर ही उच्च साहित्य का सृजन सम्भव है। इतना ही नहीं, किसी भी उच्च संस्कृति की विशेषताओं को वहाँ के साहित्य में हम स्पष्टतः देख सकते हैं। यही कारण है कि जिस तरह आदर्श चरित्रों का सृजन भारतीय साहित्य में हो सका, वैसा अन्य साहित्यों में न हो पाया। क्योंकि उन साहित्यों में स्फूर्ति पैदा करने वाली उनकी संस्कृतियों के आदर्श भिन्न थे।

यदि संस्कृति, साहित्य को स्फूर्ति प्रदान कर जान फूँकने वाली चीज है तो साहित्य, उस समाज की सभ्यता की उच्चतम या निम्नतम श्रेणी को दर्शाने वाला होता है। साहित्य के आदर्श संस्कृति के अनुसार ही रखे जाते हैं और उन आदर्शों का अनुयायी समाज, अपनी संस्कृति के द्वारा ही, संसार में उच्च या निम्न माना जाता है।

भारतीय संस्कृति के उच्चतम होने के कारण ही भारतीय साहित्य भी समुन्नत बन सका। भारतीय संस्कृति और आदर्श भारतीय साहित्य में प्रतिबिम्बित हैं। अन्य देशों के साहित्यों से हमारा साहित्य बहुत ही पुराना और आदरणीय माना जाता है। ग्रीक और अन्य यूरोपीय साहित्यों में—भारतीय साहित्य में जैसे उज्वल और भव्य चरित्र दिखाई देते हैं वैसे अन्य कहीं भी दिखाई नहीं देते। इसका कारण वहाँ की संस्कृति और वहाँ का वातावरण ही है। उनका आदर्श हमेशा भौतिक सुखों का सम्पादन ही रहा। लेकिन हमारे देश की बात दूसरी ही रही। यहाँ की प्रकृति ने यहाँ के मानवों के लिए आवश्यक सुख संपत्ति को अपनी ओर से ही समर्पित करके भारतीयों को वरदान के रूप में प्रदान कर दिया। इसलिए यहाँ के लोग भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता की ओर अपनी जिज्ञासा बढ़ाने लगे। इसी कारण हमें प्राचीन भारतीय आदर्शों, आकांक्षाओं, अभिलाषाओं और कार्यकलापों में तथा प्राचीन यूरोपीय आदर्शों, आकांक्षाओं, अभिलाषाओं और कार्य कलापों में आकाश पाताल का अन्तर दिखाई देता है।

उदाहरणार्थ स्त्री के लिए जितना महत्त्वपूर्ण और आदरणीय स्थान प्राचीन भारतीय साहित्य में दिया गया था, वैसा स्थान अन्य देशों के किसी भी साहित्य में हमें नहीं मिलेगा। सीता और सावित्री एवं शकुंतला के जैसा स्त्री-चरित्र संसार के और किसी भी साहित्य में हमें दिखाई नहीं देगा। मानव-कल्याण के लिए

र्थ पर जितना ज़ोर यहाँ के साहित्य में दिया गया —उतना अन्य किसी साहित्य में हमें दृष्टिगोचर हीं होता।

संक्षेप में—हमारी भारतीय संस्कृति वह पवित्र म है, जिसमें कई संस्कृति रूपिणी नदियाँ आकर, म्मिलित हो गई हैं। जब भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का सम्पर्क या उनका संगम एक दूसरे में होता है, तब वे परस्पर क दूसरे को प्रभावित किए बिना नहीं रहतीं। लगभग सौ वर्ष तक मुसलमानों ने हमारे देश के एक बड़े भाग पर शासन किया था। इसलिए इस्लाम का भी कुछ प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ा। इसी तरह लगभग ढ़ सौ वर्ष तक, अंग्रेज़ों के शासन के कारण, उनका भी म पर प्रभाव पड़ा। परिणामतः अंग्रेज़ों की संस्कृति और हित्य का प्रभाव आज हमारी संस्कृति और साहित्य में लक्षित होता है। हमारे आचार-विचार वेष-भूषा, ति-स्वभाव सब पर उनका प्रभाव सुस्पष्ट है। इससे यह ष्टतया ज्ञात हो जाता है कि उक्त-विकृत संस्कृति से ब यहाँ के लोगों का काम चलता नहीं दिखाई देता। न्तु इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसमें कोई स बात ज़रूर होगी, जिसकी वजह से परिस्थितियाँ सके प्रतिकूल होने पर भी हज़ारों वर्षों से उसकी लिकता नष्ट नहीं हो पाई है आज भी पाश्चात्य संस्कृति के प्रवाह में वह विलीन न होकर अपना अलग अस्तित्व नाए रक्खे हुए है। आज के विचार से हमारी संस्कृति में कुछ न्यूनताएँ अवश्य हो सकती हैं, जिनके कारण युगानुसार आधुनिकता के साथ, भावी जीवन-पथ पर स्वभावतः अग्रसर होने में हम कुछ पिछड़-से रहे हैं। और आज भी हमारी दृष्टि भूतकाल के काल्पनिक रमणीय स्वप्न-जगत् पर जितनी अधिक टिकी हुई है, उतनी वर्तमान काल की समस्याओं को हल करने की तरफ़ नहीं जाती। हमारे पिछड़े हुए रहने का यह भी एक कारण है। आज हमें नव-जीवन की ज़रूरत है। अपनी समस्याओं को नए दृष्टिकोण से देखकर, उन्हें नए ढंग से हल करने की आवश्यकता है। ऐसे ही एक नए दृष्टिकोण को गाँधी जी ने हमें प्रदान किया था। उसी दृष्टिकोण को अपनाने से आज भारतीयों में नव-जीवन का संचार हो रहा है और वे अनुभव कर रहे हैं कि अपने वर्तमान जीवन के अपूर्ण-दर्शन और अपूर्ण सिद्धान्तों के कारण ही हमारी संस्कृति की सारी विशेषताएँ संसार के लिए फ़िज़ूल साबित हो रही हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शताब्दियों से मुस्लिम और अंग्रेज़ी शासन, भारत में रहने पर भी, विजित एवं शासित भारतीय संस्कृति अपने अस्तित्व को बिना खोए सुरक्षित रखने में जो समर्थ हुई, उसका कारण, इसका साहित्य ही है। समाज को बनाने या बिगाड़ने में, जितनी साहित्य के प्रभाव की ज़रूरत पड़ती है, उतनी अन्य किसी वस्तु की नहीं।

निदान हम देखते हैं कि दीर्घकाल पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़े रहने पर भी, भारतीय संस्कृति और साहित्य ने, भारतीयों को अपना अस्तित्व बनाए रखने में, शक्ति प्रदान कर संजीवनी का काम किया है।

स्क्वार्टर्स,
न्ध्र युनिवर्सिटी,
ल्टेयर

—जी. सुन्दर रेड्डी

आँसुओं की कहानी

लौस एंजल्स में एक डाक्टर हैं, जिनका नाम है डा० ब्रूनिश। वे आँखों में जलन या तनाव के कारणों पर प्रयोग कर रहे हैं और उन्हें अनुसन्धान के लिए आँसुओं की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता है।

आँसू केवल नमकीन पानी की बूँदें ही नहीं होतीं। वे द्रव रूप में उच्च कोटि का प्रोटीन होती हैं। क्रोध के आँसू उन आँसुओं से भिन्न होते हैं जो कि आँखों में तनाव या जलन के कारण उत्पन्न होते हैं।

—कैवलकेड

'उदय-श्री' का अवलोकन

तेलुगु के आधुनिक कवियों में, श्री जंध्याल पापय्या शास्त्री एक उल्लेखनीय कवि हैं। आपका उपनाम 'करुण-श्री' है। आप संस्कृत, हिन्दी एवं तेलुगु भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं।

भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। कविता लिखने में आपका उद्देश्य शब्द-चित्रण या पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं, बल्कि सुकुमार भावों को कविता की माला में गूँथना है। आपकी भाषा में प्रसाद एवं माधुर्य दोनों गुण विद्यमान हैं तथा भावों में स्निग्धता और शैली में एक प्रकार का निरालापन पाया जाता है। भावाभिव्यक्ति में कवि इतना कुशल है कि पाठक कृति को पढ़ते-पढ़ते स्वयं ही उसमें तन्मय होने लगता है; साथ ही आपका प्रकृति-वर्णन भी पर्याप्त सजीव होता है।

आप कुछ दिनों तक 'सुभाषिणी' नामक साहित्यिक मासिक पत्रिका चलाते रहे। किन्तु पत्रिका के अच्छी होने पर भी उचित प्रोत्साहन न मिलने से आपको उसे स्थगित करना पड़ा।

'करुणश्री' (पाँच भाग) 'अरुण-किरणालु' 'विजयश्री' और 'करुणामयी' (नाटक) आदि आपकी अन्य कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

'उदयश्री' आपके कविता-जगत् की वास्तव में उदयश्री ही है। कवि इसे अपने 'शिथिल जीवन का मधुर प्रभात और अपने हृदय की उदयश्री मानता है।'

'उदयश्री' तैंतीस कविताओं का संग्रह है। इस कविता-संग्रह के विषय में कवि ने स्वयं अपने आमुख में लिखा है :

"उस दिन मेरे शिथिल जीवन का मधुर प्रभात था, जिसमें उदयश्री का जन्म हुआ।

मैंने आँखें कोल कर देखा तो अपने नवजात शिशु और पत्नी को छोड़ कर बोझिल हृदय को लिए, सौध-सोपानों से उतरते हुए गौतम बुद्ध की करुण-मूर्ति दिखाई दी। उनके आर्द्र नयनों के वातायन से करुणा-कुमारी किश्व की वेदना को झाँकने लगी।

उस करुणा-कुमारी के बदन पर, अयोध्या-नगर के अन्तःपुरों से दण्डकारण्य की पर्णकुटी में अपने जीवन-सौभाग्य का अन्वेषण करने वाली उर्मिला की, उत्कण्ठा की रेखाएँ झलकती थीं।

उर्मिला के कण्ठ से सुमनबाला की आर्त-गीतिका मुखरित होती थीं, जिन सुमनों की कोमल पंखुड़ियाँ पाषान-हृदय मानव की शय्या के नीचे दब कर मुरझा रही थीं।

उस कुसुम कुमारी की आहों में, गंगा के किनारे खड़ी हुई—नदी की तरंगों पर कहीं दूर तैरती जानेवाली—अपने शिशु की पेटी की ओर निश्चल, निरीह नेत्रों से देखने वाली कुन्ती कुमारी के हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती थी।

उसके आर्द्र नयनों में सती शिरोमणि सावित्री की प्रणय-मूर्ति प्रतिबिम्बित होती थी, जो अपने पति के प्राणों की रक्षा के लए, अकेली ही मृत्युदेवता के पीछे दौड़ती जा रही थी।

उसके शीतल करों में करुणामयी राधिका की हृदय-तन्त्री अमृत रागों का आलाप करती थी।

राधिका की अश्रु-माला में भारत माता की वाष्प-धाराएँ बहती थीं। उस माता की आहों ने मुझे मानव बनाया; उसका नयन-जल ही मेरी कविता-करुणा है। वह मेरी करुणामयी, मेरे जीवन की संगिनी और मेरी आराध्य देवी है।

भगवान् करुणामय है, यह समस्त सृष्टि करुणामय है और यह सारा जीवन करुण-रस से ओत-प्रोत है। यह समस्त विश्व करुणा में उत्पन्न होकर, करुण में पलता-बढ़ता है और करुणा में ही विलीन हो जाता है। करुणा और कवि का सम्बन्ध अभिन्न है। करुणा नहीं तो, कवि का व्यक्तित्व नहीं और कवि नहीं तो करुणा का अस्तित्व नहीं।"

यही आमुख इस कविता-संग्रह की आत्मा है।

रागोज्ज्वल रविकिरणों से शोभित प्रभात में, विश्वात्मा को, कवि अपने हृदयासन पर बिठाता है; अपने अश्रुजल से उनके श्रीचरण पखारता है; मानस-कुसुमों की 'श्रद्धांजलि' उनको सगौरव अर्पित करता है।

कवि सारी प्रकृति को देखता है और देखता है

यह प्रकृति करुण-रस में भीगी हुई है। जड़ और केतन सब अपने दुःख के दुःसह भार को वहन कर रहे हैं, वेदना से कराह रहे हैं। उस समय कवि देखता है कि करुणा के अवतार बुद्ध इन सब दुःखों का अन्त करने जा रहे हैं। कवि का मन गौतम बुद्ध की ओर अत्यधित आकर्षित होता है। 'करुणामूर्ति' की यह कविता अत्यन्त हृदयस्पर्शी बनी है।

अर्धरात्रि का समय है। सारी प्रकृति निःस्तब्धता में लीन है। उस समय अन्तःपुर के किवाड़ खोल, पर्दे को हटा कर, कोई व्यक्ति सीढ़ियों से नीचे उतर रहा है। कवि ध्यान से देखता है कि गौतम बुद्ध इस अर्धरात्रि के समय कहीं जाने का प्रक्रम कर रहे हैं। पहले तो उनका मन ममता की ज़ंजीरों को झट तोड़ न सकने के कारण 'हाँ' और 'ना' के संशय में झूलता रहता है। पर अन्त में उनकी आत्मा विश्व-वेदना की पुकार सुन लेती है और वे अन्तःपुर से धीरे-धीरे बाहर की ओर प्रस्थान करते हैं। कवि बताता है कि बुद्धदेव के, उन महान् उन्नत सुन्दर प्रासादों से उतरने का अर्थ है—किसी महोच्च शिखर पर चढ़ना और इन उद्यान और उपवनों को त्यागने का तात्पर्य है—किसी नए विहार का सृजन करना।

"आ महोन्नत भर्म्य हर्म्यमुलु दिगुट
ए महोन्नत सौधाल केक्क जनुटो
ई वन विहारमुलु त्यजियिंचि यनुट
ए नव विहारमुलु सृजियिंचु कोनुटो ?"

गौतम की आँखों ने सत्य का नर्तन देखा होगा। ये नयन पहले पत्नी (यशोधरा) के लज्जा भरे नयनों का नृत्य देखा करते थे। उनके कानों ने अन्तर्वाणी की करुण पुकार सुनी होगी। ये कान पहले मंजु नूपुरों की मृदुल रुनझुनक को सुना करते थे :

"ललित लज्जावती लास्य लालनमुलु
कनेडि कन्नुलु सत्य नर्तनमु गनेनो
श्री चरण मंजु मंजीर शिंजितमुल
विनेडि वीनु लंतर्वाणि पिलुपु विनेनो !"

मणिदीपिकाओं से अलंकृत भवन के प्रकाश को छोड़ कर, अर्ध-रात्रि के अन्धकार की ओर बुद्धदेव अग्रसर होते हैं। यह उनकी दुःख के अन्धकार से मुक्ति-रूपी प्रकाश की ओर अग्रसर होनेवाली करुणा की मूर्ति है।

"कान्ति लो नुंडि कटिक चीकटुल लोन
कलसि पोवुचुन्नाड्डु करुण मूर्ति
कटिक चीकट्ल लो नुंडि कान्ति लोन
पतित पावनुडै बयल्पडग नेमो"

"पारवश्यमु" नामक कविता में कवि, राधा और कृष्ण को भाव जगत् के नायक और नायिका बतलाता है। उनके प्रेम की कल्पना भी भावनामय है। राम और सीता का जीवन कर्तव्यबद्ध पारिवारिक जीवन है। वे हमारे सामने, समाज के सब धर्म और नियमों का पालन करने वाले दम्पति के रूप में आते हैं। हम उनके विषय में भावातीत प्रेम की कल्पना नहीं कर सकते। परन्तु राधा और माधव दोनों भावजगत् की प्रेम-मूर्ति हैं। यही कारण है कि उनके प्रेम को निश्चित रूप से समझने और चित्रित करने में अधिक त्रुटियाँ होती हैं। जो वस्तु हमारी कल्पना से दूर एवं अनुभव में न आनेवाली है, प्रायः उसीको समीप की और पहुँच की समझने का हमें भ्रम होता है तथा हमारी यही दृष्टि राधा और माधव को चित्रित करने में व्यवहृत होती है। आगे कवि कहता है : 'इस रहस्य को कौन जानता है कि माधव के प्रति राधा का प्रेम अधिक है या राधा के प्रति माधव का ? कहा जाता है कि वे दोनों नित नवीन प्रतीत होने वाले प्रेमीजन हैं :

"राध पै प्रेमाधिकमो माधवुनकु,
माधवुनि पैनि राध प्रेममे घनम्मो,
ई रहस्यमु नेरुगले रेवरू कूड
प्रणयमय नित्य नूत्न दंपतुलुवारु"

प्रातःकाल फूल लाने के लिए पुजारी, पुष्पवाटिका में पहुँचता है। ज्यों ही वह टहनी से फूल तोड़ने के लिए हाथ बढ़ता है, त्यों ही उसे पुष्पों की आर्तध्वनि सुनाई पड़ती है। कवि उस "पुष्प-विलाप" को इस प्रकार व्यक्त करता है, "अरे पुजारी, ज़रा ठहरो तो ! हमारी माता के मृदु अंक से हमें अलग क्यों करते हो ? क्या इस प्रकार के कृत्यों से तुम मोक्ष-धन प्राप्त कर सकते हो ? जब तुम्हारा हृदय ही पत्थर का बना हुआ है, तब यह सारी पूजा किस काम की है ? हमारे जीवन का अन्त करने वाले, तुम्हारे हाथों से भगवान् भी कैसे कुसुमांजलि स्वीकार करेंगे ?"

आगे वे स्त्री-जाति की निर्ममता प्रकट करते हुए पुजारी को फटकारते हैं : "स्त्री जाति कितनी निर्मम है ! वह हमारे कोमल शरीर को सुई से छेदती है, हमारे गले में फाँसी डालती है और फिर उसी से अपनी वेणी का शृङ्गार करती है । तुम हत्यारे और निर्दयी हो अपने शरीर की दुर्गंध दूर करने के लिए हमारे रक्त को निचोड़ कर इत्र बनाते हो । जब हमारा सुकुमार शरीर सूख जाता है, तो हमें कूड़े करकट की ढेरी में फेंक देते हो । क्या तुम्हारी मानव-जाति को न्याय-अन्याय का ज्ञान भी कुछ है ?

तुम्हारा जन्म तो उस देश में हुआ, जहाँ करुणावतार बुद्धदेव का जन्म हुआ । सौन्दर्य को देख कर आनन्द मग्न होने वाला तुम्हारा सहज हृदय लुप्त हो गया । अब तुम्हारा जन्म अछूता ही रह गया ।

"अलु दारलतो कुत्तुकलु उरि बिगिंचि
गुंडेलोनुंडि सूदुलु गत्रि कूर्चि
मुडुचुकोंदुरु मुच्चट मुडुल मम्मु
अकट ! दयलेनि वारु मी याडुवारु"

"गुंडे तडि लेक नूनेलो वंडि पिंडि
अत्तरुलु चेसि मा पेद नेत्तुरुलनु !
कंपु देहालपै गुमायिंपु कोरकु
पुलुमुकोंदुरु हंत ! मी कोलमुवारु"

"बुद्धदेवुनि भुविलोन पुट्टिनादु
सहजमगु प्रेम नीलोन चच्चेनेमि
अन्दमुनु हत्य येसेडि हंत कुंड;
मैल बडिपोये नोयि नी मनुजजन्म"

इस प्रकार सुमनों की मीठी झिड़कियाँ सुन कर पुजारी रिक्त करों से लौट जाता है ।

स्वतन्त्रताप्रिय महाकवि पोतना से 'उदयश्री' का कवि अधिक प्रभावित है । पोतना ने पैसों के लोभ में पड़ कर अपनी कविता-कन्या को, राजाओं के हाथ नहीं बेचा । इतना ही नहीं बल्कि उस समय के राजाओं को खुलेतौर पर नराधम कह कर धता-बताना कोई कम साहस की बात नहीं ।

जब राजाओं के दर्शनार्थ श्रीनाथ—जैसे 'कवि सार्वभौम' (कवियों का सम्राट्) लालायित रहते थे, उस समय पोतना का यह सोचना तो गर्व का विषय है कि परिवार के पोषण के लिए राजाओं की स्तुति करने की अपेक्षा हल जोतना उन्होंने अच्छा समझा ।

खेतों के बीच मचान पर बैठे-बैठे कविता करने वाले इस कवि-कृषक को जब "करुणश्री" देखता है तो उसके के मन में प्रश्न उठता है कि पोतना वास्तव में कवि हैं या किसान ? उनके हाथ में कलम है कि हल ! उनका निवास घर है अथवा खेत ? कवि को प्रतीत होता है कि पोतना दोनों में सिद्धहस्त हैं ।

महाकवि पोतना द्वारा रचित "भागवतम्" में नव-रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है । 'भागवत' की भाषा, शैली, शब्द-चयन, घटनाओं का वर्णन, सब व्यवस्थित हैं । 'करुणश्री' सोचते हैं कि पोतना ने अपनी कलम की नोक को मधु से सींच कर लिखा होगा । वरना इतना माधुर्य कहाँ से आ पाता ? कहा जाता है कि जब पोतना ने 'भागवत' की रचना आरम्भ की, तब पके रसाल फलों का रस उनकी कलम की नोक से अपने-आप बहने लगा ।

"मुद्दुलु गार भागवतमुन् रचियिंचुचु पंचदारलो
नद्दिति वेमो गंटमु महाकवि शेखर ! मध्य-मध्य न
हद्दक—वट्टि गंटमुन नद्दिडु गीच्चिन ताटियाकुलो
पद्देमु लंदु ई मधुर भावमुलेच्चट नुंडि वच्चुरा !

× × ×

नीवु कलमुन् गोनि काव्यमु व्राय चिंदिपो
सागिनवेमो ! तीयनि रसाल रसालु त्वदीय लेखिनिन्"

इन कविताओं के अतिरिक्त "कुन्ती कुमारी", "ऊर्मिला", "सती सावित्री", "बीदपूज", "सार्थकता" "अद्वैत मूर्ति", "सान्ध्यश्री", "प्राभाति", "राहुए सुन्दरी", "स्वेछा पुष्पालु" आदि उनकी कविताएँ भी पर्याप्त भावपूर्ण एवं हृदय को छूनेवाली हैं ।

—इ० लक्ष्मीदेवी

नं. २, टी. सिंगारा, उदालियर स्ट्रीट,
त्यागराज नगर,
मद्रास—१७

घर आँगन में

पात्र

सन्तोष—गृह-स्वामिनी
प्रदीप—सन्तोष का चाचा
हर्षा—सन्तोष की सहेली
महीप—सन्तोष का पति

[नए ढंग से सुसज्जित एक शयन-कक्ष। खिड़कियों पर हलके हरे रंग के पर्दे पड़े हैं जो बार-बार हवा के झोंकों से लहरा उठते हैं। कमरे की दीवारों का रंग भी हलकी हरी रंगत लिए हुए है। फरनीचर पुराने ढंग का है, लेकिन साफ, पॉलिश्ड और नई हालत में है। पॉर्टिको में खुलने वाला द्वार दाईं ओर है, बाईं ओर एक और द्वार है जो घर के अन्दर खुलता है। ड्रेसिंग-टेबल, दो खुली खिड़कियों के मध्य रखा है।

सपहर का समय है। ड्रेसिंग-टेबल पर रखी घड़ी चार बजा रही है। धूप की चमक में सारा कमरा रंगत में चमक रहा है। यह चमक समय के गुज़रने के साथ-साथ कम होती जाएगी और सायंकाल की छाया फैलने लगेगी।

कमरे के बिलकुल मध्य सागवान का एक नफ़ीस पलंग है। जिस पर एक सुन्दर क्लांत नवयुवती लेटी हुई है। यह सन्तोष है। प्रदीप अधेड़ उमर का एक व्यक्ति कमरे में इधर-उधर, परेशान-सा टहल रहा है।]

प्रदीप : (खीझ-भरे स्वर में) यह क्या बच्चों की-सी हरकत की, व्यर्थ में तार दे दिया। यह भी कोई बीमारी है, जिससे इतना डर रही हो।

सन्तोष : अभी तक तो डरने की कोई बात नहीं, पर चाचा जी! बात और बीमारी को बढ़ते देर नहीं लगती।

प्रदीप : (झुँझला कर) रहने दो जी यह बातें। पहले अपने होश की दवा करो। किस उच्छृंखलता से तार भेज मारा। जानती हो, तार आता है तो क्या हालत होती है? बस यह समझ लो उद्वेग और चिन्ता का एक पहाड़ टूट पड़ता है। जब तक पढ़ न लिया जाए, किसी कल चैन ही नहीं पड़ता।

सन्तोष : (बुझी-बुझी निराश आवाज़ में) आपको कष्ट और परेशानी हुई है, यह मैं जानती हूँ चाचा जी! परन्तु मैके में आपके सिवा मेरा है ही कौन जो समय-असमय मेरे काम आए?

प्रदीप : (सान्त्वना-भरे स्वर में) तो भाई मेरा भी कौन है! एक तुम ही तुम हो। ईश्वर तुम्हें दीर्घायु दे, मेरा जीवन भी तो तुम्हारी साँसों से ही है सन्तोष! मगर बात यह है कि 'ब्लड प्रेशर' सिर्फ़ डाक्टरों का एक ढकोसला-मात्र ही होता है. जो वह अपने पैसे बटोरने के लिए खड़ा करते हैं।

सन्तोष : (पलंग से उठने का उपक्रम करते हुए) कुछ भी हो. ज़रा 'प्रिकाशंज़' ले लिए जाएँ तो क्या हर्ज़ है। देखिए न मेरे दिल में हौल पर हौल उठता है और कहते हैं......।

प्रदीप : (बात काट कर) कहने दो जी जो कहते हैं। ख़बरदार! इनका विश्वास न करना, जन्म के झूठे होते हैं यह।

सन्तोष : और अगर मैं मर गई तो?

प्रदीप : मगर मरने की कोई बात तो हो बेटा?

सन्तोष : (रुँधे हुए स्वर में) मैं मरने से नहीं डरती चाचा जी। मैं अपनी जान को नहीं रोती... (कुछ कहते-कहते अचानक रुक जाती है)।

प्रदीप : (व्यंग्य से) तो किसी खिलौने के लिए रोती हो?

सन्तोष : महीप के लिए सोचती हूँ। मैं न हुई तो उसका क्या होगा?

प्रदीप : (स्वर को अत्यन्त विनम्र बना कर) कितनी नादान हो! ईश्वर न करे यदि तुम्हें कुछ हो गया तो उसका क्या बिगड़ेगा। एक नवयुवक लखपति को दूसरी पत्नी का मिल जाना कौन-सी कठिन बात है।

सन्तोष : यहीं तो आप भी भूलते हैं चाचा जी! यदि मुझे यह तसल्ली हो जाए कि मेरे बाद महीप को ढब की पत्नी मिल जाएगी तो मेरी यह ढलती साँसें बड़ी चैन से निकलेंगी।

प्रदीप : (खीज कर) ढब की? प्रत्येक स्त्री में पत्नीपन होता है, किसी में कम और किसी में ज़्यादा,

पर न होता हो, यह असम्भव है। हाँ! मुँह-फट, ईर्ष्यालु, बड़-बोली और झगड़ालू जो स्त्री न हो, वह अवश्य पत्नी बनने की योग्यता नहीं रखती—और निश्चिन्त रहो सन्तोष! हमारी मारकेट में ऐसी पत्नियाँ ढेरों मौजूद हैं। महीप के सामने, इनके खेप-के-खेप लग जाएँगे।

सन्तोष : पुरुष स्त्री को जली-कटी न सुनाए तो उसे पुरुष ही कौन कहे, परन्तु महीप के लिए ऐसी जिन्स नहीं चाहिए।

प्रदीप : वह दूध पीता बच्चा नहीं है सन्तोष!

सन्तोष : यहाँ आप दूसरी भूल करते हैं। उनके यौवन में वात्सल्य खेलता है। मेरा सहारा न हो तो वह साँस तक नहीं ले सकते। उनके छोटे-मोटे काम मैं न करूँ तो अधूरे रह जाते हैं। मैं न रही तो किसी काम के न रहेंगे वह।

प्रदीप : और यह क्यों नहीं कहती कि उसका यह निठल्लापन सब तुम्हारा किया-धरा है।

सन्तोष : (रुआँसी होकर) आप भी मुझी को दोषी बनाइए। पर यह मैं किसे बतलाऊँ कि वह चाय में शक्कर तक नहीं मिला सकते। बूट के तस्मे और नेकटाई की गिरह तक नहीं बाँध सकते। शेव का पानी न रखूँ तो हफ्तों दाढ़ी बढ़ा रखेंगे। कमीज़ में स्टड लगाना दूभर है, कालर बदलना आता नहीं और...।

प्रदीप : और की आवश्यकता नहीं...तो महीप की इन अपंगी आदतों के वेलबूटे तुम्हारे ही बनाए हुए हैं।

सन्तोष : (अमनस्क-सी) जी।

प्रदीप : तो यह सब तुम्हारा ही बोया हुआ है।

स० : जी! और इसे काटे बिना मैं नहीं मर सकती। मेरे बाद महीप का क्या होगा? (सिसकती है)

प्रदीप : देखो बेटा, मैं दो अनाथालयों का व्यवस्थापक हूँ।

स० : हँसी मत उड़ाइए चाचा जी! मैं कुछ कह रही हूँ पर आप सुनते समझते ही कहाँ है!

प्रदीप : मुझे माफ़ रखो, मैं कुछ सुनना समझना चाहता भी नहीं।

स० : न समझें आप—मेरे डेडी के भाई होकर भी आप लाख आँखें फेरिए। मगर मैंने जो बोया है, उसे काटना ही होगा।

प्रदीप : मेरे दाना भाई की नादान बेटी! ज़रा आँखें......।

स० : (बात काट कर) मेरी तो आँखें थक गई हैं, यह देख कर कि......।

प्रदीप : कि महीप मारा-मारा फिर रहा है और उसे बीबी नहीं मिलती।

स० : और......।

प्रदीप : और...(स्वर बदल कर) और यह विचार न केवल हास्यप्रद है, बल्कि निरर्थक भी। (रुक कर) तुम क्या करोगी?

सन्तोष : (बात काट कर) मैं—मेरी शर्त है जो लड़की...

प्रदीप : शर्त—बेटा पुरुषों के लिए शर्तें कोई...।

सन्तोष : (बात काट कर, उत्तेजना में) जी हाँ। सब शर्तें स्त्रियों के लिए हैं। पुरुषों की तो कोई नुकेल ही नहीं। हरिणों के समान जिधर जी चाहे चौकड़ियाँ भरते फिरें? और शर्तों से मेरा अभिप्राय यह नहीं है—बल्कि मैं तो कहती हूँ, शर्तें किसी के भी लिए क्यों हों!

प्रदीप : व्यर्थ की चिन्ता मोल ले रही हो! आजकल पत्नियाँ सारे भारत-भर में आम हो रही हैं। अच्छे पति अलबत्ता चिराग़ ले कर ढूँढ़ो तो भी नहीं मिलते। तुम ख़ातिरजमा रखो हम महीप की रुचि...।

सन्तोष : महीप की रुचि और आपकी पसन्द, मेरे भरोसे के कारिन्दे नहीं। मैं चाहती हूँ कि महीप की पत्नी को ख़ुद देखूँ, ख़ुद परखूँ और ख़ुद चुनूँ।

प्रदीप : चुनोगी भी तुम ख़ुद ही?

सन्तोष : (मुस्कुरा कर) बल्कि चुन भी चुकी।

प्रदीप : (भेदपूर्ण दृष्टि से उसके चेहरे को देखते हुए) यानी घटा देखी और छाता तान लिया।

सन्तोष : (अपने आप से) आठों पहर महीप की देख-भाल में लगी रहेगी।

प्रदीप : समझा। (निश्वास छोड़ तर) भगवान् ने तुम्हें ईर्षा, द्वेष और आह के चक्कर से बरी रखा है। (रुक कर, कुछ क्षण सोचने के पश्चात्) तो वह लड़की तुम्हारे ढब की है न?

सन्तोष : हाँ, कुछ है, कुछ नहीं।

प्रदीप : तो यूँ कहो उसे देख कर महीप को तुम्हारी याद गुदगुदाती रहेगी।

सन्तोष ; उसके रहते महीप मेरे अभाव में भी

१६५७

नहीं भूल पाएगा।

प्रदीप : ख़ैर ! यह दिल बहलाने की बातें हैं। यह तो मैंने पूछा नहीं, वह लड़की इन परिस्थितियों रज़ामन्द क्योंकर हुई ?

सन्तोष : इसी मंज़िल तक पहुँचने के लिए ही आपको तार दिया था।

प्रदीप : बेल तो वही अच्छी है जो मंढे चढ़े।

सन्तोष : यही तो आपका काम है।

प्रदीप : कब से जानती हो उसे ?

सन्तोष : मेरी सहपाठिन रही है। बड़ी प्यारी लड़की है, शर्मीली, भोली-भाली...

प्रदीप : सीधी-सादी, सौम्य सभ्य, कम जो— हो!

सन्तोष : इतनी सीधी भी नहीं कि फूहड़ कहें। चम्पालाल की लड़की है।

प्रदीप : अच्छा (विस्मित हो कर) उनसे तो मेरा परिचय भी है।

(दाएँ द्वार से गुनगुनाते हुए एक नवयुवती का प्रवेश)

सन्तोष : आओ हर्षी, लम्बी उमर है तुम्हारी। अभी-अभी तुम्हारी ही बातें हो रही थीं। इनसे मिलो, यह हैं मेरे चाचा जी और...।

(हर्षी हाथ जोड़ कर प्रदीप को नमस्कार करती है)

प्रदीप : जीते रहो बेटी, बड़ी ख़ुशी हुई है तुम्हें देख कर। कहो, चम्पालाल जी तो अच्छे हैं ?

हर्षी : सब आपकी कृपा है।

सन्तोष : कैसी ख़ुशी होती है, तुम्हें देख कर।

हर्षी : (बेज़ार-सी) यह कोई नई बात तो नहीं कह रही हो।

सन्तोष : नि:श्वास छोड़ कर) अब नया क्या और पुराना क्या।

हर्षी : क्यों क्या हुआ ?

सन्तोष : मैं कुछ दिनों की महमान हूँ, मुझे एक जान-लेवा रोग लग गया है।

हर्षी : कब से ! मैं तो तुम्हें अच्छी-भली छोड़ कर पहलगाँव गई थी।

सन्तोष : मेरी बीमारी तो एक बवाल बन गई है, न चुप ही रहा जाता है, न किसी से कहा ही जाता है। महीप तक को पता नहीं।

हर्षी : (आश्चर्य से) अच्छा !

सन्तोष : तुम चाहो तो मृत्यु-शय्या पर मेरे क्षण सुखद हो सकते हैं। मुझे इस समय तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है।

हर्षी : मेरे प्राण तक प्रस्तुत हैं, सन्तोष ! जो मेरे वश में है, उससे मुझे इनकार न होगा।

सन्तोष : तुम मुँह में उँगली दबा कर रह जाओगी !

प्रदीप : नि:सन्देह बड़ी अजीब बात है।

सन्तोष : मैं वह चाहती हूँ, जो संसार ने न कभी देखा न सुना। यह तुम ही हो, जिससे मैं यूँ बे-धड़क माँग रही हूँ, कोई और होता तो...।

प्रदीप : (टोक कर) अपनी बात कह दूँ—कोई स्त्री भी इस बात की हामी न भरेगी।

हर्षी : भई पहेलियाँ मत बुझवाओ। साफ़-साफ़ कहो आख़िर बात क्या है।

सन्तोष : मैं चाहती हूँ मेरे मरने के बाद .. चाचा जी आप . ।

प्रदीप : (व्यंग्य-भरे स्वर में) धन्यवाद ! मुझे तो क्षमा ही करो। मेरे तो बाप-दादा ने भी यह काम नहीं किया।

सन्तोष : आपको बाप-दादा से आगे बढ़ना होगा। वरना मेरी जान पर बन जाएगी।

प्रदीप : क्यों मुझे काँटों में घसीटती हो सन्तोष !

सन्तोष : दो बातें ही तो हैं। जी कड़ा करके कह डालिए।

प्रदीप : (विवश हो कर) अच्छा ! जो हो सो हो। सुनो बेटी ! सन्तोष चाहती है कि तुम इस बात पर राज़ी हो जाओ...समझी न...यानि तुम यह मान जाओ कि महीप से विवाह...।

हर्षी : क्या ? (मुँह लाल हो जाता है।) आप होश में तो हैं चाचा जी ! आख़िर शराफ़त भी कोई चीज़ है।

प्रदीप : सारी बात तो सुनी होती बेटी ! मैं आज की नहीं कह रहा, उस समय की बात कर रहा हूँ (घूर कर सन्तोष की ओर भेद-पूर्ण दृष्टि डालता है)— जब सन्तोष न होगी।

हर्षी : कैसी बातें कर रहे हैं, ज़रा सोचिए तो सही...।

सन्तोष : भगवान् के लिए इनकार न करो हर्षी ! मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर जाएगा ! मैं कहीं की न रहूँगी ।

हर्षी : (खीझ कर) चाचा जी ! आखिर एक दिन सब को मरना है—यह भी कोई ठिकाने की बात है !

प्रदीप : मैं खुद इस बात के विरुद्ध था ।

हर्षी : (उत्सुकता से) फिर ?

प्रदीप : जब सन्तोष ने तुम्हारा नाम लिया तो मैं चुप हो गया, जिस बात को असम्भव समझता था, वह सम्भव नज़र आने लगी ।

हर्षी : (उत्सुकता से) फिर ?

सन्तोष : लोगों को कहने दो, कौन पूछता है उन्हें ?

हर्षी : और कहाँ महीप और कहाँ मैं ?

सन्तोष : उसकी चिन्ता न करो चुटकियों में रीझ जाएगा ।

प्रदीप : (स्वर में व्यंग्य है) वह किस पर नहीं रीझता !

हर्षी : तुम लोगों का दिमाग़ खराब हो गया है ।

सन्तोष : ईश्वर के लिए ऐसा न कहो । कलेजा मुँह को आता है मेरा !

हर्षी : नहीं-नहीं यह काम मेरे बस का नहीं ।

सन्तोष : (बड़े विनीत स्वर में) चाचा जी !

हर्षी : मैं अब चलती हूँ ।

सन्तोष : मेरा दिल तोड़ कर जा रही हो तुम । तुम मेरी जगह पर होती तो तुम्हें पता चलता ।

हर्षी : (जल-भुन कर) मैं कभी यह बात ज़बान पर न लाती ।

सन्तोष : ऐसा न कहो हर्षी ! मेरे प्राण तुम्हारे होंठों का मुँह तक रहे हैं । तुम, मेरी न मानोगी तो...।

प्रदीप : एक बार फिर सोच लो, हर्षी बेटा !

हर्षी : सोचना तो आपको चाहिए था, जो मुझे बना रहे हैं ।

सन्तोष : अपना सर्वस्व किसी को सौंपना बनना है हर्षी ?

हर्षी : लेकिन महीप की पसन्द भी तो कोई चीज़ है । सन्तोष के आसन पर बैठने के लिए बहुत कुछ चाहिए और यहाँ कुछ भी नहीं है ।

सन्तोष : अरे छोड़ो यह जमा-खर्च ! एम. ए. करने के बाद भी यह तकल्लुफ़ न गया । चाँद-चकोरी की जोड़ी बन जाएगी ।

प्रदीप : हाँ ! ज़रा कोशिश करनी होगी (रुक कर पहले हर्षी की ओर देखता है और फिर सन्तोष की ओर) और वह हो जाएगी ।

हर्षी : और मेरी दुर्दशा होगी इस खेल में—जानती हो ?

सन्तोष : यह तुम मुझ पर छोड़ो ।

हर्षी : मैं स्वप्न में भी ऐसा न करती परन्तु...

सन्तोष : परन्तु मेरे लिए कर दिखलाओगी । (खुश हो जाती है)

हर्षी : अच्छा ! ज़रा मैं महीप को एक बार ग़ौर से देख तो लूँ ।

सन्तोष : उसकी क्या आवश्यकता है ।

प्रदीप : जहाँ तक मैं जानता हूँ, उसमें कोई ऐब नहीं ।

सन्तोष : चाचा जी !

प्रदीप : (व्यंग से) ग़लत कह रहा हूँ क्या ?

सन्तोष : है तो ठीक परन्तु हँसी का पहलू...।

प्रदीप : दो टाँगें, दो हाथ, दो आँखें, एक नाक, अन्धा, काना, गंजा, लँगड़ा लूला नहीं ।

सन्तोष : कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं । महीप जैसे सुन्दर पुरुष कम ही होते हैं ।

प्रदीप : पर हर्षी की बात सही है । वह ज़बान दे कर फिरना नहीं चाहती । क्यों हर्षी ? इसीलिए देख-भाल कर परख लेना चाहती हो ?

सन्तोष : सौदा मँहगा नहीं पड़ेगा हर्षी ! किसी दिन याद करोगी कि कोई बहन थी । तुम्हारा दिया मैं कभी न भूलूँगी —तुमने डूबती नाव को किनारे पर लगाया है ।

प्रदीप : इस आभार के व्यापार में बराबर का भागीदार मैं भी हूँ बेटी !

सन्तोष : अरे ! चाय के लिए तो मैंने पूछा भी नहीं । मैं ज़रा कह आऊँ......

(बाएँ द्वार से घर के भीतर चली जाती है ।

हर्षी : (जल-भुन कर) लिहाज़ के मारे मुँह पर कुछ न कह सकी, नहीं तो वह सुनाती कि उमर-भर याद रखती । कुत्ता भी घर में आए तो ऐसा व्यवहार

करते।

प्रदीप : देख बेटा......।

हर्षी : रहने दीजिए चाचा जी...अन्धी नहीं... कुछ देख रही हूँ...नौज...मैं न आती यहाँ...।

प्रदीप : ज़रा ठण्डे दिल से......।

हर्षी : तन-बदन में आग लगी हुई है। ठण्डा कहाँ से लाऊँ ? लाज की आँख जहाज़ से भी थी वरना...(गला रुँध जाता है) मैंने सन्तोष का बिगाड़ा था जो उसने मेरी यह गत की।

प्रदीप : शायद कहीं भूल-चूक...।

हर्षी : भूल-चूक की ख़ूब कहीं। उसने कसर ही छोड़ी ! साफ़-साफ़ कह दिया कि दुनिया-भर की में एक हूँ, जो यह ज़िल्लत उठा सकती है।

प्रदीप : हर्षी बेटा, ज़रा शान्ति से......।

हर्षी : आप मेरे घावों पर नमक तो न छिड़किए। बावली हो रही हूँ। ग़ुस्से में वाही तबाही बक रही।

प्रदीप : तो तुम यह कार्य नहीं करना चाहती।

हर्षी : (आवेश में) न करती ! कभी न करती। अब करूँगी, अवश्य करूँगी। मरती मर जाऊँगी, यह करके रहूँगी।

प्रदीप : (व्यंग से) इतनी मेहरबानी ?

हर्षी : और सन्तोष को सुख का साँस लेने दिया छोड़ेगा; तिगनी का नाच न नचाया तो हर्षी नाम नहीं।

प्रदीप : ज़रा मेरी तो सुनो बेटा ! तुम्हारे बाप का भाई हूँ। तुम बड़ी समझदार लड़की हो।

(बाएँ द्वार से महीप और सन्तोष का प्रवेश)

सन्तोष : यह हैं महीप ! मेरे पति—और यह है अभिन्न सहेली हर्षी।

महीप : बड़ी प्रसन्नता हुई आपसे मिल कर ! तो आप ही की बात करती है, हर वक्त—पर हूँ वह प्रशंसा मिथ्या नहीं है।

हर्षी : यह तो आप बनाते हैं।

महीप : तो चलिए आज बैठने का श्री गणेश से करें। आपको पसन्द है यह मनोरंजन ? को बिल्कुल पसन्द नहीं।

हर्षी : यह तो साथी की बात है, महीप जी। चीज़ भी सुन्दर लगने लगती है...(रुक कर)... अब मैं चलूँ...और हाँ अब ! किस समय आएँगे आप हमारे घर !...आप जानते हैं न......

महीप : ख़ूब जानता हूँ। एलगिन रोड के मोड़ पर। कई बार गया हूँ, पहले आपको देखा था। फिर ब्याहा गया तो...पर कभी-कभी...

हर्षी : भूली-भटकी कोई कहानी याद आ ही जाती है। यह भी ग़नीमत है...हाँ ! किस समय आएँगे आप ?

महीप : समय का क्या पूछती हैं आप ? आपकी दौलत है। कहें अभी...नहीं तो छः बजे......

हर्षी : तो फिर ठीक छः बजे......

महीप : तो चलिए आपको छोड़ आऊँ।

(बाएँ द्वार से दोनों का प्रस्थान। कमरे में चुप्पी छा जाती है, जिसे कार के स्टार्ट होने की घरर-घरर भंग करती है)

प्रदीप : (अर्थपूर्ण दृष्टि से सन्तोष की ओर देखता है) कैसे घुल-मिल गए हैं दोनों ? बातें जब आरम्भ हुई तो यह भी भूल गए कि हम भी यहाँ बैठे हैं—प्रारम्भ तो अच्छा है—बेल मंढे चढ़ती नज़र आती है।

सन्तोष : (चिन्ता युक्त स्वर में) मुझे नहीं नज़र आती। इतना अधिक मेल-मिलाप और इतनी जल्दी।

प्रदीप : तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए (व्यंग से) प्रारम्भ ही बड़ा प्रेरक है।

सन्तोष : अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। अभी तो देखना है कि ऊँट किस करवट बैठता है ?

प्रदीप : जो भी हो हम ने बाज़ी लगा दी है, अब ऊँट जाने और उसका काम।

सन्तोष : और अगर ऊँट सीधी करवट न बैठा तो...नहीं, नहीं, पर यदि कहीं हर्षी ने......।

(व्यवधान)

प्रदीप : (कुछ देर की चुप्पी को तोड़ते हुए) तुम कुछ खो सी गई हो सन्तोष ?

सन्तोष : (सम्भल कर) नहीं तो।

प्रदीप : ज़रा आईना तो देखो, मुँह उतर कर कहाँ पहुँच गया है।

सन्तोष : आवाज़ बुझी-बुझी-सी है) बीमार भी तो हूँ।

प्रदीप : हाँ ! या मौसम बदल रहा है, शायद

उसका असर हो ।

सन्तोष : (रुआँसी होकर) क्या आप चाहते हैं कि उठ कर चली जाऊँ ?

प्रदीप : मुझ से नाराज होती हो बेटी ! जो महीप के लिए दुलहन खोज रहा है ।

सन्तोष : परन्तु चाचा जी !

प्रदीप : तुम क्या जानो अच्छी और सुघड़ पत्नी कितनी बहुमूल्य और अलभ्य वस्तु है । मुझे देखो चालीस वर्ष दौड़-धूप की, हज़ारों रुपए नष्ट किए परन्तु एक भी न मिली ।

सन्तोष : आप अपनी बात छोड़िए चाचा जी, आपकी शर्तें भी तो दुनिया-जहान से निराली थीं ।

प्रदीप : (व्यंग्य भरे स्वर में, जैसे सन्तोष की बात सुनी ही नहीं) महीप कितना सौभाग्यशाली है, एक छोड़ दो अच्छी पत्नियाँ मिल गई हैं उसे ।

सन्तोष : (चौंक कर) वह पत्नी कहाँ से बन बैठी ?

प्रदीप : परन्तु पत्नी की रिहर्सल करने का अधिकार तो तुमने उसे दे दिया है ।

सन्तोष : किन्तु मुझे डर है कि कहीं वह इस अधिकार का दुरुपयोग न करे ।

प्रदीप : समझा ! अब तुम्हारे मस्तिष्क ने कोई नया गोरख-धन्धा तैयार किया है । खैर ! पर यह तसल्ली तो हो गई न जब कि तुम्हारे बाद महीप को ढब की बीवी ज़रूर मिल जाएगी ।

सन्तोष : मैं उसे समझी कुछ और थी और वह निकली कुछ और !

प्रदीप : (खीझ कर) क्या मतलब है तुम्हारा ? मुझे पागलखाने में भेजना चाहती हो । अभी कुछ देर पहले हर्षी लाजवाब लड़की थी और अब......

सन्तोष : (रो पड़ती है) मैं उसे भोली भाली समझती थी और वह मेरे भी कान काट गई ।

प्रदीप : वह कैसे ?

सन्तोष : मुझे लगता है कि वह मेरी ज़िन्दगी में ही महीप से विवाह कर लेगी ।

प्रदीप : (पिघल कर) मेरी बच्ची ! तू किन उलझनों में फँस गई है ?

सन्तोष : पर अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा । उतावली से काम लेकर उसने सारा भाण्डा फोड़ दिया ।

प्रदीप : और अब !

सन्तोष : और अब वह मेरे पति की पत्नी नहीं बन सकती ।

प्रदीप : यह इतना सहज नहीं है सन्तोष, जितना कि तुम समझती हो ।

प्रदीप : कुछ भी हो, परन्तु मुझसे यह कदापि सहन नहीं हो सकता कि वह मेरे रहते किसी अन्य लड़की के साथ सिनेमा जाए ।

प्रदीप : पर अब हो ही क्या सकता है ?

सन्तोष : यदि आप मदद करें तो सब कुछ हो सकता है । (कुछ देर चुप्पी-सी रहती है)—आप भी कुछ कहिए ?

प्रदीप : कहूँ क्या खाक ! मेरी तो अक्ल परेशान हो गई है ।

सन्तोष : तो मैं क्या करूँ चाचा जी ! मैं नहीं सह सकती (फूट-फूट कर रोती है) – मुझे बचाइए— (बाहर पोर्टिको में कार रुकने की आवाज़ आती है)— लीजिए आ गए वह भी—हाय ! अब क्या होगा ? अब मैं क्या करूँ ?

प्रदीप : तुम कुछ मत करो— पिछला किया-धरा भी सब तुम्हारा ही है । तुम दोनों को इसी समय मेरे साथ गुलमर्ग चलना होगा । वहाँ तुम दोनों का 'ब्लड-प्रेशर' ठीक हो जाएगा ।

—घनश्याम सेठी

सेठी ब्रदर्स, अमीरा कदल,
श्रीनगर (काश्मीर)

विश्व-कल्याण के लिए अपने शरीर की परवाह न करते हुए, चन्दन के समान घिस जानेवाला............सन्त होता है ।

—तुकाराम

हास्य कहानी

ज़नानी हथकड़ी

दूसरी सीट पर जो मानव-मूर्ति बैठी थी, उसका मुँ खिड़की की ओर था। शरीर पर लाल शाल लपेट ता था। कमर पर लम्बे बाल थे। अतः बहुत देर से जेश की समझ में यह नहीं आ रहा था कि सामने की ट पर बैठी मूर्ति, पुल्लिंग है या स्त्रीलिंग।

राजेश ने पर्याप्त प्रयत्न किया कि असलियत का कुछ पता चल जाए। लेकिन न चलना था, न चला और केवल पृष्ठ-भाग से पता चलना था भी कठिन ही।

पंजाब मेल जब इटारसी को छोड़ कर झाँसी की ओर चला, तब मूर्ति ने जँभाइयाँ लेनी आरम्भ कीं।

कुछ देर बाद, जँभाइयों के संग, अँगड़ाइयाँ भी आ मिलीं और इन अँगड़ाइयों और जम्भाइयों ने मिल ने शनैः शनैः मूर्ति की आँखों पर कब्ज़ा करना शुरू या। फल यह हुआ कि इस आँख-मिचौनी में उसका र कई बार खिड़की से टकराया।

जब मूर्ति ने यह देख लिया कि अब बैठा रहना ठिन है, तब उसने दृष्टि घुमाई–पीछे राजेश बैठा था।

"आप कहाँ जाएँगे, श्रीमान् जी?"

कुछ देर मूर्ति की ओर ध्यान से देख कर और निश्चय करके कि निश्चय ही यह पुरुष ही है जेश ने कहा: "आगरा।"

"यदि आप जाग रहे हों, तो मैं कुछ देर सो लूँ। द में आप आराम कर लेना।"

"खुशी से राजेश ने फिर संक्षिप्त में उत्तर दिया। जेश से और कुछ न कह कर युवक कलाबत्तू से कढ़े शाल को पैरों से सर तक ओढ़ कर सो गया। केवल कुछ लम्बे बाल शाल से बाहर हवा खाने के लिए रह गए।

राजेश जागता रहा, युवक सोता रहा। गाड़ी एक स्टेशन पर आ कर लगी। इस स्टेशन पर विद्यार्थियों की क टीम चढ़ी और कुछ दूसरे यात्री भी चढ़े।

चढ़ने वाले सबके सब इधर-उधर बैठ गए। रन्तु उस सीट पर कोई न बैठा, जिस पर युवक लम्बा-हा था। खाली जगह देख कर एक सज्जन का जी पर बैठने को ललचाया भी, लेकिन तभी एक समझदार तबीयत के विद्यार्थी ने उसे टोक दिया—"देखते नहीं, लेडी सो रही है।" इसके बाद किसी के बैठने का प्रश्न ही वहाँ नहीं रह जाता था।

गाड़ी जब इस स्टेशन से रवाना हुई तो विद्यार्थियों की टीम ने अपनी थकान उतारनी आरम्भ की। एक ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से युवक को देखा और देखभाल के बाद उसने अपनी जाँच रिपोर्ट अपने साथियों को सुनानी आरम्भ की।

"कोई बेचारी विधवा है!"

"तू ने कैसे जाना?" दूसरे ने पहले से उल्टा प्रश्न कर डाला। पहला विद्यार्थी बोला: इसलिए कि देखा, हाथ नँगे हैं, सुहाग-सन्दें उनमें नहीं।"

"यह कोई बात नहीं, वह तो कालिज की सन्दों की तरह से कभी की निरर्थक हो चुकी हैं।" तीसरे ने जवाब दिया।

"लेकिन माँग में सिन्दूर भी तो नहीं है।" पहले ने अपनी बात की पुष्टि के लिए दूसरे सुहाग-चिन्ह की ओर साथियों का ध्यान खींचा।

"अरे वाह रे भोंदू, तुझे यही पता नहीं कि सर की चीर जैसे सर से सरक कर गले में आ गया है, तैसे ही सिर का सिन्दूर खिसकते-खिसकते ओठों से आ लगा है।" दूसरे ने पहले से अपने को अधिक अनुभवी बताते हुए कहा।

"मेरी राय में कोई लड़की है।" अब की बार पाँचवें का नम्बर था। परन्तु इसकी बात को तत्काल छठे व्यक्ति ने काट दिया। वह बोला: "मिस्टर यदि लड़की होती कलाई में घड़ी अवश्य होती।"

बहुत देर तक लड़कों में इसी मामले पर संघर्ष चलता रहा कि यह विधवा है या सधवा है, या कन्या है। सबके विचार परस्पर विरोधी थे।

गाड़ी फिर रुकी। इस बार न अधिक यात्री चढ़े और न विद्यार्थियों की कोई टोली ही चढ़ी। चढ़ने वालों में केवल एक लड़की थी।

लड़की जैसे ही चढ़ी विद्यार्थियों ने बड़ी सौजन्यता दिखाई। उनमें से एक बोला—"बहन इधर बैठ जाइए।

इस सीट पर केवल एक बहन जी ही सो रही हैं। उर्वशी स्वयं भी उधर बैठने जा ही रही थी, क्योंकि उसने भी यही समझा था कि एक ही महिला पूरी सीट पर सो रही है, अतः वह उक्त विद्यार्थी को धन्यवाद देकर वहीं बैठ गई और बोली : "शायद आपकी बहन हैं।"

"नहीं।" युवक ने प्रतिवाद किया।

"तो इनमें से किसी की होगी।" लड़की का संकेत दूसरे लड़कों की ओर था।

उर्वशी के इस प्रश्न पर युवक बोला : "प्रत्येक महिला किसी न किसी की बहन तो होती ही है।"

'ठीक बात है।" उर्वशी के मुँह से निकला।

उर्वशी ने देखा। शाल में महिला का शरीर सिकुड़ा-सा पड़ा है और पैर सिकुड़ते जा रहे हैं। अतः उर्वशी के मन में दया-भावना का उदय हुआ। रात के तीन बजे थे। ठण्ड और तेज़ हो गई थी।

उर्वशी ने अपना कम्बल निकाला और आधा कम्बल सोते युवक को ओढ़ा दिया और उसका थोड़ा-सा शाल अपने पैरों पर डाल लिया।

सब लड़के चुपचाप उर्वशी की यह दया भावना देखते रहे।

कम्बल और शाल की गर्मी से उर्वशी को भी नींद के झोंके आने आरम्भ हुए। एक-दो-तीन। तीसरे झोंके में उर्वशी ने अपना सिर युवक के पैरों पर रख दिया।

पहले तो नींद की गहराई में उर्वशी के भार का पता युवक को न चला परन्तु जब उसने पैर खोलने की कोशिश की तो उन पर सोने वाले को भार लगा, और वह घबरा कर उठ बैठा।

सोने वाले के उठते ही लड़कों ने ठहाका लगाया। इस ठहाके से उर्वशी की नींद भी उचट गई। वह हड़बड़ा कर उठ बैठी। उठते ही उर्वशी की दृष्टि पहले सोने वाले पर गई।

सोने वाले को औरत के बजाय मर्द के रूप में देख कर सबसे पहिले जो उसने कार्य किया, वह था; उसके ऊपर से अपना कम्बल खींचने का। उसने जल्दी-जल्दी अपना कम्बल खींचा और सतीश का शाल अपने ऊपर से वापस हटा दिया।

उर्वशी की इस खींचतान से विद्यार्थियों की टोली ने और भी ज़ोर से ठहाका लगाया।

इस ठहाके का परिणाम यह निकला कि उर्वशी बुरी तरह झेंप गयी। क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गईं।

पहले उसने सतीश को भी विद्यार्थियों का साथी ही समझ, कड़क कर बोली : "तुम लोगों को ऐसे कुत्सित नाटक खेलते शर्म नहीं आती। एक लोफ़र को औरत बना कर लिटा दिया। जाहिल कहीं के।"

"यह आपका आक्षेप निराधार है। यह हमारे साथी नहीं, विश्वास न हो तो इन्हीं से पूछ लीजिए।" दूसरे विद्यार्थी ने कहा : "हम सबसे अधिक महिलाओं का सम्मान करते हैं, इसलिए ही तो हम भी इन्हें महिला समझ कर उधर नहीं बैठे थे।"

परन्तु उर्वशी का सन्देह यही रहा कि वह इन्हीं लड़कों का साथी है और उन्होंने ही यह नाटक रचा है। उसका यह विश्वास तब दूर हुआ, जब अगले ही स्टेशन पर लड़कों की वह सारी टोली उतर गई।

टोली के उतरने पर भी उर्वशी का क्रोध शान्त नहीं हुआ था। अतः वह आँखें तरेर कर बोली—"क्यों महाशय, आप औरतों की तरह क्यों सो रहे थे?" सतीश ने गम्भीरता से संक्षिप्त उत्तर दिया—"निश्चय ही मुझे अभी तक यह मालूम नहीं है कि औरतें बिल्कुल मेरी तरह ही सोया करती हैं।"

"हाँ-हाँ, बिल्कुल तुम्हारी तरह ही सोती हैं।" उर्वशी फिर उत्तेजित हुई। परन्तु सतीश फिर भी शान्त रहा और शान्ति से ही उसने जवाब दिया—"मैं आपकी बात का विश्वास करता हूँ, परन्तु करूँ क्या, मुझे तो बचपन से ही इस तरह सोने की आदत है।"

"लेकिन गाड़ी में तो इस तरह नहीं सोना चाहिए।" उर्वशी की झेंप क्रोध में परिणत हो चुकी थी। परन्तु सतीश से क्रोध बहुत दूर था। अतः वह फिर भी शान्त भाव से ही बोला—"गाड़ी में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि अमुक ढंग से सोइए। इस बारे में रेल्वे, यात्री की स्वतन्त्रता पर कोई पाबन्दी नहीं लगाना चाहती। किसी भी तरह कोई बैठे, किसी भी तरह लेटे। तभी तो शायद उसने लेटने या बैठने के चित्र अपने टाइमटेबिल में नहीं छापे।"

"लेकिन मुझे तो धोखा हुआ। मैंने तो तुम्हें औरत समझा था।" उर्वशी की उत्तेजना ज्यों-की- बनी रही। परन्तु सतीश फिर भी जैसे-का-तैसा ही। अतः उसने पुनः उत्तर दिया : "आपके दृष्टिकोण उत्तरदायित्व मेरे ऊपर नहीं आता। मेरी समझ में नहीं आता, आपने मुझे औरत समझा कैसे ?'

"इन लम्बे-लम्बे बालों को देख कर महाशय, बालों को समझे।" उर्वशी के दाँत आपस में बज रहे थे। "यह ठीक रही। अगर कोई लम्बे बाल रखता है तो क्या वह स्त्री बन जाता है और यदि आपकी बात मान भी ली जाए तो क्या मर्द की पहचान उसके अन्य अंगों से नहीं होती ?"

"तुम्हारे अंग खुले हुए थे क्या ?"

"वह तो मैंने ठण्ड के कारण सिकोड़े थे ?"

"यही तो मैंने ग़लती की। दया-भावना में आकर तुम्हें अपना कम्बल भी ओढ़ा दिया।"

"तुमने भी तो मेरा शाल ओढ़ रखा था। बदला गया।"

"बदला तो मैं पुलिस से लिवाऊँगी, ज़रा चलो झाँसी तक। तुम्हारे यदि हथकड़ियाँ न डलवाऊँ तो मेरा भी नाम नहीं।"

उर्वशी यह कह कर दूसरे डिब्बे में बैठने के लिए चल दी। उसको जाते हुए देख कर सतीश बोला : "भी ज़नानी ही पहनवाना।"

"सब, पता चल जाएगा ज़रा चलो आगे।" उर्वशी पुनः अपने शब्दों को दुहरा कर दूसरे डब्बे में जा बैठी।

उर्वशी झाँसी पर उतर गई। सतीश सीधा आगरे चला गया। उर्वशी ने घर जाकर अपनी भाभी सुमित्रा को गाड़ी की सारी राम-कहानी सुनानी आरम्भ की। सुमित्रा उर्वशी को बीच में टोक कर बोली : "तुम भी उर्वशी पढ़ी-लिखी लड़की बनकर बेवकूफ़ बन गई।' भोली सी बन कर उर्वशी ने उत्तर दिया : "भाभी उस दशा में अगर तुम भी उसे देखतीं तो तुम भी भूल कर जातीं। बिलकुल हाथ पैर सिकोड़े ऐसा गठरी-सा बना पड़ा था, जैसे कोई सिकुड़ी हुई लड़की पड़ी हो।" इ ना कह कर उर्वशी ने पलंग पर स्वयं लेट कर बताया कि वह इस तरह पड़ा था।

उर्वशी को फिर टोकती हुई, उसकी भाभी बोली : "लेकिन मर्द और औरत का तो पता दूर से ही चल जाता है" उर्वशी ने उत्तर दिया : "नहीं भाभी, नहीं चलता और चलता भी कैसे ? कमबख़्त के मेरे से भी लम्बे-लम्बे बाल थे।"

"तब तू ने अपना कम्बल क्यों ओढ़ाया उसे ?" भाभी ने फिर पूछा तो उर्वशी ने जवाब दिया : "बस, उसे ठण्ड में मरता देख दया आ गई।"

"भला कोई इस तरह दया भी किया करता है सफ़र में उर्वशी ! अगर कोई गुण्डा होता तो, कम्बल ही न देता—कह देता मेरा है तो क्या करती ?"

"हाँ, यह तो हो सकता था ?"

"तेरी बात सुन कर वह क्या बोला ?" भाभी ने फिर पूछा तो उर्वशी ने कहा : "बिलकुल भोला बन गया, भाभी। जैसे कोई भला आदमी हो।"

"कुछ कहा भी आखिर उसने ?" भाभी की उत्सुकता जाग रही थी।

"यही कहा—मुझे तो इसी तरह बचपन से ही सोने की आदत है ?"

"तब तो उर्वशी ! वह कोई भला आदमी ही होगा।" भाभी अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए फिर बोली : "तू उसके पैरों पर पड़ी सोती रही और उसे पता ही न चला—यह समझ में नहीं आता ?"

"हाँ भाभी, यही तो मुझे भी शक है कि वह कोई रँगा हुआ सियार था, नहीं तो भला इतना वज़न किसी के पैरों पर पड़े और उसे पता ही न चले ! इसीलिए तो मुझे और भी गुस्सा आया और मैंने कहा भी कि हथकड़ियाँ पड़वाऊंगी ज़रा चलो झाँसी।"

"तब क्या बोला ?" गम्भीर सी बन कर भाभी ने पूछा।

कहने लगा : 'ज़नानी हथकड़ियाँ ही पहनवाना।'

भाभी हँस पड़ीं। कहने लगी—"फिर तो पहनवा ही देनी थीं—क्या याद करता वह भी। "उर्वशी ने कहा—'हथकड़ियाँ तो खैर डलवा देती, परन्तु ज़नानी हथकड़ियाँ कहाँ से लातीं ?"

"क्यों उर्वशी यदि तुझे पता होता कि वह मर्द है, तब तो भला तू उसके पैरों पर क्यों सोती ?" भाभी को उर्वशी की बातों में आनन्द आ रहा था; इसलिए बात समाप्त नहीं होने देना चाहती थी।

उर्वशी बोली—"सोना ! तोड़ देती पैर भी,

अगर मेरी तरफ़ आते तो।"

"लेकिन दोष उसका कुछ भी नहीं था उर्वशी. यह बात अवश्य है।" भाभी ने अबकी बार फ़ैसला सुना दिया।

"तभी तो माफ़ कर आई, नहीं तो पता नहीं, क्या कर बैठती।" उर्वशी बोली। तीसरे दिन उर्वशी के भाई ने सुमित्रा से कहा—"आज सतीश आ रहा है। उर्वशी से कह देना किसी सहेली-वहेली के घर न जाए।"

शाम को चार बजे सतीश आया। पति-पत्नी ने उसका स्वागत किया और बैठक में आराम करने की व्यवस्था कर दी।

जिस समय भाई और भाभी सतीश का स्वागत कर रहे थे, उर्वशी किवाड़ों की ओट से झाँक रही थी। जैसे ही उसकी दृष्टि अतिथि पर पड़ी. तैसे ही उसका शरीर एक बार काँप उठा।

भीतर आ कर भाभी बोली—"उर्वशी, जल्दी से तुम कपड़े बदल लो, तब तक मैं चाय तैयार कर लेती हूँ।"

"मैं कपड़े बदल कर क्या करूँगी।" उर्वशी बोली, क्योंकि उसका साहस जवाब दे चुका था।

"तो क्या पसन्द मैं की जाऊँगी, तू कहे तो ले तू चाय बना, मैं ही पहुँच जाऊँ।" भाभी ने दिल्लगी की मुद्रा में उर्वशी की ओर देखा।

मैंने कह दिया है न, मैं नहीं जाऊँगी।" उर्वशी फिर बोली।

"क्यों नहीं जाओगी—आखिर कोई कारण भी हो?'

"बस भाभी, कह दिया हमने. नहीं जाएँगे?"

"और जब बिल्कुल ही साथ जाना पड़ेगा तब?"

"देखो, भाभी मुझे ऐसी दिल्लगी अच्छी नहीं लगती!"

"आखिर बात तो कहो क्या है?"

"बता ही दूँ।" कुछ हिम्मत करके उर्वशी ने पूछा।

"हाँ-हाँ बता दे, बिना बताए कैसे काम चलेगा।"

"तो यह वही है, जिन्हें मैंने हथकड़ी पहनाने की उस दिन गाड़ी में धमकी दी थी।"

"ज़नानी हथकड़ी पहनने के लिए जिसने कहा था—वही न?" भाभी ने हँस कर पूछा।

"हाँ-हाँ, वही—कह तो दिया, हँस काहे को रही हो?"

"तब इससे अच्छा मौक़ा और कब मिलेगा?" भाभी और ज़ोर से हँसी।

चाय आई। चाय लेकर साहस पूर्वक उर्वशी ही गई थी। उर्वशी को देखते ही सतीश के मुँह से निकला - 'अरे!' उर्वशी के भाई उस समय तक टल चुके थे।

सतीश को चौंकते देख कर सुमित्रा बोली "आप लोगों का पुराना परिचय मालूम होता है?" तत्काल सतीश ने जवाब दिया:

"जी हाँ, यह हथकड़ियाँ पहनाने का वचन दे आयी थीं। शायद भूल गयीं?'

"ज़नानी हथकड़ियाँ न?" सुमित्रा ने स्पष्टीकरण किया।

"हाँ।" सतीश ने जवाब दिया।

"फिर उर्वशी क्या देर है? डाल दो अपने ही हाथों।" उर्वशी ने काँपते हाथों से अपनी उंगली से अंगूठी उतार दी।

शादी के बाद एक दिन जब वही कम्बल उर्वशी सतीश को ओढ़ाने के लिए लाई तो सतीश ने कहा: "देखना, कहीं सोते समय मत खींच लेना!"

"औरतों की तरह सोओगे तो खींचा ही जाएगा?" उर्वशी हँस कर बोली—"कहो कैसी पहनाई हथकड़ी ज़नानी।"

—चिरंजीलाल पाराशर

१११, डासना गेट,
गाजियाबाद,

> प्रत्येक मनुष्य, मनुष्य-समाज में परिवर्तन करने की सोचता है परन्तु अपने में परिवर्तन करने का किसी को विचार तक नहीं आता।
>
> —टॉल्स्टाय

कला-चर्चा

तैल-चित्रों का व्यापार

'टाइम' में एक 'कला के व्यापारी' का विवरण प्रकाशित हुआ है। यह 'कला का व्यापारी' लौस एंजेल्स में रहता है और उसी स्थान पर अपना व्यापार करता है। वह अन्य सामान की तरह चित्रों के आर्डर तार और केबल (Cable) द्वारा भेजता है। उसके चित्र होटलों, क्लबों और सर्वसाधारण संस्थाओं के संचालक खरीदते हैं। इस 'कला के व्यापारी' का नाम है मार्टिन लोविट्ज़। उससे जब प्रश्न पूछा जाता है : "हम अपनी दीवारों पर क्या लगाएँ" तो वह उत्तर देता है : 'मौलिक, एकदम मौलिक चित्र'। मार्टिन लोविट्ज़ की आयु इस समय ६१ वर्ष की है और समस्त विश्व में उसने मौलिक तैल-चित्रों का जितना सामूहिक उत्पादन किया है, उतना किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया।

उसका 'शो-रूम' बीवर्ली हिल्स के किनारे पर है। लोविट्ज़ से किसी भी साइज़, रंग, विषय और शैली के तैल-चित्रों को प्राप्त किया जा सकता है। जितनी संख्या में चाहें, उतनी संख्या में चित्र प्राप्त किए जा सकते हैं। गत वर्ष उसने केवल होटलों को ४०,००० चित्र बेचे थे और इस वर्ष तो उसके चित्रों का व्यापार और भी तेज़ी से चल रहा है। कुछ सप्ताह पूर्व ही उसने १,१६६ तैल-चित्र बेचे हैं और उसे कई हज़ार चित्रों के आर्डर प्राप्त हुए हैं। इन तैल-चित्रों की कारखाना चित्रों से तुलना करना एक बड़ी भूल होगी। इन चित्रों में से कुछ चित्र तो श्रेष्ठ कलाकारों की शैली को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न करते हैं और कुछ चित्रकारों की अपनी ही शैली में बनाए गए हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्हें अत्यन्त शीघ्रता से और कुशलता पूर्वक बनाया गया है। इनमें से कई चित्र बड़ी बड़ी होटलों आदि में लगे हुए हैं। अपने चित्रों के सम्बन्ध में लोविट्ज़ कहता है : "मैं उन चित्रों को जो कि न्यूयार्क की किसी चित्र-प्रदर्शिनी में १,२५० डालर में बिकते हैं, १२५ डालर में बेचता हूँ। इस कारण कुछ चित्रकार और कुछ चित्रों की गैलरियों के मालिक मुझसे घृणा करते हैं। वे समझते हैं कि मैं तैल-चित्रों को बहुत सस्ता बेचता हूँ।" परन्तु होटलों के मालिक उसको बहुत चाहते हैं। उनमें से एक ने कहा : "साधारणतया हम प्रत्येक वस्तु पर इतना अधिक व्यय करते हैं कि हमारे पास होटल की दीवारों को आकर्षक रूप से सजाने के लिए कुछ द्रव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। हम लोविट्ज़ से जब कहते हैं कि दीवारों को सजाने के लिए हम इतना ही व्यय कर सकते हैं, तब वह उतने ही व्यय में हमारे लिए सुन्दर तैल-चित्रों का प्रबन्ध कर देता है।" कुछ होटलवाले तो चित्रों की सामग्री आदि को देखते हैं और कुछ चित्रों के रंगों को। कुछ तो बिलकुल आँखें बन्द करके खरीदते हैं, कुछ फ़ोन पर ही चित्रों का आर्डर दे देते हैं और कुछ चित्रों का चुनाव लोविट्ज़ पर ही छोड़ देते हैं। लोविट्ज़ को एक ही समय में सैकड़ों चित्रों के आर्डर प्राप्त होते हैं— इस कारण उसने ३०,००० चित्रों की एक सूची तैयार कर रक्खी है, जिसमें कि सब प्रकार की रुचियों का ध्यान रक्खा गया है। चित्रकला के इस व्यापारी के लिए सबसे बड़ा प्रश्न यह नहीं है कि चित्रों को किस प्रकार बेचा जाए। उसके लिए सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि किस प्रकार अधिक चित्रों को प्राप्त किया जाए। चित्रों की माँग इतनी अधिक है कि वह किसी भी प्रकार आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता। लोविट्ज़ कहता है : "अच्छे ग्राहकों को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है, जितना कि अच्छे कलाकारों को प्राप्त करना।"

लोविट्ज़ अच्छे चित्रकारों को प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। उसकी शर्तें बहुत कठोर होती हैं। उसके कलाकार को दक्ष तो होना ही चाहिए— साथ ही उसमें क्षिप्रकारिता भी रहनी चाहिए। लोविट्ज़ कहता है : 'एक दिन भी ऐसा व्यतीत नहीं होता, जब कि कोई कलाकार अपने कार्य को छोड़ कर चला नहीं जाता। ३०० या ४०० कलाकारों में से एक कलाकार

हमारे कार्य के योग्य सिद्ध होता है। मैं कलाकारों से सदा एक ही प्रश्न करता हूँ और वह यह होता है कि वे कितनी क्षिप्रता से तैल-चित्र बना सकते हैं। साधारणतया अनेक कलाकार यह समझते हैं कि वे अपना कार्य, दक्षता और क्षिप्रता से करते हैं। वे समझते हैं कि यदि एक दिन में वे पाँच या छः चित्र बना सकते हैं तो इसका यह तात्पर्य है कि वे पर्याप्त क्षिप्रता से कार्य करते हैं। मेरे पास कुछ ऐसे अच्छे कलाकार हैं जो कि प्रतिदिन २० चित्र बना लेते हैं।

लोविट्ज़ के पास ४० या पचास चित्रकार हैं। इनमें से अधिकांश अमरीका से बाहर रहते हैं। वे प्रतिदिन ४०० चित्र बनाते हैं और उनको प्रति सप्ताह ४०० डालर प्राप्त होते हैं। लोविट्ज़ सिर हिलाते हुए कहता है: "अमरीका के चित्रकार पर्याप्त कठोर परिश्रम नहीं करते। वे प्रति कुछ महीनों में, एक चित्र बनाते हैं और उस एक चित्र द्वारा विशाल धन-राशि प्राप्त करना चाहते हैं। वे क्षिप्रता से अनेक चित्र नहीं बनाते। इन चित्रों के उत्तम कोटि का होने का जहाँ तक सम्बन्ध है, लोविट्ज़ जानता है कि वे बहुत उच्चकोटि के नहीं हैं। उसे इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। उसे यह देख कर प्रसन्नता होती है कि होटलों के कमरों में से लोग उसके चित्रों को चुरा कर ले जाते हैं। लोविट्ज़ कहता है: "इससे यह तो ज्ञात होता है कि लोग अच्छे आर्ट की क़द्र करते हैं और अपने घरों को अच्छे चित्रों से सजाना चाहते हैं।"

२

कार्टून और हास्य

कार्टून, हास्य को क्यों उत्पन्न करते हैं? इस सम्बन्ध में 'न्यूयार्क टाइम्स की एक रिव्यू' में एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में श्रीयुत मालकम मगारज ने लिखा है: "मैं ऐडिटर की मेज़ पर बैठ कर पिछले चार वर्षों से इस बात पर विचार कर रहा हूं कि क्या कारण है कि हम कार्टूनों को देख कर हँस पड़ते हैं। कई बार कई कार्टून मेरे पास लाए गए हैं और मुझसे यह प्रश्न किया गया है कि क्या इन कार्टूनों को देख कर हँसी उत्पन्न हो सकेगी? एक बात मुझे अनुभव से ज्ञात हुई है और वह यह है कि एक मनुष्य को जो वस्तु हास्यजनक प्रतीत होती है, दूसरे को वह बिलकुल हास्यजनक नहीं प्रतीत होती। दूसरे शब्दों में हास्य के लिए कोई विशेष प्रतिमान नहीं हो सकता।

संभवतः इस प्रश्न पर विचार करते हुए, हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि हास्य किन स्थितियों से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए एक मोटे आदमी को लीजिए। सभी देशों में, सभी युगों में और सभी तरह के लोगों में मोटापा हँसी को उत्पन्न करता रहा है। मैं समझता हूँ कि एक मोटा मनुष्य हँसी की मूर्ति होता है। हम जब किसी मोटे आदमी पर हँसते हैं तो इसका यह अर्थ होता है कि हम व्यक्तिगत रूप से उस मनुष्य पर नहीं परन्तु मनुष्य की इस प्रकार की स्थिति पर परिहास करते हैं। मैं समझता हूँ कि हमारे प्रत्येक प्रकार के परिहास में चाहे वह लिखित हो या रेखाओं में—यही अवस्था होती है।

सेक्स के विषय में भी यही बात है। युगों से किसी-न-किसी रूप में इस विषय से मनुष्य विनोद करता आ रहा है। मनोविज्ञान के पंडित हँसी का विश्लेषण करते हुए हमें बतलाते हैं कि इसके द्वारा मनुष्य को भय से मुक्ति प्राप्त होती है। मैं समझता हूँ कि इसमें बहुत-कुछ सचाई है। प्रत्येक मनुष्य को मृत्यु से भय होता है और यह स्वाभाविक है और हँसी के द्वारा हमारा यह भय बहुत-कुछ कम हो जाता है। यदि कोई हाईड्रोजन-बम के विषय में सचमुच कोई अच्छा परिहास कर सके तो हमारा इस बम से भय बहुत—कुछ कम हो जाएगा और विश्व के नेताओं के शिखर-सम्मेलनों की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। मुझे तो कम से-कम इस प्रकार के परिहास को प्रकाशित करने में बड़ी प्रसन्नता होगी।

मैं प्रायः इस बात को सोचता रहता था कि मध्य-युग के गिरजा-घरों के निर्माताओं ने पानी निकलने के लिए विचित्र सी मूर्तिया क्यों बनाई थीं? मैं समझता हूँ कि ये मूर्तियाँ भी एक प्रकार के कार्टून ही थे। और भी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जो कि कार्टूनों को हास्यजनक बनाती हैं। इनमें से एक वस्तु है: अप्रत्याशिता। दूसरा है: अभिमान। तीसरा है: मूर्खता या पागलपन।

इन सब बातों को कहने के पश्चात् मैं समझता हूँ कि कार्टूनों के हास्यजनक होने का सबसे सरल कारण यह है कि हम इस बात को अनुभव करते हैं कि मनुष्य मरणशील है और इस हास्य में वे तत्त्व होते हैं जो कि उसके इस मृत्यु-आतंक को कुछ कम कर देते हैं।

चिट्ठी-पत्री

(१)

शिक्षा में परिवर्तन

मई, १९५७ की 'अजन्ता' में आपका 'शिक्षा में परिवर्तन' टिप्पणी पढ़ी। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि डा० सम्पूर्णानन्द-जैसे महानुभाव भी अब वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के हिमायती बन गए हैं। प्रशासन का रूप ही कुछ इस प्रकार का है कि जो उसमें पड़ता है, वह प्रशासन का ही हो जाता है और वह प्रशासन की प्रशंसा करना आरम्भ कर देता है। उर्दू के कवि अकबर ने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था—उसकी सचाई को, अवस्थाओं के परिवर्तन के पश्चात् भी, उसी प्रकार अनुभव किया जा सकता है :

"मेरे सैयाद की तालीम की है धूम गुलशन में
यहाँ जो आज फँसता है वो कल सैयाद होता है"

श्रीयुत डा० सम्पूर्णानन्द कहते हैं : "यह पद्धति उन प्रतिमानों के आधार पर निकाली गई जो आज भी दूसरे देशों में मौजूद है।" हम पूछते हैं कि क्या यह शिक्षा पद्धति भारतीयों को सुशिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के उद्देश्य से प्रचलित की गई थी? इसका उद्देश्य मुख्य रूप से यह था कि अंग्रेज़-शासकों को अपना शासन चलाने के लिए, जिस प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता थी, उस प्रकार के व्यक्ति उन्हें लगातार प्राप्त होते जाएँ। यही कारण है कि हमारे देश के शिक्षणालयों का सम्बन्ध प्रशासन से है। हमारे समस्त देश में कितने शिक्षणालय ऐसे हैं, जिनका विकास राष्ट्र ने स्वयं किया है? राष्ट्र की शिक्षा जब तक राष्ट्र के हाथों में स्वयं नहीं होती, तब तक हमारे देश में शिक्षा के प्रश्न को हल कर सकना असम्भव है। शिक्षा के क्षेत्र में कुछ इस प्रकार की अवस्था हो गई है कि राष्ट्र अपनी शिक्षण संस्थाओं को चलाने में सर्वथा असमर्थ हो गया है। शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी सहायता के बिना किसी प्रकार का नवीन परीक्षण तक करना असम्भव-सा हो गया है। जितने नामी-गिरामी शिक्षणालय हमारे देश में चल रहे हैं, उन्हें या तो सरकार स्वयं चला रही है और या फिर वे सरकारी सहायता के आधार पर चलाए जा रहे हैं। ये शिक्षणालय सरकार के आधार पर खड़े हैं—अपने आधार पर नहीं। इसके विपरीत युनाइटेड किंगडम में, जितने विश्व-विद्यालय हैं, वे अपने संचालन में सर्वथा स्वतन्त्र हैं। सत्य तो यह है कि प्रशासन का शिक्षा से कम-से-कम सम्बन्ध होना चाहिए।

हैदराबाद —कश्चित्

(२)

मासिक पत्रिकाएँ

'मई' की 'अजन्ता' देखी। बड़ी प्रसन्नता हुई। 'अजन्ता' को नियमित-रूप में पढ़ने से यह अनुभव हो रहा है कि यद्यपि इस पत्र का संपादन-कार्य सराहनीय है, तथापि इस पत्र की व्यवस्था में और उन्नति अपेक्षित है। मैं समझता हूँ कि इसके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं, फिर भी 'अजन्ता' हिन्दी-मासिक पत्रों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

'मई' के अंक में श्री वीरेन्द्रकुमार, इंदौर का पत्र पढ़ा। हिन्दी-पत्रों की व्यवस्था को उन्नत किया जाना चाहिए। फिर भी हिन्दी की कई पत्रिकाएँ व्यवस्थित रूप से बिलकुल समय पर निकलती हैं।

ज्ञात होता है कि पत्र-लेखक ने इस अव्यवस्था के मूल कारण पर विचार नहीं किया है। हिन्दी के अधिकांश मासिक-पत्र घाटे पर चलते हैं। उच्च-कोटि के साहित्यिक पत्रों को सफलता के साथ चलाने के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता है। इनके विषय साहित्यिक और सांस्कृतिक होते हैं जिनमें साधारण जनता की विशेष दिलचस्पी नहीं होती है। ऐसी परिस्थिति में घाटा न होगा तो और क्या हो सकता है? पत्र-संचालक

व्यवस्था-विभाग पर जैसा व्यय करना चाहिए; वैसा नहीं कर पाते, किन्तु अब इस व्यवस्था को शीघ्रातिशीघ्र दूर करने का उपाय सोचा जाना चाहिए।

लगे हाथ तेलुगु-पत्रों की हालत लीजिए। दैनिक पत्रों की बात छोड़ कर, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रों को ही लीजिए। कहानियों अथवा जासूसी कहानियों से भरी पत्रिकाएँ ठीक समय पर अथवा कभी-कभी नियत-तिथि से पहले ही प्रकाशित हो जाती हैं और तुरन्त बिक भी जाती हैं एवं दूसरी ओर कई ऐसी साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं, जिन्हें असमय में ही बन्द कर देना पड़ता है। तेलुगु पत्रिकाओं में, मद्रास से निकलनेवाली 'भारती' एक ऐसी पत्रिका है, जो समय के थपेड़ों को सहती हुई चली आ रही है। कारण यह कि श्री नागेश्वरराव पन्तुलु ने उसे पर्याप्त अर्थ-सहायता दी है फलतः अब उसने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

अतः हमें पत्रिकाओं की अव्यवस्थाओं पर भी सहानुभूति-पूर्वक विचार करना चाहिए।

आशा है कि 'अजन्ता' अपनी व्यवस्था को संपादन के समान ही आदर्श बनाएगी।

सिकन्दराबाद — बी. कात्यायनी देवी

(३)

हिन्दी नाटक प्रतियोगिता

हिन्दी में अभिनय योग्य नाटक-लेखन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से, थियेटर सेन्टर (कलकत्ता) ने नवम्बर, १९५६ में इस प्रतियोगिता का आयोजन किया था। जिसमें विभिन्न लेखकों के ३८ नाटक आए। निर्णायक-मण्डल ने इन समस्त नाटकों पर प्रतियोगिता के नियमों को दृष्टिगत रखते हुए, पूर्णरूपेण विचार करने के बाद यह मत प्रकट किया कि चूँकि प्रतियोगिता में कोई भी नाटक ऐसा नहीं आया है, जो वास्तव में प्रथम श्रेणी का, अभिनय-योग्य नाटक कहा जा सके। इसलिए पुरस्कार की रक़म निम्न तीन नाटक-लेखकों में निम्न प्रकार वितरण कर दी जाए :

१. "नए हाथ" (श्री विनोद रस्तोगी, कानपुर) रुपए ५००)

२. "चाय पार्टियाँ (श्री सन्तोषनारायण नौटियाल, अलीगढ़) रुपए ३००)

३. "कला और कृपाण" (डा० रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद) रुपए २००)

जैसा कि विदित ही है,— प्रतियोगिता के निर्णायक मण्डल में सर्वश्री अहीन्द्रचौधरी, ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, प्रेमेन्द्र मित्र, मोहनसिंह सेंगर, शचीन्द्रसेन गुप्त, शम्भु मित्र, प्रफुल्ल राय, कल्याणमल लोढा और भँवरमल सिंघी थे।

प्रतियोगिता के कार्य में लेखकों और पत्र-पत्रिकाओं का जो सहयोग प्राप्त हुआ, उसके लिए सेन्टर सबका आभारी है। यद्यपि इस प्रतियोगिता में ऐसा नाटक नहीं आया जो समस्त दृष्टियों से सफल कहा जा सके, फिर भी हमारा विश्वास है, इससे अभिनय योग्य नाटक-लेखन की दिशा में प्रेरणा और प्रोत्साहन अवश्य मिलेगा। पुरस्कार की राशि "अनामिका" जो कलकत्ता की एक प्रमुख सांस्कृतिक-साहित्यिक संस्था है, द्वारा प्रदान की गई है, जिसके लिए सेन्टर उसका आभारी है।

३१।ए, चक्रबेरिया रोड (साउथ),
कलकत्ता—२५ —भँवरमल सिंघी

(४)

'अजन्ता' बराबर मिल रहा है। इस कृपा के लिए सभा तथा पाठकों की ओर से कोटिशः धन्यवाद।

आशा है भविष्य में भी इसी प्रकार कृपा बनाए रखें।

नागरी प्रचारिणी सभा,
आगरा
—तोताराम शर्मा 'पंकज'

(५)

भूल-सुधार

मई का 'अजन्ता' प्राप्त हुआ। कविता के शीघ्र प्रकाशन के लिए धन्यवाद।

कविता के साथ मेरा नाम 'केशू' छापा गया है जब कि पांडुलिपि में मैंने 'केशु' लिखा था। मेरा सही नाम – केशु ही है। इसी नाम से मैं विभिन्न पत्रों में लिखा करता हूँ। आशा है अगले मास 'अजन्ता' में भूल-सुधार के अन्तर्गत इसका उल्लेख करने की कृपा करेंगे।

—केशु

केन्द्रीय पुस्तकालय,
भूपाल

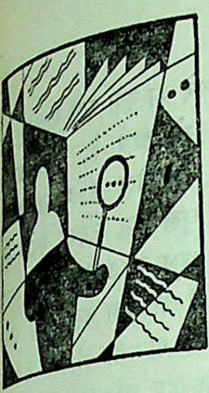

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम भेजी जानी चाहिए]

पद्माकर कवि (चुने हुए छन्दों सहित जीवनी
और समालोचना)

लेखक : शुकदेव दुवे
प्रकाशक : साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड,
इलाहाबाद

मूल्य : २.५०

भारतवर्ष की बहुत-सी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में इस प्रकार के कई प्रमुख साहित्यकार और कवि हैं, जिनकी वे भाषाएँ मातृभाषा नहीं थी और जिन्होंने उन भाषाओं में इस प्रकार की रचनाएँ सृष्ट की हैं, जिनके द्वारा न केवल उन भाषाओं का साहित्य अपितु वे भाषाएँ भी सम्पन्न और समृद्ध हुई हैं। हिन्दी में पद्माकर भट्ट भी इसी प्रकार के कवि हैं। पद्माकर भट्ट का हिन्दी पर जिस प्रकार असाधारण अधिकार था, उसे देखते हुए इस बात की कौन कल्पना कर सकता है कि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं थी। पद्माकर के पूर्वज दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। वे दक्षिण के तैलंगन के रहने वाले थे। पद्माकर का जन्म १८ वीं सदी के उत्तरार्ध में १७५३ ई. में हुआ। उन्होंने अपने विषय में स्वयं लिखा है :

"भट्ट तिलंगाने को, बुन्देलवासी कवि,
सुजस प्रकासी 'पद्माकर' सुनामा हौं"

यद्यपि अनेक आलोचक पद्माकर कवि के काल को हिन्दी कविता का ह्रास-काल कहते हैं परन्तु उस समय पद्माकर को अपनी कविता के लिए जो प्रोत्साहन, पुरस्कार और सम्मान प्राप्त हुआ वह उन्हें भी प्राप्त नहीं हुआ जो कि Poet Loureate हैं या जिन्हें नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ है। पद्माकर के वंश में उनके एक सवैया को "लखिया" कहा जाता है। इस सवैया के लिए उन्हें एक लाख रुपया दिया गया था। स्वर्गीय लाला भगवान दीन ने पद्माकर के सम्बन्ध में लिखा है : "सब मिला कर पद्माकर को छप्पन गाँव, छप्पन हाथी और छप्पन लाख रुपए विभिन्न राजाओं से मिले थे।" इनके सम्बन्ध में कहा जाता है : "ये जहाँ कहीं भी जाते, बड़े ठाट-बाट से जाते थे। बड़े लाव-लश्कर के साथ ये बाहर निकलते थे। इनके साथ एक बड़ा दल होता, जिसमें कई हाथी, ऊँट, घोड़े, रथ और मनोरंजन की सामग्री—दो-चार वेश्याएँ भी—रहती थीं। एक बार वे पूरे लाव-लश्कर के साथ जयपुर से बाँदा जा रहे थे। रास्ते में बाँदा वालों ने समझा कि कोई राजा आक्रमण करने आ रहा है। उनका भ्रम दूर करने के लिए उन्होंने निम्न कवित्त सुनाया :

"सूरत के नाह कहे, कोऊ नरनाह कहे,
कोऊ कहे मालिक ये मुलुक दराज के
राव कहै कोऊ, उमराव पुनि कोऊ कहै,
कोऊ कहै साहिब ये सुखद समाज के
देखि असबाब मेरो भरमैं नरिन्द सबै,
तिन सों कहे मैं बैन सत्य सिरताज के
नाम पद्माकर' डराउ मत कोऊ भैया,
हम कविराज हैं प्रताप महाराज के"

पद्माकर अपने सम्मान के प्रति अत्यधिक जागरूक थे। एक बार चरखारी के राजा ने उनसे भेंट करना अस्वीकार कर दिया। इस अपमान से पद्माकर को बहुत आघात पहुँचा और उन्होंने भविष्य में किसी भी राजा-राव से न मिलने का निश्चय कर लिया। उसी समय उन्होंने निम्न लिखित कवित्त लिख कर राजा साहब के पास भिजवा दिया :

"तुम गढ़ क़िल्ला सदा जोर करि जीतत हो
पिंगल, अमरकोश जीतत जहाज हैं
तुम सदा साम. दाम, दण्ड, भेद न्याव करो,
चारों वेद हमहूँ सुनावत समाज हैं
हाथी, घोड़े, रथ, ऊँट पैदल तुम्हारे साथ
राखत सदा ही हम छप्पै छन्द साज हैं
तुम सों औ' हम सों बराबरी का दावा गिनौ,
तुम महाराज हौ तो हम कविराज हैं"

'महाराजाओं से बराबरी का दावा करना' इस बात को स्पष्टतया प्रदर्शित करता है। वे अपने आप को, किसी महाराजा से, किसी भी प्रकार कम नहीं समझते थे। पद्माकर भट्ट की कवि के रूप में एक महाराजा को यह ललकार, हिन्दी-काव्य-साहित्य की अपूर्व और अप्रतिम निधि है और इससे पद्माकर भट्ट के साहस, वीरता और आत्म-सम्मान का पता चलता है :

"तुम सों औ' हम सों बराबरी को दावा गिनै
तुम महराज हौ तो हम कविराज हैं"

इनकी मृत्यु ८० वर्ष की आयु में १८३३ ई. में हुई।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक ने पद्माकर के वीर-रस के वर्णन के सम्बन्ध में लिखा है : "...वीर रस के वर्णन में तो कहीं-कहीं इनकी रचना नितान्त शब्दाडम्बर की खाल ओढ़ कर उछलती-कूदती चलती है। उनमें पद्माकर जादूगर के शब्द आपस में ही मुक्का-मुक्की, धक्का-धुक्की करते दीख पड़ते हैं।" लेखक ने "भाषा-चयन तथा सजीवता की दृष्टि से पद्माकर की तुलना......अंग्रेज़ी में वर्ड्सवर्थ" से की है जो ठीक नहीं है। वर्ड्सवर्थ की भाषा बोलचाल की और अत्यन्त सरल है। उसमें किसी भी प्रकार का शब्दाडम्बर नहीं है।

पद्माकर कवि की 'गंगा-लहरी' की निम्न पंक्तियों में गंगा के सम्बन्ध में 'धूल उड़ने' का मुहावरा हमें कुछ ठीक नहीं जँचा। पद्माकर लिखते हैं :

"जहाँ जहाँ मैया तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहाँ-तहाँ पापन की धूर उड़ि जात है"

गंगा! जहाँ जहाँ तेरी धूल उड़ जाती है—वहाँ पापों की धूल उड़ जाती है। पता नहीं पद्माकर के समय "धूल उड़ जाना" मुहावरे का क्या अर्थ था परन्तु इस मुहावरे का इस समय जो अर्थ है, उसके अनुसार तो यह एकमात्र शब्दों का खेल ही प्रतीत होता है, क्योंकि एक तो गंगा की धूल क्या उड़ेगी क्योंकि गंगा तो जलरूप है और जल धूल को उड़ाता नहीं—शान्त करता है और दूसरा 'पापों की धूल उड़ जाना' इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली' में भी तलवारों की झनकार से अधिक शब्दों की झनकार सुनाई देती है। इसी प्रकार के शब्दों के प्रयोग कुछ अन्य काव्यों में भी मिलते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय इसी प्रकार की कुछ वर्णन-शैली ही बन गई थी। हिन्दी के काव्यों में युद्ध का वर्णन किन किन शैलियों में किया गया है—इस पर तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है। इसमें संदेह नहीं कि पद्माकर की कविता में 'तुक-विन्यास' कहीं कहीं इतना अधिक है कि वह भी कवियों की अतिशयोक्तियों की तरह हास्यास्पद हो गया है।

"तान तुक ताला हैं, विनोद के रसाला हैं
सुबाला हैं, दुसाला हैं, बिसाला चित्रसाला हैं"

इस प्रकार का 'तुक-विन्यास' जहाँ उस समय की प्रवृत्ति को प्रदर्शित करता है—वहाँ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि पद्माकर भट्ट की कविता इसी के कारण सुगमता से लोगों की ज़बान पर चढ़ गई और उसे इतनी लोक-प्रियता प्राप्त हुई।

आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक पद्माकर भट्ट कवि की कविता को समझने और पढ़ने में सहायक हो सकेगी। पद्माकर भट्ट के पूर्वज तेलंगाने के रहनेवाले थे और यह सम्भव है कि उनके घर में तेलुगु का व्यवहार रहा हो—यद्यपि वे बुन्देलखण्ड के निवासी हो गए थे। पद्माकर भट्ट की तरह और भी ऐसे कवियों की कविता आदि के ग्रन्थों को प्रामाणिक और शोभन ढंग से सम्पादित किया जाना चाहिए जो अ-हिन्दी प्रदेशों के थे और जिन्होंने हिन्दी-काव्य-साहित्य को गौरवान्वित किया है।

Contemporary Indian Literature

प्रकाशक : साहित्य अकादमी,
नई दिल्ली
मूल्य : २.५०

इस प्रकार की पुस्तकों की परम-आवश्यकता है।

कि जिनसे एक ही स्थान पर समस्त भारतीय भाषाओं और साहित्य के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त हो सके। इनसे न केवल भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य से परिचय हो सकेगा और तुलनात्मक अध्ययन में सहायता प्राप्त हो सकेगी अपितु अपनी भाषा और साहित्य को यथार्थ रूप से समझने में भी सुविधा होगी। हमारा यह विश्वास है कि हमें अपनी भाषा और उसके साहित्य का यथार्थ रूप से अध्ययन करने के लिए अन्य भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता है। इस दृष्टि से साहित्य अकादमी के इस प्रकाशन को हम अभिनन्दनीय समझते हैं। इस प्रकार की पुस्तकों को अंग्रेज़ी में प्रकाशित करने की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि भारतीय भाषाओं में। मूल रूप से लेखकों से लेख अंग्रेज़ी में लिखवाए जा सकते हैं और बाद में भारतीय भाषाओं में उनका अनुवाद किया जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में ए से ज़ेड के क्रम से भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के सम्बन्ध में एक-एक लेख प्रकाशित किया गया है। सबसे पूर्व आसामी के साहित्य को और सबसे अन्त में संस्कृत के साहित्य को लिया गया है। इस पुस्तक की भूमिका भारतवर्ष के उपराष्ट्रपति श्रीयुत एस. राधाकृष्णन ने लिखी है। पुस्तक के समस्त लेख यद्यपि विद्वानों के द्वारा लिखवाए गए हैं तो भी ये सब लेख एक कोटि के नहीं हैं। कई लेखों को पढ़ने से तो ऐसा ज्ञात होता है कि वे इस बात को प्रदर्शित करना चाहते हैं कि उनकी भाषा या साहित्य अन्य भाषाओं से कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसलिए उनमें प्रोपेगैण्डा की कुछ गंध आती है; जो कि साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में उचित नहीं प्रतीत होता। इन लेखों में कुछ इस प्रकार के कथन भी हैं जो एक अपरिचित और साधारण पाठक के लिए भ्रामक सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार की पुस्तक से जो लाभ होने चाहिएँ, वे मुख्यतया ये हैं कि एक तो भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के सम्बन्ध में प्रामाणिक ज्ञान, दूसरा इन भाषाओं को निकट लाने का प्रयत्न करना, क्योंकि भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में प्रायः एक ही प्रकार की विचारधाराएँ प्रवाहित होती रही हैं और तीसरा इस प्रकार की साहित्यिक सामग्री उपस्थित करना है, जिससे कि इन भाषाओं के साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन में सहायता प्राप्त हो सके। इन लेखों को इस दृष्टि से नहीं लिखा जाना चाहिए कि जिससे यह अनुभव हो कि इन भाषाओं में किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा है। कई लेखों में कई ऐसे विवादास्पद प्रश्नों को उठाया गया है, जिनका उठाना इस प्रकार की पुस्तक में समुचित नहीं प्रतीत होता।

इन सब बातों के होते हुए भी हम साहित्य अकादमी के इस प्रकार की पुस्तक को प्रकाशित करने के प्रयत्न की सराहना करते हैं। साहित्य अकादमी को इस प्रकार की पुस्तकें भारतीय भाषाओं में अधिक-से-अधिक प्रकाशित करनी चाहिएँ। इस एक पुस्तक पर उसकी इतिश्री नहीं हो जानी चाहिए। हमारा तो यह भी आग्रह है कि इस प्रकार की पुस्तकों में लेख किसी एक व्यक्ति से ही नहीं लिखवाए जाने चाहिएँ, क्योंकि एक लेखक से इस प्रकार के लेखों को लिखवाने में यह होता है कि वह अपने विचारों को अधिक महत्त्व देता है, जिससे साधारण पाठकों को यह ज्ञात तक नहीं होता कि कोई अन्य पक्ष भी है और उसका परिणाम यह होता है कि भाषा और साहित्य का संकुचित दृष्टिकोण उपस्थित होता है। इस प्रकार के लेख आलोचक की दृष्टि से नहीं लिखे जाने चाहिएँ और न इस प्रकार लिखे जाने चाहिएँ कि जिससे यह अनुभव हो कि लेखक अपने निर्णय या Judgement को पाठकों के ऊपर लाद रहा है। इन लेखों में सर्वथा बेलाग दृष्टि से साहित्यिक सामग्री को इस प्रकार उपस्थित किया जाना चाहिए कि पाठक उसके सम्बन्ध में अपनी सम्मति स्वयं बनाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि एक लेख को तीन या चार साहित्यकारों से एकत्रित रूप में लिखवाया जाए। इससे दृष्टिकोण स्वतः व्यापक हो जाएगा और पूर्वाग्रह या निर्णयात्मक विचारों या भावनाओं की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाएगी। तीन-चार विद्वानों के मिल कर लिखने के कारण उनकी प्रामाणिकता भी बढ़ जाएगी। भारतीय भाषाओं के साहित्य के सम्बम्ध में नियमपूर्वक प्रामाणिक पुस्तकों का प्रकाशन साहित्य अकादमी द्वारा किया जाना चाहिए और ये पुस्तकें भारत की समस्त भाषाओं में प्रकाशित की जानी चाहिएँ। प्रस्तुत पुस्तक में एक अध्याय "India writing in English" पर लिखा गया

है जिसमें Indo-Anglian Literature भारतीय अंग्रेज़ी साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। डा० सी. आर. रेड्डी ने इस साहित्य के सम्बन्ध में कहा है: "Indo-Anglian literature is not essentially different from Indian literature" भारतीय अंग्रेज़ी साहित्य को आधार रूप से भारतीय साहित्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। भारतीयों ने फ़ारसी में भी पर्याप्त साहित्य का निर्माण किया है। इसी प्रकार पोर्चुगीज़ और फ्रेंच हुकूमत होने के कारण इन भाषाओं में भी भारतीयों ने साहित्य-रचना की है। यदि भारतीयों द्वारा लिखित कुछ इन साहित्यों की चर्चा भी कर दी जाती तो उपयुक्त होता।

छेड़-छाड़ (शिष्ट हास्यात्मक पद्य-संग्रह)

रचयिता : हृषीकेश चतुर्वेदी
प्रकाशक : रत्नदीप प्रकाशन,
चौबे जी का कटरा, किनारी बाज़ार,
आगरा
मूल्य : १.७५

वैसे तो हँसी-दिल्लगी या विनोद समाज सोसाइटियों में चलता ही रहता है, क्योंकि यदि हँसी-दिल्लगी न हो तो जीवन नीरस हो जाता है परन्तु हास्य विशेषकर शिष्ट हास्य सुलभ वस्तु नहीं है। इसी ओर लक्ष्य करते हुए प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने कहा है: "हँसना-हँसाना नहीं कोई हँसी-खेल है।" उर्दू के कवि दाग़ ने दिल्लगी के सम्बन्ध में कहा है:

"दिल्लगी दिल्लगी नहीं नासह,
तेरे दिल को अभी लगी ही नहीं"

श्रीयुत हृषीकेश चतुर्वेदी की कविताओं में इस प्रकार की दिल्लगी है जो दिल से निकली है और दिल को लगती है। यह हँसी-एकमात्र मज़ाक या हँसने के लिए नहीं है—उसमें गम्भीरता है, चोट है, व्यथा है और इसीलिए उनकी हँसी एकमात्र हँसी नहीं है। कई लोग हँसी भी ऐसी करते हैं कि उनका अर्थ समझ में नहीं आता हँसी प्रायः निरर्थक होती है। ऐसी हँसी कम ही होती है जो सार्थक हो। श्रीयुत हृषीकेश चतुर्वेदी का हास्य सरस और अर्थपूर्ण है और इसलिए वह ओठों से दिल पर उतर जाता है। श्रीयुत हृषीकेश चतुर्वेदी जी के विषय और बातें प्रतिदिन की हैं परन्तु उन्होंने इन प्रतिदिन की बातों को कुछ इस ढंग से सरलता और विनोदपूर्वक चुटकियाँ लेते हुए कहा है कि जिससे ओठों पर हँसी दौड़ जाती है, दिल में गुदगुदी और टीस उत्पन्न हो जाती है और उन्हीं प्रतिदिन की बातों में नवीनता उत्पन्न हो जाती है।

उनकी यह उक्ति कितनी मौलिक और कितनी मर्मस्पर्शी है:

"क्यों निशि में नभ-जौहरी!
तू उडु-गण-मणि-माल
दिखा उलूकोंको रहा
सोते जब कि मराल"

इसी प्रकार 'प्रगति-युग' की पुकार में:

"ज्ञान नहीं—"विज्ञान" कर रहा,
नव युग का निर्माण
पिता मूर्ति है हाड़-मांस की;
देव नहीं पाषाण है
भगिनी, पत्नी में न प्रकृति-कृत,
कोई भेद-विधान है
सुनो 'प्रगति-युग की पुकार',
अब "नर-पशु एक समान है"

मद्य-पान के सम्बन्ध में निम्न उक्ति कितनी सही और कितने पते की है:

"सुन लो ये ध्यान से बयान जैसा है
फिर लेना जान मद्य-पान ऐसा है
मोरी में पड़े पूछते हज़रत थे स्वयं
"कहिए, जनाब का मिज़ाज कैसा है"

उनकी "लाला-लीला", "बरात या डाका", "गवैया कवि", 'कविराज', "कवि-सम्मेलन आदि कविताएँ पढ़ते ही बनती हैं। "महाकवि" में निम्न पंक्तियाँ:

"सफ़ाचट मूँछ, लम्बे बाल,
मुख पर क्रीम, कुछ लाली
नए नर-सिंह का 'मेक-अप',
बनाना किससे सीखे हो

× × ×

तुम्हीं हो तुम, तुम्हारी बात की,
क्या बात ! क्या कहना
बनाना बात का, पर सच,
बताना किससे सीखे हो"

और इसी कविता में "धर्मपत्नी" का अर्थ उनकी नैतिक सूझ है ।

श्रीयुत हृषीकेश चतुर्वेदी अपने और अपनी कविताओं के सम्बन्ध में कहते हैं :

"'अलमस्त' खिलौना हैं ज़माने के लिए
पीते हैं भंग ज़माने के लिए
देते हँसाइयों से ये खल-दल को रुला
गाते रुबाइयाँ हैं हँसाने के लिए"

इन पंक्तियों में लेखक ने अपने व्यक्तित्व और अपनी रचना की विशेषता का स्वयं चित्रण कर दिया है ।

सबरस

लेखक : मुल्ला वजही
सम्पादक : श्रीराम शर्मा
प्रकाशक : दखनी प्रकाशन समिति, हैदराबाद
मूल्य : ६.००

'सबरस' सन् १६३६ ई. में लिखा गया । मुल्ला वजही इस पुस्तक में अपने सम्बन्ध में लिखते हैं : "कलाम का साहब, इलहाम का साहब, हरेक काम का [illegible] । रोशन ज़मीर, साहब तदबीर । हर फ़न में [illegible] ।...आशिकों का रहनुमा...मजलिस का सिंगार ।" 'सबरस' की कहानी लाक्षणिक है और कहानी की दृष्टि से उसमें कुछ विशेष आकर्षण नहीं है । उसमें नैतिकता और आध्यात्मिकता है । मुल्ला वजही ने इस पुस्तक की कहानी को फ़ारसी कवि वाहिया इब्न सीबक फ़त्ताही की पुस्तक "हुस्न व दिल" से लिया है । इस पुस्तक के सम्बन्ध में श्रीयुत डा० अब्दुल हक़ ने लिखा है "...वजही फ़त्ताही से बहुत पीछे रह गया है"—यद्यपि मुल्ला वजही स्वयं अपनी इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखते हैं : "...यो किताब सब किताबाँ का सरताज, सब बाताँ का राज । जिसमें है कुछ इश्क़ का दर्द, इस किताब कूँ सीने पर ते हिलासी ना ।...अगर दीन होर दुनिया का उम्मीद पाने मँगता है तो यो किताब देख ।...यो अजब नज़्म और नस्र है...सतर-सतर पर नूर, हर एक बोल में है यक हूर ।" यद्यपि 'सबरस' पुस्तक गद्य में है परन्तु उपर्युक्त पंक्तियों से पता लगता है कि वह इस पुस्तक को ऐसे ढंग से लिखना चाहता था जो 'नज़्म भी हो और नस्र' भी—इसलिए इसमें वाक्य छोटे-छोटे हैं और इसमें क़दम-क़दम पर अनुप्रास और तुक की योजना है । यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए तो क्या यह उचित नहीं होगा कि इस पुस्तक को 'गद्य और पद्य' दोनों की एक नवीन मिश्रित शैली का नमूना माना जाए, क्योंकि यह न तो गद्य ही प्रतीत होता है और न ही पद्य प्रतीत होता है । पुस्तक गद्य में लिखी गई है परन्तु उसकी शैली पद्य की सी है । मुल्ला वजही ने इसके सम्बन्ध में स्वयं लिखा है : "यो (किताब) अजब नज़्म होर नस्र है" इसलिए इसे उसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए । इस पुस्तक को एकमात्र गद्य की समझना ठीक नहीं प्रतीत होता । गद्य में एक प्रकार की स्वाभाविकता होती है और पद्य में बनावट । इस पुस्तक की शैली में एक प्रकार की बनावट है । निस्सन्देह इसमें कोई बहर या छन्द नहीं है और इसी कारण इसे गद्य की माना जाता है । वास्तव में यह गद्य-पद्य की मिली-जुली एक मिश्रित शैली है । सम्भव है कि इस शैली को भी फ़ारसी से लिया गया हो । लेखक ने इस बात का संकेत किया है कि उसे 'सबरस' लिखने की प्रेरणा सुलतान अब्दुल्ला कुतुबशाह से प्राप्त हुई—परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रेरणा उसे फ़ारसी की पुस्तकों से ही प्राप्त हुई । यह होते हुए भी इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि मुल्ला वजही की शैली, भाषा और वर्णनों में मौलिकता है । यद्यपि पुस्तक दखनी में है और कहानी में विशेष आकर्षण नहीं है तो भी लिखने की शैली इतनी काव्य और कला से पूर्ण है और लेखक के विचार, अन्वीक्षण इतने सूक्ष्म और गम्भीर हैं कि लेखक की प्रतिभा की विलक्षणता पर मुग्ध होना पड़ता है और जो कुछ मुल्ला वजही ने अपने और इस पुस्तक के सम्बन्ध में कहा है, उसमें कुछ अतिशयोक्ति नहीं प्रतीत होती । पुस्तक की प्रस्तावना ६६ पृष्ठ की है और परिश्रमपूर्वक लिखी गई है—यद्यपि उसमें कुछ विषय ऐसे हैं जो कि विवादास्पद हैं । पुस्तक के सम्पादक और प्रकाशक दोनों साधुवाद के पात्र हैं ।

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद

—वंशीधर विद्यालंकार

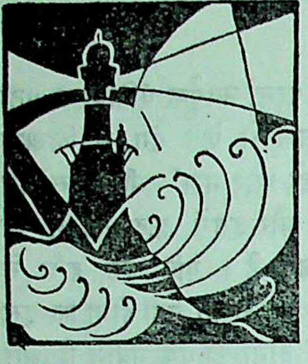

सामयिक

॥

पुस्तकों की आलोचना

मद्रास के अंग्रेज़ी पत्र ''हिन्दु'' में श्रीयुत डा० कृष्णलाल श्रीधरानी का ''पुस्तकों की आलोचना की कला'' पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

''...पुस्तकों के आलोचक को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह पुस्तक के लेखक और पाठक के बीच का आदमी है। वह उस मधु-मक्षिका के समान है जो कि मधु का संग्रह करती है; वह स्वयं फूल नहीं है।

एक नियमित रूप से पुस्तक के आलोचक का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह पाठकों को इस योग्य बना सके कि वे अध्ययन के लिए पुस्तकें चुनने के लिए समर्थ बना सके। एक पुस्तक का आलोचक ही सर्व-साधारण के ध्यान को उसकी विशेषताओं की ओर आकृष्ट कर सकता है। आलोचक में सबसे प्रथम गुण नम्रता का होना चाहिए। यह संभव है कि जिन पुस्तकों और लेखकों की उसे आलोचना करनी पड़े, वे उनके अपने प्रतिमानों से हीन हों। उसे इस प्रकार की पुस्तकों को आलोचना के लिए नहीं चुनना चाहिए परन्तु वह जिन पुस्तकों को चुने उनके लिए उसके हृदय में आदर की भावना होनी चाहिए। उसका दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए।

पुस्तक के आलोचक का यह कार्य नहीं है कि वह लेखकों के विचारों या, आदर्शों या भावनाओं के प्रति असहनशील हो। वह लेखक की साहित्यिक अयोग्यता के प्रति असहनशील हो सकता है। इस कारण उसमें साहित्यिक योग्यता होनी चाहिए, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वह स्वयं एक मौलिक साहित्यकार हो।

पुस्तक के आलोचक को अपनी सीमाओं का ज्ञान होना चाहिए। जो आलोचक उपन्यास, कहानी या कविता की पुस्तकों की आलोचना करता है उसे भौतिक शास्त्र और ज्यामिति की पुस्तकों की आलोचना नहीं करनी चाहिए। पुस्तक के आलोचक को किसी-न-किसी विषय का विशेषज्ञ होना चाहिए, और तभी उसकी आलोचना का महत्व हो सकता है।

पुस्तक-आलोचक की समीक्षा विशिष्ट और उसी पुस्तक के सम्बन्ध में होनी चाहिए। यह आलोचना इस प्रकार की नहीं होनी चाहिए जो कि सामान्य या साधारण प्रकार की हो। अस्पष्ट प्रशंसा या निन्दा से पाठक को विशेष लाभ नहीं होता। उसकी आलोचना सुस्पष्ट और सुबोध होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि उसे अपनी आलोचना ऐसी भाषा में लिखनी चाहिए जो सर्व-साधारण के लिए सुबोध हो; उसकी भाषा इस प्रकार की नहीं होनी चाहिए जो कि दुर्बोध या क्लिष्ट हो या ऐसी हो कि यह प्रतीत हो कि वह एक प्रकार के शॉर्ट-हैण्ड में लिखी गई है। इसमें वह लेखक से भी अधिक सीमाओं में आबद्ध है।

आलोचना में सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह प्रामाणिक हो और सर्वथा ईमानदारी से की गई हो। वह अव्यक्तिगत होनी चाहिए। पुस्तक-आलोचक एक प्रकार का साहित्यिक रिपोर्टर होता है और इसलिए उसे अपना कार्य ईमानदारी और सत्यता से करना चाहिए।

इससे पूर्व कि वह किसी पुस्तक को आलोचना के लिए चुने, उसे उसी विषय की अन्य पुस्तकों से भी आवश्यक परिचय होना चाहिए। एक पाठक को तुलनात्मक अध्ययन से बड़ी सहायता प्राप्त होती है और विशेषतया यदि वे पुस्तकें अपने क्षेत्र में प्रतिमान के रूप में समझी जाती हैं। पुस्तक-आलोचक को सबसे पूर्व पुस्तक के गुणों और विशेषताओं की ओर ध्यान देना चाहिए और उसके पश्चात् ही उसका मूल्यांकन करना चाहिए।

१६५७

हमारे देश में पुस्तकों की आलोचना की कला अभी प्रारंभिक अवस्था में है। बहुत-से पुस्तकों के आलोचकों को अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व का ज्ञान नहीं है। एक पुस्तक-आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह पसन्दीदा पुस्तक के विषय में, पाठकों के हृदय में पढ़ने की रुचि को जाग्रत करे। उसे उस पुस्तक की आलोचना नहीं करनी चाहिए, जिसके प्रति उसका दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण नहीं है। एक पुस्तक-आलोचक का कार्य निर्माणात्मक होना चाहिए—विध्वंसात्मक नहीं। उसे आदर्श-आलोचक बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए उसे एक पुस्तक के विषय में इस प्रकार आवश्यक जानकारी पाठकों को देनी चाहिए कि उस पुस्तक की विशेषताओं का पाठकों को यथार्थ ज्ञान हो सके। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो पुस्तक अभी प्रकाशित हुई है, उसका सहानुभूतिपूर्ण परिचय पाठकों को शीघ्र से शीघ्र प्राप्त होना चाहिए। अमरीका और इंग्लैण्ड में एक पुस्तक के प्रकाशन की तिथि से एक मास पूर्व ही आलोचकों की आलोचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। अतः यह होता है कि पुस्तक जिस दिन प्रकाशित होती है, उसकी आलोचना भी उसी दिन प्रकाशित हो जाती है। इस प्रकार पाठकों को इस बात का ज्ञान प्राप्त होता रहता है कि कौन कौन-सी नवीन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। हमारे देश में कभी-कभी तो ऐसा होता है कि एक पुस्तक की आलोचना पुस्तक के प्रकाशित होने के एक वर्ष बाद तक नहीं होती और जब वह प्रकाशित होती है, तब तक पुस्तक-भण्डार अपने यहाँ से इन पुस्तकों को हटा चुके होते हैं। ऐसी अवस्था में पुस्तकों की आलोचना का कुछ विशेष प्रयोजन नहीं रहता।"

॥

इंग्लैण्ड धनी देश है

श्रीयुत हैरी हौपकिन्स ने कुछ समय पूर्व इंग्लैण्ड के कुछ भागों की यात्रा की थी। उसने इस सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है "इंग्लैण्ड धनी देश है"। इस पुस्तक की आलोचना दिल्ली के अंग्रेज़ी पत्र "हिन्दुस्तान टाइम्स" में प्रकाशित हुई है। उसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है:

"यह पुस्तक उस यात्रा का एक आनन्दपूर्ण विवरण है जो कि हैरी हौपकिन्स ने इंग्लैण्ड के कुछ भागों में की थी। उसने यह यात्रा इस उद्देश्य से की थी क्योंकि वह अपने देश के लोगों की वर्तमान स्थिति से वास्तविक रूप से परिचय प्राप्त करना चाहता था! वह यह जानना चाहता था कि वर्तमान समय में जो परिवर्तन हुआ है उसका इंग्लैण्ड की सर्व-साधारण जनता पर क्या प्रभाव पड़ा है।

वह मिडलैण्ड्स से होता हुआ लिवरपूल तक गया और वहाँ से लंकाशायर और कम्बरलैण्ड होता हुआ सीमावर्ती क्षेत्र में गया। उसके पश्चात् उसने दक्षिणी भागों की यात्रा की—वह टाइन से न्यूकैसल, जैरो, शील्ड्स और यौर्कशायर गया। उसने नगरों और औद्योगिक केन्द्रों का विशेष रूप से पर्यवेक्षण किया और उसने अपनी इस पुस्तक में इन स्थानों का विशेष रूप से वर्णन किया है।

इन समस्त स्थानों में लोगों के जीवन में नीरस एकरूपता नहीं है। लोगों का जीवन विभिन्नता से पूर्ण है। पुराने क्षेत्रीय भेद अभी तक सर्वथा समाप्त नहीं हुए हैं और लोग अभी अपनी पुरानी परम्पराओं पर गर्व करते हैं। लेखक ने अपनी यात्रा में सैकड़ों लोगों से बातचीत की। वह साधारण श्रमिक-वर्ग, फैक्टरियों के व्यवस्थापकों, किसानों, सरकारी अफ़सरों और प्राचीत वस्तुओं के संग्रह करने वालों से मिला। उसने लोगों को काम करते हुए देखा और उसने उन्हीं के आधार पर इस पुस्तक को लिखा है। पुस्तक में एक पृष्ठ भी एसा नहीं है जो की नीरस हो।

इंग्लैण्ड में सर्व-साधारण ने अपने आप को बदलती हुई अवस्थाओं के अनुकूल बना लिया है। उन्होंने अपने जीवन के प्रतिमानों को क़ायम रखने के लिए नए प्रयत्न किए हैं। उदाहरण के लिए उसने वाइकूम को लिया है। यहाँ प्रत्येक प्रकार की कुर्सियाँ तैयार होती हैं और विश्व के प्रत्येक देश को भेजी जाती हैं। इसी प्रकार ड्यूज़बरी इस समय मोटे पत्थर के व्यापार की राजधानी बना हुआ है। इन मोटे पत्थर में से अंग्रेज़ लाखों रुपया पैदा कर रहे हैं।

वर्तमान अणु-युग की नई समस्याओं को बड़ी कुशलता से हल किया जा रहा है। नैशनल इन्शूरेन्स के सम्बन्ध में जो कार्य हुआ है वह दर्शनीय है। न्यूकैसल में एक बहुत बड़ी इमारत बनाई गई है। न्यूकैसल ही

नहीं—समस्त ब्रिटेन में यह देखने के योग्य है। यह ६४ एकड़ में फैली हुई है और यहाँ ७००० कार्यकर्ता काम करते हैं।

पुस्तक में इस प्रकार के केन्द्रों का सजीव वर्णन किया गया है, जिससे कि अंग्रेज़ सर्वसाधारण जनता के चरित्र की विशेषताओं का ज्ञान होता है।"

॥

दक्षिण की भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन

बुक इण्डस्ट्री काउन्सिल ऑफ़ साउथ इण्डिया के जनरल सेक्रेटरी श्रीयुत एस. आर. श्रीनिवासन ने अपनी एक विज्ञप्ति में भारतवर्ष के दक्षिण-प्रदेश की भाषाओं में पुस्तकों के प्रकाशन के विकास, इतिहास और समस्याओं पर कुछ प्रकाश डाला है। इस में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"दक्षिण भारत में पुस्तकों का प्रकाशन आधुनिक समय में प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार अन्य प्रदेशों में पुस्तकों का प्रकाशन व्यक्तिगत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हुआ, उसी प्रकार दक्षिण की भाषाओं में भी प्रकाशन व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर हुआ। ये व्यक्ति प्रायः लेखक और प्रकाशक स्वयं ही होते थे। इन लेखकों के प्रिय विषय पौराणिक, शैव और वैष्णव साहित्य थे। मदुराई तमिल संगम ने तमिल साहित्य पर कई पुस्तकें प्रकाशित की थीं परन्तु अब संगम का नाम-निशान तक नहीं रहा।

एक और संस्था थी। उसका नाम भावानन्दम् एकेडेमी था। इस एकेडेमी ने तमिल की कई श्रेणिक और कहानी की पुस्तकों को नोट और टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया था। इस एकेडेमी के संस्थापक श्रीयुत भावानन्दम् पिल्ले थे। ये तमिल-साहित्य के प्रेमी थे। २० वर्ष हुए उनकी मृत्यु हो गई थी। तब से इस एकेडेमी की ओर से एक भी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई।

१६ वीं शती के अन्त और २० वीं सदी के प्रारम्भ में जब हमारे देश में पश्चिम-देशों के ढंग पर शिक्षा दी जाने लगी, तब से अनेक ब्रिटिश पुस्तक-प्रकाशकों ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया, जिनमें ब्लैकी एण्ड सन्स, लौङ्गमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस और थौमस नेल्सन एण्ड सन मुख्य थे। जब पाठ्य-पुस्तकों की माँग बढ़ने लगी ईसाई मिशनरियों ने स्थानीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा, क्योंकि वे उनके द्वारा ईसाई-धर्म का सुगमता से प्रचार कर सकते थे। ईसाई मिशनरियों ने स्थानीय भाषाओं में पुस्तकों को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। पर्सीवल की इंग्लिश और तमिल डिक्शनरी, पोप की व्याकरण-सम्बन्धी पुस्तकें और बाइबल के स्थानीय भाषाओं में संस्करण इसी समय प्रकाशित हुए।

जब शिक्षा-विभाग की ओर से सब स्कूलों के लिए आदेश जारी किए गए और वर्नाक्युलर बुक सोसाइटी की स्थापना हुई तो इस सोसाइटी की ओर से कृष्णमाचारी रीडरें प्रकाशित की गईं। लौंगमैन्स और मैक्मिलैन (और बाद में दूसरे ब्रिटिश पुस्तक-प्रकाशकों ने भी) स्थानीय भाषाओं में पुस्तकों को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। मैक्मिलैन एण्ड कम्पनी ने हरिहर ऐयर की तमिल और तेलुगु की प्रवेशिका और लौंगमैन्स ने नागोजी राव की तमिल और तेलुगु की प्रवेशिका को प्रकाशित किया। इन दोनों पुस्तकों की बिक्री हज़ारों की संख्या में हुई।

पहले पहल भारतीय केवल पुस्तक-विक्रेता का ही काम करते थे—यद्यपि टी. वी. चेलप्पा शास्त्री ने पुस्तक-प्रकाशन के कार्य को भी प्रारम्भ कर दिया था। जिन पुस्तक-विक्रेताओं ने प्रारम्भ में ही पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था, उनमें से सी. कुमारस्वामी नायडू, मद्रास और टी. वंकाजी कुप्पुस्वामी, टेप्पाकुलम् मुख्य थे। वे तमिल-रीडरों को प्रकाशित करते और इसके साथ अन्य विषयों की पाठ्य-पुस्तकें भी। प्रथम फ़ार्म से अंग्रेज़ी का अध्ययन प्रारंभ होता था और अंग्रेज़ी की पुस्तकों का प्रकाशन ब्रिटिश-प्रकाशकों के हाथ में था। केवल पुस्तकों का चिल्लर व्यापार पी. आर. रत्न ऐयर एण्ड कम्पनी (जो अब समाप्त हो गई है), सी. सुब्बय्या चेट्टी, ट्रिप्लिकेन, पी. वरदाचारी मद्रास, ई. एम. गोपालकृष्ण कोने, मदुरा आदि प्रमुख थे। १६०६ ई. में एस. एस. एल सी योजना प्रारम्भ की गई थी और स्थानीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। परिणाम स्वरूप अनेक पुस्तक-विक्रेता पुस्तक-प्रकाशक बन गए। इस विषय में इण्डियन पब्लिशिंग हाउस

लिमिटेड के सम्बन्ध में विशेष रूप से कहने की आवश्यकता है। इसकी स्थापना १९२० के लगभग हुई। दो व्यक्ति—एक स्कूल-मास्टर और एक ब्रिटिश फ़र्म के घूमने-फिरने वाले प्रतिनिधि (Travelling representative) ने कुछ मित्रों और शिक्षा-शास्त्रियों की सहायता से एक प्रकाशन-संस्था को लिमिटेड संस्था के रूप में प्रारंभ किया। यह आशा थी कि यह संस्था अपने कार्य में इतनी अधिक सफल होगी कि ब्रिटिश फ़र्मों को टक्कर देगी परन्तु इस हाउस को अपने कार्य में विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई। यह संस्था अब भी किसी-न-किसी प्रकार चल रही है और यह अपना व्यापार बहुत छोटे परिमाण में कर रही है।

सामान्य साहित्य के प्रकाशकों में शैव सिद्धान्त पब्लिशिंग हाउस, परिनिलयम्, शक्ति कार्यालयम् (ये समस्त प्रकाशन संस्थाएँ मद्रास की थीं) और तमिल की पुस्तकों के लिए; मंगलोदयम् लिमिटेड. त्रिचूर, दि नेशनल बुक स्टॉल. कोट्टायम्, और मातृभूमि, कोझीकोडे मलयालम् की पुस्तकों के लिए; काव्यालय, मैसूर, संयुक्त कर्नाटक, हुब्बली मनोहर ग्रन्थमाला, धारवाड़ और दि स्टैण्डर्ड बुक डिपो, बैंगलोर कन्नड़ की पुस्तकों के लिए कार्य कर रही थीं।

अब स्थानीय भाषाओं में साहित्य के प्रकाशकों का भविष्य उज्वल है और अब इस क्षेत्र में जो लोग कार्य या प्रवेश कर रहे हैं, वे अपना कार्य सुचारु और स्वस्थ रूप में ढंग से कर सकेंगे।

प्रकाशकों के सामने जो प्रश्न हैं, वे कई प्रकार के हैं। उनमें से मुख्य प्रश्न ये हैं: (१) लेखकों का चुनाव (२) अच्छे मुद्रक को प्राप्त करना (३) अच्छे काग़ज़ को उपयुक्त मूल्य और समय पर प्राप्त कर सकना (४) योग्य वितरक को उपलब्ध करना (५) पढ़नेवाली जनता में अभिवृद्धि करना।

(१) **लेखकों का चुनाव :** लेखकों में केवल अच्छे और योग्य लेखकों का चुनाव किया जाना चाहिए। उनको अपनी पाण्डुलिपि को तैयार करने के लिए प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। इसके लिए लेखक को पर्याप्त पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए।

(२) **मुद्रक का चुनाव :** इस समय कुछ अच्छे और सम्पन्न प्रकाशक ही अच्छे मुद्रकों से अपनी पुस्तकों का प्रकाशन करा सकते हैं। कुछ तो पुस्तक का प्रथम संस्करण अच्छे मुद्रकों से कराते हैं परन्तु पुस्तक के बाद के संस्करण ऐसे मुद्रकों से कराते हैं जो अनुभव और आवश्यक साधनों से रहित होते हैं। परिणाम यह होता है कि पहले संस्करण के बाद के संस्करण उस स्तर के नहीं होते जो कि प्रथम संस्करण का होता हैं। इस सम्बन्ध में इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि अच्छे प्रकाशकों को, अपने प्रकाशनों को प्रकाशित करने में देरी हो जाती है और प्रकाशन की तिथियों का पालन नहीं होता। इसके लिए अच्छे मुद्रकों को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है।

(३) **काग़ज़ :** कई प्रकाशकों को, विशेषतया नवीन प्रकाशकों को; अच्छे और ठीक साइज़ का काग़ज़ समुचित मूल्य में प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। यदि प्रकाशक अपनी सहकारी समिति बना लें और अपने सदस्यों की आवश्यकता की पूर्ति करें तो प्रकाशकों को समुचित मूल्य में और समय पर अच्छा काग़ज़ प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक पुस्तक के लिए साइज़ और कोटि को निर्धारित कर दिया जाना चाहिए। प्रकाशकों को काग़ज़ उधार प्राप्त करने की भी सुविधा प्राप्त होनी चाहिए।

(४) **वितरण :** पुस्तकों के व्यापार के लिए वितरक की आवश्यकता को सुगमता से समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध में प्रकाशक को ध्यानपूर्वक और गम्भीरता से विचार करना चाहिए। एक प्रकाशक को वितरक का चुनाव बड़ी सावधानी से करना चाहिए।

(५) **पढ़ने वाली जनता की अभिवृद्धि :** यद्यपि हम इस प्रश्न को सबसे अन्त में लाए हैं तो भी प्रकाशक के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐसी पुस्तकों को प्रकाशित करने से कोई लाभ नहीं है, जिन्हें कि कोई पढ़ता नहीं है। प्रकाशक को चाहिए कि वह अपनी पुस्तक से प्राप्त लाभ के कुछ हिस्सों को पाठक-जनता की अभिवृद्धि पर इस प्रकार व्यय करे कि आवश्यकता के अनुसार पुस्तक सर्वत्र उपलब्ध हो सके। एक प्रकाशक पर अपनी पुस्तकें को जनता तक पहुँचाने और उनकी बिक्री का उत्तरदायित्व है।

इस सम्बन्ध में दक्षिण की बुक इंडस्ट्री काउन्सिल भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है और अपने सदस्यों की उपर्युत समस्याओं को हल करने में सहायता प्रदान कर सकती है।"

सम्पादकीय

हिन्दी का भावी रूप

आल इंडिया रेडियो ने कुछ समय पूर्व "हिन्दी के भावी रूप" पर छः वार्ताएँ प्रसारित की थीं। सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार के पब्लिकेशन डिवीज़न ने इन वार्ताओं को एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया है। इन वार्ताओं में दो वार्ताएँ ऐसे विद्वानों द्वारा लिखवाई गई हैं, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है—शेष चार वार्ताएँ ऐसे विद्वानों द्वारा लिखवाई गई हैं, जिनकी कि मातृभाषा हिन्दी नहीं है। हिन्दी का भावी रूप हिन्दी के साहित्यकार और लेखक बनाएँगे—या कि भारतवर्ष की विशाल जनता, जिसके सम्पर्क में हिन्दी आएगी—अधिकतर विचारकों की विचार-धारा इन्हीं दोनों केन्द्र-बिन्दुओं का आधार लेकर चली है। एक विशाल देश में जब एक भाषा का सर्वत्र प्रयोग होता है, तब उसमें परिवर्तन होने स्वाभाविक और आवश्यक हैं परन्तु यदि इन परिवर्तनों को खुली छूट दे दी जाए तो वह एक ही भाषा इतने रूप धारण कर लेगी कि वह उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा जिसके लिए कि समस्त देश में एक भाषा की आवश्यकता को अनुभव किया जाता है। जब हम एक देश में एक भाषा की आवश्यकता को अनुभव करते हैं, तो स्वाभाविक तौर पर उस भाषा की एकरूपता का प्रश्न भी उसके अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि यदि भाषा की एकरूपता न रहे तो भाषा के एक होने के प्रश्न का कुछ विशेष महत्त्व ही नहीं रह जाता। इस एकरूपता के लिए भाषा को मानित (Standardised) करना पड़ता है। बोलचाल की भाषा में उच्चारण और व्याकरण आदि के भेद हो सकते हैं, परन्तु जो भाषा मानित है, उसमें अधिकांश में विभिन्नता नहीं हो सकती। उनमें जो भेद होते हैं, वे जब तक मानित न स्वीकार कर लिए जाएँ, तब तक उनका प्रयोग साहित्यिक भाषा के स्तर पर समुचित नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार प्रकृति ने स्वाभाविक रूप में अनेक वस्तुएँ उत्पन्न की हैं—परन्तु मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार उनमें काँट-छाँट कर, उन्हें अपने व्यवहार-योग्य बना लेता है—इसी प्रकार भाषा यद्यपि प्रकृति द्वारा प्रदत्त है तो भी उसमें मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन कर उसे अपने व्यवहार के योग्य बनाता है। जन-समाज जहाँ भी एकत्रित होकर संगठित रूप में रहता है, वहाँ उसकी पोशाक, भोजन, निवास और अन्य उपयोग की आवश्यक वस्तुएँ मानित और एकरूप हो जाती हैं। भाषा के सम्बन्ध में भी यही बात है। इसे हम कृत्रिमता कह कर उड़ा नहीं सकते। यदि हम इसे कृत्रिमता कहेंगे तो यह कृत्रिमता स्वाभाविक है; क्योंकि इसके बिना मनुष्य संगठित रूप में किसी भी प्रकार अपने जीवन को संचालित नहीं कर सकता। 'मानित' का अर्थ यह नहीं है कि इसमें परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। इसका अर्थ इतना ही है कि एक मानित भाषा में परिवर्तनों को भी मानित होना पड़ता है। मानित होने की छाप प्रमाणिक और माने हुए साहित्यकार या लेखक ही लगाते हैं। यही कारण है कि जब किसी शब्द के मानित या प्रामाणिक होने के सम्बन्ध में बहस होती है तो किसी-न-किसी प्रामाणिक या मानित लेखक का हवाला देना पड़ता है। भाषा बोल-चाल के रूप में उतनी मानित नहीं होती, जितनी कि साहित्य के रूप में। इसलिए इस प्रकार की भाषा का निर्माण साहित्यकार या लेखक ही करते हैं और यदि हम इस दृष्टि से विचार करें तो साहित्यकार एकमात्र साहित्य का ही निर्माण नहीं करता, वह भाषा का भी निर्माण करता है और इस प्रकार वह एकमात्र साहित्यकार ही नहीं भाषाकार भी होता है। हिन्दी, पहले ही भारतवर्ष के पर्याप्त विस्तृत भू-भाग की भाषा है और इसी आधार पर वह समस्त भारत की राष्ट्रभाषा निर्धारित की गई है और यदि वह इतने विस्तृत भू-भाग पर एक मानित रूप में प्रचलित हो सकती है तो कोई कारण नहीं है कि वह भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों में उसी रूप में प्रचलित न हो सके। इस विस्तृत भू-भाग में जिसे कि हिन्दी का प्रदेश कहा जाता है—बोलियाँ एक प्रकार की नहीं हैं। उनमें शब्दों के उच्चारण, लिंग और क्रिया आदि के प्रयोगों में पर्याप्त

१९५३

है और उसका प्रभाव हिन्दी की मानित भाषा पर नहीं पड़ता—ऐसी बात नहीं है परन्तु इतने पर भी भाषा की एकरूपता अक्षुण्ण रूप से बनी हुई है और उसका प्रतिदिन विस्तार होता जाता है। नए-नए शब्द भाषा में प्रवेश कर रहे हैं और उनमें अनेक प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं परन्तु इन परिवर्तनों का भाषा के आधार या गठन पर कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यदि भाषा की गठन में ही परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाए—तो फिर इन अवस्थाओं में भाषा की एकरूपता की रक्षा नहीं की जा सकती। जिस भाषा में एकरूपता नहीं है, वह समस्त देश में ऐक्य की भावना को भी स्थिर नहीं रख सकती।

इस सम्बन्ध में डा० सुनीति कुमार चटर्जी अपनी प्रसारित वार्ता में कहते हैं: "...हिन्दी का चालू व्याकरण कहाँ तक परिवर्तित हो कर भविष्य की हिन्दी होगी, यह विचारणीय है। मेरे विचार में दो प्रकार की हिन्दी का रूबरू क़ायम हो जाना असम्भव बात नहीं है: एक शुद्ध व्याकरणानुसार हिन्दी, जैसी कि अब चालू है, जो पछाँह की ओर सम्भवतः अब के हिन्दी-संसार की प्रादेशिक भाषा बन कर ठहरेगी; और दूसरे लघु हिन्दी जिसमें से लिंग-भेद, क्रिया के कर्मणि प्रयोग और वचन और नाम-शब्दों के परग्राही रूप आदि निकाल दिए जाएँगे। ऐसी लघु शैली की हिन्दी कम-से-कम मौखिक "बोली" के रूप में भारत की एक मामूली राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करेगी।"

जहाँ तक "मौखिक बोली" का सम्बन्ध है, प्रादेशिक विभिन्नताओं और उनकी अपनी भाषाओं की गठन के अनुसार भारत के अ-हिन्दी प्रदेशों में हिन्दी भाषा के बोलने में जो परिवर्तन अभिलक्षित होते हैं, उसका मुख्य कारण यह है कि अभी तक वहाँ हिन्दी-भाषा का ज्ञान. जितना बोल चाल से प्राप्त किया गया है; उतना भाषा के नियमित रूप से अध्ययन के द्वारा नहीं। जब समस्त देश में हिन्दी का अध्ययन समुचित रीति से किथा जाएगा तो उसमें इस प्रकार की विभिन्नताएँ इतने अंश में अभिलक्षित नहीं होंगी जितनी कि इस समय। हमारे देश में अंग्रेज़ी का नियमपूर्वक अध्ययन किया जा रहा है और यद्यपि प्रान्तीय भेद से उसमें उच्चारण आदि का भेद होता है तो भी मौखिक "बोली के रूप" में किसी प्रकार की "लघु इंग्लिश" का निर्माण नहीं हुआ है तो फिर वह हिन्दी में ही क्यों हो जाएगा? क्या हमारे देश में इस समय अंग्रेज़ी दो प्रकार की है? फिर हिन्दी के ही दो प्रकार क्यों होंगे? मौखिक रूप से बोली दो ही क्यों अनेक प्रकार की हो सकती है परन्तु मानित और प्रामाणिक रूप में उसे एक ही प्रकार का होना पड़ता है और यह बोली मानित तभी हो सकती है, जब कि उसका प्रयोग समस्त प्रदेशों में एक रूप से हो। इसलिए श्रीयुत डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का यह कथन "एक शुद्ध व्याकरणानुसार हिन्दी जैसी कि अब चालू है...अब के हिन्दी-संसार की प्रादेशिक भाषा बन कर ठहरेगी......और दूसरी लघु शैली की हिन्दी मामूली राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करेगी" ठीक नहीं प्रतीत होता। 'लघु शैली की हिन्दी' 'मामूली राष्ट्रभाषा' भी उसी अवस्था में बन सकेगी जब कि उसे 'अब का हिन्दी-संसार' उसी रूप में मान्य कर लेगा और यह सर्वथा असम्भव है। सम्भवतः 'मामूली राष्ट्रभाषा' शब्द से उनका यह अभिप्राय है कि यह 'राष्ट्रभाषा' एकमात्र देश की साधारण बोलचाल और व्यवहार के लिए ही होगी—देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा नहीं। सांस्कृतिक और साहित्यिक भाषाएँ प्रादेशिक भाषाएँ ही रहेंगी। फिर यहाँ यह प्रश्न भी हो सकता है कि यह 'लघु शैली की हिन्दी' क्या प्रत्येक अ-हिन्दी-प्रदेश में एक-जैसी ही होगी और यदि वह एक जैसी नहीं होगी तो इसे 'राष्ट्रभाषा' किस प्रकार कहा जा सकेगा? यह "मौखिक बोली" भी उसी प्रकार प्रादेशिक होगी, जैसी कि उन क्षेत्रों की प्रादेशिक भाषाएँ हैं। यदि 'हिन्दी का भावी स्वरूप' यह होगा कि 'लघु शैली की यह मामूली राष्ट्रभाषा' हो जाएगी और वर्तमान हिन्दी प्रादेशिक रह जाएगी— तो इस प्रकार की भाषा से समस्त देश को कुछ विशेष लाभ नहीं हो सकेगा और इस प्रकार की भाषा से देश की समुन्नति सम्भव नहीं हो सकेगी। बोल-चाल के रूप में हिन्दी 'दो' ही क्यों चाहे अनेक प्रकार की क्यों न बन जाए परन्तु मानित रूप में उसे समस्त देश में अधिकांशतः एकरूप में ही होनी चाहिए। प्रादेशिक भाषाओं का हिन्दी पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा और पड़ना भी चाहिए परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हैकि वह प्रत्येक प्रान्त के हाथ का खिलौना बन जाएगी। यह प्रभाव उसी अवस्था में स्वास्थ्यकर और

हितकर होगा यदि उससे हिन्दी की एकरूपता को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचेगी।

भेद भाव और पृथक्ता

अंग्रेज़ों ने अपने राज्यकाल में सारे भारतवर्ष को एक केन्द्रीय प्रशासन के नीचे रक्खा परन्तु साथ-ही-साथ उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि इस विस्तृत देश की जनता में अधिक से-अधिक भेद-भाव और अलगाव उत्पन्न हो। वही कारण था कि जब उनके लिए यह अनिवार्य हो गया कि इस देश को स्वतन्त्रता प्रदान की जाए तो उन्होंने प्रान्तीय स्वायत्त-शासन प्रदान किया। वे यह चाहते थे कि इस देश का एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से संयुक्त होते हुए भी पृथक् और पास होते हुए भी दूर हो जाए। इस विशाल देश को आन्तरिक दृष्टि से एक बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि भारतवर्ष के प्रदेशों में प्रत्येक दृष्टि से निकटतम सम्बन्ध स्थापित किए जाएँ। अन्य देशों में भी धार्मिक और प्रादेशिक भेद हैं परन्तु इन भेदों के कारण उनमें पृथक्ता उत्पन्न नहीं हुई है और उनमें पारस्परिक विभिन्नताओं के होते हुए भी उनकी एकता अक्षुण्ण रूप से क़ायम है। हमारे-जैसे विस्तृत और विशाल देश में विभिन्नताएँ होना स्वाभाविक है परन्तु इन विभिन्नताओं का अर्थ पृथक्ता नहीं होना चाहिए। अंग्रेज़ों ने हमारे स्वाभाविक भेदों से लाभ उठा कर हमें एक दूसरे से प्रत्येक दृष्टि से पृथक् करने का प्रयत्न किया और इसका यह परिणाम हुआ है कि जहाँ हमारे विचारों में भेद उत्पन्न होता है, वहाँ पृथक्ता की ओर झुकाव प्रारम्भ हो जाता है। विभिन्नताएँ तो सदा रहेंगी; वे स्वाभाविक हैं; उनसे किस प्रकार हम बच नहीं सकते परन्तु हमें इस प्रकार के प्रयत्न करने चाहिएँ कि इन भेदों से हममें पृथक्ता उत्पन्न न हो। यह बात नहीं है कि हमारे देश में ये विभिन्नताएँ पहले नहीं थीं। धर्म, भाषा और जाति के भेद पहले भी थे परन्तु इन समस्त विभिन्नताओं के होते हुए भी हमारे देश में पृथक्ता की यह भावना नहीं थी जो कि इस समय दिखलाई देती है। इस भावना का समूलोन्मूलन करना पड़ेगा।

अभी पिछले दिनों हमने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि इस पृथक्ता को दूर करने के लिए केन्द्रीय शिक्षालय कुछ योजनाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहा है। इन योजनाओं को अभी विस्तृत रूप में तो प्रकाशित नहीं किया गया है परन्तु इन योजनाओं की जो रूप-रेखा प्रकाशित हुई है, वह निम्न प्रकार है: "देश के विभिन्न भागों में रहनेवाले लोगों में सद्भावना और मतैक्य स्थापित करने के उद्देश्य से अन्तर्प्रान्तीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाए; विभिन्न प्रान्तों के निवासियों के दिल-दिमाग़ों से एक दूसरे के प्रति फैली हुई भ्रान्तियों और ग़लतफ़हमियों को दूर किया जाए; लोगों को एक प्रान्त से दूसरे प्रान्तों में यात्रा करने की सुविधा प्रदान की जाए; उन्हें दूसरे प्रान्तों की भाषा को पढ़ने के लिए प्रोत्साहन प्रदान किया जाए; विभिन्न प्रान्तों से सम्बन्धित पुस्तकों का प्रकाशन किया जाए और दूसरे प्रान्तों के जीवन के विषय में पुस्तकें लिखने के लिए पुरस्कार प्रदान किया जाएँ।"

आशा है कि इस सम्बन्ध में केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय अपनी योजना को विस्तृत रूप से प्रकाशित करेगा। इन योजनाओं में छात्रों और अध्यापकों को अन्य प्रान्तों के विद्यालयों और महाविद्यालयों में कुछ समय के लिए सद्भावना, अध्ययन और अध्यापन के लिए नियमपूर्वक भेजे जाने और इसी प्रकार की अन्य सुविधाओं को प्रदान करने के सम्बन्ध में भी विचार किया जाना चाहिए। भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं को सीखने की अधिक-से-अधिक सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिएँ। अवकाश के दिनों में इस प्रकार के प्रबन्ध किए जाने चाहिएँ कि विद्यार्थी भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में जा कर, वहाँ के जीवन और भाषा आदि का निकटता से अध्ययन कर सकें। इस प्रकार की व्याख्यान-माला का भी प्रबन्ध किया जाना चाहिए, जिससे लोगों को अपने देश की एकता का ज्ञान हो। देश में एकता को संवर्धन करने वाली फ़िल्मों को समस्त प्रान्तों में प्रदर्शित किया जाना चाहिए। इस विषय में अन्य सुझावों को आमंत्रित किया जाना चाहिए और उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। अंग्रेज़ों ने हमारे देश की विभिन्नताओं से लाभ उठा कर जो पृथक्ता के भाव उत्पन्न कर दिए हैं, उन्हें दूर करने के लिए यदि प्रयत्न नहीं किए जाएँगे तो हम अपने देश में एकता की भावना को दृढ़ नहीं बना सकेंगे। भाषा के आधार पर प्रान्तों के निर्माण के पश्चात् इसकी आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है।

अलमारी सेफ़ सोफ़ा-सेट

सुन्दर और टिकाऊ

सब प्रकार का

स्टील का फ़र्नीचर

घरों और कार्यालयों के लिए

* * *

आलविन मैटल वर्क्स

हैदराबाद

(आन्ध्र-प्रदेश)

प्रकाशक : गोपालराव अपासिंगीकर हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद—मुद्रक : सत्यनारायण गुप्त, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद दक्षिण

रजिस्टर्ड नं. एच. ५९९ अजन्ता जून, १९५७ Regd. No. H. 599

हिन्दी के उत्तमोत्तम

तथा उच्च

श्रेणी

के

सा

हि

त्य

की

प्राप्ति के लिए एकमात्र

स्थान

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : 'हिन्दी'

टेलीफ़ोन ५४५०

26.8.57

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

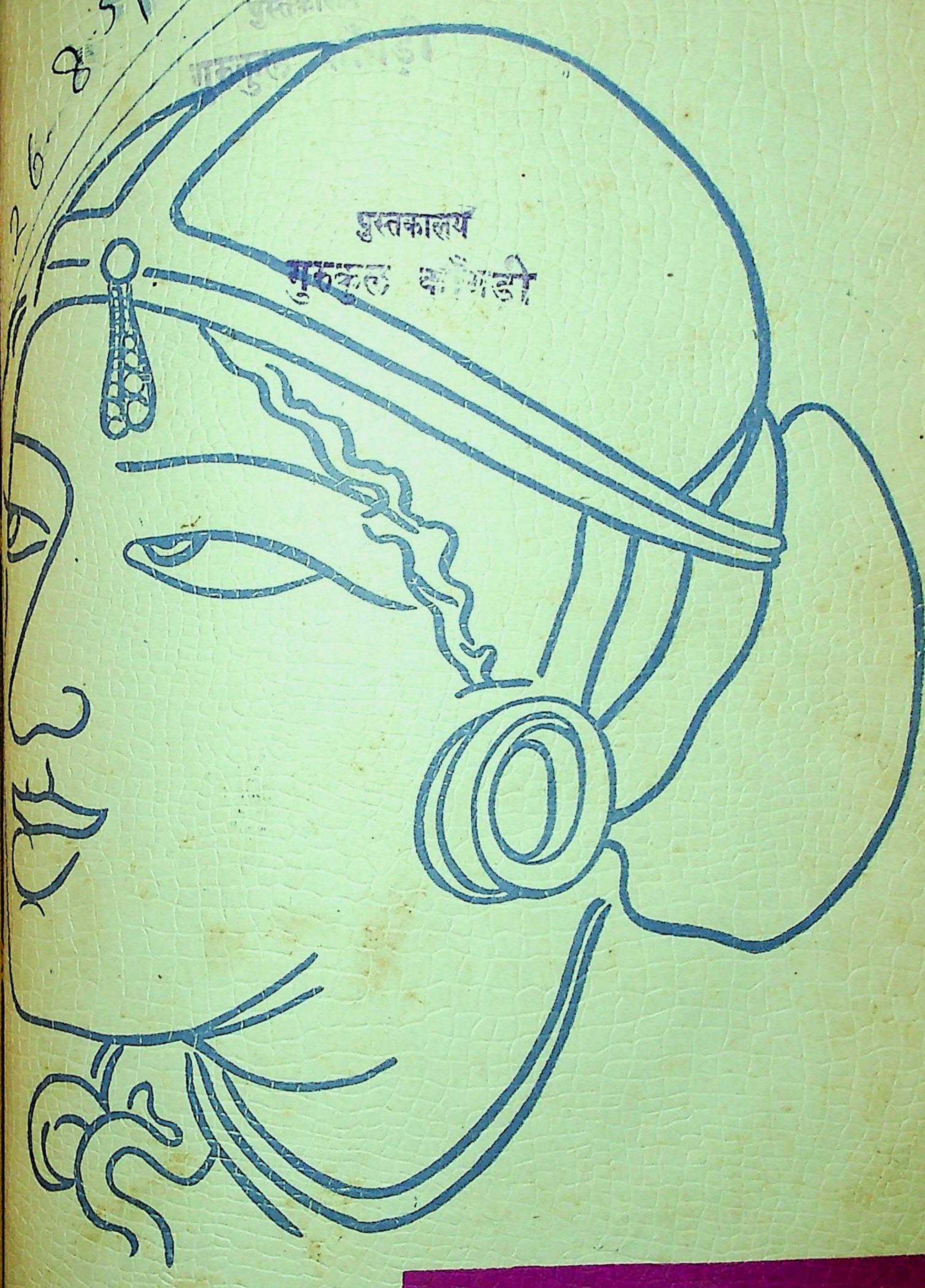

अंक ७

अजन्ता

जुलाई १९५७

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :

यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर, १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार

के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट

(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत् की गति-विधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए : एक प्रति का १९ न.पै.

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी

७, जन्तर-मन्तर रोड, नई दिल्ली.

कई गण्य-मान्य साहित्यकार तथा पत्र-पत्रिकाओं से प्रशंसित, कर्नाटक की कला, साहित्य एवं संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाली एकमात्र हिन्दी मासिक

भारतवाणी

सम्पादक :

श्रीकण्ठमूर्ति, एम. ए.

●

वार्षिक चन्दा ४)] [एक प्रति ३७ नये पैसे

पता :—**व्यवस्थापक, 'भारतवाणी'**

पोस्ट बाक्स नम्बर—१२

धारावाड़, मैसूर राज्य

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फ़ोन नं. : ५३१६

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

फ़ोन नं. : ४३८३

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

तार का पता : लीवेरेक्स

और

फ़ोन नं. : ४९७७

सुलतान बाज़ार, हैदराबाद दक्षिण

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

फ़ोन नं. : ५८४८

◆

अमर मेडिकल हॉल

फ़ोन नं. : ६८२१

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ ख़रीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

का

वार्षिक अंक

२८ फरवरी, '५७ को प्रकाशित हो चुका है

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी हैं और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

'वार्षिक' का मूल्य १॥) है, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशयारपुर—पंजाब

ख़रीद ने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार-संसद प्रयाग का मुख-पत्र
श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

- * हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे!
- * हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है!!
- * साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक!!!

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

पिछले छः वर्षों से भारत के प्राचीन साहित्यिक
केन्द्र धार से प्रकाशित आधुनिक आकर्षण
के आवरण में भारतीय सभ्यता का

संदेश-वाहक

सचित्र मासिक

ऊषा

- ● जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- ● कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे लोग पढ़ने जाते हैं।

देश के सभी रेल्वे बुक स्टालों पर भी मिलती है

वार्षिक ४) ::: एक प्रति ३५ नये पैसे

व्यवस्थापक : भोज प्रकाशन, धार
(मध्य प्रदेश)

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

सम्पादक-समिति

प्रतापनारायण टण्डन
डा० देवराज कुँवर नारायण
कृष्ण नारायण कक्कड़

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रही है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का होने से संग्रहणीय होता है।

वार्षिक शुल्क ८), अर्ध वार्षिक ४),
एक प्रति ७५ नये पैसे

'युग-चेतना' कार्यालय,
स्पीड बिल्डिंग ला प्लास, लखनऊ

जान है तो जहान है !

इन्फ्लुएंझा, बुखार, शरीरदर्द तथा वर्षाऋतु की
तमाम बीमारियों पर रामबाण दवा

जंतर-मंतर

जिस घर में यह दवा है वहाँ
बीमारी नहीं फटक
सकती ।

हर घर में डाक्टर का काम देती है ।

मूल्य ७५ नए पैसे

आरोग्य और बल
यही धन है ।
यही सौन्दर्य है ।

ताक़त की नई ख़ुराक

विटाफूड

यह अन्न है दवा नहीं : घर में आजमाइए

स्कीनचार्म लिनीमेंट

यह त्वचा का रंग निखारनेवाली वैज्ञानिक मालिश-क्रीम है । एक हफ़्ते में बदन का रूप-रंग बदल जाता है।

विवरण मुफ़्त ।

धनवान बनो

धड़ाधड़ बाज़ार में बिकनेवाली जनता के आम उपयोग की बढ़िया चीज़ें
बेचने के लिए एजंटों की ज़रूरत है तनखा १०० रु०
या आकर्षक कमीशन पर
लिखे-पढ़े स्त्री-पुरुष
पोस्टेज २५ नए पैसे भेज कर शीघ्र आवेदन भेजिए ।
हर ग्राहक बढ़िया असली घड़ियाँ, सायकिलस, तथा रेडिओ और
अन्य सैकड़ों चीज़ें मुफ़्त प्राप्त कर सकते हैं । जल्द लिखिए ।

सारंग इंडस्ट्रीज [अ]

रुक्मिणीनगर, अमरावती
(बम्बई-राज्य)

तार : हिन्दी

फोन : ५५५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर, त्रावणकोर और
मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

यह सौ-सौ कोसों की दूरी
नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी १
पावस-गीत
त्रिलोकीप्रसाद शर्मा ३
रूप-गर्विता गुलनार
मनोहर प्रभाकर ४
मैं गाता गीत जंग के
मूल : वाल्ट ह्विटमैन
अनु० : याज्ञवल्क्य गुरु ६
स्योना पृथिवी भवानृक्षरा निवेशनी !
रंगनाथ राकेश ७
पावस-गीत
ब्रजराज तिवारी 'अधीर' ८
प्रेमचन्द-युग में मध्य-वर्ग की स्थिति
डा० महेन्द्र भटनागर ९
श्री अरविन्द के तपोजीवन की कुछ रेखाएँ
नारायणप्रसाद 'विन्दु' १४
सूरदास के दार्शनिक विचार
राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी १६
संस्कृत कविता-रचनाओं के कुछ प्रकार
रामशंकर भट्टाचार्य २२
स्वामी विवेकानन्द
सत्यदेव विद्यालंकार २५
मुस्लिम जगत् का वृहस्पति 'अलबेरूनी'
लक्ष्मण आर. मेहता २८
कविवर पं. घासीराम व्यास
हरिकृष्ण देवसरे ३१
मेरे पत्रकारिता के अनुभव
इन्द्र विद्यावाचस्पति ३४
रेडियो (नाटक)
यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ३६
वाराणसी का विश्वविख्यात वैभव
चिरंजीलाल पाराशर ४६
सुबह का भूला
रामराज सिंह ५०
हिन्दी उपन्यासों में यथार्थ के नाम पर नग्नता
हरेन्द्रप्रताप सिन्हा ५५
सास और बहू का संवाद
डी. मंजुलता ६३
कला-चर्चा : चित्रकार सेज़ाँ
भाऊ समर्थ ६५
चिट्ठी-पत्री
'अजन्ता' के सम्बन्ध में : एल. बी. पेंढारकर, सत्यनारायण शर्मा, वीरेन्द्र मिश्र, रामेश्वर त्रिपाठी, भागवत पाण्डेय 'सुधांशु', शाम विमल शास्त्री ६८
नीर-क्षीर
भारतीय कविता (१९५३), सेठ गोविन्द-दास अभिनन्दन ग्रन्थ, नक्षत्रों की छाया में, क्रान्ति की भावना, मुहावरे और कहावतें
—वंशीधर विद्यालंकार ७१
सामयिक
श्रीमती सरोजिनी नायडू की कविताएँ, चित्रकला पर पिकासो के विचार ७६
सम्पादकीय
वंशीधर विद्यालंकार ८०

चित्र :

राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद : चित्र, आन्ध्र-प्रदेश हिन्दी विद्यार्थी-संघ के सौजन्य से
ग्राम : चित्रकार; भाऊ समर्थ, इतवारी नागपुर

वार्षिक मूल्य : ९)

एक प्रति का मूल्य : १) रु.

राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद

चित्र : आंध्र-प्रदेश हिन्दी विद्यार्थी संघ
के सौजन्य से

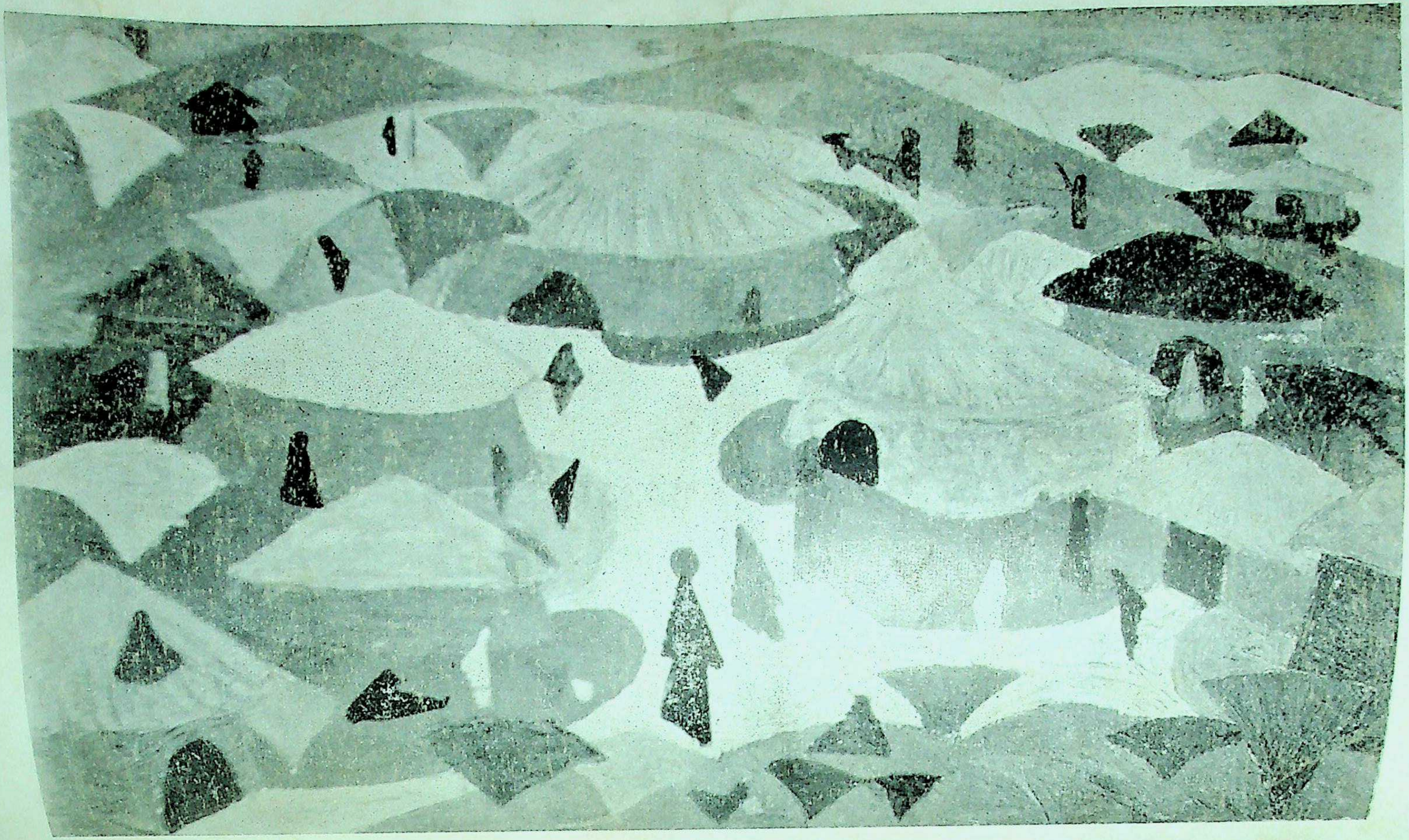

ग्राम

चित्रकार : भाऊ समर्थ
इतवारी, नागपुर

र्ष ९ जुलाई, १९५७ अङ्क ७

यह सौ-सौ कोसों की दूरी

यह सौ-सौ कोसों की दूरी
यह घायल मन की मजबूरी
छेड़ रही है मुझको—
संध्या की यह सूनी-सूनी साँझ
उदासी का आलम तनहाई
सौ बार मना करने पर भी
याद तुम्हारी घिर-घिर आई
मैं अपने घायल सपने पाल रहा
सींच लहू का पानी
मुझे याद के तीर न मारो
मत बढ़ने दो हैरानी
जीवन के जलते अरमानों पर
चढ़ जाने दो और गीत का पानी
यह देखो,
सूरज भी तो जलते-जलते ऊब गया

इसीलिए तो दिन भर के बाद—
साँझ को डूब गया
पहुँचा होगा प्रेयसी के आँगन में
रास रचाने
छेड़ दिए होंगे दोनों ने
हिल–मिल मधुर तराने
और जरा देखो, यह विहगों की टोली
दिखती है जो इतनी भोली-भाली
दिन भर के संघर्षों के बाद
लौट कर यह भी तो नीड़ों को जाती
इन बेचारों को भी तो—
ममता की बाँह बुलाती
किसी नेह के सागर में डूबी है—
इनकी भी जीवन बाती
पर ओ, मेरी आत्मा की परछाईं
क्या तुमको मेरी याद न आती ?
भूल गये क्या इतना मेरे प्राण-संगाती ?
मैं इन विहगों से कितना बदतर हूँ
जो मेरा कोई नीड़ नहीं है
आत्मा के जाने-पहचाने स्वर को छेड़े
ऐसा कोई मीड़ नहीं है
स्वप्न बहुत रंगीन
मगर जीवन-पथ रंगीन नहीं है
लगता है अंधकार यह—
लीलेगा मुझ को पल में
औ' जीवन की नैया फँस जायेगी
अंधकार के दल दल में
इसीलिए कहता हूँ
आओ, प्रकाश की आँधी
आओ, आओ मेरे गीतों की लाली
आओ मेरे जीवन की हरियाली
कुहूकिनी, कूको एक बार तो
बौर गई है यौवन-बगिया की डाली-डाली

--नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

आकाशवाणी
भोपाल

पावस-गीत

बरस रहे घनघोर बदरवा कजरारे

पवन संग बूँदों की परियाँ नाचतीं
घन-घूँघट से सलज-बीजुरी झाँकती
मेघों की चल रहीं गगन में पालकीं
चलीं जुगुनियाँ दीप लजीले बालतीं
सूरज के दरसन बिन बीते पखवारे

उछल गई मेंढ़की तलैय्या पार से
डूब गई मिल गले लहर की धार से
बुद-बुद नीर-बताशे जल में फूटते
राजकुँवर पानी के जिनको लूटते
कुञ्जर-मद से झरते बादर मतवारे

बबूरिया पर नीड़ पवन से काँपते
जहाँ बया के बेटे रह-रह झाँकते
श्याम चिरैया फुदक-फुदकती डोलती
गुट्टर-गुट्टर गूँ गुट्टर कपोती बोलती
बोले मोर पपीहा बन में बजमारे

दूर-दूर तक फैली हरी-हरी चूनर
वीरबहूटी जड़ी हुईं जिसके ऊपर
दूर सघन इमली की छाया के तले
अलसाये हिरना-हिरनी मींचे खड़े
नैनों में नैना उलझाये रतनारे
बरस रहे घनघोर बदरवा कजरारे

—त्रिलोकीप्रसाद शर्मा

एक पद्य-कथा

रूप-गर्विता गुलनार

श्रीमती सरोजनी नायडू की 'क्वीन्स राइवल' शीर्षक कविता का अनुवाद

बैठी थी गजदन्त विनिर्मित शय्या पर रानी गुलनार
चारों ओर विकीर्णित उसके थी वैभव की विभा अपार
शयन-कक्ष की दीवारें भी थीं अपूर्व शोभा-सम्पन्न
जड़े हुए थे भाँति-भाँति के मणिमुक्ता गोमेदक रत्न

मसृण उरोजों पर आवृत थे जो उज्ज्वल कोमल परिधान
किसी टिटिहिरी के किरीट की कलित-कान्ति से थे छविमान
आह भरी इस पर भी उसने दर्पण में निज रूप निहार
'राजन्, अब भी मेरे मन में उठता असन्तोष का ज्वार'

आबनूस के सिंहासन से झुक बोले फीरोज़ नृपाल
'कौन लालसा रही अधूरी मधुरे! मुझे कहो तत्काल!
बोलो! बोलो! मुखरित हो! फिर मेरे जीवन की हर श्वास
व्यय होगी, निरभ्र करने को तेरी तृष्णा का आकाश'

ऊब चुकी मैं अपनी छवि से, थका चुकी यह थोथी शान
नहीं सुहाता प्रियतम मुझको अब प्रतिबिम्ब हीन वरदान!
कोई नहीं स्पर्द्धा करने, कोई नहीं करने प्रतिरोध!
मुझे जागरण और स्वप्न में रस का नहीं क्षार का बोध!

गुनगुन करते ज्यूँ गुलाब-सी आह भरी, बोली गुलनार!
'मुझे एक दो प्रतिस्पर्धिनी, मेरे प्रियतम प्राणाधार!'

महामात्य को बोले सत्वर यों फीरोज़ नृपति-शिर-मौर
आने वाले कल का विहँसे ज्यों ही यहाँ सुनहला भोर!
सम्प्रेषित सन्देश-वाहकों को करो समुद्र के पार!
मुझको ढूँढ़ें, सात सुन्दरी दुलहिन रति-रूपा साकार!

आकृति पूर्ण राजसी जिनकी अवयव सुन्दर, सुघड़, सुडौल,
फ़ारस की पटरानी के हित मिली सात दासी अनमोल!

भृगु-नक्षत्र में लिए साथ में सात मनोहारी नव चन्द्र
साम्राज्ञी के निजी कक्ष में हुए प्रविष्ट फीरोज़ नरेन्द्र!
दिखा भोर के तारे-जैसी एक युवा रानी रतनार!
बोले—'लाया प्रतिस्पर्धिनी तुम्हें एक रानी गुलनार!

आह भरी इस पर भी उसने दर्पण में निज रूप निहार
'राजन् मेरे मन में उठता अब भी असन्तोष का ज्वार'

सातों रानी शोभित उसकी शय्या के थीं चारों ओर !
ज्यों कि पिरोए गए समुज्ज्वल सात रत्न रेशम की डोर !
या जैसे हो लिए सुशोभित सात दीप शाही मीनार !
अथवा रूप-कुसुम की जैसे हो कलियाँ सातों सुकुमार !

गुन-गुन करते ज्यों गुलाब-सी, आह भरी, बोली गुलनार !
'कहो कहाँ है प्रतिस्पर्धिनी मेरे प्यारे प्राणाधार'

जगा चुका पर्वत-प्रवाह को जब वासन्ती मन्द समीर
और जलाई किंशुक-कलिकाओं की लोहित लौ गम्भीर !
गूँजा मधु मक्खी का मधुरव हुए दिवस भी दीर्घ प्रतीत
होने लगा सघन निकुञ्जों में मुखरित मधुकर का गीत !

समासीन थी स्निग्ध सेज पर रूपमती रानी गुलनार,
अपने मनहर मस्तक पर कर, मणि-मुक्ताओं से श्रृंगार !
उसने आह भरी फिर सहसा दर्पण में निज रूप निहार !
'राजन् मेरे मन में उठता अब भी असन्तोष का ज्वार'

दो वासन्ती वय वाली थी रानी की पुत्री छविमान,
कढ़े हुए स्वर्णिम फुँदनों से पहने थी नीलम परिधान !
गई विजन बन की अप्सरि-सी उसके झट घुटनों तक दौड़ !
छीन लिया उसके हाथों से दर्पण को रक्खा बस मोड़ !

अपनी घुँघराली अलकों को सत्वर उसने लिया सँवार
लटकाली झट अपनी माँ की मूँगों की मृदु वन्दनवार !
शैशव-सुलभ भावना से हो अनुप्राणित उसने तत्काल,
चंचल चुम्बन से चर्चित कर दर्पण को कर दिया निहाल !
एक प्रफुल्ल पाटल-प्रसून-सी विहँस उठी रानी गुलनार !
'यह है मेरी प्रतिस्पर्द्धिनी ! मेरे प्रिय ! मेरे गलहार !'

मर ज्योति' साप्ताहिक
शोर निवास, त्रिपोलिया बाजार,
पुर (राजस्थान)

—मनोहर प्रभाकर

मैं गाता गीत जंग के

जब मैं
चुप-चुप सोच रहा था
गहराई से
निज कविता पर
अकस्मात्
इक सुन्दर आकृति
आयुष्मती
शक्ति राशि-सी
अप्सरा
पुरातन जगती की
मम समक्ष अवतीर्ण हुई

लपटों-सी
जलती आँख
मेरी ओर किए
अमर गीतों की ओर
अंगुलि से इंगित करती
भयदायक स्वर में
मुझ से बोली—

"तू क्या गाता है ?
नहीं जानता ?
काल-जयी महाकवियों की
कविता का बस एक विषय था
एक विषय था जंग
जंग के भाषण
पूर्ण सैनिक बनने के !"

मैं बोला : "होगा"
ओ अभिमानी आत्मा !
मैं भी गाता गीत जंग के
अब तक लड़े किसी जंग से
लम्बे और महान् जंग के
जो मेरी कृतियों में लड़ा गया है
पल-पल मुड़ता भाग्य,
पलायन, बढ़ना,
वापस आना,
आगे-आगे
जाती हुई विजय !

पर ठहर, मेरे विचार से
विश्वसनीय या
लगभग विश्वसनीय,
विजय !

रणक्षेत्र, विश्व,
जीवन और मृत्यु
शरीर, सनातन आत्मा,
इन सब के लिए
जंग करता मैं
गीत गाता चलता हूँ
सबसे पहले
शूर वीरों का
उत्साह बढ़ाता
गीत गाता
चलता हूँ !!

—मूल : वाल्ट ह्विटम
—अनु० : याज्ञवल्क्य गु

सम्पादक साप्ताहिक 'ज्वाला,
मिर्ज़ा इस्माईल रोड, जयपुर

स्योना पृथिवी भवानृत्तरा निवेशनी !

हम मृण्मय वसुधा के अंगज हे वरुणदेव ! संतरण हमारी जिजिवीषा !!
भो सावधान ! भो सावधान !! हे वरुणदेव !!! त्यागो वसुन्धरा-विजिगीषा !!

यह विभ्राट-जिगीषा महा-प्रलय की: काचिद् हो भू अंबुधि-प्लावित;
एकछत्र तुम राज्य धरोगे तब,—यह आकाशकुसुमवत—मनसा-ईप्सित !

मुष्टिबद्ध भुजदण्ड हमारे, क्लान्तिहीन ये रोम, शिराएँ रंध्र-रंध्र के पांशु सभी,
वाडवोत्सेध की क्रूर वागुरा चूर्ण-चूर्ण हो जायेगी: कांच सरीखी आज अभी !

मृत्तिका-मार्ग आक्रान्त न होगा तुमसे, भो सावधान, हे वरुणदेव, भो सावधान,
वासनोद्दामझंझायितवीचिकराघातों से पालों का कूर्पासक कर न सकोगे नग्न !

प्रस्वेदबिंदु का तूर्य सुने हो ? जल के वासी वरुणदेव ! जाओ, अब भी जाओ,
हावनीय समिधा-सम हम मिट्टी के पूतों का जीवन कर्म-हुताशन-वेदी पर—

हम हरिश्चन्द्र से भीरु नहीं वाणी के : वज्रकाय को दोगे क्या रोग जलोदर ?
अलम्बुषा पेशल काया पर पौरुष का उष्णीश बँधा है, जाओ, अब भी जाओ !

कंटक हीना माँ वसुधा सुखकर हो : स्योना पृथिवि भवानृत्तरा निवेशनी यही काम्य,
हे वरुणदेव ! हे जल के वासी !! है अजेय यह मृत्तिका पुत्र का शाश्वत साम्य !

फ्लोर, कमरा नं. १,
१४, बी बाजार स्ट्रीट,
कत्ता—१२

—रंगनाथ राकेश

पावस-गीत

बावरे घन आज मुझको ही बरसने दो,
कि कल तुम भी बरस लेना !

आज मेरे देवता का प्राण प्यासा है, पिलाने दो,
आँसुओं के अर्घ्य चरणों पर तनिक मुझको चढ़ाने दो;

आज नयनों के भरे प्याले छलकने दो,
कि कल तुम भी छलक लेना !

आज पुरवैया हवा कुछ गुन-गुनाती है, कि गाती है,
दूर सहमी-सी दिशा किसको निरखकर मुस्कराती है;

आज मेरे हाल पर जग को बिहँसने दो,
कि कल तुम भी बिहँस लेना !

बादलों के बीच जैसे बिजलियाँ रह-रह चमकती हैं,
काजलों के बीच वैसे पुतलियाँ रह-रह कलपती हैं;

चंचला ! तुम आज मुझको ही तड़पने दो,
कि कल तुम भी तड़प लेना !

—ब्रजराज तिवारी 'अधीर'

देवरिया रामनाथ,
देवरिया

प्रेमचन्द-युग में मध्य-वर्ग की स्थिति

भारत में मध्य-वर्ग का उदय अंग्रेज़ी साम्राज्य के फलस्वरूप हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय मध्य-वर्गीय समाज का स्वरूप सामने आया। सुप्रसिद्ध कवि और विचारक श्री हुमायूँ कबीर अपनी पुस्तक 'दि इंडियन हेरीटेज' में तत्कालीन भारतवर्ष की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं: "समस्त प्राचीन मूल्यों और विश्वासों को चुनौती दी जा रही थी। विश्वास और रीति-रिवाज़ के प्राचीन रूप ढह रहे थे। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाएँ तीव्र गति से टूट रही थीं। भारत वास्तविक अर्थ में परिवर्तन की अनिश्चित दशा में था। प्राचीन सामाजिक संगठन अव्यवस्थित हो रहा था। नए तत्त्व आ रहे थे; जिनकी किसी भी बीते युग में कोई मिसाल नहीं मिलती।"..."सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन का प्राचीन परम्परागत ढंग अव्यवस्थित ही नहीं कहीं-कहीं नष्ट तक हो रहा था। यही नहीं, नए और सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण के निर्माण का भी कोई प्रयत्न नहीं था जो अतीत की विरासत को पश्चिम से आए नए तत्त्वों के साथ जोड़ता। पर, प्रकृति रिक्त स्थिति नहीं रहने देती। निदान असंघटित तथा खंडित विश्वास और स्वभाव जीवन के प्राचीन ढंग का स्थान लेने को। प्राचीन अप्रत्याशित रूप से नष्ट हो रहा था; किन्तु नए दृष्टिकोण का उत्पन्न होना अभी शेष था।" भारतीय समाज पर पाश्चात्य प्रभाव बढ़ता गया, जिसके फलस्वरूप मध्य-वर्ग का जन्म हुआ।

यह वर्ग पढ़े-लिखे लोगों का बना। अंग्रेज़ी-राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न कार्यालयों में पढ़े-लिखे व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी। इस आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त अंग्रेज़ों ने देश-भर में विद्यालयों और महाविद्यालयों की स्थापना की और अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाया। इन विद्यालयों और महाविद्यालयों से इस वर्ग के मस्तिष्क का उत्तरोत्तर विकास हुआ और मध्य-वर्ग देश के प्रधान बुद्धि-जीवी वर्ग के रूप में सामने आया। ब्रिटिश शासकों की शैक्षणिक नीति का स्पष्टीकरण करते हुए हुमायूँ कबीर आगे लिखते हैं, "काफ़ी समय तक शासन, व्यावसायिक लाभ को दृष्टि में रख कर किया जाता रहा। देश के साधनों का पूर्ण रूपेण शोषण करने के हेतु ब्रिटेन को ऐसे मध्य-श्रेणी के मनुष्य-समुदाय की आवश्यकता थी जो उसके और भारतीय लोगों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सके। शासन-प्रबन्ध की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी यही समस्या थी। उच्च-स्तरीय नीति स्वयं अंग्रेज़ नियत करते थे, पर शासन-प्रबन्ध में उसके दैनिक प्रयोग के लिए भारतीय लोगों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती थी। परिणाम यह हुआ कि प्रबन्ध-सम्बन्धी एक बड़े वर्ग का निर्माण हुआ; जिसने अंग्रेज़ों को शासन-प्रबन्ध और व्यापार में सहायता दी। इन सेवकों की प्रमुख योग्यता अंग्रेज़ी भाषा में प्रवीणता मानी जाती थी। शिक्षा का स्वरूप भी शासकों की आवश्यकतानुसार निर्मित हुआ। मनुष्य के विकास के स्थान पर शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य अंग्रेज़ी की भाषागत प्रवीणता प्राप्त करना हो गया।"

मध्य-वर्ग पर एक ओर पाश्चात्य प्रभाव पड़ रहा था तो दूसरी ओर भारतीय सुधारवादी संस्थाओं का। वास्तव में मध्य-वर्ग की स्थिति का कोई निश्चित रूप दिखाई नहीं देता। इस वर्ग में अनेक-रूपता मिलती है। हुमायूँ कबीर के शब्दों में: "पढ़े-लिखे नए वर्गों ने अधिकतर अपने विचार पश्चिम से ग्रहण किए। उन्होंने किसी-न-किसी रूप में अंग्रेज़ों के सम्पर्क के कारण उनके रहन-सहन को भी अपनाया।...अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान गत शताब्दी में लगातार बढ़ता गया, जिसके कारण मध्य-वर्ग का अत्यधिक फैलाव हुआ।" इसके अतिरिक्त इस नवोदित वर्ग पर कुछ सुधारवादी संस्थाओं का भी प्रभाव पड़ा। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, थियोसोफ़िकल सोसाइटी और कांग्रेस आदि संस्थाओं का दृष्टिकोण सुधारवादी ही रहा। बुद्धिजीवी मध्य-वर्ग अपने को इन सुधारवादी-आन्दोलनों से मुक्त न रख सका और इस प्रकार उसके मानस पर भी सुधारवादी रंग चढ़ता गया। यह भारतीय मध्य-वर्ग की मानसिक बनावट का विशिष्ट पहलू है जो उसे विश्व के अन्य मध्य-वर्गीय

जनों से पृथक् करता है। मानसिक बनावट के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी मध्य-वर्गीय समाज में आर्थिक श्रेणियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं। हुमायूँ कबीर लिखते हैं: "मध्य-वर्ग कभी एक रूप नहीं हो सकता। कोई भी सामाजिक वर्ग पूर्ण रूप से एकरूप नहीं होता; लेकिन मध्य-वर्गीय लोगों में स्तरीय विभाजन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। एक ओर तो वे बिलकुल निम्न-वर्ग की सीमा पर होते हैं तो दूसरी ओर उनमें और पूँजीपतियों में अन्तर करना कठिन हो जाता है।"

मध्य-वर्ग के उदय और विकास में पूँजीवादी व्यवस्था का भी हाथ है। पूँजीवादी देशों में मध्य-वर्ग की स्थिति काफ़ी अच्छी है। भारत चूँकि पराधीन रहा इसलिए यहाँ पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का स्वतन्त्रता पूर्वक विकास न हो सका। भारतीय मध्य-वर्ग की स्थिति अच्छी न होने के कारण मध्य-वर्गीय जनता में सर्वाधिक असंतोष व्याप्त है। हुमायूँ कबीर जैसा लिखते हैं: "सभी जगह मध्य-वर्ग यह अनुभव करने लगा है कि उसका कोई स्पष्ट भविष्य नहीं है। भारत में उसकी दशा और भी दयनीय है। पूँजीवाद के विकास ने अन्य देशों में सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में उनके लिए स्थान बना भी दिया है। पर भारत में पूँजीवाद के विकास को अंग्रेजों ने राजनीतिक और आर्थिक दबावों के कारण बढ़ने नहीं दिया। इस पर भी, समाज की अन्य श्रेणियों का झुकाव, मध्य-वर्ग की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी दशा देख कर, उसकी ओर बराबर हो रहा था। मध्य-वर्ग इतना बढ़ा कि मौजूदा आर्थिक स्थिति उस संख्या को सँभाल न सकी। उसके सदस्य आर्थिक श्रेणी के निचले स्तर पर वापस आने को उद्यत नहीं थे और पूँजीवाद के प्रति उनके बढ़ते हुए क़दम हज़ारों तरीक़ों से रोक दिए गए। परिणामतः बेकारी बढ़ती गई और उसके साथ-साथ असंतोष थी।"

भारत का सर्वाधिक चिन्त्य वर्ग यही मध्य-वर्ग है। इसकी अधिकांश समस्याएँ, इसकी स्वयं की दुर्बलताओं के कारण हैं। मध्य-वर्ग के व्यक्तियों के स्वभाव का विश्लेषण करने पर यह तथ्य सामने आता है कि उनके मन और मस्तिष्क का आधार, अभिजात-वर्गीय समाज की श्रेणी तक पहुँचने की भावना है। पर, यह भावना आर्थिक अभावों के कारण कुंठित हो जाती हैं। इस कारण मध्य-वर्गीय परिवारों में 'दिखावे का रूप' पाया जाता है। बाहर से वे अपने ऊपर एक अभिजातवर्गीय परदा डाले रहते हैं। यह परदा इस कारण प्रभावहीन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि मध्य-वर्गीय व्यक्ति मानसिक विकास में किसी से पीछे नहीं होते—विकसित मानसिक धरातल के साथ अभिजात वर्गीय ढोंग निभ जाता है, पर, वास्तविकता प्रकट होने पर अथवा जीवन-संघर्ष के बीच मध्य-वर्ग का यथार्थ रूप सहज ही प्रकट हो जाता है। घर में धन के नाम पर कुछ नहीं निकलता। पर, सम्मान-भावना के पीछे मध्य-वर्गीय परिवार क़र्ज़ लेते हैं और अपने जीवन को धीरे-धीरे उलझाते जाते हैं। यदि अभिजात-वर्ग के प्रति स्पर्धा की भावना का लोप इस वर्ग में हो जाए तो इस वर्ग की अधिकांश समस्याएँ दूर हो सकती हैं अथवा उनको सुलझाने में सुगमता उत्पन्न हो सकती है। निःसंदेह दिखावे की भावना के कारण ही आर्थिक कठिनाई का विशेष शिकार इस वर्ग को बनना पड़ता है।

मध्य-वर्गीय समाज के मनोवैज्ञानिक पहलू और उसकी अन्य श्रेणियों से तुलना करते हुए श्री हुमायूँ कबीर लिखते हैं: "आधुनिक भारत का संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य मध्य-वर्ग का असंतुलित फैलाव है। सम्पूर्ण विश्व में मध्य-वर्ग के लोग अशांत, आलोचनात्मक और व्यक्तिवादी हैं। ऐसी स्थिति के कारण उनकी आर्थिक स्थिति डाँवाडोल रहती है। पूँजीवादी श्रेणी में ऊपर उठने की प्रबल इच्छा के फलस्वरूप उनमें बहुत से निम्न श्रेणी की स्थिति में पहुँच जाते हैं। वे अनुभव करते हैं कि उन्हें सम्मानपूर्ण स्तर बनाए रखना आवश्यक है; जो प्रायः उनके साधनों की पहुँच के बाहर होता है। लगातार आर्थिक संघर्ष उनके जीवन के समस्त दृष्टिकोण पर प्रभाव डालता रहता है। अपनी स्थिति के सम्बन्ध में निश्चिन्त होने के कारण अभिजात वर्गीय कभी अपने महत्त्व को जताने की आवश्यकता नहीं समझता, साथ ही निम्न वर्गीय भी अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहता है। पर मध्य-वर्ग सन्तुष्ट नहीं रहता और वह प्रायः उद्दण्ड, आत्म-प्रदर्शनकारी और कटु भाषी होता है। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए वह दूसरों की आलोचना करता है।

कुल की तथाकथित मर्यादा मध्य-वर्ग के विकास में सबसे बड़ी रुकावट है। यह समस्या उच्च और निम्न वर्ग में नहीं है। निम्न वर्ग के प्रायः सभी सदस्य

१९५७

काम करते हैं और इस प्रकार अपना-अपना जीविकोपार्जन करते हैं। उनको एक दूसरे पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। परिवार के सभी सदस्य युवक, बालक, स्त्रियाँ आदि सभी काम करके थोड़ा-बहुत धन कमा ही लेते हैं। दूसरे उनकी आवश्यकताएँ भी अधिक नहीं होतीं। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से निम्न-वर्ग के सामने कोई जटिल समस्या नहीं आती। वह बहुत कुछ सन्तुष्ट रहता है। पर, निम्न–वर्ग की तुलना में मध्यवर्ग की स्थिति बड़ी भयावह होती है। मध्य-वर्गीय परिवार में कमाने वाला केवल एक सदस्य होता है। कुल की मर्यादा के कारण स्त्रियाँ नौकरियाँ नहीं करतीं। इस प्रकार परिवार का सारा आर्थिक भार केवल एक व्यक्ति के कन्धों पर ही पड़ता है और फिर मध्य-वर्ग को अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए भी अनावश्यक बातों में अनिवार्य रूप से द्रव्य खर्च करना पड़ता है। इस प्रकार मध्य-वर्ग आर्थिक अभावों से बुरी तरह ग्रस्त होता है। उच्च वर्ग के पास पैसा है। वह अपने धन के बल पर हर वस्तु खरीद सकता है। अतः मध्य-वर्ग का जीवन ही सर्वाधिक जटिल और अभावग्रस्त जीवन है।

पर मध्य-वर्गीय अपने वर्ग को, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को छोड़ना नहीं चाहता। 'इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मध्य-वर्गीय भावनाओं से युक्त जन-समूह प्रतिस्पर्द्धा के दृष्टिकोण के होते हुए भी न तो शासक-वर्ग में विलीन हुआ है और न शोषित औद्योगिक कामगारों के समान बना है। प्रत्युत पूँजीवाद के विस्तार-युग में उसकी संख्या बढ़ी है और उसने उस युग के महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन में प्रायः निर्णयात्मक भाग लिया है'।

मध्य-वर्ग की नारी की समस्या भी एक जटिल समस्या है। आर्थिक पराधीनता तो उसके साथ है ही—सामाजिक और नैतिक नियमों से भी वह बुरी तरह बँधी हुई है। निम्न वर्ग की नारी एक पति को छोड़ और दूसरा पति कर सकती है। इसी प्रकार उच्च-वर्ग की नारी में भी यौन-पवित्रता को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता, पर मध्य-वर्ग में नारी घर की लक्ष्मी समझी जाती है। उस पर उस घर की प्रतिष्ठा आधारित है। मध्यवर्गीय नारी को अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है। प्रेमचन्द ने 'ग़बन' की रतन में और निर्मला में यही तथ्य प्रस्तुत किया है।

मध्य-वर्ग प्राचीन संस्कारों से बुरी तरह ग्रस्त है। उसमें अभी भी प्राचीन-संस्कारों को नष्ट करने की शक्ति नहीं आई है, भले ही प्राचीन संस्कारों के प्रति मोह न रहा हो। परम्परागत रूढ़ियों को मध्य-वर्ग आज भी इच्छा-अनिच्छा से ढोए जा रहा है। इन्हीं संस्कारों के फलस्वरूप मध्यवर्गीय नारी-समाज की दशा सर्वाधिक शोचनीय है। सामाजिक क्षेत्र में एक प्रकार का पिछड़ापन मध्य-वर्ग के नारी-समाज में प्रायः मिलता है।

मध्य-वर्ग में ढुलमुल नीति का अवगुण भी मिलता है। उसके निश्चय बहुत कम पूरे हो पाते हैं। इसका कारण मध्य-वर्ग का आत्म-निर्भर न होना है। उसे श्रम क्षेत्र में निम्न-वर्ग के और अधिकार क्षेत्र में उच्च-वर्ग के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस कारण उसे समय-समय पर अनेक विरोधी तत्वों से समझौता करना पड़ता है। समझौते की भावना इसलिए और भी उसमें मिलती है; क्योंकि वह संघर्ष से यथासम्भव बचना चाहता है। मध्य-वर्ग के अधिकांश लोग नौकर-पेशा पाए जाते हैं। सरकारी या ग़ैर-सरकारी नौकरी करने वाले व्यक्तियों की स्थिति ऐसी नहीं होती कि वे सरकार अथवा अपने मालिकों के विरुद्ध कोई क़दम उठा सकें। निदान उन्हें समझौते का मार्ग अपनाना पड़ता है। इससे उनके दैनिक जीवन में कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। मध्यवर्गीय व्यक्ति यदि कुछ आगे भी बढ़ेगा तो केवल सुधार-भावना तक ही। वह कोई ठोस क्रान्तिकारी कार्य करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। बौद्धिक दृष्टि से यद्यपि उसमें कोई कमी नहीं होती, फिर भी सक्रिय रूप में वह कोई आन्दोलन सफलतापूर्वक नहीं चला पाता।

प्रेमचन्द मध्य-वर्ग और निम्न वर्ग के लेखक थे। वे जितनी सफलता के साथ मध्य और निम्न वर्गों का चित्रण कर सके, उतनी सफलता के साथ उच्च-वर्ग का नहीं; यद्यपि इस क्षेत्र में भी उनका व्यक्तित्व अप्रतिम है। पर जब हम उनके समस्त व्यक्तित्व का अध्ययन करते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका मन जितना मध्य और निम्न वर्गों की समस्याओं में रमा है, उतना उच्च वर्ग की समस्याओं एवं प्रश्नों में नहीं। स्वयं प्रेमचन्द और उनका घराना मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखता है। मध्य-वर्गीय होने के कारण मध्य-वर्ग से उनकी निकटता स्वाभाविक थी। वास्तव में मध्य-वर्ग से वे

सर्वाधिक परिचित थे। यदि निम्न वर्ग का अधिकांश चित्रण उन्होंने तत्कालीन वातावरण को देख कर किया तो मध्य-वर्ग का चित्रण व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर।

प्रेमचन्द के समय में भारतीय मध्य-वर्ग की स्थिति का यथार्थ वर्णन और वैज्ञानिक विश्लेषण श्रीयुत डा० इंद्रनाथ मदान ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : एक विवेचना' में काफ़ी विस्तार से किया है। वे लिखते हैं : ''मध्य-वर्ग जीवन के प्राचीन और नवीन आदर्शों के संघर्ष के बीच से गुज़र रहा था। पूँजीवादी या पाश्चात्य सभ्यता के आघात ने जीवन के मध्यकालीन और आधुनिक दृष्टिकोण के बीच एक गहरी खाई खोद दी थी। प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृतियों का सम्बन्ध विशेष रूप से मध्य-वर्गीय समाज के इसी संघर्ष से है। वे सुधार करने के लिए कटिबद्ध थे।...सामाजिक मामलों में मध्य-वर्ग ने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का अधिक उपयोग आरम्भ किया। यह मध्य-वर्ग उन जायदाद रखने वाले सज्जनों से मतभेद रखता था, जो अपने किराए की आमदनी के बल पर भविष्य की सभी चिन्ताओं से मुक्त थे। इसलिए मध्य-वर्ग इच्छा पूर्वक और उत्साह के साथ नैतिकता को अपना रहा था।''

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मध्य-वर्ग के इसी दल का चित्रण किया है। उनकी सहानुभूति इसी सामाजिक दल के साथ रही। उनके प्रमुख मध्यवर्गीय औपन्यासिक पात्र नैतिकता को अपना कर चले हैं। चूँकि प्रेमचन्द को नैतिक मूल्यों पर गहन आस्था थी; इसलिए उन्होंने अनीति की कहीं विजय नहीं बताई। सत्य की सदैव असत्य पर विजय बताना ही उनका जीवन-दर्शन था। इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय-समाज में उभरने वाले इस प्रगतिशील मध्य-वर्ग के नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है। यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं, वे स्वयं के मध्य-वर्गीय संस्कारों के कारण, समझौते का कार्य अपना लेते हैं। समझौते की भावना मध्यवर्गीय समाज के मानस में विशेष रूप से दिखाई देती है और जिससे प्रेमचन्द भी नहीं बच सके हैं।

प्रेमचन्द के प्रथम उपन्यास 'वरदान' का सम्बन्ध मध्य-वर्ग के जीवन से ही है। ब्रजरानी, प्रताप, तथा कमलाचरण-जैसे प्रमुख पात्र मध्य-वर्ग के ही हैं और उनकी समस्याएँ भी मध्य-वर्गीय परिवारों की समस्याओं से सम्बन्ध रखती हैं। मध्य-वर्गीय समस्या में विवाह और प्रेम का जो पारस्परिक विरोध दिखाई देता है, उसका बड़ा ही सफल कथात्मक चित्रण 'वरदान' में हुआ है। प्रारंभिक और साधारण उपन्यास होते हुए भी 'वरदान' से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रेमचन्द का मन किस प्रकार मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं की ओर आकर्षित हो रहा था।

'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द ने विधवाओं के पुनर्विवाह की समस्या का उद्घाटन मध्य-वर्गीय समाज की पृष्ठभूमि पर ही किया है। मध्यवर्ग में पाई जाने वाली इस सामाजिक कुरीति का यथार्थ चित्रण 'प्रतिज्ञा' की प्रमुख विशेषता है। वे विधवाओं के जीवन की दयनीय स्थिति को बता कर विधवा-विवाह के प्रचलन पर ज़ोर देते हैं। चूँकि 'प्रतिज्ञा' का युग मध्य-वर्ग के जागरण और संघर्ष का उषःकाल था, अतः प्रेमचन्द का दृष्टिकोण भी इस उपन्यास में सुधारवादी रहा है। वे सुधार के द्वारा इस सामाजिक कुरीति को मिटाना चाहते हैं। 'प्रतिज्ञा' का मुख्य मध्य-वर्गीय पात्र अमृतराय है जो विधवाओं की दशा सुधारने में ही अपने जीवन को होम देता है। प्रेमचन्द ने मध्य-वर्गीय विशिष्ट नैतिक मूल्यों को अमृतराय के चरित्र में भली-भाँति स्पष्ट किया है।

'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' के पश्चात् 'सेवासदन' में प्रेमचन्द मध्य-वर्ग के जीवन का बड़े विस्तार से चित्रण करते हैं। वास्तव में 'सेवासदन' मध्य-वर्ग के जीवन का ही उपन्यास है। उसमें मध्य-वर्गीय परिवारों की एक ज्वलन्त समस्या पर प्रकाश डाला गया है—यह समस्या नारी-जीवन की समस्या है, जो वैवाहिक, वैधव्य और वेश्यावृत्ति के पहलू-विशेष रखती है। श्रीयुत डा० इन्द्रनाथ मदान 'सेवासदन' की समीक्षा करते हुए एक स्थल पर लिखते हैं : ''उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र मध्य-वर्ग के हैं और उनका चरित्र-चित्रण जीवन के सुधारवादी दृष्टिकोण से किया गया है। लड़की के पिता कृष्णचन्द्र में इस वर्ग के सब गुण और अवगुण विद्यमान हैं। पद्मसिंह मध्य-वर्ग का एक विशेष प्रकार का प्रतिनिधि है। वह अपने पुराने विचारों का है और अपने व्यवहार में नैतिकता का आग्रह रखता है।'' इस प्रकार 'सेवासदन' की कहानी भी मध्य-वर्गीय परिवारों की कहानी है। उसके प्रायः सभी पात्र मध्य-वर्गीय संस्कारों को

१९५७

अपनाए हुए चलते हैं।

'वरदान', 'प्रतिज्ञा' और 'सेवासदन' के पश्चात मध्य-वर्गीय समाज का उपन्यास 'निर्मला' हमारे सामने आता है। इसके पूर्व 'प्रेमाश्रम' लिखा जा चुका था, पर 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द मुख्यतः किसानों और ज़मींदारों के संघर्ष में ही उलझ जाते हैं। मध्य-वर्गीय समाज का चित्रण उसमें प्रधान नहीं है: 'निर्मला' में दो समस्याएँ हैं—(१) दहेज प्रथा और (२) एक ऐसे वृद्ध से जिसकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी हो एक युवा लड़की का विवाह। उपन्यास की कथा तीन मध्य-वर्गीय परिवारों के जीवन से गुँथी हुई है—एक परिवार बाबू उदयभान, का है, दूसरा बाबू तोताराम का और तीसरा सिन्हा साहब का। इन तीनों परिवारों के पारिवारिक जीवन के चित्रण में मध्य-वर्ग के संस्कारों और धारणाओं का बड़ा ही सफल अंकन हुआ है।

निर्मला के उपरान्त 'रंगभूमि' आता है। 'रंगभूमि' में औद्योगिक समस्या प्रमुख है; अतः इस उपन्यास में थैलीशाहों अथवा पूँजीपतियों का उल्लेख ही अधिक है। किसानों और ग्रामीण जनता का भी चित्रण समानान्तर हुआ है। अतः 'रंगभूमि' निम्न और उच्च वर्गों के जीवन से सम्बन्ध रखता है। 'कायाकल्प' में अवश्य उच्च मध्य और निम्न वर्गों का सम्मिलित चित्रण प्राप्य है। औपन्यासिक कथा के दो भाग इस उपन्यास में देखे जा सकते हैं। एक भाग का सम्बन्ध सामाजिक समस्या से है और दूसरे का सम्बन्ध आध्यात्मिक और रहस्यमय लोक के चित्रण से प्रस्तुत उपन्यास में छः प्रसंग हैं: (१) चक्रधर-मनोरमा का प्रसंग, (२) अहिल्या-चक्रधर की कथा, (३) मनोरमा-विशालसिंह की कहानी, (४) रोहिणी-विशालसिंह की कथा, (५) महेन्द्रसिंह देवप्रिया की कहानी और (६) हरिसेवक लौंगी की कथा।

उपर्युक्त प्रसंगों में केवल चक्रधर का प्रारम्भिक जीवन और उसका परिवार ही मध्य-वर्ग से सम्बन्धित है। चक्रधर का प्रारम्भिक जीवन, उसके विचार और आचरण प्रगतिशील मध्य-वर्गीय समाज का प्रतीक हैं, जब कि उसका पिता वज्रधर पुरानी पीढ़ी के मध्य-वर्गीय समाज का प्रतिनिधि है।

'कायाकल्प' के पश्चात् मध्य-वर्ग का सब से प्रसिद्ध और विशिष्ट उपन्यास 'ग़बन' लिखा गया। वास्तव में देखा जाए तो 'ग़बन' प्रेमचन्द का, मध्य-वर्ग की समस्याओं का उद्घाटन करनेवाला सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण को भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। 'ग़बन' का प्रमुख-पात्र रमाकान्त है। रमाकान्त एवं अन्य प्रमुख पात्रों के चरित्रांकन में लेखक विशेष सजग दिखाई देता है; पर यहाँ भी मध्य-वर्गीय समाज की समस्याएँ पृष्ठभूमि में कार्य करती हैं; इस प्रकार 'ग़बन' भी समस्यामूलक उपन्यास ठहरता है। रमाकान्त स्वयं मध्य-वर्गीय समाज का व्यक्ति है एवं मध्य-वर्ग की अनेक चारित्रिक विशेषताएँ उसमें विद्यमान हैं। मध्य-वर्गीय सम्मान-भावना ही ग़बन के कथानक का आधार है। इसी सम्मान-भावना के कारण रमाकान्त ग़बन करता है और अपने जीवन को संकट में डालता है।

'ग़बन' के बाद 'कर्मभूमि' 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' लिखे गए। 'मंगलसूत्र' प्रेमचन्द का अपूर्ण उपन्यास है। इसमें अभिजात-वर्ग की झाँकियों के साथ-साथ संघर्ष-शील मध्य-वर्ग का चित्रण मिलता है। संभवतः यह उपन्यास भी मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखने वाला ही है। 'कर्मभूमि' अछूतों की समस्या के अतिरिक्त राष्ट्रीय स्वाधीनता की समस्या से सम्बन्धित है। इसमें मध्य-वर्ग वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं कर पाता। अमरकान्त की पत्नी और विधवा सास आर्थिक दृष्टि से मध्य-वर्ग की सीमा में नहीं आते। अतः उनकी समस्या मध्य-वर्गीय न हो कर सामान्य हो गई है। 'गोदान' किसान वर्ग का उपन्यास है—ग्रामीण जनता का महाकाव्य है। पूँजीपतियों और मिल-मालिकों का समावेश, अभिजात-वर्ग के क्षयी स्वरूप को व्यक्त करने के निमित्त है। यह बात दूसरी है कि उसमें एक-से दो पात्र मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखते हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्य-वर्ग का विशेष महत्व है।

डा० महेन्द्र भटनागर

रामकुञ्ज,
विश्वविद्यालय-मार्ग,
माधवनगर, उज्जैन (म० प्र०)

श्री अरविन्द के तपोजीवन की कुछ रेखाएँ

श्री अरविन्द के रूप में भारत का आदियुगीन ऋषित्व ही एक बार फिर देह धारण कर खड़ा हो उठा था। हमारे उन ऋषियों ने ऐसा क्या पाया था, जिसके आगे आज भी संसार का सिर श्रद्धा से झुक जाता है। वे कितने गहरे पैठते थे? कितनी दूर की उड़ान भरते थे? इसका जीता-जागता स्वरूप एक बार फिर दुनिया को श्री अरविन्द के व्यक्तित्व में देखने को मिला। वह उस ऊँचाई पर पहुँचते हैं, जहाँ से सभी ज्ञान ऊपर उठ कर आते हैं, जहाँ से दर्शनों की उत्पत्ति होती है।

श्री अरविन्द के जीवन का उज्ज्वलतम रूप कहाँ प्रकट हुआ है, यह दिखाना सहज नहीं है। आत्मोन्नति करते हुए चेतना की किस चोटी पर वह जा पहुँचे थे, यह किसी से छिपा नहीं है परन्तु उस शैल-शिखर पर वह कैसे पहुँचे, किन उपायों से ऊपर उठे, यही तो जानने की बात है। मगर किसी योगी के आन्तरिक जीवन को लिपिबद्ध करने में कोई कैसे सफल हो सकता है। उनके आन्तरिक जीवन की महिमा को दिखाने के साधन कहाँ है!

सन् १९१० से १९२६ की अवधि को श्री अरविन्द की योग-साधना का काल कहा जा सकता है। इन दिनों उनके जीवन में क्या-क्या घटनाएँ घटीं, प्रकाश के किन लोकों में उनका प्रवेश हुआ, अंधकार के किन दुर्धर्ष पुत्रों के साथ उनका संघर्ष हुआ, यह तो कभी प्रकट नहीं होगा पर उन दिनों उन पर क्या बीता, प्रचलित पथ को पार कर वह किस खोज में चले, किस प्रकार आगे बढ़े, इसका कुछ आभास श्री अरविन्द के उन पत्रों और उन रचनाओं से मिल सकता है, जिनमें प्रसंगवश उनकी स्वानुभूति की चर्चा चल पड़ी है तथा मिल सकता है 'सावित्री' के उन पात्रों से जिनके मुख से उन्होंने अपनी आत्मा के गुप्त रहस्यों का मर्म खोला है।

'साधन-जीवन' की अनुभूतियाँ ही 'सावित्री' का जन्मस्थल है, जो उनकी साधना के आदि और अन्त का प्रतीक है। ऐसा कहने का कारण यह है कि 'सावित्री' उस रूप में एकाएक प्रस्तुत नहीं हो गई थी, जिस रूप में आज वह प्राप्य है। उसका प्रणयन तभी आरंभ हो गया था, जब वह बड़ौदे की साधन भूमि में अवस्थान कर रहे थे। तब से जीवन की अन्तिम घड़ी तक इस पर उनकी कलम चलती रही। उच्च से उच्चतर स्तर की प्रेरणाओं द्वारा इसमें संशोधन होते रहे और इसका कलेवर बदलता रहा।

सुतरां, कहा जा सकता है कि इसमें श्री अरविन्द की साधना के विकास का इतिहास सांकेतिक रूप में अंकित है। अश्वपति तो एक प्रतीक-मात्र है। इस दृष्टि से अनुशीलन करने पर अनुभव होता है कि उनके जीवन में समस्त भूतल के लिए दिव्यज्ञान और दिव्य शक्ति का जो अवतरण हुआ, 'सावित्री' उसकी वाङ्मयी मूर्ति है।

अश्वपति साधारण कोटि के प्राणी नहीं है। वह अमरलोक के उपनिवेशी (Colonist of the Immortality) हैं। अमृत-लोक से एक मिशन लेकर वे भूतल पर आए हैं, अतएव मानवता का प्रतिनिधित्व करने में पूर्णतः समर्थ हैं। पहले व्यक्ति रूप से वह अपनी सिद्धि प्राप्त करते हैं और फिर मानव-जाति के प्रतिनिधि के रूप में विभिन्न लोकों में विचरण करते हैं। 'सावित्री' के द्वितीय पर्व में इस परिभ्रमण का बड़ा रोचक वर्णन है। तदनन्तर उनके भीतर मानव-मात्र के उद्धार और नवीन सृष्टि के लिए पुकार उठती है। यह तीसरे पर्व का विषय है।

'सावित्री' के कथानक में कहा गया है कि देवी के वरदान से सावित्री का जन्म हुआ। कितनी कठोर तपस्या के बाद अश्वपति देवी का वरदान प्राप्त करते हैं; इसका दिग्दर्शन कराते हुए कवि कहते हैं कि जगती की चिरंतन इच्छा की पूर्ति के हेतु सावित्री का जन्म हुआ है। यहाँ से तीसरे पर्व के अन्त तक यही चर्चा चलती है कि उसका जन्म क्यों और किस अवस्था में हुआ।

साधारण चेतना से सर्वोच्च चेतना में प्रवेश किस प्रकार होता है, यह विषय 'सावित्री' में इतनी निपुणता के साथ गूँथा गया है कि संसार एक भारतीय काव्य-

१९४७

गरिमा और प्रांजल अनुभूतियों को देख कर दंग रह जाना।

श्री अरविन्द के जीवन-क्षितिज पर कब से डूबते सूरज की कान्ति और रंगीली झलक आई, इसकी ठीक तारीख का पता तो 'सावित्री' से चलता नहीं पर [illegible] स्तर पार करके वह कैसे उठे, किन अज्ञात शक्तियों के संपर्क में आए, उनसे उन्हें कौन-सा ज्ञान प्राप्त हुआ, 'साधन-जीवन' के इन गुप्त वृत्तान्तों का एवं उनके जीवन की सुनहली घड़ियों का जगह-जगह ऐसा मनोमुग्धकारी वर्णन मिलता है कि आँखों के आगे नई दुनिया के पट खुल जाते हैं।

इन दिनों श्री अरविन्द अकेले थे, दुनिया से दूर एक कोने में उनके दिन कट रहे थे। पर उनके जीवन के वे पल कितने अनमोल थे, इसकी साक्षी ये पंक्तियाँ देती हैं:

'इन दिनों स्वर्णिम अनुभूतियों की बाढ़-सी लगी रहती। प्रत्येक क्षण अनन्त के धाम से जीवन-प्याले में अमृत की बूँदें ढलतीं; किसी नवीन आविष्कार के छन्द की मृदुल झंकार उनकी कर्णेन्द्रियों में सुनाई देती। सुप्त चेतना के गुप्त प्रान्त में जो वाणी मूक हो कर पड़ी रहती है, जिसे इन कानों से सुना नहीं जा सकता, वह उन्हें सुनाई देती।'

प्रकृति अब अपनी गोद में उन्हें अभिभूत करके नहीं रख सकती थी। उनके तन-मन का प्रथम आध्यात्मीकरण होता है। अन्तर में ज्ञान कमल का प्रस्फुटन होता है, आँखों में नई ज्योति उतरती है, वह बुराइयों की पाषाण-सपाट दीवारों के आरपार मनुष्य में देवत्व का दर्शन करने लगते हैं। जिन अज्ञात देवताओं के हाथ में संसार का शासन-सूत्र है, उनके साथ उनका संभाषण होता है एवं उनके भीतर का मानव भगवान् के साथ डग भर-भर कर चलता है (The human in him paced with the divine)

किन्तु, यह अवस्था अधिक दिनों तक टिक नहीं सकी। निश्चेतना के धुएँ उठने लगे पर वह चतुर कूटनीतिज्ञ (Supreme Diplomat) इस पदस्खलन को भी उन्नति की सीढ़ी बना लेता है।

स्मरण रहे अश्वपति-जैसे देव-प्रकृति वाले पुरुष की भी चेतना सदैव एक स्तर पर नहीं रह पाती। जैसे शिशु जब चलना सीखता है तो एकाएक चलने नहीं लगता, उठते गिरते चलना सीखता है; वैसे ही चढ़ते उतरते अश्वपति को आत्मा के अखंड राज्य में अचल स्थिति मिल जाती है। केवल नीचे के स्तर अशुद्ध रह जाते हैं।

जब पुरुष और प्रकृति दोनों से अश्वपति अपनी तद्रूपता प्राप्त कर लेते हैं, तब उन्हें सृष्टि के रहस्य का पता चलता है और वह अनुभव से जान जाते हैं कि पुरुष और प्रकृति उस परात्पर पुरुष के ही दो अंग हैं, दो aspects हैं। दोनों दो नहीं एक हैं। एक ही फल की दो फलियाँ हैं। वही सब का ध्येय है, सब में उन्हीं की तूती बोल रही है और यह जो खेल है, वह माया नहीं वह भी Real सत्य है। जग-स्रष्टा का सृष्टि के पीछे एक उद्देश्य है, एक योजना है।

इस दिव्यानुभूति के पश्चात् एक दिन समाधि में अश्वपति उस लोक में जा पहुँचते हैं, जहाँ के गुप्त प्रकोष्ठ में विश्व-इतिहास सांकेतिक भाषा में लिखा पड़ा है। और तब :

> "A will, a hope......seized his heart,
> Aspiring to bringd own a greater world'"

उनके सपने नए प्रकाश के रंग में रंग जाते हैं। उनका हृदय इस आशा से प्रकाशित हो उठता है कि मनुष्य अपना भाग्य बदल सकता है, जिस दुनिया में वह रहता है, उसे नए साँचे में ढाल सकता है, एवं आज जहाँ वह है, वहीं सदैव रहने को बाध्य नहीं है। इसके बाद कुछ और बातों की चर्चा करके पहला पर्व समाप्त होता है और दूसरा आरम्भ होता है जिसमें उन अनन्त के पथिक की ऐसी यात्रा आरम्भ होती है, जिसे दुनिया ने कभी पढ़ा-सुना नहीं था। नरक की कहानी कहने वालों की कमी नहीं है पर स्वर्ग का संदेश सुनाने वाले कितने हैं ?

अरविन्द आश्रम,
पाण्डीचेरी

—नारायणप्रसाद 'विन्दु'

सूरदास के दार्शनिक विचार

ब्रजभाषा (हिन्दी) में कृष्ण-काव्य के सृजन का समस्त श्रेय वस्तुतः श्री वल्लभाचार्य को प्राप्त होना चाहिए। इन्हीं के द्वारा प्रवर्तित एवं प्रचारित 'पुष्टि-मार्ग' में दीक्षित होकर अनेक भक्त-कवियों ने कृष्ण-काव्य की रचना की थी।

भक्त-कवि सूरदास वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्यों में से थे। सूरदास की काव्य-रचना के पीछे वल्लभाचार्य की प्रेरणा थी। अतः सूरदास के दार्शनिक विचारों को समझने के लिए वल्लभाचार्य के दार्शनिक विचारों का विवेचन परम आवश्यक है।

विक्रम की १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में वैष्णव-धर्म का जो आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला, वल्लभाचार्य उसके प्रधान प्रवर्तकों में से एक थे। 'वल्लभ-सम्प्रदाय', 'रुद्र-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत आता है।

रामानुजाचार्य से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भी भक्त दार्शनिक अथवा आचार्य हुए, सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद तथा विवर्त्तवाद से पीछा छुड़ाना था। शंकराचार्य के मतानुसार 'भक्ति' अविद्या अथवा भ्रान्ति ठहरती है। शंकराचार्य ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की है।

दार्शनिक अथवा तात्त्विक दृष्टि से वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत सिद्धान्तवादी, ब्रह्मवादी तथा अविकृत परिणामवादी है। संक्षेप में इनका सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद' है। शंकराचार्य का अद्वैत जैसे शुद्ध बना दिया गया हो, शंकराचार्य की माया के लिए इनके यहाँ कोई स्थान नहीं है, इस प्रकार माया से रहित अद्वैत ही 'शुद्धाद्वैत' है। इस 'शुद्धाद्वैत' में एक ओर माया का बहिष्कार है तथा दूसरी ओर भक्ति का विशेष विधान है। यह भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है, ज्ञान से ब्रह्म को केवल जाना जा सकता है, भक्ति से ब्रह्म की अनुभूति होती है, शुद्धाद्वैत वाले इस दार्शनिक सिद्धान्त के लिए वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी के ऋणी हैं। साधन-मार्ग की व्यवस्था इनकी अपनी वस्तु है।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्म में समस्त धर्मों का समावेश माना है। समस्त सृष्टि को वल्लभाचार्य ने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा है। अपने अंश को जीव रूपों में बखेरना ही ब्रह्म की लीला है। प्रकृति और जीव ब्रह्म से उसी भाँति प्रकट हुए हैं, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं। यह रचनात्मक कार्य ब्रह्म केवल अपनी शक्ति एवं गुणों से करता है, वह माया का उपयोग नहीं करता।

जिस प्रकार अग्नि से छोटी बड़ी चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से हीन तेजस्वी जीवों की उत्पत्ति होती रहती है, जिस प्रकार अग्नि और चिनगारियाँ स्वरूप से एक हैं, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव का भी स्वरूपगत अभेदत्व है, अर्थात् जीव भी उतना ही सत्य है, जितना स्वयं ब्रह्म, किन्तु फिर भी जीव ब्रह्म नहीं है, उसका अंश है, जीव और ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा में केवल यह अन्तर है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं और ब्रह्म की अपरिमित।

रामानुज और निम्बार्क की तरह वल्लभाचार्य ने यद्यपि जीव के अणुत्व का समर्थन किया है, तथापि उनके विरुद्ध ब्रह्म के अद्वैत-पक्ष का समर्थन किया है, परन्तु चूँकि इन्होंने माया के सम्बन्ध से रहित अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, इसलिए वल्लभाचार्य का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतब्रह्मवाद' कहलाता है।

वल्लभाचार्य के मतानुसार अक्षर-ब्रह्म अपनी आविर्भाव-तिरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी बना रहता है। वह अपने तीनों-सत्, चित् और आनन्द-रूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में 'सत्' और 'चित्' का आविर्भाव रहता है और 'आनन्द' का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है, तथा चित् और आनन्द दोनों का तिरोभाव माया कोई वस्तु नहीं है।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म प्रकृतिजन्य धर्मों के अभाव में, जिस प्रकार निर्गुण है, उसी प्रकार 'आनन्दात्मक दिव्य धर्मों के कारण वह सगुण भी है,

१६५७

इसी परब्रह्म को 'शुद्धाद्वैत' सिद्धान्त के अनुसार श्रीकृष्ण कहा गया है। यह श्रीकृष्ण ही सर्व धर्मों के आश्रयरूप होने के कारण 'धर्मी' कहलाते हैं। इनमें परस्पर विरुद्ध धर्मों का समावेश है, यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। हमारे विचार से परब्रह्म का यही स्वरूप मानने पर वेदों की निर्गुण-सगुण स्वरूप प्रतिपादक श्रुतियों का मतैक्य हो सकता है। इस प्रकार वल्लभाचार्य के सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके द्वारा वेदों और समस्त शास्त्रों के मतों की एकवाक्यता प्रमाणित हो जाती है।

शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को ही ब्रह्म का पारमार्थिक एवं वास्तविक स्वरूप कहा था। उनके मतानुसार सगुण स्वरूप केवल व्यावहारिक अथवा मायिक है। वल्लभाचार्य ने बात एकदम उलट दी। इन्होंने सगुण रूप को तो ब्रह्म का पारमार्थिक एवं वास्तविक रूप बताया तथा निर्गुण ब्रह्म इनके मतानुसार उसका अंशतः तिरोहित रूप है। परब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप का नाम 'अक्षर ब्रह्म' है और उसके भौतिक स्वरूप का नाम 'जगत्' है। अतः 'शुद्धाद्वैत' के सिद्धान्तानुसार ब्रह्मरूप होने के कारण 'जगत्' भी सत्य ठहरता है। वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य के समान जगत् को असत् अथवा मिथ्या नहीं माना है, उनके मतानुसार 'जगत्' की भी स्थिति है। ब्रह्म रूप होने के कारण 'जगत्' भी सत्य है, किन्तु संसार असत्य है। क्योंकि वह जीव की अविद्या के कारण सृजित 'मैं' और 'मेरेपन' की कल्पनामात्र है, वल्लभाचार्य के मतानुसार 'ब्रह्म सत्यम्, जगत् सत्यम्, मिथ्या संसार केवलम्' है। ज्ञान द्वारा जीव की मुक्ति होने पर संसार की निवृत्ति होती है, किन्तु 'जगत्' ज्यों का त्यों बना रहता है। प्रलयकाल में भी 'जगत्' का तिरोभाव होता है, नाश नहीं।

विशेष : वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त को भली प्रकार समझने के लिए 'शुद्धाद्वैत', 'ब्रह्मवाद' तथा 'अविकृत परिणामवाद', इन तीनों शब्दों की निम्न लिखित व्याख्याएँ विशेष उपयोगी होंगी। यथा :

१. **शुद्धाद्वैतवाद :** 'शुद्ध' का अर्थ है 'माया के सम्बन्ध से रहित'। माया के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण और वही कार्य है। माया-शबलित ब्रह्म कारण और कार्य नहीं है।

"मायासम्बन्धरहितं 'शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धब्रह्म न मायिकम् ॥"

(२८, शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, श्री गिरधर जी)

२. **ब्रह्मवाद :** सब-कुछ ब्रह्म ही है। जीव ब्रह्म-रूप है, यह जगत् भी ब्रह्म-रूप है और इसी से ये दोनों सत्य हैं। (सर्वं ब्रह्म इतिवादः ब्रह्मवादः तेन)।

"आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति
अयमेव ब्रह्मवादः शेषं मोहाय कल्पितम्"

(१७६, १८०, शास्त्रार्थप्रकरण, सर्वनिर्णयप्रकरण)

यह सब आत्मा ही है, उसी तरह यह सब ब्रह्म ही है, सम्पूर्ण श्रुतियों का यही अर्थ है। इसी को ब्रह्मवाद कहते हैं और यही वास्तव में ब्रह्मवाद है। अन्य जो कुछ कहा गया है, वह मोहवश कल्पित है।

३. **अविकृत परिणामवाद :** 'जगत्' ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है। दूध का परिणाम दही सविकारी है। वह फिर दूध नहीं हो सकता।

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के मुख्य तत्त्वों के स्वरूप स्थापन के पश्चात् अब हम सूरदास की दार्शनिक विचारधारा का विवेचन करते हैं।

(क) **ब्रह्म सम्बन्धी विचार :** "सूरदास के इष्टदेव श्रीकृष्ण हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। उनके सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण इस सम्पूर्ण प्रपंच के आदि हैं। जीव रूप में, जगत् रूप में तथा सम्पूर्ण देवता रूप में, जो कुछ भी इस जगत् में है, सब उन्हीं का अंश है। श्रीकृष्ण अखण्ड रस-रूप में अपनी आदि रस-शक्ति राधा के साथ युगल रूप में विहार करते हैं। वे ही अक्षर ब्रह्मरूप हैं, और वे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। ये सम्पूर्ण रूप उन्हीं के अंशरूप बन कर प्रसूत हैं। उनके निर्गुण रूप तक हमारा मन और हमारी वाणी नहीं पहुँच सकती; इसलिए उनके सगुण रूप की लीला का गुणगान ही सूर ने आध्यात्मिक सिद्धि का साधन माना है। उक्त विचारों को प्रकट करने वाले अनेक पद 'सूरसागर' में विद्यमान है।" यथा :

"सोभा अमित अपार अखण्डित आप आत्माराम
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार
ऊंकार आदि वेद असुरहन निर्गुन सगुन अपार

सहस रूप बहु रूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय
कुमुद कली विकसित अम्बुज मिलि मधुकर भागी सोय”

यहाँ वल्लभ-सिद्धान्तों के अनुमार श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म रस-रूप हैं। सूरदास ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण, दोनों बता कर ब्रह्म के विरुद्ध धर्मत्व को स्वीकार किया है।

निम्न लिखित पद में सूरदाम ब्रह्म, प्रकृति, और पुरुष आदि की सद्वैतता स्वीकार करते हैं, तथा परब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण कर देते हैं। सृष्टि के सम्पूर्ण तत्त्व,[2] ब्रह्मांड, सम्पूर्ण देवता, माया, प्रकृति तथा आदि पुरुष श्रीपति लक्ष्मीनारायण ये सब श्रीकृष्ण के ही अंश माने हैं। वह स्पष्ट कहते हैं कि ब्रह्म अंशी है और सम्पूर्ण जगत्, जीव और देवता अंश है। यथा :

“सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप
कोटिकल्प बीतत नहिं जानत बिहरत युगल-स्वरूप
सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल
प्रकृति-पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गुपाल”[3]

सूरदास ने ‘सूरसागर’ के दशम स्कन्ध में अनेक स्थलों पर परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप और उनके विराट् रूप का सविस्तर वर्णन किया है। उन्होंने श्रीकृष्ण की जो अनेक स्तुतियाँ की हैं, उनसे विदित होता है कि वे परमानन्द-राशि रस-रूप श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म मानते हैं और उन्हीं को अपनी उपासना का इष्ट मानते हैं। यह इष्ट वल्लभ-सम्प्रदाय के शत-प्रतिशत अनुकूल है। एक उदाहरण देखिए :

“परमहंस तुम सबके ईस, बचन तुम्हारा स्तुति जगदीस
तुम अच्युत अविगत अविनासी, परमानंद सदा सुखरासी
तुम तनुधारि हर्‌यो भुव-भार, नमो नमो तुम्हें बारंबार”[4]

(ख) जीव सम्बन्धी विचार : श्री वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ ‘तत्वदीपनिबन्ध’ में लिखा है कि ‘परम-तत्त्व परब्रह्म को’ मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ[5] ऐसी इच्छा हुई। उसी इच्छामात्र से अक्षर ब्रह्मभूत अंश-रूप असंख्य जीवों की उत्पत्ति हुई। जैसे अग्नि से चिनगारी निकलती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म के चिद् अंश से असंख्य निराकार जीव निकले।[6] इस प्रकार वल्लभ-मत के अनुसार जीव अंश है और परमात्मा अंशी।

श्री वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ ‘अणुभाष्य’ में लिखा है कि, ‘भगवान् की इच्छा से जीव के ऐश्वर्यादि छः गुण तिरोहित हो जाते हैं और तभी बन्ध और विपर्यय होता है। ऐश्वर्य के छिपने से दीनत्व और पराधीनता, वीर्य के तिरोभाव से अनेक दुःख, यश के तिरोधान से हीनत्व, श्री के तिरोधान से जन्म-मरण के अनेक दोष, ज्ञान के तिरोभाव से अहं-बुद्धि और सब पदार्थों में विपरीत ज्ञान होता है तथा वैराग्य के तिरोभाव से विषयों में आसक्ति पैदा होती है। इस प्रकार जीव भ्रम में बँध कर संसार-चक्र में घूमता है। भगवान् के भजन से विमुख, जीव अनेक कष्ट उठाता है। अविद्यारूपी दोष से छुटने के लिए भगवान् के भजन की आवश्यकता है।’

श्री वल्लभाचार्य ने लिखा है : (१) योग-सिद्धि का मार्ग (२) दिव्य-ज्ञान[7] का मार्ग तथा (३) उस भगवत्-कृपा-दृष्टि के लाभ का मार्ग, जिससे प्रसन्न हो भगवान् आनन्दांश का लाभ देते हैं। सबसे उपयोगी और सरल मार्ग तृतीय है। इसे उन्होंने भगवद्-अनुग्रह-पुष्टि कहा है और इसी के आधार पर अपने भक्ति-मार्ग का नाम उन्होंने पुष्टि-मार्ग रखा है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार जीव-सृष्टि का विभाजन निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।[8] (यह विभाजन पृष्ठ-संख्या १६ पर ऊपर दिया गया है)

सूरदास ने जीव और ईश्वर की अद्वैतता का भाव कई स्थलों पर व्यक्त किया है। निम्न लिखित पद में सूरदास ने केवल एक ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए अनेक रूप बताए हैं और कहा है कि अन्त में ये अनेक रूप उस एक में ही समाकर एक हो जाएँगे। श्रीवल्लभ—मत के अनुमार सूरदास ने भी जीव को

---

१. ‘सूरसारावली’ पृष्ठ ३४, वेंकटेश्वर प्रेस। २. वल्लभ-सम्प्रदाय तथा सूरदास ने इनकी संख्या २८ मानी है। ३. सूरसारावली पृष्ठ ३८ वेंकटेश्वर प्रेस। ४. सूरसागर १० स्कन्ध, उत्तरार्द्ध। ५. ‘एको हं बहु स्याम्’ तैतिरीय उपनिषद् २:६। ६. शास्त्रार्थ प्रकरण पृष्ठ सं. ६१, ज्ञानसागर बम्बई। ७. अणुभाष्य अध्याय ३, पाद २, सूत्र सं. ५। ८. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय पृष्ठ संख्या ४२६।

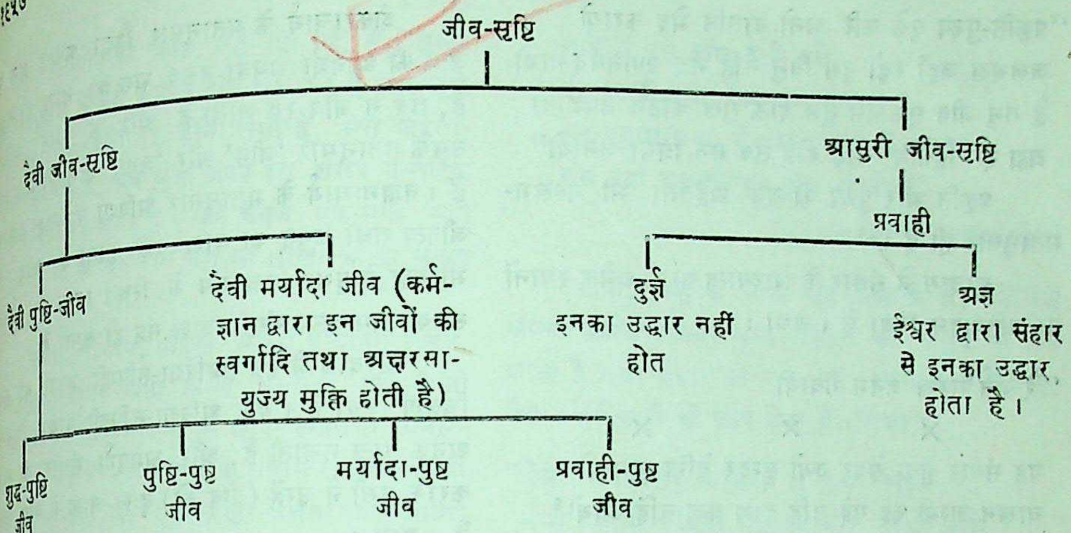
जीव-सृष्टि
दैवी जीव-सृष्टि
आसुरी जीव-सृष्टि
प्रवाही
दैवी पुष्टि-जीव
दैवी मर्यादा जीव (कर्म-ज्ञान द्वारा इन जीवों की स्वर्गादि तथा अक्षरसायुज्य मुक्ति होती है)
दुर्ज्ञ
इनका उद्धार नहीं होत
अज्ञ
ईश्वर द्वारा संहार से इनका उद्धार होता है।
शुद्ध-पुष्टि जीव
पुष्टि-पुष्ट जीव
मर्यादा-पुष्ट जीव
प्रवाही-पुष्ट जीव

इन जीवों को पूर्ण पुरुषोत्तमस्वरूप मुक्ति मिल सकती है।

भगवान् की चेतन शक्ति का ही स्वरूप माना है। यथा :

"सकल तत्व ब्रह्मांएड देव पुनि माया सब विधि काल
प्रकृति-पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गुपाल[1]

× × ×

अभय अछेद रूप मन जान, सो सब घट है एक समान
व्रत इन्द्रियनि चेतन जोई, मन स्वरूप जानो तुम सोई"[2]

सूरदास ने शंकराचार्य के 'जगन्मिथ्या' वाद के प्रति अपनी उदासीनता स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी है :

"मन बच क्रम मन गोविन्द सुधि करि

× × ×

मिथ्यावाद विवाद छाँड़ि दै, काम क्रोध मद लोभै परिहसि

× × ×

वेदन कह्यो स्मृति हू भाख्यो, पावन पतित नामनिज नरहरि[3]

(ग) **जगत् सम्बन्धी विचार :** श्री वल्लभाचार्य के मतानुसार यह जगत् ब्रह्मरूप ही है। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के मतों का उल्लेख करके यही प्रमाणित किया है कि वह अक्षर ब्रह्म ही एतत् प्रकारेण इस प्रकार जगत् हो जाता है।"

जगत् और संसार का भेद स्पष्ट करते हुए आचार्य जी ने लिखा है : "यह प्रपंच (जगत्) भगवत् कार्य है और यह भगवान् की माया नाम की शक्ति से बना है। इस माया की अविद्या नामक शक्ति के सहारे जीव संसार को बनाता है।" सारांश यह है कि श्री वल्लभाचार्य ने जगत् को ईश्वर-कृत तथा संसार को जीव-कृत[4] बताया है। 'श्रीमद्भागवत' में भी कहा है : "गुण और कर्म से बँधा हुआ यह संसार (ममतात्मक संसार) अज्ञान-मूलक और स्वप्नवत् झूठा है, सुख-दुःख संसार के साथ लगे हैं जगत् के साथ नहीं।"[5]

सूरदास ने 'सूरसागर' के द्वितीय स्कन्ध में नारद-ब्रह्मा संवाद के अन्तर्गत जगत् उत्पत्ति का जो विवरण दिया है वह वल्लभाचार्य के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। यथा :

"जो हरि करै सो होई कर्त्ता नाम हरी
ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब त्यों सब सृष्टि करी"

दशम स्कन्ध में उद्धव गोपियों से कहते हैं :

"गोपी सुनहु हरि संदेश
कह्यो पूर्ण ब्रह्म धावो त्रिगुण मिथ्या भेस
मैं कहों सो सत्य मानहु त्रिगुण डारो नाश
पंच-त्रिय गुण सकल देही जगत् ऐसो भाष"

दशम स्कन्ध में ही कृष्ण राधा से कहते हैं :

---

[1] सूरसारावली। [2] सूरसागर तृतीय स्कन्ध। [3] वही प्रथम स्कन्ध पृष्ठ ३०। [4] तत्व-दीप-निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण श्लोक सं. २६। [5] सप्तम स्कन्ध अ० ७, श्लोक २७।

"प्रकृति-पुरुष एकै करि जानो बातनि भेद करायो
जलथल जहाँ रहों तुम बिनु नहि भेद उपनिषद् गायो
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख काटन उपजायो
ब्रह्म रूप द्वितीय नहिं कोई तब मन त्रिया जनायो"

प्रकृति और पुरुष की यह अद्वैतता भी वल्लभ-मतानुसार ही है।

सूरदास ने संसार के मिथ्यात्व का तो अनेक स्थानों पर प्रतिपादन किया है। यथा :

"रै मन मूरख जनम गँवायो

× × ×

यह संसार सुवा सेंवर ज्यों सुन्दर देखि लुभायो
चाखन लग्यो रुई गई उड़ि हाथ कछू नहिं आयो[६]

× × ×

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया

तथा :

ज्वाला प्रीति प्रकट सन्मुख हरि ज्यों पतंग तनु [७]जार्यों

× × ×

ज्यों कपि शीत हुताशन गुंजा सिमटि होत लवलीन
त्यों शठ वृथा तजत नहिं कबहूँ रहत विषय आधीन
सेंवर फूल सुरंग शुक निरखत मुदित होत खग भूप
परसत चोंच तूल उघरत मुख परत दुःख के कूप[८]"

(घ) माया सम्बन्धी विचार : 'तत्व-दीपनिबन्ध' के 'शास्त्रार्थ-प्रकरण' में श्री वल्लभाचार्य ने 'माया' के सम्बन्ध में जो लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है :

भगवान् की शक्ति-स्वरूपा माया के दो रूप हैं—विद्या-माया तथा अविद्या-माया।

अविद्या माया से जीव संसार में बँधता है और विद्या-माया के द्वारा जीव इस संसार से छुटता है। जीव माया के आधीन है, भगवान् नहीं।

अविद्या रूपिणी माया दो प्रकार से अन्यथा प्रतीति कराती है :

(१) सत्य-ज्ञान का आच्छादन करती है तथा (२) सत्य में असत्य का भान कराती है। सारांश यह है कि अविद्या माया ही जीव को लौकिक विषयों में फँसा कर उसको अज्ञान में डालती है।

शंकराचार्य के मतानुसार विद्या अथवा ज्ञान से जीव की अविद्या अथवा उसके भ्रम का नाश हो जाता है, तब न जीव रह जाता है और न जगत्, क्योंकि उनके मतानुसार 'जीव' और 'जगत्' दोनों ही भ्रम-जन्य हैं। वल्लभाचार्य के मतानुसार अविद्या का नाश होने पर जीवत्व तथा जगत् का नाश नहीं होता है, जीव फिर भी ब्रह्म से पृथक सत्य रूप में स्थित रहता है। केवल उसका भ्रम-जन्म संसृति-जाल नष्ट हो जाता है।

सूरदास ने इस अविद्या-रूपिणी माया का खूब चित्रण किया है। यह अविद्या-रूपिणी माया ही उन्हें अनेक नाच नचाती है, और भ्रमपूर्ण संसार की सृष्टि कराके उसी ने उन्हें (जीव को) दुःख-जाल में बाँध रखा है। यथा :

"विनती सुनों दीन की चित दै कैसे तब गुण गावै
माया नटिनी लकुट कर लीने कोटिक नाच नचावै
दर दर लोभ लागि लै डोलति नाना स्वांग करावै
तुम सो कपट करावति प्रभु जु मेरी बुद्धि भ्रमावै
मन अभिलाष तरंगनि करि-करि मिथ्या निशा जगावै
सोवत सपने में ज्यों सम्पत्ति त्यों दिखाय बौरावै
महा मोहिनी मोह आत्मा, मन करि अघहि लगावै
ज्यों दूती पर वधू मोरि कै लै पर पुरुष दिखावै

× × ×

सूरदास प्रभु तुमरी कृपा विनु को मो दुख बिसरावै"

('सूरसागर' प्रथम स्कन्ध)

तथा :

"हरि बिनु कोऊ काम न आयो
यह माया झूँठी प्रपंच लगि रतन सो जन्म गँवायो
कंचन कलप विचित्र चित्र करि रचि पचि भवन बनायो
तामें तिहि छिन काढ्यो पल भर रहन पायो"

('सूरसागर' द्वितीय स्कन्ध)

सूरदास जी ने कई पदों में स्पष्ट लिखा है कि : संसारी जीव को झूठी माया सच्ची प्रतीत होती है, यदि मनुष्य अहं की व्यष्टि-दृष्टि को छोड़ कर समष्टि-दृष्टि से जगत् को देखे तो माया का सत्य रूप उसे दीखने लगेगा। हे करुणा-निधान प्रभु, आपकी कृपा-कटाक्ष से मेरा अज्ञान-रूपी अन्धकार नष्ट हो गया है। विवेक का प्रकाश

---

[६] सूरसागर प्रथम स्कन्ध। [७] वही दशम स्कन्ध। [८] वही प्रथम स्कन्ध।

१९५७

होने पर माया-मोह की निशा नष्ट हो गई है। ज्ञान-र्य के प्रकाश में मेरी समष्टि दृष्टि खुल गई है और मुझे आत्मरूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगा है, मेरी अहंता-ममता छूट गई है, अब मुझे अपने इस शरीर से तनिक भी मोह नहीं रह गया है। अब केवल एक-मात्र यही लालसा है कि मैं दिन-रात प्रभु की लीला का ही श्रवण करता रहूँ।

'मोक्ष', गोलोक, गोकुल अथवा वृन्दावन (निज-धाम), राम, तथा गोपी आदि सम्बन्धी पदों में भी सूरदास पर वल्लभ-सम्प्रदाय की छाप स्पष्टतया परिलक्षित होती है। श्री वल्लभाचार्य के समान सूरदास ने भी और भगवान् का एकीकरण जलतरंगवत् बताया है। यथा :

"आँखिन में बसै जियरे में बसै,
हियरे में बसत निसि-दिन प्यारो
मन में बसै तन में बसै रसना में बसै,
अंग-अंग में बसत नंदवारो
सुधि में बसै बुधि तू में बसै,
उरजन में बसत पिय-प्रेम दुलारो
सूर-श्याम बनहू में बसत घरहू में बसत,
संग ज्यों जल तरंगन होत न्यारो।"

('सूरसागर' दशम स्कंध)

गोपी, कृष्ण के साथ ऐसे मिलती है, जैसे नदी अपना अस्तित्त्व और नाम मिटा कर समुद्र में मिल जाती है तथा संसार को वह इस प्रकार छोड़ देती है; जैसे सर्प केंचुली को छोड़ देता है। यथा :

"जैसे सरिता सिंधु में मिली जु कूल बिदारि
नाम मिट्यो सलिलै भई तब कौन निबेरै बारि

× × ×

प्रेम मगनि ग्वालिन भई सूर सु प्रभु के संग
नैन बैन मुख नासिका ज्यों केंचुलि तजै भुजंग।"

('सूरसागर' दशम स्कन्ध)

—राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

गली,
गरा

सुन्दरता

"यदि सुन्दरता सदा के लिए जीवित
रहती—तो वह मर जाती;
और यदि उसे सदा देखते
तो फिर उसे कोई न देखता

—एडकौव

× × ×

सीखना

मैं सदा सीखने के लिए तैयार हूँ
परन्तु मैं यह नहीं चाहता
कि कोई मुझे हर समय सिखाता रहे

—विन्स्टन चर्चिल

संस्कृत कविता-रचनाओं के कुछ प्रकार

संस्कृत-भाषा में अत्यन्त प्राचीन काल से ही श्लोक या कविता लिखने की पद्धति दृष्ट होती है। श्लोक-रचना के अनेक प्रकार भी इस साहित्य में उपलब्ध होते हैं। हम यहाँ कुछ 'प्रकारों' पर एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना चाहते हैं।

कारिका : कारिका-शब्द श्लोकवाची है; यह प्रसिद्ध है, पर इसका एक निश्चित अर्थ भी था, जो आज अविज्ञात-प्राय हो गया है। अभिनव गुप्त ने कारिका का लक्षण इस प्रकार दिया है : "सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात् पठिता श्लोक रूपा साऽपि कारिका" 'अभिनव भारती' भाग १, पृ. २६६), अर्थात् किसी सूत्र के बाद उसके अर्थ की अपेक्षा कर जो श्लोक पढ़ा जाता है, वह 'कारिका' है। वस्तुतः जब श्लोक से किसी सूत्रार्थ का प्रकाशन या विशदीकरण किया जाता है, तब वह श्लोक-कारिका कहलाता है। अभिनव ने कहा है : "सूत्रविवरणस्वभावा तु कारिका सूत्रमपि प्रकाशयन्ती बहुतराक्षेपसमाधानव्याकुलशिष्यजनस्थितपक्षं निरूपणेन उपकरोतीति भाष्यस्य पश्चादस्याः पाठः" ('अभिनव भारती' भाग १, पृ. २७३)। इससे कारिका के विषय में तीन बातें ज्ञात होती हैं, यथा : (१) कारिका सूत्रार्थ का विवरण करती है (२) उसका विवरण तर्कादि युक्त नहीं होता, बल्कि सिद्धान्त का निर्देश-मात्र करना है, (३) भाष्य के बाद कारिका का प्रणयन होता है। यह बात सत्य है, क्योंकि भाष्य तो आक्षेप समाधान-परक होता ही है (आक्षेप समाधानपरं भाष्यम्) अतः भाष्य के बाद ही कारिका की रचना युक्त प्रतीत होती है।

कारिका और सूत्र के इस सम्बन्ध को स्वयं भरत ने भी कहा है, यथा :

> "अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः
> सूत्रतः सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रयोगिनी"
> ('नाट्यशास्त्र' ६.११)

परिकर श्लोक : 'ध्वन्यालोक' की लोचन टीका में इसका लक्षण दिया गया है, यथा : "परिकरार्थं कारिकार्थस्य अधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः" (पृ. ३४) अर्थात् कारिका में जो अर्थ कहा गया है, उसके पुष्टीकरण आदि के लिए जो श्लोक रचित होता है, वह 'परिकर श्लोक' कहलाता है। काशिका में 'परिकर' शब्द आया है (मंगलाचरण श्लोक ३)।

अन्तर-श्लोक : हेमचन्द्र ने इसका लक्षण दिया है : "अन्तरे मध्ये वक्तव्यशेषाभिधायकौ श्लोकौ अन्तर-श्लोकौ" 'विवेक' पृ. ३६२)। अर्थात् बीच में वक्तव्यार्थ के शेषभूत अर्थ के अभिधायक श्लोक 'अन्तर-श्लोक' है। अन्तर-श्लोक का उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है (द्रष्टव्य 'व्यक्ति विवेक' तथा 'वक्रोक्ति जीवित ग्रन्थ')।

प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि पद्य और श्लोक में क्या अन्तर है, यह अज्ञात है। संभवतः किसी पूर्वोक्त विषय की अपेक्षा न कर स्वतः नवीन रचना पद्य है, और पूर्वोक्त विषय से सम्बन्धित कविता श्लोक है; क्योंकि 'अत्र श्लोका भवन्ति' इस प्रकार के ही प्रयोग मिलते हैं, और 'अत्रार्थे पद्यानि भवन्ति' ऐसा प्रयोग नहीं मिलता; पर यह निर्णय अभी सन्दिग्ध है। पद्य= श्लोकबन्ध, ऐसा 'अमरकोषोद्घाटन' पृ. ३५१) में कहा गया है, और पद्य को पदबद्ध वृत्त कहा गया है (पृ. २६६) पर इससे दोनों का भेद स्पष्ट नहीं होता।

आनुवंश्यश्लोक : इसका लक्षण 'महाभारत' के टीकाकार नीलकण्ठ ने दिया है, यथा : 'परम्परागतम् आख्यानश्लोकम्' (वनपर्व १२६।८) 'नाट्य-शास्त्र' में भी 'आनुवंश्य श्लोक' आया है (६ ३५-३६)। यहाँ अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है : 'अनुवंशवंशभवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ कारिका-श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थ संक्षेप-प्रकटीकरणेन कारिका-शब्दवाच्यौ' ('अभिनव भारती' भाग १ पृ. २६१)। इससे सिद्ध होता है कि अनुवंशश्लोक सूत्रार्थसंक्षेपीकरण के लिए है तथा शिष्याचार्य-परम्परा में प्रसिद्ध भी है। क्या इससे यह भी सिद्ध होता है कि इन श्लोकों के कर्तृत्व का ज्ञान नहीं रहता, अन्यथा 'शिष्याचार्य-परम्परा में वर्तमान' कहने का तात्पर्य क्या होता है?

पुराणों में 'अत्रानुवंश श्लोकोऽयम्' ऐसा बार-बार कहा गया है। इन स्थलों पर किसी प्रसिद्ध राजा

१६५७

कीर्ति का वर्णन मिलता है ।[1]

गाथा : इसका प्रयोग पुराणों में यत्र-तत्र दीख ता है (अत्र गाथा पुरा गीता ययातिना इत्यादि)। सूत्र 'भामती' में 'ब्रह्मविदा गाथा' कहकर मोक्ष-परायण-श्लोक उद्धृत किया गया है। पारमर्षी गाथा का उल्लेख 'तत्त्ववैशारदी' में वाचस्पति मिश्र ने किया है। संभवतः मोक्ष-धर्मीय उपदेशात्मक संक्षिप्त श्लोकों को ही गाथा कहा जाता था।[2]

श्लोक वार्त्तिक : कोई वार्त्तिक जब श्लोक में रचा जाता है, तब वह 'श्लोकवार्त्तिक' कहलाता है। 'वार्त्तिक उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकारि वार्त्तिकम्' अर्थात् जिसमें सूत्र-कार की समालोचना की जाए वह वार्त्तिक है। वार्त्तिक सूत्रमय होता है (जैसे पाणिनीय संप्रदाय में), गद्यमय भी होता है (जैसे न्याय संप्रदाय में) तथा श्लोक में भी होता है (जैसे पाणिनीय संप्रदाय में व्याघ्रभूति का 'श्लोक-वार्त्तिक')। कुमारिल का 'श्लोकवार्त्तिक' ग्रन्थ तो प्रसिद्ध ही है।

श्लोक टीका : यह कोई श्लोक भेद नहीं है। इसको यहाँ लिखने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि संस्कृत में कुछ टीकाएँ पद्य में भी लिखी गई थीं। का औणादिक पदार्णव इसका मुख्य उदाहरण है।

एकाधिकलेखककृत पद्य : संस्कृत में कुछ ऐसी भी कविता हैं, जिनका अर्ध भाग एक कवि का है, और दूसरा अर्ध-भाग अन्य कविका। शाङ्र्गधर-पद्धति में एक श्लोक है, जिसके विषय में यह कहा गया है कि इसके प्रथमार्ध की रचना शीला महारिका की है और द्वितीयार्ध की रचना भोजराज की है।[3]

संग्रह श्लोक : जिस श्लोक में किसी विषय की ना का विवरण दिया जाता है, वह संग्रह-श्लोक है। जितने 'संग्रह-श्लोक' मिलते हैं, उनमें अधिकांश त पर यह अर्थ चरितार्थ होगा, पर कुछ स्थलों पर यह भी देखा जाता है कि विस्तृत विचार को संक्षेप में जिस श्लोक में कहा जाता है, वह भी संग्रह-श्लोक कहलाता है। साधारणतया संग्रह-श्लोक मूल ग्रन्थकार के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति का बनाया हुआ होता है अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' लोचन में एक स्थान पर कहा है—'यदि वा उच्यते संग्रहश्लोकोऽयमिति भावः अतएवास्य श्लोकस्य वृत्तिग्रन्थे व्याख्यानं न कृतम्' (४।४)। यदि 'संग्रह-श्लोक' मूल ग्रन्थकार का होता तो वृत्तिकार उसकी व्याख्या भी करते—ऐसा कहने पर यह सूचित होता है कि संग्रह-श्लोक बाद में बनाया जाता है। संग्रह-श्लोक पहले पठित विषय के संक्षेपीकरण के लिए रचित होता है, यह 'पूर्वोक्तार्थ संग्रह-श्लोक' इत्यादि व्यवहार से जाना जाता है।

सूत्र-श्लोक : संस्कृत साहित्य में श्लोक को सूत्र कहने की परिपाटी भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के श्लोकों को सूत्र कहा ही गया है (षट्त्रिंशकं भरतसूत्र मिदं विवृण्वन्—अभिनवगुप्त टीका), तथा मम्मट के 'काव्य प्रकाश' की कारिकाओं को भी 'सूत्र' कहा जाता है। यहाँ श्लोक को सूत्र माना गया है।

तिलक : सूक्तिलक्षण श्लोक को 'तिलक' कहा जाता है। क्षीरस्वामी ने कहा है—'तिलकेन मण्डयति तिलकयति, इयं सूक्तिरचना' (क्षीरतरंगिणी १०-२६५)। सूक्ति=शोभन उक्ति।

मुक्तक आदि : श्लोक के परिमाण-भेद पर उनके विभिन्न नाम दिए गए हैं। इस विषय में यह कारिका प्रचलित है—

''यत्र वाक्यार्थविश्रान्तिः श्लोकेनैकेन जायते
तन्मुक्तकं युगं द्वाभ्यां त्रिभिः स्यात् तिलकं पुनः
चतुर्भिः स्याच् चक्लकं पञ्चभिः कुलकं ततः
महाकुलकमित्यार्याः कथयन्ति ततः परम्''

('समन्वयप्रदीप')

---

[1] अनुवंशश्लोक का सम्बन्ध पुराविद् विद्वानों से भी था (अत्रानुवंश श्लोकोऽयं गीतो विप्रैः पुराविदैः 'वायु पुराण' २७८)। जिससे यह भी सूचित है कि इन श्लोकों का ऐतिहासिक मूल्य भी था। [2] गाथा श्लोकबद्ध ही होते थे, 'गाथा गीता' प्रयोग बार-बार आता है ('महाभारत' वनपर्व ८८।५; आश्वमेधिक पर्व ३२।४)। गाथा के उल्लेख वेद ग्रन्थों में भी मिलते हैं ('शतपथ' १३।५।४।१५ ऐतरेय ३।४३ इत्यादि)। [3] श्लोक यह है—'इदमनुचित- पुंसां, यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः। यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा' (शाङ्र्ग०)। यह भी श्लोक-रचना का एक प्रकार ही है।

यहाँ एक श्लोक से मुक्तक, दो से युग, तीन से तिलक, चार से चक्कलक, पाँच से कुलक और उससे अधिक श्लोक होने पर महाकुलक होते हैं, यह कहा गया है।

श्लोक-रचना के विषय में यह भी द्रष्टव्य है कि प्राचीन ग्रन्थों में अर्थानुरोध से छन्द-रचना की गई है, छन्द के अनुसार पद्य की रचना नहीं है (द्र० 'रामायण' 'महाभारत')। अर्वाचीन काव्यों में दूसरी रीति की प्रचुरता है। यह एक गम्भीर विषय है और हम आगामी निबन्ध में इसका स्पष्टीकरण करेंगे।

—रामशंकर भट्टाचार्य

टीकमणि संस्कृत कॉलेज,
दशाश्वमेध, काशी

एक बार की बात है कि सर जगदीशचन्द्र बोस पेरिस में ठहरे हुए थे और उन्हें जन-साधारण के लिए प्रयोग-सहित एक व्याख्यान देना था। उन्होंने देखा कि उनकी विषवाली बोतल खाली हो गई है। जिस महिला के यहाँ वे ठहरे थे, उससे उन्होंने किसी औषधि-विक्रेता का पता पूछा। महिला ने कहा : ''आपको जो भी औषधि मँगवानी है; मैं अपने नौकर से अभी मँगवाए देती हूँ। आप इतना कष्ट कीजिए कि एक कागज पर लिख दीजिए कि आपको कौन-सी दवा चाहिए।''

सर जगदीशचन्द्र बोस ने ''पोटाशियम साइनाइड'' का नाम लिख दिया। यह इतना तीव्र विष है कि उसके तिल-भर के सेवन से एक प्रौढ़ व्यक्ति की मृत्यु तुरन्त हो सकती है। दवा बेचनेवाले ने जब उस कागज़ को देखा तो उसने यह समझा कि सम्भवतः उस नौकर की मालकिन जो कि एक अत्यन्त प्रसिद्ध महिला थीं, किसी बात से रुष्ट हो कर आत्महत्यया करना चाहती है। इसलिए उसने उक्त विष के बदले चीनी दे दी। व्याख्यान के समय पौधे पर विष का प्रभाव दिखाने के लिए सर जगदीशचन्द्र बोस ने जब उस नए खरीदे हुए 'विष' का पौधे पर प्रयोग किया तो पौधा मुरझाने के बदले अधिक चेतन हो उठा। बोस ने एकदम जान लिया कि वह विष नहीं था और उसे चख कर उन्होंने घोषित कर दिया कि विष मँगवाने पर दवाखाने से उन्हें चीनी मिली है। औषधि-विक्रेता भी उस जन-समूह में सम्मिलित था। जब बोस के सामने आ कर उस औषधि-विक्रेता ने विष के बदले चीनी देने का कारण बतलाया तो सारा जन-समूह ठहाका मार कर हँस पड़ा।

स्वामी विवेकानन्द

भारत की प्राचीनतम उत्कृष्ट सन्त-परम्परा रूढ़ीग्रस्त होने से अपना महत्त्व खो चुकी है। फिर भी मध्यकाल की तरह वर्तमान-युग में उस परम्परा से देश और समाज को कल्पनातीत लाभ पहुँचा है। उन्नीसवीं सदी का प्रारम्भ भारत के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण कहा जा सकता है। वैसे इस दुर्भाग्य का प्रारम्भ १७५७ में पलासी की पराजय के साथ ही हो गया था। १८५७ में उस दुर्भाग्य के विरुद्ध की गई क्रान्ति के असफल होने से उसकी काली घटाएँ और भी गहरी हो गईं। अंग्रेज-कूटनीतिज्ञों और ईसाई पादरियों ने हमको मानसिक और बौद्धिक गुलामी में जकड़ने की जो योजनाएँ बनाई थीं, वे यदि सफल हो गई होतीं तो लार्ड मैकाले के विश्वास के अनुसार बीस वर्षों में बंगाल में एक भी हिंदुस्तानी अपने धर्म में श्रद्धा और अपने देश में आस्था रखने वाला नहीं मिलता। ईसाई पादरियों के विश्वास के अनुसार सारे देश को ३० वर्षों में ईसाई रंग में रँग दिया जाता। हमारे स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान को इस बुरी तरह कुचल दिया जाता कि हमारे हृदयों में सदियों तक स्वतन्त्रता की लहर पैदा नहीं हो सकती थी। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के विरुद्ध विद्रोह के रूप में स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द का प्रादुर्भाव हुआ था। यही युग-धर्म था, जिसकी पूर्ति दोनों संतों ने अत्यन्त तत्परता के साथ की।

स्वदेश और स्वधर्म की इस महान् सेवा के कारण स्वामी विरजानन्द और स्वामी दयानन्द तथा श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की गुरु-शिष्य की जोड़ी का पुण्य-स्मरण अत्यन्त श्रद्धा एवं कृतज्ञता के साथ चिरकाल तक किया जाता रहेगा। स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु की शिक्षा-दीक्षा को साधना और सेवा का रूप देकर जो महान् कार्य किया, उसका महत्त्व वेदान्त-प्रचार की अपेक्षा पश्चिम से उठी हुई ईसाईयत की बढ़ती लहर से टक्कर लेने में कहीं अधिक है। स्वामी दयानन्द के कार्य का भी यही महत्त्व है। स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका और यूरोप जाकर उसको जो चुनौती दी, उसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सका। उन्होंने उसकी दिशा को ही बदल दिया।

१८९३ में केवल ३० वर्ष की आयु में शिकागो-सम्मेलन में और उसके सात वर्ष बाद फिर पैरिस-सम्मेलन में उन्होंने अपने व्यक्तित्व तथा विद्वत्ता की ही नहीं किन्तु अपने देश, अपने धर्म, अपने साहित्य और अपनी संस्कृति की भी छाप समस्त अमरीका और यूरोप पर लगा दी थी। शिकागो-सम्मेलन के संस्मरण लिखने वालों ने यह स्वीकार किया है कि पश्चिम के ईसाई लोगों ने यह पहली बार अनुभव किया कि उनके धर्म की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन, स्वरूप की दृष्टि से महान्, दार्शनिक दृष्टि से गम्भीर, नैतिक दृष्टि से पूर्ण और सुन्दर एवं आकर्षक कोई दूसरा धर्म इस संसार में विद्यमान है। अन्यथा ईसाई पादरियों के पक्षपातपूर्ण प्रचार के कारण भारत के लोगों को भी अमरीका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया आदि के आदिवासियों के समान जंगली, असभ्य एवं अशिक्षित मान लिया गया था। भारत में किए जाने वाले ईसाईयत के प्रचार के लिए सारे ईसाई-जगत् की सहानुभूति, सहयोग एवं सहायता प्राप्त करने के लिए वैसा प्रचार जान बूझ कर किया गया था। अपने धर्म, संस्कृति, साहित्य, इतिहास तथा ज्ञान-विज्ञान के प्रति यहाँ के लोगों में भी घृणा, तिरस्कार एवं दीनता-हीनता इतनी अधिक भर दी गई थी कि ब्रह्म-समाज तथा प्रार्थना-समाज आदि के संस्थापकों सरीखे विचारक भी अपने उद्धार के लिए पश्चिम की ओर देखने लग गए थे। स्वामी विवेकानन्द ने ऐसी दीन-हीन भावना के प्रति महान् क्रान्ति पैदा की थी। अमरीका में सर्व-धर्म-सम्मेलन में और उसके बाद किए गए अमरीका के व्यापक दौरे में, उनके जो भाषण हुए, उन सब में स्वदेश और स्व-धर्म का अभिमान सर्वोपरि रहता था। वे अमरीकनों के सामने समता और समानता के नाते प्राचीनता का जब बखान करते थे, तब श्रोता दाँतो-तले उँगली दबा कर रह जाते थे। अपने पहले भाषण के आरम्भ के ही शब्दों में उन्होंने विश्व के सबसे अधिक युवक तथा अर्वाचीन राष्ट्र को अपने सबसे महान् एवं प्राचीन देश की बधाई दी और

संसार के सबसे अधिक पुराने वैदिक सन्यासियों की ओर से आशीर्वाद दिया। तब शिकागो के सर्व-धर्म-सम्मेलन में उपस्थित विश्व के चुने हुए विद्वानों की भारत तथा हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में पुराने विचार और पुरानी धारणाएँ सहसा बदल गईं। ईसाई धर्म की आलोचना न करते हुए भी उन्होंने उसकी कसौटी पर ईसाइयों को परखा तथा दूसरे देशों में तलवार के बल पर ईसाई धर्म के प्रचार और दूसरे देशों तथा धर्मों, विशेषतः भारत तथा हिन्दू-धर्म को हीन-दृष्टि से देखने की तीव्र भर्त्सना की। उन्होंने वेदों का संदेश देते हुए यह घोषणा की कि हिन्दू-धर्म ईसाई धर्म की तरह मनुष्य को पापात्मा नहीं मानता। वह उसको ईश्वर का प्रतिनिधि, उनके अनन्त सुख का भागीदार और उसकी आत्मा को मृत्यु से ऊपर मानता है। शिकागो के सर्व-धर्म-सम्मेलन में उन्होंने यह सीधा प्रश्न पूछा: तुममें से कितने ऐसे हैं, जिन्होंने हिन्दू-शास्त्रों को पढ़ कर हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त की है? जब सात-आठ हजार लोगों में से केवल तीन-चार ही हाथ ऊपर उठे, तब उन्होंने सिंह गर्जना करते हुए कहा कि इस पर भी तुम मेरे देश और मेरे धर्म के सम्बन्ध में अन्तिम फ़ैसला देने का साहस करते हो। ईसाई पादरियों के धर्म प्रचार की आलोचना करते हुए उन्होंने अपने भाषण में यहाँ तक कहा था कि यदि सारे भारतवासी हिन्द महासागर का कीचड़ अपने हाथों में लेकर पश्चिम के देशों पर फेंकना शुरू करें तो उनका यह व्यवहार तुम्हारे उस व्यवहार की तुलना में अणु-समान भी नहीं होगा, जो तुम हमारे देश में जाकर हमारे देश और धर्म के प्रति करते हो। तलवार के जोर पर किए गए ईसाई धर्म के प्रचार की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा था: संसार के और ईसाई धर्म के सारे इतिहास में से ऐसा एक तो उदाहरण बताओ, जहाँ तुमने तलवार के बल पर अपने धर्म का प्रचार न किया हो।

डा० ऐनी बीसेन्ट ने उनकी इस अमरीका यात्रा के संस्मरणों में लिखा है कि लोग आश्चर्य के साथ यह पूछते हैं कि क्या यह हिन्दू नास्तिक है, जिसके देश में हम ईसाई पादरी भेजते हैं। चाहिए तो यह कि यह हमारे यहाँ अपने मिशनरी भेजे। प्रायः सभी समाचार-पत्रों में एक स्वर से यह स्वीकार किया गया था कि स्वामी विवेकानन्द के देश में ईसाई मिशनरी भेजना सबसे बड़ी मूर्खता है। इस प्रकार स्वामी जी ने अमरीका की जनता के दिमागों में अपने देश तथा अपने धर्म के सम्बन्ध में जो नई धारणा पैदा की और ईसाई पादरियों द्वारा पैदा किए गए भ्रम का निवारण किया, वह उनका सबसे बड़ा काम था और यही थी उनकी सबसे बड़ी देश-सेवा। पेरिस-सम्मेलन के निमित्त सन् १९०० में जब वे पेरिस गए और उसके बाद जब यूरोप की यात्रा की, तब उन्होंने अपने इस कार्य को और भी अधिक वेग तथा उत्साह के साथ किया। यूरोप के विद्वानों की मानव-धारणाओं और विचारों का निराकरण किया, भारतीय संस्कृति को सबसे अधिक प्राचीन बताते हुए कहा: "ग्रीक, रोमन और अरब संस्कृतियों के मिट जाने पर भी मेरे देश की संस्कृति और उसमें मानव को नया सन्देश देने की वैसी ही क्षमता विद्यमान है।" किसी भी रूप में अपने देश, अपने धर्म और अपनी संस्कृति की हीनता उनको स्वीकार न थी।

ईसाई पादरी, विशेष कर रोमन कैथोलिक उनसे ईर्ष्या और द्वेष करने लग गए थे। उन्होंने उनको बदनाम करने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा। उनके चरित्र पर भी लांछन लगाने का प्रयत्न किया गया। पेरिस में सम्मेलन के द्वार उनके लिए बन्द कर दिए गए और उसमें होने वाली चर्चा को धर्मों के ऐतिहासिक प्रादुर्भाव तक केवल इसलिए सीमित कर दिया गया था कि शिकागो की तरह कहीं उस पर भी पूर्व की विचारधारा छा न जाए; जिसका प्रतिनिधित्व विवेकानन्द करते थे। फिर भी उनके प्रभाव को दबाया नहीं जा सका।

स्वदेश की दृष्टि से उनकी दूसरी बड़ी सेवा यह है कि उन्होंने व्यक्तिगत साधना को सार्वजनिक सेवा का साधन बना दिया। रामकृष्ण-मिशन का आधार, उनकी यह कल्पना है। देश के युवकों में अन्धभक्ति की अपेक्षा जीवन और जागृति की प्रतीक-शक्ति का संचार करने पर उन्होंने पूरा जोर दिया। वे कहा करते थे कि: "आँख मूँद कर और नाक पकड़ कर साधना करने की अपेक्षा फुटबाल का खेल स्वर्ग का सीधा मार्ग है।" रूढ़ि-परम्परा और अन्ध-विश्वास के वे कट्टर विरोधी थे। उनका संदेश यह था: "किसी भी चीज को केवल इसलिए मत मानो कि वह किसी धर्म-पुस्तक में लिखी है। किसी भी बात को केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि वह

१६५७

किसी धर्म-गुरु ने कहा है। सचाई को स्वयं जानने और समझने का यत्न करो। आत्मा को प्राप्त करने का यही मार्ग है।" इस प्रकार उन्होंने अपने देश-वासियों में आत्मविश्वास, स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की जो य भावना पैदा की, उसी के गर्भ में से उस राष्ट्री-ता का जन्म हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप आज हम स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे हैं।

शंकराचार्य की तरह स्वामी विवेकानन्द की भी इहलीला बहुत छोटी आयु में केवल ३६ वर्ष में समाप्त हो गई। बहुत पहले उन्होंने यह अनुभव करना और कहना शुरू कर दिया था कि : "उनकी आत्मा का विकास जिस रूप में हो रहा है, उससे उसका भार उनका यह शरीर अधिक दिन नहीं उठा सकेगा।" इसका कारण जब उनसे पूछा गया, तब उन्होंने कहा : "उन जैसे संत पुरुषों के जीवन की बत्ती दोनों ओर से जलती है। इसलिए वह जल्दी समाप्त हो जाती है। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण में दिन-रात लगा रहने वाला महान् व्यक्तित्व अधिक दिन जीवित न रह सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?"

हनुमानरोड,
नई दिल्ली

—सत्यदेव विद्यालंकार

हैम्पशायर के एक किसान ने गायों के सम्बन्ध में एक कहानी सुनाई जिससे यह ज्ञात होता है कि गायें कितनी समझदार होती हैं।

कुछ समय पूर्व उसने अपने नए काटे हुए घास को सुरक्षित रखने के लिए बिजली की तारों का बाड़ा बनवाया जिससे कोई अन्दर प्रवेश न कर सके। बिजली जब चलती थी तब घड़ी की तरह टिक टिक की आवाज चलती थी। जब बिजली नहीं चलती तब यह टिक टिक की आवाज भी नहीं होती थी।

किसान ने देखा कि जब तक तो टिक टिक की आवाज होती है—कोई गाय बा के नजदीक नहीं आती परन्तु टिक टिक की आवाज बन्द हो जाती है तो गौयें बाड़े के पास आ पहुँचती हैं और किसी-न-किसी प्रकार खाने लग जाती हैं।

मुस्लिम जगत् का बृहस्पति 'अलबेरूनी'

एक तरफ़ जब मुहम्मद ग़ज़नी भारत के जन-धन-कला से विध्वंसात्मक खिलवाड़ करने में व्यस्त था, तब दूसरी ओर उसी के फौजी खेमे में रात गुज़ारने वाला एक ऐसा भी मुस्लिम व्यक्ति था; जो भारत के हिन्दुओं की विशेषता, उनकी कला, विद्वत्ता और उनके सांस्कृतिक जीवन को समझने में अपने बुदबुदे-से जीवन को सार्थक बना रहा था। वह था—अबी अलरैहाँ मुहम्मद बिन अहमद 'अलबेरूनी'।

हमारे इस मुसलमान अतिथि 'अलबेरूनी' का जन्म ४ सितम्बर, ई. स. ९७३ को गुरुवार के दिन, प्रातःकाल के समय ख़्वारिज़्म में हुआ था। यह विशुद्ध अजमी (फ़ारसी) वंश का था। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण यह अपने को अध्ययनशील बनाता रहा और अपनी महत्त्वकांक्षा को फलीभूत करने के लिए जीवटता को सींचता रहा। अपने समय के प्रायः आसपास के सभी विद्वानों से उसने लाभ उठाया। अल जाफ़री, याकूब इन तारीक़, अलख़्वारिज्मी से शिक्षा पाई थी और बल्ख़ के अबू मगशर तथा अलकिन्दी से आवश्यकतानुसार ज्ञान प्राप्त किया था। प्रसिद्ध ज्योतिषी बन्दादुल सरहसनी और अबू नसर बिन अली बिन इराक से ज्योतिष का अध्ययन किया था।

इस तरह से वह ग़रीबी से टक्कर लेता हुआ अपने बौद्धिक स्तर को ऊँचा बढ़ाता रहा और 'रै नगर' को चला गया। बाद में यहाँ से जुर्जानाधीश शम्सुल मुआली के कहने से जुर्जान चल पड़ा। यहाँ उसे अपनी बेशक़ीमती युवावस्था के दिन शान्ति से गुज़ारने का अवसर प्राप्त हो गया। दिन-भर अध्ययन और निरीक्षण के अलावा उसके पास कोई धन्धा नहीं था। जब देखो तब 'अलबेरूनी' ज्ञान-सागर में डूबा ही नज़र आता। इस मननशीलता का परिणाम यह हुआ कि उसे दुनियादारी के झगड़े तथा विवाह से नफ़रत हो गई। अतः आजीवन विवाह न करने का वह निश्चय कर बैठा। यहीं उसने 'तजरीदुल शुआआत' और 'प्राचीन जातियों की काल गणना' नामक विवेकपूर्ण ग्रन्थ लिखे। जिसे उसने अपने प्रतिपालक शम्सुल मुआली को ही अर्पण किए तथा वहाँ, जितना भी लिखा, वह सब जुर्जानाधीश को ही समर्पित किया। इस समय उसकी उम्र २७ वर्ष की हो चुकी थी।

अब अलबेरूनी बच्चा नहीं—जवान था। मूर्ख नहीं—विद्वान् था। उसकी ख्याति चारों ओर फैल गई थी। अब वह इस स्तर पर पहुँच गया था कि उसके मुल्क के प्रमुख व्यक्ति और विद्वान जन उससे वार्तालाप करने में अपने को गौरवशील समझने लगे थे। हिजरी सन् ४०० में, जब वह अपने स्वदेश लौटा, तो ख़्वारिज्म के तत्कालीन राजा मामूँ ने उसका बड़ा सत्कार किया और उसे अपने शाही दरबार का सभासद बना दिया। उन दिनों शाह मामूँ के दरबार में अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् बू अली सीना, बू अली मसकोया, अबुलख़ैर अलख़मार, अबू सहल मसीही, अबू नसर इराकी (यह अलबेरूनी का गुरु था), अबुलफ़र्ज बग़दादी दार्शनिक तथा ज़हीरुद्दीन अबुल हसन बिन, अबी अलकासिम बैहकी, सभासद के रूप में मौजूद थे।

ख़्वारिज़्म का राजा वैसे मुहम्मद ग़ज़नी के रिश्तेदारों में से एक था। परन्तु दोनों के दिल एक दूसरे से फटे हुए थे। अलबेरूनी का प्रभाव जब मामूँ के दरबार में बढ़ रहा था, तब मुहम्मद ग़ज़नी ने ख़्वारिज़्म-शासक के सभी विद्वान् सभासदों को निमन्त्रित कर चुका था। मुहम्मद ग़ज़नी की इच्छा थी कि किसी-न-किसी तरह ख़्वारिज़्म-राज्य को हड़प लिया जाए। लेकिन अलबेरूनी की वजह से मामूँ का शासन बहुत कुछ समय तक बचता रहा। अन्त में एक दिन मामूँ की हत्या हो गई और मुहम्मद ग़ज़नी ने ई. स. १०१७ में ख़्वारिज़्म पर पूरा कब्जा कर, अलबेरूनी को अन्य राजबंदियों के साथ ग़ज़नी ले गया।

समय के फेर ने अलबेरूनी को ग़ज़नी का वासी बना दिया। यहाँ उसका एक परम मित्र रहता था, जिसका नाम अबुल ख़ैर अल ख़म्मार था। यह मित्र, बग़दाद का एक ईसाई तत्ववेत्ता था और ग़ज़नी में वैद्यकीय धन्धा करता था।

अलबेरूनी यूनानी और भारतीय कला, गणित,

१६५७

दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण, नक्षत्र-विज्ञान से पूर्ण जानकारी रखता था। यद्यपि उसे यूनानी भाषा नहीं आती थी, फिर भी अपनी अरबी भाषा में जितनी अनूदित पुस्तकें प्राप्त हो सकीं, उसने उन्हें बड़ी दिलचस्पी से पढ़ीं और समझी थीं। भारत सम्बन्धी अनूदित पुस्तकें, भारत आने के कई समय पूर्व ही पढ़ चुका था। यही कारण था कि उसकी दृष्टि में भारत, गणित-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र में विशेष स्थान रखता था। उसकी प्रबल इच्छा हो उठी थी कि उसके देशवासी भारतीय ज्योतिष, दर्शन, गणित और भारत-सम्बन्धी समस्त सांस्कृतिक ज्ञान से परिचित हो जाएं।

भारत का संस्कृत साहित्य अलबेरूनी के वर्षों पूर्व अरबी भाषा के द्वारा मुस्लिम देशों में जा चुका था। बहुत कुछ सामग्री तो खलीफ़ा मन्सूर के समय, जिसका कि शासन सिन्ध में ई. स. ७५३ से ई. स. ७७४ तक रहा था, उसके द्वारा बग़दाद पहुँची और कुछ ईरान से होकर फ़ारसी भाषा में की गई अनुवादित ग्रन्थों से अरबी भाषा में भारतीय साहित्य का रेखांकन हुआ। भारत में बग़दाद से जो दूत, संवाददाता के रूप में आया करते थे, वे प्रायः अपने साथ शास्त्र-कला सम्बन्धी ग्रन्थ भी अपने देश को ले जाया करते थे। ब्रह्मगुप्त का 'खण्डखाद्यक' और 'सिधिन्द' नामक ग्रन्थ इसी ढंग से बग़दाद के विद्वानों के बीच पहुँचा। शासक हारूँ, जिसका शासन सिन्ध पर ई. स. ७८६ से ई. स. ८०८ तक रहा था, उसके समय में तो बहुत से हिन्दू विद्वान् बग़दाद ले जाए गए थे। वहाँ पर ये भारत निवासी चिकित्सालयों के अधिकारी तथा मुख्य चिकित्सक के पद पर नियुक्त किए जाते थे। इसी तरह से एक हिन्दू परिवार, जिसका कि नाम उस देश में बर्मक पड़ गया था, एक ऐसी ही सौहार्दिक अवस्था में था जो बग़दाद और उसके आस-पास के क्षेत्र से चतुर आदमियों को भारत में वार्ताहर के रूप में भेजा करता था। इसके अलावा, यही बर्मक भारतीय दर्शन, चिकित्सा, नक्षत्र-विद्या, विष-विद्या आदि शास्त्रीय ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद करवाता था। धन (धनिम् या धन्य), कंक (कंकामन), सादबर्म (वर्मन्), ये उन हिन्दुओं में से थे, जो बरसों वहाँ रहने के कारण इनके नामों में परिवर्तन हो चुका था और जो बग़दाद में प्रसिद्ध वैद्यक और विद्वान के रूप में सम्मानित थे। मुहम्मद ग़ज़नी के समय में भी अनेक हिन्दू, राजधानी ग़ज़नी और उसके आस-पास के क्षेत्र में व्यापारी, कारीगर, मिस्त्री, चिकित्सक की हैसियत से निवास करते थे। यहाँ की कई मसजिदों और भवनों में भारतीय शिल्पियों, श्रमिकों का क़ीमती श्रम लगा है।

भारत में आने के पूर्व ही अलबेरूनी अपनी कलम को भारत सम्बन्धी एक महान् ग्रन्थ की रचना में आज़मा चुका था। वह समूचा भारत नहीं देख पाया। केवल मुलतान, जलालाबाद, लमगाँव, पेशावर, अटक, झेलम, लाहौर, स्यालकोट, नन्दनदुर्ग, देख कर वापिस लौट गया था। उसने कश्मीर और सिन्ध भी नहीं देखा था। इस बीच भारतीय शास्त्रों सम्बन्धी ग्रन्थ जिसका कि नाम उसने "हिन्दुओं के सब प्रकार के—क्या उपदेय और क्या हेय विचारों का सत्य वर्णन" रखा, पूर्ण किया था। यह ग्रन्थ ई. स. १०३१ में लिखा था।

उक्त ग्रन्थ में उसने निष्पक्ष दृष्टि से भारत सम्बन्धी ज्योतिष ज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, समाज व्यवस्था, गणित शास्त्र, दर्शन आदि विषयों पर अपने विचार लिपिबद्ध किए हैं। यह पहला मुसलमान व्यक्ति है, जिसने पुराणों को पढ़ा और समझा था।

मुहम्मद की मृत्यु हो जाने से उसके देश में एक प्रकार की राज्यक्रांति पैदा हो गई थी। मसऊद, जो कि मुहम्मद का छोटा बेटा था, अपने भाई को क़ैद कर तथा उसकी आँखें फुड़वाकर और अपने चाचा को बन्दी बना कर राज्य का मालिक बन गया। इसके शासन का निर्माण हो जाने पर अलबेरूनी की दुनिया और चमक उठी, चूँकि मसऊद विद्वानों की बड़ी इज्ज़त करता था। इस शासक ने कई बुद्धिमान् व्यक्तियों को ग्रन्थ-निर्माण और उसके प्रकाशन की सुविधाएँ दे रखी थीं। विशेष तौर पर यह शासक अलबेरूनी पर बहुत स्नेह रखता था। अतः मसऊद ने अलबेरूनी की प्रेरणा से ही ज्योतिष विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर अध्ययन करने के लिए एक ज्ञान मन्दिर बनवा दिया था। अलबेरूनी ने ज्योतिष विषय पर अपने लिखे "क़ानून मसऊदी" नामक ग्रन्थ को इसी मसऊद शासन को समर्पित की है। दुर्भाग्य से ई. स. १०३६ में मसऊद का क़त्ल हो गया और उसकी जगह पर मोदूद सिंहा-

सन पर बैठा। इस शासक को अलबेरूनी ने अपनी 'मणिमुक्ता' नामक पुस्तक भेंट की।

अलबेरूनी बड़ा ही मननशील और कुशाग्र बुद्धि का व्यक्ति था। उसने संस्कृत से अरबी भाषा में 'कपिल का सांख्य दर्शन' ब्रह्मगुप्त का 'पौरस्त्य सिद्धान्त' 'ब्रह्म-सिद्धान्त' पतंजलि का 'योग-दर्शन' वराहमिहिर कृत 'बृहत्संहिता' 'लघु जातकम्' का अनुवाद किया। इतना ही नहीं भारत-सम्बन्धी २० पुस्तकें लिखीं।

इसके अतिरिक्त नगरों की द्राघिमाकों, स्थानों, कर्त्तों, दिशाओं, अन्तरों आदि विषय पर १५ ग्रन्थ लिखे। गणित-सम्बन्धी ८ (जिनमें भारत के गणित-विषय पर ६ ग्रन्थ) लिखे, राशियों और उनके मार्गों के विषय पर ४, यन्त्र और उनके प्रयोग पर ५, काल और समय सम्बन्धी ५ (जिसमें भारत-काल विषय पर एक ग्रन्थ), पुच्छल तारों तथा गेसूदार तारों के विषय में ५, विविध विषयों पर १२ (जिनमें २ ग्रन्थ भारत सम्बन्धी), फलित ज्योतिष पर ६ (जिसमें एक ग्रन्थ भारत के आयु सम्बन्धी विचार पर), हँसी-दिल्लगी पर १४ (जिसमें दो भारत से सम्बन्धित), विश्वास और धर्म-सम्बन्धी विषयों पर ६ ग्रन्थ रचे हैं। कहा जाता है कि अलबेरूनी के लगभग डेढ़ दर्जन ग्रन्थ और ऐसे हैं, जो लापता हैं।

अलबेरूनी की पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ संसार के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में आज भी सुरक्षित रखी हुई हैं। जैसे—इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, ब्रिटिश म्यूजियम, बर्लिन, बेरूत, आक्सफ़ोर्ड, जातीय पुस्तकालय पेरिस, लिटन पुस्तकालय, मदारिसातुल अलूम अलीगढ़, इंपीरियल लायब्रेरी कलकत्ता, कस्तुन्तुनिया और सर हेनरी राबिन्सन, मोशिए शेफ़र के यहाँ आप देख सकते हैं।

उपरोक्त कृतियों की संख्या देखते हुए यह कहना उचित होगा कि वह असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति था। चिन्तन और निर्माण, ये ही दो लक्ष्य उसके सामने थे। रेमण्ड विजले की राय है कि मुसलमानों की विद्या और विज्ञान के मार्ग को, अलबेरूनी से बढ़ कर शायद ही किसी के बलवान् मर्मज्ञ मस्तिष्क ने आलोकित किया हो। सी. ए. नेलिन्ग ने लिखा है कि अलबेरूनी गणित और सृष्टि-विज्ञान के क्षेत्र में इस्लाम का सबसे बड़ा प्रतिभावान् तथा सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता था।

अन्त में प्रकृति के विधान के अनुसार, उसने एक घातक रोग से ग्रसित होकर दिनांक ११ सितम्बर ई. स. १०४८ को इस दुनिया से विदा ली।

शुक्रवारिया, देवास
(मध्य-प्रदेश)
वाया इन्दौर

—लक्ष्मण आर. मेहता

मध्यम मार्ग

[बालि का अंगद को उपदेश]

सदा मध्यम मार्ग का ही
अनुसरण करना,
किसी से अधिक प्रेम या
वैर न करना,
क्योंकि दोनों ही अनिष्टकारक
होते हैं।

—'वाल्मीकि रामायण' से

कविवर पं. घासीराम व्यास

"मौन हुई है गायक तेरी,
क्यों यह विश्व मोहिनी बीन,
है जग का उत्थान-पतन
जिसकी स्वर लहरी के अधीन ?"

इन पंक्तियों के लेखक स्वर्गीय घासीराम जी व्यास अब स्वयं मौन हैं। उनके ललित कण्ठ रूपी बीन से निकलने वाली कविता की स्वर-लहरी में, विश्व के उत्थान-पतन को अपने आधीन रखने की अपूर्व शक्ति थी। सभी उसके सुनने में मस्त थे। किन्तु वह कुछ ही समय तक बज सकी और एक दिन अचानक बन्द हो गई। उसके बाद फिर वह कभी नहीं बजी।

व्यास जी का जन्म ५ सितम्बर, १६०३ को मऊ (बुन्देलखण्ड) में हुआ था। आपके पिता जी श्री मदन-मोहन व्यास, मऊ के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे। व्यास जी की प्रारम्भिक शिक्षा तो मऊ ही में हुई किन्तु फिर वे जबलपुर चले गए। जबलपुर में वे जिस वातावरण में रह कर अध्ययन करते थे, वह उनकी प्रतिभा के मुखरित होने में अधिक सहायक हुआ।

अध्ययन समाप्त होते ही व्यास जी साहित्य और राजनीति की सेवा में लग गए। उन्होंने राष्ट्र-सेवा की ओर से कभी अपना मुख नहीं मोड़ा। इसके लिए उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा। किन्तु उनमें स्थिरता की भावना इतनी प्रबल थी कि वे निरन्तर अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होते गए। उन्होंने जिस साहित्य का सृजन किया, वह भी राष्ट्र-प्रेम से अभिभूत था। उनकी वाणी में भारत-माता की करुण-पुकार का स्वर था। उनके राष्ट्र-प्रेम के गीत आज भी बुन्देलखण्ड में प्रचलित हैं। कवि, भारत के अन्य वीरों की भाँति शक्ति का वरदान माँगता है—

"प्रबल प्रताप-सा प्रताप हो, पराक्रम हो,
विक्रम-सा, विक्रम पृथ्वी-सा लक्ष सिर दे
साहस स्वदेश व्रत-धारण शिवाजी का-सा,
छत्रसाल-जैसी, दिव्य-दृढ़ता अमर दे
'व्यास' गुण गौरव गुमान गुरु गोविन्द-सा
लक्ष्मी महारानी ऐसी वीरता का वर दे
कर दे स्वतन्त्र भव्य-भारत हमारा देवि,
भारती ! हमें तू भारतीयता से भर दे।"

× × ×

स्वतन्त्रता-संग्राम की वीरांगना महारानी लक्ष्मी-बाई के लिए व्यास जी ने लिखा है :

"खोज कवि हारे मिली उपमा न सुखमा-सी
वीर-व्रत वाली पुण्य पुंज प्रण वाली-सी
छाई शुभ सुयश प्रताप की प्रभाली जग
हिमकर माली अंशुमाली ज्योति जाली-सी
बाई-सा' ब एक ही शरीर में प्रत्यक्ष 'व्यास'
त्रिगुणमयी थी, त्रयी-रूप शक्तिशाली-सी
महलों में लक्ष्मी, सभाओं में सरस्वती थी
शत्रुओं के सामने वही थी महाकाली-सी"

अपनी प्रेम विषयक कविताओं में गोपियों के प्रेम का वर्णन, जिस भावपूर्ण ढंग से किया है, वह अनोखा है :

"हम योग कुयोग को जानें कहाँ
रसना रस-रास रसालिनी हैं
गुण हीन, गँवारिनी ग्वालिनी हैं
पर प्रीति प्रतीति की पालिनी हैं
द्विज 'व्यास' कहैं तुम ऊधौ सुनौ
सदा सीधी सुचालु सुचालिनी हैं
भले भूखे रहैं, कि चुगैं मुक्ता
हम मानस राज मरालिनी हैं"

× × ×

"द्विज 'व्यास' रुचै किहि नीरस योग
सनेह सुधारस बोरिनी हैं
तुम ऊधौ भ्रमौ भरमौ न इतै
चित चोरहू को चित चोरनी हैं
घनश्याम छटा अभिराम की त्यों
मदमाति सुमंजुल मोरनी हैं

पद पदुम की प्रेमिका चोरनी हैं
नख-चन्द्र की चारु चकोरिनी हैं"

राष्ट्र-प्रेम के अतिरिक्त व्यास जी के हृदय में बुन्देलखरड के प्रति जो अगाध प्रेम और श्रद्धा थी, वह उनके गीतों से स्पष्ट झलकती है :

"वंदित विश्व में खरड बुन्देल है
और नहीं जिसका कहीं सानी
हो गया धन्य धरा में वही
जिसने कभी जो यहाँ का पिया पानी"

× × ×

"जाके शीश जमुन डुलावै चौंर मोद मान
नर्मदा पखारैं पाद-पद्म पुराय पेखी है
कटिकल केन किंकणी सी कलधौत कांति
बेतवा विशाल मुक्त माल सम लेखी है
'व्यास' कहै सो है सीस-फूल सम पुष्पावलि
पायजेब पावन पयस्विनी परेखी है
ए हो शशि ! साँची कहौ, साँची कहौ, साँची कहौ
दिव्य भूमि ऐसी दुनी और कहूँ देखी है"

कर्णावती (केन) नदी का वर्णन करते हुए तो उन्होंने उसके गौरव को महानता की सीमा तक पहुँचा दिया है :

"केन कलिन्दजा सी गिरी भूमि पै
पावन प्रेम पसारती आई
रोका जहाँ जिसने पथ को
उसके वहीं पैर उखारती आई
वीर व्रता कर्त्तव्य रता बन
भैरव नाद हुँकारती आई
टारती आई विपत्तियों को
महापर्वतों का उर फारती आई"

पं. घासीराम जी व्यास प्रायः दिल्ली रेडियो पर कविता पाठ करने जाया करते थे। वे सदैव मौखिक पाठ करते थे। इसलिए कभी-कभी रेडियो में निर्धारित छन्दों के अतिरिक्त भी पाठ कर जाते थे और प्रोग्राम इंचार्ज को कठिनाई में डाल देते थे। उनकी 'सरसी और धान' शीर्षक कविता बहुत प्रसिद्ध है। इसमें कवि के भाव जिस अनुभूति से प्रेरित होकर मुखरित हुए हैं, वह कवि की सच्ची भावुकता की पूर्ण परिचायक है। उदाहरण के लिए निम्न दो छन्द :

"अपनापन भूली, विभावरी के संग
पुराय प्रभात सी खेलती होली
दुनिया दुई मास दिवानी हुई
दिल बेंचती थी, करती थी ठठोली
जब आँगन में सरसी के समोद-
नवाँकुरों ने निज आँख जो खोली
पहले-पहले ही दिखाई पड़ी,
उन्हें स्वर्ण उषा मुख मीड़ती रोली"

× × ×

"कितने भले थे, दल दो दो अहा
उपमा-उपमा-उर सालती थी
सब रैन खड़ी-खड़ी तारिकाएँ
बड़ी लालसा से उन्हें लालती थीं
किरणें कलानाथ की केलि कलामयी
मंजु सुधा मुख ढालती थीं
तन सेंकतीं कोमल-कोमल वे
रवि रश्मियाँ प्यार से पालती थीं"

अपनी इस कविता में व्यास जी ने एक स्थान में भावों का प्रयोग अशुद्ध किया था और जिसके कारण उन्हें 'पीलिया' रोग हो गया था—

"जिसका रस पी कर प्रेम से जो,
मन माने प्रमोद मना रहे थे
जिसका सुख पा कर हरे-हरे हो
जग की अँखियों को जुड़ा रहे थे
यह देख के धान महान् दुखी
तन पीले पड़े मुरझा रहे थे"

बाद में जब मित्रों ने इस दोष की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया तो उन्होंने इसके बदले में लिखा—

"गुन-गुन गावै लगे रसिक सुजान अलि
कोकिल सुरीले सुर सरस नए-नए
उमगन लगी अंग-अंगन उमंग 'व्यास'
सुखद सुरंग बन बागन खरे भए
शिशिर कसालन से झुरस रहे थे जौन
पीरे तन तरु नए हरख हरे भए

१९५७

शीतल नयन लख नव अवनीतल पै
सुमन प्रफुल्लित परागन भरे भए''

और फिर व्यास जी पीलिया रोग से भी शीघ्र ही कारा पा गए थे। यह उनके काव्य में विद्यमान नुभूति का एक संस्मरण है।

व्यास जी स्वभाव से अत्यन्त मिलनसार, सुशील एवं सरल थे। वे चले गए और सदा के लिए चले गए। किन्तु उनके काव्य की गुंजन आज भी गूँज-गूँज कर उनकी प्रतिभा का आभास दिलाती है। यदि वह अधिक दिनों तक अपनी काव्य की स्वरलहरी को गुंजित करते रहते तो हिन्दी जगत् को अनेकों अमूल्य रत्न प्राप्त हो जाते।

कुटीर, मिलट्री लाइन्स,
(मध्य-प्रदेश;

—हरिकृष्ण देवसरे

सीलोन और ज्योतिष-शास्त्र

सीलोन के प्रत्येक वर्ग के लोगों का फलित ज्योतिष और जन्म-पत्री में अत्यधिक विश्वास है। जब तक वहाँ के लोग ज्योतिषी से सलाह नहीं कर लेते और वह यह नहीं कह देता कि दिन शुभ है, तब तक वहाँ कोई कार्य नहीं किया जाता। निर्वाचन हो या यात्रा, किसी दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने हों या रत्नों की खुदाई—और यहाँ तक कि चावल की खेती आदि कोई भी कार्य तब तक नहीं किया जाता, जब तक कि ज्योतिषी की अनुमति न प्राप्त हो जाए। इस सम्बन्ध में इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि कृषि-शास्त्री कहते हैं कि सीलोन में यदि किसान ज्योतिषियों के कहने में न आएँ और आधुनिक पद्धति से खेती करें तो वहाँ, चावल की पैदावार दुगनी हो सकती है।

जिस दिन मैं सीलोन पहुँचा—समस्त द्वीप के घर-घर में शादियों की धूम थी। बात यह थी कि वहाँ के ज्योतिषियों ने इस बात की घोषणा कर दी थी कि वह दिन बहुत मांगलिक और शुभ है और लोग उस दिन की प्रतीक्षा महीनों से कर रहे थे।

—गौर्डन गैबकिल के एक लेख से

मेरे पत्रकारिता के अनुभव

(३)

भारत की राजनीतिक क्रान्ति के इतिहास में १९१८ के अन्त और १९१९ के प्रारम्भ के कुछ मास चिरस्मरणीय रहेंगे। १९१८ के दिसम्बर मास के अन्तिम सप्ताह में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। उसमें प्रस्तावित 'रालट बिलों' का विरोध करते हुए जो भाषण दिए गए उनमें यह धमकी स्पष्ट रूप से विद्यमान थी कि यदि सरकार ने सीधी तरह राष्ट्र की आवाज़ को सुन कर काले कानूनों को बनाने का विचार न छोड़ा तो आन्दोलन के वे साधन भी काम में लाए जाएँगे जो वैधानिक नहीं कहला सकते। मैं उन दिनों गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में आचार्य का काम कर रहा था। मैंने भी 'सद्धर्म-प्रचारक' के प्रतिनिधि के तौर पर अधिवेशन में भाग लिया। जोशीले भाषणों से मेरी आधी सोई हुई राजनीतिक प्रवृत्ति उत्तेजित हो उठी और मैंने शिक्षक का कार्य छोड़ कर दिल्ली से दैनिक-पत्र निकालने का निश्चय कर लिया।

दैनिक-पत्र निकालने का निश्चय तो कर लिया परन्तु उसके लिए जिन साधनों की आवश्यकता है वे कहाँ से आएँगे इस पर क्षण भर के लिए भी विचार नहीं किया था। यह मेरी युवावस्था का दोष था या अपरिचित आशावाद का, या दोनों का सम्मिलित, आज इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। जेब या बैंक में एक भी पैसा नहीं था, उस कठिन कार्य में सहायता देने वाला व्यक्ति भी दृष्टि के सामने नहीं था और पत्र के छपने के लिए प्रेस की आवश्यकता होगी इस पर भी गम्भीरता से विचार नहीं किया था। 'बर्न बैश्चन रोड' नया बाज़ार (वर्तमान श्रद्धानन्द मार्ग) उन दिनों नया, नया बन रहा था। लाहौरी दरवाज़े के पास के दो ब्लाक तैयार हो चुके थे। उसमें पहले ब्लाक के दूसरे मकान की एक मंज़िल किराये पर ले कर और उस पर दैनिक 'विजय' का साइन-बोर्ड लगा कर मैंने यह समझा कि दैनिक-पत्र के प्रकाशित होने का उद्योग-पर्व पूरा हो गया।

परन्तु जब दूसरे दिन चटाई डाल कर और 'डेस्क' पर कागज़ रख कर इति कर्तव्यताओं की सूची बनाने लगा तो प्रतीत हुआ कि अभी तो चित्रपट भी नहीं है, चित्र बनाने की सामग्री और चित्र का तो स्वप्न लेना भी सम्भव नहीं। ऐसे संकट के समय में ईश्वरीय सहायता मिलनी आरम्भ हुई। अच्छे उद्देश्य से किए गए साहसिक कार्य ईश्वर की सहायता से ही पूरे हुआ करते हैं। पहली सहायता एक साथी के रूप में मिली। साथी का नाम 'श्री तारिणी प्रसाद सिंह' था। संक्षेप में उनका नाम था 'टी. पी. सिन्हा'। टी. पी. सिन्हा अनेक विशेषताओं के कारण अद्भुत प्राणी थे। पहले उनकी वेष-भूषा का विवरण सुनिए। सिर पर लम्बे और घुँघराले बाल रखते थे, दिन में किसी समय एक बार बालों में कंघी कर लेते थे अन्यथा उनमें गर्द तिनके आदि अनेक पदार्थ उलझे रहते थे। वेश बिहारियों का सा था, खद्दर का लम्बा कुर्ता, धोती और चप्पल! मूँछें और दाढ़ी भी बढ़ी हुई थीं। रूप रंग में जो कमी थी वह उनके वाक् चातुर्य से पूरी होती थी। अंग्रेज़ी धारा प्रवाह बोलते थे। उच्चारण सर्वथा अंग्रेज़ों का-सा था। 'थियोसोफ़ी' में रहने के कारण अंग्रेज़ी बातचीत में असाधारण कुशलता प्राप्त थी। अपनी भाषा में तो कहना ही क्या। नए से नए आदमी को दो मिनट में दोस्त बना लेते थे, दिन भर उसके साथ घूम कर चार पाँच उसके काम बना और पाँच सात अपने काम निकाल लेना साधारण बात थी। हम लोग उन्हें कहा करते थे 'आप सचमुच टी. पी. सिन्हा हैं।" क्योंकि वे घर से कभी नाश्ता लेकर नहीं चलते थे। जिस किसी के यहाँ जाते थे उसी के यहाँ चाय (टी) पीते थे। उनकी कार्य-प्रणाली का अनुमान मेरे कार्य से सम्बन्ध रखने वाले—एक दृष्टान्त से लग सकेगा।

हम दोनों ने मिल कर निश्चय किया कि पत्र का नाम "विजय" रखा जाय। मुझे यह विचार पसन्द आया, क्योंकि उससे भाई हरिश्चन्द्र जी द्वारा चलाए हुए 'विजय' का पुनर्जीवन होता था। सिन्हा साहब के मन में क्या था, यह मालूम नहीं। जब पत्र के

१६५७

फिर 'डिक्लरेशन' लेने का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तब मैंने यह सन्देह प्रकट किया क्योंकि मेरी सरकारी फ़ाइल अच्छी नहीं है; इस कारण संभव है मुझ जैसे राजद्रोही को डिक्लरेशन लेने में असुविधा हो। इस पर सिन्हा साहब ने मुझे आश्वासन दिया कि 'डिक्लरेशन' की आप चिन्ता न करें। मैं कल शाम तक 'डिक्लरेशन' लाकर आपके हाथ में दे दूँगा।'' इस बढ़े हुए आत्म-विश्वास पर मुझे हँसी तो आई परन्तु मैं चुप हो गया। दूसरे दिन प्रातः काल बिना प्रातराश लिए वह प्रतिज्ञा-पूर्ति की मुहिम पर चल दिए। दिन-भर अनुपस्थित रहे। हम लोग यह सोचते रहे कि शाम को सिन्हा साहब कोरे हाथ लौटेंगे, क्योंकि 'डिक्लरेशन' मिलने में तो सामान्य रूप से कई सप्ताह व्यतीत हो जाते हैं। एक दिन में भला काम कैसे पूरा होगा? शाम के ६ बजे के लगभग हम लोग आश्चर्य में पड़ गए, जब तारिणी-प्रसाद जी ने 'डिक्लरेशन' का स्वीकृत आज्ञा-पत्र मेरे हाथ में दे दिया।

हमारे पूछने पर सिन्हा साहब ने अपना दिन-भर का कार्य-विवरण सुनाया। घर से चल कर वह सरकार के एक ऊँचे अधिकारी के यहाँ पहुँचे जो बिहारी-सिन्हा थे और थियासोफ़िस्ट भी। वहाँ से उन्होंने चीफ़ कमिश्नर के यहाँ टेलीफ़ोन करके मिलने का समय माँगा। समय मिल गया। चीफ़ कमिश्नर के यहाँ पहुँच कर सिन्हा साहब ने उसे बताया कि अंग्रेज़ों की और उनके मित्रों की युद्ध में जो जीत हुई है, उसके उपलक्ष में हम 'विजय' नाम पत्र निकाल रहे हैं। 'मिसेज़ एनी बेसेन्ट' और 'मिस्टर अरंडेल' आदि के परिचय का निर्देश करते हुए चीफ़ कमिश्नर को विश्वास दिला दिया कि पत्र राजभक्त होगा। फिर क्या था, घंटे-भर में सारा काम, पूरा कर दिया गया और पाँच बजे दफ़्तर बन्द होने से पहले 'डिक्लरेशन' की स्वीकृति तारिणीप्रसाद जी को मिल गई। दोपहर की चाय उन्होंने चीफ़ कमिश्नर के यहाँ और शाम की ए. डी. एम. के यहाँ पी। मुझे तो मानो मुँह माँगी मुराद मिली। मैं खटपट के कामों में बहुत ही अनाड़ी हूँ। मेरे लिए जो सबसे बड़ी समस्या थी, वह सिन्हा साहब की सहायता से पूरी हो गई।

दूसरा प्रश्न यह उठा कि पत्र को प्रकाशित करने के लिए प्रेस कहाँ से आए। दिल्ली के एक पुराने राजनैतिक गुजराती कार्यकर्ता मि. के. ए. देसाई नए बाज़ार में ही रहते थे। उनके पास एक छोटा-सा प्रेस था। प्रेस में एक 'हैण्ड-प्रेस' था और एक छोटी-सी ट्रेडल थी। डेढ़ दो फ़ार्म कम्पोज करने लायक टाइप भी था। प्रेस को चलाने के लिए कुछ धन की आवश्यकता थी। उसकी एक हितैषी संभ्रांत महानुभाव से प्राप्ति हो गई। तब हमने विजय कम्पनी लिमिटेड का आयोजन कर लिया। कम्पनी के प्रारम्भिक डाइरेक्टर तीन थे—श्रीयुत देसाई, श्री सिन्हा और मैं।

तीन-चार सप्ताह के उद्योग से प्रेस और पत्र की योजना पूरी हो जाने पर—'विजय' के प्रकाशन की तिथि निश्चित की गई। अन्तिम परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या समाचार प्राप्त करने की थी। उन दिनों दिल्ली में 'एसोशिएटेड' के मैनेजिंग डाइरेक्टर मि. रॉय थे। मैं उनसे मिला। राय महोदय वयोवृद्ध थे और मीठे स्वभाव के कारण लोकप्रिय थे। मैंने उनसे मिल कर यह निवेदन किया कि आप बहुत थोड़े रुपयों में 'विजय' के लिए ए. पी. आइ. की संक्षिप्त से संक्षिप्त 'सर्विस' देना स्वीकार करें; उन्होंने उस समय मेरे कन्धे पर थपकी देते हुए जो शब्द कहे वह मैं सैकड़ों बार दोहरा चुका हूँ और कई स्थानों पर लिख भी चुका हूँ। आपने अंग्रेज़ी में जो कुछ कहा उसका अभिप्राय यह था—''नौजवान, मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि दिल्ली से अखबार मत निकालो। दिल्ली अख़बारों के लिए बंजर भूमि है।'' इस पर मैंने उत्तर दिया—''आप मुझे यह परीक्षण कर लेने दीजिए शायद मेहनत से बंजर में भी पौदा पनप जाए।'' तब राय महोदय ने गम्भीर होकर सलाह दी कि ''यदि दैनिक पत्र निकालना ही है तो 'सर्विस' मत लो। 'पायनियर' सुबह आ जाता है। उसमें से समाचार लेकर सायंकाल तक पत्र निकाल दिया करो। अभी व्यर्थ में खर्च मत बढ़ाओ।'' यह सलाह मुझे पसन्द आ गई और 'पायनियर' के सहारे 'दैनिक विजय' का प्रकाशन आरम्भ कर दिया गया।

प्रारम्भ में 'विजय' के प्रबन्ध-विभाग के अध्यक्ष और सहायक और सब कुछ तारिणीप्रसाद जी थे। सम्पादकीय विभाग में एक मैं था और दूसरे गुरुकुल के स्नातक श्री देवराज जी, जो अब नहीं रहे। कुछ समय पीछे तो सम्पादकीय विभाग में कुछ अन्य महानुभाव भी आए, जिनमें से पं. भीमसेन जी विद्यालंकार और पं. मंगलदेव जी के नाम स्मरण हैं। पत्र का प्रचार

बढ़ने पर स्नातक बलभद्र और उनके बड़े भाई स्नातक चन्द्रकेतु जी भी प्रबन्ध-विभाग की अध्यक्षता करते रहे। तब तक सिन्हा साहब अपने सैलानी स्वभाव के के अनुसार विलायत जा चुके थे। जहाँ वह 'मानचेस्टर गार्डियन' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे थे।

१६१६ के आरंभ में दिल्ली में हिन्दी के दैनिक पत्र के लिए कैसा क्षेत्र था; इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि पहले अंक की ५०० प्रतियाँ छापी गई थीं जिनमें से दिल्ली में केवल ७० बिकीं। उनके सम्बन्ध में भी बेचने वालों की यह रिपोर्ट थी कि अधिक संख्या कन्या पाठशालाओं में पढ़ने वाली कन्याओं ने ख़रीदी। बाबू लोग अंग्रेज़ी अख़बार पढ़ते थे और हिन्दू दुकानदार उर्दू अख़बार। अंग्रेज़ी अख़बारों में से 'पायनियर' और 'लीडर' का अधिक प्रचार था और उर्दू अख़बारों में शायद लखनऊ का कोई पत्र बड़ी संख्या में बिकता था। दिल्ली के 'बंजर भूमि' होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि उर्दू या हिन्दी में कोई स्थानीय पत्र नहीं निकलता था। अंग्रेज़ी में एक गोराशाही दैनिक पत्र प्रकाशित होता था, जिसमें बड़ी सफ़ाई से 'पायनियर' के बहुत से समाचार काट कर दे दिए जाते थे, विशेषता इतनी ही थी कि 'पायनियर' एक आने में बिकता था और वह पत्र दो पैसे में। उन दिनों छोटे और देसी भाषा के अख़बारों का दो पैसे मूल्य रखने का ही रिवाज़ था।

केवल ७० कापियाँ बिकने पर कुछ हितैषियों को बड़ी चिन्ता हुई। निराश व्यक्तियों में से एक सिन्हा साहब भी थे। पत्र निकलने के थोड़े ही दिनों पश्चात् वह दिल्ली से चले गए थे। पत्र निकालने का श्रेय प्राप्त करना ही उन्होंने पर्याप्त समझा।

कुछ समय तक 'विजय' की गति बहुत मन्द रही। दिल्ली के आस-पास यू. पी. और राजपूताने के कुछ नगरों में एजेंसियाँ स्थापित हो गई थीं, जिनमें सब मिला कर चार-पाँच सौ पर्चे चले जाते थे। मित्र लोग तो मुझे नित्य ही समझाते थे कि यह काम चलने वाला नहीं है परन्तु मैं अपने आग्रह पर डटा हुआ था, तो भी मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि मेरे आशावाद की कुछ कलियाँ मुर्झाने लग गई थीं जब भवितव्यता ने बीच में पड़ कर सारी परिस्थिति को ही बदल दिया, तब दिल्ली की वनस्थली में भी हरियाली लहलहाने लगी क्योंकि मार्च के अन्त में महात्मा गाँधी का 'रालट बिलों' के विरोध में खड़ा किया हुआ सत्याग्रह आन्दोलन बरसाती बादलों की तरह उमड़-घुमड़ कर दिल्ली पर छा गया और शीघ्र ही वह भारत के सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त हो गया था परन्तु उसके प्रथम दर्शन दिल्ली में ही हुए। राज्य-क्रान्ति के उस उत्थान ने 'विजय' के लिए संजीवनी बूटी का काम दिया।

महात्मा जी ने मार्च में सत्याग्रह की घोषणा की। दिल्ली में जो सत्याग्रह-समिति स्थापित हुई, उसके दो मंत्री थे—एक डा० अब्दुल रहमान और दूसरा मैं। सत्याग्रह की उस घोषणा ने देश-भर में एकदम क्रान्ति का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। देशवासियों के हृदयों में एक नई चेतना, अग्नि की ज्वाला के समान फैल गई थी। जब महात्मा जी ने सत्याग्रह-संग्राम के पहले पग के तौर पर एक दिन की हड़ताल और उपवास का आदेश दिया तो यह सचमुच आश्चर्य-जनक बात हुई कि बीसियों साम्राज्यों के खण्डहरों से दब कर निश्चेष्ट पड़ी हुई दिल्ली-नगरी सबसे पहले उठ कर खड़ी हो गई। सुख की मोह-निद्रा में सोए हुए दिल्ली के निवासियों ने देश-भर से पहले महात्मा जी के आदेश का पालन किया और ३० मार्च को हड़ताल कर दी। अन्य स्थानों पर वह जीवनदायी मातमी दिन ६ अप्रैल को मनाया गया। ३० मार्च को दिल्ली में जो कुछ हुआ, वह भारत की अहिंसात्मक राज्य-क्रान्ति का आदिपर्व है। उस दिन वह सभी कुछ हुआ जो राज्य-क्रान्ति में होना चाहिए। जनता का उत्साह चरम सीमा तक पहुँच गया था, हड़ताल हुई, नरनारियों ने उपवास किया, भीड़ इकट्ठी हुई, पुलिस ने गोली चलाई, दिल्ली के चाँदनीचौक में निरपराध देशवासियों के रक्त की धारा वह निकली और उस धारा ने कम-से-कम कुछ समय के लिए हिन्दू-मुसलमानों के भेदभाव को मिटा कर एकता का वातावरण पैदा कर दिया। यह संक्षिप्त वृत्तान्त मैंने यह समझाने के लिए लिखा है कि 'विजय' के और मेरे जीवन में एकदम सर्वांगीण परिवर्तन कैसे आ गया। मेरी युवावस्था थी, फ्रांस और इटली की राज्य-क्रान्तियों की हवा दिमाग़ में भरी हुई थी। उस पर सत्याग्रह की घोषणा चिनगारी की तरह पड़ी। यह तो कैसे कहूँ कि क्रान्ति के झंझावात ने मेरे संतुलन को बिगाड़ दिया। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि मैं

सत्याग्रह-समिति का मन्त्री बनते ही तन्मय हो गया और मेरे साथ ही 'विजय' अशान्ति का अग्रदूत बन गया।

उस समय पत्र के सम्पादन से सम्बन्ध रखने वाले अधिकतर कार्य मैं स्वयं ही करता था। शहर में घूम-घूम कर समाचार इकट्ठे करता था, उन्हें लिखता था, उन पर सम्पादकीय टिप्पणियाँ अंकित करता था और आन्दोलन सम्बन्धी घोषणाएँ भी हिन्दी में स्वयं ही तैयार करता था। फलतः 'विजय' मार्च के अन्त में सत्याग्रह के आन्दोलन का मुख्य प्रचारक समझा जाने लगा।

अब तो सारा दृश्य ही बदल गया। दिल्ली से उर्दू या हिन्दी में और कोई दैनिक पत्र प्रकाशित नहीं होता था। अंग्रेज़ी के गोराशाही पत्र को सरकार का पिट्ठू समझा जाता था। नगर में उसके पढ़ने वाले भी कुछ दर्जन ही होंगे। ३० मार्च के प्रातःकाल यह हालत थी कि सारे शहर में 'विजय' की पुकार हो रही थी। हमारे पास एक हैंड-प्रेस था, ख़रीदार हज़ारों थे। सुबह से पत्र छपना शुरू होता था, शाम तक छपता रहता था तो भी शहर की माँग पूरी नहीं होती थी। संयुक्त-प्रदेश के आगरा, बरेली आदि और राजपूताने के अजमेर, जयपुर, जोधपुर आदि शहरों के एजेन्ट तार पर तार भेज रहे थे कि कापियाँ बढ़ाओ। परन्तु यहाँ स्थानीय माँग को पूरा करना ही असम्भव हो रहा था। कुछ दिन तक तो यह हालत रही कि दफ़्तर के नीचे सड़क पर सैकड़ों की भीड़ लगी रहती थी। जहाँ दस पर्चे छपे कि नौकर को देकर नीचे भेज दिया जाता था। पढ़ने वालों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। जो हिन्दी पढ़ना नहीं जानते थे, वे पर्चा ख़रीद कर दूसरों से पढ़वा लेते थे। 'विजय' का पर्चा दुकानदारों से लेकर ठेले वालों और झल्ली वालों तक के हाथों में दिखाई देता था।

जिन नगरों तथा ग्रामों में 'विजय' का प्रचार हो रहा था, उनकी राजनीतिक जागृति में पत्र का प्रमुख हाथ था। उस समय के 'विजय' के पाठक जानते हैं कि उन स्थानों में प्रारंभिक राजनीतिक जागृति की धारा बहाने का श्रेय 'विजय' को ही था, जो दिल्ली में बहती हुई नदी से जल लेकर आस-पास के स्थानों की राजनैतिक दृष्टि से बंजर पड़ी हुई भूमियों को उपजाऊ बना रहा था।

जब मैं 'विजय' के उन दिनों के अंकों को पढ़ता हूँ, तब स्वयं आश्चर्य-चकित हो जाता हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा की स्पष्टता और उग्रता पर भी कोई प्रतिबन्ध हो सकता है, इसका अनुभव ही नहीं था। इसका एक दृष्टान्त देना ही पर्याप्त है। उन दिनों दिल्ली के कोतवाल खान बहादुर हमीदुद्दीन साहब थे, जो लँगड़े थे। यह बात प्रसिद्ध हो गई थी कि ३० मार्च के हंगामें में कोतवाल ने रिवाल्वर से गोली चला कर एक लड़के को मार दिया था। दूसरे दिन बाज़ार में एकत्रित भीड़ को हटाने के लिए कोतवाल को आना पड़ा। इस समाचार का शीर्षक था "लँगड़ा ख़ूनी मैदान में" छोटी आयु थी, नया जोश था और अभी संसार की ठोकरें नहीं खाई थीं। इसी शैली में सारा पत्र भरा रहता था। स्वाभाविक ही था कि सर्व साधारण जनता उसे पढ़ कर आनंदित होती और उत्साहित भी होती। पत्र ऐसे फैल गया, जैसे पानी में तेल फैल जाता है। लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि सरकार ऐसे बेलगाम पत्र को कैसे चलने दे रही है। शायद अधिकारी यह समझते थे कि दिल्ली की बंजर भूमि में पौदा स्वयं ही कुम्हला जाएगा। परन्तु जब देखा कि कई महीने बीत गए, कुम्हलाना तो एक ओर रहा, पौदा अधिकाधिक फैलता जा रहा है तो उसने कुठाराघात करने का निश्चय किया। पहला प्रहार 'सेंसर शिप' के रूप में आया। आज्ञा हुई कि सब लेख कम्पोज़ होने के पश्चात् 'सेंसर' के पास भेजे जाए, जब वे काट-छाँट कर दें, तब पत्र छापा जाए। पहले 'सेंसर' महा महोपाध्याय पं. बाँकेलाल शास्त्री नियत किए गए। वह भी एक भद्दा मज़ाक था। एक दैनिक समाचार-पत्र के लेख, समाचार आदि कम्पोज़ हो कर सेंसर के पास जाएँ, वहाँ रात-भर पड़े रहें और दूसरे दिन प्रातःकाल काट-छाँट के साथ छपने के लिए वापिस मिलें; आज यह अचिन्तनीय बात मालूम होती है। परन्तु उस समय इस प्रक्रिया के लागू होने पर भी मैंने 'विजय' को प्रकाशित करना आवश्यक और सम्भव समझा।

पं. बाँकेलाल जी पुराने ढंग के पंडित थे। राजनीति से कोई वास्ता नहीं रखते थे। शायद हिन्दी पढ़ने का भी अधिक अभ्यास नहीं था। 'विजय' के मैनेजर श्री बलभद्र विद्यालंकार को बैठा कर प्रायः उन्हीं से

पत्र सुन लेते थे और जहाँ गाँधी, सत्याग्रह अथवा अन्य महा महोपाध्याय के कान को खटकने वाले शब्द आते थे, उन्हें कटवा देते थे। एक दिन सारा का सारा अग्रलेख ही कटवा दिया। उस पर मैंने अग्रलेख के स्तम्भों में निम्न लिखित शेर दे दिया :

> "क़रीब है यार रोज़े महशर,
> छुपेगा कुश्तों का ख़ून कब तक
> जो चुप रहेगी ज़ुबाने खंजर
> लहू पुकारेगा आस्तीं का"

यह शेर दिल्ली के अधिकारियों की छाती में नश्तर की तरह चुभा। छापा भी गया था बिना सेंसर कराए। फिर क्या था, दिल्ली-सरकार का क्रोध सीमाओं को पार कर गया। दिल्ली से बाहर के कई शहरों में विजय के पर्चे ज़ब्त किए जाने लगे। 'सेंसरशिप' और भी कड़ा हो गया। और प्रिंटर को बुला कर प्रेस की ज़ब्ती आदि की धमकियाँ दी गईं। सेंसर के कारण दैनिक पत्र का निकालना बेकार सा हो रहा था। प्रत्येक समाचार ४८ घंटे पिछड़ जाता था। इन परिस्थितियों से बाधित होकर निश्चय करना पड़ा कि दैनिक 'विजय' बन्द कर दिया जाए और साप्तहित रूप में निकलता रहे। होनहार पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने कई सप्ताह तक साप्ताहिक 'विजय' को चलाने का प्रयत्न किया। परन्तु परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल थीं कि साप्ताहिक भी बन्द करना पड़ा। इस प्रकार 'विजय' का यह दूसरा जीवन भी चिर-स्थायी न हुआ। इस परीक्षण से मैंने दो शिक्षाएँ ग्रहण कीं—प्रथम यह कि पर्याप्त साधनों के बिना दैनिक पत्र देर तक नहीं चलाया जा सकता। दूसरी यह कि यदि लेखनी को निर्भयता और स्वाधीनता से चलाना हो तो भी उसकी नोक को थोड़ा-सा घिस लेना आवश्यक है। यह तो आशा न रखनी चाहिए कि घिसी हुई लेखनी से लिखे हुए लेखों को सरकार देर तक सहन करती जाएगी परन्तु इतना अवश्य है कि छोटी-सी सावधानता पत्रकार को क़ानूनी शिकंजे में फँसने से कुछ काल तक बचा सकती है।

पत्रकारिता के इस तीसरे परीक्षण को समाप्त करके मैं फिर अपने दूसरे शौक़—शिक्षक-वृत्ति की ओर झुक गया और फिर गुरुकुल जाकर 'उपाध्याय' का कार्य करने लगा। मेरे नाम के साथ 'प्रोफ़ेसर' की जो उपाधि लगी हुई है—वह उन्हीं वर्षों का अवशेष है।

जवाहर नगर,
दिल्ली

—इन्द्र विद्यावाचस्पति

तेलुगु कहावतें

काकि पिल्ल काकिकि मुद्दु
कौए का बच्चा कौए को प्यारा (अपना बच्चा सबको प्यारा)

पैन पटारं लोपल लोटारम्
बाहर चमक-दमक भीतर शून्य (ऊँची दूकान, फीका पकवान)

चच्चिनवाडि कंड्लु चारडेसि
मृत व्यक्ति की आँखें बड़ी (आदमी की क़द्र मरने के पश्चात्)

विघ्नेश्वरुडि पेंड्लि कि वेइ विघ्नालु
गणपति के विवाह के लिए हजार विघ्न (कानी के ब्याह को सौ-सौ जोखिम)

सिकन्दराबाद

—बी. एम. कात्यायनी देवी

रेडियो

प्रथम दृश्य

(फेड इन)

[दूर से सीटी बजाने की आवाज़ क्रमशः समीप आ रही है। धुन है—"ज़िन्दगी ख़्वाब है, ख़्वाब में झूठ क्या, और भला सच है क्या ?" धुन को दो बार गाया जाता है और इसके बाद बड़ी नाटकीयता से उमेश कहता है—'सब सच है ।']

(दरवाज़ा खुलने की आवाज़)

रमेश : क्या सच है, उमेश भैया ?

उमेश : (चौंक कर) सच ! (क्षण भर रुक कर) और हाँ सच तो है, यह ज़मीन, यह आकाश, यह दिन, यह रात और यह अपनी क्लर्की। देखता नहीं रमेश, जब से शादी की है, तब से सिवाय तनख़्वाह के इन्क्रीमेंट के अलावा तो कुछ भी तो नहीं बदला है।

रमेश : (धीरे लम्बे स्वर में) हाँ भैया, मैं भी तो बारह साल का हो गया हूँ; फिर भी कुछ नहीं बदला (रुक कर) पर आज एक चीज़ बदल गई है।

उमेश : (हठात्) वह क्या ?

रमेश : ज़रा कान नज़दीक लाओ तो बताऊँ, थोड़ा-सा और लाओ न (बहुत धीमे से) श्रीमती १०८ कमला जी की बड़ी-बड़ी आँखें (धीमी हँसी)

उमेश : रमेश जी गोया उनकी आँखें, आँखें नहीं गिरगिट है। जैसा रंग देखती हैं, वैसी ही बदल जाती है। पर हमारा कमाल देखना। चुटकी बजाते उनके गर्म-गर्म स्वभाव को ठण्डा किए देते हैं। हाँ, यह तो बता सुधा और सुरेश कहाँ हैं ?

रमेश : सुधा दीदी भूख को शान्त करने के लिए अपनी सहेली प्रतिभा के यहाँ गई है और सुरेश भैया किसी होटल में बैठा तन्दूर की रोटियों से लड़ रहा होगा।

उमेश : और आप ?

रमेश : मैं अब बैठक में जाकर मैथमेटिक्स से सिरपच्ची करूँगा। सुना है, भूखे पेट के साथ यह मैथमेटिक्स भी शरारत नहीं करती।

उमेश : और तुम्हारी भाभी ?

रमेश : कलह-गृह में याने छोटे कमरे में। (क़दमों की आहट सुनाई पड़ती है) मालूम पड़ता है कि भाभी जी की सवारी आ रही है। मैं चला भैया, कुम्हार कुम्हारिन से पहुँच न आएगा तो बेचारे इस गधे......

उमेश : चुप (रमेश का प्रस्थान) यह कमला सारा मज़ा किरकिरा कर देती है। सोचा था कि आज तनख़्वाह मिली है। 'जागते रहो' जैसी फ़िल्म देखेंगे पर......।

कमला : (चिढ़ कर) पर मैं सदा ढोंग करके सो जाती हूँ। क्यों ?

उमेश : (परेशानी से) पर मैंने तो ऐसा नहीं कहा।

कमला : तुम्हारे कहने का मतलब मैं खूब समझती हूँ।

उमेश : समझती रहो, पर तुम्हें हुआ क्या है ?

कमला : हुआ क्या है, सिर में दर्द !

उमेश : भगवान का लाख शुक्र है कि तुम्हारे पेट का दर्द शान्त है। कहीं वह खड़ा हो जाता तो...।

कमला : आ गए न अपने असली रूप में। साफ़-साफ़ क्यों नहीं कह देते कि मैं ढोंग करती हूँ, मेरे दर्द-वर्द कुछ भी नहीं है।

उमेश : (सव्यंग) श्रीमती जी, धीरे-धीरे बोलिए आपके सिर में दर्द है, जोर से बोलेंगी तो और बढ़ जाएगा।

कमला : तुम्हारे राज्य में दर्द बढ़ेगा नहीं तो घटेगा कैसे ? ओह प्राण निकल रहे हैं।

उमेश : मैं अभी डाक्टर को बुला कर लाया।

कमला : उसकी कोई जरूरत नहीं है, दिन-भर काम-काज करते-करते बोर हो जाती हूँ। आराम करूँगी तो ठीक हो जाऊँगी।

उमेश : ना बाबा ना। कल संध्या को फिर दर्द जग गया तो ? यह हर रोज़ की चूल्हा हड़ताल तो मेरा

दिवाला निकाल देगी। तुम आराम करो, मैं अभी डाक्टर को बुला कर लाया।

कमला : अभी नहीं, मैं कहती हूँ कि उसकी कोई ज़रूरत नहीं।

उमेश : तुम नहीं जानती, यह दर्द बड़ा भयानक है।

कमला : फिर जाओ, तुम मेरा कहना थोड़े ही मानोगे। न जाने किस पंडित ने जन्म कुण्डलियाँ देखी थीं।

उमेश : सुनते हैं कि वह आपके मामा जी दिगम्बर प्रसाद ज्योतिषाचार्य काव्य शास्त्री......!

कमला : मेरे मामा ?

उमेश : जी हुज़ूर !

कमला : देखो जी, मैं कहती हूँ कि...!

(तभी पड़ौसी के घर से रेडियो की आवाज़ आती है)

[आवाज़—देख तेरे संसार की हालत क्या हो गई भगवान्, कितना बदल गया इन्सान!]

उमेश : आज यह रेडियो किसके यहाँ बज रहा है ?

कमला : (सव्यंग) यह रेडियो उनके यहाँ बज रहा है, जो अपनी पत्नी को चाहते हैं, प्यार करते हैं और उसकी इच्छा पूरी करते हैं।

उमेश : (गम्भीरता से) मतलब ?

कमला : साफ़ है। अपने पड़ौसी सुधाकर जी की पत्नी ने एक बार जरा डाँट कर कहा कि, सुधाकर जी रेडियो ले आए और इधर मैं रो-रो कर प्राण दे दूँ, पर तुम्हारे कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती।

उमेश : बहुत खूब, रोग सिर-दर्द नहीं रेडियो है, अरे बोलती क्यों नहीं ? (गम्भीर और प्यार से। कम्मू, उनमें और हमारे बीच कितना अन्तर है ? वे मियाँ-बीवी और हम ठहरे सात प्राणी। यह रूखी-सूखी खा कर संतोष करने वाला हँसता-गाता परिवार किस संगीत और कला की दुनिया से कम है ? सुधा, सुरेश, रमेश और हमारे नन्हें-मुन्हे राधा और राजन किन कलाकारों से कम हैं ? अभिनय, हास-परिहास और रूठना-मनना सभी तो हम एक दिन में देख लेते हैं। (पीछे संगीत भी बजता रहता है)

कमला : (चिढ़ कर) तुम इनको देख-देख कर फूला करो, मुझे इनमें कोई दिलचस्पी नहीं। यह केवल भावुकता भरा आलाप है। सुधाकर जी तुम से सौ रुपए कम पाते हैं। उनकी मैडम कह रही थी रेडियो किश्तों पर आया है। (कुछ रुक कर) उमेश! मुझे रेडियो का बड़ा शौक़ है। कम-से-कम साधारण मनोरंजन की सामग्री तो होनी ही चाहिए।

उमेश : पर उसके लिए रुपए......

कमला : (पाँव पटक कर) ओह...रुपए, रुपए, रुपए...रुपयों की मुसीबत से तो जीवन-भर छुटकारा नहीं हो सकता, और......।

(सुरेश और रमेश का प्रवेश)

रमेश : (जैसे वे दूर से बोल रहे हों) भैया सुरेश पति-पत्नी नामक नाटक अपने क्लाइमेक्स में है, सुधा होती तो मजा आ जाता।

(सुधा का प्रवेश)

सुधा : मैं भी आ गई हूँ सुरेश-रमेश, बात क्या है ? क्या इस नाटक में हमें भी कोई पार्ट मिलने वाला है ?

सुरेश : मैं अभी पूछता हूँ (समीप आकर) क्यों भाभी, यह किस अंक का कौन-सा दृश्य है ?

कमला : (रोष से; तुम सब चुप रहो। तुम नहीं जानते कि तुम्हारी भाभी के सिर में दर्द है।

सुधा : सिर में दर्द है ? भैया तुम कहो तो मैं प्रतिभा की सहेली डा० नीला को बुला लाऊँ।

सुरेश : (उपहास से) बात यह है कि ज्यों ज्यों दवा की मर्ज़ बढ़ता ही गया।

उमेश : ऐसी बात नहीं है। बस एक रेडिओ ले आओ।

कमला : (एकदम आवेश में) हाँ, हाँ रेडिओ, मेरे सिर दर्द की दवा रेडियो है, रेडिओ रेडियो......।

(थोड़ी देर चुप्पी)

सुधा : (गम्भीर स्वर में) भैया, वैसे भाभी अनुचित बात नहीं कह रही है। रेडिओ घर में होना ही चाहिए। क्यों सुरेश ? फिर सिगरेट; बड़े बेशर्म हो गए। बड़े भैया के सामने सिगरेट पी रहे हो ? याद रखना जिस दिन मैं कानून-मंत्रिणी बन गई; उस दिन इस 'कलेजा-फूँक देवी' पर प्रतिबन्ध।

सुरेश : भगवान् वह दिन तो दिखाए कि तुम मन्त्रिणी बनो।

उमेश : तुम कहो न अपनी बात, किसी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बनना चाहिए।

१६५७

जिसे जो अच्छा लगता है, वह करे ।

सुरेश : हियर-हियर, सुधा ! उमेश भैया तुम्हारी तरह जड़ बुद्धि नहीं हैं ।

सुधा : हुँ । अच्छा, तुम्हारा क्या ख़याल, है, सुरेश कि रेडिओ घर में होना चाहिए या नहीं ?

सुरेश : ज़रूर साधारण मनोरंजन के बिना मन ऊब उठता है । मेरे मित्र गोपाल का कहना है कि रेडिओ बिना ज़िन्दगी, ज़िन्दगी नहीं संगीत-विहीन, नीरस, घुटी-घुटी उफ़ ! तबीयत पस्त हो उठती है ।

कमला : सुन लिया ! हम सब मोटर गाड़ी तो नहीं माँग रहे हैं, जिसके लिए आपको एक कमीशन बिठाना पड़े । फिर कहीं आप कोई निर्णय करें ।

उमेश : जब आप सभी लोग एकमत हैं तो मैं भी इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करूंगा ।

कमला : सोचना-विचारना क्या है ? रेडिओ आपको लाना ही पड़ेगा ।

सब : हाँ, हाँ, लाना ही पड़ेगा ।

उमेश : (टूटते स्वर में) अच्छा ले आऊँगा ।

सुधा : थ्री चेयर्स फॉर सुरेश भैया 'हिप-हिप...'

कमला, सुधा, रमेश : हुर्रे ।

(संगीत के साथ दृश्य परिवर्तन)

दूसरा दृश्य

(दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़)

कमला : रमेश देख तो, फिर कौन आया है ? इन सुधा और सुरेश के मित्रों के मारे तो नाक में दम आ गया है ।

रमेश : देखता हूँ भाभी (दरवाज़ा खुलने की आवाज़) आप कौन हैं ?

आगन्तुक : अजी मैं 'पापुलर रेडियो मार्ट' से आया हूँ । मिस्टर उमेश शर्मा ने यह रेडियो भिजवाया है ।

रमेश : (प्रसन्नता से) भाभी, भाभी, भैया ने रेडियो भेजा है ।

कमला : (फेड इन) रेडियो, आइए, आइए साहब बैठिए ।

आगन्तुक : अजी बैठने की फ़ुर्सत कहाँ है ? बताइए कहाँ फ़िट करना है ?

कमला : इस बैठक में । रमेश बैठक का दरवाज़ा खोलना तो ? (दरवाज़ा खुलने की आवाज़) कौन-सा मेकर है ?

आगन्तुक : अजी मेकर प्योर हिन्दुस्तानी है । ऐसी मधुर और साफ़ आवाज़ देता है कि सुन कर तबीयत फड़क उठेगी...बताइए एरियल कहाँ फिट करूँ ?

कमला : जहाँ आप उचित समझें ।

आगन्तुक : अजी आप ही बता दीजिए, यहीं पर कर दूँ क्या ?

कमला : जी (थोड़ी देर के लिए चुप्पी)

आगन्तुक : अजी सब काम पूरा हो गया । अजी देखिए रेडियो को बच्चों से बचाइएगा । ये बच्चे तीन ही दिन में रेडियो को ख़राब कर देते हैं । (हँस कर) अजी आप तो जानती है कि किश्तों की चीज़ है । (फिर हँसता है, अजीब हँसी)

कमला : अजी अपनी चीज को कौन ख़राब करता है ।

आगन्तुक : अपनी (बात बदल कर) अजी आप ठीक फ़रमाती हैं । अब मुझे आज्ञा दीजिए, नमस्कार ।

कमला : नमस्कार (आगन्तुक का प्रस्थान) रमेश, फाटक बन्द कर लो ।

(दरवाज़ा बन्द करने की आवाज़)

रमेश : भाभी बच्चों का प्रोग्राम कब होता है ?

कमला : 'सारंग' देख कर बताऊँगी । जाओ अब थोड़ी देर आराम कर लो । शनिवार है, तुम्हारे भैया भी जल्दी आ जाएँगे ।

(थोड़ी देर तक शान्ति का संगीत फिर अलार्म का बजना)

कमला : ओह, तीन बज गए, रमेश कैसी गधे की नींद सो रहा है और ये राधा और राजन ऐसे लगता है कि नशा पीकर सोए हों ? (दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़) कौन हैं ।

सुरेश : मैं हूँ भाभी, सुरेश ।

कमला : खोलती हूँ (दरवाज़ा खुलने की आवाज़) आज खेलने नहीं गए ।

सुरेश : कैसे जाता ? तुम्हारे सिर का दर्द...।

कमला : हिश, चुप, देखो वह क्या है ?

सुरेश : अरे वाह भाभी, रेडियो ! मैं कहीं सपना तो नहीं देख रहा हूँ । है तो हक़ीक़त आख़िर तुमने भैया को मात दे ही दी ।

कमला : चाय पीने की इच्छा नहीं है ?

सुरेश : जरा उमेश भैया और सुधा को तो आने दो। अरे रमेश जी अब जरा उठिए, सवेरा हो गया।

कमला : उठ गए बेटा, जाओ राधा राजन को उठा दो। आइए सुधा जी।

सुधा : पालागी महामहिम श्रीमती कमला... रेडियो......!

सुरेश : अब तो मान जाओ सुधा कि भैया भाभी से डरते हैं।

सुधा : इसे कहते हैं प्रोग्रेसिविज़्म। पति की ना और पत्नी ने कर दी चूल्हा हड़ताल। परिणाम रेडियो।

सुरेश : मैं कहता हूँ कि विरोध समस्त नारियों को करना चाहिए। कैसा अन्याय है? नारी को घुटनदार चहारदीवारी में बन्द करके पुरुष आधी आधी रात तक सिनेमा नाटक क्लबों में घूमता रहता है और नारी को मनोरंजन साधारण सामग्री से भी वंचित रखा जाता है। दिस इज़ टू बैड। नारियों को इसका विरोध करना चाहिए।

सुधा : तभी भाभी जी ने इंकलाब कर दिया। भाभी चाय का बन्दोबस्त करो। (कमला का प्रस्थान) (रमेश का प्रवेश) बैठ जाओ रमेश।

सुरेश : सुधा। तुम तो न्यूज़ सुनना पसंद करोगी।

सुधा : आफ़ कोर्स मुझे तुम्हारे फ़िल्मी गीत पसंद नहीं हैं। बड़े बचकाने और निम्न स्तर के होते हैं। क्या 'जा' और 'आ' फिर जवानी दिवानी, कहानी छिः छिः छिः न साहित्य सौन्दर्य न सुन्दर अभिव्यक्ति।

सुरेश : गधा क्या जाने अदरक का स्वाद। रमेश जी, आप समाधि लगाये क्यों बैठे हैं?

रमेश : (लम्बी साँस छोड़ कर) क्या करें भैया, हमें तो यह भी पता नहीं है कि बच्चों का प्रोग्राम, कब होता है? दीदी खबरें सुनेगी और आप फ़िल्मी गीत और मैं...नहीं ऐसा नहीं हो सकता मैं अभी 'सारंग' ले कर आता हूँ। (उमेश का प्रवेश)

रमेश : लो उमेश भैया आ गये हैं।

(रमेश का भाग जाना)

उमेश : यह कहाँ भाग गया सुरेश?

सुरेश : 'सारंग' लाने, बच्चों का प्रोग्राम सुनेंगे (हल्की हँसी)

मुस्काई

उमेश : अब आप सबके मन की मुराद पूरी हो गई न?

सुरेश : हाँ भाभी साहिबा के सामने आप भी... (रेडियो की गड़गड़ाहट और फिर आवाज़ यह आकाशवाणी दिल्ली है। अब आप देवकीनन्दन पाण्डे से हिन्दी में समाचार...सुरेश रेडियो बन्द कर देता है)

सुधा : (तेज स्वर में) रेडियो क्यों बन्द कर दिया?

सुरेश : समाचार दो आने के पैसे खर्च करके पढ़ लिया करो।

सुधा : (गुस्से) नहीं जो मैं लेटेस्ट न्यूज़ सुनूँगी फिर शास्त्रीय संगीत और बाद में कवि सम्मेलन।

सुरेश : जैसे रेडियो आपके लिए ही आया हो। देखो उमेश भैया मैं यह अलाप नहीं सुन सकता।

सुधा : तुम कवि सम्मेलनों को अलाप कहते हो। यही हमारे स्वस्थ यनोरंजन के साधन है। रहे तुम्हारे फ़िल्मी गीत, हुँ। क्या अँखिया मिलाके, यह दिल है गर्म मसाला, नौनसेंस...वर्स्ट......

उमेश : शांतम् पापम्, शांतम् पापम्। पंडित जी आये ही नहीं और महाभारत प्रारम्भ। सुनो सुधा-सुरेश आज रेडियो का पहला दिन है। इसलिए किसी प्रकार दंगा-फ़िसाद नहीं होना चाहिए। गणतन्त्र युग है, वोट्स के लिए जाए। कमला ए गमला।

कमला : (दूर से) आई जी, (समीप आकर) कहिए।

उमेश : आज तो स्पेशल ही बनी होगी?

कमला : क्यों जी?

उमेश : आज आपके जन्म-जन्म की चिर-साध पूरी जो हो गई है।

कमला : वह तो कभी-न-कभी होती ही (रुक कर) अरे यह दोनों हनुमान जी की तरह क्यों बैठे हैं!

उमेश : सुधा कहती है कि मैं शास्त्रीय-संगीत सुनूँगी और सुरेश कहता है कि मैं फिल्मी गानें। निर्णय मतदान द्वारा होगा। बताओ तुम्हारा वोट किसकी ओर है।

(चाय के बर्तनों के खटकने की आवाज़)

कमला : सुधा की ओर। नारी सदा नारी का ही पक्ष लेगी और तुम्हारा?

(चाय डालने की आवाज़)

१६५७

उमेश : मैं तो न्यूट्रल रहूँगा, इस घर का दुखिया हूँ न ?

सुरेश : (चाय की ट्रे पर चम्मच की आवाज़) फिर मैं चला लेकिन कल में किसी को रेडिओ छूने तक नहीं दूँगा ।

कमला : सुरेश चाय तो पीते जाओ! ।

सुधा : जाने भी दो न भाभी, अभी आ जाएगा । (चाय की चुस्की की आवाज़) मैं इसकी अकड़ को खूब जानती हूँ ।

उमेश : अब यह रेडिओ तुम्हारे सिर का दर्द रहेगा । लाइए एक प्याली इधर भी श्रीमान् जी ।

(संगीत के साथ-साथ दृश्य परिवर्तन)

तीसरा दृश्य

(बर्तन मलने की आवाज़ के साथ रेडिओ की गड़गड़ाहट)

कमला : (थाली फेंक कर) घर क्या है मानो क्षेत्र । जब से रेडिओ आया है, तब से घड़ी-भर के मुझे चैन नहीं । कभी सुरेश रूठ जाता है और कभी ता, और यह राजन वक़्त-बेवक़्त सूई घुमाता ही रहता है । उफ़! रेडिओ क्या है—पूरा सिर दर्द । आज मैं फैसला करा कर ही दम लूँगी । भाड़ में जाए बर्तन (बर्तन फेंकना) मैं तो जा कर सोती हूँ । अरे कम्बख़्त, रेडिओ बन्द कर दे ।

(सन्नाटा)

(अलार्म का बजना)

कमला : (दूर से धीमे स्वर में) पाँच बज गए हैं । रमेश विचारा बिना नाश्ता किए बैठा होगा । (रमेश का प्रवेश)

उमेश : (दूर से) रमेश तुम्हारी भाभी कहाँ है ?

सुरेश : (धीरे से) उनके सिर-दर्द वापस शुरू हो गया ।

उमेश : क्या कहा ? (लम्बे स्वर में) सिर-दर्द फिर शुरू हो गया ।......मेरी समझ से अब की बार तुम्हारी भाभी टेलीफ़ोन की माँग करेगी ।

रमेश : (लम्बे स्वर में) नहीं उनका विचार है कि रेडिओ आउट आफ़ डेट हो गया है । अब वे टेलीविज़न चाहती हैं ।

(कमला का प्रवेश)

कमला : सुनो जी हर-वक़्त मज़ाक हमें पसन्द नहीं है । रमेश तुम जाओ ।

रमेश : जो आज्ञा । (प्रस्थान)

उमेश : अब किस चीज़ की माँग है ?

कमला : (झट से) रुपयों की ।

रमेश : बाप रे ! तुम्हारा सिर-दर्द क्या हुआ गोया एक अच्छा खासा डिमांड-पत्र है ।

कमला : (संयत स्वर में) देखो जी, आज शीतलाप्रसाद जी आए थे । वे ही शीतलाप्रसाद जी जो हमारी सुधा को देख कर गए थे । वे कह रहे थे "सुधा बिटिया हमें खूब पसन्द है । हम एक पैसा भी दहेज में नहीं लेंगे और बिलकुल सादगी से विवाह करेंगे । पर......।

उमेश : पर क्या ?

कमला : जैसे तुम कुछ जानते ही नहीं । पार्टी-वार्टी के लिए भी तो कुछ पैसा चाहिए । तन पर एक ज़ेवर नहीं होगा तो लोग क्या कहेंगे । मर्द चाहे कुछ भी न कहे पर औरतें ज़रूर कहेंगी कि बिना माँ की बेटी थी न, इसलिए भाभी ने नंगी-भूखी ससुराल बिदा कर दी ।

उमेश : (बनावटी लापरवाही से) मैं दुनिया से नहीं डरता । हम बिलकुल एडवांस आइडिया के हैं । और रेडियो, वी मस्ट हैव ए रेडियो...।

कमला : नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, समाज और दुनिया ? उफ़ ! मेरे सिर में बड़ा दर्द है ।

उमेश : दर्द है तो दवा खाओ ऐस्प्रो लीजिए दर्द गायब !

कमला : सुनो जी, अब हमें अधिक मज़ाक पसंद नहीं है । सुधा के बारे में हमें गम्भीरता पूर्वक सोचना ही चाहिए ।

उमेश : (लम्बी आह छोड़ कर) तुम्हें सुधा के विवाह की चिन्ता है और मुझे इस महीने की किश्त का फ़िक्र है । समय पर किश्त नहीं पहुँची तो रेडियो के साथ-साथ १५० रुपए भी गए ।

कमला : (तनिक उत्तेजना से) मैं कहती हूँ कि यह रेडियो अपने किसी मित्र को दे आओ, दस बीस कम में ही सही ।

उमेश : वाह जी, तुम इस मोहल्ले में मेरी नाक कटवाना चाहती हो ? तुम चाहती हो कि लोग मेरी इज़्ज़त पर धूल उछालें । कहें कि मिस्टर शर्मा का

रेडियो बिक गया। मैं तुम्हें साफ़-साफ़ कह देता हूँ कि मेरे लिए ऐसा करना असम्भव है।

कमला : (नम्रता से) मैं जानती हूँ कि इससे आपके सम्मान पर आघात जरूर लगेगा लेकिन उससे भी बढ़ कर महत्त्वपूर्ण सुधा के हाथ पीले करना है।

उमेश : अच्छा भाई मैं चला, अब सिर में दर्द......!

कमला : आप कहाँ जा रहे हैं, चाय तो पीते जाएँ।

उमेश : पहले मुझे किश्त देने का प्रबन्ध करने दो। (हँसी और क़दमों की आहट) मालूम होता है बलराम सहोदरा आ गए हैं।

सुरेश : नमस्कार भैया।

सुधा : प्रणाम...।

उमेश : (बीच में) बैठो, सुरेश-सुधा।

सुधा : आज भाभी का मूड कुछ बिगड़ा हुआ है।

उमेश : सिर में दर्द है।

सुधा : ओह, गॉड !

सुरेश : नई माँग होगी।

उमेश : इनकी नहीं मेरी। (गम्भीरता से) सुरेश! रेडियो, मैं तुम सब के कहने पर ले आया हूँ, दो महीने तक मैंने किसी भी तरह किश्त जमा करवा दी, पर अब मैं उसके लिए सर्वथा असमर्थ हूँ। इसलिए मैंने यह तय किया है कि इस माह से तुम्हारा जेब-खर्च बन्द।

सुरेश : (उत्तेजना से) यह कैसे हो सकता है ? मुझे रेडियो-वेडियो नहीं चाहिए।

उमेश : पहले ही कहना था। अब तो सात माह तक हरि-भजन करो।

सुरेश : यह बिलकुल अन्याय है। मुझे इस रेडियो का कुछ भी लाभ नहीं। मैंने कभी भी अपनी इच्छानुसार नहीं बजाया। मेरे लिए रेडियो रखो चाहे न रखो, मैं अपना ख़र्च बन्द नहीं करवा सकता।

उमेश : और सुधा तुम्हारा भी।

सुधा : (उत्तेजित हो कर) हाउ इट इज़ पासिबल। आप नहीं जानते कि काफ़ी बिना मैं शाम को कुछ काम भी नहीं कर सकती। मुझे रेडियो की कोई ज़रूरत नहीं। मैं अपनी सहेली प्रतिभा के यहाँ जा कर रेडियो सुन लूँगी। यदि आप मेरा ख़र्च बन्द कर देंगे तो मुझे भूख-हड़ताल करनी होगी।

उमेश : यह पहले क्यों नहीं सोचा ?

सुधा : हमें क्या पता था कि इसका भार...।

सुरेश : हमें ही उठाना पड़ेगा। हम इसे सहन नहीं कर सकते।

उमेश : फिर पहले क्यों कहा (नकल करता है) भाई साहब ! रेडियो घर में होना ही चाहिए।

कमला : (प्यार से) मैं भी कहती हूँ कि आप इन सब का ख़र्च बन्द कर दीजिए।

सुधा और सुरेश : (एक साथ) तुम भी।

कमला : पर रेडियो के लिए नहीं; सुधा के विवाह के लिए।

सुरेश : सुधा के विवाह के लिए। ओह भाभी! मैं सुधा के लिए 'कलेजा-फूँक देवी' (सिगरेट) तक को छोड़ सकता हूँ। सुधा का विवाह बड़े ठाट से होना क्यों चाहिए। सुधा ? तुन्हें भी अपने लिए कुछ त्याग करना चाहिए। अरे बोलती क्यों नहीं, शर्मा गई।

उमेश : मैं तुम लोगों का प्रस्ताव अस्वीकार करता हूँ। मैं रेडियो ही रखूँगा।

सुरेश : रखना है तो रखो, चलो सुधा, नहीं तो झगड़ा हो जाएगा।

कमला : बच्चों को भी साथ लेते जाना।

सुधा : फिर क्या एकान्त में भैया से जंग शुरू होगी। वार आफ़ मियाँ-बीबी।

(हल्की हँसी के साथ प्रस्थान)

कमला : हुँ तो तुम अपना हठ नहीं छोड़ोगे ?

उमेश : नहीं।

कमला : इसका मतलब यह है कि तुम कमा कर लाते हो, इसलिए तुम जो चाहोगे वही होगा ?

उमेश : ऑफ़ कोर्स।

कमला : (बिगड़ कर) फिर संभालिए अपना घर। (चाबियाँ फेंकने की ध्वनि) मैं चली डूबने।

उमेश : डूबने, ऐसी मौत बड़ी भयानक होती है। पहले-पहल दम घुटता है फिर कलेजा फटने लगता है। पीडा-दर्द और घुटन। अरे अपना पसीना तो पोंछ लो।

कमला : अब तो मैं मर कर ही पसीना पोछूँगी।

उमेश : सुधा के लिए इतना बड़ा त्याग कर रही हो।

कमला : (भारी स्वर में) उसकी भाभी हूँ, समझे ?

१९५७

उमेश : कम्मो (संगीत की झंकार)

कमला : (भर्राए स्वर में) तुम चाहते हो कि ाज में मेरी चर्चा हो। पड़ोसिन मुझे जली-कटी ुनाए। ऐसा मैं कभी भी सहन नहीं कर सकती। तुम्हें ा पता कि मैं उसे कितना प्यार करती हूँ।

उमेश : कम्मू ! मैं रेडियो वापस दे आऊँगा र......'

कमला : फिर वही बात।

उमेश : बात यह है कि कम्मू यह रेडियो मैं पने मित्र मिस्टर वर्मा की दूकान से लाया हूँ। वह भी क साल की उधार पर। वे तो कहने लगे; मुफ़्त ही े जाओ पर मैंने ना कर दी।

कमला : और तुमने हमको इतनी देर तक यों ही तंग किया।

उमेश : नहीं ऐसा नहीं करता तो। यह सुधा-सुरेश किसी-न-किसी बहाने से रुपए माँगते ही रहते। अब वे इस डर से कि रेडियो के साथ रुपए भी जाएँगे अधिक हठ नहीं करेंगे। वैसे तुम उन्हें पाँच पाँच रुपए दे सकती हो।

कमला : मैं सब लुटा दूँगी।

उमेश : लुटा देना पर जाती कहाँ हो, बैठो न, आज हम अकेले...

कमला : चुप...बड़े वो है।

(प्रसन्नता की हँसी और संगीत)

—यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

ाले की होली,
ीकानेर

अपभ्रंश की कुछ सूक्तियाँ

१

सागर तिनके को अपने ऊपर रखता है
और नीचे तल में रत्नों को
स्वामी अपने सच्चे सेवकों को निकाल देता है
और दुष्टों का सम्मान करता है

२

सागर में इतना जल है
और उसका इतना विस्तार है
फिर भी उससे जरा-सी भी प्यास नहीं बुझती
वृथा ही वह इतना गरजता है

३

कहाँ समुद्र और कहाँ चन्द्रमा
दूर रहने पर भी
सज्जनों में असाधारण प्रेम होता है

वाराणसी का विश्वविख्यात वैभव

वैसे तो समस्त भारत ही ऋषियों का देश माना जाता है। इसकी भूमि को तपो-भूमि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। जितना तप यहाँ की धरा पर लोगों ने किया है, उतना विश्व के किसी भाग की भूमि पर नहीं हुआ।

वेदों और पुराणों में ऐसे तपस्या-स्थलों को तीर्थ कहा गया है।

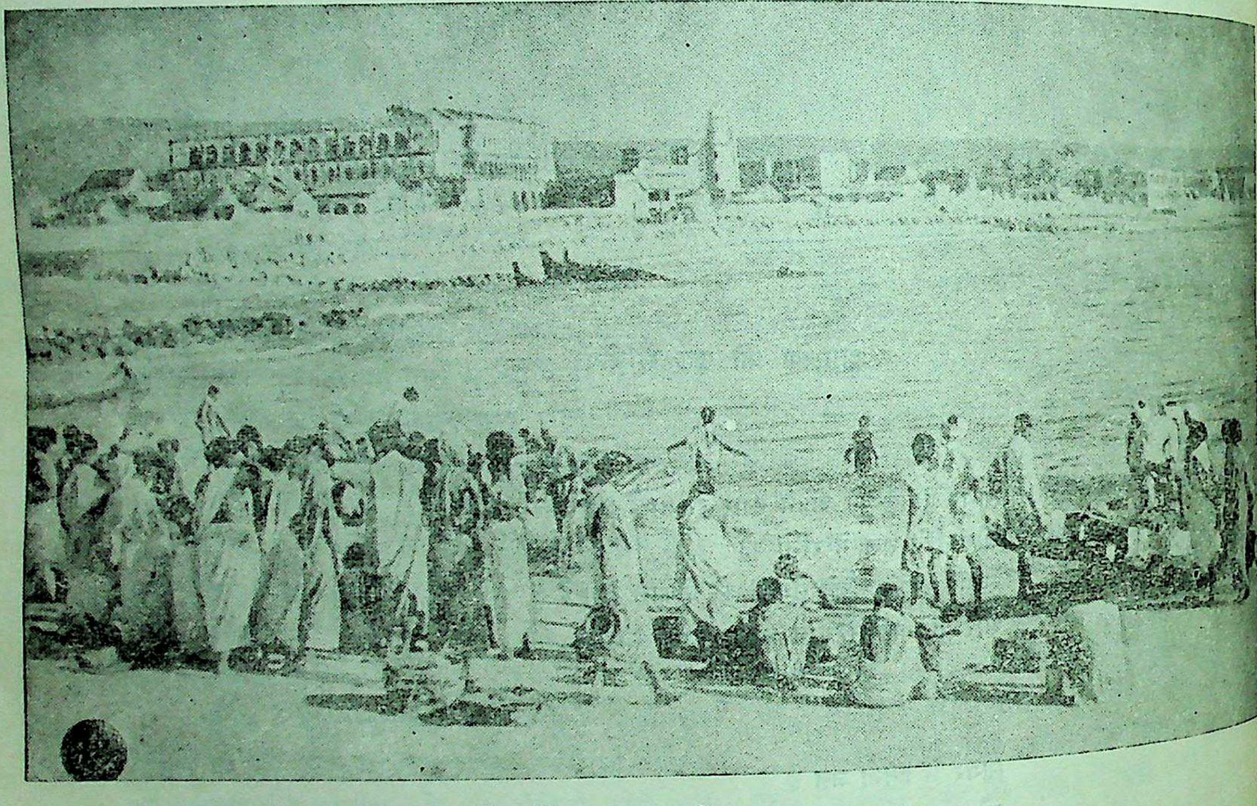

गंगातीर का एक मनोरम दृश्य—बनारस

हिन्दु-सभ्यता के प्रतीक पुराणों से ही हमें अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा और अपनी धार्मिक उच्चता का इतिहास ज्ञात होता है।

भारत में हजारों पुराण-कालीन तपस्या-स्थल हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न ऋषियों ने तप किए थे। उनमें से बहुत-से अभी तक अच्छी दशा में हैं और बहुत-सों का विध्वंस यवन-आततायियों ने कर दिया।

वाराणसी का पौराणिक इतिहास : भारत के ऐसे तपस्या-स्थलों में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ 'वाराणसी' आज यवनों के बार-बार आक्रमणों के बाद भी, भारतीय-सभ्यता, शिक्षा-दीक्षा, का उपदेश संसार को दे रही है।

आदि ब्रह्मपुराण के ११ वें अध्याय के अनुसार काशी के राजा धनवन्ती के पुत्र केतुमान और केतुमान के पुत्र भीमरथ और भीमरथ के पुत्र दिवोदास थे। इन्हीं दिवोदास के राज्य में निकुम्भ के शाप से काशी शून्य हो गई थी और १००० वर्ष तक शून्य रही। शाप के बाद दिवोदास ने भद्रश्रेण्य के पुत्रों को मार कर फिर पुरी बसा ली।

शिव का काशी वास : जिस समय दिवोदास राज्य करता था, उस समय शिवजी पार्वती जी की प्रीति के निमित्त हिमालय में रहते थे। एक दिन पार्वती की माता

१८५७

ने कहा कि, तेरे पति सदा दरिद्री ही बने रहते हैं। न्होंने यह बात शिवजी से कही और शिवजी ने तभी काशी ने का निश्चय किया और निकुम्भ राक्षस से छल द्वारा काशी को उजड़वाया।

'शिवपुराण' के चतुर्थ अध्याय के अनुसार शिव जी ने उमा के संग विहार करने के लिए एक लोक बनाया, जिसका नाम आनन्द-वन था। उसी बन का नाम काशी रखा गया।

३० वें अध्याय के अनुसार शिव जी ने पाँच कोस ह काशी को त्रिशूल पर उठा रखा था और ब्रह्मा के सृष्टि बनाये जाने पर उसे छोड़ दिया तथा हरिकेश नामक यक्ष से कहा कि, तुम दण्डपाणि के नाम से काशी की रक्षा करो। यह ऋषि आनन्द-वन में तपस्या करते थे।

घाट और मन्दिर : काशी में लगभग ५१ घाट हैं और मन्दिरों की संख्या की १।। हज़ार से भी ऊपर है। काशी में देवताओं की मूर्त्तियों की संख्या मनुष्य-संख्या से अधिक है।

काशी के सभी घाटों का पुराणों में वर्णन है। इन्हीं घाटों पर मन्दिरों का वर्णन आता है। पुराणों के कथनानुसार अनेक घाट और मन्दिर लोप हो गये हैं और पुराने मन्दिर तोड़ दिएं गए हैं। यहाँ के मन्दिरों में १६ विनायक हैं, ४२ शिवलिंग हैं, जिनका पुराणों में वर्णन है।

'संगम घाट' 'लिंग पुराण' के १२ वें अध्याय, 'स्कन्दपुराण' के ५१ वें अध्याय और 'शिवपुराण' के छठे अध्याय में इसका वर्णन है। 'राजघाट', 'प्रह्लाद घाट, ा घाट, त्रिलोचन घाट। इसमें से त्रिलोचन घाट का वर्णन 'स्कन्द पुराण' के ६६ वें ७३ वें ७५ वें तथा ६० वें अध्याय और 'कूर्म पुराण' के ३१ वें अध्याय में वर्णन है। शा घाट' 'गाय घाट', और 'लाल घाट'; का वर्णन 'स्कन्द पुराण' के काशी खण्ड के ३१ वें अध्याय में है। 'शीतला घाट', 'राममन्दिर घाट', 'ब्रह्मघाट', 'दुर्गा घाट', 'वराम घाट', 'लक्ष्मण घाट', 'राम घाट', 'अग्नीश्वर घाट', 'भोंसला घाट', 'गंगामहल घाट', 'संकटा-घाट', 'सिंधिया घाट', 'अहिल्याबाई घाट', 'मुन्शी घाट' 'चौंसठ घाट', 'पांडे घाट', 'राजा घाट', 'नारद घाट', 'नसरोवर घाट', 'क्षेमेश्वर घाट', चौकी घाट', 'केदार-घाट', 'श्मशान घाट', 'हनुमान घाट', 'दण्डी घाट', 'शिवाला घाट', 'वत्सराज घाट', 'जानकी घाट', 'तुलसी घाट', 'बाजीराव घाट', 'एलामिश्र घाट', असी संगम घाटों में से प्राचीन घाटों का पुराणों में वर्णन आता है और इन्हें तीर्थ मान कर इनका महात्म्य लिखा गया है। इन घाटों के तीर्थों का वर्णन और इनके किनारे विभिन्न देवताओं के मन्दिरों का वर्णन 'स्कन्दपुराण' 'शिवपुराण' 'वामन-पुराण' 'कूर्मपुराण' के विभिन्न अध्यायों में ही अधिक है।

प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर : यहाँ अति प्राचीन विश्वनाथ का मन्दिर है। ग्रहण के दिन यहाँ अधिक भीड़ रहती है। आदिकेश्वर का मन्दिर और मन्दिर के उत्तर में 'हरिहरेश्वर मन्दिर है। आदिकेश्वर के मन्दिर के बाहर शिखरदार मन्दिर में' 'वन्देश्वर' और नक्षत्रेश्वर हैं। नीचे कोठरी में 'श्वेतदीपेश्वर' नामक शिवलिंग है पूर्व की ओर संगमेश्वर नामक चतुर्मुख शिवलिंग है। उत्तर की ओर धर्मशाला में वामन जी का मन्दिर है। क़िले के फाटक से दक्षिण-पश्चिम 'सर्व विनायक' छोटा मन्दिर हैं। आदि केशव से ३०० गज दूर राज-पुत्र विनायक का मन्दिर है।

कामेश्वर का मन्दिर छोटे-छोटे ८-१० मन्दिरों से घिरा हुआ है और एक मन्दिर में दुर्वासा, नृसिंह, सीता, मत्स्योदरी देवी की प्रतिमाएँ हैं। मत्स्योदरी देवी का जिक्र 'कूर्म पुराण' में हैं। सीतला-घाट पर शीतला देवी का मन्दिर है। राज मन्दिर घाट पर हनुमान जी का प्राचीन मन्दिर है। यहाँ पहले एक राजा रहता था, जिसके भवन का अवशेष एक दीवार का खण्डहर-मात्र शेष है। ब्रह्मघाट पर ब्रह्मेश्वर मन्दिर अति प्राचीन है। ब्रह्मचारिणी दुर्गा का मन्दिर एक पंच मंजिल के मकान के नीचे की कोठरी में है। विन्दु माधव मन्दिर बिना शिखर का मन्दिर है। यहाँ चतुर्भुज विन्दु माधव की मूर्ति है। 'शिव-पुराण' में विन्दु-माधव का वर्णन है, और 'स्कन्द पुराण' के काशी खण्ड में भी वर्णन है। इस मन्दिर को औरंगज़ेब ने तोड़ कर इसके मसाले से मसजिद बनवाई थी। इस मसजिद के पीछे अब भी द्वारकाधीश का मन्दिर है। रामघाट को २५० वर्ष से कुछ पहले जयपुर के राजा ने बनवाया था और मन्दिर भी तभी के हैं। अग्नीश्वर घाट को बाजीराव पेशवा ने बनवाया। मन्दिर प्राचीन है। भोंसला घाट को नागपुर के राजा ने १५० वर्ष पूर्व बनवाया था। इन राजाओं के घाटों का पुराणों में कहीं ज़िक्र नहीं है। मन्दिर भी

इन्हीं का बनवाया हुआ है। संकटा देवी के मन्दिर को महाराष्ट्रीय स्त्री गहनाबाई ने बनवाया था। सिद्धेश्वरी देवी के मन्दिर में 'चन्द्रकूप' नामक पुराना कूप है। इस कूप का 'स्कन्दपुराण' में वर्णन है।

सिंधिया-घाट को १८३० ई. में ग्वालियर की महारानी बैजाबाई ने बनवाया था। यह घाट बीर तीर्थ है। इसका भी 'स्कन्दपुराण' के काशी-खण्ड के ८४ वें अध्याय में वर्णन है। मणिकर्णिका घाट १७६५ ई. के आस-पास इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई ने बनवाया था। मन्दिर भी इन्हीं का बनवाया हुआ है। घाट वैसे पुराण-कालीन है। 'शिव पुराण' के ८ वें और ३२ वें अध्याय में इसका जिक्र है। अहिल्याबाई को केवल उद्धारक कह सकते हैं।

'मणिकेश्वर मन्दिर' यह काकाराम की गली में एक गहरी कोठरी में है और २१ सीढ़ियों के बाद शिवलिंग है।

ज्ञानवापी को ग्वालियर की महारानी बैजाबाई ने १८२८ ई. में बनवाया, पास ही एक कूप है। यहाँ पहले विश्वनाथ का मन्दिर था जो औरंगज़ेब ने तोड़ा था। ज्ञानव्यापी के पूर्व के मैदान में ७ फुट ऊँचा नन्दी है, जिसे नेपाल-नरेश लाए थे।

विश्वनाथ का दूसरा मन्दिर अहिल्याबाई ने १८ वीं सदी में बनाया। 'शिव की कचहरी' मन्दिर से पश्चिम की ओर है। यहाँ १५० शिवलिंग हैं। ज्ञानेश्वर मन्दिर से दाहिनी ओर आँगन में अक्षयवट है। अन्नपूर्णा-मन्दिर को १७२५ ई. में बाजीराव पेशवा ने बनाया। पहले का मन्दिर खण्डहर बन चुका था। 'शिवपुराण' में इसका वर्णन है। इनके अतिरिक्त गलियों में, खड्डों में, पुराने कूपों आदि में भी अनेक मन्दिर हैं। अनेकों मन्दिरों के स्थानों पर मकान बना लिए गए हैं।

काशी में वल्लभ-सम्प्रदाय वालों के भी चार मन्दिर मुख्य हैं—रणछोर जी का मन्दिर, बड़े महाराज का मन्दिर, बलदेव जी का मन्दिर और दाऊ जी का मन्दिर।

काल-भैरव का प्राचीन मन्दिर था। नवीन मन्दिर १८२५ ई. में बाजीराव पेशवा ने बनवाया।

चिता घाट पर राजा वल्लभ शिवाला नामक प्राचीन मन्दिर है। मन्दिर के पास खण्डहर है। यहाँ सत्यवादी हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से 'शव-कर' लिया था। नेपाली मन्दिर चीनी मन्दिर के ढंग पर बना प्राचीन मन्दिर है।

'धर्मकूप' छोटे-छोटे मन्दिरों से घिरा हुआ पश्चिम की ओर विश्ववाहु का मन्दिर है। पुराणों में इसका जिक्र आया है।

मानसिंह घाट जिसे लगभग ३०० वर्ष हुए आमेर के राजा मानसिंह ने बनवाया था, वहाँ पीपल के पास ३ प्राचीन मन्दिर हैं। राजा मानसिंह के मकान के ऊपर ही सवाई जयसिंह की बनाई हुई 'अबजर बेटरी' भी है।

'साक्षी विनायक मन्दिर' १७७० ई. में मरहठों ने बनवाया था। यहाँ केदारेश्वर के मन्दिरों की मूर्तियों की परिक्रमा कराई जाती है। आगे एक कोठरी में दो हाथ ऊँचा सागरेश्वर शिवलिंग है।

'तुलसी मन्दिर', जहाँ १६८० ई. में तुलसी का स्वर्गवास हुआ था। मन्दिर में नाव का लगभग एक फुट का टुकड़ा रखा है तथा लकड़ी की खड़ाऊँ हैं जो अब गल चुकी हैं। वहाँ एक कोठरी में कपिल मुनि की मूर्ति है। इनके अतिरिक्त महालक्ष्मी मन्दिर, ऋणहरेश्वर मन्दिर, रत्नेश्वर मन्दिर, हंसेश्वर मन्दिर, गोरखनाथ मन्दिर, नृसिंह चबूतरा, गणेश मन्दिर, भूतभैरव, कन्दुकेश्वर, शिव-मन्दिर, कबीर चौरा, नाग कुँआँ, वागीश्वरी मन्दिर, कपाल-मोचन कुण्ड, लाठ भैरव, धामक स्तूप तथा १२ जैन-मन्दिर दर्शनीय स्थान हैं।

जहाँ मसजिदें बनीं : 'गंज शहीद मसजिद', राजघाट की ३५ फुट ऊँची भूमि पर राजा बनार का एक क़िला था और वहीं पर कई मन्दिर थे। राजघाट के मन्दिरों को तोड़ कर औरंगज़ेब ने उक्त मसजिद बनाई। मसजिद में ६-६ फुट के ३२ खम्भे चार कतारों में हैं, ४० खम्भे १०-१० फुट के चार कतारों में लगे हैं। योगीश्वरी का मन्दिर क़िले में था, वहीं उनकी मूर्ति भी खड़ाऊँ पहने खड़ी थीं। मुहम्मद खाँ का मक़बरा भी क़िले में था।

अढ़ाई कंगूरा मसजिद : यह दो मंज़िल की मसजिद बौद्ध और हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ कर औरंगज़ेब ने बनवाई थी। दरवाज़े पर एक विशाल फाटक, एक मन्दिर का लगा है।

माधवराय का धरहरा : विन्दुमाधव के मन्दिर का

१६५७

विध्वंस करके उसके मलबे से इसे बनवाया था। आगे तीन सुन्दर मेहराब हैं। बकरिया कुण्ड के पास मुसलमानों का कब्रिस्तान है, वहाँ एक इमारत है, जिसके खम्भे बौद्ध मठों के हैं।

आलमगीरी मसजिद : हर तीर्थ (हंस तीर्थ), जिसका पुराणों में है, वर्णन उसके पास के 'कुत्वासेश्वर' नामक प्राचीन मन्दिर को तोड़ कर औरंगजेब ने यह मसजिद बनवाई थी। पत्थर के खम्भों की ८ कतारें हैं। मसजिद की दीवार पर १६६५ ई० लिखा है। हिजरी सन् में।

औरंगज़ेब की मसजिद : विश्वनाथ का पुराना बड़ा मंदिर औरंगज़ेब ने तोड़ कर इस मसजिद को बनवाया। इसमें सारे खम्भे मसजिद के हैं और मंदिर का एक भाग बना बनाया ही मसजिद में मिला लिया गया है।

मीर अली का पुश्ता : यह पुश्ता सती घाट पर मुसलमानों ने बनवाया। यहाँ पर जगह-जगह सतियों के स्मारक-चिन्ह हैं। पुश्ते के पास की कोठरियाँ टूट-फूट गई हैं।

लाठ भैरव : भैरव के मंदिर को तोड़ कर मसजिद बनवाई गई। कपाल-मोचन उत्तर के किनारे पर बड़ा फ़र्श मुसलमानों की नमाज़ पढ़ने की जगह है। पूर्व के किनारे ६ गज़ लम्बे-चौड़े घेरे में ७ फुट ऊँची और ७ फुट के घेरे की पत्थर के ऊपर ताम्बा चढ़ी 'भैरव लाठ' है जो पहले मंदिर में थी। लाठ के चारों ओर छोटे-छोटे चबूतरे, एक छोटी मूर्ति और पत्थर का एक कुत्ता था। घेरे के बाहर एक पुराना कूप है। यह मंदिर भी औरंगजेब ने तोड़ा था।

चौकुण्डी टावर : धामक से आधा मील दूर चौकुण्डी टावर है। आसपास की भूमि ७४ फुट ऊँची टीलेनुमा है। मिट्टी के पुश्ते पर २३ फुट ऊँचा पहला टावर है। इसके चारों ओर एक-एक द्वार है। भीतर जाने के लिए सीढ़ियाँ हैं। भीतर मध्य में १५ फुट गहरा बिना पानी का बिगड़ा कूप है। इसमें भी जाने के लिये बगल से रास्ता है।

चौकुण्डी के ऊपर हुमायूँ कालीन एक अरबी लेख से जान पड़ता है कि यह सन् १५३१ ई० में पुराना टावर तोड़ कर बनाया गया। पुराने टावर को 'लौरिक की कुदान' कहा जाता है। पुश्ते के नीचे कुआँ और एक मूर्ति अब भी है।

महाविनाश के चिह्न : धामक स्तूप सारनाथ के मन्दिर से १०० गज की दूरी पर एक बौद्ध स्तूप है। यह ऊपर से नीचे तक ठोस है। इसके चारों ओर मकानों की निशानियाँ टूटी-फूटी एक बावली, एक पुराना कूप, बौद्ध मूर्तियाँ और ईंटों का ढेर है, इन्हें देख कर ऐसा लगता है कि मन्दिरों और मठों—से भरे किसी नगर को उजाड़ दिया गया हो।

१८३४-३५ में इस स्थान की कुछ खुदाई कराई गई थी, उसमें मकानों और मंदिरों की नीवें मिलीं। आग से जली काठ की शहतीरें, गली हुई धातुओं और हड्डियों के ढेर, भोजन के बर्त्तन, राख आदि मिली, जिनसे जान पड़ता था कि इस स्थान को और स्थान के रहनेवालों को ज़िन्दा जलाया गया था।

१०८२ में यह स्तूप वसन्तपाल ने बनवाया था। यहाँ महात्मा बुद्ध पर्याप्त समय तक रहे थे।

जौनपुरी मसजिदें : जौनपुर की मसजिदों को देखने से ज्ञात होता है कि वहाँ की अटल मसजिद और जुम्मा-मसजिद भी हिन्दू-मन्दिरों के मसाले से ही बनी थीं; क्योंकि उनके खटके और उनकी नक्काशी हिन्दू-मन्दिरों की है और जुम्मा-मसजिद की फाटकवाली मेहराब पर ८ वीं सदी का संस्कृत-लेख है।

१११ डासना गेट,
गाज़ियाबाद

—**चिरंजीलाल पाराशर**

किसी कार्य या धन्धे का कोई भविष्य नहीं होता। भविष्य तो उस मनुष्य में निहित रहता है जो कि उस कार्य या धन्धे को करता है।

सुबह का भूला

अब वह इस गली में नहीं दिखाई पड़ता, पहले तो रोज शाम-सबेरे बेमतलब आता जाता था। अब यदि उसे कोई कहे भी तो वह इधर पलट कर नहीं झाँकता।

एक वह समय था कि कालेज से निकलते-निकलते, किशोर बी. ए. के पास, शादी के कई पैग़ाम आए और उसने दर्जनों लड़कियों को देख-देख कर मुँह मोड़ लिया, सब को रिजेक्ट कर दिया। तभी उसके एक मित्र मिस्टर लाल ने उससे एक दिन पूछा था, "क्यों किशोर बाबू आखिर कैसी लड़की से शादी करना चाहते हो? उषा तुम्हें जँची नहीं, रजनी से तुमने बात ही नहीं की, छाया की छाया तक नहीं देखना चाहे, माया के पास बैठ कर उठ गए। अब बताओ स्वर्ग की किस परी से मुलाकात करना चाहते हो?"

किशोर ने मुस्कराते हुए कहा था: "भाई जान, 'दे मृगनयनी कि दे मृगछाला' अगर शादी ही करेंगे, तो किसी ऐसी-वैसी लड़की से नहीं। पूरी मृगनयनी, पिकवयनी होगी तभी और साथ में विलायत तक बैरिस्टरी पढ़ने का ख़र्च भी।"

"वाह, वाह, क्या कहने! और कुछ?"

"और कुछ क्यों नहीं, जो मिले सब-कुछ!"

इस तरह महीने पर महीने और बरस-पर-बरस बीतते चले गए। पर नदी-नाव संयोग नहीं हो सका। लड़की मिली, तो पूर्ण शिक्षा नहीं और यदि दोनों मिले तो विलायत तक बैरिस्टरी पढ़ने का ख़र्च नहीं मिला।

और किशोर बी. ए. उस गली वाली लड़की की ओर खिंचते रहे। एक दिन जब सरस्वती गली से निकली ही थी कि उन्होंने छेड़खानी की। उसने न आव देखा न ताव, पैर से निकाल कर धड़ा-धड़ चार चप्पल जमा ही दिए। भीड़ इकट्ठी हो गई। आफ़िस जाने का समय था। सरस्वती ने अपना रास्ता लिया और किशोर बी. ए. अपना चश्मा सम्भालते सिर नीचा किए भीड़ के बीच खड़े देखते रह गए।

किसी ने कहा: "शर्म नहीं लगती तुम्हें, राह चलती लड़कियों को छेड़ते हो?" किसी ने कहा: 'बेहया है, चेहरा तो देखो इसका और किसी ने कहा: लगाओ इसे दो हाथ, अभी सारी भद्रता निकल जाए।"

परन्तु वह चूँ तक नहीं कर सका। उत्तेजित भीड़ ने उसे पीटा तो नहीं, किन्तु वह अधमरे साँप की तरह थोड़ी देर खड़ा रह कर वह वहाँ से सरक गया।

सरस्वती उषा की छोटी बहन थी। उसने अपनी बहन की शादी में हुई माता-पिता की कठिनाइयों को देखा था। उनके लिए हुए ऋण का भुगतान अभी तक नहीं हो पाया था। उसके माँ के ज़ेवर भी उसी में लग गए थे। इसी चिन्ता में उसके क्लर्क पिता का देहावसान भी हो गया और दसवीं कक्षा तक पढ़ लेने के बाद उसने अपने पिता के ऑफ़िस में ही मालिक से विनती कर नौकरी कर थी।

जब सरस्वती के माँ-बाप उषा के विवाह की बात-चीत करते, तो वह सब सुनती—समझती रहती। उसने देखा कि चार-छः मनचले आ कर उषा को नापसन्द कर गए, और वह यह समझ गई थी कि यदि उसके बाप के पास रुपए होते तो, उनमें से किसी एक को नापसन्द उषा भी पसन्द आ गई होती। तभी से उसने तय कर लिया कि वह अविवाहित जीवन ही बिताएगी और अब वह इस योग्य हो गई है कि विधवा माँ का जीवन सुखमय बना सके, साथ ही दूसरे-तीसरे महीने बाप का ऋण चुकाती रहे।

मार खाने के बाद से किशोर बी० ए० ने राह चलती लड़कियों को छेड़ना छोड़ दिया। अब पार्क में, नदी के किनारे, रेस्तराँ में बैठ-बैठ कर यही सोचा करता कि विलायत जाना नहीं हुआ, मृगनयनी भी न मिली, आगे की पढ़ाई भी छोड़ दी, नौकरी की कोशिश भी की, तो नहीं मिली, अब क्या करूँ! इन्हीं विचारों में डूबा वह अन्यमनस्क भाव से घूमा करता। हँसी उड़ाने के भय से मिस्टर लाल के पास भी न जाता। एक दिन वह रजनी देवी के घर की ओर हो कर निकला। मोड़ पर आते ही उसके पिता जी मिल गए। किशोर बी० ए० ने बहुत विनम्रता से अभिवादन किया और ऐसा मुँह बनाया जैसे काम से आया था। रजनी के पिता पूछ ही

१६५७

पूछे, "आप विलायत से कब आए ?"

अब किशोर को काटो तो खून नहीं। चेहरा फीका पड़ गया। माथे पर पसीना चुक-चुका आया। सँभलते-सँभलते बोला—"अभी कुछ काम से आ गया हूँ, कुछ दिन रुक कर जाऊँगा।"

रजनी के पिता को किशोर के विलायत जाने से कुछ मतलब नहीं था, यों ही पूछ बैठे थे। फिर बात यहीं-की-वहीं छोड़ कर उन्होंने कहा : "चलिए न, जरा घर से होते आएँ। रिश्ता नहीं हुआ तो क्या, प्रेम-भाव क्यों खत्म करें ?

नहीं, नहीं, कोई बात नहीं। अभी जल्दी है। फिर कभी आऊँगा। पिण्ड छुड़ाते हुए किशोर ने नमस्कार किया और तेजी से उनकी आँखों से ओझल हो गया।

और एक दिन।

जब वह पैराडाइज़ से मैटिनी-शो देख कर निकला, तो बगल में बच्चे को गोद में दबाए छाया को देख कर भौंचक् रह गया। छाया ने मुस्कराते हुए दोनों हाथ जोड़ दिए और अपने पति से परिचय कराते हुए पूछा : "आप अकेले ही क्यों आए हैं ?"

"हाँ, अकेला ही आ गया। कोई आना ही न चाहे, तो जबर्दस्ती कैसे लिवा लाऊँ।" किशोर ने खिसियानी बिल्ली-सा मुँह बना कर चुहुल की।

छाया के पति ने अच्छा अवसर देख कर कहा : "यह तो बड़ी अच्छी बात है। एक यह हैं कि हर सातवें दिन एक पिक्चर ज़रूर देखेंगी।" और बात खत्म भी न हो पाई थी कि बस आ गई। दोनों हाथ जोड़ कर बस पर बैठ गए। किशोर पार्क की ओर बढ़ गया। सोचने लगा, "क्या मैं ही अकेला सिनेमा देखता हूँ! बहुत-से ऐसे हैं, जिन्हें केवल अकेले ही देखने में मज़ा आता है।...लेकिन छाया का मतलब कुछ और था।"

माया का घर सरस्वती के आफ़िस के पास था। सरस्वती को रोज़ आते-जाते देख कर उसके मन में परिचय प्राप्त करने की उत्सुकता हुई थी। वह विवाह के चार महीने बाद ही विधवा हो गई थी। अतः पति के मरने के बाद उसने एक संगीत-विद्यालय खोल लिया था, जिसमें २५ लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करती थीं। सरस्वती एकाकी जीवन से ऊब कर कभी-कभी उसके संगीत-विद्यालय में चली जाया करती थी। इस तरह दोनों में घनिष्ठता बढ़ती गई। इसी घनिष्ठता ने ही उसे उस दिन की घटना माया से बताने को विवश कर दिया। जब माया ने उसकी सारी हुलिया जान ली, तो मन-ही-मन अन्दाज़ लगाने लगी कि हो-न-हो वह किशोर ही हो। फिर सोचती, "लेकिन वह तो विलायत जाने को कहता था, दूसरा कोई होगा।" पर उसके मन में यह शंका घर कर गई और एक दिन एक बहाने से सरस्वती के साथ हो ली।

माया समझती थी कि जूती खाने के बाद वह ज़रूर इनके पीछे पड़ा होगा और रोज रास्ता देखता होगा। लेकिन किशोर उस दिन से उस गली की ओर कभी नहीं गया। अकस्मात् आज वह सरस्वती के घर का पता लेने आया था। पता लेकर जैसे ही गली के बाहर निकला कि, आती हुई सखियों की निगाहें उस पर पड़ गईं। वह रह-रह कर उलट कर देखता जाता था, इसलिए एक बार उसकी आँखें चार हुईं। उसने देखा कि माया भी उसके साथ है तो तेज़ी से सिर घुमाते हुए दबे पाँव निकल गया।

माया समझ गई उसका अनुमान ठीक निकला।

उसने किशोर की पीठ की ओर संकेत कर सरस्वती से पूछा : "क्या वह, यही व्यक्ति तो नहीं है, जिसको चप्पलों के घाट उतारा था ?"

सरस्वती ने सिर हिला दिया और सफ़ाई देने के लिए कहने लगी, "लेकिन वह तो इधर कभी आता ही नहीं था। आज आ कैसे गया......"

माया ने बीच में ही बात काट कर कहा : "ऐसे लोग न रास्ते पर आते हैं न पिण्ड छोड़ते हैं। तुम इसे फिर कभी नहीं देख पाई, तो क्या तुम समझती हो कि इसने यहाँ का चक्कर लगाना बन्द कर रखा था ?"

"मैं तो यही समझती थी !"

"...तो तुम गलत समझती थीं।"

"नहीं, मेरा कहने का मतलब यह है कि इसने फिर कभी छेड़खानी नहीं की।"

"छेड़खानी न की हो, यह दूसरी बात है। किन्तु आता यह ज़रूर रहा होगा। सच बताऊँ, आज मैं इसी गरज से तुम्हारे साथ आई थी कि देखें कौन है वह, जो तुम्हारे पीछे पड़ा है।"

"लेकिन एक बात पूछूँ, बुरा तो नहीं मानेंगी ?"

"हाँ-हाँ, जरूर पूछो, बुरा क्यों मानने लगी।"

"इसे आप कैसे जानती हैं ? क्या यह आपके पीछे पड़ा था ?"

माया ने एक लम्बी साँस खींच कर कहा : "मेरे पीछे तो यह नहीं पड़ा और न मैं इन्हें ऐसा समझती ही थी।...यह तो एक शरीफ़ ग्रेजुएट है।...विलायत जाने की सोचता रहा।...और......"

"और...और कह कर आप रुक क्यों गईं ?"

"और, क्या कहूँ सरस्वती, इसने दर्जनों लड़कियों को शादी करने से इन्कार कर दिया है।"

"तो आपका मतलब है कि, अब वह मुझसे शादी करना चाहता है। यानी मैं उनसे शादी कर लूँ!"

"नहीं, नहीं, यह मैं नहीं कहती। मैं यह सोचती हूँ कि यह आदमी पतित हो कैसे गया! इसने तो ऐसी लड़की से शादी करने के मनसूबे बाँधे थे, जिसके पिता से विलायत जाने का खर्च भी मिले।"

"अच्छा, छोड़ो उसकी बातें। चाय-वाय पिएँगी।"

"नहीं, अब मैं चलूँ, फिर मिलूँगी।"

किशोर किस पार्क में, किस रेस्तराँ में और किस घाट पर बैठता होगा, इसका अनुमान माया ने यों लगाया कि विद्यार्थी-जीवन में वह किनकी चर्चा अधिक किया करता था। किशोर से उसे कुछ नहीं मिला, पर उसके मन में उस किशोर के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति जागृत हो गई। शाम-सबेरे जब भी उसे अवसर मिलता, किशोर को ढूँढ़ने में व्यस्त रहती, पर कई सप्ताहों तक किशोर उसे दिखाई न पड़ा।

किशोर जिस दिन से सरस्वती के घर का पता मालूम कर आया, उसी दिन से उसके घर जाने की तैयारी करने में लगा, परन्तु जाते-जाते उसे दस दिन लग गए और जब वह वहा पहुँचा, तो देखा, यह तो उषा का घर है। यहाँ आकर वह एक बार लौट गया है। अब किस मुँह से किससे बात करे। सोचा, जैसे आया है, वैसे ही लौट जाए कि इतने में ऊषा की माँ घर से बाहर निकली। वह पहले तो अपरिचित को देख कर सकुचाई, लेकिन झिझक दूर हटती हुई बोलीं, "आप किससे मिलना चाहते हैं ?"

किशोर ने उनका वैधव्य देखा, तो कुछ करुणा आ गई। बोला, "क्या सरस्वती का घर यही है ?"

"जी हाँ, यही है। आप कहाँ से आ रहे हैं ?"

"मैं वर्द्धमान से आया हूँ। मैं चाहता था कि..."

"कहिए, कहिए! क्यों रुक गए ?"

किशोर ने बात का सिल-सिला बदलते हुए कहा : "क्या ऊषा नाम की कोई लड़की यहाँ रहती थी ?"

"हाँ, वह तो मेरी बड़ी लड़की है। उसे आसनसोल में ब्याह दिया है।"

"मैं आपसे क्षमा माँगने आया हूँ। क्या आप क्षमा कर सकेंगी ?"

"क्षमा किस बात की ?"

"मैं ऊषा को देखनेवालों में से एक हूँ। जब मैं आया, तो उसके पिता जी से मैंने विलायत का खर्च माँगा था। वे विवशतावश खर्च नहीं दे सके, तो मैंने ऊषा से शादी करना इन्कार कर दिया। और..."

"हाँ, हाँ, कहिए ?"

"आज आया हूँ आप से क्षमा माँग कर सरस्वती को अपनाने की अनुमति लेने!"

"अच्छा, मैं उसको समझा कर फिर आपको सूचित करूँगी। आप अपना पता दे दें।"

पता लिख देने के बाद किशोर नमस्कार कर चलता बना। ऊषा की माँ उसे रोकती रह गईं, लेकिन फिर आने का वादा कर वह निकल गया।

वापस लौटे उसे दो दिन बीत गए। तीसरे दिन उसे देशप्रिय पार्क में माया मिल गई। उसको इस रू में देखते ही किशोर की बीती सारी बातें एक-एक कर याद आने लगीं। उसने सिर नीचा करते हुए कहा: "तुम यहाँ अकेले घूम रही हो।" माया ने खड़े-खड़े ही जवाब दिया, "आपको ढूँढ़ती फिर रही हूँ।"

"मुझे ढूँढ़ती फिर रही हैं! कहिए क्या काम है!

"काम तो कुछ नहीं है। केवल आप से एक बात पूछनी थी ?"

"पूछिए, कौन-सी बात ?"

"क्या आप इन दिनों लड़कियों की छेड़खानी करने का ही धन्धा कर रहे हैं ?"

एक गहरी साँस लेते हुए किशोर ने कहा : "नहीं ऐसी बात तो नहीं है।"

"तो चप्पल क्यों खाए ?"

"यह आपसे किसने कहा ?"

१६५७

"जिसने आपको चप्पलें लगाई !"

"जिसने मुझे चप्पलें लगाई ? ओह, वह तो मुझ से ब्याह करने जा रही है ।"

"तो क्या मैं चप्पलें लगाना नहीं जानती थी ?"

"छोड़ो इन बातों को माया, हर चीज़ का एक समय होता है । तब के किशोर बी. ए. में और अब के किशोर में बहुत अन्तर है ।"

"यह तो मैं भी देख रही हूँ, तो क्या सरस्वती तुम से शादी कर ही लेगी ?"

"क्यों, इसमें आश्चर्य की बात क्या है ?"

"वह ऐसी-वैसी शादी नहीं करना चाहती । शादी करेगी तो किसी राम-जैसे धीर-वीर, अर्जुन-जैसे धनुर्धारी, युधिष्ठिर-जैसे सत्यवादी और सत्यहरिश्चन्द्र-जैसे दानी से ही और साथ में......।"

"बस-बस रहने दो माया ! अधिक न बोलो ।"

"क्यों रहने दूँ ? वह शादी करेगी तो ऐसे ही पुरुष से, नहीं तो आजीवन ब्रह्मचारिणी रहेगी ।"

"अच्छा रहे !" कह कर किशोर उठ खड़ा हुआ । उसे लगा जैसे, पाँव के नीचे से धरती खिसकी जा रही हो ।

माया का तीर निशाने पर लग चुका था । अब वह घायल की चोट पर मरहम-पट्टी करती हुई बोली : "यदि आप चाहें, तो उससे मैं बात कर सम्बन्ध पक्का करा दूँ ।"

"नहीं माया, यह काम मैं तुमसे नहीं लूँगा ।"

"क्यों ?"

"तुम को मैं मुँह नहीं दिखाना चाहता, काम लेना तो दूर ।"

"तो तुम मेरा मुँह नहीं देखना चाहते ? क्या इसीलिए कि मैं विधवा हूँ ?"

"नहीं माया, तुम लोग देवियाँ हो । मुझमें आराधना का भाव नहीं है ."

इस तरह दोनों बातें करते हुए कब पार्क से बाहर निकले और फुटपाथ पकड़ कर कितनी दूर चले गए, उन्हें कुछ भी पता न चला । जब मोड़ पर पहुँचे, तब उन्हें ध्यान आया । फिर परस्पर अभिवादन कर दोनों अपने-अपने घर चले गए ।

आठवें दिन किशोर को सरस्वती की माता का पत्र मिला । उसकी बुलाहट थी । शाम की ट्रेन से वह रवाना हो गया । अपनी माता की बीमारी का समाचार पा कर सरस्वती घर पहुँच चुकी थी और तन-मन से माता की सेवा-सुश्रुषा में लगी हुई थी । न खाने-पीने का ध्यान रखती, न समय पर सोने का । माँ के कहने से उसने अपनी बड़ी बहन ऊषा को बुलाने को पत्र लिख दिया ।

रात में जब बुखार बढ़ा और सहलाने सरस्वती बैठी, तब माँ ने उसके ब्याह की चर्चा चलाई, 'बेटी, अब मैं बचूँगी नहीं । सोचती थी तुम्हारी माँग भर जाती, तो सुख से मरती । इस तरह जीवन-भर कैसे रहोगी बेटी ! कलंक लगाने वालों की दुनिया में कमी नहीं है—कोई लाख पवित्र बना करे"

"सही माँ, पर मुझे कलंक की परवाह नहीं है । इतने रुपए अपने पास कहाँ है, जिससे शादी हो ।"

माँ ने कहा : "बेटी, भगवान है, सब बेड़ा पार करेंगे । अभी थोड़े दिन हुए एक अच्छा-खासा भला आदमी अपने-आप तुझे ब्याहने के लिए आया था । उसे कुछ नहीं चाहिए...केवल तुम ।"

"केवल मैं ! लेकिन माँ, आदमी को केवल ऊपर से देख कर तो भलामानस नहीं कहा जा सकता ।"

इतना कहना था कि, किशोर के जूते की आवाज़ सुनाई पड़ी । माँ ने कहा : "देखो बेटी, कौन है ?... किशोर बाबू तो नहीं हैं ?"

सरस्वती लालटेन लिए बाहर निकली । खूब अच्छी तरह से किशोर बाबू को ऊपर-से-नीचे तक देखा और बोली—"कहाँ चले आए बड़े साहब ?"

"तुम्हारी माँ का पत्र मिला था मुझे ।"

तभी भीतर से माँ ने कराहा...एक क्षीण-सी आवाज़ आई : "बेटी बुला लाओ भीतर ही ।"

और सरस्वती मुड़ कर भीतर की ओर बढ़ी । पीछे-पीछे किशोर भी चला गया ।

माँ के चरण छूने के बाद किशोर बोला : "आपने अपनी बीमारी का कुछ भी हाल नहीं लिखा, नहीं तो फल-वल ले आता ।"

"नहीं, फल-वल कुछ नहीं चाहिए । अब मैं बचूँगी नहीं...यह सरस्वती है । बेटी...मेरी...अभिलाषा... पूरी कर दो ।...इनके चरणों में झुक कर प्रणाम करो... और...वादा करो कि तुम...इन्हीं के साथ अपनी जीवन नैया खेओगी ।"

सरस्वती माँ की बातों को नहीं टाल सकी। झुकी और चरण-स्पर्श किया, किशोर की आँखों में आँसू छलछला आए। उसे ऊपर उठाते हुए वह बोला "तुम मुझे जैसा समझती हो, मैं वैसा नहीं हूँ।" माँ का मुरझाये चेहरा खिल उठा। वह कुछ बोलना चाही, कि उसका सिर एक ओर को लुढ़क गया।

१४।४, विवेकानन्द रोड,
कलकत्ता-७

—रामराज सिंह

'मछलियाँ'

एक केंकड़े ने करीब ही मुँह लटकाए खड़े हुए बगुले से पूछा : 'मामा, उदास कैसे हो?'

बगुला बोला : क्या कहूँ भानजे, मछलियों का बीज ही नष्ट हो गया लगता है। सुबह से एक टांग पर खड़ा हूँ लेकिन...'लेकिन, कोई मछलि पकड़ में नहीं आई!, केंकड़े ने बीच ही में पूर्ति की।

उस ताल पर इसी समय एक लकड़ बग्घा पानी पीने आया था। उसने अपना दाया पंजा जीभ से चाटते हुए कहा था...तभी पानी इतना गंदला है।

'पानी में चारों ओर मौत का सा सन्नाटा छा : गया है। ऐसा लगता है कि यहाँ कभी मछलियाँ पैदा ही नहीं हुई :' बगुले ने चोच से वदन का पखों से ढका हुआ भाग कुरेदते हुए कहा।

'मालूम होता है बेचारी बीमार होकर मर गई :' लड़क बग्घे ने यह कह कर एक जमुहाई ली और फिर फुर्ती से मुड़कर जंगल में प्रविष्ट होते हुए बोला : 'आजकल, ये जो अणु-परीक्षण हो रहे हैं। उन्हीं की बदौलत तरह तरह की बीमारियाँ इस दुनिया में फैल रही हैं। क्या ठीक कि वैसी ही कोई बीमारी मछलियों को निगल गई हों।'

बगुले ने जाते हुए लकड बग्घे की ओर चोच उठाते हुए ऊँचे स्वर में कहा—तो यह जो सूर्य में भंयकर विस्फोट हुआ है...क्या यह भी अणु परीक्षणों की ही प्रतिक्रिया है? इससे पहले तो कभी ऐसी विचित्र बातें नहीं सुनी गई!

लकड़-बग्घा दूर से थोड़ा मुड़ कर धिधियाते हुए बोला और नहीं तो क्या! देखना तो सही अभी ये परीक्षण, क्या-क्या गुल खिलाते हैं।

साँझ हुए, दिन-भर की प्रतीक्षा से उकता कर बगुला उड़ गया उसके ओजल हो जाने पर केंकड़ा चट्टान-सन्धियों से बाहर आते हुए बोला : 'आजकल, मछलियाँ उतनी भोली रही नहीं कि कोई बहका-ले-जावे। अथवा जब चाहे उल्टी-सीधी करके काम निकाल लेवे।'

बगुले के जाते ही तालाब में फिर से हलचल प्रारम्भ हो चुकी थी। मानों कुछ हुआ ही न हो और मछलियों के सिर जल के ऊपर चान्दनी में चिल-चिलाने लगे।

सार्वजनिक सम्पर्क कार्यालय,
राजस्थान, जयपुर

—आचार्य सर्वे

सास और बहू का संवाद

१. अत्त :

"कोडला कोडला ! कोडुकु पेळ्ळामा !
पच्चि पाल मीद ! मीगड लेवि ?
वेडि पाला मीद ! वेन्नल्लु येवि ?
नूने मुन्तल मीद । नुरगल्लु येवि ?"

सास :

"बहू हे बहू ! मेरे बेटे की बीवी !
कच्चे दूध की मलाई कहाँ है ?
गरम दूध का मक्खन क्या कर दिया ?
तेल की हँडिया में फेन है कहाँ ?"

२. कोडलु :

"अत्तरो ! ओ यत्त ! आरळ्ळ यत्त !
पच्चि पाल मीद, मीगडुंटुंदा ?
वेडिपाल मीद, वेन्न लुंटाया ?
नूने मुन्तल मीद, नुरुगलुंटाया ?"

बहू :

"सास जी ! हे सास जी ! ओ झगड़ालू सास जी !
कच्चे दूध पर कहीं मलाई होती है ?
गरम दूध का मक्खन कैसा ?
और तेल की हँडिया में कभी फेन भी देखा गया है !"

३ "इरुगु पोरुगुलार, ओ चेलियलार !
अत्तगारि आरळ्ळु ! चित्तगिंचारा !
आरळ्ळ अत्तयिन ! सवति पोरयिन
तल्लिवल्लु दूर मैन ! भरियिंचलेमु !"

इसके पश्चात् बहू अड़ोस-पडोस से अपनी सहेलियों को बुला कर सास की निन्दा और उपहास उड़ाती हुई उन्हें संबोधित कर कहती है :

"मेरी प्रिय सखियो, देखा—
तुम लोगों ने कुछ सुना,
मेरी सास जी की हरकतें निराली हैं
झगड़ालू सास और सौत का बैर सहना
बड़ा मुश्किल है,
मायके से दूर रहना तो दूभर हो रहा है।"

४. अत्त :

"कोडला, कोडला ! कोडुकु पेळ्ळामा !
कोडुकु ऊल्लो लेडु । मल्ले लेक्कडिवि ?"

फिर सास को एक और शिकायत सूझी, उसने कहा :

बहू :

"हे मेरी बहू ! मेरे बेटे की बीबी !
मेरा बेटा तो बाहर गया हुआ है
ऐसी हालत में तुम्हारे जूड़े में चमेली के फूल कैसे ?"

५. कोडलु :

"गंपंत मब्बेसि गालि विसिरिंदि
कोल्ललुग मल्लेलु, कोप्पुलो राले"

बहू :

"काले बादल घिर आए, हवा चली
फिर देखते-देखते चमेली के फूलों की
झड़ी-सी लग गई ! अपने आप ही
चमेली के फूल मेरे जूड़े में आ लगे।"

आखिर वैर कब तक चलता ? रहना तो उन्हें एक ही घर में है। आपस में सुलह करनी ही पड़ती है। त्यौहार का दिन आया। यही अच्छा मौका था, दोनों के लिए। बहू ने सास से पूछा :

"हे सास जी ! त्यौहार का दिन आया है। आटे के लिए कितना चावल डाल दूँ ?"

६. अत्त :

"कोट्टक्क तेच्चियु, वेय्यवे चेंडे
तलगोसि त०वेडु, पोय्यि बिरयम्मु
पिंडि पोकलु चेय्यि ! चक्कालु चुट्टु
इरुगु पोरुगुवारि किंतिन्त पेट्टु
मापटिकि मामकु, मारु मूतेट्टु
मनाटि चल्लुलकु, मरुदुलकु पेट्टु

मन यिंटि पालेंलु, मुरियंग पेट्टु
मनुविंटि म॰दलिक्कि, मनसोप्प पेट्टु

सास :

''कोठी में जाकर सीप में चावल ले लो
सेर-भर के चावल में थोड़ा-सा कम कर देना
उसका आटा बना कर 'गोल पक्वान्न' बनाना और
उन 'चक्रालु' में से कुछ को अड़ोस-पड़ोस में बाँट देना
फिर शाम को ससुर जी जब खेत से वापस आएँ,
तब उनको देना, दूसरे दिन के लिए भी कुछ रख देना
और उसके मुट्ठे के ऊपर ढक्कन लगा देना
अपने देवर को और घर के नौकरों को भी देना,
साम से वे बहुत ख़ुश हों
ननद को देना भूल न जाना''

अन्त में यों सास और बहू के बीच सुलह हुई।

सुषमा सिंडिकेट,
१३, राजाबादर स्ट्रीट,
मद्रास—१७

—डी. मंजुलता

दखनी 'बोली'

(१) इस बात का कौन पाया खोज
कहाँ गंगा तेली कहाँ राजा भोज

(२) जिसे वख़्त
उसे तख़्त

(३) आरसी हात में होर मूँ देखने नइँ आता
खीसा कमर में होर नक़्द लेने नइँ आता

(४) कोई बुरा कहो या भला
तले मुंडी किए होर अखंड कला

(५) मोत का ना करना हवस
इज़्ज़त सूँ जितना मिला उतना च बस

(६) चिकने घड़े पर पानी ढलता

(७) जितनी अक़्ल उतनी बड़ाई

(८) ज कोई दरिया में जावे
सो मोतियाँ ल्यावे

(९) आप भले तो आलम भला

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद

—''सबरस'' से संगृहीत
—ललिता देवी

कला-चर्चा

जीवन-भर अनादर, अपमान, अप्रतिष्ठा और निन्दा-प्रहार झेलते हुए यूरोप में, जिस उत्तर-प्रभाववादी (Post Impressi onist) शैली के प्रमुख चित्रकार का व्यक्तित्व उभर आया, वे थे पॉल सेज़ाँ (Paul Cizame)। सेज़ाँ अपने समय की कलागत मान्यताओं की चौखट में अपनी मान्यता और व्यक्तित्व कभी नहीं समेट सके। आने वाले युग से बहुत पहले पैदा होकर उन्होंने वर्तमान की यन्त्रणाओं को हँस कर या खीझ कर गले लगाया और कला के भविष्य का मार्ग प्रशस्त किया।

मौलिक सिद्धान्त : सेज़ाँ स्वतन्त्र-चिन्तन के आधार पर जिस निष्कर्ष पर पहुँचे वह है—"प्रकाश, आकार और रंग तीनों की भिन्न सत्ताएँ हैं। प्रकाश अपने प्रभाव से आकार में अथवा वस्तु की रूपरेखा में भ्रम उत्पन्न करवाता है।"

विद्यमान शैली में छाया-प्रकाश द्वारा प्रस्तुत आकृति के उसी भ्रम का रंगों द्वारा अनुसरण किया जाता था। सेज़ाँ ने सबसे पहले इस भ्रम को समझ कर आकृति और प्रकाश की भिन्न सत्ता स्थापित करने वाले रंगों द्वारा अपनी नई शैली को जन्म दिया। उसने मॉडेल (व्यक्ति), निसर्ग अथवा वस्तुओं के चित्रण में यथा-तथ्य (फ़ोटोग्राफ़िक) अंकन की अपेक्षा रंग और रूपरेखा के स्तरों को विशेष महत्त्व दिया था। इस मौलिकता का उसे अभिशाप मिला—दुर्निवार यातना। प्रचलित रुचि के बहाव में न बहने वाली उसकी सनक अथवा शैली का लोगों ने तिरस्कार किया, कला-समीक्षकों ने निन्दा की, धनपतियों ने उसे व्यावसायिक महत्त्व न मिलने दिया तथा सामान्य जनता ने उसकी अद्भुत मौलिक सूझ-बूझ को 'मूर्खता' का सम्बोधन देकर गौरवान्वित किया। किन्तु सेज़ाँ अपनी ज़िद पर अड़ा रहा। उसने ग्राहकों या दूकानदारों की बाज़ारू रुचि का सदा तिरस्कार किया और वह अपने सिद्धान्तों पर अटल रहा।

चित्रकार सेज़ाँ

विशिष्ट चित्रण-पद्धति : कैन्वास पर कीचड़-जैसे गाढ़े रंग की पृष्ठभूमि थोप कर उस पर आकृति का अंकन, छाया-प्रकाश के पट्टे (पॅचेस), चौड़े ब्रश और चाकू (पॅलेट नाइफ़) से रख कर किया जाता था। प्रकाश और छाया के हलके-गहरे, जितने उतार-चढ़ाव हुआ करते थे, उन सब के स्तर निश्चित कर, उनकी सीमा बाँध कर, रंग-सादृश्य द्वारा सेज़ाँ उन्हें स्पष्ट करता था। हलके-गहरे रंगों के अनेक पट्टों से बना सेज़ाँ का ऐसा चित्र विशिष्ट दूरी से देखने पर अपना वास्तविक प्रभाव डालने की क्षमता रखता था। लाइट और शेड के ऐसे प्रभावपूर्ण पॅचेस देने की इस पद्धति द्वारा उसका भीतरी आत्मविश्वास और आवेश अभिव्यक्त होकर चित्रकृति को व्यक्तित्व प्रदान करता था। यह व्यक्तित्व ही तो सेज़ाँ की अपनी मौलिकता थी, जिसकी महत्ता को तत्कालीन जनरुचि ने तिरस्कृत किया था।

प्रकाश स्वभावतः गतिशील है। उसके द्वारा मिश्रित रंग (Mixed colour) रूपरेखा को बहका कर रंगों का विभ्रम उत्पन्न करते हैं अतएव सेज़ाँ अमिश्रित रंगों का प्रयोग करता था। इसी से उसके रंग आकृति की सीमा निश्चित और भूमितीय करते थे। आगे चल कर आने वाले क्यूबिज़्म की यही मूल प्रवृत्ति है।

जीवन-वृत्त : प्रोवेन्स की पुरानी राजधानी एक्स (Aix) में उसका जन्म १६ जनवरी, १८३६ में हुआ। उसके पिता ने हैट बनाने के रोज़गार में रुपया कमाया और बाद में उस सम्पत्ति से उसने साहूकार का कारोबार चलाया। उसके और दो भाई थे जो उससे छोटे थे।

तेरह साल का पॉल सेज़ाँ और बारह का एमिल ज़ोला एक ही पाठशाला के विद्यार्थी थे। दोनों इसी समय से घनिष्ठ मित्र बने। इन्हीं दिनों स्कूल में चित्रकला विषय में सेज़ाँ को दूसरा क्रमांक मिला। ग्रीक-साहित्य के प्रति असीम अनुराग से इन दोनों को प्रेरणा मिली। सेज़ाँ ने अपने देश के प्राकृतिक सौन्दर्य को कैन्वास पर

उतार कर जो अमरत्व प्रदान किया, वह इसी कारण से। एमिल ज़ोला साहित्य के अध्ययन के लिए पैरिस में रहने लगा। पिता की इच्छा से सेज़ाँ ने वकालत का अध्ययन समाप्त किया किन्तु वह पिता की साहूकारी चलाने में असफल रहा। ज़ोला के आग्रह पर वह माँ को ले कर पैरिस गया। वहाँ के Ecole desbany Arts स्कूल में प्रवेश पाने की कोशिश की। स्वभावतः सेज़ाँ व्यक्तिवादी, मौलिक और विद्रोही चित्रकार था। रूढ़िवादी चित्रांकन-क्षमता के अभाव में उसे उपर्युक्त कला-संस्था में प्रवेश नहीं मिल सका।

कला-महर्षि डेलाक्राइस के कला-शिष्य लारे और रुबेन्स के पास उसने कला का अध्ययन आरम्भ किया। परन्तु यहाँ भी उसने कभी उनके चित्रों की नकल नहीं उतारी और न ही उनकी शैली को अपनाया। उसका एक भी चित्र प्रशंसित नहीं हुआ परन्तु उसने गाढ़े रंग पोत कर चाकू (पॅलेट नाइफ़) से चित्रांकन की पद्धति चालू रखी। उसे बार-बार निराश होना पड़ा। कल्पना-रम्य, अन्तर्वृत्ति प्रकट करने वाले तथा नाटकीय विषय के उसने चित्र बनाये। उसी समय उसने ऐसे कई पोर्ट्रेट चित्रित किये जिसमें नाट्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रभाव परिलक्षित होते हैं। इन चित्रों से प्रतीत होता है कि उस पर चित्रकार कारवेट की शैली का प्रभाव था। काला, सफ़ेद, मिट्टी का लाल और मुख्यतः पीला इन रंगों का बार-बार उपयोग चौड़े पॅचेस दे कर किया है। आवेशपूर्ण चित्रण की रचना-पद्धति का नियोजन उसके सोद्देश्य जीवन का तनाव व्यक्त करती है। टिन्टेरेटो के चित्रों की नग्न आकृतियों से सदृश्य निर्माण करने की कुशलता से एक क़दम आगे बढ़ कर दृढ़ आत्मविश्वास द्वारा सेज़ाँ ने नग्न आकृति-चित्रण आवेशपूर्ण तरीके से किये।

उसके चित्रों से व्यंजित होता है कि रचना-चित्रण (काम्पोजिशन) के नाटकीय प्रभाव के लिए उपयुक्त, योग्य लैंडस्केप के स्थलों का उसने अवलोकन किया था। निसर्ग के हूबहू रंगों का उपयोग करने की व्याकुलता से उसे प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्ट) चित्रकारों की पंक्ति में स्थान मिला। सत्य तो यह है कि उसने साहित्य के अध्ययन एवं मनन से प्रेरणा लेकर अपनी कला-शैली का आत्मिक संस्कार किया था। चित्रांकन में दृष्टि-चमत्कार (दृश्य-जगत् जैसा, दिखता है, वैसा ही चित्रित करना) को उसने गौण स्थान दिया, प्रधानता थी अनुभूति की; वह दृश्य-जगत् को जैसा महसूस करता वही रूप देना चाहता था।

उसके वस्तु-चित्रण की प्रमुख विशेषता थी—मनोरंजक नाटकीयता, स्वाभाविकता एवं सादगी।

व्यक्तित्व का निर्माण : मौलिक दृष्टिकोण के अतिरेक के कारण वह रूढ़ि-ग्रस्त विरोधी चित्रकारों का अनादर कर उनके खिलाफ़ बोलता था। समसामयिक चित्रकारों ने उसका जो संगठित अनादर किया उसकी प्रतिक्रिया कुण्ठा में न हो कर एक प्रकार के तीव्र आवेश में हुई। विवादों द्वारा वह विरोधियों के मतों का खण्डन करते हुए, उनके प्रति अत्यन्त तीखे शब्दों का प्रयोग करता था। उसके इसी रवैये के परिणाम-स्वरूप सन् १८६६ में एक चित्र प्रदर्शिनी में भेजे हुए, उसके दोनों चित्र अस्वीकार किए गए। इसी समय सेज़ाँ को अप्रसिद्धि और बदनामी के घनघोर अँधेरे में दबा देने के लिए विरोधियों ने संयुक्त-मोर्चा खड़ा किया। परन्तु इसके विपरीत उसके अन्तरंग सहचर एमिल ज़ोला, जो उस समय तक लेखक के रूप में ख्याति अर्जित कर चुका था, उसने सेज़ाँ के विरोधियों पर कलम से आक्रमण किया। आलोचना-प्रत्यालोचना की भरमार से उसने सेज़ाँ के प्रति किया गया, संगठित अन्याय यूरोपीय देशों में गुँजा दिया तथा उसकी स्वतन्त्र चित्रण-शैली के विविध पहलू उद्घाटित कर उसकी धाक जमाई। ज़ोला की क़लम ने सेज़ाँ की तूलिका को प्रतिष्ठित करने में जो बल प्रदर्शित किया, वह कला के इतिहास की बे-जोड़ घटना है।

सन् १८६७ में उसने विवाह किया। सन् १८७० के युद्ध के परिणाम की चिन्ता न कर वह दक्षिण में जा कर चित्र-साधना में व्यस्त हो गया। सन् १८७२ में चित्रकार पिसारो अपनी विशिष्ट शैली के चरम-शिखर पर था। उन दिनों सेज़ाँ उसके निकट सम्पर्क में आया। तब से पिसारो, मोने, रेनॉर, सिस्ले आदि प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्ट) चित्रकारों की पंक्ति में सेज़ाँ का नाम लिया जाने लगा। उस काल में जिन्हें तुच्छता-पूर्वक 'इम्प्रेशनिस्ट' कहा जाता था वे अब एक युग-विशेष के मानदण्ड बन गए थे।

इसी समय अपने चित्रांकन के आवेश को उसने शास्त्रीय-कोण से परखा। वह इस परीक्षण द्वारा इस नतीजे पर पहुँचा कि सृष्टि वातावरणमय दिखाई देती

१८५०

है। उसने कैमिल पिसारो के चित्रों-जैसे अनेक चित्र बनाए। स्टूडियो में बैठ कर चित्रांकन करने की अपेक्षा वह अब खुली हवा में बैठ कर चित्र बनाने लगा। इसी समय उसने अपनी निजी शैली का आविष्कार किया तथा मौलिक सिद्धान्त स्थापित किया।

एकाकी, उदासीन और शरमीले स्वभाव का सेज़ाँ एक नए व्यक्तित्व को ले कर सामने आया। नव विचार-वादी चित्रकारों का संगठन कर उसने सन् १८७४ में एक चित्र-प्रदर्शिनी का आयोजन किया। अपनी चित्र-शैली का विवेचन करते हुए, प्रदर्शिनी में निमन्त्रित-कला-समीक्षकों पर उनकी फ़िरकापरस्ती के लिए उसने भीषण प्रहार किए। इस घटना से उसके सहयोगी चित्रकार मित्र उससे नाराज़ हो गए और उन लोगों ने सन् १८७७ के बाद से सेज़ाँ के साथ चित्र-प्रदर्शन करना बन्द कर दिया; क्योंकि कला-समीक्षकों की नाराज़ी के परिणाम को पचाने की शक्ति तथा ज़माने के साथ संघर्ष करने का, उसके सहयोगी तरुण-चित्रकारों में सामर्थ्य नहीं था।

ऊँची उड़ान : सन् १८७७ के निकट उसकी कीर्ति की सुगंध फैलने लगी और उसको अनेक व्यक्तियों से पोर्ट्रेट का काम मिलने लगा। एमिल जोलाँ और श्रीमती सेज़ाँ उसके लिए ग्राहकों से काम स्वीकार करते थे। मॉडेल की आकृति (वाह्य-रेखा outlines) रंगों द्वारा व्यक्त कर चित्रण आरंभ करता। ग्राहकों की रुचि-अरुचि की चिन्ता न कर उसने अपनी शैली का पूरा निर्वाह करना चाहा। इससे ग्राहक चिढ़े, भड़के, काम अधूरा छोड़ कर मॉडेल चले गये किन्तु वह डिगा नहीं, हालाँकि इस हठवादिता के कारण उसे हर तरह के संकटों से जूझना पड़ा। जीवन-संघर्ष करना पड़ा। सन् १८८२ तक चित्र-प्रदर्शनी के आयोजक उसके चित्रों का प्रदर्शन टालते रहे। इसी वर्ष जूरी के एक व्यक्ति गिलिमेट नामक अपने मित्र का उसने पोर्ट्रेट तैयार किया जो प्रदर्शिनी में लटकाया गया। सन् १८८६ में युनिवर्सल चित्र-प्रदर्शिनी ने उसके बनाये दो पोर्ट्रेट प्रदर्शित हुए। ये प्रदर्शिनी के संयोजकों के पोर्ट्रेट थे। इस तरह वह जूरी और संयोजकों के चित्र बना कर बड़ी मुश्किल से प्रदर्शिनी के लोह-द्वार तोड़ कर उसके भीतर प्रवेश पा सका।

कला समीक्षकों (जिन्हें इतिहास भी स्मरण नहीं रख सका) की निन्दा-स्तुति की परवाह न कर सेज़ाँ ने अपने चित्रों की व्यक्तिगत प्रदर्शिनी (One man show) आयोजित की। तत्कालीन तथाकथित कला-समीक्षकों को निमन्त्रित किया तथा अपने चित्रों की चर्चा चलाते हुए, उसके माध्यम से उनकी घोर निन्दा और अपमान किया। परन्तु बाद में अपने इस कृत्य से वह दुःखी हुआ। पिता द्वारा परिश्रम से अर्जित सम्पत्ति, कीर्ति, यश, सफलता और सुखी जीवन का राजमार्ग छोड़ कर अपनी इस कला के लिए वह दुःख, दारिद्र्य, एकाकी-पन, निन्दा और असफलता की अंधेरी गुफ़ा में चिरंतन यातना सहता रहा।

सन् १८६० में स्वतन्त्र विचारधारा के चित्रकारों ने ब्रसेल्स की चित्र-प्रदर्शिनी के लिए सेज़ाँ के चित्र मँगाए। इसके लिए उसने एक लैण्डस्केप, ब्रदर्स आदि चित्र भेजे। सन् १८६५ में उसकी कला-शैली को मान्यता मिली किन्तु इसी साल लक्ज़ेम्बर्ग म्यूज़ियम में आयोजित प्रदर्शिनी में आए हुए चित्रों में से आधे से अधिक मिनिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट्स ने अस्वीकार किये, इनमें सेज़ाँ के तीनों चित्र थे।

आर्ट डीलर एण्ड पब्लिशर ओलार्ड (Olard) ने अपनी गैलरी में केवल सेज़ाँ के चित्रों का प्रदर्शन किया। इनमें से कुछ बेचे भी गए। इस आयोजन के बाद उसके निराशा के दिन बदलने लगे। उसकी कीर्ति सुन कर नये जिज्ञासू चित्रकार उसके चित्र समझने के लिए आने लगे। जोला को अपने मित्र सेज़ाँ के अव्यवहारी स्वभाव पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि यह आदत उसने (सेज़ाँ ने) ज़ोला से ही सीखी थी।

साधना में मृत्यु : वस्तु-चित्रण में उसने रोज के उपयोग की वस्तुओं को विशेष महत्त्व दिया। उसके पूर्व चित्रकार क़ीमती और सुन्दर वस्तुओं को चुनते थे। आयु के ६७ वें वर्ष, २२ अक्तूबर, सन् १६०६ को, बरसते पानी में लैंडस्केप-चित्रण करते हुए, मृत्य-देवी एकाएक उस पर रीझ गई। कला की साधना में मृत्यु, कलाकार को भाग्य से मिलती है। अंतिम क्षणों में उसकी शैली को मान्यता और कीर्ति मिली किन्तु अपने आदर्श के अत्युच्च-शिखर तक न पहुँच सकने का विषाद उसके मन में बना रहा। कलाकार का यह आन्तरिक विषाद ही उसके दैनिक विकास की सीढ़ी है।

बुधवार दरवाज़ा रोड,
नागपुर

—भाऊ समर्थ

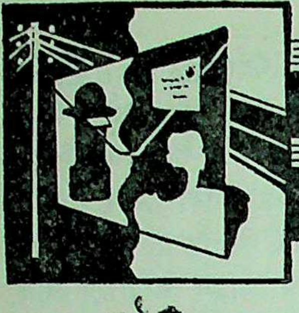

चिट्ठी-पत्री

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

(१)

'अजन्ता' का मई-अंक देखा। सज्जा की दृष्टि से बहुत पसन्द आया। कविताएँ हमेशा की तरह सभी सुन्दर हैं। इस अंक की उल्लेखनीय कविता श्री 'केशु' की 'बिना छाँह के' शीर्षक है। भाव एवं अभिव्यक्ति बड़ी ही सहज और मार्मिक है। कविता के दूसरे छन्द की तीसरी पंक्ति 'क्यों न जी पाते हैं भावुक' बड़ी ही सुन्दर लगी। कविता को स्थान भी बड़ा अच्छा दिया गया है। आदित्य मिश्र की भी बड़ी सुन्दर रचना है। कहानी एवं लेख सभी अच्छे हैं। आशा है आप 'अजन्ता' में ऐसी ही सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित करते रहेंगे।

पो० शाहगंज,
तहसील बुधनी (म. प्र.) — **एल. बी. पेंढारकर**

(२)

'अजन्ता' का मई–अंक भी दूसरे अंकों की तरह पसन्द आया। इस अंक की कविता-सामग्री अधिक पसन्द आई। 'बिना छांह के' शीर्षक श्री केशु की कविता भाव भाषा तथा नए प्रयोगों की दृष्टि से उल्लेखनीय है। स्थान भी उपयुक्त दिया गया है। वीरेन्द्र मिश्र का गीत भी काफ़ी सुन्दर है। कहानी एवं लेख सभी साधारणतया अच्छे हैं। इधर 'अजन्ता' में आप अच्छी कविताएँ दे रहे हैं और विश्वास है, इसी तरह देते रहेंगे।

द्वारा : जी. पी. मालवीय
लक्ष्मी टाकीज़ के सामने —**सत्यनारायण शर्मा**
भोपाल

(३)

पिछले दिनों में हैदराबाद एक कवि-सम्मेलन के सम्बन्ध में जब मैं आया था, उस समय आपसे भेंट हुई थी। आपकी वाणी का बहुत लाभ तो मैं नहीं उठा सका किन्तु आपके सहज सरल और स्पष्ट व्यक्तित्व को कुछ-कुछ समझ सका। 'अजन्ता' को आप जिस योग्यता तथा उत्तरदायित्व से विभिन्न कार्यों के बीच सम्पादित कर रहे हैं, वह उल्लेखनीय है। महाविद्यालय तथा पत्रिका के क्षेत्र अलग-अलग हैं किन्तु आपने दोनों में अपनी रुचि, श्रम तथा प्रतिभा की लगन लगा दी है।

यह सच मन के भाव हैं, ऐसे भाव जिन्हें मैं कभी कहता, क्या हर्ज़ है यहीं सही।

आंग्रे का बाज़ार,
लश्कर (ग्वालियर) —**वीरेन्द्र मिश्र**

(४)

इधर प्रवास के कारण कई दिनों के बाद 'अजन्ता' देखा। मई का अंक सामने है। सामग्री उतनी ही श्रेष्ठ और उत्तम कोटि की है, जितनी पिछले अंकों में रही।

इस अंक की कविताएँ सभी अच्छी हैं। विशेष उल्लेखनीय कविता श्री केशु की "बिना छाँह के" है (जहाँ तक मेरा ख़याल है, कवि का नाम 'केशु' है, केशू नहीं—जैसा कि छप गया है। 'नया समाज' में यह नाम कई बार देखा है) छोटी आठ लाइन की कविता होते हुए भी, अपने-आप में पूर्ण और प्रभावोत्पादक है। 'याद की कोयल' 'गीतों की खश' 'स्वप्न नीम की छाँह' आदि प्रयोग बड़े ही उपयुक्त और मधुर हैं। सीधी-सी बात को कवि ने कुछ ऐसे ढंग से कहा है कि कविता की अन्तिम लाइन पढ़ते ही अपने-आप मुँह से 'वाह ! बहुत सुन्दर' निकल जाता है। दिनों के खुदकशी कर लेने की बात तो वास्तव में बड़ी ही नवीन है। कवि को इस सुन्दर कविता के लिए बधाई तथा उसे उचित स्थान पर प्रकाशित करने के लिए आप भी मेरी बधाई स्वीकार करें। इसके बाद प्रयोग तथा विचार की दृष्टि से रमेन्द्रनाथ श्रीवास्तव, सौन्दर्य और माधुर्य की दृष्टि से आदित्य मिश्र तथा प्रभाव-गुण की दृष्टि से रंगनाथ 'राकेश' की कविताएँ रुचीं।

१६५७

लेखों में व्रजभूषण पाण्डेय का 'दर्शन और धर्म' ...क लेख विद्वत्तापूर्ण एवं गम्भीर होने के कारण ...नीय है। विनोद रस्तोगी का एकांकी तथा लक्ष्मी ...रोत्रा की कहानी उल्लेखनीय हैं। सभी दृष्टियों से ...क सुन्दर है। यह देख कर कि 'अजन्ता' पहले की ...ह अपना स्तर रखे हुए है, मुझे प्रसन्नता हुई। 'अजन्ता' से मुझे बहुत-सी आशाएँ हैं।

दीक्षित स्टोर, गाँधी चौक
हटा (मध्य प्रदेश)

—रामेश्वर त्रिपाठी

(५)

'अजन्ता' का अप्रैल-अंक देखा। पत्रिका सुन्दर एवं सुसंपादित है। रचनाओं का स्तर ऊँचा है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आपको लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों और कवियों का सहयोग प्राप्त है। मुझे दो कविताएँ बहुत भाईं—'इतिहास-वेत्ता से' और 'वासन्ती-रात'। 'वासन्ती-रात' की अन्तिम पंक्तियाँ बहुत अच्छी हैं। डा० भगवानदास जी की कृति 'अलग-अलग मतों का मेल' अमूल्य है। देवेन्द्र इस्सर का निबन्ध गम्भीर है। 'आत्म-निवेदन' सुन्दर प्रयास है।

पत्रिका के विभिन्न स्तम्भ आकर्षक हैं।

मैं 'अजन्ता' की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए कामना करता हूँ।

...आर, वीरपुर
गाज़ीपुर, (उ. प्र.)

भागवत पाण्डेय 'सुधांशु'

(६)

'अजन्ता' का मई-अंक पढ़ा। मेरी अध्ययन-रुचि दर्शन, धर्म अथवा संस्कृति का विवेकपूर्ण-विवेचन करने वाली रचनाओं को प्रमुखता देती है। इन विषयों में मेरी अपनी धारणाएँ भी कुछ बन जाती हैं। विशेष धारणा यह कि मैं व्यक्तिगत पूजा तथा सिद्धान्तों के अन्धानुसरण से परहेज़ करता हूँ, और मैं उक्त विषयी रचनाओं के दृष्टिकोणों को परखता हूँ। मई-अंक में श्री व्रजभूषण पाण्डेय की रचना 'दर्शन और धर्म' मेरे लिए रुचिकर रचनाओं में से एक निकली।

पाण्डेय जी के इस अनुमान से सहमत हूँ कि पश्चिम ने दर्शन अथवा धर्म के स्वरूप को विकृत रूप में स्वीकार किया है अर्थात् दर्शन-मात्र बौद्धिक विलास की विद्या स्वीकार की जाती है और धर्म एक 'रीति-नीति प्रधान मत विशेष' माना जाता है। ऐसी मान्यता कोरी रह जाती है और सरस-जीवन के रस को भी सोख लेती है।

इसके निदान में वही गीतोद्गीत योगत्रयी ठीक बैठती है कि ज्ञान-भक्ति और कर्म से संयुक्त-जीवन में ही ऐहिक सार्थकता है और पारलौकिक मोक्ष। कोरे दार्शनिक को तो 'दीवार पर गाय कैसे चढ़ी?' सोचते सुना गया है और कोरे भक्त को मन्दिरों में ढोल-मंजीरे पीटते अथवा चौधारे आँसू बहाते तो देखा गया है, किन्तु उन्हें कुछ समय पश्चात् महान् दुराचारी सिद्ध होते देखा है। इन दो (ज्ञान और भक्ति) के अभाव में कोरा 'कर्म तो स्वार्थों' का निर्माण करना है।

"हृदय की गति धर्म-पथ का सृजन करती है"—लेखक के इस बहुकथित सिद्धान्त में अपूर्णता है, इसलिए कि 'हृदय' ही न हो तो? मैं हृदय-हीन भी नहीं—'भावुक' कहा जाता हूँ। कोई समय था (जब ८-१० साल का रहा होऊँगा) चाँद-सूरज से हाथ जोड़ कर, आँसू भर कर, विनती करता था कि "मेरी माता जी भागवत पढ़ कर सुनाती है, उसमें कंस ने कृष्ण को मारने की जो योजना बनाई है, वह सफल न हो, और कंस मारा जाए। हे चन्द्र देवता, कंस ही मारा जाए।"

और दूसरे-तीसरे दिन जब कंस के ही मरने की घोषणा तत्काल घड़ा फोड़ कर कर दी जाती तो, मैं रोमांचित हो उठता, एकान्त में आनन्दाश्रु बहाता।

फिर आज मुझे क्या हो गया है कि मैं समझने लग गया हूँ कि भगवान् को बना कर मानव ने बहुत समय और बहुत कुछ खोया है। यदि मेरा दर्शन मुझे यह जतलाने को सुविधा दे कि ईश्वर नाम की कोई 'बला' नहीं है तो क्या उसके बाद मेरे 'नव-धर्म-गत' कर्त्तव्यों को भारतीय विद्वत्समाज भी स्वीकार करेगा? यदि मैं संध्या-वन्दन और अग्निहोत्र का समय नित्य ही सामाजिक कामों में या अपने उदर की पूर्ति के लिए जीविका में लगाता हूँ तो मुझे अधर्मी और नास्तिक तो नहीं कहा जाएगा? मैं अपने 'धर्म' पर हूँ, मुझे अधर्मी क्यों कहा जाएगा? मैं आशावादी नास्तिक हूँ, तो भी समाज क्या मुझसे घृणा करेगा? 'सनातन धर्मी'

होऊँ तो भी समाज मुझ पर कौन-सा अहसान कर लेगा ? मुझे तो चिन्ता नहीं, परन्तु उनके लिए यह प्रश्न विचारणीय है जो इस चिन्ता में पड़ कर आत्म-विकास से वंचित रह जाते हैं।

यदि दर्शन की जानकारी भौतिक-विज्ञान-सम्मत और सर्व साधारण के जीवन को मान्य हो जाए तो धर्म की आवश्यकता को भी जोड़ते हुए हमारा कौन-सा कर्त्तव्य स्थिर होगा ? इसके लिए क्या शास्त्रों की शरण में जाना जरूरी है ? और हम भारत और भारतीयता की उत्कृष्टता का ढँढोरा पीटते हुए रोमांचित हो उठते हैं। क्या भारत में ही कर्त्तव्य ढाले जाते हैं ? क्या इस स्वाभिमान को विश्व-मानव मूर्ख बन कर ग्रहण कर लेगा ?

हमारी समस्याओं के ठीक-ठीक हल अब इसमें नहीं समझे जाएँगे कि एक सभ्यता दूसरी सभ्यता पर विजय पाए, जिसकी वह पथ-प्रदर्शक और शिक्षक रही है; बल्कि यह हल उन निधियों को आपस में बाँटने से निकलेंगे, जिनका संरक्षण प्रत्येक सभ्यता ने किया है।

पाण्डेय जी ने लिखा है, मनुष्य नाशवान् होते हुए भी 'अमरत्व' की आकांक्षा रखता है और यही आकांक्षा दर्शन का सूत्र-पात करती है।

यदि 'अमरत्व' शब्द की जगह 'आत्म-शान्ति' शब्द रख दें (इस शान्ति का अर्थ मोक्ष तो अज्ञेय है, मैं लौकिक शान्ति की बात कहना चाहता हूँ) तो आकांक्षा सार्वजनिक हो सकती है। बल्कि आज तो मनुष्य के 'अस्तित्त्व' का सवाल सामने है। उसकी रक्षा कर, शान्तिपूर्वक रह कर ही जीवन के रहस्यों की खोज स्वाभाविक हो सकती हैं।

'धर्म कर्त्तव्य का निर्धारण करता है'— ऐसी लेखक की मान्यता है, तो जब परिस्थिति अथवा काल-वश कर्त्तव्य बदलते हैं तो धर्म भी बदलता होगा। तब तो ठीक हुआ और हमें इस बात का भय नहीं होगा कि हम धर्म-शास्त्रों के विरुद्ध चल रहे हैं। होता ही रहता है कि कभी-कभी समय अथवा परिस्थितियाँ धर्म-शास्त्र की अनुकूलता नहीं रख पातीं।

और लेखक के सिद्धान्त से सिद्ध हुआ है कि कर्त्तव्य पहले निर्धारित होते है और तब वे धर्म का रूप लेते हैं। यहीं आशंका हो उठती हैं कि कहीं कथित धर्म रूढ़ियाँ न सृजने लगे ! ये रूढ़ियाँ धर्म को जीर्ण-शीर्ण करके गला देती हैं। इसका क्या इलाज सोचा है ? क्या दर्शन ? ठीक है, पर दर्शन में विज्ञान का सहयोग उपेक्ष्य होगा क्या ? क्या 'अमरत्व' की आकांक्षा ही अपेक्ष्य होगी ? 'अमरता' तो स्वयं भी सापेक्ष है।

परम-तत्त्व की ओर चलता हुआ खोजी-दर्शन चलते-चलते अन्यान्य सृष्टि-तत्त्वों को छूता है और उन्हें 'ब्रह्म की लीला' या 'ईश्वरेच्छा' कहता जाता है। उन तत्त्वों को भी तो कुछ-कुछ करके भौतिक विज्ञान या टेक्नालोजी ने छूआ है। रेडियो, रेल, टेलिविज़न, अणु-खण्डन, मन-बुद्धि की बात पकड़ लेने वाली मशीन आदि ऐसी विज्ञान की प्रयत्न-जन्य भेंटें हैं, इन्हें 'ईश्वरेच्छित' कह कर टाला नहीं जा सकता।

इस विज्ञान और वैश्वमानव-युग में दर्शन को 'भारतीय मंज़िल' (ईश्वर या ब्रह्म), जहाँ तक वह पहुँचने का दावा करता है, से उतर कर और जो रास्ता जाता है, उस पर चलना शुरू करना होगा। जिस स्रोत पर मनुष्य को लौट जाना है, वह स्वयं मनुष्य ही है।

"'अहं' को पूर्ण नियन्त्रित रख कर आत्मतत्व के रूप का चिन्तन किया जा सकता है'—लेखक की यह बात व्यक्ति को आत्मगत बना देती है और व्यक्ति आत्मचिन्ता में डूबा-डूबा उदासीन और निरपेक्ष भी हो सकता है, किन्तु यह उदासीनता लोक-व्यवहार में बाधक जो बनेगी। आत्मचिन्तन का सिद्धान्त तो तब स्वीकारा जाना चाहिए जब प्रकृति, परिस्थिति, काल व आवश्यकताएँ आदि अनिवार्य तत्व मानव-मात्र को प्रभावित और मजबूर न करते हों, राज्य-शासन की आवश्यकता न रहे, पेट की चिन्ता न हो इत्यादि।

सार रूप में लेखक का मन्तव्य व्यापक है और लेख के अन्त में तो गुंजाइश भी छोड़ दी है कि आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक ये सभी मान्यताएँ एक-दूसरे के सहयोग पर ही आगे बढ़ती हैं।

मैं लेखक से निवेदन करता हूँ कि वह दर्शन-धर्म की आर्थिक एवं राजनीतिक और विश्व-मानविक दृष्टि से भी फिर विवेचना कर के 'अजन्ता' के पाठकों को सरस चिन्तनशीलता के लिए प्रेरें।

विमल कुटीर,
१ बी–२२, लाजपतनगर,
नई दिल्ली–१४

—शाम विमल शास्त्री

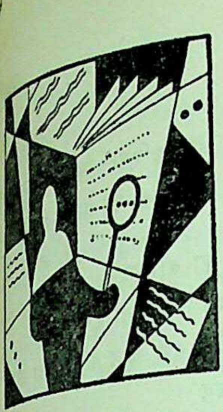

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम भेजी जानी चाहिए]

भारतीय कविता [१९५३]
भूमिका-लेखक : श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू
प्रकाशक : साहित्य अकादमी,
नई दिल्ली
मूल्य : ५.००

साहित्य अकादमी, नई दिल्ली ने प्रस्तुत पुस्तक में भारतवर्ष की १४ भाषाओं की दस-दस आधुनिक कविताओं को चयन कर प्रकाशित किया है। प्रत्येक भाषा की कविता का चयन और अनुवाद जिन व्यक्तियों के द्वारा कराया गया है, उनका नाम उन भाषाओं के विभाग के प्रारम्भ में दे दिया गया है। इस अनुवाद की विशेषता के सम्बन्ध में साहित्य अकादमी के मन्त्री महोदय ने पुस्तक की भूमिका में लिखा है: "इस संकलन के अनुवादकों ने प्रयत्न किया है कि अनुवाद के साथ मूल कविता का सान्निध्य और सारूप्य बना रहे, जिससे पाठक थोड़े-से प्रयास से यथासम्भव मूल का भी किंचित् रसास्वादन कर सकें। इस प्रकार यह संकलन हिन्दी के अन्य भारतीय भाषाओं की काव्यगत शैलियों और मुहावरों के निकट लाने की दिशा में भी एक विनम्र प्रयास है—प्रारम्भिक प्रयास तो यह है ही।" हम समझते हैं कि यह प्रयास प्रारंभिक या प्रथम हो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि जिस परिश्रम, और कुशलता की इस प्रकार के संकलनों को प्रस्तुत करने में आवश्यकता है—उसकी ओर पूर्ण रूप से ध्यान न दिया जाए। जिस पुस्तक पर भी 'साहित्य अकादमी' की छाप हो, वह प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण होनी चाहिए और साहित्य में उसको एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए। भारतीय भाषाओं के १९५३ के काव्यों के संकलन में एक प्रकार की नवीनता अवश्य है परन्तु यह संकलन भारतीय भाषाओं के साहित्य में आदरपूर्ण स्थान को प्राप्त कर सकेगा, इसमें हमें सन्देह है। क्योंकि समस्त अनुवाद गद्य में किए गए हैं, इसलिए काव्यों की भिन्न-भिन्न 'शैलियों' को 'निकट' लाने का प्रश्न नहीं उठता और जहाँ तक 'मुहावरों' का प्रश्न है, उनको 'निकट' लाने के लिए भाषा को 'बेमुहावरा' नहीं बनाया जा सकता। प्रस्तुत पुस्तक में अधिकांश कविताओं के अनुवाद इस प्रकार के हैं कि उनमें किसी प्रकार का रसास्वादन नहीं होता। अनेक अनुवाद इस प्रकार के हैं जो ऐसी भाषा में किए गए हैं, जिसमें संभवतः 'मूल' की 'सरूपता' भले ही हो परन्तु उनका आशय स्पष्ट नहीं है। कविता के अनुवाद में 'सान्निध्य' और 'सारूप्य' से अधिक आवश्यकता 'सरसता' की है। अनेक अनुवाद इस प्रकार के हैं, जिनमें न तो पढ़ने में प्रवाह अनुभव होता है और न कुछ विशेषता। कई स्थानों पर प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे शब्द डाल दिए गए हैं जो 'प्रान्तीय' होने के कारण समझ में नहीं आते और जिनकी व्याख्या करना अनुवादक महोदयों ने आवश्यक नहीं समझा है।

असमिया की 'अहल्या पृथिवी' कविता में (पृ. २१):

"शान्ति की कपोती रोती है
उसके पंखे में बारूद की बू है"

यहाँ 'पंखे' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है—यह समझ में नहीं आता। मूल में 'डेउकात' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसके लिए हिन्दी में "पंखे" शब्द का प्रयोग किया गया।

'कवि के लिए चिट्ठी' कविता में (पृ. ३२)

"'फांकलीया' चिंफी,
यहाँ छन्द नहीं है क्या ?

बगा जहा कला जहा, कण जहा,
बेतगुटि हरोपावा नेकेरा
नेडली बरा, नलचुटि, बुदुमणि"

यह हिन्दी का अनुवाद है। इसके नीचे किसी प्रकार की टिप्पणी नहीं दी गई है। संभवतः यह 'सान्निध्य' और 'सारूप्यता' के लिए किया गया है परन्तु क्या इसे अनुवाद कहा जा सकता है ? और इस प्रकार के अनुवाद से लाभ क्या है ?

उड़िया कविता 'ऐक्य आह्वान' में (पृ. ५३)

"धर्म, क्षमा और कठिनाई की जरूरत है"

यहाँ 'कठिनाई की जरूरत है'—आशय कुछ समझ में नहीं आता।

असमिया कविता 'सहस्र मृत्यु के बाद' में (पृ. ९) :

"काल के वक्ष से
भास-भास कर
मेरा जीवन इस पार में
ठहर गया"

यहाँ "भास भास कर"—समझ में नहीं आया

उड़िया कविता "त्रयी" में (पृ. ७१)

"दुर्मद नदी की भँवरों में
छलांग लगाता है एक फूल"

एक फूल का 'छलांग लगाना'—मुहावरा कुछ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण पुस्तक में से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कुछ थोड़ी-सी कविताओं को छोड़ कर अधिकांश कविताओं के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि न तो उनका चयन ठीक तरह किया गया है, और न अनुवाद। यह चयन और अनुवाद इस प्रकार का होना चाहिए कि भारतीय भाषाओं की कविताओं और साहित्य का अध्ययन करने के प्रति रुचि और प्रवृत्ति उत्पन्न हो। यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक में कविताओं का संग्रह किया गया है—तो भी इन कविताओं में या अनुवाद में वह आकर्षण, प्रवाह और परिपक्वता नहीं है, जिससे कि इन्हें बार-बार पढ़ने की इच्छा हो। वह कविता ही क्या जिसे बार-बार पढ़ने का मन न करे। प्रस्तुत संग्रह में कुछ कविताएँ हमें आकर्षक प्रतीत हुईं, यद्यपि उनके अनुवाद में भी शिथिलता का अनुभव होता है।

तमिल भाषा की कविता 'अपार पारावार' (पृ. २९३) में मल्लाह के बालक का साहस अद्भुत है :

"आया एक मल्लाह का बालक,
जग के शासक की भाँति झूमता हुआ
हाथ में डाँड और पैरों तले काठ का टुकड़ा लिए
तट पर खड़ा रहा वह
नाचते-थिरकते आए (?)
तरंग-समूह को देख मैंने कहा
यह तो संसार को भयभीत करने वाले
सिंहों का झुण्ड है

तिरस्कार के साथ वह बोला
यह तरंग-समूह तो अश्व है अश्व
इस पर आरूढ़ हो कर स्वेच्छा से विचरण करने वाले
मेरे जैसे राजा
पालना है खेलने का
माता की गोद-सा प्यारा
साहसी के लिए सभी मोदकर हैं
कायर के लिए सभी प्राणहर हैं"

इसी प्रकार बल्लतोल की 'मरुभूमि नहीं' कविता में उनका अपनी मातृभूमि के प्रति निम्न पंक्तियाँ गहरा प्रेम अभिलक्षित करती हैं :

"जिस देश में (केरल में) युधिष्ठिर का नित्य-दान
का नियम इसलिए न चल सका; क्योंकि
वहाँ कोई दान लेने के लिए तैयार न था
उस देश के वासी
क्या आज वामन की—याचक की वृत्ति
स्वीकार करें ?"

बंगाल की 'अनिर्वचनीया' कविता में (पृ. ४२१) श्वेत चन्द्रिका की तुलना 'मोर के सफ़ेद पंखों' से की गई है। सफ़ेद मोर बहुत कम लोगों ने देखा होगा :

"चाँदनी रात में आलोक
सफ़ेद मोर के पंख फैलाए आता है"

उनकी इसी कविता की निम्न पंक्तियों में 'छन्दों का अपूर्व आयोजन किया गया है :

पृ.५७

"तुम्हारे अंचल की मालिनी में
तुम्हारे कुन्तलों के भुजंग प्रयात में
तुम्हारे कण्ठ की स्रग्धरा में
तुम्हारे चरणों की मन्दाक्रान्ता में
तुम्हारे ललाट के वसन्त तिलक में
और
तुम्हारे वक्ष के शिखरिणी छन्द में"

इस पुस्तक में अनेक ऐसी अत्यन्त साधारण कविताओं का संग्रह किया गया है कि जिन्हें यदि उनमें सम्मिलित न किया जाता तो उपयुक्त होता। संस्कृत की कविताओं का संग्रह अत्यन्त साधारण है—यद्यपि उन कविताओं के चयन करने वालों में श्रीयुत सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का नाम भी दिया गया है। कई कविताओं में नवीन 'रिसर्च' के संकेत प्राप्त होते हैं। एक उड़िया कविता में (पृ.६७):

"वैसे ही जैसे कि सीता की अग्नि-परीक्षा
सती-प्रथा का मूल कारण बनी"

क्या कवि का यह नया 'रिसर्च' है कि 'सीता की अग्नि-परीक्षा सती-प्रथा का मूल कारण बनी।' अद्भुत तथ्य है!

इस काव्य-संग्रह की भूमिका श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने लिखी है। वे अपनी इस भूमिका में लिखते हैं: "मैं इसका स्वागत करता हूँ और अनुरोध करता हूँ कि सिर्फ वे लोग ही नहीं जो काव्य के प्रेमी हैं—बल्कि वे सभी जो हमारे देश के साहित्य के विकास में सहायता पहुँचाना चाहते हैं—इस काव्य-ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें" मुझे सन्देह है कि श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं इस काव्य-ग्रन्थ का गम्भीरता पूर्वक पारायण या अध्ययन किया है, क्योंकि उन्होंने अपनी भूमिका में भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में तो बहुत कुछ लिखा है परन्तु इन कविताओं की विशेषता के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं लिखा। क्या यह उपयुक्त न होता कि यदि इसकी भूमिका किसी ऐसे कवि महोदय से लिखवाई जाती जो कि इस पुस्तक में संगृहीत कविताओं की विशेषताओं पर कुछ प्रकाश डाल सकते।

इस प्रकार के संग्रह-काव्य विशेष रूप से उसी अवस्था में उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे—जब कि कविताओं का चयन और उनके अनुवाद की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाएगा। इस प्रकार के संग्रहों में संकलन की कोटि (Quality) और अनुवाद की सरसता की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। हम समझते हैं कि इस प्रकार के प्रकाशनों से साहित्य अकादमी, और नई दिल्ली के गौरव की अभिवृद्धि नहीं हो सकती।

सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पाद: डॉ. नगेन्द्र
सहकारी सम्पादक: महेन्द्र चतुर्वेदी
प्रकाशक: सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समिति,
नई दिल्ली
मूल्य: २५.००

प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ श्रीयुत सेठ गोविन्ददास को उनकी हीरक-जयन्ती के उपलक्ष में भेंट किया गया था। श्रीयुत सेठ गोविन्ददास की इस देश के प्रति की गई सेवाओं का क्षेत्र विस्तृत है। अपनी सेवाओं के द्वारा उन्होंने भारतवर्ष के राजनैतिक और अन्य क्षेत्रों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। उनकी सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक था कि हिन्दी-साहित्य-सेवियों की ओर से उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाए। अभिनन्दन-ग्रन्थों से जहाँ अभिनन्दन होता है, वहाँ वे एक प्रकार के स्मारक-ग्रन्थ भी होते हैं। श्रीयुत सेठ गोविन्ददास हिन्दी के स्वयं एक लब्ध-प्रतिष्ठ नाटककार हैं और नाटकों के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि है—इसलिए इस अभिनन्दन-ग्रन्थ में अधिकतर स्थान नाट्य-सिद्धान्त, भारतीय नाट्य-साहित्य और प्रादेशिक भाषाओं के नाट्य-साहित्य के विमर्श को दिया गया है। पुस्तक के चार खण्ड हैं: पहले खण्ड में श्रीयुत सेठ गोविन्ददास को श्रद्धाञ्जलियाँ भारतवर्ष के महान् और विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा अर्पित की गई हैं और इसी खण्ड में उनके जीवन के कुछ संस्मरण दिए गए हैं। दूसरे खण्ड में उनके 'व्यक्तित्व और कृतित्व' पर प्रकाश डाला गया है। यदि इस खण्ड में उनके कुछ इस प्रकार के रेखा-चित्र और संस्मरण दिए जा सकते, जिनमें उनके व्यक्तित्व में सन्निहित प्राकृत-मानव का कुछ स्पर्श होता—तो उपयुक्त होता और ये रेखा-चित्र और संस्मरण साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होते। इस खण्ड में श्रीयुत गोविन्द-

दास के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अनेक दृष्टियों से लेख लिखे गए हैं। इसी खण्ड में उनके 'विचारसूत्रों' का उनके ग्रन्थों से संकलन किया गया है। तीसरे खण्ड में नाट्य-सिद्धान्त और भारतीय नाट्य-साहित्य पर विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा लिखे हुए लेखों का संग्रह किया गया है। 'भारतीय नाट्य-साहित्य' में एकमात्र संस्कृत और हिन्दी नाटकों के सम्बन्ध में लेखों का संग्रह किया गया है। चतुर्थ खण्ड में प्रादेशिक भाषाओं के नाट्य-साहित्य-सम्बन्धी लेखों का संग्रह है। अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रत्येक दृष्टि से अभिनन्दनीय है और इसमें सम्पादक की विद्वत्ता, दृष्टि और परिश्रम का प्रत्येक पृष्ठ में परिदर्शन होता है।

नक्षत्रों की छाया में

लेखक : श्री कृष्णदत्त भट्ट
प्रकाशक : अखिल भारत वर्ष-सेवा-संघ-प्रकाशन,
राजघाट, काशी
मूल्य : १·५०

प्रस्तुत पुस्तक ऐसी सरल, सरस और सजीव भाषा में लिखी गई है कि इसे पढ़ने में काव्य का-सा आनन्द आता है। जो लोग आचार्य श्री विनोबा भावे के साथ समस्त देश की पद-यात्रा कर रहे हैं, उनकी यात्राओं का जीता-जागता चित्र और फ़ोटोग्राफ़िक विवरण प्रस्तुत पुस्तक में दिया गया है। कई स्थानों पर तो ऐसा अनुभव होता है कि हम पुस्तक नहीं पढ़ रहे हैं; हम भी उस यात्री-दल के साथ चलने वाले यात्री हैं। हमें इस पुस्तक को पढ़ने से अपने देश के ग्रामों के दर्शन होते हैं और ग्रामवासियों की अवस्थाओं से परिचय प्राप्त होता है।

"खाने को नहीं है, पहनने को नहीं है, जोतने-बोने को
नहीं है;
अभाव, ग़रीबी, रोग, बीमारी, अशिक्षा
सर्वत्र गाँव-गाँव में एक ही कहानी,
एक ही दर्द,
एक ही मुसीबत
आँख खोल कर कोई देखे भी तो" (पृ. ७३)

विनोबा जी ग्रामों में किस प्रकार नव-जीवन उत्पन्न कर रहे हैं, उसे लेखक ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्दों में प्रस्तुत पुस्तक में लिखा है। वे भारतवर्ष के ग्राम-ग्राम में नवीन चेतना को उत्पन्न कर रहे हैं। लेखक के शब्दों में :

"...यह विनोबा भारत में एक नई हवा तैयार कर रहा है। प्रेम की हवा, शान्ति की हवा, सद्भाव की हवा, उदारता की हवा, त्याग की हवा, अहिंसा की हवा।"

आचार्य विनोबा भावे 'ग्राम-राज्य' की व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं : "......अगर कोई पूछे कि तुम्हारी जाति क्या है तो कह देना कि हम जाति-पाँति को नहीं मानते।...हम लोगों को धन्धा देना चाहते हैं परन्तु जातियाँ नहीं बनाना चाहते। हम चाहते हैं कि हर एक को खेती में कुछ-न-कुछ समय देना ही चाहिए और बचे हुए समय में हर कोई अपना-अपना धन्धा कर सकता है। अब जातियाँ नहीं रहेंगी—वृत्तियाँ रहेंगी। हर कोई कहेगा कि मेरी वृत्ति या तो बढ़ई की है या बुनकर की है या शिक्षक की है। ये सारी वृत्तियाँ हैं, जातियाँ नहीं। सब मिल कर खेती करेंगे। सब जातियाँ किसान के साथ एकरूप होंगी और हर मनुष्य किसान होगा। इस तरह का ग्राम-राज्य हमें बनाना है।"

पुस्तक के तीन-खण्ड हैं। पहले में दैनंदिन :—प्रति दिन की दिनचर्या है। दूसरे में संस्मरण हैं : इसमें श्री विनोबा भावे और पद-यात्रा के संस्मरण दिए गए हैं और तीसरे में सन्त सान्निध्य : इसमें 'सन्त' जीवन की 'स्थितिप्रज्ञ जीवन' की—'आनन्दमय-जीवन' की झलक दिखाई गई है :

"आनन्द, आनन्द, आनन्द ही आठ पहर, चौंसठ घड़ी
प्रसन्नता, मुस्कराहट, मस्ती
रोम-रोम आनन्द में डूबा हुआ है
विषाद का कहीं नाम नहीं"

समस्त पुस्तक इसी आनन्द की मस्ती में लिखी गई प्रतीत होती है और इसलिए इसका प्रत्येक पृष्ठ भावना और रस से ओत-प्रोत है। एक बार पुस्तक को पढ़ना प्रारम्भ कीजिए फिर आपको ऐसा प्रतीत होगा कि जैसे आप एक साँस में ही समस्त पुस्तक पढ़ गए और पढ़ जाने के पश्चात् भी पढ़ने की लालसा मन में बनी रहती है।

१९५७

क्रान्ति की भावना
लेखक : प्रिन्सक्रोपाटकिन
सम्पादक : बनारसीदास चतुर्वेदी
प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन
सस्ता साहित्य मराडल, नई दिल्ली

मूल्य : २.५०

प्रिन्स क्रोपाटकिन विश्व के उन क्रान्तिकारी विचारकों में से हैं जो इस बात में विश्वास करते थे कि विश्व में किसी प्रकार की सरकार नहीं होनी चाहिए। उनके विचारों के अनुसार "आज की मौजूदा सरकारें समाप्त कर दी जाएँ ताकि स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व...वास्तविक रूप धारण कर सकें। अब तक जितनी भी सरकारें बनाई गई हैं, वे अत्याचार करने का एक नया ढोंग सिद्ध हुई हैं।...राज्यों के स्थापित होने से पूर्व भी हज़ारों वर्ष तक मनुष्य रहा करते थे।...हम एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य पर शासन नापसन्द करते हैं।...यदि आप यह चाहते हैं कि व्यक्ति को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो और फलतः उसके जीवन का आदर किया जाए तो आपको मनुष्य के द्वारा मनुष्य के ऊपर शासन किए जाने का विरोध करना होगा।" प्रस्तुत पुस्तक में 'क्रान्ति' के सम्बन्ध में प्रिन्स क्रोपाटकिन के कुछ लेखों का अनुवाद दिया गया है। अन्तिम लेख 'जेल से भागना' का अनुवाद प्रिन्स क्रोपाटकिन के आत्मचरित से लिया गया है। क्रोपाटकिन के रेखा-चित्र में श्रीयुत बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं : "संसार में अनेक राजनैतिक महापुरुष हुए हैं और होंगे--पर मस्तिष्क की विशालता, हृदय की उदारता, चरित्र की स्वच्छता और जीवन की उच्चता के ख़याल से क्रोपाटकिन का दृष्टान्त अनुपम सिद्ध होगा।" लेखों का अनुवाद और सम्पादन कुशलतापूर्वक किया गया है।

आजकल 'क्रान्ति', 'प्रगति' और 'नवीन समाज की रचना' आदि विचार और भावनाएँ मनुष्य के दिमाग में चक्कर काट रही हैं। इस सम्बन्ध में प्रिन्स क्रोपाटकिन के विचारों को पढ़ने से सचमुच एक "नवीन दृष्टि" प्राप्त होती है। सम्पादक महोदय ने क्रोपाटकिन और गान्धी जी के जीवन में कई समानताओं का प्रदर्शन कराया है। हम जब प्रस्तुत पुस्तक में "अराजकता : सिद्धान्त और आदर्श" लेख में निम्न पंक्तियाँ पढ़ रहे थे : "हमें स्वाधीनता के ख़तरों और दुरुपयोगों से डरने की ज़रूरत नहीं। जो लोग कुछ नहीं करते—उन्हीं से कोई भूल नहीं होती" तो हमें गान्धी जी के एक कथन का इस सम्बन्ध में स्मरण हो आया। वे कहा करते थे : "मैं ग़लतियाँ करने के लिए स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना चाहता हूँ। मैं स्वतन्त्रता इसलिए चाहता हूँ कि मैं ग़लतियाँ कर सकूँ।" सर्वोदय और मानव के हित में जिनको ज़रा सी दिलचस्पी है—उन्हें क्रोपाटकिन के विचारों का पूर्ण मनोयोग के साथ अध्ययन करना चाहिए।

मुहावरे और कहावतें
लेखक : बालमुकुन्द 'अर्श' मलसियानी
प्रकाशक : विद्या-प्रकाशन, दिल्ली
सोल एजेएट : आत्माराम एराड संज़,
कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : ५.००

किसी भाषा की विशेषता उसकी लोकोक्तियों और मुहावरों से ज्ञात होती है। जिस प्रकार एक जीवित भाषा में प्रति दिन नए-नए शब्दों का आगमन होता रहता है उसी प्रकार उसमें नए नए मुहावरे भी सम्मिलित होते रहते हैं। जिस व्यक्ति को किसी भाषा के मुहावरों का ठीक तरह ज्ञान नहीं है वह उस भाषा को ठीक तरह नहीं जानता। जिस प्रकार शब्दों के अर्थों में स्थान विशेष से विशेषता और भिन्नता उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार स्थान-भेद से मुहावरों के अर्थों में भिन्नता और विशेषता उत्पन्न हो जाती है। हिन्दी में मुहावरों के एक बृहत् प्रामाणिक कोश की परम आवश्यकता है। मुहावरों से एक मात्र भाषा की समृद्धि ही नहीं होती—अपितु उसमें नया जीवन और प्रवाह भी उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि मुहावरों में किसी देश या जाति के जीवन की झलक स्पष्टतया दिखाई पड़ती है। इस कारण मुहावरों के संग्रह की पुस्तक का अध्ययन किसी काव्य के अध्ययन से कम रोचक और दिलचस्प नहीं होता। कई मुहावरों से तो कई बार कुछ नई बातों का ज्ञान भी होता है। भाषा के तुलनात्मक अध्ययन में मुहावरों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक से इस प्रकार के अध्ययन में सहायता प्राप्त हो सकती है।

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद-दक्षिण

—वंशीधर विद्यालंकार

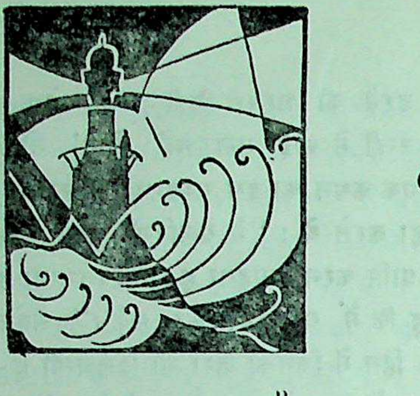

सामयिक

॥

श्रीमती सरोजिनी नायडू की कविताएँ

कलकत्ता के प्रसिद्ध मासिक-पत्र "मार्डन रिव्यू" में श्री सत्या गंगोपाध्याय का "श्रीमती सरोजिनी नायडू की कविताएँ" विषय एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है।

"……श्रीमती सरोजिनी नायडू ने कविता की तीन पुस्तकें लिखी हैं: 'ब्रोकन विंग', 'दि बर्ड ऑफ़ टाइम' और 'गोल्डन थ्रेशोल्ड'। इनमें से अधिकांश कविताएँ कोमल-आयु में लिखी गई थीं, उस समय जब कि वे इंग्लैण्ड में अध्ययन के लिए गई हुई थीं। कहा जाता है कि उनकी कविता गणित से उत्पन्न हुई परन्तु उनकी कविताएँ गणित-जैसी कठिन और दुर्बोध नहीं हैं। उन्होंने अपनी छोटी आयु में ही अंग्रेज़ी भाषा पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया था—यह देख कर महान् आश्चर्य होता है। उनकी कविताओं के साधारण-से अध्ययन से भी इस बात का पता चल जाता है कि उनका शब्द-कोश कितना विशाल था और वे उनका प्रयोग कितनी कुशलतापूर्वक करती थीं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि बाद में वे हमारे देश के अंग्रेज़ी के श्रेष्ठतम वक्ताओं में से एक बन गईं।

विश्व की अधिकांश श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं का विषय प्रत्येक युग में 'प्रेम' रहा है। इस सम्बन्ध में श्रीमती सरोजिनी नायडू भी अपवाद नहीं हैं। उन्होंने "प्रेम" के सम्बन्ध में जितनी कविताएँ लिखी हैं, उतनी किसी अन्य विषय पर नहीं। कभी-कभी उनकी प्रेम की कविताओं की सत्यता और रोमानी पहुँच इंग्लैण्ड के रोमानी कवियों का स्मरण करा देती है। उदाहरण के लिए:

"मेरी आँखों के अपराध को क्षमा कर दो,
प्रियतम! यदि वे तुम्हारे मुख पर
स्थान प्राप्त करने के लिए साहसपूर्वक आक्रमण करें
प्रसन्नता में व्याकुल होकर
उस वन्य पक्षी की तरह
जो विशाल और विस्तृत आकाश पर
निर्भयतापूर्वक उड़ता हुआ आक्रमण करता है
हे! क्षमा कर दो मेरे आँखों के अपराध को"
—(दि सिन्स ऑफ़ लव)

हम उनकी "डिवोशन" कविता के प्रथम चरण को उद्धृत करते हैं:

"मेरा मांस ले लो
अपने कुत्तों को खिलाने के लिए
अगर तुम्हारी यही अभिलाषा है
मेरे हृदय को भस्मसात् कर दो
और कर दो मेरे स्वप्नों को धूलिसात
प्रियतम! क्या मैं तुम्हारी नहीं हूँ
मुझे जीवित रखो या मार दो
सब कुछ तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है"

हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि उनके प्रेमगीतों में पारस्परिकता के अभाव की व्यथा है और अपूर्ण अभिलाषा की कराह है। इस प्रकार की व्यथा की एक अनुभवी व्यक्ति से तो आशा की जा सकती है परन्तु एक नवयुवक कवि से नहीं। "कैप्रिस" कविता में वह अपने हृदय और आत्मा की तुलना एक ऐसे फूल से करती हैं जिसे कि अपने वृन्त से तोड़ कर फेंक दिया गया है और मदिरा के उस प्याले से करती है, जिसे मदिरा पी कर फेंक दिया गया है:

"तुम्हारी उंगलियों में एक वन्य फूल था
बैठे-बैठे तुमने उसे अपने सर्द होठों से लगा लिया
और बैठे-बैठे ही उसकी रंगीन पंखड़ियों को
छिन्न-भिन्न कर दिया

हाय ! यह मेरा हृदय था
तुम्हारे हाथों में एक मदिरा का प्याला था
धीमे से तुमने इसे अपने सर्द होंठों से लगा लिया
धीमे से तुमने मदिरा का पान कर लिया
और फिर उस प्याले को दूर फेंक दिया
हाय ! यह मेरी आत्मा थी''

निम्न पंक्तियों में मनुष्य की शठता और इसके परिणामस्वरूप स्त्री को जो कष्ट होता है, उसका मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है :

''प्रियतम आया
उसके हाथों में सुन्दर वंशी थी
उसकी आँखों में अनुनय था
और उसके पैरों में स्फूर्ति
उसने कहा : ''मैं थक गया हूँ
मुझे आराम करने दो
अपने सुगन्धित वक्षस्थल के
आनन्द की छाया में''
प्रातःकाल हुआ
और वह चला गया और एक भी
अपना चिह्न छोड़ कर नहीं गया
कौन परवाह करता है यदि एक स्त्री का
हृदय टूट जाए ?''

उनकी कविताओं में व्यथा और निराशा है। उनकी कविताओं में कठिनता से ही कोई ऐसी कविता प्राप्त होती है, जिसमें कि जीवन और प्रेम का मधुर और संगीतमय आनन्द अभिलक्षित होता है।

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता के संग्राम में, जिन व्यक्तियों ने प्रमुख भाग लिया था उनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू भी एक थीं। उनकी कविताओं में इसकी झलक प्राप्त होती है। ''टु इंडिया'', ''दि गिफ़्ट ऑफ़ इंडिया'', ''मेमोरियल वर्सेस'', ''एन ऐन्थम ऑफ़ लव'' आदि कविताओं में उन्होंने अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम और भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। इसके साथ ही उन्होंने जिन्हा, महात्मा गाँधी और गोखले पर भी कविताएँ लिखी हैं। गोखले ने उनकी पुस्तक ''दि ब्रोकन विंग'' को पढ़ कर उन्हें लिखा था : ''क्या कारण है कि तुम्हारे जैसे संगीत-पक्षी के पंख टूट गए हैं ?'' और श्रीमती सरोजिनी नायडू ने इसका उत्तर कविता के द्वारा दिया। उन्होंने एक कविता 'जागो' लिखी है। इसको उन्होंने जिन्हा को समर्पित किया है। इस कविता को उन्होंने १६१५ के इंडियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन में पढ़ा था। कविता की दृष्टि से उनकी इन कविताओं को कुछ विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता।

श्रीमती सरोजिनी नायडू को हैदराबाद नगर से विशेष लगाव था। उन्होंने हैदराबाद के सम्बन्ध में कई कविताएँ लिखी हैं। उनके हृदय में चार मीनार, हुसैन सागर, मूसी नदी और गोलकुण्डा के क़िले के प्रति विशेष आकर्षण था। ''नाइटफ़ॉल इन दि सिटी ऑफ़ हैदराबाद'', ''दि रॉयल टूम्स ऑफ़ गोलकुण्डा'', ''सौंग्ज़ ऑफ़ माइ सिटी'', ''हुसैन सागर'' आदि कविताएँ हैदराबाद के प्रति उनकी प्रेमपूर्ण भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं।

......श्रीमती सरोजिनी नायडू की कविताओं में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु उनकी पृष्ठभूमि है जो कि भारतीय है। कहा जाता है कि उन्हें इसकी प्रेरणा एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ आलोचक से प्राप्त हुई थी जो कि उनकी कविता की निसर्गदत्त शक्ति के बड़े प्रशंसक थे और इसके परिणामस्वरूप उनकी कविताओं में मौलिकता, आकर्षण और प्रभाव उत्पन्न हो गया। अंग्रेज़ी बोलने-वाली जनता के लिए भारतीय जीवन और प्रकृति के आकर्षक दृश्यों को देखने के लिए उनकी कविता ने खिड़की का काम किया। घिसी-पिटी और अनुकरणात्मक कविताओं का यह प्रभाव नहीं पड़ सकता था। चम्पा, अशोक और गुलमुहर उनके प्रिय फूलों में से थे और उन्होंने इन फूलों पर कई कविताएँ लिखी हैं। नल-दमयन्ती का उपाख्यान, भारतीय जिप्सी, पर्दानशीन औरतों के कष्ट, एक राजपूत का प्रेम-गीत, वसन्त-पंचमी, नाग-पंचमी, इन्द्र, पद्मजा लक्ष्मी, इमामबाड़ा, दिल्ली और हैदराबाद के नगर, काली माता, वृन्दावन, कृष्ण, राधा और गोपियाँ आदि उनके गीतों के विषय हैं। प्राचीन भारतीय कवि-समय (Poetic Convention) भी उनकी अंग्रेज़ी-कविताओं में दृष्टिगोचर होते हैं :

''यदि कोई सुन्दरी अपने पैर से
अशोक वृक्ष के मूल का स्पर्श करती है

उस समय प्राचीन कवि-परम्परा के अनुसार
उसकी डाली-डाली
लाल-लाल फूलों से भर जाती है
जो कि उसके अलकों के
या शय्या के
और या उसके मधु-कुंज को आभूषित करते हैं"

राधा की विवशता को एक कविता में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है :

"मैं मथुरा की गलियों में
दही लेकर गई
गौएँ रँभा रही थीं
और मैं पुकार कर कहना चाहती थी
कौन खरीदेगा
सफ़ेद बादलों-जैसी दही को
श्रावण की इस ठण्डी फुहार में
परन्तु मेरा हृदय—हे प्रिय
तुम्हारी सुन्दरता में ऐसा अटका हुआ था
कि वे सब हँस पड़े
जब कि मैं अनजाने चिल्ला उठी
गोविन्द, गोविन्द
गोविन्द, गोविन्द
यमुना कैसे धीरे-धीरे बह रही थी"

उनकी कविताओं की लंदन और न्यूयार्क में प्रशंसा की गई। उनकी कविता की तीनों पुस्तकों को एक जिल्द में अमेरिका में प्रकाशित किया गया। किताबिस्तान, इलाहाबाद से जो उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई थी—वह भी अब अप्राप्य है। हमें ज्ञात नहीं कि उनकी कविताओं की कोई अनुवाद-पुस्तक किसी भारतीय भाषा में प्रकाशित हुई हैं या नहीं। उन्होंने अपनी कविता को देशभक्ति पर बलिदान कर दिया। उन्होंने राजनीति में इतना अधिक भाग लिया कि उनकी कविता पीछे छूट गई। उनकी कविता की पुस्तकों को फिर से प्रकाशित किया जाना चाहिए और उनके अनुवाद भी प्रकाशित किए जाने चाहिएँ। कहीं ऐसा न हो कि कल की आनेवाली शिक्षित पीढ़ी यह प्रश्न करे : "क्या वे सचमुच कविता लिखा करती थीं ?"

॥

चित्रकला पर पिकासो के विचार

चित्रों को खरीदने के लिए इतना अधिक रुपया क्यों व्यय कर दिया जाता है ? इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध चित्रकार श्रीयुत पैबलो पिकासो ने एक लेख में अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। उनके लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"...मुझ से प्रश्न पूछा गया है कि क्यों इतना मोल-तोल करने वाले व्यापारी लोग आधुनिक चित्रों को ख़रीदने के लिए हज़ारों रुपया ख़र्च कर डालते हैं ? मेरी सम्मति में उसका कारण यही है क्योंकि वे इतना अधिक मोल-तोल करने वाले होते हैं।

पिछले दिनों की बात है। एक आदमी ने पेरिस में गौगिन के एक चित्र को एक लाख पौण्ड से अधिक मूल्य देकर ख़रीद लिया। क्या तुम समझते हो कि उसने चित्र के लिए अत्यधिक धन दिया ? उसके पास गौगिन के और भी चित्र हैं। क्योंकि उसने गौगिन के एक चित्र के लिए एक लाख पौण्ड से अधिक व्यय किया इसके परिणाम-स्वरूप गौगिन के अन्य चित्रों की जो कि उसके पास हैं, क़ीमत स्वयमेव बढ़ गई।

एक और व्यक्ति था जो कि गौगिन के इस चित्र को ख़रीदना चाहता था। उसने उस व्यक्ति को फ़ोन पर धन्यवाद दिया कि उसने गौगिन के चित्र के लिए इतना अधिक रुपया दिया। उस व्यक्ति के पास भी गौगिन के पाँच चित्र हैं। गौगिन के एक चित्र के लिए इतनी अधिक क़ीमत देने से स्वभावतः ही उसके पाँच चित्रों की क़ीमत बढ़ गई और वह अप्रत्याशित रूप से धनी बन गया।

प्रसिद्ध चित्रकार पॉल गौगिन स्वयं भी इस बात को समझता है क्योंकि चित्रकार बनने से पूर्व वह पेरिस एक्सचेंज में एक ब्रोकर था। इस सम्बन्ध में आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि आधुनिक चित्रकला के लिए व्यय को आप क्यों आमदनी समझते हैं ? क्या इसीलिए वे इसके लिए व्यय करने में किसी प्रकार का पसोपेश नहीं करते। प्रश्न है कि इसी के लिए इतना अधिक रुपया क्यों लगाया जाए ? क्यों न जवाहरात और मकान आदि में इस रुपए को लगाया जाए ?

क्या कारण है कि लोग कला के लिए अधिक-से-अधिक रुपया व्यय करके भी प्रसन्नता को अनुभव करते हैं ? बात यह है कि एक मनुष्य की आत्मा कला में ही चुपचाप अपने आपको अभिव्यक्त करती है। यही कारण है कि मशीन मनुष्य के समान महान् नहीं बन

ती। कला साक्षात् मनुष्य है—उसकी आत्मा है। जाता है कि अमेरिका में एक ऐसी मशीन है जो एक व्यक्ति के हज़ारों रिकार्डों को सुन सकती है और की आवाज़ के प्रत्येक पहलू को अपनी यांत्रिक के द्वारा प्रस्तुत कर सकती है। क्या आपको इस से प्रसन्नता होती है? कल इसी प्रकार तोते जैसी सीखी हुई 'कला' को उत्पन्न किया जाएगा। आप कला के समस्त टेकनीक को मशीन के एक भाग में डाल देंगे और विषय को दूसरे भाग में और मशीन वरक चित्र को स्वयं प्रस्तुत कर देगी। सत्य तो यह है कि समस्त सीखे हुए कार्य इसी प्रकार सम्पन्न हुआ है और जब मैं 'एकेडेमिक' कहता हूँ तो मैं यह सब चित्रकारों और मूर्तिकारों के सम्बन्ध में भी कहता हूँ जो कि सृजन नहीं एकमात्र अनुकरण करते हैं। 'एकेडेमिक' चित्रकार वह है जिसके दिमाग़ में चित्रकारों की टेकनीक पूर्ण रूप से भरी हुई है। वह कला की कृतियों से आज की महान् कृतियों का निर्माण करता है। वह एक बन्दर के समान है जो कि अनुकरण करता है। और एक कला के विद्यार्थी और बन्दर में अन्तर है। जब मैं बार्सीलोना में कला का विद्यार्थी था—मुझे कहा गया कि तुम यहाँ से चले जाओ क्योंकि तुम एक बन्दर के समान कार्य नहीं करना चाहते।

आज के 'एकेडेमिक' रंगकार और कल की मशीन में भेद यही है कि रंगकार मांस और रुधिर का बना हुआ है और क्या वह सचमुच मांस और रुधिर का बना हुआ है? विश्व की कोई मशीन कलाकार को उत्पन्न नहीं कर सकती।

लोग कला की कृतियों को इसलिए भी ख़रीदते हैं क्योंकि कला की कृतियाँ असमाप्त (Unfinished) होती हैं और मनुष्य समाप्त (Finished) वस्तुओं से शीघ्र ही थक जाता है। एक चित्र समाप्त हो सकता है परन्तु एक महान् चित्र सदा असमाप्त होता है। एक चित्रकार अपने एक चित्र में अपने को समाप्त कर देता है परन्तु दस वर्ष के पश्चात् कोई अन्य कलाकार उसमें नई संभावनाएँ देख कर नया चित्र बना सकता है। एक महान् चित्र में सदा एक प्रकार की अपूर्णता रहती है। जहाँ कलाकार समाप्त करता है—दर्शक वहाँ से आरम्भ करता है। जो वस्तु समाप्त है अपूर्ण नहीं है वह कला नहीं है—समाप्त तो मृत है। एकेडेमिक चित्र की समाप्ति विषय को समाप्त करना होता है।

मैं अपने चित्रों के सम्बन्ध में यह चाहता हूँ कि वे जीवित रहें। जब एक व्यक्ति एक चित्र ख़रीदता है तो वह एक 'नया जीवन' ख़रीदता है। जब एक व्यक्ति कला—सच्ची कला को ख़रीदता है तब वह केवल टेकनीक को ही नहीं ख़रीदता और न वह अस्वीकृत वस्तुओं में कलाकार के द्वारा आविष्कृत असंदिग्ध सुन्दरता को ख़रीदता है?

हमारे हृदय में सुन्दरता के प्रति इतना आकर्षण क्यों है? जीवन तो भयंकर और आश्चर्यजनक वस्तु है। हम इससे असुखी होते हैं परन्तु फिर भी हमारा लगाव इससे टूटता नहीं। जीवन सबसे बड़ी कला है और कला जीवन है—सुन्दरता नहीं। इसलिए जब एक व्यक्ति कला को ख़रीदता है तब वह 'सुन्दरता' को नहीं 'जीवन' को ख़रीदता है। वह जीवन के 'भद्देपन' को भी उतना ही प्यार करता है जितना कि उसकी 'सुन्दरता' को। वह इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर लेता है कि विश्व में कोई भी वस्तु "घृणा के योग्य" नहीं है। विश्व में "सुन्दर" और 'असुन्दर" नाम की कोई वस्तु नहीं है। और जब मनुष्य इसका साक्षात् अनुभव कर लेता है तो वह मुक्त हो जाता है। क्या आप कह सकते हैं कि 'विष्ठा' में कोई विटामिन नहीं है?

क्या मशीन के इस युग में कला बहुमूल्य नहीं है? अमूर्त कला पक्षियों के लिए है। अमूर्त कला सच्ची नहीं होती—उसमें किसी प्रकार का निर्माण नहीं होता। एक कलाकार को "यथार्थता" को ही देखना पड़ता है; और अपनी इच्छा के अनुसार उसको झुका कर बनाना पड़ता है।

कला अनन्त को प्रदर्शित करती है। उसका मूल्य किसी भी अवस्था में कम नहीं हो सकता। कला को किसी भी वस्तु द्वारा बनाया जा सकता है। मुझ से पूछा जाता है कि यदि आप जेल में हों और आपके पास कला के निर्माण के कोई साधन न हों तो आप क्या करेंगे? मैं ऐसी अवस्था में अपनी गीली जीभ से मट्टी में चित्र बनाऊँगा।

संसार में कोई वस्तु चिरकाल पर्यन्त नहीं रहती परन्तु विश्व में कला सदा जीवित रहेगी। जब तक मनुष्य का अस्तित्व है कला का भी अस्तित्व रहेगा।"

सम्पादकीय

भारतीय भाषाओं में पारस्परिक सहयोग

भाषा साहित्य, कला और संस्कृति की प्रतीक होती है और साहित्य और कला चाहे किसी देश या भाषा में हों, वे मनुष्य के मन को इस प्रकार सुसंस्कृत बनाती हैं कि उनके प्रति स्वतः हृदय में एक भावना उत्पन्न हो जाती है और इसलिए उनमें संघर्ष, वैमनस्य या किसी प्रकार के विवाद की गुंजाइश ही नहीं रहती। हमारे देश में जब-जब विदेशियों का राज्य हुआ है, तब-तब हमारे देशवासियों की विदेशी-राज्य और विदेशियों के प्रति चाहे कितनी अनास्था रही हो—उनकी भाषा के प्रति कभी किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं रही। अंग्रेज़ों और उनके राज्य-शासन के प्रति हमारे देश की जनता में चाहे कितना असन्तोष रहा हो—परन्तु अंग्रेज़ी भाषा और उसके साहित्य के प्रति किसी शिक्षित भारतीय के हृदय में किसी प्रकार का असम्मान नहीं है। फ़ारसी के प्रति भी भारतीयों ने सदा सम्मान ही प्रदर्शित किया। जब विदेशी भाषाओं और उनके साहित्य के प्रति हमारे देश में इस प्रकार की भावनाएँ हैं तो फिर भारतवर्ष की भाषाओं में किस प्रकार परस्पर असम्मान की भावना हो सकती है? भाषा के आधार पर प्रान्तों या प्रदेशों के बनने की बात और थी परन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि प्रादेशिक भाषाओं के प्रति किसी के हृदय में किसी प्रकार का जरा-सा भी असन्तोष या दुर्भावना है।

भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में आज जो स्थिति हमें दृष्टिगोचर होती है, उसका मुख्य कारण यह है कि आज शिक्षित भारतवासी अपने देश और भाषाओं से भली प्रकार परिचित नहीं रहे हैं। विदेशी शासन ने कुछ इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न कर दी थी कि हम अपने देश में ही विदेशी बन गए। अभी तक स्थिति इस प्रकार की है कि एक शिक्षित भारतीय का ध्यान जितना विदेशों की ओर है, उतना अपने देश की ओर नहीं। यदि अधिकांश भारतीय शिक्षित जनता को भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में आवश्यक परिचय होता तो आज हमें भाषाओं के सम्बन्ध में जिस प्रकार की स्थिति दिखलाई पड़ती है—उसकी किसी प्रकार संभावना ही न होती। भाषा, साहित्य को जन्म देती है और साहित्य तो जो उसके सम्पर्क में आता है, उसको अपने साथ लेकर चलता है। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य ऐसे अनेक कवियों और साहित्यकारों द्वारा श्रीसम्पन्न और समृद्ध हुए हैं, जिनकी कि वे अपनी मातृभाषा नहीं थीं। उन कवियों और साहित्यकारों ने उन भाषाओं पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया था कि बड़े-से-बड़े आलोचक के मन में यह ख़याल तक उत्पन्न नहीं हो सकता कि वह कवि या साहित्यकार की अपनी भाषा नहीं है। यदि भाषाओं के सम्बन्ध में भारतवर्ष में किसी प्रकार का असहयोग, प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा होती तो क्या यह संभव था कि भारतवर्ष की एक प्रान्तीय भाषा का साहित्यकार दूसरी प्रान्तीय भाषा का भी लेखक और साहित्यकार होता। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्यों में से कई इस प्रकार के प्रमाण निकाले जा सकते हैं, जिनसे इनमें पारस्परिक संघर्ष-प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा को सिद्ध किया जा सके परन्तु ये सब भेद और विवाद अधिकांश में उतनी ही सीमा तक हैं, जहाँ तक कि बोलचाल और साहित्यिक भाषा का प्रश्न है और बोलचाल और साहित्यिक भाषा का प्रश्न किस देश और किस भाषा में नहीं उठा। बोलचाल और साहित्यिक भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार के विवाद चलते ही रहते हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के सम्बन्ध में जिस बात को ध्यानपूर्वक देखा जाना चाहिए, वह यह है कि इन तीनों भाषाओं ने मिल कर किस प्रकार भारतीय साहित्य के क्षेत्र में कार्य किया और भारतीय साहित्य में इनका सम्मिलन किस प्रकार हुआ। ऐसे अनेक कवि और साहित्यकार हुए जो केवल इन तीनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित ही नहीं अपितु उनके प्रमुख और प्रतिष्ठित साहित्यकार भी थे।

पिछले दिनों दिल्ली में आल इंडिया रेडियो पर अन्तर्भाषीय कवि-सम्मेलन हुआ था। उसके सभापति

जवाहरलाल नेहरू थे। उन्होंने सभापति पद से भाषण में भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में जो कहा, वह निम्न प्रकार है : "भारत में सब जानते कि बहुत-सी प्रसिद्ध भाषाएँ हैं। उनका एक दूसरे से सम्बन्ध है और ऐसा काफ़ी सम्बन्ध है कि वे दूसरे से आपस में लड़ा करती हैं और यह समझती कि हम एक दूसरे को दबा कर आगे बढ़ जाएँगी या जबर्दस्ती किसी की छाती पर बैठ जाएँगी। भाषा इस तरह बढ़ती नहीं है और न इस प्रकार साहित्य है। जैसे कि फूल निकलते हैं और बढ़ते हैं, तरह ये चीज़ें बढ़ती हैं। मुझे इस बात का पक्का विश्वास है कि भारत की भाषाएँ एक दूसरे से मिल कर और एक दूसरे के सहयोग से बढ़ेंगी। इसके यह मानी नहीं हैं कि कोई एक भाषा दूसरी भाषा को दबाए। लेकिन इसके मानी ये ज़रूर हैं कि एक भाषा दूसरी भाषा से सीखे; एक भाषा से दूसरी भाषा में विचार आएँ; एक दूसरे के शब्द आएँ और एक दूसरी के और शैलियों का आदान-प्रदान हो। इस तरह भारत के साहित्य का मैदान बहुत बढ़ा हो।...हमारे सभी भाषाएँ एक दूसरे से क़रीब का सम्बन्ध रखें। एक दूसरे की भाषा को पढ़ें, सीखें-समझें और यह ख्याल जम जाए कि देश में अगर एक भाषा बढ़ती है तो उसके बढ़ने का असर भारतवर्ष की अन्य भाषाओं पर भी अच्छा पड़ता है; वे भी बढ़ती हैं। यह नहीं कि किसी को धकेल कर आगे बढ़ती हैं।...आख़िर में भाषा बढ़ती हैं अच्छे साहित्यकारों से, अच्छे कवियों से। कोई भाषा ऊपर के धकेलने से तो आगे बढ़ती नहीं है।......"

आज भारतवर्ष में प्रजातन्त्रीय युग है। इसलिए जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर किसी प्रकार की ज़बर्दस्ती नहीं कर सकता—तो एक भाषा दूसरी भाषा पर किस प्रकार ज़बर्दस्ती कर सकती है? संसार में कोई भाषा किसी समय भी क्या, किसी प्रकार की ज़ोर-ज़बर्दस्ती से आगे बढ़ी है? भारतीय भाषाओं में कोई भाषा भारतवर्ष की अन्य भाषाओं पर किसी प्रकार की ज़ोर-ज़बर्दस्ती करके आगे बढ़ने का प्रयत्न करे—यह बात कम-से-कम आज की परिस्थितियों में तो संभव नहीं हो सकती। क्योंकि भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ हैं—इसलिए इस विस्तृत और विशाल देश में एकता और पारस्परिक व्यवहार के लिए एक भाषा की आवश्यकता को भी अनुभव किया गया है, और एक भाषा के प्रश्न के उठते ही भाषा-सम्बन्धी विवाद के बहुत-से प्रश्न स्वयं उठ खड़े होते हैं। यदि इस प्रकार एक भाषा का प्रश्न न उठे तो भारतवर्ष की समस्त प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं—उनकी किसी भाषा से किसी प्रकार की प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा नहीं है और किसी प्रकार के पारस्परिक विवाद की सम्भावना ही नहीं है। जब एक ऐसी अन्य भाषा का प्रश्न आता है जो कि उस क्षेत्र की नहीं है और उसका पढ़ना अखिल भारतीय दृष्टि से आवश्यक समझा जाता है तो इस प्रकार के विवाद से किस प्रकार बचा जा सकता है? भारतवर्ष की एकता का प्रश्न जिस प्रकार का है—एक भाषा का प्रश्न भी उसी प्रकार का है। एक अन्य भाषा के मैदान में आते ही भाषा-सम्बन्धी वाद-विवाद का उठ खड़ा होना स्वाभाविक ही है परन्तु यदि समस्त भारतवर्ष में किसी एक भाषा को सारे देश की भाषा बनाना है तो हमें इसके लिए आवश्यक प्रयत्न भी करना ही पड़ेगा। जहाँ इन प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप भारतीय भाषाओं में प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा की समस्या उत्पन्न होती है—वहाँ यही एक भाषा इन सब भाषाओं को निकट लाने का कार्य कर सकती है और वास्तव में उसका उद्देश्य भी यही है। यदि भारतवर्ष के समस्त प्रदेशों में इस एक भाषा को आवश्यक महत्त्व नहीं दिया जाएगा तो भारतवर्ष की अनेक भाषाओं में एकता या निकटता संभव नहीं हो सकेगी और यदि यही "आवश्यक महत्त्व"—और इसके लिए प्रयत्न "ज़बर्दस्ती" है तो इसके सिवाय अन्य मार्ग ही क्या है? इसे 'ज़बर्दस्ती' कहना इन प्रयत्नों के साथ अन्याय करना है। इन भाषाओं की निकटता, इन भाषाओं का सामंजस्य—एक भाषा के प्रश्न के साथ ही जुड़ा हुआ है, वह इससे किसी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता। इस निकटता को स्थापित करने के लिए अन्य प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान परम आवश्यक है और इसके लिए केन्द्रीय सरकार और प्रादेशिक सरकारों के द्वारा आवश्यक प्रयत्न किए जाने चाहिएँ। उसके लिए न केवल केन्द्रीय प्रशासन के द्वारा अपितु प्रादेशिक प्रशासनों के द्वारा उचित व्यवस्था और आवश्यक प्रबन्ध किए जाने चाहिएँ। हमारे विद्यालयों और विश्व-विद्यालयों में इस प्रकार की पाठ्य-पुस्तकें प्रत्येक प्रदेश की भाषा में होनी चाहिएँ, जिनसे भारतवर्ष की

भाषाओं और उनके साहित्य आदि के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो सके।

इस सम्बन्ध में भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए कि किस प्रकार भारतीय भाषाओं में सहयोग की अभिवृद्धि हो सकती है। अन्तर्भाषीय कवि-सम्मेलन और इस प्रकार के अन्य समारोहों से तब तक विशेष लाभ नहीं हो सकता, जब तक कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों के कवियों और साहित्यकारों को एक दूसरे की भाषा से परिचय नहीं है। प्रारम्भिक अवस्था में यह सब ठीक है परन्तु इन प्रयत्नों को आगे बढ़ाया जाना चाहिए। अभी तक इस प्रकार के अन्तर्भाषीय सम्मेलनों के समारोह आल इंडिया रेडियो द्वारा आयोजित किए गए हैं। यह देखा गया है कि इस प्रकार के अन्तर्भाषीय सम्मेलनों में ऑल इंडिया रेडियो के अधिकारीगण ऐसे ही कलाकारों और साहित्यकारों को सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रण देते हैं जो कि ऑल इंडिया रेडियो के किसी-न-किसी स्टेशन में कार्य करते हैं। इस प्रकार इसका क्षेत्र सीमित हो जाता है। इस प्रकार के आयोजन विस्तृत रूप में किए जाने चाहिएँ। ये समारोह इस ढंग से आयोजित किए जाने आवश्यक हैं कि जिससे इनमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्यकार अधिक-से-अधिक संख्या में उपस्थित हो सकें। उन्हें इस प्रकार की समस्त आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिएँ। यदि भारतीय भाषाओं के साहित्यकार एक प्लेटफ़ार्म पर मिलेंगे, उनमें पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान होगा तो हमें विश्वास है कि भारतीय भाषाओं में स्वयमेव सहयोग उत्पन्न हो जाएगा।

शिक्षा का राष्ट्रीय-करण

हमारे देश में जिस प्रकार उद्योग और मिलों आदि के सम्बन्ध में राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उठ रहा है, उसी प्रकार से शिक्षा के सम्बन्ध में भी राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उठ रहा है। भारतवर्ष के कई प्रादेशिक प्रशासनों की ओर से इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि जैसे भी हो शीघ्र-से-शीघ्र शिक्षा का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए। केरल इसमें सबसे आगे बढ़ गया है। यदि प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क कर दिया जाएगा तो शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के बिना कार्य चल ही नहीं सकता, क्योंकि कोई भी प्राइवेट शिक्षणालय निःशुल्क शिक्षा की तब तक व्यवस्था नहीं कर सकता, जब तक कि उसे प्रशासन द्वारा उचित सहायता न प्राप्त हो। वैसे भी प्राइवेट शिक्षणालय जितने चल रहे हैं, वे सब प्रायः प्रशासनों की सहायता से ही चल रहे हैं। यदि समस्त शिक्षा का राष्ट्रीयकरण हो जाएगा तो, एक तो अध्यापकों को अच्छा वेतन दिया जा सकेगा और, दूसरा विद्यार्थियों को या तो सर्वथा निःशुल्क या कम शुल्क पर शिक्षा प्रदान की जा सकेगी। प्राइवेट संस्थाएँ अध्यापकों को ऊँचा वेतन नहीं दे सकतीं और उन्हें विद्यार्थियों से भी काफ़ी फ़ीस लेनी पड़ती है, क्योंकि यदि वे अधिक फ़ीस न लें तो प्राइवेट शिक्षणालयों को चला सकना असम्भव है। इसमें सन्देह नहीं है कि हमारे देश की शिक्षा की वर्तमान उन्नति में प्राइवेट शिक्षा-संस्थाओं ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यदि प्राइवेट संस्थाएँ न होतीं तो हमारे देश में शिक्षा का प्रसार इतना अधिक न होता, जितना कि हमें इस समय दृष्टिगोचर होता है। प्राइवेट शिक्षणालयों के विरुद्ध चाहे कितनी भी कटु-आलोचना क्यों न की जाए—हमें इस तथ्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

राष्ट्रीयकरण के द्वारा शिक्षा जहाँ सस्ती और सक्षम हो सकेगी—वहाँ अध्यापकों की स्थिति में भी सुधार होगा, क्योंकि उन्हें उपयुक्त वेतन देने की व्यवस्था होगी परन्तु यदि शिक्षा की संस्थाओं का संचालन सर्वथा स्वायत्त नहीं होगा और यदि उसका नियंत्रण सरकार के हाथों में होगा तो जिस बात का भय है, वह यह है कि शिक्षा की संस्थाओं का जैसा स्वतन्त्रता-पूर्वक विकास होना चाहिए—वैसा नहीं हो सकेगा। शिक्षा की संस्थाओं के पूर्णतया प्रशासन के हाथ में चले जाने से यह डर है कि प्रशासन विद्यार्थियों को अपनी आवश्यकता के अनुसार शिक्षा प्रदान करेगा और इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रकार का 'रेजिमेण्टेशन' आ सकता है। शिक्षणालयों में निर्भयता और स्वतंत्रता का जो वातावरण होना चाहिए, वह नहीं रह सकेगा। शिक्षा का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए परन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि शिक्षा के समस्त व्यय का उत्तरदायित्व प्रशासन पर होना चाहिए। इसका यह तात्पर्य नहीं होना चाहिए कि उस पर नियंत्रण भी पूर्णतया प्रशासन का ही हो। किसी राष्ट्र की शिक्षा राष्ट्र के अपने हाथों में ही होनी चाहिए; इसके बिना राष्ट्र का विकास ठीक ढंग से नहीं हो सकता। राष्ट्रीयकरण के साथ इस बात की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि शिक्षा की संस्थाएँ पूर्ण रूप से स्वायत्त हों और उनका नियंत्रण प्रशासन के हाथों में न हो।

'विद्याधनं सर्वधनंप्रधानम्'

कला-निकेतन के कुछ उल्लेख्य प्रकाशन

कृषि-विज्ञान

उद्यानकृषिदर्शन—प्रो० श्री रामसागर राय, एम्० एस्-सी० (कैलिफोर्निया) (बिहार-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हार राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा पुस्तक) छपाई सफ़ाई लोभनीय : तिरंगा नयनाभिराम बहिरावरण : लगभग पाँच सौ की सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल साढ़े सात रुपए।

आलोचना

प्राच्यसाहित्य—आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री (श्री शास्त्रीजी के महार्घ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक निबन्धों का संग्रह। आलोचन के क्षेत्र में नवीन एषणाओं, उद्भावनाओं और मान्यताओं का प्रतिष्ठाता।) स्वच्छ छपाई : आकर्षक दुरंगा आवरण : मूल्य पाँच रुपए मात्र।

साहित्य-दर्शन—आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री (यह नवीन समीक्षा-साहित्य में प्रथम श्रेणी की रचना है। में आलोचना के विषय पर इसके समान सारवान् और सरस ग्रन्थ अधिक नहीं हैं।) ऐण्टिक काग़ज़ पर मनोहर द्रण : आकर्षक आवरण : मूल्य चार रुपए मात्र।

यी—आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री (प्रसाद, निराला और पन्त के साहित्य की शास्त्रीय सार-समीक्षा) ऐण्टिक ज़ पर शुद्ध छपाई : आकर्षक दुरंगा आवरण : मूल्य डेढ़ रुपया मात्र।

प्राचीन और नवीन—श्री व्रजविहारी शरण, एम्० ए० (शोधसमीक्षापूर्ण सोलह सुन्दर साहित्यिक निबन्धों ह) रंगीन आवरण सजिल्द मूल्य साढ़े तीन रुपए मात्र।

उपन्यास

आवारों की दुनिया—श्री अनूपलाल मण्डल : मूल्य साढ़े तीन रुपए।
ज्योतिर्मयी—,, ,, ,, ,,
गरीब के दिन—,, ,, ,, ,,
निर्वासिता—,, ,, ,, ,,

नामधन्य उपन्यासकार ने अपने उक्त उपन्यासों में व्यष्टि की वेदना को समष्टि की अनुभूति का रूप दिया है।)

कलंक—पं० छविनाथ पाण्डेय : मूल्य ढाई रुपए।
संघर्ष— ,, ,, : मूल्य साढ़े पाँच रुपए।

(अनुपम उपन्यासस्रष्टा ने अपने उक्त उपन्यासों में जीवन के संघर्ष को सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की प्राप्ति का लक्ष्य त किया है।)

काव्य

शिप्रा—कविवर श्री जानकीवल्लभ शास्त्री -- शास्त्रीजी की गीति-कला का प्रकाश सम्पूर्ण हिन्दी-संसार में व्याप्त है। शिप्रा उनके व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप तथा गीतिकाव्य के प्रेमियों के लिए संग्रहणीय एवं माननीय है।) मोनो मुद्रण : ऐण्टिक काग़ज़ आकर्षक आवरण।

शिक्षाशास्त्र

हमारी माध्यमिक शिक्षा—सिद्धान्त और समस्याएँ (भाग प्रथम और द्वितीय) डा० श्री दीपनारायण गुप्त कमीशन द्वारा वर्णित माध्यमिक स्कूलों की शिक्षण-पद्धति और शिक्षण-सिद्धान्तों का सर्वथा नवीन वैज्ञानिक हारिक विश्लेषण।) बढ़िया काग़ज़ : मूल्य प्रतिभाग साढ़े पाँच रुपए मात्र।

कला-निकेतन पटना—४

: गोपालराव अपासिंगीकर हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद—मुद्रक : सत्यनारायण गुप्त, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद दक्षिण

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
साहित्य
की
प्राप्ति के लिए एकमात्र
स्थान

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : हिन्दी

टेलीफ़ोन ५४५०

8.10.57

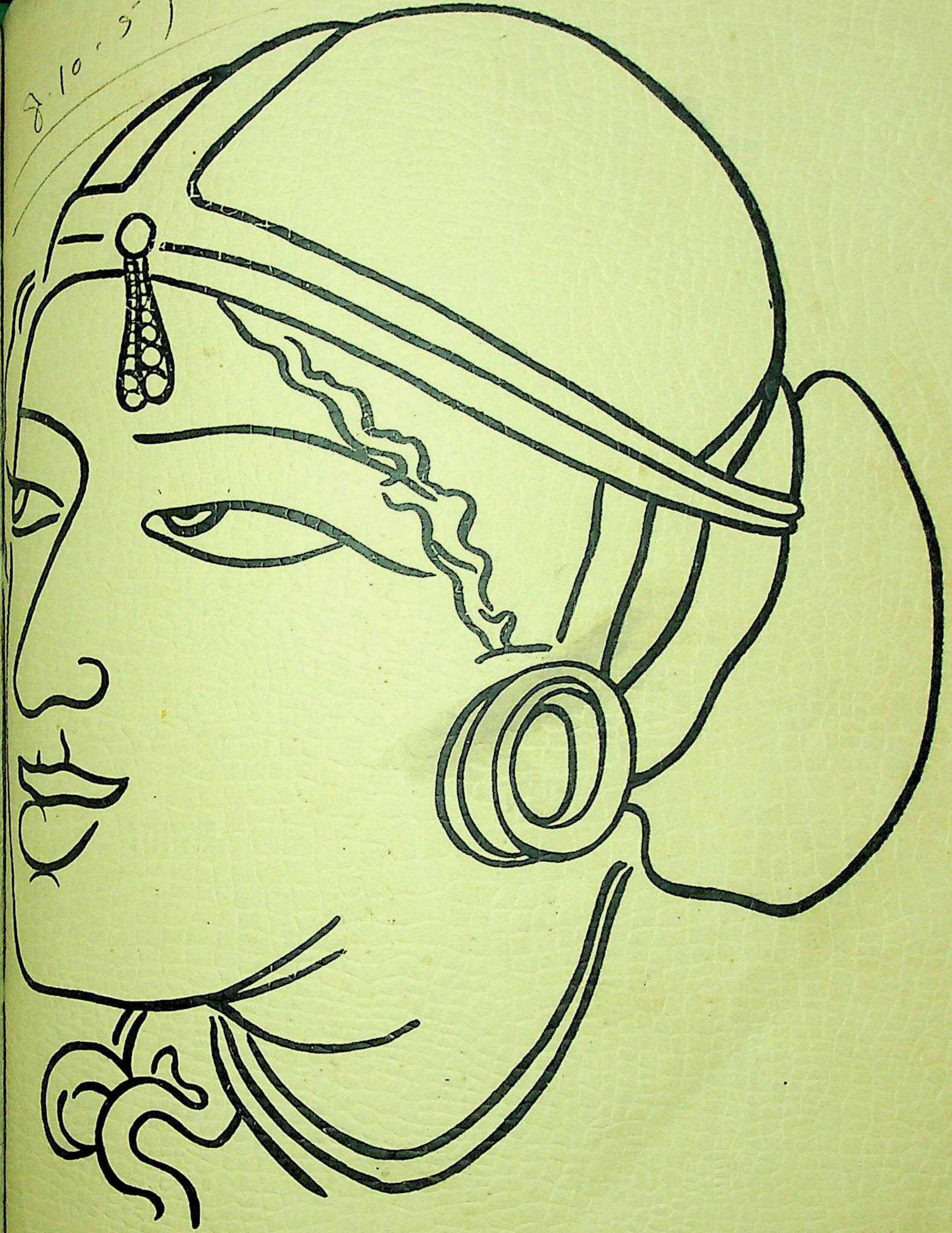

अंक ८

अगस्त १९५७

अजन्ता

आइए

सब प्रकार के कैमरों और आलेख्य के काग़ज़ों के लिए

जल रंगों के ट्यूब

फोटोग्राफी और रंग चित्रों के लिए

अन्य सब प्रकार का सामान

ग्राहकों का सन्तोष : हमारी सफलता

मौडर्न फ़ोटोज़

ग्रामर स्कूल के सामने, आबिद रोड,

हैदराबाद-दक्षिण.

जादू सीखिए,
पैसा कमाइए !!

नया कैटलॉग और जादू के पाँच अजीब खेल, केवल २ रुपया मनिआर्डर से भेज कर मँगाइए।

अमरीकन और बंगाली : जादू के बिलकुल नए हैरत-अंगेज तमाशे और योग, हिप्नॉटिज़्म काला जादू सिखाया जाता है। आँख बाँध कर शहर में मोटर साइकल चलाना, इन्सान के दो टुकड़े करना और स्टेज मैज़िक के बड़े-बड़े खेल सीख कर, दुनिया में मशहूर बन कर मालामाल बनिए ! जल्द मिलें या लिखें।

श्री मनोहरराय (जादूगर)
जसवंतपुरा, किराड़ हौज़, बड़े मठ में
पो० औरंगाबाद (दक्षिण)

महारोग—*LEPROSY*

कोढ-रक्तपित्त की भयानक बीमारी दुनिया में मशहूर सल्फ़ोन दवा से शर्तिया आराम होती है। ग़रीबों का इलाज़ मुफ़्त किया जाता है। मसाज और सायंटीफ़िक अपार्चस से टेढ़ी उँगलियाँ, बेशेप नाक और डिफ़ार्मिटी ठीक होती है।

आप जहाँ भी रहते हों, पोस्ट द्वारा दवाई मँगा कर घर बैठे सेवन कर सकते हैं। लिखें या मिलें।

श्री मनोहरराय (कुष्ठ-सेवा-विभाग)
जसवंतपुरा, किराड़ हौज़ के सामने, बड़े मठ में
औरंगाबाद (दक्षिण)

एजेंट चाहिए !

हमारी अजीब चीज़ें, खिलौनें, रेशमी कपड़ा, कन्फ़ेक्शनर्स और मशहूर दवाइयाँ बेचने के लिए हर गाँव में 'एजेन्ट्स' चाहिए। तनख़ा १०० रुपए माहवार या कमीशन पर, सैंपलसेट और मुफ्त स्टेशनरी के लिए छोटा सेट १२ रु. तथा बड़ा सेट ६० रु. भेज कर मँगाइए। दुकानदारों को १५० रु. का माल क्रेडिट पर मिलेगा।

पता :—**मनोहरराय (जादूगर)**
जसवंतपुरा, किराड हौज़ के सामने बड़े मठ में,
पो० औरंगाबाद (दक्षिण)

घर की शोभा बढ़ाने वाली

देखने वालों को आश्चर्य चकित करने वाली यह तिलस्मी चीज़ें
पेशगी रक़म मनिऑर्डर से भेज कर मँगाइए।

	मूल्य
१. **तितली :** यह उड़ती है, किसी भी किताब में रख दीजिए।	१-८-०
२. **मम्मी :** इसे कितना भी सुलाइए उठ कर बैठती है।	१०-०-०
३. **परियाँ :** यह उँगलियों पर नाचती है।	१०-०-०
४. **लालू बन्दर :** यह हथेली पर खेलता है।	१२-०-०
५. **टिल्लू मियाँ :** यह सिगरेट पीता है।	६-०-०
६. **कुंकू डासर :** ये टेबल या रेडियो पर नाचती हैं।	४-०-०
७. **योगी चिड़ियाँ :** ये दीवाल या छत पर घूमती हैं।	८-०-०
८. **कुत्तों की जोड़ी :** देखने के योग्य।	६-०-०
९. **बन्दर झिपी :** यह आपके कोट पर बैठ कर मज़ा दिखाता है।	११-०-०
१०. **बन्दर गोरीला :** यह खजूर के पेड़ पर झूलते रहता है।	१०-०-०
११. **जादू का आइना :** आपकी सूरत बदल कर परियाँ दिखाता है।	१०-०-०
१२. **पॅरीस की जवानी :** लड़कियों की लिबाज़ फ़ौरन ग़ायब होती है।	३-०-०
१३. **जादू का ताला :** इसे मालिक के बिना कोई नहीं खोल सकता।	७-०-०
१४. **इलेट्रिक पेन :** इससे लिखे हुए अक्षर रात को चमकते हैं।	८-०-०
१५. **अलार्म :** दरवाज़े या खिड़की पर लगाने से ग़ैर आदमी के आने की घण्टी बजती है।	१०-०-०

(वी. पी. नहीं भेजी जाती)

माल मँगाने का पता :—

श्री मनोहरराय (जादूगर)

जसवंतपुरा, किराड हौज़ के सामने,
लक्ष्मणबाबा के मठ में—औरंगाबाद (दक्षिण)

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :

यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर, १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार

के निबन्ध

सुन्दर काग़ज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फ़रीदकोट

(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत् की गति-विधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही ६ रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए
आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक
अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए
अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए
अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए : एक प्रति का १९ न.पै.

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर-मन्तर रोड, नई दिल्ली.

कई गण्य-मान्य साहित्यकार तथा पत्र-पत्रिकाओं
से प्रशंसित, कर्नाटक की कला, साहित्य एवं
संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली
एकमात्र हिन्दी मासिक

भारतवाणी

सम्पादक :

श्रीकण्ठमूर्ति, एम. ए.

वार्षिक चन्दा ४)] [एक प्रति ३७ नये पैसे

पता :—**व्यवस्थापक, 'भारतवाणी'**
पोस्ट बाक्स नम्बर—१२
धारवाड़, मैसूर-राज्य

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

का

वार्षिक अंक

२८ फ़रवरी, '५७ को प्रकाशित हो चुका है

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी हैं और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

'वार्षिक' का मूल्य १।।) है, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशयारपुर—पंजाब

ख़रीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार-संसद प्रयाग का मुख-पत्र
श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: **इलाचन्द्र जोशी**

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे!

* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है!!

* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक!!!

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

पिछले ६ वर्षों से भारत के प्राचीन साहित्यिक केन्द्र धार से प्रकाशित आधुनिक आकर्षण के आवरण में भारतीय सभ्यता का

संदेश-वाहक

सचित्र मासिक

ऊषा

- जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे लोग पढ़ने जाते हैं।

देश के सभी रेल्वे बुक स्टालों पर भी मिलती है

वार्षिक ४) ::: एक प्रति ३५ नये पैसे

व्यवस्थापक : भोज प्रकाशन, धार
(मध्य प्रदेश)

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

सम्पादक-समिति

प्रतापनारायण टण्डन
डा० देवराज **कुँअर नारायण**
कृष्ण नारायण कक्कड

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रही है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का होने से संग्रहणीय होता है।

वार्षिक शुल्क ८), अर्ध वार्षिक ४),
एक प्रति ७५ नए पैसे

'युग-चेतना' कार्यालय,
स्पीड बिल्डिंग ला प्लास, लखनऊ

जान है तो जहान है !

इनफ्लुएंझा, बुख़ार, शरीरदर्द तथा वर्षाऋतु की

तमाम बीमारियों पर रामबाण दवा

जंतर-मंतर

जिस घर में यह दवा है वहाँ

बीमारी नहीं फटक

सकती।

हर घर में डाक्टर का काम देती है।

मूल्य ७५ नए पैसे

आरोग्य और बल

यही धन है।

यही सौन्दर्य है।

ताक़त की नई ख़ुराक

विटाफूड

यह अन्न है दवा नहीं : घर में आजमाइए

स्कीनचार्म लिनीमेंट

यह त्वचा का रंग निखारने वाली वैज्ञानिक मालिश-क्रीम है। एक हफ़्ते में बदन का रूप-रंग बदल जाता है।

विवरण मुफ़्त।

धनवान बनो

धड़ाधड़ बाज़ार में बिकने वाली, जनता के आम उपयोग की बढ़िया चीज़ें बेचने के लिए एजंटों की ज़रूरत है तनखा १०० रु०

या आकर्षक कमीशन पर

लिखे-पढ़े स्त्री-पुरुष

पोस्टेज २५ नए पैसे भेज कर शीघ्र आवेदन भेजिए।

हर ग्राहक बढ़िया असली घड़ियाँ, सायकिलस, तथा रेडिओ और अन्य सैकड़ों चीज़ें मुफ़्त प्राप्त कर सकते हैं। जल्द लिखिए।

सारंग इंडस्ट्रीज [अ]

रुक्मिणीनगर, अमरावती

(बम्बई-राज्य)

'अजन्ता'
की
परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार, एम. पी.
मुकर्रमजाही मार्केट, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट्स, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप' हैदराबाद

सिनेमा की छोटी मशीन

इस अमरीकन मोडिल धातु की बनी हुई मशीन से आप परदे पर अपने पसन्द के ऐक्टर-ऐक्ट्रेसों की तरह-तरह की फ़िल्में तसवीरें चलती-फिरती नाचती-हँसती घर पर ही देख कर इष्ट-मित्रों तथा सपरिवार सिनेमा का आनन्द प्राप्त करेंगे। मशीन टार्च या बल्ब से चलाई जाती है। मशीन के साथ ५ गज़ फ़िल्म तथा मशीन चलाने की विधि मुफ्त भेजी जाती है। मशीन का मूल्य १४) डाक-खर्च ३) फ़िल्म की रील ।-) प्रति गज़ सिनेमा के लिए परदा ३) :—अमूल्य पुस्तकें चित्रकारी तथा पेंटिंग शिक्षा ३), फोटोग्राफी शिक्षा ३), गृह-उद्योगधन्धे ३), साबुन-विज्ञान ३), घड़ी साज़ी ३), सिलाई-कटाई ३), सुगन्धित तैलों का व्यापार ३) रंगाई तथा धुलाई शिक्षा ३), कशीदाकारी मय डिज़ाइन ३), बाँसुरी, तबला तथा हार्मोनियम शिक्षक ३), सुखमय जीवन ३), भारत का संविधान ३)। प्रत्येक पुस्तक पर डाक खर्च ।॥) अलग।

आनन्द इंडस्ट्रीज़ A. H.)
गोपालपुरी, अलीगढ़ (उ. प्र.)

राजस्थान का सर्वाधिक लोकप्रिय व पुराना साप्ताहिक

अमर-ज्योति

सचित्र

प्रधान सम्पादक : नारायण चतुर्वेदी

परिचय :

राजस्थान की लोक-संस्कृति व साहित्य की झाँकी मौलिक एवं बंगला, मराठी, गुजराती से अनूदित कहानियाँ।

सुन्दर कविताएँ, राजस्थानी गीत, भावपूर्ण लेख, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय व प्रादेशिक समाचार-समीक्षा, नया साहित्य।

गाँव-गाँव में घर-घर में विज्ञापन का सर्वोत्तम साधन।

मूल्य : वार्षिक ८) ..".. एक प्रति १६ नये पैसे

कार्यालय
त्रिपोलिया बाज़ार, जयपुर

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ९ अगस्त, १९५७ अङ्क ९

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण

तार : हिन्दी

फ़ोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

भारतवर्ष स्वतन्त्र रहेगा
वंशीधर विद्यामार्तण्ड १
मेरा परिचय
शिवनाथ अरोरा २
पावस गीत
भागवत पाण्डेय 'सुधांशु' ४
गीत
त्रिलोकीप्रसाद शर्मा ५
गीत
श्रीकृष्ण शर्मा ६
कवियो कलाविदो !
यतेन्द्र कुमार ७
स्वर-साधन
नटवरलाल 'स्नेही' ८
आत्मा-सम्बन्धी विविध विचार
पुरुषोत्तम जोशी ९
फ्रेञ्च-साहित्य का युग-स्तम्भ—विक्टर ह्यूगो
गौरीशंकर ओझा १३
इतिहास का एक चरण (१८५७—१९४७)
चन्द्रोदय दीक्षित १५
सभा का वार्षिक खोज-विवरण
रघुनाथ शास्त्री २२
१८५७ की क्रान्ति के इतिहास का विपर्यास
सत्यदेव विद्यालंकार २५
१८५७ में भारत की वीर नारी
सुभद्रा देवी ३३
मेघदूत में नायिका-भेद
नारायण दत्त शर्मा ३९
हिन्दी गद्य-काव्य में शैली के रूप-विधान
डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ४३
हृदय सौन्दर्य ही सत्य सौन्दर्य है
गोपीनाथ तिवारी
प्रथम बार ५०
रामरजपाल द्विवेदी
सुमेरु शिखर ५४
बलभद्र ठाकुर
तेलुगु-लोकगीत ५८
अनुसूया देवी
कला-चर्चा ६३
चित्र-कला की शिक्षा ६५
चित्रकार कुञ्जविहारी : एक दृष्टि
आधुनिक चित्र-कला
चिट्ठी-पत्री ६९
कला-चर्चा का स्तम्भ : महेन्द्रनाथ सिंह, 'अजन्ता' के सम्बन्ध में : श्रीकृष्ण, कैलाश कल्कित, संगीत कुमार, शैवाल सत्यार्थी, हरिकृष्ण देवसरे, देवेंद्र 'दिल' अनुसूया देवी, उदयभान मिश्र, कीर्तिनारायण मिश्र, रमेश कुमार तिवारी
नीर-क्षीर ७३
हिन्दी-काव्य में छायावाद, बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, माटी हो गई सोना, ज्योति गंगा, उतरा नशा तथा अन्य एकांकी, पाप की गली
सामयिक ७८
संगम युग की तमिल कवयित्रियाँ, अंग्रेज़ी के उपन्यासों में सैक्स, भारतवर्ष में फ़ारसी के अनुलेख, शाल भंजिका : फूलों का उत्सव
सम्पादकीय ८२
वंशीधर विद्यालंकार

तुलसी जयन्ती-समारोह
हीनता का दुःख : चित्रकार : भाऊ समर्थ, इतवारी, नागपुर

एक प्रति का मूल्य : १) रु.

वार्षिक मूल्य : ९)

हिन्दी प्रचार सभा द्वारा आयोजित तुलसी-जयन्ती में, हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीयुत यशपाल जी भाषण दे रहे हैं। श्रीयुत डा० गोपाल रेड्डी (अध्यक्ष) और श्रीयुत वंशीधर विद्यालंकार

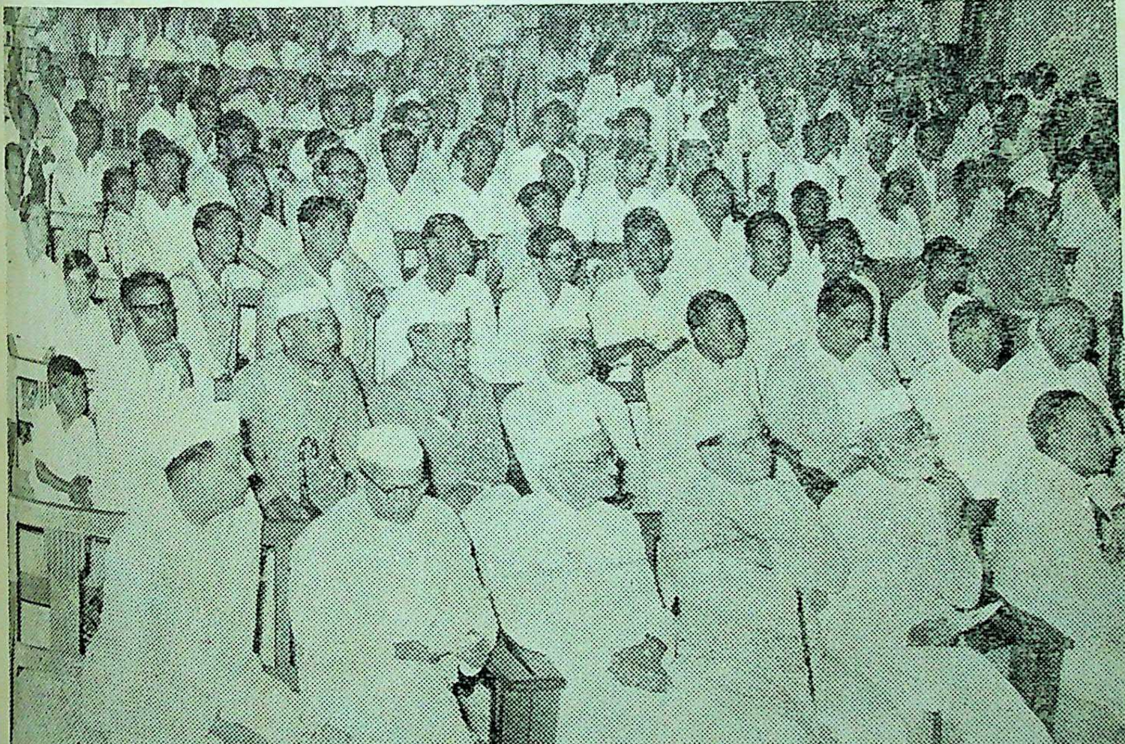

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद द्वारा सरोजिनी हॉल में आयोजित तुलसी-जयन्ती-समारोह का एक चित्र

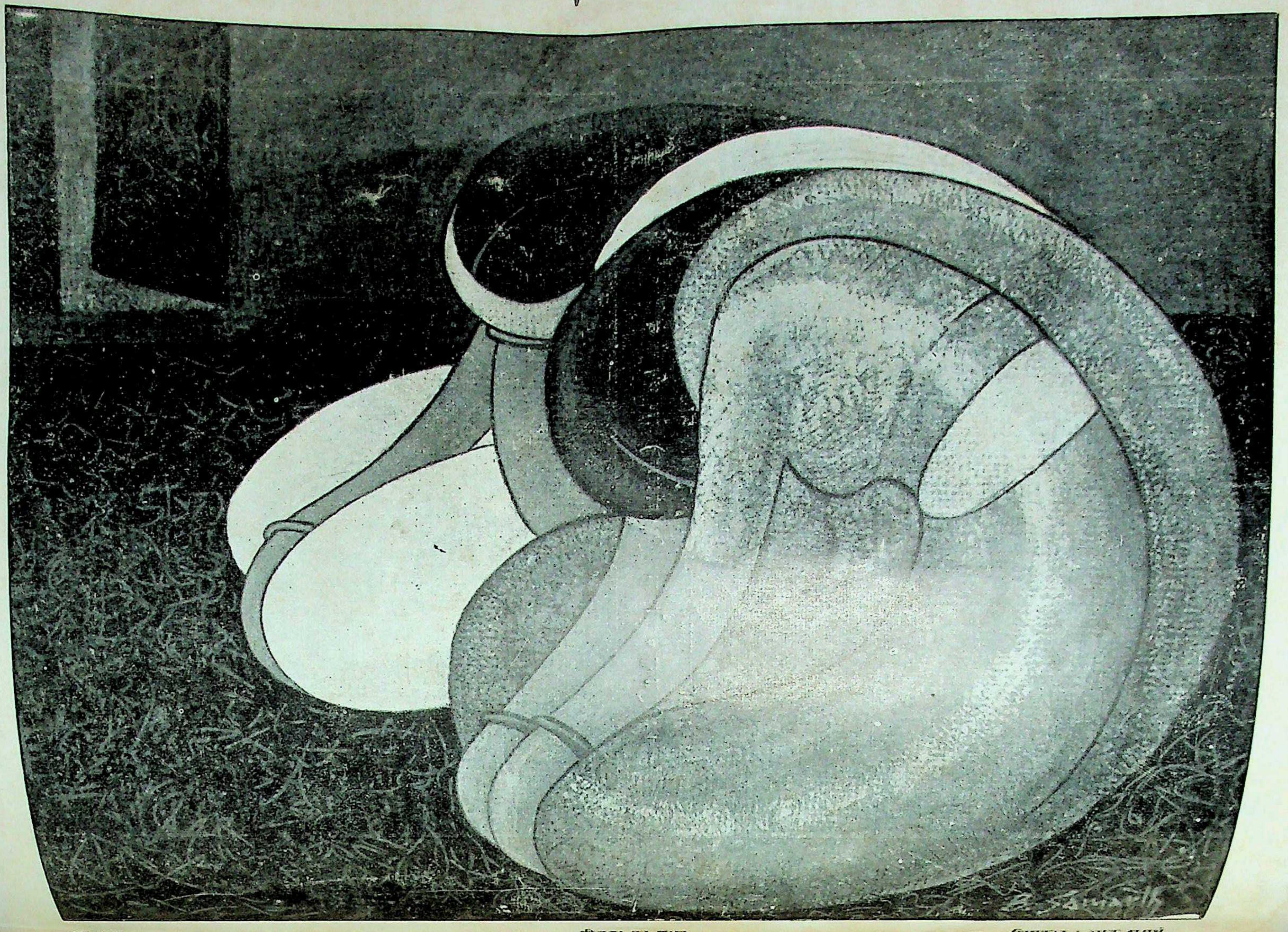

हीनता का दुःख

चित्रकार : भाऊ समर्थ

गीत

दे नहीं पाया मुझे कोई सहारा—
रात–भर मैं दीप-सा जलता रहा हूँ

जल रहा मैं नेह की आशा सँजो कर;
छा रहे तुम ज्योति बन कर स्मृति-गगन पर;
हृदय-दर्पण में तुम्हारा रूप आया;
नैन दे पाए नहीं जिसको सहारा—
रात–भर मैं अश्रु-सा गलता रहा हूँ

डूबती अब नैन-नौका भाव-सरि में;
व्योम छूने ज्वार उठता मन-सरणि में;
बढ़ चली अवसाद की अब गहन छाया;
कूल दे पाए नहीं जिसको सहारा—
रात–भर मैं वीचि-सा चलता रहा हूँ

नींद बैरिन बन गई परदेश वासिनि;
झिलमिलातीं तारिकाएँ, मेघ-दामिनि;
बन रही तसबीर जो मन में समाया;
रैन दे पाई नहीं जिसको सहारा—

रात–भर मैं चाँद-सा ढलता रहा हूँ
रात–भर मैं दीप-सा जलता रहा हूँ

—त्रिलोकीप्रसाद शर्मा

गीत

गीत तुम्हारे गाते-गाते भूल गया मैं अपने स्वर भी
खोया हूँ मैं इतना तुम में मुझे न अपनी तनिक ख़बर भी

मेरी क्या बिसात थी, जो यह
जग मेरे गीतों को गाता
मैं था कौन कि जिसके सम्मुख
यह सारा जग शीश झुकाता
पर तुमने वह आसन मुझको दिया जहाँ उतरा अम्बर भी
गीत तुम्हारे गाते-गाते भूल गया मैं अपने स्वर भी

साँस-साँस को जोड़ तुम्हारे
लिए जब कि गलहार बनाया
कैसा खेल किया यह तुमने
वही बन गया मेरी काया
पूजा के फूलों के बदले तुमने दे दी मुझे उमर भी
गीत तुम्हारे गाते-गाते भूल गया मैं अपने स्वर भी

तुमसे बिछुड़ उदास हुआ तो
गीत बन गई सुरति तुम्हारी
चाँद बने तुम लगी मुझे जब
शून्य रात की दुनिया सारी
तुम शृंगार बने नींदों के उजड़ा जब सब कुछ सज कर भी
गीत तुम्हारे गाते-गाते भूल गया मैं अपने स्वर भी

जिस पाहन को पूजा मैंने
वही तुम्हारी मूर्ति गया बन
जिसको समझा ग़ैर उसीमें
दिखा बहुत मुझको अपनापन
कैसी यह बेबसी पराया भाँवर पड़ कर है पीहर भी
गीत तुम्हारे गाते-गाते भूल गया मैं अपने स्वर भी

—श्रीकृष्ण शर्मा

साँचेत, पो० रायसेन,
भोपाल

कवियो कलाविदो, !

कवियो ! कलाविदो !
हारे-मनमारे से
हाथ-पर हाथ धरे
यों मत बैठे रहो !
आओ, उगाओ यह शस्य सौन्दर्य की !

अंतर की धरती को
कंकरों से मुक्त करो !
ढेलों को ध्वस्त करो !
आवारा भावों की
व्यर्थ आग्रहों और वंध्या विचारों की
जल्दी निराई करो !
चिन्तन के फाले से, गहरी गुड़ाई करो !
खेतों में, हारों में
गलियों, बाजारों में
तथ्यों के बीज बेमोल मिल जाएँगे
चुन कर उठा लेना

कल्पना की खाद मिली मिट्टी में बो देना !

प्राण-रस सिंचन से
कल्पन की ऊष्मा से
थोड़े ही दिनों बाद
छोटे से बीजों के अंकुर उठ आएँगे
रचना की वल्लरियाँ फूटेंगी, फैलेंगी
तुम्हारी इस बारी में
एक-एक क्यारी में
बल्लियों के वृंतों पर
फूल खिल जाएँगे,
सुख-पल्लवों के बीच छिप मुस्कराएँगे !
थकी हुई आँखों में,
फिर नई चेतना की ज्योति भर जाएँगे
प्राण-मन से इन्हें,
देना असीस तुम
सुन्दर के लघु फूल
सत्य के फलों की ही परिणति पाएँगे,
और एक दिन ये,
बारी से टूट कर
क्षुधाकुल प्राणों की तृप्ति बन जाएँगे

१-६८, श्याम नगर,
अलीगढ़

—यतेन्द्र कुमार

स्वर-साधन

मसि की नीरव बूँदों पर ही कवि का स्वर-साधन है

जग के स्वर-साधन के साधन में श्रुति-भावन रव है
एक-एक खग की रसना में गीतों का अर्णव है
धरती सरिता के सितार के तार बजाती रहती
गीतों से वनमाली का शृंगार सजाती रहती

घन के घुँघरू बाँध चरण में, रिमझिम स्वर साधे
तान प्रणय की छेड़-छेड़ कर मन में मगन गगन है
मसि की नीरव बूँदों पर ही कवि का स्वर-साधन है

वीणा के तारों पर नाचीं नारद की अंगुलियाँ
वीणा पर ही सजी गिरा की मंजुल गीत-अवलियाँ
सकल सृष्टि की सरस माधुरी ला कर मृदु अधरों पर
मुरलि मनोहर ने साधा स्वर मधुमय सात सुरों पर

किन्तु पत्र की नीरवता पर, मौन लेखनी साधे
समुद नचाता रहता कवि भावों के मौन चरण है
मसि की नीरव बूँदों पर ही कवि का स्वर-साधन है

—नटवरलाल "स्नेही"

पर्णकुटीर प्रकाशन,
नागदा (म. भा.)

आत्मा-सम्बन्धी विविध विचार

विदेशों में

सृष्टि की आयुष्य अनन्त है और मानव की अधिकतम हुई तो सौ वर्ष के आस-पास ही। किन्तु मानव केवल नाशवान पदार्थों से निर्मित पुतला-मात्र न होकर उसमें चिरकाल तक टिके रहने वाले तत्त्व भी अवश्य हैं, ऐसी धारणा प्रायः समस्त लोगों की रही है। यदि ऐसा न होता तो स्मरण, मनन, इच्छा, विचार आदि नाना प्रकार के मनोविकार इस जड़ देह के गुण किस प्रकार हो सकते थे? मूल में किन्हीं और श्रेष्ठ तत्त्वों का अस्तित्व होना ही चाहिए, यह सोचना अस्वाभाविक नहीं है। फलस्वरूप 'आत्मा' नामक किसी भिन्न तत्त्व का अस्तित्व है, यह कल्पना मानव मस्तिष्क में उत्पन्न हुई। प्राचीन काल से ही प्रायः समस्त धर्मों में एवं जातियों में आत्मा के अस्तित्व को माना गया है। मान्यताओं में समानता अवश्य नहीं है। जो भी हो, परन्तु आत्मा-सम्बन्धी ये विभिन्न कल्पनाएँ मनोरंजक अवश्य हैं।

अमरीकन-इन्डियन्स, आस्ट्रेलिया महाद्वीप के आदिवासी आदि लोग भी, जिन्हें प्रायः जंगली कहा जाता है, आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं। यद्यपि इन जंगली लोगों में से अधिकांश लोग आत्मा के अमरत्व को नहीं मानते और न वे परमात्मा के ही अस्तित्व को मानते हैं। उनका कथन है कि केवल शत्रु से बदला लेने के लिए कुछ व्यक्तियों की आत्मा मृत्यूपरान्त थोड़े दिनों तक और टिकी रहती है। परन्तु इस सम्बन्ध में अभी वांछित जानकारी उपलब्ध न होने से यहाँ कुछ भी विचार प्रकट करना असम्भव है। सर्व प्रथम हम विदेशों में 'आत्मा' सम्बन्धी की गई कुछ विचित्र कल्पनाओं पर विचार करेंगे।

इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मृत्युपरान्त की स्थिति प्रायः सभी धर्मों और जातियों में हीन अथवा अपवित्र मानी गई है। हमारे यहाँ 'मृत शौच' से तो प्रायः समस्त पाठक परिचित होंगे ही। श्राद्ध के समय देवताओं एवं पितरों के तर्पण के पश्चात् शेष क्रिया-कर्म किए जाते हैं।

असीरियन संस्कृति बहुत प्राचीन मानी जाती है। इन असीरियन लोगों की यह मान्यता रही है कि पतित एवं भ्रष्ट जीवन व्यतीत करने वाले लोगों की आत्मा अंधकारपूर्ण एवं भ्रष्ट स्थान को चली जाती है। वहाँ भी उसको सजीव मनुष्य के समान ही वस्त्रादि की आवश्यकता होती है। वस्त्र के स्थान पर उनके पंख होते है और वहाँ चिमगादड़ के समान इधर-उधर टकराती फिरती है। खाने के लिए धूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। खुले और प्रकाशमय स्थान में आने को वे छटपटाती रहती हैं। परन्तु इस संसार में आकर वे फिर अनर्थ न करें इसलिए उन्हें सात पहरों के घेरे में बन्द रखा जाता है। उनकी यह मान्यता है कि ऐसी भ्रष्ट आत्मा को निरंतर वहीं रहना पड़ता है। पुण्यात्मा की क्या स्थिति होगी अथवा पवित्र आत्मा कहाँ वास करती होगी, इस सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट धारणाएँ नहीं मिलतीं। वे जन्म-मरण के फेरे से मुक्त हो जातें हैं अथवा उन्हें देवत्व प्राप्त हो जाता है, सम्भवतः ऐसी उनकी धारणा रही होगी।

मिश्र में भी प्राचीन काल से आत्मा के अस्तित्व को माना गया है। आत्मा उस मृत-देह के समीप ही चक्कर लगाती रहती है। ऐसा वे मानते हैं। इसलिए वे लाश को पूर्णतया लपेट कर नहीं बाँधते हैं। उसमें आत्मा के लिए एक प्रवेश-द्वार के रूप में थोड़ा-सा स्थान छोड़ देते हैं। उसी प्रकार खाने-पीने की वस्तु से ले कर अलंकार, शस्त्र, पशु आदि उस व्यक्ति की प्रिय वस्तुएँ उसके शव के पास ला कर रखते हैं। कब्र में दफ़नाते समय एक छिद्र आत्मा के प्रवेश के हेतु रखे जाने की प्रथा उस देश में यद्यपि प्रचलित है। मिश्र में पूर्वारंभ में पुनर्जन्म नहीं माना जाता था। किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी आत्मा शरीर के आसपास ही घूमती रहती है। फिर 'असिरिस' नामक देव न्याय के लिए आते हैं। तब फिर शाश्वत रहने वाली वस्तु यानी 'आत्मा' को पुनः धारण कर उस मृत देह को देव के न्यायासन के सम्मुख खड़ा होना पड़ता है। मनुष्येतर प्राणी की आत्मा की भी यह गति होगी, ऐसा उनका मत था। न्याय होने के पश्चात्

पापी आत्मा तो भस्म हो जाएगी और निर्दोष एवं पवित्र आत्मा सूर्य में जा कर विलीन हो जाती है। अर्वाचीन यहूदी, ईसाई, और मुस्लिम लोगों की, अंतिम समय के न्याय के सम्बन्ध में जो धारणाएँ हैं, वे इन मिश्री लोगों की धारणा के समान ही है। ये लोग भी पुनर्जन्म को कहाँ मानते थे ? मिश्र में पुनर्जन्म को मानने वाला पंथ तो आगे चल कर निकला प्रतीत होता है। आत्मा भिन्न-भिन्न प्राणियों की देह धारण करते हुए सतत तीन हज़ार वर्षों तक विभिन्न योनियों में भटक लेने के पश्चात् उसे मनुष्य जन्म मिलता है, ऐसी इन लोगों की मान्यताएँ हैं।

आत्मा और उसकी मृत्यु के पश्चात् की स्थिति के सन्बन्ध में ग्रीक लोगों में भिन्न-भिन्न मत देखने को मिलते हैं। उन लोगों में कई तत्त्ववेत्ता हुए हैं, जिन्होंने इस विषय का अध्ययन किया है और भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। ग्रीक लोग अनेक देवों को मानते हैं। उनके इन देवों का कार्य एवं व्यवहार मनुष्यों के समान ही होता है। उनमें से प्रत्येक के निवास स्थान अर्थात् 'लोक' भी भिन्न-भिन्न हैं। मरणोपरान्त पुण्यवान् एवं पवित्र लोगों की आत्मा के लिए देवलोक में व्यवस्था है। परन्तु पापी लोगों की बड़ी दुर्दशा होती है, ऐसी उनकी मान्यता है। इस सम्बन्ध में उनकी एक और धारणा यह है कि आत्मा वायु अथवा श्वास रूप में होती है। उस आत्मा को व्यक्ति की जीवित अथवा मृत अवस्था का कतई भान नहीं होता।

प्राचीन ग्रीक लोगों के पुराने बरतनों अथवा इमारतों पर अधिकांश जगह आत्मा को, मनुष्य की आकृति जैसा चित्रित किया हुआ मिलता है। कई स्थानों पर तो उन्हें पुरुष जैसे वस्त्र धारण किए हुए दिखाया गया है।

जन्म लेने से पूर्व आत्मा देव रूप में होती है। वह वायु रूप में इस जगत् में भ्रमण करती रहती है और जिस स्थान पर मादा गर्भवती हो, वहाँ वह उसके बच्चे की देह में प्रवेश कर जाती है। जन्म के पश्चात् इस संसार में अपने जीवन क्रम की समाप्ति पर उसके कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोग कर आत्मा पुनः देव के स्वरूप में जा मिलती है। सर्व प्रथम कर्मों का फल भोग कर उसके पश्चात् मुक्ति मिलती है। ग्रीक-ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में इतनी भिन्न-भिन्न बातें लिखी मिलती हैं कि वर्तमान इतिहासकारों से उनमें एकरूपता लाते नहीं बन सका। ग्रीक पुनर्जन्म नहीं मानते। वे शरीर को दफ़नाते नहीं हैं, उसका दहन करते हैं।

अत्यन्त प्राचीन ग्रीक तत्ववेत्ता हिराक्लिट्स का मत है कि मानव-देह तेज, मिट्टी और जल से निर्मित है। तेज को जीवित माना जाता है। अतएव आत्मा तेजोमय है। आत्मा को आर्द्रता की हवीश भी होती है और उससे उसे समाधान मिलता है। मद्य आर्द्रता उत्पन्न करने वाला पदार्थ कहा जाता है। इसीलिए मनुष्य मद्यपान कर आत्मा को आर्द्रता पहुँचाता है और आनंदित रहता है। तथापि सदा यानी तेजोमय आत्मा ज्ञानसंपन्न तथा श्रेष्ठ होना ही चाहिए। इसके लिए मद्यपान को बुरा नहीं माना जाता। सर्वप्रथम पिथागोरास नामक तत्वज्ञानी ने पुनर्जन्म-सम्बन्धी अपने मत का प्रचार किया। उसके मतानुसार आत्मा अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न प्राणियों की देह धारण करती है। सुप्रसिद्ध ग्रीक कवि और नाटककार ट्रचलिस और युरिपायडीस तथा इसी प्रकार साक्रेटिक आदि का आत्मा के अमरत्व पर विश्वास था, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं होता। युरिपायडीस तथा साक्रेटिस पर तो यह आरोप लगाया जाता है कि वे नास्तिक थे तथा प्रचलित धार्मिक विचारों एवं नीति-तत्त्वों को कतई नहीं मानते थे। साक्रेटिस भगवान् बुद्ध के समान अज्ञेयवादी था। परमेश्वर क्या है, मरणोपरान्त क्या गति होती है, आदि प्रश्न वह मानव-बुद्धि से परे मानता था। आत्मा के अमरत्व के सम्बन्ध में उसका कोई निश्चित मत नहीं था। ग्रीक-इतिहासकारों ने साक्रेटिस के जीवन-क्रम का जो वर्णन किया है, उससे विदित होता है कि वह बड़े उदार और उच्च विचारों वाला व्यक्ति था। सत्य और अपने मत-स्थापन के लिए जनता के रोष का साहस पूर्वक सामना करते हुए उसने अपने प्राणों से हाथ तक धो लिए। गौतम बुद्ध के समान वह भी कहता था कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् व्यवहार और विचारों से उत्तम होना ही मनुष्य का श्रेष्ठतम ध्येय होना चाहिए। मनुष्य की जो स्थिति यानी मनुष्य जन्म प्राप्त है, उसका उसे विश्लेषण करना चाहिए, आगे की काल्पनिक बातों पर अवलंबित नहीं रहना चाहिए, यही उसका मत था, ऐसा प्रतीत होता है।

युरिपायडीस ने अपने ग्रन्थ में यह स्पष्ट मत व्यक्त

किया है कि मरणोपरान्त कुछ शेष नहीं रहता है। डिमोक्रिट्स ने भी स्पष्ट कहा है कि आत्मा देह के साथ ही नष्ट हो जाती है। उसका कथन है कि मृत्यु के पश्चात् की स्थिति का झूठा भय दिखा कर असत्य एवं निरुपयोगी बातों को प्रस्थापित किया जाता है। ग्रीक विद्वानों में से जिस प्रकार कई व्यक्ति आत्मा के सम्बन्ध में नास्तिक विचारों के थे, उसी प्रकार कई विद्वान् ऐसे भी थे जो आत्मा के अस्तित्व को मानते थे। उनका कथन था कि आत्मा का स्वरूप दैविक होकर उसे दिव्य स्थिति प्राप्त है। प्लेटो ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक तत्व वेत्ताओं के मत भिन्न-भिन्न हैं। हाँ, वे एक बात में सहमत दिखाई देते हैं और वह यह है कि इस समझ में न आने वाले विषय के पचड़े में न पड़ते हुए मानव प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते हुए इस जगत् में उच्च स्थिति कैसे प्राप्त की जाए, ऐसी तथ्य-पूर्ण बातों पर विचार करना चाहिए।

रोमन लोग केवल व्यवहारिक होते हैं और किसी भी प्रकार से अपने राज्य के विस्तार करने की उनकी सदैव आकांक्षा रहती है। इसके अतिरिक्त आध्याम्मिक बातों पर इन लोगों ने अधिक ध्यान दिया नहीं प्रतीत होता है। उनके धार्मिक तथा तात्विक विचार ग्रीक लोगों से लिए हुए जान पड़ते है। ये लोग आत्मा के अमरत्व तथा पुनर्जन्म को मानकर मरणोत्तर स्थिति का भय नहीं खाते। आत्मा है और मृत्यु के पश्चात् एक स्थान पर एकत्रित होती रहती है। वह यदि संसार में पुनः प्रवेश करे तो मनुष्यों को दुःख ही देगी, इत्यादि विभिन्न विचार रोमन लोगों के रहे हैं। परन्तु जान पड़ता है कि उनके इन विचारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। रोमन लोगों में मृत-देह को दफ़नाने तथा दाह-संस्कार करने—दोनों प्रकार की प्रथा प्रचलित थी।

चीनी तत्व-वेत्ता कनफ़्यूशस का भी आत्मा व परलोक के सम्बन्ध में कोई निश्चित् मत नहीं मिलता। वह सुनीतिवादी था, यह सर्व विदित है। "मरणोपरान्त आत्मा की क्या स्थिति होगी।" ऐसा प्रश्न किए जाने पर एक बार उसने उत्तर दिया था कि, "जब हमें यही ज्ञात नहीं है कि जीवितावस्था में हमारा क्या होगा तो मरणोपरान्त की स्थिति पर विचार करते बैठने से क्या लाभ?" कुछ चीन-वासियों की यह धारणा भी है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा विद्यमान रहती है और इसी कारण उनमें अपने पूर्वजों की पूजा करने की रूढ़ि प्रचलित है।

जिस प्रकार पारसी लोगों की संख्या अल्प होते हुए सुसंगठित है, उसी प्रकार उनके धार्मिक विचार, नीति तथा व्यवहार भी सुसंगत एवं व्यवस्थित है। उनके धार्मिक ग्रन्थों में मरणोपरान्त की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित एवं तर्क पूर्ण विचार दिये गए हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पारसी लोगों और ब्राह्मण-धर्मी आर्यों के पूर्वज प्राचीन काल में एकत्र रहे हैं। हमारे वेद कालीन लोगों के अनुसार पारसी लोग भी पुनर्जन्म को नहीं मानते, परन्तु आत्मा के अमरत्व को उन्होंने माना है। उनमें प्रचलित अन्तिम संस्कार बड़ा हृदयस्पर्शी होता है। शरीर रोगग्रस्त अथवा निरुपयोगी होने के पश्चात् उसमें से आत्मा के निकल जाने को अपवित्र माना जाता है। उनका विश्वास है कि ऐसी स्थिति में उस पर भूत झपट पड़ते हैं। उनकी यह धारणा है कि मृत्यु के उपरान्त मनुष्य की आत्मा तीन दिन और तीन रात तक उसके शरीर के इर्द-गिर्द ही घूमती रहती है। इसी कारण वे शव को काफ़ी देर तक रखे रहते हैं। यद्यपि पुराने विचार वाले लोग ही शव को तीन दिन तक घर में रखते होंगे, तथापि हम लोगों में दूसरों की अपेक्षा शव को घर में अधिक समय तक रखा रहने दिया जाता है। इसी कारण पारसियों के क्रिया-कर्म हमारी अपेक्षा अधिक समय लेते हैं और उतनी ही विडम्बनाओं से पूर्ण है। तीन दिन तक शव को घर में रख कर फिर वे आत्मा के परलोक सिधारने पर विश्वास कर उसके शरीर को दफ़ना देते हैं। शरीर से बाहर निकलते ही सज्जनों की आत्मा को ले जाने के लिए देवदूत आते हैं। और क्रमशः स्वर्ग व नरक को ले जाते हैं। सज्जनता एवं दुर्जनता का न्याय उसी समय परमात्मा के न्यायालय में हो जाता है। देव लोक यानी स्वर्ग में उत्तम एवं सुखदायक स्थिति है तो नरक की बड़ी दुर्दशापूर्ण स्थिति है। संसार से छुटकारा पा कर आत्मा को स्वर्ग या नरक में पहुँचने के लिए घने जंगल, पहाड़ आदि अनेक बाधाओं को पार करना होता है। इस सम्बन्ध में पारसी ग्रन्थों में दिए गए वर्णन काफ़ी मिलते-जुलते हैं। पारसी लोग

शव का क्या करते हैं, यह सर्व विदित है। उसके पश्चात् अपने पूर्वजों (मृतकों) के लिए और कुछ नहीं करना पड़ता है, जैसा कि हम में दान आदि की प्रथा है।

इस स्थिति से आगे के विचार हमारे विचारों से मेल नहीं खाते। पारसी-धर्म में जो कुछ कहा गया है, केवल संसार के पुनरुत्थान के लिए ही कहा गया है: जब कि हमारे विचार आगे चल कर पुनर्जन्म आदि की ओर मुड़ गए हैं। पारसी लोगों के जो भिन्न-भिन्न राष्ट्र थे, उनमें संसार के अन्त के सम्बन्ध में विभिन्न दन्त-कथाएँ प्रचलित थीं। उन्हीं पर से उनके पूर्वजों ने मानव के पुनरुत्थान की कल्पना की है। पारसियों का मत है कि दुष्ट तथा सुष्ट (सज्जन) ऐसे दो प्रकार के देव होते हैं। संसार का अन्त होते समय इन दोनों पक्षों का भयंकर युद्ध होकर सन्मार्ग की विजय होगी और सुष्ट देव तथा सज्जनों की आत्मा फिर से शरीर धारण कर चिरकाल तक राज्योपभोग करेंगी। साथ ही दुष्ट देव और पापी आत्मा निरन्तर नरक में पड़े रह कर भयंकर यातनाएँ सहते रहेंगी। यहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों में भी इसी प्रकार की पुनरुत्थान-सम्बन्धी धारणाएँ हैं, परन्तु उसका मूल पारसी-धर्म में ही है।

यहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्म में आत्मा के अस्तित्व को तो माना गया है, परन्तु पुनर्जन्म नहीं माना जाता। कहीं-कहीं तो यह मत भी देखने में आया है कि आत्मा केवल मानव-देह में ही निवास करती है, अन्य प्राणियों की देह में नहीं। कुछ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि स्त्रियों तक में आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं होती। मृत्यु के बाद का अगला दिन न्याय का दिन होता है। उस दिन आत्मा का न्याय होकर पुण्य-वानों को सद्गति और पापियों को दुर्गति मिलती है। इस क्रिया (न्यायदान से पूर्व एवं मृत्यु के पश्चात्) के मध्य वह आत्मा क्या करती रहती है, इसका कोई खुलासा नहीं। उसी प्रकार आत्मा के देह धारण के पूर्व वह कहाँ थी और आई कहाँ से, इस सम्बन्ध में भी कुछ नहीं कहा गया है। इस सम्बन्ध में ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थों में तरह-तरह के मत मिलते हैं। कुछ के मतानुसार आत्मा देह के साथ नष्ट हो जाती है। कुछ लोगों का कथन है कि आत्मा छोटी सी देह रूप में होती है। कभी-कभी देवदूत के समान उसके पंख भी होते हैं। इस प्रकार के कई चित्र पुरानी ईसाई धार्मिक पुस्तकों में, लेखों में और देवालयों में चित्रित किए हुए मिलते हैं। आत्मा स्वर्ग में भी संसार के अनुरूप स्वरूप धारण किए रहती है। अन्तर केवल यह रहता है कि संसार में विद्यमान द्वेष, ईर्ष्या, झगड़े, टंटों का वहाँ नामोनिशान नहीं है, चारों ओर सुख-ही-सुख है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा की अवस्था के सम्बन्ध में अत्यधिक भय दिखाया जाता है। बाद की खोज-बीन से ऐसी धारणाओं में कमी होती गई। तथापि आज भी कई ईसाई तत्त्ववेत्ताओं के विचार आश्चर्यजनक एवं हास्यास्पद लगते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज तत्त्ववेत्ता सर ओलिवर लाज ने मरणोपरान्त की स्थिति के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें आत्मा के सम्बन्ध में व्यक्त उसके विचार बड़े ही आश्चर्यजनक हैं।

इन समस्त बातों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मरणोपरान्त आत्मा का अस्तित्व अति प्राचीन काल से ही माना जाता है। परन्तु तत्सम्बन्धी कल्पनाएँ बड़ी ही विचित्र एवं अस्पष्ट-सी हैं। इस सम्बन्ध में स्थायी निश्चय कोई भी आज तक नहीं कर सका।

— पुरुषोत्तम जोशी

कार्यालय शिक्षा-विभाग,
शिवपुरी (मध्य-प्रदेश)

मनुष्य तारों को पकड़ने के लिए
हाथ फैलाता है
परन्तु अपने पैरों के पास के फूलों को
भूल जाता है।

—जेरमी बैन्थम

फ्रेञ्च-साहित्य का युग-स्तम्भ——विक्टर ह्यूगो

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के पश्चात्, फ्रांस में एक साथ जितने प्रतिभाशाली और विख्यात साहित्यकार उत्पन्न हुए, उतने किसी देश और काल में नहीं हुए। वह काल फ्रेंच-साहित्य का स्वर्ण-युग कहलाता है। सन् १७६० ई० से १८५० ई० तक का काल 'रोमान्टिक-काल' के नाम से प्रख्यात है। विक्टर ह्यूगो, लामार्तीन, आन्द्रेचेनिए, स्टेराडहाल, बाल्ज़ाक, शातोब्रियाँ, अल्फ्रेड द' विन्नी, अल्फ्रेड द' म्यूस्से और ह्यूगो इस काल के साहित्य-स्तम्भ हैं। इनमें से प्रत्येक अपने विषय-क्षेत्र में अद्वितीय है। इनमें विक्टर ह्यूगो फ्रांस का सर्व श्रेष्ठ कवि है। यद्यपि वह अपने श्रेष्ठ उपन्यासों के कारण महान् उपन्यासकार के रूप में विख्यात है, किन्तु वास्तव में उसकी काव्य-प्रतिभा-शक्ति जिस उन्नत एवं असाधारण रूप में कविताओं में मिलती है, वह उसे उपन्यासकार से अधिक कवि के रूप में श्रेष्ठ सिद्ध करती है। ह्यूगो की गणना संसार के सार्वभौम कवियों में है। उसकी सृजन-शक्ति बहुमुखी और विलक्षण थी। वह कवि के अतिरिक्त नाटककार एवं उपन्यास-लेखक भी था।

विक्टर ह्यूगो का जन्म सन् १८०२ ई० में हुआ था, जब कि राज्य-क्रान्ति के पश्चात् फ्रांस विकट संघर्ष में फँसा हुआ था। ह्यूगो का पिता नेपोलियन की सेना का एक जनरल था। उसकी प्रतिभा शैशवकाल से ही तीव्र थी। उसकी माता ने स्नेह-पूर्वक उसका प्रति-पालन किया। छोटी अवस्था में ही उसका विवाह उसकी चचेरी बहन आदेल से कर दिया गया था, जो कठोर और क्रोधी स्वभाव की थी। सुन्दरता की दृष्टि से भी वह ह्यूगो को पसन्द नहीं थी। फल-स्वरूप ह्यूगो का जीवन दुःखपूर्ण हो गया, किन्तु उन दिनों की प्रचलित प्रथा के अनुसार तलाक की शरण न लेकर उसने एक अतीव सुन्दर अभिनेत्री के प्रेम में अपनी व्यथा डुबो दी; उसकी स्नेह-छाया में अपनी वेदना सुला दी। वह केवल मन-बहलाव के लिए उसके निकट नहीं गया, अपितु जुलिएत ड्रुए के प्रति ह्यूगो का प्रेम और जुलिएत द्रुए का ह्यूगो के प्रति प्रेम अमर था। अनेक कष्टों, कठिनाइयों तथा परीक्षाओं में से उन्हें गुज़रना पड़ा, किन्तु उनके प्रेम पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा। ५० वर्ष तक उनका साथ रहा और ८० वर्ष की अवस्था में द्रुए की मृत्यु पर ही उनका साथ छूटा उसके एक-दो वर्ष पश्चात् ही ह्यूगो का देहान्त हो गया।

ह्यूगो की प्रतिभा बाल्यावस्था में ही असामान्य रूप से प्रकट होने लगी थी! सोलह वर्ष की अवस्था में उसने 'Bug Jargal' नामक एक कहानी लिखी। दो वर्ष पश्चात् ही उसने 'Hand Island' शीर्षक रचना की। इन दोनों रचनाओं में ही भावों की कोमलता एवं प्रवणता सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। उसकी कविताओं का प्रथम संग्रह 'Les Orientaes' (ले ओरिएन्टल) है। ह्यूगो को श्रेष्ठ कवि सिद्ध करने के लिए यही एक ग्रन्थ पर्याप्त था। इसकी कविताओं में ओज एवं माधुर्य प्रचुर मात्रा में हैं। इनसे कवि-कौशल तथा भाषा-नैपुण्य का असामान्य परिचय मिलता है। सन् १८३१ से १८४० ई० तक ह्यूगो के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए; जिनमें उनकी अनुपम कला का दिग्दर्शन मिलता है। वह वियोगान्त नाटकों की रचना में भी अद्वितीय सिद्ध हुए। ३८ वर्ष की अवस्था में सदस्य के रूप में सम्मिलित किए गए। पश्चात् राजनीतिक कारणों से ह्यूगो निर्वासित किया गया और वह २८ वर्ष तक देश के बाहर निर्वासन-अवस्था में रहा। इसी समय उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Les Chatiments' प्रकाशित हुआ। इसमें ह्यूगो के व्यथित हृदय की भावनाएँ, भविष्य-वक्ता की वाणी प्रतीत होती है। उसके भाव, पद-लालित्य से परिपूर्ण दिव्य एवं व्यंग्यात्मक रूप में व्यक्त हुए हैं। 'Les Contemplations' (ले कन्टमप्लेशन्स) भी ह्यूगो के निर्वासन-काल की एक अनुपम कृति है। यह छः भागों में विभाजित है। प्रथम में जीवन के प्रभात-काल के सुख-दुःख, भाव एवं कल्पनाएँ उत्साह तथा स्फूर्ति का वर्णन है। इसमें प्रयुक्त छन्दों में भी वही माधुर्य एवं लालित्य है। द्वितीय भाग में भाषा की वैसी ही विशदता और छन्दों का वैसा ही वैचित्र्य है किन्तु भावों में गम्भीरता आ गई है। तृतीय भाग और भी

अधिक परिष्कृत हो गया है। चौथे भाग में शोक का उच्छ्वास है, जो ह्यूगो की कन्या की मृत्यु के कारण प्रकट हुआ है। वह अपने पति के साथ सन् १८४३ ई० में नारमेंडी के तट पर डूब कर मर गई थी। इसी घटना से व्यथित हो कर कवि ने जो कविताएँ लिखी थीं, वे सब इसी भाग में हैं। इसके प्रत्येक पद से कवि की मर्मव्यथा प्रकट होती है। ऐसा मर्मस्पर्शी वर्णन बहुत थोड़े कवियों की कविताओं में मिल सकेगा। पाँचवें और छठवें भाग में भी कुछ कविताएँ भावों की गम्भीरता एवं विशदता की दृष्टि से अनुपम है।

ह्यूगो की रचनाओं में एक चिरन्तन सत्य का आभास मिलता है, जो उसकी प्रतिभा तथा रचना-कौशल द्वारा प्रकट हो कर गम्भीरता तथा आदर्श के अतिरिक्त वास्तविकता को प्रस्तुत करता है। उदाहरण-स्वरूप वह अन्धे के सम्बन्ध में एक रचना में निम्न भाव प्रदर्शित करते हैं :

"अन्धा कृपण होता है, क्योंकि वह स्वर्ण के अतिरिक्त और किसी सम्पत्ति को नहीं देख सकता। अपव्ययी व्यक्ति अन्धा होता है; क्योंकि वह प्रारम्भ को ही देखता है, अन्त को नहीं। रिझाने वाली स्त्री अन्धी होती है: क्योंकि वह अपनी झुर्रियाँ नहीं देखती। विद्वान् अन्धा होता है; क्योंकि वह अपना अज्ञान नहीं देखता। ईमानदार व्यक्ति अन्धा होता है; क्योंकि वह चोर को नहीं देखता। चोर अन्धा होता है, क्योंकि वह ईश्वर को नहीं देखता।"

ह्यूगो के काव्यों का जो विलक्षण प्रभाव पड़ता है, उसका कारण यही है कि कवि में जैसे भावों की गम्भीरता है, वैसे ही कल्पना-शक्ति की उद्दण्डता भी। वह जिस प्रकार जीवन के अन्धकारपूर्ण रहस्यों पर प्रकाश डालने में कुशल है, उसी प्रकार मनुष्यों की कोमल वृत्तियों को अंकित करने में भी सिद्धहस्त है। उनकी कविताएँ अस्वाभाविक नहीं है। समाज और प्रकृति से मनुष्य का क्या सम्बन्ध है और उनके क्या कार्य हैं, इस पर ह्यूगो ने अतीव सुन्दर एवं सत्यपूर्ण भाव व्यक्त किए हैं :

‘समाज सौतेली माता के समान है। प्रकृति जननी की भाँति है। समाज शरीर का संसार है और प्रकृति आत्मा का संसार। समाज का कफ़न, क़ब्र और भूमि के कीड़ों की ओर ले जाता है तथा समाप्त हो जाता है। प्रकृति विकसित पंखों से प्रातःकालीन प्रकाश में परिवर्तित होने और आकाश की ओर चढ़ने में सहायक होती है। जहाँ पर वह नवीन जीवन का रूप धारण करती है।"

ह्यूगो की मुख्य विशेषता यह है कि उसने मानव-जीवन में अदृष्ट शक्ति का दर्शन कराया है। उसके काव्यों में मानव-जीवन का सौन्दर्यपूर्ण रहस्योद्घाटन पाया जाता है। ह्यूगो के प्रसिद्ध उपन्यास 'Les Miserables' (ले मिज़रेबबिल) में भी ह्यूगो के कवि-हृदय का रूप ही मुख्य रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसमें आत्मा की कथा है कि वह कैसे विकृत होती है और उसका कैसे उद्धार होता है। दुःखों की ज्वाला से उसका परिशुद्ध रूप कैसे उदित होता है। इसमें जीवन के आलोक और अन्धकार का, उत्थान तथा पतन का विशद एवं हृदयग्राही वर्णन है। ह्यूगो के उपन्यासों में कवित्त्व के अतिरिक्त नाटकीय तत्त्व भी यथेष्ट पाया जाता है। कई समालोचकों ने उन्हें गद्य-नाटक बतलाया है' फिर भी ह्यूगो के उपन्यास विश्व-साहित्य में उच्च कोटि के माने गये हैं। ह्यूगो के नाटक भी उच्च श्रेणी के सिद्ध हुए और अभिनय द्वारा पूर्ण सफल होने के कारण ह्यूगो के समय में ही लोकप्रिय रहे हैं।

विक्टर ह्यूगो अपने समय का महान कवि और उपन्यासकार हुआ है। यद्यपि उस काल में अनेक उपन्यासकार हुए हैं, जो ह्यूगो की कोटि के माने जाते हैं; किन्तु कवि के रूप में अठारहवीं शताब्दी के काव्य-क्षेत्र में ह्यूगो के समान प्रतिभाशाली महाकवि फ्रांस में अन्य कोई नहीं हुआ।

—गौरीशंकर ओझा

फड़नीसड़ी गोठ, छत्री बाजार,
लश्कर, (मध्य प्रशदे)

घिसे-पिटे मार्ग
घिसे-पिटे लोगों के लिए होते हैं

—'इंग्लिश डाइजेस्ट' से

इतिहास का एक चरण

१८५७—१९४७

भारतीय स्वतन्त्रता का जो संग्राम सन् १८५७ के स्वतन्त्र-विद्रोह से शुरू हुआ था, उसकी परिणति सन् १९४७ में देश को मिलनेवाली स्वतन्त्रता में हुई। सन् १८५७ के विद्रोह को भिन्न-भिन्न इतिहासकारों ने अलग-अलग नाम दिए हैं। अंग्रेज़ी शासन-काल में सरकार के विरुद्ध स्पष्ट रूप से अपना मत प्रकट न कर सकने वाले इतिहासकारों ने उसे ग़दर कहा। अंग्रेज़ी शब्द म्युटिनी के पर्याय के रूप में ग़दर का प्रयोग किया जाता रहा है। कुछ लोगों ने उसे सिपाही-विद्रोह कहा। वीर सावरकर ने सब से पहले सन् १८५७ के विद्रोह को भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम कहा था। कुछ निष्पक्ष इतिहासकारों ने उस विद्रोह के नेतृत्व के आधार पर उसे सामन्तवादी-विद्रोह का नाम दिया है। हमारे प्रधान-मन्त्री श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने सन् १८५७-५८ के विद्रोह को सामन्तवादी-विद्रोह कहा है। उन्होंने कहा है कि उसमें राष्ट्रीयता के उपकरण भी विद्यमान थे। अंग्रेज़ों ने विद्रोह के दमन के बाद अपनी पूर्व नीति में आमूल-परिवर्तन किए और राजाओं, सामन्तों और ज़मींदारों एवं ताल्लुकेदारों के आधार पर ऐसी व्यवस्था की गई, जिससे देश में अपने शासन को वे मज़बूत बनाए रख सकें। अन्य इतिहासकार भी भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष का आरम्भ सन् १८५७ के विद्रोह से करते हैं। यद्यपि कुछ लोग इसकी शुरूआत वहाबी आन्दोलन से करते हैं, क्योंकि वहाबी आन्दोलन के नेता शाह वली उल्लाह (१७१६ ई०) ने मुसलमानों को फिर से संगठित करने के लिए तहरीक शुरू की थी। इसके अतिरिक्त कुछ लोग स्वतन्त्रता-संग्राम का आरम्भ सन्यासी-आन्दोलन से मानते हैं। लेकिन यह निर्विवाद है कि उत्तर-भारत में सन् १८५७ का विद्रोह-क्षेत्र और प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक था। जहाँ उसमें अपदस्थ राजाओं और नवाबों का सहयोग था, वहाँ उसके साथ ही उत्तर भारत के साधारण किसान का भी उसमें योग था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने कन्धे-से-कन्धा मिला कर अंग्रेज़ों से युद्ध किया था। देश-भर में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गई थी। विद्रोह की नेता-मंडली में बहादुरशाह, नानासाहब, अज़ीमुल्ला ख़ाँ, तात्या टोपे, रहमत ख़ाँ, मौलवी अहमदशाह, रानी लक्ष्मीबाई, लखनऊ की बेग़म, हजरत महल आदि शामिल थे। अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सन् १७५६ के पलासी-युद्ध के बाद देश की राज-शक्ति को भी हथियाना शुरू कर दिया था। आरम्भ में ईस्ट इंडिया-कम्पनी ने मुग़ल-सम्राट् के नाम से उनके दीवान के रूप में काम शुरू किया, लेकिन १८५६ में कम्पनी देश के सब से बड़े भाग की शासक बन गई। कम्पनी के उस काल में उत्थान का सब-से बड़ा कारण यह था कि भारतीय-राष्ट्र और उसकी राज-शक्ति विशृंखलित थी। द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता के कारण राष्ट्रीय-भावना मृतप्राय थी, फलतः कम्पनी का राज्य बढ़ता गया लेकिन अंग्रेज़ी शासकों को यह मालूम होने लगा था कि उनके शोषण और अत्याचारों की चोट से जनता में विद्रोहाग्नि फैल सकती है। नेहरू जी ने अपनी पुस्तक डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया में लिखा है—"लाखों बुनकर, बेकारी और ग़रीबी से भूखों मर गए। लार्ड विलियम बैंटिक ने लिखा था कि "भारतीयों की दयनीय दशा और मुसीबत की मिसाल दुनिया के व्यापार में कहीं-कहीं मिलती। बुनकरों की हड्डियों से समस्त भारतीय-मैदान भरे पड़े हैं।" लार्ड बैंटिक ने यह भी कहा था कि जमींदारों की एक बड़ी जमात पैदा करके अंग्रेज़ी सरकार ने अपने शासन के ऐसे समर्थक बना लिए हैं, जिनका जनता पर ज़ोर और प्रभाव है। बैंटिक के पहले मेटकाफ़ ने सन् १८२४ में लिखा था—"समस्त भारत हर समय हमारे पतन की प्रतीक्षा कर रहा है। भारत के प्रत्येक कोने में लोग हमारे नाश पर खुशियाँ मनाएँगे।" सन् १८५६ में लार्ड कैनिंग भारत का गवर्नर जनरल हो कर आया था। उसने आते ही कहा: "मैं चाहता हूँ कि मेरा शासन-काल शान्तिमय हो। परन्तु मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि यद्यपि भारतीय-आकाश शान्त और उज्ज्वल दिखलाई पड़ता है, उसमें हथेली बराबर बादल का टुकड़ा कभी उठ सकता है और वह बढ़ते-बढ़ते विशाल रूप धारण कर सकता है जो हमारे विनाश का कारण

बन सकता है ।'' कैनिंग की आशंका सत्य निकली और सन् १८५८ में विद्रोह की आग ऐसी फैली कि अंग्रेज़-शासन को यह विश्वास-सा हो गया था कि भारत उनके हाथ से अब गया या तब गया । नेहरू जी ने सन् १८५७ के विद्रोह के असफल होने के सम्बन्ध में लिखा है कि गोरखा और सिखों के सहयोग से अंग्रेज़ी-शासन नष्ट होते-होते बचा ।

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद भी अंग्रेज़ी-शासन के विरुद्ध तीन अलग-अलग विचार-धाराओं में आन्दोलन चले । सन् १८५७ से वहाबी आन्दोलन का ज़ोर बढ़ा और २० वर्ष से अधिक समय तक तो मुसलमानों पर इसी कारण अंग्रेजी सरकार ने कठोर दमन किया । सन् १८६० से १८७२ तक बहुत-से वहाबियों पर मुक़दमे चलाए गए; उनके विरुद्ध देशद्रोह और महारानी के विरुद्ध युद्ध करने के आरोप लगाए गए थे । सन् १८७१ में अंग्रेज़ों के विरुद्ध मुसलमानों का रोष पराकाष्ठा पर पहुँच गया था । उसी वर्ष सितम्बर मास में बंगाल के मुख्य न्यायाधीश जान फ़ैक्सटन नारमैन को एक मुसलमान ने क़त्ल कर दिया था । सन् १८७३ में वायसराय मेयो को शेर अली नामक वहाबी ने मार डाला था । यह उल्लेखनीय है कि मेयो ने मुसलमानों के दमन की नीति ख़त्म करके उन्हें अपनी ओर मिलाने की योजना बनाई थी । उन्होंने कुछ मुल्लाओं को अपनी ओर मिला कर अंग्रेज़ी राज को दारुल इस्लाम कहलवाया । मक्का शरीफ़ के कुछ मुफ्तियों के फ़तवे मँगवाए गए । सर सैयद अहमद ख़ाँ सन् १८७० से ही यह प्रचार कर रहे थे कि मुसलमानों को अपनी बहिष्कार की नीति छोड़ कर अंग्रेज़ी-शिक्षा आदि ग्रहण करना चाहिए । अंग्रेज़ों ने सेना और सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को नहीं लिया । शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ जाने से मुसलमान दूसरे क्षेत्रों में भी पिछड़ गए । इसी अवधि में हिन्दुओं को सरकारी नौकरियाँ भी मिलीं और सेना में विद्रोह में भाग लेने वाली ब्राह्मण, क्षत्रिय जातियों को हटा कर निम्न जातियों के लोगों को प्रोत्साहन दिया गया । फूट डाल कर राज करने की नीति अंग्रेज़ों ने अपना कर हिन्दू और मुसलमानों में दंगे कराने प्रारम्भ किए । जिस समय वहाबी आन्दोलन तेज़ी पर था, अंग्रेज़ों ने बरेली तथा अन्य स्थानों पर दंगे करवा दिए और दंगों के दमन के नाम पर सरकार-विरोधी लोगों का खुला दमन किया गया ।

सिख सन् १८५७ में अंग्रेज़ों के साथ थे । उसका कारण द्वेष और बैर की भावना थी । विद्रोह के बाद अंग्रेज़ी शासन के दमन और अत्याचारों से सिखों के सुधारवादी सम्प्रदाय के नामधारी सिख विद्रोही बन गए । सन् १८७२ में नामधारी सिखों ने अंग्रेज़-परस्त रियासत मलारकोटला पर हमला कर उस पर अधिकार कर लिया । अंग्रेज़ों ने उन्हें परास्त कर दिया और फिर नामधारी सिखों का तेज़ी से दमन किया गया । सर हेनरी काटन ने लिखा है कि १४ जनवरी, सन् १८७२ को लगभग १०० कूकाओं ने मलारकोटला पर हमला किया । आक्रमण के विफल होने पर ५६ कूका जिनमें २२ घायल थे पटियाला भाग गए, बाद में उन्हें गिरफ़्तार किया गया और उनमें से ५५ को तोप के मुँह से बाँध कर उड़ा दिया गया और एक जो तोप के मुँह से भाग गया था, उसे क़त्ल कर दिया गया । १६ को फाँसियाँ दी गईं ।

तीसरी धारा में भारतीय जनता ने वैध उपायों से सरकार के विरुद्ध अपनी आवाज़ ऊँची की । सन् १८५६ में श्री रंगलाल बनर्जी ने 'पद्मिनी' नामक नाटक लिखा। उसका नायक प्रभावशाली ढंग से भाषण करता है, ''कौन ऐसा व्यक्ति है जो अपमानजनक गुलामी में रहना चाहेगा ? कौन ऐसा है जो गुलामी की बेड़ियाँ पहनना पसन्द करेगा ? युगों तक गुलामी में रहना नरक के समान है, एक दिन की भी आज़ादी सुख की पराकाष्ठा है । उस व्यक्ति का जीवन और शक्ति धन्य है जो अपने को उत्सर्ग करके देश को आज़ाद करता है ।'' सन् १८३७ में ज़मींदारी एसोशिएसन और सन् १८४३ में बंगाल-ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी की स्थापना हुई । ३१ अक्तूबर, सन् १८५१ में ब्रिटिश-इंडियन ऐसोशिएसन बनाया गया । मद्रास में भी इसकी एक शाखा स्थापित की गई । सन् १८५७ में इसकी ओर से देश-भर में इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू करने की प्रार्थना की गई । सन् १८७५ में श्री शिशिरकुमार घोष और उनके भाई मोतीलाल घोष ने इंडियन लीग की स्थापना की । सन् १८७६ में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इंडियन एसोशियन की स्थापना की ।

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'ए नेशन इन दि मेकिंग' में लिखा है, ''मैज़िनी की देशभक्ति की पवित्रता, उनके

१८५७

सिद्धान्तों की उच्चता, मानवमात्र के लिए उनका व्यापक प्रेम, उनके हृदयोद्गार-भरे शब्दों ने जैसा मुझे प्रभावित किया है, ऐसा मैं कभी प्रभावित नहीं हुआ। मैज़िनी ने इटली-निवासियों को एकता का पाठ पढ़ाया। हम भारतीय एकता चाहते हैं।" श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारतीयों को इंडियन सिविल सर्विस की नौकरी में लेने के प्रश्न को लेकर पढ़े-लिखे लोगों का जनान्दोलन आरम्भ किया। सन् १८६० में उम्मीदवारों की अधिकतम उम्र घटा कर २२ वर्ष कर दी गई थी और सन् १८७७ में लार्ड लिटन ने उसे घटा कर १६ वर्ष कर दी। भारतीयों को सिविल सर्विस में न लिए जाने के विरुद्ध श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अमृतसर, मेरठ, इलाहाबाद, दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, बनारस, बम्बई, सूरत, अहमदाबाद और पूना का दौरा किया। वे मद्रास भी गए थे। सन् १८७५ के बाद के वर्षों में भारतीय भाषाओं के पत्रों ने सरकार पर ही नहीं वरन् अंग्रेज़ी राज पर आक्रमण करना शुरू कर दिया था। इसके दमन के लिए सन् १८७० में भारतीय दण्ड-विधान में दफ़ा १२४ जोड़ी गई। सन् १८७८ में शस्त्र-क़ानून बनाया गया। इसके अनुसार भारतीय बिना लाइसेंस हथियार नहीं रख सकते थे। वर्नाकुलर प्रेस-ऐक्ट तो पहले ही बन चुका था।

यहाँ यह उल्लेख करना अनुपयुक्त नहीं होगा कि अंग्रेज़ों ने देश का अपार शोषण किया। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में बतलाया है कि अंग्रेज़ों ने देश के उद्योगों को नष्ट किया। जहाँ सन् १७६४ में ब्रिटेन से केवल १५६ पौण्ड का कपड़ा आता था, वहाँ सन् १८१३ में १०८८२४ पौण्ड का कपड़ा ब्रिटेन से भारत आया। १६ वर्षों में भारत से २ करोड़ ५२ लाख पौण्ड की धन-राशि ब्रिटेन भेजी गई। भारत-सरकार के नाम से ब्रिटेन में होने वाले खर्च को पूरा करने के लिए १६० लाख पौण्ड जाते थे। कम्पनी का राज्य समाप्त होने पर और यहाँ रानी विक्टोरिया के राज्य में शोषण की प्रवृत्ति बढ़ गई। फलतः भारत की आर्थिक व्यवस्था नष्ट हो गई और सन् १८३७ के बाद प्रत्येक दशक में देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने लगे। सन् १८७६–७७ में देश में विकराल दुर्भिक्ष होने पर भी देश से पहले से अधिक अनाज निर्यात किया गया। सन् १८५६ में बंगाल के किसानों ने जो विद्रोह किया था, उससे विशेष लाभ नहीं हुआ था। सन् १८६१ में किसानों ने निलहे गोरों के विरुद्ध विद्रोह किया। किसानों की कुछ माँगे स्वीकार करने के लिए अंग्रेज़ सरकार मजबूर हुई। सन् १८६७ चम्पारन के किसानों में असन्तोष बढ़ गया था। मद्रास और महाराष्ट्र के किसानों में भी बढ़े हुए करों के विरुद्ध असन्तोष फैल रहा था। सन् १८७८–७६ में देश-भर में आर्थिक और राजनीतिक संकट ने भयानक स्वरूप ले लिया था। शोषण और अत्याचार से ऊबकर जनता विद्रोह के निकट पहुँचती जा रही थी। स्वयं अंग्रेज़ अफ़सरों के देशभर में सन् १८५७ की-सी क्रान्ति होने के लक्षणों का आभास मिलने लगा था। सन् १८७४ में मरहठा-आन्दोलन शुरू हुआ। यह आन्दोलन भी सन् १८६२ से चल रहा था। अफ़गानिस्तान से अंग्रेज़ों के युद्ध छिड़ जाने पर दक्षिणी-भारत में डकैतियाँ बढ़ गई थी। इस प्रकार चारों ओर अशान्ति और अस्थिरता के लक्षण थे और ऐसी स्थिति में कहीं से भी विद्रोहाग्नि भड़क उठती थी।

सन् १८८० में ब्रिटेन में ग्लैडस्टन प्रधान-मन्त्री हुए। उन्होंने भारत में लार्ड रिपन को गवर्नर बना कर भेजा। रिपन ने नरम दलवालों को खुश करने में सफलता पाई। १० अक्तूबर, सन् १८८१ को भारत-सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को गश्ती-चिट्ठियाँ भेज कर स्वायत्त-शासन-सम्बन्धी सुधारों पर उनकी राय माँगी। सन १८८२ में स्थानीय निकायों के अधिकार और उनका कार्य-क्षेत्र बढ़ा दिया गया। सन् १८८३ में एलबर्ट-बिल आया और उससे भारत में रहने वाले सभी अंग्रेज़, चाहे वे अफ़सर थे या साधारण नौकर बौखला उठे। उस बिल में भारतीय जजों को अंग्रेज़ों का मुक़दमा सुनने का अधिकार दिया गया था। सन् १८८४ में जूरी की व्यवस्था करके अंग्रेज़ों के आँसू पोंछे गए।

उपर्युक्त पृष्ठ-भूमि में देश में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का जन्म हुआ। सन् १८८३ में अखिल भारतीय संस्था बनाने के विचार से कलकत्ते में राष्ट्रीय-कान्फ्रेन्स हुई। सन् १८८४ में मद्रास में महाजन सभा का जन्म हुआ। इसके पूर्व सन् १८७० में पूना में सार्वजनिक सभा का जन्म हो चुका था। १८८५ में बम्बई में प्रेसीडेन्सी एसोशिएशन बना। २८ दिसम्बर को दोपहर १२ बजे बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज में इण्डियन नेशनल काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ।

अवकाश-प्राप्त अंग्रेज़ कलक्टर श्री ए. ह्यूम ने श्री उमेशचन्द्र बनर्जी का नाम सभापतित्व के लिए पेश किया। अगला अधिवेशन सन् १८८६ में कलकत्ते में हुआ। उसमें ४४० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सन् १८८६ तक काँग्रेस धीरे-धीरे अधिक सुदृढ़ होती गई। दादाभाई नौरोजी, श्री फ़िरोज़शाह मेहता, पण्डित मदनमोहन मालवीय ने इस काल में देश में चेतना की लहर फैला दी। सन् १८९३ में लाहौर काँग्रेस के अध्यक्ष श्री दादाभाई नौरोजी थे। भारत के नौजवान श्री दादाभाई नौरोजी में अगाध श्रद्धा रखते थे और जब उनका जलूस निकाला गया तो युवकों ने गाड़ी के घोड़े अलग कर उसे स्वयं खींचा। सन् १८९६ के काँग्रेस के अधिवेशन के मुख्य प्रस्ताव में देश की दुर्दशा दिखला दी गई थी। देश में अकाल के कारण भयंकर दरिद्रता फैल रही थी और सरकार देश से अनाज निर्यात करने से बाज़ नहीं आ रही थी।

सन् १८९६–९७ के अकाल और महामारी से उग्र राजनीति को बहुत बढ़ावा मिला। महाराष्ट्र-प्रदेश में अकाल अधिक भयंकर था। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने उस समय देश की जनता की दयनीय दशा से क्षुभित हो कर सरकार का उग्र विरोध किया। प्लेग की महामारी रोकने के नाम पर फ़ौजियों के आतंक से जनता परेशान थी। जो लोग बाधा पहुँचाते थे, उन्हें जेल में डाल दिया जाता था। नाटू भाइयों ने इस सम्बन्ध में सरकार के पास कुछ सुझाव भेजे, जिन्हें मंजूर करने के स्थान पर इन्हीं लोगों को दो वर्ष के लिए देश से निकाला दे दिया गया। २२ जून, सन् १८९७ को जब विक्टोरिया रजत-जयन्ती मनाई जा रही थी, उसी रात को पूना के प्लेग अफ़सर रैंड की हत्या कर दी गई। इस हत्या के बाद अंग्रेज़ सरकार-परस्त समाचार-पत्रों ने लोकमान्य तिलक के विरुद्ध ऐसा प्रचार किया जैसे उन्होंने ही वह हत्या की हो। लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया और उन्हें १८ महीने की कड़ी सज़ा दी गई। रैंड की हत्या करने के अपराध में चापेकर बन्धुओं को फाँसी की सज़ा मिली। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने सन् १८९९ में लखनऊ-काँग्रेस में कहा था "दुर्भिक्ष से उत्पन्न मुसीबत को, संकटों को और मौतों को रोका जा सकता है। सुख-सम्पत्ति बढ़ाई जा सकती है, पूरे राष्ट्र की भक्ति और उत्साह-पूर्ण सहायता प्राप्त हो सकती है। यह सम्भव है केवल एक शर्त पर देश को स्वराज्य का वरदान मिल जाय।" सन् १९०४ के बम्बई-काँग्रेस के अधिवेशन में सर हेनरी काटन ने अध्यक्ष-पद से यह सुझाव दिया कि "भारत-स्वतन्त्र राज्यों का एक संघ होना चाहिए।" लोकमान्य तिलक सन् १८९६ काँग्रेस को अधिक मज़बूत बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। वे अंग्रेज़ी कुशासन की ओर सभी देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे।

जब एक ओर काँग्रेस भारतीय राष्ट्रीयता की प्रबल धारा बनती जा रही थी, उन्हीं दिनों अंग्रेज़ शासकों ने मुसलमानों को बहकाने और उन्हें अपनी ओर मिलाने की नीति तेज़ी से अपनाई। लार्ड कर्ज़न ने बंगाल का १६ अक्तूबर, सन् १९०५ को विभाजन कर दिया। पूरे बंगाल में इसका विरोध किया गया। पूर्वी बंगाल के ७० हज़ार व्यक्तियों के हस्ताक्षर से सरकार के पास एक स्मृति-पत्र भेज कर बंग-भंग का विरोध किया गया। बंग-भंग विरोधी आन्दोलन दिन-प्रति-दिन तीव्र होता गया। 'वन्दे मातरम्' गीत ने बंगाल में प्राण फूँक दिए। विदेशी सामान का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने के आन्दोलन में तेज़ी आई। जिस दिन बंग-भंग हुआ, उस दिन राष्ट्रीय शोक-दिवस मनाया गया। सन् १९०७ तक बंग-भंग आन्दोलन के तीन स्वरूप प्रकट हुए, रचनात्मक, राजद्रोहात्मक और क्रान्तिकारी। दिसम्बर सन् १९०८ में सरकार ने सर्व श्री कृष्णकुमार मित्र, पुलिन विहारी दास आदि नौ नेताओं को निष्कासन की सज़ा दी।

सन् १९०६ में कलकत्ते में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। श्री दादाभाई नौरोजी इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। काँग्रेस में उदार और उग्र नीति के समर्थकों के बीच की खाई बहुत चौड़ी हो गई थी। सन् १९०७ में नागपुर काँग्रेस में गरम और नरम पक्षों में खुल कर झगड़ा हुआ। गरम पक्षी काँग्रेस में लोकमान्य तिलक को भाषण देने का अवसर नहीं दिया गया। तिलक, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द उन दिनों युवकों के प्राण थे। बंगाल में अनुशीलन और युगान्तर नामक क्रान्तिकारी दलों का संगठन शुरू हुआ। उधर महाराष्ट्र में सावरकर बन्धुओं ने 'अभिनव भारत' गुप्त समितियों का संगठन किया था। इन संगठनों की ओर से एक ओर देश में

१९४७

राजद्रोह का प्रचार किया जाता था और दूसरी ओर डाका आदि डाल कर धन एकत्र करके उससे शस्त्रादि संग्रह किया जाता था। लोकमान्य तिलक ने सन् १९०७ में ही यह घोषणा कर दी थी कि 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' और हम उसे लेकर रहेंगे, इसी बीच तिलक को राजद्रोह के अपराध में ७ वर्ष की सजा दे दी गई। सन् १९१० में नागपुर-काँग्रेस में एकता की बातचीत शुरू हुई। सन् १९१४ में महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका में अनेक संघर्षों का नेतृत्व करने के बाद भारत आ गए थे। लखनऊ में सन् १९१६ के काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का समझौता हुआ और काँग्रेस एक बार फिर विशाल प्रतिनिधि संस्था बन गई। युद्ध-काल में अमेरिका में जाकर रहने वाले भारतीयों ने वहाँ इंडियन एसोशिएसन की स्थापना की और उसकी ओर से ग़दर-पत्र निकाला गया। इस ग़दर-पार्टी की ओर से देश में सशस्त्र क्रान्ति की योजना बनाई गई। 'कामागाता मारू' नामक एक जहाज से बहुत से देशभक्त युवक भारत आए। हुगली नदी के बज-बज नामक स्थान पर जब जहाज़ पहुँचा तो वहाँ जम कर युद्ध हुआ, जिसमें १८ सिख मारे गए और बहुत से गिरफ़्तार कर लिए गए। उसके बाद जो भारतीय विदेशों से लौटे उनमें ४०० जेलों में डाल दिए गए और २६०० नज़रबन्द कर दिए गए। इसके अनुसार देश-भर में २१ फरवरी, सन् १९१५ को विद्रोह आरम्भ करने की तारीख़ तय की गई। श्री विष्णु गणेश पिंगले और रासविहारी बसु अमृतसर में रह कर बम तैयार करवा रहे थे। इस विद्रोह की तैयारी की सूचना सरकार को पहले ही मिल गई थी और केवल पंजाब में १००० व्यक्तियों पर राजद्रोह का मुक़दमा चला, ५०० को फाँसी दी गई और ८०० को काला पानी की सजा दी गई। १० हज़ार नज़रबन्द कर दिए गए। लाहौर षड्यन्त्र केस में ६१, एक अन्य मुक़दमे में ७४ और तीसरे मुक़दमे में १२ व्यक्तियों के विरुद्ध राजद्रोह का अभियोग चलाया गया। लाला हरदयाल, राजा महेन्द्र प्रताप, श्याम जी कृष्ण वर्मा विदेशों में पहले ही थे। श्री रासविहारी बोस भी बाहर चले गए। बाद में 'युगान्तर' की ओर से श्री मानवेन्द्रनाथ राय विदेशों से शस्त्रास्त्र लेने गए। एक जहाज़ से शस्त्रास्त्र भेजे गए और फिर उन्हें दुबारा विदेश जाना पड़ा। इसी बीच में बनारस और मैनपुरी षड्यन्त्र केस हुआ। इन षड्यन्त्रों की तैयारी में युवक अपने प्राण हथेली पर रख कर भाग लेते थे और फिर थोड़ी बाधा होने पर पूरा खेल ख़त्म हो जाता है।

सन् १९१६ में श्रीमती एनी बेसेन्ट और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने होमरूल-आन्दोलन चलाया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने इसका समर्थन किया। उग्रवादी तो होमरूल-आन्दोलन को तेज़ी से बढ़ाना चाहते थे। जून, सन् १९१७ में श्रीमती एनी बेसेन्ट नज़रबन्द कर दी गई। सन् १९१७ में वे कांग्रेस की अध्यक्षा चुनी गईं। जिस समय होमरूल-आन्दोलन अपनी उच्चतम अवस्था में था, गान्धी जी अपने चुने हुए कार्यकर्ताओं के साथ चम्पारन के खेतिहरों की यूरोपीय निलहे गोरों के विरुद्ध शिकायतों का पता चला रहे थे। उस वर्ष कांग्रेस ने रौलट कमेटी की नियुक्ति की निन्दा की। धीरे-धीरे देश के वातावरण में विरोध की भावना बढ़ने लगी थी। रौलट कमेटी ने सिफ़ारिश की थी कि राजद्रोहात्मक मुक़दमे बिना जूरी या असेसर के तीन-तीन जजों की बेंचें बना कर किए जाएँ। इन मुक़दमों में अपील का हक़ न दिया जाय और न फ़र्द जुर्म लगाने की प्रारंभिक कार्रवाई आवश्यक हो। बढ़ते हुए राजनीतिक असन्तोष को दबाने के लिए सरकार नए हथियार का प्रयोग करना चाहती थी। रौलट-कमेटी की सिफ़ारिशों से उग्र दल के ही नहीं वरन् नरम दल के नेता क्षुब्ध हो उठे। गान्धी जी उस समय सख़्त बीमार थे, फिर भी इसके विरोध में कुछ-न-कुछ करने के लिए आतुर थे। इसी समय से गान्धी जी का भारतीय राजनीति में प्रवेश हुआ और उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के संग्राम को एक नवीन दिशा प्रदान की। गान्धी जी ने अपने सहयोगियों से परामर्श कर ३० मार्च, सन् १९१९ को देश-भर में रौलट-कमेटी की रिपोर्ट के विरोध में आम सभाएँ करने का निश्चय किया। बाद में यह दिन ६ अप्रैल, सन् १९१९ को मनाना तय हुआ। उस दिन पूरे देश में पूर्ण हड़ताल मनाई गई। १० अप्रैल को डाक्टर सत्यपाल और डा० किचलू को अमृतसर से निकाल दिया गया और उन्हें धर्मशाला नामक नगर में बन्द कर दिया गया। जनता ने इसका विरोध किया। १२ अप्रैल को कुछ लोग और गिरफ़्तार कर लिए गए और १३ तारीख़ को जलियान वाला बाग़ में २० हज़ार व्यक्ति

सरकारी आदेशों के विरुद्ध जमा हो गए। फ़ौज ने इस भीड़ पर १० मिनट तक गोलियाँ बरसाईं। इस गोलीकाण्ड में १००० व्यक्ति मारे गए। इसके विरोध में पूरा देश बौखला उठा। पूरे पंजाब में मार्शल ला लागू कर दिया गया। २९८ व्यक्तियों पर मुकदमा चलाया गया। ५१ को फाँसी; ४६ को काला पानी और ११५ को लम्बी-लम्बी सज़ाएँ दी गईं।

पूरे पंजाब के सभी नगरों में मार्शल ला लागू कर दिया गया और हज़ारों व्यक्ति पकड़े गए। सन् १९१९ में अमृतसर में हुए कांग्रेस अधिवेशन के समय ब्रिटिश सरकार ने सुधारों की शाही घोषणा की। अधिवेशन के अध्यक्ष श्री मोतीलाल नेहरू ने इन सुधारों को स्वीकार करने की राय दी। ४ सितम्बर, सन् १९२० को कलकत्ते में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुआ। उसमें कहा गया था कि कांग्रेस का मत है कि जब तक इन अन्यायों का प्रतिकार नहीं होता, तब तक भारतीयों को सन्तोष नहीं होगा। राष्ट्रीय प्रतिष्ठा क़ायम रखने और ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति रोकने का एक ही प्रभावशाली उपाय है और वह है, स्वराज्य की स्थापना।

२८ से ३० जुलाई, सन् १९२१ में बम्बई में कांग्रेस महासमिति की बैठक में असहयोग का बिगुल बज गया और असंख्य व्यक्ति इस आन्दोलन में कूद पड़े। किसान भी इस आन्दोलन में आए। देश-भर में आन्दोलन तेज़ होता जा रहा था। पाँच फ़रवरी, १९२२ को चौरी चौरा-काण्ड हो गया। किसानों के जुलूस पर पुलिस ने गोली चलाई। बाद में उत्तेजित भीड़ ने थाना जला दिया, जिसमें थानेदार और २१ सिपाही जल कर भस्म हो गए। गान्धी जी ने इस आन्दोलन को स्थगित कर दिया। आन्दोलन समाप्त होने पर सन् १९२३ में कांग्रेस में एक बार फिर फूट पड़ी। स्वराज्य पार्टी का निर्माण हुआ और उसने कौंसिलों में जाने का निश्चय किया। सन् १९२५ में कांग्रेस में स्वराज्य-पार्टी इतनी अधिक शक्तिशाली हो गई कि गान्धी जी कांग्रेस का नेतृत्व पं मोतीलाल नेहरू को सौंपने को तैयार हो गए। स्वराज्य पार्टी के दूसरे नेता श्री चितरंजन दास थे। उनका देहान्त १६ जून, १९२५ को हो गया। आन्दोलन के बाद देश-भर में साम्प्रदायिक दंगे अंग्रेज़ी-शासकों की कुचाल से हुए। इनसे जनता में विकसित राष्ट्रीय-भावना को धक्का लगा और एक बार फिर साम्प्रदायिकता का ज़ोर बढ़ गया। सन् १९२६ में सहयोग-वादी कांग्रेस से अलग हो गए। कांग्रेस के अन्दर विचारकों का संघर्ष आरम्भ हो गया। इसी बीच में क्रान्तिकारी आन्दोलन फिर से संगठित किया गया।

आठ नवम्बर, सन् १९२७ को सरकार की ओर से यह घोषणा की गई कि साईमन कमीशन वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में भारत जा कर जाँच करेगा और उसके बाद अपनी रिपोर्ट देगा। इस कमीशन में किसी भी भारतीय को नहीं रखा गया। भारत की सभी राजनीतिक पार्टियों ने इसका विरोध किया। कमीशन ३ फरवरी, सन् १९२८ को बम्बई पहुँचा। इसके आगमन के विरोध में प्रायः सभी नगरों में हड़तालें हुईं। बम्बई में प्रदर्शन ख़ास ज़ोरदार नहीं रहा। मद्रास में प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ बरसाई गईं। लखनऊ में प्रदर्शनकारियों पर लाठी वर्षा की गई। आहतों में पंडित जवाहरलाल नेहरू और पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त भी थे।

केन्द्रीय विधान सभा में लाला लाजपतराय का यह प्रस्ताव पास हो गया कि कमीशन और उसकी योजना विधान-सभा को मान्य नहीं है। १८ मई, को पंडित मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में भारत का विधान बनाने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। सन् १९२८ के कलकत्ते में हुए कांग्रेस-अधिवेशन ने घोषणा की कि यदि नेहरू-समिति द्वारा प्रस्तुत विधान ३१ दिसम्बर, सन् १९२९ तक मान लिया जाएगा तो कांग्रेस उसे स्वीकार कर लेगी। यदि उस तारीख तक यह स्वीकार न हुआ तो कांग्रेस देश को "कर न दो" की सलाह दे कर या अन्य निश्चित तरीक़ों से अहिंसात्मक असहयोग-आन्दोलन संगठित करेगी। सन् १९२९ के कांग्रेस अधिवेशन में पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में ३१ दिसम्बर, सन् १९२९ की रात को १२ बजने के ठीक बाद पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य घोषित किया गया।

कांग्रेस ने २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाने का निश्चय किया। स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा में यह घोषणा की गई थी कि अन्य देशों की भाँति भारतवासियों का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि वे स्वतन्त्रता प्राप्त करें। अन्त में कहा गया था कि यदि हम केवल अपना स्वेच्छापूर्ण सहयोग वापस ले लें और कर देना बन्द कर दें तो इस अमानवीय शासन का

१९५७

अन्त निश्चित है। गाँधी जी ने आन्दोलन की तैयारियाँ शुरू कर दीं और कांग्रेस महासमिति ने गाँधी जी को क़ानून तोड़ने और सविनय अवज्ञा-आन्दोलन चलाने का अधिकार दे दिया। ५ अप्रैल को गाँधी जी डांडी पहुँच गए और ६ अप्रैल को समुद्र-तट पर पड़े नमक को उठा लिया। ६ अप्रैल को देश के अन्य भागों में भी नमक-क़ानून तोड़ा गया। मई, सन् १९३० को गाँधी जी गिरफ़्तार कर यरवदा-जेल भेज दिए गए। गाँधी जी की गिरफ़्तारी के बाद आन्दोलन में तेज़ी आ गई। गुजरात में लगानबन्दी-आन्दोलन को काफ़ी सफलता मिली। इसके प्रान्तों में भी लगानबन्दी-आन्दोलन चलाए गए। पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त में ख़ान अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के नेतृत्व में आन्दोलन बढ़ा। २६ जनवरी, सन् १९३१ को नेतागण रिहा कर दिए गए। १७ फ़रवरी को गाँधी जी और वायसराय में बातचीत चली और २१ सूत्री समझौता हो गया। २७ अगस्त के समझौते के अनुसार गाँधी जी गोलमेज़-सम्मेलन में भाग लेने के लिए इंग्लैण्ड गए। सन् १९३१ में विश्वव्यापी मन्दी के कारण किसानों की दशा शोचनीय हो गई। उत्तर-प्रदेश में लगानबन्दी-आन्दोलन चला। सन् १९३१ के सत्याग्रह ने विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग रूप लिए। गोलमेज़-सम्मेलन की विफलता के बाद गाँधी जी स्वदेश लौटे और उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। देश-भर में ४० हज़ार व्यक्ति जेलों में डाल दिए गए। ७ अप्रैल को गाँधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह भी समाप्त कर दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सन् १९३१ में कराँची-अधिवेशन में कांग्रेस ने मौलिक अधिकार वाला प्रस्ताव पेश किया था। उस समय देश-भर में सरदार भगतसिंह राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दिए जाने की ख़बर सुन कर सब सन्न रह गए थे। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप भारत की राजनीतिक चेतना बड़ी संवेदनशील हो गई थी। विदेशी शासन से मुक्त होने के लिए देश के सभी भागों की जनता अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार हो गई थी।

सन् १९३४ में आन्दोलन समाप्त होने के बाद जो आम चुनाव हुए, उनमें कांग्रेस की आशातीत विजय हुई। आठ राज्यों में कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बने लेकिन द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर स्वराज्य की माँग फिर से दोहराई गई। सन् १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन गाँधी जी ने नैतिक आधार पर किया और सन् १९४२ के आरम्भ में क्रिप्स योजना के विफल होने पर गाँधी जी ने 'अंग्रेज़ो, भारत छोड़ो' का नारा लगाया। पूरा देश आन्दोलित हो उठा। नेहरूजी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि सन् १९४२ में जनता के विद्रोह में भीड़ ने क़रीब एक सौ व्यक्तियों की हत्या की और इसके विरुद्ध सरकार की ओर से चलाई गई गोलियों से १०२८ व्यक्ति मरे और ३२०० घायल हुए। यह संख्या सरकारी रिपोर्ट के आधार पर है, लेकिन जन साधारण का अनुमान है कि २५ हज़ार व्यक्तियों को अंग्रेज़ी पुलिस ने भून डाला था। यह यदि ठीक न हो तो भी १० हज़ार व्यक्ति तो अवश्य ही मरे होंगे।

सन् १९४५ में वायसराय ने कांग्रेस से फिर समझौते की बात-चीत चलाई। लार्ड वेवेल की कार्यकारिणी में कांग्रेस ने अपने प्रतिनिधि भेजे। इसी बीच देश में नौ-सैनिकों का विद्रोह, डाक और रेल कर्मचारियों की हड़ताल तथा आज़ाद हिन्द सेना के अधिकारियों के मुक़दमे से विद्रोह की हिलोर-सी आ गई थी। इंग्लैण्ड में हुए आम चुनाव में मज़दूर दल की जीत हो चुकी थी। मज़दूर दल के तीन मन्त्री भारत आए और भारत के विभाजन की खिचड़ी पका कर चले गए। साम्प्रदायिक तनाव के बढ़ जाने से स्थिति संकटापन्न थी; फलतः विभाजन स्वीकार करना पड़ा और ३ जून, सन् १९४७ को घोषणा कर दी गई कि १५ अगस्त से भारत और पाकिस्तान दो स्वतन्त्र उपनिवेश बन जाएँगे।

इस प्रकार लार्ड कैनिंग का वह कथन दो बार सत्य हुआ कि भारतीय क्षितिज पर बादल का एक टुकड़ा कहीं से आ सकता है और वह पूरे आसमान को घेर सकता है। देश के इतिहास में ९० वर्ष बहुत अधिक नहीं होते। फिर भारत का इतिहास तो ५-७ हज़ार वर्ष का हो चुका है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम जो सन् १८५७ में शुरू हुआ, वह सन् १९४७ में आकर पूरा हुआ, देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई।

—**चन्द्रोदय दीक्षित**

"स्वतन्त्र भारत" दैनिक,
लखनऊ

सभा का वार्षिक खोज-विवरण

सं० २०१३ वि.

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ६४ वर्षों से विभिन्न प्रान्तों में प्राचीन हिन्दी-शोध का काम कराती आ रही है। गत वर्षों की भाँति सभा के खोज-विभागीय निरीक्षक इस वर्ष भी डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी रहे, जिनके अमूल्य समय एवं रुचिपूर्ण सहयोग से विभाग का कार्य बहुत आगे बढ़ा है।

सभा का खोज कार्यालय : जब से हिन्दी राष्ट्र-भाषा घोषित हुई है तब से इस विभाग का उपयोग सहयोग, महत्त्व एवं स्थायी उत्तरदायित्व बहुत बढ़ चला है। इस वर्ष वाराणसी, पटना, जालंधर, नागपुर, आगरा, लखनऊ, बड़ौदा, प्रयाग, सागर, दिल्ली आदि विश्वविद्यालयों से ३७ हिन्दी के शोधक छात्रों ने इस विभाग से विशेष लाभ उठाया। इनके ठहरने आदि की भी व्यवस्था समुचित रूप से रही है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य विद्वान् आकर विभाग से लाभान्वित हुए। विशेष रूप से प्रोफ़ेसर विक्टर वालिन (लेलिनग्राड विश्वविद्यालय, लेनिनग्राड) उल्लेखनीय हैं।

खोज-विभाग में ५ खोजक कार्यरत हैं।

खोज-विवरणों का प्रकाशन : सन् १९३५-३७ ई. के त्रैवार्षिक खोज-विवरण के अतिरिक्त १९३८-४० ई. का त्रैवार्षिक खोज विवरण इस वर्ष छपा है। सन् १९५०-५१ ई. के खोज का प्रकाशन हो रहा है। खोजोपसमिति के ११ विद्वानों के परामर्श से श्री दौलतराम जुयाल (प्रधान साहित्यान्वेषक) खोज रिपोर्टों का प्रूफ़ संशोधनादि काम करते हैं।

सन् १९४१-४३ ई. के त्रैवार्षिक खोज-विवरण के सम्पादक श्रीयुत विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादन कार्य हो चुका है। इसका भी प्रकाशन अगले वर्ष तक हो जाएगा। प्रकाशित खोज-विवरणों से हिन्दी के नए-नए प्राचीन विश्वासों का तथ्यपूर्ण पता लगा है। इस विषय का विवरण देने से अनावश्यक प्रसंग का विस्तार हो जाएगा। इस पर पुनः कभी लिखा जाएगा। प्रकाशित होने वाले खोज-विवरण उत्तर-प्रदेश के कार्य-क्षेत्र के हैं और इनके प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता उत्तर-प्रदेश की सरकार देती है।

मध्य-प्रदेश (रीवा) में खोज-कार्य : गत वर्षा की भाँति इस वर्ष भी रीवा में निरन्तर शोध-कार्य जारी रहा। रीवा शोध-क्षेत्र के परिणाम स्वरूप १७३ अलभ्य एवं महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों के विवरण लिए गए हैं। १६९ बड़े-बड़े ग्रामीण-क्षेत्रों में शोध-यात्राएँ हुईं। इस प्रसंग में सभा ने १९६७ मील का यात्रा व्यय के साथ सवेतन १७५१॥।) व्यय किया।

वर्ष भर में जो विवरण लिए गए उनकी पत्र संख्या २१७१ और श्लोक अनुष्टुप् पृ. संख्या ४१३५६५ हैं। महत्त्व के ग्रन्थों का संख्या सहित विषय विभाजन इस प्रकार है :

भक्ति ८०, पिंगल ३, बारहमासा १, कथा १, युद्ध १२, रस २, कोश ३, नीति ४, चरित ६, रमल ३, वैद्यक १४, गीत १, प्रेमगाथा १, स्वरोदय १, अलंकार ५, शकुन १, ज्योतिष ३, शृंगार ८, धर्मशास्त्र ४, पुराण १, वंशावली ५, राजनीति २, रीति १, धर्मकथा २, ज्ञानोपदेश ८, व्यंग्य १, ध्वनि १, विविध ३।

इसी प्रकार विक्रमीय शताब्दी क्रम से १५ वीं का १ ग्रन्थ और ग्रन्थकार, १६ वीं का १-१, १७ वीं के ६-६, १८ वीं के ४-४, १९ वीं के १९-१९, २० वीं के ४-४ तथा अज्ञात २० ग्रन्थकार और १३८ ग्रन्थ प्राप्त हैं।

हस्तलिखित ग्रन्थों की प्राप्ति : इस वर्ष भी रीवा नगर तथा देहाती क्षेत्रों से सभा संग्रहालय के लिए १३५१ हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ मिली हैं। सभा संग्रहालय में ४बोरियाँ हस्त-लिखित प्रतियाँ बिना सूची बनी पड़ी हैं। प्राप्त ग्रन्थ ऊर्ध्वांकित विषयों के हैं। इनकी भाषा संस्कृत, बंगला, मराठी, बघेली, पूर्वी, अवधी, व्रज, राजस्थानी है। सबसे अधिक संस्कृत के ग्रन्थ मिले हैं। उन संस्कृत ग्रन्थों में नवोपलब्ध रचनाएँ एवं रचयिता पाए गए हैं। इन पर विशद विवेचन करने से अनावश्यक प्रसंग का विस्तार होगा।

हिन्दी के नवोपलब्ध ग्रन्थकारों में बकसीगुरदास,

१६५७

वाराम, हनुमंत, किसुनेसभाट, गर्ग महामुनि, यशोधर मिश्र, तिलोकचन्द कायस्थ, गोप कवि, मान्धाता, मधुनदास, नारायण, दत्तराम, शिवनाथ कायस्थ, किशोर लदास, सीवाराम, रूपसवी, वाल सुकवि, रत्नदास शुक्ल, सवल श्याम सेवक, परमेश्वरीदास, गिरिदास, कवीश्वर, वावासर्न, रसिकचन्द आदि महत्वपूर्ण है।

ग्रन्थदाताओं का विवरण : पं. ढुंढिराज शास्त्री काशीवाले से ४७७० ग्रन्थ, बलरामपन्त दसपुत्र (उपहटी) रीवा से १६६, श्रीमती उर्मिला बनर्जी, देवीघाट, रीवा से १५५, पं. सूरजप्रसाद (उपरहटी) रीवा से १७७, पं. सत्यदेव मन्त्री बाल समिति पुस्तकालय रीवा से ११५, पं. गोकुलनाथ पौराणिक (कोकाघाट) रीवा से ८७; पं. मांडवीशरण वुढ़गवाँ रीवा से ४२, पं. ब्रजेन्द्रनाथ चतुर्वेदी वैद्यनटोला (रीवा) से १३, पं. बद्रीप्रसाद (तरहटी) रीवा से ३७, लाल राजबलीसिंह (बरौं) से ११, पं. राममनोहर तसउवर रीवा से ३१ योगासन के चित्र, लाल गंगा प्रतापसिंह वड़ाइटवां (सतना) से १५, रामभजन गुप्त, मोहनदान गुप्त (रीवा) से २, नर्मदाप्रसाद श्रीवास्तव सतारा (रीवा) से ७; कृष्णवंशसिंह बघेल (रामपुर) सीधी से ५; पं० चंद्रमणिप्रसाद पौराणिक रहटा (रीवा) से २; रामसरन लक्ष्मणबाग (रीवा) से १ राजकवि अंबिकेश खलमा (रीवा) से २ ग्रन्थ प्राप्त।

उत्तर प्रदेशीय खोज-विवरण : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ही की देख-रेख में श्री रामकृष्ण शर्मा मुजफ्फरनगर में शोधकार्यरत हैं। वहाँ से ३६४ ग्रंथों के विवरण लिए गए हैं। उनकी पत्र-संख्या २६०४५ तथा श्लोक संख्या ८७६६६६ है। इनका विषय, भक्ति, धर्म, दर्शन, आध्यात्म, पुराण, कहानी, कर्मकाण्ड, शकुन-विचार, गणित, वैद्यक, वार्ता, ज्योतिष, स्तोत्र, वैराग्य आदि है।

विवृत ग्रन्थों में १६ वीं के २ ग्रंथ और ग्रन्थकार, १७ वीं के ८ ग्रन्थकार एवं १५ ग्रन्थ १८ वीं के २० ग्रंथकार ५१ ग्रंथ, १६ वीं के १७ ग्रंथकार ४५ ग्रन्थ; २० वीं के १२ ग्रन्थकार ४४ ग्रंथ, अज्ञात १३८ रचयिता एवं २३७ रचनाएँ हैं। इनमें सोमकीर्ति का सप्तव्यसन चरित्र १५२६ वि०; छत्त का ब्रह्मगुलाल १६०६ वि०; परिमल्लकृत श्रीपाल चरित्र १६५१ वि०; चरणदास का भक्तिसार १७८१ वि०; सहजावाई कृत-सहजपरगास १८०० वि०; नथमलकृत जीवंधर चरित्र १८३५ वि०; बूलचन्दकृत परदवनचरित्रभाषा १८४३ वि०; बुधजन का, छैढाला १८५६ वि०; भागीरथ की "सौनागरीपचीसी १८६१ वि०" हीरालाल कृत चन्द्रमसुपुराणभाषा १६२५ वि० के लिखे विशेष महत्त्व के हैं।

गतवर्ष की भाँति इस वर्ष भी एक नवान्वेषक (पशुपति नाथ पाण्डे) को विन्ध्य शोध शाखा क्षेत्र पर सामने शोध प्रशिक्षण के लिए भेजा। इस नव शोधक ने एक मास की अवधि में ३८ ग्रंथों का विवरण लिया। कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी ग्रामीण यात्रा और ग्रंथ स्वामियों की ओर से होने वाली कठिनाई का ज्ञान कराया गया।

खोज के निमित्त प्राप्त अनुदान : उत्तर प्रदेश की सरकार ६० वर्षों से खोज के लिए अनुदान देती आ रही है। एतदर्थ सभा को प्रतिवर्ष ५०००) का अनुदान मिलता है। हिन्दी खोज कार्य की सेवाओं से संतुष्ट हो कर उत्तर प्रदेश की सरकार ने ५०००) की वार्षिक स्थायी सहायता देना गत-वर्ष स्वीकार किया है। परिणामतः कई साहित्यान्वेषक उत्तर प्रदेश में कार्य कर रहे हैं। इसके अलावा खोज में प्राप्त सामग्री की छपाई के लिए वही सरकार अलग से १००००) की सहायता के बाद पुनः ७०००) गत वर्ष मिला है। इस सहायता से सन् १६३५ ३६, ३७ ई० तथा १६३८, ३६ ४० ई० की त्रैवार्षिक खोज रिपोर्टें सभा से छप गई हैं। आगे की छपाई का काम चालू है। उत्तर-प्रदेश की व्यापकता को ध्यान में रख कर सरकार और भी सहायता देने पर विचार करने वाली है। तदर्थ सभा से प्रार्थना की जा चुकी है।

अन्य प्रान्तों में खोज के लिए सभा ने विचार किया। भारत सरकार से ४१०००) की माँग की गई। दिल्ली सरकार ने इस कार्य को प्रारम्भ करने के लिए २५०००) देना स्वीकार किया है। ५०००) प्रतिवर्ष खोज के लिए मिलेगा। इस प्राप्त निधि से सभा-संग्रहालय में सुरक्षित एवं मूल्यवान हस्तलिखित ग्रन्थों की जिल्द बन्दी-फ़ोटो आदि पर व्यव होगा।

विन्ध्य-प्रदेश (रीवा) में सन् ५५ ई० से खोज का काम जारी है। विन्ध्य सरकार की ओर से १०००) प्रति वर्ष मिलता रहा। विंध्य-प्रादेशिक मन्त्रीमण्डल में हेर-फेर का वातावरण निरन्तर बना रहा। राजनैतिक परिवर्तनों की दशा में सभा ने अनुदान के लिए कई बार स्मरण दिलाया। देखते देखते विंध्य का विलय मध्य-

प्रदेश में हो गया। इन कारणों से अनुदान मिलना बन्द है। विंध्य की उत्तराधिकारीणी मध्य-प्रदेश की सरकार का ध्यान दिलाया गया है। अभी तक इस सरकार से कोई निश्चयात्मक आदेश नहीं मिला है। सभा का विचार है कि मध्य-प्रदेश सरकार का जब तक कोई निर्णय नहीं आता तब तक विंध्य-प्रदेश (रीवा) में खोज-कार्य जारी रहेगा। संप्रति रीवा-खोज की व्यय-व्यवस्था दिल्ली से प्राप्त ५०००) के अनुदान से हो रही है।

छात्रावास—बेसिक ट्रेनिङ्ग कालेज,
उपरहटी, (रीवा) विंध्यप्रदेश

—रघुनाथ शास्त्री

गुजराती की आधुनिक कहावतें

(१) होटल नुं जमण,
ने सेनेटोरियम नुं मरण
होटल में खाना और सेनेटोरियम में मरना

(२) चोर कई विजिटिंग कार्ड छापे ?
क्या चोर भी कभी विजिटिंग कार्ड छापता है !

(३) घर मा हजूर,
ने बाहर मजूर
घर में राजा और बाहर मज़दूर

(४) ग़रीब नो दीकरो मांदो न पड़त, तो मौसम्बी क्यारे खात ?
ग़रीब का बच्चा यदि बीमार न पड़ता तो उसे
मौसम्बी कब खाने को मिलती ?

(५) गद्दो मस्तान थाय तो धूल मांज आलोटे
गधा मस्त होता है तो धूल में ही लोटता है

(६) नाटक ना देव ने पूठा नो मुगट
नाटक के देवता को गत्ते का मुकुट

(७) क्रिया पद पोते तो निष्क्रिय होय छे
क्रिया पद स्वयं निष्क्रिय होता है

(८) नीची नजरे हवेली न देखाय
नीची नज़रों से हवेली नहीं देखी जाती

गुजराती 'कुमार' से

संग्रह : रतिलाल 'अनिल'
हिन्दी : ललिता देवी

१८५७ की क्रान्ति के इतिहास का विपर्यास

[अंग्रेजों की मानसिक गुलामी, हमारे ये विद्वान् बादशाह का सन्देश, लक्ष्मी बाई की घोषणा, धर्म व देशभक्ति, सांप्रदायिकता का जहर, अंग्रेजों के क्रूर और नृशंस अत्याचार, जनता और सेना]

यह कोई गौरव की बात नहीं है कि हम १८५७ की राज्य क्रान्ति का शताब्दि समारोह उसका प्रामाणिक इतिहास तैयार किए बिना ही मना रहे हैं। यह तो अत्यन्त लज्जा का विषय है कि उसके लिए १९५२ में केन्द्रीय शिक्षा विभाग द्वारा नियुक्त की गई समिति आपसी मतभेद के कारण भंग कर दी गई और सारा काम बीच में ही ठप्प हो गया। शासन की ओर से उसके भंग होने का कोई कारण बताया नहीं गया है। कहा यह जाता है कि दो वर्षों की कोशिशों के बाद इतिहास के पहले भाग का जो मसविदा तैयार किया गया, वह किसी को पसन्द नहीं आया और आगे का काम बन्द कर दिया गया। योजना तो यह थी कि १८५७ के बाद से आज तक के सौ वर्ष के स्वतन्त्रता संग्राम का विस्तृत इतिहास तैयार किया जाय। प्रत्येक राज्य में और केन्द्र में भी उसके लिए समितियों का गठन किया गया था। उन समितियों की ओर से कुछ राज्यों में तो काम किया गया; किन्तु अनेक राज्यों और केन्द्र में भी जो समितियाँ नियुक्त की गई, उनका आधार विशुद्ध शासकीय रखा गया। इस कारण उनमें वे लोग भी ले लिए गए जो इतिहास के विद्वान् और शासन के अनुभवी तो थे, किन्तु उनमें देशभक्ति की वह भावना नहीं थी जो ऐसा इतिहास लिखने के लिए आवश्यक है। देश भक्ति की भावना से रहित व्यक्ति कितने भी विद्वान् अथवा योग्य क्यों न हों, १८५७ की राज्य क्रान्ति अथवा गत सौ वर्षों के स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास लिख ही नहीं सकते थे। इन सरकारी समितियों में सूचना विभाग के संचालक और पुलिस विभाग के इन्स्पेक्टर जनरल तक रखे गए थे। परिणाम यह हुआ कि बचत करने के इन दिनों में भी उन कमेटियों पर लाखों रुपए खर्च हो गए और काम कोड़ियों का भी नहीं हुआ।

हमारे यह विद्वान् : स्वामी विवेकानन्द के वयोवृद्ध भाई डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त ने अपने बाल देश भक्ति में पका दिए हैं और हिंसात्मक क्रान्ति की प्रवृत्तियों में विदेशों तथा जेलों की भी खाक छानी है। उन्होंने बिलकुल ठीक लिखा है कि हमारे अंग्रेज़ी पढ़े लिखे योग्य से योग्य व्यक्तियों ने अंग्रेज़ी राज के दिनों में शासकों को प्रसन्न करने के लिए अपने इतिहास, साहित्य ज्ञान-विज्ञान तथा संस्कृति आदि के सम्बन्ध में कुछ धारणाएँ बनाई थीं, परन्तु बाद में वे उनके स्वभाव का ऐसा अंग बन गई कि अंग्रेज़ों के यहाँ से जाने के बाद भी उनको उनमें परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। अपितु वे उनको और भी अधिक दावे के साथ पेश करने लग गए हैं। १८५७ की राज्य क्रान्ति के इतिहास के सम्बन्ध में उनका यह कथन बिल्कुल ठीक बैठता है।

इतिहास के ऐसे विद्वान् शासकीय नौकरी में रहते हुए भी शासन की अभिलाषा तथा राष्ट्र की आकांक्षा के प्रतिकूल जाने में कोई संकोच नहीं करते। शासन की ओर से आयोजित इतिहास सम्मेलनों में भी राष्ट्र विरोधी विचार प्रकट किए जाते हैं। १८५७ की चर्चा भी उन में पिछले कई वर्षों से अत्यन्त विकृत रूप में अंग्रेज़ों के पुराने स्वर को अलापते हुए की गई है। दुःख यह है कि कुछ वर्ष पहले हमारे शिक्षा-मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने भी कुछ ऐसे ही विचार प्रकट किए थे। अब डा० एस. एन. सेन और डा० आर. सी. मजूमदार की दो पुस्तकें १८५७ के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई हैं। दोनों ही १८५७ की दृष्टि से हमारे स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान को एक चुनौती है। दोनों सज्जन शासकीय समिति के सदस्य थे। दोनों अंग्रेज़ी राज के दिनों के इतिहास के पहले दरजे के विद्वान् हैं और उन्होंने अपनी सारी आयु इतिहास की

छान-बीन में बिताई है। परन्तु आज़ादी के १० वर्ष बीत जाने के बाद भी वे अंग्रेज़ी राज के दिनों का चश्मा उतारने को तैयार नहीं है। डा० सेन की पुस्तक सरकार ने प्रकाशित की है। मौलाना आज़ाद ने उसकी भूमिका लिखी है। १५ अगस्त को उसका हिन्दी अनुवाद भी सरकार की ओर से प्रकाशित किया जा रहा है। गत १० मई को यह पुस्तक राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति को एक सरकारी समारोह में अर्पित की गई है। इतनी ग़नीमत है कि मौलाना साहब ने भूमिका में यह लिख दिया है कि डा० सेन के नतीजे निजी हैं। उनको भारत सरकार की राय न समझा जाए। लेकिन, पुस्तक को देखने के बाद उसको सरकार की ओर से इतना अधिक महत्त्व देने का अभिप्राय समझ में आना कठिन है।

डा० सेन ने १८५७ के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष प्रकट किए हैं, वे संक्षेप में निम्न लिखित हैं :

(१) इसमें सन्देह नहीं कि १८५७ के प्रयत्नों में हिस्सा लेने वालों में देशभक्ति की भावना थी, परन्तु वह इतनी दृढ़ नहीं थी कि वे प्रयत्न सफल हो सकते। जनता को उस क्रान्ति के लिए तैयार करने के लिए धार्मिक भावनाओं को उभारना आवश्यक हो गया था।

(२) यह पूरे और पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि कोई प्रमाण ऐसा नहीं मिलता, जिससे यह कहा जा सके कि उसके लिए पहले से ही पूरी तैयारी कर ली गई थी अथवा कम्पनी राज के विरुद्ध जनता और भारतीय सैनिकों में किसी प्रकार का षड्यन्त्र अथवा संगठन किया गया था।

(३) उसके नेताओं में परस्पर कोई एकता और मेल नहीं था। एक दूसरे के प्रति ईर्षा थी और एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयत्न भी जारी थे।

(४) तात्या टोपे और मौलवी अहमद उल्ला के सिवाय अन्य नेता व्यक्तिगत स्वार्थ तथा भावना से उसमें सम्मिलित हुए थे। अपने साथ कोई ज़्यादती होने पर ही वे उसमें सम्मिलित हुए।

(५) देश-भक्तों ने निरपराध लोगों की हत्या की और अंग्रेज भी कुछ बेहतर साबित नहीं हुए।

डा० मजूमदार ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे और भी अधिक भयानक हैं। उन्होंने यह भी मान लिया है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार बाज़ाप्ता क़ानूनी सरकार थी; इस लिए उसके सिपाहियों को बग़ावत के कारण बाग़ी ही कहा जाएगा देश भक्त नहीं। १८५७ के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों ने जो मिथ्या प्रचार किया है, एक वाक्य में यही उसका सार है और डा० मजूमदार-सरीखों ने उसको "ऐतिहासिक तथ्य" मान लिया है। वे जिन अन्य निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, वे निम्न लिखित हैं :

(१) १८५७ असन्तुष्ट सिपाहियों का विद्रोह था।

(२) १८५७ में स्वतन्त्रता संग्राम जैसा कोई सवाल न था।

(३) वह स्वार्थी सामन्तों का एक ग़दर था।

(४) उसको किसी भी रूप में जन-क्रान्ति नहीं कहा जा सकता।

(५) शहंशाह बहादुर शाह में कोई देश भक्ति न थी, उन्होंने अपने सामन्ती साथियों के साथ दग़ा करके अपने को अंग्रेज़ों के सुपुर्द कर दिया था।

(६) झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई को देश भक्त नहीं कहा जा सकता। वे अपने गोद लिए लड़के को जायज़ ठहराने और झाँसी राज को वापस लेने के लिए ग़दर में शामिल हुई थीं।

(७) नाना साहब धुन्धुपन्त अपनी ८ लाख की पेन्शन के लिए बाग़ियों के साथ हुए। वे देश भक्त नहीं, अवसरवादी थे।

(८) जगदीशपुर के राजा कुँअर सिंह ने जो क़र्ज़ लिया था, उसको न चुकाने के लिए बाग़ियों का साथ दिया।

इस प्रकार डॉ० मजूमदार किसी को भी देश-भक्त नहीं मानते। वे दो तीन वर्षों से इसी प्रकार का प्रचार करने में लगे हैं। जब से जनता और सरकार ने शताब्दी-समारोह मनाने का निश्चय किया है, तब से उन्होंने एक बग़ावत ही कर दी है और उनकी यह पुस्तक उसी बग़ावत का परिणाम है।

अंग्रेज़ों की मानसिक गुलामी : दोनों डाक्टरों के इन मुद्दों पर विस्तार से विचार करने का यह स्थान नहीं है। संक्षेप में इन पर विचार करते हुए हम केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि दोनों इतिहासकार अंग्रेज़ों की मानसिक गुलामी के शिकार हो कर उनके मिथ्या प्रचार के लिए ग्रामोफ़ोन का काम कर रहे हैं। यह कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सारे भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का न्यायोचित अधि-

१८५७

हार हो चुका था। दिल्ली के तख़्त पर बहादुरशाह सम्राट् के रूप में विद्यमान नहीं थे। भारतीय सेनाएँ सम्राट् की सेनाएँ नहीं थीं, अपितु कम्पनी की सेनाएँ थीं और उनको कम्पनी के विरुद्ध तलवार उठाने का अधिकार नहीं था। संसार का कोई भी धर्म शास्त्र, नीतिशास्त्र अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधान ऐसा नहीं है जो डॉ० मजूमदार के कथन का समर्थन करता हो। संसार की जितनी भी क्रान्तियाँ हुई हैं, वे सब प्रायः सेना के माध्यम से ही हुई हैं। टर्की, रूस, चीन और मिश्र आदि की आधुनिक क्रान्तियों का आधार सेना है। नेता जी सुभाष बोस की आज़ाद हिन्द क्रान्ति का मुख्य आधार सेना ही थी। इंग्लैण्ड के इतिहास में भी ऐसे कितने ही प्रसंग आते हैं, जिनमें सेना का मुख्य भाग रहा है। जब तक शासन में सेना का प्रमुख भाग रहा है। जब तक शासन में सेना का प्रमुख भाग रहेगा, तब तक क्रान्ति में भी उसका प्रमुख हाथ होना स्वाभाविक है। अंग्रेज़ों ने षड्यन्त्र, विश्वासघात, बेईमानी और बग़ावत का सहारा लेकर इस देश पर जो बलात् अधिकार किया वह तो डॉ० साहब की सम्मति में न्यायोचित था और सेनाओं की देशभक्ति बग़ावत थी। उनका देश भक्ति से प्रेरित होकर विद्रोह करने का अधिकार केवल इसलिए नहीं छीना जाता क्योंकि अंग्रेज़ों ने लोभ, लालच, रिश्वत, विश्वासघात तथा षड्यन्त्र करके देश के बड़े भाग में अपनी हुकूमत क़ायम कर दी थी। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार भी अंग्रेज़ पहली श्रेणी के अपराधी और भारतीय सेनाएँ पहली श्रेणी की देशभक्त मानी जाएँगी।

दिल्ली की बादशाहत : दिल्ली की बादशाहत पर अंग्रेज़ों का नहीं बहादुरशाह का आधकार था। इसके समर्थन में अनेक प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं और अधिकांश अंग्रेज़ लेखकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। यहाँ हम उस समय के गवर्नर जनरल का दिल्ली के रेज़ीडेण्ट को लिखा गया केवल एक गुप्त पत्र उद्धृत कर रहे हैं। यह १८५६ में लिखा गया था। उसमें कहा गया था कि "शहंशाह की शान और दब-दबे की बहुत-सी अलामतें कम हो चुकी हैं। अब ऐसा मालूम होता है कि शहंशाह बहादुरशाह के मरने के बाद क़लम के एक डोबे में बादशाही को ख़त्म कर देना कुछ मुश्किल न होगा। शहंशाह का ख़िराज और नज़रें हम धीरे-धीरे बन्द कर रहे हैं। बादशाह के नाम से कम्पनी का जो सिक्का ढाला जाता था, वह हमने बन्द कर दिया। गवर्नर जनरल की मोहर में जो "बादशाह के फ़िदविए ख़ास" शब्द रहते थे, वे भी हमने इस बार निकाल दिए। अब सिर्फ़ मुग़ल शहंशाह की शहंशाहियत का ख़िताब रह गया है। जिसे बहादुरशाह की मौत के बाद ख़त्म करना हमारे लिए इतना मुश्किल न रहेगा।" इस एक ही उदाहरण से जहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि दिल्ली की भारतीय बादशाहत अभी ख़त्म न हुई थी, वहाँ वे साज़िशें, फ़रेब, बेईमानियाँ और हरकतें भी साफ़ ज़ाहिर हो जाती हैं, जिनसे उन दिनों में काम लिया जा रहा था।

इस षड्यन्त्र के विरुद्ध देश के सभी माण्डलिक राजा जैसे—पेशवा, अवध और मध्यभारत के शासक क्रुद्ध होकर दग़ाबाज़ी और ग़द्दारी के लिए अंग्रेज़ों को सज़ा देने के लिए उपाय सोचने लगे। सच यह है कि बहादुरशाह भारत का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सम्राट् था और उसके साम्राज्य को सर्वथा ग़ैर क़ानूनी तरीक़ों से लूटा खसोटा जा रहा था। कम्पनी की फ़ौजें भी गवर्नर जनरल की न मानी जाकर बादशाह की मानी जाती थीं और बादशाह के ही नाम से उनको वेतन बाँटा जाता था। पेशवा नाना साहब, रानी लक्ष्मी बाई, अवध की बेगम हजरत महल, सतारा के राजा और जगदीशपुर के राजा कुँअर सिंह आदि सब बादशाह के नाम सलामी दिया करते थे। धोखा, बेईमानी, षड्यन्त्र, लोभ, लालच और रिश्वत आदि का जो बाज़ार सम्राट् बहादुरशाह के विरुद्ध गरम किया जा रहा था, उसी से सारे देश में काम लिया गया और कितने ही राजाओं के राज्य इसी प्रकार हड़प लिए गए थे। इस सारे रोष, असन्तोष और विरोध का स्वाभाविक परिणाम १८५७ की राज्य-क्रान्ति थी।

निजी स्वार्थ का कमीना आरोप : सम्राट् बहादुरशाह, रानी लक्ष्मी बाई, नाना साहब पेशवा तथा राजा कुँअरसिंह आदि पर यह आक्षेप लगाना कि उन्होंने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ से उसमें भाग लिया था, सरासर सत्य की हत्या है। सम्राट् ने देसी नरेशों के नाम जो सन्देश जारी किया था और पंजाब के सिख राजाओं के पास जो सन्देश भिजवाया था, उनसे प्रकट है कि उस क्रान्ति से वे अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ पूरा नहीं

करना चाहते थे। अपने सन्देश में उन्होंने लिख था कि :

"मेरी यह दिली तमन्ना है कि जिस ज़रिए और जिस क़ीमत पर भी हो, फिरंगियों को हिन्दोस्तान से बाहर कर दिया जाए। मेरी यह जबरदस्त ख़्वाहिश है कि तमाम हिन्दुस्तान को फिरंगियों से आज़ाद कराया जाए। लेकिन इस मक़सद को हासिल करने के लिए जो इन्क़लाबी जंग शुरू कर दी गई है, वह उस वक़्त तक कामयाब नहीं हो सकती, जिस वक़्त तक कोई ऐसा शख़्स, जो इस तमाम तहरीक के बोझ को अपने ऊपर उठा सके, जो क़ौम की मुख़्तालिफ़ ताक़तों को एक धागे में पिरो कर अपने को तमाम क़ौम का नुमाइन्दा कह सके, मैदान में आकर इस अज़ीम 'उश्शान कोशिश की बागडोर अपने हाथों में न ले ले। अपने पाक वतन से फिरंगियों को निकाल देने के बाद मुग़ल ख़ानदान के जाती फ़ायदे के लिए हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने की मेरी ज़रा सी ख़्वाहिश नहीं है। अगर मेरे सब सरदार दुश्मन को निकालने की ग़रज़ से अपनी तलवार खींचने के लिए तैयार हों तो मैं इसके लिए राज़ी हूँ कि हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने के अपने ख़ानदान के तमाम शाही अख़्तियारात और पुश्तैनी हकूक़ अपने सरदारों की एक ऐसी कौंसिल के हाथ सौंप दूँ, जो इस काम के लिए चुनी जाए। मैंने बीस बरस तक हिन्दुस्तान की शहंशाहियत की और अब कोई ज़ाती ख़्वाहिश मेरे दिल में बाक़ी नहीं रही।"

सम्राट् के इस सन्देश को सर मेटकाफ़ ने अपनी पुस्तक 'नेटिव नरेटिव' में उद्धृत किया है। अंग्रेज़ों ने दिल्ली में अपनी हुकूमत को न्याय और वैध सिद्ध करने के लिए ही सम्राट् को बाग़ी ठहरा कर उन पर बग़ावत करने का लालकिले में मुक़द्दमा चलाया था और सम्राट् ने उनको अपने पर मुक़द्दमा चलाने का अधिकारी न मानते हुए, उसमें कोई हिस्सा लेने से साफ़ इन्कार कर दिया था। उसमें दिया गया जो बयान उनके नाम से प्रसिद्ध किया गया है, वह भी सरासर जाली है। अचरज है कि हमारे इतिहासकार अंग्रेज़ों की इस जालसाज़ी के चक्कर में पड़ कर मिथ्या को सत्य मान बैठे हैं और अपने गौरवपूर्ण इतिहास पर हरताल फेरने में भी उनको कोई संकोच नहीं है। इसी प्रकार रानी लक्ष्मीबाई ने यह ऐलान किया था कि :

"अपने महान् देश को विदेशियों के पंजे से छुटकारा दिलाने के लिए दसियों झाँसी कुरबान हैं। मैं अपने लिए नहीं, अपने बेटे के लिए नहीं, झाँसी के लिए नहीं, पूरे हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए इस पाक इन्क़लाबी जंग में शामिल हुई हूँ।" सर जान ने जो गुप्त काग़ज़ात १८५७ के सम्बन्ध में प्रकाशित किए हैं, उनमें रानी का यह घोषणा-पत्र भी दिया गया है।

इस घोषणा को पढ़ने और सारी घटनाओं को देखने के बाद रानी लक्ष्मीबाई पर किसी स्वार्थ-साधन का आरोप लगाना सत्य के सर्वथा विपरीत है। झाँसी क्रान्तिकारियों का एक बड़ा केन्द्र बन गया था। सर ह्यू रोज को उस पर आक्रमण करने के लिए एक बड़ी सेना के साथ महु से भेजा गया था। इसमें भोपाल और निज़ाम की सेनाएँ भी शामिल थीं। दूसरी सेना जबलपुर से भी भेजी गई थी। झाँसी के बाद दूसरी और तीसरी लड़ाइयाँ कालपी के समीप और ग्वालियर में हुई। इन दोनों लड़ाइयों में भी रानी लक्ष्मीबाई ने अद्भुत वीरता का परिचय दिया था और ग्वालियर की लड़ाई में ही वह शहीद हुई थी। अंग्रेज़ इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है कि रानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे ने ग्वालियर को हस्तगत करके सारे ही दक्षिण-भारत के लिए एक बहुत बड़ा ख़तरा पैदा कर दिया था। इसी कारण उस पर अंग्रेज़-सेनाओं ने चारों ओर से घेरा डाल कर आक्रमण किया था। इस सारी वीरता पर परदा डाल कर रानी लक्ष्मीबाई पर स्वार्थ-साधन करने का आरोप लगाना स्वार्थी अंग्रेज़ों के हाथों में खेलना है।

यहाँ यह भी भुलाया नहीं जा सकता कि १८५७ के सब नेता यदि कोई निजी स्वार्थ ही पूरा करना चाहते थे, तो उसके लिए बग़ावत की अपेक्षा खुशामद का रास्ता अधिक आसान था। उसके लिए जान पर खेलने का ख़तरा उठाने की ऐसी कोई आवश्यकता नहीं थी। उन वीर देशभक्तों के शानदार बलिदान को भुला कर उन पर कमीने आक्षेप करना न्याय और सचाई का गला घोटना है।

योजना और संगठन : यह भी कहा जाता है कि १८५७ के पीछे कोई योजना अथवा संगठन नहीं था। इस आक्षेप की परीक्षा भी अंग्रेज़ इतिहासकारों के ग्रन्थों से की जा सकती है। तत्कालीन वायसराय लार्ड केनिंग के खरीतों में यह स्वीकार किया गया था कि

१८५७

देश-व्यापी विद्रोह के पीछे राष्ट्रीय भावना विद्यमान थी। १६०८ में १८५७ के सम्बन्ध में जो सरकारी कागज़ प्रकाशित किए गए थे, उनके आधार पर लिखे ग्रन्थों में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक सर जान के ने लिखा है : महीनों से बल्कि वर्षों से ये लोग अपनी साज़िशों का जाल फैला रहे थे। नाना साहब के दूत पत्र लेकर देशी राज्यों तथा भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम चुके थे। इन पत्रों में होशियारी के साथ और अस्पष्ट रहस्यपूर्ण शब्दों में भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न धर्म के नरेशों और सरदारों को सलाह दी गई थी और निमंत्रित किया गया था कि आप लोग आगामी युद्ध में भाग लें।' इसी प्रकार एक दूसरा अंग्रेज़ लेखक लिखता है : 'जिस आश्चर्यजनक गुप्त ढंग से यह समस्त षड्यन्त्र चलाया गया, जितनी दूरदर्शिता के साथ योजनाएँ बनाई गईं, जिस सावधानी के साथ इस संगठन के विविध समूह एक दूसरे के साथ काम करते थे, एक समूह का दूसरे समूह के साथ सम्बन्ध रखने वालों का किसी को पता न चलता था और उन लोगों को केवल उतनी ही सूचना दी जाती थी, जितनी उनके कार्य के लिए आवश्यक होती थी। इन सब बातों को बयान कर सकना कठिन है और ये लोग एक दूसरे के साथ आश्चर्यजनक वफ़ादारी का व्यवहार करते थे।'' ऐसे कितने ही प्रमाण और भी दिए जा सकते हैं। प्लासी के युद्ध की शताब्दी २३ जून, १८५७ को पूरी हो रही थी। भारतीय सैनिकों के मुँह से यह प्रायः सुना जाता था कि प्लासी का बदला लिया जाएगा और उन दिनों के मई, जून के भारतीय पत्रों में यह भविष्यवाणी भी की गई थी कि प्लासी के सौ वर्ष पूरे होने पर भारत में अंग्रेज़ी राज का ख़ात्मा कर दिया जाएगा। साधुओं और फ़कीरों के वेश में हज़ारों लोग घर-घर इस क्रान्ति का सन्देश पहुँचाने के लिए शहरों और गाँवों में घूम रहे थे। नाना साहब के वकील अज़ीमुल्ला और सितारा के राजा के वकील रंगोना बापू ने लन्दन में बैठ कर इस क्रान्ति की विस्तृत योजना बनाई थी और अज़ीमुल्ला ने उसके लिए सहानुभूति प्राप्त करने को यूरोप का विस्तृत दौरा किया था। वे इसी उद्देश्य से रूस भी गए थे। गैरीबाल्डी अपनी सेनाओं सहित भारत पहुँचने की तैयारी कर चुका था। परन्तु रवाना होने से ठीक पहले उसको क्रान्ति के कुचल दिए जाने का समाचार मिल गया। उन दिनों के यूरोप के विभिन्न देशों के समाचार पत्रों की फ़ाइलें भी यह प्रमाणित करती हैं कि यह क्रान्ति कैसी व्यापक योजनाबद्ध और सुसंगठित थी। कोई भी क्रान्ति-योजना संगठन के अभाव में असफल भले ही हो जाए परन्तु उसके कारण उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। भले ही चर्बी के कारतूसों की कहानी ठीक न मानी जाए, गाँव-गाँव में समृद्धि की प्रतीक चपातियों तथा छावनियों में पवित्रता के चिन्ह कमल के फूल का घुमाया जाना भी मिथ्या क्यों न बताया जाए, नाना साहब पेशवा के प्रयत्नों तथा धर्म-यात्रा के नाम से किए गए संगठन को भी असत्य मान लिया जाए, भारतीय सैनिकों की वीरता एवं देश-भक्ति पर भी पर्दा डाल दिया जाए और समस्त नेताओं को भी स्वार्थी ठहरा दिया जाए, किन्तु अंग्रेज़-लेखकों तथा इतिहासकारों की स्वीकारोक्तियों को मिथ्या, कपोल-कल्पित तथा अप्रमाणित नहीं बताया जा सकता।

देश-भक्ति और धर्म : यह कहना कि देश भक्ति की भावना के अभाव में लोगों की धार्मिक भावनाओं को उभारा गया था, उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे की कहावत चरितार्थ करता है। पश्चिम के राष्ट्रों की साम्राज्य विस्तार की राक्षसी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के साधनों में 'बाइबिल' अथवा ईसाई धर्म के प्रचार को प्रमुख माना गया है। ईसाई पादरियों से अंग्रेज़ों ने भारत में भी सफ़रमैना का काम लिया था। सेनाओं के साथ-साथ ईसाई पादरियों के गिरोह रहते थे और 'बयोनेट' अर्थात् गोली के साथ 'बाइबिल' भी चलती थी। निस्सन्देह १८५७ की राज्य क्रान्ति के उद्देश्यों में एक बड़ा उद्देश्य ईसाइयत के प्रचार का अन्त करना था। इस देश में कुछ ऐसे लोग अवश्य पैदा हो गए थे जो ईसाई धर्म के प्रचार, अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार और अंग्रेज़ी राज के विस्तार में ही अपने देश का कल्याण मानने लग गए थे। परन्तु ऐसे लोग किस देश में, किस काल में और किस विदेशी हुकूमत में पैदा नहीं होते। उनके कारण किसी भी देश की समूची जनता के बारे में कोई भी सम्मति क़ायम नहीं की जा सकती। डा० मजूमदार और डा० सेन सरीखे इतिहासकारों ने ऐसे लोगों को ही प्रमुखता दी है। यहाँ इन घटनाओं के

विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है, जिनसे यह प्रकट होता है कि अंग्रेज-शासक और सेना के बड़े-बड़े अधिकारी भी लोगों को ईसाई बनाने के लिए धर्म-भ्रष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझते थे और १८५७ की राज्य-क्रान्ति के दिनों में बदला लेने की भावना से भी लोगों को धर्म-भ्रष्ट किया जाता था। अम्बाला की छावनी से दिल्ली पर जब चढ़ाई की गई, तब रास्ते में सैकड़ों गाँवों के हज़ारों लोगों को फाँसी पर लटकाने से पहले उनके मुँह में बलात् गोमांस ठूँस कर केवल इस लिए धर्म-भ्रष्ट किया जाता था कि मरने के बाद भी वे अपने विश्वास के अनुसार सद्गति प्राप्त न कर सकें। सेना के साथ के एक अंग्रेज-अफ़सर ने इस क्रूरकाण्ड के सम्बन्ध में लिखा है : "अम्बाले से दिल्ली तक मार्ग की जनता पर अंग्रेजी-सत्ता का दबदबा फिर से क़ायम करने के लिए सैकड़ों ग्रामों में हज़ारों ही निर्दोष ग्राम-निवासी अत्यन्त तीव्र यातनाएँ देकर मार डाले गए। उनके सरों पर से एक-एक बाल नोचा जाता था, उनके शरीरों को संगीनों से बींधा जाता था और अन्त में भालों और संगीनों के ज़रिए उन हिन्दू-ग्राम-निवासियों के मुँह में गाय का मांस ठूँस दिया जाता था। उनकी आँखों के सामने फाँसियाँ तैयार कर के उनको अधमरी अवस्था में उन पर लटका दिया जाता था।"

कानपुर के समीप बीबीगढ़ में सवा सौ अंग्रेज़ स्त्री-बच्चों के क़तल किए जाने की घटना क्रान्तिकारियों के अत्यन्त रोमांचकारी और हृदयहीन अत्याचारों के रूप में प्रस्तुत की जाती है। कलकत्ता की कपोल कल्पित काल कोठरी की कहानी की तरह बीबीगढ़ के हत्याकाण्ड और कुएँ में लाशें भरने की कहानी भी अनेक अंग्रेज़-लेखकों के अनुसार सर्वथा कपोल-कल्पित है। पार्लियामेंट के एक सदस्य लेयार्ड इन अत्याचारों की छानबीन करने के लिए ही इंगलैण्ड से भारत आए थे। वे लिखते हैं : 'निहायत ग़ौर के साथ जाँच पड़ताल करने के बाद, अच्छे-से-अच्छे और सब से अधिक विश्वसनीय ज़रियों से जो सूचनाएँ मुझे मिली हैं, उनसे मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि जो अनेक भयंकर अत्याचार कहे जाते हैं : देहली, कानपुर, झाँसी तथा अन्य स्थानों पर अंग्रेज़-स्त्रियों और बच्चों पर किए गए, वे प्रायः एक एक कर सब के सब कल्पित हैं, जिन के गढ़ने वालों को लज्जा आनी चाहिए।" परन्तु आज भारतीय इतिहासकारों को उनको सत्य मानने में लज्जा अनुभव नहीं होती। जनरल नील, जनरल हैवलाक, जनरल ऐनसन, जनरल बरनार्ड इत्यादि ने हज़ारों गाँवों और बस्तियों को आग की भेंट कर निर्दोष-ग्राम-वासी स्त्री, पुरुषों और बच्चों की निर्दयता-पूर्वक जो हत्याएँ कीं, उनको कोई मन गढ़न्त नहीं बतला सकता। तोपों के मुँह पर निरीह-लोगों को बाँध कर गोलों से उड़ाया जाना पाशविकता की पराकाष्ठा थी।

बीबीगढ़ काण्ड की एक क्रूर घटना देकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। इतिहासकारों ने लिखा है : "सबसे पहले गोरे और सिख सिपाहियों ने नगर लूटा, फिर फाँसियों का बाज़ार गरम हुआ। ज़मीन पर खून का एक बड़ा धब्बा था। सन्देह था कि वह गोरी मेमों और बच्चों के खून का है। शहर से अनेक ब्राह्मणों को लाकर उसको जीभ से चाटने और झाड़ू देकर साफ़ करने को लाचार किया गया। बाद में उनको फाँसी दे दी गई। इस अनोखे दण्ड का कारण एक अंग्रेज़ अफ़सर ने यह बताया है : "जब तक उनको फाँसी देने से पहले उनके समस्त धार्मिक भावों को पैरों तले न कुचल लेंगे, तब तक हम पूरा बदला नहीं ले सकेंगे, ताकि उनको यह सन्तोष न हो सके कि हम हिन्दू-धर्म पर क़ायम रहते हुए मरे।"

दिल्ली में भी मारने से पहले धर्मभ्रष्ट करने का सिलसिला शुरू किया गया था। एक अंग्रेज़ पादरी की विधवा ने लिखा है : "बहुत-से लोगों को पकड़ कर पहले उनसे संगीनों के बल गिरजे में झाड़ू लगवाई गई और बाद में सबको फाँसी दे दी गई।"

रसल लिखता है : 'कभी-कभी मुसलमानों को मारने से पहले उन्हें सूअर की खालों में-सी दिया जाता था, उन पर सूअर की चरबी मल दी जाती थी। फिर उनके शरीर जला दिए जाते थे। हिन्दुओं को भी ज़बरदस्ती धर्मभ्रष्ट किया जाता था। दिल्ली के 'पयामे-आज़ादी' पत्र के सम्पादक को सूअर की चरबी में लपेट कर फाँसी पर लटकाया गया था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टर बोर्ड के चेयरमैन श्री मैंगल्स ने इंग्लैण्ड की संसद् की लोक सभा में सन् १८५७ में कहा था कि भगवान् ने भारत का विस्तृत साम्राज्य इंग्लैण्ड को इसलिए सौंपा है कि उसको एक कोने से दूसरे कोने तक ईसा की विजयपताका

१८५७

फहराई जानी चाहिए। सारे देश को ईसाई बनाने के महान् कार्य को पूरा करने में हमें अपनी सारी ताक़त लगा देनी चाहिए!" इसी प्रकार ईसाई पादरियों के रेवरेंड के नाड़ी ने बड़े दम्भ के साथ यह कहा था : "भारत में हमारे साम्राज्य पर कैसे भी संकट क्यों न आएँ, ईसाई धर्म के प्रचार का हमारा कार्य तब तक निरन्तर जारी रहना चाहिए, जब तक कि कन्याकुमारी से हिमालय तक का सारा देश ईसाई नहीं बन जाता और जब तक कि वह हिन्दू और इस्लाम धर्मों की निन्दा नहीं करने लग जाता। पूर्व में जब तक हिन्दुस्तान ईसाइयत का एक बड़ा गढ़ नहीं बन जाता, तब तक हमें अपनी पूरी शक्ति और अधिकार इस काम में लगाने ही चाहिएँ।" इन उद्धरणों के बाद उन षड्यन्त्रों के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, जो ईसाई पादरियों तथा लार्ड मेकाले सरीखे कूटनीतिज्ञों ने केवल ईसाई-धर्म के प्रसार के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार द्वारा रचे थे। उनकी योजनाएँ केवल २०-३० वर्षों में सारे बंगाल तथा हिन्दुस्तान को ईसाई-धर्म में रंग देने की-थी।

इस स्थिति में यदि लोगों में अपने धर्म के लिए कोई भावना पैदा हुई हो तो आश्चर्य क्या है? उन दिनों में धर्म-भक्ति देश-भक्ति के विरुद्ध नहीं थी। दोनों में अन्तर पैदा करने का काम भी अंग्रेज़ों ने ही किया। पंजाब में हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों में पैदा हुई साम्प्रदायिक भावना उसके लिए सबसे बड़ा अभिशाप सिद्ध हुआ। उसका सूत्रपात अंग्रेज़ों ने ही १८५७ से भी पहले कर दिया था। और १८५७ में इस दुर्भावना को खूब भड़काया गया। सीमान्त और पंजाब में क्रीतदास मुल्ला मौलवी आदि उसके लिए नियुक्त किए गए। इसी दुर्भावना के आधार पर सिखों को ऐसा बरग़लाया गया कि वे बुरी तरह अंग्रेज़ों के हाथ में खेल गए।

सैनिक और आम जनता : अब केवल एक बात की परीक्षा और करनी है। वह है सैनिकों तथा आम जनता के राज्य-क्रान्ति में हिस्सा लेने की। यदि यह मान भी लिया जाए कि कम्पनी की हकूमत देश में कायम हो चुकी थी और भारतीय सैनिक उसके वेतन भोगी थे तो भी उनका उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार राजभक्ति की किसी भी परिभाषा के अनुसार छिना नहीं गया था। स्वदेश-भक्ति और स्वदेश की स्वतन्त्रता सर्वोपरि हैं। परदेशी तो क्या, स्वदेशी राजसत्ता के विरुद्ध भी, यदि वह अन्याय, अत्याचार और दमन अथवा शोषण करती है, तो उसके विद्रोह को किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं ठहराया जा सकता। उसको अनुचित मान लेना अंग्रेज़ों के स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण का समर्थन करना है। सौ वर्ष पहले की घटनाओं की परख आज के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं की जा सकती। वह ज़माना ऐसा था, जब कि आम जनता, सेना और ताज या बादशाह में ऐसा कोई अन्तर नहीं था। सारी ही जनता एक प्रकार से राजा की सेना थी। देश पर संकट आने पर राजा की पुकार पर सारी जनता सर हथेली पर रख कर उसका समाना करने को तैयार हो जाती थी। हर घर और परिवार से सेना के लिए सिपाही स्वेच्छा से दिए जाते थे। सेना और जनता में यह अन्तर कम्पनी के राज में ही पैदा किया गया था और कूटनीति और भेदनीति से काम लेते हुए जनता और बादशाह के बीच सेना की दीवार खड़ी करने की कोशिश की गई थी। यदि यह ठीक मान लिया जाए कि १८५७ की क्रान्ति में आम जनता का कोई हिस्सा न था तो उस पर इतने क्रूरतापूर्ण अत्याचार क्यों किए गए थे और १८५७ का दमन करते हुए उसको निशशस्त्र क्यों बनाया गया था। उसका अभिप्राय यही था कि १८५७ का फिर से दोहराना हमेशा के लिए नामुमकिन बना दिया जाए। इंग्लैंड की सारी ताक़त उसके छोटे-बड़े सारे सेनापति और ६८ हज़ार गोरी फ़ौज भारत में केवल इसलिए जमा की गई थी कि आम-जनता की उस क्रान्ति की लहर में अंग्रेज़ी राज कहीं बह न जाए। निस्सन्देह सेना का विद्रोह आम-जनता की उस क्रान्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा शानदार हिस्सा था, जैसा कि संसार की अधिकांश क्रान्तियों में सदा ही रहा है। उसके लिए हमें कोई लज्जा नहीं, गौरव ही अनुभव होना चाहिए।

क्रान्ति की सफलता : एक बात और। इस क्रान्ति को सर्वथा विफल बता कर उसकी शान और महत्त्व पर परदा डालने की कमीनी हरकत की जाती है। लेकिन, वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही दृष्टियों से ऐसी कामयाब रही, जैसी कि उन परिस्थितियों में कोई भी क्रान्ति हो सकती थी। इंग्लैण्ड ने भारत की तलवार से भारत को जीता था और भारत की उस तल-

बार से सारे एशिया और अफ्रीका पर अपना एक छत्र-साम्राज्य क़ायम करने का उसने दृढ़ संकल्प कर लिया था। भारत और बर्मा के बाद अफ़गानिस्तान, ईरान, अरब, टर्की आदि मुस्लिम देशों को और चीन और जापान आदि को भी सर करने की योजनाएँ थीं। परन्तु १८५७ में जब वह तलवार उसके ही विरुद्ध खींच ली गई, तब उसका वह स्वप्न भंग हो गया। ईरान में उसके लिए मसजिदों में नमाज़ पढ़ी गई। चीन और जापान ने उस मौक़े से फ़ायदा उठाया। दूसरे देशों में भी यहाँ से उठी हुई देश भक्ति की लहर फैल गई और पता चल गया कि अंग्रेज़ कितने पानी में हैं। भारत में राष्ट्रीय-दृष्टि से उसकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि कम्पनी का राज ख़त्म हो गया और विक्टोरिया की नई हुकूमत में भारतीयों को समता और समानता का व्यवहार करने के नए आश्वासन दिए गए। निस्सन्देह अनेक भारतीयों की आँखें उस समय चौंधिया गईं और राजभक्ति की एक नई वेगवती लहर चारों ओर फैल गई। 'लंदनेश्वरों और जगदीश्वरों' के नए गीत गाए जाने लग गए। लेकिन, "दिल्ली चलो" का जो नारा १८५७ में भारतीय सैनिकों ने बुलन्द किया था वह ही नेता जी सुभाष बोस की आज़ाद हिन्द क्रान्ति के वीर भारतीय सैनिकों ने १९४२ में एक बार फिर गुँजाया और राज-भक्ति की उस प्रबल लहर पर देश-भक्ति की लहर की विजय हुई, अंग्रेज़ी-राज समाप्त हुआ और भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

यह तो अपना-अपना चश्मा है, जिससे इतिहास को देखा और पढ़ा जाता है। यह दुर्भाग्य है देश का कि अब भी उसमें कुछ ऐसे लोग हैं जो अंग्रेज़ों के ही चश्मे से अपने इतिहास को देखते और पढ़ते हैं। उनके लिए दिल और दिमाग़ पर से अंग्रेज़ी-राज की छाप मिट नहीं सकी।

४० ए० हनुमान रोड,
नई दिल्ली

—सत्यदेव विद्यालंकार

आराम

मैं प्रतिदिन पाँच मिनट के लिए अपने शरीर को निम्न प्रकार शिथिल कर देता हूँ :

प्रातः काल हाथ-मुँह धोने के पश्चात् मैं कमरे में एकान्त में चला जाता हूँ और फ़र्श पर चित लेट जाता हूँ।

उसके पश्चात् मैं अपने शरीर के प्रत्येक अंग के विषय में विचार करता हूँ—सिर से पैर तक; पहले दाईं तरफ़ के और फिर बाईं तरफ़ के जिस-जिस अंग के विषय में मैं विचार करता हूँ, उसे सर्वथा शिथिल कर देता हूँ, उसमें ज़रा भी सख़्ती नहीं रहती।

पाँच मिनट के पश्चात् मैं अपने शरीर के अंगों के विषय में पुनः विचार करता हूँ इस बार मैं अपने प्रत्येक अंग को सख़्त बना लेता हूँ। मैं उसे अकड़ाने और फैलाने का प्रयत्न करता हूँ।

मैं जब उठ कर खड़ा होता हूँ, अपने को सर्वथा एक नया व्यक्ति अनुभव करता हूँ। इस प्रकार का नियमपूर्वक अभ्यास मेरे लिए एक महान् टॉनिक सिद्ध हुआ है।

ए. विलियम्स

'साईकोलोजस्ट मेगज़ीन' से

१८५७ में भारत की वीर नारी

शौर्य, वीर्य, साहस और उत्सर्ग भारतीय नारी कुछ अद्भुत स्वभाव सिद्ध गुण हैं। उनका शानदार चय उसने १८५७ की राजक्रान्ति में भी दिया। रतीय इतिहास का कोई भी काल ऐसा नहीं है, जिसमें ह पुरुष की बराबरी में कंधे-से-कंधा मिला कर खड़ी न हुई हो और उसने यथावत् अपने कर्तव्य का पालन न किया हो। वैदिक-काल में मन्त्रद्रष्टा के रूप में कितनी देवियों का नाम मन्त्रों के साथ पाया जाता है। ऋषि श्रमों में वे ऋषि-पत्नियों के रूप में तपोमय जीवन ताया करती थीं। पौराणिक काल में कितनी ही स्त्रों में उनका गौरव-पूर्ण उल्लेख मिलता है। स्वती, लक्ष्मी और दुर्गा के रूप में विद्वता, सम्पत्ति र शक्ति की प्रतीक नारी को माना गया। लक्ष्मी के ना नारायण, सीता के बिना राम और राधा के ना श्याम अधूरे समझे जाते हैं। ईश्वर की कल्पना अर्धनारीश्वर के रूप में की गई। गंगा को शिव ने ने शिर अथवा मस्तक पर प्रतिष्ठित करके "यत्र-स्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" की सचाई को त्व प्रदान किया। सारांश यह है कि भारतीय दर्शन, रतीय जीवन और भारतीय संस्कृति में नारी का न किसी भी दृष्टि से हीन नहीं; किन्तु अनेक दृष्टियों ऊँचा ही माना गया है और वह उसको अपने अपूर्व णों के कारण प्राप्त हुआ है।

इतिहास में वह पुरुष से पीछे नहीं है। कैकेयी रथ के साथ युद्ध के मैदान में, सीता राम के साथ वास में और द्रौपदी पाण्डवों के साथ घोर संकट में सच्चे अर्थों में अर्धांगिनी बनी रही। वैदिक धर्म-कर्म अनुष्ठान उसके बिना किया नहीं जा सकता। सीता वनवास देने के बाद राम को यज्ञ के लिए सोने की का निर्माण करना पड़ा था। सम्राट् अशोक के वपूर्ण काल में उसकी कन्या संघमित्रा भिक्षुणी बन अपने भाई भिक्षु महेन्द्र के साथ बौद्ध-धर्म की क्षा देने के लिए लंका पहुँची थी। शंकराचार्य से र्थ में मण्डन मिश्र के पराजित हो जाने पर उसकी भारती ने अपने को पराजित किए बिना उसकी पराजय को स्वीकार नहीं किया था और कहते हैं कि उसको पराजित करने के उद्देश्य से बाल ब्रह्मचारी संन्यासी शंकर को भी कुछ काल के लिए नारी का रूप धारण करना पड़ा था। मुगल काल में भी उन वीर ललनाओं की कैसी गौरवपूर्ण गाथा पढ़ने को मिलती है, जो अपने पतियों, भाइयों तथा अन्य सम्बन्धियों को केसरिया बाना पहना कर युद्ध के मैदान में जूझने के लिए भेजा करती थीं और स्वयं उनके साथ हँसती-हँसती सती हो जाती थीं।

सचमुच ही दुःख और आश्चर्य होता है यह देख कर कि अंग्रेज़ी राज के केवल एक सौ वर्षों में उसने अपने इस परम्परागत स्वरूप को भुला दिया। वैसे तो इस सदी में सारे ही देश का शतमुखी पतन हुआ; किन्तु उस पतन को प्रकट करने के लिए केवल भारतीय नारी के घोर पतन का एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए। देश को निःशस्त्र बना कर और अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में फँसा कर उसको सुव्यवस्थित रूप से कायर, निष्कर्मण्य एवं नपुंसक बनाने का जो षड्यन्त्र रचा गया, उसकी भारतीय नारी पूरी शिकार बना ली गई। उत्थानोन्मुख आज की भारतीय नारी को १८५७ की राज्य क्रान्ति के प्रकाश में अपने असली रूप को जानने और समझने का प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए और उससे प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त करके प्रगति के मार्ग पर पूरी तेज़ी से अग्रसर होना चाहिए। गत सौ वर्षों में उसने जो खोया है, वह इस प्रकार कुछ ही वर्षों में प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ १८५७ की क्रान्ति की वह थोड़ी-सी झाँकियाँ दी जा रही हैं, जिनमें उसके उस असली एवं दिव्य-रूप के सहज में दर्शन मिल जाते हैं।

मेरठ की महिलाएँ : समझा जाता है कि मेरठ की भारतीय सेनाओं के सैनिकों ने क्रान्ति के लिए निश्चित किए गए ३० मई को ही दिल्ली की ओर कूच करके उसका शंख फूँक दिया। उनकी इस जल्दबाजी को उसके विफल होने का एक बड़ा कारण माना जाता है लेकिन वे क्या करते? मेरठ की स्वाभिमानी महिलाओं ने उन पर ताने कसते और व्यंग्य करते हुए उनको जिस

प्रकार लज्जित किया, उससे उनके धैर्य का बाँध टूट गया और वे अपने को संयम में न रख सके। ६ मई, १८५७ को मेरठ में ९० भारतीय घुड़सवारों को चर्बी वाले कारतूस दिए गए। उनमें से ८५ ने उनको मुँह से काटने से इनकार कर दिया। उनका कोर्ट मार्शल किया गया और सब को आठ से दस वर्ष तक की सख़्त क़ैद की सज़ा दे दी गई। ९ मार्च के सबेरे एक बड़ी परेड हुई। उसमें अंग्रेज़ सेना को तोपखाने पर कोई दुर्घटना न होने देने के लिए तैनात किया गया था और भारतीय सैनिकों को एक सबक़ सिखाने के लिए बुलाया गया था, उन ८५ सैनिकों की वर्दियाँ उतरवा ली गईं, हथकड़ियाँ पहना दी गईं और जेल भेज दिया गया। भारतीय सैनिक खून का घूँट पीकर रह गए। उसी दिन शाम को जब वे शहर में गए, तब स्थान-स्थान पर महिलाओं ने यह कह कर उनको लज्जित किया "छिः धिक्कार है, तुम्हारे जीने को कि तुम्हारे भाई तो जेलखाने में पड़े हैं और तुम यहाँ मक्खियाँ मारते फिर रहे हो।" महिलाओं द्वारा इस प्रकार लज्जित किए जाने पर जो आत्मग्लानि भारतीय सैनिकों में पैदा हुई, उसका परिणाम यह हुआ कि रात को बैरकों में गुप्त सभाएँ की गईं। दूसरे दिन सवेरे दिल्ली की ओर कूच करने का निश्चय कर लिया गया और १८५७ की राज्य-क्रान्ति का शंखनाद हो गया।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार जे. सी. विल्सन ने लिखा है कि वास्तव में मेरठ शहर की स्त्रियों ने वहाँ के सिपाहियों को समय से पहले भड़का कर अंग्रेज़ी राज को नष्ट होने से बचा लिया। दूसरे इतिहासकार मालसेन ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि पूर्व निश्चय के अनुसार एक साथ निश्चित तारीख को ही समस्त भारत में स्वाधीनता का यह संग्राम शुरू हुआ होता, तो भारत में एक भी अंग्रेज़ जीवित न बचता और भारत में अंग्रेज़ी राज का उसी समय अन्त हो गया होता।

बेगम ज़ीनत महल : मेरठ के क्रान्तिकारी सैनिकों के लाल क़िले में प्रवेश करने पर सम्राट् बहादुरशाह अवाक् रह गए। क्योंकि उनको बीस दिन पहले क्रान्ति के शुरू होने की कोई कल्पना तक न थी। वैसे भी उनका खज़ाना खाली करके और नज़रें बन्द करके उनको सर्वथा असहाय बना दिया गया था। वे अंग्रेज़ों के क़ैदियों का-सा जीवन बिता रही थीं। उन्होंने फिर भी उनका साथ दिया और विश्वासघात के कारण उनको हुमायूँ के मकबरे में गिरफ़्तार कर लिया गया। लाल क़िले में क़ैद रख कर उन पर मुक़दमा चलाया गया और माण्डले में क़ैद कर दिया गया। इस सारी मुसीबत में उनकी बहादुर बेगम ज़ीनत महल छाया की तरह उनके साथ रही और उनको हिम्मत बँधाती रही।

कानपुर की वीर महिलाएँ : दिल्ली के बाद १८५७ की राज्य-क्रान्ति का केन्द्र अवध के नाते कानपुर और लखनऊ बने रहे। लखनऊ ने ६ मास तक क्रान्ति की पताका झुकने नहीं दी। कानपुर ने भी अन्तिम दम तक युद्ध जारी रखा। बिठूर के कारण दिल्ली के बाद क्रान्ति का मुख्य केन्द्र कानपुर था। वहाँ बिठूर में ही बाजीराव पेशवा के पुत्र नाना साहब और उनके अन्यतम साथी तात्या टोपे ने उसके लिए पूर्ण तैयारी की थी।

जून के पहले सप्ताह में कानपुर के क़िले पर नाना साहब की क्रान्ति के सेनाओं और अंग्रेज़ सेनाओं में जम कर लड़ाई हुई। ६ जून की लड़ाई के सम्बन्ध में लिखा गया है कि कानपुर की हिन्दू और मुसलमान स्त्रियाँ उस दिन अपने घरों से लड़ाई के मैदान में जाकर गोला-बारूद इधर-उधर ले जाने, सैनिकों को भोजन पहुँचाने और ठीक अंग्रेज़ी क़िले की दीवार के नीचे तोपचियों को मदद देने का काम कर रही थीं। इन सब स्त्रियों में उस समय कानपुर की एक वेश्या अज़ीज़न का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। एक इतिहास लेखक लिखता है कि वह अज़ीज़न हथियार बाँधे हुए घोड़े पर सवार बिजली की तरह शहर की गलियों और छावनी में दौड़ती फिरती थीं। कभी वह गलियों के अन्दर थके हुए और घायल सिपाहियों को दूध मिठाई बाँटती और कभी अंग्रेज़ी क़िले की ठीक दीवार के नीचे लड़ने वालों के हौसले बढ़ाती थी।

बीबीगढ़ में रखी गई १२५ अंग्रेज़ महिलाओं और अंग्रेज़ बालकों की निर्मम हत्या का जो क़िस्सा कहा जाता है, उसके लिए भारतीय सैनिकों को उकसाने की ज़िम्मेदारी इसी अज़ीज़न पर डाली जाती है। नाना साहब उनको अभयदान दे चुके थे और वे उनको अपने सैनिकों के पहरे में सुरक्षित रखना चाहते थे परन्तु अंग्रेज़ सैनिकों के निर्मम अत्याचारों और निर्दय हत्याकाण्ड से लोग इतने अधिक उत्तेजित हो चुके थे

१८५७

कि उस काण्ड के लिए केवल एक चिनगारी काफ़ी थी और वह अज़ीज़न ने छोड़ दी ।

नैनी का बलिदान : बिठूर के पेशवाओं के महल को जब अग्नि की भेंट करने का अंग्रेज़ों ने निश्चय किया, तब उसमें केवल नाना साहब की अठारह वर्षीय कन्या नैनी उपस्थित थी । नाना साहब गंगा पार कर कहीं लुप्त हो चुके थे । उससे उनका पता पूछा गया । कुछ पता न मिलने पर उसको उस महल के साथ ज़िन्दा जला दिया गया । उसके धैर्य और सौन्दर्य की अनेक अंग्रेज़ लेखकों ने भी मुक्तकण्ठ से सराहना की है । पेशवा वंश की अन्तिम वह ज्योति महा-ज्योति में विलीन हो गई । नाना साहब पेशवा के सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है । कुछ गाथाएँ अवश्य प्रचलित हैं । अपने को उनके पौत्र बताने वाले श्री बाजीराव धाधुपंत, नाना माधव खुरमूरी ने उनके अन्यतम साथी अज़ीमुल्ला ख़ाँ की हस्तलिखित डायरी के अपने पास सुरक्षित होने का दावा किया है और उसके आधार पर यह बताया है कि उन्होंने वेश और नाम बदल कर अपना शेष जीवन जंगलों में इधर-उधर बिता दिया और १०२ वर्ष की आयु में १ फरवरी, १९२६ को गोमती के तट पर नेमसार मिसरिख में उनका देहान्त हुआ ।

अवध की बेग़म हज़रत महल : अवध के नवाब वाजिद अली शाह को चिनहट की लड़ाई के बाद नज़रबन्द कर दिए जाने से अवध की जनता ने उनके पुत्र बिरजिस क़दर को गद्दी पर बिठा दिया और उसके नाबालिग़ होने से उसकी माता हज़रत महल को शासन का कार्य सौंप दिया । इतिहासकार रसल ने बेग़म के सम्बन्ध में लिखा है : 'उसमें बड़ी पराक्रमशीलता और योग्यता दिखाई देती है । बेग़म ने हमारे विरुद्ध अनवरत युद्ध की घोषणा कर दी है । इन रानियों और बेग़मों की पराक्रमशीलता को देख कर मालूम होता है कि जनानख़ानों के भीतर रह कर भी ये बहुत अधिक क्रियात्मक मानसिक शक्ति अपने में पैदा कर लेती हैं । बेग़म ने पहले सम्राट् बहादुरशाह को स्वाधीनता का शुभ सन्देश कुछ क़ीमती नज़रानों के साथ भेजा और बालकृष्ण सिंह को अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया । सारे अवध में सुशासन क़ायम कर शान्ति और व्यवस्था स्थापित की गई । अवध की चप्पा-चप्पा भूमि पर स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी गई । अन्त में तीन ओर से अत्यन्त शक्ति सम्पन्न विशाल अंग्रेज़ सेना और पूर्व से जंगबहादुर के सेनापतित्व में ९ हज़ार गुरखा सेना ने अवध पर आक्रमण कर लखनऊ की ओर कूच किया । यह फ़रवरी १८५८ का महीना था । रास्ते के सारे गाँव बारूद से उजाड़ दिए गए और लोगों पर अत्यन्त क्रूरतापूर्ण नृशंस अत्याचार किए गए । लखनऊ नगर में भी बार-बार ख़ून की नदियाँ बहाई गईं,—क़त्ले आम किया गया । बेग़म हज़रत महल ने इस पर भी दया और सहृदयता से काम लिया । इतिहास-लेखक चार्ल्स बाल ने लिखा है : "बेग़म ने अंग्रेज़ बालकों और स्त्रियों की रक्षा करके जो काम किया, वह स्त्री जाति के मान को बढ़ाने वाला है । परन्तु अंग्रेज़ सेना ने शाही जनानख़ानों को भी नहीं छोड़ा । उनको लूटा गया, अनेक स्त्रियाँ क़त्ल की गईं और अनेक गिरफ्तार कर ली गईं ।"

अवध के भी गले में गुलामी का तौक़ डाल दिया गया परन्तु उसकी आत्मा को कुचला नहीं जा सका यह उस वक्तव्य से प्रकट है जो बेग़म हज़रत महल ने महारानी विक्टोरिया की घोषणा के उत्तर में अवध की प्रजा के नाम प्रकाशित किया था । उससे यह भी प्रकट है कि बेग़म कूटनीतिक चालों को ख़ूब समझती थी । उसमें कहा गया था :

"पहली नवम्बर सन् १८५८ का ऐलान, जो हमारे सामने आया है, बिलकुल स्पष्ट है । अपनी रिआया को उससे होशियार करने के लिए यह ऐलान शाया किया जा रहा है । हमारी धर्मनिष्ठ प्रजा को इस पर विश्वास नहीं करना चाहिए कि कम्पनी का राज ख़त्म हो, रानी विक्टोरिया का राज शुरू हो रहा है; क्योंकि कम्पनी के क़ानून, कम्पनी के अंग्रेज़ मुलाज़िम, कम्पनी का गवर्नर जनरल और कम्पनी की अदालतें आदि सब ज्यों की त्यों बनी रहेंगी । इस चाल को भी लोग समझ लें कि कम्पनी के वादे और अहदनामों को मंजूर किया जाएगा ! कम्पनी ने पहले भरतपुर के राजा को अपना बेटा बतलाया, फिर उसका इलाका ले लिया । लाहौर के राजा को वे लन्दन ले गए और फिर उसे भारत लौटने न दिया । नवाब शम्शुद्दीन ख़ाँ को सलाम करके भी फाँसी पर लटका दिया । पेशवा को पूना से निकाल कर बिठूर में कैद कर

दिया। बनारस के राजा को आगरा में कैद कर दिया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के राजाओं का उन्होंने नाम-निशान तक नहीं रहने दिया। हमसे हमारे क़दीम इलाके फ़ौजों को तनख्वाह देने के बहाने से ले लिए और यह क़सम खाई कि अब कुछ और नहीं लेंगे। जब कि पहले के सब इन्तज़ाम क़बूल किए जाएँगे तो इस नई हुकूमत से भी क्या होगा? केवल यह कहकर कि हमारा व्यवहार ठीक नहीं और हमारी प्रजा हमसे असन्तुष्ट है, सारे अहदनामे तोड़ दिए और हमसे करोड़ों रुपए और हमारा राज जबरन छीन लिया। कभी भी किसी राजा के लिए उसकी प्रजा ने अपने जान और माल को इस तरह कुरबान नहीं किया, जैसे कि हमारी प्रजा ने हमारे लिए किया है। यह भी कहा गया है कि मलका को अपना इलाका बढ़ाने की इच्छा नहीं है; परन्तु वह देशी राज्यों को अपने राज्य में मिला लेने से बाज़ नहीं आएगी। उसमें यह भी लिखा है कि ईसाई धर्म सच्चा है किसी भी मजहब वालों के साथ ज्यादती नहीं की जाएगी और सबके साथ समान न्याय किया जाएगा; परन्तु न्याय शासन का किसी धर्म के झूठे या सच्चे होने के साथ क्या सम्बन्ध है? सूअर खाना और शराब पीना, चरबी के कारतूस दाँत से काटना और आटे और मिठाई में सूअर की चरबी मिलाना, सड़कें बनाने के बहाने मन्दिरों और मसजिदों को गिराना, गिरजा बनवाना, गलियों और कूचों में ईसाई मत का प्रचार करने के लिए पादरियों को भेजना। इन सब बातों के होते हुए लोग कैसे विश्वास कर सकते हैं कि उनके मजहब में दखल न दिया जाएगा? उस ऐलान में क्षमादान की तो बात लिखी गई है, उसकी असलियत को एक मूर्ख भी समझ सकता है और यह जान सकता है कि किसी को भी छोड़ा न जाएगा। जिस शहर या गाँव में भारतीय सेना ठहरी है उसके बाशिन्दे नहीं बच सकते। आज तक किसी ने नहीं देखा कि अंग्रेज ने कभी किसी का खून माफ़ किया हो। किसी को भी इस ऐलान के धोखे में नहीं आना चाहिए।"

वीरता की मूर्ति लक्ष्मीबाई : झाँसी की वीर रानी लक्ष्मीबाई का नाम तो १८५७ की क्रान्ति के साथ पर्यायवाची बन गया है। इतिहास लेखक विन्सैण्ट स्मिथ ने स्वीकार किया है कि स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं में यह सब से अधिक योग्य थीं। एक दूसरा लेखक लिखता है कि उसका समस्त जीवन जितना पवित्र था उतनी ही वीरोचित उसकी मृत्यु थी। संसार के इतिहास में ऐसा विरला उदाहरण कदाचित् ही मिलेगा कि इतनी छोटी आयु में ऐसा निष्कलंक जीवन व्यतीत करते हुए किसी महिला ने इस अलौकिक वीरता तथा असाधारण युद्ध कौशल के साथ स्वदेश की स्वाधीनता के लिए युद्ध के मैदान में प्राणों की बलि दी हो।

रानी लक्ष्मीबाई के शासन कौशल, निष्कलंक चरित्र और धर्म निष्ठा के सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखने का यह प्रसंग नहीं है। सर ह्यू रोज़ एक बड़ी सेना के साथ महू से ६ जनवरी १८५८ को मध्य भारत की क्रान्ति को कुचलने के लिए निकला था २२ मार्च को जब उसने झाँसी पर चढ़ाई कर दी तब रानी लक्ष्मीबाई ने सेनापतित्व अपने हाथों में सम्भाल लिया। प्रत्येक मोर्चा स्वयं तैयार करवाया और फ़सील पर तोपें लगवा दीं। सर ह्यू रोज़ ने लिखा है कि सैकड़ों स्त्रियाँ तोपखानों और मैगज़ीनों में आती जाती और काम करती दिखाई दे रही थीं। २४ मार्च से आठ दिन तक घमासान युद्ध हुआ। दोनों ओर से तोपें आग बरसाती रहीं। रानी ने अटूट धैर्य, साहस और परिश्रम से काम लिया। वह हर चीज़ को स्वयं देखती थी, आवश्यक निर्देश देती थी और दीवार तथा मोर्चों में जहाँ कमी देखती उसको मजबूत करती। रानी की इस उपस्थिति से सिपाहियों की हिम्मत बेहद बढ़ गई। वे बराबर लड़ते रहे। हरेक सैनिक और तोपची के पास पहुँच कर उनकी वीरता के लिए उनको पुरस्कार देती रहीं। तात्या टोपे को कालपी पत्र भेज कर सहायता के लिए बुलाया गया। वह भारी सेना लेकर आ पहुँचा और एक अप्रैल को सर ह्यूरोज़ की सेना पर उसने आक्रमण कर दिया। परन्तु उसकी सेना टिक न सकी। दूसरी ओर किसी विश्वासघाती ने क़िले का भेद दे दिया। ३ अप्रैल को बहुत भयानक मुक़ाबला हुआ। रानी अपने घोड़े पर सवार सिपाहियों और अफ़सरों के हौसले बढ़ाती हुई, उनमें ज़ेवर और खिलअत बाँटती हुई, बिजली की तरह इधर से उधर आ जा रही थी। भेद पाकर जब उत्तर-दक्षिण से अंग्रेज सेना क़िले में घुस गई, तब रानी का दिल टूट गया। उसने बारूद खाने में आग लगा कर घर फूँक नीति को अपनाना चाहा। परन्तु वैसा न किया और रात को

१८५७

हथियार बाँधे मरदाना वेश में अपने दत्तक-पुत्र को कमर से कसे हुए, वह क़िले की दीवार पर से एक हाथी पर कूद पड़ी और अपने प्यारे सफ़ेद घोड़े पर सवार हो कालपी की ओर १०-१५ सैनिकों के साथ निकल गई। १०० मील का रास्ता तय कर दूसरी रात कालपी पहुँच गई। रास्ते में पीछा करने वाले अंग्रेज़ सिपाही वोकर के साथ उसकी मुठभेड़ हो गई और उसको तलवार के एक ही वार में घायल कर घोड़े से नीचे गिरा दिया। २४ मई को कालपी में भी सर ह्यूरोज और रानी में जमकर भयानक लड़ाई हुई। १ जून को क्रान्तिकारियों ने ग्वालियर पर कब्ज़ा कर लिया।

ग्वालियर की घटनाओं के विस्तार में न जाकर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि १६ जून को सर ह्यू रोज ग्वालियर पर भी आ टूटा। १७ और १८ जून को घमासान लड़ाई हुई। क़िले के पूर्वीय फाटक पर रानी अपनी सहेलियों मन्दरा और काशी के साथ घोड़ों पर सवार थी। लक्ष्मीबाई सुबह से शाम तक घोड़े पर सवार बिजली की तरह इधर से उधर जाती हुई दीखती थी। जनरल स्मिथ को कई बार मुँह की खानी पड़ी। रानी ने कई बार क़िले के बाहर आकर उसको पीछे खदेड़ा। १८ जून को स्मिथ ह्यू रोज ने मिल कर रानी पर आक्रमण किया। उसने अपूर्व वीरता के साथ उनका सामना किया। अन्त में वह चारों ओर से अंग्रेज़ सेना से घिर गई। फिर भी वह अपनी दोनों सहेलियों और १५-२० सैनिकों के साथ शत्रु का सामना करती रही और शत्रु सेना को चीरती हुई बाहर निकल गई। एक नाले पर जाकर उसका घोड़ा अटक गया। यहाँ पीछा करने वाले अंग्रेज़ घुड़सवारों ने उसको घेर लिया। वह अकेली ही अपनी तलवार से उन सब का सामना करती रही। एक अंग्रेज़ सैनिक ने पीछे की ओर से उसके सिर पर तलवार का वार किया। सिर का दाहिना भाग अलग हो गया और दाहिनी आँख भी बाहर निकल आई। दूसरा वार छाती पर किया गया। सिर और छाती से खून का फव्वारा निकलते हुए भी वीर रानी ने छाती पर वार करने वाले को अपनी तलवार के घाट उतार दिया। उसका वफ़ादार नौकर रामचन्द राव देशमुख उस समय उसके पास था और उसने उसकी इच्छा के अनुसार अन्तिम संस्कार कर दिया। इस प्रकार वह वीर रानी वीर गति को प्राप्त हुई।

यहाँ ग्वालियर पर क्रान्तिकारियों के अधिकार के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने आवश्यक हैं। ग्वालियर महाराज ने उनका साथ न देकर उनके विरुद्ध चढ़ाई कर दी थी। तब महारानी लक्ष्मीबाई के प्रत्याक्रमण के कारण सीन्धिया महाराज को आगरा की ओर अंग्रेज़ों की शरण में भाग जाना पड़ा था। महारानी लक्ष्मीबाई का यह आग्रह था कि और सब काम छोड़ कर सेना को तुरन्त सन्नद्ध कर मैदान में आगे बढ़ा जाए। उसकी सलाह की अवहेलना की गई। अमूल्य समय दावतों और उत्सवों में नष्ट कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि ग्वालियर हाथ से निकल गया। इतिहास लेखक मालेसन का मत यह था कि "यदि मध्य-भारत में विप्लवकारियों को खासी सफलता मिल गई तो सम्भव है कि दक्षिण के लोग फिर से पेशवा की उस सत्ता के लिए खड़े हो जाएँ, जिसके लिए उनके पूर्वज युद्ध कर चुके थे और अपना रक्त बहा चुके थे।" आश्चर्य नहीं कि यदि रानी की बात मान ली जाती तो ऐसा ही हुआ होता।

बिहार की वीर देवियाँ : बिहार के जगदीशपुर राज्य के राजा कुँवरसिंह और उनके भाई अमरसिंह वीरता, स्वातन्त्र्य प्रेम और देशभक्ति की जीवित प्रतिभा थे। उन्होंने निरन्तर आठ मास तक आठ नौ अंग्रेज़ों, सेनापतियों और अंग्रेज़ सेना के द्वारा अपना पीछा किए जाने पर भी अपनी राजधानी को अंग्रेज़ों से वापस ले लिया था। अक्तूबर, १८५८ में उस पर सात दिशाओं से सात अंग्रेज़ी सेनाओं ने तीसरी बार फिर आक्रमण किया और उस पर दुबारा कब्ज़ा कर लिया, तब वहाँ की महिलाओं ने पराजय स्वीकार कर आत्म-समर्पण नहीं किया। कोई डेढ़ सौ महिलाओं ने तोपों के सामने खड़े होकर वीर राजपूत ललनाओं की तरह आत्म-बलिदान कर दिया।

नागा पहाड़ी की वीर रानी : पटना के इतिहास सम्मेलन में श्री एच. के. वरपुजारी ने जो लेख पढ़ा था, उसमें उत्तर-पूर्वी सीमा क्षेत्र में इस क्रान्ति अथवा स्वतन्त्रता संग्राम के लिए की गई तैयारियों पर विशेष प्रकाश डाला गया था। उसमें उन्होंने बताया था कि खासी सरदारों ने उसके लिए विशेष तैयारी की थी। नागरवला के स्वर्गीय सरदार छतरसिंह की वीर पत्नी ने वहाँ की पहाड़ियों से अंग्रेज़ों को निकालने में विशेष

बहादुरी दिखाई थी।

भारतीय महिलाओं को सन् ५७ के स्वतन्त्रता संग्राम की इन गौरवपूर्ण घटनाओं के प्रकाश में अपनी वर्तमान स्थिति का कुछ विवेचन अवश्य करना चाहिए। एक ही शताब्दी में वे अपने इस गौरव को भुला कर घर-गृहस्थी की चहार दीवारी में अबला बन कर क़ैद क्यों हो गईं ? अंग्रेज़ी राज्य का अभिशाप मिट गया, हमारी यह क़ायरता भी मिटनी चाहिए और १८५७ के दिनों की वीरता का रुधिर हमारी नसों में एक बार फिर प्रवाहित होना चाहिए। धीर, वीर और साहसी बने बिना अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं की जा सकती।

C/O ४० ए. हनुमान रोड,
नई दिल्ली

—सुभद्रा देवी

पुस्तक का चुनाव

श्रीयुत् जी. के. चेस्टरटन और अंग्रेज़ी के कुछ अन्य साहित्यकार एक दिन सायंकाल में बैठे हुए बातें कर रहे थे।

बात चली कि यदि ऐसा हो कि हम जहाज़ में यात्रा कर रहे हों; अचानक जहाज़ की स्थिति ऐसी हो जाए कि हम यात्रा न कर सकें और हमें अपने दिन किसी सुनसान, बियावान द्वीप में अकेले काटने पड़ें तो हम ऐसी अवस्था में किस पुस्तक को अपने साथ रखने के लिए चुनेंगे।

एक लेखक ने शीघ्र ही बिना सोचे-समझे तत्काल उत्तर दिया : "शेक्सपीयर की समस्त रचनाएँ।"

दूसरे ने उत्तर दिया : "मैं बाइबल को चुनूँगा।"

एक लेखक ने श्रीयुत जी. के. चेस्टरटन से पूछा : "आप किस पुस्तक का चुनाव करेंगे।"

कुछ देर विचार करने के पश्चात् उसने उत्तर दिया : "टामस की जहाज़-निर्माण मार्ग-दर्शिका।"

मेघदूत में नायिका-भेद

नायिका-वर्णन संस्कृत-कवियों का मुख्य ध्येय रहा है। अनेक कवियों ने अपने काव्य-ग्रंथों में प्रकट या बहुत रूप से नायिका की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया है। महाकवि कालिदास ने भी जहाँ 'कुमार सम्भव' आदि में चेतन-पात्रों में नायिका की विविध अवस्थाओं को प्रदर्शित किया है वैसे ही 'मेघदूत' में जड़-पात्रों में भी नायिका की वासक-सज्जा आदि आठों अवस्थाओं का आरोपण कर सके हैं। वही यहाँ 'मेघदूत' के आश्रय से दिखलाया जाएगा।

महा कवि यक्ष द्वारा मेघ को अलका का मार्ग बतलाते हुए नायिका के रूप में नर्मदा नदी का वर्णन करते हैं :

………………………………………

……………………………… ……

"रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्,
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य[१] ॥१६॥"

यहाँ नायिका (नर्मदा) में वासक सज्जा का आरोप है। वासकसज्जा का लक्षण महामुनि भरत ने निम्न बतलाया है :

"उचिते वासके या तु रति संभोग-लालसा।
मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका[२] ॥"

(नाट्य-शास्त्र बड़ोदा संस्करण २२।२१३)

उपर्युक्त पद्य में हाथी के शरीर पर खड़िया से की गई चित्रकारी के समान विविध-वर्णत्त्व ही नायिका (नर्मदा) का शृङ्गार है। ऊबड़-खाबड़ मार्ग में टेढ़ी-मेढ़ी हो कर बहने से हर्ष की तथा विन्ध्या के पाद प्रान्त भाग (द्वार देश) में अवस्थित होने से प्रतीक्षा की ध्वनि निकलती है।

नर्मदा से प्रणय-निवेदन के अनन्तर आगे बढ़ने पर मेघ का वेत्रवती से साक्षात्कार होता है।

………………………………………

………………………………………

"तीरोपान्तस्तनित-सुभगं पास्यसि स्वाद-युक्तं,
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि[३] ॥२५॥"

यहाँ कवि ने वेत्रवती का वर्णन कलहान्तरिता के रूप में किया है। कलहान्तरिता का लक्षण है—

"ईर्ष्या-कलह-निष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः।
सामर्षवशसम्प्राप्ता कलहान्तरिता भवेत्[४] ॥"

(ना० शा० २२।२१६)

उपर्युक्त पद्य में नायक द्वारा हठ पूर्वक नायिका (वेत्रवती) के मुख-अअधर-पान (जल पान) समय में नायिका द्वारा शब्द करना ही निषेध-वाक्य (नहीं, नहीं, छोड़ो छोड़ो इत्यादि) है। तथा चपल तरंगों का अभिप्राय स्पष्ट ही कोप से चढ़ी हुई भृकुटि है।

आगे चल कर नायक (मेघ) को निर्विन्ध्या नदी मिलती है :

"वीचिक्षोभ-स्तनित विहग श्रेणिकाञ्ची गुणायाः
संसर्पन्त्या : स्खलित सुभगं दर्शितावर्तनाभेः।

---

१. हे मेघ! आगे चलने पर तुम विन्ध्या-पर्वत के ऊँचे-नीचे पाद-प्रान्त भाग में टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से बहती हुई नर्मदा को देखोगे। उस समय तुम्हें वह (नर्मदा) हाथी के शरीर पर खड़िया से की गई चित्रकारी के समान बहुत ही सुन्दर दिखाई देगी।

२. जो नायिका विविध वस्त्रादिक से सुसज्जित होकर भोगेच्छा पूर्वक प्रसन्न मन से अपने प्रिय की प्रतीक्षा करती है उसे वासक-सज्जा कहते हैं।

३. आगे बढ़ने पर तुम (मेघ) शब्द करती हुई वेत्रवती नदी के, चंचल तरंगों से युक्त स्वादिष्ट जल को उसी प्रकार पान करोगे, जिस प्रकार कोई विलासीजन हठपूर्वक नायिका के कोप से चढ़ी हुई भृकुटि वाले मुख अधर का पान करता है।

४. ईर्ष्या या कलह के कारण क्रोध के वश में हुई नायिका कलहान्तरिता होती है।

निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरं सन्निपत्य,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु[1] ।।२६।।"

यहाँ निर्विन्ध्या नदी का चित्रण अभिसारिका के रूप में है। अभिसारिका का लक्षण :—यथा

"हित्वा लज्जां तु या श्लिष्टा मदेन मदनेन च।
अभिसारयते कान्तं सा भवेदभिसारिका[2] ।।"
(ना० शा० २२।२२।२२०)

'मेघदूत' के कतिपय व्यख्याकार निर्विन्ध्या नदी को अभिसारिका मानने में आपत्ति प्रकट करते हैं। उनके मत में अभिसारिका डरती हुई चुपचाप चलती है, पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रेष्या नाम की अभिसारिका है। प्रेष्याभिसारिका का लक्षण नाट्य-शास्त्रकार (महामुनि भरत) ने इस प्रकार बतलाया है—

"मदस्खलित-संलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।
आविद्धगतिसंचारा गच्छेत्प्रेष्या समुद्धतम्[3] ।।"
(२२।२२९)

उपर्युक्त पद्य में निर्विन्ध्या नदी का टेढ़ी मेढ़ी होकर बहना उसकी उद्धत गति का सूचक है। शेष स्पष्ट ही है।

आगे मेघ को सिन्धु नदी से मिलने का आदेश है:

"वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः,
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिः शीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः"[4] ॥३०॥

यहाँ सिन्धु नदी का प्रोषितभर्तृका नायिका के रूप में वर्णन है। इसका लक्षण सागरनन्दी ने इस प्रकार बतलाया है।

यस्यास्तु कार्यवशाद्देशान्तर मुपागतः पतिः सा प्रोषितभर्तृका[5] (नाटक लक्षण रत्न कोष पृष्ठ १०६)

दिए हुए लक्षण के साथ उपर्युक्त पद्य में वर्णित नायिका (सिन्धु) का समन्वय स्पष्ट ही है।

आगे महाकवि नायिका की खण्डितावस्था का वर्णन करते हैं—

....
....वर्त्म भानोस्त्यजाशु
प्रालेयास्रं कमलवदनात् सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः[6] ॥४२॥

---

[1] हे जलद, आगे चलने पर तुम चंचल तरंगों के क्षोभ (हिलोरों) से तीर पर बैठे हुए पक्षियों के चीत्कार रूप किंकिणी की झनकार करती हुई, स्वच्छ जलधारा रूप अपने नाभि-प्रदेश को दिखलाती हुई, तथा विषम मार्ग होने के कारण टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई निर्विन्ध्या (विन्ध्य-पर्वत से निकली विन्ध्य-सुता) नदी का रसपान करोगे क्योंकि स्वभाव से लज्जाशालिनी होने के कारण स्त्रियाँ मुख से नहीं अपितु विविध चेष्टाओं से ही अपने अन्तर्भाव को प्रकट करती हैं।

[2] जो नायिका काम और मद के वशीभूत होकर स्वयं नायक से मिलने जाती है, उसे अभिसारिका कहते हैं।

[3] विलासपूर्ण नयनों वाली जो नायिका मदाधिक्य से (आभूषण आदि का) शब्द करती हुई उद्धत गति से चलती है वह प्रेष्या नामक अभिसारिका होती है।

[4] हे सुभग! निर्विन्ध्या नदी को पार कर आगे बढ़ने पर तुझ में ही अपने सौभाग्य की व्यञ्जना करती हुई तुम्हारी प्रतीक्षा करती हुई—सिन्धु नामक नदी से तुम मिलोगे। तुम्हारे वियोग में वह स्त्री की एक वेणी के समान कृश हो गई है—उसका जल सूख गया है (अथवा पतली धारा रूप एक वेणी को धारण किए है क्योंकि विरहिणी एक ही वेणी को धारण करती है)। तट पर स्थित वृक्षों के शीर्ण (सूखे-पीले) पत्ते गिरने से उसकी कान्ति पीली पड़ गई है। इस समय उसकी कृशता को तुम ही मिटा सकते हो अर्थात् तुम ही से मिल कर वह प्रसन्न होगी।

[5] जिसका पति कार्यवशात् देशान्तर में चला गया हो वह (विरहिणि) प्रोषितभर्तृका कहलाती है—तुलनीय नाट्य-शास्त्र २२।२१६।

[6] हे मित्र! मेघ!! वहाँ उज्जयनी में तुम एक बात का ख़याल रखना। रात-भर वहाँ रहने के बाद प्रातः ही वहाँ से चल देना। ऐसा न हो कि तुम्हारे वहाँ रहने से भास्कर का मार्ग अवरुद्ध हो जाए। क्योंकि वे अन्य स्थान पर रात्रि व्यतीत कर प्रातःकाल आकर नलिनी के पद्मरूप मुख के आँसू अपने कर (किरण हाथ) द्वारा पोंछेंगे। उस समय यदि तुम उनके मार्ग में बाधक बन जाओगे तब अनर्थ हो जाएगा भास्वान् तुझ पर बहुत कुपित हो जाएँगे।

१६५७

इस पद्य में सूर्य को नायक और कमलिनी को खण्डिता (नायिका) माना गया है। खण्डिता का लक्षण निम्न है—

यस्याः पतिः परया सह रजनीमतिवाह्य प्रभाते
अन्यसम्भोगचिह्नितो आयाति सा खण्डिता[1] (ना० ल० र० कोष पृ० १०५)

यहाँ कमलिनी मुग्धा जाति की नायिका है। पति के अपराध करने पर अपने कोप को मुग्धा नायिका रोदन द्वारा प्रकट करती है तथा शीघ्र ही प्रसन्न भी हो जाती है[2]। उपर्युक्त पद्य में सूर्य-करों द्वारा कमलिनी के आँसू पोंछे जाने से स्पष्ट ही प्रतीति होती है कि वह (नायिका) कोप का परित्याग कर देगी।

आगे चलने पर मेघ को गम्भीरा नदी से मिलने का आदेश है—

"गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि"[3] ॥४३॥

यहाँ विरहोत्कण्ठिता नामक नायिका है। इसका लक्षण महामुनि भरत ने इस प्रकार बतलाया है :

"अनेक कार्य व्यासङ्गाद् यस्या नागच्छति प्रियः।
तदनागतदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा[4] ॥"
(नाट्य-शास्त्र २२।२१४)

उपर्युक्त पद्य में नायक (मेघ) का प्रतिबिम्ब ही चित्र है जो नायिका के जल-प्रवाह रूपी अन्तःकरण में समाया है। क्योंकि स्वभावतः ही वियोगिनी प्रतिक्षण प्रिय का चिन्तन किया करती है। प्रिय को प्राप्त कर उसके विशद नयनों में भी चञ्चलता आ जाती है।

पश्चात् प्रिय मिलन होने पर यही विरहोत्कण्ठिता स्वाधीन भर्तृका की अवस्था को प्राप्त करती है :

"तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधो नितम्बम्
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः"[5] ॥४४॥

स्वाधीनभर्तृका का लक्षण है :

यस्याश्चिररतिक्रीडा लालस-पार्श्वे तिष्ठति पतिः
सा स्वाधीन-भर्तृका[6] (ना० ल० र० कोष पृ० १०७)

ऊपर के श्लोक में इसका समन्वय स्पष्ट ही है। अन्त में :

"तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगर तनय स्वर्ग सोपान पंक्तिम्।
गौरी वक्त्र भ्रुकुटि रचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरो दिन्दुलग्नोर्मिहस्ता"[7] ॥५३॥

---

[1] जिसका पति परस्त्री के साथ रजनी व्यतीत कर प्रभात समय में घर आता है, वह खण्डिता नायिका है।—तु० ना० शा० २२।२१७।

[2] द्रष्टव्य 'दशरूपक' द्वितीय प्रकाश।

[3] जिस प्रकार प्रियतम का चित्र गम्भीर हृदय स्त्री के विशुद्ध अन्तःकरण में वस जाता है, उसी प्रकार उसके (गम्भीर नाम नदी) के निर्मल जलरूपी हृदय में तेरा प्रतिबिम्ब वस जाएगा। उस समय तुम उसके, खिले हुए कुमुद के समान विशद और वड़े चंचल फड़कते हुए मत्स्य-रूपी कटाक्षों को निराश नहीं कर सकोगे—तुम्हें उसका प्रणय निवेदन स्वीकार करना ही होगा।

[4] अनेक कार्यों में व्यस्त रहने से जिसका प्रिय नहीं आ पाता है, उसके न आने से दुःखी हुई नायिका विरहोत्कण्ठिता कहालाती हैं।

[5] हे मित्र, मुझे यह शंका होती है कि तुम उस गम्भीर नदी के प्रेमपाश में बंध कर कहीं वहीं न रुक जाओ। तेरे द्वारा ग्रहण किया जाने पर, तट रूप नितम्ब से हट कर वैंतों के वृक्षरूपी हाथ से कुछ ठहरे हुए, उस गम्भीर नदी के नील-जल-रूपी वस्त्र को हरण करके—इस शृंगार चेष्टा से लुब्ध होकर—तुम्हारा आगे बढ़ना मुझे बड़ा कठिन प्रतीत होता है। भला शृंगार रसानुभवी कौन ऐसा रसिक होगा जो विवृत-जघना (वस्त्र रहित जघनवाली) कान्ता को त्याग करने में समर्थ हो सके।

[6] चिर-रति-लालसा से जिसका पति समीप में रहता है, वह स्वाधीनभर्तृका कहलाती है। तु० ना० शा० २२।२१५।

[7] आगे बढ़ने पर तुम कनखल के समीप से गुज़र कर महाराज सागर के पुत्रों को स्वर्गगामी करने की सोपान-पंक्ति रूप, हिमालय से अवतरित होती हुई, जह्नु की कन्या गङ्गा को देखोगे. जिसने शंकर के शीर्षस्थ इन्दु-

यहाँ गङ्गा का वर्णन कुचेष्टारत विप्रलब्धा के रूप में किया गया है। विप्रलब्धा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :

"यस्या दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्वा संकेतमेव वा
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा भवेत् ॥"[1]
(नाट्य-शास्त्र २२।२१८)

झूठा वादा करने वाले पति के प्रति क्रोधोन्मत्ता नायिका द्वारा इस प्रकार का व्यवहार संगत ही है जैसा—'मेघदूत' के व्याख्याकार भरत ने कहा है—

"अंगुली तर्जनं कान्ते कचेषु ग्रहणं तथा
तया वञ्चितया कार्यं काञ्चीदाम्ना च बन्धनम्"[2]

अर्थ—(पति द्वारा झूठे वायदों से) ठगी गई नायिका पति के प्रति अंगुली तर्जन (डाँटना फटकारना) करती है, (अधिक क्रोध में होने पर) उसके केश पकड़ कर खींचती है और काञ्चीदाम (करधनी) से उसे बाँधती भी है।)

—नारायण दत्त शर्मा

टेकरा मठ लक्ष्मी कुण्ड,
वाराणसी, (उ० प्र०)

छोटे और बड़े शब्द

कभी भारी-भरकम, लम्बे और बड़े शब्दों से भयभीत नहीं होना चाहिए। सत्य तो यह है कि जो वस्तुएँ छोटी होती हैं, उन्हीं के लिए बड़े और लम्बे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जो वस्तुएँ महान् होती हैं, उनके लिए छोटे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए जीवन, मृत्यु, शान्ति, युद्ध, प्रातः दिन, रात, आशा प्रेम घर आदि छोटे शब्द हैं परन्तु ये जिन वस्तुओं को अभिव्यंजित करते हैं, वे कितनी महान् हैं।

छोटे शब्दों का बड़े तरीक़े से प्रयोग करना सीखना चाहिए। जब अर्थों को ठीक तरह समझा जाता है, तब छोटे शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है और जब अर्थ ठीक तरह समझ में नहीं आते तो बड़े और भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिनसे कि छोटे मस्तिष्क के आदमी ही अधिकतर प्रभावित होते हैं।

—'इंग्लिश डाइजेस्ट' से

रश्मि का स्पर्श कर उन्हीं (शंकर) के केश-जाल (जटा-कलाप) को पकड़ लिया है और इस प्रकार जो अपनी विशुभ्र फेन-राशि से हँसती हुई-सी पार्वती की भृकुटि में कुटिलता का आविर्भाव कर रही है—पार्वती में ईर्ष्या पैदा कर रही है।

१. जिसका पति (अथवा प्रिय) दूती द्वारा या किसी अन्य उपाय से मिलने का वचन देकर नहीं आता है, वह विप्रलब्धा कहलाती है।

२. अनुपलब्ध मूल।

हिन्दी गद्य-काव्य में शैली के रूप-विधान

भिन्न-भिन्न लेखक अपने व्यक्तित्व और अनुभूति की भिन्नता के कारण एक ही विषय वस्तु की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। इसलिए साहित्य की धाराओं में शैली के रूप-विधान की विविधता आ जाती है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह विविधता अनेक प्रकार की शैलियों को अपने भीतर समाए हुए मिलती है। उनके स्वरूपों का पारस्परिक भेद इतना असंलक्ष्य होता है कि उसे स्पष्ट करना भी कठिन हो जाता है। गद्य-काव्य धारा के सम्बन्ध में भी यही बात है। अतएव हम यहाँ गद्यकाव्यों की प्रमुख शैलियों की ही चर्चा करना उपयुक्त समझते हैं।

हिन्दी गद्यकाव्यों में प्रधान रूप से ये शैलियाँ मिलती हैं—१ गीत-शैली, २ कथा-शैली, ३ वर्णन-शैली, ४ स्वगत-शैली, ५ संवाद-शैली और ६ सूक्ति-शैली।

गीत-शैली : गद्यकाव्यों की सबसे प्रधान शैली गीत शैली है। गद्य गीत तो प्रायः इसी शैली में लिखे गए हैं। इस शैली में लिखी जाने वाली रचनाओं का भी बाहुल्य है। इस शैली में प्रथम पंक्ति एक-एक भावखण्ड को व्यक्त करने वाले वाक्य के पश्चात् दुहराई जाती है। इस प्रकार "स्थायी" की पुनरावृत्ति द्वारा गद्यकाव्य में गीत का-सा आनन्द आता है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी का एक गीत देखिए :

महामिलन की बेला है, फिर हम और तुम क्यों न मिलें? अम्बर और अवनि मिल रहे हैं, यौवन और जरा मिल रहे हैं, जीवन और मृत्यु मिल रहे हैं, प्रकृति और पुरुष मिल रहे हैं।

महामिलन की बेला है, फिर हम और तुम क्यों न मिलें? जल और थल मिल रहे हैं, भय और प्रीति मिल रहे हैं, पाप और पुण्य मिल रहे हैं, गरल और सुधा मिल रहे हैं, अधर से अधर मिल रहे हैं, फिर हम और तुम क्यों न मिलें[1]?

कभी-कभी प्रत्येक भाव खण्ड वाले वाक्य के आरम्भ में एक ही प्रकार का वाक्यांश रख कर संगीत की सृष्टि की जाती है।

मैं तुम से मिलने को अन्धकार में बैठा हूँ। तुम मेरे पास दीपक लेकर क्यों आते हो?

मैं तुम से मिलने को सुनसान और एकान्त में भिखारी बना बैठा हूँ। तुम भूषण-रव करते और दलबल से क्यों आते हो?

मैं तो तुम से मिलने को सर्वस्वत्याग कर बैठा हूँ। तुम मेरे पास सब कुछ लेकर क्यों आते हो।

क्या तुम्हें भी दिखावा रुचता है[2]।

श्री भँवरमल सिंघी की 'वेदना', श्री तेजनारायण काक की 'मदिरा' ब्रह्मदेव की 'आँसू भरी धरती', श्री नोरेलाल की 'मणिमाला', श्री रावी की 'शुभ्रा' आदि कृतियों में यह शैली विशेष रूप से अपनाई गई है। गीतशैली के ही अन्तर्गत सम्बोधन-शैली, प्रार्थनाशैली और पद्यारम्भ-शैली भी आती है। उनका स्वरूप इस प्रकार है :

सम्बोधन-शैली : इस शैली में जड़ या चेतन किसी भी पदार्थ या व्यक्ति को सम्बोन्धित कर अपनी भावनाओं को व्यक्त किया जाता है। कवि, गायक, चित्रकार, कलाकार, पथिक, माँझी आदि को सम्बोधित कर हिन्दी में अनेक गद्यकाव्य लिखे गए हैं। सम्बोधन शैली में लिखा गया एक गद्यगीत देखिए :

"गायक! अपनी करुण रागिनी में,
वह मधुरतम स्वर लहरी भर दे कि
भरदे कि विश्व की पाशविक वृत्तियाँ,
अति मनोरम बन जाय।"

"चित्रकार! अपनी तूलिका से,
वह अनन्त सौन्दर्य बखेर दे कि
संसार मानवभाव धारण कर,
विश्व प्रेम का पावन पाठ सीख सके।"

---

[1] मौक्तिक मौले पृ. १३, [2] साधना पृ. ६२

"कवि ! अपनी मधुर कल्पना का,
वह मनोरम स्वर्ग-सा दे कि
विश्व मानवता के अतिरिक्त
सौन्दर्य का जिसमें प्रत्यक्ष दर्शन हो[१] ।"

प्रकृति के उपकरणों को सम्बोन्धित कर अपनी मनोदशा के व्यक्तिकरण का प्रयत्न इस प्रकार किया जाता है :

"चन्द्र ! तुम उस समय मुसकराना, जब मैं उसके सपनों अश्रु-मोतियों के बन्दनवार सजाऊँ।"

"वायु ! तुम उस समय खेलना, जब मैं किनारे की तरफ़ दौड़ती हुई लहर होऊँ।"

"सूर्य ! तुम तब प्रकाशित होना, जब मेरी भाव-दूर्वों पर बैठी हुई नीहार कणिकाएँ अपना सारा साज सजा ले।"

"सूर्य-चन्द्र ! तुम उस समय तपना, जब मैं तुम्हारे साथ हो सकूँ।"[२]

श्री रामनारायण सिंह की "मिलन पथ पर" पुस्तक तो पूरी की पूरी इसी शैली में लिखी गई है, जिसमें कोकिला, चकोरी, मयूरी, तितली, मीन, मृगी, दामिनी, बूँद, कलिका, कुमुदिनी, भ्रमरी, सरिता आदि को सम्बोधित कर विभिन्न प्रकार की भावनाएँ व्यक्त की गई हैं। इनके अतिरिक्त आत्मोद्धार और विश्वबन्धुत्व तथा वीरों को उत्साह देने वाली भावनाओं का भी इसी शैली में व्यक्त किया जाता है। श्री वियोगी हरि के अन्तर्नाद में इसका निखरा रूप मिलता है।

प्रार्थना शैली : यह शैली गद्यकाव्य का आधार है। लौकिक और अलौकिक प्रियतम के प्रति आत्म-निवेदन के गद्य-गीत इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं। श्री वियोगी हरि ने अलौकिक प्रियतम के प्रति हृदय की भावनाओं का व्यक्तीकरण यदि 'प्रार्थना' पुस्तक खुल कर किया है तो श्री रजनीश ने लौकिक प्रेयसी के प्रति अपने मन की व्यथा का व्यक्तीकरण 'आराधना' लिख कर किया है। इन गद्यकाव्यों में प्रिय की महत्ता का प्रतिपादन तो होता ही है, उसकी कृपा दृष्टि की याचना भी की जाती है। श्री वियोगी हरि कहते हैं :

प्यारे ! तुम्हीं राम हो और तुम्हीं रहीम। घट-घट में तुम्हारी ही लगन लहर तो लहरा रही है। कौन घट खाली है तुम्हारे प्रेम रस से ? बलिहारी ! खूब रम रहे हो रोम-रोम में, मेरे प्यारे राम !

ज़र्रे-ज़र्रे में तुम्हारा ही रहम तो समाया हुआ है। क्या ही मस्तानी चाल से झर रहा है, तुम्हारी दया का यह बारह मासी झरना ! प्यारे रहीम, अच्छा पिलाया है इस थके माँदे राहगीर को अपने रहम का यह ठण्डा-ठण्डा शर्बत।

मेरे राम ! ऐसे ही रोम-रोम में रमे रहो। मेरे रहीम, इसी तरह हमें अपने रहम का अमीरस पिलाते रहो[३]।

लौकिक प्रेयसी के प्रति प्रार्थना का स्वरूप यह है :

हे जीवनेश्वरी ! सर्वस्व देकर भी मेरे पास कुछ बच रहा हो तो तुम उसे भी ले लो।

हृदय पर अपना अधिकार पहले ही कर चुकी हो, अब बची है केवल आत्मा, आओ, उसे भी क्यों न अपनी आत्मा में लय हो जाने दो ! तन तुम्हारी सेवा में पहले ही अर्पण हो चुका है, शेष रह गए हैं प्राणमय, श्वास निश्वास, क्यों न वे भी तुम्हारे श्वास निश्वास के साथ मिल कर एक रूप हो जाएँ। संसार के असार धन-जन-सम्बन्धी सुख त्याग कर यदि मैंने कोई भी कामना भूरि पालपास कर बड़ी होने दी है तो वह केवल तुम्हारे ही सम्बन्ध में है; इसलिए अपनी कामनाओं के कुञ्ज में उसे भी मिल कर अदृश्य हो जाने दो।

हे प्राणांबिके ! सर्वस्व देकर भी मेरे पास कुछ बच रहा हो तो तुम उसे भी ले लो।

पद्यारम्भ शैली : कुछ गद्य-काव्य लेखकों के गद्य-गीतों की प्रथम पंक्ति पद्य की-सी होती है। उससे एक विशेष प्रकार का आकर्षण उनकी शैली में आ जाता है :

१. "रिम-झिम रिम-झिम बरसे बदरवा
मैल-श्री की सघन छाया में,
घड़ी भर के लिए प्रिय आ
विगत पतझड़ की पंक्तियों ने,
स्मृति पथ को ढक रखा है

---

[१] उन्मुक्ति पृ. ११ [२] आराधना पृ. २८ [३] आराधना पृ. २८

रिम-झिम रिम-झिम बरसे बदरवा''

''मिलने के बाद वियोग का क्षण निश्चित है,
किन्तु बिदाई के पूर्व तरु तले आ,
जिसकी गीली डालपर बैठ कर पपीहा
अपनी कूक से भादों की काली निशा के
काले स्वप्नों को प्रकम्पित कर रहा है
रिम-झिम रिम-झिम बरसे बदरवा''[१]

''भोर हुआ, उठ जाग सखी री !
वह परदेसी आया
प्रतीक्षा में रैन बिहारी
स्वागत-थाल अछूता ही रहा
माला के फूल मुरझा कर गिर पड़े
सौरभ फिर भी महक रहा है
आरती की लौ बिखर कर बुझ गई
सहे फिर भी उभर रहा है
रतनारे नयन-डोरों से अश्रु लड़ियाँ
बिखरा कर भग्न अन्तर ले
तू जा सोई उन्मन मना ?
अलसाई पलक उघाड़ उनींदी !
देखो तो अतिथि तेरे द्वार खड़ा है''[२]

''मैं उन्हें ढूँढ़ने क्यों जाऊँ सखि !
वे आज मुझे यहीं मिल गए मन में
मैं उन्हें मनाने क्यों जाऊँ ? सखि !
वे आज सहज मुसकरा उठे नयन में
मैं उन्हें रिझाने क्यों जाऊँ ? सखि !
वे आज यहीं बँध रहे स्नेह-बन्धन में''[३]

उपर्युक्त गद्य-गीत पद्य के निकट है। अन्तिम गीत को इतना सन्तुलित है कि उसमें छन्द का पूरा-पूरा सौन्दर्य निखर उठा है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी और शकुन्तला कुमारी 'रेणु' ने इस शैली को विशेष रूप से अपनाया है।

कथा-शैली : इस शैली द्वारा किसी भाव या विचार की व्यंजना सहज ही हो जाती है। यह हमारे देशों की ही प्रमुख शैली है जैसी कि वेद और उपनिषद् के दृष्टान्त कथाओं में होती है परन्तु आधुनिक काल में खलील जिब्रान द्वारा इस शैली को विशेष बल मिला है। यह लघुकथा कैसा आनन्द देने वाली चीज़ है। इस शैली में रचना के अन्त में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। श्री रायकृष्णदास के 'छायापथ' में इसका अच्छा प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण देखिए :

''मैं एक अत्यन्त सुन्दर चित्र देख रहा था। अचानक किसी के गाने का शब्द सुन पड़ा। तबीयत फड़क उठी। मैंने चित्र रख दिया। खिड़की से देखा कि एक अन्धा गा रहा है। जब वह समाप्त कर चुका, मैंने उस पर रुष्ट होकर कहा—'तू ने क्यों ऐसे समय मेरा मन आकृष्ट किया ? चित्र देखते-देखते मेरे हृदय में एक अपूर्व भावना उठ रही थी, वह अधूरी रह गई !'

वह हँस पड़ा। पूछा—'कैसा चित्र है ?'

मैंने वर्णन किया।

तब वह कहने लगा—'भैया, एक दिन मैं चित्रकार था, मैंने ही उसे बनाया था। तब लोग उलाहना देते कि तुम ऐसे चित्र बनाते हो कि उसे देखने में लोग स्वयं चित्र लिखे-से रह जाते हैं। अब अन्धा होकर अपने लिए सारी दुनिया गँवा कर—जो गाता हूँ तो भी उलाहने से मेरी जान नहीं छुटती[४]।'

यहाँ कलाकार की स्थिति की व्यंजना सुन्दर ढंग से हुई है। कहीं-कहीं अन्त में आदेश भी दिया जाता है जैसे—

'वियोगी हरि को 'परिश्रान्त पथिक' गद्य-काव्य में प्रभु रूपी हीरे की खोज में भटकने वाले व्यक्ति को यह आदेश दिया है—'दृष्टि निर्मल करो। दिव्य-दृष्टि से ही उसका दर्शन होगा। दिव्य-दृष्टि का अंजन तुम्हें इस वृक्ष के नीचे ही मिल जाएगा। धीरज धरो पथिक ! बहुत भटक चुके, अब चलने-फिरने की जरूरत नहीं। तुम चाहोगे तो वह हीरा इसी क्षण मिल जाएगा[५]। इस गद्यकाव्य में लेखक आवागमन के चक्र में फँसे व्यक्ति से बात-चीत करके अन्त में उसे उपर्युक्त सन्देश देता है।

इस प्रकार कथा-शैली आधुनिक गद्य-काव्य की एक प्रमुख शैली है। श्री राय कृष्णदास और श्री वियोगी हरि के अतिरिक्त श्री चतुरसेन शास्त्री में भी इस शैली का प्राधान्य है। शास्त्री जी की ''मरी खाल की हाय'' में इस शैली के ही गद्य-काव्य हैं।

---

[१] वंशीरव पृ. ६६ [२] उन्मुक्ति पृ. ४१ [३] वही पृ. ७७ [४] छायापथ पृ. ८३ ८४ [५] अन्तनदि पृ. ५१

वर्णन-शैली : वर्णन-शैली में सहज अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है। इसकी सीमा बड़ी विस्तृत है। जो गद्य-काव्य-शैली के किसी रूप-विधान में नहीं आते, वे इसमें आते हैं।

सभी गद्य-काव्य लेखकों ने इसका थोड़ा-बहुत आश्रय लिया है। कहीं इसके द्वारा किसी भाव का मूर्तरूप खड़ा किया जाता है, कहीं किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्रण होता है, कहीं देश और समाज की करुण दशा का चित्रण होता है और कहीं अतीत गौरव का चित्रण किया जाता है। श्री वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी और राजकुमार रघुवीर सिंह वर्णन-शैली के आचार्य हैं। कारण इन्होंने लम्बे गद्य-काव्य लिखे हैं और उन्हीं में यह शैली निखर पा सकती है। उदाहरण के लिए नीचे के गद्य-खण्ड पर्याप्त होंगे :

(१) यह सच है कि सुख में प्रलोभन है, पर मैंने उसे चखना एक ओर रहा, छू कर भी नहीं देखा। यही खैर हुई। वरना क्या होता? आज क्या यह पत्र लिख सकती? मन इतना साहस कहाँ पाता? आँसू आ रहे हैं, शरीर का रक्त मस्तक में इकट्ठा हो रहा है। और नसों की तन्त्री झनझना रही है। रह-रह कर मन में आता है, इस पत्र को फाड़ दूँ। यह असम्भव है। इतनी हिम्मत से, इतने साहस से, इतनी वीरता से जो पत्र लिखा है, उसे फाड़ूँगी नहीं। क्या आप इसका मूल्य समझेंगे[1]?

(२) सुकुमार मृग-शावक चपल चाल से उछलता थिरकता पलायन कर रहा है, कल्पना-कलित सुललित विहँग-संग तरु-शाखाओं पर सुरीला गायन कर रहा है। लाल लाला कर पल्लव पल्लव ललित सुमन्द हास्य किलकित शिशु पालने में खेलता हुआ माता के अनिमेष नेत्रों को आनन्द दे रहा है और आनन्द प्रेमियों के परस्पर आलिंगन में अवर्णनीय सुख सुधा वृष्टि हो रही है[2]।

(३) सीकरी का सीकर सूख गया। उसके साथ ही मुस्लिम साम्राज्य का विशाल वृक्ष भी भीतर-भीतर ही खोखला होने लगा। करोड़ों पीड़ितों के तपे तपाये आँसुओं से सींची जा कर उस विशाल वृक्ष की जड़ें मुर्दा होकर ढीली होगई थीं। अतः जब अराजकता, विद्रोह तथा आक्रमण की भीषण आँधियाँ चलने लगीं, युद्ध की चमचमाती चपलता चमकी, पराजय रूपी वज्रपात होने लगे, तब तो साम्राज्य रूपी वृक्ष उखड़कर गिर पड़ा, टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर गया और उसके अवशेष, विलास और ऐश्वर्य का वह भव्य ईंधन असहायों के निःश्वासों और शहीदों की भीषण फुंकारों से जल कर भस्म हो गया।[3]

यहाँ प्रथम उद्धरण में दुख मनोविकार का, दूसरे में प्रभात काल का और तीसरे में फतहपुर सीकरी के ह्रास का वर्णन है। देश-प्रेम की रचनाओं, देश की दुर्दशा, भारत-भूमि के सौन्दर्य, विद्रोह आदि के चित्र इसी कोटि में आते हैं। श्री ब्रह्मदेव 'शरणार्थी' नामक गद्य-काव्य में लिखते हैं :

'वे भाग' आ रहें—आराम से नहीं। उनका पथ जंगलों और पर्वतों का था। भूखे और प्यासे आ रहे हैं वे! ऊँची चढ़ाइयों से थक कर उनमें से बहुत विश्राम के लिए रुक गए हैं और वे कभी न उठेंगे। सद्यः जात कितने शिशुओं को माताओं ने वहीं छोड़ दिया है, निर्दय बन कर नहीं, वे उन्हें ढो नहीं सकती थीं और माँ पृथ्वी ने उन्हें अपनी गोद में ले लिया है। वे हवा की चादर के नीचे सुख से सो रहे होंगे[4]।'

स्वगत-शैली : नाटकों के स्वगत कथन का प्रभाव गद्य-काव्यों पर पड़ा है। इसमें स्वयं किसी से वार्तालाप-सा किया जाता है। श्री चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी और वियोगी हरि ने विशेष रूप से इस शैली को अपनाया है। 'आशा' नामक गद्य-काव्य में शास्त्री जी कहते हैं—'आशा! आशा!! अरी भली मानस! ज़रा ठहर तो सही, सुन तो सही, कहां खींचे लिए जा रही है? इतनी तेज़ी से, इतने ज़ोर से? आख़िर सुनूँ तो कि पड़ाव कितनी दूर है? मंज़िल कहाँ है? और छोर किधर है? कहीं कुछ भी तो नहीं दीखता! क्या अन्धेर है! छोड़ मुझे छोड़। इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज़ आया। पड़ा रहने दे, मरने दे। अब और दौड़ा नहीं जाता। ना ना, अब दम नहीं रहा। यह देखो हड्डी टूट गई, पैर चूर-चूर हो गई, साँस रुक गया, दम फूल उठा। क्या मार ही डालेगी? सत्या-

---

१. अन्स्तस पृ. २६ २ तरंगिणी पृ. ५९ ३. शेष स्मृतियाँ पृ. ९१ ४ आँसू भरी धरती पृ. १५

नी ! किस सब्ज़ बाग़ का झाँसा दिया। किस या में डाला मायाविनी ? छोड़-छोड़ मैं तो यहीं आता हूँ।¹ इसका और स्पष्ट रूप माखनलाल के 'साहित्य देवता' में मिलता है। जैसे : "क्या ! मैं निर्दय हूँ ? मेरे प्रहारों से तुम्हारी नज़र में मूल्य भले ही घट जाए, किन्तु 'धीर ध्वनि' में विश्व तुम्हारा मूल्य घटा देख कर जीवित नहीं रह सकता। जानता हूँ कि तुम पर कसे गुन तान कर खींच , तो तुम्हें स्वर समाधि देने का पाप मुझे लगेगा। तो, राजरानी का स्वर लहरों पर चढ़ कर, समा- होने का सारा व्यापार ही बिगड़ जाएगा। री चिर समाधि का षड्यन्त्र जब मैं रचूँ, तब मैं री नहीं रहता, हत्यारा हो जाता हूँ। किन्तु यदि रे गुनों को, विश्व बन्धनों को ढीला छोड़ देता हूँ तुम्हें अस्तित्व रख कर अस्तित्व रखने वाला बना है।²" इसी प्रकार श्री वियोगी हरि कहते हैं : "क्या स्वर्ग है ? तब तो छोड़ा ऐसा स्वर्ग ! देवदूत ! मुझे ने उसी मर्त्यलोक में भेज दे ? कर्मलोक का निवासी लोक की कामना नहीं करता। अरे ! मेरी वह कुटिया क्या बुरी है ? मुझे अपनी उसी मढ़ैया सन्तोष है।"³

स्वगत-शैली एक प्रकार से अपने भावों के प्रकाशन एक ढंग है। यह वर्णन-शैली का ही परिवर्तित रूप इसमें आकर्षक ढंग से हृद्गत भावों के प्रकाशन की रहती है।

संवाद-शैली : संवाद-शैली में संवाद द्वारा किसी व्यापी सत्य की व्यंजना की जाती है। इस शैली प्रश्नोत्तर प्रणाली अपनाई जाती है और इसके पात्र तो दोनों सचेतन होते हैं या दोनों अचेतन या दोनों में एक सचेतन और दूसरा अचेतन। इस शैली में और प्रियतम अथवा माता और पुत्र की बातचीत शृंगार अथवा वात्सल्य भाव की ही अभिव्यक्ति होती वरन् प्रकृति में प्राप्त होने वाली सजीव और वस्तुओं में से प्रत्येक के द्वारा किसी जीवन व्यापी की व्यंजना की जाती है। श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह 'मौन के स्वर' पुस्तक में जड़ जंगम के वार्तालाप द्वारा ही अनेक भावों की व्यंजना की गई है। श्री तेजनारायण काक की 'निर्झर और पाषाण' तथा श्री वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा की 'छोटे-बड़े' अप्रकाशित पुस्तकें भी इसी परम्परा की हैं। श्री रायकृष्णदास के "प्रवाल' में माता और पुत्र की भावनाओं का संवाद शैली में अच्छा चित्रण है। प्रिया और प्रियतम की बातचीत तो सर्वत्र मिलती ही है क्योंकि प्रेम की वृत्ति गद्यकाव्य का मूल आधार है। संवाद शैली का एक उदाहरण 'मौन के स्वर' से दिया जाता है :

"कागज़ ने सुई से कहा—"तू मेरे अंगों को भेद कर बड़ी कठोरता से काम लेती है।"

सुई : तभी तो तू सुन्दर पुस्तक का आकार धारण कर विद्वानों के कर-कमलों में जाता है, अन्यथा मूर्ख ! वायु तुझे सूखे पत्तों की तरह उड़ा ले जाती।⁴"

इस शैली में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता का उल्लेख नहीं होता, जैसे : नीचे के गद्यगीत में :

"मुझे जाना ही पड़ेगा।"

"कहाँ ?"

"इन रंगीली, मदमाती, उत्साह भरी विश्व की युद्ध लहरों के उस पार।"

"क्यों ?"

"जीवन के अल्हड़ खिलाड़ी की खोज करने।"

"कदाचित वह ढूँढने से न मिले तब ?"

"चुपचाप बैठने से ?"

"नहीं। स्वयं खो जाने से। तुम यहीं रहो वही तुम्हें खोज लेगा।⁵

सूक्ति-शैली : इसमें कला, साहित्य, प्रेम, जीवन, मृत्यु आदि विषयों के विषय में नई-नई उद्भावनाएँ की जाती है। इस शैली के प्रमुख लेखक श्री माखनलाल चतुर्वेदी हैं। उनका 'साहित्य देवता' सूक्तियों से भरा पड़ा है।

"यदि इरादों पर पहुँचने में रेल के टिकट काम आ जाया करते तो कला के स्वर्ग को हम पत्थरों और कागज़ों से छू सकते थे।⁶

कलाकार का जीवन द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत की अनुमति होता है⁷।

---

¹ अन्तस्तल पृ. ६१ २ साहित्य देवता पृ. ३१ ३ अन्तर्नाद पृ. ६४ ४. मौन के स्वर पृ. २० ५ उन्मन पृ. ८५
साहित्य देवता पृ. २२ ७ वही पृ. २५

कलाकार क्या है ? वह अपने युग की, स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान् की प्राणवान्, प्रेरक और कल्पक कूँची है ।[१]

तरुणाई और कविता ये दो वस्तुएँ नहीं, किन्तु एक ही वस्तु के दो नाम हैं ।[२]

'अ' को अक्षर ब्रह्म कहा है और काल तथा कला में केवल 'अ' कार मात्र अपना स्थान बदल लेता है । कला तो समझ के काल का माप है ।[३]

जो धारणाओं के गुलाम बने, उन्होंने मजहब बनाया । जो धारणाओं के शीश पर चढ़, शोध में आगे बढ़े, उन्होंने कला का निर्माण किया । धर्म बोला, मैं चिन्तन हूँ, कला बोली, मैं कल्पना हूँ ।[४]

जिसका पिता शेष हो, जिसकी माता उद्दण्डता हो, जिसकी बहन अविचार पूर्ण श्रद्धा हो, जिसका भाई परिणाम की गम्भीरता का अज्ञान हो, वह और चाहे जो कुछ हो, साहित्य तो नहीं हो सकता ।[५]

यात्रा तुम्हें पूरी करनी है और बोझ मुझे ढोने हैं । मैं तो राहुल सांस्कृत्यायन की तिब्बत यात्रा में मिलने वाला कुली हूँ, जिसे सारा बोझ उठा कर मृत्यु के 'ल्हासा' तक पहुँचा देता है ।[६]

चतुर्वेदी जी के लम्बे-लम्बे गद्यकाव्यों में थोड़ी-थोड़ी दूर पर ये सूक्तियाँ मोती-सी जड़ी रहती हैं । उनके अतिरिक्त श्री वियोगी हरि के 'ठण्डे छींटे' और श्री हरिभाऊ उपाध्याय के 'मनन' में तो ऐसी ही सूक्तियों के संग्रह हैं, जो लेखक की सूझ पर सोचने को बाध्य करती है ।

स्त्री एक मर्यादा में माँ, दूसरी में बहन, तीसरी में पत्नी है । फल या अन्न एक मर्यादा में भोजन, दूसरी में औषध, तीसरी में विष है ।[७]

किसी गरीब असहाय को हम चाँदी के चन्द गोल गोल टुकड़े क्या देते हैं, बदले में उसका तन, उसका मन और उसकी आत्मा तक खरीद लेना चाहते हैं । क्या ही सस्ता सौदा है[८] ।

श्रीमती दिनेशनन्दिनी, श्रीरामकुमार वर्मा, श्रीमती विद्या भार्गव, श्री शान्तिप्रसाद वर्मा तथा अन्य लेखकों ने दो तीन पंक्तियों के गद्यकाव्यों में जो नई सूझें सजाई हैं वे भी इसी के अन्तर्गत आते हैं ।

तुम कुरूप और काले हो तो खैर, वरना आरसी को हाथ से न गिरने दो : रूह आइना है और यह तन केवल उस पर आई हुई रजा[९] ।

जगत का राज खुलने पर वह रंगहीन इन्द्र धनुष की तरह आश्चर्य विहीन जड़ वस्तु-सा ज्ञात होगा[१०]

प्रेम और आकांक्षा हृदय की दो अनुभूति हैं—एक लक्ष्य की ओर संकेत करती है दूसरी चाहना के मृदुल आनन्द में आत्म-विभोर हो जाती है[११] ।

मिट्टी और ईटों को एकत्र करने पर बड़े-बड़े महल बने और तुम्हें निराकार मानते-मानते ही आज आँखों में साकार रूप का प्रतिबिम्ब छिटक पड़ा[१२] ।

सूर्यास्त के सौन्दर्य की ओर से दृष्टि हटा कर ज़रा इस छाया की ओर तो देखो—विस्तार के लोभ में पड़ कर यह अपने अस्तित्व को भी खो बैठी है[१३] ।

अनेक प्रकार के वृक्ष एक ही आकाश में जा रहे हैं जिस प्रकार एक ईश्वर मानने के लिए अनेक धर्मों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं ।[१४]

इन शैलियों के अतिरिक्त और भी कई शैलियाँ हैं। जैसे दैनन्दिनी शैली, संस्मरण शैली, सम्भावना शैली आदि । श्री रावी की 'पूजा' में और बालकृष्ण बल्दुवा की 'मन के गीत' इसी शैली की रचनाएँ आती हैं । इस शैली में दैनन्दिनी की भाँति अनुभव हैं । जैसे : 'अपने गत जीवन की अशान्ति को, अपनी ज्वाला कमक आह आँसू भय उन्मत घड़ियों को पर्वतीयत नद में डुबोकर, उन्हें अतल में सदैव के लिए जल समाधि देकर मैं जीवन का मधुर स्पन्धन लिए लौटा हूँ । प्रकृति की हरित सुषमा ने मुझे शान्ति का संदेश दिया है । अनन्त सौन्दर्य की स्निग्धता ने मेरे हृदय की रूक्षता हटा दी है । मैं नव शक्ति के साथ जीवन में फिर प्रवेश कर रहा हूँ[१५]।"

संस्मरण शैली में अतीत की घटनाओं का अथवा स्वर्गीय महापुरुषों के जीवन का सिंहावलोकन किया जाता है । श्री चतुरसेन शास्त्री की 'तरंगिणी' और श्री वियोगी हरि की 'श्रद्धाकरण' पुस्तकें इसी शैली की हैं।

---

[१] वही पृ. २६ [२] वही पृ. ७१ [३] वही पृ. ७५ [४] वही पृ. ८५ [५] वही पृ. १०१ [६] वही पृ. १४३
[७] मनन पृ. ६०६ [८] दुपहरिया के फैल पृ. १५ [९] उन्मन पृ. १७ [१०] श्रद्धांजलि [११] वही पृ. २६
[१२] चित्रपट पृष्ठ ३७ [१३] हिमहास पृ. ६४ [१४] ठंडे छींटे पृ. ३० [१५] मन के गीत पृ. ४२

१६४७ में अंग्रेजों की दासता से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक है भारतीय राजनीतिक आन्दोलन का चित्र है और द्वितीय में पूज्य बापू के जीवन और सिद्धान्तों का कीर्तन। श्रद्धाकण का एक गीत यह है—'उसने तो सदा यही कहा—'मैं तो एक सामान्य मानव हूँ। इसी-लिए तो वह पूर्णत्व प्राप्त कर सका। किन्तु भक्तों ने उसे मानव से परे अथवा भिन्न जाति का जीव मान लिया। राम, कृष्ण और बुद्ध को भी उन्होंने इस धराधाम पर मानव नहीं रहने दिया था। यह कैसी कथा बन गई प्रकृति की देवलोक में ही भक्तों की भावना विकसित होती है। जब कि उस महात्मा ने बार-बार कहा था—'तुम तो श्रद्धा के सहारे इस लौक के मानव में ही सत्य को खोजने और उसे आत्मासात् कर लो।''[1]

संभावना शैली में लेखक कल्पना करता है कि यदि वह आज जो कुछ है, वह न होकर कुछ और होता तो उसकी कथा स्थिति होती है। इसमें कल्पना-शक्ति का चमत्कार खूब दिखाया जाता है। अपनी भावनाओं के चित्रण की यह सर्वाधिक प्रचलित शैली है। बड़ी ही मधुर और उच्च कल्पनाएँ इस शैली में हुई हैं। सर्व श्री भँवरमल सिंघी औव दिनेशनन्दिनी ने इस शैली में बहुत कुछ लिखा है। जैसे—'यदि मैं देवता होता तो अपनी देव पुरी में मानव को निर्बन्ध आने देता। यदि मैं कुबेर होता तो अतुल धन-राशि को जन्मभूमि की क्षुधा के चरणों में बिखेर देता। यदि मैं इन्द्र होता तो पपीहे को तरसने न देता। यदि मैं विहंग होता, तो उसी टहनी पर बैठा करता जहाँ उसके प्रणय की फल निकलती। यदि मैं स्वर्ग होता तो नरक को अपने में समा लेता। मैं हूँ—पर यदि होता...[2] स्वयं को छोड़ कर प्रिय के कुछ होने पर प्रेमी की क्या...

इस प्रकार गद्यकाव्यों में शैली के रूप-विधान की विविधता मिलती है। उसे देख कर इस साहित्यिक धारा की संपन्निता और विशालता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। साथ ही इस धारा में समयानु-कूल शैली के नए-नए रूपों का भी ग्रहण होता आया है जो उसकी विकासशील परम्परा का द्योतक है।

आगरा कॉलेज, हिन्दी-विभाग,
आगरा

—डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

८० मील तक पुस्तकों की अलमारियाँ

ब्रिटिश-संग्रहालय में कितनी पुस्तकें हैं, यह किसी को ज्ञात नहीं है। विश्वास किया जाता है कि इस संग्रहालय में पुस्तकों की अलमारियाँ ६० मील तक फैली हुई हैं और इनमें ५० लाख पुस्तकें हैं। १६३१ में इन पुस्तकों का सूचीपत्र बनाना प्रारम्भ किया गया। २३ वर्ष के लगातार परिश्रम के पश्चात् इस बात को अनुभव किया गया कि इस सूचीपत्र को समाप्त करने में ८२ वर्ष लगेंगे। इस समय जिस गति से सूचीपत्र का कार्य हो रहा है; उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्य सन् २०३६ में समाप्त होगा और इस सूचीपत्र के २०० भाग होंगे। उस समय पुस्तकों की अलमारियाँ ८० मील तक फैल जाएँगी।

—यूनेस्को

---

[1] श्रद्धाकण पृ. ३६ [2] वेदना पृ. ६४

हृदय-सौन्दर्य ही सत्य-सौन्दर्य है

[मथुरा के राजमार्ग पर एक वृक्ष के नीचे एक युवती खड़ी है। युवती न सुन्दर कही जाएगी न कुरूप। मुख कुछ आकर्षक तथा सुडौल है। उसकी कमर पीछे निकली हुई है और वह झुकी है। हाथ में स्वर्ण थाल है, जिसमें अक्षत, कुंकुम और दो पुष्पमालाएँ धरी हैं। उसके शरीर पर कुछ आभूषण भी हैं। युवती का नाम कुब्जा है।]

कुब्जा : विधाता तूने लक्ष्मी और अभिमान का गठबन्धन क्यों किया? वह नरकासुर की पुत्री अभिमान में किसी को बदती ही नहीं। आसमान में थेंग्ली लगाना चाहती है। मुख का रंग जैसे काली मसि। पर अपने को सुन्दरता का अवतार समझती है। क्यों? बस इसीलिए कि वह महादेवी है। मैंने बसन्तोत्सव के दिन कुछ दो चार आभूषण पहिन लिए थे, आँखों में काजल सार लिया था, वस्त्र भी कुछ चमकीले पहने थी। अपना त्योहार-दिवस जो था। मेरे इन वस्त्रों से कौन-सा प्रलय मच जाता। वह कलूटी बोली, "ओ री कुब्जा, क्या ब्रजबारा कन्हय्या तेरे साथ होरी खेलने आएगा। सब सखियाँ खिल-खिला पड़ीं। उनका भी इतना साहस हो गया कि जब मुझे उजला वस्त्र, आँखों में काजल, कोई आभूषण पहने देखती हैं तो बक उठतीं है, क्यों राधा! ब्रजबारा आवैगो।" मैं खून का घूँट पीकर रह जाती हूँ।

(निपुणक नाई का प्रवेश)

निपुणक : अहा हा! कुब्जा आज तो पूरी तय्यारी है। बस कन्हय्या की कमी है। देख, कहीं वह लूट न ले।

कुब्जा : क्यों रे काणक! जिसका खाए उसी को लजाव। तेरी यह ताकत कि तू भी मेरे साथ ठिठोली करे। याद है वह दिन, द्वार-द्वार का भिखारी बन गया था। मैंने ही राजा कंस की सेवा में रखवाया था। आज मुझे ही आँखें दिखाने चला है।

निपुणक : (हाथ जोड़ कर) नहीं, नहीं कुब्जा रानी, अप्रसन्न न हों। मैंने सजे-धजे रूप में आपको मार्ग पर आँखें बिछाए देखा तो कुछ ठिठोली कर बैठा। सच बात तो यह है, मैं आपकी ही खोज में था। आपका काम......(चुप हो जाता है)।

कुब्जा : (शीघ्रता से) क्या नहीं हुआ?

निपुणक : (हँस कर) कुब्जा रानी की आज्ञा और निपुणक की निपुणता क्या मूर्ख के उद्यम की नाई निष्फल होंगी? असम्भव है। महावत को मैंने मित्र बना कर खूब पिलाई। यह तो आप जानती ही हैं कि पियक्कड़ को बस पिला भर दो। फिर तो वह उधर ही नाचता है, जिधर संकेत दो। मद्य पी कर दूसरे की बुद्धि से चलता है, दूसरे के संकेत से मचलता है। महावत मेरा घनिष्ठ मित्र हो गया है। मैंने उससे कहा; परन्तु...

कुब्जा : परन्तु वह न माना, यही कहना चाहते हो न?

निपुणक : बड़ी उत्सुकता है कुब्जा रानी मानो स्वयं आपका ही काम है। मैंने जब उससे कहा, उसने इन्कार कर दिया। किन्तु मदिरा और स्वर्ण का मारा कभी जीता बची है। मद्यपी को धन का अभाव सदा ही रहता है। एक सहस्त्र मुद्रा की भी वह घूँट बना डालता है। मैंने सोने की चोट दी। महावत चारों खाने चित रहा। जैसी आप की आज्ञा थी, वैसा ही होगा (कुब्जा एक स्वर्णहार उतार देती है)

कुब्जा : निपुणक! मुझे तेरी निपुणता पर भरोसा था। आज तूने अपना नाम सार्थक कर दिया। तो तू रनिवास जा रहा है। मैं पूरा प्रबन्ध कर आई हूँ। इस पर भी यदि महाराज कंस पुकार ही उठे तो निवेदन कर देना कि कुब्जा दासी ज्योतिषी जी के कथनानुसार महाराज के कल्याणार्थ यमुना स्नान को गई है।

(निपुणक सिर नवा कर जाता है)

कुब्जा : मैं आग से खेलने जा रही हूँ। यदि महाराज के कान में तनिक भी भनक पड़ गई तो चौराहे पर मुझे बाणों से बींध दिया जाएगा। यह महाराज के साथ विश्वासघात जो है। मैं ठहरी उनकी प्रधान दासी। परन्तु मैं हृदय को किस प्रकार मनाऊँ। यह बावरा तो कुमार्ग से हटने का नाम ही नहीं लेता। इस मार्ग पर

१६५७

देखनेवाले भी तो महाराज स्वयं और उनकी रानियाँ ही हैं। महादेवी को तो इसमें आनन्द आता है। जब मुझे देखती हैं, कहती हैं...कुब्जा, कन्हय्या आने वाला है। अन्य रानियों ने भी महारानी का स्वर पकड़ लिया है। और अधीनस्थ दासियाँ भी रानियों के रुख के कारण मुझ पर संकेत कर हँस पड़ती हैं। मेरी क्या आँखें नहीं हैं? उस दिन वह ताम्बूलवाहिनी झुक कर चल रही थी और अन्य सब हँस रही थीं। मैं आ गई तो सब चुप थीं। पर मैंने देख लिया था।

(कुछ दौड़ने का शब्द। कुब्जा सशंक और उत्सुकता से नेपथ्य में देखती है)

कुब्जा : चोर को कितना त्रास होता होगा। मैं डर गई। अच्छा हुआ यह घुड़सवार इधर न आया। पर कन्हैया का रथ अब तक क्यों नहीं आया? क्या न आएँगे? ऐसा नहीं हो सकता। वे अवश्य आएँगे। पर क्या वे मेरा विश्वास कर मुझे अपना बनाएँगे? यदि न अपनाया तो क्या होगा? सामने यमुना मैया की गोद खाली है। सुना है कन्हैया कमल जैसा कोमल सुना है। उसे कुचलने को महाराज की इतनी नृशंस तैयारियाँ और इतने घातक षड्यन्त्र! क्या यह उचित है! उसने महाराज का क्या बिगाड़ा है? एक साधारण गोप है, जिसे सब प्यार करते हैं। बस यही अपराध है, उसका कि वह अत्यन्त सुन्दर है और परोपकारी है। सुना है उसकी भुजाओं में हाथियों का बल है। तभी तो मेरा मन रीझा है? नहीं, नहीं मेरे मन को रिझवाया गया है। रानियों और दासियों के व्यंग सुनते-सुनते "कन्हैया वरेगा तुझे तो" मुझे कन्हैया से प्रीति हो गई है। मैंने निश्चय किया है...हाँ मैं कन्हैया को ही पा कर इन सबके मुख पर कालिख पोतूँगी (घर-घर का शब्द) लो वह रथ आ रहा है। पर यह आगे दढ़ियल कौन है? अरे, ये अक्रूर जी हैं। पीछे दो सुन्दर युवा बैठे हैं। वह साँवला ही कन्हैया होगा। कैसा मन को मोह रहा है।

(नेपथ्य में एक मीठा स्वर) पूज्य, आप अब घर जाएँ, हम यहाँ यमुना में स्नान कर पैदल ही राज-सभा में पहुँचेंगे। (पुनः नेपथ्य में पहियों का शब्द)

कुब्जा : भला हुआ अक्रूर जी लौट गए। मैं तो बड़े असमंजस में पड़ गई थी। भगवान् जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है।

(आगे बलराम और पीछे कृष्ण का प्रवेश। कुब्जा मार्ग रोकती है)

बलराम : (तीक्ष्ण स्वर में) कौन मार्ग रोके है? दूर हट नहीं तो नाक पर घूस्त दूँगा।

देवी जी आप कौन हैं? धन्यभाग कि आपने पुष्प दर्शन कराया। अब हमारा कार्य सिद्ध होगा।

अवश्य! सम्भवतः तुम कन्हैया हो और ये तुम्हारे बड़े भाई बलराम प्रतीत होते हैं जो हवा से लड़ते चलते हैं।

देखरी, तू नगर की सेठानी होगी या रानी। पर याद रख, बलराम के हाथ जिस पर भी पड़े हैं वह फिर दूसरी साँस नहीं ले पाया है। हाँ, कह तू क्या करेगी। मैं बलराम हूँ और यह मेरा छोटा भाई कृष्ण है।

कुब्जा : (कृष्ण के पैर की मिट्टी निकाल कर कृष्ण के सिर पर घुमा कर फेंक देती है) कन्हय्या, तुम्हारी बलाएँ शत्रुओं पर जावें। मैं कंस की प्रधान दासी कुब्जा हूँ। मैं तुम्हारी राह डेढ़ प्रहर से खड़ी देख रही हूँ। मेरा सौभाग्य तुम आ तो गए।

बलराम : (कृष्ण का हाथ पकड़ कर खींचते हैं। कृष्ण छुड़ाते) चल भइया! तूने उस दिन राम-कथा में कालनेमि की कथा सुनी थी ना! महावीर का मार्ग रोकने आ खड़ा हुआ था। यह भी कंस की भेजी कोई काल......

कृष्ण : नहीं दाऊ! मैं कुछ और ही समझ रहा हूँ। तुम कृपया यमुना स्नान को चलो। मैं भी शीघ्र पहुँचता हूँ।

बलराम : कन्हय्या! यही तो तेरी बुरी लत है। तू हठी बड़ा है। मन में आया तो जम गया। फिर टस से मस नहीं होता। अरे भइया! नगर की स्त्रियाँ बड़ी जादूगरनी होती हैं। ये सुन्दर पुरुष को मक्खी या तोता बना कर पाल लेती हैं। उपनन्द काका ने बताया था कि रात को आदमी बना देती हैं, दिन में मक्खी। चल, चल शीघ्र मेरे साथ स्नान कर।

कृष्ण : दाऊ! मैं अभी आता हूँ। तुम चलो। मैं इस भद्रे से कंस के दो-तीन भेद ले आऊँ।

बलराम : बस जहाँ सुन्दरता देखता है तू फिसल पड़ता है। पर यह तो इतनी सुन्दरी भी नहीं।

कृष्ण : दाऊ! क्यों भूल गए। क्या राधा, चन्द्रा, इत्यादि के बिना मैं उस भयंकर बाढ़ में व्रज को बचा

सकता था ? उन गोप बालाओं और गोपललनाओं ने कहाँ-कहाँ सहायता नहीं की। मेरा बल है स्त्री। स्त्री सी अबला और सबला जगत् में कोई नहीं, यदि हम इनका बुद्धि से प्रयोग कर सकें।

बलराम : तुझे अधिक बोलने का भी रोग है। अच्छा बाबा तू इस नागरी-नवेली से मन बहला। मैं यमुना जी जाता हूँ। पर शीघ्र आना।

(बलराम जी जाते हैं)

कृष्ण : सुन्दरी ! क्षमा करना। मेरे अग्रज बड़े स्पष्टवादी हैं। वे मन की मन में रख कर समय आने पर छिपी कटारी नहीं चलाते। मुँह की मुँह पर, पानी को पानी कह देते हैं, दूध नहीं बताते। क्या मैं जान सकता हूँ कि आपने इतनी कृपा मुझ पर क्यों की ?

कुब्जा : अवश्य, तभी तो यहाँ डेढ़ प्रहर से खड़ी हूँ। कन्हय्या क्या तुम जानते हो, कंस ने तुम्हें क्यों बुलाया है ?

कृष्ण : यज्ञ देखने को, और क्यों ?

कुब्जा : नहीं कन्हय्या, तुम यहाँ मुझसे कुछ छिपा रहे हो। तुम इतने भोले नहीं हो। तुम अवश्य जानते होंगे कि कंस अकारण तुम्हें यहाँ यज्ञ देखने न बुलावेगा। अच्छा यह बताओ नन्द जी कहाँ हैं ?

कृष्ण : वे दूर पर उतर कर अपने एक मित्र के यहाँ चले गए हैं जो राजकर्मचारी हैं। वे जानना चाहते हैं कि इस निमन्त्रण के पीछे कुछ अभिसंधि तो नहीं है।

कुब्जा : तो, बस, मैंने सत्य ही कहा ना। तुम अवश्य ही जानते हो कंस की नियत साफ़ नहीं है। उसने सिंहों को जाल में फँसा कर मारने का षड्यन्त्र किया है।

कृष्ण : तब भद्रे ! हम कर ही क्या सकते हैं। यहाँ हम असहाय हैं।

कुब्जा : कंस की भेजी छद्मवेशी बलवान राक्षसी पूतना और वकी को मसल डालने वाले कभी असहाय हो सकते हैं। कंस, मेरे कन्हय्या का बाल भी बाँका नहीं कर सकता। हाँ, एक बात पूछना तो भूल ही गई। मैं तुम्हें कन्हय्या नाम से पुकार सकती हूँ ना ?

कृष्ण : (मुस्करा कर) अवश्य सुन्दरी, तुम और भी जो चाहो कह सकती हो।

कुब्जा : (गद्गद् होकर आँखें मूँद लेती है) कन्हय्या, प्यारे कन्हय्या ! मेरे हृदय की साध पूरी हुई। (सहसा उत्तेजना के साथ) कौन मेरे कन्हय्या की उंगली का नख भी छू सकता है ? (शान्त होकर) कन्हय्या, मैंने सब प्रबन्ध कर लिया है, तुम्हारे लिए।

कृष्ण : (हँस कर) ज़रा मैं भी तो सुनूँ कितना माखन, कितने मन लड्डू का प्रबन्ध किया है ?

कुब्जा : (हँस कर) बड़े प्रियवादी हो कन्हैया। तुम नहीं जानते कंस का एक प्रधान मल्ल है चाणूर। उसमें १०० हाथियों का बल है। वह कंस और जरासंध को भी कुश्ती में पछाड़ देता है। कुम्भकर्ण का छोटा भाई समझो उसे। वह तुमसे कुश्ती लड़ेगा। पर मैंने उसे गाँठ लिया है। वह भी मुझे देख कर आँख चलाया करता था। अपना बिगड़ता ही क्या था। मल्ल लोग प्रायः कामुक अधिक होते हैं। स्वाभाविक भी है, पौष्टिक पदार्थ जाएँगे भी कहाँ। परसों मैं उसके पास गई। वह झूम उठा, मैंने उसे मदिरा पिलाई। आज रात को भी गई और मदिरा में एक प्रकार का धीमा विष दे आई हूँ। उस विष का प्रभाव बहुत शिथिल है। तुम उसे कुश्ती में पछाड़ ही न दोगे, मार भी सकोगे।

कृष्ण : कुब्जा, प्रिए, तुमने इतना किया मुझ अपरिचित के लिए।

कुब्जा : (गद्गद् हो कर) तुम अपरिचित कहाँ हो चितचोर, तुम तो मेरे सबसे अधिक निकट हो।

(बलराम का प्रवेश। भीगी धोती)

बलराम : (तनिक ज़ोर से) मैंने पहले ही अंदेशा किया था, कन्हैया कि यह तुझे फँसा लेगी। चल जल्दी स्नान कर। दोनों साथ-साथ सूर्य भगवान् से जल में खड़े कल्याण माँगेंगे।

कृष्ण : पर दाऊ। मेरा कल्याण तो यहीं आ गया है।

बलराम : चल वह तुझे बुलाने आया है।

कृष्ण : नहीं, मुझे आदेश देने आया है कि मैं जो कहूँ उसे करो। मेरा कल्याण कुब्जा है तो, कुब्जा, और क्या प्रबन्ध हुआ है मेरे स्वागत में। एक तो मल्ल मुझे कुश्ती में मारेगा।

बलराम : तू क्या बहकी बहकी बातें बना रहा है ?

कुब्जा : दूसरा स्वागत होगा कंस के पागल गजराज द्वारा। वह इसी काम के रक्खा हुआ है। वह

र छोड़ा जाएगा।

बलराम : हे, राम यह कैसा षड्यन्त्र। तब कैसे जाएगा।

कुब्जा : उसका भी प्रबन्ध हो गया है। कंस का नाई है। वह मेरा उपकृत है। उसको कंस की सेवा ही लगवाया था। उसने महावत को मुट्ठी में कर है। साथ ही हाथी को भी मदिरा के साथ शिथिल दे दिया गया है। उसे इतनी मदिरा पिला दी कि गजराज का बल व्यर्थ-सा हो जाएगा। उधर, तुम्हारी भुजाओं में भी बल है।

कृष्ण : सुन्दरी कुब्जा! मेरा बल तो केवल कुब्जा हार्दिक सहयोग है।

कुब्जा : अवश्य इसी प्रकार कन्हैया तू ने व्रज-ओं का मन हरा होगा। मीठी बातें बनाने में तू कुशल है। यह मिठास जब बाँसुरी की तानों से होगा तब अवश्य व्रजबालाएँ बेसुध हो जाती। हाँ, तो कन्हैया! यदि इन उपायों से भी बच तो कंस एक विषबुझी कृपाण से तेरे ऊपर वार ।

बलराम : दय्या रे दय्या, तब कैसे होगा, अच्छा अपना हल साथ ले जाऊँगा।

कुब्जा : (हँस कर) नहीं दाऊ जी! आप हाथों न ले जा सकेंगे। पर चिन्ता नहीं। कन्हैया का पर आघात मेरे तो शव पर खड़ा होकर ही हो । सामने धोबी कपड़े धो रहा है। यह महाराज निजी धोबी है। यह एक विशेष प्रकार का वस्त्र देगा। वे शरीर से चिपट जाएँगे जो एक विशेष के धागों से बने हैं, जिन पर आग और विष बुझे शस्त्रों का प्रभाव न होगा। कंस उन वस्त्रों को सकेगा। मैंने वैसे ही दूसरे वस्त्र प्रस्तुत करवा इस धोबी को दे दिए हैं। कंस वाले तुम पहनोगे साधारण वस्त्र कंस।

बलराम : वाह री दासी! तू तो बड़ी चतुर है। विष बुझी कृपाण का क्या होगा जो कंस के रहेगी।

कुब्जा : उसकी चिन्ता न करो। वह मैं बदल । साथ ही तुम्हें एक विष बुझी कृपाण दूँगी। जब कंस तुम पर आक्रमण करे तो तुम उसे ठिकाने लगा देना। धोबी को बहुत गहरी रकम और भविष्य का वचन देना पड़ा है। बोलो क्या मेरी एक बात मानोगे?

इंजीनियरिंग कालेज,
पुर

कृष्ण : एक नहीं, सौ।

कुब्जा : तो कंस के बाद राजा बनने पर इस धोबी का विवाह ताम्बूलवाहिनी से करा देना, यही इसकी इच्छा है।

कृष्ण : वह ताम्बूलवाहिनी तो क्या, मैं तुम कहोगी जिससे विवाह करा दूँगा।

कुब्जा : (हँस कर) यह तो दण्ड होगा धोबी के लिए। वह धोबी बड़ी कठिनता से हाथ में आया है।

(कृष्ण एक पुष्प-माला थाली में से उठा कर कुब्जा के गले में डाल देते हैं। कुब्जा दूसरी कृष्ण के गले में डाल कुंकुम अक्षत लगाती है)

कुब्जा : चिरंजीवो प्यारे कन्हैया, आज आ कर देखे वह कंस की कलूटी कि कन्हैया ने मुझे वरा है या नहीं। कन्हैया, वह महादेवी जो मसि को भी लजाती हैं, मुझ पर हँसती थीं। दासियाँ भी परोक्ष में बर्रा उठती थीं...लो कन्हैया आ गया। पहना दे वरमाला। अन्य रानियाँ भी चिढ़ती थीं...त्रिलोक सुन्दरी है, कन्हैया को बरेगी इस काजल से। वे मेरी झुकी और बाहर निकली कमर को देख कर झुक-झुक कर चलती थीं। आज मैं कृतकृत्य हुई। न सही सुन्दरी, पर कन्हैया ने तो अपना लिया।

(पैर छूना चाहती है। कृष्ण उसके दोनों हाथ पकड़ माथे पर लगाते हैं)

कन्हैया : कुब्जे। कौन कहता है, तुम सुन्दरी नहीं, तुम महासुन्दरी हो।

कुब्जा : अब तुम भी बनाने लगे कन्हैया।

कन्हैया : (चिबुक पकड़ कर) नहीं प्रिय कुब्जे। मुख हाथों का सौन्दर्य भी सौन्दर्य है। इसमें भी आकर्षण है। परन्तु स्थायित्व नहीं, न सौन्दर्य में न आकर्षण में। किन्तु इससे महान् और मूल्यवान है हृदय का सौन्दर्य, जो स्थायी है, टिकाऊ है। वाह्य सौन्दर्य केवल अभिभूत करता है किन्तु हृदय-सौन्दर्य खरीद कर गुलाम बना लेता है। हृदय का सौन्दर्य ही सत्य सौन्दर्य है। मैं तो हृदय सौन्दर्य का ही ग्राहक हूँ।

—गोपीनाथ तिवारी

प्रथम बार

"जहाँपनाह !" सरदार ने काँपते स्वर में कहा। उनका बदन आज पतझर के उस पीले पात के समान काँप रहा था जो पवन के बार-बार झकझोरे जाने पर भी अपनी डाली नहीं छोड़ता। सभा में सन्नाटा छा गया। सामन्तों का एक हाथ तलवार और दूसरा मूँछ पर चला गया।

"जहाँपनाह !" सरदार ने पहले से भी अधिक काँपती आवाज़ में कहा।

"मेरी आँखें क्या देख रही हैं, सरदार? आज हिमालय क्यों डिगा जा रहा है?" सम्राट् ने मेघ-गंभीर स्वर में पूछा।

"देवाधिदेव ! बात यह है कि......"

"हाँ कहो...कहो..."

"बात यह है कि...जहाँपनाह..." और इस बार तो सरदार सिसक उठे, उनके बड़े-बड़े नयनों से अबके तो मोती भी ढुलक पड़े।

"हाँ, साफ़-साफ़ कहो...हम भी तो सुनें—" महाराज ने उसी मुद्रा में कहा किन्तु सरदार अपने चिरपरिचित विशेषण से एक डग भी आगे न बढ़ सके ! सभासदों के हृदयों में भी तूफ़ान उठ निकले, बुद्धि, सरदार की बात, उनके कहने से पूर्व ही जानने के लिए, दौड़ निकली। सामन्तों की मूँठ पर की हथेलियाँ और भी मजबूत हो गई, मूँछें और भी नुकीली हो गईं, भौंहें और भी ऊपर उठ गईं।

सम्राट् ने उसी गम्भीर स्वर में फिर पूछा : "वीर पुंगव ! ऐसी कौन-सी चींटी है, जिसके पंख जम रहे हैं ? ऐसा कौन-सा अभागा है जो आँख मूँद कर महाकाल की ओर बढ़ा चला आ रहा है ? कहो...कहो...बोलो ! उसका मुण्ड अभी तुम्हारे कुत्ते के चरणों में डलवा दूँगा, आँखें नुचवा कर फेंक दूँगा...कहो...कहो...बोलो।" राजा अत्यन्त उत्तेजित होकर उठ खड़े हुए। नर-शार्दूलों की भी तलवारें म्यान से बाहर आने के लिए मचल पड़ीं, भुजाएँ फड़क उठीं, रक्त-शिराएँ खौल उठीं ! समीर इस दृश्य को देखने ठिठक गया।

"सरदार से प्रार्थना है कि वे अपनी बात अविलम्ब बताएँ"—सभासद भी एक साथ चिल्ला उठे।

"महाराज ! मुझे प्राणों की भीख दी जाए" कह कर सरदार सम्राट् के चरणों में गिर पड़े। बहुतों को तो अपने प्रश्न का उत्तर इतने से ही मिल गया।

"तुम कुछ भी कहने के लिए स्वतन्त्र हो। क्या तुम्हें भी मुझे महाराजा जसवन्त सिंह के न्याय की याद दिलानी पड़ेगी ? न्याय के आगे सब समान हैं।" बिना सोचे महाराज कह गए।

"महाराज ! आज रात को सम्राट् की पुत्री ने—कुमारी कला ने-—मेरे पुत्र...मुझे प्राणों की भीख दी जाए !"—सरदार कह रहे थे और सुबक रहे थे।

सामन्तों की हथेलियाँ ढीली पड़ गईं, रक्त की गति धीमी पड़ गई, बाहर ठहरा हुआ मरुत कुछ ठिठक कर पुनः आगे बढ़ गया। कुछ सामन्त मन ही मन मुसका उठे, कुछ इस घटना के भावी फल पर विचलित हो उठे। पर महाराज ज्यों के त्यों थे। उनके थोड़े-से ओंठ खुले, उपस्थिति अपलक नयनों से उन्हें देखने लगी !

"प्रातः ही तुम्हारा न्याय होगा"—महाराज ने कहा और उठ कर अन्तर्कक्ष में चले गए। सभासदों ने भी ख़ामोशी से अपने-अपने घरों की राह ली। इतनी ही देर में पवन ने इस बात को न जाने कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया।

× × ×

उत्तर-प्रदेश में एटा से चार मील पूर्व एक राज्य था—जसूगढ़। महाराजा जसवंत सिंह उसके राजा थे। यह राज्य विशेष बड़ा तो नहीं था किन्तु इसकी ख्याति अवश्य दूर-दूर तक थी। कारण यह था कि महाराज की न्यायप्रियता चित्रगुप्त से भी आगे निकल गई थी। दानवीरता में कर्ण भी लजा जाते। ब्राह्म मूहूर्त में ही उठ कर एक सहस्र ब्राह्मणों, साधु-संन्यासियों को भोजन-वस्त्र देना उनका दैनिक कार्य था। उनके दरबार में प्रत्येक की पहुँच समान गति से थी। प्रजा सब प्रकार सुखी थी। कोई उन्हें पिता कहता, कोई देवता। कोई जहाँपनाह से संबोधित करता तो कोई महाराजा से। महाराज सबका पुत्रवत् पालन करते। अपनी रैयत के तनिक से

१६५७

मुख को देख कर वे पिघल जाते। किन्तु इस विनम्रता के साथ-साथ उनकी तलवार के पानी की धार भी बड़ी तेज थी। समय आने पर वे नवनीत से वज्र भी हो सकते थे—इस बात को हर कोई जानता था। इसलिए कोई भी राजा उनके छोटे-से राज्य की ओर आँख उठा कर स्वप्न में भी नहीं देखता। यदि कोई दुस्साहस कर भी बैठता तो उसका फल पहले से ही ज्ञात था। उनके एक ही पुत्री थी—कला। पूनों के चाँद की साक्षात् कला थी वह—गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, पतले ओंठ, मोहिनी चाल, गदर यौवन और उम्र ?—कहीं चौदह और पन्द्रह के बीच। महाराज का समस्त वात्सल्य उसी पर ढल पड़ा था। वे संभवतः अपने पुत्र को भी इतना प्यार न करते। उन्हें पुत्राभाव तनिक भी नहीं खटकता है।

किन्तु यौवन तो एक-सी चाल से आता है। वह महल में भी उसी गति से प्रवेश करता है, जिससे झोंपड़ी में, वह राजकुमारी में भी उसी प्रकार लहराने लगता है जिस प्रकार कहीं दूर जंगल की भील-कन्या में। सारांश यह है कि कला को यौवन कचोट रहा था। उधर महाराज के सम्माननीय सरदार (नाम शायद ही कोई जानता हो क्योंकि उन्हें सब सरदार ही कहते थे) के इकलौते पुत्र, केतु की भी वह अवस्था थी जब व्यक्ति काम-साम्राज्य की ओर उन्मुख हो निकलता है। पर सरदार उसे दिग्विजयी देखना चाहते थे, अतः उनका उस पर सख्त पहरा रहता। उसे घर से बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। उसके एक-एक क्षण पर सरदार की निगाह रहती। वह स्वेच्छा से एक भी मिनट नहीं व्यय कर सकता था। इसी कारण दरवाजे खुले होने पर भी अभी केतु का प्रेम से साक्षात्कार नहीं हुआ था।

सरदार ने सोचा कि अब उसे राज दरबार के नियमों से परिचित करा दिया जाए; अतः प्रतिदिन उसे दरबार में ले जाया जाने लगा। निदान एक दिन कला की निगाह केतु पर जा ही पड़ी। अपने प्रश्न का इतने समीप ही उत्तर देख कर वह सिहर उठी। एक रात किसी बहाने उसने सरदार पुत्र को बुलवा भेजा।

"कहाँ छिपे रहते हो केतु ?" नारी की स्पष्ट आवाज थी।

"कहीं नहीं। पिता जी की आज्ञा है कि युवकों को देहरी नहीं लाँघनी चाहिए।"

"उँह, सरदार जी भी बड़े वैसे हैं। यही उम्र तो आने जाने की ही है।"

"आने-जाने की है ? कहाँ ? क्यों ?" केतु को आश्चर्य था।

"क्यों ?... यौवन जो आता है।"

"यौवन जो आता है ?—यौवन कब आता है, राजदुलारी ?" युवक ने अनजाने स्वर में पूछा।

"तुम तो बड़े भोले हो केतु! यह क्यों नहीं पूछते कब बुलाया जाता है ?"—मुस्कान के साथ कला ने अपना प्रकाश बिखेर दिया।

और तभी.....।

केतु को उन कुछ ही क्षणों में प्रथम बार अपने अस्तित्व का बोध हो गया, कुछ ही क्षणों में उसे जिन्दगी का मर्म-ज्ञान हो गया, कुछ ही क्षणों में उसे अपने ऊपर पिता की इतनी कड़ी निगरानी का राज मालूम हो गया। जिस घर में उसके अब तक के जीवन के प्रत्येक क्षण का इतिहास लिखा गया, अब उसे उसी घर में जाना अच्छा नहीं लग रहा था। निदान घर वापस गया किन्तु उसका मन तो वहीं गिर पड़ा था। खोया-खोया-सा वह अपनी खाट पर लेट गया।

"सुस्त क्यों हो बेटा ?" सरदार ने लाड़-भरे स्वर में पूछा।

"कुछ नहीं पिता जी! आज कला ने एक ऐसी कहानी सुनाई है, जिसमें एक बेक़सूर राजकुमारी को फाँसी दे दी गई और एक बेगुनाह राजकुमार को फाँसी खाने के लिए मजबूर कर दिया गया।"

"ऐसा तो होता ही है बेटा!" सरदार ने कुछ और ही ढंग से कहा।

"कहाँ होता है पिता जी ?"—केतु ने कुछ और ही ढंग से पूछा।

"इसी दुनिया में जिसमें हम तुम रहते हैं। हाँ, यह तो बता अब कौन से शस्त्र का अभ्यास शेष है ?" सरदार ने बात बदलते हुए पूछा।

"तब तो पिता जी यह बड़ी अजीब दुनिया है"—केतु ने बदलती हुई बात को प्रथम बार फिर बदल कर उत्तर दिया।

सरदार-पुत्र खाट पर लेटा हुआ था पर आज उसे नींद ही नहीं आ रही थी।

"कला....कला....तू....सरदार भी....बड़े वैसे

हैं...यही उम्र...तो...कला...कला..." वह बड़बड़ा रहा था। सरदार ने कुछ ही क्षणों में सब कुछ जान लिया, राजकुमारी की कही हुई कहानी उनके सामने उभर आई—और तभी वे महाराजा के पास जा पहुँचे।

× × ×

"तुम्हें कुछ कहना है बन्दी!" मौन वातावरण में महराज का प्रश्न गूँज गया।

प्रातःकाल था। न्यायाधीश के आसन पर आज महाराज स्वयं आसीन थे—प्रथम बार। आज राज्य का सब से बड़ा मुक़द्दमा था। सरदार एवं प्रमुख सामन्त न्यायालय में ही उपस्थित थे। सामने बंदिनी के रूप में कला खड़ी थी जिसकी कोमल कलाइयों में हथकड़ियाँ गड़ी जा रही थीं। केतु अपने घर कला की स्मृति संजोए भविष्य के राज-मार्ग पर चला जा रहा था। उसे यह ख़बर नहीं थी कि कला पर क्या बीत रही है। न्यायालय के बाहर वाले प्रांगण में जनता का समुद्र उमड़ पड़ रहा था—महाराज के न्याय की प्रथम बार इतनी बड़ी जाँच जो थी आज।

"तुमने अनधिकार चेष्टा करके राज्य के मुँह पर स्याही पोत दी है। देश के भावी सुदृढ़ स्तम्भ के आधार को तुमने तराश दिया है। एक महान् सेनानी को तुमने काम का पाठ पढ़ा दिया है। यह देश-द्रोह है, यह सब से बड़ा अपराध है जिसकी सज़ा..." महाराज एक ही साँस में कह गए।

"पिता जी!" कला के मुँह से बिना किसी प्रयास के निकल पड़ा।

"यह दूसरा अपराध है।" महाराज गरज उठे—"विधान की आज्ञानुसार अपराधी का न्यायाधीश से कोई रिश्ता नहीं हो सकता—कोई रिश्ता नहीं होता। तुम्हें देश-द्रोह के साथ साथ न्यायालय की मानहानि का भी दण्ड भुगतना पड़ेगा। विधान का उल्लंघन राजद्रोह है।"

सरदार मन ही मन महाराज के चरणों में झुके जा रहे थे।

"तुम्हें कुछ और कहना है बन्दी?"—महाराज ने वही प्रश्न पुनः दुहराया।

"हाँ"

"कहो"

"क्या मैं अपने पक्ष में अपने पिता को प्रस्तुत कर सकती हूँ?"

"नहीं। यह निर्णय में विलम्ब उत्पन्न करना है। ऐसा नहीं हो सकता—नहीं हो सकता।" दृढ़ता का उत्तर था।

"तो क्या मैं अपनी माँ को भी नहीं ला सकती यहाँ?"

"पगली! लाश श्मशान में ले जाई जाती है, न्यायालय में नहीं।"

"मैं समझ नहीं सकी न्यायपाल!" युवती ने चौंक कर पूछा।

"तुम्हारी माँ को भय था कि तुम कहीं उनके राज-मातृत्व के नाम पर न्यायाधीश से अनुचित निर्णय न करा लो अतः उस क्षण को देखने से पूर्व ही उन्होंने विषपान कर लिया। अनुचर अभी-अभी समाचार लाया है।" महाराज ने निश्चिंत स्वर में कहा।

कला की ताल-सी आँखें लहरा उठीं। उसे अपनी प्यारी माँ की स्मृति हो आई पर अबके उसने जोश में आकर कहा: "तुम्हारी अदालतें, तुम्हारा न्याय—सब ढोंग है। तुम पाखण्ड को राज-धर्म और देश-धर्म समझ बैठे हो। क्या तुमने कभी किसी से प्रेम नहीं किया? पर तुम देश-द्रोही नहीं हुए। क्या तुमने कभी किसी सेनानी को उसके गर्भ में ही कायरता की बारहखड़ी नहीं पढ़ा दी? पर तुम देशद्रोही नहीं हुए। क्या उम्र की पुकार सुन कर तुम सोते ही में नहीं उठ खड़े हुए? पर तुम देशद्रोही नहीं हुए। क्या मैं पूछ सकती हूँ......"

"नहीं" महाराज ने बीच में ही टोक कर कहा: "अपराधी उत्तर देने आता है, प्रश्न करने नहीं। तुम अपराधी हो। तुम्हें पूछने का कोई भी अधिकार नहीं।"

"तो क्या......" कला ने कुछ कहने के लिए निगाह उठाई किन्तु न्यायाधीश का आसन तो खाली पड़ा था। महाराज उसे प्राणदण्ड सुना कर न जाने कब के चले गए थे।

—और इतिहास में प्रथम बार एक स्त्री को—राजा की इकलौती कन्या को—फाँसी के झूले पर झुला दिया गया। महाराज की न्याय-जुन्हाई देश-देशान्तरों में छिटक गई।

लोग कहते हैं कि जब कला को फाँसी लग रही थी, राज्य का प्रत्येक जन बाहर खड़ा हुआ सिसक

१९५७

था। पास ही कमण्डलं लटकाए, भगवा-वस्त्र पहने, पैर, शान्त मुद्रा में एक सन्यासी "सर्वं क्षणिकं" का मन्त्र जपते हुए चले जा रहे थे। ऐं यह ?—यह तो स्वयं सम्राट् जसवन्त सिंह ही थे—ने पहचान ही लिया।

आज भी जसूगढ़ के आसपास के ग्रामीण लोग की साक्षी-भर कर कहते हुए सुने जाते हैं कि काण्ड को सुन कर केतु ने भी उसी स्थान पर अपनी रतन-काय को सुखा-सुखा कर माटी बना दिया।

आज भी जसूगढ़ के खण्डहर पड़े हुए हैं। वहीं एक जामुन का वृक्ष है, जिसकी छाया अत्यन्त घनी है। अब भी जब कोई पथिक दुपहरी बिरमाने अथवा रात गुज़ारने के लिए वहाँ टिक जाता है तो पहले उसके कानों में एक पुरुष की आवाज़ आती है—"यौवन कब आता है राजदुलारी ?" और फिर किसी स्त्री की "तुम तो बड़े भोले हो केतु ! यह क्यों नहीं पूछते कब बुलाया जाता है।" पथिक के शरीर में गुदगुदी हो उठती है और उसकी थकान दूर हो जाती है। पर तभी उसे सर्वं क्षणिकं-क्षणिकं" की रट सुनाई पड़ निकलती है—एक बार, दो बार, दस बार, सौ बार—और तभी वह चुपके से उठ कर वहाँ से चल देता है।

—रामरजपाल द्विवेदी

ंदपुर, (एटा)

सुखी मनुष्य

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है परन्तु बहुत कम लोग इस प्रकार के हैं कि जो इस बात को जानते हैं कि सुख क्या है ?

यदि आप किसी व्यक्ति को सचमुच सुखी देखेंगे तो देखेंगे कि वह निरन्तर अपने कार्य में लगा रहता है। वह आठों पहर किसी-न-किसी प्रकार के निर्माणात्मक कार्य में लगा रहता है।

ऐसा व्यक्ति सुख को कहीं ढूँढ़ता नहीं फिरता। सुख कभी उसके जीवन का उद्देश्य नहीं होता। सुख उसे स्वयं प्राप्त होता है। वह क्योंकि अत्यधिक व्यस्त रहता है, वह अपने कार्य में ही अनुभव करता है कि वह सुखी है।

—डा. बेरान वोल्फ़

सुमेरु शिखर

२० सितम्बर, सन् १९५२

प्रथम कैलास-यात्रा के प्रयास में भारत सरकार से अनुमति-पत्र न मिलने के कारण असफल और निराश हो, सीमान्त की चौकी नीलङ् से वापस हरसिल में आ कर रहते मेरे दो मास आज पूरे हो चुके थे। हरसिल गंगोत्री से पन्द्रह मील नीचे है। प्राकृतिक दृश्य की दृष्टि से इस जैसा सुन्दर और रमणीय स्थान भारत के विभिन्न प्रदेशों एवं हिमालय की अपनी विभिन्न यात्राओं में मुझे कहीं भी दिखाई नहीं दिया! यूरोप के स्विट्ज़रलैण्ड आदि विभिन्न रमणीय देशों और प्रदेशों की यात्राएँ कर चुके कैप्टेन उमाकान्त शुक्ल की भी यही मान्यता थी।

शुक्ल जी पिछले छह-सात मास से हरसिल में निवास कर रहे थे। उनके कथनानुसार वे ब्रिटिश-गुप्तचर विभाग में वर्षों तक काम करते हुए, विश्व के विभिन्न देशों की यात्राएँ कर आए थे। उन्हीं के कथनानुसार वे सन् १९१७-१८ में रूस की कम्युनिस्ट-क्रान्ति में भी अंग्रेज़ों की ओर से काकेशिया में काम कर चुके थे। लेनिन को वे अवतारी महापुरुष के रूप में मान कर अक्सर उसका बखान किया करते। उम्र भी अब साठ पार करती-सी लग रही थी। लेकिन शरीर से अब भी हट्टे-कट्टे और सुन्दर! अवध के ताल्लुकेदारों में से अपने को बताया करते 'सुमेरु शिखर' के अभियान में ये ही मेरे एक मात्र साथी और नेता थे।

भागीरथी के प्रमत्त प्रवाह पर अहर्निश नाचती और उछलती ऊर्मियों में, उत्तर की ओर से उत्तुंग शिखरों के बीच से लुढ़कती एवं भागीरथी की ओर बड़े वेग से दौड़ती 'जालन्ध्री' और 'काकोड़ी' नदियों की हिम-धवल धाराओं में, और सुदूर पश्चिम की ओर हिम से ढकी 'बन्दर पूँछ' की ऊँची-ऊँची चोटियों में, और चारों ओर धरती और आकाश को एक में मिलती-सी चीड़-देवदारु की सघन वन-पंक्तियों में निवास करती हुई प्रकृति जिस उदारता से हरसिल पर दिन-रात सौन्दर्यभरी मुस्कान लुटाया करती है, कवि बने बगैर उसका सही और सुन्दर वर्णन नहीं किया जा सकता!

इस सौन्दर्यमय हरसिल से प्रस्थान करने के पूर्व सुमेरु शिखर की यात्रा कर आने का इरादा पहले ही पक्का हो चुका था। लोगों ने बताया था कि आकाश साफ़ रहने पर सुमेरु शिखर से यमुनोत्री, गंगोत्री, बदरी, केदार आदि उत्तरा-खण्ड के सभी प्रमुख तीर्थ और उनके पर्वत और शिखर एक साथ दिखाई दे जाते हैं और कैप्टेन शुक्ल ने बताया कि इस शिखर का नाम 'सुमेरु' इसलिए पड़ गया कि वहाँ से असली सुमेरु-शिखर का दर्शन हो जाता है जो गंगा के उद्गम-स्थल 'गो-मुख' से भी कई मील आगे है। मेरे लिए यह प्रलोभन सामान्य न था। क्योंकि अपनी असफल कैलास-यात्रा को इन्हीं यात्राओं से सफल करना चाह रहा था।

हरसिल के पास के 'मुखवा' गाँव के एक पेशेवर पथ-दर्शक ने वायदा किया था: "बरसात के बाद आपको 'सुमेरु' दिखा ले आऊँगा।" लेकिन बरसात के बाद वह आक्सफ़ोर्ड-अभियान-दल में बदरी-केदार के शिखरों की चढ़ाई में शामिल हो गया। उसमें उसे मजदूरी काफ़ी ज़्यादा मिल रही थी। फिर वह मेरी परवाह क्यों करने लगा? शुक्ल जी ने कहा: "चलिए! मैं आपको साथ ले चलूँगा! मैं छह वर्ष पहले सुमेरु की यात्रा कर चुका हूँ। रास्ता देखा हुआ है। एक दिन जाने में और एक दिन आने में, कुल दो दिन लगेंगे!"

फलतः २०-९-५२ को हम दोनों जने भोजनादि के बाद आवश्यक सामान के साथ साढ़े दस बजे दिन को सुमेरु शिखर की ओर रवाना हो पड़े। हरसिल के ठीक किनारे डेढ़-दो सौ फुट ऊँचाई चढ़ कर देवदारु के समतल और सघन वन के बीच से उत्तर की ओर चले। लगातार डेढ़-दो मील तक उस सघन वन के बीच में किसी प्राचीन नगर के स्पष्ट ध्वंसावशेष दिखाई दे रहे थे। मकानों की तीन-चार फुट ऊँची दीवारें अब भी स्पष्ट रूप में मौजूद थीं, जिन्हें अज्ञानवश हरसिल और मुखवा के निवासी अपने बुज़ुर्गों के खेतों की दीवार मान बैठे हैं। पर यह निरा अज्ञान है। क्योंकि इसी जंगल के छोर पर भागीरथी के किनारे 'कछोरा' घाट की ऊँची चोटी पर मंदिर और महल के प्राचीन अवशेष इस तथ्य में स्पष्ट साक्ष्य पेश कर रहे हैं कि किसी समय इस जंगल में

१९५७

अवश्य एक काफ़ी बड़ा समृद्ध नगर मौजूद था। पता नहीं कि यह नगर कब और किन कारणों से ध्वस्त हुआ, और उसी के ध्वंस पर कालान्तर में चीड़ और देवदारु का अत्यन्त घना, घोर और अभिराम विशाल जंगल उग आया।

इस स्थान से लगभग दो मील पूरब में भागीरथी के दोनों किनारे समानान्तर में बसे मुखवा और देराली नामक गाँव ही सीमान्त के अंतिम भारतीय गाँव हैं। लेकिन प्राचीन काल में इसके आस-पास ऐसे अनेक प्राचीन गाँव रहे होंगे जहाँ आज चीड़-देवदारु के घने जंगल छाए हुए हैं। हरसिल से दो मील दक्षिण में भागीरथी के पार एक ऊँचे पहाड़ पर 'छोलनी' नामक नए गाँव में जंगल काट कर खेत बनाते समय एक चट्टान पर उत्कीर्ण एकादश रुद्र की और शंख-चक्र-गदा-पद्म की अनेक मूर्तियाँ धरती के गर्भ से उभर आईं, जिन्हें मैं स्वयं जा कर देख आया था। इनमें एकादश रुद्र की मूर्तियों को लोग 'नागेश्वर महादेव' के नाम से पूजते हैं।

हम मनहर दृश्यों से आँखें सेंकते हुए आगे बढ़े जा रहे थे। चलते-चलते कैप्टेन शुक्ल खूब ज़ोर से ताली बजा कर 'हो-हो' की आवाज़ भी कर देते ताकि राह पर खड़ा कोई भालू भयभीत हो झट जंगल में छिप जाए। क्योंकि इन जंगलों में भालुओं की भरमार थी। शुक्ल जी ने बताया : "एकाएक सामना होने पर भालू अपने बचाव के प्रयास में ही आदमी पर आक्रमण कर देता है। अन्यथा वह आदमी से कम नहीं डरा करता।"

दो मील आगे जाते ही मार्ग अब खड़ी ढलानी बन कर आकाश की ओर जैसे चढ़ने लगा। चढ़ाई काफ़ी कड़ी होते हुए भी देवदारु की घनी छाया के कारण कुछ आसान लग रही थी। क्योंकि देवदारु की छाया में थकान को जल्द दूर करने की क्षमता संनिहित होने के साथ उसके दृश्य की रमणीयता भी पथिक को सहसा थकान का अनुभव होने नहीं देती। लेकिन कैप्टेन शुक्ल स्वभावतः साहसी होते हुए भी बुढ़ापे के कारण थक-थक कर चल रहे थे, जल्द-जल्द विश्राम करते हुए। मुझे भी उनका साथ देना पड़ रहा था।

जंगल में यत्र-तत्र चीड़, देवदारु और धूपी की लाखों रुपए की लकड़ियाँ गिर कर और सड़-सड़ कर बरबाद होती दिखाई दीं। क्योंकि वन-विभाग के अधिकारियों को इतनी दूर जंगलों में जा कर जाँच पड़ताल करने की ज़रूरत महसूस हुई न थी। इस कठिन ढलानी चढ़ाई पर कई छींटे चलने के बाद साढ़े चार बजे संध्या को हमें एकाएक एक खुला-सा मैदान दिखाई दिया और मैदान के किनारे भोज-पत्र के वृक्षों की कतारों की छटा भी जो चीड़ देवदारु की छटा से कतई भिन्न थी। मानों एकाएक नई दुनिया में प्रविष्ट हुए।

मैदान में भेड़-बकरों के चरवाहों की तीन-चार झोपड़ियाँ खड़ी थीं, पर वहाँ न कोई चरवाहा दिखाई दिया, न भेड़-बकरे ही। हाँ, वहाँ उनकी आसन्न उपस्थिति के प्रमाण रूप में आग की एक धूनी अवश्य जल रही थी। और इस मैदान को मानो निवास के उपयुक्त बनाने के विचार से ही माँ प्रकृति ने मैदान के बीचों-बीच पाताल भेद कर पानी के दो नाले भी बहा दिए थे। मैदान का नाम था 'नागनी' और यह नाम शायद इसलिए पड़ा हो कि मैदान में समानान्तर बहते और रेंगते हुए वे दोनों नाले नाग-नागिन जैसे ही दिखाई दे रहे थे। शुक्ल जी के कथनानुसार यह मैदान समुद्र तल से १४-१५ हज़ार फुट ऊँचा है और हरसिल के लोगों के कथनानुसार वहाँ से 'नागनी' की दूरी केवल पाँच मील है, पर मुझे वह दस-ग्यारह मील से कम न लगी।

हमने नागनी नाले के हिमोपम शीतल जल से प्यास बुझाई। डब्बे में भात और आलू का मसालेदार साग भर कर मैं साथ लेता आया था, और दूसरे दिन की खुराक के लिए शुक्ल जी ने आटे की गोली-गोली बाँटियाँ आग में सेंक कर अपने 'नैपसैक' में रख ली थीं। अभी हमने भोजपत्र की छाल पर साग के साथ भात खाया। फिर जलती धूनी पर डब्बे में पानी गरम करके चाय बनाई। चाय पीकर हम 'काणाताल' की ओर चल पड़े। क्योंकि आज रात हमें नहीं विश्राम करना था। और चूँकि काणाताल में पानी का अभाव है, अतः डब्बा भर पानी भी साथ ले लिया।

रास्ता अब अधिक चढ़ाई का न था, किन्तु समुद्र-तल से ऊँचाई अधिक होने के कारण पग-पग पर साँस लेना दूभर हो चला। देवदारु के जंगलों की मनहर हरियाली भी छिन चुकी थी। अब तो भोजपत्र के विरल-विरल वृक्षों के वन और अन्य पेड़-पौधों की छोटी-छोटी झाड़ियाँ ही दिखाई दे रही थीं। और कुछ दूर आगे

यह विरल हरियाली भी समाप्त हो चली। केवल पत्थरों के छोटे-बड़े टुकड़ों से पटा हुआ काफ़ी बड़ा मैदान सामने आ गया। यही काणाताल का मैदान था, और इसी वृक्ष-वनस्पति शून्य मैदान में हमें आज की रात बितानी थी—नंगे आकाश के नीचे। शुक्ल जी के कथनानुमार अब हम १६-१७ हजार फुट की ऊँचाई पर थे।

× × ×

'काणाताल' पहुँचते अन्धेरा हो चुका था। उस विशाल ऊँचाई की बरफ़ानी हवा गरम कपड़ों के आवरण को भी चीर कर शरीर में प्रविष्ट होने लगी। इस अस्थिवेधी हवा से बचाव के लिए हमने एक गड्ढे में आश्रय लिया। टॉर्च की रोशनी में भोजपत्र की यत्र-तत्र बिखरी टहनियों को मैदान से चुन ले आकर मैंने धूनी का प्रवन्ध किया। उसी गड्ढे में जाने कैसे भोजपत्र का एक पेड़ टूट कर और सूख कर पड़ा हुआ था। हमने उसके सिरे को ठेल-ठाल कर धूनी के ठीक ऊपर कर लिया। भोजपत्र के तेलदार छाल-पत्ते नागनी में ही बटोर कर अपने साथ में लेता आया था। उनके सहयोग से धूनी के जलते देर न लगी। धूनी के दोनों बगल में अब हम दोनों केवल ओढ़ कर बैठ गए।

लेकिन प्रकृति से हमारा यह यतकिंचित् आराम भी जैसे देर तक देखा न जा सका। देखते-ही-देखते सारा आकाश बादलों से भर उठा! असंख्य तारों की वह टिमटिमाती यतकिंचित् रोशनी भी हमसे छिन गई! और कुछ देर बाद ही उस निर्जन, नीरव निशीथ का भयानक अन्धकार मानो बूँद बन-बन कर बरसने लगा। एक तो सोलह-सत्रह हजार फुट ऊँचाई की वह भयानक हृदयवेधी ठण्ड! तिस पर बरफ़ानी बूँदों का धीमा-धीमा संघीभूत प्रहार! हमारा एकमात्र सहारा वह धूनी की आग रह-रह कर बुझ जाती और तब भोजपत्र के छाल-पत्ते के सहयोग से मुझे रह-रह कर उसे जलाना पड़ता। भोजपत्र के अतिरिक्त यदि कोई अन्य लकड़ी होती तो इन बरफ़ानी बूँदों के नीचे उसका जलना ही असंभव बन जाता। फिर तो हम अकड़ कर स्वयं लकड़ी बन जाते। गरम कपड़े भी हमारे पास पर्याप्त न थे और जो थे अब तक भीग चुके थे!

रह-रह कर बर्फ़ानी हवा के झोंके हमारे प्राणों को जैसे खींचते हुए उड़ा कर आकाश में बिखेर देते। लेकिन इस मृत्युमय वातावरण में भी जाने कहाँ से आज मुझमें साहस, सहिष्णुता और आत्म-विश्वास का एक अद्भुत बल पैदा हो चला। शुक्ल जी इस कठिन परिस्थिति से परित्राण के निमित्त बार-बार ईश्वर की गुहार कर रहे थे, और मैं अपने सम्बन्ध में अत्यधिक गर्वान्वित होकर सोच रहा था—"मैं जीवन की किसी भी परिस्थिति को बर्दाश्त कर सकता हूँ! अवसर और साधन उपलब्ध होने पर एवरेस्ट की सर्वोच्च चोटी पर भी चढ़ सकता हूँ।........."

इस बीच समय काटने के लिए धर्म, राजनीति आदि विषयों पर भी तब तक हमारी चर्चा छिड़ जाती। शुक्ल जी ने कहा: "आचार्य जी! ऐसी भयानक परिस्थिति में कोई घोर नास्तिक भी ईश्वर को याद किए बिना नहीं रह सकता।"

मैं संस्कृत साहित्य की 'आचार्य' परीक्षा पास कर चुका था। अतः शुक्ल जी मुझे इसी आदरपूर्ण संबोधन से संबोधित किया करते। और मैं उन्हें 'डाक्टर साहब' कह कर। क्योंकि हरसिल में प्रथम समागम के समय ही उन्होंने मुझे सचेत कर दिया था कि मैं उन्हें 'डाक्टर साहब' कह कर ही संबोधित किया करूँ। क्योंकि वहाँ उन्होंने अपने को 'डाक्टर' के रूप में ही प्रचलित किया था। खुदा जाने क्यों? आज रास्ते पर चलते-चलते एक समय उन्होंने बड़े गर्व से उद्घोष किया था—"आप किसी घोर नास्तिक को भी मेरे सामने ला खड़ा करें। मैं मिनटों में उसे आस्तिक बना दूँगा!" उनके इस अहंकार पर मैं मन-ही-मन खूब हँसा था और इस समय भी खूब हँसा।

"लेकिन डाक्टर साहब!"—मैंने हँसते हुए उनके विश्वास और अहंकार पर कर्रीकर प्रहार करते हुए कहा: "मैं तो ईश्वर पर विश्वास कतई करता ही नहीं! और न यह भयानक परिस्थिति ही मुझे ईश्वर पर विश्वास करने को मजबूर कर सकी है। बल्कि इस परिस्थिति ने मुझ में आत्म-विश्वास का भाव कहीं अधिक पैदा किया है। आप जानते हैं कि यहाँ मीलों तक मनुष्य की कोई गंध नहीं! केवल चीतों और भालुओं के अस्तित्व की ही बात कही जाती है। यदि इस समय, इस घोर वियाबान में, कोई चीता या भालू यहाँ पहुँच कर मुझ पर हमला कर दे, तो विश्वास रखें आप कि शक्ति-भर मुक़ाबला करते-करते मैं मृत्यु के

में भले ही प्रविष्ट हो जाऊँ, पर परित्राण के निमित्त न मेरे मुख से ईश्वर का नाम निकल सकेगा, न कोई करुणा-भरी पुकार।"

मेरे इस उद्घोष को सुन कर डाक्टर साहब सहसा दंग रह गए! आश्चर्य भरे स्वर में बोले : "अच्छा!!! आप नास्तिक हैं, आचार्य जी! मैं तो आपको ऐसा नहीं समझता था!"

"तो अब समझ लीजिए!"

आज पूरे दो मास से सम्पर्क रहते हुए भी अंग्रेज़ों के गुप्तचर-विभाग में वर्षों काम कर चुके होने का दावा करने वाले इन महाशय को मेरा पता न चल सका था। संस्कृत के विद्वान् को मानो वे नास्तिक होने की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। लेकिन इस समय उनसे कुछ जवाब देते न बन सका। वर्षा तनिक रुक-सी गई थी। प्रभात की प्रतीक्षा बड़ी उत्कंठा से हम करने लगे और तनिक झपकी लेने का प्रयास भी। लेकिन नींद न आ सकी। आग कब की बुझ चुकी थी। ठंड के मारे बुरा हाल हो चला था।

कुछ देर बाद डाक्टर साहब ने बड़े करुण स्वर में कहा: "आचार्य जी! मेरा तो सारा बदन अकड़ गया। उठने तक की शक्ति नहीं! कुछ लकड़ी बची नहीं? धूनी जला देते।"

लकड़ी कब की स्वाहा हो चुकी थीं। मैंने अपनी कलाई-घड़ी देखी। चार से ऊपर हो चुके थे, पर उषा के प्रकाश का कोई अभास न था। बूँदाबाँदी बन्द हो चली थी। मेरा बदन भी अकड़ चुका था। हथेली में टॉर्च को थामना भी कठिन था। लेकिन साहस करना पड़ा। किसी प्रकार टॉर्च को थाम कर मैदान में निकल पड़ा। यत्र-तत्र बिखरी गीली लकड़ियाँ कंबल में बटोर कर ले आया। भोज-पत्र का छाल-पत्ता बचा रखा था। दियासलाई की एक तीली के सम्पर्क होते ही वह तेलदार पत्ता जल उठा। गीली लकड़ियाँ भी जलने लगीं।

डॉक्टर साहब आग की ओर अपनी छाती और हाथ बढ़ाते हुए मुझ पर शाबाशियों की बौछार करने लगे—"ग़ज़ब का 'इन्ड्यूरेन्स' (सहन-शक्ति) है आप में आचार्य जी! आप तो पक्के मिलिटरी (सैनिक) टाइप के आदमी हैं! मैं भूल से आपको सिविल (ग़ैर-सैनिक) टाइप का समझे हुए था!"

और धूनी पर पानी से भरा डब्बा रखते हुए मैंने हँस कर जवाब दिया : 'आप भूल से मुझे आस्तिक भी तो समझ रहे थे न?'

डॉक्टर साहब इस बार हँसे। बोले—'आप भले ही ईश्वर को न मानें, लेकिन ईश्वरीय शक्ति आप में अवश्य मौजूद है।"

थोड़ी देर में चाय बन कर तैयार हो गई। एक-एक 'बाटी' के साथ गुड़ की चाय पीते ही हमारी जान जैसे पूरी तरह हममें लौट आई। सुमेरु-शिखर को लाँघते हुए सूर्य की बहुरंगी किरणें भी मैदान में बिखर कर मुस्कुराने लगीं।

× × ×

'काणाताल' किन्हीं दिनों ताल या सरोवर अवश्य रहा होगा, पर अब तो वह सूख चुका था। चरवाहों ने उसके बीच एक छोटा-सा गड्ढा ज़रूर खोद रखा था, पर उसमें भी पानी नाममात्र को था। नाममात्र के जल से शौचादि से निपट कर हम 'सुमेरु-शिखर' की लगभग तीन मील खड़ी और कड़ी चढ़ाई पर रवाना हो पड़े। मैदान में धूप आ चुकी थी। अपने भीगे कपड़ों को वहाँ फैला छोड़ दिया और खाने-पीने का सामान भी। क्योंकि तय यह रहा कि शिखर से वापस आ कर कुछ खा-पी कर बीच की ओर प्रस्थान करेंगे। हरसिल से लाए सेब हमने जेबों में भर लिए ताकि चढ़ाई की भूख उनसे शान्त की जा सके।

हम पूरब की ओर चले। डाक्टर साहब को शायद रास्ता ठीक से याद न था। अतः हम ग़लत रास्ते से अर्थात् सदियों के तूफ़ान से टूट-फूट कर गिरी चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़ों से पटे मार्ग से चलने लगे। क्योंकि वापसी के समय हम अन्य घासदार मार्ग से बड़ी आसानी से नीचे उतर आए थे। लेकिन इस समय तो इस सारी खड़ी चढ़ाई तक पीढ़ियों की तरह एक-दूसरे पर टिके उन पाषाण-खण्डों में मानों स्वयं मृत्यु मुस्कुरा रही थी। तनिक भी असंतुलित ढंग से चलने पर उन पत्थरों के खिसकने और उस खिसकाव की चपेट में स्वयं कुचल-मर जाने की आशंका और आतंक हमारे हर क़दम के साथ जुड़ा हुआ था। मैं युवक ठहरा, पर उन बूढ़े डाक्टर साहब के साहस को मन-ही-मन धन्यवाद देता, मैं उनके पीछे-पीछे चल रहा था।

रास्ते में एक स्थान पर एक सूखा नाला पार करते समय डाक्टर साहब ने छः साल पहले की एक

दुर्घटना की याद दिलाते हुए कहा : "आचार्य जी ! जब मैं पिछली बार यहाँ आया था, नीचे से ऊपर तक यह सारा नाला बरफ़ से पटा पड़ा था। हमारे साथियों में एक का पैर नाला पार करते समय फिसल गया : क्योंकि 'गाइड' की सलाह की परवाह न करके उसने बरफ़ पर धीरे-धीरे क़दम रख कर पार करने की कोशिश की और फिर एक बार जो फ़िसला सो बीच में कहीं भी उसका पैर न जम सका। दो मील नीचे सीधे कारणताल के पास एक गड्ढे में लुढ़कता हुआ जा पहुँचा। पर धन्यवाद ईश्वर को कि उसके प्राण किसी तरह बच गए।"

कुछ दूर ऊपर जा कर एक स्थिर चट्टान के किनारे बैठ कर हम विश्राम करने लगे। जेबों से सेब निकाल-निकाल कर खाने लगे। यहाँ से सारी उपत्यका का दृश्य स्पष्ट दिखाई दे रहा था। अंदाज़न पाँच-सात मील दूर उत्तरी में 'काकोड़ा' नदी के उद्गम-स्थल उस विशाल 'हिम-सरोवर' की छटा पर तो मैं मुग्ध हो उठा ! सरोवर के उत्तरी किनारे पर हिम से पटी श्रृंग-माला भारत-तिब्बत की सीमा-रेखा पर अभेद्य दीवार की तरह खड़ी आकाश को चूम रही थी ! और उस दीवार के नीचे एक अत्यन्त धवल और विस्तृत प्रांगण के रूप में वह हिम-सरोवर फैला हुआ था जैसे अत्यन्त सफ़ेद दही या कपूर का सरोवर हो ! और उस पर अनेक श्वेत-रेखाएँ श्वेत अजगर-सी मचलती और रेंगती प्रतीत हो रही थीं। उसी सरोवर के उदर से निकलती हुई काकोड़ा की सरव, सरोष हुंकार यहाँ भी सुनाई दे रही थी।

अब हमने फिर ऊपर की ओर रुख़ किया। मंज़िल के निकट पहुँचने की ख़ुशी थी ! लेकिन देखा कि सूर्य पुनः बादलों से ढक चुका है। चलते-चलते ही डाक्टर साहब ने चिन्ता प्रकट की : "यदि सारा आकाश बादलों से ढक गया तो सुमेरु पर जाना हमारा बिल्कुल व्यर्थ ! क्योंकि तब चारों ओर के दृश्य तो दिखाई देंगे नहीं ! और स्वयं शिखर पर दर्शनीय कुछ है नहीं ! केवल रूखी-सूखी कुछ चट्टानें वहाँ खड़ी हैं !"

उनकी यह आशंका चार-पाँच मिनट में ही सफल हो चली ! बड़े वेग से आकाश में बादल फैलने लगे। अब तो डाक्टर साहब बिलकुल निराश हो कर बोले : "आचार्य जी ! अब हमें शिखर पर चढ़ने की कोशिश और उम्मीद छोड़ देनी चाहिए !"

पर मैंने जवाब दिया : "क्या हुआ अगर दृश्य न देख सके ? लगभग आधा मील चढ़ाई अब शेष रह गई है। शिखर पर चढ़ कर वापस आ जाएँगे ?"

अब उन्होंने तनिक नाराज़ी भरे स्वर में कहा : "आप समझते तो हैं नहीं ! यदि हम शिखर पर पहुँच गए और उसी समय ज़ोर की वर्षा शुरू हो गई, तो यह निश्चित है कि ऊँचाई के कारण उस पर ज़ोर का बरफ़ भी गिरेगा ! क्या आप नहीं सोचते कि सितम्बर अब समाप्त हो रहा है ? आपने ख़याल नहीं किया कि रात मामूली-सी वर्षा में आस-पास के शिखरों पर बरफ़ भी गिरी है ? यदि हमारे रहते शिखर पर बरफ़ गिरी तो हम यहीं ठण्ढे हो जाएँगे। फिर अगले साल के यात्री हमारी सूखी लाशें वहाँ देख पाएँगे; 'राम-नाम सत्त' हो जाएगा। क्या फ़ायदा अब जाने का वहाँ ? चलिए ! जल्दी-जल्दी नीचे उतर चलें ! बादल काफ़ी घने होते जा रहे हैं !"

उनकी इच्छा के सामने मुझे झुकना पड़ा। मुझे इन ख़तरों का अभी कोई अनुभव भी न था। अब हम नीचे की ओर घासदार रास्ते से उतर चले। उतरते-उतरते डाक्टर साहब ने सावधान भी किया : "देखिए आचार्य जी ! हरसिल में किसी से यह मत बताइएगा कि हम शिखर पर न चढ़ सके ! कह दीजिएगा, चढ़े ज़रूर पर बादल के कारण दृश्य न देख सके ! सच्ची बात कह देने पर ये अनपढ़ पहाड़िये हमारा मज़ाक़ उड़ाएँगे। यूरोपियन लड़ाकू लोग भी अक्सर ऐसा ही किया करते हैं। कई बार झूठी चढ़ाई की ख़बर अख़बारों में छपवा देते हैं ?"

मैंने झूठ बोलने का वायदा उनसे कर दिया। घण्टे-भर में ही हम नीचे अपने पड़ाव पर पहुँच गए। झटपट बासी बाटियाँ खा कर कपड़े सम्हाल कर हरसिल की ओर चल पड़े। बूँदाबाँदी शुरू हुई। फिर ज़ोर की वर्षा भी। अंधेरा होते-होते हम हरसिल पहुँचे। वर्षा रास्ते-भर हमारा पीछा करती रही। साथ देती रही।

—भलभद्र ठाकुर

५२१, कृष्णभवन, गाँधी नगर,
दिल्ली

तेलुगु लोक-गीत

बहू का बड़ा भाई आता है और वह मायके जाने के लिए सास-ससुर आदि से स्वीकृति लेती है :

"कलवारि कोडलु कलिकि कामाक्षि
कडुगु चुन्नदि पप्पु कड़वलो बोसि
अप्पुड़े वच्चेडु आमे पेद्दन्न
काल्लकु नीलिच्चि कन्नीरु निंपे"

कामाक्षि के समान सुन्दर किसी सम्पन्न कृषक-परिवार की पुत्र-वधू हाँड़ी में दाल डाल कर धो रही थी। ठीक उसी समय उसका बड़ा भाई अपनी अन्य छोटी बहनों के विवाह पर उसे ले जाने के लिए आ पहुँचा। भाई को आया देख वह बड़ी प्रसन्न हुई। पैर धोने को पानी दिया। भैया को बहुत दिनों से आया देख बहन अपने-आप को न रोक सकी। उसकी आँखें सजल हो उठीं। बहन की आंखों में आँसू देख कर जब न रहा गया तो भाई ने पूछा :

अन्ना : "एन्दुकु कन्नीरु एमि कष्टालु ?
तुडुचुको चेल्लेला मुडुचुको कुरुलु
एत्तुको बिड्डनु एक्कु अन्दलसु
पेट्टुको सोम्मुलु कट्टुको चीरे
चेरि मी अत्त-मामलकु चेप्पिरावम्मा"

भाई : बहन ! तुम क्यों आँसू बहाती हो ? तुम्हें क्या कष्ट है ? इस तरह दुःख न करो। मैं तुम्हें लेने आया हूँ। आँसू पोंछो, केशों को सँवारो, वस्त्राभूषण पहनो और लड़की को गोद में उठा लो, तुम्हें जा कर सास-ससुर से मायके जाने की स्वीकृति जो लेनी है।

इसके पश्चात् बहू सब से पहले कुरसी पर बैठी सास के पास जा कर पूछती है :

कोडलु : "कुर्चिपीट मीद कुर्चुन्न अत्त
मायन्न लोच्चेरु मम्मुंपुतार"

बहू : कुरसी पर बैठी हुई सास जी, मेरे बड़े भाई आए हैं। क्या मुझे मायके भेजेंगी ?

अत्ता : "नेनेरुग-नेनेरुग नी माम नडुगु"

सास : मैं नहीं जानती, मैं नहीं जानती, तुम अपने ससुर जी से पूछो।

बहू ने पलंग पर सोए हुए, ससुर जी के पास जा कर पूछती है :

कोडलु : "पट्टेमंचमु मीद पण्डुकोन्न माम
मायन्न लोच्चेरु मम्मंपुतार"

बहू : पट्टेदार पलंग पर सोए हुए ससुर जी ! मेरे बड़े भाई आए हैं। क्या मुझे मायके भेजेंगे ?

मामा : "नेनेरुग-नेनेरुग नी बाव नडुगु"

ससुर : मैं नहीं जानता, मैं नहीं जानता; तुम अपने जेठ से पूछो।

(बाद में जेठ से)

कोडलु : "भारत चदिवेटि पेद बाव,
मायन्ना लोच्चेरु मम्मंपुतार"

बहू : 'महाभारत' में निपुण जेठ जी, मेरे बड़े भाई आए हैं। क्या मुझे मायके भेजेंगे ?

बावा : "नेनेरुग-नेनेरुग मी यक्क नडुगु"

जेठ : मैं नहीं जानता, मैं नहीं जानता, तुम अपनी जिठानी से पूछो।

(रसोई घर में भोजन बनाने में व्यस्त जिठानी से)

कोडलु : "वंठलु चेसेढि ओ अक्कगारु,
मायन्न लोच्चेरु मम्मंपुतार ?"

बहू : पाकशास्त्र में प्रवीण जिठानी जी, मेरे बड़े भाई आए हैं, क्या मुझे मायके जाने की स्वीकृति देंगी।

तोडिकोडलु : "नेनेरुग-नेनेरुग नी भर्तनडुगु।"

जिठानी : मैं नहीं जानती, मैं नहीं जानती; अपने पति से पूछ लो।

(अन्त में दालान में बैठे हुए पति से)

कोडलु : "रच्चलो कूर्चुन्न रजेन्द्र भोगी,
मायन्न लोच्चेरु मम्मंपुतार"

बहू : हे दालान में बैठे हुए राजेन्द्र भोगी (पति का सम्मान-सूचक संबोधन) मेरे बड़े भाई आए हैं। क्या मुझे मायके जाने की स्वीकृति देंगे ?

पति स्वीकृति देते हुए

भर्त्ता : "पेट्टु को सोम्मलु कट्टु को चीरे,
पोइरा सुखमुगु पुट्टिनिंटिकिनि"

पति : जाओ वस्त्राभूषण पहन लो और निश्चित हो कर मायके हो आओ।

इस प्रकार अन्त में पति से स्वीकृति पाने के पश्चात् बहू अपनी अड़ोस-पड़ोस की सहेलियों से विदा लेती है।

कोडलु : "इरुगु-पोरुगु ओ अम्मलार
चेल्लि पेल्लिल्लु सेविंच बोई
मरुदुला पेल्लि कि मरलि वच्चेनु
इरुगक्क-पोरुगक्क इदे पोई वस्तु"

बहू : हे अड़ोस-पड़ोस की सहेलियो ! अब बहनों के विवाह में सम्मिलित होने मायके जा रही हूँ। वापस देवरों की शादी तक लौट आऊँगी।

३-६-३५५ बशीर बाग रोड,
साइकलटैक्सी शाप, हैदराबाद-द.

—अनुसूया देवी

लोकगीत

…लोकगीतों के सरल और सीधे-सादे शब्द हृदय पर तत्काल प्रभाव पैदा करने वाले होते हैं जो कल्पना-प्रवीण महाकवियों को भी दुर्लभ है। पहले-पहल मैंने एक अहीर का बिरहा सुना, जो कि मँहगी के विषय में था। वह यह है :

"मँहगी के मारे बिरहा बिसरिया
भूलि गई कजरी कबीर,
देखिए के गौरी की मोहनी मूरत
अब उठे न करेजवा में पीर"

उसी समय मुझे शेख़ सादी का एक शेर याद आया जिसमें शेख़ सादी ने कहा है कि दमिश्क़ में ऐसा अक़ाल पड़ा कि यारों को इश्क़ भूल गया।

बिरहे के सामने यह शेर मुझे बहुत फ़ीका-सा प्रतीत हुआ।

—रामनरेश त्रिपाठी

तेलुगु भाषा में निम्न-लिखित शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं : १ अत्ता=सास, फुफ्फी और मामी २ मामा=ससुर, मामा और फुफ्फा ३ बावा=जेठ, बहनोई और फुफ्फा का बेटा, मामा का बेटा। अपने से बड़ों को ४ कोड्लु=बहू, मामा और मामा की बेटी ५ तोड़िकोडलु=जिठानी और देवरानी।

कला-चर्चा

चित्रकला की शिक्षा

हमारे जीवन में जो महत्त्व तथा उद्देश्य अन्य शिक्षा का है, वह चित्रकला की शिक्षा का भी है। शिक्षा विद्या-प्राप्ति का एक साधन या माध्यम है, जिसके द्वारा हम अपने अन्धकार को दूर कर हृदय-मस्तिष्क में ज्योति का आह्वान करते हैं। शिक्षा की यह ज्योति कुसंस्कार का विनाश और सुसंस्कार-सुमन को उत्फुल्ल करती है, जिसकी सुगंधि से हमारा अन्तर्बहिर्जगत् सुवासित हो उठता है। हमारे आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज सुसंस्कृत हो कर राष्ट्र की धरोहर बन जाते हैं, जिन्हें हम सभ्यता और संस्कृति के नाम से सम्बोधित करते हैं। इसे हम इनकार नहीं कर सकते कि सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में हमारी शिक्षा का कुछ हाथ नहीं होता।

जीवन और कला के पारस्परिक सम्बन्ध को आज हमें और दृढ़ तथा पुष्ट बनाना है। कला की उपासना से अपने नैतिक स्तर को ऊपर उठाना है। भारतीय चित्रकला भारतीय जीवन का 'पिक्चर्सक्यू' है। सदियों से संचित ज्ञान-विज्ञान, दर्शन की त्रिवेणी भारतीय कलाओं में प्रवाहित हो रही है। हमारा प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि भारतीय चित्रकला के अध्ययन और अध्यापन के लिए प्राचीन चित्रकला-पद्धति के गौरव को ध्यान में रख कर, एक ऐसे पाठ्य-क्रम का समावेश करें जो अपनी परम्पराओं और संस्कृति की अच्छाइयों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट कर सके। जीवन की मार्मिक व्याख्याओं और दार्शनिक विचार-धाराओं से यहाँ का साहित्य, दर्शन और चित्रकला का कलेवर रचा गया है। इन जीवनोपयोगी तत्त्वों को प्राचीन काल में ही कला के माध्यम से कलाकारों ने प्राप्त कर अपने आगे आने वाली पीढ़ी के लिए उचित मार्ग-निर्देशन किया है। परमार्थ और अध्यात्म-वादी जीवन की ओर अग्रसर करने के लिए और अंत में मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी हमें अपनी कला कृतियों से प्रेरणा प्राप्त होती है। भारतीय संगीत की अव्यक्त स्वर-सत्ता अपने चरमोत्कर्ष के कारण ही राग-सृष्टि कर संगीत का जीता-जागता स्वरूप व्यक्त कर सकी है। रेखाओं के चढ़ाव-उतार में हलके गाढ़ेपन में हृदय का निगूढ़ चिन्तन अपनी आत्म-कथा स्वयं कह रहा है। भारतीय कला की ये भाव-व्यंजक रेखाएँ अपना परिचय स्वयं देती हैं। अव्यक्त स्वरों-जैसी इन रेखाओं की सत्ता सराहनीय है।

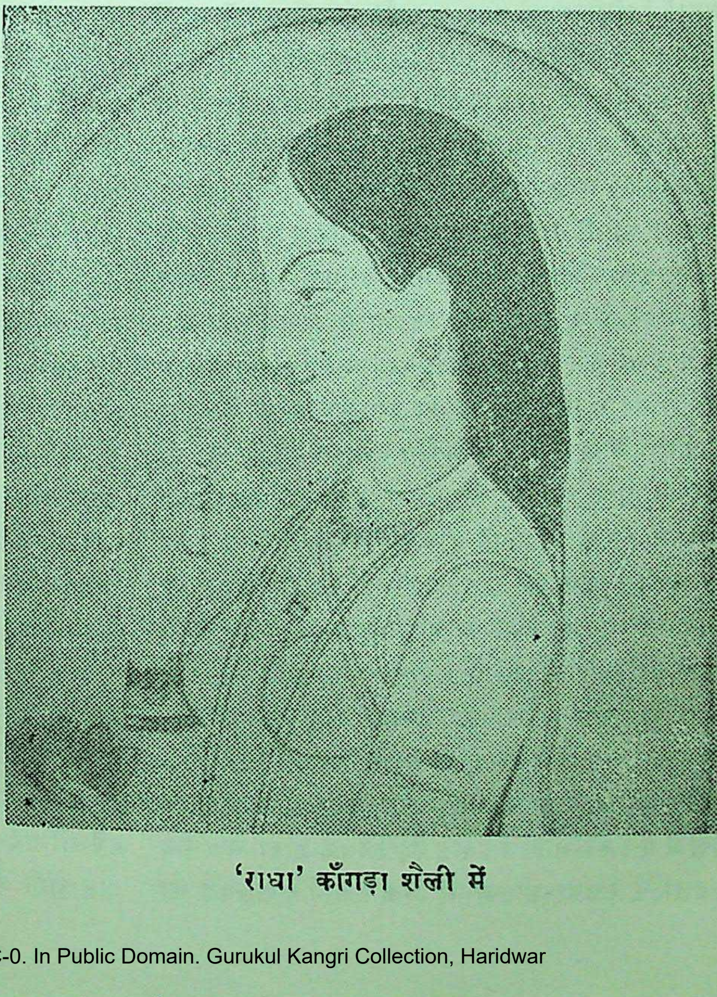

'राधा' काँगड़ा शैली में

यहाँ की प्राचीनतम चित्रकला के उच्चादर्शों और उद्देश्यों पर पुनर्विचार करते हुए अपनी कला-प्रगति का एक नया मार्ग तैयार करना होगा। क्योंकि राष्ट्र की गौरव-गरिमा और समुन्नतशीलता का अंकुर सर्व-प्रथम उस देश की समृद्धशाली कलाओं से ही प्रस्फुटित होकर समाज को सौन्दर्य और सुरुचि प्रदान करता है। इस दृष्टि से काँगड़ा-शैली का 'राधा' चित्र दर्शनीय है।

अतः जीवन में भारतीयता लाने के लिए हमें भारतीय चित्रकला की शरण लेनी होगी। यह कार्य समस्त प्राचीन चित्र-शैलियों के अध्ययन और अभ्यास की पूरी अपेक्षा रखता है। उच्च शिक्षा में भारतीय चित्र-कला को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। यथार्थवादी पाश्चात्य कला जो निझर कर बंध्या-मात्र रह गई है उसकी शिक्षा, सिर ऊँचा कर हम ले रहे हैं, जहाँ 'ज्योमेट्री' के 'प्रॉबलम्ब्स' के साथ स्वयं अपने जीवन और राष्ट्र के लिए हम 'प्रॉबलम्ब' सिद्ध हो रहे हैं। इस हठयोग-साधना से भारतीय जीवन में कलात्मक अभिरुचि का उत्पन्न होना अत्यन्त कठिन है। हृदय को स्पर्श करने की क्षमताएँ और राष्ट्र-कल्याणकारी सद्भावनाएँ हमें तभी प्राप्त हो सकेंगी, जब भारतीय चित्रकला को ही अपने शिक्षा का माध्यम स्थिर करें। चित्रकला-जैसी सप्राण वस्तु को हमें केवल मनोरंजन का साधन नहीं बनाना चाहिए, बल्कि साहित्य, जैसा ही व्यापक और गंभीर विषय चित्रकला को भी समझना चाहिए। साहित्य की ही कोटि का, चित्रकला भी आत्म-अभिव्यक्ति का एक सुलभ साधन है। चित्रकला में यथातथ्य चित्रण मे कोई कलाकार आदर्श कला-कृति नहीं उत्पन्न कर सकता। इस प्रकार प्रकार से वह अपना अनुभव जो इस वातावरण में रहता है, वह समाज को नहीं देख सकता। वास्तविक शिक्षा की पूर्ति तभी हो सकती है, जब हमारे हृदय और मस्तिष्क को समान रूप से विकसित होने का सुअवसर प्राप्त होता रहे। अपने विकास के लिए जरूरी है कि हम राष्ट्र की परम्परागत गति-विधियों पर दृष्टिपात कर अपनी प्रगति का एक प्रशस्त मार्ग बनाएँ। प्राचीन भारतीय कलाकार ने कला के रचना-रहस्य को अच्छी तरह समझ कर, उसमें लय, गति और छन्द का मधुर समन्वय किया है। मानवीय जीवन से ले कर पशु-पक्षी, नदी पहाड़ आदि के चित्रण में एक स्वाभाविक प्रवाह है, जिसके द्वारा भारतीय चित्रकला के रचना-कौशल में एक नैसर्गिक सौन्दर्य का समावेश किया गया है। प्रकृति के सुरम्य वातावरण मे ही भारतीय चित्रकार, अनन्त प्रेरणाएँ प्राप्त कर एक मौलिक कला-सृष्टि उत्पन्न करता है जो प्रकृति के आधार पर होते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न होती है। भारतीय कलाकार अपने इस दृष्टिकोण से अनन्त सम्मोह कल्पनाओं की दुनिया में पैठ कर भावात्मक चित्रों का नवःनिर्माण कर कला-जगत् में सर्व-प्रथम मौलिक रचना-सृष्टि का आदर्श उपस्थित करता है।

भारत की प्राचीन कलाएँ मूलतः शिक्षा-प्रधान ही हैं। भारतीय जीवन की भरपूर व्याख्याओं से ओत-प्रोत चित्र-कला के ऐसे उदाहरण अन्यत्र कम देखने को मिलते हैं। अजन्ता की चित्रशैली का यह स्वरूप बाद की अन्य शैलियों में भी किसी-न-किसी रूप में आज भी विद्यमान है। अंग्रेज़ों के भारत आने के पूर्व तक यहाँ की विभिन्न चित्र-शैलियाँ, जैन, राजपूत, मुगल और पहाड़ी कलमों में यहाँ की कला, जनरुचि के साथ-साथ चलती रही। राजपूत-कला में हिन्दू-भावना के उच्चादर्श पहाड़ी कलमों में पहुँच कर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। भाव-चित्रों का ऐसा प्राणवान संग्रह संसार के किसी चित्र-शिल्प में नहीं देखने को मिलता, यहाँ वस्तुओं के बाहरी रूप का नहीं बल्कि उनके सूक्ष्म रूप (आत्मा) के चित्र ही प्रस्तुत किए गए हैं। यही भारतीय चित्रकला का रचना-सौष्ठव है, जिसका वैचित्र्य हमें अगम सृष्टि-जैसा ही गूढ़मय प्रतीत होता है।

अतः भारतीय प्राचीन चित्रकला के अभ्यास और अध्ययन से हम जीवन और कला के पारस्परिक संबंध को ठीक-ठीक समझते हैं। यहाँ की कला का भारतीय धर्म, जीवन और दर्शन से कितना निकटतम सम्बन्ध स्थापित है, यह सत्य किसी से छिपा नहीं है। राष्ट्र-जीवन को स्वस्थ, सजग और सुन्दर बनाने में यहाँ चित्रकला से कितना सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है, यह अजन्ता-कालीन चित्रकला से भली प्रकार सिद्ध है। इस देश के इतिहास में साहित्य के साथ-साथ यहाँ की चित्रकला का एक उज्जल इतिहास प्राप्त है। अजन्ता-कालीन चित्रों के बाद पहाड़ी कलमों में रीतिकालीन काव्यधारा के समानान्तर इस भाव-सम्पन्न चित्रधारा में भारतीय जीवन-दर्शन का मार्मिक चित्रांकन देखने को मिलता है, जिससे हमें सौन्दर्य-बोध के साथ-साथ सामाजिक चेतना भी प्राप्त होती रही है। परन्तु इसके बाद साहित्य और

ता का यह सम्बन्ध धीरे-धीरे शिथिल होने लगता दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध-विच्छेद का सारा त यहाँ के चित्रकारों पर ही है, जिन्होंने पाश्चात्य ारों का स्वागत कर भारतीयता को कुंठित कर दिया। और चित्रकला के विलगाव से इस बीच की में समाज को कितनी क्षति पहुँची है, इसे हम तरह जानते हैं। साहित्य और चित्रकला के न्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्थिर करने के लिए यह आवश्यक है कि आज की उच्च शिक्षा में भारतीय चित्रकला को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो।

१/६१, अस्सी,
वाराणसी

—महेन्द्रनाथ सिंह

(२)

चित्रकार कुंजविहारी : एक दृष्टि

आधुनिक युग अर्थ-प्रधान है, जिसमें कला को विका का आधार नहीं बनाया जा सकता। इस-ए कुंजविहारी यद्यपि प्रकृतितः चित्रकार हैं, वे व्यव-क रूप से फ़ोटोग्राफ़र हैं। उनकी 'हाबी' है लेखन-। इस प्रकार चित्र, छाया-चित्र और लेखन की णियों का संगम-स्थल उनका जीवन है। चूँकि हृदय वे कलाकार हैं, इसलिए कलाकार की प्रकृतिगत कता उनकी सहचरी है और जीविका से व्यवसायी इसलिए व्यवसाय-जन्य कार्य-कुशलता, व्यावहारिकता और वाक्-पटुता उनकी सहचरियाँ हैं। यही कारण है, ने आफ़ बिजनेस' से जहाँ वे चन्द मिनटों में छुट्टी ते हैं, वहाँ साहित्यिक व्यक्तियों या कलाकारों से टों वार्तालाप करते रहते हैं। वे भाव-कुंज के ज-विहारी हैं, जिनके जीवन के तीन उपादान हैं—ह, आनन्द और विश्वास। वे बौद्धिकता विहीन ुकता के क़ायल नहीं हैं। इसलिए उनके चरण बिना क निर्णय के नहीं उठते और जब उठते हैं तो मंज़िल उनका रुक जाना असम्भव हो जाता है।

वे लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के समान-रूप में पात्र हैं—पहली ने उन्हें जहाँ अर्थ दिया है, वहाँ ी ने उन्हें कीर्ति दी है। वर्चस्वी पत्रकार श्री कन्हैया-मिश्र 'प्रभाकर' ने उनका परिचय एक स्थल पर दिया है: "कुंजविहारी एक लेखक हैं और जैसा ना, कागज़ पर उतार देना, उनकी कला है। वे एक फ़ोटोग्राफ़र हैं और जैसा देखना वैसा कागज़ पर उतार देना उनका व्यापार है।"

उनका जन्म, राजस्थान-प्रान्त के जयपुर जिले के अन्तर्गत रतन शहर में १६२५ ई. ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम पण्डित रामकृष्ण शर्मा है जो सपरिवार बिहार-प्रान्त के बेगूसराय सब डिवीज़न में आए, बसे और 'डोमीसाइल्ड' हो गए। इस समय कुंजविहारी की अवस्था केवल डेढ़ साल की थी। बिहार-प्रान्त के वातावरण में ही उनका लालन-पालन हुआ और उनकी शिक्षा-दीक्षा भी। प्रवेशिका परीक्षा तक पढ़ने के बाद उन्होंने स्कूल त्याग दिया, जिसका कारण यह था कि पाठ्यक्रम में कई विषय ऐसे थे, जिनके प्रति उनको कोई दिलचस्पी नहीं थी। स्कूली पढ़ाई का अन्त कर उन्होंने घर में ही रुचिकर विषयों का अध्ययन आरंभ किया और करते आ रहे हैं। चित्रकला के प्रति उन्हें बचपन से ही प्रेम रहा है।

१५ अगस्त, १६४६ के शुभ अवसर पर कुंजविहारी ने 'चित्रकला स्टुडियो' बेगूसराय में ही स्थापित किया, जिसमें बैठ कर वे रंगों और रेखाओं के अनेक रूपों में प्रयोग करते रहे हैं। उनकी मान्यता है कि जब पेंटिंग और फ़ोटोग्राफ़ी दोनों का पूर्ण ज्ञान चित्रकार को हासिल हो जाता है, तब उसकी कला में एक प्रकार की नूतनता आ जाती है। यही कारण है, कुंजविहारी ने पेंटिंग और फ़ोटोग्राफ़ी में भी दक्षता हासिल की है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ये शब्द उनके जीवन को स्पर्श करते से प्रतीत होते हैं: "लोक-दृश्य काव्य में चित्र-निर्माण का काम करते हैं। काव्य को छन्द यदि संगीत-कला के निकट ले जाता है तो दृश्य चित्र-कला के समीप। इस प्रकार काव्य को संगीत द्वारा रस और चित्र द्वारा रूप प्राप्त होता है। चित्र में नेत्रों का नीरव संगीत है और संगीत में मन का मधुर चित्र।"

कुंजविहारी ने परिमाण की दृष्टि से यद्यपि कम चित्रों का निर्माण किया है, तथापि उन्हें गुण की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। उनके चित्रों की विशेषता है भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता। उनकी राय है कि चित्रों की सार्थकता समझने में यदि जन साधारण असमर्थ रहे तो यह उसकी विफलता है। चित्रों को पहेलियाँ मानने वालों के विपरीत उनकी मान्यता है कि जिनके भाव दर्शकों की समझ में स्पष्ट-

तया नहीं आते, वे चित्र दोषपूर्ण हैं—यानी कला सार्थक तब है, जब सर्वसाधारण उसे देखे, समझे और पसन्द करे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी मान्यता यह है कि कला की उत्कृष्टता या निकृष्टता का मानदण्ड जन-साधारण की पसन्दगी या नापसन्दगी है। उनका विचार है कि कलाकार जहाँ जीवन और जगत् का चितेरा होता है, मानवीय प्रवृत्तियों का अभिव्यंजक होता है, वहाँ जन-रुचियों का परिष्कर्त्ता भी होता है। कला के बारे में कुंजविहारी की जो मान्यता है उसे किसी ने यों कहा है :

> "यदि एक बूँद भी रंग व्यर्थ
> चित्रक की सूक्ष्म सुघड़ता क्या ?
> त्यागें रेखाएँ तनिक नहीं अपनी सीमा,
> युग पर युग बीते, कमे नहीं उनकी गरिमा,
> भंगिमा एक भी व्यर्थ रही,
> सर्जक की कला-कुशलता क्या ?"

उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य कलाकारों की कलाओं का अध्ययन सावधानता-पूर्वक किया है और उनकी विशेषताओं का समावेश अपनी कलाओं में कुशलता पूर्वक किया है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि जहाँ उनका अध्ययन सहायक हुआ है, वहाँ लक्ष्य-प्राप्ति में उसकी मौलिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

चित्रकला स्टुडियो में जितने भी उनके चित्र सजे-सजाए गए हैं, उनमें जिसने मेरा ध्यान सर्व प्रथम आकृष्ट किया है, उसका नाम 'विष-पान' है। यह चित्र एक चिर-परिचित पौराणिक कथा पर आधारित है। लेकिन इसकी बारीकियाँ चित्रकार की वैचारिक प्रौढ़ता की व्यंजिका हैं। शंकर के सहज मुद्रा में दक्षिण कर में विष-पात्र धारण करते और सामने की ओर झुक कर पान करने में मानवीय स्वाभाविक स्थिति का अंकन है। कृष्ण पृष्ठाधार पर ज्योति की हल्की-पतली रेखा नैराश्य-कालिमा में जीवन-ज्योति की परिचायिका है। इस चित्र की एक और खूबी है। सृजन और संहार के द्वन्द्व को कलाकार ने सफलता-पूर्वक आँका है। नीचे अस्थि-कंकाल का चित्र है और चतुर्दिक् प्रलय का तिमिराधार है। किन्तु इसी तिमिराधार पर जीवन-ज्योति गत्यात्मक रूप में अस्तित्ववान् है।

'विषपान' के सिवा एक और चित्र है 'सत्य की स्मृति' जो मेरा ध्यान सर्वदा आकृष्ट करता रहता है। यह एक असाधारण मानसिक स्थिति को दर्शाता है। वर्तमान के सुन्दर स्वरूप को भूल कर जब व्यक्ति भविष्य के अस्पष्ट, धुँधले और तिमिराच्छादित पर्दे को भेद कर बीभत्स रूप अस्थि-कंकाल, जो काया की चरम परिणति है, की कल्पना करता है तो उसकी मुखाकृति से उसके मनोजगत् के विकार भय, क्षोभ और आश्चर्य के रूप में स्पष्ट भासित हो उठते हैं। प्रस्तुत चित्र में रमणी के रूखे-सूखे बाल, गंभीर, शान्त चेहरा, अर्द्धोन्मीलित साश्रु अपलक लोचन और किंचित् खुले हुए अधर वैचारिक गाम्भीर्य और चिन्तित स्थितियों को सफलता पूर्वक दर्शाते हैं। कृष्ण पृष्ठाधार पर दर्शाया गया मरघट का चित्र, चित्रकार के अभिप्रेत भाव—अदृश्य की विडम्बना को सुगम बनाता है।

मेरी कामना है, कुञ्जविहारी कला की साधना सतत करते रहें और नित्य अपने स्वप्नों को आकार दें।

पो० गोधना
वाया, बछवारा (मुँगेर) —एल. एन. शर्मा

(३)

आधुनिक चित्रकला

कला और कविता के आलोचक श्रीयुत रैण्डल जैरेल अपने एक लेख में आधुनिक चित्रकला के सम्बन्ध में लिखते हैं :

"इस समय जितने चित्रों का निर्माण किया जा रहा है, वे बेशुमार हैं। मूर्तिकार, चित्रकार, कला के शिक्षक, संग्रहालयों के संचालक और चित्रों के गैलरी में जाने वालों की संख्या इतनी अधिक है कि उसकी गिनती करना कठिन है। अधिकांश चित्रकार साधारण या मध्यम कोटि के हैं। जो अच्छे चित्रकार हैं, उनमें से अधिकांश को अन्य पेशावरों की तरह नियुक्त किया जा सकता है और खरीदा जा सकता है। उनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। रंग की फ़ैक्टरी का प्रेज़ीडेण्ट जब अपने घर में जाता है, तब अपने घर में रंग-चित्रों को देख कर प्रसन्न होता है। सत्य तो यह है कि वह यह अनुभव करता है कि अपनी रंग की फ़ैक्टरी में पुनः वापस आ गया है।

आज का युग सोने का युग नहीं है; सोने की प्लेट का युग है।"

चिट्ठी-पत्री

कला-चर्चा का स्तम्भ

(१)

'कला-चर्चा' स्तम्भ को लोक-प्रियता इस प्रकार मिल सकती है कि :

(१) प्रत्येक आधुनिक भारतीय कलाकार बारीकी से अपनी कला के विषय में अपना विचार स्वयं व्यक्त करे और हमें बताए कि उसकी कला का मुख्य प्रयोजन क्या है ? जीवन और कला के पारस्परिक सम्बन्ध को वह अपने लेख में स्वतन्त्र रूप से स्पष्ट करे। ऐसी रचनाओं के साथ कलाकार का स्वयं का एक चित्र (फ़ोटो) तथा उसके दो प्रतिनिधि चित्रों का फ़ोटोग्राफ़ होना आवश्यक होगा।

(२) प्राचीन एवं आधुनिक विश्वविख्यात चित्रों के बारे में सरल भाषा में प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ लिखी या लिखवाई जाएँ।

(३) आधुनिक कला के विषय को बोधगम्य एवं सर्व-प्रिय बनाने की दृष्टि से प्रश्नोत्तर का क्रम चालू किया जाए। इसे आम जनता को जिसे कला के प्रति ग़लतफ़हमियाँ हैं, उसका निराकरण भी हो सकेगा और कला की आधुनिकतम प्रवृत्तियों को समझने में भी इससे काफ़ी सहायता मिल सकेगी। आज की दुनिया के 'इज़्म' और 'वादों' में कला गुमराह होती जा रही है। भारतीय आदर्श और मान्यताओं से आज हम बहुत दूर हो गए हैं। ऐसी स्थिति में आज हम कला की सेवा, इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों के क्रम को एक रोचक ढंग से सब के सामने रख कर ही कर सकते हैं। मुझे स्वयं भी इसका यथार्थ रूप से अनुभव है कि आज के कुछ प्रमुख कलाकार जिन्होंने वास्तविक रूप से भारतीय चित्र-कला की सेवा की है और उसी अदम्य उत्साह और लगन के साथ निशिदिन अपने प्रयत्न में जुटे हुए हैं—ऐसे बहुतेरे कला-साधक आज अन्धकार में हैं और यदि उन्हें रोशनी न मिली तो निश्चय ही हमें एक बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ेगी। यदि इस स्तम्भ द्वारा ऐसे कलाकारों को प्रकाश मिल सके तो मेरी समझ से इस से अधिक कला की सेवा और क्या हो सकती है ?

ऐसे संक्रामक काल में जब कि कला और कलाकार अपने विनाश के लिए अंधकार की ओर अपने क़दम तेज़ी से बढ़ा रहे हों, उन्हें बचाने के लिए इस प्रकार के विचार-विनिमय 'कला-चर्चा' स्तम्भ को सर्वाधिक लोक-प्रिय बना सकेंगे।

(४) कुछ चुने हुए प्राचीन और आधुनिक भारतीय चित्रों के बारे में जो प्रतिमास 'अजन्ता' में प्रकाशित हों, उन पर पाठकों से प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ संक्षेप में लिखने को कहा जाए और सब से उत्तम लेख लिखनेवाले व्यक्ति को पुरस्कृत भी किया जाए।

इससे पाठकों में कला को समझने के लिए जिज्ञासा और रुचि उत्पन्न होगी और 'अजन्ता' को ऐसी टिप्पणियाँ प्राप्त होंगी, जिन्हें प्रकाशित करने से अन्य पाठकों को भी लाभ होगा।

(५) देश विदेश की कला तथा लोक-कला का तुलनात्मक अध्ययन प्रकाशित किया जाए।

(६) साहित्य संगीत और कला का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके भी इस कला-चर्चा' स्तम्भ को रोचक और लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

बी १।६१ अस्सी,
बनारस

——महेन्द्रनाथ सिंह

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

(२)

मैंने इधर 'अजन्ता' का जुलाई ५७' का अङ्क देखा। कतिपय कारणों से, मैं पिछले दो एक मास 'अजन्ता' न देख सका, वैसे मैं 'अजन्ता' का नियमित पाठक हूँ और अब तो उससे मोह-सा हो गया है। मैं विगत बहुत दिनों से यह सोचता आ रहा था कि आपके ऐसे सुन्दर-साहित्यिक प्रकाशन के लिए आपको हार्दिक साधुवाद दूँ लेकिन कार्यव्यस्तता और अन्य दूसरे

कारणों से मुझे यह सुअवसर न मिल सका।

'अजन्ता' के जुलाई-अङ्क में ग्वालियर के युवक कवि श्री वीरेन्द्र मिश्र की एक चिट्ठी 'चिट्ठी-पत्री' स्तम्भ में प्रकाशित हुई है; यद्यपि वह चिट्ठी बहुत संक्षिप्त-सी है, लेकिन अपने अर्थ में वह बहुत सारगर्भित और महत्त्वपूर्ण है। 'अजन्ता' के प्रकाशन के प्रति उस पत्र में प्रतिध्वनित भावनाओं से मैं अक्षरशः सहमत हूँ।

दूर अहिन्दी-भाषी प्रदेश की विभिन्न विषम स्थितियों में ऐसा सुन्दर और सुनियोजित, सुसम्पादित प्रकाशन स्वयं गौरवास्पद विषय है। हिन्दी, अन्य अहिन्दी भाषाओं (भारतीय भाषाओं), तथा विश्व की प्रमुख-प्रमुख भाषाओं के साहित्यों का अत्यन्त सुरुचि के साथ 'अजन्ता' के द्वारा मूल्याङ्कन, हिन्दी की तरुण और उदीयमान काव्य प्रतिभाओं की रचनाओं को स्थान देना, और वह स्थान अत्यन्त सुरुचि के साथ देना, नाटक आदि सभी-कुछ का प्रकाशन अत्यन्त रुचि और योग्यता के साथ होता है।

आपकी निष्पक्षता और अपनी निज की मूल्याङ्कन करने की साहित्यिक क्षमता को, मैंने बड़ी सूक्ष्मता से लक्ष्य किया है, जो साधारणतया दुर्लभ होती है।

सब से मुख्य चीज़ है 'अजन्ता' में, नियमित-रूप और दीर्घावधि से चले आ रहे स्तम्भ—कला-चर्चा, 'नीर-क्षीर', 'चिट्ठी-पत्री', 'सामयिक' तथा सम्पादकीय' ये पाँचों स्तम्भों की सेवाएँ समस्त हिन्दी-संसार के लिए अनुकरणीय एवं अद्वितीय हैं—मैं यह पूरे दावे तथा गम्भीरता से सोच समझ कर कह रहा हूँ। 'नीर-क्षीर' के स्तम्भ में पुस्तकों की समीक्षा सदा निष्पक्ष तो रहती ही है; लेकिन इतनी सुगठित, संयत और संतुलित भी होती है कि आलोच्य साहित्यकार, न यह कह सकता है कि यह आवेश या जल्दी-जल्दी में की गई समीक्षा है और न इसे कोई दुर्भावना कह सकता है; साथ ही, वह यह भी नहीं कह सकता कि कृति का मर्म समीक्षा से कहीं भी अप्रभावित रह गया है। मैं इस सूक्ष्म और संतुलित तथा मूल में सृजनात्मक समीक्षा-पद्धति का अत्यन्त क़ायल हुआ।

'सम्पादकीय' और 'सामयिक' स्तम्भ सदा ही पठनीय होते हैं—विशेषकर 'सामयिक' स्तम्भ में प्रस्तुत सामग्री तो कभी-कभी अत्यन्त मननीय बन पड़ती है।

एक निवेदन में बड़ी नम्रता से कहूँगा, इस सब के बावजूद कहानियों की न्यूनता तथा श्रेष्ठ एकांकी नाटकों का अभाव कभी-कभी खटक जाता है, इस ओर मेरी विशेष प्रार्थना है।

आत्माराम एण्ड सन्स,
द्वारा हिन्दी विभाग,
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६

श्रीकृष्ण

(३)

'अजन्ता' की प्रतियाँ बराबर मिल रही हैं। जुलाई मास का सम्पादकीय और श्री हरेन्द्र प्रताप सिन्हा का लेख 'हिन्दी उपन्यासों में नग्नवाद' बहुत पसंद आए। हरेन्द्र जी ने निश्चय ही परिश्रम करके एक उपयोगी लेख लिखा है। हिन्दी कथा-साहित्य के नामी कलाकार कहाँ बैठे, क्या लिख रहे हैं, यह विचारणीय बात है। इस लेख में जो अंश उद्धृत किए गए हैं, वे निश्चय ही गहरी चिन्ता पैदा करने वाले हैं। हमारा नवयुवक वर्ग जो 'सुन्दरम्' से परिपूर्ण है किन्तु शिवत्व की दृष्टि से अपरिपक्व है, वह ऐसी वस्तुएँ पढ़ कर निश्चय ही सत्य की ओर नहीं बढ़ सकते। लेखक ने इस लेख में जो विरोध ऐसे साहित्य के प्रति प्रकट किया है, उसका मैं समर्थन करता हूँ।

'अजन्ता' की सम्पूर्ण सामग्री पठनीय है। मैंने तो इसके वर्ष-भर के अंकों को कपड़े की जिल्द में बँधवा कर अपने पुस्तकालय में रखा है। आज की विषम परिस्थिति में हिन्दी की बहुत-सी अच्छी पत्रिकाएँ बन्द हो गई हैं। 'अजन्ता' जीवित रहे, यही कामना करता रहता हूँ।

—कैलाश कल्पित

६५, चक, इलाहाबाद

(४)

'अजन्ता' का जुलाई अंक देखा। अहिन्दी-भाषी प्रान्त से इतनी सुन्दर पत्रिका के प्रकाशन के लिए धन्यवाद! इस अंक की कविताओं में कविवर नर्मदा-प्रसाद त्रिपाठी की रचना मुझे सर्वश्रेष्ठ लगी। मनोहर प्रभाकर का अनुवाद भी सुन्दर बन पड़ा है। श्री चन्द्र का एकांकी और रामराज सिंह की कहानी मुझे पसन्द आई। लेख सभी सुन्दर हैं। सम्पादकीय और कला-चर्चा हमेशा की भाँति गम्भीर एवं विद्वत्तापूर्ण हैं।

—संगीतकुमार

गवर्नमेंट हाईस्कूल,
बैतूल (म. प्र.)

(५)

'अजन्ता' से अपरिचित हूँ, यह तो कह नहीं ता और सुपरिचित हूँ, यह कह सकने का साहस ही होता। कारण है इसका, जब कि हैदराबाद-जैसे हिन्दी-क्षेत्र से 'अजन्ता'-जैसा पत्र, आपके नेतृत्व-संपा है—राष्ट्र-भाषा हिन्दी की विजय-पताका लिए चल हा है, ग्वालियर के महान् साहित्य-दुर्ग में इसका स्वागत- वेश भी नहीं हो सका है!! दुःख, लज्जा एवं ग्लानि की सम्मिलित-अनुभूति, अस्वाभाविक नहीं !!!

ऑल-इंडिया-रेडियो से, अपने एक प्रोग्राम के त्र, अभी भोपाल गया तो वहाँ—भाई श्री वीरेन्द्र तिवारी (संपादक 'प्रतिभा') के यहाँ 'अजन्ता' का नवीन- न अंक देखने को मिला। प्रशंसा के लिए, कलम- ची लेकर —वीणावादिनी-माँ सरस्वती की मूर्ति पर, शब्दालंकारों को गढ़ना होगा ! तारीफ़ की सिफ़ा- श का भूखा नहीं है वह, बाकी रहा, भाई त्रिलोकी- साद शर्मा और नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी की कविताओं सवाल, वहाँ मैं अधिकारी होते हुए भी, अधिकार- हूँ ..?

अन्त में, आपके महान् एवं कुशल संचालन में न्न होने जा रहे 'अजन्ता' के, पावनतम हिन्दी- ष्ट्र-यज्ञ के अनुष्ठान की पूर्णाहुति की मंगल-कामना के साथ—

न-मन्दिर,
कर (ग्वालियर)

—शैवाल सत्यार्थी

(६)

'अजन्ता' का जुलाई अंक अपनी पुष्ट सामग्री के लिए प्रशंसनीय है। विशेषकर 'प्रेमचन्द जी' का लेख और पहली कविता तो अत्यन्त सुन्दर हैं। हिन्दी का निधित्व और प्रचार करने में 'अजन्ता' का योगदान त्वपूर्ण है।

-कुटीर, मिलिटरी साइन्स
ला (म. प्र.)

—हरिकृष्ण देवसरे

(७)

जून अंक की 'अजन्ता' में प्रकाशित कहानी नी हथकड़ी" पढ़ी। पढ़ते वक्त लगा जैसे : मैं री में बैठ कर कहानी नहीं पढ़ रहा हूँ, वरन् मैं भी उसी ट्रेन से उसी डब्बे में सफ़र कर रहा हूँ, जिसमें श्री चिरंजीलाल पाराशर की कथा की नायिका सफ़र कर रही है। स्वाभाविकता से बढ़ने वाले कथानक ने मुझे बहुत ही आकर्षित किया। एक बार पढ़ कर जी न भरा तो दुबारा पढ़ डाला। तब भी ऐसा लगा कि अभी कुछ शेष है तो उसे उर्दू का जामा पहना डाला। 'अजन्ता' द्वारा चिरंजीलाल पाराशर तक मेरी बधाई पहुँचेगी ऐसी आशा करता हूँ।

जुलाई अंक में "हिन्दी उपन्यासों में यथार्थ के नाम पर नग्नता" नामक हरेन्द्रप्रताप सिन्हा का जो लेख छपा है, ऐसे एक ही नहीं अनेक लेखों के छपने की आज आवश्यकता है। पुरुष का नारी की ओर देखने का दृष्टिकोण बड़ा ही सँकरा हो गया है। नारी शब्द के साथ जो रूप उनके मस्तिष्क में आकार लेता है, वह शायद नग्न-नारी ही का होता है। जान पड़ता है मनुष्य यह भूल चला है कि उसकी माता, कन्या, भगिनी भी होती है। सिन्हा साहब के इस कथन से कौन भला सहमत न होगा : "समाज के पूर्ण यथार्थ का यदि चित्रण ही करना है तो इतना नग्नवादी होने की क्या आवश्यकता है, मैं नहीं समझ पाता। सभी स्त्री-पुरुष साड़ी-धोती के नीचे नग्न ही हैं। किन्तु समाज की मर्यादा का पालन करने के लिए यह आवरण डाल रखता है, नंगा नहीं घूमता, क्योंकि यही सभ्यता और संस्कृति का चिन्ह है।"

ब्रजराज तिवारी 'अधीर' के "पावस-गीत" की प्रथम पंक्ति :

> "बावरे घन आज मुझको ही बरसने दो
> कि कल तुम भी बरस लेना—"

पढ़ते ही 'माँ' में श्यामा द्वारा गाए गए भरत-व्यास का यह गीत अनायास जहन में आया :

> "आज मुझे रोने भी दे
> हर दिन, तू रोता है बादल"

न जाने क्यों ? शायद 'अधीर' साहब भी इस गीत से मेरी तरह परिचित हैं।

उम्मीद है कि अगस्त-अंक के दर्शन शीघ्र होंगे।

रूम नं. ७६ बी. हास्टल,
उस्मानिया विश्वविद्यालय,
हैदराबाद

—देवेन्द्र 'दिल'

(८)

मैं 'अजन्ता' को नियमित रूप में वर्ष-भर से पढ़ती आ रही हूँ। मेरी दृष्टि में 'अजन्ता' ने अब तक पर्याप्त उन्नति की है और कामना करती हूँ कि आपके कुशल सम्पादन में 'अजन्ता' सदा फूलती और फलती रहे।

३-६-३५५, बशीरबाग़,
साइकल टैक्सी शाप,
हैदराबाद-दक्षिण —अनुसूया देवी

(६)

जुलाई की 'अजन्ता' देखने को मिली, ख़ुशी हुई। "सौ-सौ कोसों की दूरी" कविता प्रारम्भ में कुछ उखड़ी-उखड़ी-सी लगती है, मगर बाद को इसमें बहुत कसाव आ गया है और अन्त में एक गहरा इम्प्रेशन मन पर छोड़ती है। 'पावस-गीत' से प्रफुल्लित मन, जब संस्कृत-हिन्दी मिश्रित कविता 'स्योना पृथिवी भवानृषरा निवेशनी' पर पहुँचता है तो सहसा बिदक उठता है। सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाता है। इस कविता को पढ़ कर सिवाय इस जानकारी के कि इसके बहुभाषी महाकवि का संस्कृत से भी कुछ परिचय है और कोई बात समझ में नहीं आती। गति, लय, भाव, शिल्प सभी की दरिद्रता इस भौंड़ी कविता में मिलती है। कहीं ऐसा तो नहीं है, इस अंक की अच्छी-अच्छी कविताओं के बीच यह 'बोर' कविता जानबूझ कर पाठक को चौंकाने के विचार से ही छापी गई है?

वैसे इस बार की 'अजन्ता' अपनी पूर्व परम्परा में ही निकली है, विशेषतः इस अंक के निबन्धों में काफ़ी वज़न है।

द्वारा 'स्वस्थ-जीवन',
८।१, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता —उदयभान मिश्र

(१०)

…जून की "अजन्ता" मिली। यतेन्द्रकुमार, स्वर्णलता जगदीश और कीर्ति चौधरी की कविताएँ इस अंक का प्रमुख आकर्षण है। "जीवन की शाम" के कवि को विशेष बधाई। विश्वनाथ अरोरा का "गीत" घोर निराशावादी और पाठकों की सहज प्रवृत्तियों को दूषित करने वाला है। इस तरह की रचना प्रकाशित कर 'अजन्ता' अपने आदर्श को कभी क़ायम नहीं रख सकती। "जनानी हथकड़ी" बड़ी अच्छी और मनोरंजक कहानी है। रवीन्द्र भ्रमर, संतराम और मूलचन्द सेठिया तथा सम्पादकीय आदि की रचनाएँ 'अजन्ता' की काफ़ी श्रीवृद्धि करती हैं। धन्यवाद।

शोकहरा, पोस्ट बरौनी
जिला-मुँगेर (बिहार)
—कीर्तिनारायण मिश्र

(११)

'अजन्ता' का जून अंक देखने को मिला। सुन्दर सम्पादन और उच्च कोटि की सामग्री देख प्रसन्नता हुई। मैं बहुत समय से 'अजन्ता' नियमित रूप से पढ़ता आ रहा हूँ। प्रायः सभी अंक सुन्दर सामग्री से पूर्ण होते हैं। 'अजन्ता' में कुछ प्रकाशित लेखों को तो सँजो कर रखने का मन होता है। 'अजन्ता' का जून अंक मेरे सामने है। इस अंक में प्रकाशित लेखों में, अन्य सामग्री की अपेक्षा अधिक भारीपन है। 'कमल—एक आदि पुष्प' 'हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की लौकिक पृष्ठ-भूमि' और 'शृंगार प्रसाधन' इस अंक के विशेष आकर्षण हैं। मुझे गवेषणात्मक निबन्ध अधिक रुचिकर प्रतीत होते हैं। इस अंक में प्रकाशित 'कमल—एक आदि पुष्प' एक सुन्दर और आकर्षक लेख है। यथार्थ में कमल भारतीय संस्कृति और जीवन का प्राण-प्रतीक है। लेखक ने इस लेख में कमल की प्राचीनता का प्रदर्शन करते हुए विश्व साहित्य पर उसके प्रभाव को स्पष्ट किया है। भाषा और शैली आकर्षक है। विभिन्न संदर्भों से लेख सजीव हो उठा है। लेख बहुत ही सुन्दर है और एक नवीन विषय पर प्रकाश डालने के लिए श्री कृष्णकुमार असावा धन्यवाद के पात्र हैं परन्तु इतना होते हुए भी लेख में एक न्यूनता है। लेखक ने स्वतः को केवल साहित्य तक ही सीमित रखा है। योग और स्थापत्य में कमल का जो स्थान है, उस पर उन्होंने विचार करने का कष्ट नहीं किया है। वास्तव में कमल ने हमारी संस्कृति और विचार-शैली को बहुत प्रभावित किया है। अतः गहराई में जाने की आवश्यकता है। लेख के साथ प्रकाशित चित्र सुन्दर हैं, विशेषकर कमल का चित्र! हो सकता है, लेखक ने योग और स्थापत्य में कमल के प्रयोग को नवीन लेख की सीमा में समझ इस लेख को उससे अस्पृश्य रखा हो, परन्तु फिर भी यदि योग और स्थापत्य को लेख में सम्मिलित किया जाता तो निश्चय ही लेख और सुन्दर बन जाता।

—रमेश कुमार तिवारी

४२, स्ट्रैंड रोड, कलकत्ता

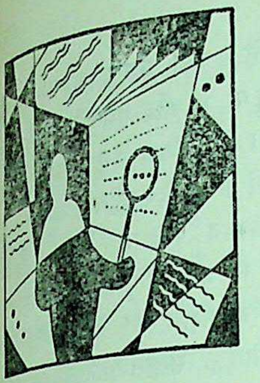

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम भेजा जानी चाहिए]

हिन्दी काव्य में छायावाद
लेखक : दीनानाथ 'शरण'
प्रकाशक : गयाप्रसाद एण्ड सन्स,
आगरा
मूल्य : ५.०० रु.

प्रस्तुत पुस्तक 'छायावाद' के सम्बन्ध में काफ़ी छोटी पुस्तक है। पुस्तक को देख कर यह अनुभव होता है कि इसमें छायावाद के सम्बन्ध में प्रत्येक दृष्टि से विचार किया गया होगा। पुस्तक जितनी बड़ी है, उतने इसके विचार गम्भीर नहीं हैं। छायावाद के सम्बन्ध में लेखक पुनः-पुनः अपनी धारणाओं को दुहराता है—यद्यपि उसके लिए वह आवश्यक तर्क और प्रमाण पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत नहीं करता। 'चित भी मेरा—पट भी मेरा' कहावत के अनुसार लेखक दोनों विरोधी दृष्टिकोणों से 'छायावाद' का समर्थन करने का प्रयत्न करता है। यदि 'छायावाद' में अस्पष्टता है, तो उसका कारण लेखक की सम्मति में छायावाद नहीं है—उसका कारण "पाठकों की नासमझी" है और यदि इतने पर भी आप अस्पष्टता को सिद्ध करने का प्रयत्न करें तो सुन लीजिए कि इस सम्बन्ध में अन्य आलोचक क्या कहते हैं। वे कहते हैं : "श्रेष्ठ कविता का पहला गुण अस्पष्टता है।...स्पष्ट तथा व्यक्त बातों को अस्पष्ट तथा अव्यक्त रूप देने के लिए कविता की सृष्टि हुई है—अन्यथा उसका कोई उद्देश्य नहीं रह जाता।" छायावाद में 'पलायनवाद' के सम्बन्ध में एक ओर तो लेखक यह कहता है : "...पलायनवाद के सम्बन्ध में मेरा तो निश्चित मत है कि बिना पलायन के मनुष्य-जाति की सभ्यता-संस्कृति कुछ भी आज उन्नत नहीं होती।...वर्तमान स्थिति से पलायन भावना (?) ही मनुष्य के साहित्य, कला, विज्ञान आदि सारे व्यापारों को प्रगति के पथ पर अग्रसर करती है" और दूसरी ओर वह 'विरोधी' आलोचकों के वाक्यों को उद्धृत करके कहते हैं : "छायावाद पलायनवादी नहीं।" और इसके साथ वे इस आलोचना से भी सहमत हैं : "छायावादी कवि सामाजिक परिवर्तन से अपरिचित हैं, छायावादी काव्य मुख्यतः दुनिया से अलग किसी रहस्यमय सत्ता में विश्वास करता है, वह जीवन का सामना नहीं करना चाहता।...उसका सम्पूर्ण जीवन-दर्शन काल्पनिक और एकान्तिक है।" एक ओर वे 'छायावाद' को इतना व्यापक समझते हैं कि उनकी सम्मति में वह निश्चय ही एक वाद-विशेष के बन्धनों में नहीं बँध सकेगा" और दूसरी ओर वह इस आलोचना से भी सहमत हैं कि "इसमें एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना" है।

छायावाद की जो आलोचनाएँ हुई हैं, उनके सम्बन्ध में लेखक का विचार है : "...निरन्तर व्यंग-विरोध से छायावाद के विरुद्ध कुरुचिपूर्ण आलोचनाओं का काफ़ी कूड़ा-कर्कट जमा हो गया।" अपने से विरोधी आलोचना को "कुरुचिपूर्ण आलोचनाओं का कूड़ा-कर्कट कहना" कहाँ तक न्याययुक्त है ?

छायावाद की कविता समझने में जैसी क्लिष्ट है और बनावट में जैसी कृत्रिम है, उसकी परिभाषा और व्याख्याएँ भी उससे कम क्लिष्ट और कृत्रिम नहीं हैं। इन व्याख्याओं की जितनी अधिक अभिवृद्धि हो रही है, उतना ही उसका आशय अभिवृद्ध, विस्तृत या विशद् नहीं हो रहा है। जिस प्रकार छायावादी कविता के अर्थों में खींचतान की जा रही है, उसी प्रकार उसके विश्लेषण और दर्शन में भी खींचतान की जा रही है। छायावादी कविता में 'शब्द-जाल' जितना आकर्षक है,

उतनी अनुभूति नहीं, इसी प्रकार छायावाद की व्याख्याएँ, जितनी दार्शनिक प्रतीत होती हैं, ज़रा-सी गहराई में जाने पर उनका आधार उतना 'दर्शन' नहीं जितना कि 'कल्पना' प्रतीत होता है। कई आलोचकों ने छायावाद की कविताओं के सम्बन्ध में कहा है कि उनमें 'कल्पनात्मक अनुभूति' है—यहाँ 'कल्पनात्मक अनुभूति' का अर्थ भी उतना ही अस्पष्ट है, जितना कि छायावाद का।

लेखक ने 'छायावाद' नाम के सम्बन्ध में लिखा है कि यह नाम आलोचकों के 'परिहास और व्यंग्य के कारण पड़ा' इसलिए नहीं कि इसमें 'छाया और प्रकाश' का सम्मिलन था। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने छायावाद के क्षेत्र को इतना अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न किया है कि उनके विचारों में यद्यपि छायावाद 'भावनिष्ठ' है—'वस्तुनिष्ठ' नहीं—तो भी कोई विषय चाहे वह किसी प्रकार का क्यों न हो उससे अछूता नहीं रह गया है। छायावादी कवि ने जिस विषय पर भी लिखा है, उसे, प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने किसी-न-किसी रूप में छायावाद के साथ जोड़ दिया है।

बौद्ध-धर्म के २५०० वर्ष

['आजकल' का वार्षिक अंक दिसम्बर १६५६]
मुख्य सम्पादक : पी. वी. बापट
भूमिका लेखक : सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
प्रकाशक : पब्लिकेशन डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटरियए, दिल्ली—८
मूल्य : ३.०० रु.

पिछले वर्षों में श्रीयुत डा. भीमराव अम्बेदकर ने ही बौद्ध धर्म की दीक्षा-ग्रहण नहीं की—अपितु भारतीय प्रशासन ने भी 'धर्म-निरपेक्ष' होते हुए भी "बौद्ध-धर्म" के सम्बन्ध में प्रशासन के स्तर पर अनेक आयोजन किए। इसका सम्भवतः एक यह कारण भी प्रतीत होता है, क्योंकि 'बौद्ध-धर्म' एशिया के अनेक देशों का धर्म है—इसलिए "वैदेशिक नीति" से इसका भी सम्बन्ध बन जाता है। अच्छा होता कि यदि इसमें बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में चीन, जापान, सिंहल और अन्य देशों के विद्वानों के लेखों को उपयुक्त स्थान दिया जाता। इसमें कुछ लेख विदेशी लेखकों के सम्मिलित किए गए हैं परन्तु अधिकांश लेख भारतीय लेखकों द्वारा ही लिखे गए हैं। जिस प्रकार बौद्ध-कला का भारतीय कला पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार वर्तमान भारतीय भाषाओं के साहित्यों पर भी बौद्ध-धर्म और उसके साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। तमिल, तेलुगु, कन्नड़, बंगाली, हिन्दी आदि भाषाओं के आदिकालीन साहित्य पर बौद्ध-साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। अच्छा होता कि यदि इस सम्बन्ध में भी प्रस्तुत पुस्तक या 'आजकल' के अंक में कुछ लेख प्रकाशित किए जाते। बौद्ध विद्वानों की बुद्ध-धर्म से अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य को जो देन है—उस पर प्रकाश डालने वाले भी कुछ लेख इसमें सम्मिलित किए जा सकते थे।

यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक लेख विद्वानों के द्वारा लिखा गया है तो भी उनमें अनेक विचार इस प्रकार के हैं जो कि मासिक पत्र के एक विशेषांक में कदाचित् उपयुक्त प्रतीत हों परन्तु पुस्तक के रूप में वे उतने उपयुक्त नहीं प्रतीत होते। श्रीयुत सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में लिखा है: "दुनिया के दूसरे देशों में उनकी अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुसार बुद्ध के उपदेश ने निश्चित रूप धारण किए परन्तु यहाँ बुद्ध के अपने घर में, उसकी शिक्षा हमारी संस्कृति में समाविष्ट हो गई और उसका आवश्यक अंग बन गई।...यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ही आधुनिक हिन्दुत्व का निर्माता है।" इसमें सन्देह नहीं है कि भारतीय धर्म, कला और संस्कृति के विकास में बुद्ध का बहुत बड़ा हाथ है परन्तु इस विचार में कि "बुद्ध ही आधुनिक हिन्दुत्व का निर्माता है"—मतभेद की काफ़ी गुंजाइश है। 'बौद्ध-धर्म की प्रधान शाखाएँ और सम्प्रदाय' लेख में हीनयान पर कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। प्रस्तुत पुस्तक में "बौद्ध-धर्म और आधुनिक संसार" शीर्षक में बौद्ध-धर्म के महत्व के सम्बन्ध में बहुत से लेख प्रकाशित किए गए हैं। इस सम्बन्ध में श्रीयुत बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है: "यदि उन्हें किसी धर्म को स्वीकार करने के लिए विवश किया जाए तो वे जिस धर्म को स्वीकार करेंगे वह बौद्ध-धर्म ही होगा।"—परन्तु इसमें कोई भी लेख इस प्रकार का प्रकाशित नहीं किया गया, जिससे यह ज्ञात हो सके कि बौद्ध-धर्म का ह्रास किन कारणों से हुआ। 'वज्रयान, मन्त्रयान और महासुखवाद आदि पर भी कुछ विशेष गहराई से प्रकाश नहीं डाला गया है।

'आजकल' के विशेषाङ्क के रूप में 'बौद्ध-धर्म' के

१९५७

सम्बन्ध में संगृहीत लेख पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु पुस्तक के रूप में इन लेखों का संग्रह हमें कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत हुआ।

माटी हो गई सोना

[बल और बलिदान के सत्रह अमर अक्षर-चित्र]

लेखक: श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ,
काशी

मूल्य: २.०० रु.

हमने जब प्रस्तुत पुस्तक का नाम पढ़ा तो हमें कबीर के निम्न पद की पहली पंक्तियों का स्मरण हो आया:

"हरि जी के संग में क्यों न गई री
हरि संग जाती सोना बन आती,
अब तो मैं माटी के मोल भई री"

पुस्तक का नाम जैसा आकर्षक, कवित्वपूर्ण और अर्थ-युक्त है, वैसे ही इसके 'अक्षर-चित्र' आकर्षक, कवित्वपूर्ण और मानव-जीवन को अलौकिक अर्थ प्रदान करने वाले हैं। ये सत्रह अक्षर-चित्र वीर-रस की १७ कविताएँ हैं जिन्हें पढ़ कर मानव-जीवन की महानता का अनुभव होता है।

मानव ने बुद्धि के क्षेत्र में अपने अनेक चमत्कार दिखलाए हैं; उसने विज्ञान के द्वारा असम्भव को सम्भव कर दिखलाया है परन्तु उससे उसके व्यक्तित्व या आत्मा के चमत्कार का उन आविष्कारों के द्वारा अनुभव नहीं होता। इन कथाओं को पढ़ने से मानव-जीवन का वह चमत्कार दिखलाई पड़ता है जो सबसे अधिक आश्चर्यजनक है और सचमुच उसी से मट्टी सोना हो जाती है और जीवन सदा के लिए जीवन बन जाता है, मृत्यु उसको स्पर्श तक नहीं कर सकती; वह सदा के लिए अमर हो जाता है। जीवन की इसी अमरता की ओर कबीर ने अपने निम्न दोहे में इंगित किया है:

"सबै रसाइण मैं किया, हरि-सा और न कोइ
तिल इक घट में संचरै, तो सब तन कंचन होइ"

यह 'हरि' का 'रसायन' मानव-जीवन का रसायन है और प्रस्तुत पुस्तक के अक्षर-चित्र या कहानियाँ ऐसा ही अद्भुत 'रसायन' प्रस्तुत करती हैं, जिससे मनुष्य का यह नश्वर-जीवन अनश्वरता को प्राप्त करता है, वह जीवन की असाधारणता को समझता है और सदा के लिए 'जीवन' बन जाता है।

इन कथाओं का, लेखक ने निम्न शब्दों में परिचय दिया है: "मैं साहित्यकार की सम्पूर्ण ईमानदारी के साथ इस स्थिति में हूँ कि कहूँ—इन कथाओं को मैंने अपने खून से लिखा है; कलेजे के खून से, आत्मा के खून से और कलेजे का वह खून ही इन कथाओं की कला है। इन कथाओं के पात्र मेरे लिए कभी कोरे पात्र नहीं रहे—वे मेरे निकट सदा सजीव बन्धु रहे हैं।... मेरी शुभ कामना है कि मेरे देश की नई पीढ़ी इस रक्त से तरोताज़ा हो जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़े।"

प्रस्तुत पुस्तक की कहानियों के पात्र विश्व-पात्र हैं। वह किसी एक देश, राष्ट्र, धर्म या जाति के नहीं हैं। इनके जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों में 'जीवन' की उसी महान् सत्ता को अनुभव किया गया है जो सब प्रकार के बन्धनों से विहीन है; जो कि सर्वथा निर्मुक्त है। लेखक ने अपने पात्रों का चुनाव तो अनेक राष्ट्रों में से किया है परन्तु 'मानव' की शहादत एकमात्र राष्ट्र या धर्म तक ही सीमित नहीं रही। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके परिदर्शन होते हैं। यदि इन पात्रों का क्षेत्र भी कुछ और अधिक विस्तृत होता तो उन क्षेत्रों में भी मानव-जीवन की महानता का परिचय प्राप्त हो सकता।

श्रीयुत कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लेखनी में ऐसा बल और प्रवाह है जैसा कि एक बाढ़ आई हुई नदी में होता है। मनुष्य की आँखों में दुःख में तो आँसू उमड़ते ही हैं; प्रसन्नता में भी आते हैं परन्तु जो आँसू महान् त्याग और बलिदान को देख या अनुभव कर उत्पन्न होते हैं, वे आँसू सब से अधिक क़ीमती होते हैं—इसी में वीर-रस, करुण-रस में परिवर्तित हो जाता है और करुण-रस वीर-रस में। श्रीयुत कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की इन कहानियों को पढ़ते हुए आँखों में बरबस आँसू उमड़ पड़ते हैं—ऐसे आँसू जिनसे मनुष्य का मन निर्मल हो जाता है और निर्मल हो जाने से उसे नया जीवन और स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रत्येक शब्द में जीवन है, जीवन की बिजली की करेण्ट है, जिसका मन के बल्ब से सम्पर्क होते ही वह प्रकाशमान हो उठता है।

ज्योति-गंगा

लेखक : नर्मदाप्रसाद खरे

प्रकाशक : लोक-चेतना प्रकाशक,
जबलपुर

मूल्य : १.५०

श्रीयुत नर्मदाप्रसाद खरे का इससे पूर्व एक कविता संग्रह 'स्वर-पाथेय' प्रकाशित हो चुका है। यह उनका दूसरा कविता-संग्रह है। इसमें उनकी ३६ कविताओं का संग्रह किया गया है। उसके प्रथम-गीत को हमने 'अजन्ता' में प्रकाशित किया था। उनकी कविताओं में जीवन के, प्रकाश के, प्रगति के और मानव-हृदय के गीत हैं। उनकी कविताओं में उनके हृदय की धड़कन संगीतपूर्ण स्वरों में सुनाई पड़ती है। अपने गीतों के सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं :

"मैं जनम-जनम का गायक, जाने कब से गाता हूँ
पूजा के गीत अधूरे युग-युग से दुहराता हूँ
पग-ध्वनि प्राणों में घुल-मिल बन गई पावनी गीता
उस जीवन-गीता को ही छन्दों में बिखराता हूँ"

'ज्योति-गंगा' के विषय में वे कहते हैं :

"तम के आँगन में बिखराया किसने इतना सोना ?
आज ज्योति-गंगा में जैसे नभ के प्राण धुले"

"युग-युग का विश्वास सुनहला,
ज्योति-जागरण लाया
अन्तर का आलोक बिखर कर
किरनों में मुसकाया
नई प्रेरणा के पंछी को नूतन पंख मिले"

'ज्योति-गंगा' के द्वारा कवि ने जीवन की "जादू-भरी ज्योति की वंशी को बजाने" और "धरती से अम्बर तक दीपावली सजाने" का प्रयत्न किया है।

'राम' और 'सीता' को उन्होंने अपनी कविता में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

"शशि जिसे दुलरा न पाया, वह कुमुदिनी-कामिनी हूँ
भूल कर भी जो न चमकी, हाय वह सौदामिनी हूँ
राम मेरे, इस शिला पर, श्रीचरण क्या धर सकोगे ?"

सीता के सम्बन्ध में :

"नित नव उमंग ले मन में, नव दूर्वा-सी मुसकाओ
पागल-प्राणा रेवा-सी, संगीत-मुखर हो गाओ
होने दो अग्नि-परीक्षा, भय तुम को क्या है सीता ?"

निम्न पंक्तियों में कवि ने कैसा करुणापूर्ण चित्र अंकित किया है :

"माँग तो सिन्दूरपूरित, किन्तु मैं अनुरागहीना
मिल न पाए तार जिसके, मूक वह अभिशप्त वीना
रागहीना, स्वर-विहीना को स्वरित क्या कर सकोगे ?"

उनके एक 'अधबने गीत' की सरलता देखिए :

"आज मन क्यों अनमना है
साज सब सूने पड़े हैं, गीत अब भी अधबना है"

एक गीत में उनका 'किरनीलापन' देखिए :

"तुम प्राण-पिकी बन मेरी, गीतों का जादू फेरो
मेरा किरनीलापन ले, कण-कण में स्वर्ण बिखेरो"

कवि इसी प्रकार नए शब्दों का प्रयोग कर जाता है जो कि उनकी अभिव्यक्ति में नवीनता और सशक्तता को प्रदर्शित करते हैं।

निम्न पंक्तियों में 'हृदय-सिन्धु के ज्वार को अनुभव कीजिए :

"तुमने मेरी पीर न जानी,
तुमने मेरा प्यार न देखा
क्षण-क्षण उठने वाले मेरे,
हृदय-सिन्धु का ज्वार न देखा

× × × ×

"जाने यह कैसा जादू है, पल-पल मरता, पल-पल जीता
मैंने सिन्धु सोखना चाहा, किन्तु रहा रीता का रीता
तुमने मेरी पीर न देखी, तुमने मेरा प्यार न देखा"

श्रीयुत नर्मदाप्रसाद खरे के प्रस्तुत काव्य-संग्रह के अनेक गीत हिन्दी की आधुनिक कविता में निश्चित स्थान पाएँगे। उनकी कविताओं में अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं, जिन्हें बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है, और जिन्हें सुनने और सुनाने को पुनः पुनः जी चाहता है। आशा है कि उनकी कविताओं का हिन्दी-संसार में आदर होगा। प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका हिन्दी के विद्वान् डा० विनयमोहन शर्मा ने लिखी है।

१९५७

उतरा नशा [तथा अन्य एकांकी]
लेखक : राजीव सक्सेना
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन,
लखनऊ
मूल्य : १.५०

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीयुत राजीव सक्सेना के पाँच एकांकियों का संग्रह प्रकाशित किया गया है। लेखक पुस्तक के प्राक्कथन में लिखते हैं : "सभी एकांकियों के नायक-नायिकाओं के साथ मेरे निकटतम सम्बन्ध हैं।...इन नायक-नायिकाओं ने मुझे आकर्षित किया और कुछ ऐसी बात कुरेद दी कि उसे मैं कहे बिना नहीं रह सका।...इस संग्रह के एकांकियों के पात्र साधारणतया मध्यवर्ग से सम्बन्धित हैं...मेरी लिखने की साध भी उनकी प्यास की तरह अनन्त है।" इसमें सन्देह नहीं कि लेखक के इन एकांकियों में कथा की रूप-रेखा है, उनकी संवीक्षण शक्ति सजग, चिन्तनशील और विकसित है; उनके कथन सशक्त और निशाने पर बैठते हैं तो भी इन एकांकियों के बहुत छोटा होने के कारण—कहानियाँ अधिकतर घटना का उल्लेखमात्र बन जाती हैं, उनके पात्रों के चरित्र-चित्रण में उस सजीवता और कलात्मकता का विकास नहीं होता, जिससे कि नाटक के पात्र प्राणवान् बन जाते हैं। "चाय की प्याली में तूफ़ान" में डाक्टर का यह कथन कितना सत्यतापूर्ण है : "...मेरी, डाक्टरी से फ़ायदा ही क्या है? स्वास्थ्य के लिए चाहिए अच्छी गिज़ा और उसके लिए चाहिए ज़िन्दगी के रहन-सहन में तरक्की।...कभी-कभी खयाल उठता है, डाक्टरी छोड़ कर, लोगों के रहन-सहन के धरातल को ऊपर उठाने में लग जाऊँ तो लोगों को अधिक स्वस्थ बना सकता हूँ।" प्रतीत होता है कि इन एकांकियों में लेखक को 'उतरा नशा' सबसे अधिक पसन्द है क्योंकि उसने उसी के आधार पर इस पुस्तक का नामकरण किया है। 'उतरा नशा' में लेखक कहानी को कुछ विशेष रूप से सजीव नहीं बना पाया है—यद्यपि उसने इसमें जिन विचारों को अभिव्यक्त किया है, वे मानव-समाज और विश्व की एक महान् समस्या को प्रस्तुत करते हैं। "...मुझे गाँव भेज देना। मैं सिपाही नहीं; असल में किपान हूँ,।" अपने कई एकांकियों में तो उन्होंने छोटी-सी कथा की लघु-सीमा में एकमात्र समस्या का ही प्रदर्शन किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सामने उन्होंने प्रश्नात्मक चिन्ह लगा कर छोड़ दिया है परन्तु कई एकांकियों में उन्होंने समस्या को सुलझाने का भी प्रयत्न किया है।

पाप की गली (स्कारलिट पैट्रोल का हिन्दी अनुवाद)
अनुवादक : महावीर अधिकारी
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरगेट,
दिल्ली—६
मूल्य : ३.००

अनुवादक के अपने विचारों के अनुसार : "...इस रचना में वासना है, कामुकता का नग्न चित्रण है।..." जब 'पाप की गली' के पात्रों के हृदय में ही लेखक "समाज-रचना के प्रति किसी प्रकार के विद्रोह को उत्पन्न नहीं कर सका है"...तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि "इन पात्रों की मूक-वेदना हमारे अन्दर समाज-रचना के प्रति विद्रोह-भावना" को उत्पन्न कर सकती है। कहानी का अन्त इस प्रकार हुआ है : "क्या दुराचार का यह दल पराभव को प्राप्त हुआ। क्या वह संख्या समाप्त हो गई? क्या शीघ्र ही कोई नया बौस या नया दल नहीं खड़ा हो जाएगा? रहा मेरी बाबत—मेरे पास और रह क्या गया है—इसके अतिरिक्त कि मैं फिर से गलियों में घूम कर काम करने लगूँ।" एक ओर तो लेखक यह कहते हैं : "पूँजीवादी अर्थतन्त्र द्वारा निर्मित मानव-समाज का एक नग्न और यथार्थवादी चित्रण इस रचना में हुआ है" और दूसरी ओर वे स्वयं कहते हैं : "...चारित्रिक पतन कुछ इने-गिने सरमाएदारों के जीवन में ही नहीं होता, वरन् मामूली मजदूर के जीवन से लेकर कलाकार, प्राध्यापक, वकील और राजनीतिज्ञों के जीवन में भी यह उद्दाम वासना सिर से ऊपर तक चढ़ गई है।" इससे यह स्पष्ट है कि वासना का प्रश्न एकमात्र आर्थिक प्रश्न नहीं है। क्या यह सम्भव नहीं है कि इस प्रकार के 'नग्न और यथार्थवादी चित्रणों' से समाज और भी अधिक दूषित हो और वह वासना के 'नग्न और यथार्थवादी चित्रणों' को प्रस्तुत करने में और भी अधिक सहायक हो।

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद
— वंशीधर विद्यालंकार

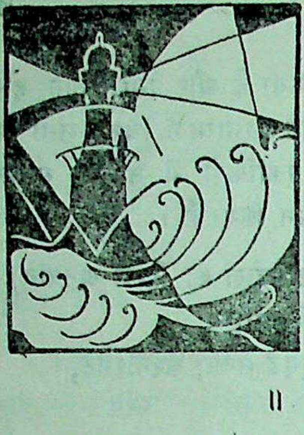

सामयिक

॥

संगम युग की तमिल कवयित्रियाँ

प्राचीन तमिल-साहित्य के काव्य-संग्रहों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि तमिल-काव्य-साहित्य को अनेक स्त्री-कवियों ने समृद्ध किया है। इस सम्बन्ध में श्रीमती पद्मा त्रिविराम नारायण का मद्रास के अंग्रेज़ी पत्र 'हिन्दु' में एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"तमिल-भाषी-विश्व के लिए यह एक अत्यन्त गौरव और गर्व की वस्तु है कि १८०० वर्ष पूर्व तमिल प्रदेश की महिलाएँ विश्व में सब से अधिक पठित और शिक्षित थीं। इनमें से औवइयर के नाम से सब अच्छी तरह परिचित हैं। परन्तु जिस कवयित्री के नाम से स्कूलों के बच्चे भी अच्छी तरह परिचित हैं, वह अन्य महिला थी और वास्तव में संगम की कवयित्री नहीं थी। बाद के युगों में इसी नाम की अनेक कवयित्रियाँ हुई हैं।

संगम-युग की महिला औवइयर ने ५६ कविताएँ लिखी हैं जो कि अनेक काव्य-संग्रहों में बिखरी पड़ी हैं। औवइयर का नाम सुन कर एक ऐसी महिला का चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है जो कि अत्यन्त वृद्ध थी, जिसके सब दाँत गिर गए थे, कमर झुक गई थी, कपड़े फटे हुए थे और जो कि लाठी के सहारे चलती थी परन्तु संगम की कवयित्री इस प्रकार की नहीं थी। उसने अपनी एक कविता में अपने चेहरे, काजल लगी आँखों; रत्नजटित मेखला और सुन्दर वस्त्रों आदि के सम्बन्ध में लिखा है। उसका संरक्षक टागाडुर का राजा था, जिसका नाम अडियायार अंजी था। वह वहीं पर्याप्त समय तक रही और उसने अपने गीतों में उसकी प्रशंसा की है। वह ऐसे कुल में उत्पन्न हुई, जिनका कि पेशा गाना-बजाना था। इन्हें पनार कहा जाता है। वह इतनी भावनाशील थी कि जरा-से भी अपमान और तिरस्कृति को सहन नहीं कर सकती थी और अपने विरोध या क्रोध को तत्क्षण अभिव्यक्त कर देती थी। उसकी साहसिकता कभी-कभी बड़ी खतरनाक हो जाती थी। अपने सरदार की आदेश पर वह कांची में गई और सरदार टोंडइमान से मिली। उसने उसको अपना शस्त्रगार दिखलाया। शस्त्रागार को देखने के पश्चात् उसने क्रोधोत्पादक टिप्पणी की : "आपने शस्त्रों को तेल लगा कर अच्छी तरह तैयार रखा है; आपने अपने आयुधों को सुरक्षित स्थान में रखा है परन्तु मेरा राजा बहादुरी से शत्रुओं से लड़ता है। वह सदा उनकी टोह में रहता है। उसके हथियार सदा लुहार की भट्टी में रहते हैं।"

उसके संरक्षक राजा की युद्ध में मृत्यु हो गई। उसने उसकी मृत्यु पर जो शोकपूर्ण कविता लिखी है, वह अत्यन्त करुणापूर्ण है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसने समस्त देश का दौरा किया और उसके पश्चात् टागाडुर वापस आ गई। वहाँ उसके सरदार के पुत्र ने उसका स्वागत किया। एक प्राचीन कविता को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि औवइयर पांड्य राजा उग्रपेरुवजुडि के द्वारा सम्पादित राजसूय यज्ञ में उपस्थित हुई थीं। इस यज्ञ में चोल और चेर राजा भी सम्मिलित हुए थे।

क्योंकि संगम के युग में जो नाम प्राप्त होते हैं, वे अन्य समयों में भी हुए हैं, इसलिए इन प्रसिद्ध कवयित्रियों के ठीक समय का पता लगाना कठिन है। इन कवयित्रियों में दूसरा नाम मुडा तमक्कनी (या तमक्कनी लँगड़ी है। उन दिनों में अंग-विकलता या अंगों का भद्दापन कोई विशेष दोष नहीं समझा जाता था। यह कोई लज्जित होने की बात नहीं थी, इसलिए कोई व्यक्ति अपने अंग-दोषों को छुपाता नहीं था। वह अपने अन्य सहयोगियों के समान महान् चोल राजा करिकला की राज-अतिथि थी। उसने इस राजा के सम्बन्ध में २४८ पंक्तियों की एक प्रशस्ति लिखी है। यह आश्चर्य की बात है कि किस प्रकार इस लँगड़ी कवयित्री ने चोल-

के दृश्यों आदि का स्पष्ट और सुन्दर शब्दों में वर्णन चित्रण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने विस्तृत चोल-देश का परिभ्रमण किया था। वह राजा की प्रत्यक्षतः बड़ाई नहीं करती परन्तु उसके की प्रजा की समृद्धि और सुख के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप उसकी प्रशंसा करती है। उसने 'अरुफदाइ'—एक कविता शैली का आश्रय लिया है, जिसमें कि एक गायक या 'पोरुनार' राज-सभा से वापस आ महलों के अपने अनुभवों का वर्णन करता है। नार' में लोग एकत्रित हो कर ढोल के बजने के गाते हैं और स्त्रियाँ येज़ (तमिल वीणा) बजाती, और नाचती हैं।

कवयित्री ने पोरुनार के द्वारा राजा की विजय भी वर्णन किया है जो कि उसने चेर और पाण्ड्य राजाओं की सम्मिलित शक्ति को पराभूत कर प्राप्त की उसके पश्चात् वह उसके देश का वर्णन करती है। लहलहाते शस्य-क्षेत्रों और ईख की खेतियों का हृदयग्राही वर्णन किया है। किसान पास ही के वन में ही निवास करते हैं; मोर नाचते हैं, जंगलों में हाथी घूमते-फिरते हैं। कवयित्री ने (तमिल वीणा) का भी वर्णन किया है।

एक अन्य कवयित्री जिसका कि नाम करिकला साथ सम्बद्ध है—कुयाट्टियार है। 'कुयाट्टियार' का अर्थ है कुम्हार की स्त्री। उसने वेन्नी का युद्ध था। यद्यपि वह चोल राजा की ओर थी—उसको राजा के लिए पश्चात्ताप हुआ है। पराजय के इस राजा ने भूख हड़ताल कर दी थी।

अन्य कवयित्रियों के नाम इस प्रकार हैं: शालियार, नच्चेल्लइयार, इल्लवेयिनी, मासथियार, क्कन्तीयार, मारपितियार, नाकन्नइयार और टाय-यार। इनके नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं।

नप्पशालियार पांड्य देश के कोरकल के निकट कम स्थान की रहने वाली थी। उसने बचपन में कविताएँ लिखनी प्रारम्भ कर दी थीं। उसने चोल की प्रशंसा की है और कारूर में चेर राजा पर विजय का वर्णन किया है। चोल राजा के आग्रह कुछ दिन राज-सभा में रही। उसने इस राजा को एक कविता से अमर कर दिया है। वह इस में कहती है:

"किस प्रकार मृत्यु उसके जीवन को अपहरण
कर के ले गई?
शत्रुता के कारण नहीं
क्रुद्ध हो कर नहीं
उस पर आक्रमण करके नहीं
यदि मृत्यु ऐसा करती
तो वह स्वयं मृत्यु से नहीं बच सकती थी
इसलिए मृत्यु
उसके सम्मुख कवि के रूप में आविर्भूत हुई होगी
उसने उसका प्रशस्ति-गान गाया होगा
उसे आशीर्वाद दिया होगा
और उसे प्रसन्न करके तब
उसने उसके जीवन के दान को माँगा होगा।"

यह कवयित्री प्रसिद्ध कवि कपीलर का बहुत सम्मान करती थी। उसने उसकी इस प्रकार प्रशंसा की है: "कपीलर जिसकी जिह्वा असत्य को जानती तक न थी।"

मासाथियार, मारावार नाम की प्राचीन और निर्भय जाति में उत्पन्न हुई थी। उसने मारवा महिला की वीरता का वर्णन किया है जो कि अत्यन्त प्रसिद्ध है और प्रायः उद्धृत किया जाता है:

"हे माँ!
युद्ध के पहले ही दिन
मेरा बड़ा भाई मर गया;
कल की लड़ाई में
मेरा पति मारा गया
आज मुझे युद्ध में
अपने इकलौते बेटे को
शीघ्र ही युद्ध में भेजना होगा"

और यह कह कर उसने अपने एकमात्र पुत्र को युद्ध के लिए तैयार करके भेज दिया।"

॥

अंग्रेज़ी के उपन्यासों में सेक्स

लंदन से प्रकाशित होने वाले पत्र 'इंग्लिश डाइजेस्ट' में श्रीयुत गिलियन फ्रीमैन के एक लेख "उपन्यासों में सेक्स" का सारांश प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है:

“...पिछले दिनों मुझे प्राचीन वस्तुओं के एक व्यापारी ने एक अशिष्ट चित्र दिखलाया। यह चित्र नास की डब्बी का था। चित्र सुन्दर था। इस चित्र को किसी भी प्रकार अशिष्ट नहीं कहा जा सकता।

मैंने साहित्य में अश्लीलता पर विचार करना प्रारंभ किया। अश्लीलता का, हमारे साहित्य में, विक्टोरियन युग में प्रवेश हुआ था, और वह अब तक चला आ रहा है। एलिजाबेथन-युग में अश्लीलता नहीं थी। उस समय काम-वासना और प्रेम में भेद नहीं था। जीवन निम्न और उच्च दोनों प्रकार का था।

इन दिनों कुछ ऐसा हो गया है कि हमारे साहित्य में जो कुछ 'उच्च' और 'उदात्त' है, उसे निकाल दिया गया है। कवियों ने जान-बूझ कर अधिकतर गद्य-शैली को अपना लिया है। वे अधिकतर यथार्थ और नग्नता को प्रदर्शित करते हैं। आजकल के उपन्यासकार जीवन को नग्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। हम साहित्य या कला को समय या युग के प्रभाव से नहीं बचा सकते—परन्तु हमें जिस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, वह प्रभाव नहीं उसकी प्रतिक्रिया और परिणाम है।

आजकल के उपन्यास-लेखकों पर फ्रायड का जो प्रभाव पड़ा है, वह अपरिमेय है। साहित्य पर उसका प्रभाव क्रान्तिकारी हुआ है। फ्रायड के सिद्धान्त आजकल की साहित्यिक आलोचना के लिए मापदण्ड बन गए हैं।

हमारा अब निर्दोषता या भोलेपन की अवस्था से विश्वास उठ गया है। बचपन से हमारे जीवन में सेक्स की भावना बहुत कार्य करती है।...विक्टोरियन युग में जिसको हम 'अच्छा' या 'बुरा' कहते थे, वह दोनों मिल कर अब “सामान्य अनुभव” बन गए हैं। जिसको हम पहले 'अश्लील' या 'अशिष्ट' कहते थे, उसका 'शरारत' नाम रखा गया और आज की पीढ़ी उसका कुछ भी नाम रखने के लिए तैयार नहीं है।

आजकल के उपन्यासों में 'सेक्स' की बातें बिलकुल साधारण हो गई हैं। उन्हें पढ़ कर हमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं होता। उसे हम अपने जीवन का एक अंग समझने लग गए हैं। क्रियात्मक रूप से सेक्स का सब के मन पर प्रभाव पड़ता है—चाहे वह अविवाहित, वृद्धा हो या शराबी मल्लाह हो। इसी सेक्स की प्रतिक्रिया-स्वरूप निषेधात्मक या योगात्मक कार्य होते हैं।

जिस प्रकार एक मनुष्य के कपड़ों और भोजन से उसके चरित्र का पता चलता है, इसी प्रकार सेक्स के प्रति उसकी भावनाओं से हमें, उसके व्यक्तित्व का ज्ञान होता है। मैं सेक्स के वर्णन में किसी प्रकार का दोष नहीं समझता परन्तु वह सनसनी-खेज़ या अशिष्ट नहीं होना चाहिए। यदि क्रिया, विचार या वर्णन से पाठक किसी पात्र को यथार्थ रूप से समझ सकता है और यदि इसके द्वारा व्यक्तित्व का कोई पहलू अभिव्यक्त होता है—या वह कहानी को अग्रसर करने में सहायक होता है, तब तो वह उचित है परन्तु यदि उसका वर्णन दिल को सनसनाने या गुदगुदाने के लिए दिया गया है तो वह 'अशिष्ट' या 'अश्लील' है।

ऐसी चीज़ें जिनको कि सिनेमा में एकमात्र इशारे से दिखाया जाता है, उनका उपन्यास में खुले तौर पर वर्णन किया जाता है। उदाहरण के लिए शौचालय में जाना और होमोसैक्सुएलिटी का वर्णन स्पष्ट रूप में किया जाता है। संभोग, शृंगार-प्रसाधन, शरीर के प्रत्येक भाग का वर्णन जोकि विक्टोरियन युग में प्रदर्शित नहीं किया जाता था—आधुनिक साहित्य में उसके लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रह गया है।

इसमें सन्देह है कि यदि प्रसिद्ध चित्रकार पिकासो संभोग को अपने किसी चित्र में प्रदर्शित करे तो उसे कोई अश्लील कह सकेगा। कुछ भी हो उसने अभी तक किसी ऐसे चित्र का निर्माण नहीं किया है और इससे इसकी वास्तविकता को समझा जा सकता है। यथार्थवाद में उपन्यास के पश्चात् थिएटर आता है परन्तु जिस नग्नता या अश्लीलता को छपे हुए पृष्ठ पर एकान्त में पढ़ा जा सकता है, उसे जनता के समक्ष देखने और सुनने में संकोच होता है।

किसी उपन्यास को आज निश्चित रूप से सफल बनाने और उसकी अधिक बिक्री के लिए उसमें होमोसेक्सुअल विषय का होना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।”

॥

भारतवर्ष में फ़ारसी के अनुलेख

श्रीयुत डाक्टर ए. ए. हिक़मत भारतवर्ष में ईरानी राजदूत हैं। अभी उन्होंने “भारतवर्ष में फ़ारसी अनुलेखों” के सम्बन्ध में लगातार अनुसन्धान के पश्चात्, एक पुस्तक लिखी है, जिसे कि कलकत्ता की ईरानी सोसाइटी ने प्रकाशित किया है। इस पुस्तक के सम्बन्ध

१९५७

निम्न लिखित अंश दिया जा रहा है :

"भारतवर्ष में लगभग एक हज़ार वर्ष तक फ़ारसी ज़बान का बोलबाला रहा । इसका लेखकों पर विशेषकर ईरान के लेखकों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा । भारतवर्ष में फ़ारसी में लिखे हुए अनुलेख, जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं। उनका साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्य है । इनमें से कुछ अनुलेख उत्कीर्ण हैं और कुछ अनुलिखित हैं । कब्रों, मक़बरों, कविवों, राजाओं, सूफ़ियों, फ़कीरों और सन्तों की छतरियों और दरगाहों पर अनेक उत्कीर्ण या अनुलिखित लेख प्राप्त होते हैं जो कि फ़ारसी में लिखे गए हैं। पुस्तक में इन अनुलेखों के आधार पर उनका ऐतिहासिक और साहित्यिक मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है ।

पुस्तक चार अध्यायों में विभक्त की गई है : १. राजकीय महलों के फ़ारसी अनुलेख २. मसजिदों में प्राप्त अनुलेख ३. क़ब्रों के पत्थरों पर उत्कीर्ण या लिखे हुए अनुलेख ४. मुस्लिम दरगाहों में प्राप्त अनुलेख ।

पुस्तक में ८० अनुलेखों का संग्रह किया गया है, जिसे कि समय-क्रम से प्रदर्शित किया गया है । दिल्ली की कुव्वतुल इस्लाम मसजिद ५८७ हिजरी सन् (११६१ ईस्वी) पुरानी है । इस मसजिद में फ़ारसी ज़बान में जो अनुलेख प्राप्त होते हैं, वे फ़ारसी अनुलेखों के सबसे पुराने नमूने हैं । इसके पश्चात् बदायूँ के शेख़ अहमद ख़न्दान की क़ब्र पर जो अनुलेख प्राप्त होते हैं, वे ६८८ हिजरी सन् के लिखे हुए हैं ।

इस्लाम से पूर्व के पहलवी भाषा में लिखे हुए कुछ अनुलेख प्राप्त होते हैं। ये दक्षिण भारत में हैं और गिरजा-घरों में प्राप्त होते हैं ।

इस पुस्तक में फ़ारसी में लिखे हुए हाल के दो अनुलेखों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, इनमें से एक राष्ट्रपति के अशोक-भवन में है और दूसरा रक्षा-मन्त्रालय के प्रवेश द्वार पर ।"

॥

शालभंजिका : फूलों का उत्सव

प्राचीन भारत में फूलों का उत्सव मनाया जाता था। इसका सम्बन्ध शाल वृक्ष से था । यद्यपि इस समय यह उत्सव भारतवर्ष के पूर्वीय भागों में नहीं मनाया जाता तो भी छोटा नागपुर की एक आदि-जाति मुण्डा अभी तक भी इस उत्सव को मनाती है । इस सम्बन्ध में श्रीयुत पी. सी. राय चौधरी का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें से कि निम्न अंश दिया जा रहा है :

"......एक समय था, जब कि समस्त पूर्वीय भारत वर्ष में शालवृक्ष के लिए एक अद्भुत आकर्षण अनुभव किया जाता था । प्राचीन संस्कृत-साहित्य और बौद्ध साहित्य में इसके प्रमाण प्राप्त होते हैं । "शाल-भंजिका" का उत्सव प्राय: प्रमदाओं द्वारा ही मनाया जाता था । वे वृक्ष को पानी देती थीं और उसके फूलों को एकत्रित करती थीं । आश्चर्य की बात है कि अब यह उत्सव भारतवर्ष के पूर्वीय भागों में उस प्रकार नहीं मनाया जाता, परन्तु "शाल-भंजिका" के उत्सव के अवशेष हमें अपने देश की मूर्तिकला में प्राप्त होते हैं । इन मूर्ति-चित्रों में प्रदर्शित किया गया है कि शाल के वृक्ष में फूल आए हुए हैं और एक प्रमदा उसकी शाखाओं का आलिङ्गन कर रही है । भरहुत, मथुरा और साँची में इस प्रकार के मूर्ति-चित्र प्राप्त होते हैं । बर्लिन के एक संग्रहालय में ग्रीम-बौद्ध मूर्तिकला का इस प्रकार का नमूना प्राप्त होता है । पिछले संस्कृत साहित्य में "शाल-भंजिका" शब्द का अर्थ स्तम्भों पर उत्कीर्ण प्रमदा की मूर्ति हो गया है । बुद्ध-गया के मन्दिर में 'शाल-भंजिका' की एक मूर्ति है जो कि उपेक्षित अवस्था में है । आश्चर्य की बात है कि छोटा नागपुर के मुण्डा लोगों में फूलों का यह उत्सव अभी तक मनाया जाता है । इस उत्सव को इन लोगों में बा-परब के नाम से कहा जाता है । बा-परब का अर्थ है फूलों का पर्व। मई और जून के महीनों में जब शाल-वृक्ष की डालियाँ फूलों से भर जाती हैं तो सैकड़ों मुंडा प्रमदाएँ शाल-वृक्ष की शाखाओं का आलिङ्गन करती हैं। ग्रामीण लोग अपने आप को शाल-वृक्ष के फूलों से आभूषित करते हैं और शालवृक्ष के फूल और शाखाएँ वितीर्ण की जाती हैं ।

इस समय लोगों की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं होता । आनन्द-भोज, मद्य-पान गाना-बजाना और नृत्य होते हैं । नृत्य में एक दूसरे को फूल दिए जाते हैं, जिसे 'बा-गिरि' कहते हैं । जब तक बा-परब नहीं हो जाता महुआ (शाल) के फूलों को नहीं तोड़ा जाता और न ही इसके पत्तों को तोड़ा जाता है । "शाल-भंजिका" जिसका कि वर्णन प्राचीन संस्कृत और पालि के साहित्य में प्राप्त होता है—छोटा नागपुर के जंगलों में अब भी देखा जा सकता है ।"

सम्पादकीय

भाषा-आयोग की रिपोर्ट

भाषा-आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। एक वर्ष पूर्व आयोग ने अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत कर दी थी। उस समय से प्रतीक्षा की जा रही थी कि यह रिपोर्ट कब प्रकाशित होती है। कई पत्रों में इस रिपोर्ट के शीघ्र प्रकाशित करने के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित किए गए परन्तु इसके सम्बन्ध में संभवतः केन्द्रीय प्रशासन ने यह अनुभव नहीं किया कि इसको शीघ्र प्रकाशित करने से कुछ विशेष लाभ होगा, इसलिए उसने अपनी सुविधा के अनुसार इस रिपोर्ट को प्रकाशित किया। इस रिपोर्ट को प्रकाशित करने में जितनी देर हो रही थी—उतनी ही आयोग के प्रतिवेदन के सम्बन्ध में चिन्ता, भय और आशंका की वृद्धि होती जा रही थी। रिपोर्ट के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् यह नहीं कहा जा सकता कि यह चिन्ता, भय और आशंका सर्वथा निर्मूल थी।

रिपोर्ट प्रकाशित हुई और खूब मोटी प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट के लिखने में आयोग के सदस्यों ने जहाँ हजारों मीलों की यात्रा की—वहाँ इसके लिखने में प्रचुर परिश्रम किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रिपोर्ट को बड़ी योग्यता और कुशलता के साथ लिखा गया है। इसमें जो बात कही गई है, कुछ ऐसे ढंग से कही गई है कि अधिकांश में कह कर भी जैसे कुछ नहीं कहा गया है; उसके प्रारंभ में जो-कुछ कहा जाता है, परिणाम में उसका विपर्यय हो जाता है, और उसके साथ इस प्रकार के विशेषणों को संयुक्त कर दिया जाता है कि उनके समस्त विचार उलटी दिशा में चलना प्रारम्भ कर देते हैं। जब हमने इस रिपोर्ट के इतने वृहत्-काय को देखा तभी हमें ऐसा आभास हुआ कि यह रिपोर्ट आकार में जितनी बड़ी है—आशय में उतनी छोटी होनी चाहिए। जब कुछ कार्य की बात कहनी होती है तो लम्बे-चौड़े शब्दों के प्रयोग की या शब्दों को घुमा-फिरा कर कहने की आवश्यकता नहीं होती। रिपोर्ट को पढ़ने के पश्चात् यह अनुभव नहीं होता कि भाषा-आयोग की इस रिपोर्ट से स्थिति में यत्-किंचित् भी परिवर्तन हो गया है या किसी प्रकार के परिवर्तन की निकट भविष्य में कोई संभावना है।

यह रिपोर्ट काफ़ी विस्तृत है, और इसमें अनेक अध्याय इस प्रकार के हैं, जिनकी कि हमारी सम्मति में कुछ विशेष आवश्यकता नहीं थी। जिस विषय पर विशेष रूप से प्रकाश डालने की आवश्यकता थी और जिसके सम्बन्ध में इस रिपोर्ट में विशेष रूप से एक अध्याय होना चाहिए था—उसको इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है। जब से हिन्दी को राजभाषा घोषित किया गया है, तब से हिन्दी-भाषा और इसके साथ ही भारतवर्ष की अन्य प्रादेशिक भाषाओं ने किस-किस क्षेत्र में कितनी प्रगति की है; किस-किस विषय पर कितने साहित्य का निर्माण हुआ है, और यह प्रगति और निर्माण किस गति से हो रहा है और इसके लिए क्या-क्या आयोजन और प्रयास हुए और हो रहे हैं—इनके सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता को अनुभव ही नहीं किया गया है। दुःख तो इस बात का है कि, यह बात तो बार-बार दुहराई जाती है कि हिन्दी और हमारे देश की भाषाओं में 'यह नहीं' है और 'वह नहीं' है, परन्तु जो-कुछ है और उसके लिए जो कुछ किया जा रहा है, उसकी ओर ज़रा-सा दृष्टिपात तक नहीं किया जाता। हिन्दी में सब विषयों में प्रकाशन जिस तीव्रता से उन्नति और प्रगति कर रहे हैं, वह कुछ कम गौरव का विषय नहीं है।

आयोग के सम्मुख मुख्यतया तीन प्रश्न थे। पहला यह कि क्या संविधान द्वारा निर्धारित अवधि में हिन्दी अन्तर्प्रान्तीय और सरकारी राज-काज का स्थान ले सकेगी, दूसरा प्रादेशिक भाषाओं और हिन्दी के क्षेत्र का निर्धारण और तीसरा इस विषय में सिफ़ारिश करना कि क्या अंग्रेज़ी की वर्तमान स्थिति में परिवर्तन करने की आवश्यकता है? इसके साथ अन्य कई प्रश्न स्वाभाविक रूप से जुड़े हुए हैं, जिनमें कि देवनागरी के अंकों का प्रयोग भी एक है। इन समस्त प्रश्नों का उत्तर आयोग ने जो कुछ दिया है, उसमें हिन्दी के सम्बन्ध में

(१९५७

निश्चित रूप से न अवधि के विषय में कोई प्रतिवेदन किया गया है और न हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं के विकास के सम्बन्ध में किसी निश्चित मत को प्रकट किया गया है। जहाँ तक उद्देश्य और लक्ष्य का सम्बन्ध है, लम्बी-चौड़ी बातें की गई हैं परन्तु निश्चय करने के समय गोलमाल बातें प्रारम्भ कर दी जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आयोग के सदस्यों ने एक नहीं—कई हाथों से इस रिपोर्ट को लिखा है। इस सम्बन्ध में बम्बई के 'टाइम्स आफ़ इण्डिया' के एक लेख में 'ऑब्ज़र्वर' के द्वारा लिखित निम्न पंक्तियाँ कितनी अर्थपूर्ण हैं : ..."आयोग ने अपनी रिपोर्ट में 'छान्दोग्य-उपनिषद्' दर्शन और 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' से ढूँढ़-ढूँढ़ कर अनेक उद्धरणों को दिया है। अच्छा होता कि यदि वे सेंट पॉल के निम्न शब्दों को ध्यान में रख सकते : यदि नगाड़े का शब्द ही अनिश्चित हो तो लड़ाई की तैयारी कौन करेगा ?" हमें आयोग की इस लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट को पढ़ने के पश्चात् इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आयोग ने हिन्दी या अन्य प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध में पथ-प्रदर्शन या नेतृत्व का कुछ भी कार्य नहीं किया है, जिसकी कि उनसे आशा की गई थी।

एक बात में उनका मत निश्चित है और वह यह है कि जब तक हिन्दी और प्रादेशिक भाषाएँ इस योग्य नहीं हो जातीं कि राज-काज का कार्य उनके द्वारा चलाया जा सके और उन्हें उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जा सके, तब तक ये सब कार्य यथापूर्व अंग्रेज़ी के द्वारा किए जाने चाहिएँ। ये भाषाएँ कब तक सक्षम और योग्य हो सकेंगी इस विषय में आयोग ने कुछ विशेष सुझाव नहीं दिए हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने यही कहा है: "...भारत सरकार को अविलम्ब एक ऐसी योजना बनानी चाहिए जिसमें संविधान में वर्णित निश्चित अवधि सम्मिलित हो।...अतीत में ऐसी योजना न बनाने में कुछ भी कारण क्यों न रहे हों किन्तु अब वह अविलम्ब बनाई जानी चाहिए; लगातार उसका पर्यालोचन किया जाना चाहिए और उत्साह के साथ उस योजना को क्रियान्वित किया जाना चाहिए।" रिपोर्ट के अन्त में, कहा गया है: 'भारत की राजभाषा को उचित स्थान मिलना चाहिए ताकि वह भारत की एकता में सहायक हो सके। इसमें हम जितनी देर करेंगे, उतनी हमारी ही हानि है।' यह सब कुछ कह कर भी आयोग ने इस बात की आवश्यकता को नहीं समझा कि वह इसके लिए किसी निश्चित अवधि की सिफ़ारिश करे। अवधि को निश्चित करने के कार्य को उसने अगले आयोगों के लिए छोड़ दिया है। यह सत्य है कि सिद्धान्त के रूप में आयोग ने हिन्दी को राज-काज की भाषा बनाना स्वीकार किया है और वह अंग्रेज़ी को राज-भाषा बनाने के पक्ष में नहीं है—तो भी क्रियात्मक रूप में वह अनिश्चित काल तक अंग्रेज़ी के पक्ष में है। यदि उनकी बात को दूसरे शब्दों में स्पष्ट रूप से कहा जाए तो यों कहा जा सकता है कि वे चाहते तो यह हैं कि हिन्दी भारतवर्ष की राज-काज की भाषा शीघ्र-से-शीघ्र बने और प्रादेशिक भाषाएँ भी पूर्ण रूप से विकसित हों, फूलें और फलें क्योंकि अभी तक उनमें अभिव्यक्ति की क्षमता पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुई है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये भाषाएँ कब तक विकसित हो सकेंगी, इसलिए अभी इसके सिवाय और कोई मार्ग ही नहीं है कि अंग्रेज़ी को उसी स्थिति में रक्खा जाए, जिस स्थिति में वह अंग्रेज़ों के राज्य के समय में थी। यह कहना कुछ वैसा ही है, जैसे कि अंग्रेज़ भारतवर्ष पर अपने शासन काल में कहा करते थे कि हम चाहते तो यह हैं कि भारतीय अपने देश पर स्वयं शासन करें परन्तु दुःख यह है कि वे अपना शासन-भार स्वयं नहीं चला सकते, उनमें इसकी क्षमता नहीं है इसलिए हम मजबूर हैं कि इस देश का समस्त शासन अपने हाथ में रखें। अब यह बात भाषाओं के सम्बन्ध में कही जा रही है—भेद इतना ही है कि पहले अंग्रेज़ भारतीयों की अयोग्यता का ढोल पीटा करते थे और अब भारतीय स्वयं अपनी भाषाओं की अक्षमता और अयोग्यता का ढोल पीट रहे हैं। प्रश्न यह है कि यदि हिन्दी और अन्य भाषाओं को अवसर ही प्रदान नहीं किया जाएगा तो उनका उपयुक्त विकास ही किस प्रकार होगा। कोई भी बच्चा एक दम चलना-फिरना प्रारम्भ नहीं कर देता—वह गिरते-पड़ते ही उठना-बैठना सीखता है। इसी प्रकार पहले टूटी-फूटी भाषा का ही प्रयोग करना पड़ेगा और तभी उसका स्वाभाविक विकास होगा। किसी भाषा को उसके पूर्ण विकास के पश्चात् अवसर देने का अर्थ यह है कि एक तो वह विकास कृत्रिम होगा और दूसरा इसमें मत-भेद हो सकता है कि अभी भाषा का पूर्णतया विकास हुआ है

या नहीं ? किसी भाषा का पूर्णतया विकास तभी संभव हो सकता है जब कि उसे पूर्ण रूप से प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग करने का अवसर प्रदान किया जाए।

भाषा-आयोग की नियुक्ति उन लोगों ने करवाई थी जो यह चाहते थे कि हिन्दी का, केन्द्रीय प्रशासन के कार्यों में शीघ्र-से-शीघ्र व्यवहार प्रारम्भ हो जाए और निश्चित अवधि के अन्दर हिन्दी-अंग्रेज़ी का स्थान ले ले, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस आयोग का लाभ उठा कर आयोग के कुछ सदस्यों ने भाषा के प्रश्न को और भी अधिक उलझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने भाषा के प्रश्न को इस प्रकार का मोड़ देने का प्रयत्न किया है, जिससे भाषाओं के क्षेत्र में अनिर्णयात्मक अवस्था उत्पन्न हो जाए। श्रीयुत डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी अलग रिपोर्ट में हिन्दी और हिन्दी वालों पर जो आक्षेप किए हैं, उनसे भाषा के प्रश्न को सुलझाने में किसी प्रकार की सहायता प्राप्त हो सकेगी—इसमें सन्देह है। हिन्दी के पक्ष में जो कुछ उन्हें स्वीकार करना पड़ा है, वह यह कि इसके बोलने वालों की संख्या सब से अधिक है—शेष उन्होंने हिन्दी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह सब उसके विरोध में है। हमें उनके हिन्दी-विरोध पर आश्चर्य नहीं है किन्तु उन्होंने हिन्दी और हिन्दी की साधारण जनता पर जो लांछन लगाने का प्रयत्न किया है कि उससे हिन्दी और हिन्दी जनता के प्रति उन्होंने महान् अन्याय किया है। वे अपनी रिपोर्ट में कहते हैं : "मैं पूर्ण सत्यता के साथ प्रारम्भिक अवस्था में 'हिन्दी साम्राज्यवाद' को देख रहा हूँ। वह राष्ट्रीय हितों के लिए और भी अधिक अहितर सिद्ध होगा; क्योंकि भारतवर्ष की अन्य भाषाओं के मुक़ाबले में हिन्दी की अवस्था किसी भी क्षेत्र में उच्च नहीं है सिवाय इस बात के कि हिन्दी के बोलने वालों की संख्या अधिक है। निस्सन्देह हिन्दी राज्यों में जो शिक्षित लोग हैं, वे साधारणतया साम्राज्यवाद से मुक्त हैं और उनमें से कुछ लोगों ने इस सम्बन्ध में बहुत चिन्ता अभिव्य की है। परन्तु अर्ध-शिक्षित और अशिक्षित लोगों पर इसकी प्रतिक्रिया कुछ और ही होगी और ये साधारण लोग हैं—साधारण जनता है, जिसकी कि वास्तव में इस सम्बन्ध में गणना की जानी चाहिए।"

प्रश्न यह है कि अशिक्षित जनता या साधारण जनता जो कि हिन्दी के विषय में विशेष रूप से कुछ भी नहीं जानती, वह कैसे "हिन्दी साम्राज्यवाद" को स्थापित कर सकती है ? यदि सचमुच देश की अधिकांश जनता हिन्दी को चाहती है तो क्या इसीलिए उसकी आवाज़ को "साम्रा-ज्यवादी" आवाज़ समझा जाना चाहिए ? विलक्षण-तर्क है। साम्राज्यवाद में प्राय: यह होता रहा है कि अल्पमत अधिकांश जनता पर प्रशासन करता रहा है। श्रीयुत सुनीतिकुमार चटर्जी अधिकांश जनता पर अंग्रेज़ी को लादने में जनता के किसी प्रकार के अहित की संभावना नहीं देखते। ऐसा प्रतीत होता है कि जनता—अधिकांश जनता की इच्छा का उनके सम्मुख कुछ विशेष मूल्य नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कुछ थोड़े से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को ही भारतवर्ष की समस्त जनता समझते हैं। यह युग जनता का युग है। क्या अंग्रेज़ी के द्वारा राज-काज चला कर भारतवर्ष की समस्त जनता का कल्याण किया जा सकता है ? श्रीयुत सुनीतिकुमार चटर्जी समझते हैं कि "यदि केन्द्रीय-प्रशासन हिन्दी के सम्बन्ध में आयोग की सिफ़ारिशों को क्रियान्वित करेगा तो शीघ्र ही हमारा समस्त पब्लिक-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाएगा।" अंग्रेज़ी के सम्बन्ध में उन्हें इस प्रकार की अस्त-व्यस्तता की कोई संभावना नहीं दिखाई देती ! थोड़े-से अंग्रेज़ी पढ़े लोग इतने विशाल-देश में एक गण-राज्य का कैसे संचालन कर सकते हैं ! हमारे देश में जनता और राज्य की भाषा में जब तक अधिकांश में एकता नहीं होगी, तब तक साधारण जनता राज्य के प्रश्नों में किस प्रकार प्रबुद्ध रूप से दिलचस्पी ले सकती है ? डा० सुब्बारायन ने भी अपनी रिपोर्ट में उन्हीं बातों को ही अधिकांश में दुहराया है, जिन्हें कि श्रीयुत सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी रिपोर्ट देख कर उन्होंने अपनी रिपोर्ट तैयार की है। आश्चर्य की बात यह है कि वे अपनी रिपोर्ट को अल्पसंख्यक कहते हुए भी बहु संख्यक की रिपोर्ट समझते हैं।

आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है। केन्द्रीय प्रशासन ने इस रिपोर्ट को प्रकाशित करने में पर्याप्त देरी की है और इस देरी के लिए उन्होंने कोई वक्तव्य भी प्रकाशित नहीं किया है। क्या यह देरी इस बात की ओर इंगित करती है कि इस सम्बन्ध में केन्द्रीय प्रशासन की ओर से जो कुछ क़दम उठाए जाएँगे, उनमें भी अभी इसी प्रकार देरी की जाएगी ?

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फ़ोन नं. : ५३५६

तार का पता : लीवेरेक्स

卐

रॉयल मेडिकल हॉल

फ़ोन नं. : ४३८३

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

तार का पता : लीवेरेक्स

और

फ़ोन नं. : ४१७७

सुलतान बाज़ार, हैदराबाद दक्षिण

卐

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

फ़ोन नं. : ५८४८

卐

अमर मेडिकल हॉल

फ़ोन नं : ६८२१

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ ख़रीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

: गोपालराव अपासिंगीकर हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद—मुद्रक : सत्यनारायण गुप्त, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद-दक्षिण.

रजिस्टर्ड नं. ५९९ अजन्ता, अगस्त १९५७ Regd. No. H. 599

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
साहित्य
की
प्राप्ति के लिए एकमात्र
स्थान

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : "हिन्दी"

टेलीफ़ोन नं. : ५४५०

11.57

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

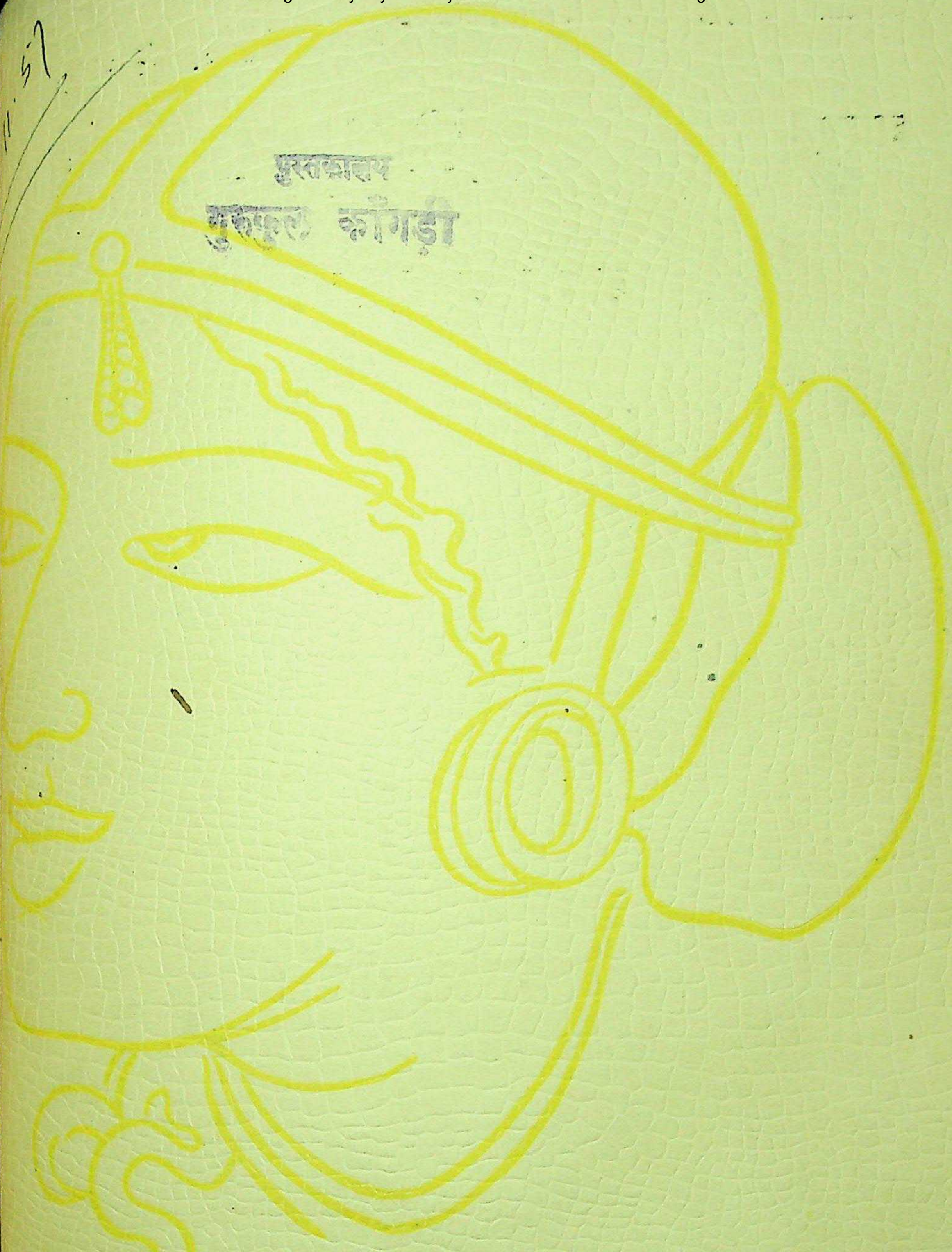

अंक ९

सितम्बर १९५७

अजन्ता

आइए ! देखिए !! खरीदिए !!!

आन्ध्र प्रदेश का सर्वश्रेष्ठ

फ़ाउण्टेन पेन

र
त्न
म

नवीन मौडेल

★

स्टाकिस्ट

दक्खन पेन स्टोर्स

टेलिफ़ोन नं. ५७४८ ::: हैदराबाद-दक्षिण

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :

यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर, १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फ़रीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत् की गतिविधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही ६ रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए
आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक
अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

धान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**
सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

रत के विकास में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए
अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए
अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए : एक प्रति का १९ न.पै.

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर-मन्तर रोड, नई दिल्ली.

कई गण्य-मान्य साहित्यकार तथा पत्र-पत्रिकाओं
से प्रशंसित, कर्नाटक की कला, साहित्य एवं
संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली
एकमात्र हिन्दी मासिक

भारतवाणी

सम्पादक :

श्रीकण्ठमूर्ति, एम. ए.

●

वार्षिक चन्दा ४)] **[एक प्रति ३७ नये पैसे**

पता :—**व्यवस्थापक, 'भारतवाणी'**
पोस्ट वाक्स नम्बर—१२
धारवाड़, मैसूर-राज्य

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न; प्रबोध, प्रवीण, विशारद,
विनीत, शिक्षक सनद, एस. एस. सी., आदि
परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर
महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक

[मासिक]

हिन्दी प्रचारक और हिन्दी-शिक्षक मुफ़्त ग्राहक
बन सकते हैं। इस सम्बन्ध में पूर्व
पत्र-व्यवहार कर लें।

विद्यार्थी शीघ्र ग्राहक हो जाएँ।

वार्षिक चन्दा ४)] [एक अंक ४० नये पैसे

पता :—हिन्दी-शिक्षक कार्यालय,
१२५, गिरगाँव रोड, बम्बई—४

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर

प्रकाशक :

* साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
* नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
* कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच,
संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्दु छात्रालय, बनारस

फ़ोन नं० १४२ **[वसुधा]**

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई
परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल वाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।
प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी
की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की
जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन,
तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।
पृष्ठ-संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र-व्यवहार का पता :
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर, सुभाष-मार्ग
लखनऊ

फ़ोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) * विशेष मूल्य १०)

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व-ज्योति

का

वार्षिक अंक

२८ फ़रवरी, '५७ को प्रकाशित हो चुका है

इस विशेषांक में संस्कृति, कला दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी हैं और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

'वार्षिक' का मूल्य १।।) है, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होश्यारपुर—पंजाब

ख़रीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार-संसद प्रयाग का मुख-पत्र
श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

- ❋ हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !
- ❋ हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!
- ❋ साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

वार्षिक शुल्क १०) ❋ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

पिछले ६ वर्षों से भारत के प्राचीन साहित्यिक केन्द्र धार से प्रकाशित आधुनिक आकर्षण के आवरण में भारतीय सभ्यता का

संदेश-वाहक

सचित्र मासिक

ऊषा

- ● जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- ● कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे लोग पढ़ने जाते हैं।

देश के सभी रेलवे बुक स्टालों पर भी मिलती है

वार्षिक ४) ::: एक प्रति ३५ नये पैसे

व्यवस्थापक : भोज प्रकाशन, धार
(मध्य प्रदेश)

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

सम्पादक-समिति
प्रतापनारायण टण्डन
डा० देवराज कुँअर नारायण
कृष्ण नारायण कक्कड

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रही है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का होने से संग्रहणीय होता है।

वार्षिक शुल्क ८), अर्ध वार्षिक ४),
एक प्रति ७५ नए पैसे

'युग-चेतना' कार्यालय,
स्पीड बिल्डिंग ला प्लास, लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्त्व है। दक्खिनी ने ही ख़ुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया है। हिन्दी-खड़ी बोली के गद्य का सब से पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन-कर्ता हैं, श्रीराम शर्मा। पृष्ठ-संख्या लगभग छः सौ। मूल्य १०.५०।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर, हिन्दी-अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य ४.००

३. **सबरस :** गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तय आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ-संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य ६.००।

४. **मुहावरा कोश :** पृष्ठ-संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज, मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापुर। मूल्य ३.००।

५. **चाबुक :** (कहानी-संग्रह) : श्री विनायकराव 'विद्यालंकार' की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। क्रौन १/१६, पृष्ठ-संख्या १३९। मूल्य सजिल्द १.७५।

६. **मीरा :** (तेलुगु) : लेखक रामचन्द्र कौण्डिण्य। मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद। मूल्य १.२५।

७. **तुलसीदास :** गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया रंगमंच के उपयुक्त नाटक। मूल्य १.१२।

८. **शकुन्तला-ए-ट्रेजडी (एण्ड अदर ऐसेज़) :** श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। मूल्य ४.००।

व्यवस्थापक :—**पुस्तक-विक्रय-विभाग, हिन्दी प्रचार**

अजन्ता

के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज, सचित्र छपाई। आकर्षक मुखपृष्ठ।

१. **बालपद :** ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर आचार्य वंशीधर 'विद्यालंकार'। ०.५०

२. **गाँवों की कहानियाँ :** उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—पं० रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए., पी. एच. डी.। ०.५०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १ :** दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए. पी. एच. डी.। ०.५०

४. **बालकों की कहानियाँ :** बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०.५०

५. **दो एकांकी :** ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका——श्री विमला लूथरा एम. ए.। ०.५०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका——श्री कमला रानी संघी। ०.५०

दक्षिण के महापुरुष भाग २ : लेखिका—श्री विमला लूथरा। ०.३७

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१	हिन्दी बोध प्रवेशिका	०.६२
२	हिन्दी बोध भाग १	०.५०
३	हिन्दी बोध भाग २	०.७५
४	हिन्दी बोध भाग ३	०.८१
५	हिन्दी बोध भाग ४	०.८७
६	गद्यसोपान भाग २	१.००
७	सरल गणित भाग २	०.६२
८	सरल गणित भाग ३	०.७५
९	पद्य पारिजात भाग १	०.७५
१०	पद्य पारिजात भाग २	१.३१
११	कथाकुञ्ज भाग १	१.५०
१२	रचना बोध भाग १	०.३१
१३	रचना बोध भाग २	०.३७
१४	इतिहास की कहानियाँ भाग १	०.५०
१५	इतिहास की कहानियाँ भाग २	०.७५
१६	विज्ञान सोपान भाग १	०.६२
१७	विज्ञान सोपान भाग २	०.७५
१८	चार एकांकी	०.७५
१९	मणियाँ	०.६२
२०	सरल व्याकरण भाग १	०.३७
२१	कहानी-संग्रह	१.१२
२२	सरल भूगोल	१.००

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

‘अजन्ता’
की
परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार, एम. पी.
मुकर्रमजाही मार्केट, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट्स, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी ‘मिलाप’ हैदराबाद

१९५० से १९५६ ई. तक के प्रत्येक वर्ष की ‘अजन्ता’ की पुरानी फ़ाइलें जिल्द बन कर तैयार हो गई हैं

‘अजन्ता’ का प्रकाशन अक्तूबर १९४९ से आरम्भ हुआ। विगत सात वर्षों में ‘अजन्ता’ ने हिन्दी साहित्य के भण्डार को बहुमूल्य रचनाओं से पूर्ण किया। गत वर्षों के यह अंक हिन्दी साहित्य की प्रगति को जानने के लिए नितान्त संग्रहणीय हैं।

अंकों का मूल्य वार्षिक रु. ६-०-० होते हुए, जिल्द के साथ और भी अधिक बढ़ जाता है किन्तु निजी और सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए रु. ७-०-० में इन फाइलों को देने की सुविधा प्रदान की गई है।

शीघ्र आर्डर भेजिए : रु. [illegible]-०-० का मनीआर्डर प्राप्त होते ही जिल्द तुरन्त भेज दी जाएगी। इन ज़िल्दों को वी. पी. द्वारा नहीं भेजा जाएगा।

‘अजन्ता’

हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद
(आन्ध्र प्रदेश)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

र्ष ९

सितम्बर, १९५७

अङ्क ९

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण

तार : हिन्दी

फ़ोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

मौन रहूँ किस तरह
विद्यावति मिश्र १
भारतमाता
बाबूलाल शर्मा 'प्रेम' ३
हग मृग भाग गए
नागार्जुन ४
गुनाहों की उमर
नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी ५
गीत
वीरेन्द्र मिश्र ६
कैसा यह धर्म है ?
भागवतप्रसाद पाण्डेय 'सुधांशु' ७
नरम नरम-सी शीत
शान्ति मेहरोत्रा ८
जहाँ जीवन चिर विश्राम करता है
कृष्णकुमार असावा १३
आत्मा-सम्बन्धी विविध विचार भारत में—२
पुरुषोत्तम जोशी १७
उपनिषद् और उनके विदेशी व्याख्याकार
वाचस्पति गैरोल २३
शाह और शायर बहादुरशाह 'ज़फ़र'
रमानाथ शर्मा 'परिमल' २५
स्वामी विवेकानन्द और शिक्षा का आदर्श
रामराजसिंह २७
मेरे पत्रकारिता के अनुभव
इन्द्र विद्यावाचस्पति ३०
नई चेतना-नया स्वर
देवेन्द्र इस्सर ३३
गद्यगीत
दिनेशनन्दिनी ३३
प्राचीन भारतीय-कला तथा आधुनिक कला
रामचन्द्र शुक्ल ३६
तेलुगु कहावतें
रंगाचार्य ३६
'सन्देश-रासक'—कवि और रचना-काल
विश्वनाथ त्रिपाठी ४०
साहित्य के दावेदार
श्रीकृष्ण मनमोहन 'सरल' ४८
शहनाई और टूटे स्वर
महेशचन्द्र 'सरल' ५२
प्राचीन भारत में समुद्र-यात्रा
परमानन्द रस्तोगी ५६
कन्नड़ का उपन्यास-साहित्य
डी० मंजुलता ५८
फूलों की बोली
जी. एस. राव ६०
कला-चर्चा ६१
भारतीय-साहित्य में चित्रकला का योग
आधुनिक चित्रकला में बुद्ध
चिट्ठी-पत्री ६६
पां. ग. अड्यालकर, त्रिलोकीप्रसाद शर्मा, रंगनाथ राकेश, विश्वमित्र पाण्डेय, नाथूराम 'प्रेमी' बलभद्र ठाकुर
नीर-क्षीर ७१
भारत, परम्परा, यात्री, ब्रह्मचर्य
सामयिक ७६
मुग़ल-क़लम या चित्रशैली, उमर ख़ैयाम
सम्पादकीय ८०
वंशीधर विद्यालंकार

पत्थरों में सोना : श्रीयुत रामेश वेदी के सौजन्य से

प्रकृति और पुरुष : चित्रकार : भाऊ समर्थ

एक प्रति का मूल्य : १) रु.

वार्षिक मूल्य : ९)

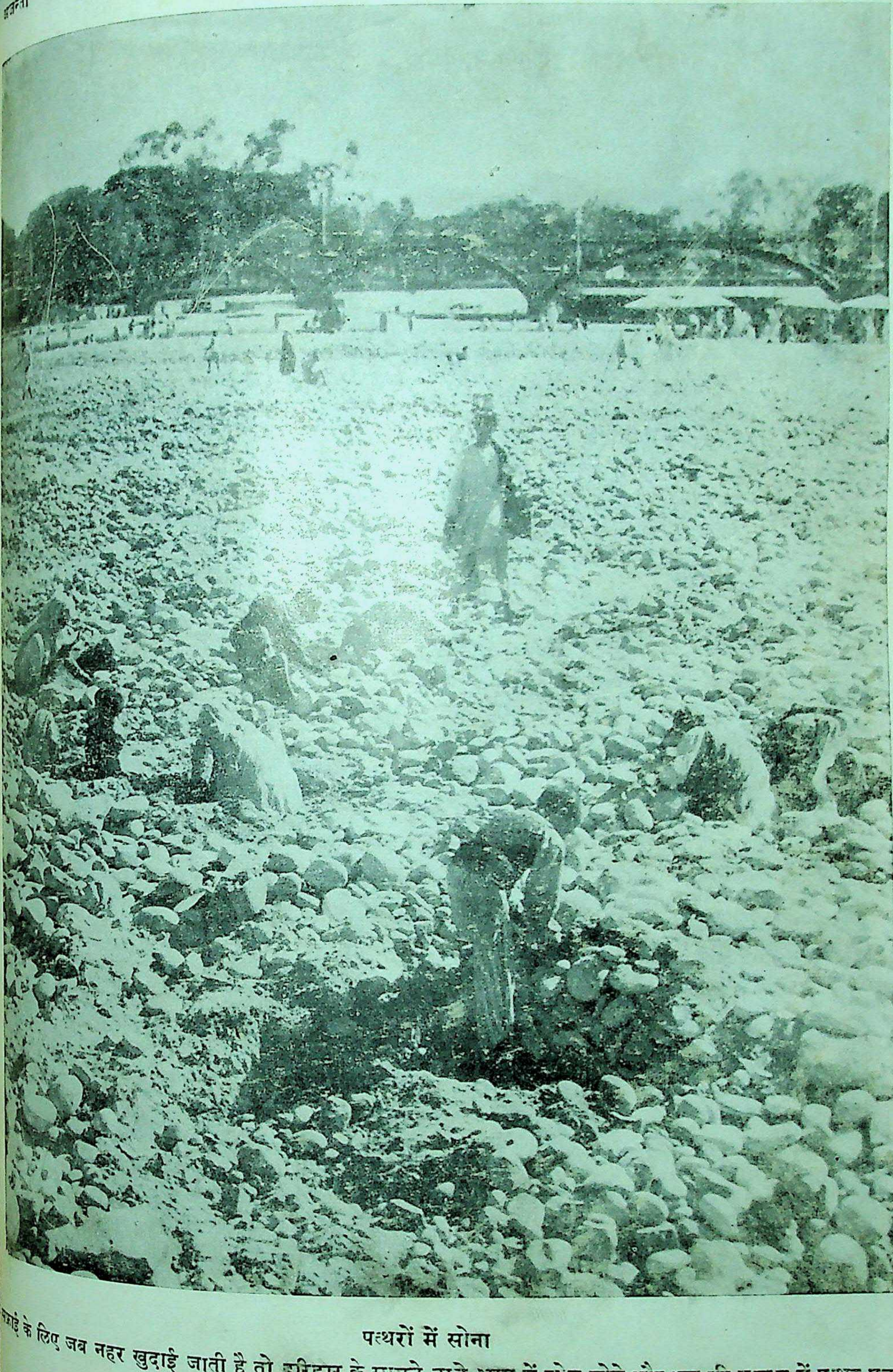

पत्थरों में सोना

फाई के लिए जब नहर खुदाई जाती है तो हरिद्वार के सामने वाले भाग में लोग सोने और धन की तलाश में पत्थर पलट रहे हैं।

श्रीयुत रमेश वेदी के सौजन्य से

औरों से कुछ पृथक् बनाया मैंने निज व्यक्तित्व को,
बन्दी किया नहीं स्वार्थों में मैंने निज अपनत्व को
पाली-पोसी धूप-छाँह में मैंने अपनी साधना,
अनुगत किया लोक-मंगल का मैंने अपने स्वत्व को
कविता की गुरुता दुर्बल कन्धों पर कैसे साध लूँ
यह तो वह दे गया प्रवासी जो मुझको वरदान है
मौन रहूँ.........

स्वागत के स्वर हैं उसके प्रति, अधरों के प्रति राग में
जिसने लय कर दिया समर्पण अपने चरम विराग में
शूलों में बिखरी पंखुड़ियाँ मुझसे चुप-चुप कह गईं
अन्तर का इतिहास प्रकट कलिका के मधुर पराग में
निज को बनते-मिटते लख कर मुझको कुछ ऐसा लगा
अपने मंदिर की रचना में व्यस्त स्वयं भगवान् है
मौन रहूँ.........

इस पथ में पाथेय किसी की चिर अनभूली याद है
जिससे व्यापकता भावों की बनी सहज आबाद है
यह पग की अविराम प्रगति संकल्प नवल निर्माण है
यश की लिप्सा नहीं कर्म करने का बस उन्माद है
जिसको आमन्त्रित करने के लिए सोचती मैं रही
वही आज आ गया द्वार पर करने को आह्वान है
मौन रहूँ.........

कह दो तो बस चलूँ बोलती निज प्रिय की जयकार मैं
प्रति पग में प्रति मग में भरती जाऊँ पीर पुकार मैं,
सुनती हूँ फूलों-पत्तों में मेरे हरि का वास है
मिलन-मुक्ति पा तोड़ सकूँ, पिंजर का कारागार मैं
शान्त चलूँ तो क्षितिज पार संदेश किस तरह जा सकें
मेरे जीवन की संध्या में उदय बना अवसान है
मौन रहूँ.........

—विद्यावती मिश्र

२२३, राजेन्द्र नगर,
लखनऊ

भारतमाता

भारतमाता तुझको मेरा कोटि-कोटि अभिनन्दन
तेरे माथे देश चढ़ाता श्रम सौरभ का चन्दन

गाँव-गाँव में मुखरित तेरी गौरवमयी ऋचाएँ
डाल-डाल पर मुक्त पखेरू तेरे ही गुण गाएँ
तू अपना सर्वस्व प्राणमय तेरी अनुपम काया
मिट्टी नहीं पराग कि जिससे हमने सब कुछ पाया

पुण्य-कर्म से आज करेंगे सब मिल तेरा पूजन
भारतमाता तुझको मेरा कोटि-कोटि अभिनन्दन

कामधेनु तू, कल्पवृक्ष तू, वसुधा सत्य सुधा-सी
देख नहीं पाए हम तेरे मुख पर कभी उदासी
तू जीवन की अमिट साधना वेद-मन्त्र-सी पावन
युग-युग से आलोक लुटाती तेरी छवि चिर-नूतन

बाँध न तुझको सके कभी शासन-सीमा के बन्धन
भारतमाता तुझको मेरा कोटि-कोटि अभिनन्दन

तेरी मृदु-मुस्कान थके पाँवों को सम्बल देती
तेरे कर भी शीतल छाया सारे दुख हर लेती
प्रेम तपस्या से जन-जन तेरी आरती सजाते
तेरी सत्य संस्कृति के हम गीत रहेंगे गाते

तू अमरत्व मुक्त जीवन का आत्म रूप संयोजन
भारतमाता तुझको मेरा कोटि-कोटि अभिनन्दन

हम विनम्र तेरे चरणों में अपना शीश नवाते
जन-मन के हित में रक्षा में निज सुख मूल लुटाते
तेरा शुभ आशीष बनेगा दृढ़ संकल्प हमारा
पार करेगी जीवन-नैया पंचशील की धारा

आत्मभाव विश्वास बनेगा, यह धरती नन्दनवन
भारतमाता तुझको मेरा कोटि-कोटि अभिनन्दन

— **बाबूलाल शर्मा 'प्रेम'**

दृग-मृग भाग गए

१

दृग-मृग भाग गए, अधखुली खिड़की के
फाँक में से झाँक गया दो इंच आसमान !
नुक्कड़ की तिमंजिला कार्निसों के उस पार
शुक्ल तीज चन्द्रमा की नोंक भी भासमान !
यों ही दिन-दुपहर में विजया की लहर में
सहसा हुई कवि की प्रिया प्रकाशमान !
कह दूँ क्षण-संगिनि प्राणेश्वरी कैसे तुम्हें
जब तक अपने को लूँ न मैं दास मान !
दृग-मृग भाग गए, अधखुली खिड़की के
फाँक में से झाँक गया दो इंच आसमान !!

२

हँसी तुम भभाकर, बोलीं कुछ रुक कर—
अरे-अरे सुन लेंगे, हँसेंगे नए कवि !
मैंने कहा—छेड़ो नहीं, उन्हें भला फ़ुर्सत है ?
दुआ दो, इसी प्रकार ढालें वे शशि-रवि !
फैले थे कर-कमल, मुस्कुराई फिर बोलीं—
रंजित नखों में प्राण, देखो तो निज छवि !
रहने दो—मैंने कहा, ज़ोरों की लगी है भूख
जठरानल दीप्त है, डाल लूँ कुछ हवि !
हँसी तुम भभाकर, वोलीं फिर रुक कर—
अरे-अरे सुन लेंगे, हँसेंगे नए कवि !!

—नागार्जुन

गुनाहों की उमर

यह नई-नई-सी उठती हुई उमर
चढ़ती जाती हो शैल-शिखर पर
ऊपर ही ऊपर ज्यों सर्पाकार डगर
बल खाती-सी, लहराती-सी

यह जहाज़ के पंछी-सा
उड़ा-उड़ा सा आवारा मन
ढूँढ़ न पाता अपना जो कोई नीड़ सुनिश्चित

बार-बार चलते-चलते
अपने से ही ख़ुद ग़ायब हो जाना
मृगछौने-सा हरदम चौंक-चौंक उठना
रंग-बेरंगी, मनहर धरती को देखा करना
सतरंगे सपनों में डूब-डूब जाना

सीमाओं से करना घृणा, और—
मर्यादाओं की खिड़की के काँच फोड़ देना
किसी अनदेखी अनपाई मूरत से
तन-मन का सम्बन्ध जोड़ लेना
ऐसी ही उठती हुई गुनाहों की उमर बीच
इस बदनाम वसन्ती मौसम में,
मेरे मन का भ्रमर उड़ चला पास तुम्हारे
दो फूल देह की देहरी पर हँसते आज देख कर
एक बार हम फिर आज गुनाहों के संगम पर भेंटे

एक बार हमने फिर
उस आदिम कमज़ोरी की पूजा की है—
जो कि आदिकाल से—
स्वयं विश्व को चलने का वरदान दे रही !
कुछ भी हो,
दुनिया बदले, मौसम बदले,
तन-मन की भूख नहीं मर सकती
इसी लिए पूजा है इस कमज़ोरी की,
गीतों के अर्घ्य चढ़ाता हूँ !

—नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

गीत

तुम मेरे गीतों के द्वारे आओ ना आओ
दरद भरे मन की आकुलता को तो आने दो

तुम मुझसे अनजान, मगर दुख अनजान तो नहीं
उससे तो हो चुकी बहुत पहले पहचान कहीं
कहीं रहे वह किसी नयन में है वह मेरा ही
कैसे कह दूँ उसको होगा मेरा ध्यान नहीं

तुम अपनी शरबती निगाहें कर लो बन्द–भले
आँखों से बह रही सरलता को तो आने दो

जिस बाँसुरिया के प्यासे दिन-रात अधर मेरे
उसी डगर से साँवरिया तक जाते स्वर मेरे
मन का गान-निवेदन सुनने वाले श्रोताओ !
उसी एक वंशी का जादू होता घर मेरे

तुम अपने निर्विघ्न मौन में पलपल सुखी रहो
बेचारी संगीत-बहुलता को तो आने दो

मैं धड़कन का प्यासा मुझको भाता घोष नहीं
लेकिन मुझको किसी शोर पर कोई रोष नहीं
किस पर्वत की कौन शिला तुम, पता न भक्तों को
पूजन भी है नशा कि जिसमें रहता होश नहीं

तुम पाषाणी मूर्ति बने मन्दिर को धन्य करो
पर मुझ तक अपनी दुर्बलता को तो आने दो

आंग्रे का बाज़ार,
लश्कर

—वीरेन्द्र मिश्र

कैसा यह धर्म है !

ज्यों ही कल प्रातःकाल निज इष्ट-देव की
पूजा कर आया मैं अपने बरामदे में
त्यों ही एक दीन आया पास मेरे, बोला वह—
"भूखा हूँ बहुत, मुझे रोटी एक दीजिए"

आती थी गंध सोंधी रोटियों की भीतर से
किन्तु मैं बोला, "हटो, यहाँ नहीं रोटियाँ"
टूटी उसकी आस इससे दूर वह चला गया
सोचा मैं-पत्थर में देवता का दर्शन हम करते हैं
उसको नहलाते हैं, धूप दिखलाते हैं, मेवा चढ़ाते हैं

किन्तु जो देवता पास नित आता है,
रोता-गिड़गिड़ाता है,
पेट दिखलाता है,
कहता है—"भूखा हूँ, रोटी एक दीजिए"

उसको हम देख कर मुँह फेर लेते हैं
रहती है रोटी; किन्तु उसे नहीं देते हैं
उसको दुतकारते हैं और फटकारते हैं
कैसा यह धर्म है, कैसी विडंबना

ग्राम कठार,
पो० वीरपुर, गाज़ीपुर (उ० प्र०)

—भागवत प्रसाद पांडेय 'सुधांशु'

नरम-नरम-सी शीत

अँधेरे नभ में से भू पर
शान्त गति से है रही उतर
कि जैसे भावुक के मन की, सरस, सरल-सी प्रीत
नरम नरम-सी शीत

वीणा की-सी पहली लहरी
रागिनी मधुरिम चाह भरी
नयन नत, स्वर की अँगड़ाई, लचीला मूर्छित-सा संगीत
नरम-नरम-सी शीत

तुष्टि के सपने-सी आई
ताप पर करुणा बन छाई
चाँदनी चादर फैलाती और नभ बरसाता नवनीत
नरम-नरम-सी शीत

—शान्ति मेहरोत्रा

२०।ए, घोष बिल्डिंग्स,
जवाहरलाल नेहरू रोड,
टैगोर टाउन, इलाहाबाद

जहाँ जीवन चिर विश्राम करता है

जीवन अनिश्चित परन्तु मृत्यु निश्चित है। जीवन की अनिश्चितता से मानव मस्तिष्क में विभिन्न कल्पनाओं एवं विचारों का उद्गम हुआ, जिससे धर्म एवं दर्शन का विकास हुआ। किसी ने शरीर को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया और किसी ने शरीर को नश्वर मान, अमर आत्मा की कल्पना की। भावना ने समाधि को जन्म दिया और कटु सत्य ने अग्नि-दाह के माध्यम से धूल-निर्मित देह को पुनः धूल में परिणत होते देखा। एक ने चिता की ज्वालाओं में ही कथा का अन्त पाया, परन्तु दूसरे ने समाधि का निर्माण कर अन्तिम परिच्छेद शेष रखा।

संसार में अपने अस्तित्व का प्रमाण छोड़ जाने की मानव इच्छा एवं भावनामय हृदय ने समाधि-लेखों की प्रथा का प्रचलन किया। समाधियों पर एक पाषाण शिला स्थापित कर उस पर मृतक का नाम लिखा जाने लगा। तदुपरान्त मृतक की जन्म एवं मृत्यु तिथियों का अंकन प्रारम्भ हुआ। परन्तु इतने से ही मानव हृदय को सन्तोष न हुआ। समाधियों के निर्माण में कला की पुकार हुई। संगमरमर और अन्य मूल्यवान् पाषाणों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। नक्क़ाशी और सुन्दर प्राकृतिक चित्रों का चित्रांकन होने लगा। समाधियाँ सुन्दर और आकर्षक रूप पाने लगीं। साथ ही समाधि-लेखों की सीमा का भी विस्तार होने लगा। शनैः शनैः ये लेख मृतक एवं उससे सम्बन्धित व्यक्तियों की भावनाओं के प्रकाशन का माध्यम भी बन गए; और आधुनिक नूतनता के युग में ये समाधि-लेख भी सहस्र-रजनी-चरित्र की किसी रोचक कथा से कम आकर्षक नहीं रहे हैं।

सर्वप्रथम समाधियों का निर्माण केवल श्मशान-भूमि में ही होता था। धीरे धीरे मृतक की इच्छानुसार ही उसकी समाधि बनने लगी और यह आवश्यक नहीं रहा कि समाधि श्मशान में ही रहे। प्रसिद्ध कवि उमर खैयाम ने अपने शिष्य निज़ामी से अपनी अन्तिम इच्छा बतलाते हुए कहा था :

"मेरी समाधि उस स्थल पर होगी, जहाँ उत्तरी वायु उस पर पाटल प्रसून बिखेर सके"

११२३ ई० में उमर खैयाम की मृत्यु हुई और उसे अपनी इच्छानुसार नैशापुर में एक पाटल-उद्यान के समीप समाधि दी गई। कुछ वर्ष उपरान्त जब निज़ामी उस समाधि का निरीक्षण करने आया, तब उसने समाधि की दीवालों तक फैली गुलाब की डालों को, उत्तरी वायु के झोंकों से उस पर पाटल-पंखुड़ियाँ बिखेरते पाया।

सामान्यतः समाधि-लेखों में मृतक का नाम, उसकी जन्म एवं मृत्यु तिथियाँ, प्रशंसा एवं धार्मिक पुस्तकों के एक दो वाक्य अंकित रहते हैं :

"जैसी एण्ड्रयूज़
जन्म—१० जनवरी, १८०५
मृत्यु—१ अगस्त १८५४
वह विश्वसनीय पत्नी थी, स्नेहमयी माता थी और मानवीय भावों से पूर्ण एक नारी थी।
ईश्वर ! तुम्हारी इच्छा की पूर्ति होगी"

—क्रिश्चियन सीमेट्री, जबलपुर

कई संक्षिप्त समाधि-लेख भी मृतक का पूर्ण परिचय देने में समर्थ होते हैं :

"११ नवम्बर सन् १७५० ई० को, ४० वर्ष की आयु में इस जीवन से बिदा लेने वाले, सर हेरी गोरिंग के तृतीय पुत्र केप्टिन जार्ज गोरिंग का शरीर इस स्थल पर चिर विश्राम कर रहा है।"

—सेंट जान चर्चयार्ड, कलकत्ता

ऐसी समाधियों की भी न्यूनता नहीं है, जिन पर अंकित लेख, केवल मृतक का नाम एवं मृत्यु तिथि ही बतलाते हैं :

'थामस मूर
मृत्यु ११ सितम्बर, १८०४
आयु—७६ वर्ष'

—सेंट पाल चर्चयार्ड, मद्रास

अधिकांश समाधियों पर मृतक का परिचय एवं प्रशंसा-वाक्य लिखने के उपरान्त धार्मिक पुस्तकों के एक दो वाक्य लिखे जाते हैं। सामान्यतः निम्नांकित वाक्य ही समाधियों पर अंकित मिलते हैं :

'मैं मुक्तिदाता और जीवन हूँ'

'जो मुझमें विश्वास करता है. मृत्यु उपरान्त भी वह जीवित रहता है'

'ईश्वर ! तुम्हारी इच्छा की पूर्ति होगी'

'धूल पृथ्वी में वापस लौट गई, परन्तु आत्मा ईश्वर के पास पहुँच गई'

'वे स्वर्ग में हैं, उनके कार्य महान् हैं

'वह शान्ति से विश्राम कर सके'

'ईश्वर ही प्रेम है'

'वह नष्ट नहीं हुआ है, केवल चला गया'

अधिकांश समाधियों पर अंकित लेख प्रशंसा के कुछ वाक्यों से पूर्ण होते हैं परन्तु कुछ अत्यधिक प्रशंसा से बोझिल हो जाते हैं। इस प्रकार के एक समाधि-लेख का अवलोकन कीजिए —

'इस स्थल पर कर्नल जेम्स हेष्टिंग का मृत शरीर चिर विश्राम कर रह है। वह बहादुर सैनिक था, विनम्र पति था, स्नेहमय पिता था, गौरव योग्य मित्र था और निर्धनों एवं असहायों के लिए देवदूत तुल्य था। उसने अपने राष्ट्र के गौरव के विस्तार हेतु ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा स्वीकार कर भारतवर्ष आना पसंद किया। अपने कार्यकाल में वह सदैव ईस्ट इंडिया कंपनी एवं अपनी जाति की उन्नति का प्रयत्न करता रहा। उसका युद्धकौशल अद्वितीय था। उसने अनेकों युद्धों में विजय प्राप्त की परन्तु अन्त में ११ अगस्त, सन् १८५७ को ६८ वर्ष की आयु में वह अपने विद्रोही सैनिकों के हाथों से निर्दयतापूर्वक मार डाला गया।

वह एक विश्वसनीय एवं नम्र स्वभाव वाला पति एवं मित्र था। दूसरों की सहयता-हुतु वह सदैव तत्पर रहता था। हमें और हमारे राष्ट्र को उस पर नाज़ है।

'वह स्वर्ग में है, उसके कार्य महान् हैं !'

कुछ समाधि-लेखों में मृतक की प्रशंसा अत्यधिक सुन्दर प्रणाली से की जाती है। ओजमयी भाषा में मृतक के श्रेष्ठ कार्यों का वर्णन कर उसे श्रेष्ठ गौरव प्रदान किया जाता है। कलकत्ता की सेंट पाल कैथीड्राल (St. Paul Cathedral) में बनी पेट्रिक एलेकजेंडर वान्स एगन्यू एवं विलियम एंडरसन की समाधि पर अंकित लेख को देखिए :

'न इस पाषाण के नीचे और न इस पवित्र भूमि के गर्भ में वरन् आंग्ल-भारतीय साम्राज्य के सुदूर युद्ध-क्षेत्र में बंगाल सिविल सर्विस के पेट्रिक एलेग्ज़ेंडर वान्स एगन्यू एवं प्रथम बंबई फ्यूसिलियर रेजीमेंट के लेफ्टिनेंट विलियम एंडरसन के अवशेष पड़े हैं। वे मुलतान के वाइसराय दीवान मूलराज को उसके कार्यों से मुक्त कर किले पर अपना अधिकार करने के प्रयत्न में, सिक्ख रक्षकों के विश्वास घात के कारण, प्राण घातक रूप से १९ अप्रैल, १८४८ को घायल हो गए। दूसरे दिवस राष्ट्रप्रेम एवं मानवीय भावनाओं को लिए, ये दो विश्वसनीय पदाधिकारी मुलतान की दीवालों के अन्दर निर्दयतापूर्वक मार डाले गए। इस प्रकार उच्च आशाओं, दुर्लभ योग्यताओं और उपयोगी भविष्य को लिए २५ एवं २८ वर्ष के ये दो जन-सेवक फिर न उठने के लिए गिरे। मृत्यु के समय भी, घायल एवं निःसहाय होते हुए भी, उन्होंने आधीन होना अस्वीस्कार कर, अपने राष्ट्र को गौरव देते हुए उस दिवस घोषणा जब सहस्त्रों अंग्रेज उनकी मृत्यु का बदला लेने आएँगे; और इतिहास साक्षी है कि किस प्रकार उनकी भविष्यवाणी हुई। वे सैनिक सम्मान के साथ २६ जनवरी, १८४९ में मृत्यु-स्थल पर ही दफ़नाए गए।'

भारत के प्रथम वाइसराय लार्ड कैनिंग की पत्नी श्रीमती शैरलोट ईलिज़ाबेथ केनिंग की समाधि पर अंकित लेख में उनकी प्रशंसा एक नूतन प्रणाली से की गई है। सेंट पाल कैथीड्राल, कलकत्ता, में निर्मित उनकी समाधि पर अंकित लेख इस प्रकार है—

'लार्ड स्टुअर्ड डि रोथसे की प्रथम पुत्री एवं भारत के प्रथम वाइसराय अर्ल आफ़ केनिंग की प्रत्नी श्रीमती शैरलोट एलिजाबेथ केनिंग की पवित्र स्मृति में...

जन्म—३१ मार्च, १८१७. पेरिस

मृत्यु—१८ नवम्बर, १८६१, कलकत्ता

समाधि द्वारा मृतक को प्रदत्त सम्मान एवं प्रशंसा निरर्थक गौरव ही है, पत्तु उसकी उदारता, मानवता, शान्ति प्रियता एवं मुक्तिदाता में अडिग विश्वास उसे ईश्वर के स्वीकार करने योग्य बना अमर गौरव प्रदान करेगा—यह उन सब का अटल विश्वास है जो उसे पूर्ण रूपेण जानते हैं और उससे अत्यधिक स्नेह कर चुके हैं एवं जो उसकी विदा की स्मृति को अपने साथ लिए हैं।

सभी समाधि-लेख मृतक की प्रशंसा नहीं करते।

ऐसे लेख पाए जाते हैं, जिनमें मृतक के काले कारनामों का अंकन रहता है। कलकत्ता के एरमीनियन चर्चयार्ड की एक समाधि पर अंकित लेख की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

'वह युद्ध-भूमि से भागते अपने साथी के हाथों मारा गया। उसकी मृत्यु से कुछ हानि नहीं हुई, वरन राष्ट्र का अपमान होने से बच गया। पाठक! उसके लिए प्रार्थना करो।'

फ्रांस के सेंट जान चर्चयार्ड में बनी एना मूर नामक युवती की समाधि पर अंकित दो विपरीत भाव वाले लेखों की कहानी भी कम विचित्र नहीं है। एक प्रसिद्ध चिकित्सक की पत्नी एक दिन अपनी सहेली से मिलने गई। लौटते समय वह वर्षा में भींग गई। घर आते ही उसे ज्वर हो आया और कुछ दिनों उपरान्त दिसम्बर, १८४० को उसकी मृत्यु हो गई। चिकित्सक ने अपनी प्रिय पत्नी की सुन्दर समाधि बनवा कर निम्न वाक्य अंकित कराए :

कुछ दिन उपरान्त उस चिकित्सक को अपने नाम अपनी मृत पत्नी का एक पत्र मिला, जिसमें उसने, पत्र में लिखे वाक्यों को अपनी समाधि पर लिखे जाने का आग्रह किया था। कुछ समय उपरान्त उस समाधि के निकट एक दूसरी पाषाण-शिला लगाई गई। उस पर खुदा था :

'उसका पति उस पर विश्वास करता था। परन्तु उसने उसके साथ विश्वासघात किया। सहेली का बहाना कर वह अपने प्रेमी से मिलने गई थी। लौटते समय वह वर्षा में भींग गई, जिससे उसकी मृत्यु हो गई। दयालु पाठक! उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करो कि जिससे वह उसके पापों को क्षमा कर सके।'

ऐसी अनेक समाधियाँ मिलती हैं जिन पर अंकित लेखों के माध्यम से मृतक ने अपने अपराधों को स्वीकार कर पाठक की सहानुभूति की अपेक्षा की है :

'यह पापों में लिप्त एक दुःखी एवं निम्न पादरी के मृत-शरीर का विश्राम-स्थल है। मैं, निम्न जोनेस रिह जीवन-भर अपने पुनीत कर्त्तव्य को भूल अपराध करता रहा और आज मेरी आत्मा पाप के बोझ से बोझिल हो रही है। ओ! मेरे पूजनीयो एवं दयालु व्यक्तियो! यदि आप इस ओर से निकलें तो अपनी प्रार्थनाओं से मेरे पापों को कम करने का प्रयत्न करना जिससे सर्वोच्च उपहार में मुझे भी कुछ भाग मिल सके।

—अरमीनियन चर्चयार्ड, कलकत्ता

कुछ समाधि लेखों में मृतक की भूलों का अंकन कर पाठक को वे भूलें न करने की सलाह दी जाती है। अरमीनियन चर्चयार्ड में बनी इसाक अब्राहम की समाधि पर इसी प्रकार का एक लेख अंकित है :

"इसाक अब्राहम
मृत्यु १० अगस्त, १७१६

ओ! विश्व की झूठी गरिमा में लिप्त युवक वीरो, आओ और इस ओर देखो! अब्राहम का पुत्र और जुलेफ़ा का गर्व—यह इसाक, जो जन्म से ही शक्तिमान् साहसी मल्ल माना जाता था और जिसने निःशस्त्र होने पर भी अपना पराक्रम प्रदर्शित किया, अन्त में घातक रूप से घायल हो मृत्यु को प्राप्त हुआ।

उसे अपना आदर्श मान गर्व एवं झूठी गरिमा से दूर रहो।"

जबलपुर की क्रिश्चियन श्मशान भूमि में बनी इवालैंब की समाधि पर अंकित वाक्य सांसारिक सुखों को व्यर्थ बता, उनसे दूर रहने की सलाह देते हैं :

"विश्व में सुख क्या है? मानो विद्युत द्वारा निशा का परिहास। जीवन में सुख भी दामिनी की दमक के सामने क्षणिक है और उस क्षणिक सुख की अनुभूति को सब कुछ समझ तुम कर्त्तव्य और ईश्वर को भूल रहे हो!"

दर्शन के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाले भी कुछ समाधि-लेख मिलते हैं, जिनमें जीवन में व्याप्त असंतोष, दुःख एवं कष्टों के कारणों का विवेचन है। ऐसे ही एक समाधि-लेख की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

"कीट की नक्षत्र के लिए प्रेरणा, निशा की दिवा मिलन की आशा और अपनी वेदना के मण्डल से एक सुदूर अज्ञात सुख की उपासना—यही तो जीवन की चिर अतृप्त वांछा है।"

कुछ समाधि लेखों में काव्य का भी स्थान रहता है। मृतक के संक्षिप्त परिचय के उपरान्त कविता की कुछ पंक्तियाँ लिख दी जाती हैं जो या तो मृतक के गुणों का अथवा प्रारब्ध का विवेचन करती हैं। एक युवक की समाधि पर अंकित कविता का अनुवाद देखिए :

"उद्यानों में खिली लिली सम,
जिनका दो क्षण का यौवन
ऐसा ही तो है मानव-तन
द्रुमडाली के पीत पात सम,
मुरझा जाता है यह यौवन"

इसी प्रकार कलकत्ते की साउथ पार्क सीमेट्री में निर्मित रोज विटवर्थ एलमर की समाधि पर अंकित कविता मृतक के दुर्भाग्य की विवेचना करती है। पूर्ण समाधि-लेख इस प्रकार है :

"२० वर्ष की आयु में सन् १८०० के मार्च महीने की दूसरी तारीख को इस जीवन से बिदा लेने वाली रोज विटवर्थ एलमर की स्मृति में......

मानव-स्वभाव में भिन्नताएँ हैं और इसी कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्नताएँ दृष्टिगत होती हैं। जीवन के थकान-प्रद मार्ग को तय कर जब जीवन-पथ का राही अन्तिम मोड़ तक पहुँचता है, उसका हृदय उसे अज्ञात भविष्य के बारे में सोचने को बाध्य करता है। मानव-मस्तिष्क में विचित्र कल्पनाओं का जन्म होता है और जीवन से बिदा लेते समय मनुष्य की वे कल्पनाएँ विचित्र इच्छाओं के रूप में प्रकट होती हैं। कहीं-कहीं समाधि-लेखों पर ऐसी ही विचित्र बातें अंकित रहती हैं :

"चार्ल्स वासटन
मृत्यु—२५ दिसम्बर, १८०६
पाठक :

यह समाधि पाषाण असत्य-गौरव का प्रचारक नहीं है। जाओ अन्य समाधियों का अवलोकन करो।"

—साउथ स्ट्रीट सीमेट्री, कलकत्ता

इसी प्रकार अरमीनियन चर्चयार्ड में बनी एराटोन केटचिक की समाधि पर अंकित लेख भी कुछ कम विचित्र नहीं है। सात फुट लम्बे एवं चार फुट चौड़े समाधि-पाषाण पर मृतक के जीवन की संक्षिप्त कथा अंकित है। साथ ही मृतक ने उसके माध्यम से विश्व एवं जीवन की असारता की ओर संकेत कर भौतिक पदार्थों से नेह न करने की सलाह दी है। यह अपेक्षाकृत लम्बा समाधि-लेख 'मैट्रिकल वरसेस" में है जिसका अनुवाद निम्नांकित है :

"अकस्मात् अपनी दृष्टि इस समाधि की ओर करने वाले भ्रमणकर्त्ता—तुम्हारे लिए मेरे ये शब्द हैं :

मैं, मुक्तिदाता में विश्वास करने वाला एराटोन केटचिक इस्पहान (Ispahan) के प्रसिद्ध शहर में उत्पन्न हुआ और अपने जीवन के प्रभात में ही स्वदेश से व्यापार के उद्देश्य से भारतवर्ष आया। दैवयोग से एक समय मैं सईदाबाद में था, जहाँ पवित्र चर्च के नियमों एवं धार्मिक संस्कारों के अनुसार मेरा विवाह हुआ। मेरी पत्नी, एनी, स्वर्गीय गरिमा से पूर्ण नारी थी। उससे मुझे देवदूत सदृश बच्चे हुए जो सदैव ईश्वर की महिमा की प्रशंसा करते थे। ओह! जब वे प्रातः की बेला में निद्रा से उठ, ईश्वर को अपनी प्रार्थनाओं से गौरव प्रदान करते हुए, हमारे घर को समस्त शुभ बातों से पूर्ण कर देते, तब हमें कितनी प्रसन्नता होती थी! परन्तु, आह! अस्थिर और क्रूर विधि यौवन के कोमल पौधों तक को अपनी छाया से मुक्त नहीं करती। हमारे प्रिय बच्चों तक, मृत्यु के हाथ पहुँच ही गए। समस्त चिकित्सा व्यर्थ प्रमाणित हुई। चालीस दिन व्यतीत हुए और अन्त में निर्दय मृत्यु ने हमारी बाहों से हमारे प्रिय पेंडुकी पक्षियों के जोड़े को छीन ही लिया। मेरी पत्नी इस असह्य दुःख के कारण क्षय के अधीन हो. इस संसार को त्याग स्वर्ग के महात्माओं के साथ रहने चल दी।

तब मैंने ईश्वर से अपनी आत्मा को विश्राम देने की प्रार्थना की, जिन्होंने मेरी प्रार्थना के उत्तर में दयालुता पूर्वक अपने देव-दूतों को मेरी आत्मा को पूर्ण विश्राम प्रदान करने हेतु भेजा, जिनके हाथ में मैंने, अगणित पापों के लिए क्षमा माँग अपनी आत्मा को सौंप दिया। अब मेरा शरीर इस पवित्र स्थल पर विश्राम कर रहा है।

मेरी जीवन का अन्त २६, फ़रवरी १८५२ को हो गया। मेरे जीवन की लम्बाई ८२ वर्ष है, जिसमें से केवल ३८ दिन घटाना ही आवश्यक है।

क्यों, तुम आश्चर्य चकित हो? भौतिक वस्तुओं का यही अन्त है। हम प्रसन्नता और गौरव का आनन्द लेने वाले पति पत्नी मृत्युबाण से घायल हो, मुरझाए प्रसूनों के सदृश भूमि पर गिर पड़े। तुम इसे उदाहरण-रूप में ग्रहण करो, जिससे तुम अपने जीवन के शेष दिनों को इस तुला से तोल सको।"

लंदन के सेंट फ्रांसिस चर्चयार्ड में बनी एक

१८५७

दर समाधि की कथा और भी विचित्र है। उस समाधि पर न तो किसी का नाम है और न कोई चिन्ह ही उस पर अंकित है। समाधि-पाषाण के चारों ओर एक बेल बनी है। नीचे केवल एक वाक्य लिखा है—

'जीवन शून्य है, संसार शून्य है !'

प्रकृति और मानव के कार्यों में जो विचित्रता दृष्टिगत होती है, उससे समाधि-लेख भी अस्पृश्य नहीं हैं। मृत्यु के समय मनुष्य अपने जीवन के अनुभवों को मानव-मात्र को बतलाना चाहता है और इसके लिए सुलभ एवं प्रभावशाली माध्यम के रूप में उसे अपनी समाधि ही मिलती है। कई समाधि लेख तो इतने विचित्र एवं प्रभावशाली होते हैं कि उन्हें पढ़ने वाला व्यक्ति भी गम्भीर हो सोचने लगता है :

'तो क्या यही जीवन का अन्त और विश्व का भविष्य है !'

—कृष्णकुमार असावा

१४२, प्रेमनगर,
बलपुर

दखनी "बोल"

१. बन्दा गुनहगार
खुदा बख्शनहार

२. चाखी सो जाने
नइँ चाख्या सो क्या पिछाने

३. जिधर हंडी डोई
उधर सब कोई

४. आदमी और एक दम
उस पर भी हजार हजार गम

५. अव्वल इज्जत
दोयम नेमत

६. दुनिया ज्यूँ दोपहर की छाँव
इस दुनिया कूँ सर है न पाँव

७. झूठा शैतान का साला
तीन दुनिया में मुँह काला

हिमायत नगर,
हैदराबाद दक्षिण

—"सबरस" से संगृहीत
—संग्रह० : ललिता देवी

आत्मा सम्बन्धी विविध विचार भारत में

(२)

इस लेख के पूर्वार्द्ध में विदेशों में आत्मा के सम्बन्ध में विद्यमान विभिन्न धाराओं पर विचार किया गया है। अब हम देखेंगे कि इसके सम्बन्ध में हमारे यहाँ क्या विचार है। 'हिन्दू-धर्म' नामान्तर्गत अनेकानेक छोटे-मोटे धार्मिक मत इस भू-खण्ड पर फैले हुए हैं। जो गति वेदों को स्वीकार करती है, उनका धार्मिक मत कुछ भी क्यों न हो, उन्हें हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत ही माना जाता है। प्रत्येक धर्म, पन्थ अथवा दर्शन पर विचार करने पर ब्राह्मणों का यज्ञ-धर्म, बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, वैष्णव-धर्म शैव-धर्म, शाक्त-मत, भक्ति-मार्ग, चार्वाक-मत आदि के प्रायः समस्त मतावलम्बी आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। धारणाओं में भिन्नता अवश्य है। मुख्य भेद आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में हैं। पुनर्जन्म को मानने और मरणोत्तर अन्य स्थिति को मानने में कोई संगति नहीं, तथापि इन दोनों का जोड़ मिलाया जाता है।

भारतीय दर्शन कुछ तो नास्तिक हैं, कुछ अर्ध-नास्तिक और कुछ अज्ञेयवादी। कहीं-कहीं तो ऐसा माना जाता है कि परमात्मा एवं जीवात्मा मूल में एक हो कर जगत् कारणों से ही उनमें भिन्नता है। कई इन दोनों को स्थाई रूप से भिन्न मानते हैं और उनका दर्जा समान मानते हैं। पाश्चात्य धर्मों में इस सम्बन्ध में जो विचार हैं, वे अपरिपक्व हैं। हमारे यहाँ जहाँ, स्वर्ग-नर्क की कल्पना की गई है, वहाँ सुष्ट या दुष्ट देव जैसी कल्पनाएँ नहीं हैं। ऐसे विचार हमारे वहाँ के जगली आदिवासी लोगों में क्वचित् ही कभी आ गए हों, परन्तु वे हमारे दर्शन में प्रविष्ट हो कर स्थान नहीं पा सके।

अत्यन्त प्राचीन वेदकालीन मत ब्राह्मण-मत माना जाता है। उस समय पुनर्जन्म की कल्पना भी नहीं थी। इन्द्र, वरुण, मित्र इत्यादि को देव माना जाता था। तत्कालीन आर्यों का ध्येय इन देवताओं को यज्ञ भाग अर्पण कर सांसारिक सुख प्राप्त कर लेना मात्र था। स्वर्ग, परलोक आदि सम्बन्धी कोई जानकारी नहीं थी। तब का स्वर्ग था देवताओं का कल्पित निवास-स्थान। उसके भी इन्द्रलोक, यमलोक, वरुणलोक, वसुलोक, रुद्रलोक, आदित्यलोक आदि भेद थे। आत्मा-मृत्यु के पश्चात् इन विभिन्न लोकों में वास करने चली जाती है। मरणोपरान्त लड़के अथवा नाती द्वारा श्राद्धादि क्रिया-कर्म कर देने पर उस आत्मा को क्रमशः वसु, रुद्र और आदित्य-लोक प्राप्त होते हैं, ऐसा माना जाता था। अन्त में वह आदित्य रूप में लीन हो जाती है।

आत्मा और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में बृहस्पति के विचार भी पूर्णतः नास्तिक थे। उनका मत था कि देह बाहर की कोई स्थिति ही नहीं है। मनुष्य को इस पृथ्वी पर जन्म ले कर समस्त सुखों का उपयोग करना चाहिए। संसार में जो कुछ है, वह जिसके हाथ लगे उसका है। फिर चाहे किसी भी प्रकार की युक्तियों द्वारा ही प्राप्त क्यों न हो?

बौद्ध-धर्म भी नास्तिक है। स्वयं गौतम बुद्ध ने "ईश्वर नहीं" कह कर अपने को नास्तिक सिद्ध किया है। ईश्वर और मरणोत्तर स्थिति के सम्बन्ध में उन्होंने कभी भी अपना स्पष्ट मत व्यक्त नहीं किया। एक बार शिष्य द्वारा प्रश्न किए जाने पर उन्होंने कहा था: "जो मैं आज तक नहीं समझ सका, वह तुम्हें कैसे समझाऊँ मनुष्य ने ज्ञान, नीति, दया और परोपकार से युक्त उच्चतम कार्य कर, अन्य प्राणियों के समान सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसके दूसरी ओर की स्थिति क्या होगी, यह अपने-आप दिख जाएगा।" इस उत्तर से उनके अज्ञेयवादी होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। देह के समस्त अवयव एकत्र होने पर जो शक्ति उत्पन्न होती है, वही है– आत्मा। उस व्यक्ति के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। बौद्ध-धर्म में आत्मा को नहीं माना गया है, जब कि पुनर्जन्म को माना है। मनुष्य द्वारा किए गए अच्छे कार्य कभी नष्ट नहीं होते। उसते अच्छे-बुरे कार्यों का परिणाम बाद में उसको भुगतना होता है। मनुष्य को इन परिणामों को भोगने की इच्छा मृत्यु के समय रहती है और ये कर्म उसे दूसरा जन्म लिखते हैं। अर्थात् वे कर्म जन्म लेते फिरते है। आत्मा अविनाशी है और वह पूर्वार्जित कर्मानुरूप

जन्म लेती है, ऐसा मत नहीं था। अत्र कर्म जहाँ स्वयं जन्म लेता हो, तब वह कर्म, अर्थात् नित्य जीवन-तत्व उनके आत्मा नहीं है क्या? उनका यह मत इससे बड़ा ही चमत्कारिक प्रतीत होता है। यह हृदय में उतारना कठिन ज्ञात होता है, किंबहुना ठीक से जमता ही नहीं। अन्त में इस सम्बन्ध में अधिक शोध से घबरा कर बौद्ध-धर्म आत्मा को स्वीकार कर लेता है, साधारण तौर पर ऐसा ही मान कर मैं चलता हूँ।

तत्पश्चात् अन्त में इस आत्मा का क्या होगा? फिर निर्वाण प्राप्त होना चाहिए। निर्वाण यानी क्या? सुख, चैन आदि अन्य बातों को प्राप्त करने की जो मानवेच्छा होती है, उसके लिए वह निरन्तर प्रयन्नशील रहता है। इसे ही तृष्णा कहा जाता है। एक जन्म में उसकी तृप्ति न होने पर दूसरा जन्म धारण करना होता है, परन्तु ज्ञान द्वारा यानी योग्य धारणा द्वारा तृष्णा नहीं के समान हो जाती है और जन्म लेने की इच्छा का उन्मूलन हो कर मनुष्य मुक्त हो जाता है। जब तृष्णा नहीं, तो जन्म नहीं। इसी स्थिति को निर्वाण कहा जाता है। वैदिक-धर्म में इसे "जीवन-मुक्ति" कहते हैं। बौद्ध-धर्म के अनुयायी शीघ्र छुटकारा पाने की दृष्टि से प्राणोत्सर्ग उचित नहीं मानते, लेकिन जैन-धर्म को मानने वाले लोग यदि ज्ञान प्राप्त हो कर जीवन-मुक्ति मिलती हो तो मरण प्राप्त करना अनुचित नहीं समझते। उसी प्रकार वेदान्ती लोग आदि भी मोक्ष प्राप्ति के लिए प्राणों का उत्सर्ग उचित मानते हैं। ऐसे आत्मघात प्रायः जल-समाधि, ध्यानस्थ बैठ कर, प्रायोपवेशन, दहन आदि साधनों द्वारा किया जाता है।

बौद्ध-मत वास्तव में हिन्दू-धर्म का ही एक अंग है परन्तु वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते हैं तथा उधर जब से पाश्चात्य शोधकों द्वारा उसे "बौद्ध-धर्म" अलग से नाम दे दिया गया है, इसलिए उसे हिन्दू-धर्म से एक भिन्न धर्म माना जाने लगा। जैन-मत की भी कुछ ऐसी ही दशा है, परन्तु उसका हिन्दू-धर्म की ओर ही अधिक झुकाव है। यद्यपि जैनी वेद को प्रमाण नहीं मानते, फिर भी वे बौद्धों के समान ब्राह्मणों से दूर-दूर रहने की अपेक्षा मिल कर रहते आए हैं। वे परमेश्वर को नहीं मानते, तब भी सत्-पुरुषों की भक्ति और पूजा अर्चना करते हैं और हिन्दुओं के इन्द्रादि देवताओं को मानते हैं। इन कारणों से जैन-मत, हिन्दू-मत का ही एक अंग कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होनी।

सांख्य, न्याय तथा वैशेषिक नामक तीनों दर्शन नास्तिक कहे जाते हैं, परन्तु इन मतों में भी आत्मा और पुनर्जन्म को माना गया है। हमारे समस्त-मत कर्म वादी हैं। इसलिए कृत कर्मों के अनुसार जीव को फल भोगने पड़ेंगे और उसी अनुसार जन्म लेना पड़ेगा, यह समस्त पन्थ मानते हैं। अपने ज्ञान-योग द्वारा तृष्णा और उपभोग की इच्छा का दमन करने से आत्मा पुनर्जन्म के चक्कर से बच जाती है और इसे ही मोक्ष कहा जाता है। इस मत के अनुसार ईश्वर संसार को व्यवस्थित कर के चुप बैठ गया है और उस एक बार बनाई गई व्यवस्था के अनुसार सब कार्य अपने-आप होते रहते हैं। उसी प्रकार जीवात्मा किंवा पुरुष इस देह में केवल स्वस्थ बैठ कर सुख देखने वाला है। प्रकृति नामक जो तत्त्व माना गया है, वही समस्त कार्य करता है। देह स्थित यह जो पुरुष है, वही आत्मा है। यह मत व्यवहारिक प्रतीत नहीं होता, यानी इस मतानुसार कोई आचरण नहीं करता। यह मत तो केवल ग्रन्थगत और वाद-विवाद के लिए ही है। विभिन्न वेदान्तों के प्रकार और भक्ति मार्ग, ये वास्तविक रूप से हमारे प्रचलित-धर्म हैं। अतएव उसमें आत्मा के सम्बन्ध में क्या धारणा है, यह समझना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हो जाता है।

शंकर, रामानुज, माधवाचार्य और वल्लभ हमारे वेदान्ती-मत के प्रवर्तक थे। इसके पश्चात् यह चार भागों में बँट गया। ये चारों विभिन्न पन्थ भी आत्मा और पुनर्जन्म को मानते हैं। आत्मा आदि है और पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार ही दूसरे जन्म में विभिन्न प्राणियों की देह धारण करती रहती है। बीच-बीच में स्वर्ग भी प्राप्त हो जाता है, यदि उसके लिए आवश्यक पुण्य गाँठ में हो। पुण्य समाप्त हुआ कि पुनः जन्म लेना पड़ता है। आत्मा मनुष्य में ही होती है, यह बात नहीं। वह प्राणी-मात्र में विद्यमान है, किंबहुना वृक्षादि अचेतन पदार्थों मैं भी होती है। उच्च प्रकार का जन्म मिल जाना अच्छी स्थिति का द्योतक है। मोक्ष सम्बन्धी विचार में मत भेद होने से ये चार पन्थों में विभक्त हो गए हैं। इनमें से प्रथम दो को "अद्वैत" कहा जाता है। इनका मत है कि आत्मा अर्थात् जीव परमात्मा में लीन हो जाता यानी परमात्मा है, और

आत्मा एक ही है। शेष दो मत के अनुसार ये मूलतः अलग-अलग हैं। जीव जहाँ ईश्वर-स्वरूप है, वहाँ वह ईश्वरमय न होकर उसको सेवक मात्र है। मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा ईश्वर के समीप चली जाती है। दोनों कभी एकाकार नहीं होते। इस कारण इन दोनों मतों को 'द्वैत' कहा जाता है।

इस द्वैत मत से ही भक्ति मार्ग निकला है। आत्मा को परमात्मा की सेविका होने के नाते उनकी सेवा अर्थात् भक्ति करना चाहिए। यह भक्ति देव के विभिन्न स्वरूप मानकर, जैसे विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, आदि भिन्न-भिन्न आराध्य देव व उनके अवतार मानकर की जाती है। भक्ति करते हुए तथा सम्मार्ग पर अग्रसर होते हुए, ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् आत्मा को मोक्ष मिलता ही है। अब भी इस मत को सत्य माने या नहीं परन्तु हमारे यहाँ के समस्त मतों में आत्मा की निश्चित एवं व्यवस्थित स्थिति मानी गई है। असंख्य विभिन्न आत्माएँ अनादि काल से इस पृथ्वी पर जन्म लेती रही है और अपने कर्मानुसार अनन्त काल तक इसी प्रकार जन्म लेती रहेगी। मध्यान्तर में जिन्हें अपनी भक्ति और सुकर्मों द्वारा ज्ञान प्राप्ति होगी, वे मोक्ष प्राप्त कर जन्म मरण से छुटकारा पा सकेंगे।

हमारे यहाँ मृतात्मा के लिए श्राद्ध किए जाने की परिपाटी है और किसी तीर्थ-स्थान पर पिंडदान आदि क्रिया कर्म किए जाते हैं। इनका आत्मा विषयक विचारों से क्या सम्बन्ध है, अब हम यह देखेंगे। श्राद्ध सम्बन्धी धारणा पुनर्जन्म सम्बन्धी धारणा के पूर्व से विद्यमान है। आत्मा एक देह को छोड़ते ही दूसरी देह में तत्काल प्रवेश कर जाती है। तब इस प्रकार के मत में श्राद्धादि के द्वारा कुछ अर्पण करने सम्बन्धी विचार में कोई गहराई नहीं प्रतीत होती है। तथापि हम पुनर्जन्म मानते हुए उसे जब नहीं मानते थे, तब से आज तक श्राद्धादि बड़ी भावुकता से करते हैं। हम लोगों में कितना ही और कैसा भी नवीन विचारों के आ जाने पर भी मृत पिता, पत्नी अथवा पुत्र की आत्मा की शान्ति के लिए अंत्य कर्म अथवा श्राद्ध करना आवश्यक माना जाता है। इसके मूल में यही पवित्र भाव होते हैं कि अपने अमुक की मृतात्मा स्वर्ग में है और उसे आत्मीयता के कारण कुछ-न-कुछ अर्पण करना ही चाहिए। यह भी धारणा है कि मृतात्मा प्रेम वश संसार में अपने रिश्तेदारों से मिलने आती है। यदि बिलकुल आधुनिक विचारों का व्यक्ति इन बातों में विश्वास न भी करे, तब भी घर के अन्य लोगों के लिए ऐसा करता है। ऐसे लोग कहा करते हैं कि, 'इसमें क्या हर्कत है ? उलटे उनके नाम पर पक्वान्न खाने को ही मिलते हैं।' किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् तेरह दिन तक जो कृत्य करने पड़ते हैं, वे भी केवल भावुकता एवं प्रेमवश किए जाते हैं। अन्त्य कर्म एवं श्राद्धादि की परिपाटी हिन्दुओं एवं पारसियों में ही है। अन्य धर्मावलम्बी मृत व्यक्ति का वार्षिक स्मरण ही करते हैं, परन्तु हमारे जैसी धार्मिक विधियाँ नहीं है। हिन्दू मृत व्यक्ति का वार्षिक श्राद्ध करते हैं। इस बहाने वर्ष में एक बार समस्त पितृ आते हैं। प्राचीन वेद मत के अनुसार पितृ-लोक अलग ही माना गया है। मृत व्यक्तियों की आत्माएं वहीं निवास करती है। उसके पश्चात् पुनर्जन्म की कल्पना निश्चित हो जाने के बाद भी पितृ-लोक पर दृढ़ विश्वास में कोई कमी नहीं आई। चीनी लोगों में पितृ भक्ति को बड़ा महत्व प्राप्त है। परन्तु वे उनके नाम और कार्यों का स्मरण कर भक्ति करते हैं, हम जैसा श्राद्धादि करके नहीं। पारसी लोग और हिन्दू लोगों की यह भक्ति मृत-पितरों की आत्मा की भक्ति होती है। पारसी लोगों में भी हमारे समान ही वार्षिक पितृ-पक्ष होता है और वह हमारे पितृ पक्ष के लगभग साथ ही आता है। उनकी और हमारी धारणाओं में थोड़ा ही अन्तर है। हम श्राद्ध के द्वार से पितृ लोक स्थित मृतात्मा को यहीं से पिण्ड दान करते हैं। पारसियों की मान्यता है कि वार्षिक पितृ पक्ष में मृतात्मा इस पृथ्वी पर स्थित अपने वंशजों के प्रति अपत्य प्रेम के कारण भेंट देने आते हैं। हम लोगों में भी 'आज हमारे यहाँ पितृ आने वाले हैं' कहने की प्रथा है। इस पर से हमारी धारणाएँ मूल रूप से समान प्रतीत होती है ?

आरम्भ से ही यह विश्वास रहा है कि परमेश्वर के समान आत्मा भी निराकार है। परन्तु अपनी सुविधा के लिए मनुष्य परमेश्वर को साकार मानता है। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है। ग्रीक, ईसाई आदि आत्मा का स्वरूप कैसा मानते हैं, यह पहले ही बताया जा चुका है। हमारे यहाँ आत्मा का स्वरूप श्वास यानी वायु जैसा बताया गया है।

१९५७

शरीर में आत्मा रहती कहाँ है, उसकी आकृति कैसी है और उसकी स्थिति क्या है, इन बातों का स्पष्टीकरण किसी भी धर्म या लोगों से नहीं मिलता। अपने उपनिषदों में यत्र-तत्र इस विषयक उल्लेख-मात्र आया है। किन्तु उनमें एकरूपता नहीं है। उपनिषद् में आत्मा का वास-स्थान हृदय माना है। पुरातन ग्रीक तत्त्व ज्ञानियों का भी यही मत रहा है। हृदय से आत्मा के मस्तिष्क तक पहुँचने का मार्ग भी उपनिषदों में बताया गया है। आत्मा अपनी इच्छानुसार यदा-कदा मस्तिष्क में उस मार्ग द्वारा जाती आती भी रहती है। अत्यन्त प्राचीन धारणा के अनुसार तो वह सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहती है। हमारे यहाँ के प्रचलित मतों के अनुसार आत्मा न केवल प्राणियों की मानी गई है, बल्कि जड़ वस्तुओं, जैसे वृक्ष, पहाड़ आदि की भी मानी गई है। जैन-धर्म की धारणा है कि आत्मा सर्व-व्यापी है। दूसरी धारणा है कि आत्मा 'अंगुष्ठ' रूप में है। तीसरा मत है कि वह प्रादेश-मात्र है, यानी प्रादेश का अर्थ है, साधारण-सा फैला हुआ एक निश्चित भाग। चौथी धारणा के अनुसार वह बाजरे के कण के बराबर है। पाँचवाँ मत यह है कि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वगत अक्षय और केवल ज्ञानी और महान् व्यक्तियों को ही दिखाई दे सकती है। छठी धारणा के अनुसार वह अणु से छोटी और बड़ी से बड़ी है। ऐसी ही एक और धारणा है कि यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भी है। यह सम्पूर्ण पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग से भी बड़ी है। आत्मा की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं। प्रथम जागृतावस्था है, जिसके अनुसार वह भूत, भविष्य और वर्तमान सब की जानकारी रखती है। दूसरी है, स्वप्नावस्था, तीसरी निद्रावस्था और चौथी आत्म-स्थिति।

इस प्रकार विभिन्न लोगों, धर्मों और जातियों की आत्मा-सम्बन्धी विविध धारणाएँ इस लेख में बतलाई गई हैं। इनमें से अमुक धारणा अच्छी है और अमुक बुरी अथवा अमुक सत्य है और अमुक असत्य, इन पर यहाँ किसी प्रकार का विचार नहीं किया गया है। इस लेख का उद्देश्य तो पाठकों को विभिन्न धारणाओं की सूक्ष्म जानकारी देना मात्र है।

कार्यालय शिक्षा-विभाग,
मण्डल शिवपुरी (म० प्र०)

—पुरुषोत्तम जोशी

कला की सामग्री

मैं अपनी कला के लिए ऐसी सामग्री का उपयोग करता हूँ जो कि टूट-फूट गई है; जिसे कि जंग लग चुका है और जो कि सर्वथा बेकार हो चुकी है।

और मैं

इस टूटी-फूटी, जंग-लगी और बेकार वस्तु को कला के ऐसे सुन्दर रूप में परिणत कर देता हूँ कि जो देखता है आश्चर्य-चकित हो कर रह जाता है।

—एक मूर्तिकार

उपनिषद् और उनके विदेशी व्याख्याकार

भारतीय विचार-परम्परा में उपनिषद् ग्रन्थ एक नए। युग के प्रवर्तक हैं। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्. तीनों मन्त्र-संहिताओं के व्याख्या-भाग हैं। मन्त्र-संहिताओं की व्याख्या का एक ही आधार लेकर चलने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषद्-ग्रन्थ एक-दूसरे से पूरब पश्चिम जितनी असमानता रखते हैं। इस दृष्टि से उपनिषद्, ब्राह्मण-साहित्य के आलोचना ग्रन्थ है।

उपनिषद्, वैदिक भावना के ही विकास चिह्न हैं। कर्म और ज्ञान, दोनों की उद्भावना वेदों में वर्णित है। इस वेदोक्त कर्म-भावना को लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई और ज्ञान भावना को लेकर उपनिषद् रचे गए। कर्म-प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों का विधान जब पशु-हिंसा जैसे स्थूल-कार्यों तक पहुँच गया, तब उस समय के विचारवन्त मनीषियों ने पुरोहितों द्वारा प्रतिपादित एवं समर्पित इन भोगवादी नितान्त स्वार्थपूर्ण कृत्यों के प्रति अविश्वास की भावनाएँ प्रकट कीं। कर्मकाण्ड के जिस हेय पक्ष के विरोध में ज्ञानकाण्ड के उद्भावक ऋषियों ने आवाज़ उठाई, उसी के प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् कहलाए। उपनिषद् ज्ञान के आविर्भाव के कारण भारतीय साहित्य में महान् युगान्तर उपस्थित हुआ। इस युग में ओ नए अन्वेषण, नई मान्यताएँ और नए चिन्तन हुए, वैसा संसार के इतिहास में आज तक कहीं नहीं दिखाई देता है।

वैदिक युग आनन्द और उल्लास का युग रहा है। इसलिए आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की चिन्तनाएँ न तो वेदों में वर्णित हैं और उन पर विचार करने की अपेक्षा वैदिक ऋषियों ने समझी। आत्मा और शरीर की पार्थकता का विचार वेदों में अवश्य है; किन्तु आत्मा और शरीर के सूक्ष्म सम्बन्धों का विश्लेषण उनमें नहीं है। यह प्रश्न उपनिषद्-ग्रन्थों के आविर्भाव के साथ उठाया गया और इस पर पूर्ण रूप से विचार भी उन्हीं में किया गया।

धर्म की जिस व्यापक भावना को लेकर मन्त्र संहिताएँ आगे बढ़ीं, ब्राह्मण-ग्रन्थों ने उनको एकांगी, संकुचित और सर्वथा व्यक्तिगत रूप दे दिया, जिसका पूर्णतया विरोध उपनिषद्-ग्रन्थों ने किया। कर्मकाण्ड प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों ने धर्म के जिस स्थूल-पक्ष का प्रतिपादन किया, उसके सर्वथा विपरीत, ज्ञान-प्रधान उपनिषद्-ग्रन्थों ने धर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप को सामने रखा। धर्म-मीमांसा के सम्बन्ध में दोनों युगों का अलग-अलग दृष्टिकोण रहा है। दोनों युगों की धर्मालोचन प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन और उसके सुदूरभावी प्रभाव के आधार पर यदि कहा जाए कि ब्राह्मण-काल वैदिक धर्म की अवनति का समय और उपनिषद्-काल वैदिक धर्म की चरमोन्नति का समय रहा है, तो अनुचित न होगा।

उपनिषद्-युग विचार-संघर्ष का क्रान्तिमय युग रहा है। वेदों के उन्मुक्त एवं भावना प्रधान ऋषियों को उपनिषद्-युग में सहसा हम गम्भीर चिन्तन एवं एकाग्र मनन में डूबे हुए पाते हैं। भारत की तत्कालीन बौद्धिक क्रान्ति के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि उतने प्राचीन काल में, ऐसा प्रचण्ड चिन्तन! सोच कर हृदय निस्तब्ध रह जाता है। इस प्रचण्ड-चिन्तन की अनेक विधियों का विकास आगे चल कर षड्-दर्शनों में दिखाई देता है। उपनिषद्-ग्रन्थों के सूत्रों को ही लेकर दर्शनों की रचना हुई। शंकर, मध्व और रामानुज का अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत, उपनिषद्-ज्ञान के ही विकास-पक्ष है, जिन्होंने कि दर्शनों की परम्परा का अनुवर्तन किया।

'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति : 'उपनिषद्', वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग होने के कारण 'वेदान्त' के नाम से भी विख्यात है। उपनिषद्-ग्रन्थों में आत्म-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान और मोक्षज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या. ब्रह्मविद्या तथा मोक्षविद्या भी कहा जाता है। वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थान है—उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र। उपनिषद् श्रवणात्मक, गीता निदिध्यासनात्मक और ब्रह्मसूत्र मननात्मक हैं।

व्याकरण की दृष्टि से उप+नि, इन दो उपसर्गों के पाथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड़ देने के बाद 'उनिषद्' शब्द व्युत्पन्न होता है। 'सद्' धातु अनेकार्थक है : विशरण (विनाश), अवसान (शिथिल,

१८५७

समाप्ति) और गति (ज्ञान-प्राप्ति)। 'सद्' धातु के इन सभी अर्थों की संगति यदि 'उपनिषद्' शब्द से बैठाई जाए तो उसका अर्थ हुआ, जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने भूले सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है, जिससे संसार के कारणभूत अविद्या के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं और जिस विद्या के द्वारा ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि होती है, वह उपनिषद्-विद्या है।[1]

अथवा उप (व्यवधान रहित) नि (संपूर्ण) सद् (ज्ञान) के प्रतिपादक ही उपनिषद् हैं; अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान, जो ज्ञेय से अभिन्न, देश, काल वस्तु के परिच्छेद से रहित परिपूर्ण ब्रह्म ही 'उपनिषद्' शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है। क्योंकि, ज्ञान स्वतः प्रमाण, स्वयं प्रकाश, देशकालावधि परिच्छिन्न रहित, विषय परिच्छेद रहित, कर्तृत्व-ज्ञेयत्व भेदातीत हेतु फलात्मक शून्य अबाध्य, अनिवार्य है; अतएव ऐसे ज्ञान के प्रतिपादक उपनिषद् भी तद्विशिष्ट हैं।

आप्टे साहब ने अपने 'संस्कृत-अंग्रेज़ी कोष' में उपनिषद् शब्द की व्युत्पति करते हुए उसका अर्थ बताया है: उपनिषद शब्द स्त्रीलिंग है। इसकी व्युत्पत्ति उप+नि+पूर्वक सद् (बैठना) धातु से हुई है। इसका अर्थ है—वह ज्ञान जो गुरु के चरणों के पास बैठ कर प्राप्त किया जाता है। किन्तु प्रामाणिक भारतीय विद्वानों के अनुसार इस शब्द का अर्थ ब्रह्मज्ञान के उपदेश के द्वारा अविद्या का नाश कर सांसारिक जीवन-रूपी बन्धन का उच्छेद करना है। शंकराचार्य के अनुसार आत्म-विस्मृतिपूर्वक श्रद्धा और भक्ति के साथ जो लोग ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, उनके गर्भवास, जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोग आदि अनर्थों को जो नाश करती है तथा ज्ञेय ब्रह्म को प्राप्त करती हुई उनकी अविद्या आदि को जो संसार के कारण है, समूल नष्ट करती है वह, उप-नि-षद् पूर्वक धातु का ऐसा अर्थ स्मरण होने से उपनिषद् है[2]

प्रमुख उपनिषद्: उपनिषद् कितने हैं, इसकी परिगणना ठीक नहीं हो सकी है। अनेक स्थानों में गुटकाकार-रूप में कई उपनिषद्-ग्रन्थ तो प्रकाशित भी हो चुके हैं। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से प्रकाशित 'उपनिद् वाक्य-महाकोश' में २२३ उपनिषद्-ग्रन्थों की नामावली है। 'उपनिषत्स्तुति' और 'देव्युपनिषद्' को छोड़ कर बाकी २२१ ग्रन्थों के वाक्यांशों को उक्त महाकोश में उद्धृत किया गया है।[3]

प्रधान उपनिषद् बारह हैं, जिनके नाम हैं: ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्य, कौषींतकी और श्वेताश्वतर। इन सभी पर आचार्य शंकर का प्रामाणिक भाष्य और शंकर मतानुयायी विद्वानों की पाण्डित्यपूर्ण टीकाएँ हैं। शंकराचार्य के अतिरिक्त रामानुज, निंबार्क, वल्लभ और मध्व आदि जितने भी सम्प्रदाय प्रवर्तक शीर्षस्थ आचार्य हुए हैं, उन सभी ने तथा उनके सम्प्रदाय अनुवर्ती विद्वानों ने उक्त द्वादश उपनिषद्-ग्रन्थों पर भाष्य और टीकाएँ लिखीं।

उपनिषद्-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय: विषय की दृष्टि से वेदों के प्रमुख तीन भाग हैं: कर्म, उपासना, और ज्ञान। कर्म विषय का प्रतिपादन संहिता एवं ब्राह्मण भाग में, उपासना विषय का प्रतिपादन, संहिता तथा आरण्य-भाग में और तीसरे ज्ञान-भाग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ उपनिषद् हैं।

वेदान्तियों के मतानुसार विद्याएँ दो प्रकार की हैं—परा और अपरा। परा विद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या ही ब्रह्मविद्या है, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् हैं। अपरा-विद्या, कर्म प्रधान-विद्या, अतएव कर्मविद्या है। अपरा-विद्या मुक्ति का कारण नहीं हो सकती है; फिर भी उसके द्वारा परा-विद्या के मोक्ष-फल की उपलब्धि हो सकती है, क्योंकि वह हेतु है।

प्रकृति, पुरुष और परमात्मतत्व का विवेक ही

---

[1] उपनिषदिति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति-इति उपनिषद्।

[2] [Said to be from 'उप-नि-सद्' 'knowledge deriver from sitting at the feet of Preceptor, but according to the Indian authorties, it means to destory ignorance by revealing the knowledge of the Supreme spiritual cutting off the hands of wordly existance'; य इमां ब्रह्म वेद्यामुपन्त्यात्मभावेन श्रद्धा भक्ति पुरः सरः सन्तस्तेषां गर्भजन्य जरारोगावर्धनवर्ग विनाशयति परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्यादि संसार कारणं चात्यंतभव सादयति विनाशयति इत्युपनिषद् उपनि पूर्वस्य सरेदेवमर्थं संस्मरणात् —Sankara]।

[3] कल्याण—उपनिषद् अंक, पृ० १५२-१५३।

उपनिषद् विद्या का प्रतिपाद्य विषय है। मूल तत्व प्रकृति से ही जगत् का अस्तित्व है। वही प्रकृति माया के नामान्तर से भी ख्यात है। आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन कहा गया है। इस प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने पर ही सम्पूर्ण पाप विनष्ट होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी हेतु धर्म-सूत्रों ने पाप-मुक्ति के लिए उपनिषद् विद्या के अध्ययन पर बल दिया है।[1]

अध्यात्म विद्या या ब्रह्मविद्या का नाम ही उपनिषद् है। वह वेद का ज्ञानकाण्ड होने से चिर-प्रदीप्त और ज्ञान-दीपक है।[2] उपनिषद्-ज्ञान की अति व्यापक विचारधारा के अनुसार संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जीव भी ब्रह्मस्वरूप है।[3] जन्म दुःखमूलक है। उससे छुटकारा दिलाने वाली, परम पुरुषार्थ को प्रकाशित करने वाली और परमार्थ का स्वरूप समझाने वाली एकमात्र परम उपकारिणी उपनिषद्-विद्या है।[4] तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए वह परमार्थ है और क्लेशयुक्त जीवों के लिए परम उपकारी है।[5]

सुख दुःख, लाभ अलाभ, जय पराजय की बिना चिन्ता किए निरन्तर कर्मरत रहने के लिए 'गीता' में जिस परम पुरुषार्थ का निर्देश किया गया है,[6] उपनिषद् भी ठीक उसी निष्काम-कर्म का प्रतिपादन करके 'कर्तव्य-शास्त्र को भी अपने अन्दर समाहित कर लेते हैं।[7] उपनिषद्-ग्रन्थों में हमें अद्भुत व्यावहारिक ज्ञान के दर्शन होते हैं। उसमें सत्य बोलने के लिए बड़ी कठोर आज्ञाएँ और प्रतिज्ञाएँ हैं, जो झूठ बोलता है, वह समूल विनष्ट हो जाता है।[8]

उपनिषद्-ग्रन्थों का रचना-काल : उपनिषद्-ग्रन्थ वैदिक साहित्य की सीमा के अन्तिम परिचायक हैं; किन्तु उनमें जो विचार संकलित हैं, वे अपने निर्माण युग से भी बहुत प्राचीन हैं। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने उपनिषद्-ग्रन्थों के प्रति, उनका ठीक सार समझे बिना ही, जो ग़लत धारणाएँ व्यक्त की हैं, वे उपनिषद्-ग्रन्थों के महान् ज्ञान पर घटित नहीं होती हैं।

उपनिषद्-ग्रन्थों का विषय एक ही है; किन्तु उनकी रचना का क्रम एक नहीं है। लगभग वैदिक काल से ही लेकर उनका अस्तित्व है। मन्त्र-संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यक ग्रन्थों के साथ उनकी बहुत घनिष्टता है। इसके अतिरिक्त कुछ उपनिषद्-ग्रन्थों पर बहुत बाद की परिस्थितियों का, लगभग १४ वीं १५ वीं शताब्दी का प्रभाव है। इसलिए निश्चित ही उनकी रचना बहुत बाद में हुई।

लुद्विग महोदय उपनिषद्-ज्ञान की प्राचीनता आज से लगभग ३००० वर्ष प्राचीन ठहराते हैं और उनका कहना है कि संसार के दर्शन में अद्वैत-भावना की प्रतिष्ठा उपनिषद्-ज्ञान से ही उधार ली गई है।[9]

'मैत्र्युपनिषद्' में उद्धृत दाक्षिणात्य और उत्तरापथ की गणना[10] के आधार पर लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष के आधार पर उक्त उपनिषद् का रचना-काल १८८०-१६८० ई० पूर्व के बीच माना है।[11] इस उपनिषद् में छान्दोग्य, वृहदारण्यक, तैत्तिरीय कठ और ईशावास्य प्रभृति ग्रन्थों के वाक्य एवं श्लोक प्रमाणार्थ उद्धृत हैं, जिनसे उनकी 'मैत्र्युपनिषद्' से पूर्व रचे जाने की बात सिद्ध होती है। निष्कर्ष यह है कि उपनिषद्-ग्रन्थों की रचना लगभग २००० वर्ष ई० पूर्व से होने लग गई थी।

उपनिषद्-ज्ञान की विश्रुति : मध्यकालीन इतिहास में शाहंशाह अकबर का नाम बड़े आदर से स्मरण किया जाता है। महापुरुषों की प्रायः सभी विशेषताएँ अकबर के व्यक्तित्व में समाविष्ट थीं। वह एक निपुण राजनीतिज्ञ, असामान्य विद्या-प्रेमी और बड़ा धर्मनिरपेक्ष शासक था। अकबर का शासनकाल १५५६-१५८५ ई. के लगभग है। हिन्दुओं के ज्ञान-ग्रन्थों को अकबर ने सदा ही बड़े आदर से देखा और उनका श्रवण बड़े ध्यान से किया। अपने इसी विद्या-प्रेम के कारण अकबर ने रामायण, महाभारत, योगवाशिष्ठ और गीता आदि

---

१. गौतम १६।१२; बौधायन ३।१०।१०; वशिष्ठ २२।१०; २८।१४; विष्णु ५६।२२। २. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६।१ ३. छान्दोग्य उप० ३।१४।१। ४. छान्दोग्य उप० ६।१२।१। ५. श्वेताश्वतर १।११। ६. गीता. २।३८। ७. काव्योपनिषद् १।२ १०; २।३।१८। ८. समूलो वा एव परितुष्यति योऽनृतं वदति प्रश्न ६।१। ९. Ludwig Suppliment of the xleue Freie Presse, July 10, 1904। १०. मैत्र्युपनिषद् ६।१४। ११. तिलक गीता-रहस्य, पृ० ५५२।

कृत के प्रमुख ग्रन्थों का फ़ारसी में तर्जुमा कराया। उपनिषद्-ग्रन्थ भी इस युग में अनूदित हुए। अकबर के पौत्र दाराशिकोह में अपने पितामह जिज्ञासु प्रवृत्ति पुनरुजीवित हुई; और जो कुछ करने से रह गया था, दाराशिकोह ने उसको किया। हिन्दू-मुस्लिम धर्म-समन्वय के लिए दाराशिकोह ने एक 'मजमा-उल बहरैनी' नामक ग्रन्थ का न किया![1] दाराशिकोह का सबसे बड़ा कार्य है, उपनिषद्-ग्रन्थों का फ़ारसी-भाषान्तर। दारा के जीवन और उसके महानतम कार्यों में यह कार्य ऐसा था, जिसके उसका व्यक्तित्व भारतीय साहित्य के साथ एक होकर अमर है।

सन् १६४० ई. में काश्मीर में रह कर दारा ने , काश्मीर जैसी तत्कालीन विद्याप्रसविनी महा रियों से ऐसे सैकड़ों वेदान्तियों और सूफ़ी-सन्तों को दर आमंत्रित किया, जो उभय भाषा (संस्कृत और रसी) विद् थे। लाखों की सम्पत्ति व्यय करके दाराशिकोह ने रमज़ान हिज़री १०७७ (१६५६ ई.) में भाषान्तर का कार्य समाप्त कर भारतीय-साहित्य में ना नाम अमर कर दिया। दारा ने उस महाग्रन्थ को सम्पादित किया और उसका नाम रखा 'सिर्रे अकबर' अर्थात् महा रहस्य। इस महाग्रन्थ में ५० उपनिषद् अनूदित करके संकलित किए गए। इस महान् कार्य के लगभग तीन वर्ष बाद १६५९ ई. में इस विद्या-प्रेमी ल-शासक का औरंगज़ेब द्वारा प्राणान्त हुआ।

दाराशिकोह द्वारा सम्पादित इस महाग्रन्थ 'सिर्रे अकबर' का प्रभाव इतना बढ़ा कि संसार के प्रायः सभी देशों में उसको देख लेने की तीव्र लालसा विद्वत्समाज में उदित हुई। अपने रचनाकाल के ६४ वें वर्ष १७२० ई. में इसका एक अनुवाद 'उपनिषद्-भाष्य' के नाम से हिन्दी में हुआ।[2]

धार्मिक एकता के नाते उपनिषद् ज्ञान का प्रचार हिन्दू मुसलमानों के लिए एक वरदान स्वरूप सिद्ध हुआ। दाराशिकोह ने स्वयमेव हिन्दू-ज्ञान की श्रेष्ठता ऊँची आवाज़ में बुलन्द किया। उसने उपनिषद् या की महानता और उदारता के सम्मुख संसार के ऊँचे-से-ऊँचे धर्मों के ज्ञान को और विशेषतः मुस्लिम धर्म को एक चुनौती दी। उसने उपनिषद्-ज्ञान के कर्ता हिन्दुओं के पूर्वजों को बड़ी श्रद्धा से याद किया और यह सिद्ध किया कि धार्मिक एकता के लिए उपनिषद् ग्रन्थों के महान् विचार ही मानवता का कल्याण कर सकते हैं। दाराशिकोह के इस प्रचार से मुसलमान फ़कीर अधिक प्रभावित हुए। सूफ़ी-मत की अद्वैत-भावना का मूल उपनिषद्-विद्या का ही अद्वैत था, यद्यपि सूफ़ी परम्पराओं के अनुसार उसमें कुछ दूसरे तत्व भी शामिल किए गए।

उपनिषद्-ज्ञान का विदेशों में प्रचार : लगभग १७७५ ई० तक सारे पाश्चात्य विद्वान् उपनिषद्-ग्रन्थों के तत्वज्ञान से प्रायः अपरिचित एवं अछूते ही रहे। इसी समय अयोध्या के नवाब शुजाउद्दौला के फ्रांसीसी रेजिडेण्ट एम. गेंटिल (M. Gentil) ने १७७५ ई. में सुप्रसिद्ध पर्यटक एंक्वेंटिल डुपरिन (Anquetil Duperron) के लिए दाराशिकोह द्वारा सम्पादित फ़ारसी अनुवाद की एक प्रति अवलोकनार्थ भेजी। डुपरिन ने उसी अनुवाद की एक दूसरी फ़ारसी प्रति कहीं से उपलब्ध कर उन दोनों प्रतियों के आधार पर फ्रेंच और लेटिन, दो अनुवाद और तैयार किए। १८०१–२ के बीच लेटिन-अनुवाद तो 'औपनेखत' (Oupnekhat) नाम से ट्रांसबर्ग, पेरिस से प्रकाशित हो गया; किन्तु दूसरा फ्रेंच-अनुवाद नहीं छप सका। इस लेटिन भाषान्तर के आधार पर दाराशिकोह के संपादित महाग्रन्थ का कई भाषाओं में अनुवाद होता गया।

दाराशिकोह द्वारा संपादित महाग्रन्थ यूरोप पहुँच जाने के पश्चात्, उसको देख कर, विद्वानों की जिज्ञासा मूल उपनिषद्-ग्रन्थों को देखने के लिए प्रबल हो उठी। फलतः संस्कृत का अध्ययन और उसके साहित्य में समाविष्ट महान् ज्ञान का रहस्य दुनिया के सम्मुख प्रकट होने लगा। इस प्रकार समग्र वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए यूरोपीय पंडितों की जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

डुपरिन महोदय के उक्त लैटिन अनुवाद से इस

---

[1] एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल से १९२९ ई. में प्रकाशित।

[2] बा० श्यामसुन्दरदास—हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, भाग १, पृ० १५।

क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई। उसको जब पहले-पहल सुप्रसिद्ध प्राच्य इतिहासज्ञ विद्वान् विंटरनित्स ने देखा तो उन्होंने उसकी प्रशंसा में कहा कि यद्यपि यह लैटिन अनुवाद अनेक अर्थों में एकांगी, अपूर्ण और न्यूनताओं से भरपूर था; किन्तु उसी की कृपा थी कि शर्लिंग और शोपेनहार जैसे लोग भारतीय तत्वज्ञान के पारंगत विद्वान् कहलाने लगे।[1] आर्थर शोपेनहावर (Arther Sehopenhaur) ने उक्त लैटिन भाषान्तर का अध्ययन करने के बाद गद्-गद होकर कहा: उपनिषद्-ज्ञान विश्व की विचार-धारा के पथ-प्रदर्शन के लिए एक ज्योति है। जीवन में तो मुझे उपनिषद्-ग्रन्थों के अध्ययन से शान्ति मिली ही, वरन्, मृत्यु पर भी मुझे उनसे शान्ति मिलेगी।[2]

डुपेरिन का लैटिन अनुवाद १८०८ ई० में जर्मन-भाषा में अनूदित होकर नूनबर्ग से प्रकाशित हुआ, जिसके कारण प्राच्य-विद्या के जिज्ञासु कतिपय जर्मन विद्वान् उपनिषद् और वैदिक साहित्य के अनुसन्धानार्थ कृतप्रयत्न हुए। विदेशों में उपनिषद्-ज्ञान के प्रति विद्वानों की उत्सुकता और पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गए खोजपूर्ण लेखों को पढ़ कर राजा राममोहनराय ने भी कुछ उपनिषद्-ग्रन्थों का अंग्रेज़ी में अनुवाद करके, उन्हें मूल संस्कृत के साथ १८१६, १८१९ ई० के बीच प्रकाशित किया।

तदनन्तर ओथमर फ्रांक (Othmar Fronk) महोदय ने भी १८२०-१८३० ई० के बीच कुछ उपनिषद्-ग्रन्थों के संक्षिप्त संस्करण निकाले,[3] जिनको देख कर उपनिषद्-ज्ञान के प्रति विद्वानों की उत्सुकता और भी बढ़ती गई। श्री जे. डी. लंजुईनास का एतत्सम्बन्धी कार्य बड़े महत्व और परिश्रम का है। उन्होंने १८३२ ई० में दाराशिकोह के फ़ारसी-अनुवाद पर आधारित डुपेरिन के लैटिन अनुवाद को पूरा-का-पूरा फ्रेंच में उल्था कर प्रकाशित किया और उसका नाम रखा: 'भारतीयों की भाषा, वाङ्मय, धर्म तथा तत्वज्ञान सम्बन्धी अन्वेषण'।

प्राच्य-विद्या विशारद वेबर साहब के इस क्षेत्र में प्रवेश करने के बाद ही भारतीय उपनिषद्-ज्ञान का प्रचार विश्व-भर में फैल गया। वेबर साहब ने जर्मन भाषा में एक पुस्तक कई भागों में निकाली है, जिसका नाम है—'इंडिशे स्टडीएन'। इसका प्रथम भाग १८५० ई. में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। इस भाग में वेबर ने 'सिर्रे अकबर' के प्रथम चौदह उपनिषद्-ग्रन्थों को बड़ी शुद्धता के साथ सम्पादित कर प्रकाशित किया। इस सीरीज़ या पुस्तक का दूसरा भाग बर्लिन से ही १८५३ ई. में प्रकाशित हुआ। उसमें भी १५-३९ तक के उपनिषद् प्रकाशित किए और १८६५ ई. लिपज़िक से प्रकाशित 'इंडिशे स्टडीएन' के नवम भाग में 'सिर्रे अकबर' के ४०-५० तक के दस उपनिषद् प्रकाशित किए। वेबर साहब ने अपनी लम्बी भूमिका में लैटिन अनुवाद की अशुद्धियों पर भी प्रकाश डाला। तदनन्तर १८८२ ई. में एक जर्मन-भाषान्तर ड्रेसडेन से प्रकाशित हुआ, जिसका आधार, लेटिन भाषान्तर ही था।

महापंडित मैक्समूलर ने अपने प्राच्य विद्या-प्रेम के कारण एक ग्रन्थमाला का प्रकाशन किया, जिसमें वैदिक साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर शोधपूर्ण सामग्री प्रकाशित की गई। मैक्समूलर ने पूर्वोक्त १२ उपनिषद् ग्रन्थों का अंग्रेज़ी अनुवाद १८७९-१८८४ ई. के बीच बड़ी शुद्धता के साथ उक्त ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया।[4] मैक्समूलर की यह ग्रन्थमाला इतनी विश्व-विश्रुत हुई कि छपते ही उसकी प्रतियाँ एकदम खप गईं।

मैक्समूलर के बाद एक दूसरे विद्वान् पाल देवसन (Paul Devasen) ने लेटिन-भाषान्तर के संग्रह के साथ-साथ १० आथर्वण उपनिषद्-ग्रन्थों का एक जर्मन भाषान्तर १८९७ ई. में लिपज़िक से प्रकाशित किया, जिसमें ६४६ पृष्ठ थे और जिस पर एक विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका भी लिखी। श्री आर. ई. ह्यूम ने भी १८२१ ई. में आक्सफ़र्ड से १३ प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का एक

---

[1] Winternitz : A History of Indian Literature vol 1, PP. 265-267. [2] In the whole world, there is no study so elevating as that of the Upnishads. It has been the solace of my life, It will be the solace of my death. [3] क्रेस्टोमैथिआ संस्कृता (१८२०-१८२१ ई.'; Vyasa, uber Pholosophic, Mythologic, Literature and Sprache der Hindu (१८२६-१८३० ई.)। [4] सेक्रेड बुक्स आफ़ दि ईस्ट : भाग, १,१५

१८५७

शिक संस्करण निकाला।

भारत में सबसे पहिला अंग्रेज़ी अनुवाद राजा मोहन राय कृत है। बाद को १८५३ ई. में रोअर और राजा द्विजेन्द्रलाल मित्र ने शांकर-भाष्ययुक्त प्रमुख उपनिषद्, सानुवाद कलकत्ता से प्रकाशित किए, जिनका पुनः संस्करण तुकाराम तात्या ने बम्बई निकाला। इसी प्रकार श्री सीताराम शास्त्री और गंगानाथ झा ने भी आठ प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों अनुवाद कर उनको १८९८-१९०१ ई. के बीच स से प्रकाशित किया।

मूल फ़ारसी का उर्दू अनुवाद भी 'अलख प्रकाश' नाम से प्रकाशित हो चुका है; किन्तु उसमें अशुद्धियाँ हैं और छपाई-सफ़ाई उच्चकोटि की नहीं है।

उपनिषद्-ग्रन्थों के तत्त्व-चिन्तन से दुनियाँ की निक विचारधारा सर्वथा प्रभावित है। सूफ़ियों का वाद (Mysticism) प्लातनियों, क्रिश्चियनों का त्मक देवतावाद (Mystic theosophical), श्चियन रहस्यवादी सन्तों में लोगोस (Logos) एक- (Echhort) और तालर (Taulor) के सिद्धान्तों उपनिषद्-ज्ञान से जन्मने और आगे पनपने की णा मिली है।

डुपेरिन ने अपने लैटिन अनुवाद के सम्बन्ध में था कि वह उसके जीवन को और समस्त मानवता ऊँचा उठाने वाली पुस्तक है। १९ वीं शताब्दी में र को उपलब्ध भारतीय उपनिषद्-ज्ञान उस शताब्दी का सबसे बड़ा वरदान था।[1]

उपनिषद्-ज्ञान की महानता के प्रति शोपेनहार ने जो उद्गार प्रकट किए, उनके सम्बन्ध में मैक्समूलर का कथन था कि—शोपेनहार के उक्त अभिमत का समर्थन करने की यदि आवश्यकता हुई तो वे अपने दीर्घ-जीवन के अध्ययन के बल पर उनका भरपूर शब्दों में समर्थन करेंगे।[2]

जर्मन विद्वान् पाल डायसन ने उपनिषद्-ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् एक पुस्तक लिखी: उपनिषद् दर्शन (Philosophy of the Upnishads) उसमें उन्होंने उपनिषद्-ज्ञान के अद्भुत रहस्यों के सम्बन्ध में लिखा कि उनमें जिस दर्शन, तत्त्व-चिंतन का प्रतिपादन हुआ है, वह भारत में और सम्भवतः समस्त विश्व में अतुलनीय है।[3]

इस प्रकार विदित होता है कि उपनिषद्-ग्रन्थ भारतीय ज्ञान के महाकोश हैं और उनका महत्त्व उत्तरोत्तर संसार के सामने आ रहा है। उपनिषद्-साहित्य पर विदेशों में हुए कार्य की अपेक्षा भारत में हुए कार्य की गणना प्रायः नहीं के बराबर है। उपनिषद्-ज्ञान की विश्व-विश्रुति का एकमात्र श्रेय फ़ारसी अनुवाद और लेटिन अनुवाद को प्राप्त है। इसलिए ज्ञानवन्त मनस्वी दाराशिकोह और विख्यात तत्वविद् श्री डुपेरन महोदय के नाम, उनके कार्यों की महानता के कारण, भारतीय इतिहास में बड़े आदर के साथ स्मरण किए जाएँगे।

१६, करेलाबाग़ कालोनी,
हाबाद

—वाचस्पति गैरोला

यदि पोलैण्ड के लोगों को
'पोल्स' कहा जाता है, तो
हॉलैण्ड के लोगों को
'होल्स' क्यों नहीं ?

—फ्रेड ऐलन

---

[1] Winternitz: A History of Indian Literature Vol. 1. P. 265.

[2] If these Words of Schopenhaur required any Confirmation, I would willingly give it as a result of my life long study.

[3] Philosophical Conceptions Unequalled in India of perhaps any where else in the world.

शाह और शायर बहादुरशाह 'ज़फ़र'

मुग़ल-वंश के अन्तिम ताजदारों में बहादुर शाह का नाम अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। बेगम ज़ीनत महल के योग्य हाथों में शासन का अधिकांश छोड़ कर कला-साधना ही इनका मुख्य ध्येय था। सम्राट् एवं कला-साधक होने के-साथ-ही साथ इन्होंने अनुभूतिमय कवि हृदय भी पाया था। सुप्रसिद्ध कवि जौक़ ही इनके उस्ताद थे।

इनकी रचनाओं में पूर्ववर्त्ती परम्पराओं को काफ़ी प्रश्रय मिला है। साक़ी, जाम और मयखाना की परिधि से कुछ दूर रहते हुए भी इनके काव्य में प्रेमतत्त्व की ही प्रधानता है :

"मेरी मिल्लत है मुहब्बत
मेरा मज़हब इश्क़ है"

इश्क में एक अजीब दीवानगी हुआ करती है। दिन को मायूसी और रात को बेचैनी से भरे लबरेज़ प्याले पीते-पीते आशिक़ की हालत पागलों-जैसी हो जाती है। 'जफ़र' की शायरी में कुछ ऐसा ही रूप आशिक़ का मिलता है। इतनी बेचैनी, मायूसी के बाद भी चेहरे पर एक शिकन तक न लाना, उसके हृदय की मजबूती का स्पष्ट प्रमाण है :

"न दरवेशों का खिरका चाहिए
न ताजे शाहाना,
मुझे तो होश इतना है कि
मैं हूँ तेरा दीवाना"

मुहब्बत मुसीबत का दूसरा नाम है। इस राह में चलने वालों को काँटों के अलावा फूल नहीं मिलते। ठोकरें खाते खाते मन इतना बोझिल और बेदम हो जाता है कि मंज़िल का भी होश नहीं रहता। इतना होने पर भी सच्चा आशिक़ वही कहा जा सकता है जिसके मुँह से इन लाख सदमों के बावजूद भी 'उफ़' न निकले :

"मुहब्बत में गो लाख सदमें हों दिल पर
'ज़फ़र' कुछ न निकले खबरदार मुँह से"

प्यार, मुहब्बत और इश्क़ शब्दों में एकरूपता है, अर्थसाम्य भी, पर इनकी यथार्थ परिभाषा अनुभूतिगम्य ही हो सकी है, शब्दगम्य नहीं। 'जफ़र' ने मुहब्बत का मतलब अत्यन्त ही सरल रूप में स्पष्ट किया है :

"मुहब्बत के यह मानी हैं, कि हमने
वही चाहा जो कुछ तू ने भी चाहा"

जीने के लिए प्यार अत्यन्त आवश्यक है, यद्यपि इसमें तक़लीफ़ों की भी हद नहीं" ऐसा 'ज़फ़र' का विश्वास है। उनके विचार में तो किसी का हो जाना ही सम्पूर्ण गुणों का आदि कारण है :

"न कुछ हम हँस के सीखे हैं,
न कुछ हम रो के सीखे हैं,
जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं,
किसी के हो के सीखे हैं"

ज्यों-ज्यों मानव-मन का वास्तविक जगत् की कठिन परिस्थितियों से परिचय होता जाता है, त्यों-त्यों भावुकता का ह्रास भी होने लगता है। 'ज़फ़र' की आशिक़ाना भावुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर जब वास्तविकता का दामन छूती है, तब बरबस ही उसके सपने चूर हो जाते हैं और वह वेदना से कराह उठती है :

"ख़ाक होके इश्क़ में बरबाद हो गया
दामन तलक पे उसके न पहुँचा किसी तरह'

"जिगर से मेरे अगर एक ख़ारे ग़म निकला
चुभो दिए वहीं हसरत ने नश्तर दो-तीन"

इतनी वेदना, टीस और कशिश के बावजूद भी इश्क़ के दीवानों की मस्ती थकती नहीं, खत्म नहीं होती। उनका फ़ौलादी जिगर किसी भी तरह हार मानने को तैयार नहीं होता। अजीब साहस छलकता है, इन पंक्तियों में :

"मंज़िले इश्क़ बहुत दूर है, अल्लाह, अल्लाह
एक ही गाम पै तुम थम के 'ज़फ़र' बैठ गए"

"मैं हूँ आशिक़ मुझे ग़म खाने से इन्कार नहीं"

'ज़फ़र' की कविताओं में नैतिकता को भी अत्यन्त उच्च स्थान मिला है। स्थान-स्थान पर उनकी लेखनी नैतिक आदर्शों एवं सिद्धान्तों के समर्थन में सहज सचेष्ट एवं सजग रहती है :

"दुनिया में बला से अगर आराम न पाया
हमने यही पाया कि बुरा नाम न पाया"

"ऐ ज़फ़र चाहिए इन्साँ को कहे ऐसी बात
कि बुरा भी न कहे कोई गर अच्छा न कहे"

बुतों में उनकी विशेष श्रद्धा थी :

"क्या कहूँ, है क्या बुतों की आशनाई में मज़ा,
वह मज़ा सब इसमें है जो है खुदाई में मज़ा"

खुदा हमेशा भला ही करता है, उसमें आस्था रखना सम्पूर्ण समाज का कर्त्तव्य है। मनुष्य का जन्म पाना ही ईश्वर की सबसे बड़ी अनुकम्पा है, सबसे बड़ा वरदान है :

"कर न शिकवा कि तुझे है यह न दिया वह न दिया
शुक्र कर तू कि तुझे है दिया इन्सान बना"

"हमें क्या काम जो नाहक सहारा ग़ैर का ढूँढें
सहारा या खुदा ही का कुछ ऐसा है कि क्या कहिए"

१८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम का नेतृत्व बहुत कुछ इन्हीं के कन्धों पर था। संघर्ष में अंग्रेज़ों की विजय हुई और भारतीय भूमि का एकमात्र अधिकारी शाह अपने ऐश्वर्यमय अतीत की पीड़ामयी याद लिए दर-दर का भिखारी बना दिया गया। १८५८ में बादशाह को कलकत्ते भेज दिया गया। काल की प्रबलता के आगे किसी की भी नहीं चलती। जो एक दिन सम्पूर्ण भारत का भाग्यविधाता था, उसको अपने जीवन के वे दिन भी देखने पड़े, जब कि उसके पास निराशा, प्रताड़न और दैन्य के अतिरिक्त कुछ भी शेष न रहा। ज़माने की गर्दिशों ने क्या-क्या गुल नहीं खिलाए :

"लड़ें क्या ज़माने से कुश्ती कि इसने
पछाड़े बहुत पहलवाँ अच्छे-अच्छे"

४ दिसम्बर १८५८ को इन्हें रंगून भेज दिया गया। उस निर्जन में जहाँ कोई भी परिचित नहीं था, सगा नहीं था।

मुग़ल-शासकों में कलाप्रियता विशेष रूप से थी। वे बाग़-बग़ीचों, संगीत एवं चित्रकला के महान् हिमायती थे। उनके शाही बग़ीचे नन्दन वन के सौन्दर्य तक को चुनौती देते थे। उसी मुग़लवंश का अन्तिम सम्राट् महज़ दो-चार फूलों के लिए भी तरस कर रह गया—यह निम्न पंक्तियों से ही स्पष्ट है :

"दो फूल भी मज़ार पै उनके नहीं फ़लक
लेकर ज़मीं जिन्होंने हज़ारों बनाए बाग़"

बहादुरशाह के अन्तिम दिन बड़े ही कष्टमय बीते बड़े-बड़े महलों में मखमली गद्दों के ऊपर चलनेवाले शाह को अन्तिम समय में एक साधारण मक़बरे तक की उम्मीद न रही। फिर भी आत्मतोष कितना महान् था :

"शाहों के मक़बरों से अलग दफ़न कीजियो
हम बेकसों को गोरे गरेबाँ पसन्द है"

७ नवम्बर, १८६२ ई० की संध्या बड़ी ही दुःखद थी। जीवन के अन्तिम क्षण थे, सपूर्ण विगत दृश्य छाया-चित्रों से नज़रों के सामने झूल रहे थे। शाह का हृदय-ज्वार अपनी चरम सीमा पर था, पर वाणी मूक थी। उसने दुनिया से अन्तिम विदा ली…नज़रों में कुछ तप्त चिनगारियों के सदृश जलकण ही…… जिनके भीतर से रह-रह कर कोई पीर भरी बाँसुरी निम्न स्वरों गा उठती थी :

"आ पड़े हैं मिसले शबनम
सैरे दुनिया कर चले,
देख अब ऐ बाग़बाँ !
अपना चमन, हम घर चले"

—रमानाथ शर्मा 'परिमल'

१८/४ ए, पुरुषोत्तमनगर,
इलाहाबाद

स्वामी विवेकानन्द और शिक्षा का आदर्श

स्वामी विवेकानन्द के जीवन का मूलमन्त्र यह था कि जो जीव से प्रेम करता है, वही ईश्वर की सच्ची सेवा करता है। इसी से अनुप्राणित हो, वे भारत के मुक्ति साधानाव्रती हुए थे। वे सर्व त्यागी सन्यासी थे, किन्तु स्वदेश का आध्यात्मिक उत्थान ही उनका एकमात्र लक्ष्य और कामना नहीं थी। सन्यासी हो कर भी उन्होंने इहलोक और परलोक दोनों की कल्याणकामना की थी। इस आत्मत्यागी कर्मवीर महापुरुष के जीवन का महाव्रतभारत की असंख्य जनता का सर्वविध कल्याण साधन ही था। इसलिए वे समग्र भारतीयों को एक स्वर से 'भारत की मिट्टी ही हमारा स्वर्ग है और भारत का कल्याण ही हमारा कल्याण' कहने को कहते थे। उनका स्वदेश-प्रेम केवल स्वप्न-विलास-मात्र नहीं था, वरन् वास्तवधर्मी था। सत्-ज्ञान और प्रत्यक्ष अभिज्ञता ही उनकी सुदृढ़ भित्ति थी एवं निरालस कर्म उनका प्रशस्त जीवन था।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी जी इस युग के श्रेष्ठ विचारकों में से अन्यतम थे। वे चारित्रिक निर्माण की अति पुरातन प्रवृत्ति के पोषक होते हुए भी अर्वाचीन दलगत विश्रृंखलताओं के प्रबल विरोधी थे। उनके शिक्षा-सम्बन्धी कतिपय निबन्धों में उनकी सुगंभीर चिन्तनशीलता गहन मनन-शीलता एवं अनन्य वक्तृत्व कला का परिचय मिलता है। वे शिक्षा का जो उदार एवं महान् आदर्श स्वदेशवासियों के सामने रखना चाहते थे, उसका कुछ भी यदि आज रूपायित किया जा सका, तो सब में, सचमुच मनुष्यता का अलख जग जाएगा। हमारे देश में आज इसी का सबसे बड़ा अभाव है। अकर्मण्यता रहते हुए स्वदेशानुराग किस काम का?

स्वामी जी ने पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति की अनावश्यक प्रवृत्तियों के विषय में कहा था: "यह शिक्षा मनुष्य बनाने के लिए नहीं हैं।" पुस्तकीय कीट बन कर परीक्षा पास कर लेने में ही सब-कुछ नहीं है। जो शिक्षा जन-साधारण को जीवन-संग्राम में विजयी होने में सहायता नहीं देती, जो सब में सत्साहस की वृद्धि नहीं करती, जिससे परोपकार की प्रवृत्ति जाग्रत नहीं होती और जिससे स्वाभिमान, स्वदेशाभिमान विनष्ट होता है, वह शिक्षा शिक्षा नाम के योग्य नहीं है। वे उस शिक्षा के प्रतिपादक थे, जिससे चरित्र गठित होता है, आन्तरिक प्राबल्य बढ़ता हैं, बुद्धि विकसित होती है एवं मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। वह शिक्षा किस काम की, जो मुहताज बना कर छोड़ दे।

वे प्राच्य एवं पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के सम्मिलन के हामी थे। वे पाश्यात्य शिक्षा और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को वर्जित नहीं करना चाहते थे। कारण, उनका दृढ विश्वास था कि उनके अनुकरण से स्वदेशी शिल्पादि की उन्नति होगी। संयम और अनुशासन पर ज़ोर देते हुए वे कहते थे, 'देशवासियों में लौह मांसपेशी, इस्पात की तरह बलशाली स्नायु एवं अदम्य विपुल इच्छा-शक्ति होना अवश्यम्भावी है।'

'मनुष्य में जो पूर्णत्व सुप्त रहता है, उसका विकास-साधन ही शिक्षा है। ज्ञान अभ्यान्तरिक एवं सहजात है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सभी अन्तर में निहित हैं। वे केवल आत्म-प्रकाश की प्रतीक्षा करते हैं। स्वामी जी की यह धारणा युक्तिसंगत और ग्राह्य है। उनके विचार से अन्तर्मानस में अनन्त ज्ञान की खान विद्यमान है। जिस प्रकार चकमक पत्थर में अग्नि प्रच्छन्न रहती है, घर्षण से प्रज्वलित हो उठती है, ठीक वैसे ही शिक्षक-वृन्द ज्ञान को उद्दीपित करते हैं। छात्रों के चारों ओर की 'प्रतिकूल अवस्था का मर्दन' एवं 'अनुकूल अवस्था की सृष्टि' करना ही शिक्षकों का कार्य है। दूसरी ओर माता-पिताओं के बन्धन में भी छात्रों का समुचित विकास नहीं हो पाता, बल्कि उनकी बुद्धि कुंठित हो जाती है। मनोवृत्तियों का सम्यक् परिस्फुरण ही शिक्षा का उद्देश्य है।

बच्चों को यदि यह कहा जाए कि वे निर्बोध हैं, कुछ सीख नहीं सकते, तो सचमुच में वे हतोत्साहित हो जाते है, उनकी ग्रन्थियाँ हीन बन जाती हैं। परिणामस्वरूप वे अपने ऊपर विश्वास और आस्था खो बैठते हैं। उन्हें 'ऐसा मत करो', 'वैसा मत करो' न कह कर जो करना है, वही बोलना होगा। जैसे: 'झूठ मत बोलो'

१९५७

की शिक्षा न दे कर 'सच्च बोलो' की शिक्षा दी जाए। उन्होंने कहा था कि सभी बालक-बालिकाओं के प्रयोजन कभी भी एक प्रकार के नहीं हो सकते। विभिन्न प्रकृति के बालक-बालिकाओं को एक साथ एक ही शिक्षा दे कर शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य कभी भी साधित नहीं किया जा सकता। किसमें क्या अभाव अथवा दुर्बलता है, उसे दूर कर, सहज ग्रहणीय पथ को उसके सम्मुख लाना ही शिक्षकों का दायित्व एवं कार्य है। इसलिए वे शिक्षा के प्रथम सोपान स्वाधीनता पर ज़ोर देते थे।

उनके मत से प्रत्येक मानव की आत्मा ही ईश्वर की आत्मा—परमात्मा है। अतएव सबको 'ईश्वर-सन्तान' समझ कर हमें सेवा करनी होगी। अज्ञानियों और अशिक्षितों को शिक्षा देना और उनकी सेवा करना सब का कर्त्तव्य है। इस प्रकार शिक्षक अपने को शिक्षक न समझ कर 'सेवक' स्वरूप में, राष्ट्रोत्थान में सहायक हो सकता है।

ज्ञानार्जन करने का एक-मात्र उपाय मन की एकाग्रता है। इसी एकाग्रता से साधना की सिद्धि प्राप्त होती है। इसलिए विद्याभ्यासी होने के लिए ऐकान्तिक निष्ठा कठिन साधना एवं दुष्कर तपस्या का प्रयोजन है। स्वामी जी स्पष्ट कहते थे कि शारीरिक बल से आत्मबल अधिक बलिष्ठ है। जो अपने को सदा हीन-दीन अनुभव करता है, यदि वह वैसा नहीं है, तो भी हो जाएगा। हमें सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि 'हम सर्वशक्तिमान् की सन्तानें हैं, असीम की स्फुलिंग की दिव्यज्योति।' यही आत्मविश्वास ही मानवता का अति प्रयोजनीय उपादान है। वे इसी जीवनप्रद, महान् एवं गौरवमय तत्वशिक्षा को देने के पक्ष में थे।

उनके मत से गुरु गृह ही शिक्षा का श्रेष्ठ प्रतिष्ठान है। गुरु-शिष्य का जब तक चौबीसों घण्टों का सम्पर्क नहीं रहता, तब तक वह अपनी छाप कैसे शिष्य पर छोड़ सकता है? और छात्र भी शिक्षक हैं, इसलिए प्रत्येक छात्र में पवित्रता, निरभिमान, अध्यवसाय और ज्ञानतृष्णा होनी अत्यावश्यक हैं। उसे मनसा, वाचा और कर्मणा से नितान्त संयत होना चाहिए और यह तभी सम्भव है, जब कि शिक्षक का चरित्र स्वयमेव सर्वप्रकारेण निष्पाप और निष्कलंक हो। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' ज्ञान की प्राप्ति श्रद्धा और निष्ठा के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि इसी से मानसिक उत्कर्ष और सात्विक आनन्दोपलब्धि होती है और इसी से गुरु-शिष्य में स्वभावतः आत्मिक सम्बन्ध विकसित हो उठता है। दुष्प्रवृत्तियों को दमन करने का एकमात्र उपाय अविराम सत्कर्म एवं सत् चिन्ता हैं। इसी का अनुसरण करने से मनुष्य देवता बन जाता है। सच ही तो कहा उन्होंने कि मनुष्य भाग्य का स्वयं विधाता है।

१४/४, विवेकानन्द रोड,
कलकत्ता–७

—रामराज सिंह

प्याज़

प्राचीन ईजिप्त में प्याज़ की पूजा की जाती थी। गवाह प्याज़ की शपथ लिया करते थे।...दवाई की दृष्टि से ऐसी अन्य कोई वस्तु नहीं है, जिसकी प्याज़ से तुलना की जा सके। यदि प्याज़ की कुछ बूँदें कानों में डाली जाएँ तो कान का दर्द दूर हो जाता है; मैल ढीली पड़ जाती है और बधिरपन दूर हो जाता है। एक घर में मैंने देखा कि बीमारी को भगाने के लिए अग्नि-स्थान पर सदा एक प्याज रक्खा रहता है।

—आर. एच. फ़ैरी

मेरे पत्रकारिता के अनुभव

(४)

दैनिक "भविष्य" : कुछ समय तक गुरुकुल कांगड़ी में उपाध्याय का कार्य करने के अनन्तर, मेरे मन में, फिर से खुले सार्वजनिक जीवन की भूख-सी उभर आई। ऐसा अनुभव होने लगा कि केवल पढ़ाने में जीवन व्यतीत करने से सफलता के बैंक का बैलेन्स शून्य ही रहेगा। यह भाव शायद बहुत ऊँचे दर्जे का तो नहीं था, परन्तु था बहुत तीव्र। इस कारण मुझे वह अपने साथ राष्ट्रीय महासभा के अहमदाबाद के अधिवेशन में बहा ले गया, जहाँ से मैंने गुरुकुल के तत्कालीन अधिकारियों को अपना त्यागपत्र भेज दिया।

काँग्रेस का वह अधिवेशन अपनी शान का निराला ही था। वह पहला अधिवेशन था, जिसमें लगभग प्रत्येक कांग्रेसी खद्दर का वेष पहन कर सम्मिलित हुआ। नगर में जिधर देखो, मानो चाँदी की चादर बिछी हुई थी। श्वेत टोपी, कुर्ता और धोती पुरुषों का, और श्वेत साड़ी स्त्रियों का परिधान था। कांग्रेस के दिनों में अहमदाबाद रूपरंग में साक्षात् अहिंसा का मूर्तरूप-सा दिखाई देता था। यही अधिवेशन था, जिसमें महात्मा गांधी ने स्वयं अपने सिर पर सत्याग्रह के सर्वाधिकारी का कँटीला ताज रखा था। मैं अहमदाबाद से राष्ट्रीय आन्दोलन की उमंग से सराबोर होकर दिल्ली लौटा तो गुरुकुल न जा कर यहीं जम गया और उसी पुरानी पत्रकारिता की धुन में बेचैन हो कर अवसर की खोज करने लगा।

मैं इसी असमंजस की दशा में था कि एक दिन भरतपुर के पं० जगन्नाथ अधिकारी ने मिल कर मेरे सम्मुख एक प्रस्ताव रखा। उन दिनों भरतपुर के शासक पर अंग्रेज़ी सरकार का ग्रहण लगने की तैयारी थी। सरकार को यह सन्देह था कि महाराज गुप्त रूप से राष्ट्रीय कामों में सहायता देते रहते हैं। मामले की तहकीक़ात के लिए सरकार के कुछ अफ़सर भरतपुर पहुँचे हुए थे। अधिकारी जी का नाम भी उन लोगों में था, जिन पर यह आरोप था कि वे महाराज को सरकार-विरोधी रास्ते पर ले जाते हैं। फलतः वे भरतपुर से दिल्ली आ गए, और इस चेष्टा में लग गए कि महाराज के पक्ष में प्रकाशन का कार्य करें। इस काम के लिए उन्हें कुछ आर्थिक सहायता भी मिली थी। उन्होंने तेलीवाड़े में एक अत्यन्त पुराना प्रेस खरीद लिया और 'भविष्य' नाम का हिन्दी दैनिक पत्र निकाल दिया। पत्र तो निकाल दिया, पर सम्पादन किस चिड़िया का नाम है, यह बोध न होने से बहुत चक्कर में पड़ गए। टाइप बहुत पुराना था, छपाई अच्छी नहीं आती थी, और ४ पृष्ठों के लेख प्रतिदिन पूरे नहीं होते थे। इस कारण दैनिक पत्र सप्ताह में प्रायः दो दिन प्रकाशित हो जाता था। जब अधिकारी जी का पाँव इस दलदल में फंसा हुआ था, तब उन्हें मालूम हुआ कि मैं दिल्ली में हूँ, और हूँ भी ख़ाली। पहले उन्होंने अपने एक बुलन्दशहर को भेजा, जिनका नाम व्यंकटेशरमण था। वह सज्जन अपने ढंग के अनूठे ही थे। बातचीत में बहुत प्रवीण, और व्यवहार में दुनियादार थे। वे प्रस्तावना बाँध कर चले गए, और अगले दिन अधिकारी जी को साथ ले कर आ गए। अधिकारी जी दुबले पतले, परन्तु भव्यमूर्ति ब्राह्मण थे। माथे पर सदा वैष्णवी टीका रखते थे, और बातचीत में अत्यन्त विनम्र और मीठे थे। उन्होंने मेरे सामने यह प्रस्ताव रखा कि मैं पत्र को अपने हाथ में ले कर जैसा चाहूँ सम्पादित करूँ, नीति पर मेरा पूरा अधिकार होगा। प्रबन्धकर्त्ता रमण महोदय बनाए गए और अधिकारी जी ने अपने ज़िम्मे यह काम लिया कि महाराज से पुष्कल आर्थिक सहायता प्राप्त करके प्रेस और पत्र को उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचा देंगे। आर्थिक व्यवस्था यह की गई कि जब पत्र में कुछ लाभ होने लगेगा, तब उसे सब मिल कर बाँट लिया करेंगे। मेरी उस समय भी आर्थिक दशा वैसी ही थी, जैसी १९१८ में गुरुकुल छोड़ने के समय थी। ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि मैं बिना कुछ दक्षिणा प्राप्त किए देर तक दैनिक पत्र का सम्पादन कर सकूँ। फिर भी आर्थिक विषयों में मेरी उपेक्षावृत्ति, व्यंकटेशरमण की वाक् चातुरी, और अधिकारी जी की सज्जनता, तीनों

१९५७

ने मिल कर मुझ पर ऐसा जादू किया कि मैंने 'भविष्य' का प्रधान सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया. और अगले दिन से 'भविष्य' के कार्यालय में जाने लगा।

कार्यालय में जा कर देखा तो ढोल की पोल के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर न हुआ। ऐसा वातावरण भी न था कि सम्पादक कहलाने की हवस ही पूरी हो जाती। हैंड प्रेस शायद सन् ५७ से पहले का था, टाइप मुश्किल से एक फ़ार्म का और वह भी घिसा पिटा, जो सज्जन फ़ोरमैन थे, वही मशीनमैन भी थे। याद नहीं कि मैंने कितने दिनों तक रेत में से तेल निकालने का यत्न किया। परन्तु अन्त में अधिकारी जी को मान लेना पड़ा कि इस समय भरतपुर-नरेश की ऐसी स्थिति नहीं है कि विशेष आर्थिक सहायता दे सकें। इस कारण चटाई लपेट देना ही अच्छा है। सो एक दिन ब्राह्म-मुहूर्त में चटाई लपेट कर अधिकारी जी शायद मथुरा की ओर विदा हो गए। मैं इनसे दो तीन दिन पहले ही प्रधान सम्पादक की गद्दी छोड़ चुका था।

यदि आप पूछें कि मैंने इस 'भविष्य'-काण्ड से क्या सीखा तो मेरा उत्तर यह है कि साहसिक कार्य बड़ा हो या छोटा, उसे कभी दूसरे के बलबूते पर आरम्भ न करो। अपने भरोसे पर, पार जाने के लिए भरी गंगा में भी कूद पड़ो, परन्तु केवल दूसरे के सहारे का भरोसा रख कर घुटनों तक के पानी में भी पाँव न रखो। आगे बढ़ कर छलाँग लगाने वालों को यह शिक्षा-गाँठ बाँध लेनी चाहिए।

साप्ताहिक 'सत्यवादी' : 'भविष्य'-काण्ड के समाप्त होने पर मैं फिर खाली हो गया। उँगलियाँ लिखने को उतावली थीं, और चित्त अपने भावों को उगलना चाहता था, परन्तु साधनों का अभाव हो जाने से बेकार बैठ जाना पड़ा। उस लाचारी के अवकाश से लाभ उठा कर मैंने दो एक पुस्तकें लिखीं, परन्तु उनसे भी दिल का बोझ हलका न हुआ तो अन्त में एक साप्ताहिक पत्र निकालने का मन्सूबा पक्का किया। दैवयोग से एक सहायक भी मिल गए। प्रसिद्ध दानवीर सेठ रग्घूमल लोहिया ने इस रूप में सहारा दे दिया कि अपनी दूकान पर हिसाब खुलवा दिया। आज्ञा दे दी कि एक वर्ष तक दूकान से आवश्यकतानुसार 'सत्यवादी' के लिए परिमित राशि ली जा सकती है।

वस्तुतः 'सत्यवादी' का यह दूसरा दौर था। सत्यवादी का पहला दौर बहुत पहले शायद १९०८—९ में, पं० रुद्रदत्त जी सम्पादकाचार्य के सम्पादकत्व में आरम्भ हुआ था। उस समय सद्धर्म प्रचारक प्रेस हरिद्वार में था। 'सत्यवादी' वहीं से निकलना आरम्भ हुआ, और वहीं समाप्त हो गया। जब मैंने दिल्ली से साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करने का विचार किया, तब वही पुराना नाम क्यों चुना, इसका यही कारण समझना चाहिए कि मुझ में व्यतीत काल की ओर देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, अन्यथा परिवार के बच्चों के—रोहिताश्व, जयन्त आदि तथा पत्रों के 'सत्यवादी', 'अर्जुन' आदि नाम न रखता। अस्तु, कारण कुछ भी हो, मैंने वही नाम रखा, और परिणाम भी लगभग वही हुआ। दिल्ली में 'सत्यवादी' का पहला अंक सन् १९२३ के जनवरी मास के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हुआ। उसके चार मास पश्चात् ही दैनिक 'अर्जुन' निकल आया, तब कुछ महीनों तक 'सत्यवादी' अर्जुन के साप्ताहिक के रूप में निकलता रहा, उसके पश्चात् वह 'अर्जुन' में ही विलीन हो गया।

"'सत्यवादी'' के दूसरे दौर का इतिहास सनसनी-पूर्ण घटनाओं से सर्वथा शून्य रह जाता, यदि उसमें चुपचाप सरदार भगतसिंह का प्रवेश न हुआ होता। मैं सायंकाल के समय पत्र के कार्यालय में बैठा हुआ था कि एक भव्य सिख नौजवान, जिसकी दाढ़ी-मूँछ के बाल अभी केवल दीखने लगे थे, आया और अपना अर्जुन-सिंह नाम बतला कर पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करने की इच्छा प्रकट की। नौजवान की आँखों में कुछ ऐसा आकर्षण था कि कुछ अधिक पूछाताछ किए बिना ही मैंने उसे कार्य पर लगाने की स्वीकृति देते हुए पूछा कि क्या आपने पहले किसी हिन्दी पत्र में काम भी किया है ? नौजवान ने उत्तर दिया कि "मैं कानपुर के 'प्रताप' में बहुत दिनों तक उपसम्पादक रहा हूँ।"

अर्जुनसिंह की हिन्दी तो बहुत अच्छी थी ही, उसके विचार और भी अधिक अच्छे और परिमार्जित थे। जब कभी हिन्दू-मुस्लिम-समस्या पर बात छिड़ती, वह सदा साम्प्रदायिकता के विरुद्ध पक्ष लेता। अन्य सब विषयों पर भी उसके विचार उदार और निर्भीक थे।

मैं उस एक साधारण दीखने वाले असाधारण नौजवान से बहुत प्रभावित हुआ। उसकी कई असाधा-

रण बातों में एक यह भी थी कि वह कभी अपने घर या परिवार के सम्बन्ध में चर्चा नहीं करता था। यदि कोई पूछताछ करता तो हँस कर टाल देता था। उसकी दूसरी विशेषता यह थी कि अन्य सब चीज़ों में नियमित होता हुआ भी उपस्थितियों में बहुत अनियमित था। बिना पूर्व-सूचना दिए एक दो दिन के लिए डुबकी लगा जाना तो साधारण बात थी, कभी-कभी सप्ताहभर तक लापता रहता था। पहले तो उसका यह व्यवहार बुरा लगा, परन्तु कुछ दिनों के बाद सन्देहजनक, फिर रहस्यात्मक प्रतीत होने लगा। ऐसा भला आदमी किसी सामान्य कारण से बार-बार अनुपस्थित नहीं हो सकता, यह विचार मन में आने लगा, और हल्की-सी आशंका होने लगी कि हो-न-हो, यह नौजवान क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध रखता है।

एक बार उसने लगभग सप्ताह-भर का ग़ोता लगाया। जब आया तो कुछ जल्दी में था। कहा कि घर से खबर आई है—पिता जी बहुत बीमार हैं, एक दिन के लिए जा रहा हूँ, न जाने कब वापस आऊँ। लम्बी छुट्टी लेने और इतने दिनों तक सम्पादकीय विभाग में रखने के लिए धन्यवाद देने आया हूँ। दो-तीन मिनट में यह विधि-विधान की बात करके अर्जुनसिंह ने सबसे प्रेमपूर्वक विदाई ली और ताँगे पर सवार हो गया और अपने पीछे हम लोगों के लिए यह समस्या छोड़ गया कि आखिर यह नौजवान था कौन? दो दिन पश्चात् समस्या की गाँठ स्वयं खुल गई। एक सब-इंस्पेक्टर आठ-दस सिपाहियों को साथ लेकर हमारे कार्यालय में पहुँचा। उसके पास भगतसिंह के नाम का वारण्ट था। कहने पर हमने उत्तर दिया कि हमारे यहाँ भगतसिंह नाम का कोई आदमी नहीं है। एक अर्जुनसिंह नाम का नौजवान काम करता था, जो पिता की बीमारी के कारण छुट्टी लेकर घर चला गया है। पुलिस ने कई रजिस्टरों की छानबीन की, कई, प्रश्नों के उत्तर लिख कर खानापूरी भी की, परन्तु यह देख कर कि चिड़िया उड़ चुकी है, अपना-सा मुँह लेकर वापस चली गई। वारण्ट देखने से मालूम हुआ कि गिरफ्तारी का वारण्ट काकोरी की डकैती के सम्बन्ध में था।

एक इस घटना को छोड़कर 'सत्यवादी' के लघु जीवन की कोई रोमांस याद नहीं।

चन्द्रलोक, जवाहर नगर
दिल्ली

—इन्द्र विद्यावाचस्पति

कई वर्षों की बात है। अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर सर रौस मसूद जापान गए हुए थे। वे एक दिन टोकियो यूनिवर्सिटी देखने के लिए गए। एक प्रोफ़ेसर ने एक विद्यार्थी को दिखाते हुए बताया कि यह विद्यार्थी समस्त यूनिवर्सिटी में प्रथम है और यह प्रतिदिन सात मील पैदल चल कर आता है। वहाँ पर इसका खेत है। यह उसकी देखभाल करता है और पैसा कमा कर पढ़ता है। वे विद्यार्थी को देख कर प्रसन्न हो गए। उन्होंने उस विद्यार्थी से कहा कि वे उसे छात्रवृत्ति देना चाहते हैं। इसके उत्तर में उसने सर रौस मसूद को जवाब दिया : "मेरी नसों में जापानी रक्त बह रहा है। मैं अपनी समस्त कठिनाइयाँ बिना किसी सहायता के झेलना चाहता हूँ।"

— 'किशोर' से

नई चेतना—नया स्वर

इतिहास में दार्शनिक दृष्टिकोण के समर्थक सोरोकिन से ले कर टोयनबी तक, सब यह कहते चले आए हैं कि हम विगत के अध्ययन के प्रकाश में दूरस्थ भविष्य के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकते हैं। उनके विचार में आधुनिक सभ्यता की समाप्ति आवश्यक है। लेकिन यह समाप्ति मानव-जाति का अन्त नहीं बल्कि आधुनिक सभ्यता का उन्मूलन है, जिसके उपरान्त नई सभ्यता जन्म लेगी। इतिहास का चक्र निरन्तर चलता रहा है और इस गति में विकास भी ज़ारी रहता है। भौतिक विनाश के बाद नए आध्यात्मिक मूल्य पैदा होते हैं इसलिए गैरल्ड हर्ड के सिद्धान्त 'उन्नतर चैतन्य' (Super consciousness) टोयनबी के ईथरीकरण (Etherealization.) और सोरोकिन के (Ideational culture) में अभौतिक आनन्द का मूल्य समान है। अपने उद्देश्य और विधि-भेद के बावजूद ऐतिहासिकता, आधुनिक विज्ञान से एकरूप है। लेकिन विज्ञान की उन्नति भौतिक विनाश का अग्रगण्य कैसे बन सकती है, जब तक कि हमारे आध्यात्मिक मूल्य के स्रोत बिलकुल शुष्क न हो जाएँ। इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने सृष्टि का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उसके अन्वेषणों और आविष्कारों ने दर्शन, राजनीति और साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला है। आईन्स्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार विभिन्न स्थानों और कालों में वही वस्तु निरीक्षकों को विभिन्न दृष्टिगोचर होती है। सत्यता का आधार उसके निरीक्षक के दृष्टिकोण पर है। दो व्यक्ति भिन्न गति से जाते हुए एक ही वस्तु को एक दूसरे से भिन्न तरीक़े से देखते हैं। सत्यता शाश्वत नहीं बल्कि सापेक्षक होती है। इस सिद्धान्त से ईश्वर, यान्त्रिक दृष्टिकोण को पर्याप्त हानि पहुँची है। आईन्स्टीन के निकट द्रव्य और शक्ति एक ही वस्तु के विभिन्न आकार हैं। द्रव्य की बहुत कम मात्रा को नष्ट करने से, असीम शक्ति उत्पन्न होती है। इस तरह मानव-जीवन के लिए विनाश और प्रगति के नए मार्ग प्रकाशित होते हैं। आईन्स्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार द्रव्य, देश, काल और आकर्षण में परस्पर सम्बन्ध है और देश का विचार काल के बिना नहीं हो सकता। आईन्स्टीन के विचार में लम्बाई, चौड़ाई और गहराई के अतिरिक्त चौथा डाइमन्शन काल है। आधुनिक यूनीफ़ाइड फ़ील्ड थ्यूरी के अनुसार भौतिक जगत् का एक-एक कण, एक ही प्राकृतिक नियम के अन्तर्गत क्रियाशील है और इसके तत्त्वों में अनुरूपता है; उनमें एक ही नियम क्रियाशील है। मानव-ज्ञान की बाह्य सीमाएँ सापेक्षता से नियमित होती हैं और आन्तरिक सीमाएँ क्वांटम के सिद्धान्त से। सापेक्षवाद ने देश, काल, गुरुत्वाकर्षण और दूसरे दूरस्थ और विशाल यथार्थ से सम्बद्ध हमारे सिद्धान्तों को निर्मित किया है। क्वांटम के सिद्धान्त ने अणु, द्रव्य और शक्ति की मूलभूत इकाइयों और दूसरे छोटे, अस्पर्शनीय यथार्थ के सिद्धान्तों को निर्मित किया है। ये दोनों सिद्धान्त भिन्न और पृथक् आधारों पर अवलम्बित होते रहे हैं। यूनीफ़ाइड फ़ील्ड थ्यूरी का कार्य इनमें अनुरूपता पैदा करना है। प्रकृति की एक समानता और अनुरूपता के विश्वास के अन्तर्गत आईन्स्टीन ने अणु और बाह्य स्थान को परिधि में लेने के लिए एक ही सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

आधुनिक चिन्तन में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं लेकिन मूलभूत प्रश्न तो ये हैं कि हम इन सिन्द्धातों के अन्तर्गत 'प्रलय-दिवस' की ओर बढ़ रहे हैं या 'स्वर्ग के स्वप्न' को परिपूर्ण कर रहे हैं। मानव-मानस और विज्ञान का विकास, अब इस बिन्दु पर पहुँच चुका है। अब तो सृष्टि के डूबने का दृश्य भी वास्तविक दिखाई देता है और स्वर्ग के भूमि पर उतरने के स्वप्न भी यथार्थ बनते नज़र आते हैं। विज्ञान ने हमारे हाथ में इतनी महत्वपूर्ण और अधिक शक्ति दे दी है कि हमारी चिन्तन-गति उसको पकड़ में लेने का सामर्थ्य रखती नज़र नहीं आती। लेकिन इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं कि हम मानव-उन्नति के नए मार्ग-प्रदर्शन करें और विनाश से बचें। दर्शन, वस्तु और मानस के द्वन्द्वात्मक संघर्ष पर बल देता है।

आज विज्ञान के युग में दोनों के सही स्थान को निश्चित करना आवश्यक है, ताकि भौतिक उन्नति और बौद्धिक प्रखरता का उद्देश्य पूर्ण हो सके। मन की जिन अन्धकारमय क्रियाओं का ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, उनसे मन की असीम शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है और इससे मानवीय चिन्तन और संसार के अन्धकारमय कोनों को प्रकाशमय करने की शक्ति बढ़ गई है। राजनीति में जनतान्त्रिक समाजवाद, पाश्चात्य जनतन्त्र की त्रुटियों और साम्यवाद की तानाशाही से स्वच्छ हो, मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समता का नया युग ला रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'पन्चशील' ने राजनीतिक विवशता की अपेक्षा जीवन की मूलभूत आवश्यकता के रूप में विश्वजनीन महत्व प्राप्त कर लिया है।

विचारों का संघर्ष अनिवार्य है और एक ही लेखक में विचारों का संघर्ष चलता रहता है, जिसके कारण चिन्तन और साहित्य के नए पथ-प्रदर्शन होते हैं। आन्द्रे मारलो का ही उदाहरण ले लीजिए। आन्द्रे मारलो ने १६२६ की चीनी क्रान्ति में एक कम्युनिस्ट योद्धा के रूप में भाग लिया। उसने स्पेन के गृहयुद्ध में रिपब्लिकन वायुसेना के संचालन का काम किया और दूसरे महायुद्ध के समय फ्रांसीसी आन्दोलन में भी लड़ा। बाद में अपने कटु अनुभवों के कारण साम्यवाद से निराश हो कर वह 'दगाल' की पार्टी में चला गया। लेकिन उसकी गहरी मानवतावादी प्रवृत्ति को यहाँ भी सन्तोष न मिला। अतः उसे भी त्याग दिया और अन्त में मानवतावाद के व्यापक समूह में शामिल हो गया। आन्द्रे मारलो ने सदैव मानवीय व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और मानव-जाति के बन्धुत्व का समन्वय करने की कोशिश की। इन दोनों में उसका अटूट विश्वास है। यही कारण है कि वह चीन, स्पेन और फ्रांस के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने के बावजूद भी रूढिग्रस्त साम्यवाद और 'पार्टी लाईन' के उग्रवामपक्ष और 'दगाल' के उग्र दक्षिणपक्ष को स्वीकार न कर सका।

विश्व-बन्धुत्व और मानवतावाद का उज्ज्वल उदाहरण रोमाँ रोलाँ की कृतियाँ हैं। ब्रिटेन ने लिखा है कि 'रोलाँ के पास नई व्यापक अन्तःदृष्टि की उदारता थी। रोलाँ अपनी प्रवृत्ति के कारण एक आदर्शवादी जीवनी-लेखक था। वह अपने नायक के जीवन में मानवता की महानता, उच्चतम स्तर पर उसका बन्धुत्व और भविष्य में आस्था को प्राप्त करता है, जैसा कि बीथोवन, माइकल एंजेलों, टालसटाय, गाँधी, रामकृष्ण और विवेकानन्द की जीवनियों से स्पष्ट है। सोवियत-संघ के प्रति उत्साह के साथ-साथ उसकी दिलचस्पी भारतीय दर्शन में भी थी। इसी कारण उसने मानवतावाद और गांधीवाद का समन्वय करने की कोशिश की और यह केवल निरपेक्ष अन्तर्राष्ट्रीयता की उदारता ही थी।'

लूई मैकनीस ने कवि के प्रति अपने दृष्टिकोण को 'आधुनिक कविता' में बड़ी सहजता से प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि मेरी अपनी प्रवृत्ति-उन कवियों के पक्ष में है, जिनके लिए संसार गुह्य नहीं। मैं ऐसा कवि पसन्द करता हूँ जो हृष्टपुष्ट हो, बातचीत करने के लिए उत्सुक और समाचार-पत्रों का पाठक हो; उसमें दया और हँसी की क्षमता हो; वह अर्थशास्त्र का जानकार हो और नारी-गुणज्ञ हो; निजी सम्बन्ध में बँधा हुआ हो और राजनीति में सक्रिय रुचि रखता हो और जो व्यक्तिगत प्रक्रियाओं से शीघ्र ही प्रभावित हो जाए।

इन विभिन्न सिद्धान्तों के प्रकाश में यह कहना अनुचित न होगा कि यह सिद्धान्त साहित्य और कला की आंशिक सत्यता को प्रस्तुत करते हैं। कला की प्रतिभा केवल बुद्धि, जीवन-दर्शन या अनुभव (व्यक्तिगत और समाजिक) और सहज प्रज्ञा से चेष्टा में नहीं आती, अपितु सत्य की चेतना के लिए इन तीनों तत्त्वों का समन्वय अनिवार्य है। आलोचना का उद्देश्य उन मूल्यों की रचना में भाग लेना है, जो अपने अतीत की परम्परा में वर्तमान की आत्मा को अपने भीतर संचित करके भविष्य की ओर संकेत करता है। इन मूल्यों में सामाजिक क्रिया और वैयक्तिक कला मिल कर पहले से उत्कृष्टतर समाज के निर्माण के लिए प्रेरणा देते हैं। साहित्य में यथार्थ और आदर्श का संगम होना चाहिए, जिसके कारण साहित्य में युग-चेतना होते हुए भी देश कालातीत होने की शक्ति विद्यमान रहती है। साहित्य के सौन्दर्य-पक्ष के साथ उपयोगिता-पक्ष भी सम्बद्ध है। सौन्दर्य-पक्ष के कारण ही कलाकार के व्यक्तित्व और प्रतिभा की परख की जा सकती है। इसके साथ ही हमें परम्परा, प्रगति और व्यक्तित्व की समस्या पर भी

विचार करना चाहिए ।

इन विभिन्न सिद्धान्तों के प्रकाश में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि कला 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्,' का संतुलित समन्वय है । साहित्य से हम इसीलिए प्रभावित और प्रेरित होते हैं कि उसके अध्ययन से हम अपनी चेतना और अपने भावों के साधारण स्तर से ऊपर उठ जाते हैं ।

साहित्य की प्रकृति, उसके प्रयोजन और उसके मूल्यांकन की यही कसौटी है । इसी नए चिन्तन से नया साहित्य जन्म लेगा । आरेक स्टेनफ़ोर्ड ने 'न्यू रोड' में लिखा है कि नई कला 'संसार की वह कला है, जैसा कि आँखें उसे देखती हैं, हृदय उसे महसूस करता है, मन उसे जानता है और प्राणी उसका स्वप्न देखता है' रूथ के कथनानुसार अन्तिम बात सब से अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि स्वप्न मनुष्य की अपूर्ण आत्मा में अन्वेषणों की यात्राएँ हैं—भविष्यवाणी के रूप में । साहित्य में नए चिन्तन का यह नया स्वर है ।

एच-३१५ न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली

—देवेन्द्र इस्सर

गद्य गीत

देश काल है, और काल देश !
किन्तु उच्चाभिलाषाएँ और दिव्य स्वप्न हमको
अमरत्व प्राप्त करवाते हैं !
आकाश देश है और देशहीन आकाश, लेकिन
आत्म-तत्व और एकाग्र ध्यान हमारी क्षीण जीवन-
ज्योति को सर्व व्यापिनी अनन्तता से आवेष्ठित करते हैं ।
उषःकाल में ओस बिन्दुओं से दीप्त पुष्प हमारी
आत्म संहुरित की सुरभित सुधा पिला कर कल के
सूर्योदय के पहले ही अपनी पंखुड़ियाँ बिखेर
काल कवलित होता है !
नीले आकाश में पंछी अपनी प्रखर कला और प्राहृत
ज्ञान का प्रदर्शन दो घड़ी कर प्रकम्पित परों को फड़फड़ाता हुआ
अकाल में ही मृत्यु-मुख झटपट पंचत्व प्राप्त करता है !
ऋतुएँ—प्राकृतिक सौन्दर्य को जन्म दे हमारे भाराक्रान्त जीवन को
सांत्वना देने में सहायक होती हैं—और हम को मुक्त करने के लिए
हमारे मनो-विकार और कृतियाँ प्रस्फुटित होकर तप्त होती हैं ! !
देश ही काल है और काल देश ! !

सिकन्दरा रोड,
नई दिल्ली

—दिनेश नन्दिनी

प्राचीन भारतीय कला तथा आधुनिक कला

कला की नई गतिविधियाँ देख कर आज हमारे सम्मुख यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि क्या प्राचीन भारतीय कला उत्कृष्ट कला नहीं थी ? और यदि थी तो क्या यह उचित नहीं है कि उसे हम अपनाएँ ? परन्तु आधुनिक कला का रूप देख कर तो यही ज्ञात होता है कि उसका कोई सम्बन्ध प्राचीन भारतीय कला से नहीं है, और क्या यह उचित है, आधुनिक कला के लिए ? देखने से ऐसा ही लगता है कि आधुनिक कलाकार सारी प्राचीन मान्यताओं को तोड़ डाल रहे हैं। क्या कला विकृति की ओर अग्रसर हो रही है ? क्या कला का कोई आधार होना आवश्यक नहीं ? क्या आधुनिक कला ही सच्चे मानों में उत्कृष्ट कला है ? यह प्रश्न ऐसे हैं जो स्वभावतः सभी जागृत भारतीय के मन में उठते हैं, आधुनिक कला को देख कर। इसका अर्थ यही है कि राष्ट्रीय भावना और अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम हममें अभी तक भी बाकी है और यह उचित है।

कला किसी जाति या राष्ट्र की वह सम्पत्ति है, जिस पर उसकी संस्कृति और सभ्यता निर्भर करती है और कोई भी देश इस सम्पत्ति को आसानी से खोना नहीं चाहता। भारतवर्ष एक अति प्राचीन देश है। यहाँ की संस्कृति, सभ्यता और कला का भण्डार बड़ा विस्तृत है, तब कैसे कोई भारतीय इसे भूल सकता है, या खो सकता है ? किन्तु भारतीय संस्कृति, सभ्यता और कला का नारा ही लगाने से इस भण्डार की रक्षा नहीं हो सकती। भारतीय संस्कृति तथा कला यहाँ के जीवन का मूल स्रोत थी, जीवन का ही अंग थी, जीवन कलामय था, सांस्कृतिक था। कला तथा संस्कृति तभी तक विद्यमान रहती है, जब तक वह जीवन का अंग बनी रहती है, और जब जीवन ही अव्यवस्थित हो जाता है, पराधीन हो जाता है, तो साथ-साथ कला और संस्कृति का भी नाता हमसे टूट जाता है। भारतवर्ष में गुलामी सैकड़ों वर्षों तक रही। जीवन, कला, और संस्कृति तीनों विशृंखलित हुए। उनमें आपस में एकता न बनी रह सकी।

आज हम स्वतंत्रता के वायुमण्डल में साँस ले रहे हैं और यही कारण है कि हमें रह-रह कर अपनी कला, संस्कृति तथा मुक्त जीवन की याद आती है। पर संस्कृति कोई पेड़ नहीं है जो उखाड़ कर एक जगह से दूसरी जगह, एक काल से दूसरे काल में लगा दी जाए। संस्कृति का सदैव स्वाभाविक विकास हुआ करता है, जिसमें समय लगता है। भारत स्वतंत्र है और अपने वातावरण, जलवायु, प्रकृति के अनुसार प्रगति करने का प्रयास कर रहा है और यह प्रयास अवश्य सफल होगा। दूसरे देश की संस्कृति, सभ्यता या कला जो दूसरी मिट्टी की है, दूसरे जलवायु की प्रकृति की है, वह भारत में कभी पल्लवित नहीं हो सकती, यदि भारत की स्वतंत्रता स्थापित रहती है तो। तात्पर्य यह है कि भारत-भारत ही रहेगा, यहाँ की अपनी संस्कृति अपनी कला तथा अपना जीवन होगा। इसे कोई रोक नहीं सकता, यह स्वाभाविक है, परन्तु प्राचीन काल को पुनः लौटाया नहीं जा सकता। आधुनिक काल ने भी कुछ उन्नति ही की है। संसार प्रगति करता आ रहा है, चाहे गुलामी के कारण भारत कुछ दिनों तक इसमें अपना अंश न दे पाया हो पर संसार की प्रगति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा है, क्योंकि भारत संसार से अलग नहीं है। वर्तमान वैज्ञानिक युग ने काफ़ी प्रगति की है। मानव-जाति के सुख तथा आनन्द के लिए नई-नई वस्तुओं का निर्माण हुआ, जिनसे आज सारा संसार लाभ उठा रहा है। इस प्रगति की ओर से आज संसार का कोई भी देश आँख नहीं मूँद सकता। हम भारतीय हैं, भारतीय रहेंगे पर संसार में हैं; इसलिए संसार की प्रगति का हम पर भी प्रभाव पड़ेगा। हम आज वही जीवन नहीं व्यतीत कर सकते जो दस हज़ार वर्ष पूर्व था। कोई देश नहीं कर सकता। आज तो हम जंगली जातियों को भी सभ्य बनाने का प्रयास कर रहे हैं तो हम स्वयं कैसे आज दस हज़ार वर्ष पूर्व का जीवन व्यतीत कर सकते हैं ? आज वही कला नहीं हो सकती जो दस हज़ार वर्ष पूर्व थी।

यह बात भी सही है कि प्राचीन कला का भी बड़ा भारी महत्त्व है। कला की शेष वस्तुएँ ही हमारी ऐसी

१६५७

की निशानियाँ तथा प्रमाण हैं, जिनके द्वारा हमें अपनी संस्कृति का पता लगता है। प्राचीन कला का अध्ययन कर हम सरलता से यह जान सकते हैं कि हमारी श्रेष्ठता, उच्चता, और प्रगति का क्या रहस्य था। किन आधारों पर, किन विचारों पर, किन सिद्धान्तों पर हमारा देश इतनी प्रगति कर सका था। कला का बाहरी रूप कुछ और है और आत्मा कुछ और। हम प्राचीन बाहरी जीवन को समझ कर आज इतना लाभान्वित नहीं हो सकते, जितना उन आधारों को जान कर जिस पर हमारा भौतिक जीवन, संपन्न और सुखमय हो उठा था। यही है भारतीय संस्कृति का मूल जिससे वह पुरातन है और सनातन है। इसे ही हमें पुनः ग्रहण करना है न कि प्राचीन बाहरी रूप को, रीत-रिवाज़ को। ो प्राचीन कला का बाहरी रूप हमें नहीं अपनाना है, बल्कि उस आधार को समझना है, जिस पर भारतीय जीवन आधारित था। आज की कला का बाहरी रूप वही नहीं हो सकता जो दस हज़ार वर्ष पूर्व था।

प्राचीन भारतीय चित्रकला के अति प्राचीन उदाहरण तो आज भी प्राप्त नहीं है। यदि सुरक्षित रूप में देखा जाए तो अजन्ता की कला सबसे प्राचीन है। उसके प्रश्चात् जैन, राजपूत तथा मुग़ल-कला सामने आती है। यह सभी कलाएँ अपने समय के समाज का ढाँचा सामने रखती हैं और उनकी आत्मा तथा सन्देश को व्यक्त करती हैं। पर केवल अजन्ता ही पर्याप्त नहीं है; भारतीय आत्मा या संस्कृति का पूर्ण दर्शन कराने में, अजन्ता एक विशेष समय तथा धर्म से प्रभावित कलाकृति है। जब तक प्राचीन चित्रकला का सारा रूप विस्तार से प्राप्त न हो जाए, कुछ कहना कठिन है। किन्तु यदि हम भारतीय आत्मा को समझना चाहते हैं तो केवल चित्र ही पर्याप्त नहीं है बल्कि वास्तु-कला, मूर्तिकला, संगीत-कला तथा सारा संस्कृत-साहित्य भरा पड़ा है, जिनसे हम प्राचीन भारतीय संस्कृति को जान सकते हैं और उसी आधार पर अपनी आधुनिक कला को भी ढाल सकते हैं। सच कहा जाए तो हम आज इस स्थिति में नहीं हैं कि केवल प्राचीन चित्रकला के आधार पर नव-निर्माण करें बल्कि इसके लिए प्राचीन संस्कृति के जो भी साधन विद्यमान हैं, उनकी सहायता लेना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए संस्कृत साहित्य, वास्तु-कला, मूर्तिकला इत्यादि सभी का गहरा अध्ययन करने की आवश्यकता है। वैसे संस्कृति का भी आधार जीवन-दर्शन हुआ करता है और उसकी भारत में आज भी कमी नहीं। केवल प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन से ही पूर्ण परिचित होकर आज हम भारतीय आधुनिक कला की आधार-शिला मज़बूत कर सकते हैं। हमारा भारतीय दर्शन आज भी संसार में अपना सिक्का जमाए हुए है और दिन-पर-दिन पाश्चात्य देशों पर भी उसका प्रभाव पड़ता जा रहा है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की आधुनिक कला पर पश्चिम की उस आधुनिक कला का प्रभाव भी काफ़ी पड़ा है जो भारतीय दर्शन के काफ़ी नज़दीक है। भारतीय दर्शन अनेकता में एकता खोजता है और यही विचारधारा पाश्चात्य देशों में भी पिछले महायुद्ध के बाद से ज़ोर पकड़ रही है। वहाँ के कलाकारों पर खास कर इस दर्शन का बहुत प्रभाव पड़ा है और यही कारण है कि वहाँ के अग्रगण्य कलाकारों ने पाश्चात्य कला में एक महान् क्रान्ति उत्पन्न कर दी। पश्चिमी कला जो केवल भौतिक धरातल पर पल्लवित हो रही थी, सभी प्राचीन मान्यताओं को तोड़ कर सूक्ष्मता की ओर तथा आन्तरिक सत्यता की ओर चल पड़ी है। वहाँ की कला का बाह्यरूप अब यथार्थ बाह्यरूप (रियलिज़्म) से दूर चला गया है। प्रत्येक कलाकार अपने आन्तरिक अनुभूतियों पर अधिक विश्वास करने लगा है। इसके फलस्वरूप वहाँ की कला अपने पुराने रूप की समता में विकृत लगने लगी है, पर यही विकृति उसे सत्यता के और भी समीप लाने में सहायक सिद्ध हो रही है और यही कारण है जो आज पाश्चात्य कला पहले से कहीं अधिक नज़दीक भारतीय विचारधारा के आ रही है। पूर्व और पश्चिम में अब अधिक दिन भेद नहीं रह सकता। जहाँ पूर्वीय संस्कृति अपने प्राचीन अनुभवों के आधार पर पहुँची है, वहीं पश्चिमी देश अपने वैज्ञानिक प्रगति के कारण पहुँच रहे हैं।

भारतवर्ष में भी चैतन्य और सुलझे हुए चित्रकार इस बात को समझ कर भारतीयता की ओर और अधिक तेज़ी से झुक रहे हैं परन्तु यहाँ के सभी कलाकार इतनी सूझ-बूझ के नहीं है। ग़रीब देश में लोग बड़े आदमियों की, धनाढ्यों की ओर ताकते हैं और उचित अनुचित सोचे बिना जो भी प्रभाव आता है, उससे प्रभावित हो जाते हैं। कुछ कलाकार भारत में भी

ऐसे हो सकते हैं, जिनका काम पाश्चात्य आधुनिक कला की नकल करने से ही चल जाता हो, पर इन कलाकारों के दिन निश्चित हुआ करते हैं, इतना की कहना काफ़ी है।

टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

—रामचन्द्र शुक्ल

तेलुगु कहावतें

अच्चुबोसिनुयाबोतु=मनमानी फिरने वाला
अड्डुकोत्तु लोनिपोक=दो दुश्मनों के संकट में रहने वाला
अडविगासिन वेन्नल=किसी के काम में न आनेवाला (व्यर्थ चीज़)
अन्दवेसिन चेयि=निपुण
अरण्य रोदनमु=व्यर्थ रोना
अन्दनि म्रानि पण्डलकर्रलु साचु=दुर्लभ चीज को चाहना
अरचोति निम्मपंडु=अपने हाथ का कार्य
अल्लारु मुद्दु=बहुत सुन्दर
आकुललोनि बिन्दे=नम्रता से रहने वाला
आटपट्टु=मुख्य स्थान
आट गट्टिंचु=हराना
आदरबादरा=बहुत जल्दी
इनुपगज्जेलतल्लि=दुर्भाग्य देवता
एनुगु पाडि=चाहे जितना
ओज्जवन्ति=श्रेष्ठ (अनुकरण योग्य)
ओज्जल पुच्चकाय=गुरु की पढ़ाई गुरु को ही सौंपने वाला
कड्डुपुपंडु=अच्छा सन्तान होना
कथ यड्डमुदिरुगु=विफल हो जाना
कन्नाकु=श्रेष्ठ
कन्नुल करुवु दीरु=आँखों की प्यास बुझना

—रंगाचार्य

'सन्देश-रासक'—कवि और रचनाकाल

'सन्देश रासक' को प्रकाश में लाने का श्रेय अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध पण्डित श्री मुनि जिन विजय जी को है। सन् १९१२ ई० में उन्होंने पाटन स्थित जैन भण्डारों में हस्त लिखित प्राचीन ग्रन्थों की खोज प्रारम्भ की और उसी समय इस पुस्तक की एक प्रति उन्हें प्राप्त हुई। मुनि जी की कुशल दृष्टि ने इस पुस्तक का महत्त्व तुरन्त आँक लिया। किन्तु प्राप्त प्रति में मूल पाठ की अवचूरिका अथवा संस्कृत-छाया-जैसी कोई वस्तु नहीं थी। अतएव अन्य स्थानों से 'संदेश-रासक' की और प्रतियाँ पाने की आशा में मुनि जी ने इसके प्रकाशन को कुछ देर के लिए स्थगित रखना ही उचित समझा। सन् १९१८ ई० में पूना-स्थित रिसर्च भण्डारकर इन्स्टीट्यूट के अन्तर्गत राजकीय हस्तलेख-संग्रह के जैन-विभाग की जाँच करते समय, उन्हें 'सन्देश-रासक' की दूसरी प्रति मिली। सौभाग्यवश इस प्रति में मूलपाठ की संस्कृत छाया 'अवचूरिका' नाम से दी हुई थी। इस बीच मुनि जी ने 'सन्देश-रासक' की प्राप्ति की सूचना यशस्वी जर्मन विद्वान याकोबी को देदी थी। जर्मनी जाने के पूर्व मुनि जी ने 'सन्देश-रासक' की नकल अपने हाथों कर ली और उसे याकोबी को दिखाया भी। याकोबी ने उस पर अपनी विस्तृत सम्मति भेजने को इच्छा परन्तु अधिक आवश्यक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण याकोबी अपना समय इसके लिए न दे सके। सन १९३८ ई० के आसपास जब मुनि जी प्राप्त दोनों प्रतियों के आधार पर 'सन्देश-रासक' का सम्पादन करने के लिए सम्बद्ध हो चुके थे और हिन्दी गुजराती में निकलने वाली 'भारतीय विद्या' नामक पत्रिका में इसका सम्पादित रूप क्रमशः प्रकाशित करने वाले थे; इसी समय उन्हें मारवाड़स्थित लोहावत के आचार्य श्री जिनहरि सागर जी के ज्ञान भण्डार से 'सन्देश-रासक' की तीसरी प्रति प्राप्त हुई। इसमें मूल-पाठ के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति की लिखी टिप्पणी रूप में संस्कृत टीका भी दी हुई थी। इस प्रकार इन तीनों प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर मुनि जी ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया और एक अन्य विद्वान् श्री हरिवल्लभ मायाणी की विशद विवेचना सहित 'सन्देशरासक' सिंघी जैनग्रन्थ माला के अन्तर्गत सन् १९४५ ई० में प्रकाशित हुआ।

कवि : ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'सन्देशरासक' के कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

"पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥
तह तणओ कुल कमलो पाइच कव्वेसुगीयविसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो सनेहय रासयं रइयं ॥"[1]

इन गाहाओं से कवि के विषय में हमें इन बातों का पता चलता है :

(१) कवि का स्थान 'मिच्छदेस' है जो पश्चिम और पूर्व दोनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

(२) उसी प्रदेश में 'मीरसेण आरद्द' का पुत्र उद्दहमाण उत्पन्न हुआ जो प्राकृत काव्य-रचना में अत्यन्त निपुण था और जिसने :

(३) 'सन्देशरासक' की रचना की।

'सन्देशरासक' की प्राप्त टीकाओं में 'मिच्छदेस' का 'अर्थ म्लेच्छ देश' दिया हुआ है। 'प्राकृत महार्णव' के अनुसार भी इसका यही अर्थ होता है। किन्तु इस म्लेच्छ देश की ठीक-ठीक स्थिति हमें नहीं ज्ञात है। 'मनुस्मृति' में म्लेच्छ देश को यज्ञिय देश के परे बताया गया है। इस यज्ञिय देश का लक्षण मनु ने यह बताया है कि वहाँ कृष्णसारमृग स्वाभाविक रूप से विचरते हैं।[2] किन्तु इतने से ही म्लेच्छ देश का ठौर-ठिकाना अच्छी तरह नहीं लग सकता। इस 'म्लेच्छ' शब्द का इतिहास भी थोड़ा विचित्र है। 'म्लेच्छ' शब्द मूलतः असीरियन धातु 'म्मच्' से निकला है। इसी 'म्लच्' से

---

[1] संदेशरासक १.३,४ [2] कृष्णसारस्तु चरितमृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेश स्त्वतः परः॥

मनुस्मृति ३-२३

जहाँ एक ओर म्लेच्छ शब्द विकसित हुआ जो कालान्तर में निन्दार्थक और घृणास्पद अर्थ में चलने लगा, वहाँ इसी से उद्भूत 'मलिक' और 'मालिक' शब्द क्रमशः जाति विशेष और स्वामित्व के बोधक हैं। जो हो, यह अनुमान किया जा सकता है कि 'मिच्छ' या 'म्लेच्छ' देश से अद्दहमाण का आशय आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान या उसी के आसपास कोई प्रदेश रहा होगा। 'संदेश रासक' में आए हुए सभी नगर—मुलतान, खंभात और विजयनगर, उसी प्रदेश में पड़ते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि कवि उसी प्रदेश के निकटवर्ती किसी स्थान का निवासी रहा होगा। कालान्तर में म्लेच्छ की संज्ञा पाने वाली आर्येतर जातियों का आगमन भी भारत में उसी ओर से हुआ। अतएव इस बात की पूरी संभावना प्रकट की जा सकती है कि उस भूखण्ड को म्लेच्छ देश कहने की परम्परा कभी रही होगी।

इसी म्लेच्छ देश में 'मीरसेन' नामक 'आरद्द' था। आरद्द का अर्थ 'संदेशरासक' की टीकाओं में 'तंतुवाय' मिलता है। सौभाग्यवश आगे चल कर १६ वें छन्द से इस बात की पुष्टि भी हो जाती है। स्वयं अद्दहमाण ने अपनी रचना को 'कोलिय पयासिड' अर्थात् कौलिक द्वारा प्रकाशित या रचित कहा है।[१]

इसके अतिरिक्त 'मीरसेन' नाम भी ध्यान देने योग्य है। इसमें 'मीर' जहाँ मुसलिम जाति-बोधक शब्द लगता है, वहाँ 'सेन' हिन्दू उपाधि है।[२] टीकाओं में 'अद्दहमाण' का रूप 'अब्दुल रहमान' है। कवि ने आत्म-निवेदन में जो कुछ कहा है, उससे पता चलता है कि वह प्राकृत काव्य-रचना में निष्णात थे। यही नहीं 'संदेशरासक' के पाठक को पदे-पदे यह विश्वास होता रहता है कि कवि को भारतीय साहित्य की परम्परा का सम्यक् ज्ञान है। कवि की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में अभारतीयता का लेश नहीं मिलता। यद्यपि अद्दहमाण के हिन्दू, अहिन्दू होने से कुछ नहीं बनता बिगड़ता लेकिन रासक के पाठक के हृदय में यह शंका बनी रहती है कि कवि किस धर्म का अनुयायी था।

वयन जीवी जातियों में जुलाहा प्रमुख है। आज साधारणतः सभी वयनजीवी जातियों को जुलाहा कहा जाता है। 'ब्रह्म वैवर्त' पुराण में बताया गया है कि जुलाहों की उत्पत्ति म्लेच्छ पिता और कुविन्द माता से हुई है।[३] रिजली के अनुसार यह जुलाहा-जाति किसी निम्न स्तरीय भारतीय जाति का मुसलमानी रूप है। 'कबीर' में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "जिन दिनों कबीरदास इस जुलाहा-जाति को अलंकृत कर रहे थे, उन दिनों ऐसा जान पड़ता है कि इस जाति ने अभी एकाध पुश्त से ही मुसल्मानी धर्म ग्रहण किया था।" यदि अद्दहमाण कबीर से पहले उत्पन्न हुए थे—जो निश्चित ही है तो यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि यह जुलाहा-जाति उस समय पूर्ण रूप से मुसल्मान नहीं हुई थी। कवि के पिता का द्विधर्म-सूचक नाम भी इसी तथ्य का संकेत तो नहीं करता है?

उक्त पुस्तक में द्विवेदी जी ने कबीरदास के वंश की विवेचना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस जाति में कबीर उत्पन्न हुए थे, उसमें निराकार भावना की उपासना प्रचलित थी।[४] यद्यपि 'सन्देशरासक' में मतमतान्तरों की चर्चा के लिए कोई अवकाश नहीं है, फिर भी प्रथम गाहा में कवि ने जिस ढंग से ईश-वन्दना की है, वह संकेतपूर्ण प्रतीत होती है :

"माणुस्स दिव्व विज्जाहरेहिं णहमग्गि सूर ससि बिंबे
आएहिं जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं"
(सन्देश रासक १।१)

ध्यान देने की बात है कि जायसी ने भी 'पद्मावत' प्रारम्भ करते समय 'आदि एक कर्तार' को सुमिरा है।[५] क्या अद्दहमाण और जायसी को 'कर्तार' के सूत्र से जोड़ा जा सकता है?

विद्वानों ने इस बात को लक्षित किया है कि "योगियों और नाथ पन्थियों के मध्ययुगीन आचार-

---

१. संदेशरासक १।१६। २. मीरसेन की ही भाँति मुसलमान कहे जाने वाले प्रसिद्ध गायक तानसेन के नाम में 'सेन' है। किन्तु साधारणतः 'सेन' मुसल्मानी नाम के पीछे नहीं लगा। 'भटतम्मरा' में सुनीतिबाबू का 'तानसेन' निबन्ध इस विषय में द्रष्टव्य है। ३. म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिवेभूव है।—ब्रहमवैवर्त पुराण अध्याय १०। ४. कबीर प्रस्तावना पृ. १४। ५. पद्मावत, स्तुतिखण्ड।१।

१६५७

विचार पर प्रकाश डालने वाली जितनी भी पोथियाँ, अब तक आविष्कृत हुई हैं, उनमें की अधिकांश मुसलमान कवियों की लिखी हुई हैं।"[3] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर, दादू, रज्जब, कुतुबन और जायसी आदि निर्गुण कवियों का सम्बन्ध इन्हीं निराकारवादी कवियों से जोड़ना चाहते हैं।[1] क्या 'संदेशरासक' जैसे आमुष्मिकता रहित काव्य के रचयिता अद्दहमाण भी इनकी बिरादरी में बैठाए जा सकते हैं? मेरा विचार है कि जातिगत एकता और निर्गुणवन्दना इन दो आधारों पर ऐसा करने का साहस किया जा सकता है।

रचना काल : 'सन्देश रासक' अथवा अद्दहमाण का कोई उल्लेख अब तक अन्यत्र नहीं प्राप्त हो सका है। अतएव इसके रचना-काल का निर्धारण किसी बाहरी सहायता से नहीं किया जा सकता।

'सन्देशरासक' की एक टीका (लक्ष्मी चन्द की) का समय वि० संवत् १४६५ है। अतएव यह तो निश्चित ही है कि 'सन्देशरासक' की रचना १५ वीं वि० शती तक हो चुकी थी। 'सन्देश रासक' की भाषा और उसके द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर श्री मुनि जिन विजय जी अद्दहमाण को मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमण से किंचित् पूर्व, काल, का, ईसा की १२ वीं शताब्दी का कवि मानते हैं।[2]

'सन्देश रासक' के वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय मुलतान पश्चिमोत्तर भारत में प्रमुख हिन्दू तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध था। वह सूर्य-कुण्ड के कारण पश्चिमोत्तर भारत का प्रमुख धार्मिक स्थान समझा जाता था। इससे अनुमान लगाया गया है कि 'सन्देश-रासक' की रचना के समय तक मुहम्मद गोरी का आक्रमण मुलतान पर नहीं हुआ था। क्योंकि मुहम्मद ग़ोरी द्वारा एक बार नष्ट कर दिए जाने के पश्चात् मुलतान फिर अपनी पूर्व समृद्ध कभी न पा सका। रासक में विजयनगर अथवा विक्रमपुर तथा स्तम्भतीर्थ (आधुनिक खम्भात) का उल्लेख हुआ है।[3] विजय नगर जैसलमेर-राज्य के अन्तर्गत पड़ता है।[4] नायिका का पति धनोपार्जन के लिए स्तम्भतीर्थ गया था। पथिक भी मुलतान से अपने स्वामी का लेख वहीं ले जा रहा था। इससे प्रकट होता है कि उस समय खम्भात भी अत्यन्त समृद्ध था, जहाँ देश के विभिन्न भागों से लोग धनोपार्जन के निमित्त आया करते थे। इतिहास बताता है कि खम्भात चालुक्य वंशी शासक सिद्धराज और कुमारपाल के शासन-काल में अत्यन्त समृद्ध रहा है। कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात् ही खम्भात की नगर की श्री विलुप्त होने लगी। इन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर मुनि जिनविजय जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सन्देशरासक' मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमण के पूर्व अथवा कुमारपाल की मृत्यु के पूर्व लिखा गया होगा।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अद्दहमाण को ११ वीं शताब्दी का कवि माना है।[5]

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे १२ वीं १३ वीं शताब्दी की रचना मानी है।[2]

किन्तु श्री अगरचन्द नाहटा 'सन्देश-रासक' को इतनी पुरानी रचना मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार लक्ष्मीचन्द्र की टीका से, जो संवत् १४६५ में लिखी गई थी, यह ज्ञात होता है कि 'सन्देश-रासक' की रचना लक्ष्मीचन्द्र से, बहुत पूर्व नहीं हुई थी, क्योंकि टिप्पनक के अन्त में लिखा है कि उन्होंने न तो 'सदेन्श-रासक' की कहीं वृत्ति देखी है, न किसी गुरु के पास रह कर इसे पढ़ा है। कर्ता के मुख से भी उन्होंने इसका अर्थ नहीं बूझा इत्यादि।

नाहटा जी का मत है कि लक्ष्मीचन्द्र के यह कहने से, कि उन्होंने 'सन्देश-रासक' के कर्ता के मुख से भी इसका अर्थ नहीं जाना, प्रकट होता है कि उन्हें अद्धहमाण से मिल सकने की सम्भावना थी, अर्थात् अद्धहमाण और लक्ष्मीचन्द्र सम-सामयिक थे। इस स्थिति में 'संदेश-रासक' का रचना-काल १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ले जाया जा सकता है।[1]

किन्तु टिप्पनक के उक्त श्लोक को ध्यान से पढ़ने पर यह प्रतीत होता है कि लक्ष्मीचन्द्र ने यह सब विनय-भाव-वश अपनी असमर्थता दिखाने के लिए कहा है। उन्होंने सन्देश-रासककार के मुख से उसकी रचना का अर्थ नहीं सुना, यह ठीक है। किन्तु इससे

---

१. कबीर पृ. १३। २. सन्देश-रासक प्रिफ़ेस पृ. १२। ३. वही २।२४, ६५। ४. वही प्रिफ़ेस पृ. १२।
५. हिन्दी काव्यधारा पृ. २।२। ६. हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ ४२ पृ. सं. । ७. विकास २।३।

यही अर्थ कैसे निकाला जाए कि लक्ष्मीचन्द्र के समसामयिक थे। अद्दहमाण, टिप्पनकार से सौ, दो सौ वर्ष पूर्व हुए थे, यह समझने में कोई बाधा नहीं उपस्थित की जा सकती।

यद्यपि 'सन्देश-रासक' के रचना-काल को निर्धारित कर सकने वाले सबल प्रमाणों का अभाव है किन्तु फिर भी मुनि जी के तर्कों को न मानने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता। अतएव 'सन्देश-रासक' का रचनाकाल १२ वीं शती ईस्वी का उत्तरार्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं उपस्थित की जा सकती।

६१, गुर्टू छात्रावास
हिन्दू विश्व-विद्यालय वाराणसी

—विश्वनाथ त्रिपाठी

मुझे रोम में पहुँचे हुए कुछ ही दिन हुए थे। एक पार्टी में मैं एक प्रतिष्ठित व्यक्ति से मिली। इनकी आयु लगभग ४० वर्ष की थी। बातचीत छिड़ गई। हम स्वप्नों के विषय में बातें करने लगे।

मैं ने कहा कि मैं ने एक स्वप्न में एक सफ़ेद रंग के हाथी को देखा। उसके शरीर पर काले रंग की धारियाँ थीं। वह हाथी जंगलों में घूम रहा था। मैं जिस व्यक्ति से बातें कर रही थी, मुझे उसका नाम मालूम नहीं था। मेरी फिर कभी उससे मुलाक़ात नहीं हुई।

जिस दिन हमारी मुलाक़ात हुई थी, उससे अगले दिन की बात है। मुझे एक पार्सल मिली जिस पर कि मेरा नाम लिखा हुआ था। मैंने पार्सल खोली। पुष्पित-कागज के अन्दर चीनी मिट्टी का एक सफ़ेद हाथी रखा हुआ था, जिस पर काली धारियाँ अंकित कर दी गई थीं।

साथ में एक कार्ड रक्खा हुआ था। इसमें लिखा हुआ था: "आशा है कि आज जब आपको स्वप्न आएगा तब आप स्वप्न में मुझे अपने सामने देखेंगी।"

कार्ड पर किसी के हस्ताक्षर नहीं थे।

—लैटीशिया बाल्डरिज़ के एक लेख में से

साहित्य के दावेदार

(प्रारम्भिक संगीत के बाद अक्षय जी का झुँझलाया हुआ स्वर सुनाई पड़ता है।)

अक्षय जी : अजीब हालत है! आठ बज चुके हैं, पर अभी तक सदस्यों का पता ही नहीं है। कहा, जाता है, तो मुँह बनाते हैं। क्यों, मधुर जी, आपकी क्या राय है—अभी तक कुछ देर और प्रतीक्षा की जाए अथवा गोष्ठी स्थगित की जाए?

मधुर जी : मेरे विचार में तो, अक्षय जी, जहाँ आधा घण्टा प्रतीक्षा की है, वहाँ कुछ देर और सही। कलाकार हैं, मूडी जीव होते हैं। देर-सवेर आ ही जाएँगे।

अक्षय जी : अजी, कलाकार होंगे तो, अपने घर के होंगे। यह तो संस्था है, कोई मज़ाक थोड़े ही है। हम ही कोई घर से फ़ालतू हैं कि इतनी देर पहले आ कर बैठ जाते हैं।

(बाहर से कुछ लोगों की आवाज़ तथा उनके जूतों की ध्वनि फ़ेड इन : 'अरे, यहाँ जूते-वूते तो किसी के कोई खास दिखाई नहीं पड़ रहे हैं।')

चंचल जी : (भीतर की ओर आवाज़ आते हुए) मैं तो आप से पहले ही कह रहा था, नीरस जी, लेकिन आप सुनते किस की हैं। अजी श्रीमान्, यह हिंदुस्तान है, यहाँ सात के आठ हो जाना मामूली बात है। आपने तो हाय तोबा मचा दी खाना भी ढंग से खाने नहीं दिया।

अक्षय जी : व्यंग्यपूर्वक) तो अब चले जाइए, चंचल जी। आप को रोक किसने रखा है?

चंचल जी : अरे, अरे, आप तो बहुत जल्दी बुरा मान जाते हैं, भाई अक्षय जी! मैं तो यों ही हँसी कर रहा था। बैठो, भई, नीरस जी।

(क्षणिक सन्नाटा)

नीरस जी : कहिए, मधुर जी, आपने इस महीने का 'गिरनार' भी देखा है?

मधुर जी : अजी, कौन एक रुपया खर्च करे? कोई अपने आप भेज देता है, तो इधर-उधर से देख लेते हैं। यहाँ तो कभी पत्र-पत्रिकाओं पर पैसा खर्चते नहीं… क्यों, उसमें कोई खास बात है क्या?

नीरस जी : बहुत खास तो नहीं, बस शुष्क जी के महाकाव्य की आलोचना आई है। उखाड़ कर रख दिया है।

अक्षय जी : अरे, तो इसमें कोई नई बात थोड़े ही है। उनकी पुस्तकों में यही तो एक पुस्तक है, जिस पर किसी को कुछ कहने का मौक़ा तो मिला। अब तक तो आलोचना ही कहीं दिखाई नहीं देती थी… (हँसी)।

(चप्पलों की आवाज़ फ़ेड इन)

शुष्क जी : नमस्ते भाइयो!

मधुर जी : आइए, शुष्क जी। आपकी बहुत बड़ी उमर है। इस समय आप ही की चर्चा चल रही थी। इस बार तो 'गिरनार' ने आपकी समालोचना छापी है।

शुष्क जी : अच्छा, कैसी समालोचना है? कुछ ढंग से भी की है?

नीरस जी : देखूँ, शायद मेरी जेब में कोई 'गिरनार' की प्रति पड़ी हो। (पन्ने लपटने की अवाज़) लीजिए, लिखते हैं : कवि की न भाषा है, न शैली है। लगता है जैसे किसी अपरिपक्व दिमाग़ की उपज है। कवि ने जिन शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया है, वे न केवल असाहित्यिक ही हैं, बल्कि उनमें कोई प्रवाह भी नहीं है। एक तरह से कहना चाहिए। यह काग़ज़ का दुरुपयोग है।

शुष्क जी : (विहँस कर) अजी, इसकी तो मैं पहले से ही आशा कर रहा था। बात यह है कि वे मुझसे जलते हैं।

नीरस जी : हो सकता है आप की बात सत्य हो। वैसे उनकी आलोचना होती निष्पक्ष है।

(बहुत से जूतों की आवाज़ फ़ेड इन)

दिव्य जी : नमस्ते, बन्धुओ!

अक्षय जी : अब आ रहे हैं आप लोग!

दिव्य जी : अरे, तो साहब, इतने नाराज़ क्यों हो रहे हैं। हमें कोई यही काम थोड़े ही रह गया है। मालूम है, घर पर चार मवक्किल छोड़ कर आया हूँ।

अक्षय जी : (व्यंग्य से) हाँ, भई, आजकल दिव्य जी की वकालत के क्या कहने, क्यों साहब क्या बयाने का रुपया वापस लेने आए थे वे चारों ?

दिव्य जी : (तेज़ स्वर में) क्या मतलब ?... अच्छा, तो अपना अनुभव सुना रहे हैं । जनाब !

अभय जी : अक्षय जी, अब क्या देर-दार है । मेरा ख़याल है, गोष्ठी आरम्भ की जाए ।

अक्षय जी : पहले आप ढंग से तो बैठिए, तकिए पर क्यों लुढ़के जा रहे हैं ! ज़रा प्रधान जी आ जाएँ तो बस...

दिव्य जी : वाह, साहब, वाह ! अगर प्रधान जी न आए आधी रात तक भी, तो ?

(जूतों की आवाज़ फ़ेड इन)

मधुर जी : यह लीजिए, प्रधान जी भी आ गए । जिन-जिन लोगों की घड़ी तेज़ हो, वे सब पीछे कर लें ।

प्रधान जी : क्यों, क्या मुझे बहुत ज़्यादा देर हो गई है ?

अक्षय जी : जी नहीं, देर आपकी नहीं, हमें हो गई है, आपका इन्तज़ार करते-करते । ज़्यादा नहीं, सिर्फ़ सवा घण्टा हुआ है !

अभय जी : कहिए साहब, कौन-सी पिक्चर देखी ?

दिव्य जी : ओह ! तो यों कहिए, प्रधान जी पिक्चर देख कर आ रहे हैं ! हाँ, साहब, सब दूसरों की ही बातें बनाते हैं ।

प्रधान जी : बात यह है कि मैंने सोचा आप लोग तो देर से शुरू करेंगे ही, यह पिक्चर ही क्यों छोड़ी जाए । अंग्रेज़ी पिक्चर चलती ही कितने दिन है । आज बदल जाती...चलिए, अभी क्या बिगड़ा है, अब शुरू हुई जाती है । अक्षय जी, कार्रवाई शुरू कीजिए ।

अक्षय जी : बहुत अच्छा, सबसे पहले चंचल जी का नम्बर है । चंचल जी, पढ़िए कहानी ।

चंचल जी : (चिढ़े स्वर में) वाह साहब ! आप हर बार मुझसे ही शुरू करवाते हैं, और भी तो हैं, मैं नहीं पढ़ूँगा पहले ।

अक्षय जी : देख लीजिए, अब पढ़नी हो पढ़ दीजिए । बाद में नम्बर नहीं आएगा ।

चंचल जी : (उदास स्वर में) तो जिस दिन नम्बर आएगा उसी दिन पढ़ दूँगा ।

अक्षय जी : ठीक है, तो, नीरस जी, आप अपने काव्य पाठ से गोष्ठी आरम्भ कीजिए ।

प्रधान जी : ठहरिए, नीरस जी, पहले मैं एक निवेदन कर दूँ, विशेष कर कवि बन्धुओं से । जब तक किसी पद के लिए श्रोताओं की प्रशंसा प्राप्त न हो, या उसे पुनः पढ़ने के लिए न कहा जाए, तब तक कोई सज्जन बार-बार एक ही पद को न दोहराएँ । बस मुझे यही कहना था ।

अक्षय जी : अच्छा, अब पढ़िए, नीरस जी ।

नीरस जी : (पन्ने पलटने की आवाज़ के साथ) मेरी कविता का कोई शीर्षक नहीं है......

(सैंडिलों और जूतों की आवाज़ फ़ेड इन)

अक्षय जी : आइए, प्रमिला जी ! आइए, नीरा जी ! नमस्ते, वर्मा जी । आज सब से देर का सेहरा आपके सिर रहा ।

प्रमिला जी : बात यह है कि मेरी जान के पीछे केवल यही एक संस्था तो नहीं है । कला परिषद् की मीटिंग से सीधी यहीं चली आ रही हूँ ।

प्रधान जी : आइए, प्रमिला जी, इधर आ जाइए । नीरस जी, आप भी, आपका स्थान तो इधर है । नीरस जी, आप आरंभ कीजिए । सज्जनों, सब लोग अपना-अपना ध्यान केन्द्रित करें, नीरस जी अपना कविता पाठ आरम्भ कर रहे हैं ।

नीरस जी : इस कविता में मैंने चाँद-तारों का प्रतीक के रूप में प्रयोग किया है । प्रिय के विरह में वातावरण कैसा डूब-सा जाता है, वही मैंने दिखाने का प्रयत्न किया है ।

(पाठ आरम्भ करते हैं, गा कर)

"हो गया मरुथल तुम्हारी याद में मेरा बसेरा,
अश्रु से भीगी पलक यह, रात में डूबी अलक यह,
व्योम के इन चाँद-तारों में बनाती मौन डेरा
लालिमा भी रो रही है, मोतियों को खो रही है

(प्रशंसात्मक व्यंग्य के स्वर) वाह, नीरस जी, वाह ! लालिमा भी रो रही है—क्या बात पैदा की है ! नया प्रयोग है—(क्षणिक शान्ति) ।

अक्षय जी : पढ़िए, नीरस जी, रुक क्यों गए !

नीरस जी : बात यह है कि जब मैं अधिक प्रशंसा सुनता हूँ, तो मेरा स्वर लोप हो जाता है, ख़ैर,

१९५७

सुनिए :

"लालिमा भी रो रही है, मोतियों को खो रही है,
बेइरादे रो रहा है, यह उजेरा औ' अँधेरा
चाँद की पाँखें धुली जब, खिड़कियाँ मन की खुली तब
बेधड़क हो नींद मेरी ले गया कोई लुटेरा''

मधुर जी : वाह, नीरस जी, खूब तुक मिलाई है आपने भी।

नीरस जी : क्या कहा आपने ! क्या मैं तुक मिलाता हूँ ?

प्रधान जी : ठहर जाइए, नीरस जी, अभी आपकी आलोचना उचित रीति से होती है...प्रमिला जी, आप इस कविता के विषय में कुछ कहेंगी ?

प्रमिला जी : भई, मैं तो चाँद की ओर देख रही थी। मैंने तो क़विता सुनी ही नहीं।

दिव्य जी : (धीमे स्वर में) फिर तो मन की खिड़कियाँ खुल गई होंगी, प्रमिला जी (लोगों की मन्द-मन्द हँसी)।

अक्षय जी : किसी और सज्जन को इस कविता के विषय में अपनी राय देनी है ? क्यों, अभय जी।

अभय जी : यह कविता...कविता...बिलकुल अच्छी नहीं है।

नीरस जी : क्या कमी है, साहब, यह भी तो बताइए।

अभय जी : यह कवियों से पूछिए, मैं तो गद्य-लेखक हूँ। बस, अच्छी नहीं लगी, तो नहीं लगी।

अक्षय जी : इसका अर्थ है कि किसी को कुछ नहीं कहना है...दिवाकर जी, अब आप अपनी कहानी सुनाइए।

प्रधान जी : पहले यह बताइए, अक्षय जी, आपने इनकी कहानी देख भी ली है कि नहीं ?

दिवाकर जी : क्यों, साहेब, मेरी कहानी पहले क्यों देखी जाए ?

प्रधान जी : बात यह है कि आपको प्रायः अधूरी कहानी सुनाने की आदत है, ताकि आप क्लाइमेक्स जेबों से खोज कर ले जाएँ।

अक्षय जी : फिर आपका एक पेज जेब में होता है, तो दूसरा टोपी में। इसमें बहुत समय बेकार चला जाता है।

दिवाकर जी : देखिए, सज्जनो, जब मुझ पर इतने अधिक आरोप लग गए हैं, तो अच्छा यही होगा कि मैं कहानी न पढ़ूँ। मैं तो एक सम्पादक के दस पत्र आने पर कहानी भेजा करता हूँ। सुनाने की तो बात ही अलग रही।

प्रधान जी : अच्छा, तो यह सिद्ध हो गया कि दिवाकर जी अपनी कहानी को अधूरी मानते हैं। इस सूरत में, अक्षय जी, कार्यक्रम आगे चलाइए।

दिव्य जी : चंचल जी, आपके पास माचिस तो नहीं है।

चंचल जी : मैं तो माचिस रखने वालों पर लानत भेजता हूँ। क्यों, क्या कहीं आग लगाने का इरादा है ?

दिव्य जी : नहीं, मुझे तो सिगरेट में आग लगानी थी।

नीरस जी : प्रधान जी, एक बात का तो मुझे निवेदन करना है कि साहित्यिक गोष्ठियों में तो कम-से-कम सिगरेट पीना वर्जित होना चाहिए।

मधुर जी : मैं भी आप की बातों का घोर समर्थन करता हूँ, नीरस जी।

अभय जी : मुझे इस समर्थन से सख़्त आपत्ति है, साहब। आख़िर हम यहाँ मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन के लिए ही तो आते हैं। ये दोनों बातें, बिना सिगरेट का सेवन किए नहीं आ सकतीं। बल्कि, मैं तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी आप लोगों के सम्मुख प्रस्तुत कर देना चाहता हूँ। एक प्रसिद्ध लेखक का कहना है कि जो लोग सिगरेट नहीं पीते, उनके दिमाग़ पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाते, वे कहीं-न-कहीं हीन भावना के शिकार होते हैं।

प्रधान जी : ख़ैर, यह विषय विवादास्पद है।

चंचल जी : मेरी राय में तो इस पर वोट ले लिए जाएँ, प्रधान जी।

शुष्क जी : वोटिंग के लिए इलेक्शन ही क्या कम है। भला, साहित्यिक संस्थाओं में राजनीति की क्या आवश्यकता है ?

मधुर जी : इस छोटी-सी बात से राजनीति का क्या वास्ता ? मेरे विचार में तो, प्रधान जी, आप इस पर अपनी रूलिंग दे दीजिए।

प्रधान जी : बहुत अच्छी बात है। मेरी रूलिंग

तो नहीं लग रही है ?

अभय जी : लग तो रही है ।

चंचल जी : तो फिर चल नहीं रहे हो ? नीचे पनवाड़ी की दूकान है ।

प्रधान जी : आप कहाँ चले, चंचल जी ? अब आपकी कहानी ही होगी ।

चंचल जी : अभी तो बहन जी की कविताएँ ही चल रही हैं । मैं अभी दो मिनट में आता हूँ ।

प्रमिला जी : (कविता पाठ, बीच में ही रोककर) नहीं, नहीं, मेरी कविताएँ तो फिर कभी आप फुरसत से सुनिए । (लोग छुटकारे की लम्बी साँस लेते हैं)

अक्षय जी : चंचल जी, अब आप अपनी कहानी पढ़िए ।

मधुर जी : कहानी ! कहानी का तो मूड नहीं है ।

शुष्क जी : क्यों, साहब, कितने पेज की है, कहानी ?

चंचल जी : (चिढ़ कर) बीस हैं, कहिए, समझ में नहीं आता । आपको पेड़ गिनने से मतलब है या आम खाने से......

अभय जी : बीस तो बहुत ज्यादा हैं । फिर कहानी क्या हुई पूरा उपन्यास हो गया ।

शुष्क जी : अजी, महाकाव्य कहिए, महाकाव्य ।

नीरस जी : (धीमे से) शुष्क जी, क्या बात है, आपको महाकाव्य बहुत याद आते हैं ।

अक्षय जी : बन्धुओं, यह 'कार्नर मीटिंग्स' बन्द कीजिए ।

मधुर जी : क्यों, प्रधान जी, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि इस कहानी का किसी अगली मीटिंग के लिए स्थगित कर दिया जाए । समय काफ़ी हो गया है, अब तो दो चार कविताएँ सुना दीजिए ।

प्रधान जी : मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है । कहानीकार से पूछ लीजिए, यदि वह इसके लिए तैयार हों तो ।

चंचल जी : नहीं, साहब, मैं इसके लिए हरगिज़ भी तैयार नहीं हूँ । आखिर कविताएँ सुनने में भी तो आपका समय जाएगा । पता नहीं, आप गद्य लेखकों से इतना जलते क्यों हैं ?

प्रधान जी : तो फिर आप पढ़िए अपनी कहानी ।

चंचल जी : देखिए, मेरी कहानी के दो शीर्षक हैं : 'प्रणय प्रदर्शन', दूसरा : 'दो चाँटे'—आप जो चाहे समझ लें । यह कहानी हिन्दी साहित्य में मेरा सर्वथा नवीन प्रयोग है ! यह विश्व की सबसे छोटी कहानी है । अब मैं आपको अपनी कहानी सुनाता हूँ :

एक दिन आसमान ने पृथ्वी से कहा, "मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ ।" पृथ्वी के एक चाँटे से आसमान नीला पड़ गया । दूसरे से उसको तारे दिखाई देने लगे...।

(क्षणिक शान्ति)

मधुर जी : आगे पढ़िए, चंचल जी, रुक क्यों गए ?

चंचल जी : मधुर जी, मुझे आप पर तरस आता है । आप कहानी के क्लाइमेक्स तक को नहीं समझते । कहानी ख़त्म हो गई है ।

नीरस जी : यह तो कुछ भी नहीं रही । एक गद्य-गीत-सा हो गया ।

अक्षय जी : अजी, गद्यगीत भी कहाँ, चुटकुला है, चुटकुला ।

चंचल जी : आप इसे चुटकुला कह लें या गद्य गीत कह लें । मैं तो कहानी ही मानता हूँ । इसमें कहानी के सभी तत्त्व मौजूद हैं । आरम्भ इसमें है, अन्त इसमें है—इसमें है क्या नहीं ?

प्रधान जी : यदि आप इसे कहानी कहते हैं, तो यह बताइए कि इसका उद्देश्य क्या है ?

चंचल जी : यह उद्देश्य की बात आप कहाँ से ले बैठे । हर रचना किसी-न-किसी उद्देश्य से ही लिखी जाए, यह क्या आवश्यक है ? क्यों, प्रमिला जी ?

प्रमिला जी : मैं तो समझती हूँ, जिस साहित्य में उद्देश्य आ जाता है, वह साहित्य नहीं रहता, निरा प्रचार हो जाता है ।

प्रधान जी : व्यंग्य पूर्वक) यह तो आपने बड़ी ऊँची बात कह दी, प्रमिला जी । आपकी दृष्टि से तो प्रेमचन्द शरत्चन्द्र, टैगोर सभी का साहित्य प्रचार-मात्र है ।

प्रमिला जी : उन लोगों की बात और है—उन्हें आप कहाँ बीच में घसीट लाए ?

अभय जी : एक बात तो मुझे आपकी कहानी के विषय में कहनी है, चंचल जी । इसमें अध्ययनशीलता की कमी खटकती है ।

शुष्क जी : साहित्य-रचना के लिए अध्ययन आवश्यक नहीं है। उससे मौलिकता नष्ट होती है।

अक्षय जी : वाह, शुष्क जी, यह कही है आपने काव्य वाली बात।

(जूतों की चरमराहट फेड इन)

प्रधान जी : आ गए, दिव्य जी, आप। अब आप ही की कविता पढ़ने की बारी है।

दिव्य जी : मेरा तो प्रोग्राम में नाम ही नहीं है।

प्रधान जी : कोई सब का ही प्रोग्राम में नाम होना आवश्यक तो नहीं है। यह अतिरिक्त में है।

दिव्य जी : नहीं मानते, तो अपनी ताज़ी कविता सुनाता हूँ। यह कविता मैंने हाल ही में दिल्ली से घूमते हुए मोटर-साइकिल पर लिखी थी। कविता से पहले एक रुबाई है।

(गाकर उखड़े स्वर में पढ़ते हैं)

"किसी के नैन, तेरे नैन से जाकर अटकते हैं,
किसी के कर तुम्हारे कुंतलों में ही भटकते हैं
मुझे लगते बहुत अच्छे. तुम्हारे कान के बुंदे,
कि जैसे डालियों से आम बम्बइया लटकते हैं"

अक्षय जी : वाक़ई मोटर-साइकिल की गति है, इसमें।

दिव्य जी : मोटर-साइकिल पर जो लिखी थी, वह अब सुना रहा हूँ। इसे तो आप बैलगाड़ी की गति की ही समझिए। कविता की प्रथम पंक्ति है : अपना मौन तोड़ दो, रानी!

मधुर जी : (अलसाए से स्वर में) अब तो बहुत देर हो गई।

दिव्य जी : जी नहीं, यह दूसरी पंक्ति नहीं है। सुनिए :

"अपना मौन तोड़ दो, रानी,
मेरा जीवन बाइसिकिल है
मन-पहिया व्याकुल चंचल है
तुम अपनी मादक चितवन से,
पंचर आज जोड़ दो, रानी,
अधर तुम्हारे गीत गा रहे,
नयन तुम्हारी ज्योति पा रहे,
आज हृदय की कार नवेली
फिर से इधर मोड़ दो, रानी,
अपना मौन तोड़ दो, रानी,
लहरों के कुन्तल में सोया,
उस दिन हाय मैं कितना रोया,
तुम्हें नाव में नींद आए तो,
मुझको जगा छोड़ दो, रानी,
अपना मौन तोड़ दो, रानी"

मधुर जी : हूँ,...(जम्हाई ले कर) अच्छी है।

अक्षय जी : दिव्य जी, ज़रा तीसरे पद की दूसरी पंक्ति तो फिर से पढ़िए, उसमें मात्रा-दोष है।

दिव्य जी : बस, मात्रा-दोष ही तो है। यह कोई दोष नहीं होता।

अक्षय जी : क्या कहा, मात्रा-दोष कोई दोष ही नहीं होता। तो फिर दोष क्या होता है?

दिव्य जी : कविता में कभी कोई दोष ही नहीं होता, वे तो कवि के उद्गार होते हैं, भाव हैं, जिधर भी बहक जाएँ। यों तो निराला, पन्त, बच्चन आदि की कविता में भी आपको दोष देखने को मिलेंगे। मात्रा-दोष तो मात्रा-दोष, वे तो तुक भी नहीं मिला पाते।

अक्षय जी : यह तो अतुकान्त कविता की बात हुई। सतुकान्त कविताओं में अगर मात्रा-दोष होगा, तो वे अवश्य ही दोषपूर्ण मानी जाएँगी। क्या आप कोई ऐसी कविता दिखा सकते हैं उनकी, जिसमें मात्रा-दोष हो।

दिव्य जी : मैं कोई दूसरों की कविताएँ रटे थोड़े ही फिरता हूँ। आप पुस्तकें पढ़ने का अभ्यास कीजिए।

प्रधान जी : नीरा जी, अब तो आप अपना गीत सुनाइए।

नीरा जी : (कुलमुलाती-सी) बात यह है कि मुझे तो पढ़ना ही नहीं आता। न मैंने कोई कविता ही लिखी है।

अक्षय जी : वाह, नीरा जी, आपके गद्य-गीत क्या आसमान से टपक पड़ते हैं? देखिए, इतनी आसानी से हम लोग आपको नहीं छोड़ेंगे।

नीरा जी : जब आप ज़िद ही करते हैं, तो एकाध छोटा-सा गद्यगीत सुनाए देती हूँ—सुनिए :

"तारों की महफ़िल में अलंकृत फूलों का पराग जब अमृत के कणों का स्वाद ले, प्यार की बंसी बजाता है, तो कौन रात के अँधेरे में जुगनू की तरह चमचमा

कर मुझे मौन निमन्त्रण दे उठता है ? मेरे अन्तर की वीणा का नाद झंकृत करने कौन आता है ? मेरे प्रणय की सौगन्ध तुम्हें, तुम कौन हो, यह मुझे बता दो। मेरे अधरों पर थिरकने वाले, मेरी कल्पना के विराम ! मेरी तड़पती हुई वेदना विश्राम के आँचल में जब भी सोने का प्रयत्न करती है तब, क्यों भ्रमर की तरह मुझ कोमल कलिका से तुम छेड़छाड़ करते हो ? मेरे सपनों के संसार के तुम्हीं तो विधाता हो, क्या मुझे अपना नाम नहीं बताओगे, मेरे प्राण। तुम्हारा हृदय अमृत का सरोवर है। क्या उसमें स्नान का अवसर मुझे दोगे, मेरे देव ?''

दिव्य जी : नीरा जी, आपके इस गीत में जो 'अमृत' शब्द आया है, उसमें मात्रा दोष है—क्यों, अक्षय जी ?

अक्षय जी : यह तो गद्यगीत है भाई, इसमें मात्रा-दोष कैसा ?

दिव्य जी : और मैं इतनी देर से कह क्या रहा था कि गीतों में मात्रा-दोष होता ही नहीं।

(सबके हँसने का स्वर)

अक्षय जी : आपको यह भी मालूम है कि अमृत में मात्राएँ होती कितनी हैं ?

दिव्य जी : चार—सब कोई जानते हैं।

(फिर हँसी)

अक्षय जी : बस, इतना ही जानते हैं जनाब, अमृत में तीन मात्राएँ होती हैं। आप ही नए कवि हुए हैं, जो इसमें चार मात्राएँ बता रहे हैं !

दिव्य जी : मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि अमृत में चार मात्राएँ होती हैं। क्यों शुष्क जी ? आपने तो महाकाव्य लिखा है—अब बोलते क्यों नहीं ?

शुष्क जी : भई, बात यह है कि मैं तुम्हारी बात को काटना नहीं चाहता।

दिव्य जी : (ज़ोर से) क्या मतलब ? क्या अमृत में तीन मात्राएँ होती हैं ?

प्रधान जी : बन्धुओ, इस समय मीटिंग का रूप विकराल होता जा रहा है। मेरा विचार है कि यदि...

दिव्य जी : ठहरिए, प्रधान जी, पहले इसका निश्चय हो जाना चाहिए। यह एक विशुद्ध साहित्यिक प्रश्न है।

चंचल जी : मेरे विचार में तो इस पर 'वोट' ले लिए जाएँ। अगर तीन के पक्ष में वोट अधिक आएँ, तो हमारी परिषद् के सभी कवि-सदस्य अपनी कविताओं में अमृत शब्द को तीन मात्राओं का मान कर प्रयोग करें, नहीं तो चार के रूप में करें। (सब लोग ज़ोर से हँस पड़ते हैं)।

मधुर जी : प्रधान जी, क्यों न आप ही इस विषय पर भी अपनी 'रूलिंग' दे दें। (लोग फिर हँसते हैं।)

अक्षय जी : यह भी कोई वैधानिक सवाल है कि 'वोट' ले ली जाए या 'रूलिंग' दे दी जाए। यह साहित्यिक सवाल है, जो केवल साहित्य ही हल कर सकता है।

प्रधान जी : तो, भाइयो, अब मैं इस बात को साहित्य के हल पर छोड़ता हूँ। आप कहीं पर उसे पकड़ कर पूछें। मैं यह बैठक समाप्त करता हूँ। रात के ग्यारह बजना चाहते हैं। (लोगों के उठने का हंगामा मच जाता है—बीच-बीच में दिव्य जी का स्वर सुनाई पड़ता है।) 'लेकिन यह तो विधान के विरुद्ध है, प्रधान जी। हमारे विधान में साफ़ लिखा है'... 'लेकिन शोर-शराबे में स्वर दब जाता है और दूर से हँसी के स्वरों को दबाता हुआ समाप्तिसूचक संगीत उठता है)।

— श्रीकृष्ण मनमोहन 'सरल'

हिन्दी-विभाग
मैसर्स आत्माराम एण्ड सन्स,
काश्मीरी गेट, दिल्ली–६

जे पहुँचे ते कहि गए,
तिनकी एकै बाति
सबै सयाने एक मति
उनकी एकै जाति

—दादू

शहनाई और टूटे स्वर

और जब स्नेह का भी विवाह हो गया और वह अपने पति के साथ चली गई तो कीर्ति को लगा जैसे; अब वह अकेली रह गई है—बिलकुल अकेली ! सारे घरवालों के होते हुए भी इतने बड़े संसार में उसका कहीं कोई नहीं रह गया है। जिससे वह अपने मन के भीतर छिपे भावों को व्यक्त कर सके। रेल ने सीटी दी और प्लेटफ़ार्म पर रेंगने लगी। उस समय कीर्ति ने स्नेह के आँसू अपने रूमाल में लेकर उसी से अपनी भी गीली आँखें पोंछ लीं फिर उसे अपने ब्लाउज़ में छिपा लिया। गाड़ी चली गई।

कीर्ति की दो और सहेलियाँ भी इसी प्रकार अपना विवाह रचा कर चली गई थीं। स्नेह रह गई थी, सो वह भी चली गई। निशा दिल्ली में ब्याही थी। विभा बनारस गई और स्नेह को झाँसी जाना पड़ा। रह गई अकेली कीर्ति, सो पता नहीं उसे कहाँ जाना पड़ेगा ? यों स्नेह के पति ने उसका परिचय पाने के बाद सब के सामने कह दिया था : "आपके लिए मैं बहुत जल्द कोशिश करूँगा।" उस समय घर तथा बाहर की कई स्त्रियाँ एकत्रित थीं। हँसी-मज़ाक चल रहा था। कीर्ति की ख़ासी हँसी हो गई उस समय। सब हँस पड़ी थीं। मोहल्ले की एक लड़की ने समर्थन में कह दिया था : "हाँ, जीजा जी, स्नेह के लिए आप ज़रूर कोशिश करें। अपनी सहेलियों में यही अकेली रह गई है।"

कीर्ति उठ कर भाग जाना चाहती थी, पर सब ने उसे पकड़ लिया। एक छोटी लड़की ने स्नेह के पति के कान में जाकर कह लिया : "कीर्ति कविता करती है, छोटे जीजा जी।"

बस वे फिर उसके पीछे पड़ गए। कीर्ति को दो-तीन गीत सुनाने ही पड़े। कमरे में पड़ी-पड़ी वह सोचती रही। यह सब तो बीती बातें हैं। अभी ताज़ी लगती हैं, फिर जैसे जैसे समय बढ़ता जाएगा पुरानी होती जाएँगी। और एक दिन इस सब को जान-बूझ कर भुलाना पड़ेगा। इसलिए कि अतीत तो भुलाने के लिए ही होता है।

फिर उसे याद आया—जब निशा का विवाह तीन वर्ष पूर्व हुआ था। उसका पति कुरूप और बद-मिज़ाज था। बरात में उसने बड़ा झगड़ा खड़ा कर दिया। घर पर तो सब उसके असभ्य व्यवहार से रो उठे। बात-बात पर वह अकड़ जाता। उसने भरे आँगन में कलेवा के समय कह दिया : "मैं ख़ूब जानता हूँ, बड़ी उम्र की लड़कियाँ जब ब्याह कर जाती हैं तो अपनी हुकूमत सारे घर पर करना चाहती हैं। मैं यह क़तई नहीं होने दूँगा।"

भीतर बैठी निशा अपनी सहेलियों के बीच सुबक-सुबक कर रो रही थी। उसे ऐसा पति मिला है, जिसके साथ जीवन निर्वाह करना भी कठिन हो जाएगा।

कीर्ति का मन उस सबको स्मरण कर भारी हो उठा। कमरे में राधाकृष्ण का एक कलेंडर टँगा था, वह उसे देखती रही।

फिर एक वर्ष बाद विभा का विवाह हुआ। उसे अपने से कम पढ़ा पति मिला। बनारस में उसके घर वाले साड़ियों की दूकान करते थे। वह भी उसी काम में लगा था। पर वह बड़े सुलझे विचारों का व्यक्ति था और स्वभाव का भी नम्र। वैसे कीर्ति आदि उसे भोंदू समझती रही। उसने परिहास में कहने की अपेक्षा सुनना अधिक पसन्द किया। सब ने एक स्वर से कहा : 'वाह, आदमी हो तो ऐसा। विभा बड़े सुख से रहेगी। जीवन-भर उसे पति का प्यार दुलार मिलता रहेगा।' और विभा अपने पति की झाँकी बार-बार लेती हुई पकड़ी गई। उसकी चोरी का स्नेह ने खासा मज़ाक बनाया था।

एक वर्ष और व्यतीत हो गया पर लगा जैसे, यह सब अभी कल ही हुआ हो।

इस वर्ष स्नेह रह गई थी सो वह भी पिया के संग चली गई। उसके पति बड़े व्यवहार-कुशल निकले। यों उनका यह दूसरा विवाह था और पहली पत्नी से दो बच्चे भी थे, फिर भी आयु से अधिक जवान लगते थे। मज़ाक करने में और मोर्चा लेने में पूरे दक्ष थे। किसी को जीतने नहीं दिया। कीर्त्ति के लिए तो वर

ढूँढ़ने की बात भी कह गए।

बाहर से तेज़ का हवा झोंका आया जिससे कमरे के दरवाज़े खुल गये और राधा-कृष्ण वाला कलेंडर दीवार से उड़ कर नीचे आ गिरा। कीर्ति उठ कर बैठ गई। जो चित्र अभी तक उसके सामने बनते-मिटते जा रहे थे, वे समाप्त हो गए। उसने दौड़ कर कलेंडर उठा लिया फिर दीवार पर टाँग दिया।

निशा एक बच्चे की माँ बन चुकी थी। विभा के भी पैर भारी हो चले थे और स्नेह, उसका अभी कल ही तो विवाह हुआ था, फिर भी जाते ही माँ पुकारी जाने लगी। अब रह गई थी अकेली कीर्त्ति, सो वह... हिश ! क्या वाहियात बात सोच जाती है? उसे तो पढ़ने में ध्यान लगाना चाहिए। इन्टर पास कर चुकी है, बी. ए. और कर ले। घर वाले कहते हैं कहीं स्कूल में नौकरी करने लगे और विवाह बड़ी गम्भीर समस्या है। उसकी ओर कोई नहीं सोचता। पिता वृद्ध हैं। आराम में सारा जीवन बिता चुके हैं, अब कुछ किए नहीं होता। मा को आँख से कम दिखाई देता है। दिन भर बक-झक करती रहती हैं। रह गए तीन भाई। उनमें से दो के अपने परिवार हैं। स्त्री-बच्चों में लगे रहते हैं। उन्हें विवाह की चिन्ता हो ही क्यों ! और तीसरा स्नेह से कुछ ही बड़ा है। वह अपना घर बसाने की दौड़-धूप में लगा रहता है। अखबारों में विवाह-विज्ञापन निकाल रक्खा है। रोज़ एक दो लड़कियों के फ़ोटो आते हैं, जिन्हें वह बेशरमी से सबको दिखाता घूमता है। इसी प्रकार जीवन के दिन आकाश के बादलों की भाँति उड़ते जाते हैं। और फिर...फिर कुछ नहीं। मन को टिकने के लिए कहीं स्थान तो चाहिए ही। पर ऐसा स्थान नहीं, जिससे नैतिक पतन हो।

दरवाज़े से उसकी माँ लकड़ी का सहारा लिए भीतर आ गई। कीर्ति उठ कर बैठ गई। माँ ने पूछा: "कहाँ है, बेटी।"

"यहाँ हूँ, चारपाई के पास"—कीर्ति ने सम्भल कर उत्तर दिया।

माँ वहीं पहुँच गई। फिर उसे प्यार से अपनी गोद में भरते हुए कहा: "मैं सब कुछ जानती हूँ कीर्ति, तेरे मन की सारी बातें मुझे मालूम हैं। स्नेह मुझ से चलते-चलते कह गई है। पर तू दुःख न कर बेटी, मैं जल्दी ही......।"

"माँ......"

"हाँ, बेटी, संसार का नियम तो तोड़ा नहीं जा सकता। हम लोग अभागे हैं जो तेरे हाथ अभी तक पीले नहीं कर सके। नहीं तो तेरी गोद भी अभी तक भर गई होती।"

कीर्ति का मन रो उठा। उससे कोई ऐसी बात न करे। बड़ा दुःख होता है सुन कर।—"माँ, मैं तुम्हें छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगी।"

'पगली', माँ उसकी पीठ पर हाथ फेरती बोली, "ऐसा कहीं होता है ? सभी का ब्याह होता है। तेरा भी होगा। तू भी धूमधाम से अपने घर जाएगी, जैसे और लड़कियाँ जाती हैं।"

कीर्ति के विवाह की समस्या क्या इतनी जटिल है जो सुलझ नहीं सकती ?

बाहर बरामदे में बच्चे गेंद खेल रहे थे। वह भीतर आ गिरी। एक बच्चा उसे उठाने आया तो कीर्ति को देख कर कह उठा: "दादी, बुआ जी रो रही हैं।"

माँ जैसे चिंहुक उठी: "कीर्ति, रो रही है क्या ?"

बच्चा गेंद उठा कर भाग गया था। उसे क्या, कीर्ति हँसे या रोए ?

'कीर्ति'—माँ ने फिर भारी कण्ठ से पुकारा।

कीर्ति चुप रहना चाहती थी। एकदम शान्त और मौन। उसने कहा, "मा, इस समय जाओ। मैं अकेली रहना चाहती हूँ।"

वृद्धा माँ लकड़ी खट-खट करती बिना बोले कमरे से बाहर चली गई। जीवन का वृत्त और चौड़ा होता गया और कीर्ति सबेरे से शाम तक उसी में जैसे चक्कर काटती रही।

फिर एक दिन निशा का पत्र आया दिल्ली से। कीर्ति को—औद्योगिक प्रदर्शिनी देखने के लिए बुलाया था। पत्र में यह भी लिखा था कि प्रभा और स्नेह को भी बुलाया है। एक अवसर यह ऐसा मिल गया है, जब सब साथ-साथ कुछ दिन रह सकेंगी। इसी बहाने दिल्ली भी घूम लेना। फिर तो सब अपनी-अपनी जीवन परिधि में बँधे हैं, उसी के चारों ओर घूमते रहेंगे।

कीर्ति जाना नहीं चाहती थी। उसका मन बैठा-बैठा रहने लगा था। यों बात प्रकट रूप में कुछ नहीं

१६५७

थी। उससे कोई पूछता तो उसके पास उत्तर नहीं था।

बनारस से विभा का तार आया कि वह स्टेशन पर उसे मिल जाए। साथ-साथ दिल्ली चलेंगे। कीर्ति को तैयारी करनी पड़ी। फिर दिल्ली तक प्रभा और उसके पति के साथ बातें करते सारी रात कट गई कीर्ति ने युवक से पूछा था: "क्यों, कब तक उम्मीद करूँ?"

उत्तर उसके पति ने दिया मुस्करा कर: "अरे, अभी तो कई महीने हैं।"

विभा के साथ ही कीर्ति भी लजा गई।

आगे उन्होंने प्रसंग बदलते हुए कहा: "तुम लोगों को बनारस भी आना होगा, जल्द ही। विभा तुम सबके लिए साड़ियाँ लाई हैं और एक बात बड़ी मज़ेदार है, विभा बताना मत अभी।"

कीर्ति सब-कुछ पूछती रही। विभा ने कुछ भी नहीं बताया।

स्टेशन से बाहर आ कर टैक्सी कर ये लोग निशा के यहाँ जा पहुँचे। स्नेह की गाड़ी बहुत सवेरे आ गई थी, वह पहले से मौजूद थी। कीर्ति से वह दौड़ कर मिली, और गले से लिपट गई।

निशा से पूछा कीर्ति ने: "क्यों, कैसी निभ रही है उनके साथ?"

उसने समझदारी से उत्तर दिया: "ठीक चल रहा है सब-कुछ। जो होना था, हो गया। उस पर अब पश्चात्ताप करने से क्या मिलेगा? मैंने अपने को परिस्थिति के साथ बदल लिया है। और सुनो, तुम लोगों को बुलाने के लिए उन्होंने ज़ोर दिया। सच मानना मैं तो नहीं चाहती थी।"

'धत्'—विभा ने डाँटा, "तू इतनी कंजूस निकलेगी, हम लोग नहीं जानते थे?" फिर वह, उसके बच्चे को लेकर प्यार से थपकी देने लगी।

स्नेह कुछ कहे इसके पहले ही कीर्ति बोल उठी: "ब्याह के बाद सुना है, सब लड़कियाँ ऐसी ही हो जाती हैं।"

निशा उठ कर उसके कपोलों में चुकोटी काटती हुई बोली: "चल, हम लोगों को क्या कहती है! तू सब से बढ़ कर पैसा पकड़ेगी। हम लोगों को एक चिट्ठी भी नहीं लिखेगी।"

बाहर कमरे में बड़े ज़ोरों से हँसी हो रही थी। स्नेह का पति कह रहा था: "अरे भाई, मैं तो दूसरी बार अभी नया ब्याहा हूँ, धीरे-धीरे सारे नए अनुभव हो जाएँगे।"

स्नेह की ओर विभा ने संकेत किया। वह अन्दर कमरे में चली गई।

निशा के पति ने कहा: "पर हो दोस्त तुम भाग्यवान।"

स्नेह का पति बोला: "भाग्यवान तो कीर्ति के श्रीमान होंगे। हम लोग तो...।"

"हम लोग तो क्या?"—बीच ही में बात काट कर विभा का पति कह उठा: "हमने तो सुना है कीर्ति के विवाह की जिम्मेदारी तुमने ले ली है। कहाँ ठीक कर रहे हो?"

कीर्ति के सामने फिर वही समस्या थी विवाह—यहाँ भी वे सारी बातें हो रही हैं। वह कहाँ चली जाए कि यह शब्द उसके कान में न पड़ सके?

निशा बाहर कमरे में जा कर बोली: "आप लोग कुछ खाए-पिएँगे भी या हम लोगों का मज़ाक ही उड़ाते रहेंगे?"

सब ने निशा के पति की ओर देखा। स्नेह का पति मुस्कराया—"चलो ठीक रहा जब तक मर्द डाँटा नहीं जाता और बीबी से लेक्चर नहीं सुनता, तब तक उसकी अक्ल ठिकाने नहीं आती।"

वह भद्दे ढंग से ही-ही करता अन्दर चला गया।

उस दिन फिर ये लोग रात की गाड़ी की थकान मिटाने के लिए सोते रहे। प्रदर्शिनी देखने जाने के लिए दूसरा दिन रक्खा गया।

दूसरे दिन रविवार था। लगता था, सारी दिल्ली ही नहीं देश-भर के लोग आज प्रदर्शिनी देख कर रहेंगे। वह भीड़, वह हंगामा, क्या कहा जाए! टिकट लेने में पूरा आधा घण्टा लग गया।

कीर्ति निशा के बच्चे को गोद में लिए थी। वह विभा, स्नेह और निशा के साथ आगे चल रही थी और पीछे-पीछे उनके पति थे। अचानक सामने से एक युवक को आता देख कर स्नेह का पति अपने साथियों से बोला: "यह तो संजय लगता है। खूब मिला यहाँ? मेरे ही शहर का रहने वाला है। कीर्ति के साथ मैं इसके विवाह की बात चलाना चाहता था। यहाँ दोनों एक-दूसरे को देख लेंगे।" कह कर वह कुछ आगे बढ़ आया।

विभा के पति ने सब को रोकते हुए चुपके से

सारी बात बता दी। फिर धीरे-धीरे सभी लोग उन सब को जान गए और कीर्ति को अपना सर ढँक कर स्वाभाविक लज्जा का सहारा लेना पड़ा। संजय उसे पसन्द आया।

संजय बोला : "वाह ! क्या मिले दिल्ली में ? फिर पूछा, "और ये लोग कौन हैं ?"

स्नेह के पति ने सब का परिचय देने के बाद कीर्ति की ओर संकेत कर कहा : "यही वह लड़की है, जिसे मैंने तुम्हारे लिए चुना है। देख लो अभी। तुम्हारी स्वीकृति मिलते ही बाकी मैं तय कर लूँगा। इस लड़की का उद्धार तुम्हें करना ही होगा।"

संजय ने कीर्ति की ओर देखा। वह भी उसी की ओर देख रही थी।

उसने कुछ क्षण रुक कर कहा : "लड़की मुझे पसन्द है। पर विवाह, मेरी बहन का विवाह हो जाने के बाद हो सकेगा। जानते तो हो, मेरे ही सर उसका भी भार है।"

"कहाँ कर रहे हो उसका ब्याह ?" स्नेह के पति ने पूछा।

"जहाँ तुम्हारी शादी हुई है। संयोग की बात यह है कि उस लड़के के भी एक बहन ब्याह के लिए है। पर शायद वह अपना ब्याह पहले करना चाहता है। अभी तुम्हें उससे मिलाता हूँ। साथ में मेरी बहन भी है। जानते तो हो आजकल का ज़माना ! हम लोगों ने यहाँ मिलना पहले से तय कर लिया था।"

निशा का पति आ कर स्नेह के पति के कान में कुछ कह गया। उसने संजय से कहा : "कीर्ति ने तुम्हें पसन्द किया है। अब मेरी समझ में कोई रुकावट नहीं है। तुम दोनों की स्वीकृति तो है ही।"

संजय सामने लगे संसार के अनेक देशों के उड़ते हुए रंग-बिरंगे झण्डों की ओर देखने लगा। शायद उसका मन कल्पना के रंगीन पंख लगा कर आकाश में उड़ने लगा हो। कीर्ति का आकर्षण उसे बार-बार अपनी ओर निमन्त्रण दे रहा था।

अनायास ही कीर्ति बोल उठी : "अरे यह तो सामने से दीपू भैया आ रहे हैं। यह कब आ गए ? और साथ में यह कौन लड़की है ?"

निशा ने आश्चर्य से उधर देखा—दीपू के साथ एक लड़की चली आ रही है। सारे लोग एक स्थान पर एकत्रित हो गए थे। कीर्ति ने दीपू के पास जा कर पूछा : "कब आए भैया ? कहाँ ठहरे हो ?"

दीपू के सामने गम्भीर समस्या खड़ी हो गई थी। उसे उत्तर देते नहीं बन पड़ रहा था। हिचकिचा कर झेंपता-सा बोला : "आज सबेरे ही आना हुआ। मेरे दोस्त यहाँ हैं, उन्होंने कई बार बुलाया तो सोचा एक दिन को हो आऊँ ? हम लोग तो घूमते-घूमते थक गए हैं। तुम लोग अभी आए हो, घूम आओ जा कर। एक्ज़िबिशन क्या है, एक नई दुनियाँ है।"

स्नेह नहीं मानी उसने चुटकी ली : "क्यों दीपू, चोरी-चोरी...।"

संजय की बहन ने सर ऊपर नहीं उठाया, स्थिति प्रकट हो गई।

स्नेह के पति ने संजय से पूछा : "अब क्या, कहते हो ? तुम्हारे सामने दो मार्ग हैं। या तो तुम दीपू को नापसन्द करो और स्वयं कीर्ति से विवाह करो या अपनी बहन का विवाह...।'

संजय ने सोचने में एक क्षण भी नहीं लिया, बोला : "मेरी बहन का विवाह दीपू से होगा।" उसने जैसे कीर्ति के प्रति उत्पन्न हुए सारे बन्धनों को एक झटका देकर तोड़ दिया हो।

दो भाई थे—एक संजय और दूसरा दीपू। एक अपनी बहन के विवाह के लिए दौड़ रहा था तो दूसरा स्वयं अपनी भाँवर डालने के लिए आतुर था। दो भाई और दो बहन।

कीर्ति ने जैसे—एक पल को कुछ सोचा फिर सावधान होकर दूसरी ओर दृष्टि फेर कर बोली : "चलिए न आप लोग। अभी तो सारी नुमायश देखने को पड़ी है। दीपू भइया तो देखते-देखते थक गए हैं।"

दोनों दल फिर अपने-अपने मार्ग पर चल दिए। पास ही बने पार्क में फ़व्वारे की छींटें बिखर रही थीं जैसे कामना के तार टूट-टूट कर गिर रहे हों।

संजय और दीपू
कीर्ति और......।

—महेशचन्द्र 'सरल'

सरल-गृह,
हरदोई (यू. पी.)

प्राचीन भारत में समुद्र-यात्रा

आज से प्रायः अर्ध-शताब्दी पूर्व हिन्दुओं में समुद्र-यात्रा करना महान् पाप समझा जाता था। समुद्र को देवता कहा जाता था और उस पर यात्रा करना देवता का अपमान करना माना जाता था। बंगाल आदि स्थानों में तो सागर पार जाने वाले की जाति ही चली जाती थी तथा उसे लौट कर उसके लिए प्रायश्चित करना पड़ता था तब कहीं उसे अपनी जाति में स्थान मिलता था। यह भ्रान्ति लोगों में कब से आई, नहीं कहा जा सकता। परन्तु आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व हिन्दुओं में समुद्र-यात्रा का जो चाव एवं आकर्षण था उसे देखते हुए आश्चर्य होता है कि ऐसी भ्रान्ति एवं अन्धविश्वास का प्रादुर्भाव कैसे हुआ।

अत्यन्त प्राचीन-काल से ही भारतीयों की जल-यात्राओं के वर्णन तथा प्रमाण मिलते हैं। वैदिक-काल में आर्यों का जल-यात्रा के प्रति बड़ा आकर्षण था और वे नदियों तथा समुद्रों में बड़ी-बड़ी नौकाओं द्वारा यात्रा किया करते थे जिसका रोचक उल्लेख वेदों में मिलता है। 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर उल्लेख है कि ऋषिकुमार भुज्यु का जहाज़ जब डूबने लगा तब अश्विनीकुमारों ने उसकी रक्षा के लिए सौ डाँड़ों वाले जहाज़ को भेजा था। 'ऋग्वेद' में ही समुद्री व्यापारियों के लिए 'पणि' शब्द का प्रयोग किया गया है, तथा उनके लोभ के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए लिखा गया है कि वे अधिक धन के लोभ में सागर का मन्थन कर डालते थे और दूर-दूर देशों को अपने जहाज़ ले जाते थे।

प्राग्वैदिक काल में भी भारतीयों के समुद्र-यात्रा के प्रमाण मिलते हैं। भारतीयों का मिस्र तथा अरब आदि देशों से व्यापार संबन्ध था, जैसा कि वहाँ की कब्रों में ममियों पर लिपटी हुई मलमल से प्रमाणित होता है जिसे विद्वानों ने भारतीय सिद्ध किया है। इन देशों का व्यापार जल-मार्ग से ही होता था।

'रामायण' तथा 'महाभारत' में भी समुद्र-यात्रा के वर्णन मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उस काल में भी भारतीय समुद्र मार्ग से द्वीप-द्वीपान्तरों को जाया करते थे। 'रामायण' में सीता खोज के लिए वानरों को आमंत्रित करने सुग्रीव के दूत द्वीप-द्वीपान्तरों में गए थे। 'महाभारत' में तो श्रीकृष्ण के द्वारिका (द्वीप) निवास तथा अनेकों युद्धादि में जलपोतों के प्रयोग का उल्लेख है। 'याज्ञवल्क्य' स्मृति में भी समुद्र मार्ग से व्यापार करने वाले यात्रियों का वर्णन मिलता है।

बौद्धकाल में समुद्र यात्रा को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस काल को सुख-शान्ति की दृष्टि से भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। राजनीतिक स्थिरता तथा धार्मिक प्रचार के कारण लोगों में युद्ध-भावना का प्रायः ह्रास होने लगा था। निरर्थक रक्तपात को (बुद्ध धर्म के प्रभाव से) अनुचित तथा गर्हित समझा जाने लगा था। धन और ऐश्वर्य के लोभ में बलपूर्वक दूसरे राज्य पर आक्रमण करने के स्थान पर व्यापार द्वारा धनोपार्जन को महत्व दिया जाने लगा था। राजा और उनके मन्त्रिगण तक व्यापार करने लगे थे। भारतीयों को बहुत पहले ही से विदेशी मण्डियों का ज्ञान था। अब राज्यों की ओर से सुविधा तथा सहाय्य मिलने से व्यापार की और भी उन्नति हो उठी। विदेशी मण्डियों से पानी की भाँति धन खिंच कर आने लगा और लोगों को अधिकाधिक संख्या में वहाँ जाने का निमन्त्रण देने लगा। इसके अतिरिक्त धर्म-प्रवर्तकों का भी ध्यान इन दूरस्थ देशों की ओर गया। उन्होंने भी अपने धर्म-प्रचार की दृष्टि से विदेश यात्रा आरम्भ कर दी। सिंहल-द्वीप (ब्रह्मा), कम्बुज, बाली, जावा, चीन आदि स्थानों में धर्म-प्रचारकों ने अपने केन्द्र स्थापित कर दिए तथा वहाँ के निवासियों में अपने धर्म तथा संस्कृति का प्रचार किया।

स्थल मार्ग की अपेक्षा जल-मार्ग की यात्रा अपेक्षाकृत सुगम थी। यद्यपि उसमें भी विपत्तियों का सामना करना पड़ता था, फिर भी उसे स्थल-मार्ग की अपेक्षा अच्छा समझा जाता था। बौद्ध जातकों से उन दिनों की समुद्र-यात्रा पर बड़ा रोचक प्रकाश पड़ता है। शंक जातक, समुद्द वणिक जातक, शूर्परिक जातक, बलाहस्य जातक आदि में व्यापारियों की समुद्र-यात्राओं की अनेक कथाएँ हैं, जिनसे उन दिनों की जल-यात्रा

की विपत्तियों और कठिनाइयों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। जातकों में दक्षिण-पूर्वी द्वीपों तथा सिंहल आदि की यात्राओं का ही अधिक वर्णन मिलता है। इन वर्णनों से ऐसा परिलक्षित होता है कि पूर्व देशों की अपेक्षा पश्चिमी देशों को लोग जल-मार्ग से कम जाते थे। उसका कारण था—पश्चिमी देशों की भारत से अत्यधिक दूरी तथा मार्ग की कठिनाइयाँ। पर ऐसा नहीं था कि पश्चिमी देशों को उन दिनों लोग बिल्कुल न जाते हो अथवा उन्हें उधर का ज्ञान न हो। 'शूपरिक जातक' से पता चलता है कि लालसागर होकर पश्चिमी अरब तथा मिस्र को व्यापारी जाया करते थे। बावेरू जातक में अरब सागर हो कर काबुल से व्यापार करने वाले व्यापारियों का वर्णन है। मैक्सिको के इतिहास से पता चलता है कि भारतीय व्यापारियों का एक दल भारत की ओर से पूर्व की ओर बहने वाली सागर की किसी प्रचण्ड धारा में पड़ कर सर्व प्रथम अमरीका पहुँचा था, । हेविट ने भी अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव ट्रेडिशनल हिस्ट्री' में लिखा है कि भारतीय व्यापारी जल-मार्ग से मैक्सिको (अमरीका) आए तथा वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचार किया।

मौर्य तथा गुप्त काल में समुद्र-यात्रा को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। मौर्यकाल से ही लोगों नेपूर्वी द्वीप-समूहों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना आरम्भ कर दी थी। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि स्वर्ण-भूमि में भारतीय उपनिवेश अशोक-काल में ही स्थापित हो चुके थे। उसके बाद से गुप्तकाल तक (लगभग ई० पू० ४०० से ६०० ई० तक) सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा द्वीप-समूहों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हो गई। इससे भारतीयों का इन देशों से निरन्तर आवागमन आरम्भ हो गया। वैसे ब्रह्मा होते हुए हिन्द चीन तक स्थल-मार्ग से पहुँचा जा सकता था, पर वह मार्ग ऊँची-ऊँची पर्वतमालाओं और बीहड़ वनों के कारण अत्यन्त कठिन तथा कष्टप्रद था। इसलिए जल-मार्ग से ही इन स्थानों का यातायात चलता रहा।

यात्रा के संकट : प्राचीन युग में समुद्र यात्रा आज-कल-जैसी सरल न थी। समुद्र-यात्रा से सकुशल लौट आने वाला परम भाग्यशाली समझा जाता था। इसलिए जब कोई व्यक्ति समुद्र-यात्रा को चलता था तो उसकी माता तथा पत्नी उसे यात्रा से रोकने का पूर्ण प्रयास करती थीं। यात्री यात्रारम्भ करने से पूर्व विधिवत् पूजन-पाठ करके अपने स्वजनों तथा परिचितों से एक प्रकार से अन्तिम बिदा ले कर यात्रा करते थे। उनके सकुशल लौट आने के लिए उनकी माताएँ तथा पत्नियाँ मनौती माना करती थीं। 'अवदान शतक' में उल्लेख है कि राजगृह का एक व्यापारी जब समुद्र-यात्रा पर चला गया तो उसकी पत्नी ने मनौती मानी कि यदि उसका पति सकुशल लौट आएगा तो वह भगवान् को स्वर्णचक्र चढ़ाएगी। जब उसका पति सकुशल लौट आया तो उसने बड़े समारोह-पूर्वक अपनी मनौती पूर्ण की।

प्राचीन-काल में जहाज़ लकड़ी के तख़्तों से निर्मित किए जाते थे। इनमें मस्तूल, पालें (सितपट), रस्सियाँ, डाँड़, पतवार तथा लंगर होते थे। बहुत बड़े जहाज़ों में छोटी-छोटी नौकाएँ भी रहती थीं जो विपत्ति के अवसर पर प्रयुक्त की जातीं थीं। जहाज़ अनुकूल वायु के सहारे चलते थे। परन्तु बहुत-से जहाजों में सौ-सौ दो-दो सौ तक डाँड़ होते थे तथा वे बीच समुद्र में प्रतिकूल वायु में फँस जाने पर सहायक होते थे। उस काल में जहाज़ गहरे सागर के बीच में यात्रा बहुत कम करते थे। वे प्रायः समुद्र के किनारे-किनारे ही चलते थे, जिससे तूफ़ानी हवाओं से बचे रह सकें तथा मार्ग भूलने का भय न रहे। परन्तु इससे कभी-कभी उथले सागर में जल के भीतर छिपी हुई चट्टानों से टकरा कर वे नष्ट हो जाया करते थे। इसके अतिरिक्त समुद्र के विशालकाय जल-जन्तुओं के प्रहारों से भी हल्के जहाज़ डूब जाया करते थे।

उन दिनों समुद्री-यात्रा में जल-दस्युओं का भी बड़ा आतंक रहता था। यह लोग जहाज़ों में इधर-उधर घूमा करते थे और व्यापारी जहाज़ों को देखते हुए उन्हें घेर कर लूट लेते थे। इसी कारण उन दिनों जहाज़ों पर बड़ी संख्या में कर्मचारी तथा रक्षक रहते थे। किसी-किसी जहाज़ में तो केवल कर्मचारियों की संख्या ही एक सहस्र तक पहुँच जाती थी।

जल-दस्युओं के अतिरिक्त अपरिचित देशों तथा द्वीपों के जंगली निवासियों के कारण भी बहुधा यात्रियों को बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी और कभी-कभी तो प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था। 'बलाहस्स जातक' में ऐसी ही एक घटना का उल्लेख है। व्यापारियों का

१६५७

एक जहाज़ सिंहल के निकट टूट गया। यात्री किसी प्रकार तैर कर किनारे पर पहुँच गए। सिंहल के 'त्तिरिस वत्थु' नगर की यक्षणियों ने जब यह सुना तो वे सज-धज कर वहाँ आयीं और उन पर अपने रूप का जादू डाल कर तथा उनसे विवाह करने का प्रलोभन दे कर उन्हें अपने घर ले गईं। परन्तु बाद को उन्हें मार कर खा गयीं।

जहाज़ों की कमज़ोर बनावट के कारण भी बहुधा दुर्घटनाएँ हुआ करती थीं। सागर की उत्ताल तरंगों तथा जल की भीषण चपेटों में उनके तख़्ते टूट जाया करते थे या उनमें दरारें बड़ जाती थीं। उनसे हो कर जल भीतर घुसने लगता था और बहुधा जहाज़ डूब जाया करते थे। ऐसी अवस्था में यात्री भाग्य के सहारे समुद्र में कूद पड़ते थे और तैर कर तट पर पहुँचने का प्रयास करते थे। जल में कूदने से पहले वे ऐसे पदार्थ खा लिया करते थे जिससे उन्हें कई दिन तक भूख-प्यास न सता सके। 'शंख-जातक' में उल्लेख है कि जब ब्राह्मण शंख का जहाज़ डूबने लगा तो उसने तथा उसके नौकर ने खूब पेट भर कर घी-शक्कर खाया और अपने शरीर पर तथा वस्त्रों पर तेल लगा कर समुद्र में कूद पड़ा तथा निरन्तर सात दिन तक बहता रहा।

विपत्ति आने पर यात्री अपने-अपने इष्ट देवी-देवताओं का स्मरण किया करते थे। कुछ देवी देवताओं के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास किया जाता था कि वे जल के देवता हैं और पुण्यात्माओं की रक्षा किया करते हैं। वरुण को तो पौराणिक गाथाओं में जलाधिपति ही माना गया है। समुद्र-यात्रा करने से पूर्व यात्री वरुण की पूजा किया करते थे। दक्षिण में मणि-मेखला देवी का बड़ा महत्व था। मणि-मेखला देवी का काँची में मन्दिर भी था। 'महाजनक जातक' में मणि-मेखला द्वारा महाजनक की रक्षा का उल्लेख है। स्वर्णभूमि जाते हुए महाजनक के जहाज़ में जब छेद हो गया और पानी को निकालने के, जब सारे प्रयत्न विफल हो गए तो सब यात्री रोने-चिल्लाने लगे। परन्तु महाजनक शान्त रहा। जब जहाज़ डूबने लगा तो उसने पेट-भर कर घी-शक्कर खाया और अपने वस्त्रों को तेल से चिकना कर लिया। तदनन्तर वह जहाज़ के मस्तूल को पकड़ कर बहने लगा। कुछ दूर जाकर उसे भी छोड़ दिया तथा तैर कर तट की ओर बढ़ने का प्रयत्न करने लगा। दूसरे यात्रियों को समुद्र की मछलियों आदि ने खा डाला। पर महाजनक के पुण्यवान् होने के कारण देवी मणि-मेखला ने उसकी रक्षा की और वह सकुशल तट तक पहुँच गया।

जहाज़ों की सुविधा तथा सुरक्षा के लिए उन दिनों भारत में अच्छे पोताश्रय थे। सिन्ध का देवल तथा दक्षिण-पश्चिम के भड़ोंच, कल्याण, सुपारा आदि बड़े विशाल बन्दरगाह थे। अरब यात्री अलबेरूनी तथा अलइद्रिसी ने लिखा है, भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर बड़े विशाल बन्दरगाह हैं और उनमें विशाल जहाज़ों की भीड़ लगी रहती है। यहाँ से अरब, चीन तथा पूर्वी देशों को जहाज़ आते-जाते हैं। इसी प्रकार पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति (तामलुक), बालेश्वर आदि बड़े बन्दरगाह थे।

इन बन्दरगाहों में बड़े-बड़े जहाज़ों के ठहरने की अच्छी व्यवस्था थी। जहाज़ों की सुविधा के लिए तथा आश्रय के संकेत के लिए ऊँचे-ऊँचे प्रकाश-स्तम्भों पर प्रकाश की व्यवस्था रहती थी! व्यापारियों के ठहरने के लिए यहाँ निवास-स्थान बने रहते थे तथा राज्य की ओर से यात्रियों तथा व्यापारियों की सुविधा तथा सुरक्षा का प्रबन्ध रहता था।

तत्कालीन भारतीय नाविकों को जहाज़रानी का बड़ा ज्ञान था। माँझियों को नक्षत्रों की गति का ज्ञान होने से दिग्भ्रम नहीं होता था। इसके अतिरिक्त आकाश का रंग, जल की गति आदि से वे आगन्तुक विपत्तियों को जान लेते थे। सन् ४७ ई. के लगभग हिप्पलस नामक यूनानी यात्री ने हिन्द-महासागर में चलने वाली मानसून हवाओं का पता चला लिया था। इससे हिन्द-महासागर तथा अरबसागर में जहाज़ों के यातायात में बड़ी सरलता हो गई थी। नाविकों को मानसून-हवाओं का निश्चित समय ज्ञात होने के कारण वे जहाज़ों को बीच समुद्र के मार्ग से ले जाते थे और उन्हें प्रतिकूल वायु का भय नहीं रहता था। इससे समय की भी बड़ी बचत होती थी। क्योंकि समुद्र के किनारे-किनारे जहाज़ ले जाने से बहुत समय लगता था तथा बहुत चक्कर काटना पड़ता था। अरब यात्री मसऊदी ने लिखा है : "भारतीय नाविक मौसम का बड़ा ध्यान रखते हैं। पूर्वी देशों की यात्रा वे शीत ऋतु में और पश्चिमी देशों की ग्रीष्म ऋतु में करते हैं।" वर्षा ऋतु में समुद्री यातायात कम होता था।

की विपत्तियों और कठिनाइयों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। जातकों में दक्षिण-पूर्वी द्वीपों तथा सिंहल आदि की यात्राओं का ही अधिक वर्णन मिलता है। इन वर्णनों से ऐसा परिलक्षित होता है कि पूर्व देशों की अपेक्षा पश्चिमी देशों को लोग जल-मार्ग से कम जाते थे। उसका कारण था—पश्चिमी देशों की भारत से अत्यधिक दूरी तथा मार्ग की कठिनाइयाँ। पर ऐसा नहीं था कि पश्चिमी देशों को उन दिनों लोग बिल्कुल न जाते हो अथवा उन्हें उधर का ज्ञान न हो। 'शूपरिक जातक' से पता चलता है कि लालसागर होकर पश्चिमी अरब तथा मिस्र को व्यापारी जाया करते थे। बावेरू जातक में अरब सागर हो कर काबुल से व्यापार करने वाले व्यापारियों का वर्णन है। मैक्सिको के इतिहास से पता चलता है कि भारतीय व्यापारियों का एक दल भारत की ओर से पूर्व की ओर बहने वाली सागर की किसी प्रचण्ड धारा में पड़ कर सर्व प्रथम अमरीका पहुँचा था, । हेविट ने भी अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव ट्रेडिशनल हिस्ट्री' में लिखा है कि भारतीय व्यापारी जल-मार्ग से मैक्सिको (अमरीका) आए तथा वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचार किया।

मौर्य तथा गुप्त काल में समुद्र-यात्रा को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। मौर्यकाल से ही लोगों नेपूर्वी द्वीप-समूहों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना आरम्भ कर दी थी। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि स्वर्ण-भूमि में भारतीय उपनिवेश अशोक-काल में ही स्थापित हो चुके थे। उसके बाद से गुप्तकाल तक (लगभग ई० पू० ४०० से ६०० ई० तक) सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा द्वीप-समूहों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हो गई। इससे भारतीयों का इन देशों से निरन्तर आवागमन आरम्भ हो गया। वैसे ब्रह्मा होते हुए हिन्द चीन तक स्थल-मार्ग से पहुँचा जा सकता था, पर वह मार्ग ऊँची-ऊँची पर्वतमालाओं और बीहड़ वनों के कारण अत्यन्त कठिन तथा कष्टप्रद था। इसलिए जल-मार्ग से ही इन स्थानों का यातायात चलता रहा।

यात्रा के संकट : प्राचीन युग में समुद्र यात्रा आज-कल-जैसी सरल न थी। समुद्र-यात्रा से सकुशल लौट आने वाला परम भाग्यशाली समझा जाता था। इसलिए जब कोई व्यक्ति समुद्र-यात्रा को चलता था तो उसकी माता तथा पत्नी उसे यात्रा से रोकने का पूर्ण प्रयास करती थीं। यात्री यात्रारम्भ करने से पूर्व विधिवत् पूजन-पाठ करके अपने स्वजनों तथा परिचितों से एक प्रकार से अन्तिम विदा ले कर यात्रा करते थे। उनके सकुशल लौट आने के लिए उनकी माताएँ तथा पत्नियाँ मनौती माना करती थीं। 'अवदान शतक' में उल्लेख है कि राजगृह का एक व्यापारी जब समुद्र-यात्रा पर चला गया तो उसकी पत्नी ने मनौती मानी कि यदि उसका पति सकुशल लौट आएगा तो वह भगवान् को स्वर्णचक्र चढ़ाएगी। जब उसका पति सकुशल लौट आया तो उसने बड़े समारोह-पूर्वक अपनी मनौती पूर्ण की।

प्राचीन-काल में जहाज़ लकड़ी के तख़्तों से निर्मित किए जाते थे। इनमें मस्तूल, पालें (सितपट), रस्सियाँ, डाँड़. पतवार तथा लंगर होते थे। बहुत बड़े जहाज़ों में छोटी-छोटी नौकाएँ भी रहती थीं जो विपत्ति के अवसर पर प्रयुक्त की जातीं थीं। जहाज़ अनुकूल वायु के सहारे चलते थे। परन्तु बहुत-से जहाजों में सौ-सौ दो-दो सौ तक डाँड़ होते थे तथा वे बीच समुद्र में प्रतिकूल वायु में फँस जाने पर सहायक होते थे। उस काल में जहाज़ गहरे सागर के बीच में यात्रा बहुत कम करते थे। वे प्रायः समुद्र के किनारे-किनारे ही चलते थे, जिससे तूफ़ानी हवाओं से बचे रह सकें तथा मार्ग भूलने का भय न रहे। परन्तु इससे कभी-कभी उथले सागर में जल के भीतर छिपी हुई चट्टानों से टकरा कर वे नष्ट हो जाया करते थे। इसके अतिरिक्त समुद्र के विशालकाय जल-जन्तुओं के प्रहारों से भी हल्के जहाज़ डूब जाया करते थे।

उन दिनों समुद्री-यात्रा में जल-दस्युओं का भी बड़ा आतंक रहता था। यह लोग जहाज़ों में इधर-उधर घूमा करते थे और व्यापारी जहाज़ों को देखते हुए उन्हें घेर कर लूट लेते थे। इसी कारण उन दिनों जहाज़ों पर बड़ी संख्या में कर्मचारी तथा रक्षक रहते थे। किसी-किसी जहाज़ में तो केवल कर्मचारियों की संख्या ही एक सहस्र तक पहुँच जाती थी।

जल-दस्युओं के अतिरिक्त अपरिचित देशों तथा द्वीपों के जंगली निवासियों के कारण भी बहुधा यात्रियों को बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी और कभी-कभी तो प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था। 'बलाहस्स जातक' में ऐसी ही एक घटना का उल्लेख है। व्यापारियों का

एक जहाज़ सिंहल के निकट टूट गया। यात्री किसी प्रकार तैर कर किनारे पर पहुँच गए। सिंहल के 'शिरिसवत्थु' नगर की यक्षिणियों ने जब यह सुना तो वे सज-धज कर वहाँ आयीं और उन पर अपने रूप का जादू डाल कर तथा उनसे विवाह करने का प्रलोभन दे कर उन्हें अपने घर ले गईं। परन्तु बाद को उन्हें मार कर खा गयीं।

जहाज़ों की कमज़ोर बनावट के कारण भी बहुधा दुर्घटनाएँ हुआ करती थीं। सागर की उत्ताल तरंगों तथा जल की भीषण चपेटों में उनके तख़्ते टूट जाया करते थे या उनमें दरारें बड़ जाती थीं। उनसे हो कर जल भीतर घुसने लगता था और बहुधा जहाज़ डूब जाया करते थे। ऐसी अवस्था में यात्री भाग्य के सहारे समुद्र में कूद पड़ते थे और तैर कर तट पर पहुँचने का प्रयास करते थे। जल में कूदने से पहले वे ऐसे पदार्थ खा लिया करते थे जिससे उन्हें कई दिन तक भूख-प्यास न सता सके। 'शंख-जातक' में उल्लेख है कि जब ब्राह्मण शंख का जहाज़ डूबने लगा तो उसने तथा उसके नौकर ने खूब पेट भर कर घी-शक्कर खाया और अपने शरीर पर तथा वस्त्रों पर तेल लगा कर समुद्र में कूद पड़ा तथा निरन्तर सात दिन तक बहता रहा।

विपत्ति आने पर यात्री अपने-अपने इष्ट देवी-देवताओं का स्मरण किया करते थे। कुछ देवी देवताओं के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास किया जाता था कि वे जल के देवता हैं और पुण्यात्माओं की रक्षा किया करते हैं। वरुण को तो पौराणिक गाथाओं में जलाधिपति ही माना गया है। समुद्र-यात्रा करने से पूर्व यात्री वरुण की पूजा किया करते थे। दक्षिण में मणि-मेखला देवी का बड़ा महत्व था। मणि-मेखला देवी का काँची में मन्दिर भी था। 'महाजनक जातक' में मणि-मेखला द्वारा महाजनक की रक्षा का उल्लेख है। स्वर्णभूमि जाते हुए महाजनक के जहाज़ में जब छेद हो गया और पानी को निकालने के, जब सारे प्रयत्न विफल हो गए तो सब यात्री रोने-चिल्लाने लगे। परन्तु महाजनक शान्त रहा। जब जहाज़ डूबने लगा तो उसने पेट-भर कर घी-शक्कर खाया और अपने वस्त्रों को तेल से चिकना कर लिया। तदनन्तर वह जहाज़ के मस्तूल को चढ़ कर बहने लगा। कुछ दूर जाकर उसे भी छोड़ दिया तथा तैर कर तट की ओर बढ़ने का प्रयत्न करने लगा। दूसरे यात्रियों को समुद्र की मछलियों आदि ने खा डाला। पर महाजनक के पुण्यवान् होने के कारण देवी मणि-मेखला ने उसकी रक्षा की और वह सकुशल तट तक पहुँच गया।

जहाज़ों की सुविधा तथा सुरक्षा के लिए उन दिनों भारत में अच्छे पोताश्रय थे। सिन्ध का देवल तथा दक्षिण-पश्चिम के भड़ौंच, कल्याण, सुपारा आदि बड़े विशाल बन्दरगाह थे। अरब यात्री अलबेरूनी तथा अलइद्रिसी ने लिखा है, भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर बड़े विशाल बन्दरगाह हैं और उनमें विशाल जहाज़ों की भीड़ लगी रहती है। यहाँ से अरब, चीन तथा पूर्वी देशों को जहाज़ आते-जाते हैं। इसी प्रकार पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति (तामलुक), बालेश्वर आदि बड़े बन्दरगाह थे।

इन बन्दरगाहों में बड़े-बड़े जहाज़ों के ठहरने की अच्छी व्यवस्था थी। जहाज़ों की सुविधा के लिए तथा आश्रय के संकेत के लिए ऊँचे-ऊँचे प्रकाश-स्तम्भों पर प्रकाश की व्यवस्था रहती थी! व्यापारियों के ठहरने के लिए यहाँ निवास-स्थान बने रहते थे तथा राज्य की ओर से यात्रियों तथा व्यापारियों की सुविधा तथा सुरक्षा का प्रबन्ध रहता था।

तत्कालीन भारतीय नाविकों को जहाज़रानी का बड़ा ज्ञान था। माँझियों को नक्षत्रों की गति का ज्ञान होने से दिग्भ्रम नहीं होता था। इसके अतिरिक्त आकाश का रंग, जल की गति आदि से वे आगन्तुक विपत्तियों को जान लेते थे। सन् ४७ ई. के लगभग हिप्पलस नामक यूनानी यात्री ने हिन्द-महासागर में चलने वाली मानसून हवाओं का पता चला लिया था। इससे हिन्द-महासागर तथा अरबसागर में जहाज़ों के यातायात में बड़ी सरलता हो गई थी। नाविकों को मानसून-हवाओं का निश्चित समय ज्ञात होने के कारण वे जहाज़ों को बीच समुद्र के मार्ग से ले जाते थे और उन्हें प्रतिकूल वायु का भय नहीं रहता था। इससे समय की भी बड़ी बचत होती थी। क्योंकि समुद्र के किनारे-किनारे जहाज़ ले जाने से बहुत समय लगता था तथा बहुत चक्कर काटना पड़ता था। अरब यात्री मसऊदी ने लिखा है : "भारतीय नाविक मौसम का बड़ा ध्यान रखते हैं। पूर्वी देशों की यात्रा वे शीत ऋतु में और पश्चिमी देशों की ग्रीष्म ऋतु में करते हैं।" वर्षा ऋतु में समुद्री यातायात कम होता था।

नाविक-गण तट का पता चलाने के लिए दिशाकाकों का प्रयोग किया करते थे। इसके लिए सिखाए हुए पक्षी जहाज़ पर रक्खे जाते थे। जब कि तारे का पता लगाना होता था तो ये पक्षी वहाँ उड़ कर चले जाते थे परन्तु यदि तट दूर होता था तो वे फिर जहाज़ पर लौट आते थे। सूरदास के पद "जैसे उड़ि जहाज़ को पंछी पुनि जहाज़ पर आवै" में इन्हीं दिशाकाकों का आभास मिलता है। 'बावेरू जातक' से पता चलता है कि भारतीय व्यापारी सर्व प्रथम बावेरू में दिशाकाक ले गए और वहाँ के निवासियों ने उन्हें एक-एक सौ कार्षापण में खरीदा। दिशाकाकों में कौआ, पंडुकी तथा गौरैया आदि पक्षियों का प्रयोग किया जाता था।

नौसेना : व्यापार आदि के अतिरिक्त जहाज़ों का उपयोग युद्धों में भी होता था। मध्य-युग के हिन्दू राजाओं के पास बड़ी विशाल नौसेनाएँ थीं। इनमें बड़े मज़बूत तथा विशाल जहाज़ों का प्रयोग किया जाता था और वे सब प्रकार के तत्कालीन अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहते थे। खालिमपुर के एक ताम्रलेख से पता चलता है कि बिहार और बंगाल के राजा धर्मपाल (सन् ७८३ ई.) के पास बड़ी सुदृढ़ जलसेना थी। दक्षिण के चालुक्य सम्राटों के पास भी बड़ी विशाल जलसेना थी। इसी की सहायता से वहाँ वीर राजा ने (सन् ९८४-१०१८ ई.) लंका पर चढ़ाई करके चेरा राज्य को नष्ट किया तथा लंका को अपने राज्य में मिला लिया। इसके अतिरिक्त समुद्री मार्ग से ब्रह्मा पर धावा किया और पेगू पर अधिकार कर लिया। अन्दमान और निकोबार द्वीपों पर भी उसने विजय प्राप्त करके अपने साम्राज्य में मिला लिया।

ह्वेन्साँग ने लिखा है कि दक्षिण के चालुक्य सम्राट् के पास बड़ी विशाल तथा सुसंगठित जलसेना थी, जिसमें सैकड़ों जहाज़ थे और उसी के बल पर उसने सम्राट हर्ष जैसे महापराक्रमी तथा बलशाली सम्राट् को परास्त करके उसने दक्षिण-विजय के स्वप्न को चूर-चूर कर दिया।

आन्ध्र सम्राट् यज्ञश्री (सन् १७३-२०२ ई.) के समय के कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं। उन पर युद्धपोतों का चिन्ह है जिससे पता चलता है कि आन्ध्र सम्राट् जलसेना को बहुत महत्व देते थे।

पंजाब की जलसेना ने सिकन्दर का बड़ी वीरता से प्रतिकार किया था। असीरिया की रानी सेमरामिस ने जब भारत पर आक्रमण किया था तब चार सहस्र भारतीय जहाज़ों ने उसका प्रतिकार किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय समुद्र-यात्रा की परम्परा बहुत प्राचीन और गौरवपूर्ण है।

'स्वतन्त्र भारत' दैनिक,
लखनऊ

—परमानन्द रस्तोगी

मनुष्य की शक्ति

ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर रावण को
वरदान दिया : "देव, दानव और
राक्षस तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते;
उनसे तुझे मृत्यु का भय नहीं है"
जब देवताओं से मृत्यु का नहीं डर
तो मनुष्यों से क्या डर हो सकता है ?
रावण ने यही सोच कर मनुष्य से
अभय-दान नहीं माँगा
××× आश्चर्य, आज
मनुष्य के कारण ही रावण को
मृत्यु का भय उपस्थित हो गया है !

—'वाल्मीकि रामायण' से

कन्नड़ का उपन्यास-साहित्य

कन्नड़ में आधुनिक उपन्यास का आरम्भ अंग्रेज़ों की हुकूमत के साथ-साथ ही हुआ। उस समय बंगाल में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि विषयों के प्रचार के निमित्त उपन्यास को अपना साधन बना लिया था। अन्य भारतीय भाषा-भाषियों ने उनका अनुसरण किया। आन्ध्र में वीरेशलिंगम, महाराष्ट्र में हरिनारायण आपटे, कन्नड़-प्रदेश में बी० वेंकटाचार्य जी ने इसी राह को अपना लिया था।

'आनन्दमठ' 'दुर्गेश नन्दिनी,' 'देवी चौधरानी', आदि उपन्यासों का बी. वेंकटाचारी ने अनुवाद किया था। इसलिए इन्हीं को कन्नड़-उपन्यास का प्रवर्तक कहा जा सकता है। इधर मैसूर-प्रान्त में वेंकटाचारी ने बंगाली ग्रन्थों का, उधर उत्तर कर्नाटक में श्री गव्वगनाथ मराठी ग्रन्थों का अनुवाद कर उपदेशात्मक, धर्म-निष्ठापूर्ण, तथा अध्ययनपूर्ण इतिहास-ग्रंथ देते रहे। १९२८ तक कन्नड़-उपन्यास-साहित्य की श्री वृद्धि में ये दोनों-हाथ बँटाते रहे। उसके बाद केरूर वासुदेवाचार्य जी का 'इंदिरा' नामक एक मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुआ। इनके बाद गुल्लाड़े वेंकटराव, बोलार बाबूराव के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला। एम. एस. पुट्टण्णा ने 'माडिद्दुण्णो महाशय' नामक उपन्यास लिखा।

पहले श्री गळगनाथ केवल अनुवादक के रूप में आए थे, फिर उन्होंने अपने मौलिक उपन्यास भी लिखे। नवयुगारंभ के लिए समाज ही--एक मुख्य कथा-वस्तु थी। जन-जीवन को ले कर इन्होंने उपन्यास लिखे। खास कर सम्पन्न परिवार और मध्यम-वर्गीय परिवारों की समस्याओं का अच्छा चित्रण कर दिखाया। यद्यपि एक नज़र इनकी ग़रीबों की समस्याओं पर भी थी, फिर भी उच्च वर्ग के बारे में ही इन्होंने अधिक लिखा। किस तरह समाज का उद्धार होना चाहिए, उस दिशा में इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण बातें पाठकों के सामने रखीं।

स्वातन्त्र-युग के मार्ग-दर्शक दक्षिण कन्नड़ प्रान्त के श्री शिवराम कारंत हैं। मैसूर-प्रान्त के प्रधान लेखक श्री. अ० न. कृष्णाराव हैं। शिवराम कारंत जी ने 'मरळि मण्णिगे,'' ''बेट्टद जीव'' आदि इनके श्रेष्ठ उपन्यासों में से हैं। 'मरळि मण्णिगे' का साहित्य अकादमी की तरफ़ से भारत की तेरह भाषाओं में अनुवाद किया जा रहा है। इन्होंने कई उपन्यास लिखे, जो-कुछ भी लिखा है, अच्छा ही लिखा है।

अ० न. कृष्णाराव ने 'उदय-राग' 'संध्या-राग' 'मंगल-सूत्र' आदि अपने उपन्यासों में सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना की है। काफ़ी सुन्दर चरित्र चित्रण इन्होंने अपनी रचनाओं में उपस्थित किया है।

पर इनके अंतिम उपन्यास इतने प्रभावशाली नहीं रहे। सेक्स की ही अधिकता रह गई है। इस पर ये कइयों के आलोचना-पात्र बने। अ. न. कृष्णाराव ने 'गृहलक्ष्मी' 'रुक्मिणी' ''ताइ मक्कलु'' आदि उपन्यास लिख कर अपना स्थान ऊँचा ही रखा।

धीरे-धीरे कन्नड़-प्रदेश में उपन्यास का अधिक प्रचार होने लगा। उत्कृष्ट रचनाओं के साथ कुछ निम्न श्रेणी के उपन्यास भी लिखे गए और इन कन्नड़-उपन्यासों ने साहित्य का स्तर कुछ घटाया भी।

मैसूर विश्वविद्यालय के वाइस-चाँसलर डा. श्री के. वी. पुट्टप्पा ने 'कानूरु सुब्बम्मा हेग्गडति' नामक एक उपन्यास लिखा। इन्होंने लिखा तो एक ही उपन्यास है, पर वह इनकी अद्वितीय प्रतिभा का परिचायक है। इसमें पहाड़ी जीवन का अच्छा चित्रण उपस्थित किया गया है।

श्री गोकाक, मास्ती वेंकटेशय्यंगार, आनन्द कन्द, देवुडु, नरसिंह शास्त्री, श्री रंग, त. र. सुब्बाराव, बसवराज कट्टीमणि, ईनामदार, ना. कस्तूरी, चदुरंग, के. वी. अय्यर, एम. वी. सीतारामय्या, मुगलि, वीरकेसरी सीताराम शास्त्री, श्री एम. आर. निरंजन, से. वि. नभिराजमल्ल, कोरटे श्री निवासराव, दाशरथी दीक्षित, नाडिगेर कृष्णाराव, बल्लारि बी. ची. मी. अण्णाराव, व्यासराय बल्लाल, नवगिरिनन्द, भारती, गोपाल कृष्ण अडिग आदि उपन्यास लेखकों के नाम उल्लेखनीय है।

मास्ती वेंकटेश्वरयंगार की 'चेत्तुबसव नायक',

के. वी. अय्यर जी की 'शान्तळा' उपन्यास आदि का साहित्य अकदामी की तरफ़ से अन्य भाषाओं में अनुवाद किया जा रहा है।

श्री मास्ती, श्री के. वी. अय्यर देवुडु, वीरकेसरी त. र. सुब्बाराव तेलुगु के होते हुए भी कन्नड़-प्रान्त में उनका पालन-पोषण हुआ और कन्नड़-भाषा में उत्कृष्ट रचनाएँ कीं।

कन्नड़ के ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों में कोरटे श्रीनिवासराव प्रमुख हैं। उन्होंने 'शान्तिवादी', 'जगन्मोहिनी, और "राज-द्रोही" नाम के तीन उपन्यास लिखे। वीरकेसरी ने टिप्पु-सुल्तान की जीवनी के आधार पर 'दौलत' नामक उपन्यास लिखा। निरंजन नामक एक युवावकी लेखक ने कई सामाजिक उपन्यास लिखे। इन्होंने 'अनुपका' नामक लेखिका के साथ विवाह कर लिया। कन्नड़-उपन्यास लेखिकाओं में इनका भी नाम उल्लेखनीय है। डाक्टरी करते हुए भी ये साहित्य-सृजन कर रही हैं। इन्हें कथा-वस्तुओं की कमी नहीं पड़ती। वाणी ने भी कुछ उत्तम रचनाएँ कीं। 'बिड्डुगड़े', 'चिन्नद पदक' इनकी श्रेष्ठ कृतियों में से हैं। आदर्श गृहिणी का जीवन व्यतीत करते हुए, इन्होंने वैसी ही कथा-वस्तुओं से प्रभावित होकर रचनाएँ की हैं। स्त्री-समस्याओं के बारे में भी इन्होंने बड़ी खूबी के साथ लिखा है। 'बेक्किन कण्णु', 'अपस्वर', 'अपजय' आदि त्रिवेणी के अच्छे उपन्यासों में से हैं। कमलम्मा, सरोजम्मा, यम. के. जयलक्ष्मी, सावित्रम्मा, गौरम्मा आदि लेखिकाओं के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

हास्य लिखने में ना. कस्तूरी सिद्धहस्त हैं। 'गालिगोपुर', 'चक्रदृष्टि', 'गृहदारण्यक' इनके अच्छे उपन्यास हैं। इनके बाद 'गोरूरू' रामस्वामी अय्यंगार का नाम आता है। इनकी कन्नड़ भाषा कुछ विचित्र-सी होती है। बल्लारी बीची, दाशरथी दीक्षित, नाड़िगेर कृष्णाराव हास्य लेखकों में से प्रमुख हैं।

इनमें से कुछ उपन्यास विश्वविद्यालयों के पाठ्य-ग्रन्थों के रूप में भी स्वीकृत हो चुके हैं। श्री कं. वें. पु, के. व. अय्यर; शिवराम कारंत; त. रा. सु; बसव राजु कट्टिमणि; ना. कस्तूरी आदि लेखकों के कन्नड़ उपन्यास आज विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाते हैं।

शरत्, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र आदि के कई उपन्यासों का भी कन्नड़ में अनुवाद हो चुका है। विक्टर ह्यूगो, लूबर्ट, वाल्टर स्काट, डिकेन्स, टालस्टॉय, गोर्की आदि विदेशी लेखकों के उपन्यास भी कन्नड़ में प्रकाशित हो चुके हैं।

इधर कन्नड़ में जासूसी उपन्यासों की बड़ी धूम रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनका कोई स्थायी मूल्य नहीं होता, ये केवल क्षणिक हैं। दूसरी बात यह कि जितने भी जासूसी उपन्यास लिखे जा रहे हैं, सब विदेशी भाषाओं के उपन्यासों की नकल ही होती है।

पर आजकल के कन्नड़ के उपन्यास लेखक पहले से अधिक सजग हो गए हैं। पाठकों की अभिरुचि का पता इन्हें लग गया है। इसी कारण वे सुसंस्कृत रचनाओं से कन्नड़ उपन्यास-साहित्य को सुसम्पन्न करने के लिए कटिबद्ध हो गए हैं।

अब कन्नड़ उपन्यास साहित्य का भविष्य उज्ज्वल होने में कोई सन्देह नहीं।

—डी. मंजुलता

सुषमा सिंडिकेट,
१३, राजाबादर स्ट्रीट, मद्रास—१७

जीवन

छोटा हूँ,
औ' मेरा जीवन मुझसे भी छोटा है।
इसीलिए ढो पाता हूँ उसको,
ढोता हूँ;
बड़ा अगर होता वह मुझसे,
संभव है, दब जाता मैं ही।

खालसा कालेज,
बम्बई

—कुमारेन्द्र पारस्वार्थीन्द्र

फूलों की बोली

तेलुगु के लोक-गीतकारों में नंडूरि सुब्बाराव का प्रथम स्थान है, वैसे तो आप वकील हैं। मगर भावुकता से आप कवि हैं। दिल में जैसे-जैसे भावना का उदय होता हो, उस-उस की अभिव्यक्ति, आप बन्धनों को तोड़ कर करते हैं। एक स्वच्छन्द ग्रामीण-प्रेमिका युवती का भोला रूप आपने अपने काव्य में अंकित किया है। आप की 'येंकि' साहित्य की गर्वयोग्य स्मृति रेखा है।

इस लोक-गीत में प्रकृति-सौन्दर्य सन्निहिता, भोली युवती का चित्रण है। उसका हृदय पतली-सी बेल है। वह नज़रों से बातें करती है और साँसों से नाचती है।

"पूल बासलु तेलुसु एंकिकी
तोट
पूल मनसुलु तेलुसु एंकिकी
पूल मोक्कल नीटि
जालु गनि निलुसुंडि
पूलन्नि नी पाटे
आलिंचे नंटादि
पूल बासलु तेलुसु एंकिकि
तोट
पूल मनसुलु तेलुसु ऐंकिकी"

येंकि सहृदया प्रेयसी युवती है, उसका प्रियतम 'नायुडुबावा' है। वे दोनों स्वरों के संसार में बसते हैं। उनका अन्तरंग प्रकृति रहस्य से मिल कर हिलता-डुलता है। नायुडू का मधुर गान हो रहा है। दोनों वन में फूलों के बीच बैठे हुए हैं। कवि, येंकि का वर्णन करता है :

येंकि फूलों की बोली पहचानती है। वह इस वन में बसनेवाले फूलों का मन भी पहचानती है। येंकि का मन भी फूलों की तरह सुकोमल है। इसीलिए वह हर फूल के दिल को पहचानती है। कहती है कि पेड़ पौधों की काली छाया में खड़े हो कर बड़ी दिलचस्पी के साथ फूल तेरा गान सुन रहे हैं, वह उनकी उत्सुकता जानती है।

"पूलंट्ट कालंटि
पुन्नेमुन्दंटादि
बगलमारी पडुसु
नगदोडिगेनंटादि
पूल बासलु तेलुसु ऐंकिकी
तोट
पूल मनसुलु तेलुसु ऐंकिकी"

पेड़ पौधों को वह पैरों से छू कर कहती है कि, इससे पुण्य मिलेगा, पुण्य इसलिए कि कुछ फूलों के पौधे, समय पर फूलते नहीं। मगर, नियति के अनुसार अलंकृत ललनाओं के पाद-ताडन से, वे फूलने लगते हैं। कालिदास के "मालविकाग्निमित्र" में इस प्रकार की घटना का उल्लेख हुआ है। इसलिए येंकि कहती है कि इससे पुण्य मिलेगा।

वह कहती है कि इठलाने वाली कुसुमकुमारी ने नया गहना पहन लिया है।

"तेरलेत्ति पूपडव
परिगेत्तुता बुंटे
दारेंट पूलोंगि
दण्णमिडे नंटादि
पूलबासलु तेलुसु एंकिकी..."

फूलों की नाव दौड़ती जा रही है, उस जाती नाव को देख कर रास्ते में, सभी फूल झुक-झुक कर प्रणाम करते हैं; यही उसका कथन है कि, येंकि फूलों को ही जीवन समझती है। उन्हें हृदयंगम करती है, यही उसकी विशेषता है।

"पूल तो वियालु
पूल तो कय्यालु
मानल्ले नन्नुंचि
ताने पूवौनेमो..."

येंकि का प्रेमी कह रहा है कि, वह फूलों से नाता जोड़ा करती है और उन्हीं से झगड़ा कर बैठती है। इतना ही नहीं, संभव है कि मुझे पेड़ बना कर वह भी

फूल बन जाए !

कवि कृष्णशास्त्री ने आत्मगान में कहा था कि, 'फूलों में फूल बन कर, पातों में पत्ता बन कर, जंगल को पार करूँ, या इसी बाग़ में बस जाऊँ'।

कवि फूल बन कर रहना चाहता है। नायुडू ने इसी अवस्था की संभावना, प्रेमिका यैंकि में देखी है। लोक-गीतकार अप्पाराव ने 'ताजमहल' से पेड़ और लता बन कर शाहजहाँ और मुमताज को याद किया है। उसी का यहाँ हृदयग्राही वर्णन हुआ है। नायुडू ने कहा: "संभव है कि वह मुझे पेड़ बना कर फूल बन जाए।"

अखिल भारतीय हिन्दी-परिषद,
आगरा

—जी. एस. राव

बंगला कहावतें

१ अति भक्ति चोरेर लक्षण
अति भक्ति चोर के लक्षण

२ अति मेघे अनावृष्टि
गरजता मेघ बरसता नहीं

३ एक हाते तालि बाजे ना
एक हाथसे ताली नहीं बजती

४ नाचते ना जानले उठान बांका
नाचे न जाने आंगन टेढ़ा

५ रथ देखा, कला बेचा
एक पंथ दो काज

६ अनेक सन्यासीते गाजन नष्ट
अधिक जोगी मठ उजाड़

७ चोरे चोरे मासतुत भाई
चोर चोर मौसेरे भाई

८ आतुरे नियमो नास्ति
जरूरत के सामने क़ानून नहीं चलता

९ वृद्धवेश्या तपस्विनी
नौ सौ चूहे खायके बिलाई चली हज्जको

हैदराबाद (दक्षिण)

—सखाराम वानखडे

कला-चर्चा

भारतीय साहित्य में चित्र-कला का योग

साहित्य, वह शास्त्र है; जिसमें भावना और भावुकता की पद-पद पर आवश्यकता होती है। प्रकृति देवी के सुकोमल और गम्भीर कौशलों का परीक्षण करने की जिसमें प्रतिभा नहीं है, और जो शब्दों के ही अर्थ को भाव एवं अर्थ-सिद्धि समझते हैं, वे इसके अधिकारी नहीं है, जो कि इस अपार समुद्र का मन्थन करने के लिए हृदय, दर्पण की भाँति स्वच्छ एवं मक्खन की भाँति कोमल होना चाहिए एव प्राणियों की चेष्टा काभाव हृदय-तल पर अंकित कर सकते हैं; जो अपने अंगों की ही नहीं अपितु अन्य असम्भाविक रीति से ली, साँस का परीक्षण भी कर सकता है, वे व्यक्ति ही इसके उपयुक्त पात्र कहे जा सकते हैं। जीवन में प्रेरणात्मकता के विविध रूप विद्यमान है जो कि उपयुक्त समय पर यथावश्यक, देश की राजनैतिक और सामाजिक अवस्था को ही नहीं बल्कि अणुबम आदि को भी क्षण-भर में व्यर्थ कर सकते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण जर्मन की वासाई-सन्धि है। इस सन्धि द्वारा प्रत्येक जर्मन-जाति को अपंग बना दिया गया था, ताकि वह अपने पैरों पर खड़ी न हो सके। किन्तु उसके जीवित साहित्य की भावनाओं ने ही उसे परतन्त्रता की बेड़ी को तोड़ने योग्य बनाया। ठीक इसी शक्ति ने भारत को भी लगभग कई शताब्दियों से परतन्त्रता की बेड़ी से मुक्त किया। जो जाति भावनाशील नहीं, वह विश्व में अपना अस्तित्व खो देती है।

'साहित्य समाज का दर्पण है', इस कथनानुसार समकालीन सामाजिक प्रवृत्तियाँ साहित्य को प्रभावित किए बिना रह नहीं सकती। मैथ्यु अरनाल्ड ने भी एक स्थान पर कहा है कि "The poet and the age act and re-act upon each other" यह देखते हुए हज़ारों वर्ष व्यतीत हो गए कि पाश्चात्य देशों में साहित्य ने असम्भव को सम्भव करके प्रत्यक्ष रूप में उसे प्रस्तुत कर दिया है जो एक दुस्कर कार्य है।

साहित्य जीवन-विटप का मधुमय सुमन है। उसके निखरते हुए यौवन और उड़ती हुई सौरभ सभी को मस्त बना देती है, तभी तो साहित्य-विश्व के मनीषी विचारक, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में कि 'साहित्य साधना का फल है, तपस्या का कुन्दन है। अतः साहित्यकार अपने मार्ग का स्वयं रक्षक एवं दिग्दर्शक होता है। वह अपनी जीवन-धारा का निर्माण स्वयं ही करता है। हमारा मार्ग वहीं है जो हमारी संस्कृति की रक्षा कर सके।'

मानव-जीवन को श्रेष्ठतर बनाने वाली शक्तियों की वृद्धि में सहयोग देकर कला, सभी कालों में सब का हित-साधन रही है जो मानव-हृदय का मूलाधार है और जिसका कि प्रत्यक्ष रूप में अनुभव किया जा सकता है। श्री हरिहर निवास.द्विवेदी ने एक स्थान पर उल्लेख किया है कि 'जिस कला का माध्यम जितना सूक्ष्म होगा उसे उतना ही श्रेष्ठ माना जा सकता है। स्थापत्य से संगीत श्रेष्ठ है, इसलिए कि संगीत-साधना कलाकार, केवल अपने कंठ द्वारा कर सकता है, उसका माध्यम ईश्वर प्रदत्त-स्वर है। स्थापत्य का माध्यम मिट्टी, पत्थर, चूना आदि है। स्थूल माध्यम पर आश्रित कला में कलाकार को समाज पर अधिक अवलम्बित होना पड़ता है। इस कारण भी उसको न्यून श्रेणी का मानना पड़ेगा। कलाकार समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। उसकी आवश्कताएँ एवं आशाएँ भी विशिष्ट होती हैं। वर्त्तमान समाज में अपनी लोक-प्रियता, अपना अस्तित्व एवं विषय के प्रति अपना दृढ़ भाव रखने के हेतु उसे, समाज से प्रभावित होना पड़ता है।"

भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग में कला, साहित्य और संस्कृति का पुनरुत्थान हुआ और काव्य, संगीत चित्रकला, मूर्ति-कला, नृत्य, स्थापत्य आदि ललित-कलाओं का विकास प्रायः ५,००० वर्ष पूर्व सिन्धु नदी की घाटी में प्रारम्भ हुआ। सिन्धु-सभ्यता के नगर मोहनजोदड़ो

और हड़प्पा, जिनकी खुदाई में पुराविदों के प्रयत्न से अनेक मूर्तियाँ तथा बर्तन पर चित्रकारी एवं निवास-स्थानों की सुव्यवस्था आदि के कुछ स्थल पूर्ववत् प्राप्त हुए हैं। उनके अवलोकन से यह प्रमाणित हो जाता है कि उस काल की प्रागैतिहासिक और मौर्य कालीन संस्कृतियों में बड़ा अन्तर है। भारतीय कला इतिहास में, मौर्य कला, गति और गुरुता तथा प्रभावशीलता में अपना वही स्थान रखती है जो कि तत्कालीन राजनीतिक इतिहास में। कला, देश की सांस्कृतिक प्रगति का प्रतिबिम्ब है, जिसमें देश की युग-युग की प्रगति प्रतिबिम्बित होती है। धार्मिक चिन्तन और कला की प्रगति के अध्ययनार्थ अद्भुत मूर्तियाँ और अन्य कृतियाँ यहाँ पर पर्याप्त रूप में उपलब्ध हुई हैं। देश में जिस प्रकार से कला और जीवन में सामंजस्य हुआ है, ऐसा अन्यत्र नहीं।

चित्र-कला-युग : भारतीय चित्र-कला-युग को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है : आरम्भिक, मध्यम और आधुनिक काल। आरम्भिक-काल ईसा-पूर्व पहली शताब्दी से सातवीं शताब्दी ईस्वी तक। इसमें मुख्यतः अजन्ता की गुफ़ा है। जिसमें नगर, वन है, महल, पर्वत आदि स्थान मनमोहक रूप में चित्रित किए प्राप्त होते हैं। उनमें राजा-रानी, अमीर-कंगाल, भिक्षु-विलासी सभी का अंकन है। इस गुफ़ा के चित्रों ने मध्य एशिया, ब्रह्मा सिंहल, चीन और जापान पर एक गहरा प्रभाव डाला है।

मध्यम-काल, नवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक है। इसमें ग्वालियर के बाघ और दक्षिण भारत के मित्त-नवासल के भित्ति-चित्र आकर्षक हैं। इस समय बंगाल और गुजरात में कला केन्द्र प्रतिष्ठित हुए और पुस्तकों तथा निमन्त्रण-पत्रों के मुख पृष्ठों परा चित्रों का अंकन किया जाने लगा। इस समय क प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्रज्ञा पारमिता" की पांडु-लिपियों के अनेक, चित्रित ताड़ पत्र भी सुरक्षित हैं।

तीसरा आधुनिक-काल १९ वीं शताब्दी से आरंभ होता है। १९५४ में कलकत्ता-स्कूल ऑफ़ आर्ट्स की स्थापना, औद्योगिक कला-समिति के तत्वावधान में हुई। अंग्रेज़ों ने भारतीय-कला की अद्वितीय सेवा की और उसके ह्रास की बहुत-कुछ क्षति पूर्ति की इस प्रकार पुनः जागरण हुआ। प्राचीन अजन्ता से प्रेरित हो कर कलाकार ने इसकी पृष्ठ भूमि का यथावत् चित्रण अंकित किया। समरेन्द्रनाथ गुप्त की अभिरुचि ऐसे प्रतीकात्मक चित्रणों की ओर थी, जिनमें प्रकाश और प्रकाश के स्रोत, मणि-रत्नों के समान जगमगा उठते हैं।

राजस्थानी-कला : पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी की राजपूत कला, भारतीय प्रतिभा को एक नई दिशा की ओर अग्रसर करती है। इस समय मालवा और राजस्थान ही, संस्कृति, शान्ति और सुव्यवस्था के केन्द्र थे तथा १७ वीं शताब्दी तक यह शैली अनेक स्थानों पर विकसित हो गई, जिसमें मेवाड़ को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है, इसमें अखिल भारतीय स्तर पर विविध भावावेशों का हमें सुन्दर दिग्दर्शन प्राप्त होता है।

राजस्थानी कला के प्रमुखतः दो रूप माने जाते हैं : एक लोक-कला और दूसरी राज्याश्रित कला। लोक-कला जनता से सम्बन्धित थी; अतः प्रत्येक घर में व्याप्त थी, जिसको देखने के लिए किसी विशिष्ठ स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं, वह तो लोगों के पहनाव, बनाव, शृंगार और स्पष्टतया में झलक उठती है। इनके नायक-नायिका राधा और कृष्ण है जो पुरुष और नारी को भलीभाँति प्रतिबिम्बित करते हैं। गार्हस्थ्य जीवन की सभी साधे, सभी भावनाएँ, इनमें चित्रित हुई हैं। इसके अतिरिक्त नारी सौन्दर्य का आदर्श भी इसमें विद्यमान है। उनके कमलवत्-मुख, कमल सरीखे कर सौन्दर्य के क्षेत्र में आदर्श की स्मृति को बरबस जगाते हैं। इनमें से अनेक में हिन्दू-नारी की पति-भक्ति और देव-भक्ति अत्यन्त निष्ठा से अंकित हुई है। यह कला-भावनाओं की अभिव्यक्ति में अधिक प्रबल, ब्योरेवार वर्णन में अधिक स्पष्ट और व्यंग्यपूर्ण है। राजस्थानी कलम की रेखाओं में एक अद्वितीय सौन्दर्य और बल है। यहाँ के प्रकृति-सौन्दर्य के सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स का बहुत सुन्दर वक्तव्य है : "चित्रकार, पतझड़ के सौन्दर्य, वसन्त के कुसुम-निचय और उल्लास, ग्रीष्म के आलस्य, और वर्षा की ताजगी को अपनी रेखाओं द्वारा समुचित उभार प्रदान करता है। भैरवी, मालव, श्रीराग, हिंडोल अथवा वसन्त, दीपक और मेघ के परिवार की कल्पना ग्रीकों की प्रतिभा में न उठ सकी। ये छः राग, छः ऋतुओं के प्रतीक हैं और इनमें से प्रत्येक की पाँच-पाँच रागिनियाँ हैं जो कलाकार की मेधा के विभिन्न काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करती हैं।"

चित्र-कला के लिए जैसे जयपुर प्रसिद्ध है, उसी भाँति

नाथद्वारा भी अपनी सर्व श्रेष्ठ कला के लिए प्रसिद्ध है। यह कहा जा सकता है कि इसकी विशिष्ट शैली कलम के रूप में है। इसमें जहाँ विषयों की मनमोहकता है, वहाँ रंगों का भी बड़ा सौन्दर्य है। बीकानेर और उदयपुर के राज्य-संग्रहों में राजपूत और कांगड़ा-कलम के उत्कृष्ट चित्र विद्यमान हैं। इस समय भी जयपुर और उदयपुर में अनेक चित्रकार पाये जाते हैं जो कि प्राचीन काल के राजपूत-कलम के चित्रों की हूबहू अनुकृति करते हैं। इस कला से प्रभावित हो कर डॉक्टर कुमार स्वामी जी कह उठते हैं कि "राजपूत चित्रकारों की वृत्तियों का सम्मान संसार के सुन्दरतम कला-चित्रण की पंक्ति में होना चाहिए। वास्तव में इन चित्रों के विषय जनता के और उसके काव्य संगीतादि से सम्बन्धित है।"

मुग़ल-कालीन-कला : भारतीय इतिहास में मुग़लों का आगमन राजनैतिक क्षेत्र में अधिक क्रान्तिकारी नहीं हुआ, जितना कि कला के क्षेत्र में। अत्यन्त प्राचीन काल के अजन्ता आदि के चित्रों को छोड़, पिछले काल के चित्रों में इतनी सुकुमारता और इतनी स्वच्छता कभी उत्पन्न न हुई। मुग़ल-बादशाह कला के संरक्षक थे तथा मुग़ल-कला ने एक प्रकार की मौलिकता प्राप्त कर ली और वह शनैः शनैः भारतीयता में समा गई। मुग़ल-कला में व्यक्ति के चित्रों की प्रधानता है जो कि ईरानी कलाकारों के सहयोग से उठी तथा मुख्य धारा में प्रवाहित होकर विलीन हो गई। कहते हैं मध्य-काल में चित्रकारी एक व्यवसाय-मात्र रहा। मुग़लों के छत्तीस कारख़ानों में से चित्रकारी का भी एक कारख़ाना था। अतः इस काल के चित्रों के विषय पर लिखते हुए कला-मर्मज्ञ श्रीयुत् रायकृष्ण दास जी ने कहा है कि "इन चित्रों में हद से ज़्यादा रिवाज़, महीनकारी, रंगों की ख़ूबी तथा शान शौक़त एवं अंग-प्रत्यंग की लिखाई, दरबारी अदब क़ायदों की जकड़बन्दी और शाही दबदबे के कारण भाव का सर्वथा अभाव एक प्रकार से बहुत अखरता है, जिससे जी ऊबने लगता है। यह उक्ति बहुत कुछ रीति कालीन कविता पर भी लागू की जा सकती है। तैमूर वंश के इतिहास के चित्रण की मूल पांडुलिपि बांकीपुर के ख़ुदाबख़्श संग्रहालय में सुरक्षित है तथा अकबर की "महाभारत" की अपनी पांडुलिपि "रजानामा" नाम से प्रसिद्ध है जो कि १६६ चित्रों का संग्रह है, जयपुर में संगृहीत है। इसी प्रकार अनेक कला-कृतियाँ राजस्थान में बिखरी पड़ी हैं।

आधुनिक-युग में स्थिति : आधुनिक-काल में प्रचलित कला की दृष्टिगोचरता पर विचार-विनिमय होने लगता है कि कला का विकास किस दिशा में हो रहा है। यह बात तो उचित ही है कि परिवर्तन-काल में समय-समय पर कला की स्थिति उसी प्रकार चढ़ती-उतरती रही और अब दिन-प्रतिदिन प्रगति-पथ पर आरूढ़ हो गई है। भारतीय-कला आज विश्ववादी है कारण कि वह बाहरी के सुझाव पर आधारित होकर प्रगति कर रही है। इसके साथ यह कला राष्ट्रीय भी है, क्योंकि वह जिन तत्वों को व्यक्त करती है, वह सभी राष्ट्रीयता के तत्वों से सम्बन्धित है। इससे सम्बन्धित एक पुस्तक में यह लिखा है कि, "आल्टामीरा के प्रस्तर-युग के चित्रों की शक्ति और सरलता, मिस्र के भित्ति-चित्रों में आकृतियों की एक विशिष्ट शैली में चित्रित ऐजटेक-मूर्तियों का गम्भीर भाव, आरम्भिक कोष्ठि-कला की चिन्तनशील गहनता, सुंग-कालीन प्रकृति-चित्रों में कल्पना की विशालता, हीराशिगे की प्रगतिशीलता का और हब्शी कला का प्रतीकवाद—इन सभी प्रभावों ने, जो देश और काल में एक दूसरे से अति दूर स्थल पर विद्यमान है, आधुनिक भारतीय कला पर अपना प्रभाव डाला है।" चित्र-कला का महत्त्व भारतवर्ष में मूर्ति-कला की अपेक्षा अधिक है। चित्रकारों ने रेखाओं द्वारा, राग अथवा रागिनी, अपने भावाधार पर प्रणय के सन्धि-विच्छेद या संयोग वियोग को अंकित किया है।

—कृष्णकुमार वर्मा 'राज'

(२)

आधुनिक चित्रकला में बुद्ध

यदि बौद्ध-धर्म का इतना प्रचार न हुआ होता तो शायद भारतीय कला का भी इतना प्रचार नहीं होता और परवर्ती मुग़ल, पहाड़ी तथा जयपुरी शैली पर भी इतनी खोज न हुई होती। ६०० ई. पू. में बौद्ध-धर्म के साथ चित्रकला भी चीन, कोरिया, जापान, मंगोलिया ईरान इत्यादि स्थानों तक पहुँच गई। उस समय बुद्ध को लेकर बहुत सारे चित्रों का निर्माण हुआ जो अपनी गाथा आज भी कह रहे हैं।

बुद्ध का जीवन इतना ललित, मार्मिक और त्यागपूर्ण था कि प्रायः सभी कलाओं को उनसे प्रेरणा मिली। चित्रकला तथा मूर्तिकला के विषयों की तो बुद्ध के बिना पूर्ति करना ही कठिन हो जाता है। किन्तु सिद्धार्थ-रूप का इतना अधिक चित्रण नहीं हुआ, इसका कारण यह था कि बाललीला यशोधरा के वियोग, स्वयंवर इत्यादि का जितना सुन्दर चित्रण साहित्य में हो सकता है, उतना कला में नहीं। किन्तु जैसा कि मैंने "हिन्दी साहित्य में बुद्ध विषय" नामक लेख में बताया है। साहित्य में बुद्ध को लेकर कुछ भी कार्य न हुआ।

अजन्ता के पश्चात् चित्रकला में, तथा हर्ष के पश्चात् मूर्तिकला में बुद्ध की कथा समाप्त हो गई। यह अत्यन्त ही आश्चर्य की बात थी कि जिस गाथा ने कला पर इतने दीर्घ काल तक प्रभाव डाला था बाद में वह ऐसी लुप्त हो गई कि उसका नाम भी सुनने को न मिला। मन्दिरों पर नृत्यादि तथा अप्सरा, शिव और राम की गाथा एवं नायिकाओं का ही चित्रण होने लगा। इस काल से बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक एक भी न तो बुद्ध की मूर्ति बनी और न एक भी चित्र। ऐतिहासिक राजपूत, कांगड़ा, मुग़ल, बनारसी, दक्षिणी, पटना इत्यादि किसी भी शैली में एक भी चित्र बुद्ध को लेकर न बना जो कम आश्चर्य की बात नहीं है। दरबारी तो दरबारी उन्मुक्त प्रकृति के अंचल में पलने वाली कांगड़ा-कला में भी इस दिशा में कोई प्रयत्न न हुआ।

प्रायः बंगाल-स्कूल के, प्रारम्भ से ही हम बुद्ध की गाथा पर चित्र पाते हैं। इतने दीर्घ काल के पश्चात् आधुनिक प्रयोग जो भी हुए, वे अजन्ता को दृष्टि में रख कर किए गए। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल-कला ने अजन्ता को जितना ग़लत समझा, उतना विदेशियों ने भी नहीं समझा था। एक ओर इसी भ्रान्त धारणा से उद्भूत जो नवीन मिश्रित शैली हमारे सम्मुख आयी, उसे हम बंगाल-कला कहते हैं। बंगाल-कला भले ही किसी भी शैली में हो, या अभारतीय अभिव्यंजना प्रणाली हो, किन्तु उसने दूसरी ओर बुद्ध पर अच्छी सामग्री दी है। इसमें कोई संन्देह नहीं। इस दृष्टि से इसके प्रवर्त्तक साधुवाद के पात्र हैं। इस कला-केन्द्र के प्रायः सभी चित्रकारों ने इस दिशा में दो-तीन अच्छे चित्र अवश्य दिए हैं। किन्तु इन्होंने विप्रलम्भ नायिकोचित बुद्ध का जो चित्रण किया, वह न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। अधिकतर चित्रों में स्त्रियों की भाँति मुख, उंगलियों की आसमान मुद्राएँ ऐसी न्यूनताएँ हैं जो बुद्ध के तेजपूर्ण चरित्र के अंकन में असफल रही हैं। इनके किसी भी चित्र से ऐसा नहीं प्रतीत होता मानों बुद्ध कोई अवतार हों। उनकी इसी धारणा के फलस्वरूप मार्मिक कथानक अछूते रह गए और भिक्षाटन, तपस्या इत्यादि ऐसे स्थल-चित्रण आए जो प्रभावशाली न बन पड़े और न कथा के चयन की कुशलता उपस्थित करने में समर्थ थे। अब हम कलाकारों तथा उनके चित्रों का अध्ययन करेंगे। इसका क्रम निश्चित नहीं किया गया है, वरन् जैसे-जैसे मेरे सम्मुख चित्र आते गए उसी क्रम से मैंने चित्रकारों को रक्खा।

सर्व प्रथम मेरे सम्मुख श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का चित्र आता है। अवनी बाबू ने जो तपस्या की है, उसका मूर्तिमान रूप हमें उनके "बुद्ध दि मैंडिकैंट" नामक चित्र में दीख पड़ता है। यही चित्र उनका सर्वश्रेष्ठ बन पड़ा है।

फिर हमारे सम्मुख वाशकला से भिन्न तथा अपारदर्शक शैलीके एक-मात्र कलाकार श्री राचशु के चित्र आते हैं। इन्होंने आधुनिक शैली तथा लोक-शैली में सुन्दर चित्र दिए हैं। एक चित्र उसी समय का है जब परिचारिकाओं के साथ यशोधारा सोई हुई है और बुद्ध जा रहे है। इसमें बुद्ध की मुद्रा अत्यन्त भावपूर्ण है दूसरा चित्र "सिद्धार्थ का नगर भ्रमण' शीर्षक है। दोनों में कलाकार ने मार्मिक स्थलों का चुनाव किया है।

श्री नन्दलाल बोस ने तो बुद्ध सिरीज ही दी है। जिसका प्रकाशन कुछ वर्ष पूर्व इलस्ट्रेटेड वीकली के क्रिसमस अंक में हो चुका है। नन्द बाबू के चित्रण में अजन्ता की रेखाएँ मुखरित हो उठीं हैं। शान्तिनिकेतन के प्रथम दल के दक्षिणी कलाकार श्री वेंकटप्पा भी अन्य कलाकारों की भाँति पृष्ठ होकर हमारे सम्मुख आए। इनका 'भिक्षुक-बुद्ध तथा 'शिष्यों के साथ बुद्ध' शीर्षक चित्र अच्छा बना है। श्री शारदाचरण युकिल भी बंगाली कला के अच्छे कलाकार माने जाते हैं। इनकी विचार-धारा कुछ धार्मिक थी इसीलिए इनके चित्र कृष्ण और बुद्ध को लेकर अधिक बने। बुद्ध पर इनके सारे चित्र हैं। रेखाएँ तो इनकी सुघर नहीं हो पाई हैं, पर थोड़ा-सा कार्य रंगों पर अच्छा हुआ है।

१६५७

श्री डी० रामराव भी अच्छे कलाकार माने जाते हैं। इनकी प्रसिद्धि तो नहीं हो सकी किन्तु इन्होंने रंगों पर अच्छा प्रयोग किया है। 'सिद्धार्थ रागोद्यम' चित्र इनका अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। वस्तु-योजना में इनकी प्रौढ़ता दीखती है। बंगाल-कला के ही एक अन्य कलाकार श्री पुलिनबिहारी दत्त ने कुछ अच्छे चित्र दिए हैं जिनमें 'बुद्ध एज़ ए मेंडिकेंट' तथा 'सिद्धार्थ और यशोधरा' उल्लेखनीय हैं। उकील बन्धुओं में श्री रणदा उकील ने भी अपने भाई की भाँति ही इस ओर प्रयास किया है। किन्तु इनका एक भी चित्र उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता। इसके पश्चात् नेपाली मिश्रित शैली के कलाकार श्री कमल सिंह आते हैं। इन्होंने विश्व-भ्रमण किया। इसके फलस्वरूप इतनी अधिक शैलियों का समुच्चय, इनकी कला में हुआ कि वह बेढंगी हो गई। इनका "बुद्ध की तपस्या" उल्लेखनीय है।

काशी के अपार-दर्शक शैली के अन्य कलाकार श्री महेन्द्रसिंह ने राजपूत-शैली अधिक अपनाई और इस शैली में इनका "राजहंस और सिद्धार्थ" नामक चित्र आया है, जो अत्यन्त ही हृदयग्राही है। बनारसी शैली में आधुनिक प्रयोगकर्त्ताओं में कुमार शील का उसी शैली में "गोपा का महादान" शीर्षक चित्र अच्छा बना है। इसके अतिरिक्त चार आर्य सत्यों पर चार चित्र भी हैं जो सूक्ष्मवाद से प्रभावित हैं। काशी ही श्री मंगल प्रसाद जी पाण्डेय ने दो अच्छे चित्र दिए हैं।

प्रयाग के शान्तिनिकेतन के महारथियों में श्री मजूमदार महाशय की प्रौढ़ लेखन प्रणाली से उद्भूत कुछ अच्छे चित्र हमारे सम्मुख आए हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त उन बहुत-सारे अन्य कलाकारों का भी उल्लेख किया जा सकता है जिनके चित्र यदा कदा पत्रकारिताओं की शोभा बढ़ाते हैं और उनका क्या स्तर होगा यह तो कोई भी कल-पारखी बता देगा। हमारे सम्मुख "धर्म युग" है जो राम सीता को किस रूप में उपस्थित करता है यह सभी जानते हैं।

अजन्ता की छाया पर जो चित्र सारनाथ मंदिर की दीवारों पर अंकित हैं, वे भी कम उल्लेखनीय नहीं। किन्तु यदि उन्हें रंगों में लिखा जाय तो अधिक सुन्दर होगा। क्यों कि रेखाओं में वह मार्दव नहीं आ पाया है कि वह प्रभावशाली हो सके। अभी गया में बुद्ध-चित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन किया जा रहा है। साथ ही सरकार भी एक चित्र-प्रदर्शिनी के आयोजन के लिए चित्रों की खोज करवा रही है। इस स्थिति में हमें केवल यही कहना है कि चित्रों के चयन में कुशलता अवश्य होनी चाहिए। साथ ही शुद्ध भारतीय शैली के प्रतिनिधि चित्रों का प्रदर्शन अधिक होना चाहिए। आज विदेशों से सहस्रों यात्री, विद्वान्, कलाकार, दार्शनिक इत्यादि, जब यहाँ के संग्रह को देखेंगे तो उनकी धारणा अगले आने वाले भारतीय चित्रकला के काल पर वैसी ही बनेगी, जिस कोटि के चित्र यहाँ होंगे क्योंकि लाख प्रचार करने पर भी उतना प्रभाव नहीं पड़ पाता, जितना सम्मुख देखने पर पड़ता है।

मैंने दिल्ली में होने वाली प्रथम राष्ट्रीय चित्रकला प्रदर्शिनी देखी। वहाँ आधुनिक चित्रों का अच्छा संग्रह था। उनसे आज की प्रवृत्तियों का भी अच्छा दिग्दर्शन हो जाता है किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उन सारे प्रदर्शित चित्रों में एक भी चित्र बुद्ध पर नहीं था। आज आदर्श और यथार्थ के साथ ही सूक्ष्मवाद, बिम्बवाद इत्यादि वाद-विवादों के कारण बुद्ध के चित्र कम आ रहे हैं। बौद्ध धर्म के इस महाआयोजन-पर्व से भारतीय नहीं विश्व के सभी कलाकारों को प्रोत्साहन मिल रहा है।

वे चित्र जिस समय हमारे सम्मुख आएँगे, आधुनिक चित्रकला में बुद्ध पर अच्छी सामग्री प्रस्तुत करेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं। आज दो सौ बुद्ध विषयक चित्रों से अधिक, भारत से नहीं मिल सकते, जिनका प्रदर्शन हो सके। बौद्ध संघों के लिए आवश्यक है कि वे एक वृहद् संग्रह एक अंग में ही प्रकाशित कराएँ जिनमें केवल बुद्ध से सम्बन्धित चित्र का प्रदर्शन हो। इससे कलाकारों का भला तो होगा ही साथ ही कला-पुस्तकों की सबसे बड़ी कमी पूरी होगी, विशेषतः जब कि हिन्दी में कला पर अत्यन्त ही न्यून पुस्तकें हैं।

चित्रकार यदि मार्मिक स्थलों का चित्रण अधिक करें तो सुन्दर होगा, साथ ही भारत की प्रतिनिधि अपार दर्शक-शैली (टेम्प्रा) का प्रयोग भारतीय कला की श्रीवृद्धि में सहायक होगा; इसे भी न भूलें।

४३, उत्तर बेनिया बाग,
काशी

—कुमार शील

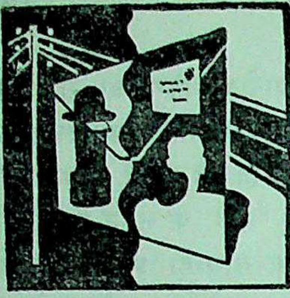

चिट्ठी-पत्री

देव नागरी लिपि

(१)

मैं समझता हूँ आपकी पत्रिका का यह स्तम्भ केवल पत्रिका की ही आलोचना-प्रत्यालोचना को ही नहीं बल्कि अहिन्दी और हिन्दी भाषाओं के सामने आने वाली तरह-तरह की समस्याओं के लिए भी है। इसलिए मैं आज एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ कहने का दुस्साहस कर रहा हूँ।

जनतन्त्र का पहला सिद्धान्त बोलने की स्वतन्त्रता है। किसी के मत से कोई सहमत हो या असहमत लेकिन उसे बोलने का पूरा-पूरा अधिकार है, इसे वाल्टेयर जैसे समाज-द्रष्टाओं ने माना है। संस्कृत में कहावत भी है "वादे-वादे जायते तत्वबोधः"। अतः यह जानते हुए भी कि जो कुछ मैं कहने जा रहा हूँ उससे आप ही नहीं आपके अधिकांश पाठक असहमत, होंगे, मैं उसे सामने रखने का दुस्साहस कर रहा हूँ और चाहता हूँ कि आपकी पाठक-भावना से नहीं तर्क से उस पर विचार करें।

आए दिन देवनागरी-लिपि में सुधार करने के प्रस्ताव या प्रयत्न होते रहे हैं, और कुछ 'साहसी' लोगों ने सरकारों की सहायता से केवल सुधार करने का सेहरा बाँधने के लिए सुधार कर डाले हैं। काका कालेलकर, विनोबा भावे, महात्मा गाँधी से लेकर आज यू. पी. सरकार के धनी-धोरियों, सभी ने अपने-अपने नाम की लिपि चलाने के प्रयत्न किए हैं। इस प्रकार एक समस्या के नाम पर चार-पाँच सिर-दर्द देश के सिर पर थोपे जा चुके हैं। अभी तो प्रयत्न ज़ारी हैं, देखें इस बार कौन-सा भगीरथ किस गंगा को धरती पर उतारता है! आज के नेता ने अगर दो काम नहीं किए तो वह न तो योग्य नेता बन सकता है न अखिल भारतीय ख्याति ही पा सकता है, एक तो गीता का भाष्य लिखना, दूसरा हिन्दी-भाषा या साहित्य को 'कृतार्थ' करना। लेकिन जिस बात को नेता एक रूप में रखते हैं उसे ही हम जैसे सामान्य व्यक्ति किस रूप में देखते हैं, उस पर पाठकों के बीच वार्तालाप करना भी उतना ही ज़रूरी है।

पहली बात तो मैं यह मानता हूँ कि वर्णमाला, लिपि, भाषा और साहित्य—चारों का सम्बन्ध आपस में ज़रूर है लेकिन ये हैं चारों अलग-अलग ही। अब अगली बात पर आएँ।

भारतीय संविधान की धारा ३४३ (१) के अनुसार भारतीय गणतन्त्र की राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा लिपि देवनागरी मान ली गई है। इस प्रकार संविधान में भाषा के प्रश्न पर सुस्पष्ट एवं निर्विवाद मत प्रदर्शित किया गया है। लिपि के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण की नितान्त आवश्यकता भी थी। यहाँ यह निर्देश करना ज़रूरी है कि किसी भी भाषा में वर्णमाला और लिपि भाषा को साकार बनाने के दो प्रमुख अंग हैं। इसलिए जब हम देवनागरी लिपि कहते हैं तब 'देवनागरी वर्णमाला (Alphabet) या लिपि (Seript)' यह प्रश्न ज्यों का त्यों शेष रह जाता है। इस लेख में अपने विचार और कुछ ठोस मननीय सुझाव भारतीय शिक्षा शास्त्रियों तथा लिपि सुधार-समिति के सदस्यों के लिए रखे गए हैं।

वर्णमाला से तात्पर्य 'अ' से 'औ' तक तथा 'ऋ' आदि ११ स्वर तथा क्-, च्-, ट्-, त्-, प्-, वर्गों के २५ और य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह् आदि ३३ व्यंजनों के उच्चारण से हैं। इसे हम "देवनागरी वर्णमाला" कह सकते हैं। लिपि से तात्पर्य वर्णमाला के वर्णों को लिपिबद्ध करने की प्रणाली से है। 'क, का' अथवा 'Ka, Ka' आदि इसे लिखने के कई प्रकार हो सकते हैं।

हमारे देश में उत्तर तथा दक्षिण भारत में वर्णमाला में साम्य होने पर भी लिपि भिन्नता समान रूप से पाई जाती है। उत्तर-भारत की पंजाबी, हिन्दी. मराठी, गुजराती, बंगला, उड़िया, असमिया आदि भाषाओं की

प्रकृति में साम्य होने पर भी लिपि एक न रह सकी। उसी प्रकार दक्षिण-भारत की तमिल. तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि चार भाषाओं की प्रकृति और वर्णमाला में साम्य होने पर भी लिपि विभिन्न पाई जाती है और एक लिपि दूसरी से मेल नहीं खाती। इस प्रकार हमारे देश के प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों को एक ही वर्णमाला मान्य होने पर भी कोई लिपि समान रूप से मान्य न हो सकी! देश की लिपि विविधता इस बात का प्रमाण है। यही कारण है कि हमारी देवनागरी लिपि (न कि 'देवनागरी वर्णमाला) में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता बिलकुल शुरू से ही महसूस की जाती रही है और आज भी वह समस्या ज्यों की त्यों है। आज तक सर जार्ज ग्रियर्सन तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने जो देवनागरी लिपि की सर्वश्रेष्ठता मानी है वह भी वर्णमाला के नाम पर ही हो सकती है न कि लिपि के रूप पर।

जहाँ तक लि.प का सवाल हैं देवनागरी लिपि में सदा सरलता का अभाव है। संयुक्ताक्षरों की क्लिष्टता ज्यों की त्यों बनी है। संयुक्ताक्षरों के नियमों को कितना भी नियमबद्ध बनाया जाए अपवादों की एक लम्बी परम्परा विद्यमान रहती है। लिपिशास्त्रियों के अनुसार लिपि का विकास प्रायः 'कलम बिना उठाये लिखने की शैली' पर हुआ। देवनागरी लिपि में इस बात का नितांत अभाव रहा है। अक्षरों के ऊपर की सरल, सीधी रेखाएँ बिलकुल अनावश्यक है। पर इनके न होने से अक्षरों का स्वरूप एवं सौष्ठव कुछ 'भग्न-काय' सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, टाइपिंग, पुनर्मुद्रण आदि यांत्रिक कार्यों के लिए भी यह पूर्णतया उपयुक्त है। आज तक देवनागरी में एक भी ऐसा स्टैण्डर्ड टाइपरायटर नहीं है जिसमें सुधार की गुंजाइश न हो, क्योंकि ११ स्वर और ३३ व्यंजनों को छोटे-से यन्त्र में कुशलता से रखना एक भगीरथ प्रयास ही होगा। क्, च्, ट्, त्, प् और ग्, ज्, ड्, द्, ब् के अतिरिक्त इन्हीं उच्चारणों पर अवलम्बित (महाप्राण) Aspirates ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्, और घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् के लिए भिन्न अक्षरों की वास्तव में आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। उसी प्रकार ङ्, ञ् ये दो अनुनासिक भी आसानी से लुप्त किए जा सकते हैं। शब्द-लेखन की त्रुटि भी इसे कम महत्वपूर्ण नहीं है। जब हम 'हाथ, रस, कलश, शाप' आदि कोई भी अकारान्त्य शब्द कहते हैं तब क्रमशः 'थ, स, श, प,' पूर्ण होने पर भी उनका उच्चारण उस प्रकार नहीं होना चाहिए। उसमें स्वर होने का आभास ही नहीं मिलता। इसके सिवाय मात्राएँ निश्चित और संख्या में थोड़ी होने के कारण भारत ही अन्य भाषाओं की तो फिर बात ही अलग अलग रही।

इस प्रकार देवनागरी लिपि की कमियों की परीक्षा करने पर यह आवश्यक हो जाता है कि इस प्रकार की एक ऐसी लिपि बनाई जाए जिससे अधिकतर भारतीय हों और जो लिपि अत्यन्त सरल और परिपूर्ण हो। उसमें देवनागरी वर्णमाला को व्यक्त करने की पूरी क्षमता हो। ऐसा होने पर भारतीय-भाषाओं के लिए एक सर्व-सामान्य लिपि मिल जाएगी, क्योंकि वर्णमाला सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक ही है। यदि सम्भव हो तो ऐसी लिपि में विदेशी, वैज्ञानिक और प्राग्वैज्ञानिक (Technical) शब्द सहज ही में व्यक्त करने की क्षमता हो और वह टाइपिंग, प्रिंटिंग, पुनर्मुद्रण आदि कार्यों के लिए भी सुलभ हो। ऐसा होने से राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ-साथ भारतीय-भाषाओं की कठिनाई और अन्तर्राष्ट्रीय विवाद एकदम समाप्त हो जाएँगे। अतएव हमारे देश में एक सर्वजन सुलभ, सरल और परि-पूर्ण लिपि की आवश्यकता पूरी होती है।

हमारे विचार में यह पूर्ति रोमन लिपि के द्वारा हो सकती है। उसके वर्तमान स्वरूप को कुछ बदल कर रखने से वह हमारी आवश्यकता पूरी कर सकती है। इसके साथ नत्थी राष्ट्रलिपि चित्र देखने से यह स्पष्ट होगा। इसमें 'अ, आ' के लिए 'a, a' 'इ, ई' के लिए 'i i' 'उ, ऊ,' के लिए 'प य' व 'औ' के लिए 'au' लिखा जाएगा। इन पाँच 'a, i, u, e, o' स्वरों में उच्चारण के अनुसार स्टैण्डर्ड परिवर्तन होने की पूरी गुंजाइश है। व्यंजनों में क्, ग्, च्, छ्, फ्, व्' के लिए सदा 'k, g, c, ch, ph, v' आएँगे, ट्-वर्ग के व्यंजनों के लिए (अनुनासिक को छोड़ कर) 't' और 'd' का उपयोग नीचे बिन्दी देकर किया जाएगा जिससे 'त् (t). ट् (t), द् (d), ड् (d)' का भेद स्पष्ट हो जाएगा; 'न्, ण्' के लिए क्रमशः 'n, n' का प्रयोग होगा; 'श्, ष्, स्' के लिए ŝ, s, s̮ का प्रयोग होगा। अरबी, फ़ारसी के शब्द भी ज्यों के त्यों

लिखने हों तो 'f, q, z' का उपयोग क्रमशः 'फ़, क़, ज़' के लिए किया जा सकेगा। इस प्रकार देवनागरी वर्ण-माला को लिपिबद्ध करने की सुगम, सरल पद्धति इस रोमन से सम्बन्धित लिपि से प्राप्त हो सकेगी।

इस प्रकार की जो लिपि तैयार होगी, उसे हम रोमन-लिपि नहीं कह सकते, क्योंकि अंग्रेज़ी भाषा में भी इस लिपि का इतनी सुगमता से प्रयोग नहीं होता। चाहे तो हम इसे 'राष्ट्रलिपि' नाम से गौरवान्वित कर सकते हैं। हमारी प्रान्तीय भाषाओं का आधुनिक साहित्य देखिए। नाटक, लघुकथा, आलोचना, निबन्ध और एकांकी सभी शैलियों में हमने पाश्चात्य देशों की हूबहू नक़ल करने में रत्ती भर भी कसर न रखी। फिर हमें लिपि के लिए सतर्कता से मार्गदर्शन के लिए रोमन-लिपि की ओर देखना यत्किंचित् भी हेय प्रतीत नहीं होना चाहिए।

सर्व प्रथम यह राष्ट्रलिपि अत्यन्त सरल होगी, जिसे रोमन-लिपि का न्यूनतम ज्ञान रखने वाला कोई भी व्यक्ति सहज ही में ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार माध्यमिक स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थी इसे अनायास ही समझने लगेंगे। यह लिपि आसानी से लिखी जा सकती है। इसमें ऊपरी आड़ी रेखा का न कोई झगड़ा है और न संयुक्ताक्षरों का। बिना कलम उठाए लिखने के लिए यह सर्वश्रेष्ठ है ही। (महाप्राण Aspirates के लिए अलग व्यंजनों की आवश्यकता नहीं। 'ङ्, ञ्' सदा के लिए हटा दिए जाएँगे। अकारान्त शब्दों के लिए आखिरी वर्णों के 'अ' कार की ('a' लिखने की) अलग से आवश्यकता न होगी। स्वर, संख्या में थोड़े अवश्य हैं पर उनमें परिवर्तन और उच्चारण के अनुसार हेरफेर की पूरी गुंजाइश है। इस प्रकार टाइपिंग, प्रिंटिंग और पुनर्मुद्रण आदि यान्त्रिक कार्यों के लिए भी यह लिपि सुलभ होगी। इसके अतिरिक्त आधुनिक रोमन लिपि के २६ वर्णों में से २ वर्ण (x, w) कम होकर हमारी 'राष्ट्रलिपि' के लिए केवल २४ वर्णों की आवश्यकता होगी। इसमें केवल बिंदी (·) और अक्षरों के ऊपर की आड़ी (–) रेखा के लिए स्थान देना होगा। यह कार्य अत्यन्त सरल है।

इस प्रकार की राष्ट्रलिपि का उपयोग डा० राधाकृष्णन तथा अन्य शिक्षा-शास्त्रियों ने संस्कृत तथा अन्य भाषाओं को लिपिबद्ध करने के लिए कुछ हद तक किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय इतिहास और भूगोल के कई शब्द तथा करोड़ों भारतीय नाम और उपाधियाँ भी रोमन तथा तत्सम्बन्धित लिपि में वर्षों से लिखे और समझे जा रहे हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'राष्ट्रलिपि' रोमन-लिपि की वह आवृत्ति होगी, जो सर्वथा भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुकूल सिद्ध होगी।

इस प्रकार की राष्ट्रलिपि में न केवल हिन्दी ही आसानी से लिखी जाएगी अपितु भारतीय गणतन्त्र के संविधान में सम्मिलित प्रायः समस्त भाषाएँ लिखी जा सकेंगी। अर्थात् अन्तर्भाषीय लिपि साधारण हो जाएगी और इस प्रकार प्रान्तीय भाषाओं का विवाद जो आजकल ज़ोर पकड़ रहा है, एकदम समाप्त हो जाएगा। आजकल वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली का बड़ा भारी प्रश्न उपस्थित हो रहा है। स्टैण्डर्ड सर्वमान्य शब्दावली बनने पर भी विभिन्न लिपियों में लिखी जाने के कारण अन्य भाषा-भाषियों के लिए एकदम अनभिज्ञ हो जाती है। 'राष्ट्रलिपि' के आत्मीकरण से यह कार्य सुलभ हो जाएगा। रसायनशास्त्र (Chemistry) के सूत्र (Formulae) भी अपरिवर्तित रूप में आसानी से लिखे जाएँगे।

मेरा उद्देश्य किसी व्यक्ति या संस्था पर टीका-टिप्पणी करने का बिलकुल नहीं है। मैंने अपने मौलिक सुझाव-मात्र भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों के सम्मुख प्रस्तुत किए हैं, जिससे महान गौरवशाली राष्ट्र की एकता, प्रान्तीय और राष्ट्रभाषा के कार्यान्वित होने पर भी सदैव अखण्डित रहेगी।

नक्शा इस प्रकार है :

a	ā	i	ī	u	ū	e	ai	o	au	am	ah
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
k	kh	g	gh	c	ch	j	jh	ṭ	ṭh	ḍ	ḍh
क्	ख्	ग्	घ्	च्	छ्	ज्	झ्	ट्	ठ्	ड्	ढ्
ṇ	t	th	d	dh	n	p	ph	b	bh	m	
ण्	त्	थ्	द्	ध्	न्	प्	फ्	ब्	भ्	म्	
		y	r	l	v	s	s	s	h		
		य्	र्	ल्	व्	श्	ष्	स्	ह्		

जियालौजिकल सर्वेऑफ़ इण्डिया,
२७ चौरंघी, कलकत्ता १४

—पां. ग. भड्याबकर

१९५७

[हम उपर्युक्त पत्र की ओर 'अजन्ता' के पाठकों और हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हैं। यदि इस सम्बन्ध में वे अपने विचार लिख कर भेजेंगे तो हम उन्हें सहर्ष इन स्तम्भों में 'अजन्ता' में प्रकाशित करेंगे—सं.]

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

(२)

बहुत दिन बाद घर लौटने पर डाक में अप्रत्याशित अनायास ही जब मुझे भारतीय संस्कृति की अग्रदूतिका 'अजन्ता' का जुलाई अंक मिला तो हर्ष हुआ और एक ही साँस में पढ़ गया। कोई भी अध्ययनशील बौद्धिक-प्राणी 'अजन्ता' बिना पढ़े नहीं रह सकता! ठोस सांस्कृतिक, सामयिक-सामग्री, दार्शनिक एवं वैचारिक भावभूमि के अतिरिक्त कल्पनात्मक तथा भावात्मक सौन्दर्य सभी कुछ मिल कर 'अजन्ता' बनती है। इन्हीं सब कारणों से 'अजन्ता' मेरी रुचि की पत्रिकाओं में प्रथम है, जो वर्षों से मेरा मानसिक-विकास कर रही है तदर्थ विद्वान् सम्पादक मेरी बधाई स्वीकार करें। मैं 'अजन्ता' की उत्तरोत्तर उन्नति की हृदय से कामना करता हूँ।

प्रस्तुत अंक में श्री न. प्र. त्रिपाठी की 'यह सौ-सौ कोसों की दूरी' भावपूर्ण रचना है। 'सौ बार मना करने पर भी याद का घिर-घिर आना, बड़ा ही सहज और स्वाभाविक है। 'ममता की बाँह' सुन्दर एवं सार्थक कल्पना है। वस्तुतः श्री देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की कविता 'हिन्दी का गीतकार' डा० धर्मवीर भारती की 'अंधेरे का फूल' आदि अतुकान्त रचनाओं का जो प्रवाह 'अजन्ता' में चला आ रहा है, वह निश्चय ही शुभ है। 'राकेश' जी की कविता में तो Intellectual Element ही है।

डा० महेन्द्र भटनागर यदि अपने निबन्ध को 'प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्यवर्ग की स्थिति' शीर्षक देते तो अधिक समीचीन होता। डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी अच्छे निबन्ध-लेखक हैं ही। सूर-दर्शन पर अब तक बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। चिरंजीलाल पाराशर का Informative लेख अच्छा रहा।

'सुबह का भूला' कहानी में लेखक ने कल्पनात्मक रंगीनियों को यथार्थ का चोग़ा पहनाने का असफल प्रयत्न किया है। अन्त सिनेमेटिक हो गया है। श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' की रचना 'रेडियो' (एकांकी) पारिवारिक पृष्ठभूमि पर लिखी गई, अनुभूति-प्रवण रचना है, मन को भाई। एकांकी के अतिरिक्त आप दो कहानियाँ दिया करें तो अच्छा है।

श्रीयुत भाऊ समर्थ अपने विषय के अधिकारी विद्वान् हैं ही।

हाँ, 'हिन्दी उपन्यासों में यथार्थ के नाम पर नग्नता' में लेखक ने जिस साहित्यिक नग्नता का पर्दाफ़ाश किया है, वह उचित ही है।

श्रीयुत विद्यालंकार जी ने 'भारतीय कविता' (१९५३) की निर्भीकतापूर्वक जो सही-सच्ची आलोचना की है, उसके लिए वे निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। उन जैसे ईमानदार सैद्धान्तिक समीक्षक से ऐसी ही आशा की जाती है। इसके लिए मैं उनकी सराहना किए बना नहीं रह सकता। कुल मिला कर 'अजन्ता' अच्छी निकल रही है।

राजा की कचहरी अछनेरा,
आगरा —त्रिलोकी प्रसाद शर्मा

(३)

अगस्त की 'अजन्ता' की चिट्ठी-पत्री के स्तम्भ में एक आलोचक महोदय ने मेरी कविता 'स्योना पृथ्वी भवानृषरा निवेशिनी' के सम्बन्ध में लिखा है :

"संस्कृत-हिन्दी मिश्रित कविता 'स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी' पर पहुँचते ही मन बिदक उठता है। सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाता है। इस कविता को पढ़ कर सिवाय इस जानकारी के कि इसके बहुभाषी महाकवि का संस्कृत से भी कुछ परिचय है और कोई बात समझ में नहीं आती। गति, लय, भाव, शिल्प सभी की दरिद्रता इस भोंडी कविता में मिलती है। कहीं ऐसा तो नहीं है, इस अंक की अच्छी-अच्छी कविताओं के बीच यह 'बोर' कविता जानबूझ कर पाठक को चौंकाने के विचार से ही छापी गई है!" (पृ० ७२, अग.'५७)

उक्त आलोचना है एक स्वस्थ मस्तिष्क की! हिन्दी कविता की छीछालेदर ऐसे ही व्यक्ति कर रहे हैं, ग्रुपबाज़ी पोस्टर-बाजी और गीतों के हमलावर करिश्मे साहित्य के 'शिव और सुन्दर,' नहीं बन पाते हैं। प्रतिभा चिनगारी नहीं ज्वालामुखी की दाहक शिखा है। वह मिटती कहाँ है? कविता मज़े के ही लिए नहीं होती है। उसके पीछे जीवन-दर्शन, वैयक्तिक अन्तश्चेतना

का प्रबुद्ध-रूप भी होता है। संस्कृत-प्राधान्य फिर-फिरी क्यों? नई कविता ही में क्या है? शार्ल बदलेयर, रिम्बो, एज़रापाउंड आदि बस न? पर यह नयापन अतीत की खाद पर है। इलियत आज यूरोप का श्रेष्ठतर कवि है। इसलिए कि उसने होमर और वर्जिल की परम्परा को नए रूप में अपनी प्रतिभा से पचाया है। बहुभाषी होना लज्जास्पद है क्या? यदि मैं अन्य भाषाओं में लिखता हूँ तो इसमें ग्लानि की बात क्या! इसके बाद अगला अंश, इसी वाक्य से प्रतीकात्मक, अधुना की कविता, और भारतीय वाङ्मय के पुंजीभूत धरोहर पौराणिक ऐतिह्य की कविता 'बोर' है न? तब तो लम्बे डैश, अंधेरे में कैंची, सिगरेट की कश, गदहा की चीं-पों चीं-पों ही कविता है न??

आपने गति, लय की बात भी खूब कही! ज़रा 'अजन्ता' के मार्च '५७ अंक वाली मेरी कविता 'सौन्दर्य' आदिम अनुभूति : 'अधुना' को सच्चे और ठण्डे दिल से देख जाइए तो! गति पाएंगे। लय जून अंक वाले गीत में पाएँगे : चरैवेति' का हुंकार-भरा पौरुष-लय। भाव की परिभाषा जान लें आप।

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥

भामहालंकारसूत्र : ३-५२।

क्या ये सब टिकाऊ होंगी? सिगरेट का कश कभी भी मानवीय जीवन-दर्शन की सम्प्रति व्याख्या नहीं कर सकता है। होटल-काफ़े-रेस्ट्राँ में पसरती हुई नज़रों का नज्ज़ारा कभी भी ग़मे-हस्ती का इलाज नहीं बन पाएगा। काश आप ग्रुप-पन्थी छोड़ कर स्वयं अपना पाथेय निर्माण करते। तथाकथित बुर्ज़ुआ होने पर 'मेघदूत' 'फ़ॉस्ट' 'ऑडिसी' अमर हैं। वेबर ने बाणभट्ट पर कीचड़ उछाली, चिल्लाता रहा पर 'कादम्बरी' आज १३०० वर्षों बाद भी कादम्बरी है।

आप वरुण, वसुधा-अग्रज-विजिगीषा, हरिश्चन्द्र तथा वासवोद्दाम झंझायित फेनिल लहरों के हाथों एवं पालों के पयोधर के image पर स्वस्थ मन से विचार कीजिए।

टाप फ्लोर, कमरा नं. १,
बो-बाज़ार, कलकत्ता १२ —**रंगनाथ राकेश**

(४)

'अजन्ता' के अंक बराबर मिला करते हैं। उन्हें आद्योपान्त पढ़ जाना मेरा पहला काम होता है। पढ़ चुकने के पश्चात् मैं 'अजन्ता' को अपनी श्रीमती जी को पढ़ने के लिए दे देता हूँ और उनके पढ़ चुकने के बाद उसे फ़ाइल में रख देता हूँ।

'अजन्ता' के सभी अंक पठनीय होते हैं। स्तर की दृष्टि से 'अजन्ता' को किसी भी विदेशी भाषा के समकक्ष रखा जा सकता है। एक अहिन्दी भाषा-राज्य से इतने समय तक पत्रिका का प्रकाशन होते रहना, उसकी सफलता का अच्छा प्रमाण कहा जा सकता है। आपके सम्पादकीय लेख विचारों की दृष्टि से स्पष्ट और भाषा, शैली की दृष्टि से परिमार्जित होते हैं।

आप हिन्दी के लिए जो प्रयत्न कर रहे हैं, वह स्तुत्य है। आपकी सफलता की कामना करता हूँ और विश्वास करता हूँ कि 'अजन्ता' का रंग बारम्बार और अधिक निखरता ही जाएगा।

साकेत प्रेस, गाँधी मार्ग,
कानपुर —**विश्वमित्र पाण्डेय**

(५)

...अगस्त की 'अजन्ता' के कुछ लेख पढ़ गया हूँ। आपका परिश्रम और सम्पादन सर्वत्र सुस्पष्ट है। सम्पादकीय टिप्पणी एक ही है अधिक रहें तो अच्छा।...

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर लिमिटेड,
बम्बई —**नाथूराम प्रेमी**

(६)

भूलसुधार

'अजन्ता' का अगस्त अंक, जिसमें मेरा लेख "सुमेरु शिखर' छपा है, ८-१०-५७ को मिला। धन्यवाद! और फिर दुबारा धन्यवाद कि, मेरे नाम में कुछ इज़ाफ़ा भी किया गया है—वर्ग-तृतीय के स्थान पर वर्ग-चतुर्थ अर्थात् बलभद्र के बजाय भलभद्र! मैं खूब हँसा। कम्पोज़ीटर जी अथवा प्रूफ़-रीडर जी ने लेख के कतिपय शब्दों पर भी ऐसी ही कृपा बख़्शी है। अतः उन्हें भी धन्यवाद!

५२१ कृष्णभवन, गाँधीनगर
दिल्ली —**बलभद्र ठाकुर**

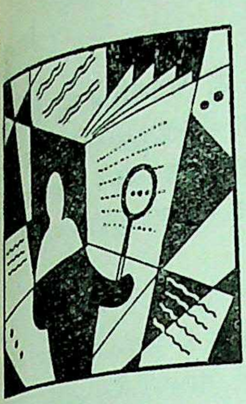

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम भेजी जानी चाहिए]

भारत [वार्षिक संदर्भ ग्रन्थ, १९५७]

प्रकाशक : पब्लिकेशन्स डिवीज़न,
सूचना एवं प्रसार मन्त्रालय,
भारत सरकार, दिल्ली

मूल्य : ३.५०

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा गया है : "भारत सरकार के सूचना एवं प्रसार मन्त्रालय के रिसर्च एण्ड रेफ़रेन्स डिवीज़न द्वारा अंग्रेज़ी में संकलित।" संभवतः इसका यह तात्पर्य है कि यह पुस्तक मौलिक रूप से अंग्रेज़ी में संकलित की गई है—बाद में इसका हिन्दी में अनुवाद किया गया है। हमें यह समझ में नहीं आया कि 'रेफ़रेन्स बुक' का अनुवाद संदर्भ-पुस्तक न करके, संदर्भ-ग्रन्थ क्यों किया गया है। 'ग्रन्थ' शब्द के साथ कुछ इस प्रकार के और भी संपर्क जुड़ गए हैं कि इसे 'ग्रन्थ' कहना कुछ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पुस्तक लगभग साढ़े तीन-सौ पृष्ठ की है—इसी कारण संभवतः इसे 'ग्रन्थ' के नाम से अभिहित किया गया है। 'ग्रन्थ' जैसे भारी भरकम शब्द की अपेक्षा सीधा-सादा 'पुस्तक' शब्द क्या इसके लिए अधिक उपयुक्त न होता? प्रस्तुत पुस्तक सर्व-प्रथम १९५४ में प्रकाशित की गई और तब से यह लगातार प्रकाशित की जा रही है। इस पुस्तक की भूमिका में लिखा गया है: "यह स्पष्ट ही है कि यह ग्रन्थ प्रामाणिक होने पर भी यथेष्ट व्यापक नहीं है।" हम समझते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक में अनेक बातें इस प्रकार की हैं जो यदि सन्देहास्पद नहीं तो विवादास्पद अवश्य हैं और उनका वार्षिक संदर्भ से कुछ विशेष सम्बन्ध भी नहीं है। पता नहीं कि क्यों इस प्रकार की बातों को इसमें सम्मिलित किया गया है?

प्रस्तुत पुस्तक में पहला अध्याय "भारत भूमि और उसके निवासी" है। हमने इस अध्याय को पढ़ कर यह जानना चाहा कि क्या कहीं इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि इस विशाल देश का नाम 'भारत' या 'भारतवर्ष' क्यों पड़ा? जब कि इस देश के निवासियों को "पाँच मुख्य जातियों में विभाजित" किया गया है और उन मुख्य जातियों का विवरण देना आवश्यक समझा गया है तो यह क्यों आवश्यक नहीं समझा गया कि 'भारत' शब्द पर कुछ प्रकाश डाल दिया जाए। सम्भवतः यह इसलिए हुआ है, क्योंकि मूल पुस्तक का नाम 'इंडिया' है और अनुवाद की पुस्तक का नाम 'भारत'। जब दोनों पुस्तकों में नाम का भेद है इसी कारण शायद इस विषय को छोड़ दिया गया है। जब कि भारतवर्ष के इतिहास को भी इसमें सम्मिलित किया गया है तो अच्छा होता कि इस देश के नाम के कारणों पर भी कुछ प्रकाश डाल दिया जाता। भारतवर्ष के निवासियों को "पाँच मुख्य जातियों" में विभाजित किया गया है 'निग्रायड्स, प्रोटो-आस्ट्रेलायड्स, मेलानिड्स, इंडीड्स और मंगोलायड्स'—और कहा गया है कि "इन विभिन्न जातियों के लोगों के आपस में मिलने से ही वर्तमान भारतीय जाति की उत्पत्ति हुई।" भारतवर्ष के निवासियों का इस प्रकार विभाजन संभवतः नृ-तत्व शास्त्र-पंडितों के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है। पुस्तक के दूसरे अध्याय 'इतिहास' में न जाने क्यों इस प्रकार की बातों को सम्मिलित किया गया है जो कि विवादास्पद हैं और जिनसे कि न केवल अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं अपितु जो पारस्परिक वैमनस्य को उत्पन्न करने में भी सहायक हो सकती हैं। इस प्रकार की बातों

के यहाँ कुछ नमूनें निम्न प्रकार हैं :

"अभी तक यह पता नहीं चल सका है कि सिन्धु-घाटी के निवासी किस जाति के थे। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि वे आर्यों से पहले के लोग थे और कुछ उन्हें द्रविड़ मानते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह सभ्यता आर्यों द्वारा नष्ट कर दी गई थी, जिन्होंने सिन्धु घाटी में शस्त्र और घोड़ों आदि से सुसज्जित होकर प्रवेश किया था।" (पृष्ठ सं. १०)

पता नहीं यहाँ इन "कुछ विद्वानों" की मान्यता को देना ही क्यों आवश्यक समझा गया और इससे विभिन्न विचार रखने वाले विद्वानों के विचारों की ओर इशारा तक भी नहीं किया गया।

इसी प्रकार ऋग्वेद कालिक राष्ट्र के सम्बन्ध में लिखा गया है :

"ऋग्वेद-कालिक राष्ट्र का शासन साधारणतया 'राजन' (!) के हाथ में रहता था।...समाज का गठन परिवार के आधार पर होता था। परिवार (कुल) योद्धाओं तथा सरदारों, पुरोहितों तथा ऋषियों और कारीगरों तथा किसानों के तीन वर्गों में विभाजित थे। ये तीनों वर्ग द्रविड़ों तथा पूर्व-द्रविड़ों से भिन्न थे यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह हो सकते थे और धन्धों या कुलों में परिवर्तन किया जा सकता था।"

"ऋग्वेद-काल के आर्य कुशल किसान थे।...वे लोग वरुण, सूर्य, अग्नि तथा इन्द्र की उपासना करते थे। पशु-बलि उनके धर्म का महत्वपूर्ण अंग था तथा वे एकेश्वरवाद की ओर बढ़ते जा रहे थे।"

"उत्तर-भारत में (आधुनिक बंगाल तक) आर्य ईसा के १००० वर्ष पूर्व तक पूर्ण रूप से फैल चुके थे। इसी काल में वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना हुई। ..इसी काल में "महाभारत" की कथा की भी रचना हुई।"...

पता नहीं इसमें "रामायण" को किस प्रकार छोड़ दिया गया है? उपर्युक्त समस्त कथन विवादास्पद हैं और उनके विरोध में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। हम समझते हैं कि इस प्रकार की विवादास्पद बातों को इस सन्दर्भ पुस्तक में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार "जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म" शीर्षक के अन्तर्गत लिखा गया है :

"ब्राह्मणों की बढ़ती हुई शक्ति तथा कठोर जाति-भेद के विरुद्ध ई. पू. ६ ठी शताब्दी में हुए विद्रोह के फलस्वरूप जैन-धर्म तथा बौध-धर्म जैसे दो नए धर्मों का उदय हुआ। वर्धमान तथा गौतम दोनों क्षत्रिय जाति के थे। दोनों ने वेदों ने वेदों का खंडन और पशु-बलि की निन्दा की।"

यहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों के पारस्परिक विरोध और वेदों के खंडन आदि के विषय में लिखना सर्वथा अनावश्यक है। हम नहीं समझते कि ऐसे विवादास्पद बातों को 'इतिहास' के प्रकरण में सम्मिलित करना आवश्यक है, जिनसे कि अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ और पारस्परिक कलह और संघर्ष के उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है।

अकबर महान् के काल के सम्बन्ध में लिखा गया है :

"...इसी समय में उस समय के महान् साहित्यकार गोस्वामी तुलसीदास भी हुए। केशवदास, सूरदास तथा तुलसीदास के संरक्षण में ब्रजभाषा का पुनरुद्धार हुआ।"

पता नहीं यह कैसे लिखा गया है कि 'केशवदास, सूरदास और तुलसीदास के संरक्षण में ब्रजभाषा का पुनरुद्धार हुआ।' ब्रजभाषा की कविता का निर्माण और विकास ही सूरदास जैसे महान् कवियों ने किया। तुलसीदास तो मुख्यतया अवधी के कवि थे। ब्रजभाषा के 'पुनरुद्धार' का तो कोई प्रश्न नहीं था। तुलसीदास को महान् साहित्यकार कहने की अपेक्षा यदि महान् कवि कहा जाता तो अधिक उपयुक्त होता।

यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक के विषय में कहा गया है कि यह 'प्रामाणिक' है तो भी इस पुस्तक के प्रारंभिक प्रकरणों में इस प्रकार की अनेक बातें हैं, जिन्हें 'प्रामाणिक' नहीं कहा जा सकता। इस सन्दर्भ-ग्रन्थ' में हिन्दी के प्रचार के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ भी नहीं लिखा गया है। उसके विकास के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ दे दी गई हैं। जब कि प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय को काफ़ी स्थान दिया जा सकता है कि अमुक-अमुक व्यक्ति को भारत सरकार की ओर से 'भारतरत्न' और 'पद्मविभूषण' आदि की 'उपाधियाँ तथा उपपद' प्रदान किए गए, तो क्या हिन्दी के विषय में कुछ अधिक विवरण प्रदान नहीं किया जा सकता? पुस्तक में विज्ञापन आदि के प्रकाशित करने से पुस्तक कुछ सस्ते ढंग की बन गई है।

१६५७

परम्परा (डिंगल-कोश)
सम्पादक: नारायणसिंह भाटी
प्रकाशक: राजस्थानी शोध संस्थान,
चौपासनी, जोधपुर

मूल्य: ६.००

राजस्थानी शोध-संस्थान ने यह कोश प्रकाशित कर हिन्दी-साहित्य की महान् सेवा की है। प्रस्तुत पुस्तक में 'डिंगल भाषा के ६ पर्यायवाची, १ अनेकार्थी, और २ एकाक्षरी छन्दोबद्ध प्राचीन कोषों का संकलन किया गया है।' इनमें प्रथम कोष 'डिंगल नाम माला' है। इसके रचयिता का नाम हरराज दिया गया है—यद्यपि इसमें सन्देह है कि हरराज ने इस कोष की रचना की है, क्योंकि उसके साथ कुशलाम का नाम भी जुड़ा हुआ है। इस कोष की रचना सं. १६१८ के आसपास हुई है। प्रस्तुत पुस्तक का नाम इस प्रकार लिखा हुआ है: 'अथउ डिंगल नाम-माला' और समाप्ति पर 'उडिंगल नाम-माला'। इस सम्बन्ध में पुस्तक की भूमिका में सम्पादक महोदय ने भूमिका में लिखा है: "डिंगल शब्द का प्रयोग १६ वीं शताब्दी में मिलता है पर उससे भी पहले बहुत संभव है कि डिंगल के लिए उडिंगल शब्द का प्रयोग होता रहा हो।...उडिंगल शब्द के मिलने से इस तथ्य पर पुनर्विचार की गुंजाइश बन जाती है।" इस कोश का आकार बहुत छोटा है। इसकी पुष्पिका से इस बात का ज्ञान होता है कि यह "पिंगल सिरोमणे" ग्रन्थ का एक अध्याय-मात्र है।"

इसमें संकलित दूसरे कोश का नाम है "नागराज डिंगल-कोश"। इस कोश का रचयिता कौन है, इसके विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि शेषनाग ने छन्द-शास्त्र का प्रणयन किया है। संस्कृत में 'पिंगल-सूत्र' के प्रणेता पिंगल मुनि को शेषनाग का अवतार कहा जाता है। सम्भव है, इसी आधार पर इस डिंगल-कोश के आगे भी नागराज शब्द जोड़ दिया गया हो। मूल हस्तलिखित प्रति में 'नागराज पिंगल कृत डिंगल कोष' लिखा हुआ है। इस कोष का लिपिकाल १८२१ सं. दिया हुआ है परन्तु इससे यह ज्ञान नहीं होता कि इस कोश की रचना किस समय हुई। यह कोश यद्यपि २० छन्दों का ही ग्रन्थ है तो भी इसमें पर्यायवाची शब्दों की अच्छी संख्या प्राप्त होती है। कई शब्दों के वीस और कइयों के तीस पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं।

तीसरा कोश 'हमीर नाम माला' है। इसके रचयिता हमीरदान रतनू हैं। ये मारवाड़ के रहने वाले थे परन्तु उनके जीवन का अधिकांश कच्छ में व्यतीत हुआ। इन्होंने छन्द-शास्त्र पर कई पुस्तकें लिखी हैं और 'भागवत' का राजस्थानी में अनुवाद किया है। डिंगल भाषा के कोशों में 'हमीर नाम माला' सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है। इस ग्रन्थ का रचना-काल सं. १७७४ है। इसमें ३११ छन्द हैं।

चौथा कोश 'अवधान-माला' है। इसमें ५६१ छन्द हैं। पाँचवाँ कोश 'नाम-माला' है। छठे कोश का नाम 'डिंगल-कोश' है। इसके रचयिता कविराजा मुरारिदान हैं। इसमें ७००० शब्द हैं। अमरकोश की तरह इस कोश को भी विभिन्न अध्यायों में विभक्त किया गया है। इस कोश का निर्माण आधुनिक काल के प्रारम्भ में हुआ है। सातवाँ कोश 'अनेकारथी कोश' है। इस कोश में जहाँ डिंगल भाषा के शब्द हैं, वहाँ इसमें संस्कृत के शब्दों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। पूरा ग्रन्थ दोहों में है और प्रत्येक दोहे में एक शब्द के अनेक अर्थ दिए गए हैं। इस कोश के रचना-काल को निर्धारित नहीं किया जा सका है। आठवें कोश और नवें कोश दोनों का नाम 'एकाक्षरी नाम माला' है। पहले के रचयिता वीरभाण रतनू है और यह कोश आकार में बहुत छोटा है। दूसरा कोश क्रमपूर्वक लिखा गया है।

यद्यपि ये सब कोश 'डिंगल' भाषा के सम्बन्ध में हैं, इनमें से किसी कोश में भी 'डिंगल भाषा' या उसके पर्यायवाची शब्द नहीं दिए गए हैं। एक कोश में 'डिंगल' के लिए 'उडिंगल' शब्द प्राप्त होता है। सम्भवतः अब इसके नाम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुसन्धानकार कुछ और नवीन अटकलें लगाने का प्रयत्न करेंगे। 'अवधान नाम माला' में षड्-भाषा के नाम निम्न प्रकार दिए गए हैं:

> "प्राकृत (नरभाखा पढ़ौ नागां) मागध (नीत,
> सुरभाखा सो) संसकृत (रकस) पिसाची (रीत),
> अपभिसी (पंसीउकत दनुज) हुसैनी (दाख)
> प्रभता काव्य मै ऐ भाखा खट आख..."

इसी प्रकार 'नाम माला' में छै भाषाओं के नाम निम्न प्रकार दिए गए हैं:

"(बाणी मानव) मागध नागर (विलासा,
भेद) संसकृत (निरभ्भर भाषा
विद्या) प्राकृत (मानव-बाणी
अपभ्रंसी (पंखी उर आणी
दैतां भाख) हुसैनी (दखी,
राकस बाणी) पिसाची रखी"

'अवधानमाला' में अपभ्रंश को 'अप्रभिसी कहा गया है। आश्चर्य की बात है कि दोनों कोशों में अपभ्रंश को पक्षियों की बोली कहा गया है। प्राकृत को 'मानव-वाणी' और इसी प्रकार मागध-नगर को भी 'मानव-वाणी' कहा गया है। इन दोनों का अलग उल्लेख किया गया है। 'हुसैनी' भाषा शायद फ़ारसी के लिए आया है। इसे दनुजों और दैत्यों की भाषा कहा गया है। संस्कृत को देवताओं की भाषा कहा गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि छै भाषाओं के जो नाम दिए गए हैं, वे कहाँ तक प्रामाणिक हैं। कई कोशों में कई पर्यायवाची शब्द इस प्रकार के दिए गए हैं जो रचयिता ने स्वयं घड़ लिए हैं—यद्यपि उनका डिंगल भाषा में प्रयोग नहीं होता। कई पर्यायवाचियों को पढ़कर शब्दों के सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी तो नहीं बढ़ती—हाँ कुछ दिल बहलाव अवश्य होता है, वैसे कई शब्दों के द्वारा उस समय में प्रचलित कुछ बातों का भी पता चलता है। दाता शब्द के लिए 'मौजी' और 'मनमोद', 'मोटमन' (बड़े मनवाला) पर्यायवाची दिए गए हैं। मुसल्मान के लिए कलमाण (कलमा पढ़ने वाला), बीबा, मियाँ और रोजायत (रोज़ा रखने वाला) दिया गया है। अंग्रेज़ के लिए शीर्षक तो फिरंगी दिया गया है परन्तु उसके पर्यायवाची शब्दों में फिरंगी शब्द नहीं दिया गया है। अंग्रेज़ के लिए निम्न पर्यायवाची दिए गए हैं :

"अंगरेज़ अंग्रेज (अख) गोरा मेछ गुरंड
भूरा, टोपीवाळ (भण) बदसाहब (बळबंड)"

नाई के लिए निम्न पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं :

"नापित नाई नेवगी मूंडबाळ मूँडाळ
केसकाट नेगी (कहो बळे) बणावणबाल"

हलवाई का पर्यायवाची 'खाणूकरण' और तेली का 'चौधरी' दिया गया है।

इन समस्त कोशों का सम्पादन परिश्रमपूर्वक किया गया है। हिन्दी में 'कोश-निर्माण कला' के इतिहास पर इन कोशों से पर्याप्त प्रकाश पड़ सकेगा। इन समस्त कोशों के द्वारा न केवल डिंगल भाषा के शब्दों और उनकी अन्य विशेषताओं को समझने में सहायता प्राप्त होगी—अपितु इनके द्वारा अन्य कई महत्त्वपूर्ण बातों पर भी प्रकाश पड़ता है।

मानवतावाद और शिक्षा,
पूरब और पश्चिम के देशों में
[यूनेस्को द्वारा आयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा]
अनुवादक : यदुवंशी
प्रकाशक : ओरियण्ट लौंगमन्स,
बम्बई, कलकत्ता, नई दिल्ली, मद्रास
मूल्य : ६-०-०

प्रस्तुत पुस्तक में 'Humanism and education in East and West' पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद किया गया है। अनुवाद परिश्रमपूर्वक किया गया है, यद्यपि इसमें कहीं-कहीं ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ समझने में कठिनाई होती है। अच्छा होता कि यदि ऐसी जगह अंग्रेज़ी शब्द कोष्ठकों में दे दिए जाते या पुस्तक के पीछे छोटा-सा शब्दकोश दे दिया जाता। प्रस्तुत पुस्तक में भिन्न-भिन्न देशों के १२ विशेषज्ञों ने पूर्व और पश्चिम के देशों में मानवतावाद और शिक्षा पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है, जिनका कि प्रस्तुत पुस्तक में संकलन किया गया है और साथ ही यूनेस्को ने इस सम्बन्ध में जो सम्मेलन आमंत्रित किया था, उसकी रिपोर्ट और सिफ़ारिशें को भी इन लेखों के पूर्व प्रकाशित किया गया है। जिन लेखकों के लेखों को इस पुस्तक में दिया गया है, परिशिष्ट २ में उनका परिचय और जीवनी दी गई है। इन १२ लेखकों में ४ भारतीय हैं : श्रीयुत रास बिहारी दास, श्री. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, श्रीयुत हुमायूँ कबीर और ए. आर. वाड़िया। प्रस्तुत पुस्तक में यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है कि पूर्व और पश्चिम में मानवतावाद किस प्रकार प्रगति कर सकता है और पूर्व और पश्चिम का किस प्रकार सांस्कृतिक सम्मेलन हो सकता है। इन निबन्धों में मानवतावाद के आदर्श और महत्त्व को योग्यता और विद्वत्ता से प्रतिपादन किया गया है, और उन पद्धतियों पर विचार किया गया है और उन पद्धतियों पर विचार किया गया है,

जिनके द्वारा मानववाद की विश्व में स्थापना की जा सकती है।

यात्री
मूल लेखक : ख़लील ज़िब्रान
अनुवादक : माईदयाल जैन
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स,
कश्मीरी गेट, दिल्ली ६
मूल्य : २.००

प्रस्तुत पुस्तक ख़लील ज़िब्रान की 'वाण्डरर' पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। खलील जिब्रान ने "बारह वर्ष की अल्प आयु में ही अरबी में लिखना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने लगभग पच्चीस पुस्तकें लिखीं जो इनके अपने ही बनाए हुए चित्रों से सुसज्जित हैं। इनका, संसार की बीस-बाईस भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। .. ख़लील ज़िब्रान एक महान् चित्रकार भी थे।" प्रस्तुत पुस्तक पर जो चित्र दिया गया है, सम्भवतः वह भी ख़लील ज़िब्रान का ही बनाया हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक में ख़लील ज़िब्रान की बावन कहानियाँ हैं। जिस अर्थ में 'कहानी' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ में तो ये कहानियाँ नहीं हैं। इन कहानियों का आधार किसी प्रकार की कोई विशेष घटना नहीं है। ये कहानियाँ वास्तव में एक प्रकार की कविता है, जिनका प्रारम्भ तो साधारण है परन्तु अन्त असाधारण है। इन लघु कहानियों में एक प्रकार का दर्शन, तत्वज्ञान और आध्यात्मिकता है। इन कहानियों के द्वारा जीवन की तह तक पहुँचने का प्रयत्न किया गया है। इन कहानियों में कहानियों की टेकनीक नहीं है; कहीं से एक बात प्रारम्भ हो जाती है और थोड़ी-सी दूर जा कर वह समाप्त हो जाती है। इन कहानियों को हम 'छायावादी कहानियाँ' कह सकते हैं। इनमें किसी छोटे-से आख्यान से जीवन के किसी गम्भीर तत्त्व का परिदर्शन कराया जाता है और उसकी पद्धतियाँ और शैलियाँ अनेक प्रकार की हैं। इस प्रकार समझाने के लिए काल्पनिक कहानियों के बनाने की परम्परा सन्त और आध्यात्मिक कवियों में भी दिखाई देती हैं। इन कहानियों के द्वारा न केवल ख़लील जिब्रान की अन्तर्दृष्टि और गम्भीर विचारक होने का अपितु उसके अपने चरित्र का भी परिचय प्राप्त होता है। इन कहानियों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में से लिया गया है और इससे यह ज्ञात होता है कि खलील ज़िब्रान की दृष्टि कितनी विशाल और व्यापक थी। वह मानव-जीवन का प्रत्येक रूप में गम्भीर और सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करता है। इन कहानियों में ऐसी काव्यमयता है कि हमें इन्हें कहानी की अपेक्षा काव्य लिखने की एक शैली कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। यह काव्य की कथात्मक शैली है। अनुवाद और प्रकाशन दोनों प्रकाशन के योग्य हैं।

ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग)
लेखक : महात्मा गान्धी
प्रकाशक : सस्ता साहित्य-मण्डल-प्रकाशन
नई दिल्ली
मूल्य : ००.७५

महात्मा गान्धी ने समय-समय पर ब्रह्मचर्य पर अपने पत्रों—'यंग इण्डिया', 'हरिजन' और 'नवजीवन' में अपने विचारों को लिखा था। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं लेखों और पत्रों आदि का संकलन किया गया है। आजकल के युग में जब कि परिवार-नियोजन और सन्तति-निग्रह पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है इन निबन्धों का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। कुमारी मैबल ई० सिम्पसन ने सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों के उपयोग के सम्बन्ध में महात्मा गान्धी को एक पत्र में लिखा है : 'इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तान ने अगर पश्चिम का अनुकरण किया तो निश्चय ही वह अपने दो अमूल्य और सुन्दर रत्नों को खो देगा—एक तो छोटे बच्चों के प्रति प्रेम और दूसरा माता-पिता के प्रति श्रद्धा। अमरीका ने इन दोनों को गँवा दिया है—और इनका उसे कुछ पता भी नहीं।' यद्यपि इन निबन्धों को लिखे हुए पर्याप्त समय हो चुका है तो भी इनको पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये अभी लिखे गए हैं। इन लेखों को पढ़ने से न केवल ब्रह्मचर्य का गौरव और मर्यादा गौरव स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है अपितु उससे मन को नवीन बल, शक्ति और स्फूर्ति भी प्राप्त होती है।

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद दक्षिण-१

—वंशीधर विद्यालंकार

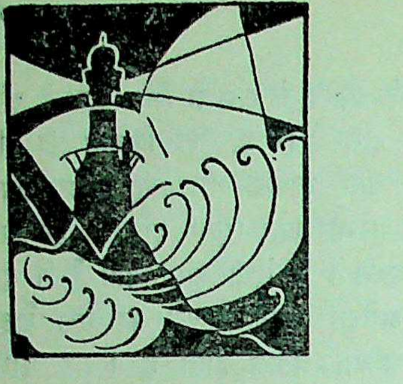

सामयिक

॥

मुग़ल कलम या चित्रशैली

गुजरात के प्रसिद्ध चित्रकार श्रीयुत रविशंकर रावल ने मुग़ल चित्रकला पर २५ वर्ष पूर्व एक लेख लिखा था। इस लेख को गुजरात के प्रसिद्ध मासिक-पत्र 'कुमार' में पुनः प्रकाशित किया गया है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"बाबर और उसके पश्चात् मुग़ल शाहंशाहों के समय हिन्दुस्तान में जिस कला का विकास हुआ, उसे 'मुग़ल कलम' या मुग़ल-कला के नाम से कहा जाता है। तैमूर लंग के समय जो मुग़ल भारतवर्ष में आए थे, उनके साथ ईरानी कला भी आई थी। ईरान और भारतवर्षीय चित्रकला में किसी प्रकार का पारस्परिक विरोध नहीं था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि दोनों कलाओं का मूल उत्स एक ही था। इतना ही नहीं समस्त एशिया की चित्रकला में जो एकरूपता दिखलाई पड़ती है, उसका भी यही कारण है। बौद्ध धर्म का चीन, जापान, मंगोलिया, तातार और ईरान तक प्रसार हुआ और इसीके साथ कला की एकरूपता का प्रारम्भ हुआ।

मुग़ल कलम का मुख्य प्रेरणा-स्रोत ईरानी-कला है। हिन्दुस्तान के इतिहास में तैमूर लंग के साथ खून-खराबी और लूट-पाट की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। उसी के वंश में बाबर था, जिसने कि हिन्दुस्तान में मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली। उसी के द्वारा मुग़ल-कला ललित और सुन्दर रूप में आविर्भूत हुई। बाबर की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र हुमायूँ से शेर अफ़ग़ान ने गद्दी छीन ली और वह कुछ समय तक ईरान के शाह के आश्रय में रहा। वहाँ मीर सैयद अली और अब्दुस्समद नामक दो प्रसिद्ध ईरानी चित्रकार से उसकी भेंट हुई। इन दोनों चित्रकारों का उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। जब वह पुनः राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ तो उसने इन दोनों चित्रकारों को अपने दरबार में बुला लिया। यहाँ आ कर मीर सैयद अली ने कई चित्र बनाए, जिसमें से कुछ, वियाना के संग्रहालय में हैं और कुछ लन्दन के म्यूज़ियम में। अकबर को तो अपने बचपन से ही इन चित्रकारों के संसर्ग में आने का अवसर प्राप्त हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जब वह गद्दी पर बैठा तो उसने इस चित्रकला के विकास में बहुत सहायता प्रदान की।

दिल्ली के मुग़ल दरबार में अब तक जितने चित्रकार थे, वे सब ईरानी थे। अकबर का जन्म हिन्दुस्तान में हुआ था, इसलिए उसके दरबार में भारतवर्ष के भी अनेक कलाकार थे। उसके दरबार में जहाँ फ़रुख कलमा, अब्दुस्समद शीराज़ी, तेब्रीज़ का मीर सैयद अली और समरकन्द के अनेक महान् चित्रकार थे, वहाँ माधव, भीम गुजराती. अनन्त बसावन, दशवन्त और केशवदास आदि प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार भी थे।

फ़तहपुर सीकरी के निर्माण के पश्चात् जिन चित्रकारों ने अपने चित्रों से उसे आभूषित किया, उसमें भारतीय और ईरानी दोनों प्रकार के चित्रकार थे। ईरानी और भारतीय चित्रकारों ने न केवल मिल कर कार्य किया अपितु एक दूसरे की शैली से बहुत-कुछ सीखा और इस प्रकार दोनों कला-शैलियों में आदान-प्रदान हुआ और दोनों के मिश्रण से मुग़ल-कला का जन्म हुआ। यह शैली प्रारम्भ में तो अमीरों में ही प्रचलित हुई, परन्तु धीरे धीरे इसका सर्वसाधारण में भी प्रचलन हो गया।

मुग़ल-कला के चित्र अधिकांश में दरबारी चित्र हैं। इन चित्रों का आकार-प्रकार बहुत छोटा है। बौद्ध-युग के भित्ति-चित्रों से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। इन चित्रों को 'मिनिएचर पेंटिंग' अर्थात् लघु-चित्र कहा जाता है। यह ईरानी किताबी तसवीरों का प्रभाव है। अक्षरों को सुन्दर ढंग से लिखने की

१६५७

कला को भी इससे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस्लामी मान्यताओं के अनुसार ख़ुदाई क़लाम को सुन्दर आकृतियों में लिखा जाना पुण्य समझा जाता है। शाही किताबखानों में ऐसी पुस्तकों का संग्रह किया जाता था, जो कि सुन्दर लिपि में लिखी हुई होती थीं। इसमें छोटे-छोटे सुन्दर चित्रों और सुन्दर ज़िल्द के लिए बेशुमार रुपया ख़र्च किया जाता था। १५५८ ई. में 'महाभारत' का 'रज़मनामा' नाम से ईरानी भाषा में अनुवाद किया गया। उसका मूल्य ४० हज़ार दीनार था। यह पुस्तक इस समय जयपुर में है। 'रामायण' का भी इसी प्रकार अनुवाद कराया गया। यह पुस्तक इस समय वाशिंगटन, अमेरिका में है।

'अकबरनामा' में इस प्रकार के ११७ बहुमूल्य चित्र हैं। इसमें उस सपय के अनेक चित्रों का संग्रह है। इनमें से अनेक चित्र यूरोप के ख़ानगी चित्र-संग्राहकों के पास हैं। अकबर के दरबार में सौ से अधिक चित्रकार थे, जिनमें से अनेक को उमराव की पदवी प्रदान की गई थी।

मुग़ल-कला को पूर्ण रूप से विकसित करने का श्रेय तो जहाँगीर को मिलना चाहिए। जहाँगीर के समय शाही तसवीरों और शिकार के चित्रों को अद्भुत रूप से चित्रित किया गया है। इसके साथ वृक्ष, फूल, फल और जानवरों को चित्रित करने में भी आश्चर्य-जनक कला का प्रदर्शन किया गया है। उसने शाहज़ादों के प्रशिक्षण के लिए 'अनवरे सुहेली' नाम की एक सुबोध कथामाला तैयार करवाई। इसके लिए १६ चित्रकारों को नियुक्त किया गया। इसमें १० हिन्दू और ६ मुसलमान थे। इस पुस्तक में 'पंचतन्त्र' में से अनेक कथाओं को लिया गया है और उनका अनुवाद कर लिया गया है। यह पुस्तक ९¾ इञ्च लम्बी और ६ इंच चौड़ी है। इस पुस्तक के चित्रों में मुग़ल-कला के रूप-रंग आदि का पूर्ण रूप से परिदर्शन होता है। १८५१ ई. में इस पुस्तक को ब्रिटिश म्यूज़ियम ने ख़रीद लिया।

जहाँगीर के समय ईरान से भी कई प्रसिद्ध चित्रकार आए। इनमें से एक का नाम आग़ा रज़ा था। उसके पुत्र अबुल हसन ने उस समय का एक चित्र बनाया, जब कि जहाँगीर तख़्तनशीन हुआ था। इसके लिए उसे 'नादिर-उज़-ज़माँ' का ख़िताब दिया गया और उसे बहुत-सा पुरस्कार दिया गया।

जहाँगीर ने एक भारतीय चित्रकार की, जिसका नाम बिशनदास था, बहुत प्रशंसा की है। उसने उसके सम्बन्ध में अपनी जीवनी में लिखा है: "इस ज़माने में बिशनदास के समान कोई भी चित्रकार चेहरे का चित्र नहीं बना सकता।" उसको ख़ास सवारी के साथ ईरान के शाह और उसके दरबारियों की तसवीर बनाने के लिए भेजा गया था। इसके अतिरिक्त उसके दरबार में दो चित्रकार और थे, जिनका नाम था मन्सूर और फ़र्रुख़ बेग जो कि उसके दरबार के चुने हुए चित्रकारों में से थे। मनोहर और मन्सूर जानवरों के चित्र बनाने में बहुत कुशल थे।

जहाँगीर के पश्चात् शाहजहाँ ने चित्रकला के स्थान पर स्थापत्य-कला की ओर अधिक ध्यान दिया। उस समय की चित्रकला में रंग की तड़क-भड़क और शान-शौक़त नज़र आती है परन्तु कला की दृष्टि से ये चित्र उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। शाहजहाँ के समय उसे 'दिल्ली क़लम' के नाम से कहा जाता था।

औरंगज़ेब के समय चित्रकला को कुछ विशेष प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हुआ। कुछ अमीर-उमरा और नवाब इसके शौक़ीन रहे और उनके यहाँ इस कला को कुछ आश्रय, कुछ समय तक प्राप्त होता रहा। कुछ समय पश्चात् जब ये मुग़ल सल्तनत से आज़ाद हो गए तो उन्होंने इसे विकसित करने का प्रयत्न किया।

दक्षिण में निज़ाम-राज्य में यह 'दखनी कलम' के नाम से प्रसिद्ध हुई। पटना, बिहार और अवध के नवाबों ने इसे जीवित रक्खा। औरंगज़ेब के पश्चात् दिल्ली बादशाहों में इस कला का शौक़ नाम-मात्र को रह गया। १८ वीं सदी में 'दिल्ली कलम' एकमात्र बाज़ार की वस्तु बन गई। मुग़ल-कला का जन्म राज-वैभव में हुआ और उसी के बीच में वह पली। उसका साधारण जनता से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु जिस ज़माने की वह कला है, उसके जीवित चित्रों को उसने अद्भुत शान-शौक़त से प्रस्तुत किया है। विश्व के चित्रकला के इतिहास में इसकी कोई समता नहीं कर सकता।

ईरानी कला किताबी है और उसमें विविध प्रकार के रंगों की और सुनहरी सजावट है। उसमें लड़ाई, प्रेम और भोग-विलास की महफ़िलों के चित्र हैं। भारतीय कला में वीर-रस-प्रधान काव्य, पौराणिक कथाएँ और भाव-

प्रधान गीत की लहरों को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय कला की उत्पत्ति लोक-जीवन से हुई है और उसी में उसका विकास हुआ है। भारतवर्ष में आने के पश्चात् ईरान की कला भारतीय बनी परन्तु, क्योंकि वह दरबारी थी इसलिए वह दरबार की ही कला रही। अकबर के समय मुग़ल-कला पर ईरान का प्रभाव अधिक रहा। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय शैली भारतीय हो गई। 'रज़्मनामा' के २८ चित्रकार थे। इनमें २२ नाम हिन्दुओं के हैं। मुग़ल-चित्रकला ३०० वर्ष तक प्रेक्षकों को मुग्ध करती रही। इन चित्रों के प्रसंग आकर्षक हैं। इसमें आकृति और पोषाक का सुन्दर चित्रण है। चित्र के आलेखन-कला का मुग़लों ने ही श्रेष्ठ पद्धति से विकास किया। प्राचीन भारतीय और राजपूत-चित्रों से मुग़ल-शैली के चित्रों में एक विशेषता है। वह विशेषता है चित्र के माउंटिंग या हाशिये की। मुग़ल-कला के चित्रों में हम बादशाहों, बेगमों, अमीरों सरदारों, शिकारियों आदि का जो कि एक समय विश्व में जीवित थे, चित्रों के रूप में देख सकते हैं। जिस वस्तु को प्राचीन काल के इतिहासकार नहीं लिख सके, उन्हें इन कलाकारों ने चित्रित कर दिया है। उन्होंने अपने समय के मानवों और पात्रों को अमर जीवन प्रदान कर दिया है।"

॥

उमर ख़ैयाम

लाहौर के अंग्रेज़ी पत्र 'कैरियर' में ईरान के प्रसिद्ध कवि 'उमर खैयाम' पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

'ईरान में विश्व के कई महान् पुरुष उत्पन्न हुए हैं। उनमें से उमर ख़ैयाम भी एक है। अपने देश में वह इतना प्रसिद्ध नहीं है, जितना कि पश्चिम के देशों में। ईरानी कविता के चार स्तम्भ समझे जाते हैं : (१) फ़िरदौसी विश्व-विख्यात 'शाहनामा' का लेखक; (२) सादी, 'गुलिस्ताँ' और 'बोस्ताँ' का लेखक; (३) हाफ़िज़, गज़ल लेखक; (४) मौलाना जलालुद्दीन रूमी, प्रसिद्ध 'मसनवी के लेखक जिसको कि 'ईरानी भाषा का कुरान' कहा जाता है। पहले ईरान में उमर ख़ैयाम की महान् कवियों में गणना नहीं की जाती थी, वहाँ उन्हें एक महान् गणितज्ञ और ज्योतिषी समझा जाता रहा। अब उमर ख़ैयाम को अपने युग का न केवल महान् कवि अपितु महान् तत्ववेत्ता भी समझा जाता है।

उमर ख़ैयाम का जन्म १०४८ में निशापुर में हुआ था। उसका पूरा नाम अब्दुल फ़तह इब्न इब्राहीम एल-ख़ैयाम था। निशापुर ख़ुरासान की राजधानी था और ख़ुरासान ईरान का एक प्रान्त। वह निशापुर में उत्पन्न हुआ था, वहीं उसने अपनी समस्त शिक्षा प्राप्त की, वहीं उसकी मृत्यु हुई और वहीं उसे दफ़नाया गया। पहले ईरान में यह प्रथा थी कि एक व्यक्ति को वहीं दफ़नाया जाता था, जहाँ कि उसका जन्म होता था।

यद्यपि सब इतिहासकार उमर ख़ैयाम को ईरान का मानते हैं तो भी कुछ का विचार है कि मूलतः वह अरब की एक जाति 'अल ख़ैयामी' का था। इस जाति का पेशा ख़ेमों और तम्बुओं को बनाना था। ये लोग अरब से ईरान चले गए थे और वहीं रहने लग गए थे।

उमर ख़ैयाम के प्रारंभिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। वह एक धनी घर का बेटा था : इस कारण उसकी शिक्षा-दीक्षा अच्छे ढंग से हुई। उसे एक सरकारी बड़ी तनख़्वाह की नौकरी दी गई परन्तु उसने उसे स्वीकार न किया।

उमर ख़ैयाम उच्च श्रेणी का महाकवि है। जीवन-काल में उसकी कविता के मूल्य को नहीं समझा गया। उसकी अमर रुबाइयों की प्रशंसा पश्चिमी विश्व में की गई। उसने अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताएँ अपनी जवानी में लिखी हैं। वह किसी 'सुगंधित वृक्ष की छाया में बैठ जाता था। वहाँ वह साक़ी के हाथ से शरबत पीता था और पीता था सुगन्धित हुक़्क़ा। वहाँ बैठे हुए वह सुन्दर तरुणियों को घूमते-फिरते देखता था और संसार की समस्त चिन्ताओं को भूल जाता था।'

श्रीयुत ई. फ़िट्ज़रल्ड ने उमर ख़ैयाम का अंग्रेज़ी अनुवाद सबसे पूर्व अंग्रेज़ी में १८५६ ई. में प्रकाशित किया। इसके प्रकाशित होते ही उसका नाम विश्व के महान् कवियों में गिना जाने लगा। उसकी कविताओं में से किसी निश्चित सिद्धान्त या तत्व को खोजना व्यर्थ है। अपनी कविताओं में मुख्यतया वह इसी बात को कहता है कि शराब का एक घूँट पियो और अपनी चिन्ताओं को भूल जाओ। शराब के कुछ घूँट मनुष्य

जो सब प्रकार के दुःखों और चिन्ताओं से मुक्त कर देते हैं और उसे ऐसे स्थान पर पहुँचा देते हैं, जहाँ कि आनन्द और सुख है।

उसने अपनी रुबाइयाँ भिन्न-भिन्न समयों में लिखी हैं। उसकी कविताएँ एक ही समय पर लिखी नहीं गईं हैं। इसी कारण उसके विचारों में परस्पर-विरोध दृष्टि-चर होता है। उसकी शराब के प्रति निष्ठा में उसके समस्त जीवन में कोई भेद नहीं पड़ा। उसका शराब के प्रति इतना अधिक मोह है कि वह चाहता है कि मृत्यु के पश्चात् उसके शरीर को शराब से धोया जाए।

वह कहता है कि उसने शराब को छोड़ने के लिए बड़ी कोशिशें कीं और बार-बार कसमें खाईं कि अब वह कभी शराब न पिएगा परन्तु जब बहार की मौसम आती थी, वह अपनी सब क़समों को भूल जाता था; उसे उनकी याद ही नहीं रहती थी; उसका धैर्य लुप्त हो जाता था और उसके इरादे बदल जाते थे :

"सचमुच, सचमुच मैंने इससे पूर्व
कितनी बार पश्चात्ताप किया है
मैंने कसमें खाई हैं—और सच्चे
हृदय से कसमें खाई हैं
फिर आई बहार,
अपने हाथों में गुलाब का फूल लिए
और मैं किसी प्रकार अपने में रह न सका"

उमर ख़ैयाम ने अत्यात्म पर भी तीन पुस्तकें लिखी हैं। इनमें से एक पुस्तक तो 'अस्तित्व' पर है। इसकी पांडुलिपि बर्लिन में है; दूसरी पुस्तक का नाम है 'दार इल्म कुल्लियात' यह पेरिस की एक लाइब्रेरी में सुरक्षित है और तीसरी पुस्तक है 'नौरोज़ नामा'—इस पुस्तक का श्रीयुत एफ़. रोज़न ने अभी पता लगाया है।

अपने अध्ययन को पूर्ण करने के पश्चात् उमर ख़ैयाम ने समरकन्द, बुखारा, इसफ़हान और बलख़ की यात्रा की थी। उस समय ये ज्ञान के बड़े केन्द्र थे और अनेक तत्वज्ञानी इन नगरों में निवास करते थे। विज्ञान के साथ-साथ उसने हिकमत (भैषज्य शास्त्र) का भी गम्भीर अध्ययन किया था।

पूर्व के देशों में उमर ख़ैयाम की ख्याति, गणित और ज्योतिष-सम्बन्धी नवीन अनुसन्धान के कारण है जो कि उसने इन विषयों के सम्बन्ध में की हैं—कविता के कारण नहीं। उसकी एक पुस्तक 'रेखागणित' पर है। यूरोप में इसका १८५१ में अनुवाद किया गया—जब कि उसकी 'रुबाइयात' का अनुवाद १८५९ ई. में प्रकाशित हुआ। उसकी मुख्य रचनाएँ पेरिस और लन्दन के इंडिया ऑफ़िस में हैं। उसकी गणित सम्बन्धी पुस्तकें म्यूनिक, जर्मनी में हैं।

श्रीयुत बी. मिनोरस्की की अनुसार "उमर ख़ैयाम मध्य-युग का सबसे महान् गणित-शास्त्री था।" रेखागणित पर उसने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। मलिक शाह सेलजूरी के राज्य के वज़ीरेआज़म निज़ामुल मुल्क तूसी ने कुछ विद्वानों को ज्योतिष में अनुसन्धान के लिए आमंत्रित किया था। उनमें उमर ख़ैयाम भी एक थे। उनके अनुसन्धानों के परिणाम स्वरूप कैलेण्डर में सुधार हुए। प्रसिद्ध बेधशाला जहाँ कि उमर ख़ैयाम ने अनुसन्धान किया था रे में बनाई गई थी और उसके बनाए हुए कैलेण्डर को "अल-तारिक-उल-जलाली" कहा जाता है।

उमर ख़ैयाम की मृत्यु के सम्बन्ध में निम्न कथा कही जाती है: "अपनी मृत्यु के दिन उमर ख़ैयाम ऐविसेन्ना की अध्यात्म के सम्बन्ध में एक पुस्तक ध्यानपूर्वक पढ़ रहा था। जब वह उस पुस्तक के एक अध्याय 'एक और अनेक' को पढ़ने लगा, उसने किताब को रख दिया। वह खड़ा हो गया, उसने प्रार्थना की और अपने मित्रों और सम्बन्धियों को उसने अन्तिम अनुदेश दिए। उसके पश्चात् उसने सायंकाल तक न तो कुछ खाया और न कुछ पिया। सायंकाल की प्रार्थना के पश्चात् वह अपने मुख को धरती की ओर करके लेट गया और उसने उच्च स्वर में कहा :

"हे! सर्वशक्तिमान्! मैंने अपने समस्त जीवन में,
अपनी पूर्ण शक्ति के अनुसार तुझे प्राप्त करने का,
प्रयत्न किया है; मैं तुझसे क्षमा चाहता हूँ"

यह कह कर उसने अपना अन्तिम श्वास छोड़ दिया और उसकी मृत्यु हो गई। अपने जीवन में उसकी यह अभिलाषा थी कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसे किसी सुन्दर वाटिका में दफ़नाया जाए। "उसकी इच्छा के अनुसार उसे एक सुन्दर उद्यान में दफ़ना दिया गया।"

सम्पादकीय

भाषा-आयोग की रिपोर्ट और उसके पश्चात्

जब भाषा-आयोग की संसद् के द्वारा नियुक्ति हुई थी, तब यह आशा की गई थी कि इसकी सिफ़ारिशें इस प्रकार की होंगी, जिनसे कि हिन्दी निश्चित अवधि में अपने निर्धारित स्थान को प्राप्त कर सकेगी; भाषा की समस्या हल हो जाएगी और देश की इस सम्बन्ध में एक निश्चित नीति होगी। आश्चर्य और दुःख की बात है कि जब से भाषा-आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है, तब से हिन्दी और उससे सम्बद्ध प्रश्नों को और भी अधिक उलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है और इस प्रकार की स्थिति को उत्पन्न किया जा रहा है कि जो भी प्रयत्न इस दिशा में अब तक किए गए हैं, उनका कुछ मूल्य ही न रहेगा, स्थिति अनिश्चयात्मक हो जाएगी और सारा वातावरण विषाक्त बन जाएगा। हिन्दी और हिन्दी के हिमायतियों और कार्यकर्त्ताओं पर निराधार आक्षेप किए जा रहे हैं और अब तो धमकियाँ भी दी जाने लगी हैं। इस प्रकार का गर्द-गुबार खड़ा किया जा रहा है कि ऐसा अनुभव होता है कि आँधी-सी आ गई है। जिन लोगों ने अ-हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के कार्य को आगे बढ़ाया था और उसके प्रचार और प्रसार में सहयोग दिया था, वे लोग ही अब प्रतिदिन इस प्रकार की नवीन युक्तियों की खोज कर रहे हैं, जिनके द्वारा हिन्दी को उसका उचित स्थान प्राप्त न हो सके और उसकी प्रगति में बाधा उपस्थित हो जाए।

परन्तु क्या समय के काँटों को उलटा जा सकेगा? जो नदी चल चुकी है और पहाड़ों को लाँघ कर मैदान में उतर चुकी है, क्या कोई उसको आगे बढ़ने से रोक सकेगा! हिन्दी की प्रगति को विश्व की अब कोई शक्ति रोक नहीं सकती। हमारा पूर्ण विश्वास है कि यदि हिन्दी की प्रगति को रोका गया तो उससे भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति और प्रगति भी रुक जाएगी। कहा जा रहा है कि हिन्दी भारतवर्ष के एक प्रान्त की ही भाषा है—परन्तु इस बात पर पर्दा डाला जा रहा है कि इस देश में सबसे अधिक जो भाषा समझी जाती है, वह हिन्दी ही है और अन्ततः जो भी भाषा, केन्द्रीय सरकार की भाषा बनेगी; वह भारतवर्ष के किसी-न-किसी प्रान्त की अवश्य होगी। यदि देश की अधिकांश जनता हिन्दी को न समझ सकती तो इसे भारतीय केन्द्रीय प्रशासन की भाषा किस प्रकार बनाया जा सकता था! कहा जा रहा है कि हिन्दी में साहित्य नहीं है और यह सब वे लोग कहते हैं जो कि हिन्दी और उसके साहित्य से सर्वथा अपरिचित हैं। पिछले दिनों अ-हिन्दी प्रान्त के एक मन्त्री महोदय से हमारी बात-चीत हुई। वे ज़ोर-शोर से प्रतिपादन कर रहे थे कि तेलुगु भाषा का साहित्य जितना समृद्ध है, उतना हिन्दी का नहीं। हमने उनसे कहा कि हम यह स्वीकार करने के लिए तैयार हैं कि तेलुगु भाषा का साहित्य समृद्ध है परन्तु वे यह बात किस प्रकार कह सकते हैं कि, हिन्दी का साहित्य समृद्ध नहीं है। हमने उनसे पूछा कि क्या उन्होंने हिन्दी-साहित्य का अध्ययन किया है? उत्तर में उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि उन्होंने हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन नहीं किया है। और फिर यदि हिन्दी भाषा का साहित्य समृद्ध नहीं है तो वह धीरे-धीरे समृद्ध हो जाएगा। यदि समस्त भारतवर्ष के साहित्यकारों की शक्ति उसे समृद्ध बनाने में लग जाएगी और उसे भारतवर्ष के समस्त प्रदेश, अपना सहयोग प्रदान करेंगे तो अन्ततोगत्वा उनकी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की समृद्धि हिन्दी के साहित्य की समृद्धि होगी, क्योंकि भारतवर्ष की अधिकांश जनता तक पहुँचने के लिए उसका हिन्दी रूपान्तर करना ही पड़ेगा। एक दिन में तो सभी दृष्टियों से किस भाषा का साहित्य समृद्ध हो सकता है! सत्य तो यह है कि जिस प्रकार दो महान् पुरुषों की तुलना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार दो भाषाओं के साहित्य की भी तुलना नहीं की जा सकती और न की जानी चाहिए। इस प्रकार की तुलना से अनेक प्रकार

१९५७

की भ्रान्तियों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। प्रश्न यह है कि यदि हिन्दी का साहित्य समृद्ध होता तो क्या हिन्दी को उसका उपयुक्त स्थान निर्विवाद रूप से दे दिया जाता? तब उसके विरोध के लिए युक्तियों के तरकश से और नए तीर निकाले जाते। यह लिखने से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दी के साहित्य को सभी दृष्टियों से माला-माल नहीं किया जाना चाहिए। हमें यह कहने में प्रसन्नता है कि पिछले कुछ वर्षों में प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य ने जो उन्नति और प्रगति की है, वह विलक्षण है!

बात यहाँ तक बढ़ गई है कि हिन्दी को 'भारतीय' कहना और 'अंग्रेज़ी' को वदेशी भाषा कहना एक 'सुपरस्टीशन' या अन्ध-विश्वास समझा जा रहा है। ''मालाबार हेरल्ड'' में श्रीयुत पी. कोदण्डराव ने जो कि आल इंडिया सर्वेन्ट्स सोसाइटी के एक सम्माननीय सदस्य रहे हैं, भाषा-आयोग की रिपोर्ट की आलोचना करते हुए अपने एक लेख में लिखा है: ''हिन्दी! 'विदेशी' या 'भारतीय'—इस प्रकार कहना तो राजनैतिक राष्ट्रीयता है। भाषा का न धर्म होता है, न जाति और न सेक्स। किसी भाषा को 'विदेशी' या 'भारतीय' कहना एक प्रकार का शोचनीय 'सुपरस्टीशन' या अन्ध-विश्वास है।...हमें उस भाषा को 'भारतीय' मानना चाहिए जो कि भारतवर्ष में 'प्रचलित' है न कि उसे जो कि भारतवर्ष में 'उत्पन्न' हुई है।'' ये ही महानुभाव अंग्रेज़ी का पक्ष लेने के समय तो यह कहते हैं कि हिन्दी भारतवर्ष के एक प्रान्त की भाषा है और जब अंग्रेज़ी का प्रश्न आता है तो उसका 'इंग्लैण्ड का होना' भी एक 'सुपरस्टीशन' बन जाता है। क्या 'अंग्रेज़ी' को विदेशी भाषा कहना अन्ध-विश्वास है? इस प्रकार की बातें कहना इस बात को स्पष्टतया प्रदर्शित करता है कि श्रीयुत कोदण्डराव और इस प्रकार के विचारकों का अंग्रेज़ी में अन्ध-विश्वास है? इस प्रकार की युक्तियों से अंग्रेज़ी के समर्थक अंग्रेज़ी की स्थिति को उपहासास्पद बना रहे हैं। अंग्रेज़ों के समय यद्यपि भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली थी तो भी उनके समस्त साम्राज्य की राजधानी लन्दन थी और इसलिए हमारे विचारों के प्रेरणा का केन्द्र लन्दन बना हुआ था। अब हमारे प्रेरणाओं का केन्द्र लन्दन नहीं हो सकता। भाषा-आयोग की रिपोर्ट के ये आलोचक उन युक्तियों को जो कि हिन्दी के पक्ष में दी जाती हैं, अंग्रेज़ी के पक्ष में देते हैं और जिन युक्तियों से अंग्रेज़ी का विरोध किया जाता है, उन्हीं से वे हिन्दी का विरोध करने का प्रयत्न करते हैं। अंग्रेज़ जिस वर्ग को हमारे देश में अपनी स्मृति के रूप में छोड़ गए हैं, वह 'वकीलों' या 'बैरिस्टरों' का वर्ग है। इस वर्ग का प्रधान कार्य यही है कि इस प्रकार के युक्ति के जालों को कुशलता पूर्वक बिछाना, जिससे सत्य 'असत्य' प्रतीत होने लगता है और 'असत्य' सत्य। परन्तु अगर इन युक्तियों के आधार पर भारतवर्ष पर अंग्रेज़ों की हुकूमत नहीं टिक सकी तो यह 'अंग्रेज़ी' का समर्थन और हिन्दी का विरोध कितने दिन टिक सकता है!

हमें जिस बात को देख कर दुःख होता है वह हिन्दी का विरोध या अंग्रेज़ी का पक्षपात नहीं है, क्योंकि विचारों का मतभेद स्वाभाविक है और होता ही है। जिन भावनाओं से प्रेरित हो कर, हिन्दी का विरोध किया जा रहा है वे स्वास्थ्यपूर्ण नहीं है। उनका आधार जितना द्वेष, प्रतीत होता है, उतना देश का हित नहीं प्रतीत होता।

क्या यह हिन्दी का लादना है?

पिछले कुछ दिनों से समय और असमय में ''हिन्दी साम्राज्यवाद'' (?) के विरोध में श्रीयुत चक्रवर्ती राजगोपालाचारी अनेक भाषण दे रहे हैं। उनके भाषण कटु से कटुतर होते जा रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह अनुभव कर रहे हैं कि वे अब अपनी युक्तियों के द्वारा न तो अपने पक्ष का समर्थन कर सकते हैं और न जनता को अपनी वक्तृत्वकला से प्रभावित कर सकते हैं। इसलिए उनके भाषणों में हमें आवेश और आग्रह अधिक दिखलाई पड़ता है और अब वे इस सम्बन्ध में धमकियाँ देने लग गए हैं परन्तु धमकियों से किसी बात की सत्यता प्रमाणित नहीं हो सकती। वे अपने एक भाषण में कहते हैं: ''क्या कारण है कि मैं हिन्दी के सम्बन्ध में इतनी अधिक सभाओं में भाषण दे रहा हूँ? बात यह है कि यदि हिन्दी को भारतीय प्रशासन की भाषा बनाया गया तो हमें इसका विरोध करना पड़ेगा। यदि यह एकमात्र मत-भेद का प्रश्न होता तो हम भारतीय प्रशासन के कार्य को सहन कर लेते और फिर उनके सामने अपने विचार प्रस्तुत कर देते परन्तु यह प्रश्न ऐसा है जिसका कि हम लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ेगा।

इसलिए मैं अपना यह कर्तव्य समझता हूँ कि आपको इस प्रश्न को न केवल समझा दूँ अपितु इसके विरोध के लिए जनता को खड़ा कर दूँ।...हमको राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री ने इस प्रकार का आश्वासन दिलाया है कि वे एक भी व्यक्ति पर हिन्दी को नहीं लादेंगे। इससे यह पता चलता है कि वे इस बात को समझते हैं कि यदि इस प्रकार हिन्दी को लादा गया तो इसका क्या परिणाम होगा। परन्तु देखिए तो सही कि वास्तव में क्रियात्मक रूप से वे क्या कर रहे हैं? 'पोस्ट-कार्ड' और 'मनी-आर्डर' तक हिन्दी में छापे जा रहे हैं और उसमें सब सूचनाएँ हिन्दी में छापी गई हैं। इस प्रकार चुपचाप हिन्दी को प्रचलित किया जा रहा है और हमें हिन्दी की 'प्रशिक्षा' दी जा रही है। हमें भय है कि अभी बहुत-सी इस प्रकार की बातें की जाएँगी, जिनसे कि हिन्दी हम पर लादी जाएगी। स्पष्ट है, इस आश्वासन का कि "हम पर हिन्दी नहीं लादी जाएगी" कुछ विशेष मूल्य नहीं है। हमें सदा इस सम्बन्ध में सतर्क, क्रियाशील और अपनी रक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए।"

अंग्रेज़ों के प्रशासन के समय भी मनीआर्डर आदि हिन्दी में छापे जाते थे परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार अंग्रेज़ हिन्दी को लाद रहे थे। हम जहाँ तक जानते हैं मनीआर्डर आदि के फ़ार्मों को अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी छापा जाता है। क्या मद्रास आदि में इस प्रकार के व्यक्ति नहीं हैं, जिनकी मातृभाषा हिन्दी हो और जिनके लिए इस प्रकार के फ़ार्मों की आवश्यकता हो। फ़िर ये फ़ार्म अंग्रेज़ी में भी छापे जाते हैं। जब कि भारतीय संविधान में हिन्दी को केन्द्र की भाषा स्वीकृत कर लिया गया है तो यदि भारतीय प्रशासन ने कार्ड और अन्तर्देशीय पत्र आदि को हिन्दी में छाप दिया तो क्या ग़ज़ब हो गया? आश्चर्य है कि श्रीयुत राजगोपालाचारी कार्डों आदि पर भी हिन्दी को सहन नहीं कर सकते। यदि मनीआर्डर के फ़ार्मों आदि को हिन्दी में छापना भी हिन्दी को लादना है तो फिर वे अंग्रेज़ी में इन कार्डों को छापने को अंग्रेज़ी का लादना क्यों नहीं कहते! श्रीयुत राजगोपालाचारी के इस वक्तव्य से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनकी हिन्दी के प्रति भावना क्या है! ऐसा प्रतीत होता है कि वे कार्ड और मनीआर्डर आदि का हिन्दी में छापने का बहाना लेकर जनता को हिन्दी के विरुद्ध भड़काना चाहते हैं। श्रीयुत राजगोपालाचारी जैसे गम्भीर विचारक को इस प्रकार की सस्ती बातें शोभा नहीं देतीं।

हमारे देश में अंग्रेज़ी के स्तोत्र-पाठकों में जिन महानुभावों की गणना की जा सकती है, उनमें श्रीयुत राजगोपालाचारी एक हैं। पहले वे भाषा के सम्बन्ध में जो वक्तव्य या भाषण दिया करते थे, अंग्रेज़ी का स्तोत्र-पाठ उनका एक आवश्यक अंग होता था। प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने एक 'अंग्रेज़-स्तोत्र' लिखा था। वह तो व्यंगात्मक था पर इनका स्तोत्र अभिधात्मक होता है। अच्छा हो कि यदि श्रीयुत सी. राजगोपालाचारी अंग्रेज़ी का एक स्तोत्र लिख दें, जिसका कि अंग्रेज़ी के भक्त प्रतिदिन प्रातःकाल उठ कर पाठ कर लिया करें। उनके अंग्रेज़ी स्तोत्र से भी काफ़ी सिर-दर्द हो जाता था, अब उन्होंने हिन्दी का नियम-पूर्वक विरोध प्रारम्भ कर दिया है, क्योंकि इस विरोध के बिना वे अंग्रेज़ी का मार्ग साफ़ नहीं कर सकते।

श्रीयुत राजगोपालाचारी यद्यपि मातृभाषा का भी समर्थन करते हैं परन्तु वे जितना बल अंग्रेज़ी पर देते हैं, उतना मातृभाषा पर नहीं। पता नहीं कि जिस प्रकार वे अंग्रेज़ी को "सरस्वती का वरदान" समझते हैं, वैसे ही वे अपनी मातृभाषा तमिल को भी समझते हैं या नहीं। यदि वे अपनी मातृभाषा के अधिक पक्षपाती होते तो उन्हें यह स्वाभाविकता और सरलता से अनुभव हो सकता कि जिस प्रकार उनका प्रदेश समस्त भारत के साथ जुड़ा हुआ है, उसी प्रकार उनकी भाषा भी भारतवर्ष की समस्त भाषाओं के साथ जुड़ी हुई है, वह उनसे किसी भी प्रकार पृथक् नहीं की जा सकती। जब भारतवर्ष की समस्त भाषाओं के एकत्रित होने और एकता का प्रश्न उठता है, तभी उसके साथ हिन्दी का प्रश्न स्वयं उठ खड़ा होता है। इस प्रकार तमिल के प्रश्न को हिन्दी से अलग नहीं किया जा सकता। अंग्रेज़ों से स्वतंत्रता प्राप्त करना और भारतवर्ष की एकता ये दोनों प्रश्न एक नहीं हैं। भारतवर्ष को अंग्रेज़ों से स्वतंत्रता अंग्रेज़ी के द्वारा प्राप्त हो सकती थी, परन्तु भारतवर्ष में साहित्यिक, सांस्कृतिक और यहाँ तक कि राजनैतिक एकता को अंग्रेज़ी के द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता। इसके लिए भारतीय भाषा का ही आश्रय लेना पड़ेगा और वह भाषा हिन्दी के अतिरिक्त यदि कोई और भाषा हो सकती तो उसी को वह स्थान दिया जाता।

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फ़ोन नं. : ५३५६

तार का पता : लीवेरेक्स

卐

रॉयल मेडिकल हॉल

फ़ोन नं. : ४३८३

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

तार का पता : लीवेरेक्स

और

फ़ोन नं. : ४६७७

सुलतान बाज़ार, हैदराबाद दक्षिण

卐

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

फ़ोन नं. : ५८४८

卐

अमर मेडिकल हॉल

फ़ोन नं : ६८२१

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।

आप औषधियाँ ख़रीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

क : गोपालराव अपासिंगीकर हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद—मुद्रक : सत्यनारायण गुप्त, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद-दक्षिण.

रजिस्टर्ड नं. एच. ५६६ अजन्ता, सितम्बर १९५७ Regd. No. H. 698

हिन्दी के उत्तमोत्तम तथा उच्च श्रेणी
के
साहित्य
की
प्राप्ति के लिए एकमात्र स्थान

★

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : "हिन्दी"

टेलिफ़ोन : ५४५०

2-12-57

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

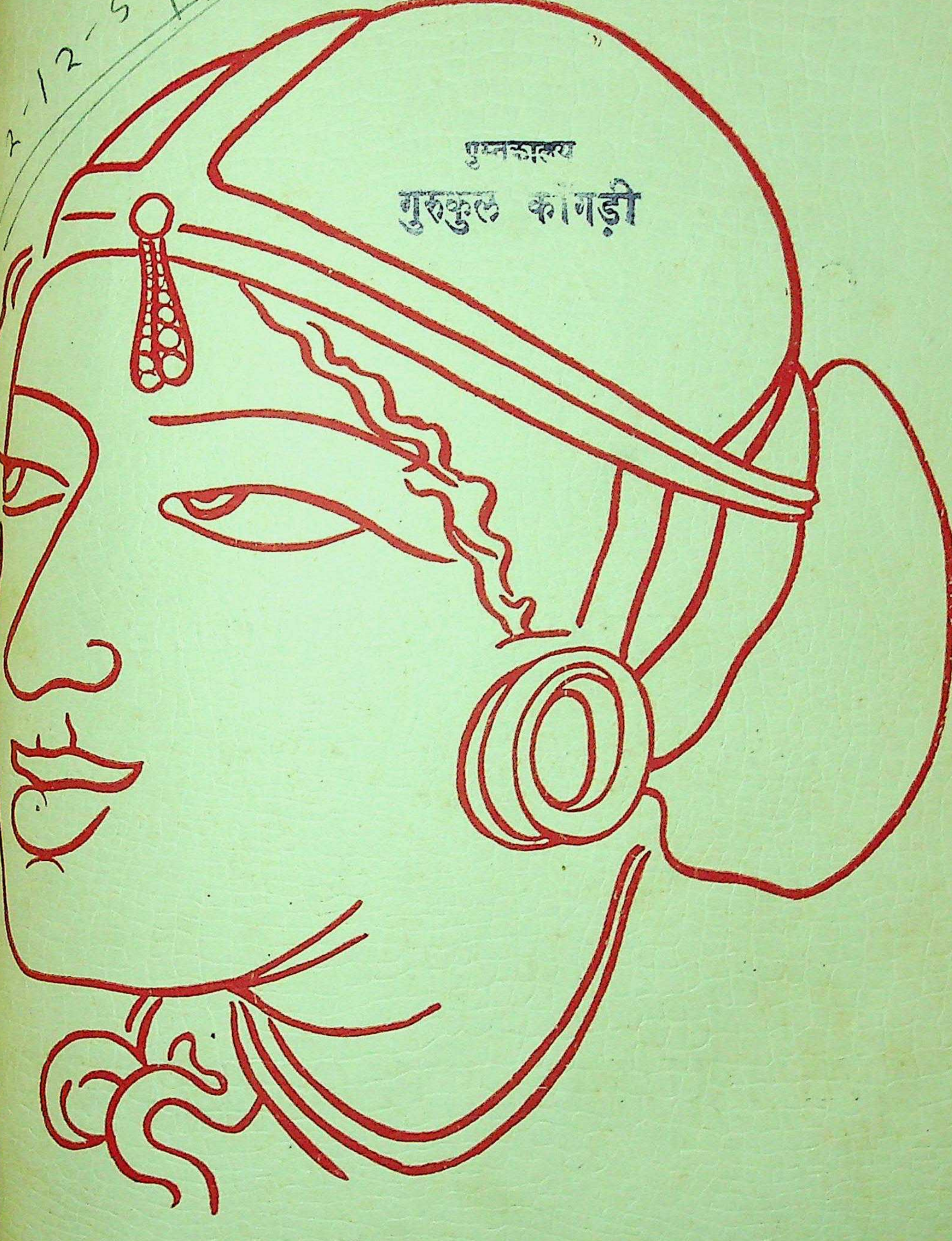

अजन्ता

अंक १०-११

अक्तूबर-नवम्बर, १९५७

ALWAYS INSIST ON

OLD HAM BATTERIES

FOR

YOUR VEHICLE

Sole Distributor for Andhra Pradesh

★

SHRI

VISHNU TRADING CORPORATION

6/B, KINGSWAY,

SECUNDERABAD

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर, १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध

सुन्दर काग़ज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :
अ. भा. दर्शन परिषद्, फ़रीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है ।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत् की गतिविधि से परिचित कराता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी करता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है ।

शीघ्र ही ६ रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है । नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए ।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र ।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**
सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक ।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए : एक प्रति का १९ न.पै.

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर-मन्तर रोड, नई दिल्ली.

कई गण्य-मान्य साहित्यकार तथा पत्र-पत्रिकाओं से प्रशंसित, कर्नाटक की कला, साहित्य एवं संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली एकमात्र हिन्दी मासिक

भारतवाणी

सम्पादक :
श्रीकण्ठमूर्ति, एम. ए.

◆

वार्षिक चन्दा ४)] **[एक प्रति ३७ नये पैसे**

पता :—व्यवस्थापक, 'भारतवाणी'
पोस्ट बाक्स नम्बर—१२
धारवाड़, मैसूर-राज्य

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, प्रबोध, प्रवीण, विशारद,
विनीत, शिक्षक सनद, एस. एस. सी., आदि
परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर
महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक

[मासिक]

हिन्दी प्रचारक और हिन्दी-शिक्षक मुफ़्त ग्राहक बन सकते हैं। इस सम्बन्ध में पूर्व पत्र-व्यवहार कर लें।

विद्यार्थी शीघ्र ग्राहक हो जाएँ।

वार्षिक चन्दा ४)] [एक अंक ४० नये पैसे

पता :—हिन्दी-शिक्षक कार्यालय,
१२५, गिरगाँव रोड, बम्बई—४

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर
प्रकाशक :

- * साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
- * नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
- * कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्केच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्दू छात्रालय, बनारस

फ़ोन नं० १४२ **[वसुधा]**

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई
परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानीप्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी। प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ। पृष्ठ-संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र-व्यवहार का पता :
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर, सुभाष-मार्ग
लखनऊ

फ़ोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) * विशेष मूल्य १०)

उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व-ज्योति

का

वार्षिक अंक

२८ फ़रवरी, '५७ को प्रकाशित हो चुका है

इस विशेषांक में संस्कृति, कला, दर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि से सम्बन्धित विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के लेख, कविता, कहानी, रूपक एवं एकांकी हैं और साथ ही अनेक इकरंगे-बहुरंगे भावपूर्ण एवं आकर्षक चित्र भी। 'विश्व-ज्योति' प्रायः सभी सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत है।

'वार्षिक' का मूल्य १।।) है, किन्तु वार्षिक चन्दा ८) रु. भेज कर 'विश्व-ज्योति' के ग्राहक (या १० रु. भेज कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के वार्षिक सदस्य) बन जाने पर उसका अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाएगा। विज्ञापन-दाताओं और एजेंटों के लिए भी यह एक सुन्दर अवसर है।

पत्र-व्यवहार का पता :

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होश्यारपुर—पंजाब

ख़रीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार-संसद प्रयाग का मुख-पत्र
श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी : ० : इलाचन्द्र जोशी

- ❋ हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !
- ❋ हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!
- ❋ साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

वार्षिक शुल्क १०) ❋ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

पिछले ६ वर्षों से भारत के प्राचीन साहित्यिक केन्द्र धार से प्रकाशित आधुनिक आकर्षण के आवरण में भारतीय सभ्यता का

संदेश-वाहक

सचित्र मासिक

ऊषा

- ● जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- ● कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे लोग पढ़ने जाते हैं।

देश के सभी रेल्वे बुक स्टालों पर भी मिलती है

वार्षिक ४) ::: एक प्रति ३५ नये पैसे

व्यवस्थापक : भोज प्रकाशन, धार
(मध्य प्रदेश)

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

सम्पादक-समिति

प्रतापनारायण टण्डन

डा० देवराज कुँअर नारायण

कृष्ण नारायण कक्कड़

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रही है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का होने से संग्रहणीय होता है।

वार्षिक शुल्क ८), अर्ध वार्षिक ४),

एक प्रति ७५ नए पैसे

'युग-चेतना' कार्यालय,
स्पीड बिल्डिंग ला प्लास, लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्त्व है। दक्खिनी ने ही ख़ुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया है। हिन्दी-खड़ी बोली के गद्य का सब से पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन-कर्ता हैं, श्रीराम शर्मा। पृष्ठ-संख्या लगभग छः सौ। ल्य १०.५०।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर, हिन्दी-अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य ४.००

३. **सबरस :** गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तय आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ-संख्य लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य ६.००।

४. **मुहावरा कोश :** पृष्ठ-संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज, मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापुर। मूल्य ३.००।

५. **चाबुक :** (कहानी-संग्रह) : श्री विनायकराव 'विद्यालंकार' की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। क्रौन १/१६, पृष्ठ-संख्या १३९। मूल्य सजिल्द १.७५।

६. **मीरा :** (तेलुगु) : लेखक रामचन्द्र कौण्डिण्य। मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद। मूल्य १.२५।

७. **तुलसीदास :** गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया रंगमंच के उपयुक्त नाटक। मूल्य १.१२।

८. **शकुन्तला-ए-ट्रेजडी (एण्ड अदर ऐसेज़) :** श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। मूल्य ४.००।

व्यवस्थापक :—पुस्तक-विक्रय-विभाग, हिन्दी प्रचार

अजन्ता

के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज, सचित्र छपाई। आकर्षक मुखपृष्ठ।

१. बालपद : ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर आचार्य वंशीधर 'विद्यालंकार'। ०·५०

२. गाँवों की कहानियाँ : उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—पं० रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए., पी. एच. डी.। ०·५०

३. दक्षिण के महापुरुष भाग १ : दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए. पी. एच. डी.। ०·५०

४. बालकों की कहानियाँ : बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०·५०

५. दो एकांकी : ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए.। ०·५०

६. हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल : अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०·५०

दक्षिण के महापुरुष भाग २ : लेखिका—श्री विमला लूथरा। ०·३७

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१	हिन्दी बोध प्रवेशिका	०·६२	१२	रचना बोध भाग १	०·३१
२	हिन्दी बोध भाग १	०·५०	१३	रचना बोध भाग २	०·१६
३	हिन्दी बोध भाग २	०·६२	१४	इतिहास की कहानियाँ भाग १	०·५०
४	हिन्दी बोध भाग ३	०·७५	१५	इतिहास की कहानियाँ भाग २	०·७५
५	हिन्दी बोध भाग ४	०·८७	१६	विज्ञान सोपान भाग १	०·६२
६	गद्यसोपान भाग २	१·००	१७	विज्ञान सोपान भाग २	०·७५
७	सरल गणित भाग २	०·६२	१८	चार एकांकी	०·७५
८	सरल गणित भाग ३	०·७५	१९	मणियाँ	०·६२
९	पद्य पारिजात भाग १	०·७५	२०	सरल व्याकरण भाग १ (महाराष्ट्र के लिए)	०·६२
१०	पद्य पारिजात भाग २	१·३१	२१	कहानी-संग्रह	१·१२
११	कथाकुञ्ज भाग १	१·५०	२२	सरल भूगोल	१·००

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए :

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ़ आर्ट्स, हैदराबाद-द.

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार, एम. पी.
मुकर्रमजाही मार्केट, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा-विभाग, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप' हैदराबाद

१९५० से १९५६ ई. तक के प्रत्येक वर्ष की 'अजन्ता' की पुरानी फ़ाइलें जिल्द बन कर तैयार हो गई हैं

'अजन्ता' का प्रकाशन अक्तूबर १९४९ से आरम्भ हुआ। विगत सात वर्षों में 'अजन्ता' ने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को बहुमूल्य रचनाओं से पूर्ण किया। गत वर्षों के यह अंक हिन्दी साहित्य की प्रगति को जानने के लिए नितान्त संग्रहणीय हैं।

अंकों का वार्षिक मूल्य रु. ६.०० होते हुए, जिल्द के साथ और भी अधिक बढ़ जाता है किन्तु निजी और सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए रु. ७.०० में इन फ़ाइलों को देने की सुविधा प्रदान की गई है।

शीघ्र आर्डर भेजिए : रु. ७.०० का मनीआर्डर प्राप्त होते ही जिल्द तुरन्त भेज दी जाएगी। इन ज़िल्दों को वी. पी. द्वारा नहीं भेजा जाएगा।

'अजन्ता'

हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद
(आन्ध्र प्रदेश)

१९५७

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

अक्तूबर-नवम्बर, १९५७ अङ्क १०-११

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद दक्षिण

तार : हिन्दी

फ़ोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

गीत
निशान्त केतु १
गीत
विनोद रस्तोगी २
मीमांसित 'वे'
राजा दुबे ३
तमसो मा ज्योतिर्गमय
लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र' ४
गीत
श्रीकृष्ण शर्मा ५
गीत
महेशचन्द्र 'सरल' ६
लोचन
चक्रधर 'नलिन' ८
शरद् सन्देश
प्रलयंकर ९
पुनः युद्ध और फ़ासिज़्म की ओर
परदेशी ११
नई कविता तात्पर्य और व्याप्ति
हरिनारायण मिश्र १५
कुमारिल-दर्शन में अभाव
डा० गोवर्धन भट्ट २१
तेलुगु कहावतें
बी० बी० कुटुम्बराव-बी० बी० सुब्बाराव २५
पुनर्जागृति-काल के चित्रकार
सरोजिनी चतुर्वेदी २६
दिल्ली की बिपता
घनश्याम सेठी २९
सन्त विनोबा और उनका भूदान-यज्ञ
पारसनाथ सिंह ३६
कवियों का चित्रकूट-वर्णन
बनारसीलाल आर्य ३९
उत्कल प्रदेश में मेरे १०० दिन
छबीलदास ४३
शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति
उपेन्द्र ४७
कृष्ण रसिक रसखान
मदनमोहन शर्मा ४९
मेरे पत्रकारिता के अनुभव
इन्द्र विद्यावाचस्पति ५६
राजस्थानी लोक-काव्य में ढोला-मरवण
महावीर सिंहल ६१
मजबूर
अनिल कुमार ६४
ज़मीन का टुकड़ा
प्रीतमसिंह पंछी ७१
काव्य की उपेक्षिता (?) ऊर्मिला
भीमसेन 'निर्मल' ७४
कला-चर्चा :
आभासिक चित्रकला (इम्प्रेशनिस्टिक कला)
रेखा और रंग, अल्प-व्यय, महिला चित्रकार, स्वर्ग का चित्र ७७
चिट्ठी-पत्री :
भगवतीलाल माथुर, जयेन्द्र त्रिवेदी, कैलाश 'कल्पित' बी. कात्यायनी देवी, भागवत पांडेय 'सुधांशु', प्रवासी, रमानाथ शर्मा 'परिमल'
नीर-क्षीर
परती परिकथा : प्रकाशचन्द्र गुप्त; सोवियत संघ के बारे में १०० सवाल और जवाब, सर्वोदय संयोजन विविध लेख, ग्रामदान, त्रिपथगा, विकास, हिन्दी सन्देश : दंडमूडि महीधर ८७
सामयिक
तमिल में सिद्ध-साहित्य, फ्रेंच कला का भारतीय चित्रकारों पर प्रभाव, दीपावली पर विभिन्न प्रान्तों की पृथक्-पृथक् मान्यताएँ ९२
सम्पादकीय
वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तंड ९६

चित्र : मध्यम वर्ग के परिवार का सायंकाल : चित्रकार : भाऊ समर्थ

वार्षिक मूल्य : ९)

एक प्रति का मूल्य : १.५०

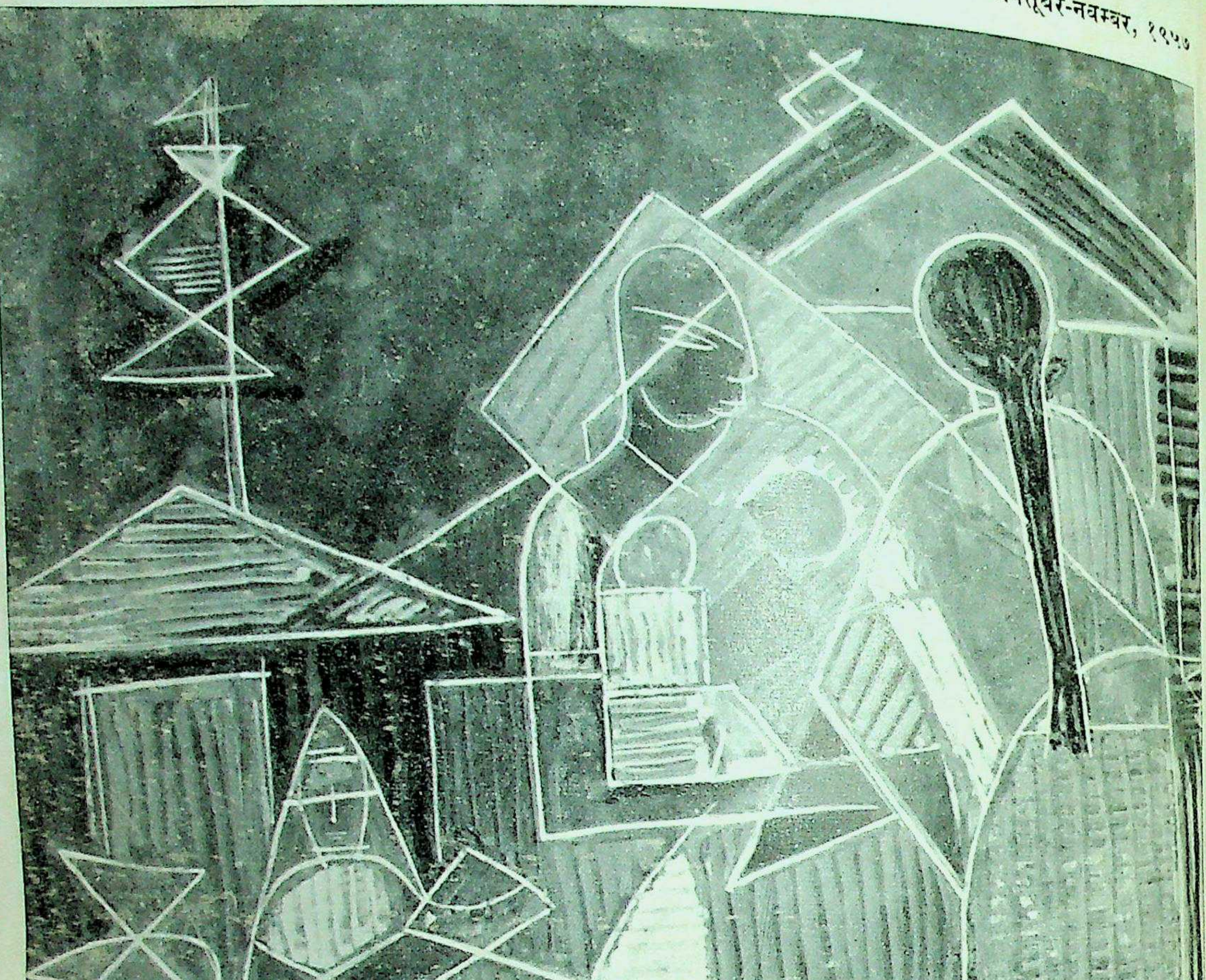

मध्यम वर्ग के परिवार का सायंकाल

चित्रकार : भाऊ समर्थ, कुम्भारे भवन,
राम मंदिर गली, तिलक पुतला, नागपुर

र्ष ६ अक्तूबर-नवम्बर १९५७ अङ्क १०-११

गीत

ज्योति हे ! तुझको समर्पित पद्म मसृण
मैं तुम्हारी ही किरण-छवि का सिंचा हूँ
मैं तुम्हारी ही समर्चा की ऋचा हूँ

देवि ! तेरी रागिनी की चिर प्रतीक्षा
मैं हृदय का एकतारा मौन में हूँ
आज गा दो कौन तुम हो, कौन मैं हूँ

खोल दृग पढ़ दो समाऊँ स्नेह की मैं
एक निर्वाणस्थ नीरव-सी शिखा हूँ
एक ही अक्षर तिमिर-पट पर लिखा हूँ

प्राण-प्रिय ! तुझको समर्पित पद्म मसृण
मैं तुम्हारी ही किरण-छवि का सिंचा हूँ
मैं तुम्हारी ही समर्चा की ऋचा हूँ

—निशान्त केतु

चन्द्रकिशोर पाराडेय
मिंटो छात्रालय, पटना-५

गीत

मंगल-दीप जलाओ साथी

आज घिरी मावस की माया
धरती पर काला तम छाया
खिलें ज्योति के फूल सुनहरे–
नए बीज बिखराओ साथी
मंगल-दीप जलाओ साथी

रूठ गई है पूरन मासी
माटी आज नेह की प्यासी
फिर अवनी पर चाँद उतारो-
सुधा-बिन्दु बरसाओ साथी
मंगल-दीप जलाओ साथी

मिटे युद्ध का विषम अँधेरा
हँसे शान्ति का नया सबेरा
घर-घर में सुख का प्रकाश हो
ऐसा पर्व मनाओ साथी
मंगल-दीप जलाओ साथी

—विनोद रस्तोगी

७-१४०, स्वरूप नगर
कानपुर

मीमांसित 'वे'

वे,
जो मेरे दीपक के हाथों से
रोशन पतवारें छीन,
उसे—
अँधियारे के जल में सिरा गए !

वे,
जो मेरी बहार के पाँवों से
प्रसून-पायज़ेब उतार,
उसे—
व्यथाओं के वन में हिरा गए !

वे,
जो मेरी आस्था की आँखों से
अधबनी पुतलियाँ नोंच,
उसे—
अनास्था के आँचल में गिरा गए !

वे,
जो मेरे सपनों के गाँवों से
सत्यों के पुखराज बीन,
मुझे—
उजाड़, पिराती पीर, पिरा गए !

वे,
सब, मेरी रचना-सीताओं के
थे, अन-जाने शत्रु-मीत
उसे—
'प्रभु' था जो, अन बूझे तिरा गए !

चिन्तामणि भवन,
सागर (म. प्र.)

—राजा दुबे

तमसो मा ज्योतिर्गमय

प्रदीप, तुम जलो-जलो !

असीम अन्धकार में, प्रलय-पयोधि-ज्वार में;
प्रदीप, तुम जलो-जलो !

जलो-जलो, नगर-नगर
भवन-भवन, डगर-डगर;
अमन्द वर्त्तिका लिए—
जलो सदा जगर-मगर !

दिगन्त जगमगा उठे,
अनन्त डगमगा उठे;
परन्तु द्वार-द्वार पर—
प्रकाश-तरु फलो-फलो !

जलो अचल, ढलो अमल,
लिए विभा विरल-विमल;
अरुण शिखा महान् ले—
खिलो ज्वलित किरण-कमल !

वसुन्धरा चमक उठे,
मनोहरा दमक उठे;
अकम्प ज्योति-धार पर—
महानिशे ! ढलो-ढलो !

प्रदीप, तुम जलो-जलो !

—लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

ग्राम-पत्रालय, टेढ़ा,
जनपद उन्नाव, (उ. प्र.)

गीत

कौन गीत गाऊँ अब बोलो तुम

गाने को गीत खूब गाए हैं
कुछ को तो सचमुच ये भाए हैं
कुछ ने मुँह फेरा है इन को सुन
कुछ तो खुद खिंचे चले आए हैं

दृष्टि बचा सब की ये सौंप रहा
चितवन की रंगों में धो लो तुम

रागों को दर्द दिया अँसुओं ने
नदिया को गीत दिया मछुओं ने
पुरवा के सर्दीले झोंकों को
गंध आह-सी दी है महुओं ने

गीतों के संग खुमार ऐसी कुछ
गाऊँ मैं, बेसुध-से डोलो तुम

लहरों में मस्ती इन गीतों की
नभ में है बस्ती इन गीतों की
ज्योत्स्ना के अधरों पर धूमिल-सी
हँसती है हस्ती इन गीतों की

लेकिन इन प्राणों से पीड़ा की
आहों की गाँठ नहीं खोलो तुम

ये मेरे सूने के साथी हैं
अब तक के जीवन की थाती हैं
इनको है जन्म दिया मैंने ही
मेरे तम में ये दिया-बाती हैं

कितना मैं सत्य व्यक्त कर पाया
मुझसी बन तनिक इसे तोलो तुम

एक गीत खत्म हुआ गा कर अब
एक राह छुटी यहाँ आ कर अब
एक मेघ आँखों में रीत गया
एक दृष्टि उठी तुम्हें पा कर अब

मैं तुम प्रिय एक-प्राण हो जाएँ
प्राणों में रस ऐसा घोलो तुम

—श्रीकृष्ण शर्मा

गीत

मिल गए दो हृदय राह पर इस तरह
जिस तरह चन्द्रमा चाँदनी हो गया

स्नेह उमड़ा, नदी बह चली प्यार की
कूल बन्धन छुड़ा कर मचलता रहा
बीच मझधार में सो गई ज़िन्दगी
स्वास की लौ थकी, दीप बुझता रहा
एक तारा गगन से बिछुड़ कर चला
प्रीति भटकी, लुटी-सी, ठगी रह गई
कब प्रवासी रुका पन्थ पर आज तक
युग इसी ताप में और जलता रहा

मिल गई पर गगन को धरा रूप-सी
जिस तरह प्रात दिनमान में खो गया

× × ×

एक छाया मिली मार्ग में काँपती
मन्द-स्वर में कहा—'ऐ बटोही ठहर'
'देख ले दृष्टि भर कर मुझे एक क्षण
फिर चला जा बिछी है समय की डगर'

‘कौन तुम’ प्रश्न मैंने किया था कि वह
वायु के स्पर्श-सी देह में मिल गई
मैं अकेला खड़ा देखता रह गया
बस गया दूर तक कल्पना का नगर

मिल गई पर प्रणय को मधुर रागिनी
जिस तरह स्वाति-कण सीप में सो गया

× × ×

कल विरह-गीत गाए भरे कण्ठ से
अब मिलन-गीत गाओ सुमुखि एक स्वर
इन्द्र-धनु सप्तरंगी बहारें हँसे
हर कली फूल बन कर खिले हो सुघर
पर इसी कामना-तृप्ति की होड़ में
ज़िन्दगी चल बसी मन तड़पता रहा
प्यार सोता गया, दर्द जगता गया
और तुमने लिया फेर मुँह को उधर

यह कहानी अधूरी चली इस तरह
जिस तरह शून्य, विस्तार-क्रम बो गया
मिल गए दो हृदय राह पर इस तरह
जिस तरह चन्द्रमा चाँदनी हो गया

सरल गृह,
हरदोई (उ. प्र.)

—महेशचन्द्र ‘सरल’

लोचन

लोचन जिसके पास उसी का कहलाता जीवन है
लोचन पर लुट जाया करता हर—लोचन है

लोचन ने ही खोल दिए हैं जीवन के सब द्वारे
लोचन से लोचन को देखो नभ में चाँद सितारे
लोचन ने संसार सजाया—लोचन ने बाँटा अमृत
लोचन जीते सदा समर में कभी नहीं है हारे

लोचन जिसके हुए उसी में दिखता अपनापन है

जिसके लोचन लोचन से हैं कभी नहीं टकराते
वे अपने अन्तर तम में ही हैं रहते मुस्काते
लोचन ने राहें बदली—लोचन ने वर्षा की—
लोचन से उर पिघल पिघल नाले बन बह जाते

लोचन ने ही सजा दिया हर उजड़ा हुआ चमन है

लोचन जब लोचन से मिलते— पूरा होता मन है
नयनों की मारें खाकर यह थकता नहीं नयन है
लोचन हैं लोचन से मिलने में नित बलि-बलि जाते-—
लोचन ही मुझको इस जगमें दिखता सारा धन है

लोचन ही जीवन का साथी खुला हुआ आँगन है
लोचन पर ही लुट जाया करता हर लोचन है

—चक्रधर नलिन

हरि सदन,
झाँसी

१९५७

शरद्-सन्देश

शुभद हो, सुखद हो, सुभग, प्राण-प्रद हो
तुम्हारे लिए प्रिय, शरद् यह वरद हो !

रहें शेष बादल न दृग के निलय में
न उर की मही पंक-जल से सनी हो
मदिर मालती—वास हो श्वास-दल में
नहीं आह की भाप गाढ़ी-घनी हो
न पलकें तरल हों, न अलकें मलिन हों
नहीं भाल पर कालिमा हो तिमिर की
खिला चाँद हो गाल के नाल पर, औ'
अधर पर अरुण रश्मियाँ हों मिहिर की
लजीले वदन पर चढ़ा गाढ़ मद हो
तुम्हारे लिए प्रिय, शरद् यह वरद हो !

भरे भोर कर में कुसुम की कटोरी
रहे पूछती और थोड़ा चढ़ा लो !
सहज स्नेह से आ उदय की किशोरी
कहे देह पर दीप्त सोना मढ़ा लो !
विपुल तारकों की शिखाएँ सजा कर
कहे साँझ—लो, आरती यह वरो तुम !
दिखा चाँदनी का खिला रूप मादक
कहे यामिनी—बाँह अपनी भरो तुम !

ढुलक कण्ठ में हर घड़ी पल शहद हो
तुम्हारे लिए प्रिय, शरद् यह वरद हो !

कली-फूल के स्वप्न कोमल चुरा कर
पवन धड़कनों में तुम्हारी पिरोए
किरण दूबियों की रजत-भूति लेकर
यतन से तुम्हारे दिया में सँजोए
बिछें डालियाँ प्यालियाँ गीत की ले
चँवर हाथ में ले लताएँ डुलाएँ
पुलक पंख में बाँध भोली तितलियाँ
रँगीली अदा से थकन आ भुलाएँ
जगत् मोद-मण्डल तुम्हारा विशद हो
तुम्हारे लिए प्रिय, शरद् यह वरद हो !

मृदुल भाव-अंकुर उगें नित हृदय में
नवल कोंपलों-सी पले मंजु आशा
सुघड़ शालि की बालियों-सी भरे नित
हुलसते हिया की हुलसती पिपासा
हरित शस्य की चारु चूनर पहन कर
नचे जिन्दगी रसमयी चाँदनी-सी
अगम लास के रन्ध्र से साँस क्षण-क्षण
बजे ऊर्मि की उन्मदिर रागिनी-सी
घिरा रेशमी कल्पना का जलद हो;
तुम्हारे लिए प्रिय, शरद यह वरद हो !

—प्रलयंकर

अरुणोदय प्रेस, सरैयागंज,
मुजफ्फ़रपुर (बिहार)

पुनः युद्ध और फ़ासिज़्म की ओर

पश्चिम जर्मनी

विगत दस वर्षों में जर्मनी के एकीकरण और लोकतन्त्रीकरण के लिए कई प्रयास हुए हैं।

जनता की ओर से, नेताओं की ओर से, रूस और अमरीका की ओर से, तथा भारत की ओर से, जर्मनी में शान्ति की पुनः स्थापना और सर्वकालिक प्रजातन्त्रवाद की पुनः रचना का विशिष्ट प्रयत्न हुआ है। दूसरे महायुद्धान्त पर, दुनिया ने सोचा कि अब हमें हिटलर-जैसे तानाशाहों से मुक्ति मिली। विनाश और अन्याय के जबड़े चूर हुए। परन्तु शान्ति के इन प्रशंसकों ने यह नहीं सोचा कि केवल हिटलर या उसके साथियों के व्यक्तिगत अन्त से ही शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती और इतने से ही न्याय और निर्माण की नींवें मजबूत नहीं हो सकतीं।

अतएव, हिटलर गया, मगर हिटलरवाद और हिटलरवादी नहीं गए। जर्मन हाई कमान के दो-पाँच प्रमुख पंचों को फ़ाँसी पर चढ़ा देने से ही हिटलर के वंश का विनाश नहीं हो सकता। वस्तुतः व्यक्ति के अन्त के बजाय, वे भ्रमपूर्ण, मार्गहीन, दिशा-विहीन मान्यताएँ खत्म होनी चाहिएँ, जिन्हें हिटलर और हिटलर-जैसे नेता जन्म और पुष्टि देते हैं।

अब हमें देखना है कि, विश्व के तथाकथित नेताओं ने इस दिशा में क्या-क्या प्रयत्न किए और प्रजातन्त्र की सार्वभौमिक स्थापना के लिए उन्होंने अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वार्थों का कहाँ तक परित्याग किया। वास्तव में राष्ट्रों के अपने स्वार्थों ने ही काश्मीर, कोरिया, फ़ारमोसा और स्वेज़-जैसे सवालों को हल होने नहीं दिया है। जर्मनी की एकता का सवाल भी इन्हीं सवालों से जुड़ा हुआ है, यानी यह भी किन्हीं राष्ट्रों की अपनी कूटनीतिपूर्ण स्वार्थपरता का अंश है।

पिछले दशाब्द की दशा यह प्रमाणित करती है कि पश्चिमी जर्मनी के प्रतिक्रियावादी दलों ने, उनके नेताओं ने फिर से सिर उठाया है। उनके इस पुनरुत्थान के पीछे उन विदेशी राष्ट्रों की स्वार्थलीला अपना प्रपंच प्रसारित कर रही है, जिनका ज़िक्र, अभी हमने किया है। पश्चिमी गुट ने अपनी रक्षा पाँति को रक्षित रखने के लिए, उसमें, रूस के चारों ओर जर्मनी, ईरान और पाकिस्तान-जैसे शिखण्डी देश खड़े कर दिए हैं। यही कारण है जर्मनी में फ़ासिज़्म और नात्सीज़्म के धनुर्धारियों को आगे आने का मौक़ा मिला है। आज पश्चिमी गुट ने कई नाज़ी नेताओं को, युद्धवादियों को फिर से ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया है और न केवल जर्मनी को शस्त्र ग्रहण करने का अवसर ही दिया, वरन् उसे अणुबम का बहुत बड़ा अड्डा भी बना दिया। रूसी गुट ने इस नीति का विरोध किया और जर्मनी के शस्त्रीकरण को अपने लिए अहितकारी बताया। प्रजातन्त्र के पक्षपाती--पश्चिम के देश, कल के ही इस कुटिल इतिहास को भूल गए कि इन्हीं नाज़ी और फ़ासिस्ट नेताओं ने उनको नाकों चने चढ़वा दिए थे और एक बार विश्व की समस्त मानवता को मरण-संकट की ज्वाला में झोंक दिया था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात्, पराजयोपरान्त, जर्मनी ने मात्र बीस बरसों में संसार को अपनी आक्रमक नीति से थर्रा दिया था। उसी जर्मनी को शस्त्र देने और उसे प्रजातन्त्र की सही और कल्याणकारी परम्परा से परे रखने का, क्या परिणाम होगा, यह सिर्फ़ नेहरू ने ही सोचा है, तो, सोचा है—पश्चिमी यूरोप के किसी नेता ने अपने राष्ट्रीय प्रलोभन में पड़ कर, इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया। अब तो जर्मनी फिर से अपने जवानों को क़वायद करवा रहा है और फिर से वह जंग की भाषा में बोल रहा है। यदि यही स्थिति रही तो शीघ्र ही वह, हिटलर की तरह देश-प्रदेशों का दावेदार बन जाएगा और फिर से धरती का धानी आँचल लाल-लाल खून से सन जाएगा।

इस पृष्ठभूमि के प्रति सावधान रह कर, हम जर्मनी के वर्तमान युद्धवादी सूत्रों को देखेंगे—

१७ अगस्त, १९५६, के दिन पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बॉन के सत्ता-धारियों ने जर्मनी के प्रगतिशील

और वामपक्षीय दलों को ग़ैर क़ानूनी क़रार दे दिया और उनके नेताओं को पकड़ कर बन्द कर दिया।

यह घटना, इस बात को साबित करती है कि अवश्य ही प्रतिक्रिया प्रबल हो गई है और प्रजातन्त्र का मार्ग अवरुद्ध हो चुका है और आज वहाँ, प्रजातन्त्र के नाम पर जो-कुछ हो रहा है, वह एकमात्र स्वाँग है। क्या युद्धवादी नाज़ियों का 'हृदय परिवर्तन' हो गया है कि उन्हें सत्ता का स्वामी बना दिया गया है? कल तक जिन्हें, सदा के लिए समाप्त कर देने की शपथ, जो तथाकथित प्रजातन्त्रवादी राष्ट्र लिया करते थे, आज वे, उन्हीं नेताओं का स्वागत सत्कार कर रहे हैं। यह तो शान्ति की नहीं, युद्ध की तैयारी है। शान्ति की तैयारियाँ तोप-बन्दूकों और संगीनों की चमक-दमक से नहीं हो सकती और यदि कोई कहे कि वह लोगों को रोज़ी, रोटी और शान्ति के लिए बम के गोले जमा कर रहा है तो यह एक बहुत बड़ा भुलावा और जाल है। बम के गोले रोटियाँ नहीं बन सकते; हा, छीनी हुई रोटियाँ बम के गोलों में ढल सकती हैं। दुनिया जानती है कि जर्मनी के नाज़ी नेताओं ने रोटी के बजाय बम गोलों को महत्त्व दिया है।

पश्चिमी जर्मनी के ट्रेड-यूनियन नेताओं को कान्सन्ट्रेशन कैम्पों में भेज दिया गया है अथवा जेल में डाल दिया गया है। इसके लिए सिर्फ़ बेडेन वर्टेम्बर्ग-जैसे शहर में ही १९०० स्पेशल पुलिसमैन भर्ती किए गए। म्युनिक में खनिकों के यूनियन की सारी सम्पति ज़प्त कर ली गई और नूरेम्बर्ग में संस्था के भवन पर नाज़ीवाद का कला साया आया। इस अत्याचार के दौरे में भला साम्यवादियों पर क्या बीती होगी? इन विरोधियों को सदा के लिए मिटा देने का ज़बरदस्त षड्यन्त्र रचा गया। आन्तरिक मामलों के मन्त्री स्कोर्डर ने स्वयं साम्यवादियों की समाप्ति का महत्कार्य अपने हाथ में लिया। उसके कार्यों ने सिद्ध कर दिया कि आज की पश्चिमी जर्मनी भी उसी पथ पर चल रही है, जिस पथ पर नाज़ी चले थे, जब कि २८ फ़रवरी १६३३ के दिन उन्होंने जर्मन साम्यवादी दल को कुचल कर, किसी भी विरोधी पक्ष को नहीं उठने दिया था। वास्तव में किसी भी विरोधी को, चाहे वह समाजवादी, राष्ट्रवादी या पूँजीवादी ही क्यों न हो—'कम्युनिस्ट' कह कर कुचल देना आज के कुछ देशों का तौर-तरीक़ा बन गया है।

उपर्युक्त पाबन्दियों के अनन्तर, जनता का सामाजिक जीवन पंगु हो गया और आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्रोतों की शक्तियों को युद्ध की तैयारी में लगा दिया गया। आख़िर, यह युद्ध किससे लड़ा जाएगा? किस शत्रु से बचने के लिए यह तैयारियाँ हो रही हैं? जर्मनी बजाए नए कारख़ाने, मकान, दूकान, स्कूल और अस्पताल बनाने के, फ़ौजी अड्डे और शस्त्र बनाने में क्योंकर लग गया? इस हारे हुए राष्ट्र को अब भला किसका डर हो सकता है? जो देश अपना सर्वस्व खो चुका, उसे आगे कौन-सा धन खो देने का भय है? जब कि उसका देश दो टुकड़ों में विभक्त है, पराजित है, पराश्रित है, परतन्त्र है, उसकी छाती पर विदेशियों के सशस्त्र सैनिक बैठे हैं, उसे क्यों अपनी तलवार चमकाने का कष्ट करना चाहिए? लेकिन, हाल के चुनाओं के बाद, एडेनावर के पुनः गद्दी ग्रहण करने के बाद जर्मनी बड़ी तेज़ी से सामरिक तैयारियों में जुट गया है! एक ओर शान्ति की चर्चाएँ, दूसरी ओर समर की चर्चाएँ!

किसी भी देश में, किसी भी राजनैतिक विचार और उस विचार में विश्वास रखनेवाले दल को दबाया जाना, उस पर पाबन्दी लगाया जाना लोकतन्त्र के लिए ख़तरे से ख़ाली नहीं है। अतः जर्मनी के विरोधी दलों पर जो प्रहार किया गया, वह इस तथ्य का द्योतक है कि देश के अधिकारी तानाशाही की ओर बढ़ रहे हैं। और किसी ऐसी तैयारी में जुटे हुए हैं, जिसे जनता से गुप्त रखना ज़रूरी समझा गया है।

पश्चिमी जर्मनी के साम्यवादी दल को 'विधान विरोधी' कह कर दबा दिया गया। लेकिन सरकार का यह क़दम राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, न्याय और 'परंपरा के प्रतिकूल है, क्योंकि 'पीट्सडम-समझौते' के अनुसार विजित जर्मनी के प्रदेशों में सभी फ़ासिस्ट विरोधी राजनैतिक दलों को अपना-अपना कार्य करने की आज़ादी है। जर्मन सरकार ने इस समझौते को भंग किया।

वर्तमान परिस्थितियों में, जब कि पूर्वी यूरोप, एशिया और आफ्रीका के कई देश जनतन्त्र की ओर सफलतापूर्वक बढ़ रहे हैं, आधे जर्मनी का उपर्युक्त कार्यकलाप, न केवल इन देशों के लिए, बल्कि सारी दुनिया

के लिए संकटप्रद है। क्योंकि, हम जर्मनी की युद्धवृत्ति और नात्सी तौर-तरीकों से परिचित हैं। पिछले दो सौ वर्षों से जर्मनी योरप की छाती को रौंदता रहा है और संसार की शान्ति का खण्डन करता रहा है, ऐसी दशा में कैसे मान लें कि आज की कोरी प्रजातन्त्रीय बातों के द्वारा वह प्रजातन्त्र का मण्डन करने निकला है। शीत-युद्ध ने जर्मनी के उन सामाजिक तत्त्वों को आशान्वित किया, जिनकी रोज़ी और लाभ की दुनिया युद्ध के सहारे चलती है। इसीलिए पश्चिम के कुछ राष्ट्रों की देख-रेख में जर्मनी सैनिक अड्डा बनता गया, बनता जा रहा है और तब तक बनता रहेगा, जब तक ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका उसके इलाक़ों को ख़ाली न कर देंगे। इन महाशक्तियों का पश्चिमी जर्मनी में रहना, स्वयं जर्मनी और शेष संसार के लिए घातक है। तभी न, ख्रुश्चेव ने अपने बयान में बतलाया कि यदि महाशक्तियाँ पश्चिम जर्मनी से सेनाएँ उठा लें तो, हम न केवल पूर्वी जर्मनी से, वरन् सारे पूर्वी योरप से हट जाएँगे। इससे पश्चिमी जर्मनी का सामरिक महत्त्व हमें विदित होता है। ऐसी दशा में, भला, जर्मनी के फ़ासिस्ट तत्त्व शान्ति क्यों चाहने लगे?

जर्मनी के साम्यवादी और समाजवादी—दोनों ही दल जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण के प्रबल विरोधी थे और हैं, इसीलिए, महाशक्तियों के सूत्रसंचालन पर, इन दोनों दलों को ग़ैर क़ानूनी क़रार दिया गया, और उनके नेताओं को ढूँढ़-ढूँढ़ कर परेशान किया गया। क्या तथाकथित 'फ्री-वर्ल्ड' की डेमोक्रेसी यही है? जर्मन इस क़दर, अपने क़ारख़ानों में युद्ध की तैयारियों में संलग्न हैं कि उत्पादन में अवरोध न आने देने के लिए, श्रमिक-संघों को कुचल दिया गया है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि आज भी हिटलरवादी शक्तियों ने इतिहास से सबक़ नहीं सीखा है।

जिस प्रकार प्रथम महा-युद्ध के पश्चात् महाशक्तियों की कृपा से, योरप में ऊधम मचाने के लिए जर्मनों को राह दी गई, उसी प्रकार इस बार भी, उनके प्रयास प्रसाद-रूप जर्मनी का सैन्यवाद पनप रहा है तथा उसके संरक्षक—पश्चिमी जर्मनी को 'पहले दर्जे का सैन्यसत्ताधारी' देश बना देना चाहते हैं और मज़े की बात तो यह है कि फ्रांस और ब्रिटेन के कई वर्गों के लोग इस स्थिति का विरोध कर रहे हैं—उनमें बड़े-बड़े पूँजीपति और बड़े-बड़े मज़दूर-नेता भी शामिल हैं। आख़िर, उनके मनों पर उस अत्याचार की छाप आज भी बाक़ी है, जो नात्सी जर्मनी के भीषण बम-वर्षकों ने ब्रिटेन की जनता पर छोड़ी थी।

फ्री वर्ल्ड के शिक्षक इस बात का उत्तर नहीं देते कि क्योंकर पश्चिमी जर्मनी ने अपने यहाँ के प्रमुख विरोधी दलों और समाजसेवी संगठनों पर पाबंदी लगाई जैसे : जर्मन सोवियत मैत्री-संघ, फ्री जर्मन यूथ, नेशनल फ्रण्ट आफ़ डेमोक्रेटिक जर्मनी, समाजवादी दल और साम्यवादी दल। इस अवस्था पर टिप्पणी करते हुए, जर्मनी का प्रसिद्ध समाचार-पत्र न्यूज़, ड्यूखलैण्ड' जो कि वहाँ कि सोशलिस्ट युनिटी पार्टी की ओर से प्रकाशित होता है, लिखता है : "सरकार ने सैनिक सर्विस चला कर और कई पाबन्दियाँ लगा कर, जानबूझ कर, जर्मनी के एकीकरण के मार्ग में, एक दूसरा और बहुत बड़ा रोड़ा अटकाया है।" यहाँ तक कटु आलोचनाएँ बढ़ीं कि फ्रेंक फ़र्टर रन्शाऊ ने लिखा : "हमें यह मान लेना चाहिए कि राजनैतिक दलों पर लगाई गई पाबन्दी हमारी संघ-सरकार की उस इच्छा को प्रमाणित करती है, जो पुरानी व्यवस्था की पुनर्स्थापना करना चाहती है।" तभी जर्मनी के सोशियल डेमोक्रेटिक दल ने भी अपना विरोध प्रदर्शित किया और समाजवादी 'वोखार्ट्स' पत्र ने लिखा : "इस प्रकार की क़ानूनी रोक किसी भी राजनैति दल को कुचलने में सहायक होगी। अब सरकार सहज ही अपने विरोधियों को साम्यवादी कह कर, इसी बहाने जेल में डाल देगी और जो लोग उसकी विदेश और सैनिक नीति का अनुमोदन नहीं करते हैं, उन्हें भी इसी प्रकार दबा देगी।"

पश्चिम-जर्मनी साम्यवादी दल पर 'कार्लसुह कोर्ट' में मुकदमा चलाया गया और उपरोक्त पाबन्दियाँ घोषित की गईं, जिन पर प्रदर्शित विरोध-वाणी के कुछ उद्धरण आपके सामने हमने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। न केवल जर्मनी वरन् यूरोप और एशिया के कई दक्षिण पन्थी पत्रों तक ने जर्मनी के इस क़दम को बुरा बताया है; क्योंकि यहाँ प्रमुख प्रश्न समाजवादी, साम्यवादी या पूँजीवादी दल का नहीं है—यहाँ तो हिटलरवादी दलों की समस्या है, जिसने दुनिया को दूसरे युद्ध की दानवी लीला दिखलाई थी। इसी हेतु, पश्चिम बर्लिन के 'टेलिग्राफ़' पत्र ने लिखा : "आज अन्तर्राष्ट्रीय पत्रों

ने सरकार के इस क़दम पर चिन्ता ज़ाहिर की है और कई पत्रों ने तो कड़ी निन्दा भी की है।" भारत के प्रसिद्ध दैनिक 'टाइम्स आफ़ इंडिया' ने लिखा कि कार्ल सुह कोर्ट ने जो दलील पेश की, उसे तो हिटलर की कचहरियाँ माने तो माने, दुनिया तो उसे स्वीकार नहीं करेगी।

सुना है कि फ्रांस के प्रसिद्ध समाजवादी दानियल मेयर ने कहा : "सरकार का यह क़दम सिर्फ़ पश्चिमी जर्मनी के जनतान्त्रिक विकास के लिए ही संकटप्रद नहीं है, इससे भी अधिक ख़तरनाक है, यह तो सारे योरप की सुरक्षा के लिए संकटपूर्ण है।"

इन, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को पढ़ लेने पर हमें ज्ञात होता है कि दुनिया के देशों को पश्चिमी जर्मनी की सरकार से, उसके संरक्षकों से और उसे उभारने वाले अशान्तिवादियों से सावधान रहना चाहिए। इनका दावा है कि विरोधियों को कुचल कर, ये प्रजातन्त्र को कुचल कर, ये प्रजातन्त्र को समर्थ बना रहे हैं, परन्तु प्रजातन्त्र का सच्चा पोषक-तत्त्व और उसका विरोधी पक्ष और उसके आलोचक ही हैं, जो समय-समय पर अपनी हित-चिन्तना-युक्त टीका-टिप्पणियों द्वारा उसे सन्मार्ग पर लाते हैं और रहा प्रजातन्त्र को समर्थ बनाने का दावा, सो यह तो नात्सियों ने भी पेश किया था, जब कि इन्होंने कहा था : "हमारे द्वारा निर्मित (पार्लियामेण्ट) को दुनिया की कोई शक्ति १,००० वर्षों तक नहीं हिला सकती।" आज वही राइख़, राख हो गया है।

पश्चिमी जर्मनी के सत्ताधारी उसी मार्ग पर जा रहे हैं, जिस पर एक दिन, बड़े ज़ोर-शोर से नात्सी दल गया था। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि तब और आज की जर्मन-जनता की जागृति में अन्तर आया है। विगत २०-२२ वर्षों में उसने तानाशाही और युद्ध-वादी वृत्तियों के दुष्परिणाम देखे हैं। अतएव जर्मनी की जनता को फ़ासिज़्म और युद्ध के मैदानों में से जाने वाली शक्तियाँ अवश्य असफल होंगी। क्योंकि उनकी कारवाइयों का आन्तरिक और बाह्य विरोध स्पष्ट स्वरूप में सामने आया है।

हिटलर का पन्थ और अन्त, उसकी अपनी ही सत्यानाशकारी राह थी। वह उस पर चला सो चला। अब कोई इस राह पर बढ़ेगा तो उसका विनाश निश्चित है, क्योंकि यह अधर्म और असत्य की राह है, जो अपने राहियों को मौत के मुँह में ले जाती है।

जर्मनी के यात्री मृत्यु के नहीं, जीवन के मार्ग पर अग्रसर होंगे, क्योंकि वे अपने अनुभव से लाभ लेना जानते हैं।

ओरलैम, मलाड़,
बम्बई

—परदेशी

जीवन का आदर्श : शब्द-कोश

मेरे जीवन का आदर्श डिक्शनरी अर्थात् शब्द कोश है। शब्द-कोश अपने-आपमें कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं होती जो आप पढ़ सकें और उससे लाभ उठा सकें। आपको जब जरूरत पड़ेगी, मुझसे सहायता ले लीजिए।

इससे अधिक मैं कुछ नहीं कर सकूँगा।

—विनोबा भावे

'मंगल प्रभात' से

नई कविता : तात्पर्य और व्याप्ति

नई कविता की चर्चा आए-दिन जितनी व्यापक हो चली है, उसका स्वरूप सामान्य पाठक-वर्ग के समक्ष प्रायः उतना स्पष्ट नहीं हो पाया है। इस अस्पष्टता का दायित्व सबसे पहले नई कविता के उन सर्जकों और समर्थकों पर है जो अपनी अक्षमताओं और दुर्बलताओं को सिद्ध करने की चेष्टा में दिन-पर-दिन नए-नए मत और मान्यताएँ गढ़ते रहते हैं और ऐसे दुरूह तथा अप्रचलित शब्दों का घटाटोप खड़ा कर देते हैं कि पाठक सहसा घबरा जाता है। ठीक इन्हीं की तरह पूर्वाग्रह-युक्त किन्तु विपरीत पथगामी आलोचकों का दूसरा वर्ग है जो इस नवीनता को न केवल सन्देह की दृष्टि से देखता है अपितु इसके प्रति अपनी बौखलाहट व्यक्त करने की प्रक्रिया में इसे उच्छृंखल, असामाजिक एवं तुच्छ बताता हुआ पश्चिम के अति यथार्थवादियों की दशा को आगे चल कर इसके हक में सम्भाव्य मानता है। इन दिनों वर्गों मे हट कर नई कविता को उलझाने वाला चतुर एवं उद्धरण-जीवी आलोचकों का एक तीसरा वर्ग है जो कभी इस और कभी उस कोटि के मत का हवाला देता है, किन्तु चिन्तन-पराङ्मुखता के कारण अपनी ओर से कुछ नहीं कह पाता। नई कविता के सम्बन्ध में अब तक की प्रकाशित आलोचनाएँ अधिकतर, इन्हीं तीनों कोटियों में किसी-न-किसी के अन्तर्गत आती हैं। ऐसी स्थिति में इसका वास्तविक परिचय न हो पाना और इसके विषय में उलझनों का बढ़ना अधिक आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु इतनी विशद चर्चा का एक सन्तोषजनक परिणाम अवश्य सामाने आया है और वह यह कि नई कविता अब उपेक्षा की वस्तु नहीं रही, रीझ कर या खीझ कर इतना तो मानना ही होगा कि इसका प्रभाव वर्तमान युग की समग्र काव्य-चेतना पर छाया हुआ है। अब इसे ईलियट, एजरा पाउंड-जैसे कवियों का अन्धानुकरण, बैठे-ठाले लोगों का धन्धा, सिर फिरे लोगों की सनक और ऊपर से थोपी हुई स्थिति बता कर इसकी उपलब्धियों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। यह बात दूसरी है कि वे उपलब्धियाँ किस सीमा तक स्पृहणीय हैं।

नई कविता वस्तुतः हमारे जीवन की अपनी उद्‌भावना है, इसे अभारतीय कह कर लोगों को भरमाने के दिन कब के लद गए। हिन्दी-कविता की सहज-स्वाभाविक विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत ही नई कविता परिगणनीय है। हमारी अपनी समस्या, हमारे अपने परिवेश, हमारी अपनी रुचि, हमारे अपने हृदय और मस्तिष्क की छाप नई कविता पर है। अध्ययन के कारण जो विदेशी प्रभाव आया है, वह प्रभाव ही है, संस्कार कदापि नहीं। इसी प्रभाव को संस्कार मानने की भूल अब तक की जाती रही है।

जिन कारणों से लोग नई कविता को अभारतीय कहने का साहस करते आए हैं, वे अब बिलकुल कमज़ोर और खोखले पड़ गए हैं। विज्ञान ने देशों के बीच की पारस्परिक दूरी काम कर दी है। विदेशियों से हमारे सम्पर्क, सौहार्द के अगणित द्वार उन्मुक्त हो रहे हैं। एक देश और जाति की जिज्ञासा दूसरे देश और जाति के प्रति बढ़ती जा रही है और उसका समाधान भी अब सर्वथा सुगम हो गया है। जनतान्त्रिक शासन-पद्धति ने जो विभिन्न देशों के बीच सांस्कृतिक एकता स्थापित करने की चेष्टा की, उसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली। एक देश के नेताओं का दूसरे देश या देशों में आना जाना, अन्य भाषाओं के साहित्य का अनुवाद, एक देश के महापुरुषों की दूसरे देश या देशों के महापुरुषों के प्रति अर्पित श्रद्धांजलियाँ आदि अनेकानेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कारणों से प्रायः समग्र विश्व की जनता एकता के सूत्र में बँध गई है और आज के प्रगतिशील युग का प्रबुद्ध मानव अपने को किसी देश-विशेष का कम, विश्व का ज़्यादा समझता है। समस्त मानव-जाति के साथ तादात्म्यबोध के कारण नए कवि की दृष्टि में पूर्व और पश्चिम के भेद का महत्त्व अधिक नहीं है, बल्कि इस भेद को वह अनावश्यक और अनुपयोगी मानता है। वह समग्र मानवता को गोचरभूमि मानता है और विश्व-मानव के साथ एकान्त सम्बन्ध स्थापित करना भारतीयता को तिलाजंलि देना कदापि नहीं है बल्कि वह भारतीय

चिन्ताधारा का ही सर्वाधिक उदार रूप, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की चरम परणति है। आज का प्रत्येक छोटा-बड़ा नया कवि इसी उदार मानवीय सम्बन्ध-भावना को अभिव्यक्ति देने में सचेष्ट है।

मानवीयता की प्रतिष्ठा के लिए वह व्यक्ति को आवश्यक मानता है। वैयक्तिक विकास को वह सामाजिक विकास का महत्त्वपूर्ण आयाम मानता है और उसका यह दृढ़ विश्वास है कि व्यक्तिगत दायित्व के निर्वाह की तत्परता से न केवल सामाजिक दायित्व के निर्वाह की चिन्ता दूर हो जाती है, अपितु दोनों का अन्तर भी मिट जाता है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन, इसीलिए, समाज के लिए विनाशकारी मानता है और वह उन सामाजिक नियमों और अनुशासनों के प्रति खड्गहस्त है, जिनके कारण व्यक्ति का निजी विकास अवरुद्ध हो जाए, वह उन नियमों और अनुशासनों के इशारे पर यन्त्रवत् परिचालित हो। सामाजिक यथार्थ को वह अस्वीकार नहीं करता, लेकिन उसकी सामाजिक चेतना इतनी तीखी नहीं है कि उसे निजी अस्तित्व का भान ही न हो।

वैयक्तिकता के इसी आग्रह के कारण नई कविता के विषय में कुछ लोगों का व्यक्तिमन के आन्तरिक कशमकश के अंकन की तुलना में सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा की गई है, कि नया कवि अधिकाधिक द्विविधाग्रस्त है, कि अनास्था-मूलक प्रवृत्तियाँ नई कविता में खूब पनपी हैं, और पनप रही हैं, ये बातें सर्वथा निराधार नहीं हैं, और मानसिक असन्तुलन, गठन, सन्देह, अनास्था आदि की अभिव्यक्ति नई कविता में प्रबल रूप में हुई है, और इसके फल स्वरूप निष्क्रिय विद्रोह, मरण-पूजा, आत्मरति, यौन-भावना और अहंवादी वचन-भंगिमा को नई कविता की प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकृति मिलने लगी है। लेकिन थोड़ी गम्भीरता से सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नई कविता की उपर्युक्त तथाकथित प्रवृत्तियों के मूल में वैयक्तिकता का आग्रह महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि नया कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदार है, वह बिना किसी असमंजस के अपने मन की झाँकी देता चलता है। पत्थर की तरह केवल एक ही पहलू देखना उसका काम नहीं है कोई भी भावना, कोई भी अनुभूति, कोई भी कल्पना उसके लिए वर्जित नहीं है और यही कारण है कि "जीवन हर स्तर पर और प्रत्येक रूप में काव्य में स्वीकृति पा सका है।"[1] छोटे-से-छोटे, साधारण से साधारण अनुभव को जब वह व्यक्त करता है तो नई कविता की इसी विशेषता की ओर संकेत मिलता है। उसकी सहजता, और ताज़गी को दृष्टिपथ से तिरोहित कर जो लोग इसे चौंकाने की कला (शॉक टेकनीक) का एक उपादान मान लेते हैं, वे यह भूल जाते हैं, इसके पीछे नए कवि की अनुभूति-सजगता का कितना बड़ा हाथ है।

तो, समस्त जीवन और जगत् को गोचरभूमि मानने की प्रक्रिया में आज का कवि फिसलन और कमज़ोरी, अनास्था और घुटन सब को रूपायित करता चलता है। वह यह नहीं सोचता कि ऐसी रचनाएँ पाठकों के मन में अनास्थामूलक वृत्तियाँ जगाती हैं। उसे पाठकों की बुद्धि और मेधा पर अविश्वास कदापि नहीं है, और वह जासूसी एवं तिलस्मी उपन्यासों और भोंडी फ़िल्मों से, जिनके कुप्रभाव से डाकुओं, चोरों, व्यभिचारियों और पाकेटमारों की संख्या में वृद्धि हुई या हो रही है, अपनी कविता को नितान्त भिन्न मानता है। नई कविता के बारे में ऐसी भ्रान्तियों का प्रचार प्रायः वे ही लोग करते हैं, जिनके लिए व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण के दो अलग-अलग मानदण्ड हैं और जो पाठकों के रुचि-बोध को परिमार्जित, उनके विवेक को प्रबुद्ध और उनमें स्वतन्त्र-निर्णय करने की शक्ति का विकास करने के बजाए उन पर किसी रचना का क्या प्रभाव पड़ा, इसी का लेखा-जोखा लेने में दुबले पड़ते जा रहे हैं। यह भी यदि तटस्थ दृष्टिकोण से करते तो एक बात थी, सचाई यह है कि इस प्रकार की विवेचना, उस सम्प्रदाय की आधारभूत मान्यताओं के सहारे होती है, जिसके अन्तर्गत वे अपने आपको दीक्षित कर चुके हैं, या दीक्षित करने की मुद्रा में हैं। नया कवि द्विविधा और संशय, अनास्था और निराशा का चित्रणमात्र करता है, उन्हें दर्शन का रूप नहीं दे देता, क्योंकि जो परिस्थितियाँ अनास्था की सृष्टि करती हैं, वे शाश्वत और सर्वकालीन नहीं हैं, जीवन की जिस आपाधापी, जिस अात्व्यरतता

नेमिचन्द्र जैन ('आजकल' अक्तूबर, १९५६)

हो कर हम गुज़र रहे हैं, उनका अन्त कभी-न-कभी होता ही है। फिर अनास्था के प्रचार-प्रसार का दायित्व उस पर कैसे हो सकता है ?

नई कविता कोरी भावुकता और हास्यास्पद अतिरंजना के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी अभियान है। भावना की वल्गा इसने बुद्ध के हाथों सौंप दी, रागतत्त्व को विचारतत्व का आश्रित बनाने को बाध्य किया, उड़ान या चिन्तन को अधिक या उसके समकक्ष भी कभी महत्त्व नहीं दिया और तर्क की पद्धति इसे हमेशा ग्राह्य रही। यथार्थ चित्रण का आग्रह, आलोचनात्मकता, व्यंग्य-दृष्टि का विस्तार आदि प्रवृत्तियाँ नई कविता में बौद्धिकता के प्रवेश के ही अवश्यम्भावी परिणाम हैं। आज का मनुष्य यदि विशुद्ध-भावना-जीवी बन जाए तो एक क़दम चलना उसके लिए मुश्किल हो जाएगा। उसकी मनोदशाएँ बिलकुल बदल गई हैं। पहले के लोगों से उसकी समस्याएँ भिन्न हैं, उसका परिवेश भिन्न है। नये कवि की ईमानदारी उसे बाध्य करती है कि वह आज के मनुष्य को यथार्थ रूप में देखे। अब किसी काल्पनिक लोक की छवि उरेहने और ब्रह्म-चिन्तन की प्रक्रिया को विविध रूपकों और प्रतीकों का सहारा ले कर व्यक्त करने के बहाने, वंचना का विकराल दुर्ग नहीं खड़ा किया जा सकता। हम कल्पना-जीवी नहीं हैं और युग के प्रभाव से ब्रह्म से अधिक मनुष्य के प्रति हमारा आकर्षण है। उसी का जीवन इतना वैविध्यपूर्ण है, उसी की समस्याएँ इतनी विभिन्न हैं कि काव्य के उपादान के निमित्त किसी अपर-लोक या रहस्यमय ब्रह्म के सामने झोली नहीं फैलानी पड़ती। नया कवि मानव की परख में ही रत है और इस परख में उसे हृदय से अधिक मस्तिष्क से सहायता मिलती है और यही कारण है कि उसकी रचनाएँ विचाराश्रित और कभी-कभी विचारजन्य भी होती हैं।

यह ठीक है कि बौद्धिकता के प्राधान्य के कारण नई कविता कहीं-कहीं अत्यधिक दुरूह हो गई है और कहीं-कहीं यह दुरूहता कबीर की उलटबासियों और सूर के दृष्टिकूटों को भी पछाड़ने वाली होती है, किन्तु ऐसा अधिक नहीं है। बौद्धिकता नई कविता को आधुनिक मानस के निकटतम सम्पर्क का वरदान दे गई है, जिसके कारण किसी भी आधुनिक साहित्य-प्रकार के सम्मुख उसका मस्तक नत नहीं है, वरना उसकी भी वही हालत होती जो अतिरिक्त भावुकता से आक्रान्त, निरी कर्णप्रिय किन्तु अर्थहीन तुकबन्दियों की हो गई है। यदि कुछ कवियों ने बौद्धिकता का प्रयोग सही ढंग से नहीं किया तो यह हम उनकी ग्रहण-क्षमता का दोष मानते हैं, नई कविता का कदापि नहीं। बौद्धिकता के आग्रह से गढ़े गए दुरूह और अस्पष्ट प्रतीकों की बाढ़ में काव्यात्मा को बहा देने वाले इन थोड़े-से कवियों के कारण जो अपने लिए एक विशिष्ट भावुक वर्ग की दुहाई देते हुए अपनी आदतों से बाज़ नहीं आ रहे हैं—समग्र नई कविता के विषय में किसी धारणा को बद्धमूल कर लेना कुछ अधिक बुद्धिमत्ता का काम नहीं जँचता।

नई कविता जिन कारणों से बदनाम हुई है, उनमें परम्परा-विरोध सर्वाधिक प्रचलित कारण है और शुरू में कुछ दिनों तक तो (जब नई कविता को लोग 'प्रयोगवाद' के नाम से जानते थे) इस पर आलोचकों के क्षोभ का एकमात्र यही हेतु था कि इसने परम्परागत भावनाओं और मान्यताओं, छन्दों और शैलियों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया है। परम्परा-प्रेमियों को यह बात बिलकुल नागवार लगी कि नई उम्र के कुछ अधकचड़े लोगों द्वारा परम्परा का उपहास और विरोध हो किन्तु नई कविता परम्परा-विरोधिनी होने के बजाय परम्परा-निरपेक्ष है।[२] नये ज्ञान-विज्ञान और दर्शन के सहारे इसने परम्परा का पुनर्परीक्षण किया और उसके द्वारा आनीत सत्य जहाँ इसे अपर्याप्त प्रतीत हुआ, वहाँ इसने उसमें पर्याप्तता लाने की चेष्टा और जहाँ अग्राह्य प्रतीत हुआ वहाँ उसका बहिष्कार किया। परम्परा सर्वत्र अपर्याप्त और अग्राह्य प्रतीत हुई हो, ऐसी बात नहीं है। जहाँ वह इसे युगोपयोगी, सजीव-सार्थक और स्वाभाविक प्रतीत हुई, वहाँ इसे ग्रहण करने में इसने तनिक भी दुविधा और झिझक नहीं बतलाई। वस्तुतः परम्परा का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है, प्रश्न महत्त्व-

---

[२] नई कविता-परम्परा निरपेक्ष है, परम्परा विरोधिनी नहीं। यदि परम्परा-सम्मत-शैली इसे अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त जान पड़ी तो इसने निःसंकोच ग्रहण किया, नहीं तो वैसे ही छोड़ भी दिया। इसे न परम्परा से वैर है, न प्रेम।
—बालकृष्ण राव (आलोचना अंक १४)

पूर्ण है, उसकी सजीवता और निर्जीवता का। अन्य परम्पराओं के प्रति नई कविता ने चाहे जितनी निरपेक्षता का परिचय दिया हो, सृष्टि के आदिकाल से चली आ रही, पिछली निष्प्राण-परम्पराओं के प्रति विद्रोह की परम्परा का तो इसने खुल कर अनुगमन किया है और इस परम्परा का भी अनुगमन किया है कि प्रत्येक प्रबुद्ध युग में पिछले युग की सारी सजीव और सार्थक परम्पराओं को आत्मसात् कर लिया जाता है। वैदिक ऋचाओं, उपनिषद् के वाक्यों और प्रकृति-पालि के सूत्रों के प्रति मोह, लोकगीतों की जनप्रिय धुनें अपनाने का आग्रह, जीवन्त मुहावरों के लिए ललक आदि को ध्यान में रखने पर नई कविता को परम्परा-च्युत कहना सचमुच बड़े दुस्साहस का काम होगा।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि विदेशों की पुरानी से पुरानी चीज़ को नएपन के नाम पर नए कवि पेश करते रहे हैं। किन्तु दृष्टि की सजगता ऐसा मानने की अनुमति देने से हिचकती है। विदेशों की चीज़ों में जहा हमने सॉनेट, बैलेड, ओड आदि पुराने छन्द-प्रकारों को अपनाया है, वहाँ कजली, ठुमरी, सवैया, छप्पय आदि की भी उपेक्षा नहीं की। नए कवि त्रिलोचन ने सॉनेट लिखने में जिस सजगता का परिचय दिया है, उसी सजगता का परिचय "माली के छोकरे, माली के छोकरे, फूल मुझे ला दे बेले के"—जैसे लोकगीत की धुन पर रचे गए उनके गीतों में मिलता है। फिर यह कैसे माना जाए कि नए कवि विदेशीपन को नवीनता मानते हैं? दरअसल उनके आगे काव्य-परम्परा का महत्त्व रहा—देशी या विदेशी परम्परा का कभी नहीं, कहीं नहीं। मृत-परम्परा चाहे देश की हो या विदेश की और सजीव परम्परा भी चाहे देश की हो चाहे विदेश की नया कवि सभी के लिए एक ही मानदण्ड रखता है।

नई कविता शब्दों में नए सौन्दर्य के अन्वेषण, नवीन अर्थों को ध्वनित करनेवाले प्रतीक विधान, लक्षण-शक्ति के नवीन विकास, संकेतों के माध्यम, अछूते-चित्रों एवं कल्पनाओं के उपयोग, भाषा की नवीन व्यंजना-शक्ति, पदसमूह, अर्थध्वनि, चित्र-संगठन, मूर्तिमत्ता, रूप-संगठन, देशज-भाषा के उपयोग और असमान पंक्तियों के बाहुल्य के कारण काफ़ी आकर्षक साबित हुई है। किन्तु, सब से मुख्य आकर्षण यह है कि नया कवि समग्र मानवीय सहानुभूति और सौन्दर्य-संवेदना को सर्वथा संश्लिष्ट रूप में व्यक्त करता है। यही कारण है कि कहीं से हम चार-छः पंक्तियाँ निकाल दें तो कविता का पूरा ढाँचा ही बिगड़ गया दीखता है। पूरी कविता में व्यर्थ बकवास या अर्थहीन गुनगुनाहट रहने पर भी एक-आध पंक्ति थोड़ी चमत्कारिक हो गई और लोग वाह-वाह कर उठे तो कविता सरस और सफ़ल मान ली गई—वह ज़माना अगर पूरी तरह लद नहीं गया तो लद ज़रूर रहा है। नया कवि अपने पूरे भावलोक और अनुभव-जगत् को समग्रता या संश्लिष्टता में व्यक्त करने का विश्वासी है। नई कविता जब तक सम्पूर्ण पढ़ी नहीं जाए, समग्र गुनी नहीं जाए, उससे किसी प्रभाव की आशा करना असम्भव ही नहीं, उसके प्रति अन्याय भी होगा। पुरानी कविता की तरह नई कविता की कोई पंक्ति या कुछ पंक्तियाँ हमारे मनो-जगत् में क्षण-भर कौंध कर विलीन हो जाएँ यह तो हो नहीं सकता। नई कविता पूरी पढ़ी या सुनी जाने पर जो प्रभाव उत्पन्न करती है, वह स्थाई होता है। वह प्रभाव हमें कुछ सोचने को मजबूर करता है, कुछ प्रश्न उभारता है, कोई समस्या उत्पन्न कर जाता है, या कि किसी भाव-लोक में हमें देर तक डूबने उतराने को छोड़ जाता है। उदाहरण के लिए धर्मवीर भारती की यह कविता लें:

"एक अजनबी को देखा
आँगन में नहाती हुई गौरैया भागी
और झुरमुट में जाकर व्याकुलता से चहकी

मुझको पहचान
आज इतने दिनों बाद देख
थाले की जूही कुछ डोली, उदासी से महकी

सिर्फ़ एक तुम थीं
जो हिलीं नहीं, डुलीं नहीं
जीने पर खड़ी रहीं
यादों में डूबी और ख़यालों में बहकी"

इस पूरी कविता से आंशिक उद्धरण देकर कविता के साथ न्याय कर पाना बेहद मुश्किल काम था, कवि का तथ्य किसी भाँति स्पष्ट नहीं हो पाता और यही कविता का संश्लिष्ट रूप अर्थात् नई कविता है। पुरानी कविता से नई कविता की प्रभाव-प्रणाली की भिन्नता के कारण नए कवि, कवि-सम्मेलनों में प्रायः नहीं जाते हैं

१९५७

और जाते भी हैं तो उनकी अपेक्षित प्रशंसा नहीं हो पाती, क्योंकि वहाँ कविता को समग्र रूप में सुनने और सुनने का धैर्य श्रोताओं के पास नहीं देखा जाता है।

नया कवि कम-से-कम शब्दों में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संकेतों द्वारा भावाभिव्यंजन करता है। वह निरलंकारता और सहजता की ओर अग्रसर होता जा रहा है। वह भाषा में ही ऐसी अपूर्व व्यंजनाशक्ति भर देने की चेष्टा में है, वह उसमें ऐसी योग्यता उत्पन्न करना चाहता है कि व्यापक साधारणीकरण और कलात्मक आधार पर वैज्ञानिक-संक्षेप (Precision) की समस्या का संतोषजनक निदान ढूँढ़ा जा सके।[3] ज्ञान-विज्ञान और बोलियों से तथा ललित-कलाओं से शब्द-ग्रहण करके उनमें नादचित्र और चमत्कार भरने का प्रयत्न हो रहा है। छन्दों में गद्य की भंगिमा और अन्विति के बावजूद लयात्मकता का निर्वाह किया जा रहा है। आज की कविदशा को पुराने छन्दों में पिरोने में कवि अपने को अक्षम पा रहा है, क्योंकि वे स्वयं अक्षम हैं। नए प्रतीकों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और विशेषणों की खोज अविराम चल रही है और जहाँ ये सारे तत्त्व अपर्याप्त सिद्ध होते हैं, वहाँ नया कवि पूर्ण आत्मा प्रकटीकरण के लिए विराम-चिन्हों का सहारा लेता है। नई कविता के इस ऊपरी रूप को देख कर कुछ लोगों ने इसकी शिल्पगत क्रान्ति होने का फ़तवा दे दिया और जिस किसी भी कविता में एक-आध नवीन उपमान दिखाई दे गया भी, किसी अपरिचित प्रतीक-योजना की झलक मिली, वह सहज ही नई कविता मान ली गई, किन्तु अब यह बात सबके सामने उजागर हो गई है कि नई कविता आधुनिक काव्य के शिल्पगत परिवर्तन का पर्याय नहीं है और "समकालीन यथार्थता की खोज और उस यथार्थता की अपनी अनुभूति को साधारणीकरण की कोशिश में, जिस कवि में वह घूम रहा है, शिल्प उसका केवल एक आयास है और उसकी यात्रा का चित्र खींचने के लिए एक बड़े नक़्शे की आवश्यकता है।" (अज्ञेय, युगचेतना, फ़रवरी '५७)

नई कविता में बोलचाल के लहजे का प्रवेश, गद्यमयता, बौद्धिक प्रतीक-विधान आदि प्रवृत्तियाँ आधुनिक मानस के साथ नई कविता के अधिकाधिक सम्पृक्त होने की सूचना देती है, ऐसा नहीं है कि नया कवि कविता को नई बनाने के लिए इन स्थितियों को ऊपर से थोप कर यशस्वी बनना चाहता है। नई कविता ऊपर-ऊपर जो कुछ दीखती है, वही सब कुछ नहीं है, उसका वास्तविक नयापन उसका अन्तरंग ही है।

हमारे साहित्य में नई कविता का सूत्रपात कैसे और कब हुआ, इसके प्रवर्त्तक कब, कौन हुए, नेतृत्व किनके हाथों रहा है और है आदि बहुत-सारी बातों ने लोगों को उलझन में डाल रखा है। किन्तु नई कविता काल और सीमाओं के चौखटे में बिलकुल ठीक बैठ जाए, यह असम्भव है और साथ ही निष्प्रयोजन भी। द्वितीय महायुद्ध के बाद कवि-कर्म की सनातन रूढ़ियाँ टूटने लगी थीं और कविता में तथ्य-कथन, अलंकृति में सादगी, छन्दों की गद्यात्मक भंगिमा, निखार आदि का सन्निवेश होने लगा था। जिन्हें हम नई कविता के अग्रणी मानते हैं, उनमें अधिकतर पूरे गतिरोध के साथ उसी ज़माने से लिखते आ रहे हैं और जिन्हें नया कवि नहीं माना जाता, उन्होंने भी उन प्रवृत्तियों के विकास में पूरी सहायता पहुँचाई, जिनके कारण नई कविता का नयापन बरक़रार है। कहना चाहिए, तत्कालीन कवि-समूह सामाजिक चेतना और यथार्थ की दृष्टि से अभिभूत हो गया। किसी एक व्यक्ति को नई कविता का दीक्षा-गुरु होने का सुयोग या दुर्योग प्राप्त नहीं हुआ। पूर्ववर्ती होने के कारण निराला और पन्त ने (विशेषतः निराला ने) नई कविता को प्रभावित किया है। स्वयं निराला की रचनाओं में नई कविता में प्राप्य तत्त्व शुरू से ही प्रचुर परिमाण में विद्यमान रहे हैं।

'४३ में 'तार-सप्तक' का प्रकाशन हुआ तो नए कवियों का सामूहिक प्रयत्न सामने आया और उनकी कविदशा तथा शिल्प-विधान का थोड़ा अन्दाज़ लोगों को मिला, लेकिन उस ज़माने में भी कुछ ऐसे कवि थे जो 'तार-सप्तक' में सम्मिलित नहीं हुए या नहीं किए गए, पर जिनका अवदान नवीन काव्य-साहित्य को, महत्त्व की दृष्टि से उक्त संकलन के कवियों की तुलना में हीन नहीं माना जाना चाहिए। 'दूसरा सप्तक' के साथ भी यही

---

३. विष्णुस्वरूप (युग-चेतना, जुलाई-अगस्त '५६)

बात लागू है। इसमें संग्रहीत कवियों के अन्य समकालीन भी जो चाहे किसी भी कारण से उक्त संग्रह में मौजूद नहीं रहे, इस क्षेत्र में काम करते रहे। इसलिए यह कहना एक बड़े झूठ को प्रश्रय देना है कि नई कविता सप्तकों में संकलित कवियों या प्रतीक आदि पत्रों में लिखने वालों की चीज है। कुछ लेबिलबाज़ कवियों ने अपने को अपने मित्रों को और अपने गुट को ही उदाहरण मान कर नई कविता की संकीर्ण परिभाषाएँ गढ़ ली हैं और ये परिभाषाएँ नई कविता के मूल्यांकन के मार्ग में काँटों-सी बिछ गई हैं। इनमें अधिकतर वे लोग हैं, जिन्होंने अन्य साहित्यिक क्षेत्रों में मिली असफलता के बाद कविता के अखाड़े में अपने बाजुओं को आजमाना शुरू किया है। 'यस्य क्वापि गतिर्नास्ति तस्य वाराणसी गतिः' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है और नई कविता को वाराणसी बना देने वालों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। ऐसे लोगों की सुरक्षा का कवच है मनोविज्ञान। मनोविज्ञान की किसी पाठ्य-पुस्तक से कोई मँजा-मंजाया प्रतीक निकाल लिया और उसी पर गद्य की आकृति में नहीं लिख कर टेढ़ी-मेढ़ी दस-पाँच कविता-सी पंक्तियाँ लिख मारीं। पहले के कवि दार्शनिक प्रतीकों की आड़ में अपनी कमज़ोरी छिपाते थे और आज के कुछ कवि वही काम मनोविज्ञान से ले रहे हैं। खेद की बात है कि नई कविता के विकास में ऐसे ही पाँचवें स्वरों की साधना (?) का योगदान स्वीकार किया जा रहा है। जिन कवियों ने इसकी शोभाश्री को निखारा, सैद्धान्तिक विरोध और उनकी गुट-विमुखता के कारण उन्हें भुलाने की कोशिशें हो रही हैं। लेकिन इन तमाम कोशिशों के बावजूद नई कविता को किसी खास खेमें की कविता नहीं बनाया जा सकता। वह इस युग के सभी प्रबुद्ध कवियों की साधना का दूसरा नाम है। 'निकष'[१] के सम्पादकीय में ठीक ही कहा गया है : "नवलेखन वह नहीं है कि जो कुछ भी नया लेखक लिख दे, या जो भी नई कृति पुराना लेखक दे, बल्कि वह कृति जो चाहे नए लेखक की हो, चाहे पुराने लेखक की, जिसमें नए मूल्यों की चेतना है, यथार्थ का नया स्तर है, नया सौन्दर्य-बोध है और इसमें पाएँगे कि कई जागरूक और जीवन्त पुराने लेखक हिन्दी के नवलेखन को समृद्ध सशक्त और गौरवशाली बना रहे हैं।"

शोकहरा, पो० बरौनी,
जि० मुंगेर, (बिहार)

—हरिनारायण मिश्र

संगीत

मैं संगीत को लिखता हूँ; क्योंकि संगीत के द्वारा ही मैं अपने विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त कर सकता हूँ। मैं संगीत के माध्यम के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करना चाहता हूँ।

संगीत मुझे बहुत प्रिय है; क्योंकि यह अमूर्त होता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसका सम्बन्ध किसी कहानी, घटना या विषय से हो।

मेरे लिए सबसे अधिक मूल्यवान् विचार वे होते हैं, जिन्हें कि शब्दों के बिना अभिव्यक्त किया जाता है।

—मैकलम आरनोल्ड के
एक लेख से

---

[१] प्रथम अंक

कुमारिल-दर्शन में अभाव

२

आचार्य कुमारिल के अभाव-विषयक मत के विरुद्ध कुछ लोगों ने आपत्तियाँ उठाईं, जिनका उत्तर देना आवश्यक था; कुमारिल के अनुयायियों ने यही किया और कुमारिल के मत में परिवर्तन-परिवर्धन करके उसका समुचित विकास किया। इनमें 'श्लोकवार्त्तिक' के टीकाकार सुचरित मिश्र और पार्थसारथी ने अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ 'शास्त्रदीपिका' में अभाव के ऊपर सांगोपांग विचार किया है। प्रस्तुत लेख उसी के ऊपर मुख्यतया आधारित है।[1]

यह पूर्व लेख में कहा जा चुका है कि आचार्य प्रभाकर अभाव को अवस्तु मानते हैं और अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। किन्तु इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि हमको 'भूमि पर घट नहीं है' इस प्रकार का अनुभव होता है। यदि अभाव अवस्तु है, तो ऐसे अनुभव की क्या व्याख्या होगी? शब्दान्तर में ऐसे ज्ञान का आलम्बन क्या है? यदि भूमि पर घटाभाव ज्ञान का आलम्बन भूमि को कहा जाए, तो घट के होने पर भी ऐसा ज्ञान होना चाहिये। अर्थात, घट के होने पर भी 'घट नहीं है' ऐसा कथन आपत्तिजनक नहीं होना चाहिए। क्योंकि भूमि तो, जो इस कथन का आलम्बन है, है ही। पुनः हमको 'गाय घोड़ा नहीं है', 'रंग स्वाद नहीं है', इत्यादि अनुभव भी होते हैं। इनका आलम्बन क्या है? जब हमें गाय में अश्वत्व के अभाव का अनुभव होता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आलम्बन गाय है। क्योंकि गाय के अनुभव में अश्व की ओर संकेत नहीं होता, जब कि प्रस्तुत अनुभव में अश्व की ओर संकेत है। यदि गाय में जो अश्व-भेद समवेत है, उसे इस अनुभव का आलम्बन माना जाए, तो यह पूछा जा सकता है कि यह अश्व-भेद क्या वस्तु है? यदि यह भेद अन्योन्याभाव अर्थात् गाय में अश्वत्व का अभाव और अश्व में गोत्व का अभाव ही है, तो अभाव अवस्तु नहीं है। यदि भेद पृथक्त्व नामक एक विशेष गुणमात्र है, तो चूँकि गुण द्रव्य में ही समवेत होता है, गुणान्तर में नहीं, अतः गुणभेद के अनुभव यथा: 'रंगस्वाद नहीं है', की व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रकार के मत का खण्डन हो जाता है।

प्रभाकर का मत है कि 'भूमि पर घट नहीं है' इस प्रकार के शब्द-व्यवहार का कारण भूतल-मात्र का दर्शन है। लेकिन, यदि यह ठीक है, तो जब भूमि पर पट हो तब ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस दशा में भूतल-मात्र का दर्शन नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि भूतल-मात्र से तात्पर्य घटविहीन-भूतल का है, तो पूछा जा सकता है कि भूतल के घटविहीन होने से क्या मतलब है, यदि इसका मतलब घटसंयोगाभाव है तो अभाव को वस्तु स्वीकार करना होगा। वास्तव में, भूतल-मात्र अर्थात् एकाकी भूतल का ज्ञान तभी होता है जब घट और उसके अभाव का ज्ञान नहीं होता। दूसरे शब्दों में एकाकी भूतल-ज्ञान का अर्थ है भूतल—ज्ञान ऋण घटज्ञान और घटाभाव-ज्ञान। अतः यदि एकाकी भूतल-ज्ञान को तथाकथित शब्द-व्यवहार का कारण माना जाय तो एकाकित्वोपलब्धि में गर्भित अनुपलब्धि (घटाभावज्ञान) को भी स्वीकार करना पड़ेगा।

अपने मत की रक्षा में प्रभाकर पुनः कहते हैं कि इस व्यवहार का कारण है, घट के अन्यत्र वर्तमान होने पर भूतल की उपलब्धि। लेकिन, यदि यह व्याख्या ठीक है तो गोत्व का जो कि एक काली गाय में वर्तमान है, श्वेत गाय में अनुभव नहीं होना चाहिए। अतः तथाकथित व्यवहार का कारण घट का अन्यत्र भाव नहीं हो सकता। वस्तुस्थिति तो यह है कि घट के अन्यत्र भाव का ज्ञान तभी होता है जब भूमि पर उसके अभाव का पहले ज्ञान हो जाता है।

प्रभाकर अपने मत की रक्षा के लिए अन्तिम

---

[1] शास्त्रदीपिका पृष्ठ ८३-८७

प्रयास करते हुए कहते हैं कि इस व्यवहार का कारण भूतल का प्रत्यक्ष ज्ञान और घट की स्मृति है। लेकिन इस नई व्याख्या में कठिनाई यह है कि घट को कुछ दूरी पर देखते हुए भी हम यह कहते हैं कि यहाँ पर घट नहीं है तथा घट के लाए जाने पर भी हम यह कहते हैं कि 'यहाँ पर घट नहीं था।'

अभाव की वस्तुत्व-सिद्धि के पश्चात् दूसरा मुख्य प्रश्न अभाव-ज्ञान के करण, अनुपलब्धि, का है। कुमारिल के अनुयायियों ने कुमारिल के अनुपलब्धि-विषयक मत में तीन बातों पर विस्तार के साथ विचार किया। उन्होंने बताया कि (१) अनुपलब्धि सत्ता-मात्र से अभाव का ज्ञान कराती है; (२) लेकिन, साथ ही वस्तु की प्रत्यक्ष-योग्यता का भी ज्ञान होना चाहिए; और (३) अनुपलब्धि में स्मरणाभाव भी शामिल है।

(१) योग्यानुपलब्धि अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य-वस्तु की अनुपलब्धि अभाव-ज्ञान का साधन है। इस साधन में दो तत्त्व हैं: उपलब्धि का अभाव तथा अभाव के प्रतियोगी की उपलब्धि की योग्यता। अभाव-ज्ञान में इनमें से पहले तत्त्व को ज्ञात होने की आवश्यकता नहीं होती। यही अनुपलब्धि और अनुमान में अन्तर है। अनुमान में ज्ञान का आधार लिंग और व्याप्ति होते हैं और अनुमेय के ज्ञान से पहिले इन दोनों का ज्ञान आवश्यक है। धुवाँ अग्नि का ज्ञान अपनी सत्ता मात्र से नहीं कराता, बल्कि ज्ञाता के ज्ञान का विषय बन कर। इसके विपरीत, घट की अनुपलब्धि घटाभाव का ज्ञान अपनी सत्ता मात्र से कराती है। घटाभाव के ज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हमें घटानुपलब्धि का भी ज्ञान हो, क्योंकि उस दशा में तो अनवस्था-दोष हो जाएगा, जैसा कि पहले लेख में बताया जा चुका है।

(२) लेकिन इसके विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि कभी-कभी अनुपलब्धि होने पर भी अभाव का ज्ञान नहीं होता और कभी-कभी अनुपलब्धि के न होने पर भी अभाव का ज्ञान हो जाता है: एक आदमी अँधेरे में अँगूठी के खो जाने पर सारे अँधेरे कमरे को हाथ से टटोलता है और इस प्रकार उसे योग्यानुपलब्धि होती है। लेकिन, यदि उसे पूरे कमरे को टटोलने का विश्वास नहीं है, तो उसे अंगूठी के वहाँ न होने का ज्ञान नहीं होता। अब कल्पना कीजिए कि एक दूसरे आदमी के सामने भी पहले की जैसी समस्या है। वह भी कमरे को टटोलता है; किन्तु, समूचे को नहीं। फिर भी, चूँकि उसे विश्वास है कि उसने पूरा कमरा टटोला है, अतः उसे अंगूठी के अभाव का ज्ञान हो जाता है। यहाँ योग्यानुपलब्धि के न होने पर भी अभाव-ज्ञान है।

यह आपत्ति ठीक नहीं है। उपर्युक्त उदाहरण में अनुपलब्धि के होने पर अभाव-ज्ञान का न होना और अनुपलब्धि के न होने पर होना, योग्यता के अज्ञान के कारण हैं। अनुपलब्धि से अभाव का ज्ञान सही तभी होता है, जब योग्यता का ज्ञान हो; योग्यता की सत्ता-मात्र पर्याप्त नहीं है। इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि जिन दशाओं में किसी वस्तु का, यदि वह वर्तमान है, प्रत्यक्षीकरण होता है, वे सब मौजूद हैं। दूसरे शब्दों में अनुपलब्धि से अभाव-ज्ञान यथार्थ रूप से होने के लिये योग्यता का ज्ञान आवश्यक है। यदि योग्यता का ज्ञान आवश्यक है और यदि वह ज्ञान नहीं है, तो अभाव के होने पर भी उसका निश्चय नहीं होगा अथवा अभाव के होने पर भी उसका मिथ्या निश्चय होगा। निष्कर्ष यह हुआ कि अभाव--ज्ञान के प्रामाण्य के लिए अनुपलब्धि की सत्ता होनी चाहिए और योग्यता का ज्ञान होना चाहिए।

प्रभाकर के अनुयायी शालिकनाथ ने यह युक्ति पेश की है कि सत्ता-मात्र से अनुपलब्धि अभाव का ज्ञान नहीं करा सकती, क्योंकि प्रगाढ़ निद्रा में अनुपलब्धि के होने पर भी अभाव-ज्ञान नहीं होता लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं है। अभाव सदैव किसी देह में होता है जो भावरूप है। निद्रा में किसी भी रूप का ज्ञान ही नहीं होता। अतः जब किसी देह का ही ज्ञान नहीं है, तो अभाव का ज्ञान कहाँ पर होगा? पुनः प्रगाढ़ निद्रा में पड़े हुए व्यक्ति को अभाव का ज्ञान नहीं होता, इसलिए नहीं कि उसे उस समय अपनी अनुपलब्धि का ज्ञान नहीं होता, बल्कि इसलिए कि उसे योग्यता का ज्ञान नहीं होता अर्थात् उस समय उसमें किसी वस्तु की उपलब्धि-योग्यता को जानने की सामर्थ्य नहीं होती। शालिकनाथ अपनी युक्ति के पक्ष में एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं: एक व्यक्ति को भूमि पर घटाभाव का ज्ञान नहीं है किन्तु जैसे ही दूसरा व्यक्ति घट को उसके सामने ला कर रखता है, वैसे ही उसे यह ज्ञान हो जाता है कि घट पहले वहाँ नहीं था। इस उदाहरण

१६५७

में घट के लाए जाने के पूर्व अनुपलब्धि की सत्ता थी, किन्तु घटाभाव का ज्ञान नहीं था। यहाँ पर बाद में जो घटाभाव का ज्ञान हुआ, उसके प्रमाण को कुमारिल के अनुयायी योग्यास्मरण कहते हैं।[२]

(३) उपलब्धि के अभाव से अभाव का ज्ञान तो होता ही है, लेकिन स्मरण-योग्य वस्तु का स्मरण न होने पर भी अभाव का ज्ञान होता है। यदि घट रहता तो, उसका स्मरण होना चाहिए; लेकिन स्मरण होता नहीं है; अतः घट का अभाव था। योग्य-स्मरणाभाव भी इस प्रकार अभाव का प्रमाण है और मूलतः यह अनुपलब्धि ही है। उपलब्धि अर्थात् प्रारम्भिक अनुभव स्मृति का कारण होती है। इसी प्रकार अनुपलब्धि अस्मरण का कारण है। कार्य-कारण का ही रूपान्तर, होता है। अतः अस्मरण अनुपलब्धि का ही रूपान्तर है।

अब देखना चाहिए कि कुमारिल के अनुयायी भूतकालीन अभाव के ज्ञान की क्या व्याख्या देते हैं? जब घट के अतीत अभाव का ज्ञान, वर्तमान में होता है, तब योग्यता नहीं होती अर्थात् घट का भूतकाल से सम्बन्ध वर्तमान में प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता। अतः घट के पूर्वाभाव का ज्ञान वर्तमान अनुपलब्धि का फल नहीं हो सकता। यह ज्ञान पूर्व-ज्ञान का स्मरण भी नहीं है, क्योंकि जिस समय घट का अभाव था उस समय उसका ज्ञान नहीं हुआ और जिसका पहले ज्ञान नहीं हुआ, उसका अब स्मरण भी नहीं हो सकता। अतीत अभाव का ज्ञान, वस्तुतः स्मरण-योग्य के अस्मरण से होता है। यदि वर्तमान घट जो सामने दीखता है, कल भी इस स्थान पर होता तो जैसे इस स्थान की उपलब्धि हो रही है, वैसे ही घट की भी उपलब्धि होती और यदि उपलब्धि हुई होती तो इस समय उसका स्मरण भी होता। लेकिन, चूँकि स्मरण नहीं हो रहा है; अतः कल घट का इस स्थान पर अभाव था।

न्यायमञ्जरीकार जयन्त, भूतकालीन अभाव के ज्ञान को स्मृति ठहराता है। उसका मत है कि भूतकाल में अभाव का ग्रहण सामान्यतः 'मेचकबुध्या'—होता है, लेकिन वर्तमान में जो स्मरण होता है, वह विशिष्ट होता है। अर्थात्, जयन्त के अनुसार भूतकाल में भूमि को, जिन वस्तुओं का वहाँ भाव था, उनसे भिन्न सभी वस्तुओं से शून्य देखा गया था और अब यह स्मरण होता है कि वहाँ घट का अभाव था। लेकिन, इस मत में कठिनाई यह है कि साधारण अनुभव की विशिष्ट स्मृति कैसे हो सकती है? स्मृति का कारण प्राचीन अनुभव के संस्कार का पुनरुज्जीवित होना है। संस्कार अनुभव के तुल्य होता है और स्मृति संस्कार के तुल्य। अतः प्राचीन अनुभव के साधारण या विशिष्ट होने पर स्मृति भी साधारण या विशिष्ट ही होगी। साधारण अनुभव अस्पष्ट और अनिश्चित होता है तो उससे स्पष्ट और निश्चित स्मृति का जन्म कैसे हो सकता है? कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्राचीन अनुभव के निश्चित होने पर भी काल-क्षेप के कारण संस्कार निर्बल हो जाता है और फलतः स्मृति अनिश्चित होती है। इस प्रकार विशिष्ट अथवा निश्चित अनुभव अनिश्चित स्मृति को उत्पन्न कर सकता है, किन्तु अनिश्चित अथवा साधारण अनुभव कदापि विशिष्ट अथवा निश्चित स्मृति को उत्पन्न नहीं कर सकता।[३]

अनुपलब्धि प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण है। नैयायिक अनुपलब्धि और प्रत्यक्ष का अभेद इस आधार पर बतलाते हैं कि भूमि पर घर का अभाव आँख खोल कर देखने पर ही ज्ञात होता है, आँख बन्द करके नहीं। कुमारिल के अनुयायी इस बात को मानते हैं; किन्तु, यह नहीं मानते कि घटाभाव का आँख से ही प्रत्यक्षीकरण होता है। वे कहते हैं कि चक्षु-व्यापार भूमि के ज्ञान तक ही सीमित है, घटाभाव के ज्ञान के लिए चक्षु-व्यापार असमर्थ है। पुनः, यह कहा जा चुका है कि अनुपलब्धि-मात्र से अभाव का ज्ञान नहीं होता, बल्कि प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु की अनुपलब्धि से। कोई वस्तु प्रत्यक्ष-योग्य तभी होती है, जब उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान के लिए आवश्यक सभी व्यक्तिगत और बाह्य कारण, यथा-प्रकाश, चक्षु इत्यादि मौजूद हों और केवल वस्तु मौजूद न हो। घटाभाव-ज्ञान के समय आँखों को खुला रखने का उद्देश्य केवल घट की प्रत्यक्ष-योग्यता का निश्चय करना है और इस प्रकार घट की प्रत्यक्षगम्यता की एक शर्त पूरी होती है।

---

[२] श्लोकवार्तिक, अभाव १ पर काशिका-टीका।

[३] श्लोकवार्तिक, अभाव २८ पर काशिका-टीका।

आँखों को खुला रखने का सम्बन्ध अभाव के ज्ञान से नहीं है, बल्कि घट की प्रत्याशित उपस्थिति से है ।

जयन्त ने कहा है कि एक ज्ञान के तत्त्वों का एक ही प्रमाण से ग्रहण होना चाहिए, और चूँकि 'भूमि पर घट नहीं है' इस ज्ञान के भूमि-तत्त्व का ग्रहण आँख से होता है, अतः घटाभाव का ग्रहण भी आँख से ही होना चाहिए । लेकिन यह कथन मिथ्या है । 'यह वही व्यक्ति है जिसे मैंने कल देखा था' इस ज्ञान में 'यह' तत्व प्रत्यक्ष से जाना जाता है, लेकिन 'वह व्यक्ति जिसे मैंने कल देखा था' स्मृति से जाना जाता है । यह ज्ञान एक है, तथापि इसका एक तत्व प्रत्यक्ष-गम्य है, और दूसरा स्मृति-गम्य । अतः यह कहना नितान्त तर्कसंगत है कि 'भूमि पर घट नहीं है' इस ज्ञान का भूमि-तत्व प्रत्यक्ष गम्य है तथा घटाभाव-तत्व अनुपलब्धि-गम्य ।

जयन्त ने पुनः कहा है कि घटाभाव विशेषण है और भूमि विशेष्य तथा विशेष्य का प्रत्यक्ष, विशेषण के प्रत्यक्ष के बिना असम्भव है; यह कथन भी मिथ्या है । भूमि और घटाभाव में विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, क्योंकि इस सम्बन्ध का आधार सदैव संयोग, समवाय या कोई अन्य सम्बन्ध होता है । लेकिन संयोग दो भावों में ही हो सकता है, और घटाभाव का भूमि से समवाय होने पर तो भूमि का भी अभाव हो जाएगा । भूमि और घटाभाव में कोई अन्य सम्बन्ध भी नहीं है, जिससे दोनों क्रमशः विशेष और विशेषण बन सकें । यदि यह मान भी लिया जाए कि दोनों में विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध है कि विशेष्य के प्रत्यक्ष के लिए विशेषण का प्रत्यक्ष हो । आवश्यक केवल इतना ही है कि विशेष्य के ज्ञान के लिए विशेषण का ज्ञान होना चाहिए । जब हम यह कहते हैं कि 'यह डित्थ है' तो हमारा मतलब यह होता है कि 'डित्थ' नाम के, जिस व्यक्ति का प्रत्यक्ष हो रहा है, उसका विशेषण है और 'यह डित्थ है' ऐसा ज्ञान होने के लिए 'यह' विशेष्य और 'डित्थ' विशेषण का ज्ञान आवश्यक है । लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि 'यह' और 'डित्थ' दोनों का ज्ञान एक ही प्रमाण से हो, क्योंकि 'यह' का ज्ञान तो स्पष्टतः प्रत्यक्ष से होता है, जब कि 'डित्थ' का ज्ञान स्मृति से । नैयायिकों का मत है कि अभाव का प्रत्यक्ष संयुक्त–विशेषणता नामक सन्निकर्ष से होता है । लेकिन अवस्तु को नाम दे देने-मात्र से वह वस्तु नहीं हो जाता । यदि 'संयुक्त विशेषणता' एक वास्तविक सन्निकर्ष है तो 'अग्नि उष्ण है', 'शब्द विपुल है' इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञानों की व्याख्या के लिए न्याय में 'संयुक्त-समन्वय', 'समवेत-समवाय' इत्यादि जो अन्य सन्निकर्ष माने गये हैं, वे व्यर्थ हैं, क्योंकि उष्णत्व अग्नि का और विपुलता शब्द का विशेषण है ।[४]

बौद्धों का मत भी तर्कहीन है । बौद्ध कहते हैं कि 'यहाँ घट नहीं है' इस प्रकार के शब्द-व्यवहार का अर्थ घट का न दिखाई देना है अर्थात् 'घट नहीं है' और घट नहीं दिखाई देता है' ये दोनों वाक्य अभिन्न हैं । लेकिन घटाभाव बाह्य चीज़ है, जब कि प्रत्यक्षाभाव आन्तरिक । बाह्य चीज़ और आन्तरिक चीज़ अभिन्न कैसे हो सकती है ? 'घट है' और 'घट दिखाई देता है' दोनों एक ही चीज़ नहीं हैं । इसी प्रकार 'घट नहीं है' और 'घट नहीं दिखाई दे रहा है' दोनों एक ही चीजें नहीं हो सकतीं । वस्तु का अभाव और उसके प्रत्यक्ष का अभाव भिन्न है, क्योंकि प्रत्यक्ष का अभाव होने पर भी कभी-कभी वस्तु का अभाव नहीं होता । बौद्ध कहते हैं कि अनुपलब्धि से अभाव का अनुमान होता है और पहले दिखाए हुए अनवस्था-दोष से बचने के लिए वे अनुपलब्धि को स्वयं-प्रकाश मानते हैं । लेकिन कोई भी ज्ञान स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकता; अतः अनवस्था-दोष अभाव को अनुमेय मानने पर रहेगा ही । यदि ज्ञान स्वयं-प्रकाश हो भी, तो भी अनुपलब्धि स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कोई आकार नहीं हो सकता । बौद्ध यह मानते हैं कि 'यह नीला है' यह ज्ञान स्वयं-प्रकाश इस अर्थ में है कि यह स्वयं अपने आकार 'नीला' को ग्रहण करता है । किन्तु 'यहाँ पर घट नहीं है' इस ज्ञान का तो कोई आकार ही नहीं है क्योंकि 'घटाभाव' बौद्ध-मत के अवस्तु है । तो फिर जब इस ज्ञान का कोई आकार नहीं है तो यह अपना ग्रहण करेगा कैसे ? बौद्ध कहते हैं कि घट की अनुपलब्धि घटाभाव के अनुमान का लिंग है और साथ ही यह भी कहते हैं की अनुपलब्धि भूतल की अनुपलब्धि-मात्र है तथा घट का अभाव भूतल का भाव-मात्र है ।

---

[४] श्लोकवार्त्तिक, अभाव १८ पर काशिका तथा मानमेयोदय पृ० १३२-१३४

१९५७

इसका अर्थ यह हुआ कि भूतल का प्रत्यक्ष, भूतल-ज्ञान रह जाता है। अतः अभाव अनुमानगम्य नहीं है, ऐसा का लिंग है। लेकिन फिर तो प्रत्यक्ष एक स्वतन्त्र प्रमाण माननां ही पड़ेगा।[५] रह ही नहीं जाता, बल्कि अनुमान ही एकमात्र प्रमाण

३।१ करेलाबाग कोलोनी,
इलाहाबाद

—डा० गोवर्धन भट्ट

तेलुगु और हिन्दी की कहावतें

अड्गुलोने हंसपादु
सिर मुड़ाते ही ओले पड़े

गुड्डिलो मेल्ल
अन्धों में काणा राजा

तन चावु जगत्प्रलयम्
आप मरे जग प्रलय

नोरु मंचिदैते ऊरु मंचिदे
आप भला तो जग भला

कोंडनालुककु मंदु वेस्ते उन्न नालुक ऊडिनट्लु
आधी छोड़ सारी को धावे
आधी रहे न सारी पावे

उन्नदि ओक्क कूतुरु ऊरेल्ल मगलु
एक अनार सौ बीमार

परिग एरिन पातर निंडुना !
ओस से प्यास नहीं बुझती

आडलेक मद्देल वोडु
नाच न जाने आंगन टेढ़ा

चिन्त चच्चिना पुलुसु चावलेदु
रस्सी जल गई पर ऐंठ न गई

हैदराबाद
काकिनाडा

—वी. वी. कुटुम्बराव
—वी. वी. सुब्बाराव

---

[५] श्लोकवार्तिक, अभाव ८ तथा ३८ पर काशिका-टीका

पुनर्जागृति-काल के चित्रकार

अभी पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही था कि पुनर्जागृति की एक ऐसी लहर उठी, जिसने समस्त यूरोप को मध्यकाल के लुटते वैभव से निकाल कर वर्तमान युग के राज-पथ पर ला खड़ा किया। विशाल महाद्वीप ने मानो आँखे खोलीं। इस पुनर्जागृति को, पुरातन कला और ज्ञान का पुनर्जन्म भी कहा जाता है, जिसने ज्ञान और संस्कृति के संसार में क्रान्ति उपस्थित कर दी। विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, भूगोल, राजनीति, शिक्षा, दर्शन, धर्म, कविता, संगीत, कला इत्यादि का इस काल में आश्चर्य-जनक विकास हुआ।

इस सामूहिक विकास के कारण कुछ टूटे हुए ग्रीक-पंडित थे। १४५३ ईसवी में तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया की विजय की। असंख्य यूनानी विद्वानों ने अपनी अपार ज्ञानराशि लिए भाग कर इटली में शरण ली और यूरोप में नए ज्ञान की एक लहर-सी दौड़ गई। सन् १४४० में छपाई के नए आविष्कार ने शिक्षा को मठों के संकुचित दायरे से निकाल कर जन साधारण की सम्पत्ति बना दिया और यूनानी विद्वानों का ज्ञान देश-देश में पहुँचा दिया। विज्ञान के नए अनुसंधानों ने सौर-मण्डल की सत्ता जमीन पर उतार ली, नए समुद्री रास्तों की खोज ने अमरीका की नई दुनिया खोज निकाली, नए उपनिवेशों की स्थापना हुई, संसार के व्यापार में आशातीत वृद्धि हुई। मनुष्य का दृष्टिकोण ही बदल गया...मानव की सत्ता और उसके महत्त्व पर अधिक जोर दिया जाने लगा। विचारों की स्वतन्त्रता आकाश चूम चली, प्रत्येक वस्तु के प्रति अपार कुतूहल जन्मा, अक्षय जिज्ञासा जगी।

पुनर्जागृति-काल की चित्रकला में एक नए जीवन का संचार हुआ, नए रंगों से वह सजी, नए प्रतिमानों, नए अभिप्रायों से वह मुखरित हुई। नवीन विचारधाराओं और यूनानी विद्वानों के सम्पर्क से चित्रकारों को नए कथानक मिले। मानव की महत्ता के कारण चित्रकारों ने मनुष्य-शरीर को और दृश्य-जगत् को, जिसमें वह रहता है, समझने और चित्रों में अंकन करने का अधिकाधिक प्रयत्न किया और उसमें वह सफल भी हुए। एक-से-एक कलावन्त अपनी प्रतिभा के आलोक में वर्ण और रेखाओं से फलक पर तूलिका से उल्लास तरंगित करते गए, निषिकाम्य आकर्षक काया सिरजते गए, छेनी से मांसल ममता की मूरतें कोरते गए, दर्शकों पर मोहिनी डालते गए...माइकल एन्जेलो, लियोनार्दो दा विन्ची, बोतिचेली, तितियन, राफेल सभी।

इटली का इस काल का सर्वश्रेष्ठ कलाकार माइकल एन्जेलो था। उसका जन्म फ़्लोरेन्स के केप्रेस नामक स्थान में एक सभ्य घराने में हुआ था। (सन् १४७५) उसकी धात्री एक पाषाण शिल्पी की स्त्री थी। सो आरम्भ से ही पत्थर, छेनी और हथोड़ा इस प्रतिभाशाली बालक के खिलौने बनें। उसकी प्रारंभिक शिक्षा एक लेटिन स्कूल में हुई और शीघ्र ही उसने घिरलान्दाइयों के निरीक्षण में एक चित्रकला की दूकान पर कार्य सीखना आरंभ किया। यहीं पर लोरेंजों दा विन्ची का ध्यान इस प्रतिभाशाली युवक की ओर आकर्षित हुआ और कुछ समय तक यह मोहिनी परिवार का सम्मानित अतिथि बन कर रहा। वहीं वह अनेक उदीयमान प्रतिभावना लेखकों, दार्शनिकों और विचारकों के सम्पर्क में आया, जिनके विचारों ने अन्त तक उसकी कला को प्रभावित किया। अपने जीवन में उसे लुगिया दे विंची और वित्तोरिया कोलोना नामक दो स्त्रियों की अमर प्रेरणा प्राप्त हुई।

माइकल एन्जेलो का ध्यान आते ही एक सबल, गम्भीर, कठोर, दृढ़ बुद्धि, निरंकुश और सत्यवाक्-पुरुष का स्वरूप हमारे नयनों के सम्मुख झूम जाता है। इटली की पुनर्जागृति काल की चरम अभिव्यक्ति का प्रतीक वह अपने समय का सर्वश्रेष्ठ कलाकार था। वह ऊँची श्रेणी का शिल्पी, चित्रकार, कवि और वास्तु-कला का पंडित था। यही कारण है कि उसके चित्रों में वास्तु-कला का बल और गुरुता, शिल्प-कला का सौन्दर्य और कविता की तरंग एक साथ ही प्रस्फुटित हुई है। उसकी कला के सर्वश्रेष्ठ नमूने 'पवित्र परिवार', 'नौआ की कहानी', 'सृष्टि की उत्पत्ति' नाम की कृतियाँ हैं।

१६५७

रोम के सिस्तीन गिरजे के भित्ति-चित्र भी बड़े भव्य, भावोत्पादक और लोमहर्षक बन पड़े हैं। उसकी कला का विशेष उल्लेखनीय गुण है—कलाकार का मानव-शरीर के प्रति प्रबल आकर्षक, उत्कट मानवीय सहानुभूति और उसका अभिराम निरूपण। इस दिशा में कोई अन्य कलाकार उसकी समता नहीं कर पाया। उसकी कला का प्रभाव बहुत व्यापक हुआ और अनेक कलावन्तों ने उसका अनुकरण किया, पर कोई चित्रकार उसके समान ख्याति प्राप्त नहीं कर सका।

माइकल एन्जेलो का ही समकालीन था लियोनार्दो दा विंची : १४५२, १५१९ : यूरोप के चित्रकला के सम्पूर्ण इतिहास में उसके समान सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न का कदाचित् ही कोई कलाकार उत्पन्न हुआ हो। पुनर्जागृति-काल का वह प्रतिनिधि था, सक्रिय, यशस्वी, कला और विज्ञान का प्रकाण्ड पण्डित। वह एक ही साथ कवि था, संगीतज्ञ और वैज्ञानिक था, इंजीनियर, अन्वेषक और दार्शनिक, गणितज्ञ, शिल्पी तथा चित्रकार था। संसार की प्रत्येक वस्तु के लिए उसे अक्षय जिज्ञासा थी और यही उसके व्यक्तित्व का प्रधान आकर्षण था। उसकी चित्रकला का आधार उसका ज्ञान-भण्डार था, तीक्ष्ण पर्यवेक्षण शक्ति थी।

लियोनार्दो का जन्म फ़्लोरेन्स के विंची नामक स्थान में हुआ था। वह नौतरी पियरो दा विंची और कृषक बालिका क्लोरिना का अनौरस पुत्र था। अपने पिता के धनी परिवार में उसका लालन-पालन हुआ। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली बालक था। छोटी आयु से ही उसने वेरोचियो के निरीक्षण में चित्रकला का अभ्यास आरम्भ कर दिया और शीघ्र ही चित्रकार-मण्डल का सदस्य हो गया। उसके जीवन का अधिकांश भाग मिलान में व्यतीत हुआ, जहाँ वह लोदोविको सफ़रोज़ा के दरबार में रहा। वहीं उसने अपना प्रसिद्ध चित्र 'चट्टानों की मदोना' (लुव्र) पूरा किया। इस चित्र की विशेषता है...रेखाकृति की सहज कोमलता, छाया और प्रकाश का सुन्दर सन्तुलन, एकता और सजीवता ऐसा प्रतीत होता है कि मानों चित्र की स्त्री वास्तविक जगत् का साक्षी हो। कलाकार की काँपती कूची के छेंद से जैसे उसका अन्तर...बहिरंग आज भी काँप रहा हो।

उसके दूसरे प्रसिद्ध चित्र हैं, "अन्तिम भोजन", "मैदोना और बालक" और मोनालिसा "या" "गोकुन्दा" की महिला, उसकी अंतिम कृति जो रहस्यमय स्त्री की अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध हुई। कला का विचक्षण-से-विचक्षण समीक्षक भी आज तक निश्चय न कर पाया कि मोनालिसा की मुस्कान में वितृष्णा है, विलास है, या व्यंग्य है। जो भी हो उसमें सम्मोहन निःसंदेह है। लियोनार्दो के अधिकांश चित्र अधूरे हैं। अनेक नष्ट हो गए हैं। पर जो-भी बच रहे हैं, वे उसके हस्तलाघव और कला सौष्ठव के अप्रतिम नमूने।

अन्त में अंबोआ के पास कलाओं में उसकी मृत्यु हो गई।

पन्द्रहवीं शताब्दी का एक दूसरा महान् कलाकार कला-जगत् में अपने उपनाम "बोतिचेली" से विख्यात हुआ। उसका वास्तविक नाम था...अलेक्सान्द्रो दि मारिनो देई फिलिप्पेपी। फ़्लोरेन्स के एक निर्धन चर्मकार का यह दूसरा पुत्र था। आरम्भ में उसने सुनार का काम सीखा फिर वेरोचियो और फिलप्पो लिप्पी के निरीक्षण में चित्रकला का अभ्यास किया। शीघ्र उसका यश फैल चला। उसके दोनों शिक्षकों का उसके चित्रों परस्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। पर यह स्थिति उसके प्रारंभिक कृतियों के सम्बन्ध में ही है, बाद तो उसने अपने कृतित्व में अपना ही व्यक्तित्व ढाल दिया। अभिप्रायों के अंकन-निर्माण में वह उतना ही कुशल था, जितना अपने अपमान के प्रतिशोध में आतुर। अपने इसी आचरण से उसे पोप का क़ैदी बनना पड़ा, फ्राँस के राजदरबार से भागना पड़ा।

बोतिचेली के प्रमुख चित्र हैं...रोम के सिस्तीन गिरजे के चार भित्ति...चित्र, "ला प्रिमवेरा" अथवा "बसन्त" और "वीनस का जन्म"। इनका कथानक तो पौराणिक कथाओं से ही लिया गया है परन्तु विख्यात ये अपनी सहज स्वच्छन्द रेखाकृतियों और निर्मल मानवीय निरूपण के लिए हुए। कायिक सौन्दर्य, मुख लावण्य और सजीव भावभंगी बोतिचेली के चित्रों की निजी विशेषता है, जिसे अपार रुखी भी सहज ही उसके स्रष्टा को पहचान सकता है। बोतिचेली पहला चित्रकार था, जिसने "लैंडस्केप' चित्रण को कला से इतना महत्व दिया। जानवरों और पेड़-पौधों के चित्रण में भी उसकी कुशलता प्रशंसनीय है।

जीवन के अन्त समय फ़्लोरेन्स की अस्तव्यस्त राजनैतिक दशा से दुखी हो कर बोतिचेली ने धर्म की

शरण ली और वह सेवानारोला का अनुयाई हो गया। इस काल से इसके अधिकांश चित्रों का कथानक धार्मिक ही चलता है।

माइकल एन्जेलो का एक दूसरा समकालीन तितीयन अथवा तिजियानों वसेली पुनर्जागृति-काल की वेनिसी पद्धति का प्रधान चित्रकार हो गया है। लगभग १४७७,८७ में पीव नामक स्थान में उसका जन्म हुआ। चित्रकार का अध्ययन उसने जेन्तील वेलिनी और त्रियोरगियोन के निरीक्षण में किया और उसके प्रारंभिक चित्रों पर इन्हीं दोनों का हार्दिक प्रभाव भी है।

अन्त में पन्द्रह वर्ष : १५४५. १५६० : उसके जीवन में बड़े सक्रिय रहे। उसकी सबसे अनोखी बात यह थी कि वह बहुत धीरे-धीरे और रुक-रुक कर चित्र बनाता था, और इसमें अपने बहुसंख्यक विद्यार्थियों की सहायता भी लेता था। इसीलिए कभी-कभी यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन-सा चित्र उसका पूर्ण रूप से अपना है। "चोटी का काँटा" और "बाकस और अरियादने" उसकी कला के भव्य उदाहरण हैं। "यूरोप का कौमार्यखण्डन" उसका अंतिम चित्र है, जिसे कदाचित् गियोवानी ने पूरा किया था।

तितियन अपने समय का सर्वश्रेष्ठ बिम्ब चित्रकार 'आकृतिकार' था। उसने फिलिप द्वितीय, पाल तृतीय, अपनी पुत्री लावनिया के और स्वयं अपना चित्र अनुपम लिखे हैं।

तितियन पहला चित्रकार था जो चित्रलेखन को मानव जीवन के इतने निकट ले आया। उसके प्रत्येक चित्र में अंगों से कायिक सौन्दर्य फूटा पड़ता है। विशेष कर नारी का चित्रांकन तो वह असाधारण क्षमता से करता है। कितनी रागात्मक प्रेरणा है उसमें, कितना सम्मोहन है, उसकी तूलिका में, उसका रेखाविलास कितना कोमल है। उसके चित्रों की भूमि में जैसे रंगों का समुद्र उमड़ा पड़ता है। रंगों का जादूकर है, यह तितियन।

१८, बी-१, स्टानली रोड
इलाहाबाद

सन् १४८३ में अरबिनो के चित्रकार गियोवानी सान्ती के राफ़ेले सान्जियो नामक पुत्र हुआ, जिसने कालान्तर में राफ़ेल के नाम से जगत् में प्रसिद्धि पाई। पेरयूगिया और फ़लोरेंस में उसने चित्रकला का अध्ययन किया फिर वह पोप के दरबार में अनेक उदीयमान कलाकारों और लेखकों के मध्य रहने लगा। पेरयूगिनो, तियोनियो, माइकल एन्जेलो और लियोनार्दो दा विन्ची की कला का उस पर खास प्रभाव पड़ा। पुनर्जागृति-काल के उत्तरार्ध का वह प्रतिनिधि चित्रकार था। उसके चित्रों में वही सन्तुलन, नियमित स्वाभाविकता और रूढ़िगत अंकन है जो उस काल की कला के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए। वह उन सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में से है, जिसकी कला में शक्ति, शालीनता और सौन्दर्य का पूर्ण समन्वय मिलता है। कुशल चित्रकार होने के साथ ही वह अप्रतिम खाकाकार भी था। उसके असंख्य रेखाचित्रों के चमत्कार का रहस्य उसकी यही खाकाकारिता है। उसने बहुत-से बड़े-बड़े आकृति-चित्रण भी किए। इनमें प्रधान एक अज्ञात स्त्री का चित्र (उफ़ीज़ी संग्रहालय) है। ऐसा ही एक दूसरा चित्र पोप जूलियस द्वितीय का है, तीसरा स्वयं उसका अपना, तीनों एक से एक बढ़ कर हैं।

उसकी कला के दूसरे इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण हैं, रोम के सिस्तीन गिरजे और पोप के प्रासाद के भित्ति-चित्र। इनमें 'कार्य-परिवर्तन' का अधूरा चित्र और 'एथेन्स का प्रतिष्ठान' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें अनेक मार्मिक 'मैदोना और बालक' के भी चित्र हैं।

इन प्रमुख कलाकारों के अलावा तत्कालीन यूरोप के अनेक देशों में विख्यात कलाकार हुए, जिनके चित्र आज भी बड़े-बड़े संग्रहालयों की विभूति हैं। उस युग की प्रणालियों में प्रधान फ़लोरेंस, वेनिस, उम्ब्रिया, पादुआ रोम की थी। किसी युग में यूरोपीय चित्रकला का इतिहास इतना वैभवशाली नहीं बना, जितना इस पुनर्जागृति-काल में।

—सरोजिनी चतुर्वेदी

सत्य-भाव से गरीब हो सकने के समान सम्पदा, जगत् में और कुछ नहीं है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

दिल्ली की बिपता

१८ जून, १८५९

"यह हो लिया, अब मेरे दुःख सुनो। भागा नहीं, पकड़ा नहीं गया। दफ़्तर–क़िला से मेरा कोई काग़ज़ नहीं निकला। किसी तरह की बेख़याली व नमक-हरामी का धब्बा मुझको नहीं लगा। यहाँ जो अख़बार गौरीशंकर या गौरीदयाल या कोई और ग़दर के दिनों में भेजता था, उसमें एक ख़बर अख़बार-नवीस ने यह भी दी कि फ़लानी तारीख़ असद-उल्ला-ख़ाँ 'ग़ालिब' ने यह सिक्का कह कर गुज़ारा :

"ब ज़र ज़द सिक्का किशवर-स्तानी
सिराज-उल-दीन बहादुरशाह सानी"

मुझसे अन्द-मुलाक़ात साहब कमिशनर ने पूछा कि यह क्या लिखता है। मैंने कहा कि ग़लत लिखता है। बादशाह शायर, बादशाह के बेटे शायर, बादशाह के नौकर शायर, ख़ुदा जाने किसने कहा। अख़बार-नवीस ने मेरा नाम लिख दिया। अगर मैंने कह गुज़ारना होता तो दफ़्तर से वह काग़ज़ मेरे हाथ का लिखा हुआ गुज़रता और आपको चाहिए, हकीम अहसन-उल्ला-ख़ाँ से पूछिए। उस वक़्त तो चुपका हो रहा। अब जो उसकी बदली हुई तो जाने से दो हफ़्ते पहले एक फ़ारसी रोबकारी लिखी कि यह जो असद-उल्ला-ख़ाँ फ़ारसी के इल्म में यक्ता मशहूर है, उससे काम नहीं निकलता। यह शख़्स बादशाह का नौकर था और उसका सिक्का लिखा। हमारे नज़दीक यह शख़्स पेनशन का मुस्तहिक़ नहीं।"

(नवाब हुसेन मिर्ज़ा के नाम
ग़ालिब का पत्र)

२१ जून, १८५९

"……वह दिल्ली उर्दू अख़बार का परचा अगर मिल जाए तो बहुत मुफ़ीद मतलब है। वरना ख़ैर कुछ महल-ए-ख़ौफ़ व ख़तर नहीं। हुक्काम-ए-सदर ऐसी बातों पर नज़र न करेंगे। मैंने सिक्का कहा नहीं। अगर कहा तो अपनी जान व हुर्मत बचाने को कहा, यह गुनाह नहीं। अगर गुनाह भी है तो क्या ऐसा संगीन है कि मलिका मोअज़्ज़मा का इश्तहार भी इसको न मिटा सके? सुबहान अल्लाह गोला-अन्दाज़ का बारूद बनाना और तोपें लगानीं और बैंक-घर और मैगज़ीन का लूटना माफ़ हो जाए और शायर के दो मिसरे माफ़ न हों।

हाँ साहब गोला-अन्दाज़ का बहनोई मददगार है और शायर का साला भी जानिबदार नहीं।

(नवाब यूसफ़ मिर्ज़ा के नाम
ग़ालिब का पत्र)

"इसके इलावा सब थानों पर हुक़्म है कि दरयाफ़्त करो कि कौन बे-टिकट मुक़ीम है और कौन टिकट रखता है। थानों में नक़्शे मुरत्तब होने लगे। यहाँ का जमादार मेरे पास भी आया।

× × ×

(नक़ल रिपोर्ट नं० २१२ अलिफ़ बाबते असद-उल्ला-ख़ाँ उर्फ़ मिर्ज़ा नोशा साकिन-ए-बल्लीमाराँ)

जनाब-ए-आली

तफ़तीश हसब-ए-ज़ाब्ता अमल में लाई गई। असद-उल्ला-ख़ाँ जो कि मिर्ज़ा नोशा के नाम से मौरूफ़ है और 'ग़ालिब' तख़ल्लुस करता है, मुद्दत-दराज़ से बिरादर-ए-बुज़ुर्ग हकीम पटियाले वाले का किरायादार है। इस मुहल्ले में सब वाबिस्तगान ख़ैर-ख़्वाहान साहबान आलीशान के रहते हैं, मगर महज़ मज़कूर इनहसार उसके क़याम का आली जनाब कर्नल बिरादरान साहब बहादुर के हुक़्म-ज़बानी पर है, जिसकी कोई शहादत मुहय्या नहीं हो सकी। यह शख़्स एक मुद्दत, किले से मतवसिल रहा है कि उस्ताद बादशाह बहादुरशाह का था और तारीख़ ख़ानदान तैमूरिया लिखने पर मामूर था। यह तारीख़ फ़िदवी की नज़र से नहीं गुज़री, वैसे बयान किया जाता है कि उसमें हालात-ए-ख़ानदान तैमूरिया के इस तौर पर दर्ज हैं कि रियाया के दिलों में हुकूमत-ए-कम्पनी-बहादुर से जज़बात मुनाफ़रत

के पैदा होते थे। एक तसनीफ़े-हाल उसकी और है कि जिसका नाम 'दस्तम्बो' रखा है और जो बज़बान फ़ारसी तहरीर की गई है। इसके बारे में यह भी मशहूर है कि पुर-राज़ खुराफ़ात हालात-ए-बग़ावत से है और इसमें अफ़वाज-ए-हुकूमत इंगलिशिया के ख़िलाफ़ नज़्म-व-नसर में हरज़ाह-सराई की गई है। यह शख़्स एतबार से चालाक और मक्कार मालूम होता है कि बे-इसबाब ज़ाहिर के हवाले हुक्काम बाला के देता है और अन्दाज़ तम्मलक का रखता है। न साहब-ए-जायदाद है न साहब व ज़ायफ़। अकरबा इसके लोहारूवाले हैं जो ज़ेरे-हिरासत हैं। आशना इसके बाग़ियाँ हैं कि मीनजुमला इनके नवाब मुस्तफ़ाख़ान अहले मेरठ भी हैं, जिन्हें बमयाद सात बरस क़ैद व हुक़्म ज़ब्ती अमलाक हुआ है। पेंनशन इसकी रियासत फ़िरोज़पुर से मुतअल्लिक थी जो सन् १८३७ में ज़ब्त हो चुकी है और बाद अज़ाँ एक इमदादी रक़म बसूरत ख़ैरात न कि ब-ज़ैल-हुकूक इसको दी जाती थी। हवाले इसने चन्द कसीदाज़ात के दिए हैं जो बमदह चन्द साहबाने-आलीशान गाह-गाह लिखे गए थे, मगर बसूरत मतलबबरारी न कि ब-नियत वफ़ादारी। चुनाँचे वफ़ादारी इसके ज़ैल के वाक़ये से ज़ाहिर होगी जो ब-सिलसिला तफ़तीश हज़ा फ़िदवी के गोश-गुज़ार हुआ है। वाक़या यह है कि शख़्स मज़कूर के पड़ौस में एक बे-नंग व नाम-सा शख़्स रहता था जो खुद को अहल-ए-सादात में शुमार करता था और अहले मुहल्ला में तलक़ीन-मज़हब के नाम पर रोटी खाता था, उसकी दो बेटियाँ नौ-उमर थीं, जो न खुश-शक़्ल थीं, न खुश आवाज़। जब फ़ैज़े करदगार से कब्ज़ा दोबारा इस शहर पर अफ़वाज-ए-हुकूमत इंगलिशिया का हुआ और मुख़्तलिफ़ मुहल्लों पर बवजा रफ़ाफ़साद पहरे बिठा दिए गए तो चन्द साहबान, आलीशान कि दरजा अफ़वाज काहिरा में सिपाही का रखते थे, ब-सिलसिला अंजाम-देही फ़रायज़ इधर से भी गुज़रे और ब-सबब थकन के इस बद-बख़्त के घर के नज़दीक फ़रदकश हुए। चूँकि उनकी छागलों में पानी शुड़ गया था, इसलिए आदमी भेजा कि सुराहियाँ और कटोरें मुहय्या किए जाएँ। लेकिन इस बद-बख़्त ने हरकारे से बर्ताव-तौहीनआमेज़ किया और उलटी शिकायत साहबान-ए-आलीशान से की कि हरकारे ने उसकी बेटियों को अदाए-नमाज़ से रोक का अलफ़ाज़ नाशाइस्ता इस्तेमाल किए हैं। इस पर साहबान मज़कूर ने बग़र्ज़ ज़ाती तहक़ीक के उसके घर का रुख़ किया और यह साबित होने पर कि शिकायत उसकी खुराफ़ात थी, उसको मुनासिब सरज़ंश की, जिस पर उस शख़्स ने सख़्त वावेला किया और अपनी लड़कियों को असद-उल्ला-खाँ मज़कूर के घर में छत पर से उतारना चाहा, चूँकि उसके इकदाम में पहलू तौहीन हुकूमत का मख़फ़ी था। इसलिए साहबान मज़कूर ने उसे ऐसा करने से बाज़ रखा और जुमला अहालियाने ख़ाना को ज़ेरे-हिरासत ले लिया और फिर कारवाई हस्बे-ज़ाब्ता अमल में लाई गई। इस दौरान में असद-उल्ला-खाँ मज़कूर अपने घर में बे-हसब हरकत बैठा रहा, और कोई इमदाद ज़बानी या अमली साहबान मज़कूर की नहीं की और मुहल्ले में तरह-तरह की अफ़वाहें फ़ैलने के बावजूद कोई अख़बार थाना मुतअल्लिका में नहीं गुज़ारा, जिससे अफ़वाह-बाज़ों के ख़िलाफ़ कारवाई की जाती, हालाँकि दीगर मुहल्ला-जात में भी चन्द ऐसे वाक़ये पेश आए थे जहाँ ख़ैर-ख़्वाह वक़्त पर काम आए।

लिहाज़ा गुज़ारिश है कि यह शख़्स शहर में रहा तो ज़रूर बायस-ए-फ़िसाद होगा। चुनाँचे हुक्म-ए-ख़ास इस शख़्स के इख़राज का फ़ौरन किया जाए और हुक़्म मज़ीद बाबत मुस्तक़िल ज़ब्ती पेनशन का भी किया जाए ताकि दूसरों को इबरत हो। आगे जो हुक्म हो।

फ़िदवी

(शरह-दस्तख़त) थानादार हौज़ क़ाज़ी, दिल्ली

× × ×

[नक़ल बाबते रिपोर्ट सकीम हाए आबादी शहर अज़ आली जनाब मेजर एफ़. जानसन बहादुर]

हर गाह कि मैंने बाद फ़तह इस शहर के जुमला बस्तियों और मुहल्लाजात का बज़ात-ए-खुद मुआयना किया है और दरयाफ़्त किया है कि तक़रीबन तमाम इलाक़े जिन पर काबिज़ व मुख़तार मुसलमान थे, बेहद पेचीदा गलियों और आलीशान इमारतों पर मुश्तमिल हैं, जिन में मुख़ालिफ़ हकूमत गिरोहों के इजतमाह रहते थे और असला जमा किया जाता था और जो बाक़ी रहे तो फिर मालिकान-ए-क़दीम को मौक़ा बाज़-याफ़तगी का मिल जाएगा। लिहाज़ा तजवीज़ है कि मुनदरजा ज़ैल इलाके फ़ौरी तौर पर मिस्मार कर दिए जाएँ और हसब नक़्शा मंसिलका सड़कें और मकान निकाले जाएँ।

ख़ानम का बाज़ार, कटड़ा सआदत ख़ान, कूचा बलाक़ी बेगम, धोबी वाड़ा, पंजाबी कटड़ा। मजीद नक़्शा दोयम के मुताबिक़ कलकत्ता दरवाज़े से काबुली दरवाज़े तक हर दो तरफ़ तीस-तीस गज़ मकानात मिस्मार कर दिए जाएँ कि वस्त में रेल की पटड़ियाँ बिछाई जाएँगी।

ज़ाहिर है अब शहर का दार-उल-खिलाफ़ा रहना मुमकिन न होगा, चुनांचें यहाँ जदीद आबादी की गुंजायश रखनी न ज़रूरी है न मुनासिब। लिहाज़ा मुजव्विज़ा सकीम के मुताबिक़ कोई दो लाख आबादी की बवक्त अमल में आएगी। नई आबादकारी में हुकूमत ने इस बात का लिहाज़ रखा कि मुसलमान कम-से-कम तादाद में आ सकें, क्योंकि यही लोग अहल-ए-हुकूमत व अहल-ए-जायदाद थे और बग़ैर इमतियाज़ इनको ज़माना बे-हद नए मसायल और उलझनें पैदा कर देगा।

मुनासिब है कि राक़िम अलहरुफ़ इस मौका पर हुकूमत को याद-दिहानी करा दे कि राकिम अलहरुफ़ एक फ़ौजी अफ़सर हैं और जो कि उसे किसी क़िस्म के फ़रायज़ की अंजाम-देही में उज्र नहीं, ताहम यह मशविरा देना मुनासिब है कि इस सकीम पर माहरीन तामीरात की राय के मुताबिक अमल होना चाहिए।

(दस्तख़त) मेजर एफ. जानसन

('ग़दर के उलमा' शीर्षक ग्रन्थ से)

× × ×

(अर्जेटन मुख्याधिकारी दिल्ली का रोज़नामचा)

शनिवार

आज पुनः कुछ मुसलमान मेरे पास आए। यह लोग हमारी सरकार के शुभचिन्तक हैं। फिर भी डरे-डरे आते हैं, तलवारें गलों में बँधी हुई, जूते बरामदे के बाहर उतार देते हैं और गरदन झुकाए आँखें नीची किए खड़े रहते हैं। बात जामा-मस्जिद की थी। मैंने समझाया कि अभी तो ज़ब्ती ही पूरी नहीं हुई, छूट देने और मस्जिद खोलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस पर लम्बे-लम्बे व्याख्यान देते रहे और समस्या को केवल धर्म के चक्कर में उलझाए रखा। मैंने कहा यह स्थान पुनः आपकी जाति को एकीकृत करने में सहायक होगा, और पुनः सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाएँगे। उन्होंने कहा कि सरकार पहरा करा दे, हम छोटी-छोटी टोलियों और टुकड़ियों में अपना कर्तव्य पूरा कर लेंगे। और बिना दरस लिए और व्याख्यान सुने चले जाया करेंगे। मैंने जुर्माने-हरजाने का प्रश्न उठाया तो सब घबरा गए, क्योंकि किसी के पास अब इतनी सम्पत्ति नहीं बच रही कि मिल-जुल कर भी तावान पूरा किया जा सके—परन्तु फिर थोड़ी देर के बाद तैयार हो गए कि अच्छा आप सरकार से एक उचित रकम तय कर दीजिए। विचित्र लोग हैं यह निज की इनकी परिस्थितियाँ अति निकृष्ट हैं और अपने तक से भी सभी असन्तुष्ट हैं, हज़ारों मारे गए और लाखों बेघर हो गए फिर भी यह मस्जिद का कजिया समाप्त नहीं होने देते। मैंने कहा आप लोग अवध या दक्षिण की ओर क्यों नहीं चले जाते। यहाँ न आपकी इज़्ज़त है न दौलत है। हमने जिन्हें रक्खा वह बहुत कम होंगे और उनके लिए भी हम नहीं जानते कि क्या आज्ञा होगी। यह सुन कर सब चुप हो गए, आँखें नीची किये सोचते रहे फिर बोले हम चले भी जाएँ तो, और दिल्ली वाले क्या कहेंगे। ख़ैर! आज कोई बात तय नहीं हुई किन्तु मैं सोचता हूँ कि हमने इनके लिए जीना हराम कर दिया है, इनकी बस्तियाँ की बस्तियाँ मिस्मार कर दी हैं। आय के साधन समाप्त कर दिये हैं, धार्मिक स्थान बरबाद कर दिये हैं फिर भी यह कैसे लोग हैं कि इनका इसी नगर में रहने पर आग्रह है।

रविवार

कलकत्ते से दो पत्र आ चुके हैं कि बादशाह दिल्ली पर मुकद्दमे के सम्बन्ध में गवाह खड़े किए जाएँ। मैंने सारा प्रबन्ध कर लिया है किन्तु असल गवाहों का उपलब्ध होना लगभग असम्भव है। यूँ तो अनेक लुच्चे बदमाश हैं जो हर बात कहने के लिए तैयार हैं परन्तु सभ्य और खाते-पीते लोग या तो मारे गए या भाग गए हुए हैं और जो शेष हैं, वह झूठ बोलने पर आमादा हैं। न जाने अब हमारी सरकार क्या चाहती है। हमने एक देश अपने अधिकार में ले लिया—और बस। एक बादशाह हमारे आधीन है, हमारी क़ैद में है। हम उसका वध कर दें या देश से उसे निकाल दें, यह हमारी अपनी इच्छा पर निर्भर करना चाहिए। अब केस चलाने की आवश्यकता क्यों अनुभव की जा रही है। केस तो सरकार प्रजा पर चलाती है न कि दूसरी सरकार पर वह जैसा भी था, क़ानून की दृष्टि में बादशाह था और हम उसके शत्रु थे या मित्र थे; उसके स्वामी तो कदापि

नहीं थे। अच्छा उसने हमें धोखा दिया तो हमने भी युद्ध किया और विजयी हुए। हम अपनी सेनाओं से चाहे जो भी बर्ताव करें परन्तु बादशाह को विद्रोही कैसे कह सकते हैं। न जाने पार्लियामेंट इस विषय में क्या निर्णय दे। परन्तु इस मुक़द्दमे-बाज़ी की क्या आवश्यकता है? अब शहादतों का हाल यह है कि गो इनके अनुसार तो बादशाह विद्रोहियों के हाथों विवश नहीं था। मेरठ से उसके पास सेना आई और उसने युद्ध लड़ने की घोषणा कर दी। इधर सरकार बादशाह से यह बयान चाहती है कि उसे विवश कर दिया गया था। जो भी हो मैंने गवाहियों के कागज़-पत्र पूरे कर लिए हैं, जैसी आज्ञा होगी तदनुसार काम करूँगा। यहाँ की जनता इतनी परेशान और भयभीत है कि किसी भी बात पर आमादा कर लेना कठिन नहीं है परन्तु धर्म के मामले में ये लोग बड़े कट्टर-पन्थी हैं।

सोमवार

एक अन्य सुझाव है कि शाही परिवार में से, जिन लोगों ने हमसे वफ़ादारी की, उनके वज़ीफ़े निश्चित किए जाएँ। मैं इससे सहमत हूँ किन्तु मैंने कहा है कि इन वज़ीफ़ों और जागीरों को व्यक्तिगत नामों पर न दिया जाए वरन् हर वज़ीफ़ा जायदाद के समान ही बँटवारे के योग्य हो। यह बात इन सब को भी पसन्द आएगी और बड़ा लाभ यह होगा कि ज्यूँ-ज्यूँ सरकार के पाँव जमते जाएँगे, इन परिवारों की आर्थिक दशा भी बिगड़ती जाएगी। यहाँ तक कि तीस-चालीस वर्षों में पाँच सौ रुपया प्रति व्यक्ति से घटते-घटते दस-बारह रुपया प्रति-व्यक्ति प्रति-मास रह जाएगी। मेरा विचार है, मेरा सुझाव मान लिया जाएगा।

× × ×

अब वजह असली तो सैयद अहमद खाँ ने बहुत लिखी है, तहक़ीक़ हाल भी हुई है और कयास-आराइयाँ भी। मगर भाई सच पूछो तो झगड़ा होना ही था। हम बादशाह के पेशकार थे। पच्चीस रुपए मासिक, घोड़ा, खिलअत और इनाम व इकराम मिलता था, शहर में बड़ी आबरू थी, मगर जब कागजात रेज़िडेंट के पास लेकर जाते थे तो अर्क-अर्क हो जाते थे, वह तो कहाँ नज़र आता, उसके मामूली अहलकार बल्कि ख़िदमतगार गोरे हमसे ऐसा सलूक करते, जैसे हम भिखारी हों। शहर में, अव्वल तो, गोरे आते नहीं थे, अपनी छावनी में ही रहते और शराबें पी-पी कर तेज़ घोड़े दौड़ाते हुए कभी-कभी तुर्कमान दरवाज़े के बाहर तक पहुँच जाते थे, मगर जब कभी कभार वह शहर से गुज़र जाते तो कोहराम मच जाता था। एक तो वह अन्धा-धुन्ध सवारी करते, फिर किसी की दुकान से कुछ उठा लिया तो दुकानदार की क्या मजाल कि खुद दाम माँग ले, दे दिए तो दे दिए वरना टिकट काट कर फेंक दिया और यह जा और वह जा। अब वह महीनों छावनियों में अर्ज़ियाँ गुज़ार रहा है, धक्के खा रहा है। कभी मिल गए, कभी मालूम हुआ, वह गोरा तो तबादले पर चला गया है। फिर यह कि जो अफ़सर थे, वह ज़ाहरा तो बहुत शान-व-शौक़त रखते थे, फ़िटन पर आना-जाना, गारद अर्दला के हमराह, क्या मजाल जो खिड़की से बाहर भी झाँक लें मगर थे, सब बदमाश। कर्नल फ्रेज़र तो इसी चक्कर में शम्स-उल-दीन खाँ फ़िरोज़पुर झर्के वाले के इशारे से क़त्ल भी हुआ था। उसका किस्सा बस यही है कि भाइयों से जायदाद के मामले पर कर्नल उसके खिलाफ़ हो गया था, बल्कि असल में यह है कि झर्के की एक धोबन थी, सरवन। सरवन कहते हैं कि पदमनी थी, पदमनी। पान खाती तो हलक़ से पीक नज़र आती। नवाब की उस पर नज़र थी पर वह रियाया का बड़ा पास रखता था। फ्रेज़र साहब जो दौरे पर गए तो सरवन की तारीफ़ सुनी और नवाब से कहलवाया कि सरवन को दिखला दो। नवाब उन्हें चचा कहता था मगर आख़िर यह दिल्ली का रेज़िडेंट था। उसने बहुत टाला, मगर यह न माने, ख़ैर उसने दूर से दिखा दिया। यह आशिक हो गए और वह हाल हुआ कि लोगों ने गीत तक लिख डाले :

"लँहगा छोड़ दे री मेरी सरवन
साया दूँगा पिनहाए"

फिर भई लोग कहते हैं कि उन्होंने सरवन पर हाथ डाला, बल्कि शायद दिल्ली भी ले आए। ख़ैर यह तो मारे गए और बेचारा नवाब फाँसी पर चढ़ा। मगर उससे अंग्रेज़ों ने कुछ सबक न लिया। फ्रेज़र साहब खुल कर गाना सुनते थे बल्कि डेरेदार तवायफ़ का मुहाविरा भी यूँ चला है कि बहुत पहले जब अंग्रेज़ दौरे करते तो अच्छी तवायफ़ों को नाच-गाने के लिए

बुलाते। साथ तो रख न सकते थे, वह अलग-अलग कैम्पों में कोस-कोस के फ़ासले पर चलती थीं। सब से अच्छी तवायफ़ें डेरे-दार कहलाने लगीं। ख़ैर यह तो पुरानी बात थी, हमारे ज़माने में तो इनको हुकूमत का नशा हो गया था। खुले बन्दों पान चबाते, अंगरखे पहनते और मुजरे कराते और दाद व दहश करते नहीं थे, बस हुकूमत की धौंस थी, इससे शहर में बेरहमी और भी फैलती थी।

इधर एक क़िस्सा और भी मशहूर हुआ, जिससे शहर में आग-सी लग गई थी। हुआ यह कि कलकत्ते या जाने कहाँ के किसी हिन्दू ने छावनी के मेजिस्ट्रेट के यहाँ अर्ज़ी गुज़ारी कि 'ख़ास-बाग़' उसका है, जिसे बादशाह दबाए बैठे हैं। चुनाँचे मेजिस्ट्रेट ने बादशाह के नाम सम्मन जारी कर दिया और ग़ज़ब यह किया कि प्यादे के हाथ भिजवा दिया। यह बात सब को मालूम हो गई और जाँ-निसार तलवारें खींच कर दौड़ पड़े। फिर इसी तरह एक रोज़ एक-न-एक बे-इज़्ज़ती की बात होती थी। कभी बादशाह का वज़ीफ़ा कम कर दिया गया, कभी अख़राजात का महबासा हो रहा है, कभी वली-अहदी का मामला पेच में डाल दिया गया है। बादशाह, नाम का बादशाह था, मगर फिर भी बादशाह था, मुरासलों का जवाब नरम-गरम लिखवाता था। मगर हमको मालूम है कि एक-एक लफ़्ज़ पर चेहरा सुर्ख़ हो जाता था और बार-बार उठ कर टहलता था। जैसे बाज़ के पर काट कर उसे शिकार दिखाओ तो वह तड़प-तड़प कर रह जाता है। एक बार नया रेज़िडेंट आया तो उसने लिखा कि मुझे 'फ़रज़न्द दिलबन्द' मत लिखा कीजिए, मैं कम्पनी बहादुर का नुमाइन्दा और बरतानवी क़ौम का एक बा-इज़्ज़त अफ़सर हूँ, आपकी औलाद की तरह नहीं हूँ। बादशाह यह मुरासला देख कर दो पहर साकित व जामिद बैठे रहे कि अब हमारे सिर से टोपी भी उतारी जा रही है। यह ख़बर भी दिल्ली वालों तक पहुँची और उस पर खूब-खूब बातें बनीं। बात यह है कि वैसे तो दिल्ली में न फ़ौज थी न असलहा, मगर कुछ ख़ानदान पुराने तर्रम-ख़ानों के पड़े हुए थे, जिनमें रोज़ एक-दो बार तलबार चल जाना कोई बात नहीं थी। यह लोग बड़े बक्ट और जियाले थे और हर वक़्त अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ मनसूबे बनाते रहते थे। फिर एक क़िस्सा मुद्दतों से जहाद का भी चल रहा था, जहाद में तो हमारे नानाजान भी गए थे और बालाकोट से वापस न हुए, यूँ हमारे ज़माने में मुजाहिदों का ज़ोर कुछ ठण्डा पड़ गया था। फिर भी क़त्ल व काल होती ही रहती थी। फिर लखनऊ की ख़बरें भी आई थीं कि बादशाह को ऐसे ले गए और यह हुआ; तो जब झगड़ा शुरू हुआ और तिलंगे क़िले में घुस कर बादशाह की आरामगाह में पहुँच गए तो उन्होंने सिर्फ़ यह कहा कि अब बस—क़समें लीं और फिर अल्लाह का नाम लेकर खड़े हो गए, यह जो मशहूर है कि उनके सीने पर तमंचा रख कर आज़ादी का ऐलान कराया गया, यह बात तो हमें झूठी ही मालूम होती है, वह जब चाहते तो जंग के बीच अंग्रेज़ों के पास पहुँच जाते, मगर ऐसा नहीं था। उन्हें मालूम था कि वह हार जाएँगे और यह भी मालूम था कि उनका और उनके ख़ानदान का क्या हश्र होगा। मगर बस एक किस्मत आज़माई थी सो वह उससे भागे नहीं लड़े और हार गए। हाय! उस ज़माने में टीपू सुलतान होता तो मज़ा आ जाता!

हम उस वक़्त किले में नहीं जाते थे। मगर क़िले के मतवसलीन बराबर हमें मिलते थे। यह बात ग़लत है कि बादशाह साज़िशों का शिकार हो गए, क्योंकि साज़िश नहीं होती तो भी अंग्रेज़ में कुव्वत थी, वह मार ही लेता, मगर इन साज़िशों ने शिकस्त को बहुत जल्द ज़ाहिर कर दिया। साज़िशों का सेहरा बादशाह के करीबी लोगों ने ही अपने सिर पर बाँधा। बाहर वाले फिर वफ़ादार रहे, बात यह है न कि बाहर वालों से अंग्रेज़ का ताल्लुक भी कम था और वह तो सिर हथेली पर रख कर आए ही थे, वह क्या बे-वफ़ाई करते। हाँ दिल्ली वालों ने जितनी दफ़ा की, उतनी ही बे-वफ़ाई भी की। हकीम अहसन उल्ला खाँ बराबर वज़ीर-आज़म रहे और बराबर पूरी तफ़सीलात अंग्रेज़ों के कैम्प में पहुँचाते रहे और भाई मैं किस गिनती में था, मेरी बचत तो इसी में थी कि जब बादशाह हार गए और हुमायूँ के मक़बरे में चले गए, उस वक़्त से मैं अंग्रेज़ का जासूस हो गया। मैंने किसी को क़त्ल नहीं कराया न किसी की चुगली ही खाई, जैसा कि मिर्ज़ा मज्जू ने किया, जिसके बदले में वह यह जायदादें लिए बैठे हैं। मैंने तो बस यह किया कि झूठी-सच्ची ख़बरें बादशाह की ख़ानगी ज़िन्दगी से मुतअल्लिक़ पहुँचाईं, क्योंकि मैं जानता था, उन

से इनको कोई और नुक़सान तो पहुँचेगा नहीं, यह तो क़त्ल किए ही जाएँगे; हाँ ! मैं बच जाऊँगा। सो यही हुआ, मैं नाम का जासूस मशहूर हो गया और जान भी बच गई मगर न इनाम मिला न ख़िताब। फिर भी अब कफ़ारा अदा किया है और दुआ करता हूँ कि उनकी रूह मुझे माफ़ कर दे और मैं बख़्शा जाऊँ। मगर यहाँ वह वक़्त ही ऐसा था, पूछो तुम ने शहर फ़तह कर लिया, मुल्क फ़तह कर लिया, अब अमी-जमी हुकूमत करो और हमें भी सुख-चैन की ज़िन्दगी बसर करने दो। मगर अंग्रेज़ को तो ऐसा गुस्सा था, जैसे वह ख़ुद अपने मुल्क को दुश्मनों से छुड़ा कर वापस आया हो, जैसे हमने उसका कोई माल हज़्म कर लिया था, अरे भई क़त्ल व ख़ून तो जंग का नाम ही है, पहले वह मारे गए, अब उन्होंने मारा। मगर मारो, क़त्ल करो, फाँसियाँ दो और ख़त्म करो क़िस्से को। मगर साहब वह जो बिपता थी, वह सुनाने के क़ाबिल नहीं है। ज़ुल्म पर ज़ुल्म था। जो लड़े, वह और उनके ख़ानदान तो ख़ैर क्या बचते। ज़ुल्म तो यह था कि तुमने क्या हमारी ख़ैर-ख़्वाही की, क्या ख़बर पहुँचाई ? क्या काम किया ? बस यह साबित करो वरना मारे जाओगे। चुनाँचे जिनमें हिम्मत न थी वह झूठ बोलते थे, उलटे-सीधे सुबूत लाते थे। फिर भी कोई बचा, कोई मारा गया। अब तुम दिल्ली ही में बता दो कितने ख़ानदान बाकी रह गए हैं और जो माफ़ी के बाद में आए हैं, उनमें से कितनों को रोटी-कपड़ा मयस्सर है। और जो शाहज़ादे और शहज़ादियाँ हैं, उन्हें ही देख लो। यह भी क़िस्मत है कि यह लोग मुन्शियों, मुत्सद्दियों के घर पड़े हैं और दो दो, ढाई-ढाई रुपए वज़ीफ़ा मिलता है, वरना हमीं ने उन्हीं के दादा-नाना देखे हैं, अमीर कबीर न थे, मगर क़िले वाले कहलाते थे। पालकी, म्याने में बाहर निकलते थे। हाँ इनमें ज़्यादातर कमज़ात ज़रूर हैं, कोई डोमनी का, कोई रंडी का। मगर यूँ तो बादशाहों की ज़ात ही क्या और किस शाही ख़ानदान की नस्ल साफ़ रही है ? ग़रज़ तो यह है कि यह लोग शाहज़ादे थे और शाहज़ादे माने जाते थे। सो आज क्या हैं ? मियाँ काले साहब के जाँनशीन ने इन लोगों से कहा भी कि आप लोग दिल्ली से चले जाइए, यहाँ भरम रह जाएगा, यह लोग न गए और आज हमा-शमा कहलाते हैं। मगर इन्हीं का क्या ज़िक्र, इस वाक़ये के बाद से दिल्ली में ज़ात-पात का फेर तो रहा ही नहीं। जासूस इनामदारों में कोई सैयद, कोई मिर्ज़ा, कोई ख़ान बन बैठा है और अब तो अकराम के मेयार ही दूसरे क़ायम हो गए; शरफ़ा धुनें जुलाहे धुने। बुनना और धुनना ही था। ज़मीन कुर्क, जायदाद ज़ब्त, तालीम का सवाल ही न था, चुनाँचे लिए बैठे हैं अपनी ख़ानदानियत, कोई दो कौड़ी को भी नहीं पूछता, कोई झूठे मुँह भी बेटी माँगे तो इनकार नहीं करते।

और मियाँ दिल्ली की बात जुदा नहीं, यह तो हमेशा हुआ है। जब इतना बड़ा इनक़िलाब आता है तो यही कुछ होता है। इनक़िलाब के फ़ायदे अलग हैं, जब अक़्लमन्द कहते हैं तो ज़रूर होंगे, मगर यह भी तो है कि इन बड़े फ़ायदों के चक्कर में छोटी-छोटी जमी-जमाई तहज़ीबें, शराफ़तें और ख़ूबसूरतियाँ कैसे एकदम तबाही और गुमनामी के ग़ारों में धकेल दी जाती हैं।

(जमील-उल-दीन 'आली' कृत 'फ़रिश्तों का लिखा' से हाजी नैन मियां पेशकार हुज़ूरी के बयान का एक अंश)

× × ×

"हिन्दुस्तान की दौलत व क़िस्मत जो कुछ थी
वह भी फिरंगियों ने ब-तदबीर खींच ली"
(मुसहफ़ी)

× × ×

स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने के फलस्वरूप सम्राट् बहादुरशाह 'ज़फ़र' रंगून में जलावतनी के दिन क़ैद में गुज़ार कर, ज़िन्दगी की क़ैद और फिरंगी की क़ैद, दोनों से छूट गए और जाते-जाते यह नाला करते गए :

"क्या पूछते हो कज्रदई चर्ख़े-चम्बरी
है उस सितम-शुआर का शेवा सितमगिरी
करता है ख़्वार तू उन्हें, जिनको है बरतरी
उसके मिज़ाज में है यह क्या सिफ़ला परवरी...
... ...
बिल-अक़्स है ज़माने में जितने हैं कारोबार
शेवा किया है उलटा ज़माने ने अख़्तियार
है मौसम-ए-बहार खिजाँ और ख़िज़ाँ बहार
आई नज़र अजब रविश-ए-बाग़ रोज़गार
जो नख़्ल पुर-समर हैं उठा सकते सर नहीं
सरकश हैं वह दरख़्त कि जिन में समर नहीं

१६५७

बाद-ए-सबा उड़ाती चमन में है सिर पे ख़ाक
मलते हैं दम-ब-दम कफ़-ए-अफ़सोस बर्ग-ए-ताक
गुंचे हैं दिल-गिरफ़्ता, गुलों के जिगर हैं चाक
करती हैं बुलबुलें यही फ़रियाद दर्दनाक
शाद अब हैफ़ ख़ार हों गुल पायमाल हों
गुलशन हों ख़ार नख़्ल मग़ीलाँ निहाल हों

जाएँ निकल फ़लक के अहाते से हम कहाँ
होवेंगा सिर पे चर्ख़ भी जावेंगे हम जहाँ
कोई बला है ख़ाना-ए-ज़िन्दाँ यह आसमाँ
घुटना मुहाल इस से है जब तक है तन में जाँ
जो आ गया है इस महल तीरा-रंग में
क़ैद-ए-हयात से है वह क़ैद-ए-फ़िरंग में"

सेठी-ब्रदर, अमीना कदल,
श्रीनगर (काश्मीर)

—घनश्याम सेठी

पुस्तकों की प्रदर्शिनी

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अपने शत वर्षीय समारोह के उपलक्ष में पुस्तकों की एक प्रदर्शिनी को आयोजित किया। इसमें भारतवर्ष के समस्त विश्वविद्यालयों ने अपनी पुस्तकों को भेजा। यह प्रदर्शिनी आशुतोष बिल्डिंग में की गई। इस प्रदर्शिनी में कई इस प्रकार की पुस्तकें थीं जो विरल हैं और कहीं प्राप्त नहीं होतीं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय की तीन लाख पुस्तकों में से ३६ असाधारण पुस्तकों का परिदर्शन किया गया। इसमें से दो पुस्तकों का विवरण दिया जाता है :

सिर्र-ए-अकबर : इस पुस्तक में वेदों का फ़ारसी भाषा में अनुवाद किया गया है। यह अनुवाद शाहजादा दाराशिकोह ने किया था। यह पुस्तक बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखी गई है। इसमें सोने की रेखाओं में हाशिया है और प्रारम्भ में सुन्दर सजावट की गई है। यह पुस्तक दाराशिकोह के समय की है।

करुणा-निधान-विलास : काव्य १८ वीं शती में श्रीयुत जयनारायण घोषाल के द्वारा बंगाली में लिखा गया है। यह कृष्ण-भक्ति का काव्य है। इस काव्य में बंगाली साहित्य पर अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रारम्भिक प्रभाव अभिलक्षित होता है।

—'मौडर्न रिव्यू' से

सन्त विनोबा और उनका भूदान-यज्ञ

महा-मानव बापू के तिरोधान के पश्चात् भारत के अनन्त गगन को तिमिर के वात्याचक्र ने पूर्ण रूप से आच्छादित कर लिया था। जनता-जनार्दन के हृदय-पटल पर निराशा के काले बादल अपने वामनीय विस्तार में व्यस्त थे। कोई जवाहरलाल की ओर देखता था तो कोई लोहपुरुष पटेल और राजेन्द्र बाबू की ओर। किन्तु किसी ने उस महात्मा के छोड़े हुए काम को पूरा करने की ओर ध्यान न दिया, जो कहा करता था :

"मैं एक ऐसे भारत का स्वप्न देखता हूँ, जिसमें निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति भी यह अनुभव कर सकेगा कि यह उसका अपना देश है, जिसके निर्माण में उसकी भी सुनी जाएगी, जिसमें ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं रहेगा, जिसमें सभी जातियाँ पूर्ण सामंजस्य के साथ जीवन व्यतीत करेंगी। उन्हें खाने-कपड़े का अभाव न होगा और न रहने के लिए निवास-स्थान का टोटा।"

इसी परमुखापेक्षण के झंझावात में आलोक की एक किरण प्रकाश की अजस्र रेखा बिखेरती हुई आई, जिससे न केवल भारतीय जनता का मन उद्दीप्त हो उठा अपितु विश्व भी प्रकाशमान हुआ। दुनियाँ ने देखा, भारतीय क्षितिज पर विनोबा के रूप में उठ रहा है—प्रकाश का एक अप्रतिम पुंज।

असन्तोष, क्रान्ति को जन्म देता है। इसका साक्षी है विश्व का इतिहास जो सबूत में पेश करता है—फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति और भारत का सन् १८५७ का विद्रोह। जब आन्ध्र की एक प्रार्थना-सभा में एक व्यक्ति ने सन्त भावे से भूमि माँगी, तो वे देखने लगे उस अनन्त आकाश को और इस बृहत्तर धरती को, जिसके बीच में काँटों की शय्या पर पलता है—एक मानव जो धरती को जोतता है, धूप सहता है और अनाज उत्पन्न करता है। फिर भी उसे याद नहीं कि कब उसने भरपेट खाया है, या नींद सोया है। वह तो स्वप्न में भी देखता है कि अपने हल और बैलों को, छूटी हुई शाम की खेत की गराई को और देखता है। आम तले दो सूखी रोटियों को लिए हुए अपनी जीवन-सहचरी को दो नंगे-भूखे बच्चों के साथ। अब्राहिम लिंकन ने देखा था जहाज़ पर काम करने वाले मजदूरों को। देखा था दासों के उस हृदयविदारक जीवन को और सुना था उनकी करुण कहनी को। उसने निश्चय किया कि मुझे इस अमानवीय घृणित कार्य को समाप्त करना ही होगा। फलतः हमने देखा अमरीका के प्रजातन्त्र को। कार्ल-मार्क्स ने भी देखा था पश्चिम के कल-कारखानों में काम करनेवाले धनहीन, घरहीन मजदूरों को, उनके ऊपर होनेवाले अत्याचारों को। उसने आवाज़ बुलन्द की। सारा विश्व सोते से जाग उठा। असन्तोष की जननी है विषमता। सन्त विनोबा ने देखा विश्व के बड़े राष्ट्रों ने अपनी उलझी हुई समस्याओं को, जो उनके विकास-मार्ग में चट्टान बन कर अड़ी थीं—भूमि का बँटवारा करके हल किया है। चीन, रूस और मिस्र इसके उदाहरण हैं। सन्त ने सोचा, भारत को भी इस समस्या का हल करना ही होगा। अन्यथा यह देश आगे नहीं बढ़ सकता। बापू देश में स्वराज्य लाने के लिए जिस प्रकार की क्रान्ति चाहते थे, वह राजनीतिक क्रान्ति तक ही सीमित नहीं थी। उसकी सफलता के लिए तो वास्तव में एक महान् सामाजिक तथा आर्थिक क्रान्ति की भी आवश्यकता वे महसूस करते थे। उसके लिए केवल दिल्ली का राज्य ही पर्याप्त नहीं। वे चाहते थे, प्रत्येक गाँव तथा घर में वास्तविक स्वराज्य क़ायम हो। यही उनकी कार्य-प्रणाली का मूल मन्त्र था, जिसके द्वारा वे राष्ट्रनिर्माण करना चाहते थे। किन्तु उनके जीवन-काल में स्वप्न साकार न हो सके। आज विनोबा अपने गुरु की उसी अधूरी मंज़िल को पूरी करने में एक कर्मयोगी की भाँति तत्पर और तल्लीन हैं।

विनोबा ने जब भूमि के बँटवारे की बात उठाई थी, तो लोग हँसते थे। किन्तु आत्म-शक्ति में दृढ़ विश्वास रखने वाले इस असाधारण व्यक्तित्व की गति इससे कब कुँठित होने वाली थी। वह आगे बढ़ा—हाथ में भूदान का पात्र, आँखों में महासागर को नापने की गहराई और हृदय में प्रेम की अगाध जल-राशि को लेकर। दुनियाँ ने देखा, भारतीय इतिहास में जुड़ते इन अप्रतिम स्वर्णिम पृष्ठों को जो विश्व के इतिहास में

१९५७

अपना सानी नहीं रखते। भावी इतिहासकार को शब्द मिलना दूभर हो जाएगा, इसकी महत्ता का अंकन करने के लिए। क्योंकि वह देखेगा—"सन्त भूमि के लिए नहीं दौड़ता, भूमि सन्त के लिए दौड़ती है।" अपने एक प्रवचन में उन्होंने कहा :

"मैं आपको प्रेम से लूटने आया हूँ। अगर आपके चार पुत्र हैं, तो मैं आपका पाँचवाँ लड़का हूँ। अतएव आप अपनी भूमि का पाँचवाँ हिस्सा, जो मेरा है, मुझे दे दें।" भूमि-हीनों से वे कहते हैं :

"दरिद्रनारायण की झोली में अपनी भर मुट्ठी डालिए। अगर कुछ बाँटने को नहीं तो ग़रीबी ही बंट जाने दीजिए। लेकिन संकल्प दृढ़ होना चाहिए। दान की झोली में से सब कुछ निकल सकता है। दान से जनता का हृदय परिवर्तन होगा।"

भूदान के साथ ही इस सन्त ने देखा, देश में थोड़े लोगों का एक ऐसा वर्ग है जो देश की ९० प्रतिशत सम्पत्ति का अधिकारी है और अवशिष्ट—मात्र १० प्रतिशत में ही और सभी जनता अपना गुज़ारा करती है। उन्होंने सोचा इस विषमता को मिटाने का और भारत में समानता की गंगा बहाने का भगीरथ-प्रयत्न हमें एक-न-एक दिन करना ही होगा। उन्होंने उस वर्ग से ज़ोरदार अपील करते हुए कहा :

"आपके पास बहुत है, किसी के पास कुछ भी नहीं है। अतएव उन्हें दे देना जितना उनका हिस्सा है, आपका पुनीत कर्तव्य है।"

एक प्रार्थना-सभा में उन्होंने कहा :

"इस नाव में बड़े ज़ोरों के साथ पानी भर रहा है। इस पानी को उलीचिए। जितना उलीच सकोगे, उतनी ही यह नाव हल्की होगी और मानव प्रलय के बीच बचाया जा सकेगा।"

आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए विनोबा ने "सम्पत्ति-दान" के रूप में कार्य करना आरम्भ किया। भगवत् प्रसाद त्रिपाठी के कथनानुसार : "यह एक ऐसा अर्थशास्त्र है, जिसके अनुसार आचरण करने पर देश के अन्तर्गत न अमीरी रह सकेगी न ग़रीबी का ही बोल-बाला।"

प्रागैतिहासिक काल से ले कर आज तक का इतिहास इस बात का सुबूत है कि इतिहास में आने वाला प्रत्येक नया मोड़ नदी की उस गतिमान धारा-सा होता है, जिसके प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने वाला या तो बह जाता है, या जल के अतलतल में जल-मण्डलों के साथ सदा के लिए सुप्त हो जाता है। देश-दुनियाँ किंवा जनता अपनी समस्याओं के हल के लिए किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। इसके हल में जो योग-दान करता है, उसका वह फूल मालाओं से स्वागत करती है, उसे अपना हृदय-देवता मान कर पूजा करती है और जो रोड़े बनते हैं उसे स्टीम रोलर की भाँति (रघुनाथ सिंह एम्० पी० के शब्दों में) कुचल देती है। आचार्य भावे ने देश की नाड़ी देखकर एक कुशल वैद्य की भाँति निदान किया और हमें दिया 'भूदान' के रूप में एक अस्त्र। अगर बापू ने 'सत्याग्रह' द्वारा हमें आजादी की ऊँची-मंज़िल पर पहुँचाया तो 'भूदान' भी हमें सामाजिक और आर्थिक समानता के धरातल पर खड़ा करके वह दिव्य दृष्टि प्रदान करता है, जिससे हम भारत में राम-राज्य देख सकें। विश्व की अनेकता में एकता और भिन्नत्व में अभिन्नत्व का दर्शन कर सकेंगे।

देश के अधिकांश कम्युनिस्ट भाइयों और कुछ अन्य लोगों का भी मत है कि 'भूदान' से भूमि-समस्या हल होने की नहीं। किन्तु आत्मा के इस अटल विश्वासी में यह भावना घर कर गई है कि भूमि की समस्या के हल का एकमात्र सही रास्ता यही है। जिसके लिए न तो क़ानून का तक़ाज़ा है और न संगीनों के नोक की जरूरत। विनोबा लोगों के इन भूदान-विरोधी विचारों से विचलित नहीं होने का, क्योंकि वह जानता है अहिंसा की मूर्ति भगवान् बुद्ध को, जिनका "धम्म-चक्क-पवत्तन" (धर्म के चक्के का चलना) केवल पाँच भिक्षुओं से इषिपत्तन ने शान्त मृगदाव से प्रारम्भ हुआ और विश्व ने देखा, न केवल भारत अपितु लंका, चीन, बर्मा, जापान, जावा, सुमात्रा, श्याम, मंगोलिया, बलख़, बुख़ारा, यूनान आदि सभी इस क़ाफ़िले के स्वर में स्वर मिला कर चलने लगे। भारत का सम्मान अन्तःसांस्कृतिक जगत् में बेजोड़ हो गया।

किसी भी चीज़ की परिभाषा सदैव एक नहीं रहा करती; वह देश, काल की परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। आपत्काल में प्राचीन युगों में लोग यज्ञ किया करते थे—समाज को निरापद बनाने के लिए, अपने जीवन को सुखी, शान्त और समुन्नत देखने के लिए। यज्ञ का वही कारवाँ अपनी अप्रतिहत गति से

आज भी चल रहा है और सदा चलता रहेगा। भूदान-यज्ञ भी ठीक इसी परम्परा का, अन्तिम कैसे कहूँ, आधुनिक रूप है। हाँ, परिभाषा परिस्थिति की अनुचरी अवश्य हो गई है और इस यज्ञ के लिए आवश्यकता हो गई है—भूमि की, लोगों के हृदय-परिवर्तन की। इस यज्ञ के सन्देश को व्यापक बनाने के लिए, जन-सामान्य के कानों तक इसे पहुँचाने के लिए और उनके सुसुप्त हृदय की भावनाओं को जगाने के लिए जरूरत है, इस बात की कि हम सच्चे हृदय से सेवा का परम व्रत धारण कर भगवान् बुद्ध के अनुयायियों-सा कर में-मात्र भिक्षा-पात्र लेकर मानव-जाति के कल्याण की सच्ची लगन से प्रेरित होकर प्रयत्न करें, चार चम्पुओं की छोटी-छोटी नोकाओं के द्वारा सर्प की तरह फुफकारती हुई सामाजिक समुद्री तूफ़ानों को पार करें और जन-मन को सुनाएँ, सन्त विनोबा की अमर वाणी :

"यद्यपि मेरा अपना पेट बहुत छोटा है, किन्तु उस दरिद्रनारायण का बहुत बड़ा है, क्योंकि वह युगों से भूखा है। अपनी-अपनी शक्ति-भर दरिद्रनारायण की पूजा कीजिए। यही वास्तविक यज्ञ—अर्थात् त्याग है।"

निश्चय ही दान सदा से भारतीय परंम्परा का अटूट अंग और सांस्कृतिक एकता का मेरुदण्ड रहा है। लोगों ने जीवन-दान भी दिया था, जिसके साक्षी हैं—'दधीचि' और 'दानवीर कर्ण'। इतिहास के वे पन्ने अपनी गौरव-गाथा में स्वयं इठलाते हैं, जिनमें चित्रित है सम्राट-हर्ष का वह चित्र, जिसमें वह राज्य की पाँच वर्ष की सारी आय दान कर देता है और अपने वस्त्रों को भी देकर अपनी बहन राज्यश्री से वस्त्र माँग कर पहन कर ख़ाली हाथ वापस लौटता है। आज विनोबा, उसी सांस्कृतिक एकता की ओर भारतीय परम्परा की टूटी कड़ी को सही अर्थ में सच्चे ब्राह्मण की भाँति दान लेकर जोड़ने में रेशम के कीड़े की भाँति अपनी ही धुन में मस्त बढ़ते चले जा रहे हैं। हम स्वागत करते हैं, कलियुग के इस अमर सेनानी का और आकांक्षी हैं, इसके संकल्पों के वामनीय-विस्तार का, जिसने दो पगों से पाँच करोड़ एकड़ भूमि और तीसरे से देश में व्याप्त आर्थिक वैषम्य को नाप लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया है।

२०८ बिड़ला छात्रावास,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

—पारसनाथ सिंह

मराठी की कहावतें

(१) देव देते, कर्म नेते
देवता देते हैं, कर्म ले लेता है

(२) उघड़ पाण्याला खड़खड़ाहट फार
थोड़ा पानी अधिक आवाज करता है

(३) जसे पिके तसे विके
जैसा अनाज पके, वैसा विके

(४) नळी फुंकीली सोनारें,
इकडुन तिकडे गेले वारें
सुनार ने नली को इधर से
फूँका और उधर हवा निकल गई
[एक कान से सुना, दूसरे से निकाल दिया]

हैदराबाद

—संग्रह० ललिता देवी

कवियों का चित्रकूट-वर्णन

उत्तर-प्रदेश के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों में चित्रकूट वह पुण्यभूमि है, जहाँ पुण्यसलिला पाप-नाशिनी पयस्विनी बह रही है। वहाँ स्थान-स्थान पर सुन्दर प्रपात एवं सघन वृक्षों की शीतल छाया में तपस्वी साधु कुटियों में धुनी रमाए बैठे रहते हैं। वन में मृगों का किल्लोल, रंग-बिरंगे, पशु-पक्षियों की मधुर स्वर-लहरी, पथिकों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। चारों ओर पर्वतों के ऊँचे शिखरों पर मंदिरों की झाँकी मन हर लेती है। भगवान् रामचन्द्र ने भी अपने बनवास का अधिकांश भाग यहीं व्यतीत किया था। इसलिए भारत के करोड़ों आर्त प्राणियों को आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करनेके लिए चित्रकूट के घोर जंगल और पहाड़ों में भ्रमण करने पर भी वहाँ से लौटने की इच्छा नहीं होती। उन्हें यहाँ सन्तोष होता है, तृप्ति नहीं होती। यहाँ का रजकण मस्तक पर लगा कर ही प्राणियों को आनन्द का अनुभव होता है। चित्रकूट में कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता प्राणी को भौतिक दुःखों से दूर कर सुख-शान्ति व आनन्द का अनुभव न करा दे। चारों ओर पलाश के मनोहर वृक्ष, जंगलों में चैत्र मास में अपनी रंगीन चादर बिछाये रहते हैं। जिधर देखिए कोसों तक टेसू की लाली, आम की डालों पर कोयल का कूकभरा अनुराग चित्त को अनायास हर लेता है।

वन वृक्षों में हर्रा, बहेरा, आँवला, चिरौंजी, खैर, तेन, पनरु, महुआ, बेर, मकोय, बगल से गुजरने वाले पथिकों को कुछ क्षण के लिए रोक लेते हैं। मृगछौने मनुष्यों को देखते ही छलांग मार पर्वत मालाओं के बीच छिप जाते हैं। मन्दाकिनी का कलकल निनाद कानों को पवित्र कर देता है। प्रमोद वन, शीर्षा वन, सीताकुण्ड, स्फटिक शिला आदि पहाड़ियों पर जाने से भूख-प्यास भी नहीं लगती। एक घूँट शीतल जल अमृत का काम करता है। कितना ही चंचल चित्त वाला व्यक्ति हो, किन्तु यहाँ वह शान्त हो जाता है। अनुसूया जी के आश्रम की रमणीयता अपनी ओर आर्षित कर उन बड़े-बड़े नगरों के कोलाहलपूर्ण सुख को अपूर्ण प्रमाणित कर देती है। गुप्त गोदावरी की विचित्रता, हनुमान-धारा का मधुर अमृत-सा जल तथा पर्वतीय दृश्य मन मोह लेते हैं। तभी तो वह ऋषियों की तपोभूमि रही है और आज भी यहाँ अच्छे-अच्छे साधु आकर निवास कर रहे हैं। देवांगना की सीढ़ियों, छोटे-छोटे सोतों का बहना, क्रीड़ा करते हुए पक्षियों के झुंड, कोट तीर्थ की पर्णशालाएँ प्राचीन ऋषियों की भूमि होने का प्रमाण देते हैं। भरत कुण्ड, लक्ष्मण पहाड़ी कामदा गिरि की शोभा, वानरों का किलकिलान, पयस्विनी में चंचल मछलियों की क्रीड़ा किसका मन नहीं मोह लेगी? यहाँ की महिमा का वर्णन कवि की वाणी से परे है। कामदा गिरि, महेन्द्रगिरि तथा जल पान करने वाले धन्य वे लोग जो यहाँ की शीतल वायु का स्पर्श कर जीवन सफल करते हैं। चित्रकूट का वर्णन करते हुए, आदि कवि महर्षि बाल्मीकि ने स्वयं भगवान् रामचन्द्र के मुख से वर्णन काराया है :

(१) "पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणैर्युतम्
शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम्"

हे भद्रे! नाना प्रकार के पक्षियों से परिपूर्ण और गगनस्पर्शी एवं तरह-तरह की धातुओं से युक्त शिखरों से विभूषित इस पर्वत की शोभा तो देखो ॥४॥

(२) "केचिद्रजतसंकाशा : केचितद्रुधिरसन्निभाः
पीतमांजिष्ठवर्णाश्च केचिन् मणिवरप्रभाः"।५।।

इस पर्वत के कोई-कोई शृंग तो चाँदी-जैसे सफेद और चमकीले हैं और कोई-कोई रक्त की तरह लाल हैं, कोई-कोई पीले और मजीठ के रंग जैसे जान पड़ते हैं और कोई उत्तम मणियों की प्रभा जैसे चमकीले देख पड़ते हैं ।।५।।

"भित्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः ।
चित्रकूटस्य कूटोऽसौ दृश्यते सर्वतः शुभः" ।२३॥

ऐसा जान पड़ता है मानों यह चित्रकूट पर्वत पृथ्वी को फोड़ कर निकला हो। इस पर्वत का अग्रभाग चारों ओर से कैसा सुहावना जान पड़ता है ॥२३॥

महाकवि कालिदास, के, 'रघुवंश' महाकाव्य में भी चित्रकूट का उल्लेख हुआ है :

"चित्रकूट बनस्थश्च पतितः स्वर्गतो गुरो
लक्ष्म्या निमंत्रयांचक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदः"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम के दर्शन हेतु व्याकुल होकर कहा है :

अब चित चेति चित्रकूट चलू
(विनय पत्रिका)

मन की यह साध लिए वह चित्रकूट के लिए चल पड़े। चित्रकूट घाट पर ही तो चन्दन घिसते हुए उन्होंने भगवान् का दर्शन पाया।

"चित्रकूट के घाट पर भई सन्तन की भीर
तुलसीदास चन्दन घिसे, तिलक देत रघुबीर"

"चित्रकूट गिरि करहु निवासू
तहं तुम्हार सब भाँति सुपासू
सैलु सुहावन कानन चारू
करि केहरि मृग बिहग बिहारू"

चित्रकूट पहुँचने पर श्री रामचन्द्र जी से मुनि वाल्मीकि जी उनके निवास के लए चित्रकूट की महिमा कहते हुए आश्रम बता रहे हैं।

"नदी पुनीत पुरान बखानी
अत्रिप्रिया निज तपबल आनी
सुरसरि धार नाउं मन्दाकिनि
जो सब पातक पोतक डाकिनि"

वहाँ पवित्र नदी है, जिसकी पुराणों ने प्रशंसा की है, और जिसको अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसूया जी अपने तपोबल से लायी थी। वहाँ गंगा जी की धारा है, उसका मन्दाकिनी नाम है। वह सब पापरूपी बालकों को खा डालने के लिए डाकिनी (डाइन) रूप है।

अब श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण जी से स्थान का वर्णन करते हुए यहीं कुटिया बनाने का संकेत कर रहे हैं।

"रघुबर कहेउ लखन भल घाटू
करहु कतहुं अब ठाहर ठाटू
लखन दीख पय अचल अहेरी
चुकई न घात मार मुठभेरी"

नदी उस धनुष की प्रत्यंचा (डोरी) है और शम, दम, दान, बाण हैं। कलियुग के समस्त पाप उसके अनेकों हिंसक पशु (रूपनिशाने) है। चित्रकूट ही मानों अचल शिकारी है, जिसका निशाना कभी चूकता नहीं और जो सामने से मारता है ॥१॥

चित्रकूट के पक्षियों का विहार का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं :

"नीलकंठ कलकल सुक चातक चवक चकोर
भाँति भाँति बोलहिं विहग श्रवण सुखद चितचोर"

नीलकण्ठ, कोयल, तोते, पपीहे, चकवे और चकोर आदि पक्षी कानों को सुख देने वाली और चित्त को चुराने वाली तरह-तरह की बोलियाँ बोलते हैं।

"करि केहरि कपि कोल कुरंगा
बिगत बैर बिहरहिं इक संगा
फिरत अखेट राम छबि देखी
होहि मुदित मृग बृन्द विशेषी
बिबुध विपिन जहं लगि जग मांही
देखि राम बन सकल सिहाही
सुरसरि सरस्वति दिनकर कन्या
मेकलसुता गोदावरि धन्या
× × ×
शैल हिमांचल आदिक जेते
चित्रकूट-जस गावहिं तेते
बिन्ध्य मुदित मन सुख न समाई
बिनु श्रम विपुल बड़ाई पाई"

"चित्रकूट के बिहग मृग बेलि विटप तृन जाति
पुन्य पुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिन-राति"

(क)

गोस्वामी जी की कवितावली में भी चित्रकूट का अत्यन्त सरस वर्णन इस प्रकार किया गया है :

"जहाँ वन पावन सुहावनों विहंग मृग
देखि अति लागत आनन्द खेत खूट सो
सीताराम लखन निवास वास मुनिन को
सिद्ध साधू साधक सबै विवेक बूट सो
झरना झरत झीर शीतल पुनीति वारी
मंदाकिनी मंजुल महेश जटाजूट सो

१६५७-

तुलसी जो राम सो सनेह सांचो चाहिए
तो सेइये इन्हें से विचित्र चित्रकूट सो,''

× × ×

अपने चित्रकूट-प्रेम के सम्बन्ध में वे कहते हैं।

''सब दिन चित्रकूट नीको लगत,
वरषा ऋतु प्रवेस विशेष,
गिरि देखन मन अनुराग तब
चहु दिसि बन संघन्त,
बिहंग मृग बोलत सोभा पावत
जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा,
सकल सुख छावत
सोहत स्याम जलद मृत ओरत,
धातु रंग मगे संृगकि
सिरत परसघन घटहिं मिलति बग
पांति सोहत छवि कवि बरनी
आदि बराह बिहरि वारि दमनो,
उठ्यो है दसन धरि धरनी
जल जुत विमल सिलनी झलकत,
नभ बन प्रतिबिम्ब तरंग
मानहुं जग रचना विचित्र,
बिलसाते विराट अंग अंग''

चित्रकूट व्यथित तथा विपत्तिग्रस्त प्राणी के लिए सहायक है। एक बार कवि रहीम दिल्ली के सुख-वैभव से विरक्त हो चुके थे। सम्राट् अकबर भी उनके प्रतिकूल होने लगा था। समय की गति देख रहीम सीधे चित्रकूट पधारे और गुप्तवास की दृष्टि से एक भड़भूँजे के यहाँ भाड़ झोंकने का काम करने लगे। कुछ काल व्यतीत होने पर अकबर को रहीम के मोह ने सताया। उसे पता चला कि रहीम चित्रकूट जाने की इच्छा प्रकट करते थे। अकबर स्वयं गुप्तचरों को साथ ले चित्रकूट आया।

उसे मालूम हुआ कि रहीम की शक्ल का एक बूढ़ा भड़भूँजे की दूकान पर भाड़ झोंकता है तो अकबर उसी राह चल पड़ा। वह उसी स्थान पर पहुँचा जहाँ बूढ़ा भाड़ झोंक रहा था।

बादशाह ने एक पद पढ़ा :

''जाके सिर अस भार
सो झोंकत यह भार कस ?''

इस पर रहीम ने कैसा चुभता उत्तर दिया, सो निम्नलिखित पद से पता चलता है। उन्होंने कहा :

''रहीमन उतरे पार,
भार झोंकि सब भार में''

रींवां नरेश को एक पत्र में रहीम ने लिखा :

''चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेश
जा पर विपदा पड़ति है सो आवत इहि देश''

यह पत्र एक निर्धन व्यक्ति की सहायता के लिए लिखा गया था। रींवां नरेश ने उसे एक लाख मुद्रा दी।

अब देखिए ''राम स्वयंवर'' के रचयिता स्वर्गीय श्री. रींवांनरेश महाराज रघुराजसिंह जी थोड़े शब्दों में कैसा सुन्दर भाव प्रकट करते हैं :

''बसे विचित्र चित्रकूटहिं,
पुनि परन करी रचि नीकी
लह्यो महा सुख सहित लषण,
सिय अवधपुरी में फीकी
राम विरह बिलखत आधी,
निशि भूपति तज्यो शरीरा
केकयपुर ते भरत बोलायो,
गुरु बशिष्ट मति धीरा
समुझायो बहु राज करन को,
भरत कियो नहिं राज
चल्यौ चित्रकूटहिं भरत,
बसत जहाँ रघुराज''

आचार्य केशव जी ने अपनी रामचन्द्रिका में चित्रकूट के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कितनी सरस भाषा में किया है :

''बहुबाग तड़ाग तरंगिनि तीर,
तमाल की छाँह विलोकि भली
घटिका यह बैठत है सुख पाय,
बिछाय तहाँ कुस काँस थली
मग को श्रम श्रीपति दूर करै,
सिय को शुभ बल अंचल सो
श्रम तेऊ हरे तिनको कहि केशव,
चंचल चारु दृगंचल सों

मारग मो रघुनाथ जू,
दुख-सुख सब ही देत
चित्रकूट परबत गए,
सोदर सिया समेत"

श्री बिहारीलाल जी विश्वकर्मा (कौतुक) जी भी चित्रकूट को न भूले जो कौशलेन्द्र कौतुक नाम काव्य में चित्रकूट का वर्णन करते हैं :

"विमल विशाल सुखदायक सकल काल
साधक प्रसिद्ध सिद्ध सेवक सकल है
सिख सुहावनों नसावनों त्रिविध ताप
मंदाकिनि तीर रम्य राजित अचल है
कौतुक, त्यो विपुल प्रसन्न फल दल है
बन्धु सिय सव्रत सदैव रहिवे के योग्य
परम पवित्र नाथ चित्रकूट थल है
परम उदार है बिहार थल संतन को
प्रगट प्रभाव भाव बन्धन को छूट है
ज्ञान को निधान परमानन्द की खान यहाँ
राजत विराग सदा अटल अटूट है
साधकन सिद्धि देत सुजन समृद्धि देत
मुक्ति-मुक्ति माने की मचाईन लूट है
सदगुन धाम लघु बन्धु सों कहत राम
परम पवित्र थे विचित चित्रकूट है"

राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरण जी गुप्त ने "साकेत" में चित्रकूट का वर्णन कई प्रकार किया है, किन्तु विस्तार भय से थोड़े ही में उनके वर्णन प्रकट कर दिए जाते हैं :

"चल, चपल कमल, निज चित्रकूट चल देखें
प्रभु-चरण चिन्ह पर सफल भाल लिपि लेखे
सम्प्रति साकेत समाज वही है सारा
सर्वदा हमारे संग स्वदेश हमारा"

× × ×

"क्या ही विचित्रता चित्रकूट ने पाई
सम्पूर्ण अयोध्या जिसे खोजती आई"

× × ×

प्रसाद जी का चित्रकूट-वर्णन :

"उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे
धीरे-धीरे उठे नई आशा से मन में
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ स्वच्छन्द गगन में
चित्रकूट भी चित्र लिखा-सा देख रहा था
मंदाकिनी तरंग उसी से खेल रहा था
स्फटिक शिला-आसीन राम-बैदेही ऐसे
निर्मल सर में नील कमल नलिनी हो जैसे
शान्त नदी का स्रोत बिछा था अति सुखवारी
कमल-कली ला नृत्य हो रहा था मनहारी"

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के क्षेत्र में भी चित्रकूट ने अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है यहाँ तो हमने केवल प्रमुख कवियों की चुनी रचनाओं के कुछ अंश प्रस्तुत किए हैं यदि इस पर विस्तार से विचार किया जाए तो व्यापक साहित्य उपलब्ध होगा।

अभिमन्यु पुस्तकालय,
दशाश्वमेध रोड, बनारस

—बनारसीलाल आर्य

"प्रत्येक आदमी अपनी माता के विषय में लिखते हुए यह अवश्य कहता है कि मेरी जैसी माता न किसी की थी, न है और न हो सकती है।......मेरी पूज्य माता भी ऐसी ही थीं।"

—श्रीनिवास शास्त्री

उत्कल-प्रदेश में मेरे १०० दिन

[श्रीयुत छबीलदास एम. ए. नैशनल कालेज, लाहौर के प्रिन्सिपल थे। उन्होंने राष्ट्रीय जागृति और आन्दोलन में अपना समस्त जीवन लगा दिया। बरसों वे जेल में रहे। इस समय वे आन्ध्र-प्रदेश के गवर्नर के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं। वे एक शिक्षा-शास्त्री हैं और जनता के जीवन-स्तर को उच्च बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं—सं.]

पूँजीवाद की अव्यवस्था और धाँधली के युग में अधिकांश मनुष्यों को परिस्थितियों की चक्की में पिसना पड़ता है। यह एक दुःखद किन्तु कटु सत्य है कि उन परिस्थितियों के निर्माण में भी प्रायः मनुष्य का हाथ नहीं होता। मुझे कभी स्वप्न में भी यह नहीं सूझ सकता था कि मेरे जीवन में एक ऐसा भी समय आएगा कि भारत के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और खैबर-दर्रे के अड़ोस-पड़ोस का निवासी हज़ारों मील की यात्रा करता हुआ, दक्षिण में आ जाएगा। कुछ भी हो, परिस्थितियों ने मुझे भी उत्तर से ला कर विन्ध्याचल के पार दक्षिण में ला पटका और वह भी आन्ध्र-प्रदेश की राजधानी हैदराबाद में।

हैदराबाद आने से पूर्व मुझे कई मास उत्कल-प्रदेश की राजधानी कटक में रहने का अवसर मिला। इसी उत्कल-प्रदेश को ही कलिंग अथवा उड़ीसा के नाम से भी पुकारा जाता है। यह वही कलिंग-प्रदेश है, जिसको जीतने के लिए मौर्य सम्राट् अशोक ने भारी सेना के साथ चढ़ाई की थी और जहाँ भयानक युद्ध, मारकाट और रक्तपात के बीभत्स दृश्यों ने एक क्रूर, नृशंस और महत्वाकांक्षी अशोक को, अहिंसा तथा विश्वशान्ति के अवतार भगवान् तथागत के चरणों पर शीश झुकाने पर विवश कर दिया था। कलिंग की पवित्रभूमि में ही अशोक के हृदय में एक महान् और क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और उसके बाद उसने अपने बौद्ध मतानुयायी होने की घोषणा कर दी। संसार का इतिहास साक्षी है कि ख्याति के आकाश में सम्राट् अशोक के उज्जवलतम नक्षत्र की भाँति चमकने का कारण वही अहिंसावाद की नीति को अपनाना ही तो था। उस दिन से सम्राट् अशोक ने विश्वविजय का जो विशाल कार्यक्रम बना लिया, वह सेनाओं तथा पशुबल के द्वारा संसार के कोने-कोने में मौर्य पताका फहराना नहीं था, वरन् अपने प्रचारकों, विद्वानों तथा मिशनरियों द्वारा उस समय के ज्ञात जगत् में शान्ति तथा अहिंसा के अवतार भगवान् गौतम बुद्ध का शान्तिप्रद सन्देश पहुँचा कर करोड़ों मनुष्यों की आत्माओं और हृदयों पर विजय प्राप्त करना था। महाराज अशोक की इसी नीति का परिणाम था कि बौद्ध भिक्षु तथा प्रचारक चीन, जापान, मंगोलिया, मंचूरिया, लंका, ब्रह्मा, स्याम, कम्बोडिया, तिब्बत, ईरान, ईराक, मिश्र आदि देशों में फैल गए और आज २२०० वर्ष बाद भी संसार के एक तिहाई से अधिक भाग में बौद्ध-धर्म के अनुयायी मौजूद हैं जो भगवान् तथागत को ही अपना मुक्तिदाता मानते हुए, उन्हीं के चरणों पर अपना मस्तक झुकाते हैं।

यह वही उत्कल प्रदेश अथवा उड़ीसा है, जहाँ पहुंच कर राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को भारतवर्ष की वास्तविक आर्थिक स्थिति का ज्ञान हुआ कि भारतवासी कितने दीन, हीन और कंगाल हैं। स्वर्गवासी दीनबन्धु पादरी सी० एफ़० एण्ड्रूज़ ने जब उड़ीसा के विषय में God forsaken Province (भगवान् का परित्यक्त और विस्मृत प्रान्त) का प्रयोग किया था, तो उसमें किंचित् मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं थी। भारत को स्वतन्त्र हुए पूरे दस वर्ष हो चुके हैं परन्तु आज भी कोई नेता, शासक अथवा बाहर से नौकरी, व्यापार अथवा पर्यटनार्थ वहाँ गया हुआ व्यक्ति अपनी छाती पर हाथ रख कर यह नहीं कह सकता कि उड़ीसा स्थायी दुर्भिक्ष की भूमि (Land of chronic famine) नहीं रहा। उड़ीसा में सदैव अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ते रहे हैं। अतिवृष्टि से महानदी, कठजोड़ी, वैतरणी तथा कर्मनाशा आदि नदियों में इतने ज़ोर की बाढ़ आती है कि सैकड़ों हज़ारों वर्गमील में फैले हुए ग्राम जलमग्न हो जाते हैं और किसानों की जीविका के आधारभूत धान की खेती तथा अन्न के भण्डार नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं। जिस वर्ष इन्द्र देव की उदारता से लोग बच जाते हैं, उस साल उन्हें दैवी कृपणता अर्थात् अनावृष्टि (खुश्कसाली) का शिकार होना पड़ता है। चालू वर्ष में भी बिहार पश्चिमी उत्तर-प्रदेश और मध्य-प्रदेश की भाँति उड़ीसा वर्षा के अभाव के कारण अन्न संकट से ग्रस्त है।

उड़ीसा प्रान्त न तो राजस्थान की तरह एक असीम शुष्क मरुस्थल है और न ही आसाम की तरह उसका अधिकांश घने वनों, पहाड़ों और ऊबड़-खाबड़ धरती से पटा हुआ है। उड़ीसा के १३ ज़िलों की ख़ाली भूमि उपजाऊ है। कृषिधन के अतिरिक्त उड़ीसा का खनिज द्रव्य भी तो असीम है। उड़ीसा के कई भागों में तो भूगर्भविद्या-विशारदों द्वारा अभी तक निरीक्षण (Survey) ही पूरी तरह से नहीं हो गया, जहाँ लोहे, ताँबे और कोयले की खानें पाई जाती हैं।

इन पंक्तियों के लेखक को लगभग भारत के समस्त भागों में भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हुआ है पर जैसी ग़रीबी, दरिद्रता, निस्सहायता और दयनीय अवस्था उड़ीसा-निवासियों की मैंने देखी है, वैसी सिवाय भारत के नामधारी स्वर्ग (काश्मीर) के और कहीं नहीं देखी।

अब ज़रा यह सोचना चाहिए कि उड़ीसा की इस दरिद्रता के राजनैतिक कारण क्या हैं?

वर्षों तक उड़ीसा को बंगाल तथा बिहार-जैसे प्रान्तों का दुमछल्ला बन कर रहना पड़ा है। अपना स्वतन्त्र और पृथक् व्यक्तित्व रखने का सौभाग्य उड़ीसा को हाल ही में, अर्थात् १९३७ से प्राप्त हुआ है। जिस समय भारत स्वतन्त्र हुआ और उसकी छोटी-मोटी ६०० देसी रियासतों अर्थात् रजवाड़ों के भविष्य का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो भारत के विख्यात नीतिविशारद लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपनी असीम दूरदर्शिता तथा नीति-चातुर्य से उन रजवाड़ों के शासकों को यह सुझाव दिया कि उनका, उनकी प्रजा तथा देश-भर का स्वार्थ तथा हित इस बात की माँग करता है कि वह अपने भाग्य को भारत के भाग्य में ही विलीन कर दें, इसी में सभी का कल्याण हो सकता है। देश के सौभाग्य से यह बात अधिकांश शासकों ने शीघ्र ही मान ली। इस प्रकार उड़ीसा में छत्तीसगढ़ की सभी देसी रियासतें सम्मिलित हो गईं। उड़ीसा का अधिकांश, अभी तक इस स्थिति में है कि वहाँ अभी तक आधुनिक सभ्यता के साधन: रेल, तार, सड़कें, स्कूल, चिकित्सालय, धनोपार्जन के आधुनिक साधन अर्थात् फ़ैक्ट्रियाँ और कारख़ाने आदि नहीं बन पाए। आज भी उड़ीसा के साठ हज़ार वर्ग-मील के प्रदेश में केवल एक ही रेल्वे लाइन है, जो कलकत्ता से मद्रास जानेवाले समुद्रतट के साथ-साथ चलती है। उड़ीसा के आन्तरिक भागों में रेल्वे लाइनों तथा मोटर की सड़कों आदि यातायात के साधनों का भारी अभाव है। जहाँ उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार और दक्षिण के मद्रास, आन्ध्र प्रदेश और मालाबार में रेलों तथा सड़कों का जाल बिछा हुआ है, वहाँ उड़ीसा की स्थिति सर्वथा भिन्न है। सड़कों की यह हालत है कि अभी तक उड़ीसा की राजधानी कटक से कलकत्ता तक सड़क पर, कई नदियों को पार करने के लिए पुलों का निर्माण तक नहीं हुआ और अधिकांश सड़कों पर (Fair weather roads) अर्थात् केवल अच्छे मौसम में चालू रहने वाले राजपथ के बोर्ड लगे हुए हैं।

इस समय उड़ीसा के सर्वांगीण विकास तथा सर्वतोमुखी उन्नति के लिए निम्न लिखित क़दम उठाने की भारी आवश्यकता है:

(१) प्रदेश-भर में रेल्वे लाइनों का निर्माण किया जाए और राज्य के १३ ज़िलों में से सभी का सम्बन्ध रेलों द्वारा अथवा मोटर-सड़कों द्वारा राजधानी से जोड़ दिया जाए।

(२) बिहार की भाँति उड़ीसा में भी खनिज पदार्थों अर्थात् लोहा और कोयले की खानों का (Survey) करते हुए वहाँ से यह पदार्थ निकाले जाएँ और विशेष इलाक़ों में टाटा नगर की तरह इस्पात के कारख़ाने खोले जाएँ। सौभाग्य से रोहरकेला की इस्पात फैक्टरी ने इस अभाव को पूरा करना शुरू कर दिया है।

(३) जिस प्रकार भारत के अन्य प्रदेशों में नदियों के बाँध तैयार करते हुए— भाखड़ा नाँगल, निज़ाम

सागर, नागार्जुन सागर, दामोदर घाटी, शारदा बाँध आदि से सिंचाई तथा विद्युत् शक्ति उत्पादन के साधन भी निकाले गए हैं; उसी प्रकार उड़ीसा की नदियों से ही लाभ उठाया जाए। महानदी के हीराकुण्ड डैम से यहाँ भी उसी शुभ तथा कल्याणकारी कार्यक्रम का श्रीगणेश कर दिया गया है। यह अत्यन्त हर्ष तथा सन्तोष का विषय है।

(४) उड़ीसा की डेढ़ करोड़ की जनसंख्या में से दो तिहाई अर्थात् लगभग एक करोड़ लोग, आदिवासी, हरिजन तथा (Scheduled castes) तथा (Scheduled tribes) से सम्बन्ध रखते हैं। यह लोग आज बीसवीं शताब्दी में भी आदिम युग के लोगों की तरह जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें तो शायद इस बात की अनुभूति ही नहीं है कि सभ्यता के विकास तथा उन्नति के लिए उनके इलाक़ों में भी रेल, तार, टेलीफ़ोन, रेडियो, सड़कों, मोटरों, स्कूलों, अस्पतालों, कल कारखानों की भी आवश्यकता है। परन्तु उनके अत्यन्त हीन जीवन-स्तर को सामने रखते हुए देश के कर्णधारों तथा नेताओं का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इधर भी ध्यान दें। यदि वर्तमान सभ्यता के प्रतीक—रेल, डाक, तार, रेडियो, सिनेमा, हवाई जहाज़ आदि संसार के अन्य भागों और भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के लिए उपयोगी समझे जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि वह उड़ीसा के लिए क्यों न हित कर सिद्ध हों। मेरे मित्र उड़ीसा के मुख्य-मन्त्री, श्रीयुत हरेकृष्ण मेहताब ने मुझे बतलाया कि सभ्यता के क्षेत्र में पिछड़े हुए ये आदिवासी लोग तो (Universal adult Franchise) प्रत्येक वयस्क भारतवासी के मताधिकार के देशव्यापी प्रयोग को, काफ़ी हद तक असफल बनाने के ज़िम्मेदार हैं, क्योंकि इन बेचारों की समझ में, राजा, ज़मींदार और जागीरदार शब्द तो आते हैं, परन्तु देश की वर्तमान राजनीति तथा राजनीतिक दलों (कांग्रेस, सोशलिस्ट-दल कम्युनिस्ट पार्टी, कृषक प्रजामण्डल) इनकी समझ से परे हैं। इसके लिए खासा समय तथा सुधार की ज़रूरत है। यही कारण है इस प्रदेश में बड़े-बड़े भूमि-पतियों, राजाओं और ज़मींदारों को विधान सभा तथा लोकसभा के चुनाव में पर्याप्त सफलता प्राप्त करने का अवसर मिल गया। अतः आवश्यक है कि इन पिछड़े हुए आदिवासियों के राजनीतिक स्तर को भी ऊँचा उठाने के भागीरथ प्रयत्न किए जाएँ। इस विशाल कार्य के लिए भारत सरकार ही विशेष साधन जुटा सकती है।

उड़ीसा, जहाँ दरिद्रताग्रस्त है, वहाँ वह अपने भव्य मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों के लिए भी देश-भर में विख्यात है। पुरी के श्री जगन्नाथ-मन्दिर की गणना भारत के चार धामों में की जाती है। शेष तीन धाम उत्तर में बद्रीनाथ, केदारनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम् तथा पश्चिम में द्वारका है। श्री जगन्नाथ जी की रथयात्रा के उत्सव में सम्मिलित होने, देशभर से लाखों नरनारी और श्रद्धालु यात्री पुरी में आते हैं। पुरी के अतिरिक्त भुवनेश्वर में लिंगराज, मुक्तेश्वर तथा राजरानी के मन्दिर दर्शनीय हैं। परन्तु सबसे अधिक प्रसिद्ध मन्दिर तो सूर्यदेव का कोणार्क में है, जो पुरी से ५५ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है; कहते हैं इस मन्दिर का निर्माण १३ वीं शताब्दी में राजा अनंगदेव ने ४० करोड़ रुपए की लागत से कराया था। और इस पर १२०० दक्ष कारीगर १६ वर्ष तक निरन्तर काम करते रहे। यह मन्दिर आज भग्नावशेष होते हुए भी भारत की मध्यकालीन स्थापत्य-कला, मूर्ति-निर्माण-कला तथा चित्रकला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लेकर संसार भर के विद्वानों, पर्यटकों, यात्रियों, कलाकारों और आलोचकों ने इस देवालय के मुग्धकारी सौन्दर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सचमुच ही, जिसने कोणार्क के सूर्य मन्दिर के दर्शन नहीं किए, उसका ज्ञान भारतीय कला के विषय में अपूर्ण ही रहेगा।

यातायात के आधुनिक साधनों के अभाव तथा सभ्य संसार के सम्पर्क से कहीं पृथक् और दूर पड़े हुए, उड़ीसा में आज भी वही पुरानी धर्म में श्रद्धा, पुरोहितवादिता आदि पुरानी जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं और अनावश्यक प्राचीन प्रथाओं और रीति-रिवाजों तथा अन्धविश्वासों का बाहुल्य पाया जाता है। वहाँ जाकर ऐसा अनुभव होता है कि इस प्रदेश के लोगों ने आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज तथा प्रार्थना-समाज आदि प्रगतिशील आन्दोलनों और संस्थाओं का तो स्वप्न में भी नाम नहीं सुना। उड़ीसा के तीर्थ-स्थानों तथा मन्दिरों की लगभग वही दशा है, जो भारत के अन्य तीर्थ-स्थानों की हो रही है। भारत में, एक ऐसा स्वर्णमय युग रहा, जब यह मन्दिर तथा तीर्थ-स्थान करोड़ों नरनारियों की आध्यात्मिक तृषा शान्त करने के माध्यम

रहे होंगे और अपने जीवन की सभी क्रियाओं के लिए इन्हीं पवित्र स्थानों से प्रेरणा प्राप्त करते रहे होंगे। प्रत्येक देवस्थान किसी-न-किसी मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, अगस्त्य, लोमश का शिक्षणालय तथा आश्रम रहा होगा, जहाँ आकर जन साधारण तथा राजा से रंक तक शिक्षा प्रेरणा, उत्साह, प्रकाश तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त करते रहे होंगे। पुरी के श्री जगन्नाथ मन्दिर से सम्बद्ध एक पुरातत्व अनुसन्धान-शाला तथा प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का एक विशाल संग्रह है, जहाँ पंडित सदाशिव जैसे प्रकाण्ड विद्वान् प्राचीन भारत के लुप्त गौरव को पुनः प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अमेर-मठ के महन्त जी, श्री शंकर-मठ के अध्यक्ष तथा चैतन्य महाप्रभु के सोनार-मठ के संचालन में कृतयुग की धर्म परायणता, श्रद्धा तथा मानव समाज की समानता तथा भ्रातृत्व की याद दिलाते हैं।

यदि उड़ीसा की सरकार पूरी म्युनिसिपैलिटी तथा कुछ लोग प्रयत्न करें तो पूर्व के तट को बिहार, बंगाल, उत्तर-प्रदेश के यात्रियों और पर्यटकों को आकृष्ट करने का साधन बनाया जा सकता है। इससे पुरी-जैसे नगर की आय में भी वृद्धि हो सकती है।

उड़ीसा के राय बहादुर भिखारीदास की कुटीर-उद्योग की ऐसी संस्था है, जिसके दर्शन किए बिना उड़ीसा-यात्रा सफल नहीं कहला सकती। (wealth from waste) रद्दी से धनोत्पादन के नुस्खे तो कोई बाबा भिखारी दास से ही सीखे। हज़ारों सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी कार्यालयों, स्कूलों तथा कालेजों तथा समाचार-पत्रों में प्रति वर्ष हज़ारों मन काग़ज़ को रद्दी बना कर फैंका अथवा जला दिया जाता है, परन्तु उनको (Paper Pulp) काग़ज़ की लेई का रूप देकर उनसे नाना प्रकार के आकर्षक और मनमोहक खिलौने तथा मूर्तियाँ बनाना एवं हज़ारों मन रस्सियों तथा बोरियों और टाट के पुराने टुकड़ों तथा फटे-पुराने कपड़ों का कायाकल्प करते हुए, उनसे देव मूर्तियाँ, चटाइयाँ, दीवारों के पर्दे बना लेने का कौशल तो उन्हीं बूढ़े जादूगर से सीखने की आवश्यकता है। क्या ही अच्छा हो कि समस्त भारत से इस चमत्कारी विद्या को सीखने के लिए जिज्ञासु कटक पहुँचें और लाभ उठाएँ।

भैंसों के सींग जैसे कुरूप तथा भद्दे पदार्थ से उड़ीसा के कारीगर नाना प्रकार के खिलौने, कंघियाँ, छड़ियों के दस्ते तथा घर के Mantle piece सजाने का सामान तैयार करते हैं।

उत्तरी भारत से आने वाले यात्री को एक बात जो आश्चर्य-चकित करती है, वह यहाँ के लोगों का खान-पान है। यहाँ के ब्राह्मण और पण्डे पुरोहित तक भी माँस-मछली और अण्डे आदि खाने में संकोच नहीं करते, हालाँकि उत्तरी भारत में हिन्दुओं के ये धार्मिक नेता तथा जाति के आध्यात्मिक पथप्रदर्शक इन पदार्थों को तामसिक तथा अभक्ष समझते हुए उन्हें निषिद्ध तथा वर्जित करते हैं। उड़ीसा में यात्रा करते हुए निरामिष तथा शाकाहारी लोगों को काफ़ी कष्ट तथा दिक्क़त का सामना करना पड़ता है।

उड़ीसा के समुद्र-तट के ज़िलों—वालेश्वर, कटक, पुरी तथा गंजाम आदि में नारियल ख़ूब पैदा होते हैं। नारियल एक ऐसा पेड़ है जो बारह महीने फलता-फूलता रहता है। यदि नारियल के वृक्ष को निर्धनों का कल्पवृक्ष कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस किसान के खेत अथवा उद्यान में ३०-४० नारियल के पेड़ लगे हुए हों; उसके लिए स्थायी आय का अन्य साधन जुटाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उन्हीं पेड़ों की उपज से ही सारे परिवार का निर्वाह आनन्दपूर्वक चलता जाता है। ये लोग नारियल से ऐसे मधुर खाद्य-पदार्थ तथा मिठाइयाँ तैयार करते हैं जिनके रसास्वादन से विशेष आनन्द आता है।

उड़ीसा के लोग सीधे-सादे, शान्तिप्रिय, सदाचारी, धर्मप्रधान वृत्तियों वाले (धर्मभीरु) परन्तु कुछ-कुछ आलसी होते हैं। उत्तरी भारत के लोगों-जैसी कार्यशीलता, जागरूकता, उत्साह तथा अक्खड़पन यहाँ नहीं पाया जाता।

उड़ीसा की राजनीतिक हलचलों, विभिन्न राजनीतिक दलों, उनकी रीति-नीति, उड़ीसा की ललित कलाओं—संगीत, नृत्य आदि तथा उड़ीसा की उन्नति की आर्थिक योजनाओं एवं उड़ीसा के भविष्य पर किसी अन्य लेख में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाएगा।

—छबीलदास

लेकव्यू अतिथिगृह,
हैदराबाद (आ. प्र.)

शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति

अठारहवीं शताब्दी में आते-आते शिक्षा में बालक की रुचि, वातावरण और वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा पर महत्व दिया जाने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं वैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की कुछ विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

रूसो ने जिस प्रकृतिवाद की शिक्षा दी थी, उसी का यह परिवर्तित एवं संस्कृत रूप है। शिक्षा में कृत्रिम वातावरण, कृत्रिम विधि, कृत्रिम विषय-चयन नहीं होना चाहिए। शिक्षा तो मनुष्य में अन्तर्निहित प्राकृतिक शक्तियों का स्वाभाविक वातावरण में विकास करना है। इस प्रवृत्ति में पाठ्य-विषयों पर ध्यान दिया गया है। सामाजिक प्रवृत्ति में पाठन-विधि और पाठ्य-विषयों, दोनों पर महत्व दिया गया है। अतः यह प्रवृत्ति उससे भी पहले आती है। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति में 'रुचि के अनुकूल शिक्षा' (Education of interest) और 'प्रयत्न के द्वारा शिक्षा' (Educatian of efforts) का समन्वय किया है। शिक्षा में प्रकृति शब्द का अर्थ केवल मानव-प्रकृति तक ही सीमित रहा और धीरे-धीरे शिक्षा हेतुवाद (Rational Psychology) पर आधारित हुई। इस प्रकृति ने अपने आपको केवल शिक्षक-विधि तक ही सीमित रखा। किस प्रकार से स्कूल का वातावरण रोचक बनाया जाए, किस प्रकार से अध्यापकों को पढ़ाने की शिक्षा देकर बच्चों की शिक्षा का भार उन पर सौंपा जाए? बालकों की रुचि के अनुकूल शिक्षा देना ही इस प्रवृत्ति का एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार बालक के प्रति सहानुभूति, उसकी योग्यता और प्राकृतिक शक्ति का ज्ञान, उसकी रुचि के अनुकूल शिक्षा देने का विचार, जिन पर अब तक ध्यान नहीं दिया गया था, उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने ध्यान दिलाया।

प्रारंभिक शिक्षा-क्षेत्र में भी कोई नई सुधार-योजना नहीं बनी थी। यथार्थवादियों और मानवतावादियों ने उच्च शिक्षा, बिदेशी भाषा और साहित्य के पठन-पाठन पर ही विशेष ध्यान दिया था। कामेनियस (Comenius) ने यद्यपि प्रारंभिक कक्षाओं की शिक्षा के विषय में लिखा था किन्तु उसकी पुस्तकें 'लेटिन स्कूल' के लिए ही थीं। परन्तु मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के परिलक्षित होते ही प्रारंभिक शिक्षा को विकास की ओर लाया गया। इस प्रवृति का मुख्य आदर्श यह था कि शिक्षा व्यक्तिगत विकास की विधि है। इस प्रकार शिक्षा में बालक की व्यक्तिगत योग्यता और शक्ति को ध्यान में रख कर उसे शिक्षा देनी चाहिए। व्यक्तिगत दृष्टिकोण के साथ-साथ शिक्षा में लोकप्रिय एवं सार्वभौमिक भावना होनी चाहिए। यद्यपि अरस्तु के मानसिक शक्तियों के विकास के सिद्धान्त में मध्ययुग में बहुत-कुछ सुधार हो चुके थे किन्तु कोई विशेष प्रगति अब तक नहीं दिखाई दी। डेकार्ट, हाब्स और स्पिनोज़ा ने भौतिक और मानसिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला था। लाम ने प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही शिक्षाक्रम आधारित किया था किन्तु हरबर्ट ही ऐसा प्रथम व्यक्ति था, जिसने सबसे पहले मन की शक्तियों का पता लगाया जिनसे, ज्ञान प्राप्त होता है और इस प्रकार उसने परीक्षण-शैली और अंक-गणित की शिक्षा पर बल दिया। इस प्रकार हरबर्ट से पुराने और नए मनोविज्ञान के दो अंग हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति दो रूपों में प्रकट हुई। प्रथम दृष्टिकोण को मानने वाले एस्टालाजी, हरबर्ट और फ़ोबल हैं, जिन्होंने शिक्षा के व्यावहारिक रूप पर अधिक बल दिया और उसमें परीक्षण (Experimentatiou) शैली को भी अपनाया। दूसरे दृष्टिकोण को मानने वाले शिक्षा में आध्यत्म और दर्शन को लेकर चले। कॉन्ट ने इस विचार-शैली का प्रतिनिधित्व किया।

१७२४ से १८०४ तक कॉन्ट (Kant) के विचारों में लाक और रूसो के विचारों का समन्वय मिलता है। उसी ने प्रकृति (Nature) और अनुशासन का समन्वय किया। 'मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा के अन्दर लालन-पालन, अनुशासन और शिक्षण सभी कुछ आता है। बालक को हमें प्रारंभिक शिक्षा देनी है। बालक को नियन्त्रण के द्वारा शिक्षा और किशोर को वास्तविक ज्ञान। मनुष्य

में बहुत-से गुण अविकसित रूप में पड़े रहते हैं। यह हमारा कर्तव्य है कि हम उन गुणों को शिक्षा के द्वारा विकसित करें। कॉन्ट के अनुसार शिक्षा केवल वर्तमान के लिए ही नहीं अपितु भविष्य के लिए आयोजक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कॉन्ट ने शिक्षा को निम्न लिखित भागों में विभाजित किया :

(क) शिक्षा के द्वारा मनुष्य अनुशासन में रहना सीखे।

(ख) शिक्षा में एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण हो।

(ज) शिक्षा के द्वारा निर्णयात्मक बुद्धि का जन्म हो।

(घ) शिक्षा के द्वारा नैतिक विकास सम्भव हो, जिससे वह अच्छे और बुरे का निर्णय कर सके और अच्छे मार्ग का अनुसरण करे।

जॉन कार्ल फ्रेड्रिक रोजिन क्रेञ्ज ने भी शिक्षा में आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर ही अधिक बल दिया है। उसका कथन था कि मनुष्य का वास्तविक स्वभाव उसकी आदर्श-प्रकृति है जो उसे जन्म से ही प्राप्य है और जो शिक्षा के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होती है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों को दूर करना है और उसमें आदर्श-प्रकृति को उत्पन्न करना है। इस सिद्धान्त को वह 'Estrangement' कहता है। इस प्रकार यह शिक्षा केवल अव्यवहारिकता और दर्शन ही तक सीमित रही।

दूसरी ओर मुखाकृति बिज्ञान (Phrenological Movement) यह मानता था कि मनुष्य का मानसिक विकास उसके भौतिक विकास से सम्बन्धित है। मनुष्य के शारीरिक अंग जैसे नाक, कान, हाथ, आँख सर देख कर उसकी योग्यता और अयोग्यता का पता लग जाता है। यह विज्ञान अब नहीं माना जाता और इस समय भी इसके अधूरे दृष्टिकोण को अधिक महत्व नहीं दिया गया।

जिन लोगों ने शिक्षा-क्षेत्र में नवीन क्रान्ति की, उनमें हरबर्ट, ऐस्टालॉजी और फ्रोबिल ही सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखते है। इन तीनों ने ही शिक्षा में व्यावहारिकता और रोचकता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। रूसो के प्रकृतिवाद का प्रभाव पेस्टॉलॉजी पर बहुत पड़ा किन्तु उसने रूसो की निषेधात्मक पद्धति के प्रतिकूल वास्तविक शिक्षा (Possitive method) पर अपने सिद्धान्त आधारित किए। रूसो के 'एमील' के बाद शिक्षा-क्षेत्र में सबसे अधिक हलचल उत्पन्न करने वाली पुस्तकें पेस्टालॉजी की 'लियोनार्ड' और 'जरट्ट' हैं। पेस्टॉलॉजी ने ही सर्व प्रथम यह बताया कि शिक्षा की समस्या का पूर्व समाधान तभी हो सकता है, जब बालक की प्राकृतिक शक्तियों पर ध्यान देकर उसको शिक्षा दी जाए। यद्यपि यह कोई नई बात नहीं थी किन्तु शिक्षा-क्षेत्र में सबसे पहले उसी ने इस सत्य का उद्घाटन किया। आजकल शिक्षा-क्षेत्र में जो नई-नई प्रवृत्तियाँ दिखाई दे रही हैं, इन सब का बीजारोपण उसी ने किया था। उसका कथन था कि प्रकृति का पथ, जिससे मानवता की शक्तियों में विकास होता है, सबके लिए सरल और खुला हुआ होना चाहिए। शिक्षा, जिसके द्वारा मानसिक शान्ति और सच्ची योग्यता प्राप्त होती है, सरल और सुबोध होनी चाहिए। अपनी पुस्तकों में उसने ऐसे दम्पति का चित्रण किया है, जिनका प्रभाव पड़ोस के सभी कुटुम्बों पर पड़ा। लियोनार्ड आलसी और शराबी है, जरट्ट उसकी स्त्री अपने प्रयत्न से बच्चों को शिक्षा देती है और पति की बुरी आदतें छुड़ाती है।

१७६८ में पेस्टाला जी के जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अब तक वह केवल शब्दों से ही शिक्षा देता था, अब उसने यह सोचा कि अपना एक स्कूल खोल कर व्यावहारिक रूप में शिक्षा दी जाए। यद्यपि वह शिक्षण और व्यवस्थापन के कार्य में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सबसे पहले-पहल उसी ने शिक्षा के मनोवैज्ञानिक रूप की महत्ता का प्रतिपादन किया।

—उपेन्द्र

प्रेम विद्यालय,
कानपुर—१

प्रेम का खेल ही एकमात्र ऐसा खेल है जिसे दो खेलते हैं और दोनों विजयी होते हैं।

कृष्ण रसिक रसखान

हिन्दी की अनेक विभूतियों का जीवन-वृत्त स्पष्ट नहीं है। महात्मा, तुलसीदास, भक्तवर सूरदास आदि तक का जीवन-चरित्र जानने के लिए अनुमान ही का अधिक आश्रय लेना पड़ता है। हिन्दी क्या, यह समस्त भारतीय वाङ्मय की विशेषता है कि इसमें प्रणेता के जीवन-वृत्त की अपेक्षा उसकी कृति को ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मुसलमान भक्त शिरोमणि कृष्ण के अनन्य प्रेमी कविवर रसखान की जीवनी पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं है। उनका कुछ जीवन-वृत्त "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" में दिया गया है। उसके अनुसार आप किसी बनिए के लड़के पर आसक्त थे। यहाँ तक कि आप उसकी जूठन तक खा लिया करते थे। एक दिन एक वैष्णव ने उनसे कहा कि जितना अधिक प्रेम तुम इस वैश्य के लड़के से करते हो, उतना ही ईश्वर से करते तो तुम्हारी मुक्ति हो जाती। रसखान ने पूछा कि ईश्वर कौन हैं, कैसे हैं और कहाँ रहते हैं? तब वैष्णव ने उन्हें श्रीनाथजी का एक चित्र दिखाया। चित्र देखते ही रसखान का मन उस लड़के से हट गया और वे गोकुल चले गए। उनकी इस सच्ची लगन को देख कर गोसाईं विठ्ठलनाथ जी ने भी उन्हें अपना शिष्य बना लिया।

ऐसा भी कहा जाता है कि ये किसी रमणी पर आसक्त थे पर वह रूपवती और अभिमानिनी होने से इनका बहुत अधिक तिरस्कार करती थी। एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फ़ारसी अनुवाद पढ़ रहे थे। विरह-वर्णन पढ़ते-पढ़ते इन्होंने सोचा कि जिसे हज़ारों गोपियाँ प्यार करती हैं, उन्हीं से क्यों न इश्क़ किया जाए। बस इसी भावावेश में वे उस रूपवती को छोड़ कर वृन्दावन चले आए। 'प्रेमवाटिका' नामक उनकी रचना का यह दोहा इस कथन की पुष्टि सी करता है :

"तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी-मान
प्रेमदेव की छबिहि लखि, भये मियाँ रसखान"

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि एक बार कई मुसलमानों के साथ ये मक्का-मदीना हज करने जा रहे थे। रास्ते में ये व्रज में ठहर गए। वहाँ ये व्रज-भूमि पर आसक्त हो गए और इन्होंने अपने साथियों से कहा कि आप लोग हज करने जाएँ; मैं तो यहीं रहूँगा। यह समाचार बादशाह के पास भी पहुँचाया गया और बादशाह क्रुद्ध भी हुआ परन्तु रसखान ने बादशाह के क्रोधित होने का समाचार सुन कर यह दोहा कहा :

"कहा करै रसखान को कोऊ चुगल लबार
जो पे राखनहार हैं, माखन चाखन हार"

यह तो संभव है कि इनके श्रीकृष्ण से प्रेम का कारण रूप ही था और यह इनके सोरठा और दोहों से भी प्रमाणित हो जाता है यथा :

"देख्यो रूप अपार, मोहन सुन्दर श्याम को
यह व्रज-राज कुमार, हिय जिय नैननि में बस्यो"

× × ×

"तोरि मानिनी तें हियो फोरि मोहिनी-मान
प्रेमदेव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखान"

ये वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के उपास्यदेव बालगोपाल हैं, किन्तु इनके उपास्यदेव गोपिका-रमण कुंजविहारी श्री कृष्णचन्द्र जी हैं। यद्यपि बाललीला के भी कुछ छन्द इन्होंने रचे हैं किन्तु प्रायः सभी रचना यौवन-लीला की ही है। इन्हें भक्तिभावना में तन्मय करने वाली कृष्ण की यौवन-लीला ही थी।

'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि यद्यपि ये मुसलमान थे, फिर भी वृन्दावन में जा कर कृष्णचन्द्र जी की भक्ति में ऐसे डूबे कि फिर मुसलमानी धर्म त्याग कर माला-कण्ठी धारण किये हुए वृन्दावन की रज में मिल गए। इनकी कविता लालित्य और माधुर्य से ओतप्रोत है। रसखान ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि दादूदयाल प्रेममार्गी सूफ़ी कवि जायसी तथा उसमान, रामभक्ति शाखा के महान् कवि श्री तुलसीदास जी कृष्णभक्ति शाखा के भक्तवर सूरदास जी, नीति-ग्रन्थकारों में प्रधान रहीम कवि तथा रीति-ग्रन्थकारों के आचार्य महाकवि केशवदास जी के समकालीन थे। रसखान का समय हिन्दी-

काव्य का स्वर्णकाल था। उस समय तक हिन्दी-काव्य बहुत समृद्ध हो गया था। काव्य की वैसी उन्नति आज तक नहीं हुई। रसखान के लिए यह सौभाग्य की बात थी जो ऐसे समय में उनका आविर्भाव हुआ। उस समय तक ब्रजभाषा मँज-सँवर कर शुद्ध तथा परिष्कृत हो गई थी। अनूठी भाव-व्यंजना का क्षेत्र भी ब्रज-कवियों ने तैयार कर दिया था। छन्दों की विधान-सम्बन्धी शिथिलता भी चली गई थी।

प्रचलित तत्कालीन अनेक शाखाओं में रसखान पर कृष्ण-भक्ति-शाखा का ही मुख्य प्रभाव पड़ा। इसका कारण यह है कि कृष्ण-भक्ति-शाखा में सौन्दर्योपासना तथा मधुर भावना की ही प्रधानता थी। रसखान कृष्ण-भक्ति से केवल प्रभावित ही नहीं थे वरन् स्वयं भी सच्चे कृष्णभक्त थे। कृष्ण के सौन्दर्य, वेशभूषा, मुरली तथा लीलाओं पर ये मुग्ध और जी जान से न्यौछावर थे।

रसखान ने कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखा और ग्रन्थ लिखने के उद्देश्य से उन्होंने सवैये ही लिखे। हाँ ५२ दोहों की 'प्रेमवाटिका' को यदि पुस्तक मान लें तो कह सकते हैं कि उन्होंने 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' नामक दो पुस्तकों की रचना की। 'सुजान रसखान' में कोई नियम नहीं है। समय-समय पर उठे हुए भावों के सवैये हैं किन्तु 'प्रेमवाटिका' नियमबद्ध लिखी गई मालूम होती है।

रसखान ने देखा कि रचना-शैली काव्य-पद्धति से पृथक् हुई जा रही है, गीतों की अपेक्षा अन्य छन्दों का प्रयोग कवि बहुत कम करते हैं, गीतों के भार से अन्य काव्य-छन्द दबे से जा रहे हैं; अतः रचना-शैली को काव्य-पद्धति के समीप तथा अन्तर्गत लाने के लिए गीतों से ध्यान हटा कर कवित्त सवैयों में रचना की। रसखान ने मन हरण कवित्त लिखे हैं, जिनके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं तथा १६+१५ पर यति होती है। सवैयों में रसखान ने मत्तगयन्द सवैया चुना है, जिसके प्रत्येक चरण में सात भगण (ऽ।।) और दो गुरु, कुल २३ वर्ण होते हैं। दोहा छन्द में भी रसखान ने रचना की है और उसमें अच्छी कुशलता दिखाई है।

रसखान ने स्वभावोक्ति को ही अपनी रचना के लिए उपयुक्त समझा और उसी का सहारा लिया। उन्हें जो कुछ कहना था, उसे सीधे ढंग से बिना किसी घुमाव फिराव के कहा। रसखान ने यह प्रयत्न नहीं किया कि जो कुछ कहना है उसे विशिष्ट शैली में कहें वरन् उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि जो कुछ कहना है, वह स्वयं सुन्दर और मधुर हो। उनका ध्यान कथन-प्रणाली को सुन्दर बनाने की ओर न होकर कथन को ही सुन्दर बनाने की ओर रहा है। यही कारण है कि उनके कहने की शैली में विशिष्टता न होते हुए भी उनकी रचना अत्यन्त रसपूर्ण है।

रसखान प्रेमलक्षणा-भक्ति के कवियों की कोटि के थे। उन्होंने कवित्त सवैयों में राधाकृष्ण तथा गोपियों के प्रेम की व्यंजना तो की ही है, और 'प्रेम-वाटिका' में प्रेम-तत्व का स्वतन्त्र निरूपण भी किया है। प्रेम के सम्बन्ध में इनकी अपनी अलग धारणा थी। रसखान का कहना है कि प्रेम वही है जो गुण, रूप, यौवन, धन आदि की अपेक्षा न रखता हो, जिसमें स्वार्थ की गंध तक न हो और जो कामना से रहित हो। ठीक भी है, किसी वस्तु की आशा करके स्वार्थवश किया हुआ प्रेम उच्च कोटि का नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्थाएँ स्वार्थ की सिद्धि या असिद्धि पर प्रेम का बढ़ना-घटना निर्भर रहता है। और जो प्रेम बढ़-घट सकता है, वह प्रेम नहीं कहला सकता, मोह या मित्रता भले ही कहलाए। शुद्ध प्रेम धारण करने वाला प्रेमी अपने प्रिय से किसी प्रकार की आशा नहीं रखता, वह कामना-रहित होता है। यह बात इस दोहे से स्पष्ट है :

"बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि
शुद्ध कामना तें रहित, प्रेम सकल रसखानि"

प्रेम की इस स्वार्थ-हीनता को रसखान आगे चल कर और अधिक स्पष्ट करते हैं कि प्रेम एकांगी होना चाहिए अर्थात् प्रेमी का एकमात्र धर्म यही है कि वह प्रिय इस बात की इच्छा या प्रयत्न न करे कि प्रिय भी उससे प्रेम करे। प्रत्येक दशा में प्रेमी प्रिय को सर्वस्व समझे।

"इक अंगी बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान
गने प्रिय हि सर्वस्व जो, सोई प्रेम समान"

रसखान ने प्रेम-मार्ग को सीधा सी कहा है और टेढ़ा भी। कमलनाल से भी क्षीण और खड्ग की धार से भी कराल बतलाते हैं।

इनके यह कहने का रहस्य यही हो सकता है कि

एकांगी, सहज तथा स्वाभाविक प्रेम होना सरल नहीं है, बड़ा दुर्लभ है। यदि हुआ भी तो उसका अन्त तक निर्वाह करना बड़ा कठिन है। बीच में तनिक भी मार्ग से हटे या भावना में तनिक भी शिथिलता आई कि दोनों दीन से गए, विषयानन्द या ब्रह्मानन्द कुछ भी प्राप्त न हो सकेगा। इसी से यह टेढ़ा और खड्ग की धार है, सीधा तथा कमलनाल से भी क्षीण इसलिए है कि, है तो मन मानने की ही बात। मन में बैठ गई तो बैठ गई, चित्त पलट गया तो पलट गया। प्रेम प्राप्त करने के लिए तप या योग की भाँति किसी दुष्कर साधना की आवश्यकता नहीं। हृदय को समझाने की बात है। यदि एक बार आपके हृदय में प्रेम उत्पन्न हो गया और आनन्द मिलने लगा तो उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि होती जाएगी। ज्यों-ज्यों आनन्द बढ़ेगा त्यों-त्यों प्रेम दृढ़ होगा और ज्यों-ज्यों प्रेम दृढ़ होता जाएगा, आनन्द में वृद्धि होती जाएगी। रसखान ने कहा है :

"कमल तंतु सों छीन अरु, कठिन खड्ग की धार
अति सूधो टेढ़ो बहुरि, प्रेम पंथ अनिवार"

अन्य कई प्रेमियों के उदाहरण देते हुए रसखान को ध्यान आया कि कृष्ण-प्रेमियों का दृष्टान्त दिए बिना विषय अधूरा ही रहेगा, अतः इस प्रेमदशा को प्राप्त करने वालों का उन्होंने वर्णन किया :

"जदपि जसोदा नंद अरु, ग्वाल-बाल सब धन्य
पै या जगमें प्रेम की, गोपी भई अनन्य"

वास्तव में गोपियों के प्रेम को समझना भी किसी विरले अनन्य प्रेमी का ही काम है। गोपियों के प्रेम के आगे ग्वाल-बाल, नन्द, यशोदा यहाँ तक कि स्वयं कृष्ण का प्रेम भी फीका पड़ जाता है। रसखान को पूरा विश्वास था कि उस प्रेम-रस का स्वाद अब संसार में किसी को प्राप्त नहीं हो सकता, इसीलिए वे कहते हैं :

"वा रस की कछु माधुरी, ऊधो लही सराहि
पावै बहुरि मिठास अस, अब दूजो को आहि"

'प्रेम में नेम नहीं' यह प्रसिद्ध कहावत है। इस मत को मानने वाले रसखान भी थे। नियम तो वही होता है, जहाँ प्रेम के लिए कोई कारण अपेक्षित रहता है किन्तु शुद्ध और सहज प्रेम में नियमों का पालन हो ही कैसे सकता है ?

रसखान ने मुनिवरों का प्रमाण देकर इस बात को कहा है कि प्रेम सब विकारों से रहित होता है। प्रेम रहते हुए भी ये विकार रहें तो हरि भी सविकार हो जाएँगे। प्रेम को हरि का स्वरूप देते हुए, वे कहते हैं :

"प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप
एक होइ द्वै यों लसे, ज्यों सूरज अरु धूप"

रसखान ब्रजवासी भक्त कवि थे। रसखान की भक्ति-भावना, सूरदास की भक्ति-भावना जैसी ही है। इनके श्रीकृष्ण भी ब्रह्मा और शंकर से श्रेष्ठ हैं किन्तु विष्णु से नहीं। रसखान ने भी कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है। यद्यपि इनके श्रीकृष्ण का भी पार, ब्रह्मा, शंकर, योगी, वेद तथा पुराण नहीं पाते, तथापि वे कबीर के निर्गुण ब्रह्म की कोटि के नहीं हैं।

रसखान के एक छन्द को सरसरी दृष्टि से देखने से भ्रम होता है कि इनके श्री कृष्ण और कबीर के निर्गुण ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है किन्तु बात ऐसी नहीं है। देखिए :

"ब्रह्म में ढूँढ्यो पुरानन गानन
बेदरिचा सुनि चौगुने चायन
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ वह कैसे
सरूप और कैसे सुभायन
हेरत हेरत हारि पर्यों 'रसखानि'
बतायो न लोग लुगायन
देखो दुर्यो वह कुंज कुटीर में बैठो
पलोटत राधिका पायन"

रसखान का तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म जो निर्गुण-निराकार अगोचर है, वही अपने भक्तों के कल्याण के लिए गुण-रूप धारण करके उन्हें आनन्द देता है। कबीर का ब्रह्म तो केवल अपनी इच्छा-शक्ति या कृपा द्वारा भक्तों का कल्याण करता है, कोई रूप धारण नहीं करता। अतः कबीर के ब्रह्म से रसखान के कृष्ण का अन्तर स्पष्ट है। यहाँ राधिका से भक्तजनों का तात्पर्य समझना चाहिए। रसखान के कृष्ण इतने उदार तथा करुणागार हैं कि वे केवल भक्तों के संकट दूर करके तथा उन्हें आनन्द देकर ही सन्तोष नहीं

कर लेते, वरन् अपने को उनका दास तक बना लेते हैं, अपने से श्रेष्ठ अपने भक्तों को समझते हैं, तभी तो राधा के पैरों पर लोटते हैं और ग्वालबालों को कंधे पर चढ़ा कर घूमते हैं। रसखान ने 'प्रेमवाटिका' में भी भक्तों को हरि से श्रेष्ठ बताया है। एक और स्थल पर कृष्ण को निर्गुण निराकार बताते हुए भी उन्हें सगुण रूप में लाकर अहीर की छोकरियों द्वारा नचवाया है :

"सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु,
जाहि निरंतर गावें
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद,
अभेद सुबेद बतावें
नारद से सुक व्यास रटें, पचि हारे,
तऊ पुनि पार न पावें
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया,
भरि छाछ पै नाच नचावें"

सूरदासजी ने जिस रुचि तथा तन्मयता के साथ कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन किया है, उस रुचि और तन्मयता के साथ उनकी यौवन-लीलाओं का वर्णन नहीं किया। रसखान ने सूरदास वाला पक्ष न लेकर कृष्ण की यौवन लीलाओं का ही वर्णन किया है। वात्सल्य-भावना ने रसखान को आकर्षित नहीं किया, वे तो प्रेम के दीवाने हैं।

बाल्यावस्था के उनके जो सवैए हैं, वे यशोदा के सुख के विषय में हैं। कृष्ण की बाल-क्रीड़ा से यशोदा को अकथनीय आनन्द मिला। देखिए नीचे दिए हुए सवैए में कैसे कृष्ण के हाथ से कौए का रोटी छीन ले जाना वर्णित है :

"धूर भरे अति सोभित स्याम जू,
तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी
खेलत खात फिरे अंगना पग,
पैजनियाँ कटि पीरी कछोटी
वा छबि को 'रसखानि' विलोकत,
वारत काम कलानिधि कोटी
काग के भाग कहा कहिए हरि हाथ सौं,
लै गयौ माखन रोटी"

भक्तगण अपने इष्टदेव में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव रखते हैं, कोई भगवान् को स्वामी रूप में, कोई सखा-रूप में, कोई पति रूप में, तथा कोई-कोई पुत्र रूप में भी मानते हैं। दास्य, सख्य तथा वात्सल्य आदि भावों में रसखान दास्य-भाव को अंगीकार करने वाले थे। प्रायः दास्य-भाव रखने वाले ही भक्त हुए हैं, सख्य या वात्सल्य-भाव वाले महात्मा इने-गिने हुए हैं, कदाचित् इसी लिए रसखान ने भी वही मार्ग ग्रहण किया जो प्रायः सभी भक्तों द्वारा ग्रहण किया गया था और जो सरल तथा स्वाभाविक था। अपने को श्रीकृष्ण पर न्यौछावर करके रसखान उन पर अटल विश्वास भी रखते थे। उन्हें अपने इष्टदेव की शक्ति तथा भक्तवत्सलता पर पूर्ण विश्वास था :

"द्रौपदी औ' गनिका गज गीध अजामिल,
सौ कियौ सौन निहारौ
गौतम गेहनी कैसी तरी प्रह्लाद को,
कैसे हर्‌यौ दुख भारौ
काहे कौ सौच करै 'रसखानि' कहा, करिहै,
रविनन्द बिचारौ
कौन की संक परी है जु माखन,
चाखनहारौ है राखन हारौ"

इसी विश्वास के बल पर वे और किसी को कुछ नहीं समझते थे। किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता का उन्हें तनिक भी ध्यान न था। उनका विचार था कि हमें और किसी से क्या लेना-देना? हमारे सारे संकट तो कृष्ण ही दूर करेंगे।

रसखान धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों प्रकार की मुक्ति में मे किसी के भी इच्छुक नहीं थे, साथ ही भक्तों की भाँति केवल प्रभु-पद-प्रीति से ही सन्तुष्ट भी न थे। वे इस प्रेम के अतिरिक्त और भी कुछ चाहते थे। पुष्टि-मार्ग के अनुसार व्रज में कृष्ण तथा गोपियों की नित्य-लीला हुआ करती है। रसखान उस नित्य-लीला में अपना समावेश चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि हम तन-मन से कृष्ण-लीला में रम जाएँ, कभी साथ छूटे नहीं। निम्नांकित सवैए से उनकी मुक्ति के प्रति अनिच्छा तथा प्रत्येक दशा में श्री कृष्ण के संपर्क में रहने की इच्छा प्रकट होती है :

"मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं,
व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं,

नित नन्द की धेनु मंझारन
पाहन हौं तो वही गिरि कौ जो धर्यो,
कर छत्र पुरन्दर कारन
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिंदी—
कूल कदम्ब की डारन''

अतः स्पष्ट है कि रसखान न तो मुक्ति की कामना करते थे और न केवल हृदय में भक्ति धारण करके मानसिक उपासना से सन्तुष्ट थे। वे सच्चे प्रेमी की भाँति सदा प्रिय के साथ रहने के इच्छुक थे। वे चाहते हैं कि चाहे मनुष्य, पशु, पक्षी, पत्थर या वृक्ष किसी भी रूप में रहें किन्तु कृष्ण का साहचर्य निरन्तर प्राप्त होता रहे। कृष्ण पर अथवा कृष्ण से संपर्क रखनेवाली वस्तुओं पर उन्होंने तीनों लोकों का राज्य न्यौछावर कर रखा था। कृष्ण-प्रेम को ही सार बतलाते हुए, वे कहते हैं कि यदि लीला पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के चरणों में प्रेम नहीं है तो संसार के सारे वैभव व्यर्थ हैं।

करील के कुंजों पर ऊँचे-ऊँचे स्वर्ण मन्दिरों को न्यौछावर करने वाले प्रेमी रसखान अपने ढंग के निराले कवि हैं। तुलसीदास जी की भाँति इन्होंने भी मानव-काव्य की रचना नहीं की। इनके काव्य-जगत् में केवल चार की सत्ता थी और वे हैं कृष्ण, बाँसुरी, गोपिकाएँ और भक्त या दर्शक (स्वयं रसखान)।

कृष्ण की लीला-भूमि गोकुल, यमुना-तट, वन, पर्वत तथा कुंजों से रसखान को कितना प्रेम था, यह 'मानुष हौं तो वही रसखानि' वाले सवैए से स्पष्ट है। निम्नलिखित पंक्तियों में भी धाम का वर्णन है :

"'रसखानि' कबौं इन आँखिन सौं ब्रज के,
बन बाग तडाग निहारौं
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील के,
कुंजन ऊपर वारौं''

वंशी बजाने के साथ-पाथ कृष्ण के गोधन गाने का भी वर्णन कई छन्दों में है। गोधन-गान विशेष गान के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु नाम बदल जाने के कारण पता नहीं चलता कि अब किस गान को गोधन कहें। कदाचित् बिरहा की कोटि का कोई गान रहा होगा अथवा बहुत सम्भव है कि बिरहा ही गोधन का स्थानापन्न हो, क्योंकि ग्वालों का मुख्य गान अब भी बिरहा ही है, जिसे गाय चराते समय या यों ही वे तन्मय होकर गाते हैं। रसखान की काव्य-भाषा ब्रज है जो उस समय काव्य-सिंहासन पर आरूढ़ थी। अवधी भाषा के प्रतिनिधि तथा पोषक महाकवि तुलसीदास जी भी ब्रज भाषा में कविता करने के लोभ को संवरण न कर सके थे।

ब्रजभाषा में एक विचित्र सरलता तथा आकर्षण होता है, एक विचित्र मिठास होती है; इस भाषा का एक विशेष गुण इसकी पाचन-शक्ति भी है। संस्कृत, फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्द बड़ी सरलता से अपने में मिला लेती है। उस पर भी विशेषता यह है कि वे शब्द ब्रजभाषा के साँचे में ही ढल जाते हैं।

ब्रजभाषा के तीन ही कवि ऐसे हैं, जिनकी भाषा परिमार्जित तथा सुव्यवस्थित हैं, वे हैं—रसखान, बिहारी तथा घनानन्द। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि सूर का नाम इस तालिका में सम्मिलित नहीं किया गया है, क्योंकि वास्तविक बात तो यह है कि सूरदास जी ने जितनी शक्ति भाव-द्योतन की ओर लगाई है, उतनी भाषा-सौष्ठव की ओर नहीं लगाई। ब्रज भाषा के अन्तिम कवि बा० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने एक स्थान पर कहा है कि ब्रजभाषा का व्याकरण बनाना हो तो रसखान, बिहारी, घनानन्द का अध्ययन करना चाहिए। रसखान की न तो व्यवस्था ही कड़ी है न भाषा ही उतनी साहित्यिक है तथा न लाक्षणिक प्रयोग ही अधिक हैं, उनकी भाषा में ब्रज की प्रकृत माधुरी आ गई है। रसखान को कृत्रिम माधुर्य उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करना पड़ा, बोलचाल के ही शब्दों को ही ग्रहण करने के कारण उनकी भाषा स्वतः मधुर हो गई है।

रसखान की भाषा का दूसरा प्रधान गुण भाषा-प्रवाह है। बोलचाल की भाषा जब कुछ परिष्कृत रूप में आती है, तब उसमें एक प्रवाह आ जाता है। इनकी भाषा में प्रवाह आने के कुछ और भी कारण हैं। रसखान ने घनानन्द की भाँति अन्तर्दृष्टियों की छानबीन नहीं की प्रत्युत रूप का बाह्य वर्णन ही किया है, अतः सीधा विषय होने के कारण भी भाषा में कुछ प्रवाह आ गया। बिना अर्थ पर ध्यान दिए, इनके सवैयों को पढ़ने-मात्र से एक प्रकार का आनन्द मिलता है। पढ़ने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं मालूम होती, परवर्ती शब्द स्वतः उच्चरित होते चलते हैं। रसखान के भाषा-

प्रवाह का तीसरा कारण है, उनका छन्द-चुनाव। अधिकतर उन्होंने मत्तगयंद सवैए लिखे हैं। इस छन्द का ऐसा नाम कदाचित् इसकी सुन्दर गति के ही कारण पड़ा है। एक तो हाथी की चाल यों ही मस्तानी होती है, उस पर मदमस्त हाथी की चाल का क्या पूछना? रसखान ने मनहरण कवित्त भी लिखे हैं। नाम ही उसका मनहरण है। यदि मनहरण छन्द द्वारा मनहरण भाषा (व्रज) में मनहरण विषय (कृष्ण-लीला) वर्णित किया जाए तो क्या आश्चर्य है, यदि वह सबका मनहरण कर ले। रसखान के सवैयों का प्रवाह देखिए :

"आयो हुतो नियरे रसखानि
कहा कहूँ तू न गई वह ठैंया
या व्रज की बनिता जिहिं देखि कै
वारहिं प्रानन लेहिं बलैया
कोऊ न काहू की कानि करै कछु
चेटक सो जु कर्यों जदुरैया
गाइगो तान जमाइगो नेह
रिझाइगो प्रान चराइगो गैया"

विषय के प्रतिपादन में रसखान ने अत्यन्त सीधा मार्ग ग्रहण किया है। उनके भाव अत्यन्त स्पष्ट हैं। चमत्कार की ओर उनकी रुचि नहीं, अलंकारों की ओर उनका ध्यान गया ही नहीं। वे स्वयं भावमग्न होकर दूसरों को भी भावमग्न करना चाहते थे, यही कारण है कि भाषा-चमत्कार के चक्कर में न तो वे ही पड़े और न दूसरों को डाला। अतः उनकी भाषा में अलंकारों अथवा चमत्कारपूर्ण-स्थलों की भरमार नहीं है। अलंकारों की ओर ध्यान न देते हुए भी उनकी भाषा में स्वतः कुछ अलंकार आ गए हैं जो भाषा को सजाने के साथ-साथ रसोद्रेक में भी सहायक हुए हैं। इन अलंकारों में अनुप्रास मुख्य हैं। स्थान-स्थान पर अनुप्रास होने पर भी यह नहीं भासित होता कि भूषण कवि की भाँति वे बलात् लाकर बैठाए गए हैं।

अनुप्रास :

"दोऊ परैं पैयाँ, दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
इन्हें भूलि गई गैयाँ, उन्हें गागर उठाइबो"

इसमें पैयाँ, बलैयाँ और गैयाँ का कितना स्वाभाविक अनुप्रास है। वही स्वाभाविकता इस अनुप्रास में भी है :

"गाइगो तान, जमाइगो नेह
रिझाइगो प्रान, चराइगो गैया"

यमक—दो एक स्थलों पर यमक भी आ गया है। 'या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी' में भी मध्यम श्रेणी का यमक है। क्योंकि दूसरे अधरान में 'अधरा' और 'न' अलग-अलग शब्द हैं। पहला अधरान अधर (होंठ) का बहुवचन और दूसरे अधरान का अर्थ होंठों में न (धरूँगी) है।

इसी तरह श्लेष, पुनरुक्ति प्रकाश, सन्देह आदि अलंकारों का भी सफल और सुन्दर प्रयोग हुआ है।

रसखान में भावों की पूर्ण व्यंजना पूर्णतया पाई जाती है। इसी से इनमें कोई विशेष चमत्कार न रहने पर भी उनका आदर पंडित जन और साधारण जन दोनों प्रकार के लोगों में हुआ। यह बात नहीं है कि रसखान में प्रतिभा या क्षमता नहीं थी, वरन् पूर्ण पारंगत होते हुए भी, उन्होंने सरलता का मार्ग ग्रहण किया था। वे बनावटी शोभा के पक्षपाती नहीं थे।

रसखान की रचना बलात्कृत या परिश्रम साध्य नहीं विदित होती वरन् स्वाभाविक रूप में हृदय-स्रोत से निर्झरित-सी लगती है। बिरले ही ऐसे कवि होते हैं जो पंडित जन और सामान्य जनता दोनों से आदर प्राप्त कर सकें, क्योंकि इसके लिए विशेष व्यक्तित्व की आवश्यकता है।

एक दृष्टि से हिन्दी साहित्य में रसखान का स्थान विशेष महत्त्व का है और वह दृष्टि है विस्मृत प्रायः काव्य-परंपरागत रचना-शैली को नवजीवन देना। ब्रह्म और भाटों की कवित्त सवैया वाली जो परंपरा आदिकाल से चली आती थी, वह भक्तिकाल में आकर लुप्त-सी हुई जा रही थी। कृष्णभक्ति शाखा में गीत तथा पदों का ही अधिक प्रचार रहा। ऐसे समय में रसखान ने कवित्त सवैयों में अपना कृष्ण-प्रेम व्यक्त किया। रसखान ने दिखा दिया कि कवित्त-सवैयों में भी वही छटा, वही रस और वही सुघराई आ सकती है जो पदों के द्वारा आती है।

अपने स्वरूप का लय जितना रसखान ने किया है उतना कोई अन्य हिन्दू या मुसलमान नहीं कर सका। यों तो अनेक मुसलमान हिन्दू देवताओं के भक्त हुए हैं

१६५७

कवि भी हुए हैं, किन्तु जिस प्रकार मुसलमानी-पन का त्याग रसखान ने किया है उस प्रकार अन्य कोई मुसलमान नहीं कर सका। हिन्दू-संस्कृति-प्रेमी जायसी से भी विदेशीपन नहीं निकल सका। अनेक मुसलमानों ने मन लगा कर कृष्ण का गुणगान किया, किन्तु अपनी रंगत न छोड़ सके। रसखान ही ऐसे हुए हैं जो किसी भी हिन्दू भक्त से कम नहीं मालूम होते। यदि बताया न जाए कि वे मुसलमान थे तो उनके सवैयों को सुन कर कोई विश्वास नहीं कर सकता कि वे हिन्दू नहीं थे।

इनके काव्य में विशेष महत्व की वस्तु शब्द-माधुर्य है। इस शब्द-माधुर्य का इतना प्रभाव पड़ा कि, सरस कविता सुनने के इच्छुक कहने लगे: "कोई रसखान सुनाओ।" रमणीयता और सौन्दर्य-बोध का योग इनकी कविता में बड़ा जबर्दस्त है, इसी योग के कारण इनकी कविता में सरसता तथा आकर्षण शक्ति आ गई है।

ख्याति की दृष्टि से पंडितजन और साधारण जनता दोनों में प्रतिष्ठा पाने की दृष्टि से, भाव व्यंजना की दृष्टि से, स्वाभाविकता की दृष्टि से, प्रचलित काव्य रचना पद्धति को छोड़ कर प्राचीन कवित्त-सवैया पद्धति की परम्परा ग्रहण करने की दृष्टि से भक्ति-भावना की दृष्टि से तथा विदेशी-पन के त्याग की दृष्टि से रसखान हिन्दी-साहित्य में एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। ये हिन्दी काव्य-गगन में सबसे पृथक ऐसे ज्योतिर्पिंड हैं जिनकी ज्योति तब तक भारतखण्ड को प्रकाशित करती रहेगी, जब तक हिन्दी साहित्य का अस्तित्व रहेगा।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
हिन्दी-नगर, वर्धा

—मदनमोहन शर्मा

गान्धी-अरविन पैक्ट के समय

"गान्धी-अरविन-पैक्ट" के समय मुझमें और गान्धी जी में लगातार बातचीत चल रही थी। बैठकें हो रही थीं। हम दोनों इस प्रकार का प्रयत्न कर रहे थे कि कोई मार्ग निकल आए और आपस में कोई समझौता हो जाए। उस समय की एक दिलचस्प घटना है, जिसका कि मैं उल्लेख करना चाहता हूँ। उससे यह ज्ञात हो सकेगा कि वे कैसी नाटकीय घड़ियाँ थीं।

हम दोनों "समझौता" कर चुके थे। कुछ ही घण्टों के पश्चात् गान्धी जी मेरे पास आए। वे बहुत उदास थे। कहने लगे: "श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू इस समझौते से प्रसन्न नहीं हैं। वे समझते हैं कि मैंने (गान्धी जी ने) अज्ञात रूप से अपने देश को बेच दिया है।"

मैंने गान्धी जी से कहा: "आप इसकी चिन्ता मत कीजिए। अभी आप देखेंगे कि मेरे (लॉर्ड अरविन) पास इंग्लैण्ड से इस प्रकार के तार आएँगे, जिनमें यह सूचना दी गई होगी कि चार्चिल कहते हैं ग्रेट ब्रिटेन को बेच दिया है।

—"लॉर्ड हैलिफ़ैक्स के संस्मरण" में से

मेरे पत्रकारिता के अनुभव

(४)

मेरे दुःसाहस का पहला दौर एक वर्ष से कम समय में ही समाप्त हो गया था। दौर तो समाप्त हो गया, परन्तु दुःसाहस का अन्त नहीं हुआ। हाँ, यह अवश्य हुआ कि दुःसाहस को दूसरी बार शक्ति-संचय करने में तीन साल से अधिक समय लगा। 'सत्यवादी' १६२३ के अप्रैल मास में दैनिक 'अर्जुन' के रूप में प्रकाशित होने लगा। इस बार भी पत्र का कार्यालय श्रद्धानन्द बाज़ार में ही बना। 'अर्जुन' का पहला अंक २४ अप्रैल सन् २३ के दिन निकला।

१६२३ का दुःसाहस—१६१६ के दुःसाहस से भी बड़ा था। १६१६ में 'विजय पब्लिशिंग कम्पनी' नाम की एक कम्पनी बना कर और कुछ मूल धन इकट्ठा कर के अपने प्रेस में पत्र छापना आरम्भ किया गया था और १६२३ में न कुछ मूल धन था और न कोई साथी। केवल दुःसाहस की पूँजी के सहारे पर दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। पत्र लिखा जाता था श्रद्धानन्द बाज़ार में, और छपता था लगभग १॥ मील की दूरी पर 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस में, जो उन दिनों परेड के मैदान वाली सड़क पर था। उस समय पत्र सम्पादन में मेरे एकमात्र सहायक अमृतसर के स्वर्गीय स्नातक देवराज जी थे। मेरे इस दुःसाहस को भी श्री स्वामी जी का आशीर्वाद प्राप्त था। पत्र निकाल तो दिया परन्तु ऐसी असम्भव परिस्थितियों में वह चला कैसे? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि दैव अपनी इच्छा को पूरा करने की सामग्री स्वयं उपस्थित कर देता है। एक महीने के अनुभव ने ही सिद्ध कर दिया था कि अपने प्रेस के बिना दैनिक पत्र देर तक नहीं चल सकता, पत्र का अपना प्रेस होना ही चाहिए। हरिद्वार में एक प्रेस भी मिल गया, लेकिन उसे पैसों बिना खरीदा कैसे जाए? जेब तो बिलकुल खाली थी। प्रेस वाला किश्तों पर दाम लेने को तैयार था। मेरे सामने प्रश्न यह था कि किश्तों की रक़म अदा करने का वायदा किस भरोसे पर करूँ? उस समय भगवान् ने साथ दिया। सेठ जुगलकिशोर बिड़ला दिल्ली आये तो स्वामी जी ने उनसे 'अर्जुन' की चर्चा की। सेठ जी ने प्रेस खरीदने के लिए मूल्य की राशि देना स्वीकार कर लिया। हरिद्वार से प्रेस दिल्ली आ गया। सेठ जी की दी हुई राशि से उसका मूल्य चुका दिया गया और इस तरह 'अर्जुन' अर्जुन प्रेस में छपने लगा।

इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व इतना और लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सेठ जी की दी हुई राशि मैंने स्वामी जी द्वारा उस कोष में वापस कर दी जिससे दलितोद्धार सभा, शुद्धि-सभा, आदि संस्थाओं को समकालीन सहायता दी जाती थी। जब सेठ जी को स्वामी रामानन्द जी से यह मालूम हुआ कि मैंने रुपया वापस कर दिया है, तो उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा था कि वह राशि तो मैंने 'अर्जुन' को दी थी, उसे वापस करने की क्या आवश्यकता थी? पाठकों के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठ सकता है कि मैंने कुछ ही दिनों में यह कई हज़ार रुपए कैसे वापस दे दिए? इस प्रश्न का समाधान यह है कि मेरे ताया जी (पिता जी के बड़े भाई) के कोई सन्तान नहीं थी, वे गाँव की ज़मीन और कोठी की वसीयत मेरे नाम कर गए थे। इस अवसर पर मैंने उसका सदुपयोग कर लिया। दोनों को बेच कर ऋण बेबाक कर दिया।

इस प्रकार लगभग एक वर्ष के अन्दर 'अर्जुन' अपने पाँव पर चलने योग्य हो गया। इस बार पत्र का प्रचार होने के लिए कोई विशेष चमत्कार नहीं हुआ। चमत्कार की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। 'विजय' के विप्लवमय छोटे-से जीवन ने जहाँ एक ओर दिल्ली के चारों ओर हिन्दी का सुन्दर क्षेत्र तैयार कर दिया था, वहाँ मेरे साथ पाठकों का वह निजू प्रेम का सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था, जो अनेक विघ्नबाधाओं के आने पर भी निरन्तर बढ़ता ही गया और जिसमें 'अर्जुन' का सब से बड़ा मूल धन समझता हूँ। फलतः 'अर्जुन' को प्रारम्भ से ही पढ़ने वाले भी मिल गए और सहायक भी।

'अर्जुन' के जीवन को मैं 'विजय' की भाँति तूफ़ानी जीवन तो नहीं कह सकता, परन्तु उसे संघर्षमय

१६५७

जीवन तो कहना ही पड़ेगा। 'अर्जुन' जिस दिन निकला था, उस दिन उसे साधन-हीनता जैसे बिकट शत्रु से लड़ना पड़ रहा था। इस संघर्षमय जीवन में, इस श्री और साहस के परस्पर संग्राम में जिन साथियों से मुझे सहायता मिलती रही है उनकी सूची बहुत लम्बी है। मुझे भय है कि बहुत प्रयत्नपूर्वक उस सूची को पूरा करूँ तो भी वह अधूरी ही रहेगी। साथी आये और चले भी गये। कुछ अपनी परिस्थितियों से बाधित हो कर चले गए और कुछ अपने पत्रकार जीवन से थक कर दूसरी दिशा की ओर मुड़ गए। पहले युग के साथियों में से सब से पहला नाम श्रीयुत भीमसेन विद्यालंकार का है। वह 'अर्जुन' के पहले क़ानूनी सम्पादक बने। मैं पत्रकार, प्रिंटर और पब्लिशर था। मेरे लेख उस समय भी मेरे नाम के साथ ही प्रकाशित होते थे। श्रीयुत भीमसेन जी के लाहौर चले जाने पर जिन बन्धुओं की ओर से मुझे 'अर्जुन' चलाने में सहायता मिली उनमें से सबसे प्रमुख श्रीयुत रामगोपाल थे। वह लगभग २५ वर्षों तक अर्जुन के सम्पादन और प्रबन्ध के साथ इतनी पूरी तरह संबद्ध रहे कि हिन्दी पत्रकार जगत् में उनका और 'अर्जुन' का स्मरण एक साथ ही किया जाता था। दोनों वस्तुएँ प्रायः अभिन्न समझी जाती थीं। 'अर्जुन' के और मेरे साथ उनके गहरे सम्बन्ध रहे कि छोटी बच्ची ने उनका विशेष नाम ही 'साथी चाचा जी' रखा हुआ था। जो बन्धु साथी बन कर अन्यत्र चले गए, उनकी संख्या काफ़ी बड़ी है।

'अर्जुन' के उन सहायकों में से श्री वेदव्रत विद्यालंकार, श्री लेखराम बी. ए. श्रीयुत कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, श्री शिवकुमार, श्री मुकुटबिहारी जी और जगन्नाथ जी, श्री अवनीन्द्र विद्यालंकार, श्रीयुत दीनदयालु शास्त्री, श्रीयुत विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार, श्री गणपतिचन्द्र केला, श्री रामगोविन्द मिश्र श्री राजेश्वर विद्यालंकार, श्री युधिष्ठिर विद्यालंकार, स्वर्गीय श्री गोविन्दशरणजी, श्रीयुत दीनानाथ विद्यालंकार, श्री सत्यकाम विद्यालंकार, श्री जयन्त वाचस्पति, श्री रामेश्वर विद्यालंकार आदि जो प्रायः सभी अब पत्रकारिता के क्षेत्र में यश प्राप्त कर चुके हैं।

प्रसिद्ध पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने अपना पत्रकार जीवन साप्ताहिक 'विजय' से प्रारंभ किया था। लोकमान्य 'बम्बई' और लोकमत 'नागपुर' के संपादक श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति ने पत्रकार कला की दीक्षा 'अर्जुन' कार्यालय में प्राप्त की थी।

प्रबन्ध विभाग के सहायक : अर्जुन के प्रबन्ध विभाग में जिन सज्जनों के कार्य की स्मृति मेरे मन पर विशेष रूप से अंकित है, उनमें से दो नाम प्रमुख हैं। पहला नाम 'अर्जुन' के बुनियादी ख़जांची मुन्शी ब्रजनारायण का है। मैं श्रद्धानन्द बाज़ार के एक मकान में बैठा 'अर्जुन' निकालने के मन्सूबे बाँध रहा था कि एक अधेड़ सज्जन मुझसे मिलने आए थे। दुबले-पतले मुन्शीयाने ढंग के आदमी थे। रोज़गार की तलाश में दिल्ली आए थे, न कोई जान पहचान थी और न कोई सिफ़ारिशी पत्र, फिर भी न जाने क्यों, मैंने एकदम निश्चय कर लिया कि मुन्शी जी को 'अर्जुन' का ख़जांची बनाया जाए। चुनाव बिना किसी विशेष कारण के हृदय की गवाही पर ही कर लिया, तो भी धोखा नहीं मिला। प्रारम्भ से लगभग १३ वर्षों तक मुन्शी ब्रजनारायण 'अर्जुन' के ख़जांची रहे। संसार में कोई चीज अप्राप्य नहीं, ऐसे खजाँची भी लोगों को मिलते ही होंगे, परन्तु मैं अपने अनुभव से तो यही कह सकता हूँ कि विश्वासपात्रता की दृष्टि से मुन्शी जी के समकक्ष ख़जांची बिरले ही होंगे। अधिक योग्य हो सकते हैं, पर अधिक विश्वासपात्र नहीं।

'अर्जुन' से सम्बद्ध दूसरा जो व्यक्ति मेरे मन में सुखद भावना को उत्पन्न करता है, वह अर्जुन प्रेस का मशीनमैन उस्ताद काशीराम है... उस्ताद काशीराम का चरित्र तो पृथक् चित्रण चाहता है यदि अवसर मिला तो उसे किसी अगले लेख में अंकित करूँगा। उससे उन्हें मालूम होगा कि ऐसे व्यक्ति केवल गल्पलेखकों की दिमाग की उपज ही नहीं होते, वह संसार की वास्तविक विभूतियाँ हैं।

'अर्जुन' के पहले दस वर्ष व्यतीत होने पर 'अर्जुन' की दशाब्दी मनाई गई। इस अवसर पर 'अर्जुन' और उसके कार्यकर्ताओं को आशीर्वाद देने के लिए विश्वकवि सम्राट् डा० रवीन्द्रनाथ ने पधारने की कृपा की थी। सैनिक के संपादक श्रीयुत श्रीकृष्णदत्त पालीवाल तथा अन्य अनेक महानुभावों ने उस उत्सव में भाग लिया था।

'वीर अर्जुन' का इतिहास 'विजय' से शुरू होता होता है। जैसे विजय कुछ समय पश्चात् 'अर्जुन' के रूप में प्रकट हुआ। उसी प्रकार 'अर्जुन' को भी नया नाम

धारण करना पड़ा। इन दोनों परिवर्तनों में कारण एक ही था। 'अर्जुन' के इतिहास से परिचित व्यक्ति जानते हैं कि प्रारम्भ से ले कर अन्त तक इस पत्र को भारत की नौकरशाही सरकार के साथ संघर्ष निरन्तर जारी रहा। उस संघर्ष का थोड़ा-सा वृत्तान्त इसी लेख में आगे चल कर सुनाऊँगा। यहाँ केवल इतना निर्देश करना चाहता हूँ कि दोनों बार नाम परिवर्तन सरकार के पंजे को कुछ ढीला करने के लिए ही किया गया था। 'विजय' से दिल्ली की सरकार कितनी रुष्ट थी, इसका परिचय इस बात से मिल सकता है कि भारत के होम मेम्बर ने श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के राजनैतिक कार्य के विरुद्ध जो सरकारी शिकायत की थी, उसमें एक यह आरोप भी शामिल था कि उनका लड़का दिल्ली से एक क्रान्तिकारी अखबार निकाल रहा है। जब फिर से दैनिक पत्र प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, तब यह विचार मन में उठा कि यदि उसे 'विजय' नाम से निकाला जाएगा तो सरकार बहुत भारी ज़मानत माँगेगी। इस कारण ऐसा नाम चुना गया जो साहित्यिक दृष्टि से 'विजय' का नामान्तर समझा जा सके।

प्रारम्भिक समस्या तो इस प्रकार हल हो गई, परन्तु भवितव्यता को कौन रोक सकता है? कुछ ही वर्षों में 'अर्जुन' की सरकारी फ़ाइल 'विजय' से भी बुरी बन गई। इस बार ज़मानत का धरातल बहुत ऊँचा हो गया था। दस हज़ार तक की ज़मानत माँगी जा चुकी थी। पाँच हज़ार की सरकार के ख़ज़ाने में जमा थी, ज़ब्तियों का सिलसिला जारी हो गया था। पहली दो हज़ार की किश्त ज़ब्त हो चुकी थी। उस समय पुराना हिसाब बन्द करके सरकार से नया हिसाब जारी करने के लिए 'अर्जुन' के नाम के साथ 'वीर' यह विशेषण जोड़ा गया। यह ज़मानत वापस लेने की एक युक्ति निकाली गई थी, जो दैवयोग से चल गई। नया डिक्लेरेशन बग़ैर ज़मानत के मिल गया। इस पर स्थानीय सरकार को सूचना दी गई कि 'अर्जुन' का प्रकाशन बन्द कर दिया गया है। ज़मानत वापस कर दी जाए। इस पर स्थानीय सरकार बहुत झल्लाई, उसे अनुभव हुआ कि यह मात खा गई। बातें कानूनी थीं इस कारण इच्छा के विरुद्ध सरकार को ज़मानत वापस करनी पड़ी।

सरकार का प्रकोप : यह तो मैं पहले ही समझ गया था कि अख़बार का नाम काली सूची में लिखा जा चुका है, परन्तु पत्र की फ़ाइल इतनी मोटी और कड़वी हो गई है, यह मुझे १९३३ में अकस्मात् मालूम हुआ, जब मैंने अपनी ओर 'अर्जुन' की पूरी सरकारी फ़ाइल पर दृष्टि डाली। मैं उस सरकारी फ़ाइल को कैसे देख सका इसकी भी एक कहानी है, जो पूरी सुनाई नहीं जा सकती। सरकारी फ़ाइल को देखना बड़े जबर्दस्त तिकड़म का काम है और तिकड़म की कला में मैं बिल्कुल कोरा हूँ। इस विषय में मेरे परिचित लोग मुझे सदा ही दोष देते हैं। ऐसे तिकड़म-विहीन व्यक्ति को एक गुप्त फ़ाइल देखने का मौका मिल गया, यह भगवान् की ही कृपा थी। एक महान् तिकड़मी सज्जन ने मदद की और सच्चाई मेरे सामने आ गई। फ़ाइल इतनी ख़राब थी कि मैं उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। उससे नौ दस वर्ष पूर्व के समय शायद ही कोई ऐसा ऊँचा पुलिस अफसर दिल्ली से गया हो, जिसने जाते हुए फ़ाइल पर इस आशय का नोट न छोड़ा हो कि प्रो० इन्द्र और उसका अख़बार दोनों बहुत खतरनाक हैं। इसका उपाय होना चाहिए। तदनुसार उपाय निरन्तर जारी रहे।

उन उपायों की शृंखला काफ़ी लम्बी है। प्रारंभ के दो वर्षों तक तो पत्र को अपनी चाल से चलने दिया गया, परन्तु १९२५ में सरकार की ओर से बाधाएँ पड़ने लगीं। उस विक्षुब्ध वातावरण में सरकार से कोई छेड़छाड़ नहीं हुई। इससे यह अनुमान लगाया जाने लगा था कि शायद दिल्ली की सरकार अब पत्रों के सम्बन्ध में उदार नीति से काम लेने लगी है कि एक दिन अकस्मात् दूसरा पहलू मेरे सामने आ गया।

एक अंग्रेज़ सीनियर सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस ने अपने दफ़्तर में दिल्ली के सब संपादकों को बातचीत के लिए बुलाया। दिल्ली में अपने लगभग २५ वर्ष के लम्बे पत्रकार-जीवन में वह एक ही अवसर था, जब उत्सुकता-वश मैं किसी अफ़सर की बुलाई हुई सभा में गया अथवा उसके स्थान पर जाकर मिला। सीनियर साहब ने पत्रकारों के सामने समाचार-पत्रों के कर्तव्यों के सम्बन्ध में गोराशाही उर्दू में एक लम्बा चौड़ा लेक्चर झाड़ा, और अन्त में कहा कि अगर आप लोग कुछ पूछना चाहें तो पूछें। और सब तो चुपचाप बैठे रहे, पर मैं ऐसी सभाओं का अभ्यस्त न होने के कारण कुछ पूछ बैठा। सीनियर साहब उससे बहुत विचलित हो गए...आपने

सभा समाप्त करते हुए अन्य सब को विदा कर दिया परन्तु मुझे रुक जाने का आदेश किया। जब मैं अकेला रह गया, तब आपने सी. आई. डी. की एक फ़ाइल मँगवा कर लाल-लाल आँखों से मेरी ओर देखते हुए कहा; "आप सवाल करते हैं? आपकी फ़ाइल बहुत ख़राब है...सरकार आप पर मुक़दमा चला सकती है।"

मेरे लिए यह भाषा बिल्कुल नई थी। उस भाषा में बुली की तेज़ बू आ रही थी। मेरे अन्दर उसकी जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, वह तो बहुत तेज़ थी, परन्तु मैंने उसे पूरी तरह दबाते हुए यथासंभव शान्तता से कहा; "क्या आप बतला सकते हैं कि 'अर्जुन' में कौन-सी झूठी ख़बर निकली।" इसका उत्तर सीनियर साहब ने यह दिया कि सच-झूठ का सवाल नहीं, सरकार ऐसी ख़बरें नहीं चाहती। इसका जो उत्तर मैंने दिया, उसका आशय यह था कि पत्र-संपादक का काम ठीक ख़बरें प्रकाशित करना है। इसमें वह किसी का दबाव नहीं मानता। मालूम होता है कि आपको कभी किसी पत्रकार से वास्ता नहीं पड़ा; अन्यथा आप इस प्रकार की अशिष्टता-भरी धमकी न देते।

मेरे इस कथन से सीनियर साहब का पारा बहुत ऊँचा चला गया। उनका शरीर क्रोध से काँपने लगा। मैं उनकी इस दशा को एक निरीक्षक की दृष्टि से शान्त भाव से देख रहा था और उनकी ओर से अगले क़दम की प्रतीक्षा कर रहा था कि इतने में सी. आई. डी. के डी. एस. पी. शेख़ इकरामुल हक़ साहब दफ़्तर में तेज़ी से आए और साहब के क्रोध पर ठण्डा पानी डालते हुए, मुझे यह समझाया कि साहब का कोई बुरा मतलब नहीं है और साहब को यह सुझाया कि प्रो० साहब का भी कोई बुरा मतलब नहीं है। इस प्रकार वह मुलाक़ात तो बिना किसी दुर्घटना के शान्त हो गई, परन्तु सीनियर साहब ने फ़ाइल में एक बहुत ज़ोरदार नोट लिख कर दिल्ली के हाकिमों की भावी सन्ततियों को 'अर्जुन' का दिमाग़ सीधा करते रहने की वसीयत कर दी। मुझ पर उस मुलाक़ात का यह असर हुआ कि उस दिन के पश्चात् सरकार द्वारा बुलाई गई पत्रकारों की किसी सभा में सम्मिलित नहीं हुआ।

इस मुलाक़ात के पश्चात सी. आई. डी. के दफ़्तर में 'अर्जुन' के विरुद्ध मामले घड़ने का कारख़ाना सा खुल गया। निजी तौर पर मुझे कई चेतावनियाँ दी गईं। मेरे मित्रों ने मुझे सुझाया कि डिप्टी कमिश्नर से मिल कर मामले को रफ़ा-दफ़ा करा दो, पर मेरी अन्तरात्मा ने इसे स्वीकार नहीं किया। एक बार मेरे तीन अत्यन्त हितैषी मित्रों ने मुझसे बग़ैर पूछे ही डिप्टी कमिश्नर से मुलाक़ात का समय नियत कर लिया और मेरे पास आकर सूचना दी...जब मैंने इन्कार किया, तो मेरे बुज़ुर्ग मित्र मुझे अपने साथ कुदसिया बाग़ तक ले गए। डिप्टी कमिश्नर का बंगला उस बाग़ के पास ही था। मुझे उन सब ने लगभग घंटा-भर बाग़ में घूम कर समझाया, परन्तु एक अंग्रेज़ अफ़सर के बंगले पर हाज़री देने की बात के विरुद्ध मेरी अन्तरात्मा का विद्रोह शान्त नहीं हुआ। इसी सलाह मशवरे में मुलाक़ात का समय समाप्त हो गया और मेरे मित्र मुझे घर पर छोड़ कर दुःखित हृदयों से वापस चले गए।

इसके पश्चात् पत्र के विरुद्ध दमन का दौर-दौरा विधिपूर्वक आरम्भ हो गया।

छोटे-मोटे मामले १९२५ से ही आरम्भ हो गए थे। बड़ा मामला पकने में कुछ समय लगा। १९२७ के अन्त में मामला पक गया और एक दिन पुलिस के दो सब इन्सपैक्टर कुछ सिपाहियों के साथ 'अर्जुन'-कार्यालय में आकर मुझे और पत्र के सम्पादक श्री सत्यकाम विद्यालंकार को पकड़ कर ले गए। मैं उन दिनों पत्र का प्रिंटर और पब्लिशर था। उस मुक़दमे की कहानी बहुत लम्बी और मनोरंक है। यहाँ केवल इतना ही बतला देना पर्याप्त है कि यद्यपि मैं पत्र का केवल प्रिंटर और पब्लिशर था और साथ ही अदालत में सरकारी वकील तक ने यह मान लिया था कि जिन दिनों वह लेख निकले, जिनके सम्बन्ध में अभियोग चलाया गया था, उन दिनों मैं कश्मीर में था, तो भी मुझे साढ़े चार साल की सख़्त क़ैद की और सम्पादक को इससे कुछ कम सज़ा मिली। यह सज़ा कितनी अनुचित थी, इसकी कल्पना इस बात से ही की जा सकती है कि सेशन-जज ने पहली ही पेशी पर सज़ा को महज़ कर दिया और अपील पर मेरी सज़ा छः महीने और सम्पादक की सज़ा केवल तीन महीने रह गई। इतने हल्के कारण से ऐसा कठोर दण्ड देने का एक यही कारण हो सकता है कि दिल्ली की हकूमत ने उस अभियोग पर नहीं, प्रत्युत 'अर्जुन' की फ़ाइल पर सज़ा दी हो।

अब तो सरकार की ओर से कृपाओं की झड़ी लग गई। १९२९ में डाक्टर सत्यपाल को दिल्ली में

दो साल के कारागार का दण्ड होने पर अग्रलेख प्रकाशित करने के कारण 'अर्जुन' के सम्पादक पर और लेख के लेखक होने के कारण मुझ पर लाहौर के हाईकोर्ट में अदालत की मानहानि का मुक़दमा चलाया गया। जैसे प्रायः ऐसे मुक़दमों का अन्त हुआ करता है, वैसे ही 'अर्जुन' के मुक़दमे का हुआ। पत्र की ओर से कुछ स्पष्टीकरण हुआ, हाईकोर्ट की ओर से कुछ धमकी दी गई और अन्त में कुछ ख़र्चा लेकर कोर्ट ने मामला रफ़ा-दफ़ा कर दिया।

१२४ ए. : एक वर्ष बाद 'अर्जुन' का सम्पादक १२४ ए. के प्रहार का लक्ष्य हुआ। इस बार सम्पादक की हैसियत से वह वार श्रीयुत रामगोपाल को सहना पड़ा। मुक़दमे में वह सारा नाटक खेला गया, जो राजद्रोह के मुक़दमों में खेला जाता है। अन्त में सम्पादक को छः महीने के कारागार का दण्ड मिला। इसके पश्चात् आगरे के दंगे के सम्बन्ध में कुछ समाचार प्रकाशित करने के अपराध में श्रीयुत रामगोपाल सम्पादक पर फिर मामला चलाया गया। उसका परिणाम इतना ही निकाला कि ढाई सौ रुपया जुर्माना देना पड़ा। समझना चाहिए कि वह बला सस्ती ही टल गई। १९३० के आरम्भ में मुझ पर १२४ ए. का जो अभियोग चला था, उसमें 'अर्जुन' के कुछ लेख भी अभियोग के आधार बनाए गए थे। उसमें मुझे ९ मास के कठोर कारागार की सज़ा हुई।

१०००० रुपए की ज़मानत : १९३० के आरंभ में, देश के स्वराज्य-संग्राम का वह परिच्छेद शुरू हुआ, जो नमक सत्याग्रह के नाम से प्रसिद्ध है। उस अध्याय के आरम्भ होने से पूर्व ही मैं जेल में जा चुका था। आन्दोलन की विशालता और तीव्रता को देख कर सरकार घबरा गई। महात्मा जी की दाण्डी यात्रा ने तो सरकार के पाँव ही उखाड़ दिए। घबरा कर उसने बेहताशा चारों ओर हाथ-पाँव मारने शुरू किए। वह अख़बारों पर भी खूब बरसी। दिल्ली की सरकार ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' 'अर्जुन' 'तेज' आदि राष्ट्रीय पत्रों से दस-दस हज़ार की ज़मानतें माँग लीं। पत्रों ने ज़मानतें न देकर प्रतिवाद के रूप में प्रकाशन बन्द कर दिया। मई से अगस्त तक दिल्ली के समाचार-जगत् में पूर्ण अन्धकार-सा रहा। जनता की समाचार-पिपासा घण्टा-घर पर चिपकाए हुए बुलेटिनों से पूरी की जाती थी। अगस्त में सरकार का दिमाग़ कुछ ठण्डा हुआ। ज़मानत की मात्रा घटा दी गई। चार हज़ार रुपए की ज़मानत जमा करा कर छः अगस्त से 'अर्जुन' फिर प्रकाशित होने लगा।

ज़मानतों का ताँता : ज़मानतों का यह सिलसिला किसी-न-किसी रूप में चलता ही रहा। कहावत मशहूर है। 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे' नौकरशाही सरकार पर जब कभी राजनैतिक हलचल के रूप में कोई नई मुसीबत आती थी, तब वह खिसियानी होकर अख़बारों को नोचने लगती थी। १९३२ में फिर सत्याग्रह का बिगुल बजाया गया। इस प्रसंग में दिल्ली के घण्टाघर के चौक में सरकारी आज्ञा की अवहेलना करके कांग्रेस का बृहद् अधिवेशन किया गया। सरकार ने इसका गुस्सा अपनी आदत के अनुसार अख़बारों पर निकाला। 'अर्जुन' से भी दो हज़ार की ज़मानत ली गई।

१९३५ में क्वेटे में भूकम्प आया, उसके सम्बन्ध में देश में तरह-तरह की चर्चाएँ उठीं, जिनसे सरकार विक्षुब्ध हो गई। श्रीयुत अमरनाथ विद्यालंकार के कुछ लेख 'अर्जुन' में भी प्रकाशित हुए थे, उनसे असन्तुष्ट होकर सरकार पाँच हज़ार की ज़मानत माँग ली, जो दी गई।

कुछ समय पीछे सरकारी कोप का पारा कुछ और ऊपर चला गया। जिस कारण पाँच हज़ार में से दो हज़ार रुपए ज़ब्त कर लिए गए।

१९४२ में देश में फिर राज्य-क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी। सरकार उससे काँप गई और अपने स्वभाव के अनुसार अख़बारों पर बरस पड़ी। सैन्सरशिप की रस्सी तो गले में डाली ही गई; 'अर्जुन' से पन्द्रह-पन्द्रह सौ की दो ज़मानतें झुंगे में माँग ली गईं। इनमें से एक ज़मानत साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' से माँगी गई थी और दूसरी 'अर्जुन' प्रेस से।

चन्द्रलोक, जवाहर नगर,
दिल्ली

—इन्द्र विद्यावाचस्पति

राजस्थानी लोक-काव्य में ढोला-मरवण

ढोला-मरवण की कथा अन्तर्वेशीय लोक-गाथाओं के अन्तर्गत शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनू, हीर-राँझा आदि की कथा के समकक्ष होते हुए भी नैतिकता के क्षेत्र में उनसे उच्चपदासीन है। जहाँ-तक लोक-भावना का सम्बन्ध है, यह कथा राजस्थान की भूमि के कण-कण पर अंकित है और जो व्यक्ति राजस्थान की लोक-काव्य-परिधि के निकटतम भी रह चुका है, उसे अवश्य ही इसका सारांश कण्ठस्थ है।

यह केवल कथा ही नहीं, यह तो अमरगाथा है। क्योंकि राजस्थान की जनता के हृदय में यह इतनी व्याप्त हो चुकी है कि इसका भूलना भी अत्यधिक कठिन है। शैशव तो अबोध होता है, पर हाँ, युवक और वृद्ध, जब इसे अपनी ही भाषा में दुहराते हैं तो जैसे इसके नायक और नायिका—ढोला और मरवण—स्वयं सजीव से उनकी कल्पना में चित्रित से हो जाते हैं!

कथा : यही कोई दसवीं शताब्दी के अन्तर्गत नरवर (ग्वालियर में) के राजा नल और पूँगल (बीकानेर-राजस्थान में) के भाटी राजा की पत्नियों ने जब गर्भधारण किया तब दोनों सखाओं ने अपनी मित्रता के अटूट परिचय हेतु एक समझौता किया। समझौता था, गठ-बन्धन! एक के कन्या और दूसरे के पुत्र होने पर आपस में विवाह सम्बन्ध किया जाए। सौभाग्य ने नल को पुत्र से विभूषित किया और पूँगल नरेश को कन्या-रत्न से। इस सुअवसर पर पहले पूँगल से कुछ थाल सजा कर नरवरगढ़ भेजे गए और वहाँ से कुछ फल-फूल पूँगल लौटाए भी गए—और इस भाँति मरवण और ढोला को अधकच्चे शैशव में ही एक सूत्र में बाँध दिया गया।

राजस्थानी-काव्य में ढोला और मरवण के शैशव के प्रचलित हाव-भावों का वर्णन नहीं मिलता। इसका प्रमुख कारण नरवरगढ़ का, पूँगल-राज्य से दूर स्थित होना ही कहा जा सकता है और यह ठीक भी है। क्योंकि अगर राजस्थानी चारण नायक-नायिका को बचपन में एकसाथ दिखाता भी है तो यह काव्य-कथा आगे बढ़ने में संशयित रह जाती है और तब हार कर कथाकार की समस्त शक्ति यौवन पर केन्द्रित होती है।

गाथा ने ढोला और मरवण को यौवन में ला खड़ा किया और तब ही कथा में एक मोड़ आया, जब ढोला दूल्हा बना, पर वहाँ पूँगल की मरवण नहीं थी। वहाँ से उज्जैन-नरेश भीमसेन की कन्या मालवणी के भाग्य जागे थे—यहाँ एक बात कुछ अखरती है कि राजा नल ने ढोला को मरवण के साथ पूर्व-विवाह सम्बन्ध के विषय में अनभिज्ञ ही क्यों रखा? राजा नल तो देवता के अवतार माने जाते थे।[1] उन्होंने पूँगल-नरेश के साथ यह विश्वासघात फिर कैसे किया। ढोला-मारू की जितनी भी प्रचलित पुस्तकें हैं, उनमें यही कथा वर्णित है। अतः पाठक सोचता है, अवश्य ही राजा नल ने ढोला से मरवण के विषय में नहीं कहा अन्यथा यौवन के उन्माद में ढोला पूँगल जाने में भला कैसे झिझकता।

यहाँ फिर एक मोड़ आता है कथानक में। फुटपाथ के साहित्य की वर्णित ढोला मारू की पर्याप्त पुस्तकों में नायक का चरित्र तामसिक दिखाया गया है। इस तामसिकता से राजा नल एवं रानी दमयन्ती का पूर्णरूपेण सम्बन्ध भी मिलता है। ढोला को मदिरा के नशे में मालवणी तथा अन्य सुन्दर षोडशियों के सम्पर्क में रखा जाता है ताकि उसका मन कहीं उचट न जाए और पूँगल के संदेशों को उस तक पहुँचने ही नहीं दिया जाता।

इसी भाँति ऋतुएँ बदलती रहीं। ढोला राग-रंग में फँसता गया—अपनी आत्मा का हनन करता रहा मालवणी एवं राजारानी अपनी विजय पर प्रसन्न रहे, पर पूँगल की मरवण विरह में सूखी डाल-सी बन गई। वह नित नए सन्देश भेजती। कभी पक्षियों को अपना वाहक बनाती तो कभी पवन को दूती। बेचारी एक तरह

---

[1] राजा नल के देवता-तुल्य समझे जाने के विषय में एक जन-श्रुति है। कहते हैं राजा नल पासा (जूएँ) का अद्वितीय खिलाड़ी था। आज भी पासा डालते समय कोई खिलाड़ी सर्व प्रथम नल का नाम लेकर पासा डालता है तो वह अवश्य ही विजित होता है ऐसा मत है—अतः धारणा है कि नल देवता के अवतार थे।

मे ढोला के विरह में पागल-सी हो गई। पर उस पर कोई दयार्द्र न होता। नगर की अविवाहित कन्याओं की नजरों में वह खटकने लगी पर राजकुमारी की आड़ में प्रत्यक्ष व्यंगों से वह बची रही।[२]

राजस्थान में इस कथा को सर्वप्रथम लिखने का श्रेय 'ढोलामारू-का-दूहा' के रचयिता को प्राप्त है। कुछ लेखकों के मतानुसार इसे कवि कल्लोल ने वि० सं० १६०३ में लिखा और जैन यति कुशलचन्द ने जैसलमेर के राजकुमार हरराज भाटी के विनोदार्थ सन् १६०७ में इसका पद्य में अनुवाद किया। कुछ लेखक-गण इसे एक कवि के मस्तिष्क की सूझ नहीं समझते।[3] पर राजस्थान के आधुनिक लेखकों का मत है कि कवि कल्लोल ही इसका प्रणेता था। अतः हमें इस काव्य-कथा को कवि कल्लोल द्वारा लिखित मानना पड़ता है। कल्लोल ने इस कथा को दोहों द्वारा वर्णित किया है। इन दोहों को पढ़ कर पाठक कल्लोल की अद्भुत अन्तर्दृष्टि एवं उसके स्वभाव की विशालता से अछूता नहीं रहता। मरवण का विरह-वर्णन कल्पनापटु एवं भावुक बन पड़ा था।[४]

कथा फिर आगे बढ़ती है। जैसे-तैसे मरवण का सन्देशवाहक नरवरगढ़ पहुँच जाता है और ढोला को इस अबोध विवाह के विषय में ज्ञान कराता है। ढोला विरुद्ध हो उठता है और पौष की एक ठण्डी रात को ऊँटनी पर सवार हो पूँगल प्रस्थान करता है। मार्ग की अनेक बाधाओं को सहता हुआ वह पूँगल के घाट पर पहुँचता है। पनिहारिनों से मरवण के विषय में पूछता है, वे उत्तर देती हैं: 'हे ढोला, तेरे लिए मरवण ने अपना शृंगार तज दिया है। अन्य सुन्दरियों के नयनों में काजल है पर तेरी मरवण के नेत्र सूखे हैं। अन्य स्त्रियाँ भाँति-भाँति की ओढ़नी पहनती हैं। तेरी मरवण के वस्त्र गन्दे हैं। अन्य स्त्रियों की नासिका आभूषण युक्त है, उनके केश गुँथे हैं; तेरी मरवण के केश उलझे और बिखरे हुए हैं—जो कोई भी तुझे ऐसी नारी मिले समझ लेना वही तेरी मरवण है।"

"थारे कारण सुन्दर कांई तज दीयो सिनगार
ओरां रे काजल टिकियां रे थारी मरवण लूखा नैण
ओरां रे ओढ़न चूनरी रे थारी मरवण मेला वेश
नाक झरे नस नीसरे थारी मरवण छूटा केश"

ढोला और मरवण मिलते हैं। ढोला कुछ दिन पूँगल में ही रहता है। कुछ समय पश्चात् दोनों पूँगल नरेश से विदा माँग कर नरवरगढ़ कूच करते हैं। दोनों नरवर पहुँचने ही नहीं पाते कि मार्ग में एक विषधर द्वारा ढोला को डसने से क्रमशः प्राणान्त कर लेते हैं। और इस भाँति कथा का यही अन्त हो जाता है।

ढोला मारू की जितनी भी प्राप्त पुस्तकें हैं, उनमें इस कथा का अन्त भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित है। यह अन्त प्रचलित दन्तावलियों पर आश्रित है। एक जनश्रुति है कि जब ढोला और मरवण लौट कर नरवरगढ़ पहुँचे, तब मालवणी ने क्रुद्ध कर मरवण पर व्यंग किया कि 'अगर वह सतवन्ती है तो अमुक अन्ध जलाशय को

---

[२] राजस्थान के चारण कवि से विरह-वर्णन अत्यन्त ही सजीव बन पड़ा है, अतः उसी की भाषा का एक पद्यांश हम यहाँ अनूदित करते हैं: मरवण कुरजा से कहती है:

"कुरजा तू मोरी बेहनडी ए सामल म्हारी बात,
ढोला तणां ए ओलंबा मरवण लिख मारी,
ओ कुरजा धीमो चालो राज...

(ओ कुरजा-पक्षी तू मेरी बहन है, मेरी एक बात सुन, ढोला से जाकर कहना कि तेरी मरवण का दिन तेरे वियोग में पीर लिखते-लिखते ही व्यतीत होता है।)

[३] इस विवादग्रस्त विषय पर मोतीलाल, ठाकुरसिंह, सूर्यकरण पारीख एवं जगदीश सिंह की पुस्तकें राजस्थानी भाषा और साहित्य' 'ढोला-मारवण-का दूहा' एवं 'मारवाड़ के ग्राम-गीत' विशेष पठनीय है?

[४] यहाँ कल्लोल द्वारा रचित एक दोहे को आपके समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया, मरवण के विरह की प्रगाढ़ता देखिए, मरवण कहती है:

"कुम्मयाँ द्यइ नई पंखड़ी, थाकउ विनउ विहेसि,
सागर लाँघी प्री मिलऊ, प्री मिलि पाछीं पेसि।"

(हे कुरजा, अपनी पंख मुझे उधार दे दो, मैं उनका बाना बनाऊँगी और सागर लाँघ कर अपने प्रिय से मिलूँगी, मिलकर लौट आने के बाद तुम्हारे पंख तुम्हें लौटा दूँगी।)

१६५७

जलयुक्त करदे ?'' कहते हैं मरवण अपने इष्ट भगवान् शंकर का स्मरण कर ढोला सहित उक्त जलाशय में उतरी, जैसे-जैसे वह नीचे उतरती गई वैसे ही स्वतः जल की एक धार ऊपर से नीचे तक आती गई। जलाशय में लबालब जल भर आया। इस भाँति दोनों ने अपनी इहलीला समाप्त की !

एक दूसरी जनगाथा के अनुसार मरवण की छोटी बहन द्वारा ढोला को विष दिए जाने की चर्चा है। यह कथा इस प्रकार है, ढोला की अनुपस्थिति में मरवण के रूप एवं सौन्दर्य की चर्चा सुन अनेक युवक स्वयं को ढोला बता कर, मरवण से विवाह करने की लालसा लिए, पूँगल आए। मरवण के एक छोटी बहन थी, तारो। इन युवकों का साक्षात्कार करने तारो अपनी सहेलियों सहित, सोलह श्रृंगार किए, जाती और बेचारे वे युवक इसे ही मरवण समझ, इसके मोह-जाल में ऐसे फँसते कि अपने जीवन से हाथ धो बैठते। जब ढोला भी वहाँ पहुँचा तो इस अद्वितीय वियोगी राजकुमार को देख, तारो ने अपना वही तीर चलाया। ढोला अपने चातुर्य से सब-कुछ समझ गया। तारो का प्रथम वार खाली गया; कहते हैं इस भाँति तारो ने अपने पिता से कह कर ढोला को कई कष्टों का सामना करवाया। हार कर जब यह निश्चय हो गया कि यही वास्तविक ढोला है, तब पूँगल नरेश ने शास्त्रानुसार दोनों को एक सूत्र में बाँध दिया। ढोला और मरवण ने नरवर प्रस्थान किया। मार्ग में तारो ने ढोला को विषैला पेय पिलवा दिया, जिसके कारण ढोला की मृत्यु हो गई। ढोला की मृत्यु पर मरवण ने भी वहीं प्राणान्त कर दिया ?

इन किंवदन्तियों के आधार पर यह कहना असंभव है कि ढोला-मरवण का अन्त किस भाँति हुआ, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन दो प्रेमियों ने एक साथ ही मृत्यु का आलिंगन किया—चाहे वह मार्ग में, चाहे नरवर पहुँचने के पश्चात् या चाहे और कहीं ?

ढोला-मारवण की कथा जो भी कुछ है, यही है। इसके प्रणेता ने इसे एक उच्चकोटि की प्रेमगाथा बना दिया है, जिसका रस वियोग है और जिसमें पग-पग पर संयोग एवं करुणता के भावों का सुन्दर चयन है।

झूमर बाग, स्टेशन रोड,
जयपुर

राजस्थान में ऐसी प्रचलित कथाओं का अभाव कदापि नहीं है। राजस्थान के दो पृष्ठों में एक अगर वीरता एवं विजय से अंकित है तो दूसरा वात्सल्य और श्रृंगार में समुचित बूड़ चुका है। आजकल तो चल-चित्र निर्माता ऐसी गाथाओं पर भी चल-चित्र बनाने लगे हैं, आशा है यह कथा अवश्य ही उनके द्वारा पिछड़े एवं भूले ज्वलन्त दृष्टान्त का स्मरण कराने के हेतु अद्वितीय रहेगी एवं राजस्थान की प्राचीन सांस्कृति भी प्रकाश में आएगी।

यहाँ हम मरवण और कुरजा की बातों को पाठकों के समकक्ष रखना चाहते हैं, बातों में मरवण के हृदय की विह्लता का वर्णन शायद ही आधुनिक विरहिणी नायिका की टीस सपने में द्वितीय रहे, राजस्थानी चारण की सूझ देखिए :

''ऊँची तो उड़ती कुरजड़ी, ऐ कुरजा एक संदेसो ले चाल,
जायने ढोला जी ने यूँ कहो जी ऐ ढोला—
मरवण ने नाहि भावे धान।''

इस पर कुरजा कहती है :

''खाई जो थे खारक ने खोपरा ओ गोरादे
पीजो कडियो साँडियाँ से दूध।''

मरवण का प्रत्युत्तर :

''खारा तो लागे खारक खोपरा ऐ कूरजां
मिचलो तो लागे कडियो दूध।''

—ओ ऊँची उड़ती कुरजा, तू मेरा एक संदेश ढोला के पास लेजा—ढोला से जाकर कहना कि मरवण के वियोग में भोजन अच्छा नहीं लगता, कुरजा कहती है 'ओ मरवण तू भोजन क्यों करती है, गोला और छुआरा खा और ऊँठनी का थनकड़ा दूध पी'। इस उत्तर को सुन कर मरवण कहती है कि ढोला के विरह ने उसे पागल बना रखा है, ढोला की अनुपस्थिति में उसे गोला और छुआरा नमकीन लगते हैं और दूध से दुर्गन्ध आती है।

विरहिणी का यह चित्रण आज तक भी ज्यों का त्यों मर्मस्पर्शी है ?

—महावीर सिंहल

मजबूर

[महमूद ग़ज़नवी अपने शाही-महल में बातें कर रहा है।]

महमूद : हम अपने से पूछ-पूछ कर हार गये लेकिन अब तक सही जवाब नहीं मिला। तुम हमारे सवाल का जवाब दे सकते हो दाऊद ?

दाऊद : हम कोशिश करेंगे आलम पनाह ! फ़रमाइए।

महमूद : हमें बताओ दाऊद खाँ, हिन्दोस्तान को फ़तह कर के हमने क्या पाया ?

दाऊद : इसमें हैरान होने की क्या बात है बादशाह सलामत ? अफ़ग़ान के बहादुर सिपाहियों ने हिन्दुस्तान फ़तह कर ग़ज़नवी सल्तनत और शाहंनशाह की शोहरत में चार चाँद लगा दिए हैं, लेकिन आज एकाएक ऐसा सवाल और हुजूर की बेचैनी का मतलब नहीं समझ में आता।

महमूद : आज ही नहीं दाऊद, लगातार चार साल से दिमाग़ में यह सवाल एक अजीब शक्ल में पैदा होकर पूछता है : 'महमूद तूने क्या हासिल किया ?'

दाऊद : सल्तनत और शोहरत तो शाहंनशाह के लिए मामूली चीजें हैं लेकिन हीरे-जवाहरात और वह सोने की नदी आपने हिन्दुस्तान से ग़ज़नी की ओर बहा दी; यह मामूली बात नहीं। और फिर हिन्दुस्तानी राजाओं ने जिसे तालाब की तरह चारों तरफ़ से बाँध दिया था। एक बार नहीं, दो बार नहीं, सत्रह बार आपने दुश्मनों को फ़तह किया। कन्नौज को जीत कर कई क़ीमती चीजें हिन्दुस्तान से ग़ज़नी लाई गयीं।

महमूद : क़ीमती चीजें लाये हैं। काश, कि वह नायाब गौहर...वह आबदार मोती हम ला पाते तो आज हमारे दिल में यह बेचैनी तो न पैदा होती ?

दाऊद : परवेज़ और मन्सूर कूच में आपके साथ थे। शायद उनसे कोई भारी ग़लती हो गई...लेकिन हम आज भी उसे दुरुस्त कर सकते हैं जहाँपनाह।

महमूद : नहीं दाऊद। कुछ ग़लतियाँ उम्र-भर भुगतने के लिए तैयार होती हैं। ये हमारी जिन्दगी का ऐसा ही राज़ है, न कोई उससे वाक़िफ़ है, न किसी को कानोकान ख़बर है। हिन्दुस्तान को फ़तह कर महज़ हम ढेर-भर आबदार पत्थर ही तो ला सके हैं। काश, कि हुस्न की आब का एक ही नगीना लाते...उसे अपनी दिल की अँगूठी में जड़ कर राहत पाते।

दाऊद : दुनिया जानती है कन्नौज के हमले में हम कामयाब हुए। बड़ी आसानी से हमें हुकूमत का कब्ज़ा मिला। तारीख़ कन्नौज की हार को हमारी शानदार फ़तह का नमूना मान कर सदियों तक बयान करेगी।

महमूद : नहीं दाऊद, हम बुरी तरह हार गए... बुरी तरह। कन्नौज की लड़ाई में शाहंनशाह ग़ज़नवी की शिकस्त नहीं हुई, उमंगों का बादशाह, हुस्न का भिखारी महमूद हार गया।

दाऊद : क्या बादशाह सलामत की जिन्दगी का राज़ इस अदने से सिपाही पर भरोसा कर सकता है ?

महमूद : आज बयान किये बिना हमारी तड़पन राहत नहीं पा सकती दाऊद ! लेकिन यह क्या कह दिया ? तुम हमारे मामूली सिपाही ! जो हमारी जिन्दगी बन कर जीता है, उसे ख़ादिम नहीं, अपने जिगर का टुकड़ा समझते हैं।

दाऊद : सुभान अल्लाह ! हम हुजूर के इस रुख को अपनी जिन्दगी का सब से नायाब तोहफ़ा मानते हैं। क्या हुजूर किसी गौहर के बारे में फ़रमाना चाहते हैं ?

महमूद : हाँ ! उस मीठी कड़वाहट को हम चार साल चुपचाप पीते रहे, अब दास्ताँ बनाते हैं।

दाऊद : अगर जहाँपना मुआफ़ करें तो एक सवाल पूछ सकता हूँ ?

महमूद : बेख़ौफ़ पूछो।

दाऊद : बादशाह सलामत ने अपनी जिन्दगी में जागीरों और सूबों पर कब्ज़ा कर दौलत का दरिया लहराया।

महमूद : बेशक।

१९५७

दाऊद : बरसों शाहंनशाह की तरह हुकूमत चलाई ?......

महमूद : हाँ हाँ......हमने हुकूमत की......शानदार हुकूमत !

दाऊद : लेकिन क्या जहाँपनाह किसी हुस्न के मासूम टुकड़े पर हुकूमत नहीं कर सके ? हुकूमत की चका-चौंध में सल्तनत के क़दम डगमगा गए और...

महमूद : नहीं दाऊद ! हमने वह सल्तनत पाई थी, जिस पर ऐसी ही हज़ारों जागीरें कुर्बान हो सकती हैं। हमारे दिल में पाक रोशनी थी। मुहब्बत का हर क़दम जमा हुआ था।

दाऊद : तब क्या ख़ूबसूरती के सामने मुहब्बत का दामन छोटा पड़ गया ?

महमूद : नहीं तो !

दाऊद : तो शायद जहाँपनाह ने अपने शाही ख़ानदान का ख़याल किया होगा।

महमूद : यह भी ग़लत !

दाऊद : (हैरत से) ग़लत। तब चिड़िया पिंजड़े में आने से पहले ही दूसरी दुनिया में क़ैद हो गई होगी।

महमूद : नहीं दाऊद, नहीं...नहीं तुम्हारे सब अन्दाज़ ग़लत हैं और तुम्हारे ही क्यों इस मुआमले में जो भी हैरान होगा, सबके ग़लत अन्दाज़ होंगे। एक अजीब उलझन है, अजीब गुत्थी। तारीख़ लिखने वाले ताज्जुब करेंगे...जो महमूद दौलत के मुआमले में इतना सख़्त था वह मुहब्बत के मुआमले में इतना नरम !

दाऊद : सचमुच ताज्जुब है हुज़ूर ! तारीख़ की बातें तारीख़ जाने। मैं तो अभी से ताज्जुब करता हूँ। जब मुहब्बत का क़दम जमा हुआ था, दिल में पाक रोशनी, जिसे पाने के लिए हज़ारों जागीरें कुर्बान करने की तमन्ना, ख़ूबसूरती को समेटने के लिए मुहब्बत का दामन फैला हुआ, जहाँपनाह ने अपने शाही ख़ानदान का भी ख़याल नहीं किया...और आलमपनाह के दिल की बेचैनी इस धरती पर अब तक मौजूद हैं तब और कौन सा अन्दाज़ है जो दाऊद के दिमाग़ में आने से कतरा गया ? क्या कोई बड़ी भारी अनहोनी हो गई और हुज़ूर देखते ही रह गए।

महमूद : यही सुनाने के लिए तो हमने आज आपको याद फ़रमाया है। चार साल पहले हमारे फ़ौजियों ने कन्नौज को चारों तरफ़ से घेर लिया था। आधी रात का सन्नाटा चाँदनी में करवटें बदल रहा था। गुनगुनाती हुई गंगा बह रही थी। सादा लिबास में हम घेरे की निगरानी करने के लिए अकेले घूम रहे थे। उसी वक़्त दूर से किसी के चीख़ने की आवाज़ कानों से टकराई......

(दूर से नारी की चीख)

रोहिणी : (चीख कर) बचाओ...बचाओ...कोई बचाओ...बचा......।

(मुँह से निकलने वाला शब्द जैसे रोक दिया जाता है)

यशोवी : यह तो चीख-चीख कर सारी दुनिया को जगा देगी।

आवाज : (डाँटते हुए) चुप रहती है या मरना चाहती है ?

रोहिणी : मुझे...म...म...मारते हैं...बचाओ दौड़ो......।

आवाज : (कड़ी फटकार) चुप ! ख़बरदार अगर ज़बान हिलाई।

यशोवी : यह तो इस तरह ग़ज़ब ढा रही है, जिसकी हद नहीं। देखो कुछ करो......।

आवाज : अच्छा देखता हूँ किस तरह चीख़ती है ?

यशोवी : बड़ी मुश्किल से हाथ लगी है। पिंजरे में फँसी हुई मैना यों ही उड़ जाने देंगे। (हँसता है) कहाँ जाएगी छटपटा कर ?

आवाज : देखो जल्दी करो।

यशोवी : जल्दी क्या है ? इसे उठा कर चोर रास्ते से ले चलेंगे। किसी को पता नहीं चलेगा। इसका बाप तो क्या इसके भगवान को भी पता नहीं चलेगा कि कन्नौज के आसमान का सितारा एकाएक कहाँ गुल हो गया......

(खिल-खिला कर हँसता है)

आवाज : अरे भई ज़रा धीरे हँसो। शायद कोई इसी तरफ़ आ रहा है।

रोहिणी : (ज़ोर से चिल्लाती है) बचाओ... बचाओ...ओ मर गई...दौड़ो बचाओ।

यशोवी : चुप ! मुँह से आवाज़ निकाली तो मार डालूँगा।

रोहिणी : हाँ हाँ, मार डालो। अकेली मजबूर औरत को मार कर बहादुरी दिखाना चाहता है कमीने।

राजकुमार और कसाई का काम ! शर्म नहीं आती !

आवाज़ : देखो यशोवी इसका मुँह बन्द करो ।

यशोवी : बकने दे, कहाँ तक रोकोगे । खूबसूरत का गुस्सा बड़ा प्यारा मालूम होता है । हमें तो बड़ा मज़ा आ रहा है !

रोहिणी : दुश्मन घेरा डाले बैठा है, जाकर बहादुरी दिखा । बेबस औरत को मारने की धमकी देता है ?

यशोवी : हम तेरे रूप के ग्राहक हैं, सुन्दरी । हमें क्या करना है, राजपाट से । तुम्हारे बिना राजमहल वीरान है । जहाँ तुम रहोगी वीराना आबाद नजर आएगा ।

आवाज़ : ले चलो इसी हालत में ।

महमूद : (अकस्मात् कठोर आवाज़) ख़बरदार ! अगर एक क़दम भी उठाया तो ज़िन्दगी से हाथ धोना पड़ेगा ।

आवाज़ : कौन है तू ? सामने से दूर हट जा ।

महमूद : किसको धमकाने की कोशिश करता है ?

यशोवी : जानते नहीं हम कौन हैं ? होश में आकर बातें करो और रास्ते से हट जाओ ।

महमूद : खूबसूरत छोकरे । धमकाने से पहले अपनी कलाई नाप कर देखी होती ।

आवाज़ : अगर अपनी ख़ैर चाहते हो तो रास्ते से चुपचाप हट जाओ वरना...... ।

महमूद : तेरी गीदड़ धमकियाँ बेकार हैं, लड़के । अगर ख़ैर चाहते हो तो इस लड़की को इसी दम छोड़ कर भाग जाओ ।

यशोवी : (खिलखिलाकर हँसता है) हमें क्या मोम की गुड़िया समझता है । इस बुलबुल पर हमारा हक़ है ।

आवाज़ : तुम कौन होते हो हमारे बीच दख़ल देने वाले ? अपना रास्ता नापो नहीं तो यहीं पर कचूमर निकाल दिया जाएगा । ले सँभाल अपने को ... ।

(छुरा निकाल कर वार करता है ।)

महमूद : और ले यह सँभाल...ले देख...

आवाज़ : (चीख) ओह ! ओह !!...मर गया... मरा ओह...ओ......

महमूद : देख लिया और तुम भी, अगर इसी राह से गुज़रना चाहते हो तो आ जाओ ।

यशोवी : तू कल ही अपने किए का फल भुगतेगा । याद रख मैं एक राजकुमार हूँ ।

महमूद : राजकुमार ! सल्तनत के हक़दार की ऐसी हरकतें ।

यशोवी : मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तेरी इस करतूत का बदला लेकर रहूँगा ।

महमूद : अरे जा रास्ता नाप । बड़ा आया है बदला लेने वाला । बहादुर आज का कल पर नहीं टालते ।

यशोवी : तू या तो सूली पर लटकाया जाएगा या मेरे हाथों तेरी मौत होगी ।

महमूद : (हँसी) शहज़ादे, कल जानोगे तुम्हारी धमकी में कितना दम था । जिस औरत को भगाकर लाए हो, छोड़ कर भाग जाओ, वरना यह देखा !...इस खंजर से ठकराने की हिम्मत है ?

यशोवी : (बड़बड़ाता हुआ) अरे बहुत देखा... आज मेरा साथी मर गया नहीं अभी देख लेता । ख़ैर अब कल देखूँगा । मरने का डर दिखाता है...और हम तो इस पर पहले ही मर गए...तुम्हारे आने के पहले ही।

(जाता है)

महमूद : तुम ?...कौन हो तुम, लड़की ?

रोहिणी : एक बदनसीब ।

महमूद : बदनसीब । नहीं नहीं...अपने को गलत न समझो । बताओ......।

रोहिणी : तकदीर की ठोकरों पर उछलती हुई मुसीबतों की उँगलिओं पर नाचनेवाली गुड़िया अपने को बदनसीब नहीं तो और क्या कह सकती है ? ख़ैर मेरी छोड़िए पहले आप बताइए ।

महमूद : इस अदने से सिपाही के पास अपने बारे में कहने के लिए है ही क्या ? यूँ ही एक मामूली सिपाही ।

रोहिणी : मामूली सिपाही !...नहीं, आप मुझे धोखा दे रहे हैं । दुखियों की पुकार सुन कर जो फरिश्ते की तरह दौड़ पड़ता है और मौत से टकराता है, वह अदना-सा सिपाही ! नहीं, भरोसा नहीं होता और हो भी कैसे ? हाँ ... अगर आपको ऐतराज़ हो तो जाने दीजिए ।

महमूद : एतराज़ की बात नहीं । आप बुरा न माने इस सरफ़रोश को एक रात...सिर्फ़ आज की रात

दुनिया वालों की जानकारी से अलाहिदा रहने दीजिए। इसमें बहुत बड़ा ख़तरा है! जान का ख़तरा। आबरू और बहादुरी पर ख़तरा। यह मेरे लिए और शायद आपके लिए भी बहुत ज़रूरी है कि अभी मैं कुछ न कहूँ?

रोहिणी : अगर ऐसी ही बात है तो मैं मजबूर नहीं करती।

महमूद : मगर इसका यह मतलब नहीं होता कि आप भी अपने बारे में एकदम ख़ामोश रहें। बताइए!

रोहिणी : कन्नौज के व्यापारी बनवीर की बेटी।

महमूद : मशहूर सौदागर बनवीर की लाड़ली। तो आप ही रोहिणी हैं?

रोहिणी : (आश्चर्य) हाँ। लेकिन आपको मेरा नाम कैसे मालूम हुआ?

महमूद : चाँद कहाँ जानता है कि उसका उजाला धरती पर भी पहुँचता है? रोशनी फ़लक के चाँद को जानने के लिए मजबूर कर देती है। अदब और तहज़ीब, हुस्न और नफ़ासत की मूरत रोहिणी की शोहरत हिन्दुस्तान की हदें लाँघ कर दूर-दूर तक फैल चुकी है, जिसके हुनर और हुस्न के चर्चे कानों से सुनता था, उसे रूबरू देखने का मौक़ा पा कर अपनी क़िस्मत को सराहना पड़ता है।

रोहिणी : यही तो आपका बड़प्पन है, जो एक मामूली लड़की को आपने तारीफ़ के सातवें आसमान पर चढ़ा दिया।

महमूद : आप शायद घर जाना पसन्द करेंगी?

रोहिणी : हाँ वह पापी फिर पीछे न पड़ जाए। अगर आप थोड़ी सहायता करें तो मैं आसानी से अपने घर जा सकूँगी।

महमूद : हाँ, हाँ, क्यों नहीं। चलिए (जाने लगते हैं) उस कायर राजकुमार से आप इतना ख़ौफ़ खाती है?

रोहिणी : क्यों न डरूँ? राजा का बेटा जो ठहरा, न जाने कब क्या कर बैठे?

महमूद : घबराइए नहीं। अब वह पाजी ऐसी हिम्मत नहीं करेगा?

रोहिणी : चोट खाया हुआ साँप मौक़ा पा कर चूकता नहीं, इसीलिए डरती हूँ......

महमूद : उसे सिर उठाने का मौक़ा अब दुबारा नहीं मिलेगा।

रोहिणी : क्यों नहीं मिलेगा? रहना तो उसी के राज में पड़ता है।

महमूद : फिर भी आप घबराइए नहीं। सच मानिए हम कोरी तसल्ली देने के लिए नहीं कहते, यह ऐसा राज़ है, जिसे समय से पहले खोलना बेहतर नहीं होगा इसलिए...इसलिए...ये सब...

रोहिणी : ख़ैर छोड़िए आप नाहक क्यों परेशान होते हैं। बस...मैं पहुँच गई...

महमूद : पहुँच गई। कहाँ?

रोहिणी : वह देखिए सामने...ऊँची मंज़िल वाला महल... ...।

महमूद : ओह? तो मुझे रुखसत मिल सकेगी।

रोहिणी : नहीं नहीं। यह कैसे हो सकता है। आपको चलना होगा। आपसे मिल कर पिता जी को बहुत खुशी होगी।

महमूद : मुआफ़ करें। अभी इसके लिए मौक़ा नहीं आया। वक़्त आने पर सब मालूम हो जाएगा, अच्छा अलविदा।

रोहिणी : अलविदा।

(अन्तराल संगीत)

कामिनी : क्या बात है, रोहिणी! बड़ी रात तक जाग रही हो।

रोहिणी : कुछ नहीं बहन यों ही।

कामिनी : यों ही कोई रात में जागता है। सारी दुनिया जब बेख़बर सोती है, तब दो प्रकार के लोग जागते हैं।

रोहिणी : अच्छा जरा सुनूँ तो...।

कामिनी : एक तो वे जो मुहब्बत करते हैं। मारे ग़म या ख़ुशी के नींद ही आँखों से उड़ जाती है।

रोहिणी : और दूसरे?

कामिनी : दूसरे क़िस्म के लोगों से तो तुम्हारा कोई मतलब ही नहीं।

रोहिणी क्यों?

कामिनी : क्योंकि तुम उसमें शामिल ही नहीं हो सकती। ख़ैर, सुन लो। नहीं तो कहोगी कामिनी हर बार अधूरी बात कहती है। दूसरे वे लोग जागते हैं जो दुनिया के पल-पल का हिसाब रखना चाहते हैं। संसार के हर एक जर्रे का मतलब समझना चाहते हैं।

और रात का सन्नाटा सोचने के लिए बड़ा अच्छा होता है। उनको दुनिया दार्शनिक कहती है।

रोहिणी : मुझे भी इन दूसरे प्रकार के लोगों में समझ लो।

कामिनी : आहा!

रोहिणी : क्यों मैं सोच नहीं सकती। यह हवा फूलों की खुशबू लेकर थिरकती हुई कहाँ चली जाती है। चाँद की दूधिया बरसात मन को क्यों पागल बनाती है? संध्या के गालों पर चुपचाप आकर कौन गुलाल मल देता है और......

कामिनी : यही तो प्रेम-जागरण है।

रोहिणी : वाह री वाह! अभी कह रही थी दार्शनिक हर बात का हिसाब रखते हैं!

कामिनी : लेकिन उनके ओठों पर सूखी हँसी और माथे पर उदासी की सिकुड़न होती है और तुम तो जैसे लाज की लाली से सराबोर होकर बात-बात पर खिलखिला पड़ती हो। (प्यार और अनुरोध से) सच बता रोहिणी, क्या बात है......।

रोहिणी : (खुशी से) कुछ नहीं कामिनी! (हँस पड़ती है)

कामिनी : अच्छा बता वह भाग्यवान् कौन है?

रोहिणी : सचमुच कामिनी मैं कुछ नहीं जानती। न जाने उसने अपना नाम और परिचय क्यों छिपाया!

कामिनी : ओह! तो चोर बड़ा चालाक मालूम पड़ता है। तुम यों ही मन की उमंगों को लुटा बैठी?

रोहिणी : उनकी वीरता पर मैं ख़ुद लुट गई। सब खो बैठी।

कामिनी : कैसी वीरता रोहिणी। कौन...था वह साफ़-साफ़ बता!

रोहिणी : ज़्यादा तो मैं भी नहीं जानती। चाँदनी में अपने बगीचे में टहलते-टहलते फ़ौवारे के पास बैठ कर फुहारों में उड़ने वाले मोती की शोभा देख रही थी। उसी समय चुपचाप न जाने कब पीछे से यशोवी आया और मेरा मुँह दबा कर दीवार लाँघ कर दूर ले गया। चोर रास्ते से ले जाने के लिए मुझे ज़मीन पर उतारा तो मैं ज़ोर से चीख़ने लगी।

कामिनी : यह बहुत बुरा हुआ। फिर क्या हुआ?

रोहिणी : मेरी पुकार सुन कर एक नौजवान दौड़ा आया।

कामिनी : ओह! तो यह वही नौजवान है। तुमने पूछा नहीं वह कौन था। जिसने ऐसी हिम्मत का काम किया।

रोहिणी : बहुत पूछा कामिनी लेकिन उसने कुछ नहीं बताया। कहते रहे समय आने पर सब कुछ मालूम हो जाएगा।...अभी कुछ भी बताना दोनों के लिए अच्छा नहीं।

कामिनी : बस! मुझे तो कोई बड़ा आदमी मालूम पड़ता है।

रोहिणी : मैं भी यही सोचती हूँ। लेकिन न जाने कौन होगा। उसने अपने को क्यों छिपाया। उस पर कैसी मुसीबत है। कुछ समझ में नहीं आता।

कामिनी : अच्छा अब सो जाओ। चाँद आसमान से झुक गया। रात केवल दो पहर बाक़ी है।

(अन्तराल से गीत)

परवेज़ : सब तैयारियाँ पूरी हो चुकी है बादशाह सलामत और...

महमूद : सुनो परवेज़...

परवेज़ : फ़रमाइए आलमपनाह!

महमूद : तुमने कभी हमारे पास ज़िक्र किया था कि कन्नौज की रौनक में एक ख़ूबसूरत जलवा चार चाँद लगा रहा है।

परवेज़ : हाँ-हाँ मुझे वह बात अब भी याद है। शोहरत मेरे कानों तक पहुँची और मैंने हुज़ूर की ख़िदमत में पेश कर दिया था।

महमूद : हम वह पाक जलवा अभी-अभी इन आँखों से देख चुके हैं।

परवेज़ : इसके लिए हुज़ूर की तक़दीर की सराहना करते हैं।

महमूद : आज उस हुस्न के चाँद पर गहन लग रहा था। हम अपने हाथों उस पर पड़ने वाली साया हटा कर चैन और राहत खो बैठे।

परवेज़ : यह तो बड़ा अच्छा हुआ सरकार!

महमूद : अच्छा हुआ।

परवेज़ : हाँ। दिबस्तगी के लिए सामान हो गया।

महमूद : हम बेचैनी का ज़िक्र करते हैं, तुम दिल बहलाने की बात करते हो......

परवेज़ : ख़ता माफ़ करें। मैं आगे की बात

१६५७ ,

करता हूँ। शायद आगे चल कर आपकी बेचैनी रंग ला सकती है।

महमूद : लेकिन...

परवेज़ : अभी कुछ मतलब से हाज़िर हुआ था।

महमूद : बोलो !

परवेज़ : मौक़ा अच्छा है। मालूम हुआ है, पहरे पर कम सिपाही तैनात हैं। क्या हमला बोल दिया जाए !

महमूद : तैयार रहो। मैं ख़ुद आ रहा हूँ। तुम आगे बढ़ो।

परवेज़ : हुक़्म सिर आँखों पर...

(परिवर्तन सूचक ध्वनि)

: दृश्य परिवर्तन :

महमूद : कन्नौज तो हमारे बहादुर सिपाहियों की दिलैरी ने फतह कर लिया लेकिन आज हम अपने निजी मामले को राजा साहब की अदालत में पेश करना चाहते हैं।

महाराज : आज से कन्नौज के हक़दार जहाँपनाह हैं। लड़ाई में हार कर हमने अपना राज़ खोया। इसका मतलब यह नहीं कि शाहंनशाह हमें ज़्यादा शर्मिन्दा करें। अदालत पर हुकूमत आपकी है। इन्साफ़ भी आप ही करेंगे।

महमूद : मामला हमारा ज़ाती है और इस ख़ूबसूरत नौजवान के ख़िलाफ़ !

महाराज : आप क्या कहते हैं, बादशाह सलामत। यह तो मेरा बेटा राजकुमार यशोवी है।

महमूद : हमारी शिकायत, राजकुमार के ख़िलाफ़ है !

महाराज : आपकी क्या शिकायत है, पूछिए। राजकुमार जवाब देगा !

महमूद : अच्छा ! तो हम पूछते हैं, राजकुमार ! कल आधी रात बीतने पर तुमने हमें धमकी दी थी कि सुबह होते ही तुम हम से निपट लोगे; याद है ! हमें सूली चढ़ाओगे या अपने हाथों क़त्ल करोगे। तुम किस लिए हम से बिगड़े थे ? उसका पूरा ब्यौरा तुम्हें इस दरबार में सुनाना होगा।

यशोवी : (चुप रहता है)

महाराज : बोलो बेटा। शाहंनशाह की बातों का जवाब दो......

महमूद : राजकुमार की ख़ामोशी साबित करती है कि अपने हक़ में कहने के लिए उनके पास कोई जवाब नहीं।

महाराज : यह क्या रहस्य है बेटा ! बोलते क्यों नहीं ? (रुक कर) बादशाह सलामत। शायद यह कोई दिलचस्प मामला मालूम पड़ता है।

महमूद : हाँ। इसके लिए सौदागर बनवीर की बेटी रोहिणी को दरबार में हाज़िर करना होगा।

महाराज : (पुकारता है) अरे कोई है ?

आवाज़ : हुक़्म सरकार। बन्दा हाज़िर है।

महाराज : रोहिणी को इसी समय दरबार में हाज़िर किया जाए।

महमूद : राजकुमार ! हम जो पूछते हैं; उसका जवाब महाराज के सामने देना होगा। हमने कल रात तुमको इस राज में रहने वाली एक बेगुनाह लड़की को ज़बर्दस्ती भगाते हुए देखा था। पुकार सुन कर हम हाज़िर हुए और उसको तुम्हारे चंगुल से छुड़ाया। क्या हम बजा फ़रमाते हैं ?

यशोवी : (लज्जित) हाँ बादशाह सलामत !

महमूद : महाराज के राज में इस तरह के गुनाहों की क्या सज़ा दी जाती है ?

महाराज : चूँकि कन्नौज पर आज से आपका हुक़्म जारी है। इसलिए यही बेहतर होगा कि आप अपने क़ानून की निगाह से इस मुआमले पर ग़ौर फ़रमाइए और जो भी सज़ा वाजिब समझें, सुना दीजिए।

आवाज़ : (आकर) ख़िदमत में रोहिणी हाज़िर है, जहाँपनाह !

रोहिणी : (आश्चर्य-मिश्रित, अपने आप अस्पष्ट) जहाँपनाह।...आप ?

महमूद : रोहिणी हाज़िर हो गई ?

रोहिणी : आलीजाह !

यशोवी : आलीजाह मैं मुआफ़ी का तलबगार हूँ।

महमूद : राजकुमार ने जिस लड़की की तौहीन और बेइज़्ज़ती करने की कोशिश की, यही वह लड़की है महाराज ! हमारा फ़ैसला है, इसे ज़िन्दगी भर निभाना होगा।

महाराज : (ख़ुशी से) शाहंशाह !

रोहिणी : (दर्द से) लेकिन जहाँपनाह...जहाँपनाह !...

महमूद : हमारा यही फ़ैसला है ।

यशोवी : मैं शर्मिन्दा हूँ, बादशाह सलामत !

महाराज : तो आलमपनाह ने राजकुमार की बेअदबी को मुआफ़ कर दिया ।

रोहिणी : लेकिन आलीजाह...मुझे यह बात मंज़ूर नहीं ।

महमूद : तुम क्या चाहती हो, हमारा फ़ैसला मंज़ूर नहीं ।

रोहिणी : अब क्या कहूँ ? कुछ नहीं कह सकती ...जहाँपनाह...अब, कुछ नहीं कह सकती !

महमूद : कहो......हमारे फ़ैसले पर शायद तुम्हें एतराज है ।

रोहिणी : (चिढ़ कर) एतराज ! नहीं...बिल्कुल नहीं । आपने बहुत अच्छा किया...बहुत अच्छा !

(फ़्लैश बैक फेड आउट)

महमूद : शायद वह कुछ कहना चाहती थी लेकिन उसकी जबान हिल कर रह गई । आवाज नहीं निकली । हमें शक था । हमारा इन्साफ़ उसको बिल्कुल पसन्द नहीं था । हमने पूछा तुम्हारी क्या राय है ।

दाऊद : वाह जहाँपनाह । इन्साफ़ सुनाने के बाद आप राय पूछते हैं ?

महमूद : सुनो दाऊद ! उस समय हम जहाँपनाह नहीं थे । हमारा इन्साफ़ हमें भी पसन्द नहीं था। उसे भी पसन्द नहीं था । हमारी बात सुनते ही उसकी घायल और हारी हुई बेबस नजरें, हमारी नजरों से टकरा कर रुक गईं । हम समझ गए । उसके पास कहने के लिए जबान नहीं और हमारे पास इन्साफ़ को इस तरह बदलने के लिए, दिल नहीं ।

दाऊद : इसमें एतराज की क्या बात थी ?

महमूद : वह हमारी खुदग़र्जी साबित होती । काश, हम खुद इन्साफ़ की कुर्सी पर न होते हम जान गए थे कि उस बुज़दिल, राजकुमार के लिए उसके दिल में कोई इज्जत नहीं ।

दाऊद : और तब भी आपने वही इन्साफ़ किया जो आपकी और उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ था ।

महमूद : हम मजबूर थे । हम खुद कन्नौज के महाराजा कोर्री की तहजीब और शेरदिल इंसानियत से हार गए थे । हम जानते थे, कि उन निगाहों को पढ़ कर, हम जो भी करते, न महाराज कोर्री को पसन्द आता, न रोहिणी के बाप को ! और इसीलिए हमने अपने अरमानों को मसल दिया । सीने पर पत्थर रख लिया और हिन्दोस्तान से कूच करने के पहले हमने अपने हाथों दिल पर पत्थर रखने की वह रस्म बड़े धूम-धाम से अदा करा दी ।

दाऊद : और बदले में आहों और उसासों की सल्तनत विरासत में ले आए । बेशक यह मुहब्बत की दुनिया की सबसे बड़ी रौनक़ है ।

महमूद : लेकिन दाऊद ! हमारा दिल बार-बार कचोटता है । क़दमों पर न्यौछावर मुहब्बत की दौलत पर हमने लालच की निगाह तक न पड़ने दी !

दाऊद : हमारा ख़याल है, शाहंनशाह के दिल में कमज़ोरी आ गई थी ।

महमूद : मज़हब हमारे बीच दीवार बन गया। अपनी ओर से उस दीवार को गिराने में हमें ऐतराज़ नहीं था...लेकिन उनके ख़यालों ने हमें चुप रहने के लिए मजबूर कर दिया ।

दाऊद : मुहब्बत की दुनिया में मज़हब, सल्तनत अमीरी-ग़रीबी या दुनिया की कोई भी दीवार कोई मतलब नहीं रखती । हमें ताज्जुब है, जिन उसूलों को हमने शाहंनशाह से सीखा...शाहंनशाह खुद मौक़े पर भूल गए ।

महमूद : हम कुछ भी नहीं सोच सके...ऐसा कोई ख़याल हमारे दिमाग़ में नहीं आया । एकाएक दिमाग़ जैसे सन्न रह गया...ज़बान को काठ मार गया। होनी ऐसी सख़्त और पैनी नजरों से ताक रही थी, कि हम अपनी बादशाहत भूल गए...हमारी हस्ती के चिराग़ गुल हो गए...लेकिन उन दो आखों की शीराज़ी अब तक हमारे दिल पर नशा किए है । मुहब्बत का नशा । जो वक़्त के साथ घटता नहीं, बढ़ता रहा और हमें अपने में समेटे रहा !

—अनिलकुमार

कासारपुरा रोड, इतवारी
नागपुर—२

ज़मीन का टुकड़ा

मन्सूरपुर गाँव के जागर को हल की मूँठ पकड़े चालीस बरस कैसे गुज़र गए, यह बात उसके दिमाग़ में कभी स्थिर नहीं हो पाई और हमेशा लहरों के थपेड़े खाती नाव की तरह डोलती रहती थी। जाड़ा हो या गर्मी उसने कभी किसी भी ऋतु की कठोरता को अनुभव नहीं किया। जाड़े से जब कभी उसे कँपकँपी महसूस होती तो रामसर कुएँ पर झाड़-फूस बटोर कर धूनी जला लेता और हाथ-पैर सेंक कर अपने काम में जुट जाता। लेकिन गर्मियों की कड़कती धूप में जब कभी हाँफने लग जाता तो हल के आगे जुते बैलों की तरह उसके मुँह से झाग जाने लग जाती और वह बार-बार कुएँ की निमार से अंजली भर कर अपनी प्यास बुझाने की कोशिश करता रहता। कमर के गिर्द तेल से गच्च एक लंगोट, सिर पर चिथड़े हुई मैली पगड़ी, गले में फटा-पुराना कुर्ता और मुँह पर फैली हुई झाड़-झंखाड़-सी दाढ़ी से वह वन-मानुस-सा लगता था। सावन-भादों में उसका शरीर भड़ास टोड़ने लग जाता कि कोई आदमी उसके निकट खड़ा होने का साहस भी नहीं करता था।

उसने अपने जीवन के पचास वर्षों में एक बार भी गाँव से बाहर पैर नहीं रखा। हाँ, एक धुँधली-सी स्मृति अब भी उसके मस्तिष्क में अंकित थी जो कभी-कभी उसके हृदय को कुरेदती रहती थी; जब कि वह छोटी उम्र में अपनी माँ के साथ एक बार हरिद्वार नहाने गया था। शहरों में शहर जालंधर का नाम सिर्फ़ वह जानता था। वह बहुत कम किसी से बोलता और जब कोई बात उसके दिमाग़ में खौलने लग जाती तो गूँगे की भाँति अद्भुत आवाज़ें मुँह से निकालने लग जाता। बचपन में वह छत से गिर पड़ा था और अधिक चोट आ जाने के कारण उसके मस्तिष्क की कई नसें फट कर बेकार हो गई थीं।

यही कारण है कि अपनी बीस बीघे ज़मीन रहते हुए भी वह अपने दूर के चाचा लखासिंह का चालीस वर्ष से कारिन्दा चला आ रहा था। जब लोग उसे बे-ज़बान पशु कहते, तो तुतलाती आवाज़ में उन्हें गन्दी गाली देने लग जाता था।

जब गाँव में कभी किसी लड़के या लड़की की शादी होती और औरतें रात के समय घड़े के साथ गीत गातीं या नाचतीं तो वह शरारती लड़कों के साथ नाच-गाने वाले घर के पड़ोस में कड़कती धूप या जाड़े में दीवारों से लटका हुआ झाँका करता। ऐसे अवसरों पर उसे एक अजीब-सी तृप्ति होती और उसका ख़ून खौलने लग जाता। वह बार-बार यही बात दुहराता, "मेरे भी बीस बीघे खेत हैं। अगली फ़सल घर आने दो। मैं अपना कोठा बनाऊँगा, बैलों की एक जोड़ी ख़रीदूँगा, अपनी ज़मीन पर स्वयं हल जोतूँगा और कोई औरत ला कर अपना घर आबाद कर लूँगा।"……लेकिन हल की मूँठ पकड़ते ही उसके दिमाग़ से यह बात लुप्त हो जाती और वह मिट्टी में मिट्टी हो रहता।

जब कभी अनायास उसके भीतर कोई उबाल उठता तो घर रोटी खाने आता और वह चौके में बैठी अपनी रिश्ते की बहू बचनी से धीरे-धीरे कुछ खुसर-पुसर करता रहता। कभी वह बढ़इयों की नई ब्याह कर लाई, बहू की बातें छेड़ कर मज़ा लेता कि उसने गाँव में आते ही घूँघट उठा लिया है। वह गौने के दूसरे ही दिन बाहर खेतों में साग तोड़ने और सुबह-शाम कुएँ से पानी ढोने लगी है और साधों की प्रीतो की चाल ढाल तथा अदा कुछ ऐसी अजीब है कि आदमी वहीं का वहीं जमा रह जाए। बचनी अपने गोदी के बच्चे को सहलाती धीर-गम्भीर बनी जागर की बातें सुनती, और कई बार उसकी अचेत भावनाओं को छेड़ने के लिए वह स्वयं अड़ोस-पड़ोस की बातें छेड़ देती।

जागर का चाचा लखासिंह जब अपने दुश्मनों के साथ मुक़द्दमों में और शराब के व्यसन में अपनी सारी ज़मीन बेच कर कर्ज़दार हो गया, तो उसकी गिद्ध-दृष्टि जागर की ज़मीन पर रहने लगी; अब उसके पशु हाँफ़ गए थे और आमाढ़ी-सावनी फ़सल मुश्किल से गुज़ारे माफ़िक होती थी। घर की छोटी-मोटी आवश्यकताओं के लिए उन्हें मिलखी बामन का आश्रय लेना पड़ता। लखासिंह की पौत्रियाँ बड़वी बेल की भाँति

फैल कर ब्याहने लायक़ हो गई थीं। लखासिंह अपने लड़के तथा बहू के साथ भीतर ही भीतर कोई खिचड़ी पकाता रहा पर जागर के मन में कोई बात नहीं थी।

सुखचेनसर से चैत्र चौदस नहाकर जब जागर की रिश्ते की बहू बचनी लौटी तो उसने जागर को थोड़ी बहुत ज़मीन बेच देने के लिए रज़ामंद करने का इरादा कर लिया। शहर से वह पहली बार जागर के लिए खद्दर किरेप का कुर्ता और चाबी के लट्ठे की एक चादर लेती आई थी।

"यह मैं तेरे लिए लाई हूँ। दर्जी को बुला कर सिला दूँगी। देख तो सही, कपड़ा कैसा रहेगा?" जागर हक्का-बक्का-सा बचनी की ओर देखता-भर रह गया। वह अपनी घनी मूछों में से तनिक-सा मुस्करा दिया। बचनी ने जागर के साथ ज़मीन के सम्बन्ध में ज़रा ठहर कर बात चलाना ही ठीक समझा और जब संध्या को वह घर पर रोटी खाने आया तो होले से महक छोड़ते मीठे चावलों से भरी थाली उसकी ओर सरकाते हुए कहा:

"मैं कई दिन से तेरे साथ एक बात करने की टोह में हूँ—अगर तू बुरा न माने तो कहूँ?'

"बात का...है...' जागर ने तुतलाते हुए कहा।

"तुझसे क्या छिपा है: जवान बेटियाँ ब्याहने की उम्र में हो गई है...बचनी ने बात बड़े धैर्य तथा गम्भीरता से कहीं।" तू भी जानता है कि मुकद्दमे में बहुत से खेत बिक गए हैं,...अगर तेरे कुछ खेत बेच कर...आगे बचनी से कुछ बोलते नहीं बना।

"क्या...क्या कहा..."

चावलों के कौर से भरा जागर का मुँह उछलने को हो आया। उसने ज़ोर से थाली ज़मीन की ओर फेंकी और चावल आँगन में दूर तक बिखर गए। यद्यपि बचनी पहले से ही जानती थी कि अगर जागर को कोई ज़मीन बेच देने के लिए कह देता तो उसके सिर पर खून सवार हो जाता था। फिर भी उसने ऐसी बात कहने का साहस कर ही तो लिया।

जागर पैर में टूटे जूते फँसा कर विषैले नाग की भाँति फफकारता हुआ घर से बाहर निकल आया।

सौ घरों के इस छोटे से गाँव में जागर की बात कानों-कान सबके पास पहुँच गई। जो बड़े-बूढ़े जागर के कड़े श्रम के जीवन से भली भाँति परिचित थे, वे जागर के प्रति सहानुभूति प्रकट करने लेगे। लखासिंह के साथ जिनकी कोई पुरानी लाग-लपेट थी, वे किसी ऐसे अवसर की ताक में रहने लगे जबकि लखासिंह को और अधिक नीचा दिखा सकें।

जागर के हृदय में गुस्से का उठा उफ़ान-सा उसे अनायास सब से पहले मिलखी बामन की दुकान पर खींच लाया। मिलखी तब दुकान के चबूतरे पर बैठा हुक्का गुड़-गुड़ा रहा था। जागर को सामने से आता देखकर वह बोला:

"जागर भाई, कहो आज काम से कैसे फुरसत हो गई। पिछले कई बरसों से तुमने एकाध बार भी इधर आने का कष्ट नहीं किया।"

भाई के सम्बोधन से जागर की बाँछें खिल उठीं। वह अपनी घनी, धूल-जमी मूछों में से तनिक-सा मुस्कुरा दिया और मिलखी के पास एक बिछे हुए टाट पर बैठ गया।

मिलखी गाँव का चतुर बामन था। उसने पाकिस्तान बनने से पहले कई मुसलमान असामियों की ज़मीन हथिया ली थी। लखासिंह के कान में भी उसने यह बात डाल दी थी कि अगर जागर मान जाए तो अपनी ज़मीन मेरे पास ही बेचना। मैं अच्छे दाम दूँगा और आसानी से फिर जब चाहो ज़मीन पर कब्ज़ा जमा लो।

मिलखी जागर को मीठी बातों में लगा कर ज़मीन बेचने की बात पर ही ले आया लेकिन ज़मीन का नाम आते ही वह फिर एकाएक भड़क उठा और बामन को "पाजी, हरामी..." न जाने कैसी अलंकृत भाषा से सम्बोधन करते हुए वहाँ से उठ गया।

'जुड़वाँ से भाइयों' के घर के आगे जाकर उसे उनकी बहू ने पुकारा। यद्यपि उसे मिलखी बामन की बात ने विक्षुब्ध कर दिया था, तथापि वह किसी से बातें कर के अपने हृदय के बोझ को हलका करना चाहता था। जुड़वाँ भाइयों की बहू उससे घूँघट नहीं निकालती थी। वह सीधा घर में घुसा और बहू ने उसके बैठने को एक मूढ़ा ला दिया।

"मैं तेरे लिए चाय बनाती हूँ।" कह कर बहू दूसरे कमरे में चली गई और सास से होले-होले कुछ बातें करने लगी।

लेकिन जुड़वां भाइयों के घर से निकलते समय

वह और अधिक विक्षुब्ध हो गया था; क्योंकि जुड़वा भाई गाँव-भर में "बनिए जाट" के नाम से प्रसिद्ध थे। वह सारा दिन गाँव की गलियों में घूमता रहा और औरतें बड़े तथा नर्मी से उसे अपने आँगन में बुलाकर उससे आत्मीय भाव दिखाती रही। बड़े-बूढ़े उसे ज़मीन न बेचने की नसीहतें देते रहे। रात उसने साधूसिंह नम्बरदार के घर पर सोकर गुज़ार दी।

दूसरे दिन जब वह अपने घर की दीवार से सटा खड़ा छोटी लड़की मिन्दो से लाड़-दुलार कर रहा था तो उसने सुना, बचनी किसी पड़ोसिन से कह रही थी :

"बीस बरस जागर ने आसील गाय बनकर हमारे घर काट दिए लेकिन इस ज़माने को आग लग जाए कि अब पशुओं के भी ज़बान लगने लगी है।" बचनी की बात ने दूसरी बार फिर सीधी जागर के मर्म-स्थल पर चोट की और उसकी गूँगी आत्मा कुलबुला कर रह गई। वह अपने टूटे छित्तर (जूते) घसीटता हुआ साधूसिंह नम्बरदार को ढूँढने निकल गया। सारे गाँव की परिक्रमा कर आने के बाद आखिर वह चौपाल में बैठा मिल गया।

चौपाल में जागर की बात चल रही थी। वह आते ही कुछ बड़-बड़ाने लग गया। नम्बरदार ने उसके भावों से ताड़ कर कहा :

"भई जागर! पक्की बात कर। बात पर डट कर रहना पड़ेगा। मैं तेरी पूरी सहायता करूँगा और तेरी ज़मीन पहली पेशी में ही दिला दूँगा।"

जागर जल्दी में जाने क्या कह गया, पर उसकी अस्पष्ट-सी बात के पीछे जो भाव छिपा हुआ था, उसे सबने समझा और उसी दिन से जागर साधुसिंह नम्बरदार के औसारे में रहने लग गया।

तहसीलदार के रूबरू पहली पेशी में जागर को अपनी बीस बीघा ज़मीन मिल गई। लखासिंह ने सौ पापड़ बेले। जागर को पागल करार देकर, विरोधियों पर उसे बहकाने का इलज़ाम लगाया, पर उसकी एक न चली। तहसीलदार ने दो सिपाही भेजे और वे जागर को उसकी ज़मीन पर कब्ज़ा दिला आए।

जागर गाँव में अब ऐसे चलता था कि जैसे उसे छिनी हुई बादशाही मिल गई हो। उसके सूने हृदय में आत्म-विश्वास के नए फूटे अँकुर से लगता था कि उसके बीज पहले से उसमें मौजूद थे।

देखते ही देखते कार्तिक की बिजाई के दिन आ गए। तीन-चार घरों ने मिल कर जागर की ज़मीन पर हल चला डाला और फ़सल बो दी। लखासिंह के सीने पर जैसे साँप लौट गया। ईर्षा की लपटों ने जला कर उसका मूँह स्याह बना दिया।

जागर के लिए अब वह दिन दूर नहीं थे जबकि फ़सल पकते ही वह अपने घर का स्वयं मालिक बनने जा रहा था।

एक सन्ध्या को अपने खेत की मेड़ पर बैठा वह सोच रहा था :

"पहले मैं बैलों की जोड़ी ख़रीदूँगा और उनके गले में घुँघरूओं की माला पहना, अपने ओसारे में ला बाधूँगा। फिर...क्या होगा? पाँच सौ रुपया जोड़ कर ब्याह करूँगा और जाड़ों की रातों को चूल्हे के पास बैठ कर रोटी जीमता उससे...मीठी-मीठी बातें किया करूँगा......।"

वह कल्पना में ऐसा डूबा कि जब उसकी तन्द्रा टूटी तो गेहूँ का एक पौधा खेत से उखड़ कर उसके हाथ में रह गया। उसने ज़ोर से उसको मुठ्ठी में भींच लिया और सामने कीमू अराई की भेड़-बकरियों के ईजड़ को आते देख कर ललकार दी :

"खेत से बचा कर...ज़रा...हो...बई...ईजड़ खेत में घुसा तो...मैं...मैं...।"

जैसे वह कहना चाहता था कि मैं तुम्हारी भेड़-बकरियों का गला घोंट दूँगा।

—**प्रीतमसिंह पंछी**

द्वारा श्री रामेश्वर कौर,
१६, चर्च रोड, काश्मीर गेट,
दिल्ली

एक उच्च पदाधिकारी मूर्ख, उस मनुष्य के समान है जो कि एक ऊँचे पहाड़ के उच्च शिखर पर खड़ा है। सब वस्तुएँ उसे छोटी नज़र आती हैं और सबको वह छोटा नज़र आता है।

काव्य की उपेक्षिता (?)—ऊर्मिला

"रामायण के कवियों ने पतिपरायणा जानकी को विरहाग्नि में जलते हुए देखा और उसकी लपटों के तेज में उनकी आँखें चकाचौंध हो गईं, इसीलिए उन्होंने मुड़ कर भी न देखा कि 'साकेत' में ऊर्मिला की क्या दशा होगी।" यह उक्ति शायद अतिशयोक्ति के रूप में कही गई हो। रामायण के प्रायः सभी कवियों ने ऊर्मिला का उल्लेख इस प्रकार किया है कि उस विरहिणी की व्यथा की छाप दिल पर पड़ जाए। व्यर्थ का शब्दाडम्बर उन्हें आवश्यक नहीं दिखाई पड़ा। इधर जन-मानस ने "प्रणय के पावन प्रसाद" से वंचित उस विरहिणी की कथा को लोक-गीतों में उपेक्षित न रहने दिया, प्रत्युत् उसे अमर बना दिया। "ऊर्मिला देवि निद्र" नामक लोक-गीत में, ऊर्मिला की दुःख-भरी गाथा बड़े ही हृदयग्राही ढंग से वर्णित की गई है। आन्ध्र-देश के स्त्री-समाज में, यह लोक-गीत काफ़ी प्रचलित है।

सीता के वनवास जाने के बाद, बेचारी ऊर्मिला ने, विरह-व्यथित हो, चौदह वर्ष की उस लम्बी अवधि को तिल-तिल कर काटा। मानों वह निद्रामग्न हो गई, उसे बाह्य संसार का ज्ञान ही नहीं रहा। वनवास के बाद राम, लक्ष्मण और सीता अयोध्या लौट आए और श्री रामचन्द्र जी का राजतिलक हो गया। उस समय सीता जी के हृदय में, ऊर्मिला के प्रति स्त्री-सहज सहानुभूति उमड़ आई। विगत कथा की झाँकी दिखाती हुई, ऊर्मिला की कठोर तपस्या एवं बहन के प्रति वात्सल्य का प्रदर्शन करती हुई, वे श्री रामचन्द्र जी से इस प्रकार कहती हैं :

"श्रीरामभूपालुडु पट्टाभि
षिक्तुडै कोलुवुंडगा"

जब श्री रामचन्द्र पट्टाभिषिक्त होकर, दरबार में बैठे थे......

"सभयंतयु कलयजूचि एतेंचि
संतोषमुन जानकी
पतिमुखमु जूचि निलिचि विनयमु
पट्टि अंजलि प्रक्कु ना
देवादिदेव! विनुमा ओक मनवि
तेलिपेनु चित्तगिंचू
मुन्दुमनमडवुलकुनू पोगा
मुद्दुमरदी वेंटनू
पयनमइ रागा जूचि तन चेलिय
पयनमायेनु ऊर्मिळा
'वद्दु नीवुंडु' मनुचू लक्ष्मन्न
मनलसेविंप वच्चे
नाडु मोदलु नेटिकी कनुमूसि
नाति पवळिंचि युंडे
इकनैन आनतिच्चि तम्मुणिण
इंदुमुखि कडकंपुडि"

—सभा में आकर सीता ने सहर्ष, पति को देख कर, हाथ जोड़, इस प्रकार विनती की : "हे देव! एक हमारी प्रार्थना सुन लीजिए। हमारे वन-गमन के समय, प्रिय देवर भी हमारे साथ चल पड़े थे। उनके साथ ऊर्मिला भी निकल पड़ी तो लक्ष्मण ने उन्हें रोक दिया और लक्ष्मण हमारी सेवा करने आए। बेचारी ऊर्मिला तब से निद्रा-मग्न है। अब तो लक्ष्मण को उसके पास भेज दीजिए।"

देखिए, सीता ने वात्सल्य-भरे शब्दों में कितने सुन्दर ढंग से पति से अनुरोध किया। आज्ञा पाकर लक्ष्मण अन्तःपुर में गए। वहाँ नतनयना ऊर्मिला को देख कर, अपनी विरह-कथा सुनाने लगे। लेकिन ऊर्मिला ने उन्हें देखा नहीं, समझा कि कोई पर-पुरुष है। कहने लगीं :

"अय्य! मीरेवरय्या ई रीति
यागडम्मुल कोस्तिरी
एव्वरू लेनिवेळ मीरिपुडु
एकान्तमु कोस्तिरी
मा तंड्री जनकराजु विन्ननू
याज्ञसेयक मानरू
मा यक्क बाव विन्ना मीकिपुडु
प्राणमुकु हानि वच्चु

मा यक्क मरदिविन्न मिम्मिपुड्डु
व्रतुकनिव्वरु जगतिलो"

—महाशय ! आप कौन हैं, जो इस तरह एकांत में स्त्रियों से छेड़छाड़ करने आए हैं ? यदि हमारे पिता जनक महाराज को यह मालूम हो गया तो बुरा होगा। मेरे बहनोई सुने तो आपकी जान पर आ बनेगी। मेरी 'बड़ी बहन के देवर' सुन लें तो आप इस जगत में जीवित नहीं रहने पाएँगे।"

'मेरी बड़ी बहन के देवर' में कितनी मीठी व्यंजना है। पति के स्मरण से ही कितनी लज्जा, कितनी मधुर स्मृतियाँ हृदय में घिर आती हैं !

तब लक्ष्मण, बड़े ही सरल ढंग से अपना परिचय देते हुए कहते हैं :

"जनकुलल्लुनिगानटे ? चेडेरो
सीतमरदिनि गानटे ?"

"अरे, मैं जनक का दामाद ही तो हूँ। मैं सीता का देवर ही हूँ।"

तब कहीं ऊर्मिला आँखें उठा कर उन्हें देखती हैं। परस्पर अवलोकन आदि के बाद, थोड़ी नाराज़गी, थोड़ा दुःख व्यंजित करती हुई, ऊर्मिला इस प्रकार ताने मारती है :

"मा तंड्रि जनकराजू मिमु नम्मि
मरचि कल्याणमिच्चे
मानवतल्लुडनुचु तेलियक
मदिनि युप्पोंगुचुंडे
चित्तमोकदिक्कुनुचि समयमुन
चिन्नबुत्तुरु इंतुला।"

"हमारे पिता राजा जनक ने आपका विश्वास कर, मुझे आपके हाथों में सौंप दिया और अपने दामाद की योग्यता पर बड़े खुश थे। किन्तु आप ठहरे पुरुष। मन दूसरी तरफ़ रख कर, अपनी स्त्रियों का दिल दुखाते हैं।"

तब लक्ष्मण अपनी सफ़ाई देते हुए इस प्रकार कहते हैं :

"तरुणि ! पदुनालुगेंड्लु निनुविडचि
धरिइस्तिने प्राणमु
आहारनिद्रलुनु येरुगने
अतिव ! नीमीदयान
पुण्यपुरुषुल स्त्रीलनु एडबापिन
पूर्व जन्ममुन मनमू
एन्नेन्नि युगमुलैन इदि मनकु
अनुभविंचक तीरदू।"

"हे ऊर्मिला ! क्या चौदह वर्ष, मैंने तेरे वियोग में, नहीं व्यतीत किए हैं ? (कितनी कठिनाई से प्राणों को रोक रखा है।) तुम्हारी क़सम, मैंने चौदह वर्ष न खाया है, न सोया है। पूर्व जन्म में हमने किन्हीं पुण्यात्माओं की स्त्रियों को अलग किया होगा। वह पाप, चाहे कितने ही युग बीत जाएँ, हमें तो भोगना ही पड़ेगा।"

अन्तःपुर के स्त्रियों ने, ऊर्मिला को पति के समागम के लिए अलंकृत किया। इसी बीच शान्ता जी (रामचन्द्र की बहन) और सीता जी में एक मनोहर बहस छिड़ जाता है। तेलुगु भाषा में ननद-भाभी अथवा देवर-भाभी के व्यंग्यात्मक अथवा सरसोक्तियों का भंडार भरा पड़ा है।

सीता कहती हैं :

"इंद्रचन्द्रादुलानु वलपिंचु
चन्द्रुलू मी तम्मुलू
दृष्टि तगुलकुण्डानु नीलाल
निव्वाळु लिव्वरम्मा।"

"आप के भाई, इन्द्र और चन्द्र को भी आकर्षित करने वाले सुन्दर हैं। उन्हें आरती दीजिए ताकि नज़र न लग जाए।"

शान्ता जी भी क्या कम हैं ? उनका उत्तर सुनिए।

"अक्कचेल्लेंड्रु मीरु मिक्किलि
सौंदर्य शालुलम्मा
मा तम्मुला नलुगुरीनि वलपिंचु
जाणलकु दृष्टि तगुलू।"

"तुम चारों बहनें इतनी सुन्दर हैं कि मेरे चारों भाइयों को जाल में फँसा लिया है। तुम जैसी नारियों (चतुर) को कहीं नज़र न लग जाए।"

अब सुनिए सीता जी की। ऋष्यश्रृंग की बात छेड़ कर, वे शान्ता जी का परिहास करती हैं :

"मा यन्न ऋष्यश्रृंगु मनसुलोन
कूडि एडबायकुन्न
एमि एरुगनि तपसिनि ओ वदिने !
केळिंचि विडिचिनावु ।"

"हे भाभी ! तुम क्या कम हो ? बेचारे नादान ऋष्यश्रृंग को तुमने सांसारिक बन्धनों में फँसा कर ही छोड़ा ।"

इस प्रकार परिहास और व्यंग्य के बाद पति पत्नी का मिलन होता है । बड़ी देर तक बातें चलती हैं । लक्ष्मण ऊर्मिला के पूछने पर वनवास की सारी कथा सुनाते हैं । इस प्रकार सुखान्त हो यह गीत, अपनी शैली अथवा गेयता के कारण श्रोताओं के मन को मुग्ध करता है ।

मेरा विश्वास है कि भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के लोक-गीतों में भी, काव्य की उपेक्षिता नारियों को लेकर इस प्रकार की रचनाएँ अवश्य होंगी । जन-मानस ने कभी इन विरह विदग्ध नारियों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित नहीं की ।

—भीमसेन 'निर्मल'

पब्लिक स्कूल,
बेगमपेट (आन्ध्र-प्रदेश)

आदिवासी लोक-गीत

मनुष्य जन्म दो दिन के लिए है ;
इसलिए इसमें प्रेम के साथ हँस
बोल लेना चाहिए ;
यह जीवन फिर नहीं मिलेगा
काँसा पीतल फूट जाने पर
बदला जा सकता है ;
लेकिन यह जीवन—फिर
नहीं बदला जा सकता ;
कुम्हार का घड़ा फूट जाने पर
कुम्हार के पास पुनः वापस नहीं आता ;
यह जीवन फिर लौट कर वापस नहीं आ सकता

—"बाँसरी बज रही" पुस्तक से

कला-चर्चा

आभासिक चित्रकला (इम्प्रेशनिस्टिक कला)

भारतवर्ष की प्राचीन चित्रकला में भी यथार्थवाद के उदाहरण मिलते हैं। पुराणों में तथा शास्त्रों में यथार्थवादी चित्रकला की पूर्णता के कुछ उदाहरण मिलते हैं। एक बार एक प्राचीन भारतीय राजा भयजीत ने एक मृतक बालक का चित्र बनाया जो बिलकुल उस बालक की तरह था, केवल जीवन उसमें नहीं था। यह कार्य ब्रह्मा ने स्वयं किया और चित्र में बना बालक जीवित हो उठा। इसी प्रकार जब पाण्डवों ने अश्वमेध यज्ञ किया तो एक ऐसा राजभवन बनवाया, जिसके फ़र्श पर इस प्रकार की चित्रकला की हुई थी कि जहाँ समतल था वहाँ पानी मालूम पड़ता था और जहाँ पानी था वहाँ समतल। महाराजा दुर्योधन स्वयं इस कला के शिकार हुए थे। इतने पूर्व हम न भी जाएँ और केवल राजपूत तथा मुग़ल-कला पर ही दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि चित्रकार प्राकृतिक अनुकरण में आनन्द लेते थे। भारत में अंग्रेज़ी शासन के साथ-साथ अंग्रेज़ी कला का भी बहुत प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी की अंग्रेज़ी कला प्राकृतिक चित्रण के लिए विख्यात है। कान्स्टेबुल, टर्नर इत्यादि कलाकारों ने इस प्राकृतिक चित्रकला को एक बहुत ही ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया। भारतवर्ष में फिर से कला का प्रचार आरम्भ हुआ और यहाँ के चित्रकारों ने इस अंग्रेज़ी चित्रकला का खूब स्वागत किया। राजा रवि वर्मा ने इस प्रकार की चित्रकला शैली की नींव डाली और यहाँ की गुलाम जनता ने उनका सत्कार भी खूब किया। इसके बाद कला के क्षेत्र में श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने पदार्पण किया और आधुनिक बंगाल-चित्रकला का जन्म हुआ।

बंगाल-चित्रकला अंग्रेज़ी चित्रकला से प्रभावित तो थी, परन्तु भारतीयता का आन्दोलन इस समय तक आरम्भ हो चुका था। कुछ दिनों तक बंगाल-चित्रकला में राजपूत, मंगोल तथा अजन्ता-चित्रकला की धूम रही, परन्तु अभी भी भारत गुलाम था और भारतीय चित्रकार विलायत की सैर कर वापस आने लगे थे और साथ-साथ वे चित्रकला के एक नए रूप को भी लाए, जिसे वहाँ (Impressionist Art) आभासिक चित्रकला कहा जाता था। यह वहाँ की यथार्थवादी चित्रकला का एक रूपान्तर-मात्र है।

यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकृति की नक़ल करने की चेष्टा होती रही। इसमें उन्हें काफ़ी सफलता भी मिली परन्तु बीसवीं शताब्दी तक आते-आते यह चेष्टा विफल होती-सी आभासित होने लगी। किंचित् उन्हें अपने अनधिकार चेष्टा का आभास हुआ कि प्रकृति की हूबहू नक़ल करना इतना सरल नहीं, शायद यह मनुष्य शक्ति के बाहर है। प्रकृति की नक़ल करते-करते वे थक गए। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रकृति की हूबहू नक़ल करना उन्होंने छोड़ दिया बल्कि वह यह सोचने लगे कि क्या प्रकृति की नकल करने का तरीक़ा नहीं है? जब आदमी थक जता है, तो सदैव सरल तरीक़ा खोज भी लिया। यही तरीका Impressionistic art आभासिक चित्र कला कहलाता है।

आभासिक चित्रकला प्रकृति रूपों को चित्रित करने की एक शैली है, इसके द्वारा आसानी से व्यवहार-कुशलता, चमत्कार (Technic) के आधार पर, प्रकृति के रूप बनाए जाते हैं, जो दूर से देखने पर बिलकुल स्वाभाविक लगते हैं। आधुनिक यूरोपीय कला-आलोचक हर्बट रीड (Herbert Read) आभासिक चित्रकला पर टीका करते हुए कहते हैं:

> "Painting became, not copy of nature, but trick whereby the general effect of nature wes rspresentcd"

अर्थात् चित्रकला प्रकृति की नक़ल न हो कर, एक तरक़ीब हो गई, जिसके द्वारा प्रकृति का साधारण रूप आभासित होता था। यूरोप में आभासिक चित्रकला का आन्दोलन बड़े वेग से फैला और काफ़ी सफल रहा;

इसके नेता सिउरत (Seurat) तथा सिगनैक (Signac) माने जाते हैं और इनमें मुख्य चित्रकार मैनेट (Manet) इत्यादि हैं। इस शैली का सबसे अधिक विख्यात तथा सफल चित्रकार रेनौइ (Renoi) समझा जाता है।

आभासिक चित्रकला का मुख्य प्रयत्न यह था कि चित्र में जो भी प्राकृतिक दृश्य या वस्तु चित्रित की जाए, वह इस प्रकार चतुराई से और कार्य-कुशलता से बनाई जाए कि देखने वाले को धोखा हो जाए। जैसे अगर एक बाग का दृश्य आभासिक चित्रकला-शैली के अनुसार चित्रित करना है तो चित्रकार पेड़ों को रंगों के छोटे-बड़े ढेरों से इस प्रकार ढालेगा कि दूर से देखने पर यह बिलकुल प्राकृतिक पेड़ दिखलाई पड़ेंगे, पर पास से देखने पर केवल रंगों के विभिन्न प्रकार के छोटे-मोटे निरर्थक ढेर दिखाई देंगे अर्थात् प्रकृति के रूपों को अक्षरशः नक़ल नहीं किया जाएगा, बल्कि उन वस्तुओं के उपरी सतह तथा वर्ण या आवरण को ही इस कार्य-कुशलता से चित्रित किया जाएगा कि वह देखने में बिलकुल प्राकृतिक लगे। जिस प्रकार प्रकृति के रूप सूर्य के प्रकाश के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं, उसी के अनुसार चित्र में भी प्रकाश और छाया का इस प्रकार सम्मिश्रण किया जाए कि वस्तु प्राकृतिक लगे। इसीलिए इन चित्रकारों ने प्रकाश और छाया का वैज्ञानिक अध्ययन किया और उनसे प्राप्त सिद्धान्तों का अपनी चित्रकला में वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी को वैज्ञानिक-युग कहा गया है और चित्रकला में भी विज्ञान का प्रभाव पड़ना आवश्यक था। अस्तु, हम देखते हैं कि आभासिक चित्रकला में दो मुख्य कार्य-कुशलता दिखाई पड़ती है; एक तो ऊपरी सतह (Texture) की बनावट तथा प्रकाश और छाया का वैज्ञानिक उपयोग।

तीसरी बात जो आभासिक चित्रकला में बहुत ज्वलन्त है, वह है, उनके चित्रों का धुँधलापन अर्थात् इन चित्रों में अधिकतर धुँधले एक दूसरे में मिलते हुए रंग तथा रूप दिखाई पड़ते हैं। भारत की आधुनिक बंगाल शैली जिसमें वाश (Wash) टेकनिक पाई जाती है, वह इस आभासिक शैली का तीसरा पक्ष है, जिसे बंगाल-शैली में बड़ा महत्व मिला है, प्रधानतया यूरोपीय आभासिक चित्रकार टर्नर का भारती बँगाल शैली पर बहुत ही प्रभाव रहा है। यही कारण है कि यद्यपि भारतीय परम्परा में शुद्ध रंगों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है परन्तु बंगाल-शैली ने इसकी उपेक्षा की है।

भारतीय आधुनिक चित्रकारों में अमृत शेरगिल, सुधीर खास्तगीर, बम्बई के बेन्द्रे तथा पी० सेन इत्यादि आभासिक चित्रकला के अनुयायियों में से प्रधान हैं। सुधीर खास्तगीर बंगाल-शैली के स्नातक रहे हैं परन्तु यूरोप के सम्पर्क में आकर उन्होंने भारतीय आधुनिक चित्रकला में 'ऊपरी सतह की बनावट' (Texture) को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इस दिशा में उनका प्रयास सराहनीय है।

सन् १९१८ में जब महायुद्ध शान्त हुआ, तब तक योरोप में में एक कला की दूसरी ही धारा जो आभासिक चित्रकला का ही एक परिमार्जित रूप थी, Post Impressionism उत्तर आभासिक चित्रकला के नाम से विख्यात हुई। इसका प्रमुख नेता सोज़ान (Cozanne) था आभासिक चित्रकारों का कहना था कि वे वस्तुओं को उस प्रकार चित्रित नहीं करना चाहते, जैसा उसे लोग चित्र में देखना पसन्द करें बल्कि आभासिक चित्रकार वही रूप चित्रित करता है, जैसे उसे वह रूप प्रभावित करता था। परन्तु उत्तर आभासिक चित्रकार इतने से ही सन्तुष्ट न रहे और उन्होंने यह तय किया कि चित्रकार जैसा देखता है, वस्तुओं को वैसा ही नहीं चित्रत करेगा, बल्कि जैसा वह वस्तुओं को जानता या समझता है। "To paint not according to what we see but what we know" अर्थात् चित्रकला का रूप अब स्वाभाविक नहीं रहा बल्कि चित्रकार का संसार को देखने तथा समझने का अपना दृष्टिकोण लक्षित होने लगा। जैसे कुछ चित्रकारों ने प्रकृति के रूपों को विभिन्न आकार के घन में देखा और क्यूबिस्टक कला (Cubistic Art) को प्रारम्भ किया। इस प्रकार की चित्रकला सेजॉन से प्रारम्भ हुई और पिकासो की चित्रकला में उसका पूर्ण रूप से विकास हुआ। उत्तर आभासिक चित्रकारों का मुख्य प्रयास वस्तुओं के आकार में घनत्व लाना था। इसको Throe Dimensional Art कहते हैं। चित्र में वस्तुओं की लम्बाई तथा चौड़ाई के साथ साथ मोटाई या गहराई को भी चित्रित करने का प्रयास हुआ। उन्नीसवीं शताब्दि तक की कला Two Dimensionl

दो पक्षीय थी अर्थात् चित्र में केवल वस्तुओं की लम्बाई और चौड़ाई ही चित्रित हो पाई थी। चित्रकारों ने अपने चित्रों में चित्रित वस्तुओं की मूर्तिकला से तुलना की, जिसमें उन्हें अपने चित्रों की वस्तुओं तथा आकारों में मोटाई तथा गहराई की कमी मालूम पड़ी। इसी को पूरा करना उत्तर आभासिक चित्रकार का मुख्य लक्ष्य रहा।

भारतवर्ष में भी इस प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ यद्यपि इस शैली के उच्च कोटि के चित्रकार एक भी दृष्टिगोचर नहीं होते पर जार्ज कीट, तथा राचशु के कुछ चित्रों में यह प्रवृत्ति भलीभाँति आभासित होती है।

९ नया बैरहना,
इलाहाबाद

—रामचन्द्र शुक्ल

(२)

रेखा और रंग

नाट्य, नृत्य और शिल्प की अपेक्षा चित्रकला कठिन मानी जाती है। नाट्या में जीवित पात्र गतिशील होता है, बोलता है...उसकी क्रियाओं द्वारा रसनिर्मिति होती है। नृत्य में वाणी मूक होती है तथा मूक क्रियाओं द्वारा भावाभिव्यक्ति को प्रेरित किया जाता है। शिल्प में तीन आयाम होते है। वस्तु जड़ होकर सजीवता का आभास उत्पन्न करती है। किन्तु चित्रकला में लम्बाई चौड़ाई के आयामों पर रेखा-रंग और छाया-प्रकाश द्वारा कला की अभिव्यक्ति, रसनिर्मिति एवं भावाविष्करण होता है।

चित्रकला को जानने के लिए रेखा और रंग का ज्ञान होना आवश्यक है। पूर्वी चित्रकला में रेखा शरीर है तो रंग प्राण है। इनके उचित संतुलन से ही सप्राण चित्रकला का निर्माण होता है। पश्चिमी चित्रकला में रंगों द्वारा छाया-प्रकाश का खेल खेला जाता है तो पूर्वी चित्रकला में रेखाओं को रंग सजाता है। रेखाओं से आकृति बनती है। अनेक रेखाओं से जो आकार प्रस्तुत किया जाता है, वह किसी विशेष प्रकार का अर्थ देने लगता है, क्योंकि उसका चित्रकार के अन्तर्जगत् की किसी न किसी अनुभूति से-विशेषतः तीव्र अनुभूति से सम्बन्ध होता है। उसे देख कर दर्शन को भी कुछ स्मरण आने लगता है। उसके किसी भावतत्व से वह आकृति, वे रेखाएँ, टकरा कर उसके भावजगत् से तादात्म्य उत्पन्न करती है। अर्थात् रेखाओं में अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति होती है। रेखाएँ कई प्रकार की होती है। सरल, बक्र, स्थिर एवं गतिशील आदि।

सरल रेखा निर्जीव वस्तु की द्योतक है। वह जड़ता को व्यंजित करती है। व्यक्ति सजीव होने पर भी सरल रेखाओं द्वारा उसकी जड़ता को व्यंजित किया जाता है किन्तु सरल रेखा यदि शीघ्रता के साथ अंकित की गई हो तो वह पात्र की निर्जीवता में स्पंदित अल्प-सी सप्राणता का प्रतीक बन जाती है।

वक्र रेखा, गति को व्यक्त करती है। सजीवता, तारुण्य, बाल-सुलभ चापल्य आदि को व्यंजित करना उसका उद्देश्य है। पात्र की द्रुत गति को व्यंजित करने के लिए वक्र रेखा को क्षिप्र गति से अंकित किया जाए।

पश्चिमी चित्रकला रंगो के माध्यम से छाया-प्रकाश द्वारा चित्र में माँसलता उभारी जाती है लेकिन रंगों के अभाव में अगर उसको चित्र बनाने की सुध जाए तो वह अनेक रेखाओं द्वारा छाया-प्रकाश का आभास उत्पन्न कर चित्र में आकृति एवं उसके भावों को उभार सकता है। पूर्वी चित्रकार रंगों के अभाव में रेखाओं की वक्र सरल गति से जड़ एवं चेतन को आँक सकता है। प्रचीन भारतीय चित्रों में रेखाएँ ही प्रधान हैं। यदि रेखाएँ हटा दीजाए तो चित्र निष्प्राण हो जाते हैं।

भड़कीले रंग आँखों को शीघ्र आकर्षित करते हैं किन्तु उतनी ही शीघ्रता से दृष्टि को वहाँ से हटाने के लिए बाध्य भी कर देते है, क्योंकि ऐसे रंग आँखों को चुभते हैं। ऐसे रंग अकसर विज्ञापन सम्बन्धी कामों के लिए व्यवहार में लाए जाते हैं। तड़क भड़क पसन्द तथा शौकीन एवं दिखावटी चीज़ों में आस्था रखनेवाले लोगों को भड़कीले रंग विशेष पसन्द होते हैं। इस प्रकार के रंगों का यही मनोविज्ञान है। भड़कीले रंग शौकीन तबियत के पात्रों को व्यंजित करने के लिए चित्रों में उपयोग में लाते हैं। साथ ही भड़कीली तबीयत के रंगों का आधिक्य उन चित्रकारों के चित्रों में होता है जो अपने मन में वैसी आस्था रखते है। निम्न-स्तर के लोगों में ऐसे चित्र विशेष प्रिय होते हैं।

मिश्र रंग दो या अनेक रंगों के संयोग से बनते हैं। इन रंगों से विविध मिश्रित मनोंभावों का चित्रण होता है। स्वभावतः ऐसे रंग शान्त होते हैं तथा नेत्रों को आकर्षित किए रहते हैं। संयम, शील, शान्ति, तृप्ति

आदि चित्रकार एवं चित्र के पात्रों की भावनाएँ इनसे अभिव्यक्त होती हैं। अनेक मिश्रणों से अजीब-अजीब किस्म के रंग उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी ये ऐसे निर्जीव होते हैं कि इन्हें चित्र के गौण स्थानों की पृष्ठभूमि में सजाया जाता है।

पीला, नारंगी, लाल ये तीनों उष्ण रंग है। इन या इनके मिश्रणों द्वारा प्रस्तुत रंग उष्ण माने जाते हैं। इन रंगों के साथ शीतल रंग हरा आ जाए तो वह हरा भी ऊष्णता प्रधान हो जाता है।

गुलाबी, हरा, बैंगनी तथा नीला ये रंग या इनके मिश्रणों से उत्पन्न होनेवाले रंग शीतल माने जाते हैं। चित्रकार अपने चित्रों में इन रंगों एवं मिश्रणों से विग्रह, संघर्ष, समझौता, विरक्ति, संधि, मिलन, उत्साह, दैन्य आदि भावों को व्यक्त करता है।

भूरा और ब्राउन रंग शान्त वृत्ति, दुःख, निर्वेद आदि मनोवृत्तियों के द्योतक हैं। नारंगी रंग, प्रेम और आस्था का प्रतीक है। यह रंग दीपज्योति में दिखता है और दीपक भी जलाये जाते हैं—जब आदमी अपने भीतर आल्हाद एवं उत्साह प्रकट करना चाहता है। ज्ञान, अग्नि, आवेश, ऊष्मा, उत्सुकता आदि का इससे बोध होता है। जयजयकार, आनन्दी वातावरण, दैवी शक्ति, सम्पत्ति, रुग्णता आदि चित्रित करते समय विशेष सहायक होता है। यह रंग सर्वजन-प्रिय माना जाता है। आरोग्य, उत्साह वीरता के भाव उसके द्वारा उभारे जाते हैं। गहरा लाल, वासना, अनुरक्ति, तथा धोखे की सूचना आदि का प्रतिनिधित्व करता है।

हरा रंग वसन्त ऋतु का नव विकास, समृद्धि और कभी-कभी विष के अर्थ में भी यह रंग प्रयुक्त होता है। फीका बैंगनी सत्य, सहानुभूति एवं आसक्ति का द्योतक है।

आसमानी, आकाश और समुद्र की विशालता का प्रतीक है। इसमें व्यक्ति की उसके समान ही विशाल भावनाओं का अंकन होता है। पार्श्वभूमि की दूरी आदि में इसका उपयोग करते है। शान्त, सौम्य मनोभावों को इससे सूचित करते हैं।

निषेध, मौत, शोक, अन्धकार, अज्ञान, भीति इनका द्योतन काले रंग से होता है। प्रकाश, पवित्रता, संधी, साधुता, माँ की ममता आदि के लिए सफ़ेद रंगों का उपयोग होना आवश्यक है।

कभी रंगों द्वारा वस्तुओं की याद आने लगती है। कुछ विशेष चित्रों में संकेतों द्वारा ऐसे रंग रखे जाते हैं। जैसे ताँबा-पीतल के बर्तन का व्यवसाय करने वाले व्यक्ति को उसका वास्तविक मांसल रंग न देकर ताँबा-पीतल के रंगों में उसकी चमड़ी रँगी जाए तो यह उसके जीवन व्यवसाय को व्यंजित करना है। वैसे ही किसान-कन्या भूमि-कन्या है। अतः उसके शरीर का रंग मिट्टी के रंग से मेल खाएगा। यदि चित्र का विषय घर-निर्माण हो तो उस चित्र में प्रयुक्त रंग, ईंट, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, गारा, सीमेंट आदि के रंगों से मेल खाएँगे। उस घर को बनानेवाले व्यक्ति भी उन रंगों के कपड़े या चमड़े से युक्त दिखेंगे। पृष्ठभूमि में भी इन रंगों का मिश्रित रूप रखा जाता है।

बुधवार दरवाजा रोड,
सी. नं. ७, नागपुर

—वी. एन. वाणी

(३)

अल्प व्यय

"......यह समझना ठीक नहीं है कि सुन्दरता प्रसाधनिक सजावट से उत्पन्न होती है। कला के लिए सुरुचि का होना परम आवश्यक है और यदि इसका अभाव हो तो धन का अल्प-व्यय करना ही कला के लिए सर्वश्रेष्ठ निमित्त होता है।"

—एक इटली का कलाकार

× × ×

महिला चित्रकार

"कला मनुष्यों का संसार है। कुछ लोगों का महिला-कलाकारों के प्रति पूर्वाग्रह है। यह कुछ हद तक ठीक भी है। साधारणतया वे कम चित्र बनाती हैं। वे कल्पनात्मक वतुओं का अधिकतर चित्र बनाती हैं। इस कारण यदि जनता उनके चित्रों को पसन्द नहीं करती तो मैं उसको दोष नहीं दे सकती।......"

—एक महिला चित्रकार

× × ×

स्वर्ग का चित्र

एक चित्रकार ने स्वर्ग का एक चित्र बनाया है, जिसमें प्रमदाएँ आकाश के नीचे नृत्य कर रही हैं। इस चित्र के कारण उसका नाम १६ वीं सदी के प्रसिद्ध चित्रकारों में गिना जाने लगा। अपनी मृत्यु से पूर्व उसने निम्न शब्द कहे थे: "मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि मैं मृत्यु के पश्चात् भी स्वर्ग में चित्र बनाता रहूँ।"

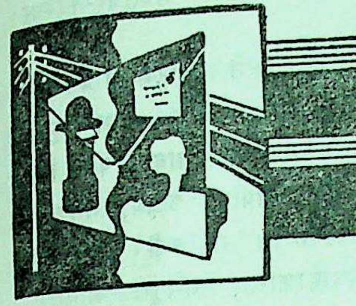

चिट्ठी-पत्री

इन दिनों जिनकी चर्चा है : श्री अज्ञेय जी

(१)

इन दिनों श्री अज्ञेय द्वारा लिखे गये 'कन्टेम्परेरी इंडियन लिटरेचर' में हिन्दी-साहित्य पर प्रकाशित लेख को लेकर हिन्दी-साहित्य-जगत् में विशेष चर्चा हो रही है। हिन्दी के कई लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं द्वारा उसका प्रतिवाद किया; कइयों ने साहित्य अकादमी और श्री अज्ञेय को व्यक्तिगत पत्र प्रेषित किए और इसी विषय को लेकर संसद में भी प्रश्न उठा।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन और श्री अज्ञेय में कोई अन्तर नहीं। एक ही व्यक्ति के दो नाम है। 'अज्ञेय' श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का उपनाम है, जिसका प्रयोग वे हमेशा से करते आये हैं, हिन्दी-साहित्य-जगत् में श्री अज्ञेय 'अज्ञेय' नाम से प्रसिद्ध हैं। इस लेख में श्री अज्ञेय ने अपने आपको श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन से बिलकुल अलग रखा और उपनाम से कुछ आलोचना भी कर दी। श्री अज्ञेय का हिन्दी पर यह पहला प्रहार नहीं है अपितु पहले छोटे-छोटे कई प्रकार वे कर चुके हैं जो हिन्दी-साहित्य-जगत् में स्पष्ट रूप से सामने नहीं आये थी और हमारे बुजुर्ग साहित्यकारों ने टाल दिया। लेकिन इस प्रहार ने सभी को चौकन्ना कर दिया।

हाल ही में २१-८-५७ के 'स्टेट्समैन' में 'अज्ञेय एक इन्टरव्यू' के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वदा की तरह इस बार भी अज्ञेय ने संयम-रहित और पक्षपाती प्रशंसकों का शीत-युद्ध कह कर इन आलोचनाओं की अवहेलना की है।

. आशा तो यह थी कि इस उबाल को शान्त करने के लिए साहित्य अकादमी के हिन्दी परामर्शदात्री के सदस्य अपने वक्तव्य प्रकाशित करेंगे लेकिन ऐसा हुआ नहीं, जिससे अकादमी का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ गया।

अगर देखा जाए तो इस असावधानी के लिए साहित्य अकादमी अधिक ज़िम्मेवार है, क्योंकि 'फ़ोरम' में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रस्तुत पुस्तक का प्रत्येक अध्याय सुप्रसिद्ध लेखक या आलोचक से लिखवाया गया है और अंग्रेज़ी में प्रकाशन का कार्यक्रम साधारण तौर पर भारतीय लेखकों और उनकी रचनाओं के बारे में मूल जानकारी देने तक सीमित है। समझ में नहीं आती कि अकादमी ने श्री अज्ञेय को कहाँ तक उच्चकोटि का लेखक या आलोचक माना।

जिन उद्देश्यों की आधार-शिला पर अकादमी खड़ी की गई थी, उसका इसमें कहाँ तक पालन हुआ वह तो आपके सामने आ ही चुका है। भारत सरकार के प्रस्ताव में अकादमी की परिभाषा इस प्रकार की गई है–भारतीय साहित्य के विकास के लिए कार्य करनेवाली एक राष्ट्रीय संस्था, जिसका उद्देश्य होगा ऊँचे साहित्यिक मानदण्ड क़ायम करना, भाषाओं में जो साहित्यिक कार्य हो रहे हैं, उन्हें आगे बढ़ाना और उनमें मेल पैदा करना और इस प्रकार से देश की सांस्कृतिक एकता को और सुदृढ़ करना। श्री अज्ञेय ने इनको ताक पर रख कर हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में भ्रांत धारणाएँ फैलाने का प्रयास किया है।

आश्चर्य है कि जिन साहित्यकारों की रचनाओं ने हिन्दी-साहित्य को चार चाँद लगाए, उन्हीं को हमारे श्री अज्ञेय जी लेखक ही नहीं मानते! अज्ञेय जी स्वयं जयशंकर प्रसाद, हरिऔध और प्रेमचन्द इत्यादि को लेखक नहीं मानते। स्मरण रहे कि डा० एस. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में 'कामायनी' भी उन ग्रन्थों में एक थी, जो यूनेस्को को उसके सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रम के अन्तर्गत विदेशी भाषाओं में अनुवाद होने के लिए सुझाई गई थी। ऐसे साहित्य को तो श्री अज्ञेय साहित्य ही नहीं मानते।

श्री स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' के दृष्टिकोण में विदेशी चमक-दमक अधिक और भारतीय मिट्टी की सौंध-बास कम है। कुछ भी हो, इस विदेशी चकाचौंध से प्रभावित

व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपनी विदेश-यात्रा में हिन्दी साहित्य परामर्शदात्री के सदस्य होने के नाते अपना उत्तरदायित्व कहाँ तक निभाते हैं, यह तो भविष्य ही बताएगा ।

इस भाँति के फैलते हुए वातावरण को रोकने के लिए प्रत्येक साहित्य-प्रेमी का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इस असावधानी, जो साहित्य अकादमी द्वारा हो चुकी है, व्यक्तिगत रूप या पत्र-पत्रिकाओं द्वारा इसका विरोध करे, जिससे भविष्य में यह दुस्साहस ऐसे शूरवीर लेखक और न कर बैठे और साहित्य अकादमी को लिखें कि इस भ्रांत धारणा को मिटाने के लिए शीघ्र अपना वक्तव्य प्रकाशित करें ।

'कनक भवन'
पोलो विक्ट्री छविगृह के पास, —**भगवतीलाल माथुर**
जयपुर

हिन्दी उपन्यास में सेक्स

(२)

जुलाई '५७ की 'अजन्ता' पत्रिका में श्री. हरेन्द्रप्रताप सिन्हा का एक लेख 'हिन्दी उपन्यासों में यथार्थ के नाम पर नग्नता' पढ़ा। लेखक की कुछ बातों से सहमत न होते हुए भी यह स्वीकार करना ही चाहिए कि प्रेमचन्द्रोत्तर उपन्यास साहित्य में नग्न कामुकता के भद्दे चित्र बहुत मात्रा-में देखने में आते हैं। हिन्दी के बड़े-बड़े उपन्यास-लेखक भी इस अभियोग से बरी नहीं हो सकते । हिन्दी के आधुनिक उपन्यासकारों की मूल प्रवृत्ति ही सेक्स के विविध रूपों के चित्रण की दीखती है ।

परन्तु लेखक इस लेख में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति में पड़ गए हैं । जैसे पृ. ६० पर वे लिखते हैं कि "मैं जब राजस्थान सौराष्ट्र, गुजरात अपने रिसर्च के सिलसिले में यात्रा पर गया था, मैंने देखा जनता में कुशवाहाकान्त स्कूल के लेखकों की पुस्तकों की जितनी खपत और माँग थी, उतनी तो किसी भी उच्चकोटि के हिन्दी साहित्यकार की नहीं, अलबत्ता प्रेमचन्द को छोड़ कर । एक सज्जन ने तो यहाँ तक कहा कि लोगों ने कुशवाहाकान्त स्कूल को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी।" राजस्थान की बात तो मैं नहीं जानता, गुजरात की थोड़ी-बहुत जानता हूँ और सौराष्ट्र की संपूर्णतः जानता हूँ इसलिए कह सकता हूँ कि सौराष्ट्र में कुशवाहाकान्त स्कूल के उपन्यास पढ़े ही नहीं जाते । राष्ट्रभाषा प्रचार के उद्देश्य से सौराष्ट्र-भर में घूमते रहने का सौभाग्य मुझे मिला है । प्रेमचन्द के उपन्यास लोग चाव से पढ़ते हैं । यह मैंने देखा है कि जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, भगवतीचरण, चतुरसेन के उपन्यास भी कहीं कहीं पढ़े जाते हैं, मगर कुशवाहाकान्त, यमेतुल आवारा, गोविंद सिंह, दीपक, द्वारिकाप्रसाद एम. ए. के उपन्यास जनता कहीं पढ़ती हो, ऐसा कम से कम मुझे कहीं न दिखाई दिया । लेखक को ऐसी बेबुनियादी बात लिखने के पहले संपूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए थी ।

इस सिलसिले में एक बात कह दूँ । यहाँ की एक पब्लिक लाइब्रेरी में गलती से द्वारिकाप्रसाद एम. ए. की कुख्यात पुस्तक 'घेरे के बाहर' आ गई (इसे विज्ञापन का दोष ही कहिए, हिन्दी की अच्छी पत्रिकाओं में इस पुस्तक के प्रकाशन के समाचार छपे थे) जिस पाठक के पास वह पहले-पहल गई उसने तुरन्त संचालकों का ध्यान इस पुस्तक की ओर आकर्षित किया और पुस्तक लाइब्रेरी से हटा दी गई ।

हिन्दी विभाग,
शामलदास कॉलेज, —**जयेन्द्र त्रिवेदी**
भावनगर (सौराष्ट्र)

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

(३)

'अजन्ता' का अगस्त अंक कठिन प्रतीक्षा के बाद मिला । इस अंक की पहली ही कविता :

"भारतवर्ष स्वतन्त्र रहेगा
युग, युगान्त तक, कल्प, कल्प तक
कभी नहीं परतन्त्र बनेगा"

बड़ी ही जोरदार है । श्रीकृष्ण शर्मा का गीत भी बहुत पसन्द आया । 'आत्मा-सम्बन्धी विविध विचार' सुन्दर और अत्यन्त ज्ञेय लेख है । सत्यदेव विद्यालंकार का लेख '१८५७ की क्रान्ति के इतिहास का विपर्यास' बड़ा जोरदार लेख है । उन्होंने डा. सेन और मजूमदार-जैसे इतिहासकारों के गुलाम मस्तिष्क का जो पर्दाफ़ाश किया है, वह आँखें खोल देने वाला है । मैं सत्यदेव जी को बधाई देना चाहता हूँ कि उन्होंने पूर्ण साहस से इन बड़ी डिग्री वालों के मानसिक खोखलेपन को सबके

१९५७

सामने रखा। हमें सचमुच बहुत सतर्क होकर अपने इतिहास की प्रामाणिक रूपरेखा तैयार करनी है। मैं तो समझता हूँ १८५७ के इतिहास को ही नहीं सम्पूर्ण अंग्रेज़ी शासनकाल के इतिहास की 'ओवरहालिंग' करने की ज़रूरत है। 'कमलेश' जी का लेख हिन्दी गद्य-काव्य में शैली के रूप-विधान पठनीय है किन्तु वह कुछ और विस्तार चाहता है। कला-चर्चा के सम्बन्ध में महेन्द्रनाथ सिंह का जो पत्र छपा है, उसमें दिए गए सुझाव अच्छे हैं। 'अजन्ता' यदि उन्हें कार्यान्वित कर सके तो क्या कहना! 'सामयिक' के अन्तरगत दी गई सामग्री 'अजन्ता' की अपनी विशेषता रही है और वह अपने स्तर पर बराबर चल रही है। सम्पादकीय के अन्तर्गत 'भाषा-आयोग की रिपोर्ट' पर जो क्षोभ प्रकट किया गया है, वह ठीक ही है। इस प्रकार की ढुलमुल नीति से राष्ट्रभाषा के भविष्य से खेला जाना कभी भी सहनीय नहीं है। सरकार को दृढ़ होकर आगे क़दम बढ़ाने होंगे, नहीं तो विधान का सम्मान रखने में हम असमर्थ होंगे।

६५ चक,
इलाहाबाद —कैलाश कल्पित

(४)

'अजन्ता' का अगस्त-अंक देखा। सामग्री देख कर प्रसन्नता हुई और प्रकाशन में विलंब देख कर खेद भी हुआ। इस प्रकार के विलंब को दूर करने का एक उपाय है। यदि दो महीनों की अजन्ता, एक बार प्रकाशित की जाए और इस प्रकार करने से जो अवकाश मिलता है, उससे 'अजन्ता' को भविष्य में ठीक समय पर निकालने का प्रबन्ध किया जाए। आशा है, हमारा सुझाव आपको और अन्य पाठकों को भी अच्छा लगेगा।

'तेलुगु लोक-गीत' नाम से जो लोकगीत प्रकाशित हुआ है, वह तेलुगु लोक-साहित्य की अक्षय-संपत्ति है। लेखिका ने केवल गीत, हिन्दी अर्थ के साथ देकर, अपना कार्य सम्पूर्ण मान लिया है। अच्छा होता यदि लेखिका, गीत की भूमिका के रूप में और कुछ लिख देतीं। प्रस्तुत गीत में, समष्टि-परिवार का सुन्दर चित्र खींचा गया है। समष्टि-परिवार में सास-ससुर, जेठ-जेठानी और पति का क्या स्थान होता है और वे दैनिक जीवन कैसे बिताते हैं, इसका बड़ा ही मनोहर वर्णन है। इस समय, जबकि हमारे समाज में, समिष्टि-परिवार लुप्त होते जा रहे हैं, इस गीत का प्रकाशन, विशेष महत्व रखता है।

सन् सत्तावन की क्रान्ति पर जो लेख छपा है, वह बड़ा ही मौलिक बन पड़ा है। इतिहास के भारतीय विद्वानों को जो अभी अँग्रेज़ों की मानसिक दासता से मुक्त नहीं हो पाए हैं, आँखें खोल देने वाले, ऐसे लेख को प्रकाशित करने के लिए आपको बधाई।

श्रीमती सुभद्रादेवी ने भारतीय नारियों की गौरव-गाथा को बड़े ही ओजपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है।

विश्वास है कि आपके कर-कमलों द्वारा, पालित-पोषित 'अजन्ता' भविष्य में और भी अधिक फलती-फूलती रहेगी।

……

सिकन्दराबाद —बी. कात्यायनी देवी

(५)

आपकी भेजी सुन्दर पत्रिका 'अजन्ता' मिली। अपनी रचना देखी। धन्यवाद! मैं पिछले दिनों अत्यन्त व्यस्त रहा। इसी कारण आपको मैं 'अजन्ता' (अगस्त अंक) के लिए बधाई न भेज सका। वस्तुतः पत्रिका उच्च कोटि की है। प्रत्येक पृष्ठ पर आपके सम्पादन-कौशल की छाप है। सच ही रचनाओं में ताज़गी और माधुर्य है। 'अजन्ता', अजन्ता की तरह सुन्दर है। इसमें साहित्यकारों की तूलिका से उरेहे हुए सहज भावपूर्ण चित्र हैं, जो बरबस ही मानव-हृदय को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसके सभी स्तम्भ अद्वितीय हैं। 'नीर-क्षीर' में पुस्तकों की समीक्षा सम्मत है। 'सामयिक' आदि स्तम्भों में प्रस्तुत सामग्री मननीय है। इसमें सभी रचनाओं को उचित स्थान दिया गया है।

वंशीधर जी की रचना 'भारतबर्ष स्वतन्त्र रहेगा' में एक अजीब-सी मिठास, सत्यदेव विद्यालंकार जी का निबन्ध '१८५७ की क्रान्ति के......' केवल साधारण पाठकों के लिए ही उपयोगी नहीं है, बल्कि उन विद्वानों के लिए भी उपयोगी है जो अंग्रेज़ी चश्मे से भारतीय इतिहास को देखते हैं। अन्त में मुझ अकिंचन की बधाई स्वीकार कीजिए।

वीरपुर,
गाज़ीपुर (उत्तर प्रदेश) —भागवत पाण्डेय 'सुधांशु'

(६)

परती परिकथा : कई दृष्टियों में

['परती परिकथा' पुस्तक पर श्रीयुत प्रकाशचन्द्र गुप्त द्वारा लिखित आलोचना हम अन्यत्र 'नीर-क्षीर' के स्तम्भों में प्रकाशित कर रहे हैं—सं.]

एक दिन रेडिओ का ट्यूनिंग कर रहा था कि इलाहाबाद से आवाज़ आई'' कथा में बिखराव है। लगता है कि लेखक के पास जो भी कच्चा माल था अथवा है सभी की उसने एक ही पुस्तक में भर देने का प्रयास किया है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जितेन्द्र मिश्र में लेखक ने अपनी ही प्रति-छवि देखने का प्रयास किया है ?......''

चर्चा ''परती परिकथा'' की थी। कृतिकारी थे श्री श्रीपत राय ; दूसरी बार भी कुछ ऐसा ही हुआ। इलाहाबाद से ही सुना : ''परती परिकथा' युग की एक महान् कृति है। '' लेखक कौन थे यह जानने का धैर्य न रख पाया।

प्रोफ़ेसर 'बेचन' से भेंट होते ही मैंने पूछा : ''यहाँ मार्केट में 'परती परिकथा' आ गई है क्या ?''

''हाँ, आपने नहीं देखा उसे ?''

वे 'परती परिकथा' पढ़ रहे थे। स्वयं कहने लगे : रेणु जी की शैली में अद्भुत संगीत है।......ध्वनि का उन्हें ऐसा अच्छा ज्ञान है कि क्या कहा जाए। ट्रेक्टर की आवाज़ से लेकर चिड़ियों की बोली तक को शब्दों में हूबहू उतार दिया है।......पर लगता है, संघर्ष के चित्रण से वे जानबूझ कर भागते रहे हैं। यों पूर्णिया में हुए सर्वे आपरेशन का ज़िक्र उन्होंने किया है पर जानबूझ कर उस संघर्ष को छोड़ दिया है जो बटाईदारों और ज़मीनदारों के बीच वहाँ हुआ था।.. ''

और एक शाम जो प्रोफ़ेसर शिवनन्दन प्रसाद से मुलाक़ात हुई तो वे पूछ बैठे : ''परती परिकथा' पढ़ी आपने ?''

मैंने चुप रह कर ही अपनी बेबसी प्रकट की। वे बहुत गद्गद थे। चेहरे पर उल्लास ला कर बोले : ''ओह, मात कर दिया रेणु ने सबों को भाई ! मात कर दिया। यह प्रसन्नता की बात है कि बिहार में रेणु जैसी प्रतिभा उभर रही है। अब तक हम लोग अनूपलाल मण्डल को ही बिहार का प्रेमचन्द कह-कह कर सीना ताने फिरते थे। मुझे तो लगता है कि इस बार फिर रेणु को प्राइज़ मिलेगा। जो कुछ लिखता है रेणु इतनी मस्ती के साथ लिखता है कि पढ़ कर मन झूम उठता है।.........''

मैंने 'बेचन' जी से सुनी हुई बात को दुहराया : ''हाँ, उनकी शैली में अद्भुत संगीत है।...''

''इस बार वह संगीत से भी ऊपर उठ गया है जी !'' वे टोक बैठे : ''व्यक्ति के भीतर एक ह्यूमर है जो करुण से करुण स्थिति में भी फफोकर हँस पड़ना चाहता है। इलाचन्द्र जोशी ने पहले-पहल इस साइकोलोजी को अपनाया और 'जहाज़ का पंछी' के नायक में इसे दर्शाया। पर करुण से करुण स्थिति में भी एक ह्यूमर है इसे केवल रेणु ने पकड़ा है और उसे 'परती परिकथा' में ला रखता है। दूसरी विशेषता इस उपन्यास की यह है कि लेखक ने जिस भी स्थिति को रखा है, उतने व्यापक रूप से, इतने विभिन्न दृष्टिकोणों से देख कर उसे रखा है कि पूरा का पूरा चित्र आँखों के सामने आ जाता हो जाता है। वक्ता को भाषण देते हुए रेणु प्रस्तुत करेंगे तो सीधे भाषण नहीं रख देंगे। भाषण की एक पंक्ति लिखने के बाद वे दर्शकों की प्रतिक्रिया, वातावरण की गूँज, स्वयं वक्ता के हाव-भाव, दर्शकों के बीच विभिन्न कोनों में हुई खटपट आदि का ज़िक्र किए बिना न रहेंगे।........ रेणु ने हिन्दी में एक शैली अपनाई है कि 'वे बोले', 'मैं बोला' आदि लिखते ही नहीं। जो कुछ कथित है उसे ही केवल रखते चले जाते हैं और पाठक स्वयं समझता चला जाता है कि यह किसका वचन है। ''यह एक स्वस्थ प्रयोग है। हिन्दी में इसका प्रयोग होना चाहिए......।''

उन दिनों शिवनन्दन बाबू यूनिवर्सिटी की सप्लीमेन्टरी कापियाँ जाँचने में व्यस्त थे। 'परती परिकथा' कुछ ही दूर पढ़ पाये थे वे। मेरे आग्रह पर केवल एक रात के लिए किताब मुझे देने को राज़ी हो गए। पर ५२८ पृष्ठों की किताब एक रात में मुझसे समाप्त नहीं हो पाई और दूसरे दिन उनके घर एक और रात की मोहलत माँगने को मैं हाज़िर हुआ। चर्चा फिर चल पड़ी। उन्होंने ही कहा : ''रेणु ने इस उपन्यास में पुरानपुर गाँव का सही-सही रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है पर खटकता यह है कि ५२८ पृष्ठों के उपन्यास में लेखक बच्चों और कुमारों का एक भी

चित्र उपस्थित न कर पाया। यद्यपि इसके लिए पर्याप्त गुंजाइश थी। जो भी पात्र आए हैं सभी प्रौढ़ ही हैं।”

किताब समाप्त कर दूसरी सुबह शिवनन्दन बाबू को लौटाने गया तो उन्होंने मुझसे इस उपन्यास के सम्बन्ध में मेरा इम्प्रेशन पूछा। मैंने कहा ‘मुझे तो यह “मैला आँचल” से आगे की चीज़ नहीं प्रतीत हुई। प्रथम परिवर्तन में लखनऊ में ग्रामीण जीवन का अलग स्नेप्स दिया है, जिससे यह धारणा बनती है कि उपन्यास का नायक पुरानपुर गाँव है जिसके सही चित्रांकन के लिए ही ये विभिन्न स्नेप्स प्रस्तुत किए गए हैं। पर द्वितीय परिवर्तन में कहानी बड़ी तेज़ी के साथ व्यक्ति जितेन्द्र मिश्र के चारों ओर चक्कर काटने लग जाती है और तब पूरा का पूरा उपन्यास भानुमती का पिटारा बन जाता है। मैं मानता हूँ कि पुस्तक स्वयं महत्वपूर्ण है और लेखक ने इसमें यौन सम्बन्धों के अनोखे वर्णनों से बचने की चेष्टा की है। पर कुल मिलकर “मैला आँचल” के यथार्थवादी अन्त में तन्मय कर देने की जो क्षमता है, “परती परिकथा” की आदर्शोन्मुख कथा उसे प्राप्त नहीं कर पाई। लेखक की शैली बड़ी मादक है पर इस शैली के प्रति लेखक को बड़ा मोह है और इस भँवर-जाल में कथा की गति ऐसी उलझ गई है कि १०० पृष्ठों तक पढ़ जाने के बाद हम महज़ इतना जान पाते हैं कि पुरानपुर पूर्णिया ज़िला में एक गाँव है, जहाँ सर्वे ऑपरेशन चल रहा है। शायद शैली का ताना-बाना बुनने के लिए ही रेणु जी उपन्यास का प्रथम परिच्छेद लिख गए हैं, जिसे उससे हटा भी दिया जाए तो उपन्यास में कोई फ़र्क नहीं आएगा ऐसा मेरा विश्वास है। स्थिति के सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रण की क्षमता रेणु जी की अपनी विशेषता है और ऐसे ही सूक्ष्म चित्रण के सिलसिले में वे सर्वे ऑपरेशन का माइन्यूट डिटेल्स लिख गए हैं। पर इस डिटेल्स के सिलसिले में वे भूल गए हैं कि तसदीक़ के अफ़सर ए. एस. ओ. नहीं कानूनगो होते हैं और तसदीक़ तनाज़े के फ़ैसले के बाद ज़िला-कार्यालय में नहीं गाँव की अदालत में ही दफ़ा तीन में फ़ैसला होता है।........”

मुझे रुकना पड़ा। शिवनन्दन बाबू उठकर अन्दर चले गए थे। उनकी छोटी बच्ची जाने क्यों “बाबू जी, बाबू जी” चिल्ला रही थी, जब वे लौटकर पुनः आए तो मैं मूड में ही था। बिना उनके पूछे कहने लगा: “अच्छा होता, प्रकाशक ने कवर पृष्ठ पर लेखक का जीवन परिचय नहीं दिया होता। उसे पढ़ने के बाद तो स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने जितेन्द्र मिश्र में अपना ही जीवन चरित्र ढालने का प्रयास किया है। चूँकि मिश्र जी में लेखक की अपनी प्रतिच्छवि है, मिश्र जी के चरित्र से लेखक को सर्वत्र मोह-सा रहा है। शायद इसलिए मिश्र जी के विपक्षी लुत्तो अथवा लरायन के चरित्र-चित्रण में लेखक तटस्थ नहीं रह पाया।......”

तो कुल मिलाकर “परती परिकथा” की उपलब्धि मात्र शैली की उपलब्धि है न?” शिवनन्दन बाबू ने टोका मुझे।

“स्वयं पढ़कर ही निर्णय कीजिए!”—मैंने कहा और उन्हीं की किताब उनके आगे सरका दी।

कमरा नं. २०, याटन हॉल,
गोपालपुर (उड़ीसा)
ज़िला: गंजाम

—**प्रवासी**

(७)

पुस्तक-समीक्षा: एक सुझाव

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक-समीक्षा सम्बन्धी विविध स्तंभ आज बहुत हद तक नई प्रतिभा को विकास दे रहे हैं। प्रौढ़तम कृतियों से सर्व-साधारण का परिचय कराने में भी इनकी उपयोगिता महत्वपूर्ण है। पर साथ ही साथ दलगत राजनीति के कीड़े भी समीक्षकों की कलम खोखली कर रहे हैं, यह एक ऐसा सत्य है, जिससे हम दृष्टि बचाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। परिणाम-स्वरूप पाठकों की बुद्धि भ्रमित होती है, श्रम और पैसे की हानि तो होती ही है। कुछ राजनीतिक अड़ंगेबाज़ कीचड़ उछालना ही अपना कर्तव्य समझ बैठे हैं। सामान्यतः मोटे वर्गीकरण की दृष्टि से तीन प्रकार की तथा-कथित समीक्षा आज मिलती है।

(१) परिचय देने वाली (२) प्रशंसा करने वाली (३) गाली देने वाली।

परिचायिका के अन्तर्गत पुस्तक का अध्याय विभाजन, पृष्ठ-संख्या और मूल्य दिए रहते हैं। वर्ण्य विषय पर हल्की-फुल्की अभिव्यक्ति दे कर कर्तव्य की इतिश्री समझ ली जाती है। इसके मुख्यतया दो कारण हैं: एक तो यह कि समीक्षक पूरी पुस्तक पढ़े बिना ही समीक्षा कर देना चाहता है और दूसरे यह कि वह

बला टालना चाहता है। इस प्रवृत्ति के मूल में कुछ सम्पादकों और प्रकाशकों की भी ग़लतियाँ हैं जो अनधिकारी व्यक्ति के यहाँ किसी पुस्तक को समीक्षार्थ भेज देते हैं।

प्रशंसा करने वाली समीक्षा अपने सगे-सम्बन्धी ढूँढ़ती है या किसी प्रतिष्ठित लेखक के व्यक्तित्व-भार से दब जाती है। जो भी हो, इसमें साधारण परिचय, पुस्तकीय विषय एवं छपाई का कोरा स्तुतिगान ही सम्मुख आता है। यदि यही स्वस्थ मष्तिष्क वाले पाठकों के लिए हम पुस्तक-समीक्षा दे रहे हैं तब तो हिन्दी का उद्धार हो चुका।

तीसरी कोटि की समीक्षा वह है, जिसके ख़िलाफ़ श्री राकेश ने 'अजन्ता' सितम्बर अंक में अपनी आवाज़ उठाई है। साहित्य-साधक चाहे वह कवि हो या लेखक सबकी सहानुभूति का पात्र होता है। गाली देना साहित्यिकता के नाम पर कीचड़ उछालना है। लोग पुस्तक-समीक्षा से नीचे व्यक्तिवादी आक्षेपों पर उतर आते हैं। लेखक के चरित्र, परिवार और सामाजिक सम्बन्धों पर मन का गुबार निकालना कहाँ की भलमनसाहत है। अधिकतर ये समीक्षक लेखक की किसी हलकी कमज़ोरी की आड़ ले कर लिखते हैं। गुणों को विस्मृत कर दूषण खोंजने वालों को मनस्तोष देना तो आज के बहुधन्धी जीवन के लिए कठिन समस्या है।

समालोचक या समीक्षक के नाम पर कुछ ऐसे लोग हैं जो समीक्षा के मानदण्ड जाने बिना ही पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा व्यवहृत शब्दों का प्रयोग अपने मन्तव्यानुरूप करके यश-लाभ करना चाहते हैं। ऐसी मनोवृत्ति घातक है। सर्वप्रथम तो समीक्षा के मानदण्ड का निर्धारण होना चाहिए। कुछ-एक लोग साहित्य के वाह्य रूप (छन्द, गति, लय) आदि पर ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति खर्च कर देते हैं। कृति के जीवन-दर्शन की अन्तश्चेतना खटाई में पड़ जाती है। बहुधा एकांगी समीक्षाएँ भी मिलती हैं।

मेरे विचार में तो समीक्षक के लिए सहानुभूतिपूर्ण हृदय सर्वतोभावेन आवश्यक है। कीट्स (Keats) की असमय मृत्यु का कारण बहुत अंशों में दोषान्वेषी आलोचना प्रवृत्ति भी थी। अलेक्साण्डर पोप के शब्दों में :

A perfect judge will read each work of wit
with same spirit that the authors writ

इसी तरह एकांगी समीक्षा पर भी उसके विचार पठनीय हैं :

"It is not a lip or eye, the beauty call
But a joint force.............................."

डा० जॉनसन (Johnson) ने तो यहाँ तक कहा है कि किसी कविता पर सही निर्णय उच्चस्तरीय कवि ही दे सकता है :

"To judge of poets is only the faculty of poets and not of all poets but the best poets themselves."

किसी भी कृति को सोलहों आने परख की कसौटी पर कसना भी अनुचित है। क्योंकि युग के अनुसार मानदंड बदलते रहते हैं, साथ ही परख की कसौटी भी। इसलिए पंक्ति-पंक्ति की सीवन उधेड़ना बुद्धिमानी नहीं। उचित यही है कि कृति की सम्पूर्ण प्रेषणीयता का मूल्यांकन किया जाए।

"It is not by comparing line with the line that the might of great works is to be estimated but by their general effects and ultimate results"—*Samuel Johnson*

विज्ञ समालोचक विश्लेषण (Analysis) और तुलना (Comparison) के आधार पर सहानुभूतिपूर्ण निष्पक्षता के साथ पुस्तक-समीक्षा प्रस्तुत करें तो अच्छा हो। सम्पादक एवं प्रकाशक पुस्तकें अधिकारी विद्वान् और प्रबुद्ध लेखकों के पास ही भेजें तो भी आशा है, कुछ परिष्कार अवश्य होगा। समीक्षा अत्यन्त आवश्यक है पर उसका स्वरूप स्वस्थ, चिन्तना-परक एवं साहित्यिक मर्यादा का पोषक होना चाहिए।

आशा है आप मेरे विचार पाठकों तक पहुँचा कर इस विषय पर उनके विचारों को भी जानने का अवसर देंगे। 'अजन्ता' ने अपनी निष्पक्ष आवाज़ों से समय-समय पर कठिन समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण योग दिया है। पुस्तक-समीक्षा के लिए स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करने की आवाज़ 'अजन्ता' उठाएगी, ऐसा विश्वास है। अपि च, देवनागरी लिपि पर व्यक्त विचारों का मैं स्वागत करता हूँ, लेखक-बन्धु को मेरी शुभ कामनाएँ। 'अजन्ता' देर से मिली। इसके लिए आपको दोषी ठहराता हूँ, आप जानते नहीं कि ऐसी जागृत पत्रिका के लिए मन कितना उत्सुक रहा करता है। शुभकामनाओं के साथ—

—रमानाथ शर्मा 'परिमल'

६८ ए / ४ पुरुषोत्तमनगर,
लइाहाबाद

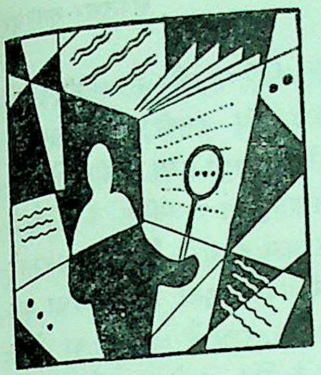

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम भेजी जानी चाहिए]

परती परिकथा
लेखक : फणीश्वरनाथ रेणु
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन,
दिल्ली, बम्बई, इलाहाबाद, पटना, मद्रास
मूल्य : ७.५०

'मैला आँचल' के लेखक श्री रेणु ने अपनी सर्व-प्रथम कृति से जितना यश अर्जित किया, उसका कोई दूसरा उदाहरण हिन्दी में मिलना कठिन है। आपकी दूसरी रचना 'परती परिकथा' एक प्रतिष्ठित लेखक की कृति है, जो साहित्य में अपना स्थान बना चुका है। 'परती परिकथा' में हम कथा-शिल्प के वे सभी गुण प्रचुर मात्रा में पाते हैं, जिनसे हम 'मैला आँचल' में परिचित हो चुके हैं, किन्तु जन-जीवन के प्रति जो गहरी आत्मीयता हमें पहले उपन्यास में मिली थी, उसका कुछ अभाव हमें 'परती-परिकथा' में प्रतीत होता है। 'परती-परिकथा' का लेखक उदार और प्रगतिशील दृष्टि से संपन्न है, किन्तु राजनीतिक जीवन से त्रस्त और कुंठित होकर मानो वह सभी सामूहिक संगठनों से तटस्थ होना चाहता है। एक भीषण शून्यता और एकाकीपन का अनुभव हमें अकसर इस उपन्यास में होता है। उपन्यास का नायक, जितेन्द्र, तो अवश्य ही इस एकाकीपन से पीड़ित है।

'मैला आँचल' की अनेक स्त्रियाँ पतिताएँ और मलिन थीं। 'परती-परिकथा' में हमें निर्मल नारी के दर्शन होते हैं। 'परीती-परिकथा' की बड़ी सफलता जितेन्द्र, ताजमनी, मलारी, गीता, रानी माँ, भिम्मल और मीत की सृष्टि है। दर्जनों सजीव पुरुष-स्त्री मात्र इस उपन्यास में साकार हुए हैं। पूरे गाँव और अंचल का सुरभित वातावरण हमारे नेत्रों के सामने मूर्त्त हो उठा है। किन्तु 'मैला आँचल' में गाँव की आत्म-विद्रोही होकर आज के अभावों और अनाचार के विरुद्ध उठ रही थीं; गरीब किसान, खेतिहर मजदूर, आदिवासी, सभी अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों को पाने के लिए संघर्ष में जूझने को आतुर थे। लेखक ने गाँव की अनेक दुर्बलताओं पर सूक्ष्म और निर्मम दृष्टि डाली थी, किन्तु इसी गाँव के अन्दर भावी प्रगति की अखण्ड शक्ति भी उसने देखी थी। जीवन में अच्छा और बुरा बहुत-कुछ मिला-जुला रहता है। उनके संघर्ष की कथा और प्रगति की दिशा का लेखक वर्णन करता है। 'परती-परिकथा' में लेखक ने लगभग सभी ग्रामवासियों को व्यंग के वाणों से आहत किया है। कथा के अन्त में अनायास ही वे जाग कर सही मार्ग अपनाते हैं।[1]

रेणु बहुत गहरे डूब कर अपनी कथा कहते हैं। गाँव के जीवन का उन्हें अनन्य और घनिष्ठ परिचय प्राप्त है। 'परती-परिकथा' में वे गाँव के शिक्षित नवयुवकों में भविष्य की आशा के अंकुर देखते हैं। इन तत्वों का उपन्यास में समुचित विकास नहीं हुआ है। कथानक के अन्त में उनका निर्देश मात्र है। सामाजिक प्रगति के लिए सामूहिक संगठन और शक्ति की आवश्यकता है। 'परती-परिकथा' में यह शक्ति सांस्कृतिक नवजागरण के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस शक्ति का केन्द्र जमींदार-घराने का उदारमना लड़का है, और उसी की जीवन-कथा उपन्यास में कथानक का केन्द्र-बिन्दु है। दूसरी उपकथा जितेन्द्र के पिता और मेम-माँ के प्रणय-सम्बन्धों से गुँथी है। मर्मस्पर्शी होते हुए भी क्या यह शक्तियाँ भारतीय गाँव की प्रतिनिधि शक्तियों के रूप में

---

[1] पृष्ठ ५०४ से ५२८ ।

ग्रहण की जा सकती हैं ? हिन्दी उपन्यास उदार ज़मींदार की मंज़िल अपने विकास-क्रम में पार कर चुका है। परमा, शिवमंगल, प्रयागचन्द, और समाजशास्त्री शैलेन्दर के विकास की कथा अब हिन्दी का पाठक पढ़ना चाहता है।

'परती परिकथा' कोसी के पुनरुद्धार की कथा है। दुलारी दाय की धारा में कोसी का जल मोड़ दिया जाएगा। इस प्रकार कोसी की बाढ़ से रक्षा होगी और परती भूमि में फिर से खेत लहलहाएँगे। इस कथा को बड़ी तन्मयता से और अन्यतम लगन से लेखक ने लिखा है। इस कथा में निरन्तर लोक-गीतों की ध्वनियाँ पाठक सुनता है। अनेक परिच्छेद गद्य-गीतों की शैली में ढाले गए हैं। प्रथम परिच्छेद तो एक अप्रतिम गद्य-गीत है ही। निरन्तर हम पूजा की घण्टियाँ और कीर्त्तन सुनते हैं, और तारा, माँ-काली को भी उपन्यास के प्रमुख पात्रों में गिन सकते हैं। कथा की गति आधुनिक फ़िल्म-कला का स्मरण दिलाती है। कथा वक्र गति से, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे चलती है : गिट्-गिट्, फ़्लैश-फ़्लैश। बत्तियाँ जलती हैं, बुझती हैं : मेम-माँ, रानी माँ, शिवेन्द्र मिश्र; तागड़-धिन्ना, तागड़-धिन्ना; लुत्तो, मक़बूल शमसुद्दीन, गरुड़ झा; पनघट पर चरित्रों की हत्या करती नारियाँ; मलारी और सुवंश; ताजमती और इरावती; कथा के सूत्र में अनवरत लिपटा जितेन्द्र का कुण्ठित व्यक्तित्व। अनेक रंग-बिरंगे धागे कथा के सूत्र में लिपटे हुए हैं। दूर पर किसी गीत की प्रतिध्वनि गूँजती है : "जो तेहूँ जइब पियरवा-आ-आ-आ कि मोरंग बनि-इ-इ-इ जरवा रे-ए-ए-ए-गा-आ-म..."। पंडुकी बोलती है : तुर तुत्तू-उ-ऊ, तू-ऊ, तु-ऊ, तूः। "कथा होगी अवश्य इस धरती की भी। व्यथाभरी कथा वन्ध्या धरती की!" इस कथा को शिल्प की अनुपम सम्पन्नता से कथाकार ने सजाया है।

प्रकृति के अनेक रम्य और सुनहरे रूप, ऊसर धरती के हृदय-ग्राही वर्णन नेत्रों के सामने झूम जाते हैं। पक्षियों का कलरव और गीतों के स्वर कानों में गूँजते रहते हैं। मानों कोई पुराना गायक दूर कहीं गीत-कथा सुना रहा हो। धरती का गीत शत-शत कण्ठों से मानो फूट पड़ा हो।

कथा के नायक हैं जितेन्द्र और ताजमनी; उपकथा के नायक हैं शिवेन्द्र और उनकी अँग्रेज़ पत्नी। इनके इर्द-गिर्द दर्जनों गाँव के स्त्री-पुरुष सजीव हो कर चक्कर काटते हैं। जितेन्द्र दूषित राजनीति के संपर्क में आकर कुण्ठित और निष्क्रिय हो गया है। वह मनमारे अकेला पुरानी हवेली में पड़ा रहता है। उसका एक मात्र सखा 'मीत' नाम का कुत्ता है। कुत्ते का ऐसा चित्र भी हिन्दी साहित्य के लिए अनोखा और अपूर्व है। जितेन्द्र परती को ट्रैक्कर से जोड़ता है और वहाँ पौधे लगाता है। गाँव के लोग उसे पगला समझते हैं और मनुष्य-रूपी गिद्ध उसकी धरती हड़प जाना चाहते हैं। कथा के अन्त में जिन्तेद्र फिर एक बार जन-आन्दोलनों में खिंच आता है। "मन की परती टूट गई..." माघ "मास की लम्बी रात न जाने किधर से कट गई!" मन में पवित्र प्रात की फूट रही थी सब के।[१]"

मेम-माँ किन्हीं पूर्व-जन्म के संस्कारों-वश भारत की ओर आकर्षित होती हैं। वे हिन्दू-धर्म की पूजा-पद्धति को भी अपनाती हैं। धर्मपरायण चरित्र उज्ज्वल और निर्मल हो सकता है, किन्तु इतिहास में धर्म अपने मिथ्याडम्बरों के नीचे दब कर मनुष्य के लिए अभिशाप बना है। राजनीति से भी अधिक धर्म ने मनुष्य को पीड़ा पहुँचाई है। मनुष्य राजनीति से नहीं बच सकता, क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है। उसे राजनीति में पड़ कर उसका रूप शुद्ध करना ही होगा। धार्मिक आडम्बरों को अधिक प्रश्रय देना प्रगति शील समाज के लिए चिन्ता का कारण बन सकता है।

'परती परिकथा' का सर्व श्रेष्ठ चरित्र ताजमनी का है। उसका सत्त कभी नहीं डिगा। 'मैला आँचल' के मलिन नारी पात्रों का प्रतीकार मानो रेणु ने ताजमनी को रच कर किया है। ताजमनी सर्वथा निर्मल है; उसके चरित्र में कहीं कोई कलुष नहीं। उसके हृदय में प्राणी-मात्र के लिए अनन्त स्नेह और ममता की धारा निरन्तर बहती रहती है। उसका भक्ति-भाव भी धर्म की लीक में नहीं बँधा रहता। वह हृदय का सत्य है। "मधुर बैन, मोम का मन और दूध जैसा निर्मल प्राण!"

उपन्यास की प्रमुख पात्राओं में इरा और मलारी के चरित्र भी अच्छे उभरे हैं। पुरुष-पात्रों में जितेन्द्र के

---

[१] पृष्ठ ५२४

अतिरिक्त भिम्मल मामा मन को विशेष प्रभावित करते हैं। आश्चर्य की बात है कि उपन्यास के इन दोनों उदार व्यक्तिओं को सभी ग्रामवासी अर्द्ध-विक्षिप्त समझते हैं। गाँव बन ही गया है। चोर और लफ़ंगों की भूमि, लुत्तो, गरुड़, झा, सरबन बाबू, मुन्शी जलधारी लाल, बालगोबिन, महीचन, समसुद्दीन। इसी प्रकार स्त्रियाँ पनघट पर गला फाड़-फाड़ कर लड़ती हैं: सामबत्ती, पीसी, बालगोबिन की स्त्री, गंगाबाई, गेंदा आदि। सुरपतिराय मात्र "टेप रेकार्डर" हैं और भवेश फ़्लैश-कैमरा भर।

पूरे अंचल में इस गाँव की प्रतिष्ठा है। इस इलाक़े में सबसे उन्नत गाँव है परानपुर। किन्तु, जिस तरह बाँस बढ़ते-बढ़ते अन्त में झुक जाता है, उसी तरह यह गाँव भी झुका है।...अब इस सब-डिवीज़न भर के लोग-यहाँ के दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोल कर देख लेते हैं। फ़ारबिस गंज बाज़ार की किसी दुकान में चले जाइए, ज्यों ही मालूम हुआ कि परानपुर का ग्राहक आया है, दुकानदार अपनी बिखरी हुई चीज़ों को समेटना शुरू कर देता है।[१]

पुरानपुर ही नहीं, "सभी गाँव टूट रहे हैं। गाँव के परिवार टूटे हैं, व्यक्ति टूट रहा है—रोज़-रोज़, काँच के बर्त्तनों की तरह।...नहीं।...निर्माण भी हो रहा है। क्या गाँव, नए परिवार और नए लोग!"[२]

गाँव का सबसे बड़ा अभिशाप है जातिवाद। "राजनैतिक पार्टियाँ भी जातिवाद की सहायता से संगठन करना जायज़ समझती हैं। राजनीति के दंगल में सब कुछ माफ़ है।"[३] गाँव अनेक टोलियों में बँटा हुआ है: बबुआन टोली, कैयट टोली, नहिन टोली आदि। जो अपना कुछ भला करना चाहता है, जाति के मुखिया को अपनी ओर फोड़ता है। इस जातिवाद के कलंक से आसानी से छुटकारा मिलता नहीं प्रतीत होता।

जितेन्द्र "अकेलेपन के अन्धकार से बाहर निकलना चाहता है।" वह सोचता है: "...प्रीतिबन्धन के खोए हुए सूत्र को खोज कर निकालना होगा। नहीं तो, इस सार्वभौम रिक्तता से मुक्ति की कोई आशा नहीं!"[४]

रेणु की कला का एक अलौकिक आकर्षण उनकी नई मधुर भाषा है। मागधी पुट दे-दे कर उन्होंने भाषा का तद्भव रूप खूब निखारा है। 'मैला आँचल' में जो अनेक अप्रचलित शब्द थे, उन्हें छोड़ कर रेणु ने 'परती परिकथा' में भाषा की सरसता और अभिव्यंजना-शक्ति में वृद्धि की है। रेणु के वर्णनों में कवित्व है; प्रकृति के रंगों को उन्होंने कथा में अद्भुत शिल्प से सजाया है; भाषा में प्रकृति के स्वर और ध्वनियाँ प्रतिध्वनियाँ भरी हैं। "गीतों के पंख पर उड़ता हुआ गाँव! गीत-गंगा में नहाती औरतें!"[५]

एक चित्र: "दालान के आँगन में कोई अजनबी पंछी अचानक केंक-केंक कर उठा।

"केंकू! केंक!!...कर्कश आवाज हवेली को कँपा गई।..."

"कचहरी-घर की दीवाल में दो का घंटा बजा। पोखर में बड़ी-सी मछली कूदी।...

"पोखरे के पास, मन्दिर वाले बाग़ में कोहबर राँड़ी किलकिला कर कूक पड़ी।...घेर-घेर-घेर...घेर...पकड़-ले-ले आ तो! पकड़-ले आ तो!!"

पीले रंग के पाँखोंवाली एक चिड़िया, कोहबर राँड़ी। बरसात में, इसी तरह वह रह-रह कर रात में किलकिला उठती है अचानक! "तुर-तुर-तुर-तुर-तुरा-तू-तू-तू। घेर-घेर-घेर-पकड़-ले-आ-तो!!"[६]

प्रकृति का यह रंग और स्वर हिन्दी गद्य के लिए सर्वथा नवीन है।

अंग्रेज़ी के अनेक शब्दों को भी कवि-कलाकार ने अपनी प्रतिभा के प्रवाह में चूर कर चिकना, स्वच्छ और चमकदार बना लिया है। इस प्रकार वे "मैजरोटी, (Majority); नामनेशन, पौलटीस, पौलीसी[२] की बात कहते हैं। सर्वे का काम शुद्ध होने पर सर्वत्र "बौरणडरी! बौरणडरी!!..." की ध्वनि उठती है; नए अपभ्रंश हैं: 'खपसूरती', 'डिस्टिक्ट बोट', 'रिकाट', 'रास्ट्री', आदि। किन्तु कहीं-कहीं हिन्दी के प्रचलित रूप को देखते हुए भाषा के चिन्तनीय प्रयोग भी मिलते हैं: "सामबत्ती पीसी की बातों का जवाब देने वाले गाँव में कितने लोग हैं"— [३] गेस्ट हाउस के दोनों कमरे में रोशनी हो रही

---

१ पृष्ठ १७–८; २ पृष्ठ १९; ३ पृष्ठ २०। ४ पृष्ठ ४७०–१; ५ पृष्ठ २९८। ६ पृष्ठ १०९–११०;

है,[1] "लुत्तो और गरुड़ झा एक साथ ही हँसा";[2] "सेल्फ़"[3] (Shelf); 'लैंश' (लैम),[4] आदि ।

कुल मिला कर "परती परिकथा" हिन्दी कथा-साहित्य को रेणु की स्मरणीय देन है। उन्होंने बड़े तप में लीन हो कर इस कथा को रचा है। हम यह तो नहीं कह सकते कि रेणु ने सत्य को पा लिया है; सत्य की झलक उन्होंने अवश्य ही देखी है। कोई भी युग अथवा व्यक्ति सत्य का एक ही पक्ष देख पाता है, और सत्य का निरन्तर विकास होता रहता है; सत्य के नवीन रूप मनुष्य सदा देख कर अपने ज्ञान की वृद्धि किया करता है। डाक्टर रायचौधरी की मुद्रा में हम यह अवश्य कह सकते हैं : "तुमी-पारबे !" मानव स्वभाव के यथार्थ को समझना आवश्यक है, किन्तु अतिशय व्यंग और विद्रूप की मुद्रा इसमें बाधक हो सकती है। हमें जितेन्द्र, जयदेव और मक़बूल के बदलते हुए चरित्र को पहचानना होगा। रेणु उसे पहचानते भी हैं, किन्तु उस पर आरम्भ से ही अधिक बल देना आवश्यक था; इसकी अनुपस्थिति में उपन्यास का आशावादी स्वर ऊपर से आरोपित प्रतीत होता है।

रेणु के स्वर में आशावादिता है। वे कहते हैं : "प्राणों के नए-नए रंग उभरेंगे !" "सेमलबनी के आकाश में अबीर गुलाल उड़ रहा है। आसन्न-प्रसवा परती हँस कर करवट लेती है !"[5] कोसी मैया कहती है : "धरती मरेगी नहीं। जहाँ-जहाँ बैठ कर मैं रोई हूँ, आँसू की उन धाराओं के आसपास धरती का प्राण सिमटा रहेगा।.. फिर सारी धरती पर हरियाली छा जाएगी।...धाराओं के आस-पास सिमटे हुए प्राण नए-नए रंगों में उभरेंगे !"[6] आज संपूर्ण भारत की परती भूमि को ही आँसुओं के जल से कलाकार को सींचना है।

इलाहबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद —प्रकाचचन्द्र गुप्त

सोवियत संघ के बारे में १०० सवाल और जवाब

प्रकाशक : सूचना–विभाग, सोवियत संघ दूतावास
नई दिल्ली
मूल्य : ०.५० नए पैसे

आज सोवियत संघ प्रत्येक क्षेत्र में जिस शीघ्र गति से प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है, यह बात सभी को विदित है। हाल ही में उसने आकाश में कृत्रिम उपग्रह उड़ा कर अपनी वैज्ञानिक प्रगति का परिचय देकर सारे संसार को ही आश्चर्य में डाल दिया है।

अपने देश की मौजूदा हालत को ध्यान में रख कर हमारे लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम सोवियत संघ के बारे में उसकी प्रगति की पूरी जानकारी हासिल कर उसके अनुभवों से लाभान्वित हो जाएँ।

"सोवियत संघ के बारे में १०० सवाल और जवाब" एक ऐसी पुस्तक है, जिसके अध्ययन से सोवियत यूनियन के बारे में पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। राजनीति के प्रेमी पाठकों के लिए यह एक काम की पुस्तक है।

सर्वोदय संयोजन विविध लेख

प्रकाशक : अखिल भारतीय सर्व-सेवा संघ,
राजघाट-काशी
मूल्य : १.००

सर्वोदय सिद्धान्त के अनुसार—"सरकारी योजनाएँ समाज को केन्द्रीकरण और हानिकर औद्योगीकरण की ओर ले जाने वाली हैं। वह एक नए अहिंसक समाज का निर्माण करना चाहता है।"

प्रस्तुत पुस्तक में 'भूमि का स्वामित्व', 'उद्योग', 'मजदूर और उद्योगों का सम्बन्ध', 'कर-पद्धति' आदि विषयों पर सर्वोदय-संयोजन के उद्देश्य बतलाने वाले विचारात्मक लेख दिए गए हैं।

ग्रामदान

लेखक : श्री विनोबा
प्रकाशक : अखिल भारतीय सर्व-सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, काशी
मूल्य : ०.७५

'ग्रामदान' में श्री विनोबा जी के व्याख्यानों के वे अंश संग्रहीत किए गए हैं, जो ग्रामदान के सम्बन्ध में अपने भूमिदान आन्दोलन के सिल-सिले में पद-यात्रा

---

[1] पृष्ठ २१; [2] पृष्ठ १४२; [3] ४०७; [4] पृष्ठ ४४२; [5] पृष्ठ ४४८; [6] पृष्ठ ४५६। [7] पृष्ठ ४२७–८; [8] पृष्ठ ६।

करते हुए उन्होंने विविध स्थलों पर अपने विचार व्यक्त किए थे।

इधर अखिल भारत सर्व-सेवा संघ ने भूदान साहित्य की कई महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इनमें से 'ग्रामदान' एक है।

त्रिपथगा (अक्तूबर १९५७)
सम्पादक : श्री काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
संचालक : सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
वार्षिक मूल्य : ७·००
एक प्रति : ०·६३

'त्रिपथगा' कला, विज्ञान और संस्कृति-प्रधान साहित्यिक मासिक पत्रिका उत्तर-प्रदेश सरकार के सूचना विभाग की तरफ़ से चलाई जा रही है।

श्री सोहनलाल द्विवेदी, श्री गोपालसिंह नेपाली आदि की कविताएँ, श्री मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' का 'दर्शन का नया इतिहास', श्री राहुल सांकृत्यायन का 'तिब्बत में बौद्ध साहित्य', श्री रामचन्द्र शुक्ल का 'कलाकार श्री नन्दलाल बसु' और श्री योगेन्द्र दत्त का 'शक्ति की खोज में' आदि सुरुचिपूर्ण लेखों के साथ यह अंक सुशोभित है। इसमें कुछ चित्र भी प्रस्तुत किए गए हैं, जो पत्र की साज-सज्जा में बड़े सहायक हुए हैं। इसके सभी अंक संग्रहणीय हैं।

विकास (दीपावली विशेषांक)
संचालक : सार्वजनिक सम्पर्क कार्यालय,
राजस्थान सरकार, जयपुर
वार्षिक मूल्य : ३·००
इस अंक का : ०·५०

'विकास' का यह दीपावली विशेषांक अधिक पृष्ठों के साथ निकला है। इसमें राजस्थान-सरकार के विविध क्षेत्रों के विकास सम्बन्धी विशेष लेखों के साथ 'राजस्थान में दीपावली महोत्सव' जैसे दीपावली विषयक लेख भी दिए जा चुके हैं। हिन्दी और राजस्थानी कविताओं को भी बीच-बीच में स्थान दे दिया गया है। अंक में कुछ कला-चित्र हैं। 'विकास' के अन्य अंकों की ही भाँति इसमें भी "थांरी बोली में थांरी बात" शीर्षक के अन्तर्गत राजस्थानी भाषा के कुछ पृष्ठ पृथक् दे दिए गए हैं।

राजस्थान में कहाँ क्या हो रहा है, उसने कहाँ तक प्रगति की है, यह सब जानने के लिए 'विकास' का यह विशेषांक पठनीय है।

हिन्दी-सन्देश (रजत जयन्ती विशेषांक)
सम्पादक : श्री भीमसेन विद्यालंकार
वार्षिक मूल्य : ६·००
इस अंक का : १·००

'हिन्दी सन्देश' हिन्दी के बहुत पुराने पत्रों में से एक है, जो पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ़ से चलाया जा रहा है। पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन द्वारा पंजाब-प्रान्त में हिन्दी का बड़ा प्रचार हो रहा है और उस प्रचार-कार्य का परिचय लोगों को देने का काम 'हिन्दी सन्देश' बड़ी सफलता के साथ निभाता आ रहा है।

'हिन्दी सन्देश' का यह रजत-जयन्ती विशेषांक बड़ी सजधज के साथ एक नया रूप लेकर हमारे समाने आया है। पंजाब में हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में क्या-क्या हुआ है, कौन-कौन इस कार्य में हाथ बटा रहे हैं, कितनी संस्थाएँ इस कार्य में लगी हुई हैं और इसके कर्णाधार कौन हैं, हिन्दी के कौन-कौन साहित्यकार हुए हैं और हिन्दी को उनकी देन क्या है, आदि कई बातों का परिचय हमें इस विशेषांक के अध्ययन से प्राप्त होता है।

'हिन्दी सन्देश' के इस अंक में जितनी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उन्हें देखते हुए हम इसे पंजाब-प्रान्त के हिन्दी प्रचार कार्य का एक हैंड-बुक कह सकते हैं इसमें श्री सत्यदेव जी विद्यालंकार का संस्मरण—'सब से पहले और सब से आगे'—काफ़ी महत्वपूर्ण रहा है। लेखक ने स्वामी श्रद्धानन्द जी का सुन्दर संस्मरण हमारे सामने उपस्थित किया है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विविध प्रान्तों के बीच साहित्यिक और सांस्कृतिक सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाय। आशा है, 'हिन्दी सन्देश' आगे एक साहित्यिक पत्र के रूप में प्रकाशित होने लगेगा, जैसा कि उसके सम्पादकीय में कहा गया है।

५-२-४८, जामबाग़,
हैदराबाद

—**दंडमूडि महीधर**

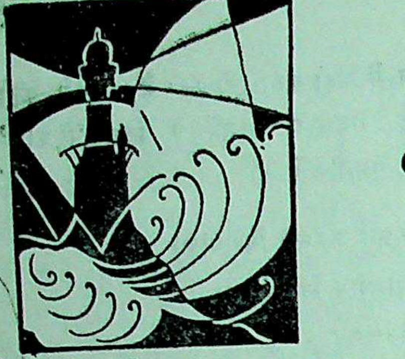

सामयिक

॥

तमिल में सिद्ध-साहित्य

श्रीयुत ए. बी. तुब्रह्मरायम् ऐयर ने तमिल के सिद्धों के काव्य और दर्शन पर एक पुस्तक अंग्रेज़ी में प्रकाशित की है। इस पुस्तक के आधार पर निम्न अंश दिया जा रहा है :

"तमिल में 'सिद्ध' को 'सिद्धार' कहा जाता है। सिद्धार या सिद्ध हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। उन्होंने अपने विचारों को जन-साधारण की भाषा में लिखा है; यद्यपि यह सत्य है कि उनकी उक्तिया रहस्यमयता से ओत-प्रोत हैं। तमिल में चिकित्सा पर जो पुस्तकें प्राप्त होती हैं, उनमें से कुछ पुस्तकें इन सिद्धों के द्वारा लिखी हुई कही जाती हैं। इन सिद्धों के जीवन और कार्य के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। उनकी ओर अभी उपयुक्त ध्यान नहीं दिया गया है। कुछ थोड़े-से विद्वानों ने उनके सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं।

प्राचीन तमिल सिद्धारों (सिद्धों) में चार प्रसिद्ध हैं : तिरुमुलर, शिव वाम्यर, पट्टीनायर, और भद्रगिरियर। बाद के सिद्धों में पम्बही सिद्धार और इदलकट्टु सिद्धार आदि के नाम दिए गए हैं। इनमें दस सिद्धारों के नाम दिए गए हैं जो कि दार्शनिक कवि हैं। इनमें तीन प्रमुख हैं : सन्त वागीसर, कुन्नुदय वल्लालर और ताग्डवरायस्वामी। कुछ वर्ष पूर्व एक पुस्तक प्रकाशित की गई थी, जिसका नाम था : "पथिनेन सिद्धार अरिया परिया ज्ञान कोवइ।" इस पुस्तक में दस सिद्धों के नामों के अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धों की भी चर्चा की गई है, जिनमें कि कुछ के नाम निम्न प्रकार हैं : अगस्त्यर, तिरुवल्लुवर' करूविरार, सत्तमुनि, रोभ ऋषि, और काका बसुन्दर। इस प्रकार के कुछ और नाम भी दिए गए हैं।

पुस्तक में अधिकतर स्थान तिरुमलर को दिया गया है। इनकी प्रसिद्ध रचना "तिरुमंतिरम्" है। इसके नौ तंत्र हैं। लेखक की सम्मति में तमिल सिद्धों में सबसे महान् और सबसे प्राचीन सिद्ध तिरुमलर थे। लेखक की सम्मति में उनका समय ६ ठी या ७ वीं शताब्दी है। तमिल संतों में एक परम्परा प्रचलित है। सन्त सेक्किलर ने इस बात का उल्लेख किया है कि सन्त तिरुमलर ने ३००० पद ३००० वर्ष में लिखे और वह इस सिद्ध के समय को ७ वीं सदी तक समझता है। संभवत: उसका समय तीसरी और पाँचवीं सदी के बीच का है। कहा जाता है कि सिद्धार शिववाक्यर बाद में वैष्णव हो गए थे और उनका नाम तिरुलमसाइ अलवार हो गया था।

तमिलनाड में ११ वीं सदी से १६ वीं सदी का समय इस प्रकार है, जिसमें अनेक प्रकार के मतों और सम्प्रदायों का विकास हुआ। इनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा और होड़ लगी हुई थी। बाद के सिद्धों ने इसके विरुद्ध तमिलनाड में आन्दोलन किया। इन सिद्धों ने परम तत्व और उसके साथ एकत्व की अनुभूति पर बल दिया; मनुष्यों में समत्व की भावना का विस्तार किया; ऊँच-नीच और जाति-भेद का विरोध किया और अन्त में साधना के महत्व को समझाने का प्रयत्न किया। इस साहित्य का वर्तमान समय में भी कुछ कम महत्व नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में तमिल सिद्धारों (सिद्धों) की कविता को दिया गया है और उनके साहित्यिक मूल्यांकन का प्रयत्न किया गया है। उनकी विशेषताओं और विचित्रताओं को प्रदर्शित किया गया है। तमिल में ये सिद्ध "समाज विद्रोही" थे। इसलिए उनकी रचनाएँ तमिल-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। इन सिद्धों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे अष्ट सिद्धि के द्वारा शारीरिक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते थे और वे अपने शरीर का साधना के द्वारा आत्मीकरण कर लेते थे। वे खास यौगिक प्रक्रियाएँ करते थे और भगवान् शिव के साथ एकात्म्यता स्थापित कर

लेते थे...।''

॥

फ्रेंच कला का भारतीय चित्रकारों पर प्रभाव

दिल्ली के अंग्रेजी पत्र ''हिन्दुस्तान टाइम्स'' में श्रीयुत जेक्वेप डुवोइस का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है : ''फ्रेंच कला का भारतीय चित्रकारों पर प्रभाव''। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

''...यह बात निस्संदेह सत्य है कि विश्व की चित्रकला का सबसे महान् केन्द्र पेरिस है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आधुनिक सर्वश्रेष्ठ भारतीय चित्रकारों ने चित्रकला की शिक्षा पेरिस में जाकर प्राप्त की है। भारतवर्ष में २० वीं शती से पहले तैल-चित्रों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं था। अमृत शेरगिल ने जो कि अर्ध-भारतीय थीं और अर्ध-यूरोपियन थी, फ्रान्स और इटली की चित्रों की गैलरियों को देखा था। उसने २० वीं सदी में पेरिस में रह कर चित्रकला का अध्ययन किया था। हम समझते हैं कि अन्य चित्रकारों की अपेक्षा अमृत शेरगिल ने भारतीय चित्रकला की नींव डाली।...शनैः शनैः उसने अपने अल्प जीवन में अपनी एक नई शैली का विकास किया। इससे पूर्व वह अनेक फ्रेंच चित्रकारों की कला से प्रभावित रही।

अमृत शेरगिल के पश्चात् अनेक भारतीय चित्रकला का अध्ययन करने के लिए पेरिस गए। उनमें से अनेक चित्रकार इस प्रकार के हैं कि उनके चित्रों में भारतीय कला का उतना परिदर्शन नहीं होता, जितना कि पाश्चात्य चित्रकला का। बात यह है कि भारतवर्ष में अभी तक तैल-चित्रकला की कोई विशेष परम्परा नहीं है। इस कारण यह स्वाभाविक है कि एक भारतीय चित्रकार यूरोप में जाकर वहाँ के उस्ताद चित्रकारों की कला से प्रभावित हो जाता है और अपने चित्रों में उनकी कला का अनुकरण करने लग जाता है। यूरोप से जब वह अपने देश में वापस आता है तो वह उसी शैली के चित्र बनाता है, जिनको बनाने की यूरोप में उसकी आदत पड़ चुकी होती है। फ्रेंच स्कूल ऑफ आर्ट का उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा होता है; इसलिए वह उसी प्रकार की कला का निर्माण करता है। इम्प्रेशनिज़्म और क्यूविज़्म यूरोप के वाद हैं? वे भारतीय वातावरण के अनुकूल नहीं हैं। वे भारतीय आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होते। ये सब अभिव्यक्तियाँ विदेशी हैं।

भारतीय तैल-चित्रकला उसी अवस्था में महान् बन सकेगी, जब कि उसमें भारतीय शैली का मौलिक विकास हो सकेगा। अभी तक हम इस सम्बन्ध में किसी ऐसे भारतीय चित्रकार का नाम नहीं ले सकते, जिसमें कि मौलिक भारतीय चित्रशैली का परिदर्शन होता हो। भारतीय चित्रकारों के सम्मुख मुख्यतया दो शैलियाँ हैं—पहली शैली तो है आधुनिक पाश्चात्य शैली की अनुकरण और दूसरी है परम्परागत भारतीय शैली की। कुछ समय पश्चात् कोई एक ऐसा भारतीय चित्रकार उत्पन्न होगा, जिसे पाश्चात्य और भारतीय दोनों कलाओं का विस्तृत और सूक्ष्म ज्ञान होगा; जिसका हृदय संपूर्णतया भारतीय होगा और वह अपनी कला में ऐसी भारतीय चित्रकला का विकास कर सकेगा जिससे कि विश्व के महान् चित्रकार प्रभावित हो सकेंगे।

एक विदेशी चित्रकार के लिए भारतीय जीवित चित्रकारों की कला की आलोचना करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। फिर भी जामिनी राय के सम्बन्ध में कुछ कहना ही पड़ेगा। जामिनी राय की उँगलियाँ सधी हुई हैं और उनकी कला में मौलिकता है परन्तु क्योंकि उनकी शैली सज्जात्मक है, इसलिए उन्हें वर्तमान समय का चित्रकार नहीं कहा जा सकता। वे अतीत के चित्रकार हैं। आधुनिक चित्रकारों पर उनका कुछ विशेष प्रभाव नहीं है। रज़ा का नाम आधुनिक चित्रकारों में लिया जा सकता है। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली है, हमने अभी पेरिस में उनके कई लैण्डस्केप देखे। हमें वे पसन्द नहीं आए। उनकी कला यूरोपीय वातावरण में नहीं पनप सकती। भविष्य ही बता सकेगा कि उनके सम्बन्ध में हमारी यह धारणा ठीक है या गलत।

हुसैन की स्थिति रज़ा से कुछ ठीक है। उनकी कला में भारतीयता की भावना है। उनका एक चित्र है 'यात्रा' हमें इसमें गढ़ मुक्तेश्वर का वातावरण झलकता हुआ दिखाई देता है। हम अभी गढ़ मुक्तेश्वर के एक मेले में गए थे; यह बड़ा सुन्दर चित्र है।

राम कुमार ने पेरिस में फ्रेंच कलाकारों से अध्ययन किया है। उन्होंने एक चित्र बनाया है 'सैड टाउन'। इस चित्र पर उन्हें इनाम दिया गया है। सीकीरोज

मेक्सिको का एक चित्रकार है। सतीश गुजराल उनके शिष्य हैं परन्तु उनकी वर्तमान शैली उनकी अपनी नई शैली का प्रारम्भ ही प्रतीत होती है। उसका अभी पूर्णतया विकास नहीं हुआ।

एस. एस. दवे, डी. जी. जोशी, सन्तोष और खन्ना भी अच्छे चित्रकार हैं। इन समस्त प्रतिभाओं के परिणाम-स्वरूप नवीन, मौलिक भारतीय चित्रकला का विकास हो सकेगा। जिस प्रकार अन्य विषयों में योजना बनाई जा सकती है, उसी प्रकार कला के सम्बन्ध में किसी प्रकार की योजना नहीं बनाई जा सकती ! फ्रांस में एक चित्रकार के सम्बन्ध में कहा जाता है, जिसने कि चित्रकला को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया था। वह कहता था : "दो वर्षों में मैं प्रसिद्ध हो जाऊँगा और ४ वर्षों में मैं धनी हो जाऊँगा।" और हमें एक बूढ़े प्रसिद्ध चित्रकार रेनौअर के निम्न शब्दों का स्मरण हो आता है : "जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं तो अभी चित्रकला को सीख रहा हूँ।"

॥

दीपावली पर विभिन्न प्रान्तों की पृथक्-पृथक् मान्यताएँ

श्रीयुत कैलाशचन्द्र वैदने, सोनी भवन, घी वालों का रास्ता, जयपुर (राजस्थान) से 'दीपावली' के सम्बन्ध में निम्न लेख भेजा है :

भारत में देवता के चरणों में दीपक चढ़ाने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। महापर्व दीपावली पर भी हम दीपक चढ़ाने की परम्परा का स्मरण करते हैं और साथ ही लक्ष्मी-पूजन करते हैं। भारत के कोने-कोने में यह पर्व बड़े हर्ष के साथ मनाया जाता है और प्रत्येक प्रान्त की अपनी निराली और मनोरंजक प्रथा होती है।

राजस्थान : राजस्थान में दीपावली रामकथा के अनुसार मनाई जाती है। राजस्थान के निवासी बिल्ली का आदर महापर्व दीपावली पर करते हैं। बिल्ली को लक्ष्मी का स्वरूप माना जाता है। जिस प्रकार किसी मेहमान का स्वागत किया जाता है, ठीक उसी प्रकार बिल्ली का स्वागत इस अवसर पर किया जाता है। घर में भोज्य सामग्री बनाई जाती है और उसे बिल्ली के खाने के लिए रख दिया जाता है, यदि उस दिन बिल्ली सारी भोज्य सामग्री खा जाए तो उसे शुभ मानते हैं। ऐसा भी मानते हैं कि अगर लक्ष्मी-पूजन के समय बिल्ली घर में आ जाए तो मानों लक्ष्मी जी ने ही हमारे घर में प्रवेश कर लिया है।

अन्य प्रान्तों की भाँति यहाँ भी वाणिज्य का नया वर्ष दीपावली से ही आरम्भ होता है।

महाराष्ट्र : महाराष्ट्र में दीपावली विशेषतः यम-पूजा के लिए प्रसिद्ध है। वैसे यहाँ के निवासी दीपावली के दिन घर की सफ़ाई और सजावट अन्य प्रान्तों के लोगों से अधिक उत्साह से करते हैं। रात्रि में घर के कोने-कोने में दीपक जलाते हैं और चंचल लक्ष्मी की पूजा की जाती है। रात्रि में जुआ, नृत्य एवं संगीत के कार्यक्रम होते हैं।

दीपावली के दिन ही नए बर्तन खरीदे जाते हैं। और यम देवता के चरणों में दीपक चढ़ाया जाता है। इस दीपदान के मूल में यह भावना होती है कि बलिराज की भाँति हम भी अपने वचनों को निभाने की आदत डालें।

मैसूर : मैसूर का दशहरा और दीपावली अपनी विशेषताओं के लिए भारत-भर में प्रसिद्ध हैं। यहाँ दीपावली के दिन घर की स्त्रियाँ बच्चों और पुरुषों को 'माट' पर बैठा कर उबटन लगाती हैं। लगाते समय नरकासुर-वध की कहानी कहती है और फिर उन्हें स्नान का महात्म्य गंगा-स्नान के तुल्य मानते हैं।

गुजरात : गुजरात में दीपावली-पर्व द्वादशी के दिन से आरम्भ होता है। इस दिन को यहाँ बाघ बरान कहा जाता है। रंगीन चावल और आटे से आँगन सजाया जाता है। आँगन की सजावट बहुत सुन्दर होती है और उसके ऊपर फूल बनाए जाते हैं। गुजरात में कहीं-कहीं काली-पूजन भी किया जाता है।

दीपावली के दिन बच्चे नमक की पोटली ले कर बाज़ार में घूमते हैं। ये "सपेर में दहाड़े सब रस" कह कर नमक को बेचते हैं। इस दिन नमक खरीदना एक सगुन का कार्य माना जाता है। प्रायः सभी घरों की स्त्रियाँ इन बच्चों से थोड़ा-बहुत नमक न लें तो अपसगुन माना जाता है।

हैदराबाद : हैदराबाद में दीवाली (दीपावली) कृष्ण-कथा की रीति से मनाई जाती है। बलिराज की कथा पर लोगों का असीम विश्वास है। यहाँ भैंसों को लड़ाने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

पहले दो भैंसों को खिला पिला कर तैयार कर लेते हैं और बाद में जिसका भैंसा होता है, वह स्वयं भैंसे को लेकर युद्ध-क्षेत्र में आ जाता है। वहाँ अपने भैंस की शक्ति का प्रदर्शन करता है और उसे शराब पिलाता है। ऐसा भी कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने नरकासुर दैत्य का वध नरकचतुर्दशी के दिन किया था। तभी उन्होंने १६००० स्त्रियों से विवाह भी किया था। इसी उपलक्ष्य में यहाँ दीपावली मनाई जाती है। नए वस्त्रों का पहरावा और सुन्दर पकवान बना कर देवताओं को भोग लगाना यहाँ का मुख्य कार्यक्रम है। दीपावली की रात्रि को यहाँ लक्ष्मी-पूजन की परम्परा का पालन होता है।

यहाँ के निवासियों का विश्वास है कि लक्ष्मी स्वच्छता से प्रसन्न हो जाती है और जगमगाते दीपों के बीच उन्हें आना अच्छा लगता है। स्त्रियाँ अपने-अपने घर के बाहर दरवाज़े पर भी दीपकों की क़तार लगा देती हैं। दीप जलाने के बाद स्त्रियाँ रात-भर गायन-वादन द्वारा महालक्ष्मी का स्वागत करती हैं। इस अवसर पर सरकारी अधिकारियों से लेकर साधारण जनता तक दीपों को जला कर महालक्ष्मी का स्वागत करते हैं।

उत्तर-प्रदेश : उत्तर-प्रदेश में रामकथा के अनुसार इस पर्व को मनाया जाता है। दीपावली पर घरों में लक्ष्मी के चित्र निर्मित किए जाते हैं और उनकी विधिवत् पूजा की जाती है। दीपावली के दिन भक्त-जन दूर-दूर से आते हैं। व्यापारी-गण इस अवसर पर अपना कारबार स्थगित रखते हैं और बहीखाते की पूजा करते हैं। यहाँ नव वर्ष का आरम्भ प्रतिपदा से माना जाता है।

उत्तर-प्रदेश के पहाड़ी प्रदेशों में गौ-पूजा की प्रथा प्रचलित है। रक्षा-बन्धन को यहाँ के निवासी इसी अवसर पर अपने हाथों से खोलते हैं। उसे गौ की पूँछ में बाँध दिया जाता है और फिर लोग गौ की पूँछ पकड़ कर उसकी परिक्रमा करते हैं।

वे रात्रि में स्वादिष्ट भोजन करते हैं और फिर गाँव के बाहर जाकर नृत्य में भाग लेते हैं। संगीत और नृत्य का कार्यक्रम तब तक चलता रहता है, जब तक उनके हाथों की मशाल न बुझ जाए।

उत्तर प्रदेश के तराई-क्षेत्र में थारू नामक जाति रहती है। इनकी दीपावली मनाने की विधि सर्वथा भिन्न है। यह पर्व उनके यहाँ लगभग एक मास तक चलता रहता है और दीपावली के दिन ये वर्षी उत्सव मनाते हैं। इनका विश्वास है कि इस अवसर पर मृत आत्माएँ धरती पर आती हैं और अपने परिवार एवं ग्राम वालों के साथ हर्षोल्लास के कार्यक्रमों में भाग लेती हैं।

दीपावली के दिन मृत व्यक्ति के घर प्रातःकाल से ही आस-पास के लोग एकत्र होने लगते हैं और मृत व्यक्ति के घर पर ही उस दिन भोजन करते हैं। भोजन के उपरान्त आँगन में मृत व्यक्ति के लिए खाट का प्रबन्ध किया जाता है। ताकि वह विश्राम कर सके।

दीपावली के दिन सायंकाल नृत्य-संगीत का आयोजन होता है। एक पुरुष स्त्री के वस्त्र पहन लेता है जिसे ''नाच-काया'' के नाम से पुकारा जाता है। उसके साथ ढोल बजाने वाले तथा नृत्य करने वाले अन्य व्यक्ति भी रहते हैं। नृत्य और संगीत का कार्यक्रम सायंकाल से प्रातःकाल तक चलता है।

रात्रि का एक पहर बीत जाने पर नर्तक प्रायः ऐसा अनुभव करता है कि मृत आत्मा उसी के साथ नृत्य में भाग ले रही है। उसका उत्साह और भी बढ़ जाता है। नृत्य रात भर चलता रहता है।

सुनने वाले सोचते हैं कि प्रातः काल मृत-आत्मा वापस चली गई है। मृत-व्यक्ति के सत्कार के लिए जो चीज़ें रखी जाती हैं, उन्हें एक व्यक्ति पास की नदी में प्रवाहित कर देता है।

यह नृत्य-कार्यक्रम तीन दिनों तक चलता रहता है। द्वितीया के दिन चाँद के निकलने पर पंडाल के घेरे को तोड़ दिया जाता है और स्त्रियाँ उन्हें प्रायः गाँव के बाहर पश्चिम दिशा में ले जाकर नष्ट कर देती हैं। इस प्रकार इनका दीप-पर्व समाप्त हो जाता है।

बिहार : बिहार के आदिवासी दीपावली-पर्व को हर्षोल्लास के साथ मानते हैं। यहाँ इस अवसर पर काली-पूजा की प्रथा प्रचलित है। यहाँ दीपावली पर्व पर नारियल और पान खाना शुभ माना जाता है। नृत्य और संगीत के कार्यक्रम इस का मुख्य अंग माने जाते हैं।

बिहार के गाँवों में दीपावली मनाने का ढंग विचित्र है। काली-प्रतिमा से लेकर ड्योढ़ी तक आटे के यन्त्र बनाते हैं। एक पात्र को, जिसमें धान और हरी दूब रहती है, अपने सर पर रख लेते हैं। इस पात्र को सिर पर रख कर तीन बार मूर्ति के निकट जाते हैं और फिर रात्रि में मशाल लेकर सारे गाँव में घूमते हैं ताकि कहीं से दरिद्रता प्रवेश न कर सके।

सम्पादकीय

अंग्रेज़ी का प्रभाव (?)

अंग्रेजी के हिमायती अंग्रेजी के पक्ष में यह भी एक दलील पेश किया करते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और इसी प्रकार की अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में जिस प्रकार अंग्रेज़ी द्वारा कार्य-सम्पन्न हो सकता है और जैसा कि अंग्रेजी का प्रभाव पड़ता है, वैसा किसी अन्य भाषा का नहीं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारतवर्ष के प्रतिनिधि अंग्रेजी में बहस-मुबाहसा करते हैं—हिन्दी को तो किसी प्रकार की मान्यता के दिए जाने के लिए हमारे देश की ओर से अभी तक किसी प्रकार का कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया है। संयुक्त राष्ट्र-संघ आदि संस्थाओं में भारतीयों की ओर से अब तक जो भी भाषण दिए गए हैं—वे सब अंग्रेजी में ही हैं। उनका हमारे देशवासियों पर चाहे कुछ भी प्रभाव पड़ता हो परन्तु इंग्लैण्ड, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि देशों पर जहाँ कि अंग्रेजी बोली जाती है—कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसका स्पष्ट उदाहरण संयुक्त राष्ट्र-संघ में भारतवर्ष की ओर से प्रस्तुत किया गया काश्मीर का प्रश्न है। काश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण के सम्बन्ध में भारतवर्ष की ओर से अंग्रेज़ी में कितने विद्वान् राजनीतिज्ञों द्वारा कितनी धूँआधार तक़रीरें की जा चुकी हैं परन्तु उसका क्या प्रभाव पड़ा है? यदि प्रवाहयुक्त और प्रभावपूर्ण अंग्रेजी में बोलने का प्रभाव पड़ता है तो इन भाषणों का जबर्दस्त प्रभाव पड़ना चाहिए था—परन्तु इसका प्रभाव कुछ भी नहीं पड़ा और इस मामले में ऐंग्लो-अमेरिकन गुट टस-से-मस होने के लिए तैयार नहीं है। भारतवर्ष के प्रतिरक्षा मन्त्री श्रीयुत कृष्ण मेनन ने कितने घण्टों धारा-प्रवाह अंग्रेजी मे काश्मीर के सम्बन्ध में भाषण दिए। उन भाषणों के सम्बन्ध में यह कहा गया कि इससे लम्बे भाषण अभी तक संयुक्त राष्ट्र-संघ में किसी ने नहीं दिए। श्रीयुत कृष्ण मेनन बीमार थे और बेहोश भी हो गए परन्तु वे एक सुभट की तरह मैदान में डटे रहे और उन्होंने जो कुछ कहना था—विस्तार के साथ कहा, अपने पूरे बल के साथ कहा और इतना कहा कि अब उनकेपास इस सम्बन्ध में कहने के लिए कुछ भी अवशिष्ट न रहा। इसके पश्चात् उन्हें इस सम्बन्ध में मौन-मुद्रा ग्रहण करनी पड़ेगी, क्योंकि इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। श्रीयुत कृष्ण मेनन एक योग्य बैरिस्टर हैं; वरसों इंग्लैण्ड में रहे हैं और उनके इंग्लैण्ड के गण्यमान्य राज्य-पुरुषों और राजनीतिज्ञों से व्यक्तिगत सम्बन्ध हैं। अंग्रेजी में बोलने की उनकी अपनी शैली है और उनकी योग्यता निर्विवाद है परन्तु यदि अंग्रेज़ी में बोलने का प्रभाव पड़ता है तो उनका और उनसे पूर्व के भारतीय प्रतिनिधियों का ऐंग्लो-अमेरिकन गुट पर क्यों कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। ये सब प्रश्न अपने-अपने स्वार्थों के हैं और स्वार्थ के मामले में अंग्रेजी की कैसे चल सकती है? असली वस्तु भाषा नहीं है—राष्ट्रों के अपने स्वार्थ हैं। भाषा का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि समझा जाता है।

हमारे देश के अनेक गण्य-मान्य राजनीतिज्ञ नेता यह कहते हुए थकते नहीं हैं कि भारतवर्ष को स्वराज्य अंग्रेज़ी के द्वारा प्राप्त हुआ। यदि यह सत्य है तो काश्मीर की समस्या अंग्रेज़ी के द्वारा क्यों हल नहीं हो जाती। भारतवर्ष के अनेक धुरन्धर विद्वान् और राजनीतिज्ञ काश्मीर के सम्बन्ध में पाकिस्तान के आक्रमण के सम्बन्ध में प्रांजल अंग्रेज़ी में कितने अकाट्य प्रमाण और तर्क प्रस्तुत कर चुके हैं तो भी अभी तक तो इंग्लैण्ड और अमेरिका के राज्य-कर्णधार कानों में तेल डाल कर पड़े हुए हैं और चाहे कितने ही लच्छेदार और प्रभावशाली अंग्रेज़ी में भाषण दिए जाइए, उनका उन पर कुछ भी प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। हम नहीं समझते कि यदि ये सब भाषण हिन्दी में दिए जाते तो उसका इससे कुछ कम प्रभाव पड़ता जितना कि अंग्रेज़ी में बोलने से पड़ा है। जब तक हमारे देश में इतनी शक्ति नहीं है कि भारतवर्ष को किसी अवाञ्छनीय प्रस्ताव पर निषेधाधिकार या वीटो करने का अधिकार प्राप्त हो जाए, तब तक एकमात्र परिष्कृत और धारा-प्रवाह

0295.15

अंग्रेज़ी में भाषण देने से ही कार्य नहीं चल सकता। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश को जो स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है, वह एकमात्र अंग्रेज़ी के कारण नहीं। उसका सबसे प्रधान कारण यह है कि भारतवर्ष में इतनी शक्ति उत्पन्न हो गई थी, जिसके सामने इंग्लैण्ड का टिक सकना असम्भव था और जिस दिन हममें वह शक्ति उत्पन्न हो जाएगी संयुक्त राष्ट्र-संघ को भी हमारी बात सुननी ही पड़ेगी। यदि हम हिन्दी में भी बोलेंगे तो भी विश्व के समस्त राष्ट्रों को हमारी बात सुननी ही पड़ेगी। जब तक हममें वह शक्ति नहीं है, तब तक धाराप्रवाह अंग्रज़ी में बोलने में भी हमारा कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता।

क्या यह अवधि को बढ़ाने की ओर इशारा है ?

बड़ोदा में जो चतुर्थ पी. ई. एन. कान्फ़रेन्स हुई। उसमें भाषण देते हुए प्रधान-मन्त्री श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने कहा : "...हिन्दी को अखिल भारतीय भाषा के पद की योग्यता को प्राप्त करने के लिए अभी अनेक वर्षों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।" हम नहीं कह सकते कि उनका "अनेक वर्षों की प्रतीक्षा" से क्या तात्पर्य है ? किसी भी भाषा के विकास में समय लगता ही है। एक दिन में तो कोई भी भाषा पूर्ण रूप से समृद्ध और विकसित नहीं हो जाती। यदि उनका "अनेक वर्षों की प्रतीक्षा" का यही अर्थ है तो हमें इस सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप से कहना नहीं है। इसका अर्थ अनेक अ-हिन्दी प्रान्तों में यह लगाया जा रहा है कि श्रीयुत जवाहरसाल नेहरू भी इस पक्ष में हैं कि हिन्दी की १५ वर्ष की अवधि को बढ़ा दिया जाए। आजकल हिन्दी और भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में जिस प्रकार का वातावरण उत्पन्न हो गया है, उसमें इन शब्दों का यह अर्थ लगाया जाना स्वाभाविक ही है। इसका यह परिणाम होगा कि अवधि को बढ़ाने की जो माँग अ-हिन्दी प्रदेशों के कुछ राजनीतिज्ञों द्वारा प्रस्तुत की जा रही है, उसे कुछ अधिक बल प्राप्त हो जाएगा और हमें आश्चर्य नहीं होगा, यदि अब इस प्रकार की माँगों में और भी अधिक अभिवृद्धि हो जाए।

महात्मा गान्धी ने भारतवर्ष को 'एक वर्ष' में स्वतन्त्रता दिलाने की बात कही थी और उसकी योजना भी बनाई थी। वे सदा यही कहते रहे कि भारतवर्ष एक वर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। एक वर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्त करना असम्भव-सी बात थी परन्तु इन सब बातों का एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। यदि हिन्दी के लिए अवधि को बढ़ाना ही पड़े तो आवश्यक होने पर भी यह वाञ्छनीय बात नहीं होगी परन्तु उसके लिए अभी से इस प्रकार कहने से हिन्दी को किसी प्रकार का बल नहीं प्राप्त हो सकता; हानि ही हो सकती है। हिन्दी चाहे इस समय प्रशासनिक स्तर पर अखिल भारतीय भाषा न हो परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में यदि कोई भाषा अखिल भारतीय स्तर की है, तो वह हिन्दी ही है। हिन्दी ही वह भाषा है जिसे कि भारतवर्ष की अधिकांश जनता बोलती और समझती है। यदि यह योग्यता उसमें न होती तो कोई भी उसे केन्द्रीय-प्रशासन की भाषा बनाने के लिए आग्रह न करता।

इस प्रकार के भाषणों का यह परिणाम हुआ है कि अ-हिन्दी प्रान्तों में यह कहा जा रहा है कि कुछ मुट्ठी भर लोग ही निश्चित अवधि में हिन्दी को केन्द्रीय प्रशासन की भाषा बनाना चाहते हैं। कुछ लोग अब यह भी सिद्ध करने में लगे हुए हैं कि "हिन्दी अल्पसंख्यक भारतीयों की भाषा है और इसलिए वह किसी भी प्रकार हमारे देश की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। यदि हिन्दी को सरकारी भाषा बना भी दिया जाए तो भी इसे किसी भी प्रकार अखिल भारत की राष्ट्रभाषा नहीं कहा जा सकता।" हिन्दी के समर्थकों और पक्षपातियों को आजकल अनेक प्रकार की फटकारें सुननी पड़ रही हैं। कहा जा रहा है कि हिन्दी के लिए यह अत्यधिक जोश की आवश्यकता नहीं है। कुछ समय के लिए चाहे इस प्रकार हिन्दी के मार्ग में कुछ बाधाएँ उपस्थित की जा सकें परन्तु हिन्दी की प्रगति अवश्यम्भावी है। हिन्दी आगे बढ़ रही है और आगे बढ़ती जाएगी। हिन्दी ने यह शक्ति अपने स्वाभाविक बल के आधार पर प्राप्त की है। हमें विश्वास है कि विघ्न-बाधाएँ हिन्दी को और भी अधिक सशक्त बनाएँगी, जिससे वह अपने उद्देश्य में उससे भी कम समय में सफल हो सकेगी, जितनी कि अपेक्षा की जा रही है।

प्रादेशिक राज्य और हिन्दी के लिए आर्थिक सहायता :

अभी पिछले दिनों संसद् में भारतीय प्रशासन की ओर से यह सूचना दी गई कि हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए केन्द्र ने प्रादेशिक राज्यों के लिए जो आर्थिक सहायता स्वीकृत की थी—प्रादेशिक राज्यों ने

उससे पूरा लाभ नहीं उठाया। उसमें से बहुत-सी रक़म का प्रादेशिक राज्यों द्वारा उपयोग ही नहीं किया गया। अच्छा तो यह होता कि इस प्रकार की सूचना देने से पहले प्रादेशिक राज्यों से पूछ लिया जाता कि क्या कारण है कि उन्होंने हिन्दी की सहायता के लिए निर्धारित की गई रक़म का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं किया। प्रश्न यह है कि यदि प्रादेशिक राज्य इस सम्बन्ध में उदासीन या निष्क्रिय रहे तो क्या केन्द्रीय प्रशासन उन्हें इसके लिए प्रेरित नहीं कर सकता था और यदि वे इतने पर भी उसका उचित उपयोग करने के लिए तैयार न होते तो क्या केन्द्रीय प्रशासन स्वयं कुछ नहीं कर सकता था। इससे जहाँ यह ज्ञात होता है कि हिन्दी के सम्बन्ध में अ-हिन्दी प्रदेशों की सरकारें बहुत कुछ उदासीन हैं—वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि केन्द्रीय प्रशासन भी इस सम्बन्ध में कुछ विशेष चुस्त नहीं है। एकमात्र रक़म की स्वीकृति से ही तो काम नहीं चल सकता। रक़म के साथ निश्चित योजनाओं का होना आवश्यक है। क्या केन्द्रीय प्रशासन हिन्दी के सम्बन्ध में इस प्रकार की योजनाएँ नहीं बना सकता, जिन्हें वह या तो स्वयं प्रादेशिक राज्यों में कार्यान्वित करे या प्रादेशिक राज्यों के द्वारा उन्हें कार्यान्वित कराए। प्रादेशिक राज्य स्वयं भी अपनी योजनाएँ बना सकते हैं और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए केन्द्र से आर्थिक सहायता प्रदान की जा सकती है। धनराशि का अनुदान उसी अवस्था में उपयोगी हो सकता है, जब कि उसके लिए उपयुक्त योजनाएँ हों। उपयुक्त योजनाओं के अभाव में प्रादेशिक प्रशासनों से किस प्रकार यह आशा की जा सकती है कि वे निर्धारित धन का लाभ उठा सकेंगे। हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए केन्द्रीय प्रशासन की कोई निश्चित योजना नहीं है और इसी कारण प्रादेशिक राज्यों में भी उसके प्रति उदासीनता दिखाई देती है।

केन्द्रीय प्रशासन की ओर से हिन्दी के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ, विज्ञप्तियाँ समाचार-पत्रों या पुस्तक-पुस्तिकाओं में प्रकाशित की जाती हैं, उनसे भी यह ठीक तरह ज्ञात नहीं होता कि प्रादेशिक राज्यों में हिन्दी के सम्बन्ध में क्या कार्य हो रहा है। उनमें या तो इस प्रकार की सूचनाएँ ही नहीं होती और यदि होती भी हैं तो इतनी अल्प कि उनसे विशेष रूप से कुछ ज्ञान नहीं होता। हम केन्द्रीय प्रशासन से इस सम्बन्ध में निवेदन करना चाहते हैं कि कुछ इस प्रकार का आयोजन किया जाना चाहिए, जिससे भिन्न-भिन्न प्रादेशिक राज्यों में हिन्दी के और इसी प्रकार प्रादेशिक भाषाओं के कार्य के सम्बन्ध में नियमपूर्वक आवश्यक जानकारी प्राप्त हो सके।

पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण

भारत के कई राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण हो रहा है। आन्ध्र-प्रदेश में इसके लिए योजना बनाई जा चुकी है। इस सम्बन्ध में आन्ध्र-राज्य-विधायिनी में राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रम पर प्रकाश डालते हुए आन्ध्र-प्रदेश के शिक्षा-मन्त्री ने कहा: "राज्य सरकार राज्य में पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण करने के लिए शीघ्र ही एक प्रेस स्थापित करेगी, जहाँ से उन पाठ्य-पुस्तकों का मुद्रण हो सकेगा।...राज्य सरकार का यह निर्णय अन्तिम है। हम इस दिशा में बहुत आगे बढ़ गए हैं। छपाई के सामान के आदेश दिए जा चुके हैं। अब पीछे लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता।" इसका परिणाम यह होगा कि यहाँ के प्रेस बेकार हो जाएँगे और प्रेस के मालिकों ने कर्मचारियों की सेवा को समाप्त करने के नोटिस भी दे दिए हैं।

पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में पिछले दिनों मद्रास के सर सी. पी. रामस्वामी ऐयर के सभापतित्व में एक सभा हुई। इसमें कहा गया: "पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण से जहाँ प्रशासन की बौद्धिक मोनोपली या एकाधिपत्य हो जाएगा, वहाँ शिक्षा के मानक नीचे गिर जाएँगे, प्रकाशकों के मुख से रोटी छिन जाएगी और इससे प्रशासन को कुछ विशेष आर्थिक लाभ नहीं होगा। इस सम्बन्ध में राज्यों को इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, जिनसे कि वे इस समय मुक्त हैं। यह कहना सर्वथा ग़लत है कि इससे भ्रष्टाचार रुक जाएगा। इसका परिणाम इतना ही होगा कि भ्रष्टाचार तो वैसा ही रहेगा—एकमात्र उसके क्षेत्र में परिवर्तन हो जाएगा। अभी राष्ट्रीयकरण का कार्य अपरिपक्व और प्रारंभिक अवस्था में है और राज्यों का इस विषय में कुछ विशेष अनुभव भी नहीं है। क्या यह अच्छा नहीं होगा कि प्रादेशिक राज्य इस प्रकार धन और शक्ति को प्राप्त करने के बजाय जनता की सेवा का कोई और उपयोगी कार्य करें। राष्ट्रीयकरण की नीति से अनेक उलझनें पैदा होंगी और इसका परिणाम कुछ विशेष लाभप्रद नहीं सिद्ध होगा।"

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

तार का पता : लीवेरेक्स

फ़ोन नं. : ५३५६

卐

रॉयल मेडिकल हॉल

फ़ोन नं. : ४३८३ अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण तार का पता : लीवेरेक्स

और

फ़ोन नं. : ४६७७ सुलतान बाज़ार, हैदराबाद दक्षिण

卐

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

फ़ोन नं. : ५८४८

卐

अमर मेडिकल हॉल

फ़ोन नं : ६८२१ स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ ख़रीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

प्रकाशक : गोपालराव अपासिंगीकर हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद—मुद्रक : सत्यनारायण गुप्त, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद-दक्षिण.

रजिस्टर्ड नं. एच. ५६६ अजन्ता, अक्तूबर-नवम्बर, १९५७ Regd. No. H.

दक्खिनी साहित्य

के

अमूल्य और प्राचीन ग्रन्थ

079515

मुल्ला वजही

गवासी

फूलबन

सबरस (गद्य में)

आवश्यक टिप्पणियों और शब्दकोश के साथ नागरी-लिपि में

सेक्रेटरी

दक्खिनी प्रकाशन समिति

हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली हैदराबाद द.

तार : “हिन्दी”

टेलिफ़ोन नं. ५४५०

Compiled
1999-2000